विषय-सूची

अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

माघ सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या १०, | जनवरी १९५१

सबसे ऊँची प्रेम सगाई ।

दुर्योधनको मेवा त्यागो साग विदुर घर पाई ॥

जूठे फल सेवरीके खाये बहुविधि प्रेम लगाई ।

प्रेमके बस नृप-सेवा किन्हों आप बने हरि नाई ॥

राजसुयज्ञ युधिष्ठिर किनो तामें जूठ उठाई ।

प्रेमके बस अर्जुन-रथ हाँक्यो भूल गये ठकुराई ॥

ऐसी प्रीति बढ़ी वृन्दावन गोपिन नाच नचाई ।

'सूर' क्रूर इस लायक नाहीं कहँ लगि करौं बड़ाई ॥

आत्म-निवेदन

अपूरणीयक्षति !

जिसको सुननेके लिये हृदय प्रस्तुत नहीं था, क्रूर कालने उसे कर ही डाला ! अप्रत्याशित अकस्मात् हमें सुनना ही पड़ा कि भारतमाताके लाड़ले सपूत सरदार बल्लभभाई पटेल अब हमारे बीच नहीं रहे ! इस समयकी विषम परिस्थितिमें जब कि देशको उनकी बड़ी आवश्यकता थी, उनका वियोग भारतका अत्यन्त दुर्भाग्य है। वे अपने दृढ़निश्चयके कारण 'लौहपुरुष' कहे जाते थे। वे कुशल शासक, स्पष्ट-वक्ता एवं निर्भीक नेता थे। यद्यपि उनका पाञ्च-भौतिक शरीर अब इस संसारमें नहीं रहा किन्तु उनकी कीर्ति अमिट रहेगी। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि लोकप्रिय मनुष्य भी अधिकारारूढ़ होने पर लोगोंका अप्रिय एवं अश्रद्धा-भाजन बन जाता है; परन्तु सरदार पटेलमें यह विशेषता देखी गयी कि वे शासनारूढ़ होनेपर जनताके पहलेसे अधिक प्रिय श्रद्धाभाजन बन गये थे। हैदराबादका "पुलिस एक्सन" उनकी सामयिक सूझ एवं कुशल शासक होनेका उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित करता है। सोमनाथके मन्दिरका जीर्णोद्धार उनकी न्यायशीलता, आस्तिकता एवं भावुकताका दर्शन कराता है और देशी रजवाड़ोंका अनायास केन्द्रीकरण उनकी दूरदर्शिता, संगठन-शक्ति एवं सूक्ष्मबुद्धिका ज्वलन्त प्रमाण है। ऐसे सुयोग्य शासक एवं नेताके उठ-जानेसे देशकी ऐसी क्षति हुई जिसकी पूर्ति निकट भविष्यमें होनेकी आशा नहीं प्रतीत होती। हम उनके शोक-संतप्त परिवारवर्गके साथ हार्दिक सम-वेदना प्रकट करते हुए दिवंगत महान् आत्माकी नियमित ऊर्ध्वगतिके लिये भगवान्के चरणोंमें प्रार्थना करते हैं।

हिन्दू कोडबिल पुनः स्थगित।

जैसा कि विधानमन्त्री डा० अम्बेदकरने मद्रास में कहा था कि संसदके इसी अधिवेशनमें हिन्दू कोड-बिल पास हो जायगा, वैसा नहीं हो सका और वह पुनः अनिश्चित समयकेलिये स्थगित हो गया। ता० १४ दिसम्बरको संसदमें इस बिलपर प्रायः चालीस मिनटतक वाद-विवाद चला, उस समय डाक्टर अम्बेदकरने कहा कि "उन्होंने जो हिन्दूकोड-सम्मेलन बुलाया था, उसका कार्य-विवरण नहीं लिखा जा सका; क्योंकि वहाँ वाद-विवाद कभी हिन्दीमें, कभी अंग्रेजीमें, कभी मराठीमें और कभी तामिलमें चल रहा था। ऐसा कोई स्टेनोग्राफर मिलना असम्भव था, जो इन सब भाषाओंको जानता हो, तथापि उन्होंने अपने स्मृतिके आधारपर भाषणोंका सार दे दिया है एवं सम्मेलनके बहुमत सुझाव ले लिये हैं।" विधानमन्त्रीका यह वक्तव्य पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य एवं दुःख यह जानकर हुआ कि, यह सर्वथा निर्मूल है। क्योंकि श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की ओरसे इसकी प्रधान-मन्त्रिणी एवं सञ्चालिका श्रीमती विद्यादेवीजी उक्त सम्मेलनमें उपस्थित थीं, उनसे उक्त हिन्दूकोड सम्मे-लनका जो विवरण प्राप्त हुआ, उससे विदित होता है कि उसमें सभी भाषण या वाद-विवाद हिन्दी और अंग्रेजीमें ही हुए थे, मराठी और तामिलमें कोई भाषण नहीं हुआ, केवल एक सज्जनका संक्षिप्त-

भाषण संस्कृतमें हुआ था। स्टेनोग्राफरभी उक्त सम्मेलनमें उपस्थित थे। श्रीमती देवीजीने अपने भाषणमें किसी श्लोकका उद्धरण किया था, जो स्टेनोग्राफर नहीं लिख सकनेके कारण उनके पास गया एवं श्रीदेवीजीने वह श्लोक उसे लिखकर दिया था। इस तरह सरकारके ऐसे उच्च अधिकारी होकर विधानमन्त्री महोदय सत्यका अपलाप कर जनताकी आँखोंमें धूल झोंकनेकी चेष्टा करें, इससे अधिक खेदकी बात और क्या हो सकती है? सच्ची बात तो यह है कि उक्त सम्मेलनमें ऐसे ही लोगोंको बुलाया गया था जो विधानमन्त्रीका समर्थनकरनेवाले थे। विरोधियोंमें केवल दो तीन प्रतिनिधि बुलाये गये थे। परन्तु उनकी सम्मति भी संसदके सामने नहीं रक्खी गयी। जिससे उनके विचार संसदके सदस्योंको विदित हो सके।

उसी दिन अपने भाषणमें प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरूजीने यह कहा कि "सरकार इसे बड़ा महत्वपूर्ण समझती है और चाहती है कि इस पर विचार आरम्भ किया जाय।" प्रधानमन्त्रीकी यह उक्ति पढ़कर भी हमें कम दुःख नहीं हुआ। क्योंकि अन्नके लिये जनता तड़प रही है, भूखमरी मुह बाये खड़ी है, इसका कोई महत्व हमारी सरकारके सामने नहीं हैं, शरीर ढाकनेके लिये वस्त्र नहीं है इसका भी कोई महत्व सरकारके सामने नहीं है, इन्हीं नेताओंने अखण्डभारतको खण्ड-खण्ड कराकर लाखों मनुष्योंको आश्रयहीन बना डाला, सुखपूर्वक महलोंमें रहनेवाले आज झोपड़ियोंमें दुःखके दिन काट रहे हैं। ये हमारे भाई-बहिन पशुओंसे भी हीन अपने अपने जीवनके दिन जैसे-तैसे बिता रहे हैं। शिशिरका भयंकर शीत, ग्रीष्मका प्रचण्ड धूप और वर्षाका बौछार सहते हुए किस असहनीय वेदनासे समय व्यतीत कर रहे हैं, यह लिखना लेखनीकी शक्तिसे अतीत विषय है; तब भी इनका अबतक कोई संतोषजनक समाधान करनेमें सरकार असमर्थ रही, परन्तु नेहरू-सरकारके सामने इस विषयका भी कोई महत्व नहीं है। नेहरू-सरकारके सामने सारा महत्व केवल हिन्दू-कोडबिलको पास करनेका ही है, जिसकी हिन्दू जनताने कभी माँग नहीं की, किन्तु देशके प्रायः सभी विशिष्ट विद्वान् धर्माचार्य, बड़े-बड़े जज, वैरिस्टर, वकील, बड़ी-बड़ी संस्थाएँ विरोध कर चुकी हैं और स्वयं राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादभी इसके विरुद्ध अपनी सम्मति लिख चुके हैं और वर्तमान विधान-सभाको इस प्रकारके विधानबनानेका अधिकार नहीं है, यह भी घोषित कर चुके हैं। अतः इस समय इस बिलके स्थगित हो जानेसे हिन्दूजनताको निश्चिन्त नहीं होना चाहिये इस विरोधको और भी उग्र बनाना चाहिये जिससे सरकारको इसे वापस लेनेको विवश होना पड़े।

निर्वाचन एवं महिलाएँ।

वयस्कमताधिकारके अनुसार निर्वाचन अभी यहाँके लिये नयी वस्तु है। दूसरी ओर यहाँकी जनता अधिकांश निरक्षर है, उसमें भी स्त्रियाँ तो और भी पिछड़ी हुई हैं। नये विधानसे उनको जो यह मतदाताका अधिकार प्राप्त हुआ है, यह समझनेमें भी उनको यथेष्ट समय लगेगा। इतने पर भी सरकारने जो मतदाताओंकी सूचियाँ तैयार करायी है, वे इतनी असम्पूर्ण और अशुद्धियोंसे भरी हुई हैं कि, यदि स्थिति ऐसी ही रही तो करोड़ों महिलाएँ मतदानके अधिकारके उपयोग करनेसे वञ्चित रह जायँगी। नामके सम्बन्धमें आपत्तिका समय यद्यपि सरकारने

२३ दिसम्बरसे बढ़ाकर १५ जनवरी तक कर दिया है, तथापि कार्यकी कठिनाइओंको देखते हुए इतना समय बहुत कम है। निर्वाचनका समय अब एकवर्ष आगे बढ़ा दिया गया है, अतः यह अत्यावश्यक है कि आपत्तियोंकेलिये भी अन्ततः तीन मास समय बढ़ा दिया जाय और यह समय ३१ मार्च १९५१ तक कर दिया जाय। इस सम्बन्धमें दूसरा विचारणीय विषय यह है कि मतदाताओंकी सूचियाँ कचहरी या पुलिसस्टेशनोंपर रखी गयी हैं। ऐसे स्थानोंपर जाकर अपना नाम देखना महिलाओंके लिये बहुत असुविधा तथा अपमानजनक भी है। इसलिये उचित यह है कि, ऐसी सूचियाँ बालिका-विद्यालयोंमें भी रखी जायँ तो महिलाओंको वहाँ जाकर अपना नाम देखने तथा इस विषयमें आवश्यक कार्यवाही करनेमें बड़ी अनुकूलता होगी। ऐसे स्थानोंमें जानेमें किसी महिलाको संकोच या अपमानका अनुभव भी नहीं होगा, और जो स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी नहीं हैं, उनको उक्त संस्थाओंकी छात्राओं एवं शिक्षिकाओंसे सहयोग एवं सहायता भी मिल सकती है। अतः सरकारसे हमारी प्रार्थना है कि आपत्तिका समय १५ जनवरीसे बढ़ाकर ३१ मार्च कर दिया जाय और मतदाताओंकी सूचियाँ सभी स्थानोंपर कन्यापाठ-शालाओंमें भी रखी जाय। सरकारकी इस उदारताके लिये महिला-जगत् ऋणी रहेगा।

सदाचार।

[गताङ्कसे आगे]

पाश्चात्य विद्वानोंकी वहाँ तक पहुँच नहीं हुई है। खाद्याखाद्यमें उन्होंने यही निर्णय किया है कि, जिस वस्तुमें जीवनतत्त्व (विटामिन) अधिक हो, वह खाद्य है, अन्य अखाद्य हैं। उन देशोंमें शीत अधिक होनेसे वे बारहों मास एक प्रकारका ही आहार करते हैं। परन्तु हमारे देशमें छहों ऋतु समानरूपसे बलवान् होनेके कारण ऋतुभेदसे वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता हो जाती है। इसमे शारीरिक और मानसिक अवस्थाओंमें कितना परिवर्तन हो जाता है, इस ओर उन्होंने दृष्टिपात ही नहीं किया है। कौनसी वस्तु, किस ऋतुमें, किस प्रकारके शरीरके लिये किस प्रकार सेवन-योग्य है, जिससे शरीर और मनका स्वास्थ्य परिवर्धित होता रहे, इसकी विधि पश्चिमी चिकित्साशास्त्रकी पोथियोंमें नहीं मिलती। तिथिपालन, वारपालन, पर्वपालनका तो उन्होंने कभी नाम ही नहीं सुना है। अतः हमारे देशके उनके शिष्य नवशिक्षित ऐसी बातोंको देखकर उपहास करते हैं; परन्तु तथ्यको समझनेकी चेष्टा नहीं करते। आश्चर्य यह है कि शासकोंके अधर्माचरण और अयोग्यताके कारण देशमें जब अन्नाभाव हो गया, तब उपवास और शाकपातपर निर्वाहकरनेकी उनको सूझ हुई; परन्तु हमारे प्राचीन महर्षियोंने पाकयन्त्रोंको विश्राम देकर मनको उन्नत करनेके विचारसे पखवाड़ेमें कमसे कम एकादशी जैसा व्रत करनेकी व्यवस्था दी है। एकादशी व्रत करनेके अनेक कारणोंमें से यह भी एक कारण है। उनके समयमें कभी अन्नाभाव नहीं रहा।

सात्विक आहारसे सत्वगुणकी वृद्धि होकर आध्यात्मिक उन्नति होती है, राजसिक आहारसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं और तामसिक आहार जड़ता, अज्ञान और पशुभावको बढ़ाता है। अतः सर्वदा सात्विक आहार करना ही लाभदायक है।

मिताहारकी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा की गयी है। मिताहारमें छः गुण हैं। उससे रोग नहीं होता, आयु बढ़ती है, बलवृद्धि होकर सुखलाभ होता है, उसकी सन्तान आलसी नहीं होती और उसको कोई पेटू कहकर निन्दा भी नहीं करता। इससे विपरीत अमिताहार करने अर्थात् अधिक भकोसनेसे रोग होते हैं, पेटकी सदा व्यथा रहती है, आयु घटती है, स्वर्गसुखसे वञ्चित रह जाना पड़ता है, पुण्य नष्ट होता है और लोगोंमें उपहास होता है। अतः सोना-जागना, आहार-विहार और क्रियाकर्म जिसका यथोचित (परिमित) होता है, वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके सुखोंको प्राप्त करता है। साधारणतः अन्नाशयका आधाभाग अन्नसे और चौथाई भाग जलसे पूर्णकर शेष चौथाई भाग वायु-सञ्चरणके लिये खाली रखनेसे कभी स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता। भोजनके अनन्तर हाथ मुँह धोकर सूर्यावलोकन कर आँखोंमें दो दो बूँदें पानी देनेसे दृष्टि-शक्ति ठीक रहती है और पेशाबकरनेसे मशानेका रोग नहीं होता। भोजनके बाद बैठ रहनेसे तोंद बढ़ती है, थोड़ा लेट लेनेसे (बाइं कोख) अन्नपाचनमें सहायता मिलती है और शरीर ठीक रहता है, शतपदी (थोड़ा चल-फिर लेने) से आयु बढ़ती है और दौड़ पड़नेसे मृत्युका आक्रमण होता है। अतः भोजनके उपरान्त थोड़ा वामकुक्षि करलेनेपर तब कामकाजमें लग जाना चाहिये।

अन्नकी तरह जलपान करनेके सम्बन्धमें आर्य-शास्त्रकारोंने उपयुक्त विचार किया है। उनके मतसे पानीय जलमें सात गुण होने चाहिये। वह स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धित, स्वयं स्वादहीन, हृद्य और तृष्णानिवारक होना चाहिये। महर्षि-यमके मतसे जिसपर दिनमें सूर्यकी, रात्रिमें चन्द्रमा तथा नक्षत्रोंकी और दोनों संध्याओंमें सूर्य-चन्द्र दोनोंकी किरणें पड़ती हों, वह वायुप्रवाहमय जल पवित्र है। जिसपर सूर्य-किरणें नहीं पड़तीं और जिसे वायु नहीं सोखती, वह जल स्वच्छ होने पर भी वायु उत्पन्न करता है। उसको गरमकर ठण्ढा होने पर पिये, तो कास, श्वास, अजीर्ण आदिका विकार नहीं होता। नारियलका जल मधुर, पाचक और पित्तशामक है। सोडा वाटर, लेमनेड, आदि पेय इस देशके आहार-विहार और जलवायुके प्रतिकूल होनेसे उनका व्यवहार नहीं करना चाहिये। भावप्रकाशकार कहते हैं कि, बहुत जल पीने या बिलकुल न पीनेसे अन्नका परिपाक नहीं होता। अतः जठराग्निकी शक्ति बढ़ानेके लिये बार बार थोड़ा थोड़ा जल पीना उत्तम है। भोजनके समयमें आरम्भमें जल पीनेसे पित्तशमन, बीचमें पीनेसे कफका नाश और अन्तमें पीनेसे अन्नका उत्तम परिपाक होता है। यों सभी जल अमृत हैं और इसीसे जलको 'जीवन' भी कहते हैं। अन्न-जल ग्रहणकरनेपर मुखशुद्धिके लिये ब्रह्मचारियोंके लिये निषिद्ध होने परभी गृहस्थलोग पान खा सकते हैं। परन्तु पान पके और ताजे होने चाहिये। क्योंकि पानके डण्ठे रोग उत्पन्न करते हैं, शिरायें बुद्धिनाश करती हैं, सूखा-सड़ा पान आयुका क्षय करता है और उसका अग्रभाग पापजनक होता है। ताम्बूल रक्तवृद्धिकर होनेपर भी कामोत्तेजक होनेसेही

ब्रह्मचारियोंके लिये निषिद्ध कहा गया है। भोजनोत्तर अतिपरिश्रमके काम नहीं करने चाहिये।

त्रिगुणोंके अनुसार शरीरकी प्रकृति भी तीन प्रकारकी होती है। सत्वगुणसे पित्तप्रकृति, (bilious), रजोगुणसे वातप्रकृति (nervous) और तमोगुणसे कफप्रकृति (lymphatic) गठित होती है। तीनों प्रकृतिके मनुष्योंके लक्षण आयुर्वेदमें बताये गये हैं। पित्त, कफ, वात जबतक शरीरमें यथापरिमाण होते हैं, तब तक शरीर स्वस्थ और नीरोग रहता है; परन्तु इनमें व्यतिक्रम होतेही उसे व्याधियाँ धर दबाती हैं। प्रकृतिके प्रभावसे षट् ऋतुओंका विकास होता है। ऋतुविपर्ययसे भी तीनोंमें न्यूनाधिकता हो जाती है। अतः ऋतुके अनुसार और त्रिगुणोंके तारतम्यानुसार ही खाद्याखाद्यका निर्णय करना आरोग्यताकी दृष्टिसे लाभदायक है और इसका विवेचन आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्रमें विस्तारपूर्वक किया गया है। ऋतुपालन, तिथिपालन, वारपालन आदि उसीके अन्तर्गत हैं। किस ऋतु, तिथि और वारमें क्या खाना चाहिये और किससे बराव करना चाहिये, शास्त्रकारोंने यह विशद कर दिया है। इसमें त्रिगुण और त्रिदोषोंको ही प्रधानता दी गई है, केवल जीवनतत्व (विटामिन) को ही सब कुछ नहीं मान लिया गया है।

समस्त ब्रह्माण्डमें सूर्यदेव ही प्राणस्वरूप और शक्तिके निधान हैं। अतः ब्राह्ममुहूर्तसे सन्ध्यापर्यन्त, जबतक सूर्यकी शक्ति पृथ्वीपर फैली रहती है, जाग्रतभावसे सूर्यके साथ सम्पर्क रखते हुए नाना पुरुषार्थ करने चाहिये। इससे जीवके क्षुद्रप्राणमें सूर्यका महाप्राण सञ्चारित होकर जीव पुष्टप्राण और दीर्घायु होता है और उसके सब पुरुषार्थ सफल होते हैं। शरीरकेलिये श्रमके साथही विश्रामभी आवश्यक है। साधारणयन्त्रोंकेलिये भी यह नियम लागू है। निश्चित समयतक उनसे काम लेकर यदि विशिष्ट अवधितक विश्राम न दिया जाय, तो वे निरुपयोगी हो जाते हैं। इसी तरह दिनभर कार्यकर जब शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और स्नायु थक जाते हैं, तब उनकी थकावट मिटानेके लिए ही श्रीभगवान्‌ने निद्राकी व्यवस्था की है। सभी प्राणी सोते हैं और अच्छी नींद हो जानेपर वे फिर ताजे हो जाते, नव-जीवन प्राप्त करते हैं। निद्रा तमोगुणका कार्य है, अतः वह रात्रिके अन्धकारमें ही प्रशस्त माना गया है। दिनमें पर्याप्त परिश्रम करनेसे रात्रिमें निद्रा अच्छी आती है। बच्चे दिनभर दौड़-धूप करते हैं, इस कारण उन्हें अधिक निद्रा आती है। विद्यार्थी और प्रौढ़लोग परिश्रमके अनुसार निद्रासुखका अनुभव करते हैं। बुड्ढे परिश्रम करनेमें असमर्थ होते हैं, इस कारण उन्हें निद्रा कम आती है। साधारण मनुष्यके लिये छः घण्टे निद्रा पर्याप्त होती है। अधिक सोनेसे आयु क्षीण होती है और अधिक जागते रहनेसे प्राणशक्ति दुर्बल हो जाती है। नींद न आनेका जैसा रोग है, वैसा अतिनिद्राभी रोगही है। ग्रीष्मऋतुके भलेही दिनमें थोड़ा विश्राम कर लिया जाय, किन्तु अन्य-ऋतुओंमें दिनमें सोनेसे शरीरमें जड़ता आ जाती है। निद्रा श्रीजगदम्बाका ही एक रूप है। अतः सोते समय रात्रिसूक्तका पाठ और श्रीइष्टदेवका चिन्तन अवश्य करना चाहिये। इससे नींद नहीं टूटती और गाढ़ी निद्रासे सुख होता है। पुनः प्रातःकालमें नव-जीवन प्राप्त हो जाता है।

पृथ्वीमें जो विद्युत्‌धारा प्रवाहित होती है, उसकी

गति दक्षिणकी ओरसे उत्तरकी ओर होती है। इस कारण उत्तरकी ओर सिरकरके नहीं सोना चाहिये। इससे पैरकी ओरसे विद्युत्प्रवाह सिरकी ओर जाकर शिरोव्यथादिरोग उत्पन्न करता है। सूर्यदेवकी प्राणमयी विद्युत्शक्ति पूर्वसे पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती है, अतः पश्चिमकी ओर सिर करके भी नहीं सोना चाहिये। पूर्व और उत्तरकी ओर मुँह करके सन्ध्या-पूजा आदि धर्मानुष्ठान करना श्रेयस्कर है। इससे शरीरमें विद्युत्संग्रह होता है। सोनेका स्थान स्वच्छ, वायुप्रवाहयुक्त, जहाँ मच्छर आदि न हों और स्वास्थ्यकर होना चाहिये। बिछौना भी गन्दा और खटमलसे भरा न हो। बहुत कोमल शय्या ब्रह्मचर्यमें बाधा करती है। पलंग, खटिया या चौकीपर सोना त्रिदोषनाशक है। परदारासेवनका शास्त्रकारोंने बड़ा निषेध किया है। मनुभगवान् आज्ञा करते हैं:—परदारासेवनसे आयु क्षीण होती है। अतः बुद्धिमान्, विचारवान्, स्वास्थ्य और दीर्घायु चाहनेवालोंको परदाराकी चिन्ताभी नहीं करनी चाहिये। विष्णुपुराणमें लिखा है कि, आसन, वस्त्र, शय्या, स्त्री, सन्तान और जलपात्र अपने ही अच्छे होते हैं, दूसरोंके ग्रहण करनेयोग्य नहीं होते। सदाचारसम्बन्धी अनेक नियम अपने धर्मशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्रने बताये हैं, उनमेंसे अत्यन्त आवश्यक नियमोंका ही यहाँ दिग्दर्शन किया गया है।

व्यष्टिप्रकृतिके साथ समष्टिप्रकृतिका मेल कराना ही सदाचारका प्रधान उद्देश्य है। यह तभी हो सकता है, जब शरीर स्वस्थ और टिकाऊ हो। इसके लिये सदाचार जैसा दूसरा साधन नहीं हैं। आनन्दमयी महाप्रकृति सबकी जननीरूपसे सर्वत्र विराजमान हो रही है। उसका हास्य पुष्पोंके हास्यमें विकसित होता है, उसकी प्रेमधारा गंगाकी धारामें प्रवाहित होती है। उसकी करुणा चन्द्रकलाओंमें प्रकाशित होती है। हम अपना जीवन उसीको अर्पण कर दें, तो दुःख हमारे पासभी नहीं फड़क सकेगा। वनैले पशु-पक्षी उसीकी गोदमें पलते हैं, छहों ऋतुओंका द्वन्द्व सहते हैं, इस कारण कभी रुग्ण नहीं होते। हमें भी बाल्यावस्थासेही सब ऋतुओंके वेगको सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये। थोड़ी सर्दी पड़ते ही कपड़ोंसे शरीर जकड़ लेना या गर्मीमें शीतोपचारके लिये लालायित होना माताकी गोदसे दूर हट जाना है। उसे शान्ति कहाँसे प्राप्त हो? माताकी गोदही तो उसकी सन्तानका पुण्यमय विश्रामस्थान है, जहाँ कभी मृत्युका भय हो ही नहीं सकता। इसीसे हमारे पूर्वजोंने ब्रह्मचारियोंको छाता-जूता पहनना निषिद्ध बताया है। अग्निकार्य, सूर्योपस्थान, तपःसाधन, पुष्पसमिधा आदिका चयन, गुरुसेवा आदि कार्य उनकेलिये इस कारण बताये हैं कि, महाप्रकृतिके साथ मिलनेका आरम्भसे ही उनको अभ्यास हो और वे अपना भावी जीवन सुखपूर्वक बिता सकें। महाप्रकृतिकी स्वाभाविक गति ब्रह्मकी ओर होती है। जीव अपने अहङ्कारसे व्यष्टिप्रकृतिको महाप्रकृतिसे पृथक् करके बन्धनको प्राप्त करता और रोगग्रस्त हो जाता है। सदाचार जीवकी व्यष्टिप्रकृतिको धीरे धीरे समष्टि प्रकृतिके साथ मिला देता है। सदाचारसे स्थूलशरीरको तो स्वास्थ्यलाभ होता ही है; किन्तु सूक्ष्मशरीरभी आध्यात्मिक उन्नति करनेमें समर्थ हो सकते हैं। इसका अन्तिम परिणाम व्यष्टिप्रकृतिका महाप्रकृतिमें मिलकर ब्रह्मसमुद्रमें विलीन होना ही है।

सदाचारोंके साथ महाप्रकृतिके मधुर मिलनका

सम्बन्ध होनेसे वे विज्ञानशास्त्रानुमोदित भी हैं। जो महाप्रकृतिके नैसर्गिक नियमोंको बताता है, उसको विज्ञानशास्त्र कहते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझा जा सकता है कि, हमारा वर्णाश्रमधर्म सम्पूर्णरूपसे विज्ञानशास्त्रके अनुरूप है। सदाचारोंमें रोटी-बेटी व्यवहारका विचार सर्वप्रधान है। लोगोंका यह जो आक्षेप है कि, वर्णधर्ममें उच्चवर्णके लोग निम्न-वर्णके लोगोंके साथ घृणाभावके कारण रोटी-बेटी व्यवहार नहीं करते, परन्तु यह भ्रान्त धारणा है। जिस आर्यशास्त्रमें भोजनसे पहले घर आये हुए चाण्डालको भी बिना उसकी जाति पूछे, नारायण समझकर भोजन करानेके बाद स्वयं भोजन करना नृयज्ञरूपसे गृहस्थके लिये परमपवित्र अवश्य अनुष्ठेय-धर्म बताया गया है, वह शास्त्र घृणा या द्वेषपर आधारित हो नहीं सकता। इसके मूलमें गूढ़विज्ञान है। प्रत्येक नर-नारीमें अपने अपने वर्णानुसार पृथक् पृथक् शक्ति होती है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंमें व्याप्त रहती है। उसको पृथक् बनाये रखनेसे ही प्रत्येक वर्णका मनुष्य अपने-जातिगत संस्कारोंके अनुसार पूर्ण उन्नति लाभ कर सकता है। एकशक्तिका अन्यशक्तिके साथ संकर कर देनेसे दोनों शक्तियाँ दुर्बल होकर कोई अपनी उन्नति करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगी। ब्राह्मणवर्ण-में जो नैसर्गिकशक्ति है, वह ज्ञानप्रधान तपोमूलक है। ब्राह्मणके लिये धनसंग्रह धर्म नहीं है। तपोधन होना ही उनकेलिये धर्म है। अपमानका बदला न चुकाकर क्षमाशील तथा सहनशील होना धर्म है। वैश्योंके लिये वाणिज्यादि द्वारा प्रचुरधन संग्रहकरना धर्म है। क्षत्रियोंके लिये अपमान सहन न करके शत्रुके प्रतिहिंसा करना धर्म है और शूद्रोंके लिये कलाकौशलकी उन्नतिकर देश तथा जातिको स्थूल सुख पहुँचाना धर्म है। ब्राह्मण यदि अपनी जातिमें रोटी-बेटीका सम्बन्ध न कर वैश्यके साथ करेगा, तो ब्राह्मणत्वसे गिरकर उसकी धन-लालसा बढ़ जायगी! वह तपोधन, ज्ञानधन न रहकर जगत्को आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ले जानेमें असमर्थ हो जायगा। वह यदि क्षत्रियके साथ मिल जायगा, तो क्षमा, दया आदि वृत्तियोंको खोकर जिघांसा जैसी क्षात्रवृत्तियोंमें फँस जायगा। वैश्यभी ब्राह्मणके साथ एकाकार होनेपर वाणिज्य कुशलतासे हाथ धो बैठेगा और देश भिखारियोंसे भर जायगा। क्षत्रिय क्षमाशील ब्राह्मणोंसे मिलकर देशरक्षाके लिये शत्रुओं से लड़ना भूल जायगा, जिससे देश पराधीन हो जायगा। शूद्रभी ब्राह्मणोंमें सम्बन्धकर कला-कौशलमें पारदर्शी नहीं हो सकेगा। इसप्रकार शक्ति-संघर्षसे मनुष्योंके स्वाभाविक कर्मोंका रूपान्तर होकर कोई भी जाति अपनी जातिगत पूर्ण उन्नति नहीं कर सकेगी। आर्यजातिमें कोई पूर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं रह जायगा। सभी जातियाँ कर्त्तव्यभ्रष्ट होकर दीन-हीन हो जायँगी। यही कारण है कि, प्राचीन महर्षियोंने दैनिक सदाचारोंमें रोटी-बेटी सम्बन्ध वर्णभेदानुसार पृथक् रखनेकी व्यवस्था दी है, जिससे प्रत्येकवर्ण अपने नैसर्गिक जातिगत-संस्कार और मौलिक शक्तिको पुष्ट और पूर्ण बनाकर अपने वर्णमें आदर्श पुरुषोंको निर्माण कर सके। इससे स्पष्ट है कि, चारों वर्णोंमें रोटी-बेटी व्यवहार पृथक् रखना विज्ञानानुकूल है। इसमें घृणा या द्वेषके लिये कोई स्थान नहीं है। आर्योंके अन्यान्य आचारोंमें भी इसी तरह विज्ञानका आधार सन्निहित है। दृष्टान्तकेलिये यहाँ

कुछ आचारोंका उल्लेख करदेना उचित जान पड़ता है।

शास्त्रकी आज्ञा है कि, हाथ, पाँव और मुहँ धोकर उत्तरीय-(दुपट्टे) से शरीरको आवृत करके भोजन करे। इसका तात्पर्य यह है कि, भोजनके समय पाकयन्त्रमे क्रिया उत्पन्न होकर जो शक्ति उद्भूत होती है, वह शरीरमें ही बनी रहनेसे परिपाक-क्रिया उत्तम होती है। हाथ, पाँव, मुँह, शक्तिके निकलनेके स्थान हैं। उनके आर्द्र रहने और वस्त्र ओढ़े रहनेसे वह शक्ति शरीरमें ही बनी रहेगी और पाकक्रिया अच्छी होनेसे स्वास्थ्यरक्षा और आयुकी वृद्धि होगी। हाथ, सिर और केश वैद्युतिक शक्तिके प्रवेश तथा निर्गमके स्थान हैं। इनको एक साथ मिलाकर घर्षण करनेसे शक्तिक्षयकी आशङ्का रहती है। इसीसे मनु भगवान् आज्ञा देते हैं कि, दोनों हाथोंसे सिर न खुजलावे। दूसरोंके वस्त्र तथा जूते न पहनने-की आज्ञामें यह विज्ञान है कि एककी व्याधि दूसरेमें संक्रमित न हो। अंगुलियोंके अग्रोंके द्वारा विद्युतशक्तिका प्रवेश तथा निर्गम होता है। इसलिये वृक्षके फल-फूलों और नक्षत्रोंको अंगुलियोंसे दिखाने-का निषेध किया है। इससे अपने शरीरसे निर्गत-विद्युतशक्तिके तेजसे फल-फूल सूख जायँगे और नक्षत्रोंमें वैद्युतिकशक्तिके अधिक होनेसे वे हमारी शक्तिको आकृष्ट कर लेंगे, जिससे शरीरमें दुर्बलता आ जायगी। गुरुजनकी चरणवन्दनाका भी यही रहस्य है कि, इससे गुरुजनकी अमोघशक्तिका अंश प्रणाम करनेवाले को मिल जाता है और वह आयु, विद्या, यश और बल प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इसीतरह महर्षियोंके आज्ञापित प्रत्येक आचारके मूलमें वैज्ञानिक तथ्य भरा हुआ है। बुद्धिमान् पुरुषोंको सूक्ष्मबुद्धिसे इसका अनुभव कर सदाचार-पालनमें तत्पर हो जाना चाहिये। यह प्रथम तथा परमधर्म है और इस एकही धर्मके पालनसे मनुष्यके दोनों लोक बन सकते हैं। जो सदाचारोंमें आस्था नहीं रखता, उसमें और पशुमें भेदही क्या रह जाता है? सदाचारकी उपेक्षा करनेसे आजकलके नेताओंका कैसा पतन हो रहा है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। उनको उचित है कि, सदाचारकी उपेक्षा न करें और जिन शास्त्रोंमें सदाचारोंका वर्णन है, उनको पढ़नेका कष्ट उठावें। इसीसे उनके शासनकी असफलता, सफलता-में परिणत हो सकती है। उन्हें साहित्यद्वारा यह संस्था सहायता करनेको सदा प्रस्तुत है।

दैवीचमत्कार।

लेखक :— हनूमान शर्मा

उदयसिंह! क्या तू जाता है? लक्षण तो ऐसेही प्रतीत होते हैं। आँखें बैठ गईं, मुखाकृति बिगड़ गई, नाड़ीका कुछ पताही नहीं, हाथ-पाँव ठंढे हो गये, जानेमें अब शेषही क्या रहा? डाक्टरको आते आज पाँच दिन हो गये, कुछभी लाभ नहीं हुआ। वैद्य कहते हैं कि चन्द्रोदय दिया जाय तोअच्छा हो, परन्तु डाक्टर मना कर गया है कि 'दवा दी जायगी तो यह मर जायगा'। अब क्या किया जाय? भग-वत्कृपाके सिवा अब कोई उपाय ही नहीं। इस प्रकार भय, चिंता, उद्वेग और धैर्यके चौराहेमें भटकते

हुए मुकुन्दसिंह एक तख्तेपर लेट गये और थोड़ी देरके लिए उनकी आँखें लग गईं।

चौमूँसे पश्चिममें तीन मील पर टॉंकरड़ा एक क्षुद्र गाँव है। उसके अधिपति ठाकुर मुकुन्दसिंह साधारण श्रेणीके जागीरदार हैं। परंपरागत परिस्थिति अच्छी है। आपकी धर्मपत्नी बी० ए० एम० ए० नहीं—भगवद्गीता और मानसरामायण आदि पढ़ीं हैं। प्रातः बड़े सबेरे शौचस्नानादिसे निवृत होकर पूजा करती और भगवन्नामके जप करती हैं। आपके उदरसे चार पुत्र उत्पन्न हुए; उनमें बड़ा उदयसिंह मरणोन्मुख (बीमार) है। ठाकुरोंके हितैषी चिंताग्रस्त हो रहे हैं। किसीने भोजन भी नहीं किया है।

अर्धरात्रि व्यतीत हो गयी है, सवेरेके तीन बज गये हैं, ठाकुर अर्धसुप्त अवस्थाके स्वप्नमें देख रहे हैं कि, भगवान् रघुनाथजीके मन्दिरमें दो संन्यासी खड़े हैं, अवस्था उनकी युवा है, और मुखमण्डल प्रकाशमान है। दोनों भव्यमूर्ति हैं, मानो अश्विनी-कुमार हों, उनके समीपमें उदयसिंह भी मौजूद है। उसके अस्त हुए चेहरेको देखकर संन्यासियोंने औषध देनेका निश्चय किया, किन्तु सोये हुए मुकुन्दने स्वप्नमें साधुओंसे कहा कि महाराज! उदयसिंहको औषध देनेके लिए डाक्टर मनाकर गया है और कह गया है कि दवा दे दी जायगी तो यह मर जायगा, अतः आप क्षमा करें।

ठाकुरके कथनको सुनकर संन्यासियोंने कहा, कि, हमभी—यही देखना चाहते हैं कि, इसकी मृत्यु कैसे आती है—यह कहकर औषध पिला दी। ठाकुर घबड़ा गए, उनकी निद्रा उड़ गई, साथही संन्यासी भी अदृश्य हो गये, ठाकुरने सोचा कि बच्चेको देखना चाहिये मर गया या जीवित है। यह सोचते हुये मुकुन्द उदयके समीपउ पस्थित हुए, क्या देखते हैं कि मरणोन्मुख उदयका चेहरा प्रकाशित हो रहा है। आँखें खुल गयी हैं, करवटभी बदल रहा है और कुछ कहनाभी चाहता है। इस आशाजनक दृश्यको देखकर मुकुन्दके हितैषी हर्षित हो गये और ठाकुरोंके स्वप्नकी सब बातें प्रत्यक्ष देखनेमें आ गयी।

टॉंकरड़ामें रघुनाथजीका एक मन्दिर है, भगवान्की मूर्ति सुन्दर और चमत्कारी है। वह अकेले हैं, वामांग खाली है, उसमें जानकी नहीं हैं, भक्तोंने एक दोबार प्रतिष्ठित भी की तो रही नहीं, अलक्षित हो गयी। मानों अयोध्या आये पीछेके त्यागका स्मरण हो। अस्तु, विजयादशमीकी रात्रिमें वहाँ रामलीला होती है, दूर दूरके सैकड़ों दर्शक आते हैं और दूसरे दिन महाप्रसाद करके चले जाते हैं। नित्यकी सेवा, पूजा, भोगराग और व्रतोत्सवादिके खर्चका कोई स्थायी या नियत प्रबन्ध नहीं है। रघुनाथजीकी कृपासे ही सब काम यथोचित सम्पन्न होते हैं और उसीसे भक्तोंकी इच्छा पूर्ण होती है। यह घटना संवत् १९९६ के श्रावणकी है और अक्षरशः सत्य है।

नारीकी महत्ता।

(ले० श्रीमहेश्वरप्रसाद)

यह वसुन्धरा, जिसपर हम निवास करते हैं, एक चतुर चित्रकार की बनायी हुई है। पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखर, बड़ी-बड़ी गुफायें, लम्बी-लम्बी नदियाँ, वेगपूर्ण जल-प्रपात, अगाध समुद्र, विशाल द्रुम आदि कितनी ही वस्तुएँ, जिन्हें देख हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं, एकमात्र उसीकी रची हैं। सुन्दर एवं सुगन्धित मुकुलित सुमन, मनोहर लतिकाएँ, शीतल एवं स्निग्ध जल, सुखद समीर तथा अनन्त नीलम आकाशका प्रादुर्भाव उसीने किया है। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, अनेक वारिचर आदि चौरासी लाख योनियोंका आविर्भाव उसीके द्वारा हुआ है और सबसे विशेष बात तो यह है कि एक इसी वसुन्धराकी कौन चलावे, उसने तो ऐसी-ऐसी असंख्य वसुन्धराएँ बनायी हैं। सात नीचे, सात ऊपर ये चौदह भुवन उसीके बनाये हैं और बनाए हैं उसीने चन्द्र-लोक, सूर्य-लोक, गो-लोक, साकेत-लोक, इन्द्र-लोक, ब्रह्म-लोक, शिवलोक तथा वैकुण्ठ। चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नक्षत्रगण तथा सूर्य और पृथ्वीसे भी कई लाख गुने बड़े अपरिमित तारे और उनके मण्डल, जिनका हमें पता नहीं है, उसीके बनाये हैं। इस प्रकार अणु-परमाणुसे लेकर विस्तृत अन्तरिक्ष तक सर्वत्र उसी चतुर चित्रकारका जलवा दीख रहा है। जब दर्शनभी उसे समझनेमें असमर्थ होता है तो मनही मन कराह उठता है—

"केशव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति
समुझि मनहिं मन रहिये"॥

उस चतुर चित्रकारकी तूलिका भी विश्वके विस्तृत-क्षेत्रमें सर्वत्र खुशी-खुशी चलती रही है। एक रचना कर लेने पर उसकी दूसरी रचना स्वभावतः सुन्दर और श्रेष्ठ हो गई है। श्रेणियोंकी विभिन्नता उसकी कारीगरी की विशेषता है। सुन्दरसे सुन्दर और कुरूपसे कुरूप, कोमलसे कोमल और कठिनसे कठिन, छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा, सभी चित्रोंमें उसकी एक विलगकी छाप है और उसकी एक विलगकी विशेषता मालूम पड़ती है। एक 'ब्लाक'से एकही चित्र तैयार किया गया हो। तब तनिक ख्याल कीजिये उस अपूर्व कुबेरके भण्डारको और उस अद्वितीय कलाकार चित्रकारको। तरह-तरहके पदार्थ और तरह तरहके रूप-रंग मानो जो एकबार बन चुका वैसा न कभी बना है न कभी बन ही सकता है। ऐसा लगता है कि उसके घरमें साँचेकी कमी ही नहीं है। जब जो भाता है वही वह चट बना देता है, उरेह देता है। हमें समझते या कहते देर लग सकती है पर उसे फोटो खींचते देर नहीं होती। उसकी यह कला कुछ संकल्पके ही अनुरूप हो गयी है। चित्रकारके मनमें संकल्पका उठना है कि चित्रका बनाना है। लेकिन इन नानाप्रकारकी रंग-विरंगी तस्वीरोंका निर्माण करते करते ऐसे महान् चित्रकारकी भी कलम आकर मानवपर रुक गयी है। मानवकी रचना कर लेने पर मानो उस चित्रकारको अपनी धरोहर मिल गयी है। मानव-रचनाके पश्चात् उसे उतनी ही खुशी हुई है जितनी भागवत-रचनाके पश्चात् व्यासको हुई थी। अतः मानवकी तस्वीर बनाकर एक प्रकारसे वह परम सन्तुष्ट हो गया है। मानव उस चित्रकारकी आखिरी कारीगरी है

और सृष्टिका एकही बानगी है। उसमें जो गुण, जो विद्या, जो बुद्धि, जो सौन्दर्य, जो कला, जो शक्ति, जो प्रतिभा एवं जो बिभूति उसने भरी है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। इसीसे बार-बार आवाज उठी है—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही।
जीव चराचर जाचत तेही॥

× × × ×

सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सबते अधिक मनुज मोहि भाये॥

× × × ×

बड़े भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सद्ग्रंथनि गावा॥

× × × ×

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत हेतु बिनु ईस सनेही॥

समस्त विश्वका प्रतिनिधि मानव दो बड़े टुकड़ों-में विभक्त है। उसका एक टुकड़ा है नारी तथा दूसरा पुरुष। सृष्टिके उक्त दोनों टुकड़े प्रधान तथा अनिवार्य हैं। एकके बिना एक नहीं चल सकता। फिरभी नारीसे पुरुषका कोई मिलान नहीं, कोई तुलना नहीं। नारी दूसरी चीज है और पुरुष दूसरा। पुरुषकी अपेक्षा नारी अत्यधिक बड़ी है। नारी विश्वकी विराट् शक्ति है। कहते हैं पुरुषसे पहले सृष्टिमें उसीका आगमन हुआ था। कारणतः समाजका ही नहीं, इस निखिलब्रह्माण्ड, इस अखिलभुवन और समस्त ब्रह्माण्डकटाहका महत्वपूर्ण अंग है नारी। उसीके बलपर सारा संसार चल रहा है। पुरुषने आजतक जो कुछ किया है, उन सबका श्रेय नारीको है। नारीने समय-समयपर पुरुषमें वह शक्ति तथा प्रेरणा भरी है जिसके प्रताप-से पुरुषने अपना नाम सार्थक किया है। ध्रुवने यदि भक्तोंमें अग्रगण्य होकर उच्चासन प्राप्त किया है तो उसका श्रेय सीधे माता सुनीतिको है। दशरथ यदि देवासुर-संग्राममें विजयी हुए हैं तो उस विजय-का मूल कारण रथकी धुरीमें हाथ लगानेवाली वीर क्षत्राणी कैकेयी ही है। कालिदासके अगाध पाण्डित्यकी देन—विद्योत्तमाको कदापि हम भूल ही नहीं सकते। कृष्णका महाभारत और रामका संग्राम, द्रौपदी और सीताको लेकर क्रमशः प्रज्वलित है। और तो और, तुलसी अलौकिक भक्त तथा अनुपम कवि कैसे हुए, किसे ज्ञात नहीं। रत्नावलीके निम्न व्यंग्यमें भी तुलसीके हितकी कितनी बड़ी बात निहित थी।

हाड़ माँसकी देह मम, तामें इतनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवस मिटति भवभीति॥

आश्चर्य तो यह है कि ऐसी प्रबला नारी अबलाके रहस्यमय नामसे चिरकालसे हमारे बीच प्रतिष्ठित है। कहनेको नारी अबला है तो सही, किन्तु उसके उसी सुदृढ़ नाममें बड़ी भारी तेजस्विता है। जहाँ वह अपना जरा-सा दृष्टिकोण बदलती है और अपनी 'बहनका' आवाहन करती है कि उसका स्वरूप साक्षात् चण्डी-सा हो जाता है। उस समय तो, बस एक साधारण सी अबलाभी ऐसा प्रबल पुरु-षार्थकर दिखाती है, जिसे देख पुरुष प्रबल दाँतोंतले उँगली दबा लेता है। दूर न जाइये। अभीहालकी बात है कि रानी संयुक्ता, रानी पद्मिनी, पन्नाबाई, रानी दुर्गावती, चाँद बीबी सुलताना, ताराबाई, तथा अहल्याबाईने उन-उन कार्योंको कर दिखाया है जिसे स्मरणकर हमारे पैरोंतले पृथ्वी खिसक जाती है।

इन सबसे प्रधान वीरांगना महारानीजी लक्ष्मीबाई को तो कदाचित् हम भूल ही नहीं सकते, जिनके प्रतापसे कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहानकी भी लेखनी धन्य हो गयी है। अबलाकी वह मरदानगी स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है !!

"खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी"।

अबलाकी मरदानगीके अनन्तर उसका निर्बलता-का भी थोड़ा निरीक्षण कीजिये। अबलाकी निर्बलता है उसकी 'हाय'। यह हाय जब अबलाके निःश्वासोंसे प्रस्फुटित होती है तो उसके स्पर्शमात्रसे प्रबलसे प्रबल पुरुषके अत्याचार, पाप तथा पुरुषार्थ भस्म हो जाते हैं। 'अशोकोंमें सशोका मैथिली'की आहोंसे स्वर्णमयी नगरी लंका जलकर राख बन गयी थी। पाण्डवकी प्रिया सती द्रौपदीके करुण-क्रन्दनसे महाभारतमें अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हो गया था। सावित्री अपने पति सत्यवान्‌के वियोगमें जब विलाप करनेको तुल बैठी थी तो रामराजका भी हृदय हिल गया था। रोहिताश्वकी मृत्युके पश्चात् शैव्या बिलखती हुई आँचलका टुकड़ा फाड़ रही थी। क्या उस समय श्रीहरिको नहीं आना पड़ा था ? इस प्रकार जब जब अबलाओंने अपनी निर्बल आहें छोड़ी हैं तब तब उससे समस्त चराचर, समस्त ब्रह्माण्डकटाह काँप उठा है। निष्कर्ष यह निकलता है कि अबलाकी निर्बलतामें भी वह शक्ति भरी है जो रावणादि जैसे बली पुरुषोंको कौन कहे, विश्वके सूत्रधार उस परमपुरुषको भी प्रकम्पित करनेकी क्षमता रखती है। आप कहेंगे अबलामें वस्तुतः है क्या ? उत्तरमें निवेदन है कि अबलामें उसका निज-धन् नारीत्व ही जो पुरुषमें नहीं है और जिसके लिये पुरुष सदासे प्रयत्नशील है। इसी लक्ष्यकर ग्विगने लिखा है :—

The ultimate destiny of man is to become a woman.

अर्थात् पुरुषका चरम विकास नारी होना है। नारीका नारीत्व बड़ा व्यापक शब्द है। उसमें साधारणतः दीनता, हीनता, सेवा, त्याग, प्रेम, नेम, लज्जा, भय, दया, करुणा, सहृदयता, भावप्रवणता, कोमलता, मधुरता प्रभृति उच्च तथा आदर्शगुणोंका पर्यवसान हुआ है। उन्हीं आदर्श-विभूतियोंको अपनाकर नारी नारी होती है और पुरुषसे आगे बढ़ती है। कहा भी जाता है कि नारीके गुण यदि पुरुष प्राप्त कर लें तो सोनेमें सुगन्ध आ जाय। उसके विपरीत यदि पुरुषोंके गुण नारी धारण कर ले तो वह अपने नारीत्वसे च्युत हो जाय। विश्लेषण स्पष्ट है कि नारी पुरुषकी अपेक्षा अधिक जिम्मेदारी रखती है। फिर यह मानी हुई बात है कि अधिक जिम्मेदारी रखनेवाला व्यक्ति अधिक बड़ा होता है। 'रामते अधिक रामका दासा' और 'हरि'से बढ़कर 'हरिजन' जो माने गये उसका प्रधान कारण यही न है कि 'हरिजन हरि ही देत' और—

राम सिन्धु, घन सज्जन धीरा।
चन्दन तरु हरि, संत समीरा॥

पुरुष-जीवन तो उद्दण्डताका जीवन है, जिसके सम्बन्धमें नारदने स्पष्टशब्दोंमें कहा था—'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई।' नारी-जीवन या अबलाका जीवन ठीक उसके उल्टा अनुदण्डताका जीवन है, परतन्त्रताका जीवन है, पुरुषत्वकी आतन्त्रता और स्वयंकी नारीत्वकी आतन्त्रता। पुरुषकी अधीनता न हो तो न सही; मगर नारीको निजकी अधीनता जो उसका नारीत्व है, स्वीकार करनी ही पड़ेगी। नारी स्वयंके घेरेमें घिरी पिञ्जरबद्ध पक्षी है जिसके लालन-पालनमें गणिका जैसी पापात्मा भी परम

शान्तिको प्राप्त करती है। यही कारण था कि जनकनन्दिनीके नारीत्वका घेरा जङ्गलमें भी न छूटा। जहाँ तनिक 'रेख लाँघि सिय बाहर आई' कि चट रावण उन्हें लेकर चम्पत होता बना। आगे चलकर अपनी भूलको उन्हीं सीताने 'तृन धरि ओट' आदिके द्वारा सुधारनेकी चेष्टा की है। बहुत पहलेसे त्रिकालदर्शी ऋषियोंने घोषणा की है—

"भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिगुरु स्वसुरदेवरैः।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः" ॥

इतना ही तक नहीं—(All women were endowed for all times) बात यह है कि नारीको फूँक फूँककर कदम रखनेकी जरूरत पड़ती है। उसे इतनी सावधानीसे चलनेकी जरूरत होती है कि कहीं उसके पैर न फिसल जाँय। वैसी स्थितिमें दुनियाँ उसे क्या कहेगी, इसकी चिन्ता बराबर नारीको रखनी होती है। क्या कारण है कि कवियोंने नारीकी चाल पर ही 'गजगामिनी' 'हंसगामिनी' आदिका विशेषण वार दिया है। निकटसे ही हाथी निकल जाता है, हमें उसकी तनिक आहट भी नहीं मिलती और दूरसे ही घोड़ेके टापकी आवाज हमारा कान फाड़ देती है। कारण स्पष्ट है। हाथीकी विशालताके साथ उसकी बड़ाई सिर्फ उसकी चालमें है और लगभग सभीकी महानता अपनी अपनी चालमें है। जिसकी चाल जितनी ही सुन्दर है, जिसका आचरण जितना ही पुनीत है, वह उतनाही बड़ा है, महान् है। उस परम चित्रकारकी लीलाभी बड़ी विचित्र है। ताड़के पेड़में, जिसकी छायामें जानेकी सम्भावना किसीको नहीं है—बड़े-बड़े फल लगाये हैं। बट तथा पीपलके पेड़में जहाँ मनुष्य प्रायः विश्राम लिया करते हैं, छोटे-छोटे फल लगा दिये हैं। यही है बड़ोंकी बड़ी बात, जो बड़ी मुश्किलसे समझमें आती है। कदाचित् हम समझ नहीं पाते तो झट भूल मान लेते हैं। पर तारीफ यह कि उसेभी कहनेकी क्षमता हममें नहीं। लाचारी है कि—

को कहि सके बड़न सों, लखै बड़ी ही भूल।
दीने दई गुलाबको, इन डारन ये फूल ॥

खैर, भारतीय नारी-जीवन—विशेषतः हिन्दू अबला जीवनका मतलब है—तपस्याका जीवन, व्रतका जीवन. वह पुनीत और पावन जीवन जिसका अन्यदेशवाले विजातीय स्वप्न देखा करते हैं। भारतीय हिन्दूरमणीका अबला-जीवन कर्त्तव्यके कठोर पाबन्दियोंमें जकड़ा हुआ है। दुःख, चिन्ता और अवसादका गट्ठर तो उसके सिरसे एकक्षणके लिये भी पृथक् नहीं हो पाता। आये दिन नानाप्रकारके विषाद और तरह तरहकी आपत्तियाँ यहाँ अबलाकी परीक्षा लेनेके लिये आती हैं और उसका हृदय सहलाकर चली जाती हैं। इस अपार पीड़ा तथा व्यथाको अबला सबलाकी तरह नित्यप्रति झेलती है और जीवन-संग्रामके विस्तृत आँगनमें डटकर अग्रसर होती है। उसका अबलापन उन आपत्तियोंको आसानी पूर्वक पचा लेता है। अबलाकी अध्यवसाय-शक्ति सर्वथा उसकेलिए उपयुक्त होती है। पुरुष उस महाप्रलयको भी नहीं पाता, पचाना तो दूर रहा। जहाँ पुरुषने पीड़ाका घूँट मुहँसे लगाया कि हृदयमें आग लग जाती है, उसका सारा शरीर ही खोखला उठता है। जबतक पुरुष अपने उस खोखलाहटका परित्याग नहीं कर देता तब तक अबला-नारी उससे बहुत आगे है। इतना आगे कि वह उसे स्पर्श नहीं कर सकता। जबतक शंकर भगवान् विषको कंठमें ही भयके मारे रखते हैं तबतक भक्तिमती मीरा उसे—

करि चरणामृत पी गयी लेकर हरिका नाम।

श्रीभगवद्गीता

हिन्दी पद्यानुवाद

श्रीमोहन वैरागी

[गताङ्कसे आगे]

(२५)

और कहा हे पार्थ लखो ये खड़े समरमें कौरववीर ।
लड़नेको उत्सुक हैं सारे मरनेको हो रहे अधीर ॥

(२६)

केशवके ऐसा कहने पर लखा पार्थने दोनों सैन्य ।
सभी ओर आत्मीय-स्वजन थे सुहृद् सखा सन्मित्र अनन्य ॥

(२७)

चाचा ताऊ और पितामह पूजनीय आचार्य अवध्य ।
मामा भ्रातृ-पुत्र पौत्रादिक सम्बन्धी सब थे रणमध्य ॥

(२८)

यों सब स्वजन सामने लखकर हुआ धनञ्जयको अवसाद ।
शोकाकुल होकर केशवसे कहने लगे पार्थ सविषाद ॥

अर्जुनने कहा—

(२९)

लखकर इन आत्मीय स्वजनको शिथिल हो रहा मेरा गात ।
काँप रहा तनु सूख रहा मुख भ्रान्ति हो रही मुझको तात ॥

(३०)

फिसल रहा गाण्डीव हाथसे हाय ! जल रही त्वचा अपार ।
शक्ति न मुझमें स्थिर रहनेकी अहो ! विकृत हो रहे विचार ॥

(३१)

लक्षण सब विपरीत देखता—रणमें इन स्वजनोंके प्राण ।
लेकर हे गोविन्द मुझे तो नहीं देख पड़ता कल्याण ॥

(३२)

नहीं चाहिये केशव मुझको विजय तथा पृथ्वीका राज्य ।
क्या होगा ऐसे जीवनसे क्या होगा यह सुख साम्राज्य ॥

(क्रमशः)

कर्ममीमांसादर्शन ।

[गतांकसे आगे]

पञ्चकोषसे पूर्ण मनुष्यकी और भी विशेषता कह रहे हैं—

वह पिण्डेश्वर है ॥ १७६ ॥

उद्भिज्जादि सहज-पिण्डके जीव कदापि पिण्डेश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि वे असम्पूर्ण रहते हैं। उनमें यथाक्रम एक-एक कोषका अधिक विकास होता रहता है, जैसा कि पहले कहा गया है। वस्तुतः उनमें पाँचों कोष बने तो रहते हैं, क्योंकि सब जीवोंमें सब कोषोंके तथा सब इन्द्रियोंके लक्षण विद्यमान रहते हैं। परन्तु उनमें जैसे पहले कहा गया है, यथाक्रम कोषोंकी असम्पूर्णता अवश्य रहती है। इस कारण वे असम्पूर्ण पिण्डके अधिकारी होनेसे अपने अपने पिण्डके अधीश्वर नहीं हो सकते। मानव-पिण्ड सब प्रकारसे पूर्ण होनेके कारण मानव-पिण्डका जीव अवश्य ही पिण्डेश्वर कहा जा सकता है। विशेषतः मनुष्यसे ही देवता आदि बनते हैं, मनुष्य ही मुक्तिका अधिकारी होता है, इस कारण मनुष्यके पिण्डेश्वर होनेमें सन्देह ही क्या है ॥१७६॥

और भी महिमा कही जाती है :—

इस कारण इसमें ऐशी शक्तियोंका विकास होता है ॥ १७७ ॥

मानवपिण्डकी पहले विशेषता कहकर उसके अनन्तर आधिभौतिक विशेषतारूप पिण्डेश्वरत्व वर्णन करके अब आधिदैविक विशेषताका वर्णन किया जाता है। मनुष्य-शरीरमें तप और योगबल द्वारा नाना दैवी तथा ऐशी शक्तियोंका विकास हो सकता है। परकायाप्रवेश, दूरश्रवण, दूरदर्शन आदि दैवी-शक्तियों तथा अणिमा, लघिमा आदि ऐशी विभूतियोंका उसमें विकास होता है। वस्तुतः मनुष्यशरीर अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत और सहज इन चारों श्रेणियोंकी सिद्धियोंका विकासस्थल है, इसमें सन्देह नहीं। यह उसका विशेषत्व है। भगवान् पतञ्जलिने भी कहा है—

"जन्मसंस्कारमन्त्रौषधिसमाधिसिद्धयः"

जन्मसिद्धि, संस्कारसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, औषधिसिद्धि और समाधिसिद्धि इसप्रकार अनेक सिद्धियाँ हैं ॥ १७७ ॥

और भी कहा जा रहा है—

इसकारण मनुष्यशरीरमें निःश्रेयसाधिगम होता है ॥ १७८ ॥

अब आध्यात्मिक विशेषता कही जारही है कि, मानवपिण्डमें ही निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। मृत्युलोक कर्मभूमि है। मृत्युलोक चतुर्दशभुवनोंका केन्द्र है। मृत्युलोकमें ही मनुष्यत्वप्राप्तिके अनन्तर जीव देवता बनकर ऐशकर्मकी सहायतासे क्रमशः त्रिमूर्त्तिपद प्राप्त करके ब्रह्मीभूत हो जाता है, अथवा जैवकर्मकी सहायतासे शुक्लगतिद्वारा सूर्य्यमण्डल-भेदन करता हुआ मुक्त हो जाता है। सहजगति द्वारा तो मनुष्यशरीरमें ही जीव मुक्त हो सकता है, यह मानवपिण्डकी विशेष महिमा है ॥ १७८ ॥

पिण्डेश्वरोऽसौ ॥ १७६ ॥

अत ऐशीविकाशार्हत्वमस्य ॥ १७७ ॥

निःश्रेयसाधिगमश्च ॥ १७८ ॥

अन्य प्रकारका महत्त्व कहा जाता है :—

मनुष्यमें लौकिक और अलौकिक द्विविध शक्ति है ॥ १७९ ॥

मानवपिण्डकी यह एक और विलक्षणता है कि, इसमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारकी शक्तियोंका विकास होता है। देवताओंका अधिकार मनुष्यसे बढ़कर होनेपर भी देवतागण यदि इस लोकके लौकिक कर्म करना चाहें, तो उनको यहाँके लौकिक केन्द्रके अवलम्बनसे करना पड़ेगा। उदाहरण-रूपसे समझ सकते हैं कि, वे यदि किसीको मारना चाहें, तो मेघस्थित वज्र द्वारा अथवा सर्पादिमें प्रेरणा करके उसके द्वारा मारना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि किसीका कल्याण करना चाहें, तो दूसरेके अथवा उसीके अन्तःकरणमें प्रेरणा करके करना होगा। देवतागण प्रकारान्तरसे मनुष्यके दर्शनेन्द्रियगोचर स्थूलशरीरके धारण कर लेनेपर भी वे स्थूलशरीरका सब यथावत् लौकिक कार्य्य नहीं कर सकते। परन्तु दूसरी ओर मनुष्यमें दोनों तरहकी योग्यता है। मनुष्य योगशक्तिद्वारा मारण, वशीकरण उच्चाटनादि कार्य्य भी कर सकता है और लौकिक रूपसे भी इन कार्यों-को कर सकता है। संयमद्वारा दैवकार्य्य भी कर सकता है और लौकिक पुरुषार्थद्वारा लौकिक कार्य्य भी कर सकता है ॥ १७९ ॥

और भी कहा जाता है :—

लौकिक अलौकिक प्रत्यक्ष भी है ॥ १८० ॥

एक यह और महत्त्व कहा जाता है। मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें लौकिक प्रत्यक्षके उपयोगी दर्शनेन्द्रिय हैं। दूसरी ओर मनुष्यसे ऊपरकी जो देवता आदि योनियाँ हैं, उनमें अलौकिक दिव्य प्रत्यक्षके साधन हैं। परन्तु मनुष्यपिण्ड सब पिण्डोंका मध्यवर्त्ती होनेके कारण और मनुष्यका अधिकार स्वाधीनताके विचारसे सबसे बढ़कर होनेके कारण मनुष्यमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारके प्रत्यक्ष करनेकी शक्ति विद्यमान है। मनुष्य साधारणतः अपने नेत्रगोलककी सहायतासे अथवा अणुवीक्षण दूरवीक्षण आदि यन्त्रोंकी सहायतासे बहुत कुछ स्थूल पदार्थोंको प्रत्यक्ष करता है। दूसरी ओर अपनी योगशक्ति द्वारा अपने तृतीय ज्ञाननेत्रको खोलकर अलौकिक प्रत्यक्षको यहाँ तक बढ़ा सकता है कि, सर्वातीत भगवान्का भी दर्शन कर सकता है। अलौकिक प्रत्यक्ष करनेकी युक्ति योगदर्शनमें और अलौकिक प्रत्यक्ष करनेका रहस्य और प्रमाण सांख्य-दर्शनमें भली प्रकारसे पूर्वाचार्योंने सिद्ध किया है ॥ १८० ॥

प्रसङ्गसे योनियों में आश्रयस्थल निर्णय किया जाता है :—

उद्भिज्जयोनि तथा मनुष्ययोनि जीवका आश्रयस्थल है ॥ १८१ ॥

सबप्रकारकी योनियोंमें यदि आश्रयका सम्बन्ध विचार किया जाय, तो यही कहा जायगा कि, उद्भिज्जयोनि और मनुष्ययोनि सब प्रकारकी योनियोंका आश्रयस्थल है। उद्भिज्जयोनिके आश्रयसे मृत्युलोककी अन्य सब योनियाँ जीवन धारण करती हैं। मृग उद्भिज्जके ही आत्मसमर्पणसे जीवित रहता

लौकिक्यलौकिकी च शक्तिः ॥ १७९ ॥

लौकिकमलौकिकञ्च प्रत्यक्षम् ॥ १८० ॥

उद्भिज्जमर्त्यौ जीवाश्रयौ ॥ १८१ ॥

है और उसी मृगके नाशसे व्याघ्र जीवित रहता है। मनुष्यपर्य्यन्त यावत् प्राणी मृत्युलोकमें स्थायी रहते हैं। मृत्युलोक उद्भिज्जकी सहायतासे स्थायी है। दूसरी ओर मनुष्यकी सहायतासे चतुर्दशभुवन सुरक्षित हैं। मनुष्ययोनि न हो तो मृत्युलोककी सुव्यवस्था न हो। मनुष्ययोनि न हो तो प्रेतलोक, नरकलोक आदिकी आवश्यकता न हो और मनुष्यलोक न हो, तो उच्चदेवलोकोंका न सम्वर्द्धन हो; क्योंकि यज्ञद्वारा ही वे सम्वर्द्धित होते हैं और न उनकी अस्तित्व-रक्षा ही हो। क्योंकि मनुष्यसे ही वे देवता बनते हैं ॥ १८१ ॥

इसका कारण कहा जाता है :—

अवधिके द्विविध होनेसे ॥ १८२ ॥

जीवभूत-प्रवाहकी दो परिधियाँ हैं। एक उद्भिज्ज और दूसरी मनुष्य। उद्भिज्जसे यह प्रवाह प्रारम्भ होता है और जीवन्मुक्तमें यह विलीन होता है। मुक्तावस्थाकी जितनी अवस्थाएँ हैं, वे मनुष्ययोनि-सापेक्ष हैं। दूसरी ओर जीवावस्थाका आरम्भ, जो चिज्जड़ग्रन्थिकी प्रथम सम्भावना है, उद्भिज्जयोनिसे सम्बन्ध रखता है। अतः ये दोनों योनियाँ जीवप्रवाहकी दो परिधियाँ हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ १८२ ॥

शंका-समाधान किया जाता है :—

जीवत्वका विकास उद्भिज्जमें होता है ॥ १८३ ॥

यदि जिज्ञासुको यह शंका हो कि, जीवत्वकी प्रारम्भिक परिधि क्या उद्भिज्जके सिवाय और कुछ नहीं हो सकती? घटने-बढ़नेवाले और भी अनेक पदार्थ हैं, उनको क्यों नहीं परिधि मानी जाय? इत्यादि शंकाओंमें पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है और यह निश्चय दिलाया है कि, उद्भिज्जसे ही जीवत्वका प्रारम्भ होता है। इसका कारण यह है कि, पञ्चकोष तथा ज्ञानेन्द्रियोंके विकासका लक्षण उद्भिज्जपिण्डमें ही प्रकाशित होता है। स्मृतिशास्त्रमें ही कहा है :—

"उष्णतो म्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चाऽपि स्पर्शस्तेनाऽत्र विद्यते ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनाञ्चापि दर्शनात्।
व्याधिप्रतिक्रियात्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥
वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्द्ध्वं जलमाददेत्।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिवति पादपः ॥
सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥"

गर्मीके दिनोंमें गर्मी लगनेसे वृक्षोंके वर्ण, त्वचा, फल, पुष्प आदि मलिन तथा शीर्ण हो जाते हैं, अतः उद्भिज्जोंमें स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान है। प्रबल वायु, अग्नि तथा वज्रके शब्दसे वृक्षोंसे फल पुष्प शीर्ण हो जाते हैं, कानके द्वारा शब्द सुननेसे ही ऐसा होता है, अतः उद्भिज्जोंमें श्रवणेन्द्रिय भी विद्यमान है। लता वृक्षोंको वेष्टन करती हुई सर्वत्र जाती है, आँखोंसे देखे बिना मार्गका निर्णय नहीं हो सकता, अतः

अवधिद्वैविध्यात् ॥ १८२ ॥ जीवत्वमनिरुद्भिदः ॥ १८३ ॥

उद्भिज्जोंमें दर्शनेन्द्रिय भी विद्यमान है। अच्छी बुरी गन्ध तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृत्त नीरोग और पुष्पित होने लगते हैं, अतः उद्भिज्जोंमें घ्राणेन्द्रिय भी विद्यमान है। पाँवके द्वारा जलपान करना, रोग होना, तथा रोगका नाश होना भी उनमें देखा जाता है, अतः उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रियभी विद्यमान है। डण्ठीके मुखद्वारा जिसप्रकारसे कमल ऊपरकी ओर जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार वायुसे संयुक्त होकर पाँवके द्वारा वृत्त जलपान करता है, यही सब उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रियका अस्तित्व सिद्ध करता है। उद्भिज्जोंमें जो सुखदुःखके अनुभव करनेकी शक्ति देखनेमें आती है, टूट जानेपर पुनः नवीन शाखा-पत्रादिकी उत्पत्ति देखी जाती है, इससे उद्भिज्जोंमें जीवत्व है, अचैतन्य नहीं है, यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ॥ १८३ ॥

विज्ञानको और भी पुष्ट कर रहे हैं :—

प्रस्तरादि धातुओंके परिणामी होनेपर भी उनमें जीवत्व नहीं है ॥ १८४ ॥

यदि यह शंका हो कि, प्रस्तरादि पदार्थोंको जब बढ़ते हुए देखा जाता है, तो क्यों नहीं उनमें जीवत्व होना मान सकते हैं? इस प्रकारकी शंकाओं-का समाधान यह है—कहीं बालूसे पत्थर बनता है, कहीं मिट्टीसे पत्थर बनता है, कहीं आग्नेय-पर्वतके प्रस्रवणसे गले हुये पदार्थ जो निकलते हैं, उनसे पत्थर बनता है और ये सब पत्थर क्रमशः बढ़ते हुये भी दिखाई पड़ते हैं। सोना, चाँदी आदि धातु, हीरा, माणिक आदि रत्न और हरिताल आदि उपधातु सब बढ़ते हुये दिखायी पड़ते हैं। परन्तु इस प्रकारका पदार्थोंका बनना और उनका बढ़ना जीवपिण्डके बढ़नेके सदृश नहीं होता है। इनमें परिणाम होकर ऐसा बढ़ना होता है। तड़ित्-शक्ति अथवा ऐसे ही प्रकृतिके स्थूलशक्तिविशेषकी तरंगोंके प्रभावसे इन पदार्थोंके निकटके परमाणु पंचतत्त्वोंकी सहायतासे उन पदार्थोंमें परमाणु बढ़ा देते हैं; इससे वे पदार्थ क्रमशः बढ़ते रहते हैं। मानवपिण्ड तथा सहजपिण्डादिमें जैसे प्राणमयकोष-की सहायतासे और अन्नकी सहायतासे अन्नमयकोष बढ़ता है, वैसा इन पदार्थोंमें नहीं होता है। विशेषतः जैसा ज्ञानेन्द्रियोंका लक्षण उद्भिज्जमें पाया जाता है, जैसा कि पहले कहा गया है, वैसा लक्षण प्रस्तरादि पदार्थोंमें कदापि नहीं पाया जाता। इस कारण प्रस्तरादिमें जीवत्वकी शंका युक्ति और विज्ञानविरुद्ध है। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि, उन पदार्थोंके समष्टिरूपसे अधिदैव अवश्य हैं। जिस प्रकार नदी-के, समुद्रके अधिदैव देवताविशेष होते हैं; ऐसे ही पर्वतविशेष, प्रस्तरविशेष, रत्नविशेष तथा धातुविशेषके अधिदैव देवता अलग अलग होते हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उनके सामञ्जस्यकी रक्षा करते हैं ॥ १८४ ॥

और भी कहा जाता है :—

अधिदैवके सम्बन्धसे उनका शक्तिमत्त्व है ॥ १८५ ॥

अब यदि प्रश्न हो कि, उनमें जीवत्व नहीं है, तो असाधारण शक्तियोंका विकास कैसे होता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि जीवां-में तो असाधारण-शक्तियोंका विकास है, जैसा कि, पहले बहुत कुछ कहा गया है, परन्तु धातुसमूह,

परिणामत्वेपि न प्रस्तरादिषु ॥ १८४ ॥ तच्छक्तिमत्त्वमधिदैवसम्पर्कात् ॥ १८५ ॥

रत्नसमूह तथा नाना जड़भूतसमूहमें जो असाधारण शक्तियोंका विकास होता है, वह उन पदार्थोंके रक्षक अधिदैवोंकी सहायतासे हुआ करता है। उदाहरण-रूपसे समझ सकते हैं कि, जल, अग्नि, पर्वत आदि-के जो स्वाभाविक गुण हैं, वे तो स्वभावसे उत्पन्न हैं, परन्तु उनके द्वारा जो समय समयपर असाधारण शक्तियोंका विकास होता है, जैसे कि, वायुके द्वारा आँधी आदिकी उत्पत्ति, जलके द्वारा घोर जलप्लावनादि कार्य्य, वे सब उन पदार्थोंसे सम्बन्धयुक्त अधिदैवोंकी इच्छाशक्तिसे सम्बन्ध रखते हैं ॥ १८५ ॥

प्रसंगसे कहा जाता है :—

चराचरमें सप्तधातु स्थितिके कारण हैं ॥ १८६ ॥

सहजकर्मसे सम्बन्धयुक्त सप्तधातु, जो प्रकृतिके सहज सप्तविभागसम्भूत हैं, वे स्थूलसर्गकी स्थितिके कारण होते हैं। स्थावरमें सप्तधातु, यथा—सुवर्ण, लौह, आदि और जंगममें सप्तधातु, यथा—मांस, रक्तादि हैं। स्थावरमें सुवर्णादि सप्तधातु सर्वव्यापक हैं और उन्हींके परस्पर सम्मेलनसे अनेक उपधातु भी बनते हैं। सूक्ष्मदृष्टिसे यह अच्छी तरह देखनेमें आता है कि, पृथिवीके सब विभागोंमें और यहाँतक कि, पृथिवीके अन्तर्गत जलमें भी सुवर्णादि सप्तधातुओंका सम्मेलन रहता है और ये ही सप्तधातु स्थावरपदार्थोंकी स्थितिके कारण प्रकारान्तरसे बनते हैं। जबतक प्रस्तरादिमें इन धातुओंका सम्बन्ध बना रहता है, तबतक प्रस्तरादिका अस्तित्व बना रहता है। चाहे पदार्थविद्याद्वारा उनकी प्रत्यक्ष-सिद्धि न भी हो, परन्तु सब स्थावरपदार्थोंमें सप्तधातु विद्यमान है, यह विज्ञानसिद्ध है। इन धातुओंके क्षयके साथही साथ प्रस्तरादिमें क्षय उत्पन्न होता है और उसके परमाणु बिखरकर नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार मानवपिण्ड आदिमें रक्त, मांस, अस्थि आदि सप्तधातु उस पिण्डकी स्थितिके कारण होते हैं। यह तो आयुर्वेदशास्त्रसे सर्वथा सिद्ध है और यह भी सिद्ध है कि, जब सप्तधातुओंमें क्षय उत्पन्न होता है, तभी मनुष्यका शरीर क्षीण होने लगता है; यहाँतक कि, सप्तधातुओंमेंसे एकका भी क्षय हो, तो शरीर नहीं रहता। जंगमके सप्तधातुओंमेंसे और सब धातु स्त्री और पुरुषमें एकसे रहते हैं, केवल वीर्य्यके स्त्रियोंमें दो विभाग हो जाते हैं। इसी कारण आयुर्वेदाचार्योंका मत है कि, स्त्रियोंमें आठ धातु हैं। यथा—सृष्टि-उत्पादक रज तथा कान्ति और शक्तिवर्द्धक वीर्य, वस्तुतः सप्तम धातुके ही ये दो भेद स्त्रीशरीरमें होते हैं ॥ १८६ ॥

दूसरा फल कहते हैं :—

उससे उभयत्र परिणाम होता है ॥१८७॥

सप्तधातुओंसे दूसरा फल क्या होता है, सो सहजकर्मके गतिनिदर्शनार्थ कहा जाता है। स्थावरमें और जंगममें उभयत्र परिणाम होना भी सप्तधातुओंका ही कार्य्य है ॥१८७॥

इसका उदाहरण देते हैं :—

प्रस्तरादि स्थावरमें और जरादि जङ्गममें ॥ १८८ ॥

जब बालूसे अथवा मिट्टीसे पत्थर बनता है अथवा

चराचरे सप्तधातुस्थितिनिमित्तम् ॥ १८६ ॥

तेनोभयत्र परिणतिः ॥१८७॥

स्थावरे प्रस्तरादिकं जङ्गमे जरादिकम् ॥१८८॥

जब मिट्टीसे कङ्कर अथवा अन्य खनिज पदार्थ आदि बनते हैं, तो वे सब परिणाम पूर्वकथित सप्तधातुओंके ही हेरफेरसे हुआ करते हैं। दूसरी ओर जङ्गमपिण्डमें जो वृद्धत्व, स्थूलत्व, कृशत्व आदि परिणाम होता है, वह भी पूर्वकथित सप्तधातुओंके ही हेरफेरसे हुआ करता है ॥१८८॥

उसका प्रधानहेतु कहा जाता है :—

त्रिगुणके कारण ॥१८९॥

स्थावर और जंगममें इस प्रकार सप्तधातुओंके द्वारा जो परिणाम होता है, इस विषयमें यदि कोई शंका करे कि, इसका मौलिक कारण क्या है? सप्तधातु जब स्थितिके कारण हैं, तो उनके द्वारा परिणाम स्वतः क्यों होने लगता है? इस श्रेणीकी शंकाओंमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। वस्तुतः सप्तधातुओंके द्वारा स्थावर और जंगममें जो जो परिणाम होता है, उसका मौलिक कारण प्रकृतिका त्रिगुण है। प्रकृतिके त्रिगुणमेंसे जब एकके बाद दूसरा उदित होता है और ऐसा उदित होना स्वभावसिद्ध है, तो इसी गुणपरिणामके अनुसार धातुओंमें परिणाम होता है और धातुओंमें परिणाम होनेसे स्थावर-जङ्गमात्मक परिणाम होता रहता है ॥१८९॥

अब स्थूल कारण कहा जाता है :—

रयि और प्राणसे भी ॥१९०॥

त्रिगुणके द्वारा परिणामकी गति संसाधित अवश्य होती है। एक परमाणुसे लेकर एक ब्रह्माण्ड-पर्य्यन्त सबमें ही जो सृष्टि, स्थिति और लयकी क्रिया होती है, सबमें ही जो परिणामका क्रम देखनेमें आता है, उसका मौलिक कारण त्रिगुण है। परन्तु पदार्थकी स्थूलदशामें परिणामकी दो गतियाँ हो जाती हैं। एक ठीक अवस्थामें रखनेवाली और दूसरी रूपान्तर करके रक्षा करनेवाली। इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये समझना उचित है कि, मनुष्यका शरीर उत्पन्न हुआ, यह रजोगुणका कार्य्य है। वह बना रहा, यह सत्त्वगुणका कार्य्य है और वह क्रमशः नाश हो गया, यह तमोगुणका कार्य्य है। पिण्डसृष्टिकी यावत् क्रियाओंपर विचार करनेसे अवश्य ही ये परिणाम पाये जायँगे। परन्तु पिण्डत्वकी अस्तित्वदशामें केवल दो शक्तियोंका प्राधान्य रहेगा, यह मानना ही पड़ेगा। वे ही दो शक्तियाँ रयि और प्राण हैं। यथा—श्रुतिमें कहा है :—

"तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतो मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः। मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्। अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्त ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते"।

पूछनेपर उसने कहा,—प्रजाकी इच्छा करके प्रजापतिने तप किया, जिससे द्वन्द्वसृष्टि उत्पन्न हुई—एक रयि, दूसरा प्राण। इन दोनोंके सम्मेलनसे समस्त प्रजा उत्पन्न हुई। अतः यह बात सिद्ध हुई कि, रयि अर्थात् जड़वस्तु (Matter) और प्राण

त्रैगुण्यात् ॥१८९॥

रयिप्राणतश्च ॥१९०॥

अर्थात् सूक्ष्मशक्ति (Force) दोनोंकी ही उत्पत्ति प्राणसे होती है। श्रुतिमें अधिष्ठातृत्वभेदसे रयि और प्राणके साथ चन्द्रमा और सूर्यका सम्बन्ध बताया है। सूर्य शक्तिके अधिष्ठाता होनेसे प्राणरूप हैं और चन्द्र अन्नके पोषक होनेसे रयिरूप हैं। संसारमें मूर्त्त अमूर्त्त समस्त वस्तुएँ ही रयि हैं, अर्थात् जड़पदार्थके अन्तर्गत हैं। प्रजापति महीनाके स्वरूप हैं। उनके कृष्णपक्ष रयि और शुक्लपक्ष प्राणके स्वरूप हैं। इसलिये ऋषिगण दोनों पक्षोंमें ही यज्ञ करते हैं। प्रजापति दिवा और रात्रिके स्वरूप हैं। उनमें दिवा प्राणका स्वरूप और रात्रि रयिका स्वरूप है। इसलिये जो दिनमें स्त्रीसंसर्ग करता है, वह विनष्ट होता है और रात्रिमें ऋतुकालीन स्त्रीसंसर्ग करनेसे ब्रह्मचर्य पालन होता है।

कार्य्यब्रह्मके प्रत्येक अङ्गमे जा तीन गुणोंकी स्वतन्त्र साधारणक्रियाएँ होती हैं, वे ऐसी ही होती हैं, जैसा कि, पहले कहा गया है। यथा—एक ब्रह्माण्डकी अथवा पिण्डकी उत्पत्ति होना, उसकी पूर्णावस्थामें स्थिति रहना और पुनः उसका नाश हो जाना, ये तीनों क्रियाएँ तीनों गुणोंके अनुसार साधारणरूपसे होंगी। परन्तु एक पिण्ड अथवा ब्रह्माण्डकी आरम्भ-अवस्था और नाश-अवस्था सृष्टिवैभवप्रकाशके लिये अनुपयोगी है। उसके लिये केवल उस पिण्ड अथवा ब्रह्माण्डकी मध्यावस्था, जो पूर्ण अवस्था है, वही उपयोगी है। इसी पूर्णावस्थामें उसके अस्तित्वसंरक्षणके लिये प्रतिक्षण व्यापी जो स्थितिमूलक परिणामका कार्य्य है, उसमें रयि और प्राण ये ही दोनों उपयोगी हैं। प्रकारान्तर-से रयि स्वभावसे परिणामी मूर्त्तमें यथायोग्य परिणाम उत्पन्न करके उसकी रक्षा करता है और प्राण उसमें जीवनिका-शक्तिको उत्पन्न करके उसकी रक्षा करता है। इन्हीं दोनों क्रियाओंका अवलम्बन करके भक्तिमार्गके आचार्य्यगण कहते हैं कि, सृष्टि उत्पन्न होनेपर भगवान् ब्रह्माका कार्य्य समाप्त हो जाता है, परन्तु भगवान् शिव तथा भगवान् विष्णुका कार्य्य चिरस्थायी रहता है। इसी वैज्ञानिक भित्तिपर पुराणोंने भगवान् ब्रह्माकी पूजाका वर्णन अधिक नहीं किया है। केवल उनकी शक्तिरूपिणी वेदमाताकी पूजा अधिक वर्णन की है। दूसरी ओर "एको देवः केशवो वा शिवो वा।" कहकर शिव और विष्णुकी पूजा प्रचारित की है। अतः रयि और प्राणका रहस्य सृष्टिके अस्तित्वके साथ मौलिकरूपसे विजड़ित है, इसमें सन्देह नहीं। रयिके समझानेके लिये अन्नका उदाहरण लेना उचित है। मनुष्यका अन्न वे ही पदार्थ हैं, जिनके खानेसे मनुष्य जीवित रह सकता है। वृक्षका अन्न वही है, जिसके आहारसे वृक्ष जीवित रहता है। अन्नका उदरस्थ होना, उसका पचन होना, उससे सब धातुओंका पोषण होना, ये सब परिणामजनक होनेपर भी रक्षामूलक हैं। प्राण उस शक्तिको कहते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड और पिण्डका अस्तित्व यथावत् बना रहे। वस्तुतः जीवनिका-शक्ति ही प्राण है। प्राणसे रयि और रयिसे प्राणकी क्रियामें सहायता होती है। यह सहायता परिणामजनक है, परन्तु रक्षामूलक है ॥ १९० ॥

प्रसङ्गसे द्वन्द्व-विज्ञानकी विवृत्ति करते हैं :—

उद्भिदादि जीवनाशक भी और पोषक भी हैं ॥१९१॥

उद्भिदादयो नाशकाः पोषकाश्च ॥१९१॥

द्वन्द्व-क्रिया किस प्रकार स्वाभाविक है, सो पहले भलीभाँति प्रकाशित हो चुका है। उसी मौलिक नियमके अनुसार सर्वत्र द्वन्द्वशक्ति विद्यमान होनेसे उद्भिज्जादिमें भी अमृतक्रिया और विषक्रिया दोनों देखनेमें आती है। यथा—विषवृक्ष और आम्रादि उद्भिज्जोंमें, रोगघ्न और रोगोत्पादक स्वेदजोंमें, मयूर और सर्प आदि अण्डजोंमें तथा गो और व्याघ्र आदि जरायुजोंमें। इन उदाहरणोंसे चतुर्विधभूतसङ्घोंमें इस प्रकारकी द्विविध शक्तिके रहनेका स्थायी प्रमाण मिलता है। यह सृष्टिका स्वाभाविक नियम है ॥१९१॥

अब प्रकृतविषय कहा जा रहा है :—

द्विविध शक्तिमत्त्वके कारण मर्ममी द्वन्द्वधर्म-विशिष्ट है ॥१९२॥

प्रकृतिस्पन्दनसे उत्पन्न शक्तिविशेषको कर्म कहते हैं, यह पहले ही कहा गया है। जब कर्म शक्तिविशेष है, तो वह दोनों ओर प्रवाहित हो सकता है। प्रत्येक शक्तिका यह स्वभाव है कि, वह उत्तर-प्रवाहिणी हो सकती है, दक्षिणप्रवाहिणी हो सकती है, ऊर्द्ध्व हो सकती है और अधः भी हो सकती है। जब कर्म सत्त्वगुणको आश्रय करके पुण्य-स्रोतको धारण करता है, तब वह ऊर्द्ध्वगामी होता है, जब वह कर्म तमोगुणका आश्रय लेकर पापस्रोतको प्रवाहित करता है, तब अधोगामी बनता है। कर्मका यह द्वन्द्व स्वभावसिद्ध है ॥१९२॥

दोनोंमें सेवनीय कौन है, सो कहा जाता है :—

अभ्युदयका कारण होनेसे पुण्यकर्म सेवनीय है ॥ १९३ ॥

अब यह स्वतः ही शंका हो सकती है कि, जब कर्म स्वाभाविक द्वन्द्वताके कारण धर्म और अधर्मरूपमें दो प्रकारका होता है, तो दोनों ही क्यों न सेवनीय हों? इस श्रेणीकी शंकाके समाधानमें सिद्धान्तको स्पष्ट कर देनेके अर्थ इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि, प्राकृतिक द्वन्द्वताके कारण जीवके यावत् कर्म दो श्रेणीमें विभक्त किये जा सकते हैं, यथा—ऊर्द्ध्वगामी धर्म और अधोगामी अधर्म। शक्तिके विचारसे दोनों ही समान हैं। क्योंकि धर्म प्रथम अवस्थामें ऐहलौकिक अभ्युदय, दूसरी अवस्थामें पारलौकिक अभ्युदय और तीसरी अवस्थामें अभ्युदय प्राप्त कराता हुआ उन्नतिके परपार या ब्रह्मपदमें ले जाकर पहुँचा देता है। यह धर्मशक्तिकी प्रबलताका संक्षेप दृष्टान्त है। दूसरी ओर यदि देखा जाय, तो अधर्म भी धर्मसे कम शक्ति-विशिष्ट नहीं है। अधर्म जीवको प्रेतत्व, नरकत्व, यहाँतक कि, स्थावरत्व भी प्राप्त करा सकता है। अधर्म अधोगामिनी प्रवृत्ति बढ़ाता हुआ जीवको नीचेसे अतिनीचे तक पहुँचा देता है। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, देवताओंतकको यमलार्जुनकी तरह स्थावरत्व प्राप्त करा देता है। इस कारण शक्तिरूपसे दोनोंका अधिकार समान होनेपर भी अधर्म सेवनीय नहीं है, धर्म सेवनीय है। जब अधर्म उन्नतिका विरोधी है और धर्म नियमित रूपसे उन्नति कराता है और नीचे नहीं गिरने देता, तो धर्म ही सेवनीय है ॥ १९३ ॥

मनुष्यमें उसका अधिकारनिर्णय किया जाता है :—

कर्मापि द्वन्द्वधर्म द्विविधशक्तिमत्त्वात् ॥ १९२ ॥

सेव्यं सुकृतमभ्युदयनिमित्तत्वात् ॥ १९३ ॥

स्वतन्त्रताके कारण मनुष्यमें दोनोंका दायित्व है ॥ १९४ ॥

मनुष्यसे नीचेकी श्रेणीके जितने जीव हैं, वे कैसे प्रकृतिसम्बन्धसे पराधीन हैं, सो पहले ही भलीभाँति कहा गया है। सुतरां वे पराधीन होनेके कारण उनमें धर्म और अधर्मका अधिकार नहीं रह सकता। क्योंकि जो पराधीन है, उसका दायित्व हो ही नहीं सकता। जो जिसको पराधीन रखता है, उसका दायित्व उस व्यक्तिपर चला जाता है, यह स्वत: सिद्ध है। अतः स्वतन्त्रतारहित अन्य जीवोंके लिये धर्माधर्मकी शृंखला हो ही नहीं सकती। फलतः मनुष्य जब पंचकोषोंकी पूर्णतासे पूर्णावयव है और अन्तःकरणकी पूर्णता होने तथा संस्कार-संग्रहमें समर्थ होनेसे स्वाधीन है, तो, मनुष्य ही धर्माधर्मकी शृङ्खला रखनेमें समर्थ है। इस कारण उसकी अधर्म करनेसे अवनति और धर्म करनेसे उन्नति हुआ करती है ॥ १९४ ॥

मनुष्यकी सुरक्षा कैसे होती है, सो कहा जाता है :—

अनुशासनत्रयसे रक्षा होती है ॥ १९५ ॥

मनुष्ययोनिमें जब जीव पहुँचता है और धर्म तथा अधर्मकी शृंखलाका दायित्व उसको प्राप्त होता है, तब अधर्मसे बचने और धर्मको प्राप्त करनेके लिये उसको त्रिविध अनुशासनकी आवश्यकता होती है। वे ही त्रिविध अनुशासन राजानुशासन, शब्दानुशासन और योगानुशासन कहाते हैं। मनुष्य त्रिगुणभेदसे त्रिविध होते हैं। तामसिक अधिकारीके लिये राजानुशासन कल्याणकारी है। राजानुशासन दो भागोंमें विभक्त है। यथा—समाजदण्ड और राजदण्ड। राजसिक अधिकारीके लिये शब्दानुशासन कल्याणकारी है। शब्दानुशासनके भी दो भेद हैं। यथा—शास्त्रोपदेश और गुरूपदेश। सात्त्विक अधिकारी महापुरुषोंके लिये योगानुशासन वेदसम्मत है। उसके भी दो भेद हैं। यथा—अपरोक्षानुभूति और परोक्षानुभूति। विपरीत-ज्ञानवाले मनुष्यको जबतक राजदण्ड और समाजदण्डका भय नहीं रहेगा, तब तक वह धर्मपथपर चल नहीं सकता। उसी प्रकार सन्देहात्मक-बुद्धिसम्पन्न राजसिक व्यक्तिको जबतक गुरु और शास्त्रकी सहायता नहीं मिलेगी, तबतक वह धर्माधर्मनिर्णय करके अभ्युदयकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता और सात्त्विकबुद्धिसम्पन्न महापुरुष चाहे वानप्रस्थाश्रमधारी हो, चाहे संन्यासाश्रमधारी ही क्यों न हो, उसको योगानुशासनकी सहायता लेकर सत्-असत् और आत्मा-अनात्माका विचार करना होता है। इस कारण अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये किसी न किसी अनुशासनकी आवश्यकता रहती है। बिना अनुशासनका आश्रय लिये मनुष्य धर्ममार्गको निष्कण्टक नहीं रख सकता ॥ १९५ ॥

इसका कारण बताया जाता है :—

बुद्धिके त्रिविध होनेसे ॥ १९६ ॥

मनुष्यकी बुद्धि त्रिगुणके अनुसार त्रिविध होती है। सत्याश्रययुक्त निश्चयात्मिका बुद्धिको सात्त्विक, सन्देहात्मिका बुद्धिको राजसिक और विपरीतज्ञान करनेवाली बुद्धिको तामसिक कहते हैं। इसी त्रिविध

[क्रमशः]

स्वातन्त्र्यादुभयप्रातिभाव्यं मानवस्य ॥ १९४ ॥
अनुशासनत्रयादवनम् ॥ १९५ ॥
बुद्धित्रैविध्यात् ॥ १९६ ॥

महापरिषद्-सम्वाद

गत ता० २८ नवम्बरको आर्यमहिला महाविद्यालयमें पश्चिमी बंगालके राज्यपाल महामहिम डा० कैलासनाथ काटजू महोदयका शुभागमन हुआ। श्रीमान्ने प्रत्येक कक्षाका निरीक्षण किया। अनन्तर शिक्षिकाओं एवं छात्राओंने विद्यालयके विशाल हालमें एकत्रित होकर आपका स्वागत किया। राज्यपाल महोदयने विद्यालयकी प्रगति एवं कन्याओंके स्वास्थ्य आदिपर अपने भाषणमें संतोष प्रगट किया और कन्याओं तथा अध्यापिकाओं से नर्स डाक्टरके रूपमें अपनेको प्रस्तुत कर देश-सेवा करनेका अनुरोध किया।

× × ×

श्री आर्यमहिला-हितकारिणीमहापरिषद्की प्रबन्ध-समितिकी बैठक ता० ६-१२-५० को विद्यालयभवनमें ठा० लौटूसिंह गौतमकी अध्यक्षतामें हुई थी। इसमें महापरिषद्का स्थापनादिवस एवं विद्यालयका वार्षिकोत्सव मनानेके विषयमें निम्नलिखित मन्तव्य स्वीकृत हुआ :—

"विद्यालयका वार्षिकोत्सव एवं महापरिषद्का स्थापना-दिवसके सम्बन्धमें निश्चय हुआ कि मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी एवं पञ्चमीको मनाया जाय। यह जानकर समितिको सन्तोष हुआ कि कानपुरके सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री सर हरगोविन्द मिश्रने प्रथम दिनका सभापति होना स्वीकार किया है। दूसरे दिन महिलासम्मेलनकी सभानेतृत्व श्रीमती कृष्णामाथुरने एवं चौथे दिनका सभापतित्व नगरपालिकाके अध्यक्ष श्रीमान् राय गोविन्दचन्द्र महाशयने करना स्वीकार कर लिया है। उत्सवके लिये सात सौ रुपयेकी स्वीकृति दी जाती है। यह भी निश्चय हुआ कि यह रकम चन्देसे संग्रह की जाय।"

× × ×

महापरिषद्की प्रबन्धसमितिकी दूसरी बैठक ३०-१२-५० को धर्मरत्न सेठ बाबूलाल ढनढनियाकी अध्यक्षतामें हुई जिसमें निम्नलिखित मन्तव्य स्वीकृत हुआ।

"श्रीआर्यमहिला-हितकारिणीमहापरिषद्की यह प्रबन्धसमिति भारतके उप-प्रधानमंत्री सरदार बल्लभभाई पटेलके आकस्मिक निधनपर आन्तरिक शोक प्रकट करती है। उनकी मृत्युसे भारतने सुयोग्य शासक, दूरदर्शीनेता और कुशल राजनीतिज्ञ खो दिया। उनके लोकान्तरित होनेसे देशकी अपूरणीय क्षति हुई है। यह समिति सर्वशक्तिमान् भगवान्के चरणोंमें उनकी आध्यात्मिक उन्नति एवं चिरशान्तिके लिये प्रार्थना करती है और उनके सन्तप्त परिवार वर्गके साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करती है।"

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्‌की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्‌के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण-सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें बिलम्ब होगा. तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
" " तीसरा पृष्ठ	२५)	"
" " चौथा पृष्ठ	३०)	"
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	"
" १/२ पृष्ठ	१२)	"
" १/४ पृष्ठ	८)	"

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला-कार्यालय, जगतगंज, बनारस कैंट।

मुद्रक :—श्री कालाचाँद चटर्जी, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की सचित्र मासिक मुखपत्रिका

फाल्गुन–चैत्र सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ११, १२ | फरवरी, मार्च १९५१

श्रद्धाञ्जलि

भगवान् महर्षि ज्ञानानन्दजी महाराजके ब्रह्मनिर्वाणप्राप्तिपर

आविर्भाव सम्वत् १९०२ जन्माष्टमी अर्धरात्रि। तिरोभाव सम्वत् २००७ माघ कृष्णपञ्चमी ब्राह्ममुहूर्त।

भगवान् महर्षि ज्ञानानन्दजी महाराज श्रद्धाञ्जलि अङ्क

विषय-सूची

प्रधान सम्पादिका—श्रीमती सुन्दरीदेवी एम. ए. बी. टी.

श्रीजी सन् १९१२ ई०

अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

फाल्गुन-चैत्र सं० २००७-२००८ | वर्ष ३२, संख्या ११, १२ | फरवरी, मार्च १९५१

भगवतो ज्ञानानन्दगुरोः स्तोत्रम्।

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे, गौरं भानुसमप्रभम्।
शान्तं प्रसन्नवदनं जटाजूटसुशोभितम् ॥१॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे, शुभ्रं हेमसमद्युतिम्।
दयार्णवं क्षमारूपं, कृपालुं करुणेक्षणम् ॥२॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे सौम्यं कमललोचनम्।
निर्गुणं च गुणातीतं, सर्वलोकमहेश्वरम् ॥३॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे भवपाश-विमोचकम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ध्याये सर्वगुरुं परम् ॥४॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे संसृतेर्भयभञ्जनम् ।
आशुतोषं दयासिन्धुं, प्रणतोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥५॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे निर्मलं निष्कलं विभुम् ।
विशुद्धं व्यापकं नित्यं कलिकल्मषनाशकम् ॥६॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे पाप-तापविमोचकम् ।
भवसिन्धुमहापोतं शरण्यं भक्तवत्सलम् ॥७॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे भवरोगहरं प्रभुम् ।
देसिकेन्द्रं सदाऽऽनन्दं महामोहविनाशकम् ॥८॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे योगीन्द्रं समदर्शिनम् ।
भवार्णवमहापोतं चिदानन्दं सनातनम् ॥९॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे स्वामिनं शुभदर्शनम् ।
सर्वशास्त्रविदं देवं प्रणतोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥१०॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे ज्ञान-योग-तपोनिधिम् ।
प्रसस्तभालं गौराङ्गं तप्तहेमसमप्रभम् ॥११॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे, साकारशिवरूपिणम् ।
वराभयप्रदं देवं सर्वतो व्यापिनं विभुम् । १२॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे मङ्गलायतनं हरिम् ।
भवरोगमहावैद्यमज्ञानकुलभास्करम् ॥१३॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे निर्विकल्पं निरामयम् ।
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रञ्च सर्वरत्नाकरं प्रभुम् ॥१४॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे सुभालं सुमनोहरम् ।
शान्तं शिवं जगद्वन्द्यं करुणारसवर्षकम् ॥१५॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे सदा शंकररूपिणम् ।
मुक्तिभुक्तिप्रदं देवं तत्त्वज्ञानप्रकाशकम् ॥१६॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे तापत्रयनिवारकम् ।
साक्षान्मोक्षप्रदं देवं सदा कल्याणरूपिणम् ॥१७॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे परमानन्ददं प्रभुम् ।
स्वयमेव परब्रह्म सर्वसिद्धिप्रदं विभुम् ॥१८॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे संसारभयनाशकम् ।
भक्तकामप्रदं देवं सदाशिवस्वरूपिणम् ॥१९॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
भक्तकल्पतरुं देवं नित्यं ब्रह्मस्वरूपिणम् ॥२०॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे चिदानन्दस्वरूपिणम् ।
परानन्दमयं साक्षात् सर्वलोकेषु पूजितम् ॥२१॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे सर्वदेवस्वरूपिणम् ।
दीनबन्धुं दयासिन्धुं सर्वतश्च प्रतिष्ठितम् ॥२२॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे सर्वज्ञं सर्वकामदम् ।
सर्वात्मसर्वगं देवं परब्रह्ममयं प्रभुम् ॥२३॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे परे ब्रह्मणि संस्थितम् ।
अव्ययं शाश्वतं नित्यं शुद्धं ब्रह्मसनातनम् ॥२४॥

ज्ञानानन्दं गुरुं वन्दे यतीन्द्रं पुण्यदर्शनम् ।
यस्य ज्ञानप्रकाशेन भाति सर्वमिदं जगत् ॥२५॥

नमस्ते गुरवे नित्यमात्मज्ञानप्रदायिने ।
मुमुक्षोः शरणं देवं भक्तकारुण्यवारिधिम् ॥२६॥

नमस्ते गुरवे नित्यं ज्ञानानन्दस्वरूपिणे ।
सच्चिदानन्ददेवाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥२७॥

नमस्ते गुरवे नित्यं आत्मबोधप्रदायिने ।
ज्ञानानन्दाय देवाय, देवदेवाय ते नमः ॥२८॥

नमस्ते गुरवे तुभ्यं वेदसारस्वरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय शङ्कराय नमो नमः ॥२९॥
नमस्ते गुरवे नित्यं प्रज्ञानघनरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय भूयो भूयो नमोस्तु ते ॥३०॥
नमस्ते गुरवे नित्यं निर्गुणब्रह्मरूपिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय ज्ञानानन्दाय ते नमः ॥३१॥
नमस्ते गुरवे नित्यं कर्मयोगस्वरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय भक्तानामभयाय च ॥३२॥
नमस्ते गुरवे नित्यं सदाशिवस्वरूपिणे ।
अज्ञानघननाशाय भास्कराय नमो नमः ॥३३॥
नमस्ते गुरवे नित्यं अक्षरब्रह्मरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय गोविन्दाय नमो नमः ॥३४॥
नमस्ते गुरवे नित्यं सदा कारुण्यरूपिणे ।
शान्तिक्षान्तिस्वरूपाय, ज्ञानानन्दाय ते नमः ॥३५॥
नमस्ते गुरवे नित्यं महामण्डलरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय ज्ञानिनां गुरवे नमः ॥३६॥
नमस्ते गुरवे नित्यं परं कैवल्यरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय ऋषीणाम् ऋषये नमः ॥३७॥
नमस्ते गुरवे नित्यं आत्मबोधस्वरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय गुरूणां गुरवे नमः ॥३८॥
नमस्ते गुरवे नित्यं ज्ञानानन्दस्वरूपिणे ।
मोहान्धकारनाशाय भानुरूपाय ते नमः ॥३९॥
नमस्ते गुरवे नित्यं सर्वेषां बुद्धिसाक्षिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय प्रेमरूपाय ते नमः ॥४०॥

नमस्ते गुरवे नित्यं महामङ्गलरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय वरदाय नमो नमः ॥४१॥

नमस्ते गुरवे नित्यं नित्यानन्दप्रदायिने ।
ज्ञानानन्दाय देवाय विश्वनाथाय ते नमः ॥४२॥

नमस्ते गुरवे नित्यं महाशोकविनाशिने ।
ज्ञानानन्दाय देवाय ज्ञानपूताय ते नमः ॥४३॥

नमस्ते गुरवे नित्यं सदा चिद्घनरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय तपःपूताय ते नमः ॥४४॥

नमस्ते गुरवे नित्यं कर्मयज्ञस्वरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय ज्ञानगम्याय ते नमः ॥४५॥

नमस्ते गुरवे नित्यं ब्रह्मधामस्वरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय योगगम्याय ते नमः ॥४६॥

नमस्ते गुरवे नित्यं जटाजूटकिरीटिने ।
ज्ञानानन्दाय देवाय सदाऽऽनन्दाय ते नमः ॥४७॥

नमस्ते गुरवे नित्यं योगिने योगरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय महादेवाय ते नमः ॥४८॥

नमस्ते गुरवे नित्यमात्मबोधप्रदायिने ।
ज्ञानानन्दाय देवाय वेदवेद्याय ते नमः ॥४९॥

नमस्ते गुरवे नित्यं परमानन्दरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय विश्वरूपाय ते नमः ॥५०॥

नमस्ते गुरवे नित्यं साकारशिवरूपिणे ।
ज्ञानानन्दाय देवाय योगिनां पतये नमः ॥५१॥

नमस्ते गुरवे नित्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मने ।
ज्ञानानन्दाय देवाय ज्ञानिनां पतये नमः ॥५२॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥५३॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥५४॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥५५॥
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥५६॥

आत्म-निवेदन

सनातनधर्मका सूर्य अस्त हो गया ।

जिसको कल्पना भी असह्य थी, जिसे सुननेके लिये हम प्रस्तुत नहीं थे, क्रूर कालने उसे करही तो डाला! मानवजातिका अमूल्यधन लुट गया! जिसने भगवान् राम-कृष्णको भी नहीं छोड़ा, उस कुटिल कालकी क्रूरताकी क्या सीमा है! गत २८ जनवरीको प्रातःकाल अप्रत्याशित अकस्मात् हमें सुनना पड़ा कि प्राणीमात्रके अहेतुक हितैषी, सबके मित्र, श्रीभारतधर्म-महामण्डल, श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्, क्षत्रियमहासभा, वैश्यमहासभा आदि अनेक संस्थाओंके संस्थापक एवं प्राणदाता हिन्दूधर्म तथा संस्कृतिके आधारस्तम्भ परमहंस परिव्राजकाचार्य योगिराज गुरुवर्य महर्षि श्री १००८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज अब हमारे बीच नहीं रहे! वे ब्राह्ममुहूर्तमें अपने ब्रह्मरूपमें सदाके लिये विलीन हो गये! अब वह शुभ्र गौरवर्ण जटामुकुटधारी प्रशस्तभाल, सुन्दर भ्रू, स्नेहस्निग्ध ज्योतिर्मय नेत्र, नोकिली उन्नत नासिका, विशालकाय, छोटे-छोटे रक्तवर्ण सुन्दर चरण, सदा प्रसन्न साकार शङ्कर-मूर्तिका दर्शन अब हमें नहीं मिलेगा! हम हृदय थामकर रह गये। सब दिशाओं में अन्धकार छा गया। अपने स्वरूपमें सदारमण करनेवाले वे महापुरुष आत्माराम आप्तकाम महर्षि थे। जगत्में उनका अपने लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं था, अतः उनके लिये शोक करनेका कोई अवसर नहीं है, परन्तु दिनरात लोकहितकी चिन्तामें संलग्न, दिव्यदृष्टिसम्पन्न ऐसे शास्त्रपारदर्शी महर्षिका ऐसे समयमें तिरोभाव साधारणतः मानवजाति और विशेषतः हिन्दूजातिका सबसे महान् दुर्भाग्य है। उनके तिरोभाव होने से इतनो बड़ी क्षति हुई है, जिसके पूर्ण होनेकी कोई सम्भावना नहीं है। मानवजातिकी आध्यात्मिक उन्नति एवं हिन्दूधर्म तथा वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा पूज्यपाद श्रीमहाराजके दीर्घकालव्यापी जीवनका

पवित्र व्रत था। इसके लिये श्रीजीने अनेक संस्थाओंकी स्थापना करके उनको चलाया, सैकड़ों मौलिक ग्रन्थोंका प्रणयन किया, अनेक कार्यकर्त्ता एवं धर्मवक्ता प्रस्तुत किये, जिनमें उनके परमप्रिय सुयोग्य शिष्य ब्रह्मीभूत स्वामी दयानन्दजी महाराज सनातनधर्मके प्रकाण्ड पण्डित एवं अद्वितीय वक्ता थे। प्राचीनकालकी रीति थी कि शिष्यगण ग्रन्थ लिखते एवं अपने आचार्यों या गुरुओंके नाम देते थे, परन्तु इन पूज्यपाद महर्षिने उल्टी गंगा बहायी। उन्होंने जितने ग्रन्थ लिखे, उनमें किसीमें भी अपना नाम न देकर स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, म० म० पं० अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि आदि अपने शिष्योंके नाम दिये। श्रीजी स्वयं नाम-रूपसे बहुत दूर रहते थे। एकान्तसेवन और अध्यात्म-चिन्तन उनका स्वभाव था। उनमें आध्यात्मिक पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता एवं आधिभौतिक पूर्णताके पूर्ण लक्षण विद्यमान थे। कर्मके नियमसे ही जगत्के नियन्ता सर्वेश्वर अपने सृष्टि-साम्राज्यका शासन करते हैं, परन्तु इस विषयका दर्शन उपलब्ध नहीं था, महर्षि-जैमिनीकृत जो कर्ममीमांसादर्शन उपलब्ध था, उसमें केवल वैदिक यज्ञ-यागादि का वर्णन है, जो आजकलके समयमें साधनोंके अभावके कारण प्रायः प्रचलित भी नहीं है। पूज्यपादने अपने योगतपोबलसे कर्ममीमांसादर्शनके पूर्वार्धका आविष्कार किया, जिसके धर्मपाद, संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपाद नामसे चार पाद हैं, और इसमें कर्मराज्यका साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। इसका क्रियापाद आजकल आर्यमहिलामें प्रतिमास क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। इसीप्रकार वेदके तीन काण्डोंमें उपासनाकाण्डका भी दर्शन उपलब्ध नहीं था, पूज्यपादने अपने योगबलसे दैवीमीमांसादर्शनका भी उद्धार करके कर्म उपासना एवं ज्ञानकाण्डोंके त्रिविधदर्शनोंको सांगोपाङ्ग पूर्ण किया। इसीप्रकार मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग तथा राजयोग चारोंयोग तथा पञ्चोपासनाओंकी पाँच गीताओंको भी अपने योगबलसे प्राप्त करके साधकोंके कल्याणके लिये प्रकाशित किया। सांख्यदर्शन अबतक नास्तिकदर्शनके रूपमें ही प्रसिद्ध था। पूज्यपाद भगवान्ने अपनी विलक्षण प्रतिभासे जिस सूत्रके द्वारा उसको दूसरे टीकाकार नास्तिक-दर्शन सिद्ध कर चुके थे, उसीके द्वारा उसे परम आस्तिक दर्शन सिद्ध कर दिया। पूज्यपाद महर्षिमें परस्पर विरुद्ध विषयोंका समन्वय करनेकी अलौकिक क्षमता थी। जिसप्रकार विमानपर उड़नेवाले मनुष्यको पर्वत, अट्टालिका, वृक्ष आदिसे असमान पृथिवी समान दिखायी देती है, वैसे ही ज्ञानके सर्वोच्च स्तरमें विचरण करनेवाले उन महापुरुषके विचारमें परस्परविरोधी विषयोंका समन्वय अनायास हो जाया करता था। पूज्यपादके सभी भाष्य एवं टीकाओंमें इसका स्पष्ट दर्शन होता है। ईश, केन, कठ, तीनों उपनिषदोंपर पूज्यपादने टीकाएँ की, श्रीभगवद्गीता, श्रीदुर्गासप्तशती, वेदान्तचतुःसूत्री तथा सातों दर्शनोंपर टीका तथा भाष्य किये। इनके अतिरिक्त अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, बंगलाके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन पूज्यपाद महर्षिने किया। उनमें किसीमें कहीं अपना नाम या चित्र नहीं दिया। यह उनके आध्यात्मिक ज्ञानशक्तिका संक्षिप्त निदर्शन है। इधर वर्षोंसे अधिकांश समय वे समाधिस्थ रहा करते थे, श्रीमहामण्डलके आवश्यक कार्योंमें आज्ञा देने एवं शास्त्रोंके प्रणयनके अतिरिक्त एकान्त वास उन्हें विशेष रुचिकर था।

'अरतिर्जनसंसदि' ठीक अपने स्वरूपमें उनमें प्रतिष्ठित थी। किसीसे वे मिलना भी नहीं चाहते थे। दैवजगत्पर उनका अगाध अटूट विश्वास था। अपने भक्त राजाओंसे श्रीभारतधर्म-महामण्डलके यज्ञमंडप-में उन्होंने प्रायः ढाई सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करवाया। भगवद्भक्तिका कोई प्रसङ्ग या संगीत सुनते ही उनके आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी, यह उनमें भक्तिकी पूर्णताका बोध कराता था। तपाए हुए सुवर्णके समान गौरवर्ण तपःपूत सर्वाङ्ग-सुन्दर सुडौल उनका शरीर, दिव्य तेजोमय सदा प्रसन्न मनोहारी मुखमण्डल, अलौकिक भव्य व्यक्तित्व, उनकी आधिभौतिक पूर्णताका दिग्दर्शन कराता था। उनकी अमृतवर्षिणी-वाणीमें रोग-तापसे जर्जर प्राणियोंको शान्ति प्रदान करनेकी अपूर्वशक्ति थी। ऐसा लगता था कि लौकिक पारलौकिक कोई विषय नहीं है जिसको वे नहीं जानते हों। तबभी बालकोंसे बालककी तरह खेलते थे। ऐसे महापुरुषों-का किसीने ठीक ही वर्णन किया है :—

बाले बाला विदुषि विबुधा गायके गायकेशाः,
शूरे शूरा निगमविदि चाऽम्नाय लीलागृहाणि।
सिद्धे सिद्धा मुनिषु मुनयः सत्सु सन्तो महान्तः,
प्रौढे प्रौढाः किमिति वचसा तादृशा यादृशेषु॥
मौने मौनी गुणिनि गुणवान् पण्डिते पण्डितोऽसौ।
दीने दीनः सुखिनि सुखवान् भोगिनि प्राप्तभोगः॥
मूर्खे मूर्खो युवतीषु युवा वाग्मिषु प्रौढवाग्मी,
धन्यः कश्चित् त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः॥

तात्पर्य यह है कि संसारी सभी भावोंसे परे विराजमान ब्रह्मस्वरूप मुक्त महापुरुष बालकके सामने बालक, विद्वान्के सामने विद्वान्, गायकके सामने श्रेष्ठ गायक, वीरके सामने श्रेष्ठवीर, वेदज्ञके सामने वेदज्ञ, सिद्धोंके सामने सिद्ध, मुनिके सामने मुनि, महात्माओंके सामने महात्मा और प्रौढ़के सामने प्रौढ़ बन जाते हैं; अधिक क्या, जो जिस प्रकारका है, उसके सामने वैसेही बन जाते हैं। वे मौनके सामने मौन, गुणियोंके सामने गुणवान्, पण्डितोंके सामने पण्डित, दीनके सामने दीन, सुखीके सामने सुखी, भोगीके सामने भोगप्राप्त, मूर्खोंमें मूर्ख, युवतीके सामने युवा, वाग्मीके सामने प्रौढ़ वक्ता—ऐसा त्रिभुवनविजयी धन्य है, जो अवधूतमें अवधूत बन जाता है।

ये सभी लक्षण इन महापुरुषमें देखे जाते थे। उनके धर्मकार्योंमें बार बार बाधा होनेपर भी उनके पास निराशाको कभी आश्रय नहीं मिला, ऐसे वे शूर थे, बार-बार लोगोंके धोखा देनेपर अविश्वासको कभी उनके पास स्थान नहीं मिला। वे बालककी तरह सब-पर विश्वास करते थे। शरणागतकी रक्षा उनका स्वभाव था। वे प्रेममय, करुणामय और वात्सल्यमय थे, ऐसी महान् विभूतिका इस असमयमें तिरोभाव केवल भारतका नहीं किन्तु संसारका अत्यन्त दुर्भाग्य है और सनातनधर्मका तो सूर्य ही अस्त हो गया।

यद्यपि वह दिव्य साकार मूर्ति हमारे सामनेसे अन्तर्हित हो गयी है, परन्तु ऐसे महापुरुषका कभी अभाव नहीं होता। वे सब जगह सब समय विराज-मान हैं। अतः उन गुरुवर्य प्रभुके राजीवचरणोंमें हमारी विनीत प्रार्थना है कि हमें अपने द्वारा निर्दिष्ट मार्गोंपर चलने एवं अपने पवित्र आदेशोंका पालन करनेकी शक्ति प्रदान करनेकी कृपा करें।

पूज्यपादके वियोगमें विह्वल उनके भक्तों तथा श्रीमहामण्डल-परिवारके साथ हम आन्तरिक सम-वेदना प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि पूज्यपाद द्वारा सञ्चालित धर्मकार्योंका अधिक उत्साह एवं मनोयोगसे सञ्चालन किया जायगा।

श्रीचरणोंका पुण्यस्मरण

[ले० सम्पादकाचार्य पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर]

यह जानकर सनातनधर्मावलम्बीमात्रके हृदय-पर भयानक वज्राघात हुए बिना न रहेगा कि, विश्वव्यापी सनातनधर्मके उद्धारक, सत्शास्त्रोंके अन्वेषक और प्रवर्तक, सनातनधर्मियोंके एकमात्र आधार श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक और सञ्चालक परमपूज्यपाद भाष्यकार महर्षि परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज ता० २८ जनवरी १९५१ को उषाकालमें समाधिस्थ होकर परब्रह्ममें विलीन हो गये, जिससे सनातनधर्मी संसार अनाथ हो गया है और इस तेजोमय दिन-मणिके अस्तसे सनातनधर्मी जगत्में अन्धकार छा गया है।

श्रीजी महाराज केवल साधु, संन्यासी, योगी, सिद्धपुरुष और महात्मा ही नहीं थे, किन्तु उनमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगकी एकाधारमें पूर्णता होनेसे वे योगिराज थे और सच्चे महात्मा थे। शास्त्रोंमें महात्मा किसे कहना चाहिये? इस प्रश्नका इस प्रकार समाधान किया गया है :—"जिस महान् व्यक्तिमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके विशेष लक्षण स्वभावतः प्रकाशित हुये हों, वही महापुरुष 'महात्मा' कहा जा सकता है। कर्मयोगके लक्षणोंमें परोपकारकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, परमोपकार अर्थात् मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नति करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और अहंकार तथा स्वार्थ छोड़कर जगत्को श्रीभगवान्का स्वरूप मानकर सेवाबुद्धिसे निष्कामकर्म करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके लक्षण जिस महापुरुषमें स्वतः प्रकाशित हों, उसे कर्मयोगी महापुरुष जानना चाहिये। श्रीभगवान्के चरणोंमें जिसकी ऐकान्तिकी भक्ति हो, जो श्री भगवान्ही सब कुछ हैं, ऐसा समझता हो और नवविधा भक्तिके रसका आस्वादन करता हुआ श्रीभगवान्के गुण गाने तथा उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेकी दृढ़निष्ठा रखता हो, वह भक्तियोगका अधिकारी होता है। इसी तरह जिस महापुरुषमें तत्त्वज्ञानका उदय होकर श्रीमद्भगवद्गीतोक्त निम्नलिखित ज्ञानीके लक्षण स्वभावसे प्रकाशित हुए हों, वही ज्ञानयोगी कहा जा सकता है। वे लक्षण इस प्रकार हैं :—

'अमानित्व अर्थात् अपनेको श्लाघनीय न समझना, दम्भहीनता अर्थात् धार्मिक होनेका ढोंग न रचना, अहिंसा अर्थात् किसी जीवकी हत्या न करना और न किसीको दुःख देना या उद्विग्न करना, क्षमावान् होना, आर्जव (सरलता) अर्थात् बाहर और भीतरसे एकरूप होना, आचार्योपासना अर्थात् श्रीगुरुदेवकी सेवा, शौच अर्थात् अन्तर्बाह्य पवित्रता, स्थैर्य अर्थात् शारीरिक चाञ्चल्यका त्याग, आत्म-विनिग्रह अर्थात् मनका संयम, इन्द्रियोंके विषयोंसे स्वाभाविक वैराग्य, अहंकारका न होना, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदिमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखोंका अखण्ड अनुभव करना, स्त्री-पुत्र-गृह-ऐश्वर्य आदि विषयोंमें आसक्ति न होना, इष्ट और अनिष्टमें चित्तका समभाव होना, श्रीभगवान्में अटल भक्ति होना, एकान्तसेवी होना, जनसमूहमें सम्मिलित होनेसे स्वाभाविक अरुचि होना, आत्मज्ञानमें स्थिरनिष्ठा रखना और आत्म-

ज्ञानकी आलोचनामें निरत रहना, ये सब ज्ञानीके लक्षण हैं। जिस महापुरुषमें ज्ञानकी पूर्णता होगी, उसीमें ये लक्षण स्वाभाविकरूपसे प्रकाशित होंगे। इस प्रकार जिस भगवत्कृपाप्राप्त महापुरुषमें पूर्वोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके लक्षण स्वभावतः प्रकाशित हुए हों, वही सच्चा महात्मा कहा जा सकता है।"

श्रीजीमें तीनों योगोंके सम्पूर्ण लक्षण स्वाभाविक रूपसे प्रकाशित हुए थे। जैसे वे कर्मनिष्ठ थे, वैसेही श्रीजगदम्बाके अनन्यभक्त थे और जीवन्मुक्त ज्ञानयोगी तो थे ही। एकाधारमें इस प्रकार तीनों योगोंकी शक्तियोंका विकास अन्यत्र नहीं पाया जाता। श्रीजीके जीवनमें यह विकास स्पष्टरूपसे देख पड़ता था। इसके सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं, जो इस संक्षिप्त स्मरणमें विस्तारभयसे समाविष्ट नहीं किये जा सकते। विस्तृत चरितमें उनमेंसे कुछ दिये जायँगे।

श्रीजी केवल अवतारी पुरुष ही नहीं थे, किन्तु पूर्णावतारके लक्षण उनमें पूर्णरूपसे प्रकाशित हुए थे, इसके अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण पाये जाते हैं। सर्वव्यापक, निराकार, मायाविनिर्मुक्त परमात्मा मायामय स्थूलशरीर धारण करके जगत्कल्याणकी बुद्धिसे अधार्मिक दुष्टोंका दमन कर साधु-सज्जनोंकी रक्षा किया करते हैं, यह तो शास्त्रसिद्ध ही है। श्रीभगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है कि "यद्यपि मेरा जन्म नहीं होता, मैं बनता-बिगड़ता भी नहीं और सबका ईश्वर भी हूँ, तथापि अपनी प्रकृति (माया) का आश्रय कर अपनी मायासे ही अवतार धारण करता हूँ।" श्रीभगवान् कब अवतार धारण करते हैं? इस विषयमें कहते हैं,—"जब जब संसारमें धर्मकी ग्लानि होकर अधर्मकी वृद्धि हो जाती है, तब तब मैं अवतार धारण करता हूँ।" श्रीभगवान् किसलिये प्रकट होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं, "साधु-सज्जनोंकी रक्षा और दुराचारियोंका नाश करने तथा धर्मकी पुनःस्थापना करनेके लिये मैं युग युगमें अवतार धारण करता हूँ।" अवतारकी पहचान क्या है? इस विषयमें कहा है,—"संसारमें जो जो ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त और शक्तियुक्त चैतन्य देख पड़े, वह मेरेही तेज (शक्ति) के अंशसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानो।" श्रीभगवान्के अवतारोंका कारण जैसा श्रीभगवान्ने गीतामें बताया है, वैसा ही सप्तशतीमें श्रीजगदम्बाने भी बताया है।

वेद (प्रश्नोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् और तैत्तिरीयब्राह्मण) में कहा है कि, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, सर्वमय श्रीपरमात्मा षोडशकलात्मक शक्तिसे परिपूर्ण होकर शोभायमान हो रहे हैं। जब परमात्मा सर्वव्यापक हैं, तब उनका अवतार होना (उतरना), कहींसे कहीं आना जाना कैसे सम्भव है? इस आशङ्काका समाधान शास्त्रकार इस प्रकार करते हैं कि, वास्तवमें परमात्मा न कहींसे कहीं आते-जाते हैं और न कहींसे कहीं उतरते चढ़ते ही हैं; किन्तु किसी उपयुक्त केन्द्रमें उनकी शक्ति प्रकट हो जाती है और जिस केन्द्रमें वह शक्ति प्रकट होती है, उसको अवतार कहते हैं। जिस प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक हैं, उसी प्रकार उनकी शक्ति भी सर्वव्यापिनी है। जड़-चेतनात्मक दृश्य संसारकेद्वारा उनकी वह शक्ति विकासको प्राप्त होती है। जब कि, सब शक्तियोंकी आधारभूता महाशक्ति श्रीजगदम्बा उनकी शक्तिस्वरूपिणी हैं, तब संसारमें विकासशील समस्त-शक्तियाँ उन्हींकी होनेमें सन्देह ही क्या रह जाता है?

त्रिविध केन्द्रोंमें श्रीभगवान्की शक्तिकी कलाओं-के विकासमें भी तारतम्य होता है। इसका विचार इसप्रकार किया गया है :—"उद्भिदादि चतुर्विध भूतसंघोंमें क्रमशः भगवच्छक्तिकी एकसे चार तक कलाएँ प्रकट होती हैं। मनुष्यमें पाँचसे आठ तक कलाओंका विकास होता है। ये कलाएँ विभूति-युक्त मनुष्यतक लौकिकरूपसे विकसित होती हैं। नौसे सोलह कलाओंतकका विकास जिन केन्द्रोंमें होता है, वे अलौकिक कोटिके होनेके कारण अवतार कहाते हैं। चाहे वे किसीप्रकारके कलेवरमें देख पड़ें, भगवान्के कलाविकासके असाधारण केन्द्र माने गये हैं। एकसे लेकर पन्द्रह कलाओंतकका जिन केन्द्रोंमें विकास होता है, वे अंशावतार कहाते हैं और जो केन्द्र सोलह कलाओंसे पूर्ण हो, उसे पूर्णावतार माना है। श्रीकृष्णभगवान् पूर्णावतार थे और वैसेही लक्षण श्रीस्वामीजी महाराजके जीवन-में देख पड़ते थे। दोनोंके चरित्रोंमें बहुत कुछ साम्य है।

श्रीभगवान्की शक्तिकी आठकलाओं तकका जिन महापुरुषोंमें विकास होता है, वे विभूतियाँ कहलाती हैं। समय समय पर इन्हींके द्वारा सामयिक रूपसे धर्मरक्षार्थ कार्य हो जाया करता है। सभी सम्प्रदाय प्रवर्तक-महात्मा ईसा, महम्मद, रामानुज, बल्लभ, निम्बार्क, माध्व, नानक, रामदास, रामकृष्ण आदि इसी श्रेणीमें थे। जब प्रकृतिराज्योंमें अव-तारके आनेकी आवश्यकता होती है, तभी अवतार होता है और पूर्णावतार तो तभी होता है, जब धर्म बहुत ही अरक्षित होकर मनुष्यजाति आत्मविचारको भुला देती है और कर्तव्यभ्रष्ट हो जाती है। पूर्णा-वतारी पुरुष जगत्में धर्माधर्मका सामञ्जस्य स्थापन करते हैं, जिसका प्रभाव चिरकालतक बना रहता है और मनुष्यजातिको आत्माभिमुख होनेका सुभीता हो जाता है। श्रीभगवान्की नौ शक्तिकलाओंसे पन्द्रहकलाओंतकका जिनमें विकास होता है, वे अंशावतार कहाते हैं और उनके द्वारा उस समयके अनुकूल जीवोंके कल्याणका कार्य आंशिकरूपसे हुआ करता है। ऐसे चौबीस अवतार होनेका शास्त्रोंमें प्रमाण पाया जाता है। परन्तु पूर्णावतार एकमात्र श्रीकृष्ण ही थे।

श्रीभगवान् सच्चिदानन्दमय हैं। पूर्णावतारमें इन तीनों सत्ताओंका पूर्णविकास होनेसे उनके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी पूर्णता देख पड़ती है। अंशावतारमें तीनोंमेंसे किसी एकका प्राधान्य रहता है। पूर्णावतारमें सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंका विलक्षण सामञ्जस्य तो होता ही है; किन्तु आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक इन तीनों भावोंकी भी पूर्णता होती है। उनके स्थूलशरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी समता (Symmetry) मानसिक वृत्तियोंकी समता और आत्मसम्बन्धीय भावोंकी समता अपूर्व देख पड़ती है। उनमें आधि-भौतिक पूर्णता होनेसे शारीरिक सौन्दर्य, और ब्रह्म-चर्यकी पूर्णता आधिदैविक पूर्णता होनेसे शक्ति और ऐश्वर्यकी पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता होनेसे ज्ञानकी पूर्णता पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। मान-सिक विरुद्ध वृत्तियोंकी समताद्वारा उनके मनकी सुन्दरता आत्माके विविध भावोंकी समताद्वारा उनके आत्माकी सुन्दरता निखर पड़ती है। पूर्णावतारमें ईश्वरकी सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य इन तीनों शक्तियोंका संयोग हो जाता है। ये सब बातें श्री-जीमें स्पष्टतया देख पड़ती थीं।

श्रीभगवान्के पूर्णावतार, अंशावतार, विशेषावतार, अविशेषावतार और नित्यावतार इसप्रकार जैसे पाँच श्रेणीके अवतार होते हैं, वैसे नित्यऋषियों और नित्य देवताओंके भी हुआ करते हैं। अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार रूपसे ही वे प्रकट होते हैं। पितरोंके अवतार नहीं होते। क्योंकि संसारमें पिताही नित्यपितरोंके अवताररूप होते हैं। उन्हींमें स्वास्थ्य और वीर्यशाली सन्तति उत्पादनके लिये पितरोंकी शक्ति विद्यमान रहती है, जिससे पृथ्वीमाता सुपुत्रोंको प्राप्तकर प्रसन्नताका अनुभव करती है। ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें वैदिक तथा वेदानुकूल ज्ञानका विस्तार करना ऋषियोंका कार्य है। जब आसुरीशक्तिके प्रभावसे आवश्यकीय ज्ञान आवृत हो जाता है, तब उस आवरणको हटाकर यथार्थ ज्ञानज्योतिको पुनः प्रकाशित करनेके लिये नित्यऋषियोंके अवतार होते हैं। ब्रह्माण्डप्रकृतिमें दैवी सम्पत्तिकी सुरक्षा और दैवजगत्के परिचालनका भार देवताओं पर है। आसुरी शक्तिके अत्याचारसे, जब दैवीसम्पत्तिका ह्रास हो जाता है और दैवीक्रियाके परिचालनमें बाधा उत्पन्न होती है, तब आसुरीशक्तियोंको दबाकर दैवीक्रियाओंको पुनः शृङ्खलाबद्ध करनेके लिये नित्य देवताओंको अवतार धारण करने पड़ते हैं।

प्रत्येक ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रकारान्तरसे सगुणब्रह्म होते हैं। जहाँ सृष्टि है, वहीं सगुणब्रह्मका सम्बन्ध है। वे ही गुणत्रयविभागके अनुसार ब्रह्माण्डके सत्त्व, रज और तम गुणत्रयके कार्य किया करते हैं। जगदीश्वर सगुणब्रह्म सृष्टिके कारणस्वरूप हैं; परन्तु कार्य त्रिमूर्तिही करते हैं। वे ही सगुणब्रह्म अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव भावत्रयके अनुसार ऋषि, देवता और पितरोंके रूपमें कार्य किया करते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें त्रिदेव और ऋषि, देवता तथा पितृगण मिलकर प्रकट होते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध रहता है। पूर्णावतारमें ये छहों शक्तियाँ पूर्णरूपसे विद्यमान रहती हैं। अंशावतारोंमें इनमेंसे कोई कोई शक्ति प्रकाशित होती हैं। ऐसे अवतार उसी देशमें होते हैं, जहाँकी प्रकृति पूर्ण हो। ऐसा देश एकमात्र भारतखण्ड होनेसे यहीं देवताओं और ऋषियोंके अवतार होते आये हैं।

जिनमें अलौकिक अधिदैव शक्तिका विकास होता है, वे देवताओंके अवतार समझने चाहिये। ऐसे भी अवतार होते हैं, जिनमें कई देवताओंकी शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। इसी तरह कई नित्य ऋषियोंकी शक्तियाँ मिलकर किसी केन्द्रमें प्रकट हो जाती हैं। किसी महापुरुषमें नित्यदेवताओंकी और नित्यऋषियोंकी शक्तियोंका एक साथही आविर्भाव हो जाता है। ऐसे महापुरुषोंमें असाधारण ज्ञानशक्ति और लोकोत्तर क्रियाशक्तिका एकसाथही विकास देख पड़ता है। क्योंकि उनमें त्रिभावों, त्रितत्त्वों और त्रिगुणोंका एक साथही उदय होता है। ऐसे अवतार दत्तात्रेय थे। श्रीजीके जीवनकी घटनाओंको देखते हुए यही विश्वास होता है कि, वे दत्तात्रेयके ही अवतार थे और एक उनके अनन्य-भक्तके हठ करने पर उन्हें इस गूढ़ रहस्यको स्वीकार भी करना पड़ा था। अब यह देखना चाहिये कि ऐसे अवतारकी वर्तमान देशकालमें क्यों आवश्यकता हुई? बिना विशेष प्रयोजनके ऐसे अवतारोंका आविर्भाव होना सम्भव नहीं है।

ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दीमें इस देशमें धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रोंमें बड़ी

उथल-पुथल हो गयी थी। हिन्दुसाम्राज्यको लुप्त कर यहाँ मुसलमानोंका साम्राज्य सात सौ वर्षों तक बना रहा। समय आ जानेपर विदेशियोंका पौरा यहाँ आया और उसने हिन्दु-मुसलमान दोनोंपर अपना प्रभाव जमा लिया। यह जाति (ब्रिटिश जाति) बड़ी बुद्धिमती और शासनकार्यमें निपुण होनेके कारण उसने तलवारकी अपेक्षा बुद्धिसे अधिक काम लिया। मुसलमानोंके समयमें हिन्दुओंकी धार्मिक भावनाएँ नहीं बदली थी; उलटे मुसलमानों की धर्मान्धता और तुलसीदास, रामदास, चैतन्यदेव आदि महात्माओंके उपदेशोंसे हिन्दुओंकी धर्मश्रद्धा अधिक बढ़ गयी थी। परन्तु ब्रिटिशलोगोंने शिक्षा और चिकित्साके सूत्र अपने हाथमें ले लिये, जिससे हिन्दुओंकी मनोभूमि ही बदल गयी। उनकी धर्ममें श्रद्धा नहीं रही, उनकी सामाजिक शृंखला उद्ध्वस्त हो गयी और सर्वत्र निरंकुशता देख पड़ने लगी। चारों ओर विदेशियोंका अनुकरण होने लगा, लोग अपने आपको भूल गये और नयी चमक-दमकमें अपनी सब बातेंही न जँचने लगीं। यह परिस्थिति असहनीय थी। यदि यही परिस्थिति और कुछ दिन बनी रहती, तो हिन्दुसंस्कृति, हिन्दुधर्म और हिन्दु-जाति नष्टभ्रष्ट हो जाती। इसी अव्यवस्थाको दूर कर सुव्यवस्था स्थापन करनेके लिये करुणावरुणालय श्री भगवान्‌को देवताओं और महर्षियोंकी कलाओंसे संयुक्त अवतार धारण करना पड़ा।

यह पहले कहा जा चुका है कि, ऐसे अवतार भारतखण्डमें ही होते हैं; क्योंकि यहाँकी प्रकृति पूर्ण है। भारतखण्डमें भी विन्ध्य और हिमालयके बीचकी भूमि, जिसे आर्यावर्त कहते हैं,—पुण्यभूमि मानी गयी है और राम, कृष्ण, बुद्धके यहीं अवतार हुए थे। आर्यावर्तमें भी गङ्गा-यमुनाके बीचकी अन्तर्वेदकी भूमि विशेष पवित्र है। इसीसे श्रीजीका लीला-शरीर वहीं मेरठ नगरमें आविर्भूत हुआ था। भगवान् श्रीकृष्णकी तरह पुण्यमयी मातृदेवीका अष्टम गर्भ था। यह प्राकट्य सम्भवतः सन् १८४५-४६ में हुआ था। जन्मके तिथि, बार आदि श्रीकृष्णसे मिलते जुलते हैं और अधिकांश ग्रह तुङ्गी थे, जिनका प्रभाव श्रीजीके बाल्यकालसे ही देख पड़ता था। उनकी अलौकिक रूप, असाधारण प्रतिभा और अप्रतिभ तेजस्विताको देखकर बड़े बड़े लोगोंको चकित हो जाना पड़ता था। श्रीजी अनन्य मातृभक्त और माताके प्रियपात्र थे। यहाँ तक कि, १८-१२ वर्षकी अवस्थातक माताके पासही सोते और एक घड़ीभर भी नहीं बिछुड़ते थे। आपके पितृदेव पुण्यवान् श्री मधुसूदनमुखर्जी बड़े बुद्धिमान् और जंगी व्यवसायी थे। कलकत्तेसे दिल्ली तक उनकी कोठियाँ चलती थीं और ईस्ट इण्डिया कम्पनीपर उनकी अच्छी धाक थी। बङ्गीय भरद्वाज गोत्री कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और पतिपत्नी दोनों श्रीजगदम्बाके परम उपासक थे। उन्हींकी कृपासे उन्हें पुत्ररूपमें परमात्माका लाभ हुआ था। यद्यपि श्रीजीकी व्यावहारिक शिक्षाका यथोचित प्रबन्ध किया गया था और वे उसमें निपुण भी हो गये थे; तथापि उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अध्यात्मकी ओर थी और वे सदा अध्यात्मचिन्तनमें ही रमे रहते थे। विद्यासम्बन्धी जो ग्रन्थ उठाते, एकबार पढ़कर या सुनकर ही उसको पचा डालते थे। विद्वानों और साधुसन्तोंसे सत्सङ्ग करनेमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था। इसीलिये उन्होंने अपने उद्यानमें एक लताकुञ्जमें एक आश्रम बनाया था,

जहाँ विद्वान् और महात्मा लोग एकत्र होकर शास्त्र-चिन्ता किया करते थे। श्रीजीकी ओरसे उनका अच्छा सत्कार भी होता था। संयोगवश थोड़ेही दिनोंमें उनके पितृदेवका स्वर्गवास हो गया और अन्य भ्राताओंके होते हुए भी कर्मशक्तिकी प्रबलता होनेसे इतने बड़े व्यवसायके सम्हालनेका भार आपपर आ पड़ा तथा इच्छा न होते हुए भी मातृदेवीके आग्रहसे विवाह-बन्धनमें आबद्ध होना पड़ा। परन्तु इसमें उनका जी नहीं लगता था और दिनरात देश-दशाको सुधारनेका उपाय सोचा करते थे। अन्तमें उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि, जब तक शरीर, मन और प्राण सम्पूर्ण रूपसे देश, धर्म और जातिकी सेवामें अर्पण नहीं किये जायँगे, तबतक इस देशका न उद्धार होगा और न इसका पतन ही रुकेगा।

यदि जगत्कल्याणमें ही देहको लगा देना है, तो दारैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा आदि संकुचित भावनाओंपर तिलांजलि देकर संन्यास-ग्रहण करना ही होगा। जब कोई कार्य होना होता है, तो उसके लिये कारणस्वरूप निमित्त भी उपस्थित हो जाते हैं। इसी तरहके पारिवारिक निमित्त श्री-जीको भी मिल गये और श्रीआदि शङ्कराचार्यकी तरह उन्होंने भी इस प्रतिज्ञापर मातृदेवीकी संन्यासके लिये युक्तिसे अनुमति प्राप्त कर ली कि, उनके अन्तिम समयमें श्रीजी उनके निकट उपस्थित रहेंगे। अन्तःकरणमें पूर्णवैराग्य उदित हो चुका था। गृहस्थीमें पुत्र-कन्याएँ भी उत्पन्न हो चुकी थीं। यों पितृऋणसे उऋण होकर और गौतमबुद्धकी तरह युवावस्थामें ही लक्ष्मी जैसी प्रेममयी पत्नी तथा सुकुमार दो कुमारोंका मोह त्यागकर उन्होंने देव-ताओं और ऋषियोंके कार्यमें संलग्न होनेका संकल्प कर संन्यास ले लिया। जो 'गुरूणां गुरु' हैं, उसका गुरु कौन हो सकता है? परन्तु जिस वर्णाश्रमधर्मका उद्धार और रक्षा करनेमें जो आत्मसमर्पण करना चाहता हो, वह उसकी मर्यादाका कैसे भङ्ग कर सकता है? इसी विचारसे भगवान् श्रीदत्तात्रेयने चौबीस गुरु किये थे और उसी परम्पराके अनुसार परमतपस्वी और साधक पूज्यपाद श्रीस्वामी केशवानन्दजीका शिष्यत्व स्वीकार कर श्रीजीने संन्यासाश्रम ग्रहण कर लिया। श्रीविग्रहका प्रथम नाम यज्ञेश्वर था, वह बदलकर आपका योगपट्ट ज्ञानानन्द हुआ। दोनोंका अर्थ एक ही है।

संन्यास ग्रहण करनेपर आपने भारतके विभिन्न भागोंमें परिभ्रमण कर देशकी परिस्थितिका सूक्ष्मदृष्टि-से अध्ययन करते हुए हिन्दूजातिकी नाड़ी भलीभाँति जान ली। देवताओं और ऋषियोंको भी किसी महान् कार्यके सम्पादनके लिये शक्तिसंग्रहके हेतु तपस्या करनी पड़ती है। तदनुसार श्रीजीने अर्बुद (आबू) पर्वतके वशिष्ठाश्रममें एकान्तमें स्थित होकर वर्षोंतक कठोर तपस्या की और परिणामस्वरूप वहीं आपको भगवत्साक्षात्कार होकर आदेश हुआ कि, यथार्थ ज्ञानका विस्तार करनेसे ही इस देश, जाति और धर्मका उद्धार हो सकता है। इसी कार्यको अपने जीवनमें सिद्ध करो। श्रीजगदम्बाकी आज्ञा-को शिरोधार्य कर आप कर्मयोगमें प्रवृत्त हुए और चमत्कार यह देख पड़ता कि, जब कभी आपके कार्य-में विघ्नबाधाएँ उपस्थित होतीं, तब श्रीजगदम्बा स्वयं उस कार्यको सम्हाल लेती थीं। श्रीजगदम्बाके साथ वे समरस हो रहे थे। एकबार अनेक दुष्टोंने उनको नानाप्रकारके कष्ट पहुँचाये, जिनको देखकर आस-पासके लोग बहुत घबड़ा गये। उनसे व्याकुलता

से पूछा गया—"महाराज ! इस विपत्तिसे कैसे उद्धार होगा ?" उन्होंने धीरतासे हँसते हुए उत्तर दिया—"बेटा ! चिन्ता क्यों करते हो ? जानते नहीं, 'दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलम्' । यह तो उनका शील ही है । वे अपना काम आप सम्हाल लेंगी ।" वास्तवमें थोड़े ही दिनोंमें विपत्तियोंके सब मेघ आपही तितर-बितर हो गये और विरोधियोंको अपने मुँहकी खानी पड़ी । ऐसी भक्तियोगकी उत्कटता और अनन्यता अवतारी पुरुषोंमें ही देख पड़ना सम्भव है ।

देश और धर्मकी सेवा करनेकी योजना तैयार कर आप आबूकी तपोभूमिसे चलकर हरद्वारमें कुम्भ-स्नानके लिये पधारे और वहीं श्रीभारतधर्म महा-मण्डलकी स्थापना की। यही महामण्डल उनके कार्यक्षेत्रका अन्ततक माध्यम बना रहा। इसीसे कभी कभी वे कहा भी करते थे कि, महामण्डल मेरा शरीर है। महामण्डलका कार्यालय मथुरा-में लाया गया। वहींसे प्रचारकार्य और शास्त्र-प्रकाशनका कार्य आरम्भ हुआ । सुभीता पाकर महामण्डलकार्यालय काशीमें आ गया और यहींसे यह महती संस्था शाखा-प्रशाखाओंमें फैलकर पल्लवित, पुष्पित और सुफलित होने लगी। गत शताब्दीके अन्तमें ही यद्यपि यह संस्था स्थापित हो चुकी थी, तथापि १६०१ में इसकी रजिस्ट्री हो गयी। जिससे स्वार्थियोंकी पहलेकी अन्धाधुन्धी दूर होकर संस्थाका व्यवस्थित रूप हो गया और इसका कार्य सुचारु रूपसे चलने लगा। इसीके द्वारा श्रीजीकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति विशेष रूपसे प्रकट होने लगी।

महामण्डलके द्वारा देश-देशांतरोंमें उत्तम धर्मो-पदेशक नियुक्त किये गये, सात भाषाओंमें मासिकपत्र निकलने लगे, शास्त्रग्रन्थोंके भाष्य लिखे जाने लगे, सब प्रांतोंमें प्रान्तीय मण्डल और सहस्रों शाखा सभाएँ स्थापित हुईं, ग्रन्थप्रकाशनका कार्य आरम्भ किया गया, उपदेशकोंकी कमी दूर करनेके लिये उपदेशक-महाविद्यालय खोला गया, धर्मचर्चा होने लगी, संस्थाके लिये बहुमूल्य भवन खरीद लिया गया और जो रसे रसेके साथ धर्मकार्य अग्रसर होने लगा। धर्मोन्नति, शास्त्रीय ज्ञानका विस्तार और सामाजिक अभ्युदय करनाही इस संस्थाका सदासे लक्ष्य रहा आया है।

चाहे कोई कार्य छोटा हो या बड़ा, उसके सञ्चालनमें अर्थका प्रयोजन होता ही है। इसके लिये श्रीजीने सर्वप्रथम धन-सम्पन्न वैश्य जातिकी नाडी-को टटोला ; परन्तु वणिक् वृत्तिशाली वैश्यजातिमें इस महायज्ञको सम्पन्न करनेकी शक्ति देख नहीं पड़ी। तब श्रीजीकी दृष्टि क्षत्रियजातिकी ओर मुड़ी। उस जातिमें कुछ चैतन्य होनेके लक्षण दिखाई देने लगे। अतः श्रीजीने उनके राज्योंमें सञ्चार किया। बड़े बड़े राज्योंके धार्मिक नरेशों पर श्रीजीके उपदेशोंका अच्छा प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्थायी दानपत्रों द्वारा महामण्डलको वर्षासन निश्चित कर दिया। भाग्यवान् नरपतियोंमें दरभंगा, उदयपुर, कश्मीर, टीकमगढ़, किशनगढ़, सैलाना आदि राज्यों-के अधिपति श्रीजीके विशेष भक्त थे और श्रीजीकी आज्ञाओंका पालन किया करते थे। वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाके अनुसार सनातनधर्मी जनताकी प्रतिनिधि-भूत इस संस्थाका नेता वर्णगुरु ब्राह्मण ही होना चाहिये, इस विचारके अनुसार धार्मिक, विद्वान् और राज्यकार्यकुशल स्वर्गीय महाराजाधिराज रमेश्वरसिंह-

बहादुर दरभंगा नरेशको इस महासभाके सभापति पदपर प्रतिष्ठित किया गया।

महामण्डलको आगे कर श्रीजीने उसके द्वारा ऐसे ऐसे महान् कार्य किये, जैसे आजतक न किसीसे बन पड़े और न बन सकते ही हैं। हमारे देशमें मत-मतान्तरोंका बड़ा झगड़ा है, जिसको देखकर विदेशी लोग भी हमारा उपहास करते हैं। जहाँ एक सम्प्रदायके आचार्य अन्य सम्प्रदायके आचार्यको कानी आँखसे भी देखना पसन्द नहीं करते थे, वहाँ श्रीजीने अपने कर्मकौशलसे सब सम्प्रदायके आचार्योंका भी श्रीभारतधर्म-महामण्डलके झण्डेके नीचे एकत्र कर दिया। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या शाक्त, क्या स्मार्त सभी सम्प्रदायोंके आचार्य महामण्डलके संरक्षक हुए और परस्पर सद्भाव रखने लगे। इसीतरह देशभरकी धर्मसंस्थानोंको आपने एकसूत्रमें आबद्ध किया। श्रौत-स्मार्तकर्मोंके उद्धार और देवताओंकी प्रसन्नताके लिये श्रीमहामण्डलके यज्ञमण्डपमें दो सौसे अधिक वैदिक तथा तांत्रिक छोटे बड़े यज्ञ कराये और प्रधानकार्यालयके वेद भगवान्के ठाकुरद्वारेमें, यज्ञमण्डपके गायत्रीमन्दिरमें और झण्डेतलेके हनूमानजीके मन्दिरमें नित्य-नैमित्तिक नियमित पूजा-अर्चाकी व्यवस्था की। श्री आदि शंकराचार्यप्रमुका उत्तराखण्डका ज्योतिर्मठ उच्छिन्न हो गया था, उसका उद्धार कराया और सुयोग्य आचार्यचरणको वहाँ प्रतिष्ठित किया। नरोरामें गंगाजीकी धारा रोक ली गयी थी, उसे सरकारपर दबाव डालकर खुलवा दिया।

श्रीजीके जीवनका सर्वश्रेष्ठ कार्य शास्त्रोंका उद्धार माना जा सकता है। दैवीमीमांसा और कर्ममीमांसा लुप्त थी, इसीसे यहाँ साम्प्रदायिक कलह बना रहा। नित्यऋषियोंकी प्रेरणासे वे दोनों दर्शन अनुसन्धानकर श्रीजीने खोज निकाले। उनपर और अन्य उपलब्ध दर्शनोंपर भाष्य और विस्तृत भूमिकाएँ लिखीं तथा दर्शनशास्त्रको सुव्यवस्थित और शृंखलाबद्ध कर दिया। पञ्चोपासनाओंकी गीताएं खोज निकालीं। संन्यासगीता और संन्यासपद्धति तैयार की और सर्वजनोपयोगी 'धर्मकल्पद्रुम' नामक महाग्रन्थ लिखवा दिया। इसप्रकार कर्मियों, ज्ञानियों, और भक्तोंके कल्याणके लिये इतना प्रचुर मसाला प्रस्तुत कर दिया है, जो कलियुगके अन्ततक काम आवेगा और उससे हिन्दूजाति, हिन्दूधर्म और हिंदूसंस्कृतिकी चिरकालतक सुरक्षा हो सकेगी। ऋषि मन्त्रद्रष्टा होते है। उन्हें वेदोंके मन्त्र ज्योंकि त्यों सुनायी देते हैं और शास्त्र उनके अन्तःकरणमें भावरूपसे प्रकट होते हैं। श्रीजीके उक्त असाधारण शास्त्रीय पुरुषार्थसे उनके महर्षि होनेमें कोई संदेह नहीं रह जाता। सब प्रकारके अधिकारियोंके उपयोगी आपने छोटे-बड़े दो सौसे अधिक ग्रन्थ निर्माण किये हैं।

श्रीजीका स्थूलस्वरूप भी अद्भुत था। उनमें ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य कूट कूटकर भरा था। गौरवर्ण, पूर्ण सुडौल ढाँचा, विशाल और रसीले तेजस्वी नेत्र, प्रशस्त भाल, भव्यमूर्ति, अलौकिक जटाकलाप, कमलचरण सब कुछ अनोखा था। मन्दमुस्कान दर्शकोंके अन्तःकरणोंमें सात्त्विकभाव उत्पन्न कर देती थी। भाषण मधुर और आकर्षक था। विरोधीपर भी उसकी अजब छाप पड़ती थी। वक्तृत्व सारग्राही होनेसे यही कव्युक्ति चरितार्थ होती थी :— "येषां स्वैरकथालापा उपदेशा भवन्ति नः" जिनकी साधारण बोलचाल ही हमारे लिये उपदेशोंका काम

श्रीजी सन १९३८ ई०

करती थी। बालकोंके साथ बालक, विद्वानोंके साथ विद्वान् और योगियोंके साथ योगिराज होनेका उनका स्वभाव हो गया था। त्याग, तप, ज्ञान और तेजस्विता उनमें मूर्तिमती हो रही थी।

पुरुषवर्गके कल्याणके लिये जैसा श्रीमहामण्डल बना, वैसी ही महिलावर्गकी उन्नतिके लिये उनकी सहायतासे श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की स्थापना हुई। उसके सचालन-कार्यका भार उन्होंने अपनी सुयोग्य शिष्या श्रीमती विद्यादेवीजीपर डाला और देवीजी भी श्रीगुरुदेवकी आज्ञा सिर चढ़ाकर परिषद्का कार्य बड़ी लगनसे उत्तमतासे अग्रसर कर रही हैं।

श्रीजीके अनेक क्षेत्रोंके कार्य इतने अधिक है, जिनकी सूची भी इस पुस्तिकामें नहीं आ सकती। त्रिवर्णोंके संघटनका उनका कार्य बेजोड़ है। आगरेकी वैश्यमहासभा और राजस्थानकी क्षत्रियमहासभाके आपही जन्मदाता थे। यदि अनुकूलता हुई, तो श्रीजीका विस्तृत जीवनचरित लिखनेका प्रयत्न किया जायगा और उसीमें महामण्डलकी सेवाओंका विस्तृत विवरण दे दिया जायगा। आजतो इस बहानेसे हम केवल उनका पुण्यस्मरण कर रहे हैं।

शरीर नाशवान् है, चाहे कितने ही वर्षोंतक टिका रहे। इधर बहुत दिनोंसे श्रीजीको अनुभव हो रहा था कि, अब कलेवरका साथ छोड़ना पड़ेगा। अतः उन्होंने अपने शिष्योंसे कह दिया था कि, उसे जला दिया जाय। क्योंकि जिन पंचतत्त्वोंसे यह बना है, वे यथासम्भव शीघ्र अपने अपने रूपमें मिल जाने चाहिये। तदनुसार जब गत २८ जनवरीको उषाकालमें शरीरत्याग ॐकारके अन्तिम उच्चारणके साथ हुआ, तब मणिकर्णिकाकी चरणपादुकाओंमें पवित्रताके साथ उसका अग्निसंस्कार कर दिया गया। सनातन-धर्मका सूर्य अस्त हो गया!

श्रीजी अमर हैं, चाहे उनका शरीर भले ही छुट गया हो। इसी विश्वाससे उनके चरणोंका पुण्यस्मरण करते हुए हम प्रार्थना करते हैं कि, हे गुरुदेव! आपका पुण्यस्मरण हमको सदा होता रहे, जिससे आपका बताया हुआ हमारा कर्तव्यपथ हमें सूझता रहे। हमारी धर्म, देश और भगवान्के प्रति श्रद्धा रहे तथा धर्मसेवा करते करते जैसा आपने तन त्यागा है, वैसा हमारा भी देहान्त हो।

(कृष्णदेव)

सनातनधर्मका सूर्य अस्त हो गया।

हा! प्रातःस्मरणीय ११०८ श्री स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

(लेखक—भक्त रामशरणदासजी पिलखुवा)

हमने जिस समय देहली के काँग्रेसी समाचार-पत्र 'हिन्दुस्तान'में यह दुःखद समाचार पढ़ा कि भारतके स्वनामधन्य परमपूज्यपाद प्रातःस्मरणीय जगद्वन्द्य ११०८ श्रीज्ञानानंदजी महाराज भारतधर्ममहा-

मंडलका कैलाशवास हो गया तो उस समय हमें जो घोर दुःख हुआ वह कहा या लिखा नहीं जा सकता। आँखों से अश्रुधारा वहने लगी, छाती फटने लगी, शरीरमें काटो तो खून नहीं चारों ओर अंधकार ही अंधकार प्रतीत होने लगा। बरवस मुखसे शब्द निकल पड़ा 'हाय! आज हमारे सनातन-वर्णाश्रम-धर्मका सूर्य अस्त हो गया! हाय! आज हमारी सनातनधर्म, हिन्दूधर्मकी डूबती नैयाको कौन पार लगायेगा? ऐसे महान् भयानक समयमें जबकि दयानंदके आर्यसमाजी चेले सनातनधर्मको जड़मूलसे समाप्त करनेके लिये दिनरात अवतारवाद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तर्पणका खंडन करते थे, कलिमलहारिणी श्रीगंगा-यमुनाको दिनरात गाली बकने थे, जात-पाँतको मेट रहे थे, चमार-भंगीके हाथका सबको खिला-पिलाकर भ्रष्ट कर रहे थे, विधवाओंके विवाहका प्रचारकर पातिव्रत्यधर्मको समाप्त कर रहे थे और मंदिरोंसे घृणा करा सबको मंदिर तोड़क औरंगजेब बनाने जा रहे थे, पुराणोंकी कथायें पोपोंकी बता फिरसे हिन्दुशास्त्रोंसे हमाम गर्म करनेकी याद दिला रहे थे, सनातन-धर्मकी नैया डगमगा रही थी और सनातन-धर्मकी पताका झुकने जा रही थी, उस समय भगवान्ने ३० करोड़ हिन्दुओंको एक ऐसा महापुरुष योगिवर्य परमतपस्वी स्वामी ज्ञानानंद जैसा उच्चकोटिका संत भेजा कि जिन्होंने अपनी घोर तपस्याके बल पर अपना एक अद्भुत तेजस्वी महान् संत श्रीस्वामी श्रीदयानंद श्रीमहाराज बी. ए. शिष्यको उत्पन्न किया और सनातन-धर्मकी रक्षाके लिये आगे किया। आपके इस अद्भुत शिष्य-संतको पाकर सनातनधर्मी जगत् निर्भय हो गया और चारों ओर प्रसन्नताकी लहर दौड़ गई। इन शिष्य संतके कारण आर्यसमाजी धूर्त मैदान छोड़ भागने लगे और आपने मूर्तिपूजा, श्राद्ध, अवतारवाद पर ऐसे ऐसे शास्त्रार्थ किये और उन्हें ऐसे मुँह तोड़ उत्तर दिये कि बड़े बड़े घोर नास्तिकोंकी बोलती बन्द हो गई, छक्के छूटने लगे और नास्तिक उल्लू आपके तेजके सामने इधर उधर भागकर जान बचाने लगे। आपके प्रतापसे लाखों नास्तिक आस्तिक हो गये और इस प्रकार सनातन-धर्मकी नैया पार लग गई और सनातनधर्मकी पताका शानसे फहराने लगी। क्या सनातन-धर्मी जगत् आपके इस कार्यको भूल सकता है? आज उस समयसे भी बढ़कर घोर विपत्तिके बादल मँडरा रहे हैं। हमारी उस समय तो आर्यसमाजसे आपने रक्षा की, पर जो महान् भयानक समय हिन्दूधर्मको जड़मूलसे समाप्त करनेके लिये आज उपस्थित है और यह मुँहवाये सामने जो गाँधीवाद चला आ रहा है आज इससे रक्षा करनेके लिये सनातनी जगत् आपकी ओर टकटकी लगाये देख रहा था कि कब यह महर्षि फिरसे हमारी रक्षाके लिये आगे आता है? आज यह गाँधीके शिष्य हिंदू-कोडबिल, तलाकबिल द्वारा जड़मूलसे हिन्दूधर्मको समाप्त करने जा रहे हैं, खुलेआम ब्राह्मणकी लड़की की शादी भंगी लड़केसे और ब्राह्मणके लड़केकी शादी भंगीकी लड़कीसे और ब्राह्मण-कन्याकी मुसलमानोंसे पारसियोंसे कर वर्णाश्रमधर्मका विध्वंस कर रहे हैं, दिनरात देशमें करोड़ों बन्दर, मोर, नीलगाय, हिरन, चूहे मारे जा रहे हैं और मछली खाने, मुर्गी अण्डे खानेका गवर्नमेन्टकी तरफसे प्रचार किया जा रहा है और इस प्रकार देशको घोर हिंसक मांसाहारी बनाया जा रहा है, और हिन्दूको 'हिन्दू' कहनेसे रोका जा रहा है उसे आज गैरमुसलिम, हिन्दुस्थानका नाम 'इन्डिया' और हिन्दीकी जगह

हिन्दुस्तानी भाषाके राग अलापे जा रहे हैं। यह गाँधीवाद हिन्दूधर्मको चट करने जा रहा है। ऐसे घोर महान् भयानक समयमें आपका उठजाना हिन्दू-जातिके लिये सबसे बढ़कर घोर दुःखकी बात हुई है।

महर्षिके दर्शन करनेका सौभाग्य।

एक बार जब कि काशीमें पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी महाराजने शतकुण्डी महायज्ञ कराया था तो उस समय हमें भी उसमें जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तभी हमने भारतधर्म-महामण्डलमें जाकर प्रातःस्मरणीय ११०८ श्रीस्वामी श्रीज्ञानानन्दजी महाराजका दर्शन किया था। ऊपर कमरेमें जब जाकर आपके दर्शन किये तो हमें साक्षात् शंकर जैसे प्रतीत हुये। लम्बी घुटनों तक लटकी जटायें परमतपस्वी महापुरुषका दर्शन कर हृदय गद्गद् हो गया और हमने अपनेको महाराज श्रीका दर्शन कर चरण छू आशीर्वाद प्राप्त कर कृत्यकृत्य माना। उस समयके आनन्दको लिखना मानो सूर्यको दीपक दिखाना है। इस घोर कलिकालमें ऐसे महान् तपस्वीका दर्शन कर प्रसन्नता न होगी तो कब होगी? आपके कितने ही बड़े बड़े योग्य शिष्य थे। बड़े बड़े राजा महाराजा आपके दर्शनार्थ आया जाया करते थे। आज एक एक करके सभी सनातन-धर्मके रक्षक संत उठते चले जा रहे हैं। आपके उठ जानेसे हिन्दूधर्मको सनातनी जगत्की जो महान् क्षति हुई है उसकी पूर्ति निकट भविष्यमें होना बड़ा कठिन है। आज सनातन-धर्मका सूर्य अस्त हो गया है और सनातनी जनताके लिये अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत हो रहा है। आज सनाननधर्मको, हिन्दूधर्मको अपने पराये सभी मेटने पर तुल गये हैं, भारतमाताके भी पाकिस्तान द्वारा टुकड़े टुकड़े अङ्गभङ्ग खण्ड खण्ड हो गये हैं, लाखों हिन्दू ललनाओंको उड़ाकर ले जाया गया है जो गुण्डोंके घरोंमें पड़ीं खूनके आँसू बहा रही हैं, करोड़ों हिन्दू दरदरके भिखारी बने घूम रहे हैं, गायोंको हलोंमें जोतनेको कहा जा रहा है और गो-वधके लिये विदेशोंसे मशीनें मँगाई जा रही हैं। हाय! आज इस डूबती नैयाका खिवैया महर्षि भी हमसे छीन लिया गया है, अब तो भगवान् ही रक्षक हैं। हम प्रातःस्मरणीय महाराज श्रीके चरणोंमें श्रद्धांजलि भेंट करते हैं और भगवान् श्रीविश्वनाथसे प्रार्थना करते हैं कि, प्रभो! जिस सनातनधर्मकी रक्षाके लिये आप बौद्धोंसे टक्कर लेनेके लिये शङ्कराचार्यके रूपमें आये थे अब हमें फिरसे बचानेके लिये पधारो यही प्रार्थना है।

हा ! पितृतुल्य तपोनिधि !
श्री स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज !!

२७ जनवरीकी कालरात्रि! तेरा बुरा हो, हमने तेरा क्या बिगाड़ा था जो तू अपने निर्वाण-कालमें—जाते जवाते समयमें भी हमारी एक परम निधि लूट कर ही गयी! २८ जनवरीकी उस पवित्र दैव-वेला, उस ब्राह्ममुहूर्त्तको इतना विषाक्त और विषादमय बना देनेका हत्यारिणी! तुझे साहस ही कैसे हुआ? 'हिन्दूसमाजके अनन्य हितैषी, श्री भारतधर्ममहा-मण्डलके संस्थापक योगिराज श्री स्वामी ज्ञानानन्दजी

महाराज अब इस संसारमें नहीं रहे—इस दुःसम्वाद-को सर्वत्र फैला देनेकी सूत्रधार नटिका बनकर सच बता, तुझे कौनसा सुयश प्राप्त हुआ? आह, कितनी क्रूरता और निर्ममता समायी थी तेरे मनमें और वह भी न जाने कबकी, कि जिसके आवेशमें आकर तुझे इतना बड़ा जघन्य कार्य कर डालनेमें तनिक लज्जा न आयी! तुझे क्या पता कि तेरे इस जघन्य कार्यसे हमारा कितना बड़ा मार्गप्रदर्शक, लक्ष्यनिर्देशक, उन्नायक और कल्याणविधायक अथवा एकशब्दमें ही—जो हमारा 'सब कुछ' था—खो गया। कर्ण-कुहरमें तेरी यह लीला आते ही हमतो हृदय थाम कर रह गये!

आह! विशालकाय, शुभ्र गौराङ्गवर्णवाला हमारा वह देवता-स्वरूप जटाजूटधारी बूढ़ा तपस्वी जिनकी अनुपम और अद्वितीय छवि-शोभा 'श्रीकाशी विश्वनाथजीकी-सी आनन्ददायिनी थी, आज हमें देखनेको कहाँ मिलेगा? जिसका समग्र जीवन ही उस परमधर्मके उत्थान और अभ्युत्थानमें बीता, जिसकी ग्लानि कभी श्रीभगवान्‌को भी सहन नहीं होती, उसके साथ तेरी ऐसी क्रूरलीलाका समावेश कहाँ होगा, क्या तू इसे बता सकती है? एक मन्द मधुर मुस्कानके साथ जिसकी पीयूषवर्षिणी वाणी संसारके अनेकानेक ताप-शाप और अभिशापोंको क्षणमात्रमें निवारण करती, उसको हमारे बीचसे उठा ले जानेमें पापिनी! तुझे क्या मिला? आज भारतका सम्पूर्ण आस्तिक समाज तेरे इस पापकृत्यके लिए तुझे कोस रहा है और आजीवन कोसता रहेगा। तेरे इस कुकृत्यके कारण आज हृदयमें जैसी मर्मभेदिनी पीड़ा उत्पन्न हो रही है, उसको यह निर्जीव जड़ लेखनी क्या कभी किसी प्रकार व्यक्त कर सकती है? उस पीड़ाको और उस व्यथाको तो एकमात्र हृदय ही जानता है, पर उसमें भी अब उसे व्यक्त करनेकी इस समय शक्ति और सामर्थ्य नहीं रही। वह तो सर्वथा अधीर हो रहा है—आह! लगातार बारह वर्षों तक अविराम सेवामें रहकर जिसकी अकृत्रिम स्नेह-सुधाधारामें परिस्रावित होकर शरीर, मन, वचन और प्राण सभी पवित्र हुए, उसके महावियोगमें हृदय किस भाँति धैर्य धारण करे, क्या कोई हमें बता सकता है?

आह! याद आती है आज हमें प्रकाण्ड विद्वत्ता धारण किये हुए श्रीगुरुदेवकी उस दिव्य मूर्त्तिका, उनके उस बालकोंके-से ऋजु स्वभावका, उनकी उस स्नेह-दयापरिपूरित कोमल वाणीका, निष्कलुषित और अकलंकित हृदयके निर्मल पवित्र प्यारका, बेजोड़ हृदयकी उस विशालताका जिसमें काम नहीं, क्रोध नहीं, लोभ नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, मात्सर्य नहीं—ईर्ष्या-द्वेषविहीन, शत्रु और मित्रपर एक समान प्रीति—निःसीम और अगाध उमड़ते हुए उस सागरकी-सी सुन्दर शोभा, जिसमें तनिक भी उबाल नहीं, उफान नहीं, ज्वार नहीं, भाटा नहीं—प्रशांत महासागर-सा अटल और अविचल—हिमालय-सा अडिग, धीर वीर और गम्भीर—देश एवं जाति-हितकी चिन्तनामें अहर्निश निमग्न—सबका प्यारा और सबका सम्मानदाता कौन है! ऐसा अब जिसके पावन पवित्र स्वरूपमें इन निधियोंका परिदर्शन कर हम अपने मन-मानसको शीतल और परितृप्त कर सकें, उसे जुड़ा सकें! आह! गुरुदेवकी वे अनन्त गुणावलियाँ—आज एक एक करके अनेकधा रूपमें, चल-चित्रकी भाँति हृदय-पटल पर उभड़ उभड़कर अङ्कित-चिह्नित और भासित-प्रतिभासित हो रही हैं।

आँखोंके सामने उनका एक ताँता-सा बँध रहा है। भग्नहृदय कलपता हुआ तड़प उठता है उन स्मृतियों-को लेकर—हाँ, आनन्ददायिनी थीं कभी इन सब गुणावलियोंकी मधुर स्मृतियाँ, पर आज ? आज तो उनके इस महावियोगके समय वे हृदयमें शूल गड़ने-की-सी पीड़ा उत्पन्न करनेवाली बन गयी हैं। स्मृति-मात्रसे ही हृदय आकुल-व्याकुल हो उठता है। हृदयकी उस पीड़ाको, मनकी उस आन्तरिक व्यथा को किसे सुनाऊँ ? उसे सुननेवाला और उसे शीतल करनेवाला अब रहा ही कौन ?

गुरुदेव ! तुम चले ? अच्छा, जाओ ; हमे छोड़कर आनन्दपूर्वक चले जाओ और दिव्य लोकके दिव्यधाममें जा विराजो, इसमें हमारे वशकी बात ही क्या यह तो विधिका ही विनिर्मित विधान है—

'आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर'

जाओ, हम भी रो-धोकर चुप हो जायेंगे और तनिक हृदय शीतल होनेपर तुम्हारी इन गुणा-वलियोंमे ही तुम्हारे रूपका दर्शन करते फिरेंगे। जीवित रहते तो कभी-कभी 'पत्रं पुष्पं फलं'—तुम्हारी कुछ सेवाकर तुम्हारे ऋणसे उऋण होनेका प्रयास करते, पर अबतो वह भी वशकी बात नहीं रही। अच्छा जाओ, किन्तु अश्रुपूर्ण नेत्रोंकी यह अर्घ्याञ्जलि जो स्वयमेव गिरकर तुम्हारे पूज्यचरणोंमें समर्पित हो रही है, इसे तो श्रद्धाञ्जलिके रूपमें स्वीकार करते ही जाओ गुरुदेव !

शोक-विह्वल :—
तुम्हारा ही
आत्मा
भूतपूर्व सम्पादक 'आर्य-महिला'।

—श्रद्धांजलि सभा—

हिन्दूधर्म, हिन्दूदेश और हिन्दूसमाजकी जो सेवा पूज्यस्वामीजीके द्वारा हुई थी, वह भुलाई नहीं जा सकती। गत २८ जनवरीके प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्तमें पूज्यपाद श्रीस्वामीजीका ब्रह्मनिर्वाण हो गया। गत ४–२–५१ को श्री आर्यमहिला महाविद्यालयमें उनको श्रद्धाञ्जलि समर्पित करनेके लिए एक महती सभा सुप्रसिद्ध एवं प्रकाण्ड विद्वान् महामहोपाध्याय व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदीकी अध्यक्षतामें हुई। जिसमें अनेक विद्वान् और प्रतिष्ठित सज्जन एवं महिलाओंने सम्मिलित होकर पूज्यपाद श्रीस्वामीजीके प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित किया। श्रद्धा-ञ्जलि समर्पित करनेके अवसरपर निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और भाषण हुए, जिन्हें अवलोकनार्थ हम क्रमसे आगे प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रस्ताव

"हम समस्त काशीवासी, अखिल भारतीय विराट-धर्ममहासभा श्रीभारतधर्म-महामण्डलके पूज्य प्रतिष्ठा-पक स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी महानिर्वाण-प्राप्तिसे अत्यन्त दुःखी है। आपने जो सनातन-धर्म, हिन्दूसंस्कृति एवं मानवताकी सेवा की है उससे आपका नाम इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित रहेगा। जब ब्रिटिश शासनसे भारतवर्ष पदाहत तथा पद-दलित होकर आत्मविस्मृत हो गया था तब आपने महामण्डलद्वारा सुप्त भारतको जगाकर अध्यात्मलक्ष्य

एवं धर्मकी ओर प्रेरित किया। आपहीसे प्रेरणा प्राप्तकर आपके शिष्य ब्रह्मीभूत स्वामी दयानन्दजी प्रभृति महातपस्वी अनेक शिष्योंने सनातनधर्मकी मन्दाकिनी बहा दी। जिसके फलस्वरूप सनातनधर्मकालेजों एवं महामण्डलकी शाखाद्वारा तरुण भारत जाग उठा। सनातनधर्मपोषक अनेक साहित्योंकी विविध-भाषाओंमें रचना एवं प्रकाशन कर आपने मेघाच्छन्न हिन्दूधर्मसूर्यको मुक्तकर उसके आलोकसे भारत एवं संसारका पथप्रदर्शन तथा दैवीजगत्का रहस्योद्घाटन किया। संक्षेपतः आप स्वतन्त्र भारतकी आत्माको प्रेरणा देनेवालोंमें अग्रणी थे। ऐसे लोकोत्तर महापुरुषके प्रति हम सादर सभक्ति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। आपके अनन्त उपकारोंके लिए देश आपका सदा ऋणी रहेगा। श्रीभगवान् विश्वनाथके चरणोंमें हमारी सांजलि प्रार्थना है कि वे इस दिव्यविभूतिद्वारा ऐसी प्रेरणा दिलाया करें जिससे जगत्में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की स्थापना हो।

हमलोग आज यह भी दृढ़निश्चय करते हैं कि उनकी पवित्र स्मृतिमें ऐसा स्मारक बनाया जाय जिससे उनके जीवन तथा कार्योंसे वर्तमान एवं भावी सन्ततिका पथप्रदर्शन होता रहे।"

इस स्मारक समितिके निम्नलिखित सदस्य चुने गये।

सर्वश्री महामहोपाध्याय पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, नरेशचन्द्र दत्त, कालीकृष्णचक्रवर्ती, लौटूसिंह गौतम तथा पण्डित प्यारेकिशन कौल।

सभापति म० म० श्री पं० गिरिधरशर्मा का भाषण

उपस्थित सज्जनवृन्द और महिलाओं:—

जिनके दर्शनकेलिये काशीमें आनेकी लालसा मनमें लगी रहती थी, उन स्वामीजी महाराजके कैलाशवासी होनेके कारण हृदयमें बहुत दुःख हो रहा है। ब्रह्मीभूत श्रीस्वामीजी महाराजकी ऐसे तो सभीपर एक समान कृपा रहती थी, किन्तु मुझपर उनकी बहुत ही कृपा रहती थी। उनकी कृपाका मुझे गर्व था और इसीलिये मैंने अपनेको श्रद्धाञ्जलिका अधिकारी समझ इस स्थानको ग्रहण करनेमें संकोच नहीं किया। श्रीस्वामीजी महाराज जैसे महात्मा थे, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके सम्बन्धमें कितना भी कहा जाय, किन्तु सब थोड़ा ही है। ऐसे महात्माओंके पवित्र चरितके कथनसे पवित्रता प्राप्त होती है। मुझे बहुत समयतक उनके सम्पर्कमें लाभ उठानेका अवसर मिला। एक श्लोक है—'श्रमेण महिमानं' जिसका तात्पर्य है कि कोई अपने परिश्रमसे महिमाको प्राप्त हो जाय। श्रीस्वामीजी सचमुच अपने परिश्रमके कारण ही अत्यन्त महान् महिमाको प्राप्त हुए। उनके चरित्रोंका यदि कोई पूर्णतः वर्णन करना चाहे तो वर्णन करते करते थक भले ही जाय पर उसका अन्त नहीं हो सकता। अतः उनकी चरित्रावलीका स्मरणकर हम उन्हें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं।

श्रीस्वामीजी महाराजके दर्शनका प्रथम सौभाग्य जब मुझे मिला था, प्रायः उसके अनन्तर ही भारतधर्म-महामण्डल सन् १९०१ में स्थापित हुआ। पूज्य महात्माजीने महामण्डलकी स्थापना करके सनातन-

धर्मके प्रति बहुत बड़ा कार्य किया। मुझे यह बात अच्छी तरह विदित है कि समग्र भारतवर्षमें श्री-भारतधर्म-महामण्डलके द्वारा सनातनधर्म सम्बन्धी जैसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए और सनातनधर्मकी जैसी सेवा हुई वैसी किसीके द्वारा नहीं हुई। महामण्डल-के द्वारा सनातनधर्म सम्बन्धी साहित्यका जो प्रका-शन हुआ वह श्रीस्वामीजी महाराजके अनवरत परिश्रमका ही फल है। सन् १९०८ में जब महा-राणा उदयपुर हरिद्वार पधारे थे उस समय मैं वहाँ था। मुझे ऋषिकुलके लिए सहायता प्राप्त करनी थी। महाराज, श्रीकृष्णानन्दजीके आश्रममें पधारे। वहाँ एक साधुसभा हुई और निश्चय हुआ कि ऋषी-केशमें एक साधुपाठशाला स्थापित की जाय। उस समय भी वहाँ मुझे श्रीस्वामीजीका दर्शन प्राप्त हुआ था। महाराणा उदयपुरसे अच्छी सहायता प्राप्त हुई। उसके बाद मुझे महामण्डमें कई बार ठहरनेका भी अवसर मिला। जब-जब मैं मिला पूज्य स्वामीजी महाराजके द्वारा जो वात्सल्य और कल्याणकारी उपदेश मुझे प्राप्त हुए वह कथनमें नहीं आ सकते, और इस प्रकार मुझे वहाँकी बहुत-सी बातें मालूम हुई। अतः जहाँ अनेक हितैषी थे, वहाँ यह भी कहना पड़ेगा और वह छिपाया नहीं जा सकता कि, भारतधर्ममहामण्डलके विरोधी भी थे और उनका विरोध अधिकाधिक मात्रामें हुआ, पर साथ ही हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि महान् पुरुषोंकी महत्ता विरोधसे ही प्रकट होती है। विरोधमें डटकर और कठिनाइयाँ उठाकर ही कार्य करनेसे महात्माओं-का महत्त्व प्रकट होता है। श्रीभगवान् व्यासने युधिष्ठिरसे कहा था, कि तुमसे विरोध करके तुम्हारे शत्रुओंने तुम्हारा बहुत उपकार किया। यदि विरोधी खुलकर तुम्हारे ऊपर आक्रमण न करते तो तुमको महत्त्वप्राप्तिका मार्ग कभी भी न मिलता। अतः द्वेषकरनेवालोंने तो उपकार किया और तुम्हारे महत्त्वको देखनेका संसारको अवसर दिया। महामण्डलका विरोधभी ऐसा ही हुआ, पर श्री-स्वामीजी महाराजने जिस धर्म-दृढ़ता और शान्तिके साथ उनके बीच जनकल्याण करते हुए कदम आगे बढ़ाया उससे उनकी सहनशीलता, गाम्भीर्य एवं कार्यपटुताका अपूर्व परिचय मिला है। कार्य करनेकी विशेष दक्षतासे ही उन्होंने अपना सुयश कायम रक्खा। इसप्रकार विरोध रहते हुए भी सुयशको कायम रखना सरल बात नहीं। वह बड़ी बात होती है। महाराजने यह सब कुछ किया। विरोध रहते हुए भी महामण्डलका प्रभाव यथास्थान रहा। विरोध रहते हुए भी इसके संरक्षक अनेक राजा-महाराजा हुए। मैंने स्वयं देखा था, एकबार इसी हथुआकी कोठीमें बहुतसे राजे और महाराजे इसके अधिवेशनमें सम्मिलित होनेके लिए एकत्रित हुए थे। काश्मीर, उदयपुर इत्यादि और महाराज दरभंगाका तो कहना ही क्या, वे तो निरन्तर इसके संरक्षक रहे और अब भी हैं। उनसे श्रीभारतधर्ममहामण्डल एकबार ही नहीं; निरन्तर मासिक सहायता पाता हुआ चला आता है। श्रीस्वामीजीका प्रभाव, उनका व्यक्तित्व, उनका ऋजु स्वभाव इतना उत्तम था कि उनकी आज्ञा-पालनके लिये सबलोग नत-मस्तक रहते थे। उनकी आज्ञासे इधर-उधर जाने-का किसीको साहस नहीं होता था। ऐसे धर्म-विरोधी कालमें भी धर्मकी मर्यादाकी रक्षा जो महा-मण्डलद्वारा हुई उसका सम्पूर्ण श्रेय श्रीस्वामीजी महाराजको ही है। समय परिवर्तनशील है।

परिवर्तन सदा होते रहते हैं, किन्तु श्रीभारतधर्म-महामण्डल श्रीस्वामीजी महाराजके तपोबल और कार्यप्रणालीसे अबतक एक समान पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा प्राप्त है। १६०२ के बाद इस समयतक अर्थात् इस ५० वर्षके अवसरमें इस संस्थाद्वारा सनातनधर्मकी रक्षामें जो कुछ हुआ उसका पूर्ण श्रेय श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजको ही है। उनकी बुद्धिमत्ता, कार्य-प्रतिभा इतनी अद्भुत थी कि सभी लोग सहर्ष उनकी आज्ञा पालनकरनेको तैयार रहते। मैं पहले कह चुका हूँ कि धर्मग्रन्थोंका प्रकाशन और धर्मसाहित्यका प्रकाशन जैसा महामंडल द्वारा हुआ वैसा कहीं नहीं हुआ और किसीने भी नहीं किया। मुझसे लोग पूछते हैं कि किसी ऐसे ग्रन्थका नाम बतलाइये जिससे सनातनधर्मका तत्त्व अच्छी तरह मालूम हो जाय, उसका आभास पूर्ण-रूपसे प्रकट हो जाय तो मैं उसे 'धर्मकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थका हवाला जो महामंडलद्वारा प्रकाशित हुआ है, देता हूँ। इस ग्रन्थमें हिन्दूधर्मके तत्त्वका पूर्ण-रूपसे निरूपण है। संसारका कोई भी ग्रन्थ इसकी प्रतिस्पर्द्धामें टिक नहीं सकता। श्रीस्वामीजीके द्वारा ही इस ग्रन्थकी उत्पत्ति हुई है। श्रीस्वामीजीके द्वारा अनेकों धर्म-ग्रन्थोंकी उत्पत्ति हुई, किन्तु श्रीस्वामीजी किसी ग्रन्थपर अपना नाम नहीं देते थे। लोगोंका कथन था कि महामण्डल केवल साहित्य प्रकाशनका कार्य करता है, प्रचार कार्य नहीं। वह प्रचार-कार्य सम्पूर्ण भारतमें श्रीस्वामी दयानन्दजी द्वारा हुआ। श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज श्रीस्वामीजीके प्रिय शिष्य थे। उन्होंने सर्वत्र भारतमें जा-जाकर धर्मका उत्तम प्रचार किया। मैं तो श्रीस्वामीजीका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उनकी कृपा हमारे ऊपर इतनी थी कि जिस विषयमें और जब कभी मैंने उनसे निवेदन किया कभी परांमुख नहीं हुआ। लोग कहते थे कि श्रीभारतधर्म महामण्डलद्वारा जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं वे सब पण्डितों द्वारा लिखे गये हैं। स्वामीजी महाराज उनसे लिखवाया करते थे। किन्तु मेरे अपने अनुभवसे और इस समय पेपरों और अख-बारोंमें जो बात प्रकाशित हुई हैं उनसे यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि वे सब धर्मग्रन्थ उन्हींके कलमसे निकले हैं। संक्षेपमें मैं कहूँगा कि साहित्यसेवा और धर्मप्रचारका जो कार्य श्रीस्वामीजीद्वारा हुआ वह अप्रतिम हुआ। हिन्दूधर्मके विपरीत कोई बात गवर्नमेंटद्वारा यदि होती थी तो सर्वदा बड़ी निर्भी-कताके साथ श्रीस्वामीजी उसके विरोधमें तत्पर हो जाते थे। सभाओं तथा महाधिवेशनोंके द्वारा वे उसके उग्र विरोधमें लग जाते थे और इसप्रकार कई बार उन्होंने धर्मके विपरीत कार्य करनेसे गवर्नमेंटको रोका था। श्रीस्वामीजी महाराजके गुणगानके लिए बहुत समय चाहिए। यह सब होते हुए भी श्री-स्वामीजी महाराज जिस सादगीके साथ जीवन व्यतीत करते थे वह अवर्णनीय है। जिस समय मैंने हरिद्वारमें श्रीस्वामी केशवानन्दजीके आश्रममें उनका दर्शन किया था श्रीस्वामीजी केवल एक कमण्डलके साथ कम्बलपर बैठे रहते थे। मेरे एक मित्र श्रीयज्ञेश्वरजी मेरे साथ थे, उन्होंने एक श्लोक मुद्राराक्षसका कहा। उसमें चाणक्यकी साधारण कुटी और उनकी रहन-सहनका वर्णन था। चाणक्य-के द्वारा यद्यपि सम्पूर्ण राज्यका ही संचालन होता था किन्तु ऐसा होते हुए भी उनकी रहन-सहन पूर्णतः साधारण थी। आसन-कमंडल और अग्निदेवके सिवाय वहाँ और कुछ नहीं था, कुटियाकी जीर्ण छान

भी झुकी हुई मानो उन्हें नमस्कार कर रही थी। यही दशा श्रीस्वामीजी महाराजकी भी थी। कम्बल और कमण्डल एकमात्र उनकी पूँजी थी। भोजन केवल एकबार करते थे। ऐसे महात्माका दर्शन करके हरएकके चित्तमें श्रद्धाका उदय स्वयमेव हो जाता है, क्योंकि सब कुछ प्राप्त है, पर उसका तृणवत् परित्याग कोई ही कर सकते हैं। सबको चाहिये कि ऐसे महात्माओंके चरित्रोंको देखें, भालें और उनसे उपदेश ग्रहण करें। हमारी श्रुतिस्मृतियोंकी प्रार्थनाओं और आकांक्षाओंमें यह प्रकट किया गया है, कि हम शतायु हो जाँय। मनुष्यजीवनके लिये यही पर्याप्त समझा गया है, परन्तु हमारे स्वामीजी महाराजने इस शतका उल्लंघन कर श्रुति-स्मृतियोंका भी रिकार्ड तोड़ दिया। वे १०५ वर्ष तक जीवित रहे और अन्तिमक्षण तक धर्मकी रक्षाके लिये कार्यमें निमग्न हो जनहित साधन करते रहे।

आजके इस घोर दुर्दशाग्रस्त समयमे हमें उनसे और भी बहुत बड़ी सहायता मिलती। अब तो ऐसा समय आ गया है, कि धर्मकी बात ही बुरी लगती है। हमने स्वराज्य प्राप्त किया और समझे थे कि उससे हमारे धर्मकी रक्षा होगी किन्तु उस स्वराज्यमें अबतो धर्मको उखाड़नेकी चेष्टा हो रही है। ऐसे समयमें उनकी जितनी आवश्यकता थी, उसे सभी धर्मप्रिय लोग समझ सकते हैं, पर नियतिका नियम अटल है। उसपर किसीका वश नहीं। अबतो हमारा यही कर्त्तव्य है, कि परमात्मासे प्रार्थना करें कि श्रीस्वामीजी महाराजकी आत्माको परलोकमें चिरशान्ति प्राप्त हो। हमारी यह प्रार्थना उनके प्रति एक प्रकारकी श्रद्धाञ्जलि प्रदर्शनमात्र ही है, ऐसे महात्मा लोग तो अपने तपोबलसे ही चिरशान्ति प्राप्त करते हैं और ब्रह्मपदलीन होते हैं, अस्तु श्रीस्वामीजी महाराजके प्रति हम सादर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करके अपना कर्त्तव्यपालन करते हैं।

श्री ठा० लौटूसिंहजी गौतम

एम० ए०, काव्यतीर्थ

हृदय दुःखी है। श्रीस्वामीजीके महाप्रस्थानसे जो अभाव प्रकट हुआ है उसकी पूर्त्ति नहीं की जा सकती। श्रीस्वामीजी महाराजने धर्मक्षेत्रमें कितने कार्य किये और देश उनका कितना ऋणी है, थोड़े समयमें इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीमान् सभापतिजी महोदयने थोड़ेमें उसपर जो प्रकाश डाला है, उसके अनुमोदन करनेकी भी आवश्यकता नहीं। जनकल्याण करनेके कार्योंके प्रति इस संसारमें विचार बहुतोंके हुआ करते हैं, किन्तु उन्हें कार्यरूपमें लाकर विघ्न-बाधाओंसे डटकर सामना करना और उन्हें परिपूर्ण करना बड़ा कठिन कार्य होता है और जो लोग ऐसा कर सकते हैं, जनता उन्हें पूजती है, श्रीस्वामीजी महाराज ऐसे ही महात्माओंमेंसे एक अप्रतिम महात्मा थे। सन् १८५८ के बलवेके पश्चात् देशके सामने एक बड़ी समस्या प्रस्तुत हुई थी, भारतीय संस्कृति और भारतीय विभूतिकी रक्षाका विकट प्रश्न भारतके सामने था। श्री स्वामीजीने इसके हेतु बहुत बड़े कार्य किये। श्री स्वामीजीका दैवीजगत्पर बहुत बड़ा विश्वास था, इस विश्वासको वे सबके मनमें बिठाना चाहते थे। उनका कथन था, कि यदि दैवीजगत्पर प्राणीमात्रका विश्वास हो जाय, तो देशकी सारी आपदायें नष्ट हो जाँय इसमें कोई सन्देह नहीं। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर चला गया है किन्तु उनका यह कार्य हमारे सामने है। उसीको पूरा करनेमें

हम सबको एकचित्त होना चाहिये। यही हमारा उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन होगा। महामण्डलका स्वरूप सनातनधर्मकी सेवा है। इन सेवाओंका श्रेय यदि किसीको दिया जाय तो वह श्रीस्वामीजीको देना होगा। वे जनताकी सच्ची सेवा जानते थे। यही उनका परम मन्त्र था, इसके हेतु उन्होंने अनवरत श्रम किया। १०५ वर्षकी अवस्थामें भी वे नित्य-क्रियायोंसे खाली होकर सात बजे इस कार्यके लिये बैठ जाते थे। मैंने कई विभूतियोंको देखा है। प्रायः ८० वर्षकी अवस्थामें बोलनेकी शक्ति नहीं रह जाती। पर वे बैठकर ७ बजेसे ११ बजेतक युवककी भाँति कार्य करते थे। उनका कथन था कि जो जाति जीवित रहना चाहती है, उसे अपनी संस्कृति नष्ट नहीं होने देनी चाहिये। किसी जातिकी यदि संस्कृति नष्ट हो जाय तो वह जाति मर जाय। भारतीय संस्कृतिकी रक्षा और उसके दिग्दर्शनके लिये उन्होंने एक प्राचीन शैलीका इतिहास भी तैयार किया। संस्कृतिकी रक्षामें जीवन समर्पित करनेवाले ऐसे महात्माके प्रति अच्छीसे अच्छी श्रद्धाञ्जलि यही है कि हम उसके कार्योंको आगे बढ़ावें। लोग सनातनधर्मको दकियानूसी और संकीर्ण विचारवाला धर्म बतलाते हैं, किन्तु सनातनधर्म या हिन्दूधर्म मानवताका धर्म है, श्रीस्वामीजीने इसे अच्छी तरह सिद्ध कर दिया। इस धर्मके लोप होनेके कारण हो आज मानवताके टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। यदि इस धर्मके विचार लोगोंके हृदयमें उत्पन्न हो जाँय तो मानवताके टुकड़े न हों। वह अखण्ड बन जाय। श्रीस्वामीजी महाराज श्रीभगवान्को भी कार्यरूपमें ही देखते थे। उनका यह महामन्त्र था और इस रूपमें ही :—

"तस्मै कार्यात्मने नमः" कहकर वे श्रीभगवान्को भी नमन करते थे। श्रीस्वामीजी महाराज बड़े मधुर आलोचक भी थे। हिन्दूजातिकी आलोचना करते हुए वे कहते थे कि 'धर्मप्राण हिन्दूजाति प्रमादमें आ गयी है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस जातिमें जहाँ प्रमाद आया और उसने धर्मको हटाया कि वह वहाँ पतित हुई। इस समय वातावरण बड़ा दूषित हो गया है। हमारी स्वतन्त्रता हमारे धर्मको उलट देनेके लिये प्राप्त हुई। धर्म तो अब उन्नतिका बाधक समझा गया है। इस धर्मरुचिकी रक्षा और सेवाही स्वामीजीकी अच्छी सेवा और श्रद्धाञ्जलि होगी। 'हिन्दूधर्म एक पदार्थ है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि उसका आधार आध्यात्मिकता है। मानवताका स्वरूप हिन्दूधर्म है हिन्दूधर्म द्वेष-विहीन है। वह किसीसे द्वेष नहीं करता।' श्रीस्वामीजीके यह विचार कितने मूल्यवान् हैं, महत्त्वमय हैं, इसे समझनेकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताकी प्रेरणा देनेवाले पूज्य स्वामीजीकी स्मृतिमें हम सबको चाहिये कि एक स्मारक स्थापित करें। यह कृतज्ञता प्रकाशनका उत्तम कार्य होगा। श्रीस्वामीजीके हम सभी अत्यन्त कृतज्ञ हैं। हमें कृतज्ञ बनना चाहिये। कृतघ्न नहीं! पूज्य स्वामीजी तो अपने पवित्रकार्योंसे ही दिव्यलोकमें चले गये। इसके लिये हमें प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं। हम उन्हें श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं, और चाहते हैं कि स्मारक बनाने वाली समितिकी तत्काल रचना करनेकी चेष्टा की जाय।

श्री पं० विन्ध्येश्वरीप्रसादजी शास्त्री

श्रीपूज्यपाद स्वामीजीने जीवनका लक्ष्य पूरा कर लिया। उन्हें विदित हो गया था, कि अब जीवनके

अन्तिम क्षण हैं। देहान्त होनेके दो दिन पहले उन्होंने कहा था कि यह शरीर अब नहीं चलेगा। पूज्य स्वामीजीका जीवनकाल शास्त्रीय पुरुषार्थमें व्यतीत हुआ उनके जीवनका लक्ष्य शास्त्र-साहित्यकी सृष्टि करना था। शास्त्रीय मर्यादाओंकी रक्षासे ही सृष्टि-की भलाई हो सकती है। यही उनका सिद्धान्त था और इसके लिये उन्होंने बहुत कुछ कार्य किया भी। उन्होंने संसारके सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानको तीन भागोंमें बाँटा था—(१) आर्ट (कला), (२) साइंस (विज्ञान), (३) फिलासफी (दर्शन)। उनका कथन था कि विज्ञानकी ओर तो सारा संसार झुका हुआ है, पर दर्शनकी ओर सबका ध्यान कम क्या, कुछ भी नहीं है। कला और विज्ञान केवल प्रकृतिका विज्ञान है किन्तु दर्शन ईश्वरीय विज्ञान है। मानवमात्रका कल्याण इस ईश्वरीय-विज्ञानमें ही निहित है। इस ईश्वरीय विज्ञानके लिये पूज्य स्वामीजीने जो कार्य किया है, वह अपूर्ण रह गया है। सामग्री सभी कुछ महा-मण्डलमें श्रीस्वामीजी द्वारा प्रस्तुत है। आवश्यकता केवल यह है, कि श्रीस्वामीजी जैसा कोई योग्य महा-पुरुष इस कार्यको हाथमें लेकर उसे पूर्ण करे। इस कार्यका पूर्ण करना ही हम लोगोंकी उसके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

सभापतिजी महोदय जो इस समय काशी हिन्दूविश्वविद्यालयमें संस्कृतशिक्षाके डाइरेक्टरके रूपमें आये हुए हैं और काशीमें ही रहते हैं, उनकी विद्वत्ता अगाध है, उनसे उपयुक्त इस कार्यके लिये कोई अन्य नहीं प्रतीत होता है। हम प्रार्थना करते हैं, कि सभापतिजी महोदय, श्रीस्वामीजीके इस कार्यको आगे बढ़ानेके लिए उसे हाथमें लेवें तो उनसे श्रीस्वामीजीके संकल्पोंकी पूर्ति होगी और देशका उपकार होगा। अधिक समय मैं नष्ट करना नहीं चाहूँगा, केवल इस एक बातकी ही महान् आवश्यकता प्रकट करते हुए मैं पूज्य स्वामीजी महा-राजको अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल-मन्त्रीसभामें

स्वीकृत मन्तव्य—

"श्रीमहामण्डलकी प्रबन्धकारिणी समितिके सदस्य योगिराज प्रातःस्मरणीयचरण जीवन्मुक्त ज्ञान-तपोवयोवृद्ध स्वामी श्रीज्ञानानन्दजी महाराजको १०५ वर्षकी अवस्थामें शिवसायुज्य प्राप्तिसे अत्यन्त क्षुब्ध है। जिस समय हिन्दूधर्म और हिन्दूजातिपर चारों ओरसे घोर आक्रमण हो रहे थे, उस समयसे करीब अर्द्धशताब्दीके पूर्वसे ही पूज्य स्वामीजीने श्री-भारतधर्म-महामण्डलकी स्थापना करके हिन्दूजातिका जो महान् उपकार किया है, वह सर्वविदित है। सहस्रों विद्वान् स्वामीजीके ज्ञानालोकसे आलोकित होकर सब प्रान्तोंमें लेख, वक्तृता, सेवाद्वारा हिन्दूजनता और हिन्दूधर्मकी सेवा कर रहे हैं। सहस्रों वर्षोंसे विलुप्त प्रायः अनेक दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थ स्वामीजीकी कृपासे आविर्भूत और प्रकाशित हुए हैं। आदि-शंकराचार्यके द्वारा स्थापित पीठोंकी मर्यादा और शृंखलाकी व्यवस्था और रक्षा विलुप्तप्राय ज्योतिर्मठका

द्वार और उसपर योग्य आचार्यकी स्थापना, आजसे बीसों वर्ष पूर्व अंग्रेजी गवर्नमेंटद्वारा प्रतिरुद्ध गंगाप्रवाहको प्रबल आन्दोलनद्वारा अक्षुण्ण प्रवाहित करना, भारतधर्म-महामण्डलके प्रधान सभापति स्वर्गीय दरभंगाधिपति श्रीरमेश्वरसिंह मिथिलेशको प्रेरितकर काशी हिन्दूविश्वविद्यालयकी स्थापनामें अत्युत्तम सहयोग दिलाना आदि श्रीस्वामीजी महाराजके अगणित कार्य चिरस्मरणीय हैं। श्रीमहामण्डलकी प्रबन्धकारिणीके हम सभी सदस्य श्रीस्वामीजी महाराजके चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं और श्रीकाशी विश्वनाथसे सविनय प्रार्थना करते हैं कि, हिन्दूजातिको ऐसी शक्ति दें जिससे स्वामीजीद्वारा निर्दिष्ट सन्मार्गका वह अनुसरण कर सके।

सर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ कि श्रीमहामण्डल-भवनके ऊपरका कमरा दक्षिण ओर वाला, जिसमें श्रीजी महाराज रहते हुए ब्रह्मीभूत हुए, उसको तीर्थरूपसे समादृत और सुरक्षित रखा जाय, उनके व्यवहारकी सभी वस्तुओंकी लिस्ट बनाकर रक्षा की जाय, श्रीजी महाराज जिस आरामकुर्सीपर विराजते रहे हैं उसपर उनका सुन्दर तैलचित्र रखा जाय तथा प्रातः सायं दोनों समय उसकी पूजा आरती विधिपूर्वक की जाय।

सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि श्रीजी महाराजके द्वारा उपक्रान्त जितने भी श्रीमहामण्डलके कार्यविभाग हैं—जैसे शास्त्रप्रकाशन विभाग, मानार्पण-विभाग, परीक्षा विभाग, देवसेवा, साधुसेवा, गोसेवा विभाग, उपदेशकमहाविद्यालयविभाग, रक्षा-विभाग आदि विभागोंके कार्योंका सम्पादन, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी भाषा समन्वय भाष्यसहित सप्तदर्शनोंका प्रकाशन, सभाष्य मन्त्र, हठ, लय, राजयोगोपयोगी चारों योगसंहिताओंका प्रकाशन और श्रीदत्तात्रेय धर्ममीमांसाका हिन्दीभाष्यसहित प्रकाशन आदि कार्य अवश्य सम्पन्न किये जायँ। यह पुण्यकार्य तभी सम्भव हो सकता है कि जब सभी सदस्य श्रीजीकी मूर्तिके समक्ष प्रतिज्ञापूर्वक एकता और सहयोगकी लोकोपकारिणी भावनासे सदा प्रेरित हों।

सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि भगवद्भक्त सर्वसाधारणकी आध्यात्मिक उन्नति तथा धार्मिक भावनाओंकी प्रेरणा प्राप्त करनेके लिये श्रीजीकी एक सुन्दर संगमरमर श्वेत प्रस्तरकी प्रतिमा किसी समुचित स्थानपर स्थापित की जाय तथा उस प्रतिमाका सायं प्रातः सविधि पूजन होनेका भी प्रबन्ध किया जाय।

सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि श्रीजी महाराजकी एक ऐसी जीवनी प्रकाशित की जाय, जिसमें उनके सब कार्यों और शास्त्रीय पुरुषार्थोंका विवरण रहे। यह भी निश्चय हुआ कि श्रीजीके स्मारकरूपसे 'सूर्योदय' और 'आर्यमहिला' के विशेषांक प्रकाशित किये जायँ।"

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्की प्रबन्धसमितिमें स्वीकृत मन्तव्य

"श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्के प्रबंध-समितिके हम सदस्यगण परमहंस परिव्राजकाचार्य योगिराज प्रातःस्मरणीय परमाराध्य परमपूज्यपाद श्री १००८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके

रही उन्होंने कहा "हाँ"। पुनः महाराजने पूछा— उनका चार लाख रुपया आपके पास है, जो उन्होंने अयोध्यामें मन्दिर बनानेके लिये आपके पास रखा था? महाराजने कहा "हाँ"। अबतो महाराजा और भी आश्चर्यसे स्तम्भितसे रह गये। उन्होंने श्रीजीसे पूछा—महाराज आपको ये बातें कैसे विदित हुई? तब पूज्यपादने रातकी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी और आदेश दिया कि स्वर्गीया महारानीके संकल्पके अनुसार शीघ्रातिशीघ्र मन्दिर बना दें। एवं देवताकी सेवा-पूजा एवं भोगरागका सुप्रबन्ध करा दें। अब इस कार्यमें कदापि विलम्ब करना उचित नहीं। महाराजाने आज्ञा शिरोधार्य की, और शीघ्रही अयोध्यामें रामजीके मन्दिरके निर्माण का कार्य प्रारम्भ करा दिया। स्वर्गीया महारानीके उसी चारलाख रुपयेसे मन्दिरका निर्माण होगया उसमें राम-जानकीकी प्रतिष्ठा हो गयी और बचे रुपयेसे जमींदारी खरीदकर मन्दिरमें लगा दिया गया, जिससे सदा नियमितरूपसे मन्दिरमें सेवापूजा होती रहे। यही मन्दिर अयोध्यामें "कनकभवन"के नामसे प्रसिद्ध है। इसप्रकार पूज्यपादके द्वारा कितने ही मन्दिरोंका निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ, जिन सबको लिखनेसे अलग एक ग्रन्थ ही बन सकता है। परन्तु उन्होंने कभी इसकी परवाह नहीं की, यही उनकी लोकोत्तर महानता थी।

भगवान् महर्षि ज्ञानानन्दजी महाराज श्रीके दिव्य जीवनकी एक झाँकी।

[ले० श्रीमती सुन्दरीदेवी एम. ए., बी. टी.]

यह ठीकही कहा है कि—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि कोनु विज्ञातुमर्हति॥

वस्तुतः लोकोत्तर महापुरुषोंकी महानता एवं समुद्र जैसी गम्भीरताका थाह पाना, उसे समझना साधारण मनुष्य-बुद्धिका कार्य नहीं; क्योंकि ऐसे महान् पुरुषोंकी महत्ता एवं गम्भीरता समझनेके लिये समझनेवालेकी बुद्धिभी उतनीही सूक्ष्म और हृदय विशाल होना चाहिये। अतः मुझमें इन दिव्य लोकोत्तर महात्माको पहचाननेकी कुछ भी क्षमता नहीं थी, तब भी उनकी प्रतिदिनकी साधारण-चेष्टाएँ जो देखनेको मिलती थीं, उन्हींको देख मैं स्तम्भित रह जाती और स्वतः मेरे मनमें यह प्रश्न उठता कि, क्या मनुष्यके लिये यह सम्भव है? इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

पूज्यपादके दर्शनार्थ सभीप्रकारके मनुष्य आया करते थे। आशुतोष शङ्करका दरबार था, किसीके आने पर रोक नहीं थी। अतः सज्जन-दुर्जन सभी श्रेणीके लोग आते थे, सभीके साथ वे समानरूपसे प्रेम-स्नेह-पूर्ण व्यवहार करते। उनमें ऐसे लोग भी आते जिन्होंने पूज्यपादद्वारा संस्थापित एवं सञ्चालित संस्थाओंको अपूरणीय क्षति पहुँचायी थी, यथेष्ट विरोध किया; दूसरा कोई उनकी सूरत देखना भी पसन्द नहीं करता किन्तु पूज्यपाद श्रीजी उनके साथ भी उसी स्नेह एवं

प्रेमका बर्ताव करते जैसा कोई परमस्नेहवान् पिता अपने पुत्रके साथ करता है। मैं कभी कभी निवेदन करती कि यह व्यक्ति ऐसा है, तो आज्ञा देते कि "क्षमा करना सीखो, क्षमा बहुत बड़ी वस्तु है, उसकी प्रकृति ही ऐसी है।" और यह श्लोक सुना देते—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात ! विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमाऽर्जवदयातोषं सत्यं पीयूषवद् भज॥

कोई विशेष वस्तु उनके भिक्षाके लिये आती तो आदेश होता कि सबको मिला कि नहीं और सबको प्रसाद दिलानेके अनन्तर ही वे भिक्षा करते थे। पूज्यपाद सर्वोच्च पहुँचे हुए परमहंस महात्मा थे, उनको अपने शरीरका भान नहीं रहता था। उनके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं था, तब भी श्रीमहामण्डल-भवनमें रहनेवाले सभी आश्रितोंपर उनकी समानरूपसे स्नेह-दृष्टि रहा करती थी। श्रीमहामण्डलभवनमें अतिथि भी आया करते हैं, जिनमें सभी श्रेणीके लोग आते थे। चाहे कोई विशिष्ट व्यक्ति हो, या भले ही नगण्य ही क्यों न हो, उसको यथासम्भव आराम पहुँचानेकी सुव्यवस्थाके लिये पूज्यपाद मानो अधीर हो उठते थे, जितने लोग उनकी सेवामें होते, सबको और प्रत्येकको उसकी देख-भाल एवं आवश्यकतापूर्तिके लिये आज्ञा देते थे और प्रत्येकसे उसकी सुख-सुविधाके विषयमें पूछते एवं व्यवस्था कराते थे। आतिथ्यके सम्बन्धमें उनका इतना ध्यान रहता था। यहाँतककी जीवनके अन्तिमदिन जिसदिन वे मृत्युशय्यापर थे, उन्हींको इन्दौरसे देखनेकेलिये डा० एस० के० मुकर्जी आये थे। श्रीमहामण्डलके निवासी सभी श्रीजीकी रुग्णावस्थासे इतने चिन्तित एवं व्यग्र थे कि किसीको भोजन-शयनकी सुधि नहीं थी, न अवकाश था। सन्ध्या आठ बजेका समय था। श्रीजीने अपने पास बैठे हुए एक भक्तसे पूछा कि डा० मुकर्जीने भोजन किया ? उत्तर मिला कि नौकर गया है, वह उनको भोजन करा देगा। इतना सुनते ही पूज्यपाद बहुत ही असन्तुष्ट हो गये और कहा कि "वह तुम्हारे यहाँ आया है, तुमने उसको नौकरको सौंप दिया, बड़ी लज्जाकी बात है। अभी तुम स्वयं जाओ और उसे अच्छी तरह भोजन कराओ।" जब उक्त सज्जन उठकर गये और डाक्टर महोदयको स्वयं खड़े रहकर भोजन कराया एवं आकर निवेदन किया कि वे अच्छी तरह भोजन कर चुके, मैं वहाँ था, तब पूज्यपादको शान्ति हुई। साधारण मरणासन्न मनुष्य जो मृत्युशय्यापर पड़ा हो, उसके लिये क्या यह कभी सम्भव हो सकता है ?

मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गके लिये भी उनको उतना ही स्नेह था। वे श्रीमहामण्डलभवनके ऊपरके एक कमरेमें विराजते थे। उसमें 'शारदा लाइब्रेरी'की पुस्तकोंकी आलमारियाँ हैं। उस कमरेमें कभी कभी चूहेके छोटे बच्चे या पक्षीके बच्चे गिर पड़ते थे, पूज्यपाद मुझे आज्ञा देते कि इनको दूध पीलाओ और तबतक रक्षा करो, जबतक ये स्वतः चलने लगे या उड़ सकें।" इसीप्रकार दैववश एक गिलहरीका बच्चा आ गया। उसकी रक्षा की, बड़ा होनेपर उसे कई बार पेड़पर छोड़ दिया किन्तु वह लौटकर फिर चली आती थी। दो-तीन बार ऐसा ही हुआ। तब यह सोचकर कि दूसरे जीव इसे मार न डालें, उसको रखना पड़ा था। पूज्यपाद प्रतिदिन उसके लिये चार-पाँच बार पूछते कि उसको कुछ खानेको दिया या नहीं। किसी किसी दिन कार्याधिक्यसे मैं उसको दूध देना भूल जाती, तो

मुझपर डाँट पड़ती थी। अभी थोड़े दिन पहले वह गिलहरी मर गयी थी तो उसकी उत्तमगति हो, इसके लिये उसे सावधानीसे गंगामें डलवानेका प्रबन्ध करनेकी पूज्यपादने आज्ञा दी। तदनुसार ही किया गया। ऐसे क्षुद्र जीवोंपर भी उनकी वही करुणा-दृष्टि थी। उनके विशाल हृदयकी समताका यह एक छोटा-सा निदर्शन है। ऐसी कितनी बातें प्रति-दिन हुआ करती थीं, जिनको लिखा जाय तो एक बृहद्ग्रन्थ बन जायगा।

ब्रह्मनिर्वाण-प्राप्तिके पहले पूज्यपाद केवल छः दिन अस्वस्थ थे। इनमें अन्तिम तीन दिन उनके श्रीविग्रह-में असहनीय वेदना थी। तब भी प्रशान्तभावसे लेटे रहते थे। उनकी चेष्टामें कोई अशान्ति, उद्वेग या चञ्चलता व्यक्त नहीं होती थी। वे थोड़ी देरके अन्तरसे थोड़ा-थोड़ा गङ्गाजल पीते थे; उसके लिये भी उन्होंने आज्ञा दी कि "नमश्चण्डिकायै" इस मन्त्रके उच्चारणपूर्वक तीन-तीन बार गङ्गाजल दो।"

पूज्यपादको ता० २१ जनवरीसे बार बार लघुशङ्का होने लगी थी। उसके एक दो दिन पहलेहीसे कुछ कोष्ठवद्धताका अनुभव हुआ था। उसका साधारण उपचार होता रहा। डाक्टर-वैद्यभी बुलाये गये, परन्तु ठीक-ठीक निदान किसीके समझमें नहीं आया। दूसरे दिनसे शौच-पिशाब दोनों ही बन्द हो गया तब एक प्रसिद्ध डाक्टर बुलाये गये। उन्होंने निदान किया कि, मूत्रग्रन्थि (Prostrate gland) अधिक अवस्थाके कारण बढ़कर पिशाब बन्द कर दिया है। अविलम्ब पिशाब निकालना चाहिये। अन्यथा विष फैलनेका डर है। इसके बाद दूसरे दिन एक दूसरे डाक्टरने यन्त्रकी सहायतासे पिशाब निकाला। पिशाब सरलतासे निकलता रहे, इसलिये डाक्टरोंने अन्य कोई उपाय न जानकर पेड़ूपर आपरेशन करके एक मार्ग बना देनेका निश्चय किया। पूज्यपाद इन्जेक्सनतकके विरोधी थे। कभी उन्होंने इन्जेक्सन भी नहीं लिया था, परन्तु जब डाक्टरोंने बतलाया कि बार-बार यन्त्रकी सहायतासे पिशाब निकालनाभी भयसे रहित नहीं है, और आपरेशनके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, तब उन्होंने आपरेशनकी अनुमति दे दी। ता० २७ जनवरीको प्रातःकाल डाक्टर आये, आपरेशनकी व्यवस्था उसी कमरेमें जहाँ वे विराजमान थे, की गयी। आपरेशनके पहले पूज्यपादका रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) देखा गया तो १५० था, जितना पचास वर्षके स्वस्थ मनुष्यका होना चाहिये था। यह देखकर डाक्टरलोग आश्चर्य-चकित हो गये। पूज्यपादको आपरेशन टेबुलपर लेटा दिया गया। इस कार्यमें पूरे डेढ़ घण्टे लगे, उनको क्लोरोफार्म देकर अचेत भी नहीं किया गया था, परन्तु पूज्यपाद शान्तभावसे लेटे रहे; बीच-बीचमें डाक्टर मुकर्जीसे पूछते जाते थे कि "अभी कितना देर है।" उन्होंने चरण या हाथ भी नहीं हिलाया। इस धीरता एवं वीरतासे उन्होंने आपरेशन करवाया। आपरेशनके बाद एक भक्तने पूछा कि, पूज्यपादको इससे बहुत कष्ट हुआ होगा? पूज्यपादने उत्तर दिया कि—नहीं, कोई विशेष कष्ट तो नहीं हुआ। फिर उक्त भक्तने पूछा, महाराज बराबर समाधिस्थ थे। इसपर पूज्यपाद मुस्कराकर चुप रह गये। आपरेशनके पश्चात् पुनः—रक्तचाप देखा गया तो १४५ था। केवल पाँच डिग्री ही कम था। यह देख सभी उपस्थित डाक्टर अवाक्से रह गये। डाक्टर मुकर्जी जो मध्यभारतके प्रसिद्ध अद्वितीय डाक्टर हैं, बोल उठे कि, मैंने अपने जीवनमें ऐसा

किसीको नहीं देखा। पूज्यपादकी अवस्थाको देखते हुए मेरा अनुमान था कि, ब्लडप्रेशर बहुत नीचे गिर जायगा। परन्तु यह कितनी आश्चर्यकी बात है कि केवल पाँच डिग्री ही कम हुआ है। इत्यादि।

इसके बादही डाक्टर मुकर्जीको इन्दौर लौट जाना आवश्यक था। वे आज्ञा लेने और प्रणाम करने पूज्यपादके निकट गये तो उनको पूज्यपादने—

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

यह स्तुति सुनायी और कहा कि, श्रीजगदम्बाको स्मरण करते हुए जाना सब मंगल होगा। इसप्रकार उनको आशीर्वाद दिया और अपना वरदहस्त उनके सिरपर रखा। उस अवस्थामें यह सब एकमात्र उन्हींके लिये सम्भव था।

पूज्यपाद महाराजश्रीका हृदय नवनीतके समान कोमल था। किसीके सामान्य दुःखसे भी वे द्रवित हो जाते थे। इस आसन्नमृत्युकी अवस्थामेंभी उनके इस स्वभावमें कोई अन्तर नहीं आया था; जैसा कि साधारणतः मनुष्योंमें हुआ करता है। आपरेशनके एक घण्टे बादकी एक घटनाका यहाँ उल्लेख करती हूँ।

सब डाक्टर यथास्थान जा चुके थे। पूज्यपाद लेटे हुए थे एवं यथापूर्व थोड़ा थोड़ा गङ्गाजल कुछ मिनटके अन्तरसे उनको पिलाया जाता था। सेवाके लिये मैं, मेरे कालेजकी कुछ सहयोगिनी बहिनें वहाँ थीं। इस बार एक बहिनने उनको गङ्गाजल पिलाया, तो वह बाहर पूज्यपादके कपड़ोंपर गिर गया। यह श्रीमती देवीजीको ठीक नहीं प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने उक्त बहिनसे कहा—आपसे ठीक तरह नहीं पिलाया जाता, और वे स्वयं गङ्गाजल पिलाने लगीं। पूज्यपादको इस कठिन पीड़ाकी अवस्थामें भी यह अनुभव करते देर नहीं लगी कि, गङ्गाजल पिलाना रोकनेसे उक्त बहिनके हृदयमें कितनी वेदना हुई होगी। पूज्यपादने उसीसमय आज्ञा दी कि, गङ्गाजल वही पिलायेगी और उसको बुलाकर उससे माँग-माँगकर कई बार उसीके हाथसे गङ्गाजल पीया, जिससे वह प्रसन्न हो गयी और उसकी अवसन्नता जाती रही।

सन्ध्या पाँच बजे जब उनकी नाड़ी देखी गयी तो विदित हुआ कि नाड़ी बन्द है। तबसे ब्रह्मनिर्वाणके समयतक नाड़ीकी वही दशा रही। यथा-सम्भव उपचार होते रहे। डाक्टर भी बुलाये गये, परन्तु कोई फल नहीं हुआ। तब भी वे बराबर पूर्ववत् बातें करते रहे। प्रायः रात्रिके आठ बजे डाक्टरोंकी सम्मतिसे आक्सिजन गैस मँगाया गया। वह ज्योंही उनके नाकके पास लाया गया, पूज्यपादने उसे अपने हाथसे उठा फेंका और कहा "घबड़ाओ मत, धैर्यसे काम लो।" उपस्थित डाक्टर यह सब देखकर आश्चर्य चकित हो गये और कहने लगे कि, हमने अपने जीवनमें ऐसा व्यक्ति नहीं देखा, जिसकी घण्टों-से नाड़ीकी गति बन्द हो और इसप्रकार ठीक-ठीक सब बातें करता हो। इसीप्रकार वे बड़ी शान्तिसे लेटे थे। ऐसा लगता था कि, वे समाधिस्थ थे। इसी तरह ब्राह्ममुहूर्तमें पाँच बजकर दस मिनटपर अपने महान् आत्माको सदाके लिये परमात्मामें मिलाकर भौतिक-शरीरका परित्याग कर दिया और विदेहमुक्तिरूपी ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर लिया! उसके बाद भी उन दिव्य महापुरुषका मुखमण्डल अपूर्व आभा एवं तेज-से देदीप्यमान हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि, वे प्रगाढ़ निद्रामें सो रहे हैं। इसीप्रकार अन्ततककी

उनकी सामान्य चेष्टाएँ भी असाधारण और अमानुषिक हुआ करती थीं। उनको देख मैं यही विचार करती कि क्या मनुष्यके लिये यह सम्भव है ?

लाइब्रेरीके जिस कमरेमें पूज्यपाद विराजते थे श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी मन्त्रीसभाने उसे तीर्थकी तरह सुरक्षित रखनेका निश्चय किया है एवं पूज्यपादके व्यवहारकी वस्तुओंको भी यथापूर्व सुरक्षित रखनेका भी निश्चय किया है। तदनुसार उस कमरेमें पूज्यपाद जिस आराम-कुर्सीपर विराजमान रहते थे, उसपर उनका एक तैलचित्र रखा गया है। वहाँ दोनों समय पूजा-आरती आदि होती है। अब जो भी दर्शनार्थ वहाँ जाते हैं, उनको ऐसा अनुभव होता है कि पूज्यपाद वहाँ विराजमान हैं। वह स्थान रिक्त-सा नहीं अनुभव होता है। यह भी एक अद्भुत चमत्कार है।

हमारी उनके राजीवचरणोंमें करबद्ध यही प्रार्थना है कि, हम उनकेद्वारा प्रदर्शित मार्गोंपर चल सकें, ऐसी बुद्धि तथा शक्तिप्रदान करनेकी कृपा करें। जिससे विश्वका मङ्गल हो।

साष्टाङ्ग प्रणाम।

सभी ओर थी घोर अविद्या
और देशमें था अज्ञान।
आर्यसंस्कृति और हमारा
धर्म सनातन था म्रियमाण॥

ऐसे दारुण पतनकालमें
लिया देव तुमने अवतार।
अपनी सतत साधनासे तुम
करते रहे लोक उपकार॥

भारतधर्म-महामण्डलसे
किया देशमें धर्म प्रचार।
आर्यमहाविद्यालयद्वारा
महिलाओंमें किया सुधार॥

ग्रन्थ अनेकों लिखकर तुमने
बचा लिया संस्कृतिका नाश।
मानों इस कलियुगमें फिरसे
हुए अवतरित वेदव्यास॥

जीवनमुक्त हुए अब तुम पर
लोकहितार्थ तुम्हारे काम।
सदा अमर रक्खेंगे तुमको
धन्य धन्य साष्टाङ्ग प्रणाम॥

—एक भक्त

भगवान् महर्षि ज्ञानानन्दजी महाराज-प्रणीत-
ग्रन्थोंकी तालिका

क्रमांक	पुस्तकोंका नाम	श्रेणी	प्रकाशन
१	कर्ममीमांसादर्शन धर्मपाद	मौलिक सूत्र	प्रकाशित
२	कर्ममीमांसादर्शन संस्कारपाद	,,	,,
३	कर्ममीमांसादर्शन क्रियापाद	,,	यन्त्रस्थ
४	कर्ममीमांसादर्शन मोक्षपाद	,,	अप्रकाशित
५	कर्ममीमांसादर्शन धर्मपाद	भाष्य	प्रकाशित
६	कर्ममीमांसादर्शन संस्कारपाद	,,	,,
७	कर्ममीमांसादर्शन क्रियापाद	,,	यन्त्रस्थ
८	कर्ममीमांसादर्शन मोक्षपाद	,,	अप्रकाशित
९	कर्ममीमांसादर्शन	वृत्ति	,,
१०	सांख्यदर्शन	,,	,,
११	न्यायदर्शन	,,	,,
१२	योगदर्शन	,,	,,
१३	वैशेषिकदर्शन	,,	,,
१४	ब्रह्ममीमांसादर्शन	,,	,,
१५	दैवीमीमांसादर्शन	,,	,,
१६	दैवीमीमांसादर्शन	सूत्र	प्रकाशित
१७	दर्शनादर्श	भाष्य	,,
१८	लययोगसंहिता	,,	प्रकाशित
१९	राजयोगसंहिता	,,	,,
२०	मन्त्रयोगसंहिता	,,	प्रकाशित
२१	हठयोगसंहिता	,,	,,
२२	श्रीदत्तात्रेयधर्ममीमांसा	,,	यन्त्रस्थ
२३	वेदान्तदर्शन चतुःसूत्री	भाष्य	प्रकाशित
२४	योगदर्शन	,,	,,
२५	तत्त्वबोध	टीका	,,
२६	मार्कण्डेयपुराण प्र० भा०	भाष्य	,,
२७	मार्कण्डेयपुराण द्वि० भा०	,,	,,
२८	मार्कण्डेयपुराण तृ० भा०	,,	,,

क्रमांक	पुस्तकोंका नाम	श्रेणी	प्रकाशन
२६	देवीभागवत प्र० स्कन्ध	भाष्य	प्रकाशित
३०	देवीभागवत द्वि० स्कन्ध	"	"
३१	ईशावास्योपनिषद्	टीका	"
३२	कठोपनिषद्	"	"
३३	केनोपनिषद्	"	"
३४	गायत्रीमन्त्रकी टीका	"	"
३५	कल्किपुराण	"	"
३६	रामगीता	भाष्य	"
३७	सप्तशती गीता दुर्गा	टीका	"
३८	श्रीमद्भगवद्गीता प्र० ख०	"	"
३६	श्रीमद्भगवद्गीता द्वि० ख०	"	"
४०	विष्णुगीता	मौलिक	"
४१	सूर्यगीता	"	"
४२	शक्तिगीता	"	"
४३	धीशगीता	"	"
४४	शम्भुगीता	"	"
४५	संन्यास गीता	"	"
४६	गुरुगीता	"	"
४७	धर्मविज्ञान प्र० ख०	"	"
४८	धर्मविज्ञान द्वि० ख०	"	"
४९	धर्मविज्ञान तृ० ख०	"	"
५०	धर्मकल्पद्रुम प्र० भा०	"	"
५१	धर्मकल्पद्रुम द्वि० भा०	"	"
५२	धर्मकल्पद्रुम तृ० भा०	"	"
५३	धर्मकल्पद्रुम चतु० भा०	"	"
५४	धर्मकल्पद्रुम पंच० भा०	"	"
५५	धर्मकल्पद्रुम षष्ठ भा०	"	"
५६	धर्मकल्पद्रुम सप्त० भा०	"	"
५७	धर्मकल्पद्रुम अष्ट० भा०	"	"

क्रमांक	पुस्तकोंका नाम	श्रेणी	प्रकाशन
५८	गोस्वामी तुलसीदासकृतरामायणटीका	मौलिक	प्रकाशित
५९	गीतार्थचन्द्रिका	”	”
६०	प्रवीणदृष्टिमें नवीनभारत प्र० भा०	”	”
६१	प्रवीणदृष्टिमें नवीनभारत द्वि० भा०	”	”
६२	नवीनदृष्टिमें प्रवीण भारत	”	”
६३	शास्त्रचन्द्रिका	”	”
६४	साधनचन्द्रिका	”	”
६५	धर्मचन्द्रिका	”	”
६६	आर्यगौरव	”	”
६७	नीतिचन्द्रिका	”	”
६८	सनातनधर्मदीपिका	”	”
६९	धर्म-प्रश्नोत्तरी	”	”
७०	धर्मकर्मदीपिका	”	”
७१	धर्मसोपान	”	”
७२	परलोकप्रश्नोत्तरी	”	”
७३	सरल साधन-प्रश्नोत्तरी	”	”
७४	हिन्दूधर्मका स्वरूप	”	”
७५	स्मरणी	”	”
७६	स्त्रीपुरुषविज्ञान	”	”
७७	अन्तःकरणविज्ञान	”	”
७८	श्राद्ध और परलोकविचार	”	”
७९	सतीधर्म और योगशक्ति	”	”
८०	निर्मूल आक्षेपोंका उत्तर	”	”
८१	मनुष्यधर्म	”	”
८२	सतीसदाचार	”	”
८३	धर्मतत्त्व	”	”
८४	भारतधर्म-समन्वय	”	”
८५	परलोकतत्त्व	”	”
८६	आचारचन्द्रिका	”	”

क्रमांक	पुस्तकोंका नाम	श्रेणी	प्रकाशन
८७	धर्मप्रवेशिका	मौलिक	प्रकाशित
८८	व्रतोत्सव कौमुदी	”	”
८९	पूजा और प्रार्थना	”	”
९०	कर्मरहस्य	”	”
९१	कन्याशिक्षासोपान	”	”
९२	महिला प्रश्नोत्तरी	”	”
९३	धर्माधर्म प्रश्नोत्तरी	”	”
९४	तीर्थदेवपूजन प्रश्नोत्तरी	”	”
९५	सदाचार प्रश्नोत्तरी	”	”
९६	परलोक रहस्य	”	”
९७	चतुर्दशलोक रहस्य	”	”
९८	ब्रह्मचर्य सोपान	”	”
९९	राजशिक्षा सोपान	”	”
१००	साधन सोपान	”	”
१०१	शास्त्र सोपान	”	”
१०२	धर्मप्रचार सोपान	”	”
१०३	नित्यकर्म चन्द्रिका	”	”
१०४	सदाचार सोपान	”	”
१०५	उपदेश पारिजात	”	”
१०६	श्रीभारतधर्म-महामण्डल रहस्य	”	”
१०७	भारतवर्षका इतिवृत्त	”	”
१०८	संगीत सुधाकर	”	”
१०९	पुराण रहस्य	”	”
११०	गोव्रततीर्थ महिमा	”	”
१११	संन्यासधर्म पद्धति	”	”
११२	सुगम साधनचन्द्रिका	”	”
११३	धर्मसुधाकर	”	”
११४	श्रीमधुसूदन संहिता	”	”

क्रमांक	पुस्तकोंका नाम	श्रेणी	प्रकाशन
११५	आर्यजाति	मौलिक	प्रकाशित
११६	आदर्श देवियाँ प्र० भा०	संकलित	”
११७	आदर्श देवियाँ द्वि० भा०	”	”
११८	श्रीव्यासशुकसंवाद	”	”
११९	चरित्रचन्द्रिका प्र० भा०	”	”
१२०	चरित्रचन्द्रिका द्वि० भा०	”	”
१२१	संन्यासगीता (मूलमात्र)	”	”
१२२	सतीचरित्र चन्द्रिका	”	”
१२३	स्तोत्रकुसुमाञ्जलि	”	”
१२४	व्रतोत्सवचन्द्रिका	”	”
१२५	त्रिवेदीसन्ध्या	”	”
१२६	कहावत रत्नाकर	”	”
	बंगला—		
१२७	पुराणतत्त्व	मौलिक	”
१२८	जन्मान्तरतत्त्व	”	”
१२९	साधनतत्त्व	”	”
१३०	अवतारतत्त्व	”	”
१३१	नारीधर्म	”	”
१३२	सदाचार शिक्षा	”	”
१३३	नीतिशिक्षा	”	”
	अंग्रेजी—		
१३४	World's Eternal Religion	”	”
१३५	India's Eternal Religion	”	”
१३६	The Pioneer of World Civilization	”	”

पूज्यपादकी प्रेरणासे लिखित व प्रकाशित

१	कुमारिल भट्ट	हिन्दी	”
२	आदर्श जीवन-संग्रह	”	”
३	तुलसीदासकृत रामायण	बंगला	”

क्रमांक	पुस्तकोंका नाम	श्रेणी	प्रकाशन
४	पारिवारिक प्रबन्ध	बंगला	प्रकाशित
५	आचार प्रबन्ध	"	"
६	गो-रक्षा	"	"
७	भक्तितत्त्व	"	"
८	महर्षिचरित	"	"
९	अगस्त्यचरित	"	"
१०	सांख्यरहस्य	"	"
११	योगरहस्य	"	"
१२	वैशेषिकरहस्य	"	"
१३	न्यायरहस्य	"	"
१४	कुमारिलभट्ट	"	"
१५	ऋजुपाणिनीयम्	संस्कृत	"

क्षमा-याचना ।

भगवान् महर्षि श्री ११०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज प्रभुके ब्रह्मनिर्वाणप्राप्तिपर 'आर्य-महिला'का यह श्रद्धाञ्जलि-अङ्क पाठक-पाठिकाओंके सामने रखते हुए हमें भगवान् वेदव्यासकी यह उक्ति स्मरण आती है—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत् कल्पितं
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताऽखिलगुरो ! दूरीकृता यन्मया
व्यापित्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश ! तद्विकलता दोषत्रयं मत्कृतम् ।

अर्थात् हे प्रभो ! रूपरहित आपके रूपकी मैंने ध्यानद्वारा कल्पना की, स्तुतिके द्वारा आपकी अनिर्वचनीयताको दूर किया और तीर्थयात्राके द्वारा आपकी सर्वव्यापकताको बाधित किया ; मेरे इन तीनों अपराधोंको आप क्षमा करें ।

वस्तुतः 'आर्यमहिला'के इस विशेषाङ्कके प्रकाशनद्वारा पूज्यपाद भगवान्‌के किसी एक सामान्य गुणका भी दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता, फिर उनके अगम्य स्वरूपका एवं अशेष गुणोंका वर्णन यदि स्वयं शेष-शारदा करें, तो कदाचित् पार पा सकें । अतः यह प्रयास हमारा धृष्टतापूर्ण अपराध ही है ।

पूर्णावतार भगवान् कृष्णके सम्बन्धमें महाभारतमें ऐसा कहा गया है कि भगवान् कृष्णको

केवल तीन आदमी पहचानते थे,—एक धर्मराज युधिष्ठिर, दूसरे महात्मा विदुर और तीसरे पितामह भीष्म। भगवान्‌के साथ दिन-रात रहनेवाला अर्जुन भी उन्हें नहीं पहचान सका था। यह बात तो भगवद्गीतामें अर्जुनद्वारा जो क्षमाप्रार्थना की गयी है, उसीसे स्पष्ट होती है—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं, हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु
एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं, तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

अर्थात् आपकी इस महिमाको न जानकर सखा समझ, मैंने प्रमादवश या प्रेमसे हे कृष्ण! हे यादव ! हे सखा ! आदि कहकर तथा आहार-विहार, सोने-बैठने, एकाकी अथवा अन्यके सामने हास-विनोदमें जो कुछ निरादर किया है, उसके लिये क्षमा माँगता हूँ।

भगवान्‌ने स्वयं भी कहा है कि—

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।

अर्थात् जो मूढ़ मनुष्य मुझको मनुष्यरूप समझकर अवज्ञा करते हैं, वे मेरे परम भाव-भूतोंके महेश्वर-रूपसे नहीं जानते।

ठीक यही स्थिति पूज्यपाद भगवान् महर्षि ज्ञानानन्दजी महाराज प्रभुके सम्बन्धमें दृष्टिगोचर होती है। उन लोकोत्तर महापुरुषके वास्तविक स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे किसीने भी नहीं पहचाना। साधारणतः किसी भी मनुष्यकी पहचान उसके जीवनकालमें क्वचित् ही होती है। फिर ज. महापुरुष प्रकृतिके सामयिक स्रोतको एक ओरसे दूसरी ओर पलट देनेके लिये आते हैं, उनका तो जन-साधारणमें विरोध ही होता है। अतः ऐसे महापुरुषको जनसाधारणके लिये नहीं पहचानना स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थितिमें उन महापुरुषकी उपयुक्त श्रद्धाञ्जलि हो ही कैसे सकती है ? पुनः लौकिक दृष्टिसे भी इसे इतना सुन्दर नहीं बनाया जा सका; क्योंकि हमारे पास समयका भी अभाव इसलिये था कि, 'आर्यमहिला'का ३२वाँ वर्ष मार्चमें समाप्त हो जाता है, अप्रेलसे नया वर्ष प्रारम्भ होता है, अतः पूज्यपादके भारतवर्षव्यापी भक्तोंसे प्रबन्ध मँगानेके लिये इस अङ्कको अधिक समय रोका नहीं जा सकता था, इसे मार्चमें प्रकाशित होना ही चाहिये था। इसके अतिरिक्त छपाईकी दर पाँचगुनी और कागजकी कीमत भी पाँचगुनी हो गयी है। अतः समयका अभाव, साधन-सामग्रीका अभाव तथा अन्य अनेक असुविधाएँ होते हुए यह श्रद्धाञ्जलि-अङ्क प्रकाशित करनेकी जो धृष्टता हुई, इसके लिये उन परमाराध्य भगवान्‌महर्षिके चरणोंमें हमारी विनीत क्षमायाचना है। —सम्पादिका

कर्ममीमांसादर्शन ।

[गतांकसे आगे]

बुद्धिके अनुसार अधिकार स्वभावसिद्धरूपसे तीन श्रेणीके होनेसे त्रिविध अनुशासन भी स्वभावसिद्ध हैं। त्रिविध बुद्धिके लक्षणोंके विषयमें श्रीगीतोपनिषद्में इस प्रकारसे वर्णन है :—

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ॥
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ॥
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।

हे पार्थ ! धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये, अधर्मसे निवृत्ति होनी चाहिये, किस समय क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये किसमें भय है और किसमें अभय, किससे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और किससे मुक्त होता है, ये बातें जिस बुद्धिसे जानी जाती हैं, उसे सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं । हे पार्थ ! जिस बुद्धिसे यह ठीक नहीं मालूम होता कि, धर्म क्या है और अधर्म क्या है, क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, उसे राजसी बुद्धि कहते हैं। हे पार्थ ! अज्ञानसे ढंकी रहनेके कारण जिस बुद्धिसे अधर्म्म धर्म्म जान पड़ता है और हित अहित मालूम होने लगता है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं ॥१६६॥

प्रसंगसे क्रियाका नियामक कौन है, सो कहा जाता है—

देश और काल स्वाभाविकी क्रियाका नियामक है ।।१६७।।

अनुशासनके अधीन होकर कर्म करनेसे मनुष्यकी क्रमोन्नति वाधारहित होगी, यह पहले ही सिद्ध हो चुका है। उसी प्रकार देशकालका विचार भी अवश्य करने योग्य है। क्योंकि देश-काल कर्मका नियामक है। कर्म स्वाभाविक है, क्योंकि प्राकृतिक स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। ऐसा होनेपर भी देश-काल उसका नियामक होता है। प्रकृतिका स्पन्दन देश और कालके अनुसार न्यूनाधिकरूपको धारण करता है। क्योंकि प्राकृतिक परिणाम देश-कालसे परिच्छिन्न है। यद्यपि मूलप्रकृतिका स्वरूप देश-कालसे सूक्ष्म है, परन्तु प्रकृति जब वैषम्यावस्थाको प्राप्त होकर परिणामिनी होती है, तो वह वैषम्यावस्थाप्राप्त गुणवती प्रकृति देश और कालके द्वारा परिच्छिन्न हो जाती है। जब देश-कालके द्वारा वैषम्यावस्थाप्राप्त प्रकृति परिच्छिन्न है और उसी त्रिगुणमयी प्रकृतिका स्पन्दन कर्म है, तो कर्म भी देश-कालसे परिच्छिन्न है। इस कारण कर्मका नियामक देश-कालका होना स्वतःसिद्ध है। स्थूल उदाहरणसे इस विज्ञानको इस प्रकार समझ सकते हैं कि, सब कर्म सब देशमें और सब कर्म सब कालमें कदापि उपयोगी नहीं हो सकते। यदि मनुष्य दिवानिद्रा करे, तो अल्पायु होगा और यदि रात्रिको निद्रा न करे, तो अल्पायु होगा। इस कारण रात्रिमें निद्रित होना ही नियम है। इसी प्रकार देशको भी समझना उचित है ॥ १६७ ॥

इससे क्या होता है, सो कहते हैं—

अत एव कर्म आद्यन्तवान् है ॥१६८॥

नैसर्गिकक्रियानियामकौ देशकालौ ॥ १९७ ॥

तस्मादाद्यन्तवत्ता कर्मणः ॥ १९८ ॥

जब कर्मका नियामक देश और काल है और कर्म देश-कालके द्वारा सदा परिच्छिन्न रहता है, तो कर्मका सादि और सान्त होना भी सिद्ध होता है। देश और कालकी परिधिके अन्तर्गत जब कर्मका होना सिद्ध हुआ, तो कर्मका आदि भी देश-कालके अन्तर्गत और कर्मका अन्त भी देश-कालके अन्तर्गत होगा। अतः कर्म सादि और सान्त है, यह सिद्ध हुआ ॥ १६८ ॥

प्रसंगतः देश-कालका विज्ञान कहा जाता है—

देश और काल प्रकृति और ब्रह्मकी प्रतिकृति है ॥ १६६ ॥

जब ब्रह्ममें लीन प्रकृति ब्रह्मसे पृथक् होकर द्वैतभावको प्रकट करती है, तब पहिले काल और देश प्रकट होता है। वह काल ब्रह्मरूप है और देश प्रकृतिरूप है। कालके अनुभवमें चित्सत्ताका प्राधान्य है। ये ही काल और देश यावत् दृश्य-प्रपंचको आच्छादित करके अपने अनादित्व और अनन्तत्वको दिखाकर यथाक्रम ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिके महत्त्वको *घोषित करते रहते हैं। इस कारण ब्रह्मकी प्रतिकृति काल और प्रकृतिकी प्रतिकृति देश है, ऐसा मानना विज्ञानविरुद्ध नहीं होगा ॥ १६६ ॥

और भी कह रहे हैं—

वे विराटवत् अनादि अनन्त हैं ॥ २०० ॥

अनन्तकोटिब्रह्माण्डमय कार्यब्रह्मरूपी श्रीभगवान्‌का जो विराट्‌रूप है, वह जिस प्रकार आदि-अन्त-रहित है, उसी प्रकार देश और काल भी आदि-अन्त-रहित है। यह पहले ही सिद्ध किया गया है कि, पिण्डरूपी अधिभूतसृष्टि और ब्रह्माण्डरूपी अधिदैव-सृष्टि ये दोनों सादि और सान्त होनेपर भी अनन्त ब्रह्माण्डमय सृष्टिप्रवाहरूपी अध्यात्मसृष्टि आदि-अन्त-रहित है। यह भी पहले कहा गया है कि, ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति महामायाकी साक्षात् प्रतिकृति यथा-क्रम काल और देश है और सृष्टिकी सब वस्तुएँ देश-काल-परिच्छिन्न हैं। सुतरां अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-मय भगवान्‌की विराट् मूर्तिकेलिये आदि-अन्त-रहित देश और कालका होना अवश्यम्भावी है। इस कारण श्रीभगवान्‌की विराट् मूर्तिके सदृश ये दोनों भी आदि-अन्त-रहित है ॥ २०० ॥

कर्मपर उन दोनोंका कैसा प्रभाव पड़ता है सो कहा जाता है :—

देश-कालके अनुसार क्रियाका तारतम्य होता है ॥ २०१ ॥

कर्म देश-कालके द्वारा परिच्छिन्न होनेसे और सृष्टिके यावत् पदार्थपर देश-कालका पूर्ण प्रभाव रहनेसे देश-कालके अनुसार कर्ममें रूपान्तर होना स्वतःसिद्ध है। इस कारण देशकी स्थिति और काल-की स्थितिके अनुसार धर्मके सब अंगों और उपाङ्गों के स्वरूपोंमें तारतम्य होता है। केवल उनके साधनों-में ही तारतम्य नहीं होता है, उनके फलोंमें भी तार-तम्य होता है। यज्ञभूमि और यज्ञरहित-भूमिके आचारोंमें तारतम्य होता है। आर्य्यभूमि और अनार्य्यभूमिके धर्मसाधनोंमें तारतम्य होता है। तीर्थमें कर्म करने तथा अन्यत्र कर्म करनेके फलमें अनेक अन्तर होता है, यह स्मृतिसे अनुमोदित है। मरुभूमि, पार्वत्यभूमि और सुन्दर समतल भूमिके निवासियोंके धर्मसाधनके क्रियासिद्धांशोंमें तारतम्य

*देशकालौ प्रकृतिब्रह्मात्मकौ ॥ १९९ ॥
तयोरनाद्यनन्तत्वं विराड्वत् ॥ २०० ॥
तदनुबन्धिक्रिया तारतम्यात् ॥ २०१ ॥

हुआ करता है। उसी प्रकार कालधर्म भी अपरिहार्य्य है। आश्रमधर्मकी मूलभित्ति कालसम्बन्धसे निर्णीत की गई है। मनुष्यकी आयुके अनुसार ही ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यासधर्म निर्णीत हुए हैं। सुकालमें जो कर्म अतिअनाचार और अधर्मरूपसे वेद और स्मृतियोंमें माने गये हैं, दुर्भिक्ष, महामारी, राज्यविप्लव आदिके समय वे ही निन्दनीय कर्म आपद्धर्मके अनुसार माननीय समझे जाते हैं। इस प्रकारसे देश और कालका सदा प्रभाव धर्मके अंगों और उपांगोंपर पड़नेके कारण क्रियाके स्वरूपमें तारतम्य होना अवश्यसम्भावी है ।।२०१ ।।

सुतरां—

इसी कारण धर्ममें वैचित्र्य होता है ।। २०२ ।।

धर्मका स्वरूप ही वैचित्र्यपूर्ण है। स्मृतिशास्त्रमें धर्मकी महिमा कहकर धर्मको इसप्रकार नमस्कार किया गया है :—

यं पृथक् धर्मचरणाः पृथक् धर्मफलैषिणः।
पृथक् धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ।।

अर्थात् पृथक् पृथक् धर्मोंके आचरण करनेवाले, पृथक् पृथक् धर्मफलकी अभिलाषासे पृथक् पृथक् धर्मोंद्वारा जिसकी पूजा करते हैं, उस धर्मरूप परमात्माको नमस्कार है।

यही कारण है कि, वैदिक धर्म और सब धर्मोंसे व्यापक और वैचित्र्यपूर्ण है और अनेक अंग-उपांगोंमें विभक्त है। वैदिकधर्म किसी लौकिक विचारपर प्रतिष्ठित न होनेके कारण और लोकोत्तर अपौरुषेय सिद्धान्तोंपर स्थित होनेके कारण यह स्वाभाविक वैचित्र्यपूर्ण है। जब देश, काल और पात्र इन तीनोंकी पृथकता स्वभावसिद्ध है, तो उसके अनुसार क्रियाके स्वरूप और क्रियाके फलमें भी पृथकता होना स्वभावसिद्ध है। पात्रका समावेश अन्य दोनोंमें हो जाता है। प्रथमतः स्थूलशरीरको दर्शनशास्त्रके आचार्य्योंने देशके अन्तर्गत माना है। क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्माण्ड देशका परिचायक है, वैसा ही पिण्ड भी देशका परिचायक है। द्वितीयतः कालधर्मका साक्षात् सम्बन्ध स्थूलशरीरसे होनेके कारण कालका प्रभाव भी स्थूलशरीरसे ही प्रकट होता है। इस कारण देश, काल और पात्र, इन तीनोंमेंसे देश ही प्रधान माना गया है। पात्रका विचार इन दोनोंके अन्तर्गत ही समझा जानेसे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने केवल देश-कालकेद्वारा ही धर्मका वैचित्र्यपूर्ण होना माना है। धर्म, कर्त्तव्य और आचारादिके निर्णय करनेमें देश और कालका विचार रखना विज्ञानसिद्ध है। यही कारण है कि, साधारणधर्म साधारणरूपसे ब्रह्माण्ड-पिण्डका धारक होनेसे सर्वजीवहितकारी है, परन्तु विशेषधर्म विचित्र है और विशेष अधिकारमें हितकारी है। मनुष्य पूर्णावयव जीव होनेसे और कर्मसंग्रहमें स्वाधीन होनेसे उसमें रुचिवैचित्र्य और अधिकारवैचित्र्य रहता ही है। इसीकारण 'यं पृथग धर्मचरणाः' इत्यादि कहकर ऋषियोंने धर्मको नमस्कार किया है। वेदके शाखाभेदसे और पुराणों तथा तन्त्रादिके उपासनाभेदसे आचारवैचित्र्य नियमितरूपसे पाया जाता है और सम्प्रदायभेद होनेसे अनेक मत-भेदोंकी प्रतीति होती है। यही कारण है कि भगवान् वेद-व्यासजीने कहा है :—

'वेदा विभिन्नाः श्रुतयो विभिन्नाः
नाऽसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' इत्यादि।

अतो धर्मवैचित्र्यम् ।। २०२ ।।

वेद अनन्त हैं, श्रुतिवचन भी अनन्त हैं और मुनियोंके मतोंमें भी भिन्नता है। यही कारण है कि, आर्य्यधर्म और अनार्य्यधर्ममें भेद है और यही कारण है कि, जगत्‌में अनेक धर्ममत-मतान्तर होते आये हैं और होते रहेंगे ॥ २०२ ॥

अब प्रसंगसे ऋषियोंका मतभेद कह रहे हैं :—

इसी कारण ऋषियोंके मतमें भेद-प्रतीति होती है ॥ २०३ ॥

ब्रह्माण्डसे लेकर पिण्डपर्य्यन्त और ग्रह-उपग्रहसे लेकर अणुपर्य्यन्त सबको पृथक्-पृथक्‌रूपसे धारण करना ही धर्मका कार्य्य है। दूसरी ओर जैसा स्थूल-सृष्टिमें धर्मका पृथक्-पृथक् आधिपत्य है, वैसा सूक्ष्मसृष्टिमें भी है। इसी कारण धर्मके स्वरूपमें मतभेदकी प्रतीति और साधनमें अधिकारभेद होना स्वतःसिद्ध है। इसी अपरिहार्य्य कारणसे धर्मके विषयमें ऋषि और मुनियोंमें मतभेद पाया जाता है ॥ २०३ ॥

अब धर्म-लक्षणके विषयमें पहला मत कह रहे है :—

विहितकर्म धर्म हैं, यह जैमिनिका मत है ॥२०४॥

पूज्यपाद महर्षि जैमिनिने जिन-जिन शास्त्रोंमें धर्मके लक्षणके सम्बन्धमें अपना मत कहा है, उसके अनुसार धर्मलक्षण यही है कि, वेदविहित कर्म ही धर्मशब्दवाच्य है। वेद त्रिकालज्ञ हैं। प्रत्येक कल्पका यावत् ज्ञान सृष्टिके आदिमें उस कल्पमें प्रकाशित होनेवाले वेदमें प्रकाशित हो जाता है और वेदसम्मत अन्यान्य शास्त्र वेदके ही भाष्यरूप हैं। अतः वेद और वेदसम्मत शास्त्रसमूह जिन-जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा देते हैं, वे उनके मतमें धर्म-शब्दवाच्य हैं। अतः महर्षिके मतमें वेद और वेद-सम्मत शास्त्रसे अनुमोदित कर्म ही धर्म है और वेद तथा वेदसम्मत शास्त्रसे निषिद्ध कर्म अधर्म है। वेदोक्त और स्मृतिशास्त्रोक्त यावत् कर्मकाण्डादि सब ही इसी सिद्धान्तका अनुसरण करते हैं। उसी प्रकार उपासनाप्रवर्त्तक जितने तन्त्रशास्त्र हैं, उनमें साधन-शैलीको बतानेवाले जितने आचार हैं उनमेंसे तीन आचारोंको तन्त्रशास्त्रोंने प्रधानता दी है। इस मतकी पुष्टिके लिये उदाहरण दिया जाता है कि, तन्त्रोंमें प्रचलित दक्षिणाचार नामक आचार इसी सिद्धान्तका पोषक है ॥ २०४ ॥

अब दूसरा मत कह रहे हैं :—

महर्षि नारदके मतमें विधिसाध्यमान कर्म धर्म है ॥ २०५ ॥

पूज्यपाद देवर्षि नारदके मतके अनुसार विधि-साध्यमान कर्म ही धर्म है और धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें गुरु, आचार्य्य और महज्जन ही अनुकरणीय हैं। धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें नाना आचार्य्यों-में मतभेद प्रतीत होता है, वेद और शास्त्रोंमें भी मत-भेद-प्रतीति होती है। अतः आत्मज्ञ गुरु, शास्त्रज्ञ आचार्य्य और कुलपरम्पराय, सम्प्रदायपरम्पराय महज्जन जो पथ बतावें, वही पथ धर्मका पथ है। अथवा इस प्रकारसे भी विचार सकते हैं कि, जो महापुरुष अविद्या दूर करनेके अर्थ विद्याकी शिक्षा देवें वे आचार्य्य कहाते हैं और जो महापुरुष

अतो महर्षिप्रस्थानेषु भेदप्रतीतिः ॥ २०३ ॥
विहितकर्म धर्मेति जैमिनिः ॥ २०४ ॥
विधिसाध्यमानमिति नारदः ॥ २०५ ॥

अभ्युदय तथा निःश्रेयस-प्राप्तिके लिये साधनोंकी दीक्षा देवें, वे गुरु कहाते हैं। ऐसे आचार्य्य अथवा गुरु अवश्य ही वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, तत्त्वज्ञ अथवा आत्मज्ञ होते हैं। वे जिस विधिका उपदेश देते हैं, साधकके लिये वही धर्म है, ऐसा देवर्षि नारदका मत है। भक्ताग्रगण्य देवर्षि नारद अपनी भक्तिदृष्टिसे एकमात्र आचार्य्य अथवा गुरुमें ही ज्ञान-सूर्य्यका उदय देखते हैं; इस कारण धर्माधर्मनिर्णयमें वे आचार्य्य अथवा गुरु-प्रदर्शित विधिको ही धर्म मानते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार अनेक वैदिक और अवैदिक धर्मसम्प्रदाय और उपासनासम्प्रदाय प्रचलित हुए हैं और होंगे। यही कारण है कि, सम्प्रदायोंकी उपासना और कर्मविधिमें पार्थक्य पाया जाता है। परन्तु उन उन सम्प्रदायोंके लिये वे सब उपादेय हैं ॥ २०५ ॥

अब तीसरा मत कह रहे हैं :—

आत्मोन्मुख कर्म धर्म है यह गौतमका मत है ॥ २०६ ॥

पूज्यपाद महर्षि गौतमके मतमें सब शारीरिक, वाचनिक तथा बौद्धिक कर्म धर्म है, जो मनुष्यको आत्मोन्मुख करता है। यह तो स्वतःसिद्ध है कि, मनुष्यका अन्तःकरण इन्द्रियोन्मुख होते होते निम्नसे निम्न अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। अतः कर्मसमूह जीवको जितने अधिक इन्द्रियोन्मुख करेंगे, उतने ही उनमें अधर्मके भाव उत्पन्न होंगे। सब सिद्धान्तोंका सारांश यह है कि, जो कर्म जीवको आत्मासे विमुख करे, वही अधर्म है। दूसरी ओर धर्मकी ऊर्द्ध्वगति सदा आत्माकी ओर रहती है और अन्तमें धर्मशक्ति ही जीवको अभ्युदयके आत्मोन्मुख स्रोतमें बहाकर अन्तमें निःश्रेयसरूपी आत्मपदमें पहुँचा देती है। इस कारण महर्षिका धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें यह मत विज्ञानानुमोदित है। ज्ञान और अज्ञानके निर्णायक तथा तत्त्वज्ञानप्रकाशक जितने ज्ञानकाण्डके मत हैं, वे सब इसी मौलिक भित्तिपर स्थित हैं। वैदिक, तान्त्रिक अथवा मिश्र उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डकी जो त्रिविध साधनपद्धतियाँ हैं, वे सभी इसी मौलिक सिद्धान्तको आश्रय करके बनायी गयी हैं, तभी वे सब वैदिक कहाती हैं ॥ २०६ ॥

अब चौथा मत कह रहे हैं :—

महर्षि कणादिके मतमें अभ्युदय और निःश्रेयस्कर कर्म धर्म है ॥ २०७ ॥

मानवधर्मकी धारिका शक्तिके प्रभावसे मनुष्य पहले ऐहलौकिक अभ्युदयकी इच्छा करता है और उसे प्राप्त करता है। जब वह कुछ और उन्नत हो जाता है, तो पारलौकिक अभ्युदयकी इच्छा करता है और उसे प्राप्त करता है। अन्तमें जब सत्वगुणकी अभिवृद्धि कर लेता है, तो निःश्रेयसकी इच्छा करता है और निःश्रेयसको प्राप्त करता है। इस कारण जिन कर्मोंके द्वारा ऐहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त हो, जो कर्म अभ्युदयका मार्ग सरल कर दें और अन्तमें निःश्रेयसभूमिमें पहुँचा दें, वे सब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्म धर्मशब्दवाच्य हैं, यही पूज्यपाद महर्षि कणादका मत है। आर्य्यजातिकी वर्णाश्रमशृङ्खलाकी मौलिक भित्ति इसी सिद्धान्तपर स्थित है ॥ २०७ ॥

आत्मोन्मुखमिति गौतमः ॥ २०६ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसकरमिति कणादः ॥ २०७ ॥

अब पांचवां मत कह रहे हैं :—

अक्लृष्टपोषक कर्म धर्म है; ऐसा महर्षि पतञ्जलिका मत है ॥ २०८ ॥

इस संसारमें बन्धन और मोक्ष सबका कारण एकमात्र मन है, क्योंकि मन वृत्तिराज्यका आधार है। कर्मका संस्कार भी अन्तःकरणमें ही जमा रहता है। मन वृत्तिमय है। पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि ने वृत्तिराज्यको दो भागोंमें विभक्त किया है। यथा :—क्लृष्टवृत्ति और अक्लृष्टवृत्ति। कितनी ही मनोवृत्तियाँ क्यों न हों, वे या तो क्लृष्ट होंगी या अक्लृष्ट होंगी। क्लृष्टवृत्ति तमोवर्द्धक और अक्लृष्टवृत्ति सत्त्ववर्द्धक होती है। अतः महर्षिके मतमें जो शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक कर्म मनकी क्लृष्टवृत्तियों को बढ़ावें, वे अधर्म कहावेंगे और जो कर्म मनकी अक्लृष्टवृत्तियोंकी वृद्धि करें, वे सब धर्मशब्दवाच्य होंगे। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग, इन चार योगसिद्धान्तोंको अवलम्बन करके जितने साधनसम्प्रदाय हुए हैं और होंगे, उनकी भित्तिको यही मत पुष्ट करता है। उदाहरणरूपसे कह सकते हैं कि, तन्त्रोक्त दिव्याचारकी साधनविधियाँ सब इसी भित्तिपर स्थित हैं ॥ २०८ ॥

अब छठाँ मत कह रहे हैं :—

लीलामोचक धर्म है, यह महर्षि कपिलका मत है ॥ २०९ ॥

लीलामयी महाप्रकृति महामायाकी लीला यह दृश्यप्रपञ्चरूपी सृष्टि है। त्रिगुणमयी प्रकृतिके त्रिगुण-जालमें फँसकर जीव आवागमनचक्रमें निरन्तर घूमा करता है। इसीसे लीला-विलास स्थायी रहता है। पूज्यपाद महर्षि कपिलके मतमें यही धर्मका स्वरूप निर्णय किया गया है कि, जिन जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मोंके द्वारा यह त्रिगुण-जनित लीला-बन्धन बढ़े, वे ही अधर्म कहावेंगे और जिन जिन कर्मोंके द्वारा यह जीवनबन्धनकारी लीलाग्रन्थि अपने आपही खुलती जाय, वे सब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्म धर्मशब्दवाच्य होंगे। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिका लीला-वैभव पुरुषके स्वच्छ स्वरूपमें प्रतिफलित होकर उसको फँसाता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा साधक जितना ही प्रकृतिके स्वरूपको जानता जाता है, उतना ही पुरुषका फँसाव घटता जाता है। जिन जिन कर्मोंके द्वारा यह फँसाव घटता जाय, पूज्यपाद महर्षि कपिलके मतमें वे ही सब धर्म हैं। यावत् वैदिक मतानुयायी कर्मकाण्ड और दार्शनिक सम्प्रदायोंके जितने आचार प्रचलित हैं और होंगे, उन सबकी मौलिक भित्ति यही विज्ञान है ॥ २०९ ॥

अब सातवाँ मत कह रहे हैं :—

महर्षि भरद्वाजके मतमें सत्त्ववृद्धिकर कर्म धर्म है ॥ २१० ॥

धर्मलक्षणनिर्णयके विषयमें महर्षि सूत्रकार अपना मत कह रहे हैं कि, जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मोंके द्वारा तमोगुणका ह्रास हो और सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही धर्मशब्दवाच्य है। इसी सिद्धान्तपर यह मीमांसा-शास्त्र प्रतिष्ठित है। सनातनधर्मके सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकारी धर्मविज्ञानकी मूलभित्ति यही है ॥ २१० ॥

अक्लृष्टपोषकमिति पतञ्जलिः ॥ २०८ ॥
लीलामोचकमिति कपिलः ॥ २०९ ॥
सत्त्ववृद्धिकरमिति भरद्वाजः ॥ २१० ॥

अब आठवां मत कह रहे हैं :—

महर्षि अङ्गिराके मतमें ईश्वरार्पित कर्म धर्म है ॥ २११ ॥

महर्षि अङ्गिराके मतका सारांश यह है कि, चाहे किसी प्रकारका कर्म हो, जब वह ईश्वरार्पणपूर्वक किया जाय, तो वही कर्म धर्मशक्तिको उत्पन्न करेगा। आत्मासे प्रकृतिका जिस प्रकार सम्बन्ध है, उसी प्रकार प्रकृतिका कर्मसे सम्बन्ध है। आत्मासे प्रकृति अलग होकर सृष्टि-लीलाविलासको प्रकट करती है। प्रकृतिके आत्मासे अलग होकर तरङ्गायित होनेकी जो अवस्था है, वही कर्मोत्पत्तिका कारण है। वही जीवभावको उत्पन्न करता है, यह इस दर्शनशास्त्रमें भलीभाँति प्रमाणित हुआ है। यही अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी ब्रह्मप्रकृतिके सृष्टिविलासका गूढ़ रहस्य है। लयकी क्रियायें इससे विपरीत होती हैं। कर्म जब प्रकृतिमें प्रवेश करता है और प्रकृति ब्रह्ममें अव्यक्त दशाको प्राप्त हो जाती है, तब कर्मके साथ दृश्यप्रपञ्चमय जगत् परमात्मामें लय हो जाता है। बन्धन और मोक्षका एकमात्र कारण जीवका अन्तःकरण जब बहिर्मुखीन होता है, तो वही अवस्था बन्धन उत्पन्नकारी होती है और जब अन्तःकरणकी गति आत्माकी ओर होती है, वही जीवकी मुक्तिका कारण बनती है। इसी दार्शनिक सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर महर्षि अङ्गिराने सिद्धान्त निश्चय किया है कि, साधक भगवद्भक्तियुक्त होकर जिन जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मोंको करते समय धृति और विचारको काममें लाकर सच्चे हृदयसे परमात्मामें अर्पण करता हुआ करेगा, वे सब कर्म धर्मशब्दवाच्य होंगे। शंका-समाधानके लिये कहा जाता है कि, जब आत्मोन्मुख होना ही अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिका एकमात्र कारण है, जब सबकी परिसमाप्ति और सबका आश्रयस्थल आत्मा है और जब आत्माको लक्ष्यमें लाते ही जीव-के सब कलुष उसके शुभाशुभ कर्मोंके साथ स्वतः ही हानिको प्राप्त होते हैं, तो यह स्वतःसिद्ध है कि, आत्मा-की ओर स्थिर लक्ष्य रखकर जो कोई कर्म किया जायगा, वह जीवका अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्म बन जायगा, चाहे वह सत् हो या असत्। दूसरी ओर यह सिद्धान्त निश्चित है कि, बिना अन्तःकरणके विक्षेपरहित हुए और बिना भक्तिद्वारा भगवद्भावा-पन्न हुए साधकके मनकी गति आत्माकी ओर हो ही नहीं सकती और जब भक्तकी मनोवृत्ति आत्मोन्मु-खिनी है, तो उस अन्तःकरणमें धर्म और पुण्यका उदय होना स्वभावसिद्ध है। इस विषयको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, अन्तःकरणका अन्तिम तत्त्व भाव है। इस कारण यदि भाव सत् हो, तो असत् कर्मभी सत् हो जाता है और यदि भाव असत् हो, तो सत्कर्मभी असत् हो जाता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, जीवहिंसा असत् कर्म है, परन्तु यज्ञमें पशु-बलि धर्म हो जाता है। इसी प्रसङ्गसे एक एक विशेष मतका दिग्दर्शन कराया जाता है। तन्त्रशास्त्रोंमें कर्मकाण्ड और उपासना-काण्डके प्रवर्त्तक जितने आचार हैं, वे सब दक्षिणा-चार, दिव्याचार और वामाचाररूपी तीन श्रेणियोंमें विभक्त किये गये हैं। उनमेंसे वामाचारकी आचार-पद्धति इसी विज्ञानकी भित्तिपर स्थित है। अतः

ईश्वरार्पितमित्यङ्गिराः ॥ २११ ॥

भावशुद्धिपूर्वक कर्म करना ही धर्म है। ईश्वरस्मरण-पूर्वक ईश्वरमें अर्पित कर्म करनेसे भावकी स्वतः शुद्धि होती है। इस कारण पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराका सिद्धान्त यह है कि, शारीरिक, मानसिक आदि कोई भी कर्म हो, श्रीभगवान्में अर्पण करके भगवत्प्रीत्यर्थ जो कर्म होगा, वह अवश्य ही धर्मशब्दवाच्य होगा॥ २११॥

अब नवाँ मत कह रहे हैं :—

लोकहितकर कर्म धर्म है, यह महर्षि व्यासका मत है॥ २१२॥

व्यष्टि और समष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक ही है। अतः जिस कर्मके द्वारा किसी व्यक्तिका हित होता हो अथवा जिस कर्मके द्वारा जगत्का हित होता हो, व्यष्टि और समष्टिसम्बन्धसे दोनों एक ही है। उसीप्रकार जगत्के साथ जगत्कर्त्ता भगवान्का भी एकत्वसम्बन्ध विद्यमान है। पिपीलिकासे लेकर हस्तीपर्य्यन्त, एक मनुष्यसे लेकर मनुष्यसमाज-पर्य्यन्त सभी समष्टि और व्यष्टिरूपसे भगवान्से सम्बन्धयुक्त हैं। पशु-पक्षीसे लेकर साधारण मनुष्य-सृष्टि पर्य्यन्त और असभ्य मनुष्यसे लेकर उन्नत ज्ञानी मनुष्यतकमे श्रीभगवान्की चित्कलाका तारतम्य रहनेपर भी भगवान् और भगवान्की सृष्टि एकही सम्बन्धसे युक्त है। इसकारण लोकपूजाद्वारा भगवान्की पूजा होती है। इसी प्रकार वसुधा ही अपना कुटुम्ब है, जगत् ही परमात्मा का स्वरूप है, ऐसी बुद्धि रखकर जो छोटेसे छोटा अथवा बड़ेसे बड़ा शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक कर्म किया जाय, वही धर्मशब्दवाच्य होगा। पूज्यपाद महर्षि-वेदव्यास की सम्मति यह है कि, शारीरिक, वाचनिक और बौद्धिक जो कर्म लोकहितकर अर्थात् जगद्धित-कर उद्देश्यसे नियोजित हो, उसको धर्म कहते हैं। जगत्सेवा ही भगवत्सेवा है और भगवत्सेवाका कार्य धर्मकार्य्य होगा, इसमें संदेह ही क्या है? भगवान् वेदव्यासकी सम्मति है :—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

उसके लिये एक व्यापक साधारण लक्ष्य धर्मके विषयमें करानेके लिये ऐसा मत प्रकट करना स्वाभाविक ही है। यद्यपि धर्मके व्यापकलक्षण, विशेष-लक्षण और साधारणलक्षणके विषयमें बहुत कुछ विस्तृत मीमांसा पहले पादमें हो चुकी है, तथापि विभिन्न महर्षियोंके विभिन्न मतसे कौनसा कर्म, धर्म हो सकता है और कौनसा नहीं हो सकता, यह विषय इन सूत्रोंमें विवृत किया गया है॥ २१२॥

अब मतपार्थक्यका कारण कह रहे है :—

संस्कार और अधिकारभेद ही इसका कारण है॥ २१३॥

पूज्यपाद महर्षियोके मतोंमें इस प्रकारका भेद देखकर जिज्ञासुओंको शंका हो सकती है। इस कारण कहा जाता है कि, महर्षियोंका मतभेद वास्तवमें नहीं है। अधिकारियोका संस्कारवैचित्र्य और अधिकारवैचित्र्य ही इसका कारण है। अपन पूर्वजन्मार्जित विभिन्न संस्कार और प्रारब्धजनित अधिकारवैचित्र्यके कारण मनुष्योंका प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तिमें भेद होना स्वाभाविक है। उस भेदके

[क्रमशः]

लोकहितमिति व्यासः॥ २१२॥

संस्काराधिकारभेदोऽत्र हेतुः॥ २१३॥

आवश्यक सूचना

'आर्य-महिला'का यह अङ्क इस वर्षका अन्तिम अङ्क है। इसके साथ आपका साधारण सदस्यताका चन्दा समाप्त हो रहा है। आगामी अप्रेल माससे आर्य-महिला ३३वें वर्षमें पदार्पण करेंगी। इस ३३वें वर्षका प्रथम अङ्क विशेषाङ्क होगा जिसमें श्रीमद्भागवतका एकादश स्कन्ध सम्पूर्ण होगा। आर्य-महिलाके पाठकोंको ऐसा सुन्दर साहित्य बिना मूल्य प्राप्त होगा। अतः निवेदन है कि अपना १९५१-१९५२ का सदस्यता-शुल्क ५) रुपया मनिआर्डर द्वारा शीघ्र कार्यालयमें भेजकर अनुगृहीत करें। आपके सुविधाके लिये मनिआर्डर फार्म इसी अङ्कके साथ लगा हुआ है, शीघ्रता करें। विलम्ब होनेसे आपको इस अङ्कसे निराश होना पड़ेगा। जो सज्जन महापरिषद्के पाँच साधारण सदस्य बना देंगे उनको यह विशेषाङ्क सहित एक वर्ष तक 'आर्य-महिला' बिना मूल्य भेजी जायगी। मनिआर्डर कूपनपर अपना नाम, पूरा पता तथा सदस्य-संख्या साफ-साफ लिखें; नये सदस्य 'नया' ऐसा लिखें।

निवेदक

व्यवस्थापक।

श्री आर्य-महिला-हितकारिणी महापरिषद्

श्रीमहामण्डल भवन, बनारस कैन्ट।

आर्य-महिलाके पाठकोंको अभूतपूर्व उपहार।

आर्यमहिला के २३वें वर्ष के प्रथम अङ्क में श्रीमद्भागवत का एकादशस्कन्ध प्रकाशित हो रहा है। भगवान् वेदव्यासप्रणीत श्रीमद्भागवत में बारह स्कन्ध तीनसौ पैंतीस अध्याय और अठारह हजार श्लोक हैं। इस अद्वितीय महान् ग्रन्थका सारभूत ग्यारहवाँ स्कन्ध मानों सम्पूर्ण ग्रन्थका प्राण है। इस स्कन्धमें सांख्ययोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग आदि सभी विषयोंका सुन्दर सरल विवेचन है और भगवद्भक्तिसे ओत-प्रोत है। यह ज्ञानी, भक्त या कर्मी सभीके लिये समानरूपसे उपकारी है। श्रीआर्य-महिलाहितकारिणी-महापरिषद्के सदस्य सदस्याओं एवं आर्य-महिलाके पाठकोंको यह अनमोल ग्रन्थ विना मूल्य प्राप्त होगा। अतः यदि आप महापरिषद्के सदस्य नहीं हैं, तो आज ही पाँच रुपया मनिआर्डरसे भेजकर महापरिषद्का सदस्य बनिये। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छप रही हैं। अतः शीघ्रता कीजिये अन्यथा निराश होना पड़ेगा। मनीआर्डर कूपनपर अपना नाम तथा पता साफ-साफ लिखें।

निवेदक :—

व्यवस्थापक।

आर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद,

श्रीमहामण्डल-भवन जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

प्रकाशक—श्रीमदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।
मुद्रक—श्रीसुधीरचन्द्र चक्रवर्ती, कमला प्रेस, गोदोलिया बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्‌की मासिक मुखपत्रिका

श्रावण सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ४ | जुलाई १९५१

रघुवर तुमको मेरी लाज,
सदा सदा मैं शरण तिहारी,
तुम हो गरीबनिवाज ॥
पतित उधारन विरद तिहारो,
श्रवणन सुनी अवाज ।
मोसे पतित पुरातन कहिये,
पार लगा दो जहाज ॥
अघखंडन दुःखभंजन
जनको यही तिहारो काज ।
'तुलसीदास' पर कृपा,
करिये भक्तिदान दे आज ॥

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी. एम. ए., बी. टी.

विषय-सूची।

अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

श्रावण सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ४ | जुलाई १९५१

प्रार्थना

और कहँ ठौर रघुवंशमणि मेरे ।

पतित पावन प्रणत पाल अशरण शरणं ।
बाँकुरे विरद विरदैत केहि केरे ॥
कतहुँ नहिं ठाऊँ कहँ जाऊँ कोशलनाथ ।
दीन वितहीन हौं बिकल विनु डेरे ॥
'दास तुलसिहिं' वास देहु अब करि कृपा ।
वस गज गीध व्याधादि जेहि खेरे ॥

आत्म-निवेदन

निर्वाचन और महिलाएँ

भारतीय पवित्र संस्कृति और परम्पराके अनुसार आर्यनारियोंका प्रधान कार्यक्षेत्र, उनका घर ही रहा है। पिता-माता, पति-पुत्र, सास-श्वसुर, अतिथि-अभ्यागत, आश्रित, रोगी आदिकी समुचित सेवा शुश्रूषा, घरकी सुव्यवस्था, भोजनकी सुव्यवस्था सन्तानका पालन, उसकी रक्षा और शिक्षाका कार्य कुलदेवियोंका प्रधान कार्य रहा है। ये कार्य इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि, संसारकी शान्ति, सुख, स्वास्थ्य एवं जीवन इन्हींपर अवलम्बित है। विशेषतः नारियाँ आदिशक्ति जगन्माताकी प्रतिकृति होनेके कारण स्नेहपूर्ण मातृत्व एवं गृहिणीत्व उनके स्वभावमें ओतप्रोत एवं भरपूर है। यह उनको उत्तराधिकारके रूपमें जगन्माताने प्रदान किया है, अतः वे इन कार्योंको जितनी सुन्दरता एवं मधुरतासे सम्पन्न कर सकती हैं और करती हैं, पुरुष वैसा कदापि भी नहीं कर सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने कभी सामाजिक या राजनैतिक कार्योंमें भाग ही नहीं लिया हो। देश और कर्तव्यकी पुकार होनेपर उन्होंने पुरुषोंके कन्धेसे कंधा भिड़ाकर संकटकालमें शस्त्र भी उठाया है, युद्ध भी किया और शत्रुओंके दाँत खट्टे किये हैं। इतिहासको उठाकर उलटिये तो उसमें इनके इस रणरंगिनी चण्डीके रूपका दर्शन होगा, आवश्यकता पड़नेपर इन्होंने शासनसूत्रको भी बड़ी योग्यतासे सम्हाला है। महारानी अहिल्याबाई, महारानी लक्ष्मीबाईके उदाहरण अभी प्रत्यक्ष ही है। आज देश, भारतीय संस्कृति एवं आर्यनारियोंके प्राचीनतम गौरवमय सतीत्वपर घोर सङ्कट है ; अतः आर्यनारियोंको उसकी रक्षा एवं मानवताकी रक्षाके लिये अब सावधानीसे कार्यक्षेत्रमें उतरना चाहिये।

हमारे पूज्यपाद महर्षियोंने सहस्रों वर्ष पहले भविष्यवाणी की थी कि "सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।" अर्थात् कलियुगमें सङ्घशक्तिकी प्रधानता है। आज प्रत्यक्ष देखा जा रहा है, कि बहुमतके द्वारा सर्वनियन्ता ईश्वरका भी तिरस्कार किया जा रहा है। अतः अपनी चिरसञ्चित सतीत्व-सम्पत्ति, धर्म एवं राष्ट्रकी रक्षाके लिये नारियोंको अपने मताधिकारका निःसंकोच होकर अवश्य उपयोग करना चाहिये। वयस्क मताधिकारके अनुसार प्रत्येक इक्कीस वर्षीय महिलाको चुनावमें अपना मत देनेका अधिकार है। आगामी निर्वाचनमें नारियोंको अवश्य अपने इस अधिकारका उपयोग करना चाहिये, और ऐसे व्यक्तियोंको अपना मत (वोट) देना चाहिये जिससे जनता-जनार्दनकी सच्ची सेवा तथा भारतीय पवित्र संस्कृतिकी रक्षा हो सके।

दलबन्दीका दल-दल

आज जहाँ देखिये दलबन्दीही दलबन्दी दिखायी देती है, शायद ही ऐसी कोई संस्था हो जहाँ दलबन्दी नहीं हो। सरकारमें दलबन्दी, प्रत्येक समाजमें दलबन्दी, संस्थाओंमें दलबन्दी, नेताओंमें दलबन्दी, इन दलबन्दियोंके कारण कोई जनहितका कार्य सुचारु रूपसे नहीं होने पाता, न उसकी सुव्यवस्था होने पाती है। सच तो

यह है कि, आज दलबन्दीका संक्रामक रोग हमारे देशमें लग गया है। और यह देखकर तो बड़ा क्षोभ होता है, कि प्रान्तीय शिक्षाविभाग, जिसके सर्वोच्च अधिकारी श्रीमान् बा० सम्पूर्णानन्दजी जैसे विद्वान्, विवेकी एवं विचारशील व्यक्ति हैं, वह अब शिक्षा-संस्थाओंको भी दलबन्दीका दलदल बनाने जा रहा है। क्योंकि अब सरकारी सहायता पानेवाली सभी शिक्षा-संस्थाओंकी प्रबन्ध-समितियोंमें सरकारके तीन प्रतिनिधि सदस्य रहेंगें, प्रत्येक शिक्षा-संस्थाओंके अध्यापकवर्गका एक प्रतिनिधि रहेगा। अतः प्रत्येक शिक्षा-संस्थाओंकी प्रबन्ध-समितियोंमें स्वभावतः ही दो दल बन जायंगे। एक दल इन सरकारी प्रतिनिधियों एवं शिक्षकोंका होगा, दूसरा दल अन्य स्वतन्त्र सदस्योंका होगा। इस सम्बंधकी असुविधाओं एवं बुराइयोंकी ओर अनेक बार शिक्षा-विभागका ध्यान आकर्षित किया गया, अनुनय-विनय किया गया, प्रार्थना की गयी, परन्तु एक नहीं सुनी गयी। शिक्षाविभाग अपने हठपर तुला है। शिक्षा-विभागके इस हठका कुपरिणाम जनताको भोगना पड़ेगा। शिक्षासंस्थाओंको इस दलबंदीके दलदलमें फँस जानेसे उनकी किसी प्रकारकी उन्नति, प्रगति या सुव्यवस्थामें कोई सहायता तो मिल नहीं सकती, किन्तु वे संस्थाएँ अब दलबन्दीका अखाड़ा बन जायंगी जहाँ दो दलोंका चख-चख सदा चलता रहेगा। यह दुर्भाग्यकी बात है, सरकारकी सभी सूझ उलटी होती है, जिससे जनताकी लाभके बदले हानि ही होती है।

चरित्रशीलता

(लेखिका—श्रीमती लक्ष्मीदेवी शर्मा, प्रयाग।)

जीवनकी सबसे अमूल्य निधि चरित्रशीलता है। यही एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा व्यक्तिकी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा प्रत्येक प्रतिष्ठित समाजमें होती है। इसे प्राप्त कर कोई भी पुरुष संसारकी अत्यन्त ही दुर्लभ निधिको भी प्राप्त कर सकता है और संसारके कठिन से भी कठिन कार्यको सुगमतासे कर सकता है। उसमें संसारकी महान्‌से महान् शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, वही संसारका आदर्श पुरुष बन सकता है। चरित्रशील व्यक्ति सांसारिक वैभव प्राप्त न होनेपर भी सदैव सुखी रहता है। ऐसे ही व्यक्तियोंको सभ्य एवं शिक्षित समाजका आदर्श कहा गया है। चरित्र ही किसी देशकी संस्कृतिमें जीवन-संचार करता है। बालकोंकी शिक्षाका अन्तिम उद्देश्य भी चरित्रनिर्माण ही है।

चरित्रगठनका कार्य :—शैशवकालमें बालकके चरित्रगठनकी सामग्री एकत्र होती है। इस अवस्थामें जो संस्कार बालकोंके मनमें पड़ जाते हैं, वे उनके जीवनमें एक विशेष प्रकारका चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। यही संस्कार उसके चरित्रविकासमें सहायक हो सकते हैं अथवा उसकी गतिका अवरोध कर सकते हैं। मनुष्यको चरित्रशील बननेमें निम्नलिखित साहित्योंका भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

कहानियाँ—बालकोंके मनमें शुभसंस्कारोंके डालनेमें कहानियाँ बहुत सहायक होती हैं। कहानियोंके द्वारा बालकोंको उदार, परोपकारी और वीर पुरुष बनाया जा सकता है। बचपनमें बालक जिस प्रकारकी कहानियाँ सुनते हैं, वैसा ही उनके चरित्र-पर प्रभाव पड़ता है। हमारे देशमें प्रतिष्ठित एवं

विद्वान् व्यक्तियोंकी लिखित अनेकों ऐसी कहानियाँ हैं, जिनसे समाजके बालकोंकी मनोवृत्तिपर अच्छा प्रभाव पड़ता है। अतः प्रत्येक मातापिताका कर्तव्य है कि, ऐसी सुन्दर कहानियोंको सीखें और छोटे बालकोंको सुनावें।

वीरगाथाएँ—छोटे बालकोंके चरित्रमें जिसप्रकार कहानियाँ आवश्यक हैं, उसीप्रकार किशोरावस्थाके बालकोंके लिये इतिहास और वीरगाथाएँ आवश्यक हैं। मनुष्यका मन जिसप्रकारके कल्पना-जगत्में भ्रमण करता है, उसका आचरण भी उसीप्रकारका हो जाता है। मनुष्य सदासे अपनेसे बड़ेका अनुकरण करनेके लिये तत्पर रहता है इसीलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अच्छी अच्छी वीर गाथाएँ पढ़ें और अपने बालकोंको भी ऐसे साहित्यों-को पढ़नेका अवसर दें।

इतिहास—चरित्रशील होनेमें इतिहासके अध्ययनका भी बहुतही महत्व है। इतिहाससे बालकोंको अतीत कालका ज्ञान होता है और भविष्यकी तैयारी करनेके लिये योग्यता प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, उन्हें अपने पूर्वजोंके प्रति श्रद्धा और भक्ति होती है साथ ही उनकेद्वारा किए गये कार्योंसे अपने कार्योंमें प्रोत्साहन मिलता है।

वीर पुरुषोंकी जयन्तियाँ तथा देवपूजा—चरित्र-शील होनेमें वीरपुरुषोंकी जयन्तियाँ मनाना तथा देवपूजा भी बहुत सहायक होते हैं। हमारे देशके भूतपूर्व आदर्श पुरुष प्रताप, शिवाजी तथा दयानन्द। सरस्वती, गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा सूरदास, हिन्दीके आदि नेता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा स्वामी शिवानन्द आदि जैसे वीरोंकी जयन्तियाँ उनके जन्मदिवसपर मनानी चाहिये। साथ ही गीता, रामायण तथा महाभारत एवं भागवत आदि धर्मग्रंथोंके पूजापाठ एवं अध्ययनसे भी चरित्र-के ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः शिक्षकोंको चाहिये कि वे बालकोंमें प्रथमावस्थासे ही उक्त विषयोंके पठन-पाठन एवं अध्ययनकी ओर श्रद्धा एवं रुचि उत्पन्न करें और उन्हें हर समय ऐसी शिक्षाएँ दें जिससे उनके हृदयमें अपने पूर्वजों एवं वीरपुरुषों के प्रति निष्ठा एवं ईश्वरके प्रति भक्ति उत्पन्न हों।

चरित्रशीलताके मुख्य अंग—उक्त साहित्योंके अतिरिक्त चरित्रशील बननेके मुख्यरूपसे कुछ ऐसे साधन एवं लक्षण हैं जिनसे ही कोई भी व्यक्ति चरित्रशील एवं प्रतिभाशाली कहा जाता है। ऐसे ही कुछ साधन चरित्रशीलताके मुख्य अङ्ग माने जाते हैं जिनमें मुख्यतः कुछका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) उच्च आदर्श—चरित्रशील होनेमें उच्च आदर्शों का बहुत बड़ा महत्व है। आदर्शहीन मनुष्य कभी भी चरित्रवान् नहीं हो सकता, वह सद्गुणोंसे तो रहित होता है ही, साथ ही उसमें अपनी कमीको जाननेकी भी शक्ति नहीं होती। वह अपनी कमीको न देखकर दूसरोंमें उसे आरोपित करता और अपने दुःखका कारण अपने आपको न समझकर दूसरोंको समझता है। जिस मनुष्यके विचार नियन्त्रित रहते हैं तथा जिस लक्ष्यकी ओर वे अग्रसर होते हैं उसकी क्रियाएँ भी नियन्त्रित रहती हैं और उनका प्रवाह उसी लक्ष्य विशेषकी ओर होता है। अतएव यह तो सर्वथा सत्य है, कि जिस मनुष्यका जितना ही ऊँचा आदर्श होता है, वह उतना ही चरित्रशील होता है। आदर्श, मनुष्यके विचारोंको सूत्रीभूत करता है और उन्हें नियंत्रणमें रखता है।

(ख) अध्यात्मशक्ति—चरित्रशीलताका प्रथम अङ्ग अध्यात्मशक्ति अथवा मानसिक दृढ़ता है। अपने निश्चित लक्ष्यकी ओर पूर्णरूपसे अग्रसर रहना और अनेक बाधाओंके पड़नेपर भी अपने निश्चित मार्गसे विचलित न होना चरित्रशील व्यक्तियोंके आचरणका प्रथम लक्षण है। जब किन्हीं भी दो भावनाओंका हमारे मनमें आविर्भाव होता है, (यथा सिनेमा देखना या अध्ययन करना) तो दोनोंमें हमारे मनके अन्तर्गत द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है जो भावना इस द्वन्द्वमें विजयी होती है, उसके अनुसार शारीरिक व मानसिक क्रियाएँ होने लगती हैं। विजयी भावना वही होती है जो अधिक शक्तिशाली हो। प्रायः ऐसा ही होता है, कि कोई भावना अपने आपमें अधिक शक्ति न होते हुए भी वह द्वन्द्वमें सफल हो जाती है। जैसे, विद्याध्ययन और सिनेमा देखनेकी भावनामेंसे पहली भावना दूसरीसे अपने आप निर्बल होते हुए भी द्वंद्वमें विजयी हो जाती है। उसका एकमात्र कारण है अध्यात्मशक्ति।

यह कार्यका निर्णय करनेवाली अन्तिम शक्ति है यही जिस भावनाको चाहती है, दबा देती है और जिसको चाहती है, उसे शक्तिशाली बना देती है। इसीप्रकार कई बार इस प्रकारके निर्णयसे यह अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती है, जिससे जीवन आदर्शमय हो जाता है। चरित्रशील व्यक्तिका कोई भी निर्णय अध्यात्मशक्तिके प्रतिकूल नहीं होता और जब यह इस प्रकारसे कई बार निर्णय कर चुकती है, तो फिर उसके लिये किसी भी प्रकारका सुन्दरसे सुन्दर एवं उच्च निर्णय कर लेना असाध्य नहीं रह जाता। चरित्रशील बननेमें अध्यात्मशक्तिका बहुत बड़ा स्थान है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको चरित्रशील बननेके लिये अपनी अध्यात्मशक्तिको शुभकामनाओं एवं शुभनिर्णयों द्वारा शक्तिशाली बनाना चाहिये।

(ग) धार्मिकता—अध्यात्मशक्ति धार्मिक विचारों एवं उच्च सिद्धान्तोंपर चलने तथा उनका पालन करनेसे आती है। धर्मही एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा मनुष्यको मानसिक बल मिलता है। धर्मके अंतर्गत सदाचार एवं ईश्वराराधना आदि सभी बातोंका समावेश है। जो व्यक्ति निश्चित सिद्धान्तके ही आधारपर अपनी जीवन-यात्राके लिये प्रस्थान करता है वह अपनी यात्रामें पूर्ण सफल हो सकता है। साथ ही अपने जीवनको सुखमय बना सकता है और दूसरे व्यक्तियोंके लिये भी मार्ग निर्देशक बन सकता है। जिन्हें ईश्वरपर विश्वास है, और जिन्हें अपने प्रत्येक कार्यको करते समय इस बातका आभास होता रहता है कि मेरा प्रत्येक कार्य कोई महान् अदृश्य आत्मा देख रही है, वे अपने लक्ष्यसे कभी भी विचलित नहीं हो सकते। उनमें किसी भी प्रकारकी कायरता एवं अकर्मण्यता नहीं आ सकती। जो व्यक्ति अपने प्रत्येक कर्तव्योंको भलीभाँति जानता है तथा उनके पालन करनेमें सदैव तत्पर रहता है उसकी मानसिक शक्तियाँ दृढ़ हो जाती है और उसकी चित्तवृत्तियोंकी ओर अग्रसर होती हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने किसी भी निश्चित सिद्धान्त पर नहीं चलता और न तो अपने कर्त्तव्योंको ही पहचानता है, उसमें कभी भी मानसिक दृढ़ता एवं धार्मिकता आ ही नहीं सकती। इस प्रकार वह अपने जीवनस्तरको दुर्भाग्य और अकर्मण्यताके अन्धकारमें गिरा देता है।

(घ) आत्मबल—आध्यात्मिकशक्ति तथा मान-

सिक दृढ़ता तथा धार्मिकताका जो स्थान चरित्रशीलतामें है वही स्थान आत्मबलका भी है। जब कोई भी व्यक्ति विवेक-बुद्धिसे कार्य करता है और अपने प्रलोभनकी शक्तियोंको नियन्त्रणमें रखकर उन्हें अपनी लालसावृत्तिको प्राप्त करनेसे रोकता है तभी उसे आत्मबल प्राप्त होता है। अपने आत्मबलके ही द्वारा कोई भी व्यक्ति चरित्रशील हो सकता है। इस प्रकार धीरे धीरे अभ्यासोंद्वारा आत्मबल प्राप्त किया जा सकता है। आत्मबलद्वारा संसारकी अमूल्यनिधियाँ सरलता एवं सुगमतासे ही प्राप्त हो सकती हैं। उसे अपने किसी भी लक्ष्यके साधनमें किंचिन्मात्र भी कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

(ङ) मानसिक रुचि—बालकोंमें उनकी जन्मजात पाशविकतासे मुक्त करनेके लिये ज्ञानकी वृद्धि एवं रुचियोंका विकास करना आवश्यक है। उन्हें अपने अपने अध्ययन या किसी आवश्यक कामोंसे मुक्त होनेपर अच्छे कामोंमें लगाना चाहिये। इस प्रकारसे उनका चरित्र अपने आप उच्च एव उज्ज्वल हो जाता है, और उसमें अच्छे अच्छे कार्योंके करनेकी रुचि उत्पन्न होती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भसे ही बालकको अच्छी अच्छी बातोंका ज्ञान कराया जाय। क्योंकि जबतक कि किसीभी उच्च कार्यका ज्ञान उन्हें नहीं होगा तबतक उस कार्यमें उनकी रुचि ही कैसे हो सकती है? इसीप्रकार जब उन्हें किसी उच्च विषयमें रुचि ही नहीं है तो वे किसी बड़े सामाजिक कार्य एवं व्यक्तिगत चरित्रसुधारको लगनके साथ कैसे कर सकते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे अपनी सन्तानोंमें सर्वोच्च कार्योंके करनेकी रुचि उत्पन्न कर उनकी ज्ञानवृद्धिके लिये उन्नतशील कार्यों एवं मार्गोंका ज्ञान करावें। क्योंकि किसी भी व्यक्तिके चरित्रशील बननेका मुख्य साधन ज्ञानवृद्धि ही है।

(च) उत्तेजना—प्रत्येक व्यक्तिकी चरित्रशीलतामें उत्तेजनाका बड़ा महत्व है। चरित्रके ऐसे अमूल्य गुण यथा—आत्मबल, मानसिक दृढ़ता, धार्मिकता एवं आध्यात्मिक शक्ति तथा धैर्य आदि उत्तेजनासे ही प्राप्त होते हैं। अतः बालकोंको अनेक शुभकार्योंमें प्रोत्साहित एवं उत्तेजित करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। उन्हें जीवनके उच्च आदर्शोंकी ओर अग्रसर होनेके लिये सदैव उत्तेजित करते रहना चाहिये। उनको ऐसे कार्योंके लिये प्रतिक्षण उत्तेजित करना चाहिये जिनके द्वारा मनुष्यका जीवन सुखमय एवं आनन्दमय हो सकता है और जिनके द्वारा मनुष्यको अपने लक्ष्यसाधनमें सहयोग मिल सकता है।

निरुत्साही व्यक्तियोंका जीवन निराशामय बना रहता है। उनकी किसीभी कार्यको करनेमें लगन नहीं देखी जाती। इस प्रकार उनमें अनेकों प्रकारकी आत्मनिर्बलताओंका आविर्भाव हो जाता है और वे अपने उत्साहको नष्टकर कायर बन जाते हैं।

ऊपर मैं चरित्रशीलताके मुख्य मुख्य अङ्गों एवं लक्षणोंकी विशद विवेचना कर चुकी हूँ। इनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्यको चरित्रशील बनाना है। अतः इनका यदि अध्ययन और अपने जीवनके कार्योंमें उपयोग किया जाय तथा इनके ही द्वारा अपने जीवन-लक्ष्यका निर्देश किया जाय तो कोई व्यक्ति चरित्रशील बन सकता है। उसकी आत्मा महान् एवं दृढ़ हो सकती है फिर इस भाँति चरित्रशील बनकर कोई भी व्यक्ति अपने दाम्पत्य एवं सामाजिक जीवनको सुखद एवं आनन्दमय बना सकता है।

मातृजातिका सम्मान करो।

(ले० श्रीमती विद्यादेवीजी)

'माँ' जितना मधुर, मनोहारी और हृदयहारी शब्द है वैसा संसारमें कोई शब्द नहीं। मनुष्यके ऊपर जब कभी कोई गाढ़ विपत्ति आती है या कठिन संकट आ पड़ता है, तब बिना विचारे ही उसके मुखसे 'माँ' शब्द ही झट निकल पड़ता है और 'माँ' की ही याद आती है। साधारण ठेस लगनेसे लेकर घातक भयङ्कर क्लेशके समय भी स्वभावतः 'माँ' शब्द बिना जाने ही मुखसे निकल पड़ता है। दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार शब्द भावके प्रकाशक होते हैं। सभी शब्दोंसे कुछ भाव अवश्य प्रकट होता है। इस अनुभूत सत्यके अनुसार 'माँ' इस एक अक्षरवाले शब्दमें अनन्त स्नेह, अगाध अहेतुक प्रेम, एवं अनन्त शक्ति निहित है, 'माँ' शब्दका उच्चारण करते ही ऐसी एक अतिमधुर, करुणामयी, प्रेममयी, स्नेहमयी दया-वात्सल्यकी मूर्ति हमारे सामने आती है, जिससे हमें विश्वास होता है, कि वह हमारे विपत्तियोंका नाश करेगी, संकटसे उद्धार करेगी, कठिनाइयोंका निपटारा करेगी, विघ्नोंका विनाश करेगी और विपत्ति-आपत्ति-संकटसे जर्जरित प्राणोंको अपने अकृत्रिम स्नेह-सुधासे सिञ्चन करेगी, हमारे अगणित अपराधोंको भूलकर हमें सान्त्वना, शक्ति, साहस और बल प्रदान करेगी। यह धारणा इतना सत्य, स्वाभाविक, सरल एवं सहज है कि प्रकृतिस्थ[illegible] एक अबोध शिशु भी जब किसी कारण विपन्न एवं भयभीत होकर अपनी माताके गोदमें पहुँच जाता है, और अपनेको उसके स्नेह-सिञ्चित अञ्चलसे ढक लेता है, तब वह अपनेको सब ओरसे निरापद निर्भय समझता है। माताका गोद मानों उसके लिये अभेद्य दुर्ग है, सब ओरसे सुरक्षित किला है, जिसमें किसी शत्रुसैन्यका समावेश सम्भव नहीं। केवल इस लोकके मनुष्योंका ही नहीं, संसारके रक्षक देवताओंकी भी यही दशा है। जब उनको अपनी बुद्धि, शक्ति, सैन्य-सामन्त काम नहीं देते, जब वे सब ओरसे निराश एवं हताश हो जाते हैं, तब माताकी ही शरण लेते हैं और वह 'माँ' अपनी शरणागत सन्तानकी रक्षाके लिये, उसको विपत्तियोंसे बचानेके लिये अविलम्ब अपने अट्टहास-से देवताओंको आनन्दित और उत्साहित करती हुई रणरङ्गिनी चण्डिकाके रूपमें आविर्भूत हो जाती है, देवताओंका दुःख दूर करती है, उनको अपने पदोंपर प्रतिष्ठित करती है। ऐसे अनेक उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं। माताकी ऐसी महिमा अनन्त कालसे चली आयी है। इसी कारण सबसे प्राचीन मनुष्यजाति हिन्दूजातिमें माताकी इतनी महिमा है। प्राचीनकालके विद्यालयोंमें "मातृदेवो भव" की प्रथम, उसके अनन्तर "पितृदेवो भव", आचार्यदेवो भव", "अतिथिदेवोभव" आदिकी शिक्षा दी जाया करती थी। यहाँ तककी माता-पिता और आचार्य यदि एक स्थानमें बैठे हों तो सबसे पहले माताको प्रणाम करनेकी आज्ञा शास्त्रकार देते हैं। भगवान् मनुने तो कहा ही है—

"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणाऽतिरिच्यते"

माताकी महिमा सर्वोपरि है, वह साक्षात् जगन्माता का स्वरूप है; इसीकारण तो कहा है, कि जहाँ स्त्रीका अपमान या तिरस्कार होता है, वहाँके सब शुभकार्य निष्फल हो जाते हैं, उस कुलका नाश हो जाता है; इत्यादि अनेक शास्त्राज्ञा इस प्रकारके भरे पड़े हैं।

जब तक हमारे देशमें इस मातृजातिका शास्त्रोक्त सम्मान था, उचित आदर था, वे यथार्थरूपमें गृहस्वामिनी थीं, विधवाओंकी संन्यासीकी तरह पूजा होती थी, उनके तप-त्यागमें सहायता दी जाती थी, कन्या-विक्रय महान् पाप समझा जाता था, कन्याओंको उनके उपयुक्त उत्तम शिक्षा दी जाती थी, और स्त्रीमात्र श्रीजगदम्बाका स्वरूप समझकर पूजित होती थी, तब यह देश धन धान्य, सुख-शान्तिसे परिपूर्ण था, दुःख-दरिद्रता, दीनता-हीनता, अभाव-अशान्तिको यहाँ स्थान नहीं था, सब ओर आनन्द-ऐश्वर्य, सुख-सौख्यका साम्राज्य था और आर्यजाति पृथिवीकी सब मनुष्य-जातिकी पथ-प्रदर्शक गुरु थी।

अब भी जहाँ जिस गृहमें देवियोंका देवीकी तरह सम्मान किया जाता है, उनका उचित आदर किया जाता है, वहाँ श्री-सुख-शान्ति-आनन्द मूर्त्तिमान् दिखायी देते हैं; ऐसा घर साक्षात् अन्नपूर्णाका मन्दिर प्रतीत होता है। परन्तु यह लिखते हुए खेद होता है, कि वर्तमान समयमें नारियोंपर नाना प्रकारके अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं। ऐसे स्वेच्छाचारी नरपिशाचोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, जो अपना स्वेच्छाचारिताकी चरितार्थताके लिये अपनी परमसाध्वी धर्मपत्नी पर या बहू-बेटीपर मनमाना अत्याचार करते हैं, उसको गालियाँ देते हैं, पीटते हैं, नाना प्रकारसे तिरस्कार करते हैं; उनको भोजन-वस्त्रके लिये भी दुःखी करते हैं। भारतीय पवित्र संस्कृतिके अनुसार स्त्री-पुरुष दोनों एकके पूरक होते हैं, स्त्री-पुरुषकी अर्धाङ्गिनी होती है, अतः स्त्रीकी आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मानी गयी है, नीच पुरुषगण इसका दुरुपयोग करते हैं। ऐसे घरोंमें गृहदेवियाँ फटे-पुराने मैले-कुचैले वस्त्रोंमें दीन-हीन दशामें पड़ी रहती हैं और पुरुष उत्तम उत्तम कीमती वस्त्र धारण करते हैं, मनमाना आमोद-प्रमोद भी करते हैं। लड़की-लड़कोंके लालन-पालन भोजन-वस्त्रमें भी भेदभाव किया जाता है; ऐसे भी नरपिशाच हैं, जो स्त्रियोंको मारभी डालते हैं। इनके अत्याचारोंका कहाँतक वर्णन किया जाय! इन सब जघन्य पापोंका जो कुछ फल होना चाहिये,वह तो समयपर परलोकमें या जन्मान्तरमें होगा ही, क्योंकि कर्मका फल उतना ही निश्चित है, जितना दिनके पश्चात् रात्रिका होना, परन्तु समाजके शक्तिशाली नर-नारियोंका यह पवित्र कर्तव्य है, कि वे ऐसे नरपिशाचोंको उचित दण्ड दें, तिरस्कार करें और स्त्रियोंपर होनेवाले अत्याचारों को बन्द करें।

यदि भारत देशको सुख-समृद्धिशाली बनाना है, यदि प्रत्येक गृहको आनन्द-शान्तिका सदन बनाना है, यदि अपनी सन्तानको स्वस्थ, सुन्दर, धार्मिक, देशभक्त बनाना है, यदि पुनः अपना खोया हुआ अतीत गौरव प्राप्त करना है, तो मातृजातिकी जगन्माताके रूपमें सम्मान-पूजा करो, कन्याओंको उत्तम शिक्षा दो, विधवाओंको संन्यासीके समान पूज्य समझो और उनका सम्मान करो। उनके जीवनकी कठिनाइओंको दूर करके, उनकी शिक्षा-रक्षाका उचित प्रबन्ध करो। उनका तिरष्कार या घृणा घोर पाप है। गृहके सर्वाधिकार गृहस्वामिनीके ही हैं, उनमें हस्तक्षेप करनेका किसीको अधिकार नहीं है अतः प्रत्येक गृहमें इसको कार्यान्वित करो। स्मरण रखो कि, व्यक्ति, जाति, राष्ट्र सबका स्वास्थ्य, जीवन, शान्ति, सुख, सम्मान, सन्तानका पालन शिक्षा, स्वास्थ्य, अपना अभ्युदय और निःश्रेयस

जगन्माताकी प्रत्यक्ष प्रतीक इस मातृजातिपर ही सम्पूर्णतया निर्भर है। इसका तिरस्कार-अपमान करके त्रिलोकमें कहीं त्राण नहीं है। अतः अपना एवं अपने राष्ट्रका जो कल्याण चाहते हैं, उन्हें सावधानी एवं तत्परताके साथ नारियोंपर होने वाले विविध अत्याचारोंको दूर करना चाहिये और उनका उचित उच्च सम्मानका पद उनको देना चाहिये, तभी व्यष्टि-समष्टि, समाज, राष्ट्र एवं मानव जातिका यथार्थ कल्याण होगा और यह भारत देश पुनः नन्दनवन बनेगा। दुःख-दरिद्रता दूर होगी, दीनता-हीनता, रोग-शोक, सन्ताप, अशांति दूर होगी। घर-घर श्री-शांतिका साम्राज्य होगा और महामहिमामयी सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी सर्वशक्तिमयी श्रीजगन्माता-की कृपा प्राप्त होगी।

श्रीभगवद् गीता

(हिन्दी पद्यानुवाद)

श्रीमोहन वैरागी

(गताङ्कसे आगे)

(३३)

अपने जिन प्रियजन हित मुझको राज्यभोग वैभव सुख इष्ट।
जीवनकी ममता तज कर सब वही युद्धमें हाय प्रविष्ट॥

(३४)

गुरुजन मित्र पुत्र पौत्रादिक मामा ससुर पितामह वन्द्य।
साले सम्बन्धी ये प्रियजन इन्हें मारना कितना निन्द्य॥

(३५)

अपने प्राणोंकी रक्षा या यह सारा त्रिभुवनका राज्य।
इन्हें मारकर नहीं चाहता अहो क्षुद्र-सा यह साम्राज्य॥

(३६)

इन कौरवगण की हत्यासे पायेंगे क्या हम सुख शान्ति।
केवल पाप लगेगा हमको और रहेगी सदा अशान्ति॥

(३७)

अतः कृष्ण इस कुलविनाशसे सिद्ध न होगा कोई अर्थ।
बन्धु-बान्धवोंकी हत्यासे होगा केवल घोर अनर्थ॥

(३८)

यदपि लोभवश भ्रष्टबुद्धि ये देख न पाते कुलक्षय-दोष।
स्वजनोंसे विरोध करनेमें रहा सदैव इन्हें सन्तोष॥

(३९)

किन्तु मुझे जब कुलविनाशके दोषोंका है सम्यक् बोध।
फिर क्यों दें हम योग युद्धमें क्यों न युद्धका करें विरोध॥

(४०)

कुलविनाश होनेसे केशव होता नष्ट सनातन-धर्म।
धर्म नाश होनेसे कुलमें छा जाता सब ओर अधर्म॥

(क्रमशः)

वर्तमान युग और नारी

[श्री जितराम पाठक, बी० ए०]

आज युगकी पुकारके नामपर चारों ओरसे नारी-स्वतंत्रताकी आवाज उठने लगी है। आजकी नारी तथाकथित पुरुषके पराधीनता-पाशसे मुक्त होनेके लिये व्याकुल है और अपने कल्पित जीवनके स्वप्नजालमें उलझी-उलझीसी दृष्टिगत होती है। समशिक्षा, समाधिकार आदिके लिये आये दिन चर्चा हुआ ही करती है। यहाँतक वे कहने लगी हैं कि, अब यह सम्भव नहीं कि पुरुष कमाएँ और स्त्रियाँ घरमें बैठकर खाएँ; नारीको अपने पैरोंपर आप खड़ा होना है, क्योंकि भावी सामाजिक व्यवस्थामें शिशु-पालन एवं गृहस्थी-सञ्चालन पुरुष तथा स्त्री दोनोंको मिलकर करना है।

हमारी देवियोंका आरोप है कि, वे पुरुषके हाथकी कठपुतली मात्र हैं। उनको कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं। वे पुरुषके टुकड़ोंपर पलनेवाली उसकी (Sex Impulse) की पूर्तिका साधनमात्र है। उन्हें सामाजिक आदर्शोंके बन्धनमें जकड़कर सहज मानवोचित स्वतन्त्रतासे भी वञ्चितकर दिया जाता है। पति, पत्नीके रहते नाना प्रकारके दुष्कर्म करके भी अलांछित ही रहता है, किन्तु यदि उसने इस पथपर पहला कदम भी बढ़ाया कि, उसे कुलटा करार देकर उसके जीवनके साथ खिलवाड़ किया जाता है। इसी सामाजिक विडम्बनाके आधारपर नारीने विद्रोहका झण्डा बुलन्द किया है और अपनी स्वतन्त्रताके लिये जमीन आसमान एक करनेको तैयार है। मुक्तिकी कामना आज उसके नस-नसमें जोर पकड़ रही है।

वास्तवमें देखा जाय तो आजके नारी-जीवनमें

पर्याप्त सुधारकी आवश्यकता है। समाजके दो प्रधान अङ्ग हैं—पुरुष और नारी। अतः नारीको उपेक्षित कर हम आगे नहीं बढ़ सकते। हमारा वास्तविक विकास तभी सम्भव है, जब समाजके दोनों अङ्गोंमें पर्याप्त सुधार हो। इस सुधारके लिये नारीको भी उसके अधिकार देने होंगे। उसकी स्वतंत्रता आजके प्रगतिशील युगमें कोई रोक नहीं सकता। किन्तु, हमें देखना यह है कि, उसे किस तरहके अधिकार मिलने चाहिये? क्या विदेशी सभ्यताके मोहजालमें जकड़ी युवतियोंके सपनोंके संसारको साकार होने दिया जाय? क्या नारी अपने अधिकारोंको अक्षुण्ण बनायें रखनेमें समर्थ हो सकती है? इन अधिकारोंकी समाजपर क्या प्रतिक्रिया होगी? आदि···।

हमारी देवियाँ कहती हैं कि, उन्हें मातृत्वके महत्वके भुलावेमें डाल पराधीनताकी शृङ्खलाको जबर्दस्त बनाया जाता है। उनका आरोप सर्वथा अनुपयुक्त है। नारी मानव-समाजकी माता है। वह उस सरिताके समान है, जो कठिनाइयोंकी चट्टानको चूर करती समाजकी तलहटीमें बहती और उसे सदा हराभरा एवं उर्व्बर बनाए रखती है। आजकी नारी मुलम्मेकी चकाचौंधके समक्ष कुन्दनकी कान्तिकी उपेक्षा करने लगी है। उसे यह नहीं सूझता कि माताका जीवन कितना मधुर तथा आनन्दप्रद है। उसका जीवन त्यागका जीवन है। यही कारण है कि माता मानवके लिये सदासे पूजनीय एवं श्रद्धेय रहा है। प्रेमचन्दजीने ठीक ही कहा है:—"नारी केवल माता है, और उसके उपरान्त जो कुछ है वह मातृत्वका उपक्रम है। मातृत्व संसारकी सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे बड़ी विजय है।" (गोदान)

आजकी विद्रोहिनी नारी हमारे समाजका सबसे प्रधान अङ्ग है। हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। अनादि कालसे ही नारी मानव-इतिहासकी प्रधान नायिका है। एक अज्ञात लेखकके अनुसार मकड़ीके जालेकी भाँति विश्वका इतिहास नारी-केन्द्र-बिन्दुके चारों ओर सिकुड़ता एवं फैलता है। हमारे जीवनको सच्चे अर्थमें जीवन बनानेके लिये रागमयी एवं सौंदर्य-प्रसूता नारीकी नितान्त आवश्यकता है। उसकी अनुपस्थितिमें जीवन विरागमय एवं सूना हो जायेगा। सृष्टिको सौंदर्यमय बनानेका सारा श्रेय नारीको है। 'प्रसाद'जीने 'अजातशत्रु'में कहा है कि नारी सृष्टिरूपी उपवनका पुष्प है, जिसका कार्य है सौंदर्य देना। उनके अनुसार नारी जीवनमें पीयूषकी धारा बनकर उमड़ पड़ती है:—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतलमें पीयूष स्रोत-सी बहा करो जीवनके सुन्दर समतलमें।" अब हमें देखना है कि क्या नारी जिस बराबरीके अधिकारके लिये लालायित है, वह उसका उचित हिस्सा है कि नहीं? क्या दोनोंके अधिकार एक-से हो सकते हैं? गम्भीरता पूर्वक विचार करनेपर यह पता चलता है कि, नारी तथा पुरुषकी स्वतन्त्रता न एक-सी हो सकती है और न होनी चाहिये। इसलिये कि दोनोंकी वैज्ञानिक रचनामें बड़ा अन्तर है। उनके शारीरिक एवं मानसिक संघटनोंमें नैसर्गिक वैषम्यके कारण दोनों को एक-से अधिकार नहीं दिये जा सकते। वैज्ञानिकोंकी मान्यता है कि नारीमें कोमलता एवं भावनाका बाहुल्य है तो पुरुषमें पौरुष एवं कठोरताकी

अधिकता है। अतः दोनों एक तरहके कार्य कर सकनेमें समर्थ नहीं। इसीलिये हमारे प्राचीन पण्डितोंने दोनोंके क्षेत्रको विभाजित कर दिया था। दोनों अपने-अपने क्षेत्रमें स्वतंत्र थे। आज भी हम श्रम-विभाजनकी रीतिके अनुसार दोनोंको एक निश्चित सीमा तक ही अधिकार दे सकते हैं। यदि श्रम-विभाजनकी नीतिको स्वार्थ-मूलक बताकर नारी प्रत्येक क्षेत्रमें अपनी टाँग अड़ाने लगे तो हमारा सारा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन कटु तथा असह्य हो जायगा। नारीके लिये तो "नमाज छुड़ाने गये और रोजा गले पड़ा" वाली कहावत होगी। दोनोंमेंसे किसीका भी जीवन सुखमय नहीं रह सकता। दाम्पत्य जीवनकी भी इतिश्री ही समझ लीजिये। शिशु-पालन एवं गृहस्थी-सञ्चालनमें साम्याधिकार भी खतरेसे खाली नहीं।

आज पाश्चात्य देशोंका अनुकरण कर हमारे यहाँ भी इस तरहके अप्रासङ्गिक विचार उठने लगे हैं और हमारी देवियाँ भ्रान्तिकी ओर बढ़ती जा रही हैं। वे अपनेको सोचती-समझती नहीं। बराबरीके अधिकारके फलस्वरूप यूरोपमें जो भ्रष्टाचार फैला है वह किसीसे छिपा नहीं। आर्थिक प्रश्न हल करनेके नामपर अनेक तरहके पापाचार हो रहे हैं। इङ्गलैण्डकी सम्प्रति बेकारीकी ओर भी हम ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकते।

नारी अपनी स्वतन्त्रताको तबतक स्थायी नहीं रख सकती जबतक वह आर्थिक-क्षेत्रमें स्वावलम्बी न हो जाय। इसके लिये आफिसकी खाक छाननी ही होगी। पति-पुत्रकी डाँट यदि बर्दाश्त नहीं होती तो बड़े बाबूकी झिड़की लेट होनेपर सुननेका आदी होना ही पड़ेगा।

अन्तमें कहना यह है कि, हर बातमें यूरोपकी नकल ठीक नहीं। किसीमें सब गुण ही नहीं होते। हम पच्छिमी सभ्यतामें आदान-प्रदान कर सकते हैं, उसका अनुकरण नहीं। वह पूर्वजद्वारा बतायी गयी लीकका अनुसरण करें। वह गुमराह न हो। किन्तु, इसके साथ ही उसके मौलिक अधिकारोंको भी भुलाया नहीं जा सकता। उसके अधिकार उसे देने ही होंगे। नारी अंतमें नारी है। सब कुछ होते हुए भी वह मातृत्वके लोभका संवरण नहीं कर सकती। रागमय जीवनसे वह अपना पल्ला नहीं छुड़ा सकती। उसे जीवनमें सेवा एवं त्यागका व्रत इसलिये लेना होगा कि वह शाश्वत प्रेमका आविर्भाव कर सके। वह सौंदर्यमयी अवश्य है मगर इससे शाश्वत प्रेमका सृजन नहीं हो सकता। दाम्पत्य जीवनको सुखमय बनानेमें ही उसके लक्ष्यकी चरम परिणति है। प्रणय एवं परिणयका मूल्य इसीमें निहित है। नारी अपने अधिकारके लिये पुरुषसे होड़ न लगाये। उसे उसके मौलिक अधिकार निश्चय ही मिलेंगे और नारी सच्चे अर्थमें स्वतन्त्र होगी। प्रेमचन्दजीने गोदानमें कहा है :—"पुरुषमें नारीके गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है और यदि नारीमें पुरुषके गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है।"

भगवत्पूज्यपाद श्रीजगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वरका मार्मिक उपदेश

धर्महीन शिक्षाने आत्मगौरव नष्ट कर दिया है।

ब्राह्मणका धन है तप, क्षत्रियका धन है बाहुबल, वैश्यका धन है द्रव्य और शूद्रका धन है कला-कौशल और सेवावृत्तिमें निपुणता। यदि ब्राह्मण तपसे हीन है तो वह अरब-खरबपति भी क्यों न हो जाय, वह तो धनी नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार कोई वैश्य यदि कंगाल है, तो वह भी धनी नहीं कहा जा सकता। अपने धनसे जो धनी है, वह धनवान् है, और दूसरेके धनसे मँगनीके धनसे कोई धनवान् बनना चाहे तो यह रईसी कितने दिन चलेगी ?

आजकल धर्महीन शिक्षा होनेके कारण प्रायः कर्त्तव्याकर्त्तव्यका बोध ही नहीं रह गया है और इसीलिये सारी व्यवस्था बिगड़ रही है। लोगोंका दृष्टिकोण सङ्कीर्ण हो गया है। ब्राह्मण तपका महत्व भूल गये। जिसके कारण वे कौपीनवन्त रहते हुए भी महाप्रतापी चक्रवर्ती नरेन्द्रोंको भी बनाने बिगाड़नेमें समर्थ रहते थे, उस शक्तिसञ्चयके साधन तपकी ओरसे उपेक्षा होनेका ही फल है, कि आज गली गली सेठोंका लड़का खिलाते ठोकर खाते फिर रहे हैं।

ब्राह्मण और साधु ही समाजके मुख माने जाते हैं। सारा अङ्ग स्वर्णका हो जाय और मुँहपर एक धब्बा (कुष्ठका) रह जाय तो कोई उसे सुन्दर नहीं कहेगा। मुख पहले स्वच्छ रहना चाहिये क्योंकि सामने पहले वही आता है। इसलिये ब्राह्मणों और साधुओंको अपने धनसे धनी होनेका प्रयत्न करना चाहिये, तप करना चाहिये और दैवीशक्तिका सम्पादन करना चाहिये कुछ हो या न हो, पर कमसे कम विश्वम्भरपर ही विश्वास करो या अपने भाग्यपर ही भरोसा रखो। कमसे कम पेटके लिये तो दरवाजे दरवाजे धक्का खाते मत फिरो। इतनी हीनता उठानेसे तो मर जाना ही अच्छा। स्मरण रखो कि तुम व्यास-वशिष्ठ अत्रि-अङ्गिरा आदि समर्थ त्रिकालज्ञ महर्षियोंकी सन्तान हो, अभीतक उन्हींके नामसे तुम्हारे गोत्र चले आ रहे हैं तो कमसे कम उनकी तो इज्जत बचाओ। राजकुमार होकर दरवाजे दरवाजे धक्का खाये, यह तो शोभा नहीं देता। ब्राह्मण होकर साधु होकर भगवान्के कहलाकर टुकड़ोंके लिये धक्का खाना बड़ी भद्दी बात है। ब्राह्मणों-साधुओंको "तृणवन्मन्यते जगत्" होना चाहिये।

"लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेच्छम्" लक्ष्मीजीकी हजार बार गरज हो तो आये, नहीं तो चली जायें, उसके लिये हमें दीन नहीं होना है। लक्ष्मीपति भगवान् हमारे बने रहें, और हमें कुछ नहीं चाहिये—यह वृत्ति ब्राह्मणोंकी होनी चाहिये। विचारसे धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्यके अनुकूल कार्य किया जाय तो लोकमें भी सिर ऊँचा रहेगा और परलोक भी उत्तम बनेगा।

× × × ×

मनमानी तो कर सकते हो परन्तु मनमाना फल नहीं ले सकते।

मनुष्य कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगनेमें परतन्त्र है। चोर यदि चाहे तो चोरी करे और न चाहे तो न करे, परन्तु चोरी कर लेनेपर उसका फल वह अपनी इच्छाके अनुसार नहीं भोग सकता, फल भोगनेके लिये तो उसे न्यायालयके अधीन ही रहना पड़ेगा। न्यायाधीश जैसा फैसला करेगा, उसीके अनुसार उसे दण्ड भोगना पड़ेगा।

शास्त्रोंने मनुष्यके लिये स्पष्ट आज्ञाएँ दी हैं, कि यह करो, यह न करो। इसीसे मालूम होता है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, वह सब प्रकारके कर्म कर सकता है. इसीलिये शास्त्रका आदेश है कि कहीं मनुष्य ऐसे कर्म न करे जिसके परिणाममें दुःख भोगना पड़े। मनुष्यको दुःखसे बचानेके लिये ही विधि-निषेधात्मक शास्त्र हैं। जिन कर्मोंका फल दुःखद होता है, उन्हें ही अशुभकर्म या पापकर्म कहा गया है। मनुष्य प्राप्त करके दुःखका भागी न बने, यही शास्त्रकी उपयोगिता है। यदि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं तो कर्तव्यविधेयक शास्त्र ही व्यर्थ हो जायँ क्योंकि जो कार्य करनेमें समर्थ होता है, उसीको आज्ञा दी जाती है। अपने मरे हुए नौकरसे कोई नहीं कहता कि एक गिलास जल पिला दो; क्योंकि जानता है कि, वह उठकर जल नहीं पिला सकता। इसी प्रकार जो कर्म करनेमें समर्थ होता है, उसीको आज्ञा दी जाती है।

सिद्धान्त यही निकलता है, कि नवीन कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है और जो कुछ वह पूर्वजन्मोंमें या इस जन्ममें पहले कर चुका है, उन कर्मोंके फल भोगनेमें परतन्त्र है। उन कर्मोंका जो फल परमात्मा देगा, वह उसको भोगना ही पड़ेगा।

जब कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, तो फिर शुभकर्म ही करना चाहिये। शुभकर्म अधिक बढ़ जायगा तो मलिन वासनाएँ भी क्षीण पड़ जायगी फिर अधिक शुभ कार्य होंगे। इसलिये ऐसा नहीं सोचना चाहिये, कि ईश्वर करता है, वही हम करते हैं।

× × × ×

दैव दैव आलसी पुकारा—

पुरुषार्थहीन लोग कर्म करनेके लिये भी ईश्वरको प्रेरक मानते हैं। प्रारब्ध काम करता है, यह ठीक है, परन्तु प्रारब्धके सहयोगकी एक सीमा है। प्रारब्ध यहाँतक कर सकता है कि कोई लाकर ग्रास मुखमें डाल दे। मुखमें पड़ा हुआ ग्रास भी चबाकर जबतक निगला न जायगा, तबतक बेकार है। इसीलिये बिना पुरुषार्थके प्रारब्ध भी नहीं भोगा जा सकता। इसीलिये विहित पुरुषार्थ करो। अधिकार-अनधिकार विचारपूर्वक कार्य करो और ऐसे ही कार्य करो जिनका फल भोगनेमें कष्ट न हो।

(श्रीशङ्कराचार्य उपदेशसे उद्धृत।)

सच्ची समता

दूसरेके साथ हमें कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें भगवान् व्यासकी यह आज्ञा है कि, "आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।" अर्थात् जो बर्ताव अपनेको प्रतिकूल हो, उसका व्यवहार दूसरोंके साथ कभी नहीं करना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें इसका सीधा तात्पर्य यह है, कि दूसरोंके साथ वही बर्ताव करना चाहिये, जो हम दूसरोंसे अपने लिये चाहते हैं। यही सच्ची समता है।

नेहरूजी अपना पुरस्कार वापस लें।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्की सञ्चालिका और अखिलभारतीय महिला-सङ्घकी अध्यक्षा श्रीमती विद्यादेवीजीने नेहरूजीके कांग्रेस कमेटीकी रिपोर्टके सम्बन्धसे हिन्दूकोडबिलकी चर्चा की है, उसका प्रबल विरोध करके निम्नांकित वक्तव्य दिया है। —सम्पादिका।

प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरूजीने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीको जो रिपोर्ट दी है, जो ता० ८-७-५१ की अमृतबाजार पत्रिकामें प्रकाशित हुई हैं, उसमें उन्होंने हिन्दूकोडबिलके विषयमें कहा है कि,—"मैं निश्चित रूपसे हमारी महिलाओंको पिछड़ी हुई नहीं कहता। उन्होंने जातीय स्वातन्त्र्य-संग्राममें महत्वपूर्ण भाग लिया और अनेक क्षेत्रोंमें उन्होंने बड़ी योग्यतासे कार्य किया है। यह सत्य है कि, उनको अनेक सामाजिक असुविधाओंके भीतर रहना पड़ता है और राजनैतिक क्षेत्रमें भी उनको वह स्थान नहीं प्राप्त है, जिसके वे योग्य हैं। मैं समझता हूँ कि, किसी जातिकी उन्नति पुरुषोंसे अधिक वहाँकी महिलाओंपर निर्भर रहती है। कुछ दिनोंसे हिन्दू महिलाओंकी असमर्थता दूर करनेके लिये एक कानून धारासभाके सामने है, मैं आशा करता हूँ कि हिन्दूकोडबिल शीघ्र ही पास हो जायगा।" श्रीनेहरूजीके इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है, कि स्वातन्त्र्य-संग्राममें हिन्दू महिलाओंने जो त्याग एवं बलिदान किये, उसका पुरस्कारस्वरूप उनको हिन्दूकोडबिल दिया जा रहा है। इस विषयमें हम श्रीनेहरूजीसे स्पष्ट कह देना चाहती हैं कि, हिन्दू महिलाएँ जिनके नसोंमें सती सीता, सावित्री, अरुन्धती, अनुसूया, लोपामुद्राआदि महाभागाओंके पवित्र रक्त प्रवाहित होते हैं और जो इन देवियोंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करनेमें ही अपना परम गौरव समझती हैं, वे हिन्दू महिलाएँ श्रीनेहरूजीके इस पुरस्कारको कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती है। हिन्दूकोडबिल हिन्दू महिलाओंके लिये पुरस्कार नहीं, तिरस्कार और अभिशाप है। इसके द्वारा हमारी चिरसञ्चित सतीत्व-सम्पत्ति, सम्मान एवं अतीत गौरव सदाके लिये समाप्त हो जायगा। इसी कारण हम इस काले कानूनका प्रारम्भसे तीव्र विरोध करती आयी हैं और तब तक इसका प्राणप्रणसे विरोध करेंगी, जब तक यह सर्वदाके लिये समाप्त नहीं कर दिया जायगा। खेदसे कहना पड़ता है कि, श्रीनेहरूजी विदेशी वातावरणमें लालित-पालित और शिक्षित हुए हैं, अतः उनके मस्तिष्कमें पश्चिमी स्त्रियोंका आदर्श भरा रहनेसे वे हिन्दू नारियोंकी पवित्र भावना समझ ही नहीं सकते हैं; अपने जाति-धर्म एवं पदगौरवका स्वाभिमान रखनेवाली हिन्दू नारियाँ उस पश्चिमी आदर्शको कभी भी अपने हृदयोंमें स्थान नहीं दे सकती हैं। हम केवल अपना अतीत गौरव प्राप्त करना चाहती हैं; किसी अन्य देशका उच्छिष्ट खाना नहीं चाहतीं। भारतीय पवित्र संस्कृतिमें महिलाओंका जो सर्वोच्च सम्मान-पूर्ण स्थान, अधिकार एवं गौरव है, उसकी संसारमें कहीं भी तुलना है, हिन्दू महिलाएँ अपने इस स्थानको प्राप्त करनेके लिये सचेष्ट हैं।

श्रीनेहरूजी यदि महिलाओंको राजनीतिक क्षेत्रमें उनके योग्य स्थान वस्तुतः देना चाहते हैं, तो केन्द्रीय तथा प्रांतीय मन्त्रिमण्डलोंमें तथा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय संसदोंमें महिलाओंको आधा स्थान दें। यही उनका उचित सम्मान एवं पुरस्कार हो सकता है।

हिन्दूकोडबिल तो एकमात्र धोखेकी टट्टी है। इससे हिन्दू महिलाओंका सर्वनाश निश्चित है। अतः नेहरूजी अपना यह पुरस्कार कृपया वापस लें।

महापरिषद्-सम्बाद

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की प्रबन्ध-समितिकी बैठक ता० ४—६—५१ को बाबू किशोरीरमण प्रसादजीकी अध्यक्षतामें हुई थी। इसमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुये।

सर्वसम्मतिसे उप समितिकी रिपोर्टके अनुसार विद्यालयकी निम्नलिखित नियुक्तियाँ स्वीकृत हुईं।

१—कुमारी विद्यावर्मा बी० ए० एल० टी०, सहायक अध्यापिका।

२—कुमारी नीति लाहरी बी० ए० बी० एड०, सहायक अध्यापिका।

३—कुमारी अमिता राय बी० ए० बी० एड०, सहायक अध्यापिका।

४—कुमारी करुणा घोष बी० ए० बी० एड०, सहायक अध्यापिका।

५—श्रीमती कलावती द्विवेदी बी० ए० बी० एड०, सहायक अध्यापिका।

६—श्रीमती प्रियम्बदा शर्मा बी० ए० बी० एड०, सहायक अध्यापिका।

७—श्रीविश्वनाथ जगन्नाथ जोसी सङ्गीतरत्न, सङ्गीत शिक्षक।

८—श्रीमती चरणकुमारी माथुर एच० एस० तथा इन्टरमेडिएड परीक्षाकला, बम्बई, ड्राइङ्ग शिक्षिका।

९—श्रीमान् नरेन्द्रलाल देव, सहायक लेखक।

उपरोक्त सब नियुक्तियाँ ७—७—५१ से १ वर्षके परीक्षाकालपर स्वीकृत हुई हैं।

वाद्यशिक्षकके पदके लिये आनन्दचरण अधिकारी संगीत-रत्नका प्रार्थनापत्र बिना तारीखका उपस्थापित हुआ। निश्चय हुआ कि उपसमिति इनका साक्षात् करके यदि योग्य समझे तो नियुक्ति करके इस समितिको सूचित करे।

प्रिंसपलकी रिपोर्टसे विदित हुआ कि बसकी वर्तमान दरसे विद्यालयको आर्थिक क्षति हो रही है। अतः निश्चय हुआ कि आगामी जुलाईसे प्रत्येक दरमें १) रुपया मासिक वृद्धि की जाय।

प्रिंसपलकी रिपोर्टसे विदित होता है कि छात्रावासके वर्तमान शुल्कमें भी घाटा पड़ता है अतः निश्चय हुआ कि आगामी जुलाई माससे निम्नलिखित शुल्क लिया जाय—

भोजन खर्च २१।।), बिजली १।।), कमरेका किराया प्रतिछात्रा २) मासिक, चिकित्साशुल्क २) प्रवेश शुल्क ५)।

कुमारी कुसुम शर्माका अवकाश सम्बन्धी प्रार्थनापत्र २—६—५१ का प्रिंसपलकी रिपोर्टके साथ उपस्थापित हुआ। निश्चय हुआ कि १५—५—५१ से ७—७—५२ तक इनको बिना वेतनका अवकाश दिया जाय।

श्रीमिथिलेशकुमारी श्रीवास्तवका प्रार्थनापत्र २१—५—५१ का प्रिंसपलकी रिपोर्टके साथ उपस्थापित हुआ। निश्चय हुआ कि इनकी नियुक्ति ७—७—५१ से एक वर्षके परीक्षाकालपर वेतनक्रम ७५—५—११० इ० बी० ६—१४०—इ० बी०—७—१७५ पर की जाय।

महापरिषद्का अप्रेलमासका आय-व्ययका हिसाब उपस्थापित हुआ और स्वीकृत हुआ।

बलराज दूबेका ता० १—४—५१ का प्रार्थनापत्र उपस्थापित हुआ। निश्चय हुआ कि जिस तारीखसे यह काम करता है, उससे इसकी नियुक्ति चपरासीके कार्यके लिये २५) रु० वेतन और १०) रु० मँहगाई-पर १ वर्षके परीक्षाकालपर की जाय।

प्रिंसपलकी शिफ़ारिसके अनुसार निश्चय हुआ कि रामदुलार चपरासीका वेतन जुलाई माससे ५) रुपया मासिक बढ़ा दिया जाय यह भी निश्चय हुआ कि दाइयोंका वेतन १) मासिक जुलाईसे बढ़ा दिया जाय।

कर्ममीमांसादर्शन ।

[गतांकसे आगे]

कारण साधन-शैलीके अलग-अलग मार्गोंमें रुचि होना भी स्वाभाविक है। उसीके अनुसार जगत्-कल्याणबुद्धिसे कृपालु धर्माचार्य महर्षियोंने अलग अलग मार्गका निदर्शन कराया है। जिसको जिस मार्गसे अग्रसर होनेका सुभीता होगा, वह उसी मार्गसे अग्रसर हो सकेगा। सबका पहुँचना या तो अभ्युदयभूमि या निःश्रेयस भूमिपर ही होता है॥ २१३॥

उसका दूसरा कारण कह रहे हैं :—

सर्वजीवहितकारी होना भी इसका कारण है ॥ २१४ ॥

धर्मका विराट् स्वरूप और उसकी व्यापक सत्ता ब्रह्माण्ड, पिण्ड, जड़, चेतन सबमें समानरूपसे रहकर सृष्टिकी रक्षा करती है। परन्तु मनुष्ययोनिमें उसका आधिपत्य विलक्षण है। मनुष्य जब पञ्चकोषोंकी पूर्णताको प्राप्त करके अपने पिण्डका अधीश्वर हो जाता है, तब उसको धर्मशक्तिका अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है।

चेतनजगत्में धर्मकी नियामिका शक्तिकी पूर्णता दृष्टिगोचर हुआ करती है। व्यष्टिसृष्टिके क्रमके अनुसार जीवभावका विकास उद्भिज्जयोनिसे प्रारम्भ होकर जीव क्रमशः स्वेदज, अण्डज और जरायुजके अन्तर्गत लाखों योनियोंमें घूमता हुआ मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है। उद्भिज्जयोनिमें अन्नमयकोष, स्वेदजमें प्राणमयकोष, अण्डजमें मनोमयकोष, जरायुजकी पशुयोनियोंमें विज्ञानमयकोष और मनुष्ययोनिमें आनन्दमयकोषका विकास हुआ करता है। अर्थात् उद्भिज्जमें एक, स्वेदजमें दो, अण्डजमें तीन, जरायुज पशुओंमें चार और मनुष्योंमें पाँचों कोषोंका विकास होकर पूर्णता हुआ करती है। परन्तु नीचेकी योनियोंमें अन्य कोष गौण रहते हैं। यह सब धर्मकी ही शक्ति है, जिससे जीव प्रकृतिराज्यमें क्रमोन्नत होता हुआ मनुष्ययोनितक पहुँचता है। इसलिये भगवान् वेदव्यासजीने जीवोंकी क्रमोन्नतिको लक्ष्य करके कहा है :—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह ।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम् ॥

धर्मके द्वारा ही समस्त जीव क्रमोन्नति लाभ करते हुए अन्तमें परमपदको प्राप्त करते हैं।

जड़राज्यके समस्त जीव प्रकृतिके अधीन होनेके कारण इनमें धर्मका विकास प्रकृतिकी सहायतासे प्राकृतिकरूपसे हुआ करता है। केवल चेतनराज्यके जीव मनुष्यमें ही कर्म करनेकी स्वतन्त्रता और विचारशक्ति होनेसे उसमें धर्मका विकास स्वतन्त्रताके साथ पूर्णरूपसे हो सकता है। अतएव मनुष्य ही धर्मसाधनका अधिकारी है। श्रीभगवान् वेदव्यासने महाभारतमें कहा है :—

सर्वजीवहिकारित्वं च धर्मस्य ॥२१४॥

मानुषेषु महाराज! धर्माऽधर्मौ प्रवर्ततः।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नाऽऽत्मानं सादयेन्नरः।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात! शोभनम्॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते!
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥

मनुष्यमें ही धर्म और अधर्मकी प्रवृत्ति ठीक ठीक हुआ करती है। मनुष्योंसे इतर जीवोंमें इस प्रकार नहीं होती। अत्यन्त दुःखी होनेपर भी मनुष्यको खिन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि चाण्डाल होनेपर भी मनुष्ययोनि और योनियोंसे उत्कृष्ट है। यही प्रथम योनि है, जिसको प्राप्त करके मनुष्य शुभकर्म करता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है।

उद्भिज्जसे लेकर पशुपर्यन्त जड़राज्यके सकल जीवकोषोंके विकासके अनुसार प्राकृतिकरूपसे धर्म-विकासको प्राप्त किया करते हैं। एकमात्र अन्नमय-कोषका विकास होनेसे ही उद्भिज्जमें ऐसी शक्ति देखी जाती है कि, शाखामात्रके रोपणसे वह शाखा वृक्षरूपमें परिणत हो जाती है। इस प्रकारकी उद्भिज्जकी शक्ति धर्मके किञ्चित् विकासका ही सूचक है। स्वेदजमें प्राणमयकोषके विकासके साथ साथ जो बहुत प्रकारकी प्राण-क्रियाएँ देखनेमें आती हैं; यथा—रोगोंके कीटोंसे शरीरमें व्याधि होना अथवा देशमें महामारी फैलना और खूनके सफेद कीटोंके द्वारा व्याधियोंका नाश होना, वे सब स्वेदजयोनिमें धर्मके विकासका ही परिचायक हैं। अण्डजमें मनोमयकोषके विकासके साथ साथ प्रेम, द्वेष आदि वृत्तियोंका विकास होना भी धर्मशक्तिके विकासका ही फल है। जरायुजमें विज्ञानमयकोषके विकासके साथ ही साथ पशुओंमें धर्मविकाससे बहुत प्रकारकी बुद्धि-वृत्तिके लक्षणका प्रकाशित होना तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है। हाथी, घोड़ा और सिंह आदि उन्नत पशु बुद्धिके कार्योंको अपने अपने अधिकारके अनुसार बहुत अच्छी तरह करते हुए दिखायी देते हैं। यह सब धर्मके विकासका ही प्रत्यक्ष लक्षण है। इस तरह प्राकृतिकरूपसे धर्मविकासको प्राप्त करता हुआ जीव अन्तमें मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है।

जड़राज्यके जीव प्रकृतिके पूर्णतया अधीन होनेके कारण प्रकृतिमाता उनको शिशुवत् गोदमें लालन-पालन करती हुई मनुष्ययोनितक पहुँचा देती है। इसी कारण प्रकृतिका ही पूर्ण प्रतिभाव्य (जिम्मेवरी) होनेके कारण ये जीव पाप-पुण्यके भागी नहीं होते। परन्तु मनुष्ययोनिमें आकर अहङ्कारके बढ़ जानेसे मनुष्य स्वतन्त्र होकर कर्म किया करता है और प्रकृतिके अनुशासनका उल्लङ्घन करके यथेच्छ इन्द्रियसेवादिमें प्रवृत्त हो जाता है। जड़राज्यमें रहते समय प्राकृतिक नियमानुसार आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि क्रिया नियमितरूपसे हुआ करती थी, वह मनुष्ययोनिमें प्रकृतिपर आधिपत्य लाभ करनेके कारण अनियमित हो जाती है। इसीका यह फल है कि, जीवकी जो क्रमोन्नतिकी धारा उद्भिज्जयोनिसे मनुष्ययोनिके पूर्वतक बनी हुई थी, वह यहाँ बाधा प्राप्त होनेसे पुनः नीचेकी ओर जाने लगती है। यह धर्मकी ही शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्यकी यह अधोमुखिनी गति रुककर ऊर्ध्वमुखिनी हो जाती है। इसी कारण सनातनधर्म पृथिवीके सब धर्म-मार्गोंका पितास्वरूप है। वह स्वाभाविक और

प्रकृतिसहजात है। धर्म ही मनुष्यको मनुष्यधर्मकी विधि, वर्णधर्मकी विधि, आश्रमधर्मकी विधिआदिसे क्रमशः उन्नत करता हुआ अन्तमें मुक्तिपदको प्राप्त कराता है। अतः प्रकृति-प्रवाहके अनुकूल चलकर क्रमशः उन्नतिको प्राप्त करते हुए अन्तमें मुक्तिलाभ करना ही धर्म है और प्रकृतिके प्रतिकूल चलकर अवनतिको प्राप्त करना अधर्म है। इस प्रकारसे धर्मकी धारिकाशक्ति सहजपिण्डके जीवोंमें स्वाभाविक संस्कारको लेकर प्रकृतिके स्वभावके अनुसार उद्भिज्जादि योनियोंका अभ्युदय कराती है। उसके अनन्तर मनुष्ययोनिमें वही शक्ति असभ्य किरातसे अनार्य और अनार्यसे आर्यजातिमें पहुँचाकर और असभ्यतासे सभ्यताकी अवस्थामें लाकर क्रमशः अभ्युदयमार्गमें अग्रसर करती रहती है और अन्तमें वह जगन्नियामिका शक्ति मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्रदान करके निःश्रेयसका मार्ग बताती है। तत्पश्चात् उसे आत्मज्ञानका अधिकारी बनाकर उच्चज्ञानभूमिमें पहुँचा देती है। यही धर्मकी सर्वजीवहितकारिणी शक्ति और उसकी असीम महिमा है। मानवधर्मके बहत्तर अङ्ग और अनेक उपाङ्गोंमेंसे कुछ कुछ अङ्ग और उपाङ्गोंका अवलम्बन करके अनेक अवैदिक धर्ममत और धर्मपन्थ जगत्में प्रकाशित हुए हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे और वे अपने अपने अधिकारके अनुसार तत्तत् अधिकारी जीवोंका अभ्युदय कराते रहते हैं और कराते रहेंगे। यही धर्मका सर्वजीवहितकारित्व है। ऐसे सर्वजीवहितकारी धर्ममें जबतक अधिकारभेद न रहे, तबतक वह सर्वजीवहितकारी नहीं बन सकता ॥२१४॥

अब प्रसङ्गसे उसका सर्वोपरि महत्त्व कह रहे हैं—

वह सर्वधारक है ॥२१५॥

सृष्टिके समस्त पदार्थोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक जड़ और दूसरा चेतन। अतः इन दोनों पदार्थोंको जिस ईश्वरीय शक्तिने धारण कर रखा है, उसको धर्म कहते हैं। भगवान् वेदव्यासने पातञ्जल-योगके भाष्यमें और भी वर्णन किया है :—

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः।

धर्मीकी योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है अर्थात् जड़ या चेतन, किसी भी पदार्थमें जिस शक्तिके न रहनेसे पदार्थकी सत्ता ही नहीं रहती, उस शक्तिका नाम धर्म है। जैसा कि, अग्निका उष्णत्व, जलका द्रवत्व, चुम्बककी लौहाकर्षणशक्ति इत्यादि। इसी विज्ञानको चेतनपदार्थमें भी घटा सकते हैं। यथा :—मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है। अर्थात् जिस शक्तिके विद्यमान रहनेसे मनुष्य मनुष्यपदवाच्य हो सकता है, वही शक्ति उसका धर्म है। इसीप्रकार पशुका धर्म पशुत्व, ब्राह्मणका धर्म ब्राह्मणत्व और शूद्रका धर्म शूद्रत्व इत्यादि। अतः इस विज्ञानसे यह पूर्णतया सिद्ध हुआ कि, धर्मकी अलौकिक शक्तिके द्वारा ही समस्त विश्वब्रह्माण्ड सुरक्षित हो रहा है।

प्रकृतिके विशाल-राज्यमें धर्मकी लीला देखकर हृदयवान् व्यक्ति चकित होते हैं। इस विराट्के

स हि सर्वधारकः ॥२१५॥

गर्भमें कितने ही कोटि कोटि ब्रह्माण्ड सुशोभित है, जिनकी संख्या करना असम्भव है। महानारायणोपनिषद्में वर्णित है :—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येता-

दृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति। इत्यादि ॥

इस ब्रह्माण्डके चारों ओर और भी अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड देदीप्यमान हैं। हरएक ब्रह्माण्डमें कितने ही ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु, शशी, सूर्य, नक्षत्र अपनी अपनी कक्षामें घूम रहे हैं और ये सब जीवलोक हैं। परन्तु धर्मकी ऐसी धारणा करनेवाली शक्ति है जिसके द्वारा सब ग्रह-उपग्रहोंमें आकर्षण-विकर्षण-शक्तिका सामञ्जस्य होनेसे कोई कक्षाच्युत नहीं होते। विशाल ग्रहके अधिक आकर्षणसे छोटा ग्रह उसके गर्भमें प्रविष्ट होकर नष्ट नहीं होता। यहाँ धर्मकी विश्वधारण करनेवाली शक्तिका ही फल है। यह बात पाश्चात्य विज्ञानसे भी सिद्ध है कि, प्रत्येक परमाणुमें आकर्षण और विकर्षण दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। स्थूलजगत्की सृष्टिके समय आकर्षणशक्तिका आधिक्य होनेसे परमाणु आपसमें मिलकर स्थूलजगत्की उत्पत्ति करते हैं। इसीतरह प्रलयके समय विकर्षणशक्तिका प्राबल्य होनेसे सब परमाणु पृथक् पृथक् होकर स्थूलजगत्का लय किया करते हैं। परन्तु स्थितिकी दशामें आकर्षण और विकर्षणका सामञ्जस्य रहा करता है। इस सामञ्जस्यका रखना धर्मकी धारिकाशक्तिका ही कार्य है, जिससे स्थितिकी दशामें इस वैचित्र्यमय संसारकी मधुर लीला देखनेमें आती है।

धर्म-विज्ञानके स्वरूपको और भी अच्छी तरह समझनेके लिये धर्मकी धारिकाशक्तिके अनुसार ब्रह्माण्डमें धर्मशक्ति, पिण्डमें धर्मशक्ति, जड़में धर्मशक्ति, चेतनमें धर्मशक्ति और मनुष्यमें धर्मशक्ति, इन सबको अलग अलग समझनेकी आवश्यकता है। जिसप्रकार स्थूलपदार्थोंमें आकर्षणशक्तिसे परस्परमें मेल और विकर्षणशक्तिसे उसकी पृथक्ता सिद्ध होती है, उसी प्रकार अन्तर्जगत्में अर्थात् मनोराज्यमें राग और द्वेष ये दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। रागशक्तिद्वारा एक मनुष्यका चित्त दूसरेके तरफ खींच जाता है; इसीसे श्रद्धा, प्रेम, स्नेह आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो परस्परके चित्तको खींचती हैं। यही कारण है कि, रागजनित आकर्षणसे पिता, पुत्र, पति, स्त्री आदि आत्मीय स्वजनके मोहसे जगत् दृढ़ बन्धन-युक्त है। इससे ठीक विरुद्ध शक्तिको द्वेष कहते हैं। इसी कारण शत्रुके लिये अन्तःकरणमें इस द्वेषवृत्तिका उदय होनेसे शत्रुके प्रति अमङ्गलकी इच्छा होकर वह द्वेषकी वृत्तिमें बनी रहती है। हमारे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी सर्वमुखिनी प्रतिभासे यह प्रत्यक्ष करके शास्त्रोंमें दिखाया है कि, जड़राज्यमें जैसी आकर्षण और विकर्षणशक्ति है, ठीक वैसी ही चेतनराज्यमें रागशक्ति और द्वेषशक्ति विद्यमान है। रागशक्ति रजोगुणमयी है और द्वेषशक्ति तमोगुणमयी है। उसी प्रकार आकर्षणशक्ति रजोगुणमयी है और विकर्षणशक्ति तमोगुणमयी है। दूसरी ओर आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिके समन्वयकी अवस्थामें सत्त्वगुणमयी धारिकाशक्तिका उदय होता है और अन्तर्जगत्में राग तथा द्वेषके समन्वयकी अवस्थामें ज्ञानका विकास होकर जीवका अन्तःकरण सत्त्वगुणमय हो जाता है। इसी कारण समझना उचित है कि, एक ब्रह्माण्डमें जबतक सूर्य, ग्रह, उपग्रह आदिमें आकर्षण और विकर्षण-

शक्तिका समन्वय विद्यमान रहता है, तभी तक वह ब्रह्माण्ड अपने स्वरूपमें स्थित रहता है और सब ग्रह, उपग्रह आपसमें टकराकर प्रलयसे नष्ट नहीं हो जाते। ब्रह्मशक्ति महामायाकी ही यह जगन्नियामिका ब्रह्माण्डधारिका धर्मशक्ति है, जो प्रत्येक ब्रह्माण्डको अपने अपने स्वरूपमें और अनन्तकोटिब्रह्माण्डोंको अपने अपने स्थानोंमें धारण की हुई है। यही ब्रह्माण्डमें धर्मशक्तिके उदयका दिग्दर्शन है।

अब दूसरी ओर ब्रह्माण्डमें धर्मशक्तिके अनुरूप ही प्रत्येक पिण्डमें भी धर्मकी सर्वव्यापिनी और स्थितिकारिणी शक्तिका अनुभव प्रत्यक्ष ही है। प्रत्येक पिण्डमें उस पिण्डकी ऊर्द्ध्वमुखीन जो चित्सत्ता है, उसकी अभिवृद्धि जिस क्रियाके द्वारा हो, वही पिण्डका धर्म है। जीवपिण्ड तीन प्रकारका होता है। एक सहजपिण्ड, दूसरा देवपिण्ड और तीसरा मानवपिण्ड। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज, इन चतुर्विध भूतसंघोंकी नाना योनियाँ जिन पिण्डोंको आश्रय करके इस मृत्युलोकमें रहती हैं, वे सब पिण्ड सहजपिण्ड कहाते हैं। इसका कारण यह है कि, ओषधि वृक्ष आदि उद्भिज्जयोनियाँ, जल, रक्त, पृथिवीआदिमें रहनेवाली कीटाणुरूपी स्वेदजयोनियाँ, अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले सर्प, कपोत, मयूर आदिकी नाना योनियाँ और जरायुजसे उत्पन्न होनेवाले मृग, हस्तीआदि जरायुजयोनियाँ, प्रकृतिके सहजकर्मद्वारा संचालित होनेके कारण इनके पिण्ड सहजपिण्ड कहाते हैं। दूसरी ओर दैवीशक्तिसम्पन्न नाना देवताओं, नाना असुरों, नाना ऋषियों, नाना पितरों और नाना प्रेतोंकी अनेक-योनियाँ जिन पिण्डोंको धारण करती हैं, वे सब देवपिण्ड कहाते हैं। इस मृत्युलोकमें मनुष्य जिस पिण्डको धारण करता है, वह मानवपिण्ड कहाता है। ब्रह्माण्डको धारण करनेवाली वही धर्मशक्ति अनन्तरूपसे यावत् पिण्डोंमें व्याप्त रहकर पिण्डधर्मकी रक्षा करती रहती है। पिण्डधर्मकी रक्षा दो प्रकारसे होती रहती है। एक बहिरूपसे एक अन्तरूपसे। क्योंकि प्रत्येक पिण्डमें शरीर और शरीरी दोनोंका अस्तित्व विद्यमान है। प्रत्येक पिण्डमें उस विशेषपिण्डके पिण्डधर्मकी रक्षा होना शरीरधर्मसे सम्बन्ध रखता है और प्रत्येक पिण्डके जीवको प्रथम दशामें अभ्युदय और दूसरी दशामें निःश्रेयसका मार्ग मिलना, यह उस पिण्डमें स्थित जीवात्माकी क्रमाभिव्यक्तिसे सम्बन्ध रखता है। धर्मकी जगद्धारिकाशक्ति एक ओर पिण्डकी यथावत् क्रिया-सम्पादनमें सहायक रहती है और दूसरी ओर अन्तःकरणमें सत्त्वगुणको उत्तरोत्तर विकसित करती हुई उसको अभ्युदय और निःश्रेयसके मार्गपर चलाया करती है।

अब धर्मशक्ति जड़जगत्में किस प्रकारसे कार्यकारिणी रहती है, सो विचारनेयोग्य है। चाहे प्रस्तरखण्ड हो, चाहे काष्ठ-खण्ड हो, उसके उदाहरणसे यह औदाहरण समझनेयोग्य है। काष्ठकी सृष्टि होते समय वृक्षमें उस काष्ठके परमाणु आकर्षणशक्तिद्वारा खींचकर एकत्रित हुए थे। यही काष्ठके रजोगुणकी अवस्था है। समयान्तरमें जब वह काष्ठ घुन लगकर अथवा सड़कर मिट्टीके रूपमें परिणत होता है, यही उसके तमोगुणकी अवस्था है। इसी प्रकार जब पत्थर पृथिवीव्यापिनी तड़ितशक्तिके प्रभावसे मिट्टीआदि द्वारा पत्थरके रूपमें परिणत

होता है; यही उसके रजोगुणकी अवस्था है। पुनः जब अग्नि, वायु, जल आदिके प्रभावसे पत्थरके परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं, यही उसके तमोगुणकी अवस्था है। परन्तु इन राजसिक और तामसिक अवस्थाओंके समन्वयकी जो अवस्था है, जिस अवस्थामें काष्ठ अथवा पत्थर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, वही सत्त्वगुणकी अवस्था है। इसी अवस्थामें धर्मकी धारिकाशक्ति जड़पदार्थोंमें विद्यमान रहती है।

चेतन जीवमें वही धर्मशक्ति जीवअन्तःकरणमें क्रमशः सत्त्वगुण और ज्ञानकी अभिवृद्धि करती हुई जीवको उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज और अण्डजसे जरायुजजगत्की नाना योनियोंमें अग्रसर कराती हुई मनुष्ययोनिमें पहुँचा देती है। पुनः मनुष्ययोनिमें अनार्यसे आर्य, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मणशरीरमें पहुँचाकर क्रमशः तत्त्वज्ञानी आत्मज्ञानी बनाकर मुक्त कर देती है। यही चेतनराज्यमें धर्मशक्तिका ज्वलन्त दृष्टान्त है। अतः जड़राज्य, चेतनराज्य, स्थावर, जङ्गम, पशु, मनुष्य, मानवपिण्ड, देवपिण्डआदि परमाणुसे लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सब स्थलमें सर्वव्यापक सबका आश्रयरूपी धर्महो सबकी रक्षा करता है। यही धर्मका सर्वोपरि महत्त्व है ॥२१५॥

और भी कह रहे हैं—

वह मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता दूर करनेवाला होनेसे सर्वशुद्धिप्रद है ॥२१६॥

पहले यह सिद्ध हो चुका है कि, अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोष इन पाँचों कोषोंमें तमोगुण बढ़ानेवाली पाँच मलिन शक्तियाँ हैं। अन्नमयकोषके मलिन प्रभावको मल कहते हैं, प्राणमयकोषके मलिन प्रभावको विकार कहते हैं, मनोमयकोषके मलिन प्रभावको विक्षेप कहते हैं, विज्ञानमयकोषके मलिन प्रभावको आवरण कहते हैं और आनन्दमयकोषके मलिन प्रभावको अस्मिता कहते हैं। यह भी पहले सिद्ध हो चुका है कि, किस किस प्रकारसे मलिन-क्रिया किस किस कोषमें पहले प्रारम्भ होती है। आत्मा जब इन पाँचों कोषोंसे यथाक्रम आवृत रहता है, तो इन पाँचोंका मालिन्य बढ़नेसे आत्माका प्रकाश भी ढँकता जाता है और उनका मालिन्य घटनेसे आत्माके ऊपरका भी मालिन्य घटता जाता है। यह भी पहले सिद्ध हो चुका है कि, शुद्धाशुद्धविवेकके अनुसार आचार माननेपर ये पाँचों मालिन्य बढ़ने नहीं पाते, अपने आप घट जाते हैं। धर्मकी ऐसी प्रबल और सर्वमुखिनी शक्ति है कि, उसके द्वारा मल विक्षेप आदि पाँचों दोष अपने आप कम होते जाते हैं और त्रिविधशुद्धि स्वतः होकर अन्तमें निःश्रेयस प्राप्त हो जाता है। यह भी पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, विश्वधारक धर्म सत्त्वगुणपोषक, सत्त्वगुणवर्द्धक और सत्त्वगुणमय है। सुतरां स्वच्छकारी स्वच्छसत्त्वगुणमय धर्म सर्वशुद्धिप्रद होगा, इसमें सन्देह ही नहीं है ॥२१६॥

अब प्रकृत विषयको कह रहे हैं—

मलविकारविक्षेपावरणास्मितापहन्तृत्वात् सर्वशुद्धिप्रदश्च ॥२१६॥

क्रियापरिणाम त्रिविध और सप्तविध है ॥२१७॥

जिस प्रकार देश और कालके अनुसार कर्मका वैचित्र्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार प्राकृतिक त्रिविध विभाग और सप्तविध विभागके अनुसार भी कर्मका वैचित्र्य उत्पन्न होता है। सत्त्व, रज, तमोरूपी त्रिगुण; अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी भावत्रय; वात, पित्त, कफरूपी दोषत्रयआदि प्राकृतिक त्रिविध विभाग स्वतःसिद्ध हैं। उसी प्रकार सप्तधातु, सप्तदिन, सप्तज्ञानभूमिआदि स्वाभाविक प्राकृतिक सप्तविभाग हैं। इन सब प्राकृतिक विभागोंके अनुसार क्रियापर अवश्य ही वैचित्र्यपूर्ण प्रभाव पड़ता है और उनके अनुसार कर्मका वैचित्र्य प्रकट होता है। कर्मके वैचित्र्यपूर्ण होनेसे धर्ममें भी वैचित्र्य उत्पन्न होता है। यही कारण है कि, देशकालके पार्थक्य, त्रिविध-अधिकारपार्थक्य तथा सप्तविध अधिकार-पार्थक्यद्वारा धर्माधिकारोंमें वैचित्र्य होना विज्ञानसिद्ध है ॥२१७॥

इस विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

युक्तक्रियाके ये भेद हैं ॥२१८॥

युक्तक्रियाको स्थायी रखनेके लिये देशकाल-विचार तथा त्रिविध अधिकार और सप्तविध अधिकार विचार करना अवश्य कर्त्तव्य है। प्रकृतिके स्पन्दनसे उत्पन्न कर्म धर्मरूपको भी धारण कर सकता है और अधर्मरूपको भी धारण कर सकता है। नियमित फलप्रद भी हो सकता है और अनियमित फलप्रद भी हो सकता है। इस विचारसे धर्मप्रवर्त्तक व्यक्तियोंके लिये सिद्धान्त निश्चय करके कहा जा रहा है कि, देशकालके अधिकारों तथा त्रिविध और सप्तविध अधिकारोंको लक्ष्यमें रखकर कर्मकी प्रवृत्ति होनेपर वह युक्तकर्म कहावेगा। बाधा-रहित होकर नियमित फलप्रद कर्मको युक्तकर्म कहते हैं। इन पूर्वकथित विषयोंको विचारमें रखकर कर्म करनेसे उसमें विफलता हो ही नहीं सकती ॥२१८॥

अयुक्तक्रियाके सम्बन्धमें कह रहे हैं:—

अयुक्तक्रियाका परिणाम बहुशाखासे युक्त होता है ॥२१९॥

आध्यात्मिकभावसे युक्त अथवा धर्म और मोक्ष-लक्ष्यसे युक्त जो क्रिया होती हैं, वह युक्तक्रिया कहाती है। यद्यपि युक्तक्रियामें अधिकारभेद अवश्य ही होते हैं; परन्तु उसकी शैली एक ही है और उसके विरुद्ध जो अयुक्त क्रिया है, उसकी शैली बहुशाखाओंसे युक्त होती है। क्योंकि अयुक्तक्रियामें धर्म और मोक्ष-सिद्धान्त-रहित केवल इन्द्रियसेवाजनित अर्थकामादिकी प्रेरणा रहती है। इन्हीं दोनों लक्ष्योंके अनुसार कर्त्ताकी बुद्धि भी दो प्रकारकी होती है, जिसके उपलक्ष्यमें श्रीगीतोपनिषद्‌में कहा—

> व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
> बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

अर्थात् हे कुरुनन्दन ! व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है तथा अव्यवसायियोंकी बुद्धि बहुशाखाओंसे युक्त और अनन्त होती है।

आत्मा एक और अद्वितीय होनेके कारण आत्मोन्मुखप्रवृत्तिकारी जितनी क्रिया होंगी, वे

त्रिविधा सप्तविधा च क्रियापरिणतिः ॥२१७॥
युक्तक्रियायाः ॥२१८॥
आनन्त्यमयुक्तायाः ॥२१९॥

सब युक्तक्रिया होनेसे एक ही ऊर्द्ध्वगामी भावसे युक्त होंगी। यद्यपि युक्तक्रियामें मोक्ष ही प्रधान लक्ष्य रहेगा, परन्तु अभ्युदयका सम्बन्ध रहनेके कारण उसमें अधिकार तारतम्य होना सम्भव है। कुछ ही हो, युक्तक्रियाओंकी गति प्रकारान्तरसे एक ही शैली-की होगी। किन्तु इस सूत्रमें वर्णित अयुक्तक्रियाकी गति ठीक उससे विपरीत होती है। क्योंकि उसमें अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद एकमात्र आध्यात्मिक लक्ष्य नहीं रहता है। जिस प्रकार विद्याका राज्य एक अद्वितीय आत्मानुसन्धान है, परन्तु अविद्याका राज्य अनन्तवैचित्र्यपूर्ण सुखदुःखात्मक भोग है, ठीक उसीप्रकार अयुक्तक्रिया अनन्तवैचित्र्यपूर्ण अवस्थाओंसे युक्त होती है ॥२१६॥

प्रसङ्गसे अब भोगकी शैली कही जा रही है :—

भोगकी निष्पत्ति द्विविध होती है ॥२२०॥

क्रियाओंका मौलिक भेद कहकर अब महर्षि सूत्रकार भोगका मौलिक भेद कह रहे हैं। जहाँ क्रिया है, वहाँ अवश्य ही प्रतिक्रिया होती है। वस्तुतः जहाँ कर्म है, वहाँ कर्मफलभोग भी अवश्यम्भावी है। वह कर्मफलभोग मौलिक विज्ञानके अनुसार दो श्रेणीमें विभक्त किया जाता है। क्रिया अन्तः-करण और शरीर दोनोंके द्वारा सम्पादित होती है; क्योंकि बिना अन्तःकरणकी प्रेरणाके स्थूलशरीर कार्य नहीं कर सकता और न बिना अन्तःकरणकी सहायतासे स्थूलशरीर भोगकी निष्पत्ति नहीं कर सकता है। दूसरी ओर स्थूलशरीरके भोगकी चरितार्थता अन्तःकरणमें ही होती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, निद्रित या मूर्च्छित व्यक्तिको जब देहाध्यास नहीं रहता है, उस समय उसके शरीरपर चन्दन लेपन करनेसे जिस प्रकार चन्दनकी भोग-समापत्ति नहीं होती, उसी प्रकार केवल मनसे ही यदि कोई जलपान करे, तो तृषित व्यक्तिकी तृषाकी विकलता दूर नहीं हो सकती। इसकारण भोगकी निष्पत्तिके लिये जिसप्रकार शरीरकी आवश्यकता है, उसी प्रकार अन्तःकरणकी आवश्यकता है। सुतरां भोगकी शैली भी दो प्रकारकी है ॥२२०॥

प्रसङ्गसे कहते हैं—

त्रिगुण और त्रिभाव धर्म और कर्म-वैचित्र्य-का कारण है ॥२२१॥

प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण एवं पुरुषके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, ये तीन भाव स्वाभाविक हैं। इसी कारण सब पदार्थ और सब वृत्तियाँ त्रिगुण और त्रिभावसे सम्बन्ध रखती हैं। सृष्टिका प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वभावसे ही त्रिगुण और त्रिभावसे पृथक पृथक् स्वरूपको धारण करता है। कोई ऐसा विषय नहीं हो सकता, जिसका सम्बन्ध तीन गुण और तीन भावसे हो न सके। सुतरां धर्म जो जड़ और चेतन दोनोंका धारक है और जो जड़प्रकृति और चिन्मयी प्रकृति दोनोंमें अनुस्यूत है और जो कर्म सृष्टि, स्थिति और लयका कारण है, वे दोनों त्रिगुण और त्रिभावके सम्बन्धसे अलग कदापि नहीं रह सकते। सुतरां तीनों गुणों और तीनों भावोंके घात-प्रतिघातसे धर्म और कर्मका स्वरूप अनन्तवैचित्र्यमय हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, भोजन

[क्रमशः]

द्विविधा भोगनिष्पत्तिः ॥२२०॥

त्रयो गुणभावा धर्मकर्मवैचित्र्ये निदानम् ॥२२१॥

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण-सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमास प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ़्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है :—

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, १/२ पृष्ठ	१२)	,,
,, १/४ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

वाणी-पुस्तकमालाके

स्थायी ग्राहक तथा एजेन्टोंके नियम।

(१) कोई भी सज्जन एकबार केवल १) देकर इस पुस्तकमालाका स्थायी ग्राहक बन सकते हैं।

(२) स्थायी ग्राहकोंको वाणी-पुस्तकमाला तथा आर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकोंपर प्रतिशत बीस रुपया कमीशन दिया जाता है।

(३) कोई भी नई पुस्तक प्रकाशित होते ही स्थायी ग्राहकोंको उसका सूचना दे दी जाती है। ग्राहकके लिखनेपर उनकी पुस्तक बीस प्रतिशत कमीशन कमकर वी० पी० से भेज दी जाती है। परन्तु ग्राहकोंका मनिआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर पुस्तकें मँगानेसे वी० पी० खर्च बचेगा।

(४) अन्य ग्राहकोंकी तरह स्थायी ग्राहकोंका भी डाकव्यय पैकिङ्ग आदि देना पड़ता है।

(५) स्थायी ग्राहकोंको अपना नाम, पूरा पता, पोस्ट तथा रेलवे स्टेशन आदि साफ-साफ लिखना चाहिये।

(६) २५) रुपयेकी पुस्तकें मँगानेसे पुस्तकोंके मूल्यका एक-चौथाई अग्रिम भेजना आवश्यक होगा।

(७) कोई भी सज्जन ५०) रुपयेकी पुस्तक एक साथ खरीदनेसे इनका एजेन्ट बन सकते हैं।

(८) एजेन्टोंको २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला-कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

मुद्रक :—श्री सुधीरचन्द्र चक्रवर्ती, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की मासिक मुखपत्रिका

भाद्र पद सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ५ | अगस्त १९५१

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी, एम. ए., बी. टी.
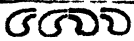
बसो मेरे नैननमें नँदलाल ।
मोहनी मूरत साँवरो सूरत,
नैना बने बिसाल ।
अधर सुधारस मुरली राजत,
उर बैजन्ती माल ॥
छुद्र घंटिका कटि तट शोभित,
नूपुर सबद रसाल ।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई,
भक्त बत्सल गोपाल ॥

(मीराबाई)

विषय-सूची।

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

भाद्रपद सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ५ | अगस्त १९५१

प्रार्थना

तदस्तु मे नाथ ! स भूरिभागो,
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां,
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥

हे नाथ ! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि, मैं इस जीवनमें या दूसरे जन्ममें अथवा किसी तिर्यक्योनिमें ही जन्म ग्रहणकर आपके दासोंमेंसे एक होऊँ और आपके चरण-कमलोंकी सेवा करूँ ।

आत्म-निवेदन।

धर्महीन शासनकी देन

हमारे शास्त्रोंमें पतिके शरीरान्तके पश्चात् सहमरण या वैधव्यव्रत लेकर जीवित रहनेकी व्यवस्था स्त्रियोंके लिये है। प्राचीनकालसे यह एक प्रथाके रूपमें परिणत हो गयी और इसका दुरुपयोग भी इस प्रकार होने लगा कि, जो स्त्री पतिके शवके साथ जलना नहीं भी चाहती, उसे जबरदस्ती जला दिया जाता था। विशेषतः राजपुतानेके क्षत्रियोंमें इसका बहुत ही दुरुपयोग हुआ है। जिस वस्तुका दुरुपयोग होता है, उसकी प्रतिक्रिया होती ही है। अंग्रेजी शासनने इस प्रथाको बन्द करनेके लिये कानून बनाया। कानून लागू होनेके पहले दिन बंगालके त्रिवेणी तटपर एक सती हुई, जिसका विवरण उस वर्षके बङ्गालके गजटमें है। प्रायः पैंतीस वर्षीया बंगाली महिला अपने पतिका शव अपने गोद लेकर त्रिवेणी तटपर बैठी हुई थी, उसका अट्ठारहवर्षीय पुत्र चिता सजानेकी व्यवस्था कर रहा था, इतनेमें दो पादरी वहाँ जा पहुँचे थें, उन्होंने उक्त सती देवीको सती नहीं होनेके लिये बहुत समझाया। उस देवीने उनसे कहा कि, आप इतना इसलिये कहते हैं कि, आप समझते हैं कि, पतिके साथ जीवित जलनेसे मुझे बहुत कष्ट होगा अतः मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि, मुझे बिलकुल कष्ट नहीं होगा। इतना कहकर उस देवीने अपने पुत्रको एक दीपक लानेकी आज्ञा दी। पुत्रने तत्काल आज्ञाका पालन किया, घृतपूर्ण दीपक आ गया, उसमें मोटी बत्ती लगाकर जला दिया गया और उस देवीने अपनी दो अङ्गुलियाँ दीपकके लवमें दे दी और स्वयं उक्त पादरी महाशयोंसे बात करने लगी। अङ्गुलियोंका मांस जलकर उनकी केवल हड्डियाँ रह गयीं, किन्तु उस महिलाने उसकी कुछ भी वेदना अनुभव नहीं किया। पादरी अवाक् रह गये, श्रद्धासे उनके सिर झुक गये, उन्होंने निल डाउनकरके देवीसे बिदा ली। जो मरना नहीं चाहती है, उसको पीट-पीटकर जबर्दस्ती जलाना जितना घोर पाप है, वैसी ही जो अपने पतिप्रेममें आत्मविस्मृत होकर अपने नश्वर शरीरको पतिदेवकी चितामें समर्पणकर पतिका सहगमन करना चाहती है, उसका तिरस्कार कर उसे दुःख देना और उसके पुण्यकार्यमें बाधा देना भी नारकीय नृशंसतापूर्ण कार्य है। यह पवित्र भारतभूमि यहाँकी सतियोंसे सदा पवित्र होती आयी है। अब भी प्रतिवर्ष इस धर्महीन युगमें भी दो-चार देवियोंके चिताप्रवेशके समाचार अवश्य मिलते रहते हैं। ऐसी ही एक घटना ग्वालियरमें हुई थी। लश्करमें १७ अप्रेल ५१ को बनारसी देवी (ब्राह्मणी) अपने मृतपतिके साथ सती हो गयी। सुना जाता है कि प्रायः पचीस हजार जनता उसको श्रद्धाञ्जली देनेके लिये एकत्र हुई थी, साथ ही कुछ धर्मध्वन्सी नरपिशाचोंने उस सती होनेवाली स्वर्गीय देवीपर ढेले, चप्पल और जूते फेंके! इससे बढ़कर देशका दुर्भाग्य क्या हो सकता है? इसके अनन्तर इसी सतीकाण्डको लेकर मध्यभारतकी धारासभामें लज्जास्पद विवाद चला। कांग्रेसियोंने इसे पुलिसकी

अकर्मण्यता बतायी एवं गुण्डोंका प्रोत्साहन कहा और एक महिलाने तो इस कारण भारतको 'मन्द भारत' कह डाला किन्तु सरदार फाल्के साहबने इस उद्दण्डताका उचित विरोध किया और कहा कि, "यह नारीका शुद्ध आत्मसमर्पण है। जबतक हिन्दू-धर्म मौजूद है, तबतक जो गूढ़ समस्याएँ रहेंगी, उसमें सती-प्रथा भी है। सोशियलिज्मका टानिक जबर्दस्ती किसीके गलेके नीचे उतार सकना सम्भव नहीं।" इसप्रकार इस जघन्य विवादमें श्रीसरदार फाल्केने हिन्दूसंस्कृतिकी सम्मानरक्षा की। इसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। सती होनेवाली देवीपर ढेले, चप्पल, जूते फेकनेकी यह नृशंसता एवं वर्वरता एकमात्र धर्मविहीन शासनकी देन है।

अपने मस्तिष्ककी खिड़की खोलें।

प्रधानमन्त्री श्रीजवाहरलाल नेहरूने बंगलोरमें हुई अखिल-भारतीय-कांग्रेस-कमेटीको दी गई अपनी रिपोर्टमें हिन्दूकोडबिलके विषयमें जो कुछ कहा है, उससे सिद्ध होता है, कि स्वातन्त्र्य-संग्राममें महिलाओंने जो महत्वपूर्ण भाग लिया है, उसका पुरस्कार-स्वरूप हिन्दू महिलाओंको प्रधानमन्त्री हिन्दूकोडबिल देना चाहते हैं। नेहरूजी पश्चिमी सभ्यताके उपासक हैं, उनके मस्तिष्कमें पाश्चात्य-महिलाओंका आदर्श ओतप्रोत है, अतः वे हिन्दू महिलाओंकी पवित्र भावनाओंको समझ ही नहीं सकते हैं। परन्तु वे हिन्दू महिलाएँ जिनको अपनी संस्कृति एवं गौरवका अभिमान एवं आत्मसम्मानका ज्ञान है, कभी भी नेहरूजीका यह पुरस्कार स्वीकार नहीं कर सकतीं। वे अच्छी तरह जानती हैं कि, हिन्दू संस्कृतिमें जो उनका गौरव, सम्मान एवं अधिकार है, वह संसारके किसी स्त्री-जातिको कभी प्राप्त नहीं है। नेहरूजी अच्छी तरह जानते हैं कि हिन्दू महिलाओंने इस बिलके सूत्रपात होनेसे अबतक इसका कितना तीव्र विरोध प्रदर्शन किया है, तब भी नेहरूजी अपनी जिदपर तुले हुए हैं। नेहरूजी कई बार अपने भाषणोंमें दूसरोंको कह चुके हैं कि "अपने दिमागकी खिड़कियाँ खुली रखो"। परन्तु नेहरूजीने स्वयं अपने दिमागकी खिड़कियां बन्द कर रखी है, जिसमें पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति पहलेसे भरी हुई है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी विषयके प्रवेशका अवसर नहीं है। अतः यह उपदेश वे अपने ऊपर लागू करें और अपने मस्तिष्ककी खिड़कियां खोलें, तभी उनको हिन्दू महिलाओंकी पवित्र उच्चतम भावना कुछ समझमें आवेगी।

ॐ नमः श्रीसद्गुरवे सच्चिदानन्दाय।

तुम हो सनातन ब्रह्म एकसे तीन भये,
ब्रह्मा विष्णु शिव राजें तुम्हारे सहारेपर।
तीनों पुनि एक भये समन्वय रूप धरो,
जगद्गुरु दत्तात्रेय जगत उधारे पर॥

जगके कल्याणहेतु बार बार दौरि आये,
वेद शास्त्र तारे सबै ज्ञानिनके हारे पर।
डूबत मोहमायामें सत्तर तो पार कीन्हें,
अब तो उबारो नाथ पग है करारे पर॥
स्त्रीरूपं वा स्मरेद्देवं पुंरूपं वा विचिन्तयेत्।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम्॥

गुरुपूर्णिमा, २००८। चरणचञ्चरीक—गोविन्द।

भक्तपुत्रसे भगवान्की प्राप्ति।

लें० श्रीमती अन्नपूर्णा देवी

प्राचीन समयमें सोमशर्मा नामसे विख्यात एक ब्राह्मण थे। वे बड़े धर्मात्मा, भगवद्भक्त एवं सदाचारी थे। उनकी धर्मपत्नीका नाम सुमना था। सुमना भी परम साध्वी तथा छायाकी तरह पतिका अनुगमन करनेवाली थी। ये दम्पती नर्मदातटपर अमरकन्टकमें निवास करते थे। इनके कोई पुत्र नहीं था। दोनोंका सारासमय जप, तप, दान, व्रत-उपवास, अतिथि-सेवा तथा परोपकारमें व्यतीत होता था। ऐसा ही करते-करते बहुत समय बीतनेपर सती सुमनाने गर्भधारण किया। समयपर उस साध्वीने सभी शुभलक्षणोंसे युक्त देवताओंके समान सुन्दर एक पुत्रका जन्म दिया। यह पुत्ररत्न पाकर दोनों बड़े प्रसन्न हुए, इसको उन्होंने प्रभुका प्रसाद ही समझा। ब्राह्मणश्रेष्ठने पुत्रका जातकर्म आदि संस्कार किया और उसका नाम देवव्रत रखा। देवव्रत चन्द्रमाकी कलाओंकी तरह प्रतिदिन बढ़ने लगा। दम्पती बड़े प्रेमसे उसका पालन करने लगे।

इस भाग्यवान् पुत्र देवव्रतके जन्मके बादसे ही सोमशर्माके घरमें मानों साक्षात् महालक्ष्मी विराजने लगी। उनका घर धनधान्यसे भरपूर हो गया। उनके यहाँ हाथी-घोड़े, गाय-बैल, सोना-चाँदी, मुक्ता-मणि आदि किसी वस्तुकी कमी नहीं रही। सोमशर्मा भी इतना सब वैभव-विलासका साधन पाकर प्रमादी नहीं बने, वे प्रायः तीर्थोंमें जा-जाकर याचक तथा दीन-दुखियोंको यथेष्ट दान करते। विद्वान् ब्राह्मण, याचक, अतिथि-अभ्यागत कभी भी कोई सोमशर्माके घरसे अनादृत या निराश नहीं लौटता था। उनका सारा समय इसप्रकार दान-पुण्य एवं ज्ञानार्जनमें लगा रहता था। सभी उनके सुयशकी सराहना करते थे। इसप्रकार सोमशर्माकी उज्ज्वल-कीर्ति सब ओर परिव्याप्त हो गयी। पुत्र देवव्रतपर पिता-माताके इस पुण्य-प्रतापका गहरा प्रभाव पड़ा। बचपनसे ही उसके हृदयमें प्रगाढ़ भगवद्भक्ति उत्पन्न हो गयी। उसकी बाल-क्रीड़ाएं भी इसीप्रकार की

होती थीं। पिताने उसे वेदवेदाङ्गके साथ गीत-वाद्य-नृत्य आदि ललित कलाओंकी भी अच्छी शिक्षा दी। परन्तु पिता-मातासे प्राप्त संस्कारोंने उसपर कुछ ऐसा प्रभाव उत्पन्न कर दिया कि बालक देवव्रत हर समय भगवान्‌के मंगलमय नामोंका स्मरण तथा चिन्तन किया करता था। इसप्रकार वह द्विजश्रेष्ठ सदा भगवान्‌का ध्यान करते हुये ही बच्चोंके साथ खेला करता था। वह मेधावी, पुण्यात्मा और पुण्यमें प्रेम रखनेवाला था। उसने अपने साथी बालकोंका नाम अपनी ओरसे परमात्मा श्रीहरिके नामपर ही रख दिया था। वह महामुनि था और भगवान्‌के ही नामसे अपने मित्रोंको भी पुकारा करता था। 'ओ केशव! यहां आओ, चक्रधारी माधव! बचाओ, पुरुषोत्तम! तुम्हीं मेरे साथ खेलो, मधुसूदन हम दोनोंको वनमें ही चलना चाहिये।' इस प्रकार श्रीहरिके नाम ले-लेकर वह ब्राह्मण बालक मित्रोंको बुलाया करता था। खेलने, पढ़ने, हँसने, सोने, गीत गाने, देखने, चलने, बैठने, ध्यान करने, सलाह करने, ज्ञान अर्जन करने तथा शुभकर्मोंका अनुष्ठान करनेके समय भी वह श्रीभगवान्‌को ही देखता और जगन्नाथ, जनार्दन आदि नामोंका उच्चारण किया करता था। विश्वके एकमात्र स्वामी श्रीपरमेश्वरका ध्यान करता रहता था। तृण, काष्ठ, पत्थर तथा सूखे और गीले सभी पदार्थोंमें वह धर्मात्मा बालक श्रीकेशवको ही देखता, कमललोचन श्रीगोविन्दका ही साक्षात्कार किया करता था। सुमनाका पुत्र ब्राह्मण देवव्रत बड़ा बुद्धिमान् था; वह आकाशमें, पृथ्वीपर, पर्वतोंमें, वनोंमें, जल, थल और पाषाणमें तथा सम्पूर्ण जीवोंके भीतर भी भगवान् श्रीनरसिंहका दर्शन करता था।

इसप्रकार बालकोंके साथ खेलमें सम्मिलित होकर वह प्रतिदिन खेलता तथा मधुर अक्षर और उत्तम रागसे युक्त गीतों द्वारा श्रीकृष्णका गुणगान किया करता था। उसके गीत ताल, लय, उत्तम स्वर और मूर्च्छनासे युक्त होते थे। देवव्रत कहता—सम्पूर्ण देवता सदा भगवान् श्रीमुरारिका ध्यान करते हैं। जिनके श्रीअङ्गोंके भीतर सम्पूर्ण जगत् स्थित है, जो योगके स्वामी, पापोंका नाश करनेवाले और शरणागतोंके रक्षक हैं, उन भगवान् श्रीमधुसूदनका मैं भजन करता हूँ। जो सम्पूर्ण जगत्‌के भीतर सदा जागते और व्याप्त रहते हैं, जिनमें समस्त गुणोंका निवास है तथा जो सब दोषोंसे रहित है, उन परमेश्वरका चिन्तन करके मैं सदा उनके युगल चरणोंमें मस्तक झुकाता हूँ। जो गुणोंके अधिष्ठान हैं, जिनके पराक्रमका अन्त नहीं है, वेदान्तज्ञानसे विशुद्धबुद्धिवाले पुरुष जिनका सदा स्तवन किया करते हैं, इस अपार, अनन्त और दुर्गम संसार-सागरसे पार होनेके लिये जो नौकाके समान हैं, उन सर्वस्वरूप भगवान् श्रीनारायणकी मैं शरण लेता हूँ। मैं श्रीभगवान्‌के उन निर्मल युगलचरणोंको प्रणाम करता हूँ, जो योगीश्वरोंके हृदयमें निवास करते हैं, जिनका शुद्ध एवं पूर्णप्रभाव सदा और सर्वत्र विख्यात है। देव! मैं दीन हूँ, आप अशुभकी भयसे मेरी रक्षा कीजिये। संसारका पालन करनेके लिये जिन्होंने धर्मको अङ्गीकार किया है, जो सत्यसे युक्त, सम्पूर्ण लोकोंके गुरु, देवताओंके स्वामी, लक्ष्मीजीके एकमात्र निवासस्थान, सर्वस्वरूप और सम्पूर्ण विश्वके आराध्य हैं, उन भगवान्‌के सुयशका सुमधुर

रससे युक्त संगीत एवं काललयके साथ गान करता हूँ। मैं अखिल भुवनके स्वामी भगवान् श्रीविष्णुका ध्यान करता हूँ जो इस लोकमें दुःखरूपी अन्धकारका नाश करनेके लिये चन्द्रमाके समान हैं। जो अज्ञानमय तिमिरका ध्वंस करनेके लिये साक्षात् सूर्यके तुल्य हैं तथा आनन्दके अखण्ड मूल और महिमासे सुशोभित हैं, जो अमृतमय आनंन्दसे परिपूर्ण समस्त कलाओंके आधार तथा गीतके कौशल हैं, उन श्रीभगवान्‌का मैं अनन्य अनुरागसे गान करता हूँ। जो उत्तम योगके साधनोंसे युक्त हैं, जिनकी दृष्टि परमार्थकी ओर लगी रहती है, जो सम्पूर्ण जगत्‌को एक साथ देखते रहते हैं तथा पापी लोगोंको जिनके स्वरूपका दर्शन नहीं होता, उन एकमात्र भगवान् श्रीकेशवकी मैं सदाके लिये शरण लेता हूँ।

इस प्रकार सुमनाका पुत्र देवव्रत दोनों हाथोंसे ताली बजाकर ताल देते हुए भगवान्‌के सुमधुर नामोंका गान करता और बालकोंके साथ सदा प्रसन्न रहता था। प्रतिदिन बालस्वभावके अनुसार खेलता और भगवान् श्रीविष्णुके ध्यानमें लगा रहता था। अपने सुलक्षण पुत्र देवव्रतको खेलते देख माता सुमना कहती—'बेटा! कुछ भोजन कर ले, तुझे भूख लगी होगी।' यह सुनकर वह बुद्धिमान् बालक सुमनाको उत्तर देता—'माँ भगवान्‌का ध्यान महान् अमृतके तुल्य है, मैं उसीसे तृप्त रहता हूँ—मुझे भूख नहीं लगती।' भोजनके आसन पर बैठकर जब वह अपने सामने मिष्टान्न परोसा हुआ देखता, तब कहता—'इस अन्नसे भगवान् श्रीविष्णु तृप्त हों।' वह धर्मात्मा बालक जब सोनेके लिये जाता, तब वहाँ भी श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए कहता—'मैं योगनिद्रापरायण भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आया हूँ।' इसप्रकार भोजन करते, वस्त्र पहनते, बैठते और सोते समय भी वह श्रीवासुदेवका चिन्तन करता और उन्हींको सब वस्तुएँ समर्पित कर तब स्वयं ग्रहण करता था। समय पर पिताने सुव्रतका विवाह गुणवती, रूपवती, सुलक्षणा कन्यासे कर दिया था परन्तु बड़भागी देवव्रतका मन इस सांसारिक विषयोंमें रमता नहीं था, उसका मन तो सदा परम प्रेममय प्रभुमें ही रमा करता था। धर्मात्मा सुव्रत युवावस्था आने पर काम-भोगका परित्याग करके विन्ध्यपर्वतपर जा भगवान् श्रीविष्णुके ध्यानमें लग गया। वहीं उस मेधावीने श्रीविष्णुका चिन्तन करते हुये तपस्या आरम्भ कर दी। उस श्रेष्ठ पर्वत पर सिद्धेश्वर नामक स्थानके पास वह निर्जन बनमें रहता और काम-क्रोध सम्पूर्ण दोषोंका परित्याग करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुये तपस्या करता था। उसने अपने मनको एकाग्र करके भगवान् श्रीविष्णुके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार परमात्माके ध्यानमें बहुत दिनों तक लगे रहने पर उसके ऊपर शंख, चक्र, गदाधारी भक्तवत्सल भगवान् श्रीजगन्नाथ बहुत प्रसन्न हुये तथा लक्ष्मीजीके साथ उसके सामने प्रकट होकर बोले—'प्यारे देवव्रत! अब तुम्हारा कल्याण हो, ध्यानसे उठो, मैं विष्णु तुम्हारे पास आया हूँ, मुझसे वर माँगो।' मेधावी देवव्रत भगवान् श्रीविष्णुके ये मधुर वचन सुनकर अत्यन्त आनन्दसे गद्गद् हो गया। उसने जब आँखें खोलीं तो जनार्दन सामने खड़े हैं, फिर तो दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने श्रीभगवान्‌को प्रणाम किया और इस प्रकार स्तवन किया—

संसारसागरमतीव गभीरपारं
दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरंगैः ।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं
तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम् ।

जनार्दन! यह संसार-सागर अत्यन्त गहरा है, इसके पार जाना कठिन है। यह दुःखमयी लहरों और मोहमयी भाँति भाँतिकी तरङ्गोंसे भरा है। मैं अत्यन्त दीन हूँ और अपने ही दोषों तथा गुणोंसे—पापपुण्योंसे—प्रेरित होकर इसमें आ फँसा हूँ; अतः आप मेरा इससे उद्धार कीजिये।

कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव
विद्युल्लतोल्लसति पातकसञ्चयैर्मे ।
मोहान्धकारपटलैर्मम नष्टदृष्टे-
र्दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम् ॥

कर्मरूपी बादलोंकी घटा घिरी हुई है, जो गरजती और बरसती भी है, मेरे पापोंकी राशि विद्युल्लताकी भांति उसमें थिरक रही है। मोहरूपी अन्धकार समूहसे मेरी दृष्टिविवेकशक्ति नष्ट हो गयी है, मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ; मधुसूदन मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये।

संसारकाननवरं बहुदुःखवृक्षैः
संसेव्यमानमपि मोहमयैश्च सिंहैः ।
संदीप्तमस्ति करुणा बहुशोकवह्नितेजः
संतप्यमानमनसं परिपाहि कृष्ण ॥

यह संसार महान् वन है, इसमें बहुतसे दुःख ही वृक्षरूपमें स्थित हैं। मोहरूपी सिंह इसमें निर्भय होकर निवास करते हैं, इसके भीतर शोकरूपी प्रचण्ड दावानल प्रज्वलित हो रहा है, जिसकी आंचसे मेरा चित्त सन्तप्त हो उठा है। कृष्ण! इससे मुझे बचाइये।

संसारवृक्षमतिजीर्णमपीह उच्चं
मायासुकन्दकरुणा बहुदुःखशाखम् ।
जायादिसङ्गच्छदनं फलितं मुरारे
तं चाधिरूढपतितं भगवन् हि रक्ष ॥

संसार एक वृक्षके समान है, यह अत्यन्त पुराना होनेके साथ बहुत ऊँचा भी है, माया इसकी जड़ है, शोक तथा नाना प्रकारके दुःख इसकी शाखायें हैं, पत्नी आदि परिवारके लोग पत्ते हैं और इसमें अनेक प्रकारके फल लगे हुए हैं। मुरारे! मैं इस संसार वृक्षपर चढ़कर गिर रहा हूँ, भगवन्! इस समय मेरी रक्षा कीजिये—मुझे बचाइये।

दुःखानलैर्विविधमोहमयैः सुधूमैः
शोकैर्वियोगमरणान्तकसंन्निभैश्च ।
दग्धोऽस्मि कृष्ण सततं मम देहि मोक्षं
ज्ञानाम्बुनाथ परिषिच्य सदैव मां त्वम् ॥

कृष्ण! मैं दुःखरूपी अग्नि, विविधप्रकारके मोहरूपी धुएँ तथा वियोग, मृत्यु और कालके समान शोकोंसे जल रहा हूं; आप सदा ज्ञानरूपी जलसे सींचकर मुझे सदाके लिये संसार-बन्धनसे छुड़ा दीजिये।

मोहान्धकारपटले महतीव गर्ते
संसारनाम्नि सततं पतितं हि कृष्ण ।
कृत्वा तरीं मम हि दीनभयातुरस्य
तस्माद् विकृष्य शरणं नय मामितस्त्वम् ॥

कृष्ण! मैं मोहरूपी अन्धकारराशिसे भरे हुये संसार नामक गड्ढेमें सदासे गिरा हुआ हूं, दीन हूँ,

और भयसे अत्यन्त व्याकुल हूँ, आप मेरे लिये नौका बनकर उस गड्ढेसे निकालिये, वहाँसे खींचकर अपनी शरणमें लीजिये।

त्वामेव ये नियतमानसभावयुक्ता
ध्यायन्त्यनन्यमनसा पदवीं लभन्ते।
नत्वैव पादयुगलं च महत्सु पुण्यं
ये देवकिन्नरगणाः परिचिन्तयन्ति॥

जो संयमशील हृदयके भावसे युक्त होकर अनन्य अन्तःकरणसे आपका ध्यान करते हैं वे आपकी पदवीको प्राप्त हो जाते हैं; तथा जो देवता और किन्नरगण आपके दोनों परमपवित्र चरणोंको प्रणाम करके उनका चिन्तन करते हैं, वे भी आपकी पदवीको प्राप्त होते हैं।

नान्यं वदामि न भजामि न चिन्तयामि
त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि।
एवं हि मामुपगतं शरणं च रक्ष
दूरेण यान्तु मम पातकसञ्चयास्ते।
दासोऽस्मि भृत्यवदहं तव जन्म जन्म
त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि॥

मैं न तो दूसरेका नाम लेता हूँ न दूसरेको भजता हूँ, और न दूसरेका चिन्तन ही करता हूँ, नित्य निरन्तर आपके युगल चरणोंको प्रणाम करता हूँ। इसप्रकार मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें, मेरे पातकसमूह शीघ्र दूर हो जायँ, मैं भृत्यकी भाँति जन्म जन्म आपका दास बना रहूँ। भगवन्! आपके युगल-चरण-कमलोंको सदा प्रणाम करता हूँ।

श्रीकृष्ण! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मुझे यह उत्तम वरदान दीजिये—मेरे माता-पिताको सशरीर अपने परमधामको पहुँचाइये। मेरे ही साथ मेरी पत्नीको भी अपने लोकमें ले चलिये।

भगवान्‌ने कहा—देवव्रत! तुम्हारी यह उत्तम कामना अवश्य पूर्ण हो।

इसतरह देवव्रतकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीहरि उन्हें उत्तम वरदान दे, दाह और प्रलयसे रहित वैष्णवधामको चले गये। देवव्रतके साथ ही सुमना और सोमशर्मा भी भगवान् विष्णुके दिव्यधामको सदेह चले गये।

इसप्रकार भाग्यशाली सोमशर्मा एवं साध्वी सुमनाने अपने भगवद्भक्त पुत्रके कारण भगवान् विष्णुके उत्तमधामको प्राप्त किया।

अर्थ नामक अनर्थ।

अर्थ अर्थात् धनसे कौन-कौनसे अनर्थकारी दुर्गुण मनुष्यका आश्रय करते हैं, इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था अर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
११।२३।१८—१९

अर्थात् धनसे मनुष्योंमें ये पन्द्रह अनर्थ अवश्य होते हैं यथा—चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा (होड़), लम्पटता, जूआ, तथा (व्यभिचार-मद्यपानादि) व्यसन। अतः अपना कल्याण चाहनेवालोंको इस अनर्थरूपी अर्थका दूरसे ही त्याग करना चाहिये।

श्रीभगवद् गीता

(हिन्दी पद्यानुवाद)

श्रीमोहन वैरागी

(गताङ्कसे आगे)

(४१)

बढ़ता जब प्राबल्य पापका होतीं कुलवधुयें अकुलीन ।
नारीके पापाचरणोंसे होती सन्तति वर्णविहीन ॥

(४२)

वर्णहीन ऐसे कपूत वे तज देते अपना कुलधर्म ।
करते पतित पूर्वजों को निज होते लुप्त श्राद्ध सत्कर्म ॥

(४३)

इसप्रकार कुल जाति धर्मका हो जाता सम्पूर्ण विनाश ।
धर्मच्युत कुलघ्न प्राणीसब करते सदा नरकमें वास ॥

(४४)

किन्तु हाय धिक् ज्ञान हमारा धर्म हमारा हा धिक्कार ।
कुलका महानाश लखकर भी हमको इष्ट स्वजन संहार ॥

(४५)

राज्य और सुखकी तृष्णामें प्रिय हमको बान्धवका रक्त ।
धिक् यह क्षात्रधर्म हे अच्युत हुये पापमें हम अनुरक्त ॥

(४६)

अस्त्रशस्त्रसे विरत हुआ मैं खो दूँ भले समरमें प्राण ।
वध-कर डालें कौरव मेरा इसमें अहो अधिक कल्याण ॥

(४७)

यों कहकर कातर विषादसे रखकर अपना धनु तूणीर ।
समरभूमिमें रथपर अर्जुन बैठ गये होकर गम्भीर ॥

इति प्रथम अध्याय ।

'भारतीय नारियाँ अपना भाग्य-निर्माण स्वयं करेंगी'

अ० भा० महिलासंघकी प्रधान मंत्रिणीका वक्तव्य ।

अखिल भारतीय महिलासंघकी प्रधान मंत्रिणी श्रीमती शान्तादेवी वैद्याने श्री जे० के० टण्डन चुनाव-अधिकारी उत्तरप्रदेशके नाम निम्न वक्तव्य भेजा है :—

महोदय,

अखिल भारतीय महिलासङ्घने आगामी निर्वाचनोंमें सामूहिकरूपसे भाग लेनेका निश्चय किया है। उत्तरप्रदेशमें अधिकांश कैन्डीडेटोंका निर्णय हो गया है, महिलासङ्घ मुख्यतः राजनीतिक संस्था है, किन्तु अन्य राजनीतिक-संस्थाओंकी भांति हो-हल्ला और प्रचारका तूमार नहीं बाँधता उसकी एक स्थिर निश्चित नीति है।

१७ करोड़ स्त्रियोंका भाग्य आज प्रजातन्त्रीय नीतिके हाथमें है, भारतीय नारियोंकी प्रशस्त परम्परागत पवित्र भावनाओंका प्रतिनिधित्व अंग्रेजों-के मानस पुत्र सेक्युलर राजनीतिज्ञ नहीं कर सकते। अपना भाग्यनिर्णय हम स्वयं करेंगी। एतदर्थ ही हमारा चुनाव प्रयास है।

यद्यपि आपने महिलासङ्घको संकेत निर्णायक पार्टियोंके ८-७-५१, के सम्मेलनमें नहीं बुलाया है, किन्तु आशा है कि हमारे आवेदनपर आप अवश्य विचार करेंगे।

हमारा यह निवेदन उत्तरप्रदेशकी ३ करोड़ नारियोंकी ओरसे है। हम सांकेतिक चिह्नोंके झमेले या प्रतिस्पर्धामें नहीं पड़ना चाहतीं, हमारा सांकेतिक चिह्न केवल एक भारतीय नारीका होगा अर्थात्.... भारतीय वेश-भूषामें साड़ी पहने हुए नारीका चित्र हमारे चुनाव बक्सोंपर होना चाहिये।

परिचय

अखिल भारतीय महिलासङ्घकी स्थापना हुए तीन साल हुए। भारतमें हमारी हजारों शाखायें हैं, महिलासङ्घ कोई साम्प्रदायिक संस्था नहीं, इसमें सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी वर्गोंकी स्त्रियाँ सम्मिलित हैं।

हमारी राजनीति प्रशस्त प्रजातन्त्रीय भारतीय राजनीति है। पाश्चात्य गुलामीकी छल कपटवाली प्रजातन्त्रीय राजनीति नहीं।

आगामी चुनाव और महिलायें।

—आयुर्वेदाचार्य श्रीमती शांतादेवी वैद्या—

प्रधान मन्त्रिणी अ० भा० महिलासङ्घ,

अखिल भारतीय महिलासङ्घने बहुत सोच समझकर आगामी निर्वाचनोंमें सामूहिकरूपसे भाग लेनेका निश्चय किया है। भारतीय महिलाओंने विश्वमें अपना एक सर्वोच्च पवित्र आदर्श रक्खा है

"स्वधर्म रक्षा" और वह स्वधर्म भी क्या, "पतिसेवा" इस पतिसेवापर ही अपना सब कुछ निछावर कर दिया। मनोविज्ञानकी कारिणीमें सर्वोच्च स्थान है आत्मसम्मान-कल्पनाका, जिसके दो रूप हैं, १—यश, २—वैभव या ऐश्वर्य, इन दोनोंका भी भारतीय कुलाङ्गनाओंने त्याग किया, उनका सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं। पुत्र, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, सब कुछ पतिके लिये, उन्होंने अपना नाम भी नहीं रक्खा, जिस नामके लिये दुनिया मरती है वह अपना नाम भी नहीं चाहती। अमुककी पत्नी, अमुककी बहन या माता कहलानेमें ही उन्हें प्रसन्नता होती है। धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे उनके नामका निषेध नहीं, उनके नामकरण-संस्कारका भी विधान है, उस नामसे सम्बोधित भी होती है, इसमें कोई दोष नहीं, किंतु यह एक अद्भुत या सर्वोच्च त्यागका ही आदर्श है कि, उन्हें अपना नामकी भी इच्छा नहीं। इस वर्तमान वोटर-लिस्टके बनाने या जनगणनामें उन्होंने यही भारतीय आदर्श अपनाया, अमुककी माता, अमुककी बहन, अमुककी भाभी इत्यादि बताया।

वे धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे अपने पतिका नाम नहीं लेतीं किन्तु उनके पतियोंने भी अपनी पत्नी कहके लिखाया :—

न नाम ग्रहणं कुर्यात् कृपणस्य गुरोस्तथा।
भार्याया अभिशप्तस्य जनकस्य विशेषतः॥

यह एक भारतीय धार्मिक परम्परा है।

इस निर्वाचनमें सक्युलर सरकार इससे अनुचित लाभ उठना चाहती है। वह उन करोड़ों स्त्रियोंके वोट ही व्यर्थ कर देना चाहती है, जिन्होंने धार्मिक परम्पराके पालनमें अपना नाम नहीं बताया उनके नाम अमुकपारत्वे वोटरलिष्टमें दर्ज हैं या छोड़ दिये गये हैं। यह सब सरकार व्यर्थ कर देना चाहती है। सेक्युलर सरकारका यह एक धार्मिक हस्तक्षेप है।

न्याय, दंड, पुरस्कार, व्यवहार यह नाम बताने या न बतानेपर छोड़े नहीं जा सकते। यह धार्मिक और राजनीतिक भी सिद्धान्त है। धार्मिक दृष्टिसे तो यज्ञादि जितने कार्य होते हैं, उनमें स्त्रीके नामका विधान नहीं है। प्रारम्भिक संकल्पमें ही पुरुष कहता है कि, मैं सपत्नीक यह काम करता हूँ। स्त्रीके नामका आख्यान न होनेपर भी उसे फल बराबर मिलता है। राजनीतिक दृष्टिसे भी न्याय, दंड, पुरस्कार व्यवहार आदि नाम न बतानेपर छोड़े नहीं जा सकते। उदाहरणार्थ यदि कोई स्त्री चोरी करती है या अन्य कोई अपराध करती है और अपना नाम नहीं बताती तो क्या उसको दंड नहीं दिया जायगा। उसे तो दंड दिया ही जाता है। यही बात पुरस्कार की भी है। व्यवहारमें भी यदि राशनकार्डमें अपना नाम नहीं लिखाती और पुरुष, पुत्र अथवा भाई आदिके नामपर ही अपना उल्लेख कराती है तो क्या उनको राशन नहीं दिया जायेगा? राशन उन्हें दिया ही जाता है, यह न्याय है। नामके अनाख्यानसे उन्हें फलसे वञ्चित रखना अन्याय है।

फिर भी यदि अपनी धार्मिक मर्यादाका पालन करते हुए भारतीय परम्परासे उन्होंने ऐसा नहीं किया तो वोट फलसे वञ्चित रखना और अन्याय है। प्रश्न हजारों लाखोंका नहीं, बल्कि करोड़ों स्त्रियोंके अधिकारका है। सरकार इसे सोच-समझकर ठीक कर दे तो अच्छा है, अन्यथा न्यायालयद्वारा भी इसका निर्णय होना चाहिये, यह यों ही नहीं छोड़ा

जा सकता। दस करोड़ महिला वोटरोंके हानि लाभका प्रश्न है, यह एक वैधानिक प्रश्न है।

स्त्रियोंका मताधिकार इस प्रकार क्षीण कर देनेसे स्त्रियोंकी हानि ही होगी, यह स्पष्ट है। भारतीय स्त्रियोंका प्रतिनिधित्व करनेवाला महिला-संघ कांग्रेस-की इस नीतिको भलीभाँति समझता है। ब्रिटिश कालमें स्त्रियोंके लिये कुछ सीटे निश्चित थीं, उनपर स्त्रियाँ ही जा सकती थीं, किन्तु समानाधिकारके कांग्रेसी ढोंगने वह भी खतम करदी, अब किसी भी स्त्रीका असेम्वलीमें पहुँचना दुस्तर है, कांग्रेसमें समानाधिकारोंमें अबतक स्त्रियोंको बसकन्डेक्टर, पुलिस-चौकीदारी आदि अपमानजनक स्थान दिये है, जहाँ वस्तुतः कोई प्रतिष्ठा या अधिकारकी बात है वहाँपर स्त्रियोंका कोई नाम नहीं लेता। स्त्रियोंके वोट लेनेके ख्यालसे श्री नेहरू जी तथा अन्य नेता लोग कभी-कभी अकाही-तुकाही दाग दिया करते है किन्तु व्यवहारमें सब उलटा ही करते हैं। कांग्रेसी स्त्रियां जो वेचारी स्वतंत्रता-संग्राममें बराबर लड़ती रहीं वे भी दुरदुराई जा रही है। पंतजीके पास वे कुछ सीटोंके लिये गयी थीं किन्तु निराश होकर लौट आयीं। समानताकी दृष्टिसे महिलाओंको सभी जगहकी आधी सीटें मिलनी चाहिये, और मिनिस्ट्रीमें आधे विभाग भी। यह ईमानदारीकी बात होगी।

किन्तु कांग्रेस स्त्रियोंके सम्मानमें ऐसा कुछ करनेवाली नहीं। उल्टे भारतीय संस्कृति, सभ्यता और राष्ट्रीय मर्यादायें, जिनकी स्त्रियोंने प्राणपणसे आजतक रक्षा की है उन्हें भी नाश कर देनेपर तुली हुई है।

ऐसी सरकारका मुकाबला करना हमारा कर्त्तव्य हो गया है। अतः महिला-संघ आगामी निर्वाचनोंमें प्रशस्त भाग लेगा और विभिन्न अभारतीय इज्मोंके विषोंद्वारा देशके साथ बदी करनेवाले बादी पुरुषों, महिषासुरों, शुम्भ-निशुम्भों और चंड-मुडोंका प्रत्येक सीटसे "गर्ज गर्ज क्षणं मूढ" कहते हुए मुकाबिला करेगा।

महापरिषद्-सम्वाद

अ० भारतीय महिलासंघका अधिवेशन

अखिल भारतीय आर्यमहिला-हितकारिणी महा-परिषद्की प्रधानमंत्रिणी, आर्यमहिला इण्टरकालेजकी संचालिका माननीया श्रीमती विद्यादेवीजी महोदया जो अ० भारतीय महिलासंघके अध्यक्षापदको भी सुशोभित करती हैं, महिलासंघके कार्यकारिणी समितिके अधिवेशनमें सम्मिलित होनेके लिये बम्बई गयी थीं। आपकी अध्यक्षतामें २० अगस्तको कार्य-कारिणी बैठक हुई जिसमें विभिन्न प्रान्तोंकी महि-लाओंने भाग लिया। उसी दिन अपराह्णमें बम्बई प्रान्तीय महिला-सम्मेलन भी आपकी ही अध्यक्षतामें ही सम्पन्न हुआ है। अनेक आवश्यक प्रस्ताव स्वीकृत हुए। वहाँकी महिलाओंमें जो जागृति एवं उत्साह दीख पड़ा है, उससे विश्वास होता है कि भारतके प्रधान नगर बम्बईका यह सम्मेलन अवश्य सफल होगा।

श्रीमती शान्तादेवी वैद्या प्रधान मन्त्रिणीका उत्साह भी प्रशंसनीय है। इस सम्मेलनने आगामी निर्वाचनमें स्त्रियोंके समानाधिकारके आधारपर आधा सीटका दावा रखते हुए चुनाव करनेका निश्चय किया है। धनसंग्रहके लिये एक समिति बनायी गयी है। श्रीमती गायत्री वाजोरिया कोषाध्यक्षा निर्वाचित हुई। महिलासंघने निर्वाचनके घोषणापत्र तैयार कर लिया है। जिसको प्रचारित और प्रकाशित करनेका भार संघकी प्रधानमन्त्रिणीको दिया गया है। यदि इसी प्रकार तत्परताके साथ महिलासंघका प्रचारकार्य अग्रसर होता रहा तो इसके द्वारा बहुत बड़ी सफलता प्राप्त होनेकी आशा है।

जन्माष्टमी तथा भगवत्पूज्यपाद महर्षि ज्ञानानन्दजी महाराजकी षष्टशती महोत्सव

श्रीभारतधर्म महामण्डलमें जन्माष्टमी महोत्सव बड़े समारोहके साथ मनाया गया। इसी दिन महामण्डलके संस्थापक परम पूज्यपाद महर्षि भगवान् श्रीस्वामीज्ञानानन्दजी महाराजकी १०६ षष्ठशती जयन्ती भी मनायी गयी। प्रारम्भमें सुमधुर सितार-वाद्य तथा संगीतके पश्चात् श्री जलेश्वरनाथ द्विवेदी बी. ए. एल. एल. बी, आर्यमहिला महाविद्यालयके संस्कृताध्यापक पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी व्याकरणाचार्य, पं० शिवनाथ उपाध्याय व्याकरणाचार्य तथा पं० शिवनिधि दूबेका श्रीकृष्ण चरित्र तथा श्रीस्वामी जी महाराजके महान् कार्योंके सम्बन्धमें भाषण हुआ। तत्पश्चात् आचार्य लौटूसिंह गौतम एम. ए. एल. टी. महोदयका श्रीकृष्णचरित्र तथा गीता-महत्त्वके सम्बन्धमें गवेषणापूर्ण अत्यन्त सुन्दर विवेचनात्मक भाषण हुआ अन्तमें भगवान्‌के तथा पूज्यपाद श्रीस्वामी महाराजके तैल चित्रका पूजन तथा भगवन्नाम संकीर्तनके बाद प्रसाद वितरण किया गया। इस अवसरपर आर्यमहिला विद्यालयकी प्रधानाध्यापिका, अध्यापिकायें छात्रायें तथा प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे। उत्सव कार्य रात्रि १ बजे समाप्त हुआ।

आर्यमहिला महाविद्यालयमें स्वतन्त्रता दिवस

आर्यमहिला विद्यालय-भवनमें स्वतन्त्रता दिवसोत्सव राष्ट्रीय ध्वजके अभिवादनसे प्रारम्भ हुआ। विद्यालयकी बालिकाओंने गीत, अभिनय एवं भाषणसे अपने हर्षोल्लासको प्रकट किया। श्रीमती प्रधान अध्यापिकाजीने "हमें स्वतंत्रता दिवस कैसे मनाना चाहिये" पर प्रकाश डाला तथा कुछ अध्यापिकाओंने भी स्वतंत्रता-दिवसके महत्वका परिचय बालिकाओंको दिया। राष्ट्रीयगानके अनन्तर मिठाई वितरण कर उस दिनकी सभा विसर्जित हुई।

आर्यमहिला महाविद्यालयमें जन्माष्टमी महोत्सव

आर्यमहिला विद्यालयमें ता० २४—८—५१ को विद्यालयकी संचालिका श्रीमती विद्यादेवीजीकी अध्यक्षतामें बड़े समारोहके साथ जन्माष्टमी महोत्सव मनाया गया। बालिकाओंद्वारा मधुर मङ्गलाचरणसे कार्यका प्रारम्भ हुआ। विद्यालयके संस्कृत अध्यापक पं० शिवनाथ उपाध्यायने भगवान् कृष्णके लोकोत्तर कार्योंपर अपने भाषणपर प्रकाश डाला। बालिकाओं द्वारा श्रीकृष्ण-सुदामाका अभिनय किया गया जो बड़ा ही सुन्दर था। अन्तमें अध्यक्षाजीने जयन्ती मनानेका उद्देश्य एवं भगवान् कृष्णकी महिमाका दिग्दर्शन कराया और छात्राओंको अपने आदर्शके अनुसार अपना कर्तव्यपालनका उपदेश दिया। अनन्तर पूजन तथा प्रसाद वितरणके पश्चात् समारोह समाप्त हुआ।

पाकिस्तानमें पड़ी लाखों बहिनोंसे राखी कौन बँधवाने जायगा

पिलखुवामें रक्षाबंधनके उत्सवपर भक्त रामशरण दासजीका ओजस्वी भाषणका सारांश

(प्रेषक—राममनोरथसिंह बी० ए०)

पिलखुवाके सुप्रसिद्ध सनातनी नेता भक्तवर रामशरणदासजीका रक्षाबंधन उत्सवपर दिया महत्त्व-पूर्ण यहाँ दिया जाता है। इसे सुनकर सभीके रोमाञ्च खड़े हो गये थे। आशा है पाठक इसे ध्यान-से पढ़ेंगे।

सज्जनों प्रियबन्धुओं। आज रक्षाबन्धनका दिन आगया। आज सभी भारतके हिन्दू भाई अपनी बहिनोंके पास जायेंगे और भाई-बहिनोंसे अपने हाथोंमें राखी बँधवायेंगे। बहिनको भाईके हाथमें राखी बाँधते समय और उसे मीठा खिलाते समय और भाईको बहिनको रुपये भेंट करते समय जो प्रसन्नता होगी वह वर्णन नहीं की जा सकती। सभी भाई बहिनोंके यहाँ राखी बँधवाने जायँगे परन्तु मैं पूछता हूँ, आजके इन बेशर्म हिन्दुओंसे कि क्या कोई माईका लाल जो पाकिस्तानमें पड़ी लाखों हिन्दू ललनाओंसे लाखों बहिनोंसे पाकिस्तानमें जाकर उनसे राखी बँधवायेगा ? ऐहिन्दुवों! क्या तुम पाकिस्तानमें पड़ी मुसलमान गुण्डोंके चंगुलमें फँसी उन हिन्दू बहिनोंके भाई हो या वह तुम्हारी बहिन नहीं है ? आज तो तुमने गाँधीकी अहिंसाका पाठ पढ़ तकली चर्खे घुमा, चर्खे यज्ञकर कायरतासे भारत-माताके खण्ड खण्ड कर अङ्गभङ्गकर, टुकड़े टुकड़ेकर पाकिस्तान बनवाया है, जिसमें आज लाखों बहिनें गुण्डोंके घरोंमें पड़ी खूनके आँसू बहा रही हैं, रो रही हैं, दहाड़ मार रही हैं, बिलबिला रही हैं आज उन निरपराध बहिनोंको छुड़ाकर लाना, उनकी सुधि लेना उन बहिनोंके आँसू पोंछना, उनसे राखी बँधवाना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है ? क्या आज तुम्हारा यही एकमात्र कर्तव्य रह गया है कि बहिन बेटियाँ भलेही दहाड़ मारमार कर रोती रहें, लाखों मठ मन्दिर ढाकर धूलीमें मिलाये जाते रहें, करोड़ों हिन्दू दरदरके भिखारी बनाये जाते रहें और हम १५ अगस्तकी खुशीमें गुलछर्रे उड़ाते रहें, गाते बजाते रहें, सिनमा नाटक देखते रहें ? हिन्दुवों! क्या सर्वस्व नष्ट हो जानेपर भी आज भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलीं तुम्हारी कुम्भकर्णी निद्रा भंग नहीं हुई ? क्या जिन नेताओंने तुम्हारे देशके टुकड़े टुकड़े कराये, करोड़ो हिन्दुवोंको दरदरके भिखारी बनाये क्या आज भी तुम इन नेताओंसे अपनी रक्षाकी आशा लगाये बैठे हो ? अरे मूर्ख हिन्दूओं! यदि यह काँग्रेसी हिन्दुस्तानी तेरी पाकिस्तानमें पड़ी लाखों हिन्दू बहिन-बेटियोंको अपनी बहिन बेटी मानते तो क्या उनकी यह हालत होती। अरे तू किनसे आशा लगाये बैठा है ? याद रख यह तेरी आशा निराशामें परिणत होगी ? मैं आज डंकेकी चोट घोषणा कर पूँछता हूँ, कि है कोई माईका लाल है कोई महाराणाप्रताप शिवाकी संतान, जन्मा है किसी वीराङ्गना पतिव्रता क्षत्राणीने अपनी पवित्र कोखसे ऐसा शेर जो मूँछोंपर ताव दे सिंहनाद करता हुआ पाकिस्तानीके घरोंमें जा बहिनोंको छुड़ा-कर लावे और उनसे राखी बँधवाये ? ऐ

एक सीताके लिये राम रावण युद्ध करनेवाले हिन्दुवों! एक द्रौपदीके लिये महाभारत रचाने वाले हिन्दुवों! आज तुम्हें क्या हो गया है? आज क्या तुम्हें पाला मार गया है, तुमपर फालिज पड़ गया है क्या तुममें-से हिन्दुत्व समाप्त हो गया है? आज लाखों बहिनोंके गुण्डोंके चंगुलमें फँसी रहनेपर भी तुम्हारे कानोंपर जूँ नहीं रेंगती, तुम्हारी निद्रा भंग नहीं होती, तुम्हारा खून नहीं खौलता? अरे तुम मनुष्योंसे तो लाख दर्जे अच्छा था भारतका वह गृद्ध जिसने सीताकी रक्षाके लिये अपने पर कटवा दिये पर अपने सामने भारतीय हिन्दू ललनाका अपमान होते नहीं देखा। तुमसे करोड़ दर्जे अच्छे थे वे बन्दर भालू जिन्होंने रामका साथ दे रावणकी लंकाको फूँका और भारतीय हिन्दू ललनाको छुड़ाकर ही दम लिया। आज तुम्हारा छुड़ाना तो दूर तुम्हें तो खुशियाँ मनाने गाने बजाने डाँस करानेकी रंगा रेलियाँ मनानेकी सूझ रही है क्या वास्तवमें आज तुम्हारा यहीं कर्तव्य है? मैं तो आज यही कहूँगा कि! एहिन्दू! यदि तेरे अन्दर कुछ भी हिन्दुत्व शेष हो, राणा शिवाका खून हो तो उठ पाकिस्तानमें पड़ी बहिन बेटियोंको छुड़ाये बिना, उनसे राखी बँधबाये बिना दम न ले आज यही तेरा एक मात्र कर्तव्य है।

क्या हिन्दू मेरी तुच्छ प्रार्थनापर ध्यान देगा?

पृथ्वीके भार कौन है?

कैसे मनुष्य पृथ्वीके भाररूप है, इस विषयमें महाराज भर्तृहरिने कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न दया न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

अर्थात् जिसके न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न शील है, न दया है, और न धर्म है, वे इस पृथ्वीके भारभूत हैं और मनुष्यके रूपमें पशु है।

अतः प्रत्येक मनुष्यको चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, विद्याका अध्ययन अवश्य करना चाहिये, तपस्या अवश्य करनी चाहिये सत्पात्रमें दान अवश्य करना चाहिये, ज्ञानका अर्जन भी अवश्य करना चाहिये, शीलवान् भी होना चाहिये, दीन-दुःखियोंपर दया करनी चाहिये और अपने अपने धर्मका पालन करना अवश्य चाहिये। इन गुणोंसे युक्त मनुष्य ही मनुष्य कहलाने-योग्य है; अन्यथा श्रीभर्तृहरिजीके शब्दोंमें वह मनुष्यरूपमें पशु है और संसारका भार है।

हिन्दू-कोडबिल

हिन्दूनरनारियोंको चुनौती

आये दिन देशपर नानाप्रकारके संकटके बादल मडरा रहे हैं। कहीं अतिवर्षा, कहीं अवर्षा कहीं जलसावन, कहीं सूखा हो रहा है। उधर मियाँ लियाकतअली खाँ मुक्का ताने युद्धके लिये ललकार रहे हैं; और पाकिस्तानमें जेहादका जोरदार प्रचार चल रहा है। इधर अन्नके लिये हाहाकार मचा है। वस्त्रका अकाल है। देशके विभाजनके फलस्वरूप हमारे लाखों भाई-बहिन आश्रय-हीन हो कुत्ते-बिल्लियोंसे भी हीन जीवनके दिन बिता रहे हैं। ये सब बड़ी-बड़ी विकट विपत्तियाँ हमारी सरकारके सामने खड़ी हैं, परन्तु इनकी हमारी अपनी कहानेवाली सरकारको कोई चिन्ता नहीं। उसे हिन्दू-कोडबिल पास करनेकी उतावली हो रही है। इसीलिये १० सितम्बरको हिन्दूकोडबिल संसद्के अधिवेशनमें लाया जा रहा है। क्योंकि सरकारको अपना हठ पूरा करना है। अपने इस हठके सामने सरकार अपनी धर्मनिरपेक्षता नीतिको भी तिलाञ्जलि दे रही है, क्योंकि हिन्दू-कोडबिल हिन्दूधर्मपर प्रत्यक्ष प्रहार है और हम तीस करोड़ सनातनी हिन्दू नरनारियोंको चुनौती है! इसका उत्तर हमको इतनी दृढ़तासे देना चाहिये कि सरकार यह अनुभव करे कि, हिन्दूजनतापर उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई भी कोड सरकार अपने सत्ताके बलपर लाद नहीं सकती। सरकार अपने सत्ताके मद (नशे) में चूर हो रही है, वह समझती है, कि वह जो चाहे कर सकती है। हिन्दूजनताको अपने उग्र विरोध प्रदर्शनद्वारा सरकारको यह बता देना चाहिये कि, वह सरकारकी यह अनधिकार चेष्टा कदापि सहन नहीं करेगी। जिस हिन्दू-कोडबिलकी किसीकी ओरसे माँग नहीं की गयी, किन्तु इसके प्रारम्भसे लेकर अबतक देशके सर्वमान्य बड़े-बड़े विद्वानों, जजों, वकीलों तथा सब श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंने विरोध किया; सरकारके पास लाखों विरोध-पत्र, एवं तार भेजे गये, हजारों सभाओं-अधिवेशनोंमें लाखों नरनारियोंने इसके विरोधमें प्रस्ताव स्वीकृत किया और इसे वापस लेनेके लिये सरकारसे प्रार्थना की, अनुनय-विनय किया; परन्तु सरकारने एक नहीं सुनी और उसे पास करनेके लिये १० सितम्बरसे विचार होने जा रहा है। यह घोर अन्याय और गणतन्त्रका गला घोंटना नहीं तो और क्या कहा जा सकता है? अतः हिन्दूनरनारियोंसे हमारी प्रार्थना है कि, अब प्रमाद-निद्रामें सोनेका समय नहीं है। अधिकसे अधिक संख्यासे दिल्ली चलिये और अपने शान्तिपूर्ण उग्रविरोध प्रदर्शनसे हिन्दूकोडबिल पास करना असम्भव कर दीजिये। जो नहीं जा सकें, वे प्रधान मन्त्रीके पास तार या पत्र भेज अपना विरोध प्रकट करें। आपहीके मतोंसे (वोटोंसे) हुकूमतकी कुर्सियोंपर बैठकर आपहीकी गाढ़ कमाईका रुपया कररूपमें लेकर आपहीके धर्म-संस्कृति एवं परम्पराका नाश करनेका जो यह दुःसाहस सरकार करने जा रही है, उसे बतला दीजिये कि,हम हिन्दू-नरनारी अभी जीवित हैं; हम अपने ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्मित मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदिकी जगह अम्बेदकर-स्मृति हिन्दू-कोडबिल कदापि नहीं स्वीकारकरेंगे।

———

विद्यादेवी।

कर्ममीमांसादर्शन।

[गतांकसे आगे]

एक कर्म है। द्रव्यशुद्धिके विचारसे किया हुआ भोजन सात्त्विक, केवल स्वादके विचारसे किया हुआ भोजन राजसिक और बिना विचारे अनर्गल भोजन तामसिक होगा। यज्ञशेषरूपसे भोजन अध्यात्मशुद्धिप्रद, इष्ट-प्रसन्नता अर्थात् साम्प्रदायिक विचारसे भोजन अधिदैवशुद्धिप्रद और केवल शरीरके नैरोग्यके विचारसे किया हुआ भोजन अधिभूतशुद्धिप्रद होगा। इसी प्रकार दान एक धर्माङ्ग है। केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे किया हुआ दान सात्त्विकदान होगा, मतलबसे किया हुआ दान राजसिक दान होगा और अनर्गल बिना विचारे किया हुआ दान तामसिक दान कहावेगा। इसी प्रकार वह दान जगत्को ब्रह्मरूप समझकर किया जाय, तो अध्यात्मशुद्धिप्रद होगा। अपने देश, अपनी जाति अपने इष्टदेव और अपने पितृ आदिके निमित्त जो दान होगा, वह अधिदैवशुद्धिप्रद होगा और जो दान अपने ही शरीरके लक्ष्यसे होगा, वह अधिभूतशुद्धिप्रद होगा इसी प्रकारसे त्रिगुण और त्रिभावके परस्पर सम्मेलनके घात-प्रतिघातसे धर्म और कर्म नाना वैचित्र्यरूपको धारण करता है ॥२२१॥

और भी कहते हैं :—

त्रिभावकी युगपत् क्रिया होनेसे भी ॥२२२॥

जितने प्रकारके कर्म हैं, वे तीन भावोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। यथा :—शारीरिक कर्म, जिसमें वाचनिककर्मादि भी सम्मिलित हैं। मानसिक कर्म, जिसमें संकल्पादि सम्मिलित है और बौद्धिककर्म, जिसमें ज्ञान और विचारका सम्बन्ध है। सब कर्म इन्हीं तीनों श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। एकसे दूसरी श्रेणी और दूसरीसे तीसरी श्रेणी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है। इस कारण एक समयमें ही तीनोंकी अलग अलग क्रिया प्रकट हो सकती है। मनुष्य जब जगत्के लिये दान करता है, तो वह शारीरिक कर्म है। जब जगतके लिये दानका संकल्प करता है, तब वह मानसिक कर्म और जगतकल्याणके लिये दानका उपाय निर्धारण करता है, वह बौद्धिक कर्म है। परन्तु एकसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी श्रेणीका सूक्ष्मतरराज्यसे सम्बन्ध रहनेके कारण तीनोंकी क्रिया एक साथ भी हो सकती है। इसका उदाहरण यह है कि, ब्राह्मणभोजन एक अधिभौतिक यज्ञ है। यज्ञकर्त्ता उत्तम पदार्थ देकर श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराता है। उत्तम पदार्थोंका संग्रह करना और सदाचारसे भोजन कराना यह शारीरिक कर्म है। इसमें शील और सदाचारादि तथा धनव्ययकी आवश्यकता होती है। सबको उत्तम योजनासे ब्राह्मणभोजनरूपी आधिभौतिक यज्ञ सुसम्पन्न होता है। परन्तु उसी समय यज्ञकर्त्तामें साथ ही साथ मानसिककर्म और बौद्धिककर्म भी हो सकता है। ब्राह्मणोंकी बाह्यचेष्टापर अनुकूल अथवा प्रतिकूल लक्ष्य डालना मानसिक कर्म है। उसी प्रकार कौन कैसा पात्र है, इसका विचार करना बौद्धिककर्म है। ये तीनों ही युगपद् हो सकते हैं और यज्ञके फलको सुधार सकते हैं अथवा बिगाड़ सकते हैं ॥२२२॥

त्रिभावस्य युगपत्कार्य्यकारित्वं चापि ॥२२२॥

प्रसङ्गसे फलोत्पत्तिका मूल कह रहे हैं :—

वासना ही फलोत्पत्तिका मूल है ॥२२३॥

चाहे तामसकर्म हो, चाहे राजसकर्म हो, चाहे सात्विककर्म हो, चाहे अध्यात्मकर्म हो, अधिदैवकर्म हो या अधिभूतकर्म हो, चाहे शारीरिककर्म हो मानसिककर्म हो अथवा बौद्धिककर्म हो, सब अवस्थामें ही यदि वासना-संग्रहका अवसर रहे, तो वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म और कर्मसे कर्मफल उत्पन्न होता है। केवल वासनासे फलोत्पत्ति नहीं होती। उसी प्रकार वासनारहित कर्मसे भी फलोत्पत्ति नहीं होती। यही कारण है कि, वासनारहित कर्म जीवन्मुक्त करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त रहते हैं। अतः कोई कर्म हो, साथ साथ वासना रहनेसे फलोत्पत्ति होती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, धान्य-वृक्षका यदि सब धान्य संग्रह करके काममें लाया जाय, तो उसका बीज नष्ट हो जानेसे उस धान्यकी जाति नष्ट हो जाती है और बीज रहनेसे पुनः बीजसे वृक्ष और वृक्षसे फलकी उत्पत्ति होना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार वासनाके प्रभावसे सब कर्मोंसे फलोत्पत्ति होना निश्चित है। वासना बराबर बनी रहनेसे कर्मकी उत्पत्ति अवश्य होती रहती है ॥२२३॥

और भी कहते हैं :—

क्रियाकी प्रतिक्रिया होना निश्चित होनेसे भी ॥२२४॥

प्राकृतिक स्पन्दनसे क्रियाकी उत्पत्ति होती है और त्रिगुणके स्वाभाविक तरङ्गसे प्रकृतिमें स्पन्दन होता रहता है। इस कारण प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होना भी स्वाभाविक है। त्रिगुण-जनित एक क्रिया जब उत्पन्न होती है, तो जैसे तड़ागका जलतरङ्ग तड़ागके तटतक पहुँचकर स्वभावसे ही पलट जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक क्रियाकी समाप्तिमें प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। दूसरी और सब दृश्यपदार्थ देश-कालसे परिच्छिन्न हैं। इस कारण तरङ्गका पलटना होता ही रहता है। कर्मरूपी ऊर्मिमालाएँ व्यक्तिगत देश और कालरूपी तटमें पहुँचते ही पुनः लौटती हैं। यही क्रियासे प्रतिक्रियाके अवश्यम्भावी होनेका मौलिक सिद्धान्त है ॥२२४॥

प्रसंगसे फलोत्पत्तिका प्रकार कह रहे हैं :—

शरीर, शक्ति, जाति, आयु, भोग, प्रकृति और प्रवृत्ति प्रारब्धजनित होती है ॥२२५॥

कर्मफल उत्पन्न होते समय जब प्रारब्ध बनता है, तो उससे स्थूलशरीर, स्थूल और सूक्ष्मशक्ति, ब्राह्मणादि तथा आर्य-अनार्य आदि जाति, आयुका काल, भोगके विषय, जीवकी प्रकृति और प्रवृति ये सब जीवको प्राप्त होते हैं। संस्काररूपी बीजसे वासनाकी सहायतासे जब प्रारब्धरूपी अङ्कुरोत्पत्ति होती है, तो उस समय प्रारब्धभोगके अनुकूल जीवको स्थूलशरीर, यथायोग्य शक्ति, प्रारब्धके अनुकूल जाति, आयु और भोग तथा अङ्कुरित संस्कारके अनुकूल स्थूलशरीरकी प्रकृति और सूक्ष्मशरीरकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है ॥२२५॥

वासनैव फलोत्पत्तौ मूलम् ॥२२३॥

क्रियाप्रतिक्रियाया नूनं भावित्वं च ॥२२४॥

शरीर-शक्ति-प्रकृति-प्रवृत्ति-जात्यायुर्भोगाः प्रारब्ध-जन्याः ॥२२५॥

प्रसङ्गसे भोग के भेद कह रहे हैं :—

भोगसमूहके चौबीस भेद हैं ॥२२६॥

जहाँ क्रिया होती है, वहाँ प्रतिक्रिया अवश्य होती है और जहाँ बीज रहता है, वहाँ अवसर मिलनेपर उससे अङ्कुरोत्पत्ति होना निश्चित है। इसी प्रकार प्रारब्धजनित भोगका होना अवश्यम्भावी है। वह भोग अनन्त प्रकारका होनेपर भी कर्मपारदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने अनन्तभोगराशिको चौबीस श्रेणियोंमें विभक्त किया है। जीव जो कुछ कर्म शरीरद्वारा, मनद्वारा या बुद्धिद्वारा करता है, वह सब कर्म प्रतिक्रियारूपसे संस्कार उत्पन्न करता है। उस संस्कार-राशियोंमेंसे जो जो संस्कार प्रारब्ध बनकर अङ्कुरोत्पन्न करने लगते हैं, वे ही भोग उत्पन्न करते हैं। इस अत्यन्त गम्भीर कर्म-प्रतिक्रियाशैलीको अच्छी तरह समझनेके लिये और भी स्पष्ट विचारकी आवश्यकता है। पहले कहा गया है कि, संस्कार दो प्रकारका होता है। एक स्वाभाविक, दूसरा अस्वाभाविक। स्वाभाविक संस्कारकी गति और क्रिया एक ही प्रकारकी होती है और उसमें प्रतिक्रियाकी कोई सम्भावना नहीं रहती। यह कैसे सम्भव है, सो पूर्वपादमें अच्छी तरह कहा गया है। अस्वाभाविक संस्कारका मूल जैववासना है। जब जीव मनुष्य-योनिमें पहुँचता है, तो उसके पाँचों कोष पूर्ण हो जानेसे नवीन वासना करनेकी शक्ति प्राप्त करता है। वासना विचित्र होती है। इसलिये प्रतिक्रिया भी विचित्र होती है। प्रतिक्रियाको विचित्रताके कारण फलोत्पत्तिमें भी विचित्रता होती है। मनुष्यशरीर अथवा देव-शरीर पाकर जीव जबतक वासनाके वशीभूत रहता है और मुक्त नहीं होता है, तबतक वह हर समय वासना करता रहता है। चाहे शारीरिक कर्म करे, चाहे मानसिक कर्म करे और चाहे बौद्धिक कर्म करे, वह कर्म करते समय चित्तमें वासना जड़ित रहनेसे अपने चित्तमें उक्त कर्मोंका बीजरूपी संस्कार लेकर जमा करता जाता है। यही अनन्त जन्म-जन्मान्तरका अनन्त वैचित्र्यपूर्ण कर्मवृक्षसे संगृहीत बीजरूपी संस्कार-राशिका बीजसंग्रह-गृहरूपी संचित-कर्म कहाता है। बुद्धिभेद न हो, इसलिये कहा जाता है कि, कर्म चाहे क्रियारूपमें रहे, या संस्कार-रूपमें रहे, उसको कर्म ही कहते हैं। इसका उदाहरण यह है कि, ब्राह्मणकर्म और क्षत्रियकर्म भी कर्म कहाता है और साधारणरूपसे क्रियमाणकर्म और संचितकर्म भी कर्म कहाता है। जैसे शास्त्रोंमें आत्मा शब्दका प्रयोग आत्माके लिये भी आता है, प्रकृतिके लिये भी आता है और जीवात्माके लिये भी आता है; ठीक उसी प्रकार कर्म-शब्दका प्रयोग भी व्यापक है। ये सब बातें समझकर कर्म, संस्कार और कर्म-फल आदि शब्दोंके प्रयोगोंको हृदयङ्गम करना उचित है। क्रियाके कर्त्ताके हृदयकी वासनाके अनुसार क्रियाका बीजरूपी संस्कार संग्रह होता है। वही संस्काररूपी बीज समयपर अङ्कुरित होता है, तब पुनः वृक्षरूप धारण करके क्रियाके रूपमें होकर फलोत्पन्न करता है। यही पूर्वक्रियाकी प्रतिक्रिया है। फल भोग करते समय जीव वासनाके बलसे पुनः संस्कार-रूपी बीज संग्रह करता है। यही "बीज-वृक्षन्याय" का अनादि-अनन्तप्रवाह है। इस प्रवाहके सब स्थलोंको ही कर्म शब्द-वाच्य किया जाता है। अब

चतुर्विंशतिभेदा भोगाः

जिज्ञासुको शंका यह हो सकती है कि, भोगके समय भोगकी परिसमाप्तिसे उस कर्मका हान हो जाना उचित था, सो क्यों नहीं होता? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, जीव अपनी पूर्व-जन्मार्जित वासना और संस्कारके बलसे क्रियासे प्रतिक्रिया उत्पन्न करके फलभोग कर लेता है। परन्तु फलभोग करते समय भी उसका अन्तःकरण वासना-जालसे जड़ित रहता है। इसी कारणसे फलभोगरूपी प्रतिक्रियाका अवसान हो जानेपर भी नवीन वासना नवीन संस्कार संग्रह कर लेती है और उस नवीन वासनासे उत्पन्न क्रिया पुनः दूसरी प्रतिक्रियाकी कारण बन जाती है, यही क्रिया और प्रतिक्रियाका क्रम अनन्त वैचित्र्यमयी भागशृङ्खला एवं नियमित घूर्णाय-मान आवागमनचक्रको स्थायी रखता है। क्रिया-वैचित्र्यके अनुरूप प्रतिक्रियावैचित्र्य होनेसे भोग-वैचित्र्यका होना भी स्वाभाविक है। तौ भी पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने भोगकी श्रेणियाँ बाँध दी हैं। वे ही श्रेणियाँ चौबीस हैं, जिनका दिग्दर्शन आगे कराया गया है ॥२२६॥

अब उसका विस्तार कह रहे हैं :—

सुखी, दुःखी, ज्ञानी, मूढ़ और विकलाङ्गरूपसे मनुष्योंका भोग पाँच प्रकारका है ॥२२७॥

भोगसमूहको समझानेके अभिप्रायसे प्रकृतिके चौबीस भेदोंके अनुसार दर्शनकार ने उनको चौबीस श्रेणियोंमें विभक्त किया है। यद्यपि कर्म-वैचित्र्यके अनुसार भोगवैचित्र्य स्वाभाविक और अनन्त है, तथापि यथासम्भव भेद बतानेके लिये उसकी चौबीस श्रेणियाँ बाँधी गयी हैं। उनमेंसे पाँच श्रेणियाँ मनुष्यपिण्डकी हैं। यथा—सुखी मनुष्योंका भोग, और दुःखी मनुष्योंका भोग, जिनका सम्बन्ध स्वर्ग और नरकके साथ दिखाया जा सकता है और जो स्वाभाविक है। तीसरा ज्ञानी मनुष्योंका भोग, जो अपने ज्ञानसे भोगको घटा सकते हैं। चौथा मूढ़ मनुष्योंका भोग, जिनको अपने भोगका पता ही नहीं चलता है और पाँचवाँ विक-लाङ्ग मनुष्योंका भोग, जिनके कर्मेन्द्रिय या ज्ञाने-न्द्रियोंके नष्ट होनेसे उनके भोगोंमें बहुत कुछ विचित्रता आजाती है ॥२२७॥

और भी कह रहे हैं—

नित्य, नैमित्तिक और तीर्य्यक्रूपसे देवताओं-का भोग त्रिविध है ॥२२८॥

ब्रह्माण्डके सब लोकोंके भोगोंमेंसे स्वर्ग-सुखभोग सबसे वैचित्र्यपूर्ण होनेपर भी उसको तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—स्वर्गके दिकपालादि पदधारियोंका भोग, स्वर्गमें गये हुए स्वर्गसुखभोगी जीव-समूहका भोग और स्वर्गके नानाविध भूतसङ्घ-का भोग। स्वर्गीय इन्द्रादि देवपदधारी ऐशकर्मके फलसे स्वर्गके पदधारी बन जाते हैं और वहाँका सुखभोग करते हुए प्रायः अभ्युदयको प्राप्त करते रहते हैं। यह स्वर्गसुखका एक प्रकार है। उसी प्रकार मृत्युलोकस्थ पुण्यात्मा जीव शरीरपातके अनन्तर कुछ समयके लिये स्वर्गमें जाकर वहाँका सुखभोग करते हैं। यह स्वर्गसुखका दूसरा प्रकार है और स्वर्गमें जो पारिजात आदि वृक्ष, कोकिल आदि पक्षी एवं इसी प्रकारके नानासुखभोगी जीवोंका भोग है, वह स्वर्गीय सुखका तीसरा प्रकार है ॥२२८॥

सुखिदुःखिज्ञानिमूढविकलाङ्गतया मानवानाम् ॥२२७॥

नित्यनैमित्तिकतिर्य्यक्तया देवानाम् ॥२२८॥

और भी कह रहे हैं—

उसी प्रकार नारकियोंका ॥२२६॥

शरीरान्त के अनन्तर दुःखभोगका स्थान नरक-लोक है। जो जीव पापकर्म करते हैं, उनको नरककी प्राप्ति होती है। नरक भी रौरव, कुम्भिपाक आदि अनेक प्रकार के हैं। वहाँके भोगको भी तीन श्रेणियोंमें विभक्तकर सकते हैं। नरकके पदाधिकारी जो वहाँका प्रबन्ध करते हैं, उनका भोग, जो जीव मृत्यु आदि लोकोंसे अपने अपने पापकर्मके लिये वहाँ भेजे जाते हैं, उनका भोग और वहाँके काग, गृध्र, शृगाल आदि तिर्य्यक् योनियों का भोग ॥२२६॥

और भी कह रहे हैं—

तीन पिण्डके अनुसार अवतारोंका है ॥२३०॥

अवतार तीन श्रेणीके तीन पिण्डोंको अवलम्बन करके हुआ करते हैं। यथा—श्रीराम, कृष्ण आदि मानवपिण्डधारी अवतार, मत्स्य, कूर्म आदि सहज-पिण्डधारी अवतार और नृसिंह, हयग्रीव आदि देव-पिण्डधारी अवतार। अवतारोंमें विशेषता यह होती है कि, उनके भोगका सम्बन्ध एक ओर उस देहधारीके साथ और दूसरी ओर जिसका अवतार होता है, उसके साथ रहनेसे उनके भोगमें वैचित्र्य आ जाता है। इस भोग की विचित्रताकी भी तीन श्रेणियाँ बाँधी गयी हैं ॥२३०॥

और भी कहते हैं—

उसी प्रकार आरूढ़पतितोंका ॥२३१॥

आरूढ़पतित जीवोंका भोग त्रिविध होता है। चाहे देव योनि हो, चाहे असुर योनि हो, चाहे मनुष्ययोनि हो, सब श्रेणियोंके जीव ही आरूढ़पतित होकर तीन श्रेणियोंके पिण्डोंका आश्रय कर सकते हैं। यथा—सहजपिण्ड, देवपिण्ड और मानवपिण्ड। देवपिण्डके अनेक उच्च नीच विभाग हैं, उनमेंसे उच्च अधिकारसे निम्न अधिकारमें आरूढ़पतित होना सम्भव होता है। दूसरी ओर देवपिण्डधारियोंका तीर्यकयोनिमें आना सम्भव है। यथा—यमलार्जुन नामक देवताओंका मृत्युलोकमें वृक्षयोनिमें आजाना। इसी प्रकार देवताओंका आरूढ़पतित होकर मानव-पिण्डमें आनेके प्रमाण पुराण-शास्त्रोंमें अनेक मिलते हैं। यथा—जय विजय आदिके। इसी प्रकार मृत्यु-लोकके मनुष्योंका भी आरूढ़पतित होकर तिर्य्यक योनिमें पहुँचनेका प्रमाण पुराणोंमें बहुत मिलता है। यथा—भरतका मृग होना, पिङ्गाक्ष्य, विराध, सुपुत्र और सुमुख नामक मुनिपुत्रोंका पक्षियोनिमें आरूढ़ पतित होना। सुतरां आरूढ़पतितकी तीन श्रेणियाँ बाँधकर उनके भोगोंका भी त्रिविध विभाग कर सकते हैं ॥२३१॥

और भी कहते हैं—

स्वर्ग-नरक-सम्बन्धसे आतिवाहिकका भोग द्विविध है ॥२३२॥

एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जाते समय जीवको जो अस्थायी स्थूलशरीर मिलता है और जिस अव-स्थाको पाकर पुण्यात्मा सुख भोगता हुआ और पापात्मा दुःख भोगता हुआ एक लोकसे लोकान्तरमें जाता है, जीवकी उस गतिको आतिवाहिक गति और उस समय जो स्थूलशरीर प्राप्त होता है, उसको

तद्वदेव नारकिनाम् ॥२२९॥

पिण्डत्रयानुसार्य्यवताराणाम् ॥२३०॥

तद्वदारूढपतितानाम् ॥२३१॥

आतिवाहिको द्विधा स्वर्गनरकाभ्याम् ॥२३२॥

आतिवाहिक शरीर कहते हैं। तत्त्वदर्शी मुनियोंने उस अवस्थाके भोगके दो भाग किये हैं। यथा—नरकलोकमें जाते समय दुःखमय भोगकी प्राप्ति होती है और स्वर्गलोकमें जाते समय सुखमय भोगकी प्राप्ति होती है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि, इस मृत्युलोकके शरीरसे ही जिनकी गति स्वर्गलोकमें होती है, जैसी धर्मराज युधिष्ठिर और वीरवर अर्जुन तथा और अनेक राजाओंकी हुई थी, उसको क्या समझना चाहिये? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि, इस प्रकारके अलौकिक शक्तिविशिष्ट व्यक्तियोंके एक लोकसे लोकान्तरको जाते समय दैवीसहायतासे उनके शरीरमें परमाणुओंका परिवर्तन होकर जो विशेष अवस्था प्राप्त होती है, वह भी आतिवाहिक गतिका एक विशेष प्रकार है। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, स्वलोक तेजस्तत्त्व प्रधान है और मृत्युलोक पृथिवीतत्त्वप्रधान है। इस कारण तैजसतत्त्वके लोकमें पार्थिवतत्त्वका शरीर तभी पहुँच सकता है, जब उस शरीरके परमाणुओंका परिवर्तन हो जाय। देवताओंकी सहायतासे ऐसा हो जाना असम्भव नहीं है। अतः दार्शनिक विज्ञानसे यह निश्चित है कि, दैवीसहायतासे किसी असाधारण दशामें स्थूलशरीरमें ऐसा परिणाम हो सकता है और जब स्थूलपार्थिवदेहधारी व्यक्ति मृत्युलोकसे भूलोकके देशोंको अतिक्रमण करता हुआ, तदन्तर भुवर्लोकके देशोंका अतिक्रमण करता हुआ स्वर्लोकमें पहुँचता है और यहाँ अपना स्थूलशरीर छोड़कर नहीं जाता, तो अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि, उस गतिके समय उसके स्थूलशरीरमें दैवीसहायतासे ऐसा परिणाम होता है कि, जिससे वह लोकान्तरमें जा सके। यह परिणाम उसके लिये आतिवाहिक देहका काम करता है ॥२३२॥

और भी कहते हैं—

पदाधिकारी और नैमित्तिक प्रेतोंका इस तरह प्रेतत्वका भोग द्विविध है ॥२३३॥

प्रेतलोकके जीवोंके भोगोंके दो विभाग किये जा सकते हैं। यथा—प्रेतलोकके पदधारी बेतालादिका भोग और प्रेतलोकगामी जीवोंका भोग। प्रेतलोकके पदधारी प्रेतोंका सम्हाल करते हैं, उनको रक्षा करते हैं और उनको दण्ड भी देकर उनके अधिकारके अनुसार उन्हें चलाते हैं। इस कारण प्रेतलोकगामी साधारण जीवोंसे उनका भोग विशेष है ॥२३३॥

और भी कह रहे हैं—

भक्त और ज्ञानीका भोग एक एक है ॥२३४॥

ब्रह्माण्डकी भोगश्रेणियोंकी पर्यालोचना करनेपर यह भी विचारमें आवेगा कि, सबसे उन्नत ब्राह्मस्वर्गमें जिसको पञ्चम, षष्ठ और सप्तमलोक अर्थात् जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक कहते हैं और शास्त्रोंमें जिनको ब्रह्मलोक भी कहते हैं, उनमें नाना उपासनालोक और नाना ज्ञानलोक भी विद्यमान हैं। वहाँके रहनेवाले महात्माओंकी भोग-श्रेणी दो भागोंमें विभक्तकर सकते हैं। एक वह श्रेणी है, जिसमें सालोक्य, सामीप्य आदि गतिप्राप्त महात्माओंके भोग, उपासना-सम्बन्धीय भोगके दृष्टान्त हैं। ऐसे उपासक महात्माओंके भोग अन्य भोगोंसे अतिविलक्षण होते हैं और ज्ञानी महात्माओंके भी भोग ऐसे ही विचित्र

प्रेतानां द्विधा पदनिमित्ताभ्याम् ॥२३३॥

भक्तज्ञानिनोरेकैकः ॥२३४॥

होते हैं। देवलोकके ऐश्वर्यियोंका भोग इसी श्रेणीमें समझना उचित है। इस प्रकारसे उपासक महात्माओंके भोग और ज्ञानी महात्माओंके भोग एक-एक श्रेणीके अलग-अलग होते हैं, ऐसा समझना उचित है ॥२३४॥

और भी कह रहे हैं—

विलक्षणता होनेसे स्त्रियोंकी भोगश्रेणी एक है ॥२३५॥

जितने प्रकारकी भोगश्रेणियाँ हैं, उनमेंसे तेईसका वर्णन करके अब चौबीसवीं भोगश्रेणीका वर्णन महर्षिसूत्रकार कर रहे हैं। स्त्रियोंका भोग एक स्वतन्त्र श्रेणीका है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, सृष्टिधारामें स्त्री-धारा और पुरुष धारा दोनों अलग-अलग बहती हैं। एकमें आकर्षण शक्ति और दूसरीमें विकर्षणशक्ति विद्यमान है। एक क्षेत्ररूपा है, दूसरी बीजरूपा है। अतः दोनोंका भोग स्वतन्त्र स्वतन्त्र होगा, इसमें संदेह नहीं। इस कारण स्त्री-जातिकी भोग-श्रेणी एक स्वतन्त्र भोगश्रेणी है, ऐसा मानना ही पड़ेगा ॥२३५॥

प्रसङ्गसे कहते हैं :—

आवान्तर भेदसे अनेक प्रकारका है ॥२३६॥

यद्यपि दार्शनिक विचारके अनुसार विभाग करनेसे भोगके चौबीस प्रकार होते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है, परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि, इनके आवान्तरभेदसे भोगके अगणित भेद होंगे यथा—स्त्री-शरीरके, स्त्री-संस्कारके अनुसार भोगकी एक ही श्रेणी होनेपर भी त्रिलोक-पवित्रकारिणी सतीके भोग, अपवित्र वेश्याके भोग, माताके भोग और स्त्रीके भोग तथा उनके भी आवान्तर भोगोंकी अनेक श्रेणियाँ बन सकती हैं। इसी प्रकार देवपदधारी व्यक्तियोंके भोगके देश-काल-पात्रभेदसे अनेक भेद हो सकते हैं। यथा—चतुर्विध-भूतसङ्घके चालक पदधारी, विभिन्न पीठोंके रक्षक विभिन्न देवपदधारी और दिक्पालपदके अधिकारी व्यक्तियोंके भोगोंमें बहुत व्यवधान होगा। इस प्रकार प्रत्येकके आवान्तर भेदोंसे भोगोंकी अगणित श्रेणियाँ हो सकती हैं ॥२३६॥

प्रसंगसे कहते हैं—

भोग-वैचित्र्य होनेसे प्रारब्धभोगके भी अनेक आवान्तर भेद होते हैं ॥२३७॥

ऐसा देखनेमें आता है कि, प्रारब्धसे जीवको विशेष धनकी प्राप्ति होनेपर भी कोई उसको पापमें लगाता है, कोई उसको पुण्यमें लगाता है और कोई उसको सञ्चय करके दूसरोंके भोगके लिये रख जाता है। सञ्चय करनेवाले धनीको यथेष्ट सदुपदेश देनेपर भी वह धन-व्यय नहीं कर सकता। इसी प्रकार विद्या, बल और नाना ऐश्वर्योंकी प्राप्तिके उदाहरणसे इस सूत्रके विज्ञानको समझना उचित है ॥२३८॥

वह कैसे होता है, सो कहा जाता है—

सभी भोग दोनों शरीरोंद्वारा होते हैं ॥२३८॥

कर्मका विपाकरूप भोग स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर इन दोनों के द्वारा ही हुआ करता है। प्रथम

स्त्रीणामेक एव वैलक्षण्यात् ॥२३५॥
आवान्तरभेदादनेकधा ॥२३६॥
प्रारब्धमप्येवं भोगवैचित्र्यात् ॥२३७॥
सर्वेऽपि देहाभ्याम् ॥२३८॥

तो साधारणतः दोनों शरीर ही भोगको सुसिद्ध करते हैं। जैसा पहले कहा गया है कि भोगमें स्थूलशरीर भोगका आयोजन करता है और अन्तः-करण उसका अनुभव करता है। यह साधारण नियम है। असाधारण भोग केवल अन्तःकरणसे भी होता है। इसी कारण शरीरके रोगको व्याधि कहते है और अन्तःकरणके रोग को आधि कहते हैं। ये ही अशुभ भोगके उदाहरण हैं। इसी प्रकार शुभ भोगके उदाहरणमें पूजाप्रसाद और धर्मप्रसादको ले सकते हैं। इष्टदेवके सम्मुख चढ़ाया हुआ मिष्टान्न स्थूलशरीरके द्वारा शुभभोग प्रधानतः प्रदान करता है, परन्तु धर्मसाधन, पुण्यकर्म आदिका शान्ति-सुख रूपी शुभभोग अन्तःकरणमें होता है। यही कारण है कि, सब लोकों में दोनों शरीर रहते हैं। मृत्युलोक-में जिस तरह पार्थिवशरीर सूक्ष्मशरीरके साथ रहता है, अन्यलोकमें अन्यलोकोंके उपयोगी अन्य-तत्त्व प्रधान अन्य प्रकारका स्थूलशरीर रहता है ॥२३८॥

अब प्रसङ्गसे जन्मान्तरगतिका वर्णन किया जाता है—

आतिवाहिकी गति सूक्ष्मशरीरकी होती है ॥२३६॥

भोगकी निष्पत्ति स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों-से होनेसे यह शङ्का स्वतः ही हो सकती है कि, दोनों शरीरोंका जब इस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध है और मृत्युके बाद स्थूलशरीर यहीं पड़ा रहता है, तो लोकान्तर प्राप्ति किस प्रकारसे होती है ? इस प्रकार-की स्वाभाविक शङ्काकी निवृत्तिके प्रसङ्गसे कहा जाता है कि, लोकान्तर प्राप्तिके समय केवल सूक्ष्मशरीरकी आवश्यकता होती है। यद्यपि सब लोकोंमें ही स्थूलशरीर पुनः मिल जाता है और यद्यपि भोगकी निष्पत्ति दोनों शरीरोंके द्वारा ही होती है, तथापि लोकान्तरप्राप्तिके समय स्थूलशरीर अनावश्यकीय होनेसे उसको जीर्णवस्त्रपरित्यागकी तरह जहाँका तहाँ छोड़ना पड़ता है और सूक्ष्मशरीरसे लोकान्तरमें जाना पड़ता है। उस समय उस सूक्ष्मशरीरधारी जीवको जिसमें रखकर लोकान्तरमें पहुँचाया जाता है, उसको आतिवाहिक देह कहते हैं और उस गतिको आतिवाहिकी गति कहते हैं। जैसे लिफाफेमें रखकर चिट्ठी भेजी जाती है, उसी प्रकार आतिवाहिक देहमें रखकर सूक्ष्मशरीरको लोकान्तरमें देवतागण पहुँचाते हैं। वहन करता है, इस कारण वह आतिवाहिक शरीर कहाता है ॥२३६॥

अब उस गतिको स्पष्ट कर रहे हैं—

इसके द्वारा पितृलोकादिमें गति होती है ॥२४०॥

वह लोकान्तरमें ले जानेवाली आतिवाहिकी गति प्रेतलोकव्यापी, नरकलोकव्यापी, पितृलोक-व्यापी, देवलोकव्यापी, असुरलोकव्यापी अथवा इसी मृत्युलोकमें पुनरावृत्तकारी होती है। मनुष्य मृत्युके अनन्तर या तो दुःखभोगके लिये प्रेतलोक और नरकलोकमें जाता है, या सुखभोगके लिये पितृलोकमें अथवा भुवः स्वः आदि देवलोकोंमें अथवा अतल, वितल आदि असुरलोकोंमें अथवा मिश्रभोग-के लिये और कर्म करनेके लिये कर्मभूमि मृत्युलोकमें

[क्रमशः]

सूक्ष्मस्यगतिरातिवाहिकी ॥२३९॥

सा पितृलोकादौ ॥२४०॥

धार्मिक साहित्यकी अपूर्व निधियाँ

धर्म-विज्ञान

तीन खण्ड

(ब्रह्मीभूत श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा विरचित)

सनातनधर्मके विभिन्न विषयोंका विशद प्रतिपादन तुलनात्मकरूपसे इस बृहद् ग्रंथमें किया गया है और इसमें पश्चिमी विद्वानोंके प्रमाण भी दिये गये हैं। यह ग्रन्थ तीन खण्डोंमें प्रकाशित है। प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इसका अध्ययन करना परमावश्यक और लाभदायक है। यह पुस्तक एम० ए० क्लासकी पाठ्य पुस्तक हो सकती है। मूल्य प्रथम खण्ड ५), द्वितीय ४), तृतीय ४)।

धर्मतत्त्व

धर्माधर्मसम्बन्धी ज्ञानप्राप्त करना प्रत्येक हिन्दूका आवश्यक कर्तव्य है। इस धर्मग्रन्थमें तथा उसके अङ्गोंपर संक्षेपसे बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। अतः प्रत्येक गृहस्थके लिये यह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है, ऐसे स्कूल और कालेज तथा पाठशालाएँ जिनमें धार्मिक शिक्षा देनेका नियम है, इस धर्मग्रन्थसे काफी लाभ उठा सकते हैं। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाओं यानी सभी वर्गके लोगोंके लिये यह समान हितकारी है। धर्मज्ञानकी ज्योतिको घर-घरमें जगानेके लिये यह सर्वाङ्गसुन्दर एवं उपयोगी ग्रन्थ है। मूल्य १=) मात्र।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद् का अभूतपूर्व प्रकाशन

स्त्री-पुरुष विज्ञान

मूल्य ।)

स्त्री-पुरुषोंके शारीरिक, मानसिक मौलिक भेद, उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ एवं शक्तियाँ, समान-शिक्षा का भयावह परिणाम, इस पुस्तकमें बड़ी योग्यतासे चित्रित किया गया है। समाजका कल्याण चाहनेवालोंको इसे एकबार अवश्य पढ़ना चाहिये।

अन्तःकरण विज्ञान

मूल्य ।॥)

मनोविज्ञान जैसा गूढ़ विषय इस पुस्तकमें अत्यन्त सरलताके साथ समझाया गया है अन्यत्र कहीं भी ऐसा मनोवैज्ञानिक विवेचन देखनेको नहीं मिलेगा।

स्मरणी

मूल्य ॥=)

हिन्दूधर्मके षोडश संस्कार तथा हिन्दू-दर्शनशास्त्रके अनुसार सुख-दुःख, पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग आदिका विस्तृत विवेचन इस पुस्तकमें अत्यन्त रोचकताके साथ किया गया है।

निर्मूल आक्षेपोंका उत्तर

मूल्य ।=)

हिन्दूधर्मपर अबतब होनेवाले निर्मूल और असार आक्षेपोंका उचित उत्तर आपको इस पुस्तकमें पढ़नेको मिलेगा, हिन्दूधर्मप्रेमियोंको इसे एकबार अवश्य पढ़ना चाहिये।

सतीधर्म और योगशक्ति

मूल्य ।)

पुनीत आख्यानोंद्वारा सतीधर्मकी महिमाका वर्णन पढ़कर आपको अपने देशके गौरवपर अभिमान होगा। आपकी सन्तानके लिये यह पुस्तक एक आदर्शका काम करेगी। प्रचारकी दृष्टिसे शिक्षा-संस्थाओंको मूल्यमें रियायत की जायगी।

व्यवस्थापक—आर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद् जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण-सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमास प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ़ करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है :—

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, १/२ पृष्ठ	१२)	,,
,, १/४ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा की जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला-कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

मुद्रक :—श्री सुधीरचन्द्र चक्रवर्ती, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की मासिक मुखपत्रिका

आश्विन सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ६ | सितम्बर १९५१

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी. एम. ए., बी. टी.

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु,
करम बचन अरु ही ते ॥ १ ॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप,
बचे न काल बली ते ।
हम हम करि धन-धाम सँवारे,
अन्त चले उठि रीते ॥ २ ॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथरत,
न करु नेह सबही ते ।
अंतहु तोहिं तजैंगे पामर !
तू न तजै अबहीं ते ॥ ३ ॥
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़
त्यागु दुरासा जी ते ।
बुझै न काम अगिनि 'तुलसी' कहुँ
विषय-भोग बहु घी ते ॥ ४ ॥

विषय-सूची

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यत ॥

आश्विन सं० २००८ | वर्ष [illegible] संख्या ६ | सितम्बर १९५१

प्रार्थना

देवि ! प्रपन्नार्तिहरे ! प्रसीद,
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं,
त्वमीश्वरि !! देवि ! चराचरस्य !

शरणागतके दुःखका विनाश करनेवाली देवि ! तुम प्रसन्न हो, समस्त विश्वकी माँ ! तुम प्रसन्न हो, हे विश्वेश्वरि ! तुम विश्वकी रक्षा करो, तुम्हीं चराचर विश्वकी ईश्वरी हो ।

[illegible]निवेदन ।

माँ दुर्गे !

पुनः विजया दसमी आयी। प्रति वर्ष विजया दसमी और नव-रात्रोंकी पूजा हमें उस दिनका स्मरण दिलाती है, जब जनता रावणके अत्याचारोंसे त्रस्त थी, जप, तप, योग, होमका अनुष्ठान कठिन हो गया था, ऋषि-महर्षियोंका एवं वेद-[illegible] तिरस्कार हो रहा था, सब ओर रावणके दूत ऋषि-मुनियोंके योग-यागमें बाधा डालते थे और उनकी हत्या करनेमें भी नहीं हिचकते थे। चारों ओर हाहाकार मचा था। रावणके पापोंसे पृथिवी धँसी जारही थी। ऐसे समयमें दुष्टोंका दलन, साधुओंका त्राण एवं पृथिवीका बोझ उतारनेके लिये भगवान् रामने अवतार लिया था। उन दिनों हमारे ऋषि-मुनि जंगलोंमें रहते थे और कन्द-मूल-फल खाकर अपना सारा समय परमात्माकी आराधना तथा विश्वके हितचिन्तनमें बिताते थे। रावणके सहयोगी इनका जंगलोंमें जीना असम्भव कर रहे थे। अतः भगवान् रामचन्द्रने पितृ-आज्ञाके व्याजसे चौदह वर्षोंतक बनोंमें निवास किया। बिना शक्तिके शक्तिमान् 'निराकार ब्रह्म' और शिव 'शव' बन जाते हैं। अतः रावण जैसे महा असुरका संहार करनेके लिये भगवान् रामने सर्वशक्तिमयी दुर्गति-हारिणी तुम दुर्गाकी आराधना की, परम वात्सल्यमयी परम करुणामयी तुम प्रसन्न हो गयीं और प्रत्यक्ष दर्शन देकर भगवान् रामको विजयका वरदान दिया। भगवान् रामने विजय-यात्रा की, रावण-कुलका संहार हुआ। आसुरी शक्तिका पराजय हुआ, सज्जनोंकी रक्षा हुई और मानवताने [illegible]की श्वाँस ली। प्रति वर्ष विजया दसमी आती [illegible] हमें आसुरी शक्तिपर दैवीशक्तिकी विजयकी [illegible] दिलाती है। हम बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे वरदायिनी [illegible]शक्ति [illegible]की आराधना करते हैं और, हमारा [illegible] आशा, उत्साह, उमंग और आनन्दसे [illegible] जाता है और विश्वास होता है कि, हम अब भी इसी [illegible] तुम्हारी सुधा-सिंचित स्नेह-कृपा प्राप्त करेंगे [illegible] हमें दीनता, हीनता द[illegible] आसुरी शक्तियोंपर वि[illegible] दुर्गे [illegible] कृपा ही हमारा एकमात्र [illegible]मयी माँ! तुम [illegible] हो।

नेहरूजी घोर साम्प्रदायिक !

पुलिस और मिलिटरीके पहरेके भीतर विरोधमें प्रदर्शनकारी महिलाओं तथा महात्माओंपर लाठी प्रहार कराकर इन दिनों संसद-भवनमें हिन्दूकोड-बिलपर बहस चल रहा है। ऐसा गणतन्त्रका नमूना शायद किसी अन्य देशने न कभी देखा होगा न सुना ही होगा। प्रधान मंत्री नेहरूजी अनेक बार कह चुके हैं कि, हिन्दूकोडबिल संसदके इसी अधिवेशनमें पास कर दिया जायगा। क्या यह नेहरूजीकी घोर साम्प्रदायिकता नहीं है? जब भारत Secular State कहा जाता है, तब वह केवल हिन्दुओंके लिये हिन्दूकोड बिल पास करनेपर क्यों तुले हुये हैं? यदि अपनेको हिन्दू कहना अपने धर्मका अभिमान रखना, अपनी संस्कृतिका गौरव रखना आदि नेहरूजीकी परिभाषामें साम्प्रदायिकता है, तो केवल हिन्दुओंके लिये हिन्दू कोड बिल बनाकर हिन्दूधर्म एव संस्कृतिके नाशका प्रयत्न करना घोर साम्प्रदायिकता क्यों नहीं है? श्री नेहरूजी साम्प्रदायिकताके भूतसे बहुत भयभीत हैं और उसको निर्मूल करना चाहते हैं, परन्तु इस अन्याय और पक्षपातपूर्ण नीतिसे हो तो साम्प्रदायिकता बढ़ती है। इसे धमकियोंसे, लाठी-वर्षा,

(शेष पृष्ठ ७१८ में)

आदर्श भाई

(कहानी)

(लेखक-पं शिवनाथ जी दूबे, साहित्यरत्न)

माँ दुर्गाके चरणोंमें पुष्पोंके ढेर लगे थे। सामने छोटासा घृतदीप जल रहा था और धूपकी गन्धसे कमरा भर गया था।

अनिलने अच्छी तरहसे देखा, प्रमोद बाबू पद्मासन लगाये बैठे हैं। उनकी हथेली पलथीके बीचमें एक-दूसरेके ऊपर रक्खी है। आंखें बन्द हैं और उनसे दो पतली धारायें बह रही हैं।

अनिल बोल नहीं सका, पूजा-घरमें वह दबे पांव आया था। प्रमोद इतना आस्तिक है, मांके चरणोंमें उसका इतना अगाध स्नेह है—इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे विरले ही छात्र इस दिशाकी ओर आ पाते हैं। अनिलने मांके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उसने देखा, मांके पूजागृहमें ही संगमर्मरकी एक और मानवमूर्ति रक्खी हुई है। उसपर भी पुष्प अर्पित थे।

प्रमोद जैसा अद्वितीय विद्वान् साधारण मनुष्यकी मूर्ति रक्खे, यह सम्भव नहीं! अवश्य ही यह किसी महान् पुरुषकी मूर्ति होगी। अनिल प्रमोदके गुरुसे परिचित था, यह मूर्ति उनकी नहीं थी। उसने ध्यानसे देखा, मूर्ति अपरिचित थी। सरल मुखाकृति और सजे बाल थे। खद्दरका कुर्ता दीख रहा था।

जिज्ञासा-निवृत्तिका समय न देखकर वह चुपचाप बाहर निकल आया।

नारियलके झुरमुटके आगे सुपारीके पचासों पेड़ दीख रहे थे। वे पीछे छूट गये। केलेका विस्तृत बगीचा था, उससे भी आगे निकल गये। अब दोनों धानके मेड़ोंपर चल रहे थे। फलोंसे लदे सोनेकी भांति पीले पीले धान अत्यन्त सुहावने लग रहे थे।

प्रमोद चुपचाप चल रहा था। प्रकृतिके ये मोहक दृश्य उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाये। अनिलका मन रखनेके लिये उसने कहा, चलो उस खजूरके नीचे।

वहाँ खजूरके एक-दो नहीं अस्सी वृक्ष थे। सामने एक पुष्करिणी थी और परिष्कृत तटपर जगज्जननी दुर्गाका एक मन्दिर था छोटा सा। मन्दिरमें तीन मील के भीतर कोई गाँव नहीं था इस कारण यहाँ अत्यन्त श्रद्धालु जन ही आ पाते थे और उनकी संख्या अत्यल्प थी।

प्रमोदने अनिलके साथ मांको प्रणाम किया। अनिलने देखा प्रमोदकी आँखे फिर बरस पड़ीं। वहाँ कुछ निश्चय नहीं कर सका।

आओ, यहाँ बैठें। प्रमोद अनिलको मांके-मन्दिर केसामने वाले छोटे चबूतरे पर ले गया। चबूतरा पक्का था और था पुष्करिणीके समीप।

पूर्णिमा थी उस दिन। नीले आकाशमें पूर्णचन्द्र खिले हुये थे। उनकी शीतल एवं स्निग्ध किरणें पुष्करिणीकी लघुलहरियोंके साथ खेल रही थीं। तारिकायें शान्त एवं मौन थीं। मन्द पवन थिरक रहा था।

अनिल पूजा-गृहकी मूर्तिके सम्बन्धमें एक बार प्रश्न कर चुका था, बैठते हुए उसने फिर पूछा--'वे कौन थे, और तुम उनसे कैसे प्रभावित हुए? यदि कोई विशेष आपत्ति न हो तो मुझे भी बता दो।

'आपत्तिकी कोई बात नहीं' अनिल! प्रमोदने तुरन्त कहा। 'तुम पहली बार मेरे गाँव आये हो। तुम्हारे जैसे सहृदय, सदाचारी और स्नेही मित्रसे क्या छिपाया जा सकता है। और यह छिपानेकी तो कोई बात भी नहीं है। यह मेरे बड़े भाईकी मूर्ति

है, अनिल भैया ! ये देवता थे। दैव-दुर्विपाकसे इनकी प्रत्यक्ष छत्रछायासे मुझे वञ्चित होना पड़ा, इसीसे मैंने इनकी मूर्ति बनवायी है और उसे पूजता हूं। इनकी पूजासे मुझे पवित्रतम भाव और मांकी भक्ति मिलती है। आज जो मैं विद्या, धन, गौरव और प्रतिष्ठाका पात्र बना हूँ, सो सब इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। सबसे बढ़कर महत्वकी बात तो यह है कि, मैं मांको मां इन्हींके सदुपदेशोंसे समझ पाया था'

प्रमोदने कहा—'वह देखो।' प्रमोदने पुष्करिणीमें उछलती हुई मछलियोंकी ओर संकेत किया। पुष्करिणीके पानीसे हाथ डेढ़ हाथ ऊपर कूद-कूदकर वे क्रीड़ा कर रही थीं। चन्द्रदेवकी सुधासिक्त किरणोंमें वे सुकोमल चाँदकी तरह चमक जाती थीं 'आजसे सात वर्ष पूर्वतक इन्हीं छोटी मछलियोंकी भांति मेरा जीवन निश्चिन्त एवं आनन्दपूर्ण था। मेरे जीवनमें सुख था, शान्ति थी और थी मस्ती। चिन्ता, शोक और विषादकी छाया भी मुझे स्पर्श नहीं कर पाती थी। पर अब यह निश्चिन्तता और आनन्द मुझसे छिन गया है।

पिताजीका दर्शन मैं नहीं कर पाया और माता, जब मैं पांच वर्षका था, तभी चल बसी थीं। अब मेरा बहलानेवाला मेरे एक बड़े भाईके अतिरिक्त और कोई नहीं था। भैयाके बादकी दो तीन संतानें जीवित नहीं रह सकी थीं। इस कारण मांका अपूर्व प्रेम मुझपर था।

मांके मृत्युके समय मैं रो पड़ा। भैयाने मुझे अपनी गोदमें उठा लिया और जाने क्या-क्या कहकर चुप करा दिया। मांके परलोक गमनसे भैयाका हृदय टूट रहा है, मुझे इसका ज्ञान भी नहीं हो सका।

मैं धीरे धीरे बड़ा हो रहा था। भाभी तो मुझे चाहती ही थीं किन्तु भैया मुझे प्राणोंसे अधिक प्यार करते थे। उनकी वकालत खूब चल रही थी। पैसेका अभाव नहीं था, फिर भी वे अपने ही हाथों मेरी सेवा करते। मैं बारहका हो गया था, पर वे थपकी देकर मुझे सुलाया करते और जबतक मुझे गहरी नींद नहीं आ जाती, वे स्वयं नहीं सोते थे।

उनकी इच्छा थी, मुझे अद्वितीय विद्वान् बनाने की। इसके लिये वे पूर्ण प्रयत्न करते। दो घण्टे रात रहते ही वे स्नान-संध्यासे निवृत्त होकर माँ दुर्गाके चरणोंमें बैठ जाते। अरुणोदय हो जाता और मांके समीप ही रहते। मांके समीप रहनेमें उन्हें अपूर्व सुख मिलता, मांके बिना वे नहीं रह पाते। 'माँके बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं' वे कहा करते। शयनके पूर्व भी मांके समीप वे कुछ समय अवश्य बैठते।

कमसे कम आध घन्टे मैं भी मांके समीप बैठा करूँ वे बारबार प्रेमके साथ मुझसे कहते। वे कहते 'पुत्र मांका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद! अत्यन्त क्रूरकर्मी पुत्रपर भी मां कभी कुपित नहीं होती। वह परम कल्याणमयी एवं स्नेहशीला है। धीरे-धीरे मैं भी भगवती दुर्गाके समीप बैठने लगा। दिन जाते देर नहीं लगती। मैं सोलह पार कर गया।

'संसार बड़ा विचित्र है। अनिल!' 'कुछ रुककर प्रमोदने कहना शुरू किया—'जहां फूल है, वहीं कांटा भी है। मैं मैट्रिक हो चुका था। भैयाका स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था, पर न जाने क्यों भाभी मुझपर रुष्ट रहने लगीं।

बाहर मैं अधिक समय नहीं लगाता, पर कुछ भी देर होती तो वे बिगड़ जातीं। कदाचित लाखोंकी सम्पत्तिसे उनका मस्तिष्क फिर गया था। वे मुझे ऐसी जली कटी सुनातीं, जो सहने लायक नहीं होती पर मैं चुपचाप सह लेता और भैयासे कुछ न कहता। भाभी एक न एक बहाना निकालकर भैयासे मेरी शिकायत किया करतीं। पर वे सुनकर भी टाल जाते।

भाभीका मन असाधारण रीतिसे बदल गया उन्होंने मुझे अलग कर देनेका भैयाके सामने प्रस्ताव रख दिया। भैया सन रह गये। उनका

चेहरा उतर गया। उन्होंने भाभीको बहुत समझाया पर भाभीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भैया यह नहीं चाहते थे, इससे कुछ दिन और निकल गये।

मुझे खूब स्मरण है, तीन दिन निकल गये, भैया-के मुँहमें जलका एक बूंद भी नहीं गया' आंसू पोंछते हुये प्रमोदने कहा 'वे कचहरी तो कैसे जाते। उन्होंने मुझे बुलाया। भाभी वहां पहलेसे ही उपस्थित थीं। भैयाकी सूखी आकृति देखकर मेरी आंखें भर आई पर मैं चुप था। सिर झुकाये खड़ा रहा। भैयाके हाथमें दो दस्तावेज कागज थे।

'तुम्हारी भाभीने तुमसे अलग हो जानेका निर्णय कर लिया है।' उन्होंने धीरेसे कहा। विवश होकर इनका प्रस्ताव मुझे स्वीकार करना पड़ा है। इसके लिये मेरी दो शर्तें हैं।' कुछ रुककर उन्होंने कहा। 'जिसे जो स्वीकार हो, लेले. पर तुम्हारी भाभी तुमसे बड़ी हैं, इसलिये पहले मांगनेका अधिकार इन्हींका है।'

मैं अपराधीकी भांति चुप था। उन्होंने स्पष्ट किया. एक ओर मेरी समस्त सम्पत्ति और एक ओर अकेला मैं हूँ। कागज लिखे लिखाये तैयार हैं, सिर्फ हस्ताक्षर करने शेष हैं।

'मैं सम्पत्ति चाहती हूँ।' भाभीने कुछ देर रुककर कह दिया। मैं भैयाके चरणोंमें गिर गया। उन्होंने मुझे अपने वक्षसे चिपका लिया।

कागजोंपर हस्ताक्षर हुआ। भैया मुझे लेकर उसी अवस्थामें एक धोती कुर्ता पहने घरसे निकल गये। हम लोग कलकत्तेके दूसरे मुहल्लेमें पहुंचे, मकान मिलनेमें कठिनाई नहीं हुई। भैयाकी प्रैक्टिस चल रही थी। दो तीन महीनेमें सारी व्यवस्था ठीक हो गई। कोई अभाव खल नहीं पाया।

उन्हें यदि कोई चिन्ता थी तो मेरी। वे चाहते थे मैं महान्, विद्वान्, अनुपम सदाचारी एवं मांका नैष्ठिक भक्त बन जाऊं। अपनी इस लक्ष्य-सिद्धिके लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील थे। और आज उनका ही प्रसाद है कि, मैं मांके समीप कुछ देर बैठ पाता हूं। मांको मैं भैयाके सहारे ही जान पाया।

प्रमोदकी आंखें भर आयी थीं। अनिल प्रमोदकी बातें ध्यानसे सुन रहा था। वे कह रहे थे, 'एक वर्ष दस मास निकल गये। एक दिन मैंने देखा, भाभी भैयाके पैरोंपर गिरी हुई फूट फूटकर रो रही हैं।'

'सारी संपत्ति नष्ट हो रही है' हिचकियां लेते हुए कह रही थीं। 'मैंने बड़ा अपराध किया था। मुझे ज्ञान नहीं था. अब क्षमा कीजिये।' मेरी ओर दृष्टि पड़ते ही लपक कर उन्होंने मुझे अपनी गोद-में दबा लिया. 'मुझे आपकी और इस भाईकी आवश्यकता है।' भाभी प्रायश्चित कर चुकी थीं।

भैया तो सरलताकी जीवित प्रतिमा थे। उदारता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। किसीका जी दुखाना उन्होंने सीखा ही नहीं था। मुझे लिये वे भाभीके साथ पुनः घरमें आ गये।

यह तो उनके सम्बन्धकी एक बात थी। उनका समस्त जीवन त्याग, तप और परोपकारमें ही बीता वे मनुष्यके रूपमें देवता थे। उनकी मूर्तिसे मुझे आज भी प्रेरणा मिलती है। वे जैसे आज भी मेरा पथ-प्रदर्शन करते हैं। मुझे उनका वाक्य भूल नहीं पाता 'पुत्र मांका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद! वह मांसे अलग नहीं आ सकता। वह मांके समीप ही रहेगा।' इसलिये माँके पूजागृहमें ही मैं उनकी मूर्ति रखता हूँ।

प्रमोद चुप हो गया। सुधाँशुकी सुधामयी धवल किरण पृथ्वीके कण कणमें प्रविष्ट हो गई थीं। घर चलनेके लिये खड़े होते हुए अनिलने कहा 'तुम बड़े भाग्यवान् हो, प्रमोद जो ऐसे देवोपम भाई तुम्हें मिल गये थे।'

(कल्याणसे)

श्रीभगवद्गीता।

द्वितीय अध्याय हिन्दी पद्यानुवाद।

श्रीमोहन वैरागी।

सञ्जयने कहा—

(१)

साश्रु नयन उद्विग्नमना तब
स्वेदखिन्न करुणासे व्याप्त।
अर्जुनसे बोले यों माधव
तुमको हुआ मोह क्यों प्राप्त॥

श्री भगवानने कहा—

(२)

असमयका यह मोह तुम्हारा
निन्दनीय वर्जित है पार्थ।
यही तुम्हारा क्षात्रधर्म क्या
यही तुम्हारा बल पुरुषार्थ॥

(३)

करो दूर दुर्बलता मनकी
उठो शत्रुके वीर विरुद्ध।
तजकर तुच्छ आत्मकायरता
प्रस्तुत हो करनेको युद्ध॥

अर्जुनने कहा—

(४)

कैसे धनुष उठाऊँगा मैं
पूजनीय गुरुद्रोण विरुद्ध।
रणमें भीष्मपितामहसे मैं
कैसे तात करूँगा युद्ध॥

(५)

अपने गुरुजनको न मारकर
मुझे अन्न भिक्षाका इष्ट।
गुरुजनके शोणितसे मिश्रित
विविध भोग सुख भी न अभीष्ट॥

(६)

अथवा उचित और अनुचित क्या
ज्ञात न मुझको मैं मतिहीन।
विजय पराजय किसकी होगी
यह भी अहो ईश्वराधीन॥

(७)

जिन्हें मारकर जगमें मुझको
जीनेकी न चाह गोविन्द।
वे कौरव सब सम्मुख मेरे
खड़े हुये करनेको द्वन्द॥

(८)

कायरताको प्राप्त भ्रान्त मैं
धर्म अधर्म ज्ञानसे हीन।
पता न मुझे अशुभ शुभ क्या है
शिष्य तुम्हारा शरणाधीन॥

(क्रमशः)

(पृष्ठ १६५ का शेष)

गोली-वर्षा या बम वर्षा से नहीं मिटाया जा सकता। इसको मिटानेका सरल सीधा उपाय यही है कि, नेहरूसरकार किसी वर्ग विशेषका पक्षपात छोड़कर सबके साथ समानताका बर्ताव करे। भारतमें हिन्दू, मुसलमान, इसाई, पारसी आदि अनेक धर्मके अनुयायी रहते हैं, क्या कारण है कि केवल हिन्दूओं के लिये हिन्दूकोड बनाया जा रहा है? मुसलमान इसाई आदिके लिये क्यों नहीं कोड बनाया जाता? यह क्या हिन्दूओंके साथ घोर अन्याय नहीं है? जब हिन्दूओंकी ओरसे इसका तीव्र विरोध होता आया है और हिन्दू धर्माचार्योंने बार-बार घोषित कर दिया है कि हिन्दूकोड बिलसे हिन्दूधर्मपर घातक प्रहार होगा, तब भी केवल हिन्दूओंके लिये हिन्दूकोडबिल पास करनेका दुराग्रहपूर्ण हठ देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि, श्रीजवाहरलाल नेहरू स्वयं कट्टर साम्प्रदायिक हैं और देशमें यदि साम्प्रदायिकता बढ़ रही है, तो उसका पूरा-पूरा उत्तरदायित्व श्री नेहरू जी एवं नेहरू सरकार पर है।

हिन्दूकोडबिलसे हिन्दू-महिलाओंका सर्वनाश

[ले०—श्रीमती विद्यादेवी जी]

भारतीय संसदमें आजकल हिन्दूकोडबिलपर बहस चल रहा है। इसके विरोधमें मनो कागज काले हो चुके, हजारों सभाएँ हो चुकीं और लाखों प्रस्ताव पास कर सरकारको भेजे जा चुके। इसके भयङ्कर विरोधमें "हिन्दूकोडबिल तथा उसका उद्देश्य" नामकी पुस्तिका जो सरकारद्वारा प्रकाशित है, उसकी प्रस्तावनामें ही लिखित इन पंक्तियोंसे पता चलता है कि "भारतीय राज्य व्यवस्थापिकामें पास होनेके लिये पेश किये गये हिन्दूकोड बिलपर जनतामें जितना प्रचण्ड विवाद उत्पन्न हो चुका है, आधुनिक भारतके इतिहासमें समाज-सुधार सम्बन्धी किसी भी विषयपर इससे पहले शायद ही कभी हुआ होगा।" वस्तुतः यह बिल इतना ही भयङ्कर है। कोई भी हिन्दू स्त्री-पुरुष जिसको अपने धर्म, संस्कृति, परम्पराका गौरव है कभी भी इसका समर्थन नहीं कर सकता। अपनी सरकारकी बाजी लगाकर इसको कानून बना डालनेकी प्रतिज्ञा करनेवाले प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूजी उनके ही शब्दोंमें दुर्भाग्यवश हिन्दू हो गये हैं, और नेहरूजीके कृपापात्र विधिमन्त्री अम्बेडकर तो अनेक बार हिन्दू धर्मकी निन्दा कर चुके हैं और मनुस्मृति जो हिन्दुओंका परम पवित्र धर्मशास्त्र है, उसे जला भी चुके हैं। अन्य जितने थोड़ेसे इसके समर्थक स्त्री-पुरुष हैं, उन्होंने विदेशी और विजातीय अनुकरण एवं उच्छिष्ट भोजनमें ही अपना गौरव समझा है। इन कुछ थोड़े लोगोंको छोड़ कर देशके सभी हिन्दू नर-नारी इसके घोर विरोधी हैं, परन्तु आजके सत्ताधारियोंको इसकी कोई चिन्ता नहीं। वे समझते हैं कि, उनपर कोई शासक नहीं, वे मनमानी करनेके लिये स्वतन्त्र हैं। अस्तु, इस लेखमें हिन्दू महिलाओंपर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा, केवल इसी विषयपर विचार करना है।

शायद इसके साथ किसीका भी मतभेद नहीं हो सकता कि, सती-साध्वी सच्चरित्रा स्त्री ही सबसे अधिक सम्मान एवं पूज्य-भावसे देखी जाती है। इतना ही केवल नहीं, एक सती स्त्रीके सामने बड़े-बड़े योगी यती, तपस्वी, ज्ञानी सभीका मस्तक श्रद्धाभक्तिसे स्वतः झुक जाता है। भारतीय हिन्दू नारियोंने केवल अपने सतीत्वके बलसे विधिका विधान उलट दिया, अपने मृत पतियोंको जिला लिया, यमधर्मराजको पराजित किया ब्रह्मा-विष्णु-महेश इन ब्रह्माण्ड नायकोंको बालक बना दिया और जब जो कुछ करना चाहा, वह कर डाला। इसी कारण पवित्र भारतीय संस्कृतिमें नारियोंका जितना ऊंचा स्थान है, उतना संसारकी किसी मनुष्य जातिमें नहीं है। भारतीय संस्कृतिमें नारी कभी भी भोग-विलासकी वस्तु नहीं समझी गयी, न उसे पुरुषोंके समान समझा गया। वह सदा दुर्गा, लक्ष्मी, गौरीरूपसे पूजी गयीं और आजभी पूजी जाती है। भगवान मनुने तो घोषित कर रखा है कि—

> यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
> यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

अर्थात् जहाँ नारियोंकीपूजा होती है, वहाँ देवता रमते हैं, जहाँ इनकी पूजा नहीं होती है, वहांके सब पुण्य कार्य निष्फल हो जाते हैं। हिन्दू-नारियोंको यह सर्वोन्नत पूजाका स्थान इसलिये प्राप्त हुआ था कि, वे तप-त्याग एवं आत्मसंयमकी प्रतिमा बनकर सीता, सावित्री, दमयन्ती, लोपामुद्रा, अरुन्धती, अनसूया आदिके रूपमें जन-समाजके सामने आयी। उन्होंने किसीके सामने अधिकारकी याचना नहीं की, किन्तु

अपने तपस्या, त्याग एवं आत्म-संयमसे सबपर अपना अधिकार स्वतः कर लिया। आज भी इन महाभागा देवियोंका नाम लेकर हिन्दूमात्र अपनेको पवित्र और गौरवान्वित समझता है। यह पूजा, गौरव और सम्मान यहांके ऋषि मुनियोंने आर्यनारियोंपर कृपा या दया करके नहीं दिया। किन्तु उनकी तपःशक्ति, लोकोत्तर आत्मत्याग एवं महिमाको जानकर ही दिया था। आर्यनारियोंका सतीत्व ही एकमात्र ऐसी वस्तु है, जो संसारमें अन्यत्र कहीं देखने सुननेको नहीं मिलता। आर्यनारियोंकी ही एक यह विशेषता है, जिसकी उपमा और तुलना संसारकी किसी स्त्री-जातिमें नहीं है। हिन्दूकोडबिलके द्वारा सिविल मैरेज और तलाक प्रथा प्रचलित होनेपर आर्यनारियोंका अनन्त कालका सञ्चित यह अमूल्य धन नष्ट हो जायगा और वे इस लोक-परलोक कहींकी नहीं रहेंगी।

हिन्दूकोड बिलमें पिताकी सम्पत्तिमें पुत्रके समान कन्याका भी अधिकार रखा गया है। नवशिक्षित कुछ महिलाएं इसी प्रलोभनमें इस बिलका समर्थन करती हैं। अविवाहित पुत्रीका पिताकी सम्पत्तिमें अधिकार तो हिन्दू शास्त्रोंने रखा ही है, परन्तु इस बिलमें विवाहित पुत्रीको भी पिताकी सम्पत्तिमें अधिकार दिया गया है। यह सुननेमें जितना मधुर एवं सरल है, व्यवहारमें उतना ही कटु तथा जटिल है। भारत सरकारके कानून मन्त्री डाक्टर अम्बेडकर-द्वारा आयोजित अनियमित हिन्दूकोड कान्फरेन्समें श्रीआर्य महिलाहितकारिणी महापरिषद्की ओरसे मुझे भी सम्मिलित होनेका अवसर प्राप्त हुआ था। उसमें इस विषयपर बड़ा मनोरञ्जक विवाद हुआ था। विशेषतः जो महानुभाव इस बिलके समर्थक थे, उन्होंमेंसे एकने विवाहित पुत्रीको पिताकी संपत्तिमें हिस्सा देनेसे अनेक व्यावहारिक उलझनोंका वर्णन किया, जैसे विवाह हो जानेपर पुत्री अपने पतिके यहां चली जायगी, तो पिताकी सम्पत्तिका प्रबंध कैसे कर सकेगी? तब उसको वह सम्पत्ति किसीके हाथ बेच देना पड़ेगा, पिताका यदि एक ही घर हुआ तो, उसके बिके हुए भागमें कोई अन्य व्यक्ति अधिकारी हो जायगा, इससे लड़कोंको अनेक असुविधाएँ उठानी पड़ेंगी, इससे उत्तम यह होगा कि, विवाहिता पुत्रीको पिताकी सम्पत्तिमें हिस्सा नहीं देकर पतिकी सम्पत्तिमें हिस्सा दिया जाय। इसपर एक दूसरे सज्जनने कहा कि, पतिकी सम्पत्तिमें स्त्रीको आधा हिस्सा देनेसे यदि स्त्रीने विवाह-विच्छेद किया तो, पतिकी आधी सम्पत्ति लेकर वह दूसरी जगह चली जायगी। पुनः उस पुरुषने यदि दूसरा विवाह किया और उस स्त्रीने भी तलाक दिया, तो वह भी पतिके हिस्सेके धनसे आधा हिस्सा लेकर चली जायगी। इस प्रकार उस पुरुषके पास कुछ भी नहीं बचेगा।" इसपर एक महिला जो संसदकी सदस्या हैं बौखला उठीं और बोलीं कि "ये पुरुष लोग हम लोगोंको पिता-पति किसीकी सम्पत्तिमें हिस्सा नहीं देना चाहते है।" इसपर अच्छी हंसी हुई। इस विषयपर इसी प्रकारके वाद-विवाद घण्टों होते रहे, परंतु निष्कर्ष कुछ नहीं निकला और वह कानफरेन्स समाप्त हो गयी।

इन सब कठिनाइयोंको पहलेसे सोचकर और सब ओर जिससे सुविधा हो, इसे विचार कर ही हमारे यहाँके ऋषि-मुनियोंने पुत्रीको पिताकी सम्पत्तिमें हिस्सा बड़ी युक्तिसे दिया है। वह इस प्रकारसे दिया है कि, अविवाहित पुत्रीको तो पुत्रके साथ हिस्सा रखा और विवाहितको वस्त्र, आभूषण, उपहार आदि दहेजके रूपमें दे देनेका विधान बना दिया है। साथही इस प्रकारसे प्राप्त धनका नाम "स्त्री-धन" रखा, जिसपर पति-पुत्र-पिता-भाई किसीका भी अधिकार नहीं है। इस व्यवस्थासे पुत्री आजीवन अपने पिता-माता भाई, भतीजों तथा पितरालयके अन्य सब कुटुम्बियोंके प्रेम-स्नेहका भाजन बनी रहती है, पितरालयसे सदा अटूट प्रेम

सम्बन्ध बना रहता है। विशेष-विशेष अवसरोंपर उपहार भी मिलते रहते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति-सम्मान दोनों प्राप्त होते हैं।

हिन्दूकोड बिलके समर्थनमें पुरुषोंके अत्याचारकी बात कही जाती है। इस विषयमें प्रश्न यह होताहै, कि क्या कानून बनते ही अत्याचार बन्द हो जायँगे! यदि ऐसा होता तो जिन अपराधोंके लिये कानून विद्यमान है, जैसे दूसरेकी हत्या करनेसे फाँसीकी सजा होती है, दूसरेकी सम्पत्ति चुरानेमे जेल भोगना पड़ता है, इसका कानून रहते हुए भी आज नित्यप्रति हत्या-चोरी-डकैती आदिके अपराध होतेही रहते हैं। कोईभी कानून मूर्तिमान होकर इनको रोकने के लिये कहीं खड़ा तो नहीं रहता है। दूसरी बात यहभी कि, यदि किसी स्त्रीने अपने प्रथम अत्याचारी पतिको तलाक देकर दूसरे पुरुषको पति बनाया, तो वह पति सत्यवान् जैसा सदाचारी और पत्नीभक्त होगा, वह अत्याचार-अनाचार नहीं ही करेगा, इसीका कैसे निश्चय होगा। यदि वह भी अत्याचारी हुआ तो उसे छोड़कर वह स्त्री पुनः तीसरे किसी पुरुषको ग्रहण करेगी, ऐसी स्त्रीमें और किसी बाजारू स्त्रीमें अन्तरही क्या रहेगा? पुनः ऐसी स्त्रीकी क्या दशा होगी? वह इस लोकमें अयश एवं दुःख, परलोकमें नरककी ही भागिनी होगी।

इन सब अत्याचारों एवं असुविधाओंसे नारियोंकी कानून रक्षा नहीं कर सकता। उसका तो एक ही उपाय है कि, सामाजिक संगठन-शक्तिसे इन बुराइयोंको दूर किया जाय और ऐसा वातावरण बनाया जाय जिससे पुरुष अपने सामने एक पत्नी-व्रत भगवान् रामका आदर्श रखें। अपनी विवाहिता धर्मपत्नीका शास्त्रोक्त सम्मान करें अन्य स्त्री-मात्रको माता-भगिनी-पुत्री समझें। और स्त्रियां भगवती सीता, सावित्री, सुकन्या, अनसूया, आदि देवियोंको अपना आदर्श बनाकर उनके चरण-चिन्हों-का अनुसरण करना अपना कर्त्तव्य समझें। जो पुरुष अपनी सती-साध्वी स्त्रीका अपमान करता है, उसका समाज तिरस्कार करे, दण्ड दे। इस समय जो बालक तथा बालिकाएँ हैं पच्चीस वर्ष बाद वे ही राष्ट्रकी निर्मात्री होंगी अतः इनको अभी से धार्मिक नैतिक तथा सदाचारकी उचित शिक्षा दी जाय जिससे वे धर्मभीरु, ईश्वर भक्त, सदाचारी नागरिक बनें तो कुछ ही वर्षोंके पश्चात ये सभी बुराइयां स्वतः दूर हो जांयगी इस प्रकार भविष्यका सुधार स्वतः हो जायगा। इन उपायोंद्वारा कुरीतियोंका सुधार होनेपर ही स्त्री पुरुष दोनोंका एवं समस्त सृष्टिका कल्याण हो सकता है। त्रिकालदर्शी महर्षियोंके बनाये हुए धर्मशास्त्रके कानून इतने सुविचारित सुदृढ़ एवं सुन्दर हैं, कि वे त्रिकालमें कल्याणकारी हैं, यदि उनका ठीक-ठीक पालन किया जा सके। जो स्त्री-पुरुष उनका पालन नहीं करते हैं, वे उनके विरुद्ध आचरण करके समाजको एवं अपनेको कलंकित करते हैं; ऐसे व्यक्तियोंको दण्डद्वारा मार्गपर लानेका उद्योग होना चाहिये। इसीमें व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रका सच्चा कल्याण निहित है। शासन-सत्ताको केवल शास्त्रोंकी आज्ञाओंका पालन करानेका अधिकार है, हिन्दूकोडका नया शास्त्र बनानेका नहीं। यही हमारी हिन्दू परम्परा है। यहांके वेद अपौरुषेय हैं। स्मृतिशास्त्र वेदपर आधारित हैं। अतः ऋषि-मुनियोंने भी कोई नया शास्त्र नहीं बनाया। अतः हिन्दूकोड-बिल बनाना सरकारकी अनधिकार चेष्टा है, उससे स्त्री जातिका तो सर्वस्व नाश हो जायगा क्योंकि इस बिलके कार्यान्वित होनेपर उसका सतीत्व-संस्कार तथा गौरव सदाके लिए नष्ट भ्रष्ट हो जायगा।

हिन्दूकोडके विषयमें विविध विचार।

हिन्दूकोडबिल के विषयमें हमारे धर्माचार्य तथा अन्य कुछ प्रसिद्ध पत्रों के विचार हम यहाँ अपने पाठक-पाठिकाओं के अवलोकनार्थ उद्धृत करते हैं।

प्र०-सम्पादिका !

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीब्रह्मानंद सरस्वतीजी महाराजने २० सहस्रसे अधिक प्रयागवासी नागरिकोंके समक्ष हिन्दूकोडका तीव्र विरोध करते हुए कहा—यह बिल वेद-शास्त्रोंकी अन्त्येष्टि करनेका भयंकर कुचक्र है। इसके समर्थनमें कहा जाता है कि यह स्त्रीके स्वातंत्र्यकी रक्षा करनेका प्रयास है। किंतु गम्भीरतासे विचार करनेपर यह स्त्रियोंका सबसे भयंकर शत्रु है। तलाककी प्रथा निर्माण की जा रही है। मान लो कि स्त्रीकी ४० वर्ष की आयुके पश्चात् पति तलाक दे देता है तो स्त्रीको कौन पूछेगा? सम्पत्तिसम्बंधी नियम भी इतने अपूर्ण और जटिल हैं कि इससे छिन्न-विच्छिन्नता और कलह-की स्थायी जड़ जमेगी। समाजको दुर्बल बनानेका यह सीधा नुस्खा है।

श्रीजगद्गुरुने आगे कहा-हिंदू कोडबिल समाज-में स्त्री-पुरुषके सम्बंधोंमें कटुता उत्पन्न करनेमें विशेष-रूपसे सहायक होगा। बढ़ते हुए नैतिक अधःपतनको दृष्टिमें रख विचार करनेपर कोडबिलकी भयंकरता और भी स्पष्ट हो जाती है। धर्माचार्यने कहा है कि जगद्गुरु शंकराचार्यके पदपर समासीन होनेवाला व्यक्ति हिंदू समाजकी धार्मिक भावनाओं एवं आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि जनता ही शंकरा चार्यका भी चुनाव करती है। सर्वकल्याणकारी वैदिक धर्मकी रक्षा तथा पोषण करनेमें समर्थ समझकर ही जनताने जगद्गुरुत्वका उत्तरदायित्व सौंपा है। अतः उन्नतिकी उच्चतम अवस्थापर पहुंचानेमें पूर्ण समथ वैदिक धर्मके मूलपर ही कुठाराघात होते देख सर-कारको चेतावनी देना शंकराचार्यका कर्तव्य है।

जनताकी हर्षध्वनिके बीचमें शंकराचार्य महाराज-ने आगे कहा यदि हमी वैदिक सिद्धांतोंकी उपेक्षा-कर अपने मनमाने सिद्धान्तोंका प्रचार करने लगें तो यह जनताके साथ विश्वासघात होगा। कर्तव्य-भ्रष्ट होनेपर जनताको अधिकार है कि वह हमें पद-च्युत कर दे। इसी प्रकार संसदके सदस्य भी जिस-जिस क्षेत्रमें चुने गये हैं वहाँकी जनताकी भावनाओं-का प्रतिनिधित्व करें। जनमतकी अवहेलना कर अपनी मनमानी करना उनके साथ विश्वासघात करना है। सैद्धांतिक दृष्टिसे ही नहीं, जनतांत्रिक दृष्टिसे भी एक ऐसे विषयको जो समाजके जीवनमें क्रांतिकारी परि-वर्तन लानेवाला है, बिना जनताकी राय लिए संसदमें पार्टीके बहुमतके बलपर कानून बना देना जनतंत्रका स्वांग रचना है हमारा सरकारसे अनुरोध है कि वह कोडबिलके बारेमें निष्पक्ष जनमत संग्रह करे। यदि जनमत इसके विरुद्ध रहे तो जबरदस्ती इसे जनतापर लादनेकी कुचेष्टा न करे—अन्यथा परिणाम अनर्थ-कारी होगा। (सन्मार्गसे उद्धृत।)

हानिकारक दुराग्रह !

खबर है कि संसदके इसी अधिवेशनमें हिंदू कोड-बिलपर विचार समाप्त करके उसे पासकर देनेपर संसदीय कांग्रेस पार्टी तुल गयी है। हम अपनी सारी शक्तिसे इसका विरोध करना चाहते हैं। यह वस्तुतः गणतंत्रका गला घोंटना है। हम उनका समर्थन भी

पूर्ण शक्तिसे करते हैं जो कहते हैं कि यह बिल अभी स्थगित रखा जाय और बालिग-वोटसे निर्वाचित संसद् इसे स्वीकार या अस्वीकार करे। किसी सभ्य देशमें विवाह, उत्तराधिकार जैसे नियम जबर्दस्ती बनाये नहीं जाते। परम्पराकी रक्षा की जाती है। इसी से इग्लैण्डमें पार्लमेण्टके बनाये कानूनोंकी अपेक्षा 'कामन ला'को अधिक महत्व दिया जाता है। भारतमें ही इसका विरुद्धाचरण करनेपर कांग्रेसी शासक क्यों तुल गये हैं, यह बात समझमें नहीं आती। जो हो, यदि इसी संसदमें यह बिल पास करके समाजके सिर लादा गया तो अगले निर्वाचनमें इसका घोर विरोध अवश्य किया जायगा जिसका परिणाम आज शासन करनेवाली पार्टीके लिए अच्छा नहीं होगा। हमने जो नयी स्वतंत्रता पायी है उसका अर्थ यह नहीं है कि शासन करनेवाली पार्टी जनतासे अधिकार पाये बिना समाजको आमूल उच्छिन्न करनेका यत्न करें। यह नेहरू सरकारका अत्यन्त हानिकारक दुराग्रह है!

"आज" सौर भाद्र २६ का अङ्क—

जनता सफाई मांगेगी

चुनावमें प्रधानमन्त्रीके हठकी—कोडविरोधमें वीरअर्जुनका मत

जिस प्रकार हिन्दू कोड बिलको संसद्के वर्तमान अधिवेशनमें ही उपस्थित करनेका संसद्की कांग्रेस-पार्टीने निश्चय किया है (और अब पेश भी हो चुका है) उससे प्रगट है कि उक्त निश्चय केवल प्रधानमंत्री नेहरूजीका हठ रखनेके लिए किया गया है। उसे करते हुए इस बिलकी उपयोगिता, अनुपयोगिता अथवा जनताकी इच्छाका तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया। यह बिल ब्रिटिश शासनके समयसे लटक रहा है, परन्तु ऐसी एकभी घटना नहीं घटी जिससे यह प्रगट हो कि इसके कानून न बननेसे हिंदू जनताकी अमुक हानि हो गयी। तिसपर भी प्रधानमंत्री इसे यथाशीघ्र कानून बनवा देनेपर तुले हुए हैं क्योंकि एकबार भाषण करते हुए आवेशमें उनके मुखसे यह निकल गया था कि 'इस बिलके पास होने न होनेको मैं अपनेमें संसद्के विश्वासकी कसौटी मानता हूँ और यदि संसद् इसे पास न करेगी तो मैं प्रधानमंत्रित्वसे त्यागपत्र दे दूँगा।' प्रधानमन्त्री भली भांति जानते हैं कि संसद्का बहुमत इस बिलका विरोधी नहीं। सम्भवतः अधिकतर सदस्य इस प्रकारके किसी बिलकी आवश्यकताका ही अनुभव करते हैं परन्तु वे इसे इसके वर्तमान रूपमें और जल्दबाजीमें पासकर देना पसन्द नहीं करते। इसी कारण संसद्के अधिकतर सदस्योंको यह बिल तुरत-फुरत पास कर देनेके लिए वैसा उत्साह नहीं है जैसा कि प्रधानमन्त्री को है। परन्तु प्रधानमन्त्री इस सचाईका कुछ विचार न करके, अपने पदकी स्थिति और वैयक्तिक प्रभावका दुरुपयोग करके, हठपूर्वक इस बिलको तुरत पास करवा देने पर तुल गये हैं। उनका यह कार्य लोकतांत्रिक सिद्धांतों और परम्पराओंका विरोधी तो है ही, जनघातक भी है।

इस सम्बन्धमें प्रधानमंत्रीका हठ इसीसे प्रगट है कि उन्होंने यह देखते हुए भी कि इतना बड़ा और विवादास्पद बिल, संसद्के अन्य कार्योंकी उपेक्षा किए

बिना शीघ्र पास नहीं हो सकता, इसे आगामी चुनावोंसे पूर्वही पास करवानेका बीड़ा उठा लिया है। संसद्के अधिकतर सदस्य इस विषयमें प्रधानमंत्रीके हठका विरोध न करके जनघातका भारी अपराध कर कर रहे हैं। हमारा विश्वास है कि आगामी चुनावों में जनता उनसे इस अपराधकी सफाईकी मांग करेगी।

प्रधानमंत्रीने और उनके साथियोंने यह देखकर कि यह बिल सबका सब तो संसद्के इस अधिवेशनमें पास नहीं हो सकता, इसे दो भागोंमें बांट दिया है। एक भाग वह जिसमें सगोत्र विवाह और तलाक आदिकी धारायें हैं और दूसरा वह जिसमें कन्याओंको भी पैतृक सम्पत्तिमें भागी होनेका अधिकार दिया गया है। संसद्की कांग्रेसपार्टीने निश्चय किया है कि पहले विवाहसम्बन्धी भागको विचारार्थ लिया जाय। और यदि आवश्यकता हो तो समस्त बिलको पास करनेके लिए आगामी चुनाओंसे पूर्व संसद्का एक अधिवेशन और बुला लिया जाय। विधिमंत्री डाक्टर अम्बेडकर बिलको शीघ्र पास करवानेके लिए इसमें स्वयं ही अनेक संशोधन करनेको भी तैयार हो गये हैं। उनका प्रयत्न यह रहेगा कि इन संशोधनोंके द्वारा बिलके विरोधकी तीव्रता यथाशक्ति कुण्ठित कर दी जाय।

परन्तु सब अवस्थाओंको देखते हुए हमें पता लगता है कि इतने प्रयत्न करनेपर भी यह बिल आगामी चनाओंसे पूर्व या तो कानूनका रूप धारण कर नहीं सकेगा और यदि जल्दबाजीमें बैसाकर भी दिया गया तो वह इतना त्रुटिपूर्ण होगा कि भावी संसद्को सुधारनेके लिए उससे भी अधिक धन, श्रम और उस समयका व्यय करना पड़ेगा जितना कि वर्तमान संसद इसे पास करनेके लिए करेगी। यह राष्ट्रीय साधनोंका अपव्यय तो होगा ही, वर्तमान प्रधानमन्त्री की हठधर्मिताकी निन्दाका सूचक भी होगा।

(दैनिक संमार्गसे उद्धृत)

'भारत'के हिंदूकोडपर विचार।

लोकमतकी ओरसे काफी विरोध होनेके बावजूद हिन्दूकोडबिल को विचारार्थ संसदके सामने उपस्थित कर दिया गया है और इसपर विवाद प्रारंभ हो गया है। प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरूने यह इच्छा प्रकट की है कि 'बिलका प्रथम तथा द्वितीय भाग इसी अधिवेशनमें पास कर लिया जाय और शेष भागोंपर विचार करना समयपर निर्भर करेगा। उन्होंने इस बातपर भी जोर दिया है कि 'प्रथम दो भागोंपर विवाद इसी सप्ताहके अन्दर समाप्त कर दिया जाय। वैसे तो सरकारको बहुमत प्राप्त है और नेहरूजी चाहें तो उस बहुमतके बलसे अपने इच्छानुसार शीघ्र ही उसे पास करा सकते हैं। किंतु ऐसे विवादग्रस्त विधेयकको पास करानेमें यह जल्दबाजी और उतावली कभी वांछनीय नहीं कही जायगी। सब सदस्योंको उसपर जनताकी ओरसे अपना विचार प्रकट करनेका अवसर मिलना चाहिये। संशोधनोंको उपस्थित करने तथा उनपर अच्छी तरहसे विचार करनेका समय भी प्राप्त होना चाहिये। यदि सरकार

संसद तथा लोकमतको साथ लेकर चलना चाहती है तो फिर उसे जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। हिन्दू-कोडबिल ऐसा बिल नहीं है जिसका इसी अधिवेशन में पास किया जाना अनिवार्य हो।

वास्तवमें हमारा यह मत रहा है कि 'बिलके बादविवादग्रस्त स्वरूपको देखते हुये उचित यह होगा कि मौजूदा संसद द्वारा उसे पास करानेका प्रयत्न न किया जाय। आम चुनावके बाद जब नयी संसद् संघटित हो तब वह इस प्रश्नको उठाये।'

एक बात और है। यह हिन्दू कोडबिल १९४८-ई० में तैयार किया गया था। उस समय धर्म-निरपेक्षवाद-पर आधारित नया विधान बना भी नहीं था। इस नये विधानमें मौलिक अधिकारोंकी व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि 'विधि या कानूनके सामने सब नागरिक समान होंगे। धर्म, मूलवंश तथा जाति, आदिके आधारपर कोई भेदभाव नहीं किया जायगा। इस नये विधानके बन जानेके बाद तो १९४८ का बनाया गया कोडबिल बिचारके लिए रखना ही नहीं चाहिये था। कोड पास करना ही था तो कोई नया कोड तैयार किया जाता जिससे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी प्रशासित होते और जो एक समान सब पर लागू होता।

यदि विवाह और तलाक, उत्तराधिकार और भरण-पोषण, अवयस्क और उसकी संरक्षकता तथा संयुक्त परिवार सम्पत्तिके विषयमें राष्ट्रीय सरकार परम्परागत कुछ प्रथाओं और विधियोंको राष्ट्रके विकास और अभ्युत्थानके लिए उचित नहीं समझती, इस सब बातोंके सम्बन्धमें वह कोई आदर्श नियम या व्यवस्था लागू करना चाहती है तो उसका धर्म था कि अपने आधारभूत सिद्धान्त धर्म-निरपेक्षवादका ध्यान रखते हुए सभी जातियोंके लिए एक-सा कानून पास करानेके लिए मसविदा तैयार करती। अगर सब जातियोंके लिए एक ही कानून लागू नहीं किया जा सकता तो हिंदू कोडबिलको लादनेका प्रयत्न भी त्याग देना चाहिये था।

बहुबिवाहकी प्रथाका उन्मूलन हमें निश्चयात्मक रूपमें वांछनीय प्रतीत होता है। हिंदू कोडबिलकी कतिपय अच्छी बातोंमें एक अच्छाई यह भी है कि बहु-विवाहको निषिद्धकर देनेकी व्यवस्था की गयी है। किंतु यदि बहु-विवाह हिंदुओंके लिए हानिकारक है तो मुसलमानों तथा दूसरी जातियोंके लिए भी हानि-कारक ही होगा। एक-सा नियम सबके लिए होना चाहिये। दूसरी जातियोंको अलग छोड़कर जब यह सुधार केवल हिंदुओंपर लादा जा रहा है तो धर्म-निरपेक्षताका क्या अर्थ रह जाता है?

एक बात और है। कहा जाता है कि 'राष्ट्रपति हिंदू कोड बिलको देशके लिए हितकर नहीं समझते और यदि संसद्ने पास भी कर दिया तो वे अपनी स्वीकृति नहीं देना चाहेंगे।' इस समाचारकी सत्यताका अभीतक खंडन नहीं हुआ है। फिर हम यह भी जानते हैं कि राष्ट्रपतिके पदको सुशोभित करनेके पूर्व डाक्टर राजेन्द्रप्रसादने इस बिलके विरुद्ध मत प्रकट किया था। आज भलेही वे अपने पदके कारण सार्वजनिक रूपसे इस प्रश्नपर अपना बिचार व्यक्त करनेमें असमर्थ हों किंतु उक्त मत अज्ञात नहीं है।

हम पहले भी कह चुके हैं कि बहुतसे उच्च शिक्षाप्राप्त प्रगतिशील बिचार रखनेवाले व्यक्ति भी

बिलके विरोधी हैं। फिर क्यों न इसपर विचार करना अभी स्थगित रखा जाय और नये विधानके अनुसार आगे चलकर कोई सर्वांगीण कोडबिल प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जाय। ऐसे वादविवाद-ग्रस्त विषयोंपर कानून पास करनेका यह समय नहीं है। (दैनिक 'सन्मार्ग' से उद्धृत)

राष्ट्रपति हिंदूकोडपर स्वीकृति न दें।

वे भारतीय जनशक्तिके प्रतीक हैं और अधिकांश जनता बिलविरोधी।

'स्वतन्त्र भारत'का हिन्दूकोड पर विचार

स्थानीय स्वतन्त्र राष्ट्रीयपत्र 'स्वतन्त्र भारत' २० सितम्बरके अपने अग्रलेखमें हिन्दू कोड बिलके सम्बंधमें लिखता है—

हिंदू कोड बिलपर पार्लमेंटमें बहस आरम्भ हो गयी है। हिंदू कोड बिलकी धाराओं और उनमें निहित सिद्धान्तोंके अलावा बड़े महत्वका एक वैधानिक प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है। इधर कुछ समाचार पत्रोंमें यह खबर छपी है कि राष्ट्रपतिने इस सम्बंधमें प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरूको एक पत्र लिखा है। यह सभीको मालूम है कि राष्ट्र-पति पदपर आनेके पहले राजेन्द्र बाबूने सार्वजनिक रूपसे हिंदू कोड बिलका विरोध प्रकट किया था। राष्ट्रपति पदपर आनेके बाद अपनी वैधानिक स्थिति के कारण वे अपना मत सार्वजनिक रूपसे प्रकट नहीं कर सके। लेकिन हिंदू कोड बिल पार्लमेंट द्वारा पास होनेके बाद कानूनका रूप धारण करनेके लिए राष्ट्रपति द्वारा उसपर स्वीकृति प्रदान करना जरूरी है। अब प्रश्न यह है कि हिंदू कोड बिलके विरोधी राजेंद्र बाबू राष्ट्रपति पदमें उसपर स्वीकृति प्रदान करेंगे या नहीं?

यहीं एक वैधानिक गुत्थी उपस्थित हो जाती है। प्रश्न यह है कि पार्लमेंट द्वारा पास किये गये किसी कानूनपर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देनेसे इनकार कर भी सकते हैं या नहीं? जहाँतक संविधानका संबंध है, उसमें धारा ५३ (१) में स्पष्ट लिखा है कि 'भारतीय प्रजातंत्रके शासनके एक्जीक्यूटिव अधिकार राष्ट्रपतिमें निहित हैं।' इसीके बाद धारा ७४ (१) में कहा गया है कि राष्ट्रपतिको मंत्रणा देने और शासनकार्य-सम्पादनमें सहायता करनेके लिए उनका एक मंत्रिमण्डल होगा।' इन धाराओंसे तो यह स्पष्ट है कि राष्ट्र-पतिको अपने मंत्रिमण्डकी राय मानने या न माननेका पूरा अधिकार है। इससे यह स्पष्ट है कि मंत्रिमण्डल स्वेच्छासे कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जो राष्ट्रपति न चाहें क्योंकि शासन का वैधानिक अधिकारी राष्ट्रपति है। किंतु प्रश्न यह उठता है कि क्या राष्ट्रपतिकी भी ब्रिटिश सम्राट्की ही भाँति केवल वैधानिक स्थिति मात्र नहीं है जिसे अपने मंत्रिमण्डल और पार्लमेंटके निर्णयोंको स्वीकार करना ही पड़ता है।

खैर, यह प्रश्न तो वैधानिक पंडितोंके विचारनेका है। लेकिन संविधानकी धारा ८६ (२) के अन्तर्गत

किसी भी विषयपर अपना संदेश पार्लमेंटके सम्मुख भेज सकता है। और धारा ७८ (ब) के अन्तर्गत किसी भी प्रस्तावित कानूनके सम्बन्धमें अपने प्रधान-मंत्रीसे पूछताछ कर सकता है पार्लमेंटमें उपाध्यक्षने यद्यपि यह प्रश्न नहीं उठने दिया कि 'राष्ट्रपतिने नेहरूजीको हिंदू कोडबिलके सम्बन्धमें कुछ लिखा है या नहीं।' लेकिन राजेन्द्र बाबूके इस सम्बंधमें विचारोंको जानते हुए और उपर्युक्त धारामें उनके अधिकारको देखते हुए इस समाचारको बिलकुल निराधार नहीं कहा जा सकता कि राजेन्द्र बाबूने नेहरूजीको इसबिलको संभवतः स्थगित करनेके लिए लिखा होगा। फिर भी नेहरू सरकार इस बिलको इसी पार्लमेंटमें जिसमें उनके साथ हाथ उठानेवालोंका ही बहुमत है, पास करनेपर दृढ़ है, बावजूद इसके कि इस विषय पर देशमें काफी विवाद हो चुका है और हो रहा है। ऐसे व्यक्ति और संस्थाएं भी इसका विरोध कर रही हैं जिन्हें प्रतिक्रियावादी कहना कठिन है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि जन-तंत्रकी दुहाई देनेके साथ ही जनमतकी अवहेलनाकर अपने मतको दूसरोंपर बलात् लादना नेहरू सरकार चाहती है। लेकिन यह तो जनतंत्र नहीं, उसका उपहास है।

अब हम उस बिलके आधारभूत सिद्धांतोंपर भी एक दृष्टि डाल लें। हम इसपर पहले भी लिख चुके हैं। इस बिलमें दो मूल सिद्धांत रखे गये हैं एकपत्नी नियम और तलाकका अधिकार। काफी विरोधके कारण सम्पत्तिसम्बंधी धाराएं फिलहाल स्थगितकर दी गयी हैं। यह तो सरकारने एक बुद्धि-मत्ताका काम किया है। लेकिन उपर्युक्त दोनों बातोंके सम्बंधमें भी तर्क नेहरू-सरकारके पक्षमें नहीं जाता। कोई सामाजिक सुधार कानून द्वारा तभी न्याययुक्त कहलाता है जब उसकी कोई तत्काल आवश्यकता हो अथवा बहुमतकी प्रगति अल्पमतके कारण रुक रही हो। साथ ही उससे समाजमें अव्यवस्थाकी स्थिति पैदा होनेका खतरा न हो। बहुपत्नी प्रथाको कोई आदर्श-प्रथा नहीं कहता और न कोई यही कहता है कि जो तलाकका अधिकार चाहते हैं उन्हें यह अधिकार न दिया जाय। लेकिन प्रश्न यह है कि जो तलाकका अधिकार नहीं चाहता, जो अपनी प्राचीन परम्पराके अनुसार वैवाहिक संबन्धको केवल सामाजिक ठेका न मानकर अधिक स्थायी सम्बंध मानता है, उसपर तलाकका अधिकार लादकर उसके सामने एक शारीरिक सुखका स्थायी प्रलोभन कायम करना कहांतक न्याय संगत है—कहांतक तर्क-पूर्ण है? इस बातका कोई प्रमाण देनेकी जरूरत नहीं कि हिंदू-समाजके ९० प्रतिशत भाग-नीची कह-लानेवाली जातियोंमें तो तलाककी प्रथा वैसे ही कायम है। तब केवल १० प्रतिशतको यह अधिकार देनेके लिए लोचदार सामाजिक नियमोंके स्थानपर, जो समयकी गति और आवश्यकतानुसार बदलते रहे हैं और जिनमें बदलते रहनेकी क्षमता है, एक कड़ा-सा कानून बना देना किसी भी दृष्टिसे उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि आजकी स्थितिमें तो इतना लोच है कि जो तलाकका अधिकार चाहता है या जिसे अपने ऊपर स्वयं विश्वास न हो, एक पत्नीव्रतके लिए कानूनी बंधनकी आवश्यकता है उसके लिए भी देशमें कानून हैं। साथ ही हिंदुओंमें समयके साथ और आवश्यकतानुसार बदलते रहनेकी इतनी क्षमता भी है कि ब्रह्मसमाज, राधास्वामी अथवा आर्यसमाज आदिके सामाजिक नियमोंमें

परिवर्तनोंके साथ भी वह पूरे हिन्दूसमाजके अंग बने हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हिंदू-समाजकी यह परिवर्तनशीलता अब समाप्त हो चुकी है। तब इस कानूनको पास करनेका क्या औचित्य है, यह हमारी समझमें नहीं आता।

एक बात और भी बहुत महत्वपूर्ण है। भारत धर्मनिरपेक्ष-असम्प्रदायवादी राज्य है। यहां प्रत्येक नागरिकके चाहे वह किसी धर्मका अनुयायी हो, बराबर अधिकार हैं और बराबर जिम्मेदारियां। प्रश्न यह है कि क्या इस कानून द्वारा अधिकारों और जिम्मेदारियोंमें भेद नहीं हो रहा है? और इस प्रकार क्या यह बिल संविधान का उल्लंघन नहीं करता? इस कानूनके पास होनेके बाद हिंदू एक-पत्नीव्रत रहेंगे, लेकिन मुसलमानोंको बहुपत्नीका अधिकार रहेगा। इससे यह भय है कि बहुत से लोग अपनी वासनाओंकी तृप्तिके लिए ही अपना धर्म-परिवर्तन करेंगे उसी प्रकार जैसे पश्चिमी देशोंमें तलाकके लिए लोग एक स्थानसे दूसरे स्थानपर—जहां कानून भिन्न है—चले जाते हैं। इससे तो समाजमें अव्यवस्था फैल जायगी। और उधर नीची कहलानेवाली जातियोंके सामाजिक नियमों और इस कानूनमें जो संघर्ष होगा उससे यह अव्यवस्था और भी व्यापक रूप धारणकर समाजके स्थायित्वको ही धक्का न दे, यह भय है। इन बातोंको ध्यानमें रखते हुए हम एक बार फिर नेहरूसरकारसे यही अनुरोध करते हैं कि प्रगतिके नामपर अव्यवस्था फैलानेकी जिद छोड़ दें। साथ ही हम राष्ट्रपतिसे भी अपील करते हैं कि यदि उन्होंने नेहरूजीको कुछ लिखा है वह तो ठीक ही है, लेकिन यदि उनका मंत्रिमंडल अपनी जिदपर अड़कर यह बिल पास ही करा ले तो भारती-जनशक्तिके प्रतीक होनेके नाते उनका कर्त्तव्य है कि उस बिलपर स्वीकृति प्रदान न करें, ताकि आम चुनावके बाद नवनिर्मित पार्लमेंट स्थापित होनेतक यह कानून लागू न हो सके।

महामण्डलमें श्रीजीका चित्रसंग्रह।

(ले० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर)

श्रीभारतधर्ममहामण्डलभवनमें जिस प्रकार एक बृहत् पुस्तकालय स्थापित हुआ है, जिसमें हस्तलिखित और मुद्रित बहुमूल्य सहस्रों ग्रन्थ संगृहीत हुए हैं, उसी प्रकार एक विशाल चित्रालय भी है, जिसमें सहस्रों पौराणिक, दार्शनिक, औपनिषदिक, ऐतिहासिक और व्यावहारिक चित्रोंका संग्रह किया गया है। समझने के लिये विषय सुगमसे सुगम शब्दोंमें लिखा जा सकता है, या चित्रोंद्वारा समझाया जा सकता है। श्रीमहामण्डलके संस्थापक श्रीस्वामीजी महाराजने अपने जीवनमें जैसे सैकड़ों धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ लिखे, वैसे अनेक दार्शनिक और औपनिषदिक बड़े बड़े अनेक रङ्गोंमें बड़े परिश्रम और खोजके साथ तैल चित्र भी बनवाये हैं, जिनसे प्रतिपाद्य विषयके समझनेमें बड़ी सुगमता हो गयी है। वे सब चित्र श्रीमहामण्डलके चित्रालयमें सुरक्षित हैं। उनमेंसे कुछ चित्रोंका यहाँ परिचय कराया जाता है।

ब्रह्माण्डका मानचित्र ।

कालज्ञान-सम्बन्धी शास्त्रको इतिहास कहते हैं। काल और देशका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होनेसे इतिहासके विद्यार्थियोंको देशका भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। कमसे कम जिस देशमें हम रहते हैं, उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना तो बहुतही आवश्यक है। ब्रह्माण्ड क्या है और ब्रह्माण्डके साथ अपने भारतवर्षका क्या सम्बन्ध है, इसको समझानेके लिये श्रीजीमहाराजने एक विशाल ब्रह्माण्डका मानचित्र तैयार कराया है। उसको ध्यानपूर्वक देखनेसे ब्रह्माण्डका स्वरूप समझमें आ जाता है।

शास्त्रानुसन्धानके द्वारा यह निश्चित है कि, भारतवर्ष नामसे हमारा सब मृत्युलोक ही समझना चाहिए। इसीको दुनियाँ या वर्ल्ड कहते हैं। उसका प्रधान अंग भारतद्वीप है, जो हिन्दुस्तानके नामसे प्रसिद्ध है। समग्र ब्रह्माण्डके मानचित्रमें उसका स्थान कहाँ है और समग्र ब्रह्माण्डकी आधिभौतिक स्थिति कैसी है, यह इस मानचित्रमें बताया गया है। ब्रह्माण्डमें जो चतुर्दश भुवन है, उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है, बिलस्वर्ग, भौमस्वर्ग, माहेन्द्रस्वर्ग, प्राजापत्यस्वर्ग और ब्राह्मस्वर्गकी अलग अलग स्थिति कैसी है, ऊपरके सप्त और नीचेके सप्त लोकोंमेंसे बीचके भूलोकके विस्तारका स्वरूप क्या है, उसमें सप्तद्वीप और सप्त समुद्र कैसे हैं, उनका स्वरूप क्या है, उन सात द्वीपोंमेंसे जम्बुद्वीपका स्थान कहां है, उसमें नौवर्ष कहाँ कहाँ हैं, पितृलोक, नरकलोक, प्रेतलोक और मृत्युलोक जिसको भारतवर्ष या पृथ्वी कहते हैं—इनके स्थान कहाँ हैं और भारतवर्षमें भारतद्वीपकी स्थिति कहाँ है, ये सब बातें बड़ी कुशलतासे बतायी गयी हैं। इस मानचित्रमें यह भी बताया गया है कि, भूर्लोक और भुवर्लोक रूपी भौम स्वर्ग, जिसके अन्तर्गत समस्त ग्रह, नक्षत्र, राशिचक्रआदि हैं,—उसको दिव्य सुमेरु पर्वत कैसे धारण किये हुए है और उसीको आश्रय करके ध्रुवलोक, सप्तर्षिमण्डल, सूर्य, राशिचक्र तथा ग्रहगण कैसे स्थित हैं। इसी चित्रमें ब्रह्माण्डके ईश्वर और संचालक ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवोंके और कर्मके नियन्ता धर्मराज यम, देवराज इन्द्र, कालराज मनु तथा असुरराज बलि इन चारों देव पदधारियों के भी चित्र दे दिये गये हैं। इस चित्रके अवलोकनमात्रसे सारे ब्रह्माण्डका भव्य रूप अन्तश्चक्षुओंके सामने उपस्थित हो जाता है। इसका विस्तृत विवरण 'भारतवर्षका इतिवृत्त' नामक ग्रन्थमें प्रकाशित हुआ है, जो अध्ययन करने योग्य है।

अब इस अद्वितीय चित्रका संक्षेपमें विज्ञान भी जान लेना आवश्यक होनेसे वह यहाँ दिया जाता है। इससे वर्ण्य विषयमें कोई संदेह नहीं रह जायगा। ब्रह्माण्डके चतुर्दश भुवनोंके नाम ये हैं:— १-भूर्लोक, २ भुवर्लोक ३ स्वर्गलोक, ४-महर्लोक, ५-जनलोक, ६ तपोलोक और ७-सत्यलोक ये सात ऊपरके और १-अतल, २ वितल,-३-सुतल, ४-तलातल, ५-महातल, ६-रसातल और ७-पाताल ये सात नीचेके लोक हैं। मनुष्यके शरीरको धारण करनेवाला जैसा मेरुदण्ड (रीढ़) है, वैसाही ब्रह्माण्डके भूर्लोकके कुछ नीचेसे लेकर स्वर्गलोकसे कुछ ऊपरतक दैवी सुमेरुपर्वत ब्रह्माण्डको धारण किये हुए है। नीचेके सातलोक बिल स्वर्ग कहाते हैं, जिनमें असुरलोग वास करते हैं। इन सातों

लोकोंका भोग इन्द्रिय भोगके सम्बन्धसे ऊपरके लोकोंके भोगोंसे विशेष होनेके कारण आसुरी प्रकृतिके जीव उन्नत भोगोंकी इच्छासे इन्हीं लोकोंमें जाकर आसुरी भोग भोगते हैं। ऊपरके सात लोकोंमें भूर्लोक और भुवर्लोक भौमस्वर्ग कहाते हैं, जो मध्यम श्रेणीके स्वर्गलोक हैं। इन्हींके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, नक्षत्र, पृथिवी आदि स्थूल लोक हैं। सूर्यमण्डलका स्थान भुवर्लोकमें और ध्रुवलोकका स्थान भर्लोक और भुवर्लोककी संधिमें हैं। चौदह-लोकोंमेंसे ऊपरके पाँच लोक दिव्यस्वर्ग कहाते हैं। स्वर्लोकको माहेन्द्रस्वर्ग, महर्लोकको प्राजापत्य स्वर्ग, और जनलोक, तपोलोक और सत्यलोकको ब्रह्मस्वर्ग भी कहते हैं। ये ही ब्रह्मलोक, उपासनालोक और उन्नत ज्ञानलोक हैं। इन पाँचों लोकोंमें सात्विक भोगोंकी अधिकता होनेसे ऊपरके उत्तरोत्तर लोकोंमें उन्नतसे उन्नत महदात्माएँ जाती हैं। उनके निवासके वे ही स्थान हैं।

भौमस्वर्गके अन्तर्गत भर्लोक सात विभागोंमें विभक्त है, जो द्वीप कहाते हैं। वे इस प्रकार हैं:—१-जम्बुद्वीप, २-प्लक्षद्वीप, ३-शाकद्वीप, ४-कुशद्वीप, ५-क्रौञ्चद्वीप, ६-शाल्मलद्वीप और ७-पुष्करद्वीप। ये प्याजके छिलकेके समान एकके ऊपर एक हैं और सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं, जो एक दूसरेके बीच-बीच में हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—१-लवण-समुद्र, २-इक्षुसमुद्र, ३-सुरासमुद्र, ४ घृतसमुद्र, ५-दधिसमुद्र, ६-दुग्धसमुद्र, और ७-उदकसमुद्र। ये समुद्र जलमय नहीं, किंतु वायवीय हैं। सातों द्वीपोंके वातावरणमें बहुत अंतर है। उनके उपादानभी भिन्न भिन्न हैं। उक्त सप्तद्वीपोंमेंसे जम्बुद्वीपमें नौ वर्ष हैं। यथा:—१-भारतवर्ष, २-किम्पुरुषवर्ष, ३-हरिवर्ष, ४-रम्यकवर्ष, ५-हिरण्मयवर्ष, ६-उत्तरकुरुवर्ष, ७ इलावृतवर्ष, ८-भद्राश्ववर्ष और ९-केतुमालवर्ष। भारतवर्ष जम्बुद्वीपमें दक्षिणकी ओर स्थित है और बीचके इलावृतवर्षमें मेरुपर्वत खड़ा है। उसीको वेष्टन करके अन्य वर्षभी स्थित हैं। भारतवर्षके भी नौ विभाग हैं। इस समय उनके नाम एशिया, अफ्रिका, युरोप, अमेरिका आदि कुछ भी हो, प्राचीन नाम इस प्रकार हैं:—१-इन्द्रद्वीप, २-कशेरुमान्, ३-ताम्रवर्ण, ४ गभस्तिमान, ५-नागद्वीप, ६-सौम्य, ७ गान्धर्व, ८-वारुण और ९-आर्यावर्त यही आर्यावर्त इस समय हिन्दुस्तान कहाता है। यहीं पूज्यपाद महर्षियोंने जगत्‌के पथप्रद-र्शनका कार्य आरम्भ किया था। भारतवर्ष अर्थात् हमारी पृथ्वी ही मृत्युलोक है, शेष सब देवलोक हैं। भारतवर्षके चारों ओर अन्तरीक्षमें प्रेतलोक है और नीचे लवण समुद्रके तटपर नरकलोक है। इसीको पितृलोक कहते हैं और यहीं यमधर्मराजकी राज-धानी है। भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक-जो त्रिलोक कहाते हैं-इनका विस्तार अन्य लोकोंसे कुछ बड़ा है और इन तीनोंका विस्तार एक दूसरेके समानही है। सुमेरुपर्वत सूक्ष्म शक्तिमय पर्वत है। इस प्रकार इस विशाल और अलौकिक दैवी ब्रह्माण्डके मानचित्रको ज्ञाननेत्रके सम्मुख रखकर हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्षका मानचित्र विचारने योग्य है। इसको देखनेसे इसके निर्माता पूज्यपाद श्रीजीके असाधारण अन्तर्दृष्टि सम्पन्न होनेका आभास मिलता है और यह सब विषय शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध है।

ज्ञान गोलक।

यह चित्र बड़ाही मार्मिक और रहस्यपूर्ण है।

श्रीजगदम्बाकी जो अलौकिक अचिन्तनीय दैवीशक्ति इस जड़ चेतनात्मक सृष्टिको धारण किये हुए है, उसीको पूज्यपाद महर्षियोंने 'धर्म' कहा है। उसी त्रिगुणात्मिका महाशक्तिके रजोगुणसे सृष्टि होती है और तमोगुणसे उसका विलय हो जाता है। मध्यवर्ती सत्वगुणसे सृष्टिकी रक्षा हुआ करती है। जीवोंके वासोपयोगी लोकसमूह जबतक विद्यमान रहते हैं ग्रह-नक्षत्रादि अपने स्वरूपमें रहकर अपनी अपनी कक्षाओंमें भ्रमण करते रहते हैं, तबतक धर्मकी धारिका शक्तिही उनके अस्तित्वकी रक्षा किया करती है। विकासवाद या क्रमोन्नतिवादके अनुसार जड़राज्यसे ही चेतनराज्यका आविर्भाव होता है। श्रीजगदम्बा अपनी शक्तिके द्वारा जब सृष्टिक्रम आरम्भ करती हैं, तब प्रथम मृत्तिकामें उद्भिज्ज जीवका प्राकट्य होता है। जल और मिट्टीके संयोगसे काई जैसा जो पदार्थ उत्पन्न होता है. वही पहला निम्नश्रेणीका उद्भिज्ज है। उस जीवसे लेकर मनुष्यकी मुक्तिकी अवस्था तक वही शक्ति जीवको धारण किये रहती है। वह जीवमें सत्वगुणका क्रम-विकास करती हुई उसको पुनः पूर्ण सत्वगुणकी अवस्थामें पहुँचाकर मुक्त कर देती है। वही शक्ति उद्भिज्जको नानायोनियोंमें भ्रमण कराके स्वेदज-योनियोंमें पहुंचाती है। इसी क्रमसे जीवको नाना-योनियोंमें भ्रमण कराती हुई वह स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज पशु और पशुसे मनुष्य-योनिमें पहुँचा देती है। उद्भिज्ज योनिमें जीवके चारकोष सुप्त रहते हैं और अन्नमय कोषकाही विकाश उसमें होता है। क्रमशः ऊपरकी योनियोंमें एक-एक अधिक कोषका विकाश होता रहता है। जब जीव अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों कोषोंकी पूर्णता प्राप्तकर लेता है, तब मानव-पिण्डमें पहुँच जाता है। मनुष्य पंचकोशोंकी पूर्णता प्राप्तकर अपने पिण्डका अधीश्वर बनकर अपनी इच्छाके अनुसार सब काम करने लगता है। जब उसका अपनी इच्छाशक्ति पर अधिकार होजाता है, तब उसे पाप-पुण्यका भी भागी बनना पड़ता है। अन्य चौरासीलाख योनियोंमें पाप-पुण्यका भय नहीं है। भारतवर्षरूपी मृत्युलोकमेंही मनुष्यको कर्म करनेका अवसर मिलता है। अन्य ऊपर-नीचेके सबलोक भोगलोक हैं। भारतवर्ष कर्मभूमि है। यहाँ जो जैसा कर्म करेगा, वैसाही अन्य भोगलोकोंमें जाकर फलभोग करना होगा। 'जो जस करे, सो तस फल चाखा।'

जब चिच्छक्तिसे ही जीवमात्रकी उत्पत्ति हुई है, तब सभीमें न्यूनाधिक परिमाणमें ज्ञान विद्यमान है। परन्तु मानवपिण्ड पूर्ण होनेके कारण मानव सत्कर्मोंका अनुष्ठान कर धर्मकी वृद्धि करता हुआ 'नरसे नारायण' भी हो सकता है। पूज्यपाद महर्षि-योंने शास्त्रोंमें जड़ा प्रकृतिसे पूर्ण ब्रह्मतक पहुँचनेमें एक सोपान-परम्परा बतायी है। उन्होंने सिद्धकर दिया है कि जीवके अन्तःकरणमें उदित होनेवाली सात अज्ञान भूमियाँ है और सात ज्ञान भूमियाँ। अज्ञान भूमियोंकी अधिष्ठात्री देवी अविद्या है और ज्ञानभूमियोंकी अधिष्ठात्री देवी विद्या। इस चित्रमें दोनोंकी मूर्तियाँ अंकित हैं, क्योंकि दोनों आदि शक्ति श्रीजगदम्बाके ही रूप हैं। अविद्या कुरूप, काली और फाँसी तथा झाड़ू लिये हुए है और विद्या शंख, चक्र, गदा, पद्म धारणकी हुई प्रसन्नवदना परम सुन्दरी है। अविद्याके कौशलसे मनुष्यका पतन होता है और विद्याकी कृपासे वह अमृतत्वको प्राप्त-

करता है। ज्ञानगोलकमें रंगों द्वारा यह भी दिखाया है कि, घोर तमोगुणसे ऊपर उठता हुआ जीव किस क्रमसे शुद्ध सत्वगुण तक पहुंच जाता है। चित्रके नीचेके सिरेमें जड़ा प्रकृति है और ऊपरके सिरेमें ब्रह्म है, जिसका स्वरूप ॐकार है। पूर्वाचार्यों ने अज्ञान-भूमियोंका स्वरूप निर्णय करनेके लिये निम्नसे निम्न अधिकारके जीवोंके अन्तःकरणों पर संयम करके पहले अनुभव किया और फिर जीवोंकी क्रमोन्नतिकी पौढ़ियाँ बांधी। उन्होंने देखा कि उद्भिज्ज जीवोंके समष्टि चिदाकाशमें अज्ञानभूमिका सबसे नीचा स्तर है। दूसरा स्तर स्वेदज जीवोंके, तीसरा स्तर अण्डज योनिके और चौथा स्तर जरायुज (पशु) जीवोंके समष्टि चिदाकाशमें उन्हें देख पड़ा। क्योंकि उनमें स्वाभाविक रूपसे ही पंचकोशोंका एक-एक करके क्रमशः विकाश होता जाता है। इसके अनन्तर अज्ञानभूमियोंके ऊपरके तीन स्तर अज्ञान-सेवी मनुष्योंमें इसप्रकार पाये जाते हैं:—१-देहको ही आत्मा समझना अर्थात् देहात्मवादको स्वीकार करना अज्ञान भूमिका पांचवां स्तर है। २-देहातिरिक्त आत्मवाद छठा स्तर है और ३-आत्मातिरिक्त शक्तिवाद सातवाँ स्तर है। इस समय जितने दर्शन-मत भारतके अतिरिक्त समस्त संसारमें प्रचलित हैं, उनका इन्हीं तीन अज्ञान भूमियोंमें समावेश होजाता है। इनको पारकर लेनेपर मनुष्यको ज्ञानभूमियोंमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अविद्या-सेवित राज्यकी सीमा उक्त अज्ञान भूमियोंमें समाप्त होकर विद्यासेवित राज्यकी सीमा ज्ञानभूमियोंसे प्रारम्भ होती है। ज्ञानभूमियाँ इस प्रकार हैं:—१-ज्ञानदा, २-संन्यासदा, ३-योगदा, ४-लीलोन्मुक्ति ५-सत्पदा, ६-आनन्दपदा और ७-परात्परा। इन्हीं सात ज्ञानभूमियोंकी सात पौढ़ियोंपर चढ़ आनेपर जीव ब्रह्मानन्द पारावारमें उन्मज्जन-निमज्जन करने लगता है। इसी पदकी प्राप्ति करना आर्यजातिका प्रधान और मौलिक लक्ष्य है।

इन्हीं सात ज्ञानभूमियोंके अनुसार वैदिक दर्शन-शास्त्र सात श्रेणियोंमें विभक्त हुआ है। इनमेंसे दो पदार्थ-वादके दर्शन हैं,—न्याय और वैशेषिक, दो सांख्य प्रवचनके दर्शन हैं,—योग और सांख्य तथा वेदके तीन काण्डोंके अनुसार तीन मीमांसा-दर्शन हैं,—कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा। पदार्थवादके दोनों दर्शनोंमें अनुमानके द्वारा जगत्कर्ताका अनुसन्धानकर स्थूल प्रपञ्चके मौलिक परमाणुओंकी नित्यता सिद्धकी गयी है। सांख्य प्रवचनके दोनों दर्शनोंमें यथाक्रम प्रकृति और पुरुषकी नित्यता और दोनोंका पृथक् पृथक् यथार्थ स्वरूप बताकर तत्त्वज्ञानीको मुक्ति मार्गमें अग्रसर किया है और तीनों मीमांसादर्शनोंमें अपने-अपने ढंगपर प्रकृति और पुरुषकी एकता सिद्धकर पहलेमें जगतही ब्रह्म है, दूसरेमें ब्रह्मही जगत् है और तीसरेमें मैं ही ब्रह्म हूं, इस प्रकारके लक्ष्यको स्थिर किया है। इस चित्रके द्वारा पूज्यपाद श्रीजीने वैदिक ज्ञानका यथार्थ स्वरूप प्रकटकर तत्त्वज्ञानियोंको कृतकृत्य किया है। इसीसे इसका नाम 'ज्ञान गोलक' है और इसकी सहायतासे अज्ञानभूमियों और ज्ञान-भूमियोंको समझ लेना बहुत ही सुगम हो गया है। इसके अनुशीलनसे ऐसा कोई जिज्ञासु नहीं, जो तृप्त न हो और ऐसा कोई बुद्धिमान् नहीं, जो चकित न हो।

वेदाविर्भाव।

यह सभी तत्त्वज्ञानी स्वीकार करते हैं कि, वेद

सबसे प्राचीन हैं, अनादि हैं और नित्य हैं। उनका समय समयपर आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, परन्तु नाश कभी नहीं होता। इस चित्रमें यह बताया गया है कि वेदोंका आविर्भाव किस प्रकार होता है। ऊपर शुद्ध सत्त्वमयी वीणा पुस्तक-धारिणी पद्मासना भगवती सरस्वती प्रसन्न मुख विराजमान हैं और उनके तेजोमण्डलमें किरणें निकल रही हैं। नीचेके ओर अन्तर्दृष्टि सम्पन्न ध्यान-मग्न पद्मासन लगाये पूज्यपाद महर्षिगण बैठे हैं और ज्ञान जननी माताके तेजोमण्डलसे निकली हुई किरणें उनके हृदयोंमें प्रवेश कर रही है। उन्हें वेदोंका साक्षात्कार हो रहा है। वे वेदोंके कर्ता नहीं, द्रष्टा हैं। यही इस चित्रके द्वारा दिखाया गया है। इसका विज्ञान संक्षेपमें बता देना उचित जान पड़ता है।

वेद और शास्त्रोंसे यह सिद्ध है कि विद्यारूपी नदीका प्रवाह पाँच धाराओंमें प्रवाहित होता है। (पञ्चस्रोता सरस्वती)। अतः पूज्यपाद महर्षियोंने पाँच प्रकारकी पुस्तकें मानी हैं:—१ ब्रह्माण्ड पुस्तक, २. पिण्ड पुस्तक, ३ नाद पुस्तक, ४ बिन्दु पुस्तक और ५. अक्षरमयी पुस्तक। जो ब्रह्माण्डके अधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा श्रीजगदम्बाकी प्रेरणासे प्रकाशित हों और जिनकी स्थिति ऊपरके सबसे ऊँचे तीन लोकोंमें नित्य रहे, उन ज्ञानमयी पुस्तकोंका नाम ब्रह्माण्ड पुस्तक है। जो भूलोकके दैवी राज्यके ऋषियों द्वारा प्रेरित होकर अथवा आसुरी शक्ति द्वारा प्रकाशित हों, वे पुस्तकें ब्रह्माण्ड पुस्तकोंके अन्तर्गत मानी गयी हैं। इनकी सामग्री नीचेके असुरलोक और भूलोकसे मिलती है। वेदको स्मरण कर ऋषियोंके अवतार जो ज्ञानराशि प्रकाशित करते हैं, वह बिन्दु पुस्तकोंके नामसे अभिहित होती हैं। उनको ही स्मृतिशास्त्र कहते हैं। जो सृष्टिके आदिकालमें ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें ज्योंकी त्यों मन्त्ररूपमें सुनायी देती हैं, वे नादमयी पुस्तकें कहाती हैं। वे ही वेद हैं। ये चारों अलौकिक पुस्तकें हैं। ये चारों और लौकिक बुद्धिसे प्रकाशित अन्य साधारण पुस्तकें जब अक्षरोंमें लिखी जाती हैं, तब वे अक्षरमयी पुस्तकें कही जाती हैं। पहली चार प्रकारकी पुस्तकें नित्य और अक्षरमयी पुस्तकें अनित्य मानी गयी हैं।

वेद किसी मनुष्यके द्वारा नहीं रचे गये हैं। अन्य पुस्तकें भावरूपसे मनुष्योंके चित्तमें उदित होती हैं परन्तु वेद अपौरुषेय हैं। मन्वन्तर-मन्वन्तरान्तर या कल्प-कल्पान्तरमें भी वेदोंका ज्ञान नित्य बना रहता है और वेदोंके शब्द भी नित्य विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक सत्ययुगमें इस मृत्युलोकमें वेदोंका आविर्भाव हुआ करता है। मन्वन्तरके अन्तमें खण्ड-प्रलय होकर सृष्टिमें नवीनता अवश्य आती है, किन्तु बीज पुराना ही बना रहता है। कल्पान्तमें सम्पूर्ण सृष्टिका प्रलय होकर नवीन सृष्टि होती है। ब्रह्माण्डके भूः भुवः स्वः इस त्रिलोक में ही सृष्टि स्थिति प्रलयकी क्रिया नानारूपसे हुआ करती है। चारों युगों और मन्वन्तरका प्रभाव भी इन्हीं तीनों लोकोंमें अधिक पड़ता है। कल्पके अन्तमें जो प्रलय होता है, वह नीचेके सात और ऊपरके चार लोकोंमें ही होता है। सबसे ऊपरके तीन लोक, जो ब्राह्मस्वर्ग कहाते हैं और जहाँ भगवान् ब्रह्मा निवास करते हैं, ज्योंके त्यों बने रहते हैं। वहीं नित्य रूपसे वेद भी सुरक्षित रहते हैं और प्रत्येक सत्य युगके आरम्भमें इस मृत्यु-लोकमें वे आविर्भूत होते हैं।

आजकल पदार्थविद्याका बोलबाला है। इस विद्यामें लोगोंका मूल विश्वास है। अतः इसी विद्याके द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है कि, आदिसृष्टिमें ऋषियोंके समाहित अन्तःकरणोंमें वेदका सुनायी देना असम्भव नहीं है। आजकल पश्चिमी देशोंकी 'साइकिक रिसर्च सोसाइटियों (प्रेत-विद्याका अनुसन्धान करनेवाली गोष्ठियों)ने यह प्रत्यक्षरूपसे सिद्ध कर दिखाया है कि, जिनके हृदयोंका प्रेतलोकके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उनको प्रेतलोकके जीवोंके शब्द स्वाभाविक रूपसे अच्छी तरह सुनायी देते हैं। इससे भी स्थूल जगत्का स्पष्ट उदाहरण यह है कि, रेडियो यन्त्रके द्वारा सैकड़ों कोसोंके शब्द उसी क्षण घर घरमें सुनायी देने लगते हैं। जहाँ रेडियो यन्त्र नहीं है, वहाँ सुनायी नहीं देते। इसी तरह आदिसृष्टिमें ऋषियोंके अन्तःकरण ब्राह्मस्वर्गके साथ एक स्वरमें मिले होते हैं, इस कारण वेदकी ऋचाओंका उनके अन्तःकरणमें आविर्भाव हो जाता है। उनका हृदय ही रेडियो यन्त्रका काम करता है। योगसाधना द्वारा ऐसा हृदय बना लेना सम्भव है। जिनको ब्राह्मस्वर्गके वेद ज्योंके त्यों सुनायी देते हैं, उन्हींको ऋषि कहते हैं। तीसरा लौकिक उदाहरण यह है कि, एक ही स्वरमें मिले हुए कई बाजे यदि किसी कमरेमें रक्खे हों और उनमेंसे कोई एकही बाजा बजाया जाय, तो सब बाजे झंकार करने लगते हैं। इसी तरह जिनके अन्तःकरण ब्राह्मस्वर्गके साथ एक स्वरमें मिले हों, उनको वेदोंका सुनायी देना कौन बड़ी बात है? वेदकी तरह स्मृतिशास्त्र भी नित्य है। पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि स्मृति शास्त्र ही हैं। वे ऋषियोंको शब्द रूपमें ज्योंके त्यों तो नहीं सुनायी देते, किन्तु दैवी जगतकी सहायतासे उनके अन्तःकरणोंमें भावरूपसे आविर्भूत होते हैं। अन्ततः भावरूपसे स्मृतिशास्त्र भी नित्य ही हैं।

वैदिक दर्शनशास्त्रने सिद्धकर दिया है कि, प्रतिकल्पके आरम्भमें जितनी ज्ञानराशि प्रकट होती है, वह उस कल्पके अन्ततक बनी रहती है। युगयुगान्तरमें उनका केवल आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। वर्तमान कल्पके आरम्भमें वेदकी ११८० संहिताएँ, ११८० ब्राह्मण ग्रन्थ और ११८० उपनिषद् उपलब्ध हुए थे। उनमेंसे इस समय छः सात संहिताएँ, बीस-पचीस ब्राह्मण ग्रन्थ और सौ सवा सौ उपनिषद् बच रहे हैं। इस कल्पके आरम्भमें वेदका विस्तार ३५४० खण्डोंमें पाया गया था। वह प्रत्येक सत्य युगमें पाया जाता है और कलियुग के अन्ततक उसका बहुतसा अंश लुप्त भी हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्वापरयुगमें व्यास-पदधारी देवता बदल जाते हैं। वे वेदके भाष्यरूपी पुराण-ग्रन्थ प्रकाशित करते हैं। गत द्वापर युगमें दो इतिहास ग्रन्थ, १८ महापुराण, १८ पुराण, १८ उपपुराण, १८ औपपुराण तथा इस चौकड़ीयुगमें ५६ हजार तन्त्रग्रन्थ, जिनको आगमशास्त्र कहते हैं और जिनमें सब श्रेणीकी विद्याओंका समावेश है, प्रकाशित हुए थे। उनका थोड़ा सा भी अंश इस समय नहीं मिलता। इसी तरह ऋषिप्रणीत अनेक सूत्रग्रन्थ जैसे— गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, कल्पसूत्र, शिक्षासूत्र, संगीतसूत्र, स्मार्तसूत्र (धर्मशास्त्र) आदि तथा ज्योतिष, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यवेद, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग आदि की संहिताएँ सत्ययुगके आरम्भमें विद्यमान थीं; उनका महत्त्वांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता।

यह एक शंका हो सकती है कि, जब मन्वन्तर बदल जाने पर मनुष्यों की सभ्यता और दैवी शृंखला बदल जाती है और कल्पनान्तर में सारी सृष्टि ही बदल जाती है, तब वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंकी नित्यता कैसे स्वीकार की जाय ? इसका समाधान पहलेही कर दिया गया है कि, ब्रह्माकी रात्रिमें चतुर्दश भुवनोंमें से ग्यारह भुवनोंका प्रलय हो जाता है और शेष तीन भुवन बच जाते हैं, जिनको ब्राह्म-स्वर्ग कहते हैं, उनमें वेद और वेदसम्मतशास्त्र स्थित रहते हैं। अतः उनकी शब्द और भावरूप से नित्यता स्वतः सिद्ध है। वे ही नित्य वेदशास्त्र अनेक ऋषियोंके द्वारा सत्ययुगमें मृत्युलोकमें प्रकाशित होते और कलियुगके अन्ततक लुप्त हो जाते हैं उनकी यह परम्परा सदा बनी रहती है। जैसे—ब्रह्माण्डकी सब कर्म शृंखला देवपदधारी व्यक्तियोंके द्वारा परिचालित होती है, वैसे ब्रह्माण्डकी ज्ञान शृंखला देवलोकवासी नित्य ऋषियोंके द्वारा परिचालित होती है। जबतक एक ब्रह्माण्ड जीवित रहता है, तबतक उसकी ज्ञान-राशि भी ऊपरके देवलोकोंमें सुरक्षित रहती है। चारों युगों और उनके अन्तयुगोंके अनुसार दैवी-शास्त्र, आसुरीशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, विज्ञानशास्त्र आदिका आविर्भाव-तिरोभाव इस मृत्युलोकमें यथा देशकाल हुआ करता है क्योंकि ज्ञान नित्य है।

इसी शास्त्रीय-विज्ञान के अनुसार पूज्यपादश्रीजी महाराजने वेदाविर्भावका यह तैलचित्र तैयार कराया है। श्रीभगवती सरस्वती पाँच धाराओंमें पाँच प्रकारकी पुस्तकोंके रूपमें ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें तेजो रूपमें प्रवेश कररही है. यह इस चित्रमें दिखाया गया है। उपर्युक्त विज्ञानको ठीक समझकर इस चित्रपर जो जिज्ञासु दृष्टि डालेंगे, वे अलौकिक आनन्दको प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इनके अतिरिक्त वर्णाश्रमबन्ध, धर्मकल्पवृक्ष, श्रीमहालक्ष्मीका आविर्भाव, आदि मानवसृष्टिकी पुण्य भूमि, तपोवनका आश्रम, वेदके काण्डत्रय पञ्चोपासनाके अनुसार भगवान्विष्णु, शम्भु, महाशक्ति, सूर्यदेव और गणपतिके भी बड़े-बड़े चित्र बनवाये गये है, जो दर्शनीय और ध्यान-मनन करने योग्य हैं इन सबका विवरण 'सूर्योदय' के श्रीजीके स्मारक विशेषांकमें प्रकाशित किया गया है

ये सब मौलिक दार्शनिक और औपनिषदिक चित्र हैं तदतिरिक्त सैंकड़ों पौराणिक और ऐतिहासिक चित्रोंका श्रीजीने संग्रह किया है। श्रीमद्भागवत, महाभारत, रामायण, तन्त्र और अन्यान्य पुराणोंकी प्रधान-प्रधान घटनाओंके चित्र, १५-१६वी शताब्दीसे लेकर अबतक के और इससे भी पहलेके धर्माचार्यों, साधु-सन्तों और महात्माओंके चित्र तथा मुख्य मुख्य प्राचीन और आधुनिक देशी नरेशोंके चित्र श्रीजीके इस संग्रहमें संगृहीत हुए हैं। चित्र-संग्रहमें श्रीजीने पक्षपात नहीं किया है। आर्यमहापुरुषोंकी तरह महात्मा ईसा, महम्मद पैगम्बर आदि अन्य धर्मोके प्रवर्तकोंके चित्रोंको भी संग्रहालयमें स्थान दिया गया है। श्रीजीके भक्तोंने श्रीजीके अनेक चित्र बनवाकर इस संग्रहालयमें रख दिये हैं. उनमें श्रीमान् रणजीतसिंहजीका बनवाया हुआ विशाल तैलचित्र, जो श्रीजीके लीलासंवरणके १५-२० दिन पूर्व उतारा गया था और उपदेशक महाविद्यालयके हालमें शोभा पा रहा है, श्रीजीका अन्तिम चित्र है, दर्शनीय है और हमें कर्मयोगके लिये प्रेरणा दे रहा हैं। हिन्दूधर्मका समुज्वल स्वरूप प्रकट करनेवाला ऐसा चित्रसंग्रह भारतमें अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता। श्रीजीका यह दर्शनीय और मननीय पुरुषार्थ बेजोड़ है।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण-सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमास प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखमें प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १८ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समय पर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तर में विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंट के पतेमें आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है:—

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
„ „ तीसरा पृष्ठ	२५)	„
„ „ चौथा पृष्ठ	३०)	„
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	„
„ १/२ „	१२)	„
„ १/४ पृष्ठ	८)	„

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको 'आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

क्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला-कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

मुद्रक—सर्वोदय प्रेस, महाबीर, बनारस।

श्री आर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्‌की मासिक मुखपत्रिका

कार्तिक सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ७ | अक्तूबर १९५१

श्रीमती सुन्दरी देवी. एम. ए., बी. टी.
प्रधान सम्पादिका :—

जनम सिराने अटके अटके ।
ना हरि भजे न तीरथ सेवे,
रहे बीच ही लटके ॥
राजकाज सुत-पितु की डोरी,
बिन विवेक फिरौं भटके ।
कठिन जो ग्रन्थि परी माया की,
तोरी जात न झटके ॥
कोटिक कला काछि दिखराये,
लोभ न छूटत नटके ।
सूरदास शोभा क्यों पावे,
पिय विहीन धन मटके ॥

विषय-सूची

अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥

कार्तिक सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ७ | अक्टूबर १९५१

प्रार्थना

लज्जा मोरी राखो श्याम हरी।
कीनी कठिन दुःशासन मोसे,
गहि केशन पकरी॥
आगे सभा दुष्ट दुर्योधन
चाहत नग्न करी।
पाँचों पाण्डव सब बल हारे
तिनसौं कछु न सरी॥
भीषम द्रोण विदुर भये विस्मित
तिन सब मौन धरी।
अब नहिं मात पिता सुत बाँधव,
एक टेक तुमरी॥
बसन प्रवाह किये करुनानिधि,
सेना हार परी।
सूरश्याम सब सिंह शरण लई,
कहा शृगाल डरी॥

"सूरदास"

आत्मनिवेदन।

दैवी विजय

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक सर्वशक्तिमान् भगवान्की कृपासे अन्ततः हिन्दूकोडबिल वर्तमान संसदके लिये स्थगित हुआ। प्रधान मंत्री श्रीजवाहरलाल नेहरूने जिसे पास करनेके लिये अपनी सरकार की बाजी लगादी थी, और घोषित किया था कि "यदि हिन्दूकोडबिल पास नहीं हुआ तो हमारी सरकार पदत्याग करेगी" उन्हीं नेहरूजीने ता० २६ सितम्बरको संसदमें घोषित किया कि "समयका अभाव होनेसे इस समय हिन्दूकोडबिल पर विचार नहीं होगा।" यद्यपि इस संसदका एक अधिवेशन फेब्रुअरी १९५२ में होनेकी सम्भावना है, परन्तु उसमें भी इस बिलके पास होनेकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार हिन्दूजातिके लिये कोढ़रूपी वह बिल वर्तमान संसदके लिये तो समाप्त हो गया, परन्तु नेहरूजी तथा उनकी सरकारने पदत्याग नहीं किया यह नेहरू-सरकारकी करारी हार तथा दैवी पक्षकी विजय है।

हिन्दूकोडबिल सम्बन्धी संग्राम देवता एवं असुरोंका संग्राम था, इस कारण यह तात्कालिक विजय आसुरी सम्पत्तिपर दैवी सम्पत्तिकी विजय है। इसका सर्वोपरि श्रेय हिन्दूजातिके सर्वमान्य नेता वीतराग त्याग-तपोमूर्ति पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजीको है, जिन्होंने सर्दी और गर्मी, दिन और रात एक-समान करके भारतके एक छोरसे दूसरे छोर तक सतत पर्यटन करके प्रगाढ़ मोहनिद्रामें पड़ी हुई हिन्दूजातिको जगाकर इस बिलके विरोधका प्रचण्डतमरूप बना दिया। देशके कोने-कोनेसे सहस्रों नर-नारियोंका दल इस बिलके विरोधके लिये दिल्ली पहुँचने लगा और उग्र विरोध तथा प्रदर्शन प्रारम्भ हो गया। पूज्य स्वामी करपात्रीजी तथा महिलाओं पर पुलिस द्वारा निष्ठुरतासे लाठी प्रहार कराया गया, इसके विरोधमें अखिल भारतीय महिला-संघकी प्रधान मन्त्रिणी लखनऊकी श्रीमती शान्तादेवी वैद्या तथा मद्रासके प्रसिद्ध नेता स्वामी सत्यानन्दजी ने आमरण अनसन प्रारम्भ कर दिया। इतना संगठित एवं जोरदार विरोध देखकर समयाभावका बहाना बनाकर इस समयके लिये हिन्दूकोड बिल स्थगित करनेके लिये नेहरू सरकारको विवश होना पड़ा। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिये कि यह सामयिक विजय है, अन्तिम विजय अभी प्राप्त करना शेष ही है। इससे यह भी सिद्ध है कि यदि हिन्दूनर-नारी संगठित हो जायँ, तो नेहरू-सरकार नहीं संसारकी किसी सरकारमें यह शक्ति नहीं कि हमारी इच्छाके विरुद्ध कोई कानून हम पर लाद सके। अतः अब सावधान होकर अपने कर्तव्य-पालनमें तत्पर हो जाना चाहिये। अब केवल दो महीनेके पश्चात् आम चुनाव होने जारहा है। इसी चुनाव पर पांच वर्षों के लिये भारतका भविष्य तथा हिन्दूकोडका भी भविष्य निर्भर करता है। श्रीनेहरूजीने दिल्लीमें गान्धी-जयन्तीके उपलक्षमें आयोजित ता० २ अक्टुबरको सभामें तथा कांग्रेस के सभापतिपदसे भाषणमें हिन्दूकोड सम्बन्धी जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे यह निश्चय है, कि कांग्रेस यदि पुनः अधिकारमें आवेगी तो सबसे

पहले हिन्दूकोडबिल ही पास करेगी और नेहरूजी अपना हठ अवश्य पूरा करेंगे। गत चार वर्षोंके कांग्रेसी-शासनमें जनता जितनी त्रस्त हुई, वह प्रत्यक्ष ही है। अन्न-वस्त्र-आवासके लिये हाहाकार अब भी मचा ही है! नेहरूजीके धर्महीन-राज्यमें धर्म-हीनता एवं नास्तिकताके प्रचारसे जनताका घोर नैतिक पतन हुआ, फलत. नेहरूजीके शासनके इन चार वर्षोंमें जितनी चोरी, लूट, हत्या डकैती, चोरबाजारी भ्रष्टाचारका बोल-बाला रहा है, उतना इससे पहले नहीं था, दैवी प्रकोपके फलस्वरूप जितनी अनावृष्टि, अतिवृष्टि जल-प्लावन, भूकम्प, तथा टिड्डियोंकी उत्पति जितनी इन वर्षोंमें हुआ, उतना इधर कभी नहीं हुआ था। जनताके इन सब अगणित विपत्तियोंके कारण तथा उनके निराकरणकी ओर नेहरूजीका कभी ध्यान नहीं जाता न उनको इसकी कोई चिन्ता ही है। उनको तो हिन्दूकोडबिल पास करनेकी अपनी हठपूर्ण प्रतिज्ञा पूरी करनेकी चिन्ता है। और यद्यपि अबतक उन्होंने साम्प्रदायिकताकी कोई परिभाषा नहीं की है, परन्तु साम्प्रदायिकता मिटाने की चिन्ता से वे बेचैन हैं। अतः जनता पर इस समय अपनी जाति एवं देशकी रक्षाकी भारी जिम्मेदारी है। इस चुनावमें यदि ईश्वरसे डरनेवाले धार्मिक चरित्र-वान् सदाचारी और सच्चे व्यक्तियोंको उम्मेदवार खड़ा किया जाय और ऐसेही व्यक्तियोंको मत दिये जायँ जो हिन्दूकोडबिल रद करने एवं गोहत्या बन्द करनेकी प्रतिज्ञा करें तो ये सारी विपत्तियाँ दूर हो सकती हैं और रामराज्यका स्वप्न पूर्ण नहीं तो किसी अंशमें सत्य हो सकता है। अबतो सरकार बनाना जनताके हाथ है, चाहे वह रावण-राज्य बनावें या रामराज्य बनावें, अतः यदि रामराज्यकी स्थापना चाहते हैं, तो ऐसे ही लोगोंको अपना प्रतिनिधि बनाकर संसद तथा विधान-सभाओंमें भेजें तभी दैवी सम्पत्तिकी अन्तिम विजय होगी, हिन्दूकोडबिल रद्द होगा, गोहत्याका कलङ्क दूर होगा, दैवी प्रकोप सब दूर होंगे, और भारत पुनः जगद्गुरु बनकर जगतको सुख-शान्तिका सन्देश सुनावेगा।

दहेज प्रथा—

कन्यादान-सम्बन्धी शास्त्रीय आज्ञाके अनुसार कन्याको यथाशक्ति उत्तम वस्त्र एवं आभूषणोंसे आभूषित कर कन्यादान करनेका विधान है, और इसी सम्बन्धसे वर-कन्या को विविध उपहार देनेका भी विधान है, परन्तु कन्याके पिताकी इच्छा एवं शक्तिके अनुसार ही यह सब करना था। हिन्दूजातिका पतन होते-होते ऐसा भी समय आगया कि कुछ लोग कन्याविक्रय करनेवाले बन गये और भी कन्याएँ बेची जाती हैं तथा जिन लोगोंको हीनकुल होनेके कारण अथवा वृद्ध होनेके कारण विवाहके लिये कन्याएँ नहीं मिलती हैं, ऐसे लोग कन्याओंका क्रय करके विवाह करते हैं। इससे भी आगे कुछ ऐसी प्रथा चली है कि अब वरोंका विक्रय होने लगा है। शिक्षित और धनवान् वरके लड़कों का तिलकके रूपमें दस, बीस, पचास हजार तक मूल्य चूकाना पड़ता है। पिता-माताकी प्रबल इच्छा रहती है कि उसकी प्यारी पुत्री धनी घरमें शिक्षित वरसे व्याही जाय जिससे वह आजीवन सुखी रहे, इसके कारण ऐसी परिस्थिति हो गयी है कि अच्छी कुलीन किन्तु धनहीन लोगोंकी कन्या चाहे कितनी गुणवती रूपवती हो विवाह होना असम्भव होगया है। कितने ही लोग धनाभाव

के कारण पुत्रीका विवाह करनेमें असमर्थ हो जाते हैं और अपनेको असमर्थ पाकर मृत्युका आलिङ्गन करते हैं। अभी एक हबड़ाके बङ्गाली सज्जनने अपनी दो पुत्रियोंका विवाह न कर सकने के कारण मुगलसरायमें आकर आत्म-हत्या करली। यह शिक्षित-समाजके लिये कितनी लज्जाकी बात है। आज सब ओर सुधार एवं प्रगतिकी चर्चा है, परन्तु ऐसी कुरीतियोंके सुधारकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। जहाँ अपने स्वार्थका प्रश्न आता है, सारा विवेक एवं विचार पर पानी फिर जाता है। यदि आजका शिक्षित युवक-समाज इस ओर ध्यान दें, तो हिन्दूजातिका यह कलङ्क दूर कर सकता है। आज तो कन्याविक्रयसे अधिक वर-विक्रयका बाजार गर्म है। इसके कारण कितने ही पिताको आत्महत्या करनी पड़ती है, कितनी वधुओंको भी मृत्युके मुखमें झोंक दिया जाता है और भी अनेक अनर्थ होते हैं। क्या शिक्षित युवक-समाज इस ओर ध्यान देगा?

——

दाम्पत्यजीवन और संयुक्त कुटुम्ब।

(ले०—श्रीमान् पं० किशोरीदासजी वाजपेयी)

कुटुम्ब हमारी एक सामाजिक संस्था है, जिसमें सार्वजनिक जीवन बितानेकी हमें प्रारम्भिक शिक्षा मिलती है; सहयोग, सहिष्णुता तथा त्यागकी भावना-का विकास होता है। मानवताके विकासकी ये सीढ़ियाँ हैं। पाश्चात्य आँधीके झोंकेसे हमारा यह कल्पवृक्ष हिल गया है, डगमगा गया है। विवाह होतेही नवदम्पती पृथक् घर बसानेकी धुनमें मस्त हो जाते हैं और वैसे माता-पिता भी यह सोचने लगे हैं कि विवाहके बाद अलग ही रहना ठीक है।

इस प्रकारकी धारणामें रस नहीं, तत्व नहीं और जीवन नहीं है। कौटुम्बिक जीवनमें ये सब बातें हैं, यदि समुचित संचालन हो। सुन्दर कौटुम्बिक जीवन के कुछ लाभ देखिए।

संयम और रस—कौटुम्बिक जीवनमें 'गुरुजन-लाज-लगाम' लगी रहती है, जिससे तारुण्य-तुरंग इधर-उधर बहकने नहीं पाता, ऐसा भाग नहीं सकता कि काबूमें न रहे। यदि घोड़ा सवारके वशमें न रहे, तो मजा क्या? जीवन खतरेमें पड़ जाय! सवारके अधीन घोड़ा रहना चाहिये। यदि तारुण्यने हमें अपने वशमें कर लिया और कहींका कहीं ले जाकर पटक दिया तो जानके लाले! गुरुजनोंकी लाज तारुण्य-तुरंगकी लगाम समझिए। नवदम्पतीको सुसंस्कृत कुटुम्बमें एकदम छूट नहीं मिलती, कुछ नियंत्रण या अंकुश रहता है। फलतः जबर्दस्ती संयम हो जाता है। जो लोग कौटुम्बिक जीवनसे अलग होकर दाम्पत्य जीवन बिताते हैं, वे इस नियन्त्रण और संयमसे वंचित हो जाते हैं। फलतः बे-लगाम तारुण्य-तुरंग इस वेगसे दौड़ता है कि इनके जीवनसे आ- बनती है। शरीरके पोषकतत्त्व एकदम क्षीण हो जाते हैं और फलतः क्षय (तपेदिक) आ घेरता है। आजकल नवयुवकों और नवयुवतियोंमें यह जो भयंकर बीमारी दिखायी

देती है, उसका एक मुख्य कारण संयमका अभाव है। संयम-हीनताके साथ-साथ पोषक सामग्रीका न मिलना 'कोढ़की खाज' समझिए।

कुटुम्बमें नवदम्पतीको जहाँ संयमकी महौषधि मिलती है, वहीं आनन्दका आधार भी है। 'अति-परिचयाद् अवज्ञा' की बात प्रसिद्ध है। नवदम्पती प्रारम्भमें, चार-छः वर्ष, या दस-पाँच वर्ष, यदि कम मिल पाते हैं, तो उनमें परस्पर आकर्षण रहता है। एक दूसरेसे मिलनेको, बात करने को, सदा उत्सुक रहता है। कहीं कभी थोड़ा बहुत बात करनेका अवसर मिल गया तो उससे तृप्ति नहीं होती। चाह बनी रहती है, जो रसका आधार है। प्रेम बना रहता है और फिर दस-पाँच वर्षमें तो वास्तविक दाम्पत्य आ जाता है। वह वैसा आकर्षण समाप्त होनेसे पहले स्थिर स्नेहकी नीव लगा जाता है। दोनोंके बीचमें, शिशुके रूपमें, एक नया आकर्षण आ जाता है। अब वह तरल प्रेम गम्भीरता पकड़ जाता है, गहरा या घना हो जाता है। चंचलता जाती रहती है।

जो लोग कुटुम्बसे अलग होकर दाम्पत्य-जीवन बिताते हैं, वे इस आकर्षणसे बंचित हो जाते हैं। सदा साथ रहनेसे एक दूसरेके प्रति बहुत जल्दी आकर्षण समाप्त हो जाता है। रूखापन बढ़ता है, एक दूसरेके अवगुण देखने लगता है, झगड़ा शुरू होता है और दाम्पत्य दानव बनकर जीवनको खा जाता है।

बीमा—कौटुम्बिक जीवन एक सुन्दर और वाभाविक बीमा भी है। एक कुटुम्बमें चार सदस्य कमानेवाले हैं, और आठ पोष्य, तो सब बराबरीसे रहते हैं। जो जितना कमाता है, कुटुम्बके प्रमुखको सौंप देता है, अधिकसे अधिक दस प्रतिशत अपने दाम्पत्य जीवनके निजी खर्चको अपने पास रखकर कुटुम्बका मुखिया फिर यथावश्यक सब खर्च करता है। सबके योग-क्षेम तथा बच्चोंकी शिक्षा आदिका वह समुचित प्रबन्ध करता है। कुटुम्बका कोई सदस्य कुछ अधिक कमाता है, तो उसके बच्चोंपर अधिक व्यय न होगा और कम कमानेवालेके बच्चोंपर कम नहीं। अधिक कमानेवालेकी प्रतिष्ठा अवश्य अधिक होगी और स्वाभाविक भी है। यदि कोई सदस्य बेकार हो जाता है, या दिवङ्गत हो जाता है, तो उसके बाल-बच्चेके लालन-पालन तथा शिक्षा आदि का प्रबन्ध उसी तरह होगा, जैसा कि उसके सामने उसके उपार्जित द्रव्यके सहयोगसे होता। बिधवा भी बराबरीकी हैसियतसे रहेगी। यह उत्तम कुटुम्बकी अवस्था है।

जो लोग कौटुम्बिक जीवनसे अलग हो जाते हैं, ये इस स्वाभाविक बीमेका लाभ नहीं उठा सकते। तुरन्त उन्हें चिन्ता हो जाती है—यदि मैं न रहा, तो मेरी प्रेयसीका या सन्ततिका क्या होगा! वह घबड़ाकर किसी बीमा कम्पनीमें जीवनबीमा कराता है। दुर्घटना होनेपर कभी कभी उस रुपयेके मिलनेमें बड़ी कठिनाई होती है। कभी कभी प्राप्त द्रव्यको भी विधवासे दूसरे चंटलोग भी झटक लेते हैं और वह बेचारी अपने बच्चोंको लिए दुर्दशा भोगती रहती है। भाई-बन्धु सब अलग-अलग अपनी-अपनी डफली बजाते हैं। कोई मदद नहीं करता। इसकी शिक्षा ही नहीं मिली, नींव ही नहीं लगी!

फलितार्थ—इन पंक्तियोंका फलितार्थ यही कि हमारी कुटुम्बसंस्था अत्यन्त उपयोगी चीज है। अशिक्षा या कुशिक्षाके कारण इसमें कुछ दोष अवश्य आ गये हैं, जिन्हें दूर कर देना चाहिए। संयुक्त कुटुम्ब-सा सरस जीवन और कहाँ।

सतीकी शक्ति।

(लेखक--स्वामी श्रीरामसुखदासजी)

रात्रिका समय था। प्रजाके सुख-दुःखका निरीक्षण करनेके लिए राजा भोज सामान्य कर्मचारीके रूपमें घूम रहे थे। घूमते फिरते एक झोपड़ीके पास पहुँचे। उससे दरिद्रता टपक रही थी। वहाँ उन्होंने देखा एक पुरुष अपनी पत्नीकी जाँघ पर शिर रखकर सो रहा था। पत्नी जाग रही थी—इसी बीचमें उसका अबोध शिशु हाथके तथा पेटके बल सरकता हुआ अंगीठीके पास पहुँच गया। आग जल रही थी। परन्तु वह सती नारी पतिदेवके जग जानेके भयसे उनका शिर नहीं हटा सकी और न मुँहसे ही कुछ बोली। बच्चा प्रज्ज्वलित अंगारोंको अपने कमल सरीखे हाथोंमें लेकर खेलता रहा, अग्निदेव शीतल हो गये थे। भोजके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे लौट आये।

राजाभोजने 'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः' की समस्या पूर्तिके लिए लब्ध-प्रतिष्ठ कवियोंका आवाहन किया। अधिक परिमाणमें पुरस्कार भी रक्खा गया था, परन्तु पुरस्कारका अधिकारी कोई नहीं निकला। अन्तमें कविवरेण्य श्री कालिदासने उस समस्याकी पूर्ति इस प्रकार किया—

सुतं पतन्त प्रसमीक्ष्य पावके,
न बोधयामस पतिं पतिव्रता।
पतिव्रताशापभयेन पीड़ितो,
'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः॥

अपने पुत्रको अग्निमें गिरता हुआ देखकर भी पतिव्रताने अपने पतिको नहीं जगाया। उस पतिव्रता नारीके भयसे अग्निदेव चन्दन-पङ्ककी भाँति शीतल हो गये।

राजाभोजकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रही। पुरस्कार श्रीकालिदासको मिला।

× × ×

ऐसी सती नारियाँ धन्य हैं। उनकी तपस्या तथा अलौकिक शक्तिके सामने कौन नतमस्तक नहीं हो सकता! ऐसी ही पावन देवियोंके चरण-रजके स्पर्शमात्रसे दुःखोंका सर्वनाश हो जाता है। इनके द्वारा स्थायी आनन्द-मङ्गलकी उपलब्धि तो होती ही है, प्राणी भव-बन्धनसे भी मुक्त हो जाता है।

लज्जा।

सती-जीवनमें श्रीके साथ ही ह्री (लज्जा) का मधुर विकाश नयनगोचर होता है। मनुष्योंमें लज्जा देवीका भाव है। स्त्रीजातिमें देवी-भाव नैसर्गिक (स्वाभाविक) होनेसे लज्जा भी नैसर्गिक है। सतीत्वके उत्कर्षके साथ साथ देवीभावका अधिक विकास होनेसे ह्रीकी भी पूर्णता होती है। सती स्त्री स्वभावतः ही विशेष लज्जाशील हुआ करती है। लज्जाका कारण अनुसन्धान करनेसे यही प्रतीत होता है कि पशुधर्मके प्रति मनुष्योंकी जो स्वाभाविकी घृणा है, वही लज्जाका कारण है। मनुष्य-प्रकृतिमें पशुत्वका आवेश अनुभव करनेसे ही लज्जाका उदय हुआ करता है। पशुप्रकृतिमें

लज्जा नहीं है। पशु निर्लज्ज होकर आहार, निद्रा, मैथुनादि करता है। प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदमें स्थिर होनेपर भेदभाव होनेसे लज्जारूप पाश नहीं रहता है। इस सबसे अधम व सबसे उत्तमकोटिके सिवाय बीचकी कोटिमें लज्जाका विकास रहता है। दिव्यभावके विकासके साथ-साथ लज्जाका तिरोभाव होता है। आहार, निद्रा. मैथुनादि कार्य स्थूलशरीरसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेके कारण पशुभाव युक्त हैं, परन्तु जीवनरक्षा व वंश-रक्षाके लिए इन कार्यों के अत्यावश्यकीय होनेके कारण आर्यमहर्षियोंने आध्यात्मिक भावोंके साथ मिलाकर इन कार्यों मेंसे पशुभावका प्रभाव नष्ट करनेका प्रयत्न किया है, तथापि दिव्यभावयुक्त प्रकृतिमें स्वभावतः इन सब कार्योंको करते हुए लज्जा आती है। पुरुषमें दैवीभाव (प्रकृतिभाव) से पुरुषभावकी अधिकता होनेसे पुरुषको इन सब कार्यों में स्वभावतः लज्जा कम होती है. परन्तु स्त्रीमें पुरुषभावसे दैवीभाव (प्रकृतिभाव) की अधिकता होनेसे स्त्रीको इन सब कार्योंमें स्वभावतः अधिक लज्जा होती है। पुरुष-प्रकृतिके साथ स्त्री-प्रकृतिका यही प्रभेद है। इसी प्रभेदको रखते हुए दोनों अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष अपने ज्ञान-स्वरूपकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें भेद-भाव विस्मृत कर लज्जारूप पाशको काट सकता है, परन्तु स्त्रीकी पूर्णता तभी होगी जब स्त्री अपने लज्जामूलक दैवीभावको पूर्णतापर पहुँचावेगी। दैवीभावकी पूर्णता पातिव्रत्यकी पूर्णतामें होती है, इसलिए लज्जाशीलता सतीधर्मका लक्षण है। निर्लज्जा स्त्री सती नहीं हो सकती। लज्जा स्त्री-जातिका भूषण है, इसके न होनेसे स्त्रीका स्त्रीभाव ही नहीं रहता है। लज्जाके बलसे स्त्री अपने पातिव्रत्य-धर्मका भी ठीक ठीक पालन कर सकती है। स्त्रीको पुरुषका अधिकार या पुरुषकी तरह शिक्षा प्राप्तकर अथवा वैसा आचार ग्रहण कर निर्लज्ज बननेसे उसकी बड़ी भारी हानि होती है।

पाश्चात्य देशोंमें स्त्री-पुरुषका साथ बैठकर भोजन, आलाप और एकत्र भ्रमण आदि आचार विद्यमान हैं, इसी कारण वहाँकी स्त्रियोंमें निर्लज्जता व पुरुषभाव अधिक है और पातिव्रत्यकी महिमापर भी दृष्टि कम है। उत्तम सतीका क्या भाव है और पतिके साथ सहमरण कैसा होता है, पाश्चात्यस्त्रियाँ स्वप्नमें भी इन सब बातोंका अनुभव नहीं कर सकती हैं। आर्य्य शास्त्रोंमें पातिव्रत्यके बिना स्त्रीका जीवन ही व्यर्थ है। इसीलिए अवरोध-प्रथा (parda System) आदि के द्वारा आर्यनारियोंमें लज्जाभावकी रक्षाके लिए भी प्रयत्न किया गया है और इसीलिए स्त्री-पुरुषोंका एकत्र भोजन व भ्रमण आदि आर्यशास्त्रोंमें विधान नहीं किया गया है।

आजकल धर्मशिक्षाहीन पाश्चात्य सभ्यताभिमानी विकृत मस्तिष्क कोई कोई मनुष्य अवरोधप्रथा (परदा-प्रणाली) को नष्ट करके स्त्रियोंको निर्लज्ज बनाना, उनसे पुरुषोंके भीतर निरंकुश भावसे भ्रमण या नृत्य, गीत, वाद्य व नाटकादि कराना और विदेशीय नर-नारियोंकी तरह उनका हाथ पकड़कर डोलते रहना या हवाखोरी करने जाना आदि बातोंको सभ्यताका लक्षण और स्त्रियोंपर दया करना समझते हैं तथा इससे विपरीत सनातन अवरोध-प्रथाको उनपर अत्याचार अन्याय व निर्दयता समझते हैं। विचार करनेसे उनकी यह धारणा नितान्त भ्रममूलक सिद्ध होगी। किसी पर दया

करना अच्छा है और सदैव अच्छा है, परन्तु जिस दयाके मूलमें विचार नहीं हैं, उससे कल्याण न होकर अकल्याण होता है। स्त्री-जातिपर दया करना अच्छा है, किन्तु जिस दयामे पातिव्रत्यका मूल ही कट जाय वह दया दया नहीं है, अपितु महापाप है। घरकी स्त्री निर्लज्ज बना बाहर न निकालनेमें निठुरता होती है यह लाञ्छन भी भ्रम-मूलक ही है। आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्री-जातिका जितना गौरव माना गया है, वैसा किसी भी देश या शास्त्र-में नहीं है। अन्य देशोंमें तो स्त्री, पुरुषके विलासकी सहचरी है, किन्तु आर्यजातिमें वह समस्त गार्हस्थ्य धर्ममें सहधर्मिणी व अर्द्धांशभागिनी है। वह जगदम्बा स्वरूपिणी है, जिसकी प्रत्येक दशाका दिव्यभाव से पूजन करना साधकको मुक्तिलाभ तक प्रदान कर सकता है। देवीभागवतमें सतीपूजा, गौरी या कुमारीपूजा सर्व-कामप्रदायक कहा गया है। ऐसी शक्तिमयीदेवी जिनको जगदम्बाका रूप समझ-कर शास्त्रोंने पूजा करनेकी आज्ञा दी है, उनको निर्लज्जा होकर बाजारमें घूमनेकी आज्ञा या रूप बनाकर पुरुषोंके सामने नाटक करनेकी आज्ञा शास्त्र नहीं दे सकता। रत्नकी रक्षा उसे सुरक्षित छिपा रखनेमें ही होती है, वह बाजारमें फेकनेवाला वस्तु नहीं। हाथ पकड़कर भ्रमण करना भी उचित नहीं।

काम आदि वृत्तियाँ सङ्गके द्वारा ही अधिक हुआ करती है। अतः इस प्रथासे निर्लज्जता और विषयासक्ति वृद्धिकी स्पष्ट संभावना है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि यह बात पूर्णतः सत्य है, कि जिस स्त्रीको अनेक पुरुष काम-भाव व काम-दृष्टिसे देखते हैं, उसके पातिव्रत्यमें अवश्य ही हानि होती है। मानसिक व शारीरिक बिजलीकी शक्ति नेत्रसे, स्पर्शसे या केवल चित्तके द्वारा ही अन्य व्यक्तिपर अपना प्रभाव डाल कैसे उसे प्रभावित किया जा सकता है, मेसमेरीजम और हिप्नोटिजिम विद्याके द्वारा यह भलीभांति सिद्ध हो चुका है। इन सब कारणोंसे अवरोध-प्रथाको तोड़कर स्त्रियोंको निर्लज्जा होकर पुरुषोंके बीच रहने और बाजार घूमनेका प्रचलन अतीव बुरा है।

देवीभागवतके तीसरे स्कंधके २० वें अध्यायमें शशिकला नामकी एक कन्याने अपने पितासे स्वयम्बरप्रथाके विरोधमें कहा—

'नाहं दृष्टिपथेराज्ञां गमिष्यामि पितः किल।
कामुकानां नरेशानां गच्छन्त्यन्याश्च योषितः॥
धर्मशास्त्रे श्रुतं तात! मयेदं वचनं किल।
एक एव वरो नार्य्या निरीक्ष्यः स्यान्न चा परः॥
सतीत्वं निर्गतम् तस्या या प्रयाति बहूनथ।
संकल्पयन्ति ते सर्वे दृष्ट्वामे भवतामिति॥
स्वयं वरे स्रजं धृत्वा यदा गच्छति मण्डपे।
सामान्या सा तदा जाता कुलटेवाऽपरा वधूः॥
वारस्त्री विपणिं गत्वा यथावीक्ष्य नरस्थितान्।
गुणागुण परिज्ञानं करोति निजमानसे॥
नैकभावा यथा वेश्या वृथा पश्यति कामुकम्।
तथाहं मण्डपे गत्वा कुर्वे वारस्त्रिया कृतम्॥

हे पिता मैं राजाओंके नेत्रोंके सामने नहीं आऊँगी, क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्रियाँ ही कामुक पुरुषोंकी दृष्टिके सामने आती हैं। धर्मशास्त्रोंमें मैंने सुना है कि पतिव्रता स्त्री केवल अपने ही पतिको देखेगी, अन्यकी ओर वह दृष्टिपात नहीं करेगी। जो अनेक लोगोंके दृष्टि-पथमें आती है, उसका पातिव्रत्य नष्ट हो जाता है। जो राजकन्या हाथमें

वरमाला लेकर स्वयम्वर सभामें आती है, उसको वेश्याकी तरह सभीकी स्त्री बनना पड़ता है, इत्यादि।

वेदमें भी अवरोधप्रथाकी पुष्टि की गयी है। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके चौथे अध्यायके २६ वें सूक्तमें लिखा है—

यो वाँ यज्ञभिरावयोऽधिवस्त्रा वधूरिव।

'अवगुण्ठन वस्त्रद्वारा आवृता बधूकी तरह जो यज्ञके द्वारा आवृत है, इत्यादि। रामायणमें भी अवरोध-प्रथाका वर्णन है—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि,
तामद्य सीतां पश्यान्ति राजमार्गगता जनाः॥

जिस सीतादेवीको आकाशसे उड़नेवाले पक्षी भी नहीं देख पाते थे, उसी देवीको आज राजमार्गके पथिकगण भी देखने लगे।

रावणके मृत होनेके पश्चात् मन्दोदरी रणक्षेत्रमें रुदन करती है—

'द्रष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो मामिहऽनवगुण्ठिताम्।
निर्गता नगरद्वारात्पदभ्यामेवाऽऽगतां प्रभो!॥
पश्येष्टदार! दारांस्ते भ्रष्टलज्जाऽवगुण्ठनान्।
बहिर्निष्पतितान्सर्व्वान् कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि॥

हे स्वामिन् मैं तुम्हारी महिषी होनेपर भी अवगुण्ठन (परदा) त्यागकर आज नगरसे बाहर पैदल आयी हूँ। यह देखं तुम्हारी सब स्त्रियाँ आज लज्जा और अवगुण्ठनको त्याग बाहर आ गयी हैं, ऐसा देखकर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं हो रहा है?

इन सब प्रमाणोंसे निश्चय होता है, कि पर्दा-प्रणाली प्राचीनकालमें थी और उसकी अब भी वैसी-ही आवश्यकता है। मालविकाग्निमित्र व मृच्छकटिक आदि काव्य और उपन्यास ग्रंथोंसे भी हजार वर्ष पहले यहाँ पर अवरोध-प्रथा प्रचलित थी, ऐसा सिद्ध होता है। सीता, सावित्री और दमयन्ती आदि सतियाँ जो अपने पतिके साथ बाहर निकली थीं, उसका विशेष कारण था। घटनाचक्रसे उनको ऐसा करना पड़ा था। साधारण प्रथाके अनुकूल वह आचार नहीं था, इसलिए अनुकरणीय नहीं। हाँ, यहाँ इतना मान लेनेमें कुछ हर्ज नहीं कि अतिकठिन पर्देकी रीति जो आजकल कहीं कहीं जेलखानेकी तरह प्रचलित है और जिससे स्त्रियोंके आवश्यक विकाशमें बाधा होती है वह आर्य्य-रीति नहीं है। अतिकठिन पर्दा, यवनसाम्राज्यके आपत्तिपूर्ण कठिन दिनोंकी देन है, वह त्याग करने योग्य है।

स्त्री-धर्म।

(श्री पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी, काशी)

प्रकाशमान दीपपर पतंग जलते हुए तो सभी जगह देखे जाते हैं, पर बुझे हुए दीपपर पतंगका जलना हिन्दमें ही दृष्टिगोचर होता है।

शास्त्रकारोंने स्त्रियोंके सत्कारका बड़ा माहात्म्य कहा है और उनके अनादरमें बहुतसे दोष दिखलाए हैं। स्त्रियोंका पूजन भोजन-वस्त्रालङ्कारादिसे सदा करना चाहिये, उन्हें सुशोभित या हर्षित रखना

चाहिये। जहाँ स्त्रियोंकी पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं उस कुलका बड़ा कल्याण होता है, जहाँ उनकी पूजा नहीं होती वहाँकी सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं। जहाँ कुल-बधुएँ सोच करती हैं, वह कुल नष्ट हो जाता है।

स्त्रियोंसे धर्म, अर्थ, काम तीनों सधता है। प्रार्थना की जाती है कि 'स्त्री मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम्। तारणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम्। दुर्गसंसारका सन्तरण भी मनोरमा कुलोद्भवा मनोवृत्तानुसारिणी स्त्री द्वारा होता है। अतः विवाहके समय वरसे प्रतिज्ञा करायी जाती है कि 'धर्मे अर्थे कामे च अनया सह वर्त्तितव्यम्। धर्म अर्थ और कामका आचरण इसके साथ करना। आज भी यज्ञादि कोई भी धर्मकार्य्य बिना स्त्रीके हो नहीं सकता।

स्त्री और पुमान् का सम्बन्ध ऐसा है कि बिना एकके धर्म-निरूपणके दूसरेके धर्मका सम्यक्रूपसे निरूपण नहीं हो सकता। अतः पहिले यही विचार करना है कि स्त्री और पुमान् शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है?

स्त्यै शब्दसंघातयोः। शब्द तथा संघातके अर्थमें 'स्त्यै' धातुका प्रयोग होता है। स्त्यै+ड्रट्+ङीप=स्त्री। भगवान् भाष्यकार कहते हैं, अधिकरणसाधनालोके स्त्री, स्तायत्यस्याम्= गर्भ इति' कर्तृसाधनश्च शुमान् सूते पुमान् इति' लोकमें अधिकरण साधना स्त्री है। जिसमें गर्भ संघातरूपको प्राप्त हो, उसीको स्त्री कहते हैं, और पुमान् कर्तृ साधन है, पुमान् ही प्रसव करता है। यही स्त्री और पुमान्की विशेषता है, पुमान् शुक्रका स्थापन करनेवाला है। स्त्रीमें शुक्र-शोणितका संयोग होता है, वह गर्भ धारण करती है। जो गर्भ धारण नहीं करती उसमें स्त्रीत्वका साफल्य नहीं है। आज भी स्त्रीसमाजमें वन्ध्याका आदर नहीं है।

इस भेदपर मनन करनेसे पता चलता है कि इसके मूलमें अध्यात्म कारण निहित है। प्रकृति और पुरुषके योगमें ही यह सृष्टि है। इनमें प्रकृति जड़ और पुरुष चेतन है। भगवान्ने भगवद्गीतामें कहा है, मेरी माया-त्रिगुणात्मिका प्रकृति (महद्ब्रह्म) समस्त भूतोंकी योनि है, उसीमें मैं (उत्पत्तिके कारणरूप) बीजको स्थापन करता हूँ। सभी योनियोंमें जो मूर्तियाँ पैदा होती हैं, उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली (माँ) मेरी प्रकृति है, और मैं गर्भाधान करनेवाला (बीजप्रद) पिता हूँ। इसीलिये प्रकृति और पुरुषका पूर्जन हमारे यहाँ स्त्री और पुमान्के रूपसे होता है, क्योंकि वही मातृशक्ति और पितृशक्ति जगत्में स्त्री और पुमान् रूपसे व्यक्त हुई। श्रुति भगवती कहती हैं 'रुद्रोनर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः।'

जो सम्बन्ध प्रकृति और पुरुषमें है, वही स्त्री और पुमान्में भी है। पुरुष स्वतंत्र है, प्रकृति उसके आश्रित है। पुरुष एक रूप है, प्रकृति बहुरूपा है, पुरुष चेतन है, प्रकृति जड़ है, पुरुष शुद्ध है, प्रकृति अशुद्ध है पुरुष प्रेरक है, प्रकृति नियोज्य है। इन बातोंको मनमें रखकर यदि स्त्री-धर्मको देखा जाय, तो उसकी उपादेयता मनमें आ सकेगी। जो इन बातोंको नहीं समझते, या नहीं समझना चाहते वे ही स्त्रीधर्ममें अत्याचार, निर्दयता, गुलामी और स्वार्थपरायणताका स्वप्न देखते हैं।

स्त्री और पुमान्में भोक्तृ और भोग्यभाव स्वाभाविक है, पर सभी देश और सभी कालमें भोक्तृ

भोग्य रूपिणी प्रवृत्तिको स्वच्छन्दगामिनी होने देना श्रेयस्कर नहीं माना गया है। इसीलिये विवाहकी प्रथा है और वैवाहिक जीवनके लिये सुस्थिर नियम हैं। अनुभवहीन कामान्ध व्यक्ति रूपपर ही मोहित हो जाते हैं। जिन जिन बातोंका विचार होना विवाहमें आवश्यक है, उनपर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती, विशेषतः कन्याको वरान्वेषणकी स्वतन्त्रता देनेमें उनके शीलकी रक्षाका दुर्घट व्यापार है। अतः हिन्दुओंमें यह प्रथा है कि माता-पिता जिसे उचित समझें उसके हाथ कन्यादान करें, और वह उसी वरकी यावज्जीवन सेवा करे और उसके मरनेपर भी उसका उल्लंघन न करे।

जिस किसी भाँति जीवनका निरर्गल करनाही मानवसमाजका उद्देश्य नहीं हो सकता। उसके लिए केवल वर्त्तमान जन्मको ही सब कुछ मान लेना और परलोकपर दृष्टिपात न करना अस्वाभाविक है। स्त्री जड़ प्रकृतिकी व्यक्त मूर्ति है, उसके गुरुदेव चेतनकी व्यक्त मूर्ति उसके पतिदेव है. अतः पतिकी शुश्रूषामें ही वह कृतार्थ हो सकती है। पतिकी पूजाका अवसर मिलना भाग्य है, गुलामी नहीं है।

वस्तुस्थितिपर परदा डालना भी प्रवञ्चना है। सच्ची बात तो यह है कि स्त्रीका अवयवसंगठन ही ऐसा है कि वह स्वभावसे अपावन है, उसमें स्वतंत्रताकी योग्यता नहीं है। विवाहके द्वाराही उसके ये दोष मिट सकते हैं। जब वैदिकमन्त्रसे उसका पति 'प्राणस्ते प्राणं सन्दधामि' अस्थिभिस्तेस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचात्वचं सन्दधामि' प्राणोंसे तेरे प्राणोंको मांससे मांसको, अस्थिसे अस्थिको, त्वक्से त्वक्को मिलाता हूँ, उच्चारण करके अपने शरीरको उसके शरीरसे एक कर देता है, तब उसके शुक्र-धारणसे वह अशुद्ध नहीं होती। वह उसकी शरीर हो जाती है। इसीलिये विवाह-संस्कारको ही स्त्रीके लिये उपनयन स्थानीय माना है, पतिसेवाको ही गुरुकुलवास बतलाया है और घरके काम-काजको ही अग्निहोत्र कहा है। फलतः जिन लोगोंके यहाँ विवाह-संस्कार वैदिक विधिसे होता है, उनके यहाँ न विवाहविच्छेद (Divorce) हो सकता है और न स्त्री पतिके मरने पर भी उसका उल्लंघन (विधवा-विवाहादि) कर सकती है।

जो लोग स्त्रियोंको पिता, पति, तथा पुत्रसे स्वतन्त्र करनेका आन्दोलन उठाते हैं, वे स्त्री-जातिका हित नहीं कर रहे हैं. पिता, पति और पुत्रसे स्वतंत्र होकर स्त्री अपने शीलकी रक्षा नहीं कर सकती। वह बलवती होनेपर भी पुरुषपर बलात्कार नहीं कर सकती, पुरुषही उसपर बलात्कार कर सकता है। अतः शीलकी रक्षाके लिए वह सदा पिता, पति तथा पुत्रके परतंत्र अपनेको बनाये रक्खे।

पाश्चात्योंके वे मानसिक दास यहाँके सतियोंकी महिमा समझनेमें असमर्थ हैं, जिनकी आँखें आज भी समाचार-पत्रोंमें सतियोंका समाचार सुनकर नहीं खुलतीं। किसी मुसलमान कविने कहा है कि— 'प्रकाशमान दीपपर पतंग जलते हुए तो सभी जगह देखे जाते हैं, पर बुझे हुए दीपपर पतंगका जलना हिन्दमें ही दृष्टिगोचर होता है'।

जिन पाश्चात्यदेशोंमें भर्ता प्राप्तिके लिए कन्यायें लालायित हुई फिरती हैं, और उनके ऐसे प्रयत्नका उपहास husband-hunting नाम रखकर किया जाता है, पुरुष यावज्जीवन गार्हस्थ्य सुखसे वञ्चित रहना पसन्द करते हैं, पर विवाहकी बेड़ी अपने पैरोंमें डालना नहीं चाहते, उन देशोंके कुप्रथाओंका

प्रचार पाश्चात्योंके मानसिक दास इस देशमें सुधारके नामपर नये नये स्वनिर्मित काननों द्वारा किया चाहते हैं।

यहाँ बेटे चाहे बिनब्याहे रह जायँ, पर बेटियोंका विवाह तो करनाही पड़ेगा। अंधी, लँगड़ी और लूली कन्याओंका विवाह हो ही जाता है। अपने अभाग्यसे विधवा हो जायँ, यह दूसरी बात है, पर एक बार भर्ता तो उनकी पहुँचके भीतर आ ही जाता है। यहाँ कन्याएँ बूढ़ी होकर नहीं मरतीं, भारतकी विधवाओंसे पाश्चात्य देशोंमें बूढ़ी कन्याओंकी संख्या कहीं अधिक है।

स्त्रीधर्म लिखनेके पहिले बहुतसी बातें प्राक्कथनके रूपमें कहनी हैं, इस छोटेसे लेखमें उन सबका समावेश दुःसाध्य व्यापार है, तथापि इतनी बात अत्यन्त दृढ़तापूर्वक धारण करने योग्य है कि सर्वज्ञ शास्त्रकारोंने जो धर्म जिसके लिए लिखा है, तदनुसारही आचरण करनेसे इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होगा। अल्पज्ञ जीवोंके हरावागमें सदा धोखाही धोखा रहता है। असंख्य वर्षोंके किये हुए अनुभव तथा नियमोंको बरसाती मेढ़कोंके आवाजपर तोड़ देना बुद्धिमानी नहीं है।

भारतकी ललनाओंको स्वधर्मका ज्ञान परम्परासे चला आता है, यदि बाहरी विकारोंसे वे बचाई जा सकें, तो उन्हें धर्मशास्त्रके वचन सुनाकर शिक्षा देनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वधर्मका ज्ञान इन्हें पुरुषोंसे अधिक है। पुरुष ही स्त्रियोंको विषयगामी बनाते हैं। यही उनके सर्वनाशके कारण हैं। ये अपना सुधार न करके स्त्री-सुधार करने चलते हैं। परम आवश्यकता इस बातकी है कि पहिले पुरुष स्त्रीधर्मको समझें, जानें और तब कल्याणके लिये प्रयत्न करें।

नारीधर्म—चाहे बालाहो, चाहे युवती, चाहे बूढ़ी, पर स्त्री कोई काम घरका भी स्वतन्त्रतापूर्वक न करे। बचपनमें पिताके वशमें रहे जवानीमें पतिके वशमें और पतिके मरनेपर पुत्रोंके वशमें रहे, स्त्री कभी स्वतंत्र न रहे, पिता, भर्ता और बेटोंसे स्त्री पृथक् रहना न चाहे, उनके विरहसे स्त्री, पति और पिता दोनोंके कुलको निन्दनीय बनाती है! स्त्री पतिके नाराज होनेपर भी प्रसन्न रहे, घरके कामोंमें होशियार रहे, घरके सामानको साफ सुथरा रक्खे और हाथ दबाकर खर्च करे। पतिकी आराधना देवताकी भाँति करे। स्त्रियोंको भर्त्तासे पृथक् कोई यज्ञ नहीं है, न दान है, न उपवास है। पति-सेवासे ही उसकी स्वर्गलोकमें पूजा होती है। पाणिग्रहण करनेवाले पतिका अप्रिय, पतिलोक चाहनेवाली स्त्री उसके जीतेजी या मरनेपर भी कदापि न करे। सब कुछ रहते हुए भी पवित्र फलफूल और मूल खाकर दिन बिता दे, और एक पतिके ही सर्वोत्तम व्रतकी कल्पना करे। बालबच्चोंकी लालचसे जो स्त्री भर्ताका उल्लंघन करती है, वह इस लोकमें निन्दित होती है, और उस पुत्रद्वारा उसे स्वर्ग भी नहीं होता। दूसरेसे पैदा हुआ लड़का पुत्र नहीं है, और न दूसरेकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ ही पुत्र हो सकता है। साध्वी स्त्रीके लिए दूसरे भर्ताका कोई विधान नहीं है। अपने अपकृष्ट पतिको छोड़कर जो दूसरे उत्कृष्टको सेवा करती है, वह इस लोकमें निन्दित होती है और परपूर्वा कहलाती है। व्यभिचारसे स्त्रीकी इस लोकमें निन्दा होती है और मरनेपर वह गीदड़ी होती है और उसे कुष्टादि रोग हो जाते हैं। जो मनसा वाचा कर्मणासे पतिका उल्लंघन नहीं करती, उसे पतिलोक प्राप्त होता है और भले लोग उसे

साध्वी कहते हैं। इस भाँति स्त्री धर्मसे मन, वाणी और देहका संयम करके इस लोकमें अतुलकीर्ति और मरनेपर पतिलोक प्राप्त करती है, यह स्त्री-धर्म है, इसका पालन सभी साध्वी स्त्रियोंको करना चाहिये और पुमानोंको भी ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिसमें उनका धर्म सुरक्षित रहे।

भगवान् व्यासने कहा है कि स्त्रियाँ इसलिए धन्य हैं कि पतिपर प्रेम होना उनके लिये स्वाभाविक है और इसीसे उनकी सद्गति होती है। श्रीगोस्वामीजीने एक अर्धालीमें स्त्री-धर्मका सार दे दिया है—

एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा

— —

नेहरूजीकी साम्प्रदायिकता।

इधर कुछ दिनोंसे प्रधानमंत्री श्रीजवाहरलाल नेहरूजीके जो भाषण होते है उनमें हिन्दू कोडबिल एवं साम्प्रदायिकताका प्रमुख स्थान रहता है। ता० २ अक्टूबरको नयी दिल्ली में उन्होंने भाषण दिया था, उसपर प्रयागसे प्रकाशित 'अमृत बाजारपत्रिका'के सुयोग्य सम्पादकने अग्रलेखमें जो अपना विचार प्रकट किया है. और जो उक्त पत्रके ६-१०-५१ के अङ्कमें छपा है, उसका अविकल अनुवाद यहाँ 'आर्य-महिला' के पाठक-पाठिकाओं के अवलोकनार्थ प्रकाशित किया जाता है। —सम्पादिका।

श्री नेहरूने साम्प्रदायिकताके विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी है। उन्होंने अक्तूबर २ को नई दिल्लीमें अपने १०० मिनटके भाषणका अधिकांश भाग सम्प्रदायवादी और उनकी प्रगतिका प्रकटरूपसे विरोध करनेमें खर्च किया। उन्होंने घोषणा की कि जहाँतक उनका सम्बन्ध है वह अपने जीवनके अन्तिम श्वास तक साम्प्रदायिकताके विरुद्ध सरकारके भीतर और आवश्यक हुआ तो बाहर दोनों मोर्चे पर युद्ध करेंगे।

अपने उसी भाषणमें घोर हर्षध्वनिके बीच उन्होंने यह भी घोषित किया कि हिन्दूकोडबिलका उन्होंने समर्थन किया है और आगे भी करते रहेंगे तथा उसे स्वीकृत करानेमें तत्पर रहेंगे। प्रधानमंत्रीको कौन विश्वास दिलायेगा कि नवीन साम्प्रदायिकताके जन्मका हिन्दू कोडबिल एक साधन है जिसके विरुद्ध वह खड्गहस्त हैं।

यदि साम्प्रदायिकतासे लड़ना और उसे उन्मूलन करना अभीष्ट है तो उन समस्त उपकरणोंका जो इसके जनक हैं दमन करना होगा।

हिन्दूकोड बिल ऐसा ही एक उपकरण है। धर्मनिरपेक्षिताका सच्चा अर्थ कभी जनसाधारणमें प्रचारित नहीं हुआ। धर्मनिरपेक्ष राज्य ईश्वरविहीन राज्य नहीं है। किन्तु धर्मनिरपेक्ष राज्य वह है जिसमें सभी धार्मिक विश्वासोंका समानरूपसे सम्मान है तथा समस्त पूजा-स्थान यथा मंदिर, मस्जिद, गिरजा आदि एक समान पूज्य हैं।

धर्मनिरपेक्षिता एक सम्प्रदायका दूसरे सम्प्रदायसे विशेषांतर नहीं करती और समस्त लोगोंको चाहे उनका धार्मिक विश्वास कुछ भी हो, कानूनकी दृष्टिमें उन्हें समान समझनेका विश्वास दिलाती है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राज्य भारतकी दार्श-

निकता तथा संस्कृतिकी उच्च परम्परापर आधारभूत है। हिन्दू कोडबिल इस प्रकारके धर्म निरपेक्षिता की विचार भावना पर ठेस ही नहीं पहुंचाता है; प्रत्युत इसका प्रस्तुत स्वरूप तो परस्परमें अंतर डालनेका एक प्रयोग-सा है। हिन्दू कोडबिलके सबल समर्थन से नेहरूसरकारने सब तरहकी साम्प्रदायिक तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियोंको धर्म निरपेक्षिताका भ्रान्ति-मूलक अर्थमें प्रचार करनेमें सहायता दी है। जैसे अनीश्वरवादिताकी स्थापना और धार्मिक आचार विचार तथा पूजा-प्रार्थनाकी संकटमयी स्थितिको प्रचारित करना।

जैसा कि दुर्भाग्य था हिंदू कोडबिलका पार्लमेंन्ट द्वारा नेतृत्वकरनेका भार एक ऐसे मंत्रीको सौंपा गया जो हिन्दूधर्म तथा समाजमें कोई भी गुण अथवा सत्यता नहीं पाता। सारी स्वतन्त्रताओंमें हिन्दूजन अपनी धार्मिक स्वतंत्रताका अत्यन्त आदर करते हैं। चिर-सम्मानित परम्पराका स्वतंत्ररूपसे अनुगमन करना उन्हें अत्यधिक मान्य है।

धार्मिक कारणोंसे हिन्दूकोडबिलके विरोधियोंके लिये यह समझना अत्यन्त सरल था कि—धार्मिक आचार-विचारके पालनको स्वतंत्रता जो अत्यन्त प्रिय था इस बिल द्वारा संकटजनक स्थितिमें है। अपढ़ जनतामें साम्प्रदायिक भावनाओंको उत्तेजित करना भी उनके लिये अत्यन्त सरल था। यदि श्री नेहरू तनिक ठककर विचार करें तो तुरंत उनकी समझमें आजायगा कि हिन्दू और सिखोंमें साम्प्रदायिकताको बार-बार उत्तेजित करनेके अपराधका अधिकांश हिन्दूकोडबिलके विधाताओंका उत्तरदायित्व है। साम्प्रदायिकताको बढ़ानेमें अभी हालमें कुछ और उपकरणभी कारण हुये हैं। वह श्री नेहरू सरकारकी पाकिस्तान सम्बन्धी नीति है। यह नीति पर्याप्तरूपसे वास्तविकतासे दूर है तथा यथेष्टमात्रामें सदा भारतके अनुकूल भी नहीं रही है। सारी बातोंके पूर्व हमारी सरकारकी परराष्ट्रनीति भारतके अनुकूल होनी चाहिये। किंतु पाकिस्तानके संबंधमें जिसने हमारे देशके विरुद्ध अपनी शत्रुताको छिपानेका भी कभी यत्न नहीं किय। नेहरूसरकारने जब तब उत्तेजक अनुकूल नीतिका व्यवहार किया है।

जब कभी कराँचीका हितसाधन होता है वह नई दिल्लीसे मसौदा करके निश्चिन्त हो जाता है। जब कभी कराँचीका लाभ होता है वह मसौदेको बिना किसी तरहकी हिचकके तोड़ देता है।

स्वयं प्रधानमंत्रीने यह स्वीकार किया है कि अल्प संख्यक सम्बंधी मसौदा जो नई दिल्लीमें हुआ था तोड़ दिया गया है। पिछले चार-पाँच माससे पूर्वी बंगालके हिन्दू अल्पसंख्यकोंको निकाल भगानेका क्रम फिर जोरोंसे चल रहा है और हमारी सरकार एक असहाय दर्शककी तरह यह सब देख रही है।

जेहाद आंदोलनके शांत होनेका कोई चिह्न नहीं दीखता और अभी हालमें पाकिस्तानप्रेसने एक पैशाचिक कार्यक्रमका आविष्कार किया है। पाकिस्तानके विदेशी प्रतिनिधियोंकी यह एक कटु प्रवृत्ति है कि भारतको बदनाम करना और उसकी सरकार तथा जनताके विरुद्ध तरह-तरहकी झूठी अफवाह फैलाना। किंतु वास्तविकता कुछ और होनेके कारण पाकिस्तानके सम्बंधमें कड़ी नीतिके व्यवहारकी देशव्यापी माँगका होना नितांत स्वाभाविक ही है।

भारतकी हितरक्षाके ध्यानसे दृढ़ नीतिकी आव-

श्यकताका अनुभव करना साम्प्रदायिक नहीं है। इस नीतिको आवश्यक समझना युद्धलिप्सा भी नहीं है। पाकिस्तानके साथ शांतिस्थापन करनेमें हमारी सरकार महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हितको बलि देकर भी प्रयत्नशील है।

फासिस्ट देशके साथ जो कि पाकिस्तान निस्सन्देह है, शांतिस्थापनका कार्य उदारता और त्यागकी नीतिसे संभव नहीं है। एक और भी कारण है जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। प्रधानमंत्रीने अपनेको समझा रक्खा है कि अब मुसलमान ऐसी स्थितिमें नहीं हैं कि वे साम्प्रदायिकतामें पड़ें-केवल कुछ हिन्दू और सिख इस विषको फैलानेका यत्न कर रहे हैं। क्या सारे साम्प्रदायिक मुसलमान भारत छोड़कर चले गये हैं। क्या इसीलिये मद्रासकी कांग्रेसपार्टीने मुस्लिमलीगके साथ चुनाव सम्बंधी भाईचाराका नाता जोड़ा है, किंतु श्रीनेहरू प्रधानमंत्री होनेके नाते हम सबोंसे कहीं अधिक अच्छी तरह जानते हैं कि कुछ मुस्लिम साम्प्रदायिक, भेदियाका काम करने लगे हैं।

देश इस बातका विश्वास चाहता है कि नेहरू-सरकार इस भयावह स्थितिसे पूर्णतया अभिज्ञ हैं।

राजमाता

[लेखक—श्रीशिवनाथ दुबे]

मगध-नरेश विन्दुसार चकित थे। रूप-यौवन-सम्पन्न अनेक रानियाँ थीं उनके अन्तःपुरमें। उनके एक-एक अंग जैसे विधिके करोंसे अत्यन्त सावधानीसे निर्मित हुए थे। धरातलपर वैसा सौंदर्य और भी कहीं होगा, इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं थी, पर इस नाइनको देखतेही नरपतिकी धारणा धूलमें मिल गयी।

इस नाइनके लावण्यमयी तुलनामें उनके अन्तःपुरकी सौंदर्यमयी देवियाँ नगण्य हैं। इस अनुपम सौंदर्यराशिके सामने तो वे पानी भरती दीखती हैं। इसके मृग सरीखे नेत्र, इसकी अकल्पनीय सुन्दर मुखाकृति, नागिन सरीखे लम्बे सटकारे काले केस, और गोल-गोल बाहें, किन-किन अंगोंको देखें वे। जहाँ दृष्टि जाती, नेत्र वहीं टिक जाते, हटनेका नामही नहीं लेते। नाइनके रोम-रोममें चुम्बकीय आकर्षण प्रतीत होता था। इतनाही नहीं, नाइन परम धार्मिक थी, वह सरल थी और थी सच्चरित्र एवं सद्गुण-सम्पन्ना, उसका रूप गंगाकी उज्ज्वल धाराकी भाँति पवित्र दीख रहा था। नन्दपुत्र विन्दुसार अधीरहो रहे थे, पर वे क्षत्रिय थे। अधम कृत्य उनसे सम्भव नहीं।

नाइन नरेशके केश काट रही थी और नरेशकी दृष्टि नाइनके पैरोंपर थी। सुकोमल अरुण पल्लव सरीखी उसकी पदांगुलियां और छोटे-छोटे मनोहर नख, नरेशकी आँखोंमें धँसते जा रहे थे। कितना लावण्य है इसमें? नरेश मन-ही-मन सोच रहे थे।

"मैं परम सन्तुष्ट हूँ।" केश छँट जानेपर विन्दुसारने नाइनसे कहा "तुम्हें जो इच्छाहो मांग लो।"

नाइनके शरीरसे पसीना छूटरहा था। वह कांप रही थी। बड़े साहससे उसने कहा 'बचन एक होता है महाराज।'

'निश्चय।' नरेशने दृढ़तासे उत्तर दिया' मैं बचनसे नहीं मुकर सकता।'

'आप मेरे पति बनें।' समस्त साहस एकत्रकर उसने कह दिया।

अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः कथं मया सार्द्ध समागमो भविष्यति (दिव्यावदान अः)।

'क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्तसे नाइनका सम्बन्ध कैसे सम्भव है?' नरेशने घबराकर कहा, पर उनका हृदय नाइनके लिये तड़प उठा था।

'मैं नाइन नहीं।' उसने भयमिश्रित स्वरमें मधुर कण्ठसे कहा।

'फिर तुम कौन हो?' आश्चर्य और प्रसन्नतासे प्रश्न किया विन्दुसारने।

'महाराज'! निवेदन किया उसने 'चम्पानगरीके दरिद्र ब्राह्मणकुलमें जन्म लिया है मैंने। शैशवमें ही मुझे देखकर एक ज्योतिषीने कह दिया यह राजरानी और राजमाता होगी। ज्योतिषीके उक्त कथनने मेरे पिताके मनपर अमिट प्रभाव डाला। यौवनमें मैं पूर्णतया पदार्पण भी नहीं कर पायी कि धन-लोभसे इस पाटलिपुत्रमें उन्होंने मुझे आपके करोंमें प्रदान कर दिया। आपने मुझे अन्तःपुरमें भेजा तो रानियाँ मुझे देखकर ईर्ष्यासे जल उठीं।'

'रानियोंके ईर्ष्याका कारण?' प्रश्न कर बैठे नरेश विन्दुसार।

'मैं ठीक नहीं कह सकती महाराज।' वह बोली 'जगतका मुझे अनुभव नहीं, पर मुझे लगा कि मेरे रूपभयमे—कि कहीं आपकी आसक्ति उनसे हट न जाय—उन्होंने मुझे नाइनका काम सीखनेका आदेश दिया।'

नरेशने देखा, प्रफुल्ल नलिनीकी भाँति उसके अनिन्द्य मुखपर भय छा गया है और उसके नेत्र-कोरसे अश्र विन्दु लुढक रहे हैं। नरेशने उसे अपनी ओर खींच लिया।

...शुभमुहूर्तमें वह मगध नरेश विन्दुसारकी सहधर्मिणी बनी। वह दरिद्र कन्या पटरानी हुई। महारानी हुई। पाटलिपुत्रकी राजमाता हुई।

महाराजअशोक इन्हींके पुत्र थे।

नारी अधिकारोंकी हत्या।

श्रीपण्डित नेहरूजीसे नम्रनिवेदन

अत्यन्त खेदके साथ लिखना पड़ता है कि प्रजातंत्र और समानाधिकारके ढोंगके साथ नारी-अधिकारोंकी हत्याकी जारही है। हिन्दूकोड जैसे घृणित बिलों द्वारा उन्हें समानता, स्वतंत्रताके विषग्रास देकर उनका परोक्ष वध किया जारहा है। उनके लिये ऐन्द्रजालिक बिल बनाकर समानाधिकारके

नामपर वेश्यावृत्तिका बाजार खोला जारहा है। यह नारी जातिके कल्याणका मार्ग नहीं उसे अपनी स्वाभाविक सच्चरित्रतासे अंधगर्तमें गिरनेका मार्ग है। नारियोंको मूर्ख बनानेका प्रयत्न है। यदि कांग्रेस या अन्य पार्टियोंको देखा जाय तो यह नारी अधिकारोंकी हत्याके प्रयत्नमें ही लगी हैं।

अभी पत्रोंमें मैंने कांग्रेसके अध्यक्ष और भारतके महामन्त्रीका वक्तव्य पढ़ा, वे इस बातपर खेद प्रकाश करते हैं कि चुनावकी उम्मीदवारीमें बहुत कम महिलायें आईं। कांग्रेसाध्यक्ष पं० नेहरूजीकी खेद-प्रकाश सम्बंधी सहृदयतामें मुझे संदेह नहीं, किन्तु मैं उनसे नम्र निवेदन कर देना चाहती हूँ कि भारतीय महिलाओंके लिये कांग्रेसने दरवाजे बन्दकर रक्खे हैं। कांग्रेसी पदलोलुप स्वार्थी पुरुषोंने उन्हें आनेही नहीं दिया। उत्तरप्रदेशका हाल मैं जानती हूँ। जहां कांग्रेसी बहनें जो जेलयात्रायें भी कर चुकी हैं, ईमानदार शिक्षिता विदुषी हैं। वे पुरुषों द्वारा आवेदनपत्र देनेसे रोकी गईं। जो इनलोगोंके इतना कहनेके बावजूद भी आवेदनपत्र देने गईं वे भी डांट-फांटकर लौटा दी गईं। जिन्होंने आवेदनपत्र दिये. रुपये भी जमा किये उनको जिलोंसे ही षड्यंत्र करके निकाला गया।

पार्लामेंट्रीबोर्डकी भी लीला विचित्र है। जितने मेम्बर हैं. वे सभी उम्मीदवार हैं, उन्होंने अपने लिये अच्छी अच्छी सीटें छांट ली, उन सीटोंपर यदि किसी विदुषी महिलाने आवेदन किया तो वह सर्वोच्च विदुषी होती हुयी भी हटा दी गई।

अभी कुमारी हरदेवी मलकानी एम० ए० एम० यड० मान्ट्रडिप, सम्पादिका 'नारी' लखनऊ आई थीं। उन्होंने जेलयात्रा भी की है। काशीके जिस क्षेत्रसे नारी जागृति और अभ्युत्थानका कार्य किया था उस क्षेत्रकी श्रद्धापात्र भी थीं, उनकी सीट श्री कमलापति त्रिपाठीने हड़प कर ली। त्रिपाठीजी बोर्ड के सर्वेसर्वा हैं। 'घरका परसैया अँधेरीरात' उन्होंने चरितार्थ की। ऐसे कार्य बोर्डके अन्य मेम्बरोंने भी किये हैं। पार्लामेंट्रीबोर्डसे कोई स्त्री ली भी नहीं गई।

एक स्त्रीने आवेदनपत्रभी दिया था उसपर बड़ी चख-चख चली। पार्लामेंट्रीबोर्ड-वालोंने कहा कि वह बोर्डमें आकर अपनी सीट भी छाँटने लगेंगी। वह न तो बोर्डमें ली गईं न उन्हें सीटही दी गई। वे कांग्रेसीजामा पहने रोती हुई लौट आईं।

चुनाव सम्बंधी महिलाओंकी निर्णायिका या सर्वेसर्वा श्री उमाजी नेहरू हैं। वे महिलाओंसे प्रतिज्ञा लेती हैं कि तुम्हें हिन्दूकोडका समर्थन करना होगा। देहलीकी एक मीटिंगमें हिन्दूकोडकी शर्त रक्खी, और कानपुरकी श्रीमती ताराजीने तलाकका आनंद बताया, जिसके विरोधमें कुछ तेजस्वी महिलाओंने फटकारा और बोलनेका समय मांगा, किंतु उन्हें बोलनेही नहीं दिया गया। अब उन सदाचारिणी महिलाओंके रुपये भी जप्त किये जारहे हैं, और उन्हें सीटें भी नहीं दी जारही हैं। वातावरण बड़ा क्षुब्ध है। ऐसी स्थितिमें कौन ऐसी बेगैरत महिला होगी जो कांग्रेसके पास फटकेगी। जो दीनदार ईमानदार सदाचारिणी भारतीय महिलायें हैं उनके लिये कांग्रेसका मार्ग अवरुद्ध है। उन्होंने चाहे जितना राष्ट्रहितका काम किया हो, चाहे जितनी बार जेलयंत्रणायें भुगती हों चाहें जितनी विदुषी हों, उनके लिये कोई गुन्जाइस

नहीं रक्खी गई अब महिलायें आयें तो कैसे आयें? ऊपरसे कांग्रेस अध्यक्षका खेदप्रकाश करना यह तो नारीजातिकी विडम्बना, मूर्खता और अयोग्यताकी दुहाई देना है। मैं इसबातको मानती हूं कि कांग्रेसाध्यक्षके हृदयमें नारीजातिका सम्मान है। वे सच्चाईसे चाहते हैं कि नारियोंको अधिकार दिये जांय, किंतु कांग्रेसी स्वार्थी पदलोलुपोंके कारण उनकी कुछ चलती भी नहीं। उन्होंने कुछ प्रयत्न भी किया, किंतु कांग्रेसी कुणपपर बैठे हुये पार्लामेंट्रीबोर्डके गृद्धोंने छोटी-छोटी चिल्होंको चोंच मारकरही भगा दिया।

अभी देहलीमें हिन्दूकोड स्थगित होनेके बाद अनशन तोड़नेके चौथेदिन पं० नेहरूजीको अभिवादन करने और कोडस्थगनपर धन्यवाद देने गई थी। उन्हें मेरे प्रति वात्सल्य भी था और झल्लाहट भी। उन्होंने बहुत डांटा फटकारा वे बुजुर्ग हैं, मैंने सब सुन लिया, किंतु जब कोड सम्बन्धी समानाधिकारोंकी उन्होंने चर्चा छेड़ी तब मैंने अंजली फैलाकर समानाधिकार माँगे। मैंने कहा कि १७ करोड़ भारतीय नारियोंकी ओर से मैं आपसे समानाधिकारकी मांग कर रही हूँ। हमारे अनुपातके हिसाबसे हमें शासनमें अधिकार दिये जांय। आधी सीटें पार्लमेंटकी और आधी विधानसभाओंकी दी जांय। यह हमारी प्रजातंत्रीय न्याय यांचा है महिलायें हम योग्यसे योग्य देंगी, हजारों बी० ए० एम० ए० शास्त्रिणी पढ़ी-लिखी योग्य दीनदार, ईमानदार महिलायें और कांग्रेसी जेलयात्रिणी महिलायें भी बहुसंख्यक तैयार हैं। हमारे हक हमको दिये जांय, हमारी आनुपातिक संख्या वहां पहुँचे, फिर हम कोड-फोड स्वयं बनालेंगीं। हमारे लिये पुरुषोंको जहमत नहीं उठानी पड़ेगी। यह है हमारा सच्चा प्रजातंत्रीय समानाधिकार। और आप भारतके प्रधानमंत्री तथा कांग्रेसके अध्यक्ष हैं-एक कलमसे हमें यह अधिकार दे सकते हैं। कोडसे तो हमें अधिकार दिला रहे हैं, दे नहीं रहे हैं। शासनमें हमारी सत्ता न होनेसे किसी प्रकारके दिये हुये अच्छे या बुरे अधिकार हमारे लिये बातकही सिद्ध होंगे। अतः आप हमें समानाधिकार शासनसे ही देना प्रारम्भ करें।

इसपर श्री पं० नेहरूजीकी कुछ प्रसन्नता और गंभीरमुद्राको देखकर मैंने 'मौनं स्वीकृत लक्षणं' समझ लिया था। किंतु मैं मनही मन यह समझती थी कि पं० जी के चाहते हुये भी यह न हो सकेगा। कांग्रेस आज लूटू-खाऊ और पदलोलुप पुरुषोंकी संस्था होगयी है। उसमें एक भारी षडयंत्र है वे स्त्रियोंको वेश्या और अपनी पैशाचिक लिप्साका खिलौना बनाना चाहते हैं। वे विदुषी नारियोंको स्वतंत्र मस्तिष्क लेकर आने देना नहीं चाहते। वही आज होरहा है।

अखिल भारतीय महिलासंघने स्वतंत्र होकर चुनाव लड़नेका निश्चय किया था। उसको चुनाव चिन्ह तक नहीं मिलरहा है। निर्वाचनाधिकारी कांग्रेसी इशारोंपर अड़चनें डाल रहे हैं। चिन्ह न मिलनेके कारण महिलासंघका चुनावकार्य रुका पड़ा है। कोई चुनाव सम्बन्धी सुविधा हमें नहीं मिल रही है। यह है कांग्रेसी समानाधिकार का ढोंग। कांग्रेसमें स्त्रियोंका कोई आदर नहीं, सम्मान नहीं, और कोई स्थान भी नहीं।

अंतमें मैं श्री पंडितजीसे फिर अनुरोध कर रही हूँ कि इन बातोंको जरा बारीकीसे देखें और समझें कि हमारे साथ कांग्रेस और कांग्रेसी सरकारका कैसा व्यवहार रहा है और हो रहा है।

शान्तादेवी वैद्या
प्रधान मंत्रिणी
अखिल भारतीय महिला संघ, हसनगंज, लखनऊ।
दि० २६। १०। ५१

श्रीभगवद् गीता—द्वितीय अध्याय

(हिन्दी पद्यानुवाद)

श्री मोहन वैरागी

[गतांक से आगे]

(९)

माधव दूर करो भ्रम मेरा
करो दुसह द्विविधासे त्राण।
मुझे बताओ वह शुभ-साधन
जिसमें हो मेरा कल्याण॥

(१०)

मिले मुझे इन्द्रत्व भले-ही
सुख साम्राज्य लोक परलोक।
किन्तु दूर हा! कैसे होगा
मेरे मनका दारुण शोक॥

सञ्जय ने कहा—

(११)

ऐसा कहकर दुखित पार्थ तब
बोले केशवसे हे नाथ।
मैं न करूँगा युद्ध समरमें
रहूँ भले-ही सदा अनाथ॥

(१२)

दुखविह्वल सन्तप्त पार्थसे
बोले तब माधव सोल्लास।
हे राजन् रणमध्य कहायों
अर्जुन हो क्यों व्यर्थ उदास॥

श्री भगवान ने कहा—

(१३)

करते हो सन्ताप व्यर्थका
अपने को बनते सज्ञान।
जीवन तथा मृत्यु ये दोनों
ज्ञानीजन के लिये समान॥

(१४)

वर्तमान थे हम युग युगमें
अमर हमारा है अस्तित्व।
जीते हैं मरनेको हमसब
मरकर पाते हैं अमरत्व॥

(१५)

बाल युवा वृद्धावस्था ज्यों
होती तनुमें प्रकटित लीन।
त्यों देहावसान होनेपर
मिलता मनुज शरीर नवीन॥

(१६)

शीत-उष्ण सुख-दुखकर जितने
इन्द्रियजनित विषय सम्भोग।
अस्थिर नाशवान् हैं सारे
क्षणभङ्गुर उनका उपभोग॥

(क्रमशः)

———

नारीजातिका विशेष धर्म।

प्रवृत्ति भावको अन्तःकरणसे नष्ट करके क्रमशः निवृत्ति भावको परिपूर्ण करना धर्मका धर्मत्व है। मनुष्यको छोड़कर नीचेकी श्रेणीके जितने जीव हैं, वे प्रकृति माताकी आज्ञाके वशवर्ती होते हैं। प्रकृतिके अधीन उनकी सारी चेष्टाएँ सदा ही नियमित रहा करती हैं। वे कभी भी प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन नहीं करते। किंतु मनुष्य प्रकृतिपर आधिपत्य रखनेवाला जीव है, अतः उसकी चेष्टा प्रकृतिके प्रतिकूल अनियमित, उच्छृङ्खल और उद्दाम हो जाती है। यह उद्दाम प्रवृत्ति नियमित होकर निवृत्तिका पोषण करे और अन्तमें प्रवृत्तिका लय करके निवृत्तिकी पूर्णता करे इसका नाम धर्म है। यही धर्मका धर्मत्व है! यही धर्मत्व आर्यशास्त्रोंमें त्रिविध धर्मविधि रूपसे प्रकाशमें लाया गया है। अतः जिन विधियोंके द्वारा पुरुष पूर्णपुरुष हो सके, वे सब विधियाँ पुरुषके लिये धर्म हैं और जिन विधियोंके द्वारा नारी पूर्ण नारी हो सके, वे नारीके लिये धर्म होंगी। यहाँ यह बात अच्छी तरह ध्यानमें रख लेनी चाहिये कि पुरुष अथवा स्त्री दोनोंकी ही पूर्णताका रहस्य प्रवृत्तिके नाश और निवृत्तिकी पूर्णतामें ही निहित है। यदि इस सिद्धांत अथवा लक्ष्यके विपरीत कोई विधि कहीं दिखायी पड़े तो उसे अशास्त्रीय, अधर्ममूलक अथवा कपोलकल्पित समझना चाहिये।

आर्यशास्त्रोंमें प्रकृतिकी सत्ता पुरुषसे स्वतंत्र नहीं मानी गयी है। पूर्ण प्रकृति परमात्मामें विलीन रहती है। सृष्टि-दशा परिणाम दशा है, अतः वह अपूर्ण दशा है, मनुसंहिताका वचन है, कि सृष्टिके समय परमात्माने अपने शरीरको दो भागोंमें विभक्त करके आधेमें पुरुष और आधेमें स्त्री बन प्रकृतिमें ही विराट् सृष्टिकी लीलाका विस्तार किया। श्रुति आदि भी यही कहती हैं, कि जिस समय सृष्टि नहीं रहती है, उस समय परमात्मा एक (अकेले) रहते हैं और सृष्टिदशामें प्रकृति उनमेंसे ही निकलकर समस्त संसारका सृजन करती है और अन्तमें उस लीलाके पूर्ण होनेपर वह पुनः परमात्मामें विलीन हो जाती है। उपनिषदोंसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है—'सृष्टिके पहले परमात्मा एक ही थे अतः रमण न कर सके। उन्होंने द्वितीयकी इच्छा की और स्त्री-पुरुष जैसे मिलकर साथ रहनेका संकल्प किया। इससे परमात्मा दो भागोंमें विभक्त हो स्त्री और पुरुष बन गये इसलिये यह शरीर अर्द्धचणककी तरह रहता है और विवाहके द्वारा स्त्री इसे पूर्ण करती है। जिससे सृष्टि होने लगती है।

संसार प्रकृति-पुरुषात्मक है। पुरुषमें परमात्मा और स्त्रीमें प्रकृतिकी सत्ता विद्यमान है। पुरुषसे पृथक् होनेपर ही प्रकृति परिणामिनी हुआ करती है। जबतक प्रकृति-परिणाम है तभीतक सुखदुःख मोहात्मक ससार-वृत्तिका लीला-विलास है और उसमें सर्वत्र ही अपूर्णता है। जबतक प्रकृति पुरुषसे पृथक् रहती है, तबतक अपूर्ण ही रहा करती है। इस अपूर्ण जीव प्रकृतिको पूर्णकरके परमात्मामें लय करनेके लिये ही जीव सृष्टिका विस्तार है। प्रकृतिका यह संसार पुरुषमें लय होनेके लिये ही अग्रसर होता है। अतः प्रकृतिका यही धर्म है, कि जिससे वह

पुरुषमें लय हो सके। यह एक सूक्ष्म गम्भीर विज्ञान है और इसीको स्मरण करके महर्षियोंने नारीके लिये नारी-धर्मका उपदेश किया है।

जिस प्रकार प्रकृतिकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी प्रकार स्त्रीकी भी सत्ता स्वतन्त्र नहीं। जिस प्रकार प्रकृति पुरुषसे ही अर्द्धाङ्गिनी रूपमें निकलती है और उसीमें लयको प्राप्त हो जाती है और लय होनेकी जो चेष्टाएँ हैं वे उसके धर्म हैं, ठीक उसी प्रकार जिन जिन उपायोंसे नारी अपनेको उन्नत करती हुई पुरुषमें लयको प्राप्त हो सकती है, वे ही चेष्टाएँ नारीके भी धर्म हो सकते हैं।

किसी वस्तुमें किसी वस्तुको लय कर देनेके लिये 'तन्मयता' परमावश्यक है। बिना 'तन्मयता' के कोई अपनेको दूसरेमें लय नहीं कर सकता। तन्मयता' अपनी पृथक् सत्ताके भल जानेको कहते हैं। पृथक् सत्ताका ज्ञान जबतक हृदयमें विद्यमान रहता है, तबतक कोई दूसरेमें लय हो ही नहीं सकता। अतः जो धर्म नारीको पुरुषमें तन्मय हो जानेकी शिक्षा दे वही नारियोंके लिये धर्म है। पातिव्रत्य धर्म स्त्रीको पूर्ण उन्नत करता हुआ अन्तमें उसे तन्मयताकी दशामें पहुंचा देता है, अतः पातिव्रत्य धर्म ही स्त्रीका एकमात्र धर्म है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं. कि कोई भी वस्तु जो. अपूर्ण है वह पूर्ण तभी हो सकती है जब वह पूर्णमें विलीन हो जाय। अपूर्णके पूर्ण होनेका इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कि प्रकृतिको सत्ता अपूर्ण है, अतः वह पूर्णमें ही लय होकर पूर्ण हो सकती है। उससे पृथक् होकर पूर्ण नहीं हो सकती। अपूर्ण ब्रजकी गोपियाँ पूर्ण भगवानमें तन्मय होती हुई उनमें अपनेको लय करके ही पूर्ण हो गयीं। अपनी सत्ताको भूलकर जब वे अपनेको कृष्ण समझने लग गयीं, तभी उनको पूर्ण पुरुष कृष्णका दर्शन हुआ। तिलचट्टा भ्रमरकीटमें तन्मय होकर जब अपनी सत्ताको भूल जाता है, तभी वह भ्रमरकीट बन सकता है। इसलिये अपूर्ण नारी पूर्णताको तभी प्राप्त कर सकती है, जब वह कीट भृंगकी तरह ब्रजकी गोपियोंकी तरह पूर्ण पुरुषमें अपनेको तन्मय और लय कर दे। इस प्रकार तन्मय होने और लय होनेकी एकमात्र शक्ति, तपः प्रधान पातिव्रत्य धर्ममें ही सन्निहित है। अतः वही यथार्थमें नारीके धर्म हैं, दूसरा और कुछ भी नहीं। उसके विपरीत जो कुछ भी है, वह नारीके लिये अहितकर होनेसे अधर्म है। पुरुषका धर्म ऐसा नहीं है।

यागपरः पुरुष धर्मः।

(कर्ममीमांसा)

पुरुषधर्म यज्ञ प्रधान है। गीतामें भी कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाचप्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

यज्ञमें अधिकारवान प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने उनको यज्ञकी ही आज्ञा दी थी और कहा था, कि इस यज्ञसे ही तुम्हारी उन्नति और मनोरथकी पूर्ति होगी। किन्तु स्त्रीके लिये—

तपः प्रधानोनार्यः

(कर्ममीमांसा)

स्त्रीधर्म तपःप्रधान है। स्वाभाविक चञ्चल इन्द्रिय प्रवृत्तियोंको विषयोंसे रोकनेको तप कहते हैं। पातिव्रत्यधर्म तपोमूलक है। इसमें नारीको अपनी समस्त चेष्टाओंको अन्य सभी ओरसे 'प्रत्याहार' करके पतिमें विलीन कर देना होता है अतः पातिव्रत्य धर्म ही स्त्रीका तपः प्रधान धर्म है और इसी धर्मके द्वारा उसे पूर्णताकी प्राप्ति होती है। भगवानने गीतामें कहा है कि—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः': अपने धर्ममें मरना अच्छा दूसरेका धर्म पाप है।

——

आर्य महिलाके नियम

१—आर्यमहिला' श्री आर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्‌की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्‌के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमास प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है सदस्य बनने-वालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समय पर सूचना न मिलने-से बाद कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तर में विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिए पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देना चाहिये।

६ सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंट के पतेसे आना चाहिए।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होने वाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है:--

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, १/२ ,,	१२)	,,
,, १/४ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये, अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

वाणी-पुस्तकमाला

का

अद्वितीय दार्शनिक प्रकाशन

श्रीभगवद्गीता

गीता-तत्त्व-बोधिनी टीका-सहित

[दो भागोंमें सम्पूर्ण]

लोकप्रसिद्ध श्रीभगवद्गीताके गूढ़ दार्शनिक तत्त्वोंको अत्यन्त सरलतासे समझनेके लिये गीता-तत्त्व-बोधिनी टीकासे बढ़कर अभीतक गीताकी कोई दूसरी टीका प्रकाशित नहीं हुई है।

पूज्यपाद श्री ११०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके वचनामृतद्वारा गीताके गूढ़ रहस्योंको समझनेके लिये गीताकी प्रस्तुत टीका एक अनुपम साधन है। अवश्य अध्ययन कीजिये और आध्यात्मिक आनन्द तथा शांति प्राप्त कीजिये। साथ ही ऐसे अमूल्य ग्रन्थरत्नके संग्रहद्वारा अपनी पुस्तकालयकी शोभा बढ़ाइये। आज ही एक प्रतिका आर्डर भेजिये। अन्यथा प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; थोड़ी प्रतियाँ ही छपी हैं।

मूल्य सम्पूर्ण प्रतिका ७॥)

प्राप्तिस्थान:—

व्यवस्थापक

श्रीवाणी-पुस्तकमाला

महामंडल भवन

जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला-कार्यालय, जगतगंज, बनारस कैंट।

मुद्रक—सर्वोदय प्रेस, लहुराबीर, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्‌की मासिक मुखपत्रिका

पौष-माघ सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ९-१० | दिसम्बर १९५१-जनवरी १९५२

लज्जा मेरी राखो श्याम हरी।
कीनी कठिन दुःशासन मोसे,
गहि केशन पकरी ॥
आगे सभा दुष्ट दुर्योधन,
चाहत नग्न करी।
पाँचो पाण्डव सब बल हारे,
तिन सौं कछु न सरी ॥
भीषम द्रोण विदुर भये विस्मित,
तिन सब मौन धरी।
अब नहिं मात पिता सुत बान्धव,
एक टेक तुम्हरी ॥
बसन प्रवाह किये करुणानिधि,
सेना हार परी।
'सूर' श्याम जब सिंह शरण लई,
कहा सृगाल डरी ॥

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी एम. ए., बी. टी.

विषयानुक्रमणिका

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

मार्गशीर्ष सं० २००८ | वर्ष ३३, संख्या ६ | दिसम्बर १९५१

प्रार्थना

हरि बिन कौन दरिद्र हरै ।

कहत सुदामा सुन सुन्दरी, जिय मिलन न हरि बिसरै ॥

और मित्र ऐसे समया महँ, कत पहिचान करै ।

विपति परे कुसलात न बूझै, बात नहीं उचरै ॥

उठिके मिले तन्दु हम दीने, मोहन बचन फुरै ।

सूरदास स्वामी कि महिमा, टारि विधी न टरै ॥

* * *

आत्म-निवेदन

क्षमा-याचना

अनेक प्रयत्नके अनन्तर 'आर्यमहिला' युद्धकालीन अनेक वर्षोंकी अनियमिततासे आगे बढ़कर नियमित समय पर पाठकोंके पास पहुँचने लगी थी; परन्तु यह अङ्क पुनः पिछड़ गया है। इसका कारण देश-व्यापी अभूतपूर्व निर्वाचन है। इस निर्वाचनमें सभी संस्थाओं एवं सभी व्यक्तियोंको किसी-न-किसी रूपमें विजड़ित होना पड़ा। सभी अन्य कार्य इन दो महीनोंमें उपेक्षितसे हो गये। प्रेसोंने भी केवल चुनाव सम्बन्धी साहित्य छापनेका कार्यही किया। विशेषतः काशीने तो चुनाव की समाप्तिके बादही शान्तिकी श्वाँस ली। महापरिषद्के पास अनेक कार्य-विभाग होनेसे सदासे ही उसको साधनोंकी कमी तथा कार्यकर्त्ताओंकी कमीका अनुभव होता आया है। अतः इस चुनाव युद्धका भी अधिक प्रभाव उसपर हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण 'आर्यमहिला' पाठक-पाठिकाओं के पास पुनः विलम्बसे पहुंच रही है। इस अनिवार्य विलम्बके लिये 'आर्यमहिला' के प्रेमीपाठक क्षमा करेंगे ऐसी आशा है। अब शीघ्रसे शीघ्र 'आर्यमहिला' नियमित पहुँचने लगे इसके लिये हम प्रयत्नशील हैं।

हिन्दूकोड कसौटीपर

संसदमें डाक्टर अम्बेदकर अपनी सारी शक्ति लगाकर भी हिन्दूकोडबिल पास करानेमें सफल नहीं हो सके, बेचारेकी साध पूरी नहीं हो सकी; तब झल्लाकर उन्होंने कानून मन्त्रीके पदसे त्यागपत्र दे डाला। आशा की थी कि, नेहरूजी उनका त्यागपत्र स्वीकार न करके मनावन करेंगे; परन्तु उनकी यह आशा भी पूरी नहीं हुई। नेहरूजीने उनका त्यागपत्र तत्काल स्वीकृत कर लिया। अब अम्बेदकर महाशय क्या करते? आपने हिन्दूकोड रूप अपने बच्चेको जिलानेके लिये उसीको दिखाकर चुनावके मैदानमें उतर पड़े और वोटकी भीख माँगते चले, किन्तु उनको सोलह हजार वोटोंसे हारना पड़ा। उनका दत्तक पुत्र हिन्दूकोडको वे बचा नहीं सके। उनकी इस हारके साथ-साथ उनका ऐसा राजनीतिक पतन हुआ कि अब उठना असम्भव प्रायः है। इतनाही नहीं, इस बिलकी बड़ी भारी समर्थिका इनकी साथी पश्चिमी वातावरणमें विचरनेवाली दो महिलाएँ श्रीमती रेणुकाराय और श्रीमती दुर्गाबाई थीं, श्रीमती रेणुकाराय भी बंगालसे पराजित हो गयीं और मद्राससे दुर्गाबाई भी पराजित हुईं। यद्यपि कांग्रेसने इनको विजयिनी बनानेके लिये कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा होगा।

इन तीनोंकी हारसे यह सिद्ध हो गया कि कोई भी कोड जनताकी इच्छाके विरुद्ध उसपर लादा नहीं जा सकता। जनताकी भावनाओंको कुचलनेका परिणाम कभी अच्छा नहीं हो सकता। आज कहने के लिए तो जनताका राज है; किन्तु जनता अन्न एवं वस्त्रके लिये तरस रही है, जनता कहती है—'हमें रोटी दो, हमें कपड़ा दो, हमें रहने की जगह दो।' प्रधान मन्त्री नेहरूजी कहते हैं "हम हिन्दू कोड बिल देंगे।" यह है जनताका राज। इसपर हमें स्वर्गीय गांधीजीकी उस समयकी उक्ति स्मरण आती है, जब यहाँ अँग्रेजी शासन था, गांधीजीने एकबार कहा था कि "मैंने रोटी माँगी, मुझे पत्थर मिला।" यही दशा कांग्रेस सरकारकी है। जनता अन्न, वस्त्र, आवासके लिये तड़प रही है, बिलख रही है, त्राहि त्राहि कर रही है, उसके बदलेमें उसे हिन्दूकोडबिल दिया जा रहा है, फिर भी जनताका राज है। जनताके राजका ऐसा नमूना संसारमें कहीं अन्यत्र देखने-सुननेको नहीं मिलेगा।

अस्तु, हिन्दूकोड-बिलके बड़े बड़े समर्थक इस चुनावमें धराशायी हो गये। जनताने कांग्रेस सरकारके इस अन्याय पूर्ण अनुचित कार्य पर अपना रोष प्रकट किया और यहाँतक कि नेहरूजीके चुनाव-क्षेत्र में उनकी स्थिति भी चिन्ताजनक हो गयी। हिन्दू-कोड-बिलको लेकर श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी जैसे एक सन्त जो किसी समय आर्य-महिलाके सम्पादक पदको विभूषित कर चुके हैं; चुनावके मैदानमें कूद पड़े। जनताका रुख ब्रह्मचारीजीके समर्थनमें देख नेहरूजी घबड़ा गये और सरकारकी सारी शक्ति वहाँ लगा दी गयी। नेहरूजी, उनकी बहिन विजयलक्ष्मी पंडित, उनकी पुत्री इन्दिरागांधी, कानून मन्त्री श्री कैलाशनाथ काटजू एवं श्री पन्तजी, श्रीप्रकाशजी आदि सभी कांग्रेसी चोटीके नेता नेहरूजीकी सम्मान रक्षाके लिये प्रयागमें दौड़ पड़े। नेहरूजीको तथा काटजूजीको जनताको भुलानेके लिये अपने भाषणोंमें कहना पड़ा कि हिन्दूकोड बिल वर्तमान रूपमें पास नहीं होगा, उसमें सुधार किया जायगा आदि। यह सब जनताको धोखा देकर केवल वोट लेनेके लिये किया गया हो तब भी कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु जनता अब सचेत हो चुकी है, अब जनताकी भावनाओंको कुचलकर शासनकी गद्दियों पर अधिक दिन अधिकार जमाए रहना सम्भव नहीं होगा। इस निर्वाचनसे यह स्पष्ट हो गया कि यदि केवल हिन्दूकोड-बिल पर चुनाव लड़ा गया होता और कांग्रेस पदत्याग कर चुनाव लड़ती तो देशके किसी भी राज्यमें कांग्रेसी सरकार नहीं बन पाती। जनताने कांग्रेसको क्या इसीलिये अपने खूनसे सींच कर बलशाली बनाया था कि उसकी सरकार बनने पर हिन्दूकोड बिल पास करके हिन्दुओंका सर्वनाश किया जायगा और नये-नये कसाईखाने बनाकर गोहत्या जारी रखा जायगा? यदि पहले ये बातें कही गयी होतीं तो कोई भी कांग्रेसका साथ न देता। आज जब महिलाओंने कहा कि हमें हिन्दू-कोड बिल नहीं चाहिये तो उनको निर्लज्जता एवं निष्ठुरताके साथ एसेम्बली भवनके पास पुलिस द्वारा लाठीसे पिटवाया गया, उनके बाल पकड़कर घसीटा गया और क्या-क्या अपमान नहीं कराया गया? अब आगे देखना है कि यह काला कानून किस रूपमें पुनः संसदमें उपस्थापित किया जाता है।

भगवती लोपामुद्रा

एक समय देवगुरु बृहस्पतिजीके नेतृत्वमें देवताओंका एक प्रतिनिधि-मण्डल देवताओंके विशेष कार्यके लिए महर्षि अगस्तके पास गया था। उस समय देवगुरु बृहस्पतिजीने इस प्रकार कहा—महाभाग अगस्त्यजी! आप धन्य हैं, कृत्य-कृत्य हैं और महात्मा पुरुषोंके लिये भी माननीय हैं। आपमें तपस्या की सम्पत्ति है, आपमें स्थिर ब्रह्मतेज है, आपमें पुण्यकी उत्कृष्ट शोभा है, आपमें उदारता है और आपमें विवेकशील मन है। आपकी सहधर्मिणी ये कल्याणमयी लोपामुद्रा बड़ी पतिव्रता हैं, आपके शरीरकी छायाके तुल्य हैं। इनकी चर्चा भी पुण्य देनेवाली है। मुने! ये आपके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करतीं, आपके खड़े होनेपर स्वयं भी खड़ी रहतीं, आपके सो जाने पर सोतीं और आपसे पहले जाग उठती हैं। ये कभी अपने आपको आपके सामने अलंकारहीन अवस्थामें नहीं उपस्थित करतीं। जब आप किसी कार्यसे कहीं परदेशमें जाते हैं, तब ये एक भी अलंकार नहीं धारण करतीं। आपकी आयु बढ़े—इस उद्देश्यसे ये कभी आपका नाम नहीं उच्चारण करती हैं। दूसरे पुरुषका नाम भी ये कभी अपनी जीभ पर नहीं लातीं। ये कड़वी बात सह लेती हैं; किन्तु स्वयं बदलेमें कोई कटुवचन मुँहसे नहीं निकालतीं। आपके द्वारा ताड़ना पाकर भी प्रसन्न ही होती हैं जब आप इनसे कहते हैं—'प्रिये! अमुक कार्य करो, तब ये उत्तर देती हैं—'स्वामिन्! अभी किया। आप समझलें वह काम पूरा हो गया।' आपके बुलाने पर ये घरके आवश्यक काम छोड़कर भी तुरन्त चली आती हैं और कहती हैं—प्राणनाथ! दासीको किस लिये बुलाया है। आज्ञा देकर मुझे अपने प्रसादकी भागिनी बनाइये।' ये दरवाजे पर देर तक नहीं खड़ी होतीं, द्वार पर बैठती और सोती भी नहीं हैं। आपकी आज्ञाके बिना कोई वस्तु किसीको नहीं देतीं, आप न कहें तब भी ये स्वयं ही आपके लिये पूजाका सब सामान जुटा देती हैं। नियमके लिये जल, कुशा, पत्र-पुष्प, और अक्षत आदि प्रस्तुत करती हैं। सेवाके लिये अवसर देखती रहती हैं और जिस समय जो वस्तु आवश्यक अथवा उचित है, वह सब बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उपस्थित करती हैं। पतिके भोजन करनेके बाद बचा हुआ अन्न और फल आदि खाती और पतिकी दी हुई प्रत्येक वस्तुको महाप्रसाद कहकर शिरोधार्य करती हैं। देवता, पितर और अतिथियोंका तथा सेवकों, गौओं और याचकोंको भी उनका भाग अर्पण किये बिना ये कभी भोजन नहीं करतीं। वस्त्र आभूषण आदि सामग्रियोंको स्वच्छ एवं सुरक्षित रखती हैं। ये गृहकार्यमें कुशल हैं सदा प्रसन्न रहती हैं, फजूल खर्च नहीं करतीं, एवं आपकी आज्ञा लिये बिना ये कोई उपवास और व्रत आदि नहीं करती हैं। जन-समूहके द्वारा मनाये जाने वाले उत्सवोंका दर्शन दूरसे ही त्याग देती हैं। तीर्थयात्रा आदि तथा विवाहोत्सव-दर्शन आदि कार्योंके लिये भी ये कभी नहीं जातीं। पति सुखसे सोये हों, आरामसे बैठे हों अथवा अपना मौजसे कहीं रम रहे हों, तो उस समय कोई अन्तरंग कार्य आजाने पर भी उन्हें कभी नहीं उठातीं। रजस्वला होनेपर ये तीन राततक अपना मुह पतिको नहीं दिखातीं। जबतक स्नान करके शुद्ध न हो जाँय तबतक अपनी बात भी पतिके

कानोंमें नहीं पड़ने देतीं। भलीभाँति स्नान कर लेने पर पहले पतिका ही मुँह देखती हैं और किसीका नहीं। अथवा यदि पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करती हैं। पतिकी आयुवृद्धि चाहती हुई पतिव्रता स्त्री अपने शरीरसे हल्दी, रोली, सिन्दूर, काजल, चोली, पान, शुभ माङ्गलिक आभूषण कभी दूर न करे। केशोंका सवारना, वेणी गूँथना तथा हाथ और कान आदिके आभूषणोंको धारण करना कभी बन्द न करे। अपने स्वामीसे द्वेष रखने वाली स्त्रीसे वे कभी बात तक नहीं करती हैं। ये कहीं भी अकेली नहीं रहती हैं और न कभी नंगी होकर स्नान ही करती हैं। सती स्त्रीको ओखली, मूसल, झाड़ू, सिलौट, चक्की और चौखठपर कभी नहीं बैठना चाहिए। पतिव्रता स्त्री कभी धृष्टताका परिचय न दे। जहाँ जहाँ पतिकी रुचि हो; वहीं सती स्त्री सदा प्रेम रखे। यही स्त्रियोंका उत्तम व्रत, यही उनका परमधर्म और यही एकमात्र देवपूजा है कि वे पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करे। पति नपुंसक, दुर्दशाग्रस्त, रोगी, बूढ़ा, अच्छी स्थिति वाला अथवा बुरी परिस्थितिमें पड़ा हुआ हो, तो भी पतिका कभी त्याग न करे। पतिके हर्षमें हर्ष माने और पतिके मुख पर विषादकी छाया देखकर स्वयं भी विषाद-ग्रस्त हो। पुण्यात्मा सती सम्पत्ति और विपत्तिमें भी पतिके साथ एक रूप होकर रहे। पतिको चिन्ता और परिश्रममें न डाले। तीर्थस्थानकी इच्छा रखने वाली अपने पतिका चरणोदक पीये, क्योंकि उसके लिये केवल पति ही भगवान् शिव और विष्णुसे बढ़कर है। जो पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके व्रत और उपवास आदिके नियम पालती हैं, वह अपने पतिकी आयु हर लेती हैं और मरनेपर नरकमें गिरती हैं। जो स्वयं प्रसन्न रहकर पतिको प्रसन्न रखती हैं उसने तीनों लोकोंको प्रसन्न कर लिया है। पिता थोड़ा सुख देता है, भाई थोड़ा सुख देता है और पुत्र भी थोड़ा ही सुख देता है, अपरिमित सुख देनेवाला तो पति ही है। अतः उसकी सदा पूजा करनी चाहिए। पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है इसलिये स्त्री सबको छोड़कर केवल पतिकी पूजा करे।

इतना कहकर बृहस्पतिजी लोपामुद्रासे बोले—पतिके चरणारविन्दों पर दृष्टि रखनेवाली महामाता लोपामुद्रे! हमने काशीमें जाकर जो गंगा स्नान किया है उसीका यह फल है कि हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। लोपामुद्राकी इस प्रकार स्तुति करके देवगुरुने अगस्त्य मुनिसे कहा—'महर्षे! आप प्रणव हैं और ये लोपामुद्रा श्रुति हैं। आप मूर्तिमान तप हैं और ये क्षमा हैं आप फल हैं और ये सत् क्रिया हैं। महामुने! इन्हें पाकर आप धन्य हैं। ये देवी पातिव्रत का मूर्तिमान तेज हैं और आप साक्षात् सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मतेज हैं। इस परभी आपमें यह तपस्याका तेज और बढ़ा हुआ है। भला आपके लिए कौन-सा कार्य असाधारण है। यद्यपि कुछ भी आपसे अविदित नहीं है; तथापि देवता लोग जिस उद्देश्यसे यहाँ आये हैं वह मैं बतलाता हूँ मुने! ध्यान देकर सुनें। विन्ध्यनामसे प्रसिद्ध पर्वत मेरुगिरिसे डाह रखने के कारण बढ़कर इतना ऊँचा हो गया है कि उसने सूर्यदेवका मार्ग रोक लिया है, उसकी इस वृद्धिको आप रोकिये।

देवगुरु का यह वचन सुनकर महामुनि अगस्त्यने क्षणभरके लिए चित्तको एकाग्र किया और 'बहुत अच्छा, आप लोगों का कार्य सिद्ध करूँगा।' ऐसा कहकर देवताओं को विदा किया। तत्पश्चात् उन्होंने देवताओंका कार्य सम्पन्न किया।

ब्राह्मण बालिका सुलक्षणा

प्राचीन समयमें काशीपुरीमें प्रियव्रत नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे। वे आत्रेय कुलमें उत्पन्न, सदाचारी तथा अतिथिजनोंके प्रेमी थे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली थी। वह घरके काम-काजमें बड़ी चतुर तथा पतिकी सेवामें तत्पर रहती थी। ब्राह्मणने अपनी पत्नीसे यथासमय एक उत्तम लक्षणोंवाली कन्याको जन्म दिया। वह कन्या मूल नक्षत्रके प्रथम चरणमें उत्पन्न हुई थी। उस समय बृहस्पति केन्द्रमें थे। वह बड़ी शुभ लक्षणोंवाली थी। अतः उसका नाम सुलक्षणा रखा गया। ब्राह्मणकी वह कन्या पिता-माताके घरमें दिन-दिन बढ़ने लगी। वह बड़ी रूपवती, विनयशील सदाचार परायण तथा माता-पिताका प्रिय करने वाली थी। घरकी सामग्रियोंको माँज-धोकर साफ सुथरा रखनेमें अत्यन्त निपुण थी। वह अपने पिता के घरमें जैसे-जैसे बढ़ने लगी, वैसे-ही-वैसे पिताके मनमें यह चिन्ताभी बढ़ने लगी कि—'मेरी यह परम सुन्दरी उत्तम लक्षणोंवाली श्रेष्ठ कन्या किसको देने योग्य है। इसके योग्य उत्तम वर मुझे कहाँ मिलेगा, जो कुल, अवस्था, शील, स्वभाव, शास्त्राध्ययन, रूप और धनसे भी सम्पन्न हो। किसके साथ ब्याह होने पर इसे सुख मिलेगा।' इस प्रकार चिन्तानामक ज्वरसे ग्रस्त हो प्रियव्रत ब्राह्मण गृह आदि सब वस्तुओंका त्याग करके मृत्युको प्राप्त हो गए। पिताके मरने पर उस कन्याकी प्रतिव्रता माताभी कन्याको अकेली छोड़कर पतिके साथ सती हो गयी। पातिव्रतका पालन करनेवाली सहधर्मिणी का यह धर्मही है कि वह पतिके जीते-जी तथा मरने परभी पतिके ही साथ रहे। पुत्र, पिता, माता और बन्धु-बान्धव इनमें से कोई भी पतिके सदृश्य स्त्रीकी रक्षा नहीं करते। स्त्री अपने पतिके चरणोंकी जो सेवा करती है, वह सेवा ही सर्वत्र उसकी रक्षा करती है। माता-पिताके मरने पर सुलक्षणा दुःखसे व्याकुल हो उठी। उसने उनके और्ध्वदैहिक संस्कार करके दशाह आदि क्रियायें सम्पन्न की और अनाथ एवं दीन होकर वह चिन्ता करने लगी—'अहो! मैं पिता-मातासे हीन असहाय अबला इस संसार-सागरके उस पार, जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है, कैसे जा सकूँगी; क्योंकि स्त्री-भाव सबके द्वारा तिरस्कृत होनेवाला है। मेरे माता-पिताने मुझे किसी वरको अर्पण नहीं किया। ऐसी दशामें मैं स्वेच्छासे दूसरे किसी वरका वरण कैसे करूँ। यदि मैंने किसी का वरण कर भी लिया, तो भी यदि वह कुलीन गुणवान, सुशील, और अपने अनुकूल रहनेवाला न मिला, तो उसका वरण करनेसे भी क्या लाभ होगा। इस प्रकार चिन्ता करती हुई रूप, उदारता और गुणों से युक्त उस ब्राह्मण कन्या सुलक्षणाने अनेकों युवकों द्वारा प्रतिदिन बार बार प्रार्थना की जाने पर भी किसीको अपने हृदयमें स्थान नहीं दिया। पिता-माताकी मृत्यु और उनके अद्भुत वात्सल्यका स्मरण करके वह बार बार अपनी और इस नश्वर संसारकी निन्दा करने लगी—'अहो! जिन्होंने मुझे जन्म दिया और बड़े लाड़-प्यारसे पाला, वे मेरे माता-पिता कहाँ चले गए? देहधारी जीवकी इस अनित्यताको धिक्कार है। जैसे मेरे ही आगे मेरे माता-पिताका शरीर चला गया; उसी प्रकार मेरा भी

शरीर चला जायगा।' ऐसा विचार करके उस बालिकाने अपने मन और इन्द्रियोंको अपने आधीन किया और स्थिरचित्त हो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई वह उत्तरार्कदेवके समीप कठोर तपस्या करने लगी। उसकी तपस्याके समय प्रतिदिन एक छोटी-सी बकरी उसके आगे आकर अविचल भावसे खड़ी हो जाती, फिर सन्ध्याके समय वह कुछ घास तथा पत्ते आदि चरकर और उत्तरार्क कुण्डका जल पीकर अपने स्वामीके घर लौट जाती थी। इस प्रकार पाँच-छः वर्ष व्यतीत होने पर एक दिन भगवान् शिव पार्वतीदेवीके साथ विचरते हुए वहाँ आए। उत्तरार्कदेवके समीप तपस्या करती हुई सुलक्षणाको उन्होंने ठूँठ पेड़की भाँति अविचल और तपस्यासे अत्यन्त दुर्बल देखा। तब दयामयी पार्वती-देवीने भगवान् शङ्करसे निवेदन किया—'देव! यह सुन्दरी कन्या बन्धु-बान्धवोंसे हीन है, इसे वर देकर अनुगृहीत कीजिए। पार्वतीजीका यह वचन सुनकर दयासागर भगवान् शिवने नेत्र बन्दकर समाधिमें स्थित हुई उस कन्यासे वर देनेके लिए उद्यत होकर बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सुलक्षणे! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूं, तुम कोई वर माँगो।'

महादेवजी की यह अमृतवर्षिणी वाणी सुनकर सुलक्षणाने नेत्र खोले और देखा कि सामने वरदान देनेके लिए उद्यत आशुतोष भगवान् त्रिलोचन खड़े हैं और उनके वामभागमें देवी उमा विराजमान हैं। उन दोनोंका दर्शन करके सुलक्षणाने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। इतनेमें ही उसे अपने आगे खड़ी हुई वह बकरी दिखाई दी। तब वह सोचने लगी—'इस जीवलोकमें अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए कौन मनुष्य जीवन नहीं धारण करता है? परन्तु जो परोपकारके लिए जीवन धारण करता है, उसीका जीवन धारण सफल है।' मन-ही-मन ऐसा विचार कर उसने भगवान् शिवसे कहा—'कृपा निधान! यदि आप मुझे वर देना उचित समझते हैं, तो पहले इस बेचारी बकरी पर अनुग्रह कीजिए।' सुलक्षणाकी यह परोपकार भरी वाणी सुनकर शरणागतोंकी पीड़ा दूर करनेवाले भगवान् शङ्कर बहुत प्रसन्न हुए और पार्वती देवीसे इस प्रकार बोले—'गिरिराज नन्दिनी! देखो, साधु पुरुषोंकी ऐसीही परोपकारयुक्त बुद्धि होती है। सम्पूर्ण लोकोंमें वे ही धन्य हैं और वे ही सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रय हैं जो सर्वथा परोपकारके लिए यत्न करते हैं। सब वस्तुओंका संग्रहभी कहीं दीर्घकाल तक नहीं ठहरता। एक मात्र परोपकार ही चिरस्थायी होता है। यह सुलक्षणा परमधन्य और अनुग्रह करने योग्य है। देवि! तुम्हीं बताओ, इस सुलक्षणाको और इस बकरीको भी कौन सा वरदान देना चाहिए?'

पार्वती देवीने कहा - भगवन्! यह शुभआचरणोंवाली सुलक्षणा कल्याणके लिए उद्योग करनेवाली है; यह मेरी सखी होकर रहे। यह बालब्रह्मचारिणी है, इससे मुझे अत्यन्त प्रिय होगी। मेरी इच्छा है कि यह दिव्य शरीर धारण करके सदैव मेरे समीप निवास करे। यह बकरी भी यहीं काशी नरेशकी कन्या हो और काशीमें उत्तम भोगोंका उपभोग करके अंतमें परम मोक्षको प्राप्त हो।

इस प्रकार पार्वतीजीके कहे हुए सब वचनको सिद्ध करके सर्वव्यापी भगवान् विश्वनाथने अपने मंदिरमें प्रवेश किया।

श्रीभगवद् गीता—द्वितीय अध्याय

(हिन्दी पद्यानुवाद)

श्री मोहन वैरागी

[गतांक से आगे]

(२५)

लेता जो जन जन्म जगत्‌में,
होता निश्चय उसका अन्त।
जन्म मरण ये कालचक्र हैं,
गति उनकी अनवरत अनन्त॥

(२६)

जीवनके उपरान्त सदा हम,
हो जाते हैं आकृतिहीन।
तथा जन्मके पहले भी सब,
रहते हैं आकारविहीन॥

(२७)

रहती बस जीवन तक सबकी,
एक दूसरेसे पहचान।
आते यहाँ अजान सदा हम,
जाकर फिर होते अनजान॥

(२८)

कोई इसे विचित्र मानता,
कोई कहता इसे अनूप।
पर न समझ पाता कोई भी
आत्माका अज शाश्वत रूप॥

(२९)

अतः पार्थ फिर कोई कैसे
कर सकता आत्माका घात।
आत्मा अजर अमर अविनाशी
काया है नश्वर जड़जात॥

(३०)

पालन करो अभय होकर तुम
अपना क्षात्रधर्म हे वीर।
करो नाश दुर्जन दुष्टोंका
है अधर्मसे धरा अधीर॥

(३१)

अनायास-ही अहो धनञ्जय
दुर्लभ सुखद स्वर्गका द्वार।
पाता जो क्षत्रिय रण द्वारा
है उसका सौभाग्य अपार॥

(३२)

और विरत होकर यदि रणसे
किया नहीं तुमने संग्राम।
होगा नष्ट धर्म-यश दोनों
पाओगे अशान्ति अविराम॥

(क्रमशः)

* * * *

श्रीराधाचरितकी झलक

[ले०–श्री रामाधीन पाण्डेय]

भारतवर्षकी भूमि सदासे आदर्शोंकी भूमि रही है। इसीके अंकमें बड़े-बड़े आचार्य, सन्त, तपस्वी एवं महापुरुषोंका आविर्भाव हुआ। इसके ही रजमें लोट पोटकर उनका जो चरित हुआ वह सिर्फ हमारे लिये ही नहीं, अपितु सारे संसारका पथप्रदर्शक बना। इन विमल चरित्रोंकी छाया छू जानेपर भी वह आभा, वह दीप्ति चमक उठती है जिसके लिये देवोंको भी तरस आता है और होती है उन्हें हार्दिक अभिलाषा कि हम भी इसी पुण्यभूमिमें जन्म ग्रहण करें, इसीके पावन रजमें फूलें, फलें और बढ़ें :—

गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्ति ये भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात् ॥

यहीं तक नहीं, उस अलौकिक लीलाधाम परम-पुरुषको भी जब कौतुक करनेकी इच्छा होती है तब इसी पुनीत धराधामपर अवतीर्ण हो विविध लीलाओं द्वारा अपने भक्तोंको सनाथ करते हैं। पापराशिका समूल नाशकर भाराक्रान्त भूभागकी कण-कण भूमिको स्वपादरजःपूत बना डालते हैं। यही आदि पुरुष नारायण कभी राम, कभी कृष्ण, कभी वामन प्रभृतिके विशुद्ध कलेवरमें हमारी आँखोंके सामने आकर अपनी आदिशक्तिके सहयोगसे अभूतपूर्व लीला विलास वश अखिल विश्वके रंगमंचपर तरह-तरहके कार्य करते कराते दृष्टिगोचर होते हैं। हम इनके इस वास्तविक रहस्यको समझ नहीं पाते और कभी देव, कभी महापुरुष आदि कह विश्राम ले लेते हैं। सहृदयजन इसे ही तो अवतार कहा करते हैं।

यों तो हमारे लिये परम प्रभुके सभी अवतार आदर्श हैं ही, पर विशेषतया दो ही अधिक अनु-करणीय बनते हैं—एक जब वह हमारे समक्ष मर्यादा-पुरुषोत्तमका और दूसरा लीलापुरुषोत्तमका बाना धारण कर लेता है, तब हमारी आस्था शायद किसी हद तक पहुँच पाती है। यह क्यों? चूँकि ये चरित्र मानवी सृष्टिके लिये उपयोगी एवं आदर्श हो जाते हैं। ये तभी आदर्श होते हैं जब पुरुष प्रकृतिस्थ एवं प्रकृति पुरुषस्थ रहा करती है। तात्पर्य यह कि भगवान् रामका चरित्र महारानी सीताके बिना तथा भगवान् कृष्णका चरित्र राधिका देवीके बिना पूरा नहीं, अधूरा है। अतः यह निर्विवाद है कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रोंमें पूर्णता लानेका जितना श्रेय महारानी सीताका है, उतनाही लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रोंको पूर्ण करनेमें भगवती राधिकाका। अथवा यों कहिये कि भगवान् राम और महारानी सीता तथा भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती श्रीराधिका एकही शरीरके दो भिन्न मूर्त्तरूप ही तो हैं।

खेद है कि आजके शिक्षित एवं सभ्य कहलाने-वाले हममेंसे कुछ विकासवादी लोग भागवती महिमाके वास्तविक रहस्यके तह तक पहुंचनेका प्रयास न कर इन आदर्श चरितोंके सम्बन्धमें तरह-तरहकी अटकलबाजियाँ लगाया करते हैं। खासकर भगवान् श्रीकृष्ण तथा भगवती राधिकाके सम्बन्धमें तो ऐसे ऐसे कुतर्क उपस्थित करते हैं जिनपर वाणीका मौनावलम्बन करा देना ही उपयुक्त जँचता है।

विशेषतया सिनेमाजगत्‌में भ्रमण करनेवाले सज्जनोंके मस्तिष्कमें तो इन धार्मिक तथ्योंके सम्बन्धमें भी वही चलचित्र पटवाली कथावस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण बन जाती है। चाहे वह हमारी सभ्यतासे सीमित हो या न हो। हाय रे समाज! जो कभी वेद, पुराण, धर्मशास्त्र आदि के सिवा किसी अन्यको कुछ समझता ही नहीं था, वही आज अपना वैभव, साहित्य, सभ्यता और संस्कृतिको तिलाञ्जलि दे, उच्छृंखल सभ्यताकी एक नंगी देनको ही आप्त प्रमाण मान बैठता है। भगवती राधिकाके सम्बन्धमें कुछोंका कथन यह होता है कि इनका विवाह सम्बन्ध किसी अन्यसे हुआ था और ये भगवान् श्रीकृष्णपर अनन्य प्रेम करती थीं जो एक पतिव्रता नारीके लक्ष्यसे बाहरकी बात है। यदि बात वस्तुतः ऐसी हो तौभी श्रीराधादेवीके चरित्रमें कुछ दोष नहीं आता। इससे उनके चरित्रमें और चारुता ही तो आती है; क्योंकि जबतक पारिवारिक आसक्ति तथा सगासे सगा स्नेहसे विराग नहीं होजाता तबतक आत्मारामसें रमणकी बात ही कहाँसे आसकती है। अनन्यत्वके बिना वह सदा अप्राप्य है। इस सम्बन्धमें गीताका उपदेश है कि:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

किन्तु वस्तुतः श्रीराधिका क्या थीं। उनका आविर्भाव कहाँ, कब और कैसे हुआ तथा उनके चरित्रोंमें कौन-कौन-सी विशेषताएँ भरी पड़ी हैं, इसको जान लेना आवश्यक है। पौराणिक तथ्योंपर हड़ताल तो कभी भी डाला जा सकता है जब समयकी सारी अनुकूलता सुलभ तथा हमारे सामने सर्वदा प्रस्तुत है।

एक समय देवर्षि नारदने श्रीनारायणसे श्रीराधिकाजीके दिव्य-चरित्रोंको जाननेके लिये उत्कट इच्छा प्रकट की थी। उस समय श्रीनारायणने कहा—देवर्षे सुनो—मैं तुम्हारे सामने वह उपाख्यान रख रहा हूँ जिसे कैलास पर्वतपर भगवान् शंकरने अपनी परम प्रेयसी पार्वतीको सुनाया था।

शृणु दुर्गे प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम्।
चरितं राधिकायाश्च दुर्लभं सुपुण्यदम्॥
पुरा वृन्दावने रम्ये गोलोके रासमण्डले;
रत्नसिंहासने रम्ये तस्थौ तत्र जगत्पतिः,
स्वेच्छामयश्च भगवान् बभूव रमणोत्सुकः॥
एतस्मिन्नन्तरे दुर्गे द्विधारूपो बभूव सः,
दक्षिणांगश्च श्रीकृष्णो वामांग सा च राधिका॥

गोलोकमें जगत्पति रत्न-सिंहासन पर बैठे थे। अकस्मात् रमणोत्सुक हो चले और रमणी बनानेकी प्रबल इच्छा हुई। जिसकी इच्छासे ब्रह्माण्डका ब्रह्माण्ड बन जाय, राई पर्वत और पर्वत राई बन जाय; उसे फिर विलम्ब किस बातकी; तुरत ही एक शरीर दो विभक्त रूपोंमें परिणत हो गया। इतना ही नहीं—

बभूव गोपीसंघश्च राधाया लोमकूपतः
श्रीकृष्णलोमकूपैश्च बभुवुः सर्वबल्लवाः।
राधा वामांशभागेन महालक्ष्मीर्बभूव सा,
चतुर्भुजस्य सा पत्नी देवी वैकुण्ठवासिनी॥

विविध क्रीड़ाकलाचतुरकी इच्छा और बढ़ी और उसकी पूर्तिके लिये सारे समाजका सृजन पलभरमें ही सम्पन्न हो गया। एक तो गोलोक, उसमें भी वृन्दावन, फिर भी सारा रास-रंगका समाज। अब तो नित्यप्रति सभी अंशों एवं कलांशोंके साथ अनेकशः रास होने लगे। इस

प्रकार एक लाख मन्वन्तरकी अवधि बीत चली। इसी बीच एक दिन समस्त गोप और गोपियोंके बीच मानिनी राधिका किसी विशेष कारणवश रासेश्वरका परिहास करने लगीं। अकस्मात् पंकज-लोचनके अनन्य सखा भक्त श्री सुदामाजी वहाँ पहुंचे। अपने भगवान्‌का परिहास उन्हें नहीं रुचा। अतः उनके मुँहसे निकल पड़ा कि:—

कथं वदसि मातस्त्वं कटुवाक्यं मदीश्वरं,
विचारणां विना देवि करोषि भर्त्सनं वृथा ॥
मानुष्या इव कोपस्ते तस्मात्त्वं मानुषीभव,
भविष्यसि न सन्देहो मया शप्ता त्वमम्बिके ॥

हे मातः! तुम व्यर्थ ही भगवान्‌को क्यों फटकार रही हो। हो तो तुम जगदम्बा, लेकिन आज तुम्हारा कोप एक सहज मनुष्यका-सा क्यों हुआ जा रहा है। अभीसे तुम अपनेको सँभालो अन्यथा शाप दे दूँगा, जिससे तुमको मृत्युलोकमें जाना पड़ेगा। पर श्रीराधा कबकी माननेवाली थीं। भगवदिच्छा भी तो यही थी, अन्ततोगत्वा सुदामाजी उबल पड़े और

शशाप तां सुदामा च त्वमितो गच्छ भारतम्,
भव गोपी गोपकन्या गोपीभिः स्वामिरेव च,
तत्र ते कृष्ण विच्छेदो भविष्यति शतं समाः ॥
छायया कलया चापि परप्रस्ता कलंकिनी,
मूढा रायाणपत्नीं त्वां वक्ष्यन्ति जगतीतले ॥
रायाणः श्रीहरेरंशो वैश्यो वृन्दावने वने,
भविष्यति महायोगी राधा शापेन गर्भजः ॥

बस! महाशाप दे ही तो दिया—भारतके गोकुलमें जा वृषभानुके यहाँ गोपकन्याका रूप धारण करो। वहाँ सौ बरसों तक तुम्हें श्रीकृष्णका विरह-दुःख भोगना पड़े। भगवान् श्रीकृष्णका ही एक अंश रायाणके रूपमें वहाँ जायगा जिससे तुम्हारी छायाके साथ सम्बन्ध होगा और इस रहस्यके मर्मको नहीं जाननेवाले मूर्खजन तुम्हें कलंकिनी बना रायाण पत्नी कहकर पुकारेंगे। दारुण शाप सुन श्रीराधा व्याकुल हो उठीं। भारत-भूतल पर जाना पड़ेगा इससे तो उतनी दुःखी न हुईं जितना भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे। नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी और अतिकातर एवं विह्वल हो प्राणेश्वरसे प्रार्थना करने लगीं कि:—

शृणु नाथ प्रवक्ष्यामि किंकरीवचनं प्रभो,
त्वया विना कथं नाथ यास्यामि धरणीतले ॥
कति कालान्तरं बन्धो! मेलनं च भविष्यति,
प्राणेश्वर ब्रूहि सत्यं ते भविष्यत्येव गोकुले ॥
निमेषं च युगशत भविता मे त्वया विना,
कं द्रक्ष्यामि क्व यास्यामि को वा मां पालयिष्यति ॥

प्राणवल्लभ! यह तुम्हीं तो बताओ कि मैं तुम्हारे बिना भूतल पर जा, कैसे रह सकूँगी। पलभरका भी तुम्हारा वियोग हमारे लिये सैकड़ों युगके समान किस प्रकार व्यतीत होगा। तुम्हारे सिवा वहाँ मैं किसे देखूँगी, किससे बोलूँगी, कहाँ रहूँगी, कहाँ जाऊँगी, सच बताओ। शाप तो मिथ्या हो नहीं सकता और साथ-साथ हमारा-तुम्हारा बिलगाव भी सम्भव नहीं है। मैं इसको नहीं समझ पा रही हूं, मनसे धीरज भागा जा रहा है। अपनी अनन्य सहचरीकी ऐसी बातें सुन श्यामसुन्दर मुस्करा उठे और बोले—

त्यजाश्रुमोक्षणं राधे भ्रान्तिञ्च निष्फलां सति,
विहाय शंकां निःशंके वृषभानुगृहं व्रज ॥
प्राणाधिके महादेवि स्थिरा भव भयं त्यज,
यथा त्वञ्च तथाहञ्च का चिन्ता ते मयि स्थिते ॥

अयोनिसम्भवास्त्वञ्च भविता गोकुले सति,
अयोनिसम्भवोऽहञ्च नावयोर्गर्भसंस्थितिः ॥

हृदयेश्वरि! चिन्ता छोड़ो और शीघ्र ही गोकुलमें वृषभानुके यहाँ जानेकी तैयारी करो। हम दोनोंकी गर्भ स्थिति तो हो ही नहीं सकती। तू वहाँ जा और वृषभानुकी पत्नी कलावतीके प्रसवकी प्रतीक्षा करो। गर्भको वायुसे रोककर मायाके बलसे प्रसवकालमें अपना रूप छोड़ शिशुरूप धारण कर लेना। किसी प्रकारकी शंका न करो, कलावती भी कोई सामान्य रमणी नहीं बल्कि,

बभुवुः कन्यकास्तिस्रः पितृणां मानसात् पुरा,
कलावती रत्नमाला मेनकाश्चातिदुर्लभाः ॥
रत्नमाला च जनक वरयामास कामुकी,
शैलाधिपं हरेरंश मेनका सा हिमालयम् ॥
दुहिता रत्नमालाया अयोनि सम्भवा सती,
श्रीराम पत्नी श्रीः साक्षात् सीता सत्यपरायणा ॥
कन्यका मेनकायाश्च पार्वती सा पुरा सती,
अयोनिसम्भवा सा च हरेर्माया सनातनी ॥
सा लभे तपसा देवीं शिवं नारायणात्मकम,
कलावती सुचन्द्रञ्च मनुवंशसमुद्भवम् ॥

कलावती, रत्नमाला और मेनका ये तीन मानस कन्यायें हैं। रत्नमालाका विवाह विदेहराज जनक, मेनकाका हिमाचलसे है और इनकी तनया श्रीसीता और श्रीपार्वती साक्षात् नारायण स्वरूप श्रीरामचन्द्रजी तथा भगवान् शंकरकी अर्द्धाङ्गिनी बनी हैं। कलावतीका विवाह सुचन्द्र से है। यही सुचन्द्र इस समय शापके कारण वृषभानुके रूपमें आया है। अत हे प्रिये! किसी प्रकारकी शंका न करो।

तस्या लभस्व जन्मत्वं शीघ्रं नन्दव्रजं व्रज,
त्वामहं बालरूपेण गृह्णामि कमलानने ॥
तत्र हेतोर्गमिष्यामि कृत्वा कंसभयच्छलम्,
यशोदा मन्दिरे मांञ्च सानन्दे नन्दनन्दनम् ॥
नित्यं द्रक्ष्यसि कल्याणि समाश्लेषणपूर्वकम्,
स्मृतिस्ते भविता काले वरेण मम राधिके ॥

मैं भी तुम्हारे ही कारण कंसादि दुष्टोंके बधके व्याजसे उसी गोकुलमें नन्द यशोदाके यहाँ आकर तुमसे बालरूपमें ही मिलूँगा और तब तुम्हारी स्मृति जग उठेगी। जानती हो, यह सब हमारी मायाके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। हमें वहाँ चलकर तुम्हारे सहयोगसे अनेक कार्य करने हैं। इस समय भूतल पापोंके भारसे दबा जा रहा है। अत्याचार, अनाचार और व्यभिचार पराकाष्ठा पर पहुँच रहा है। अनयसे सारा मृत्युलोक त्रस्त है। पापकी दैनन्दिनी विजय और धर्मकी पराजय हो रही है और सुभगे! हमारी विरद तो तुम्हें मालूम ही है कि:-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

वही समय आ पहुंचा है। अब हम विलम्ब नहीं कर सकते। हमारे भक्त चीख रहे हैं, उनकी दुर्दशा हो रही है। जब हमारे भक्त ही नहीं रहेंगे तो फिर हमारा अस्तित्व ही क्या रहेगा। और भी देवपिता और देवमाता कश्यप-अदिति का बन्धन-मोक्ष करना भी आवश्यक है। ये बसुदेव देवकीके रूपमें मथुरापुरी स्थित कंसके कारागारमें शृङ्खलाओंसे निगड़ित हैं। अतः इन्हीं के यहाँ आविर्भूत हो पुनः गोकुलमें पदार्पण करूँगा। साथ-साथ इन्हें ही यह वर प्राप्त है कि मैं प्रतिकल्पमें इन्हीं के यहाँ आविर्भूत होऊँ रही बात हमारे-तुम्हारे वियोग की, उस सम्बन्धमें कहाँ तक कहूँ, किसी प्रकारकी दूसरी

भावना न लाना। हममें तुममें तो भेद हो ही नहीं सकता। दूधसे धवलता, भूमिसे गन्ध, अग्निसे दाहकत्व और जलसे शैत्य कदापि पृथक् नहीं हो सकता। कुलाल मिट्टी के बिना घट तथा स्वर्णकार सोने के बिना भूषण बनानेमें असमर्थ है; उसी प्रकार तुम्हारे बिना सृष्टिका सृजन आदि सर्वथा असम्भव है। हाँ, मुझे मुचुकुन्द, यवन तथा कंस प्रभृति सैकड़ों आततायियों का दमन, द्वारिकापुरीका निर्माण, राजसूय आदि यज्ञों का अनुष्ठान आदिसे पीड़ित प्रजाकी रक्षा करना परमावश्यक है। इसको सम्पादन किये बिना मेरा कार्य अधूरा ही रहेगा और ये बिना वियुक्तावस्थाके हो नहीं सकते। अतः प्रिये धैर्य रखो—

दिवानिशमविच्छेदो मया सार्द्धमतः परम्,
भविष्यति त्वया सार्द्धं पुनरागमनं व्रजम्॥
कान्ते विच्छेद समये वर्षाणां शतके सति,
नित्यं संमीलनं स्वप्ने भविष्यति त्वया सह॥

मैं भूभार को उतार, मालाकार, तन्तुवाय कुब्जिका आदिको मोक्ष प्रदान कर फिर मैं तुमसे इसी पुण्य वनमें मिलूँगा। नन्द यशोदा तथा गोपादिकोंका शोक मार्जनकर समस्त गोप-गोपिकाओंके साथ इसी गोलोकमें तुम्हारे साथ आऊँगा। वियुक्तावस्थाके समय नित्य ही स्वप्नमें हम दोनोंका सम्मेलन होगा। किसी प्रकारका सन्देह न करो। यह सब हमारी ही योगमायाकी विभूति है। बिरलेही इस रहस्य तक पहुंच पाते हैं, जब कि हमारी अटूट कृपा उनपर होती है। अब भगवती राधिकाके सारे सन्देह मिट गये। पतिके कर्तव्यको पूरा करना ही आदर्श पत्नीका कर्त्तव्य है दूसरा नहीं। अस्तु, श्रीचरणोंमें मस्तक नवा आदेश शिरोधार्य्यकर—

राधा जगाम वाराहे गोकुलं भारते सति,
वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह॥
अयोनि सम्भवा देवी वायुगर्भा कलावती,
सुषाव मायया वायुं सा तत्राविर्बभूव ह॥

श्री राधा भारतमें गोकुलकी ओर चल पड़ीं। यहाँ वृषभानुकी पत्नी कलावतीके प्रसवका समय नजदीक आ पहुँचा। ठीक समय पर प्रसव हुआ और वायुमय गर्भ होनेके कारण श्रीराधा वहीं प्रकट हो गईं। धन्य है मायाका विस्तार, सारे गोकुलमें यह सम्वाद बिजली-सा फैल गया कि महाभाग वृषभानुके यहाँ कन्यारत्नका प्रादुर्भाव हुआ है। कन्याके आतेही सम्पूर्ण नगरकी श्री चमक उठी, प्रकृति बदल गयी, प्रतिगृह, बीथी, वन, उपवनमें एक नयी उमंग, नया उत्साह, नित्य नवरस और नूतन रंग अपना-अपना साज सजाने लगा। वृषभानु और कलावतीने अपने भाग्य सराहे, गोकुलवालोंने अपने-अपने जन्म सराहे नगरके इस छोरसे उस छोर तक महानन्दकी सरिता प्रवाहित हो चली। क्यों न हो, श्री जगदम्बा ही जहाँ अवतार धारण करें वहाँ की श्रीशोभाके बारेमें फिर कहना ही क्या?

राधा चली गयी। अब मुझे भी वहाँ चलना चाहिये। क्रूर कंस द्वारा प्रपीड़ित वसुदेव-देवकी मथुराके कारागारमें बन्द हैं। चलें, वहाँ जाकर सन्तप्त दम्पतिको आश्वासन दूं। सातके बाद आठवें का समय आ पहुँचा है। इस प्रकार निश्चयकर भगवान् चल पड़े। इधर देवकीके प्रसवका समय आ पहुंचा। कारागारमें ही प्रसव हुआ और भगवान् श्रीकृष्ण वहीं प्रकट हो गये। दम्पति अद्भुत बालक का रूप निहार विस्मित हो गये और क्षणभरमें ही देखा बालक वही शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज

नारायणके रूपमें सामने खड़ा है। शृंखलाएँ पहले ही से टूट गई हैं। दम्पतिको होश हुआ। अपने पूर्व वृत्तान्त स्मरण होने लगे। वासुदेव बोले--अपने कथनानुसार मैं तुम्हारे यहाँ आ गया हूँ। अब विलम्ब न करो। मुझे ले शीघ्रतासे यमुनापार गोकुलमें नन्द यशोदाके यहाँ रख आओ। वहाँ योगमाया शिशुरूपमें वर्तमान है उसे उठा लाओ। सबेरा हुआ चाहता है। अभी तुम्हें कुछ दिनों तक बन्धनमें रहना है फिर मुक्त करूँगा। अवसाद छोड़ दो। पुनः वह भगवान् तुरत ही शिशुरूपमें बदल गये और अपनी माया हटा ली। वसुदेव-देवकीने परामर्श किया। बालकको ले निर्विघ्न यमुना-पार गोकुलमें नन्द यशोदाके घर गये। वहाँ योगमाया सो रही थी। बालकको रख दिया और उसे उठा चले आये। फिर वही बात। स्वयं सपत्नीक बेड़ियोंमें बन्द। सहसा बच्चेके रोनेकी आवाज सुनाई दी। पहरेदार जगे। अपने महाराजको सूचित किया। दुष्ट कंस दौड़ता-हाँफता कारागारके भीतर आया और किया वही जो उसका कर्त्तव्य था।

इधर यशोदाने जाना हमें पुत्र-रत्न मिला। नन्दके पास धाई दौड़ी। नन्द आये। जात संस्कारादि सविधि सम्पन्न हुआ। भोर होते ही गोकुलके घर-घरमें वृत्त पहुँच गया। पुरवासी झुण्डके-झुण्ड बालकको देखने आये, पुरुष-नारी, बालक-बालिका, युवा-वृद्ध सबोंने देखा। ओह! अपूर्व लावण्य, मनमोहक आकृति, धन्य हैं नन्द-यशोदाके भाग्य, जिसकी कोखने ऐसा पुत्ररत्न उत्पन्न किया। कोई कहता, अरे भाई! कुछ समझमें नहीं आता, उधर वृषभानुकी कन्या, उधर नन्दका पुत्र, दोनोंकी अलौकिकता देखते ही बनती है। कोई कहता ये युगल-जोरी तो नहीं है, जो पुण्यक्षीण होनेसे इस गोकुलके अजिरमें आ गये हैं। स्त्रियाँ आपसमें कहतीं—बहन कलावती और यशोदाके भाग्य धन्य हैं, जिनके यहाँ ऐसा पुत्र और ऐसी कन्या आ गई है। मालूम पड़ता है एक सोना है तो दूसरी सुगन्ध, एक चन्द्र है तो दूसरी चन्द्रिका। ऐसा लगता है मानो विधाताने अपना सृष्टिक्रम ही बदल दिया है। देखो न, इन दो अपूर्व शिशुओंके आगमनके बादसे सारा गोकुल कैसा सुप्रसन्न दिखाई पड़ता है। अवश्य ये कोई दिव्य दम्पति हैं इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार तरह-तरहकी बातें सुन नन्द-यशोदा फूले न समाते। धीरे-धीरे कुछ दिन बीते। बालकका नाम रखा गया कन्हैया। पुत्रवत्सला यशोदा कन्हैयाको पलभर भी अलग नहीं रखना चाहतीं। महाभाग नन्द तो हृदयसे बाहर करते ही नहीं।

एक दिन व्रजेश्वर बालक श्यामको लेकर व्रजके वृन्दावनमें गये। वहाँ वन, उपवन, तालाब आदिसे बालकका मन बहला एक कुञ्जके निकटवर्ती वटकी छायामें बैठ विश्राम करने लगे। सहसा देखते हैं कि प्रकृति आलोडित हो रही है। देखते ही देखते नभमण्डल धूम मेघावृत हो चला। अन्तरिक्ष नीरव एवं दिशाएँ स्तब्ध हो गयीं। अनुभव हुआ कि दारुण झंझावात, मेघोंका गम्भीर गर्जन एवं बिजलियोंकी कड़कड़ाहटसे अचल थरथरा उठेंगे और धरणीका भी कलेजा धँस उठेगा। क्रमशः अतिवृष्टि प्रारम्भ हो गयी और लगे सब वृक्ष झूमने। अब तो व्रजेश्वर अपनेको सँभाल न सके, पैरों तलेसे धरती खिसकी-हुई सी मालूम पड़ने लगी। सुतस्नेहसे कातर व्रजाधिप लगे देवी-देवताओंको मनाने। हमारा कृष्ण कैसे बचे, इस अमङ्गलकारी

हृदयसे; भगवन्! रक्षा करो। प्यारे नीलमणीको छातीसे छिपाये बूँदोंके प्रहार एवं वायुके झँकोरोंसे विक्षिप्त हो उठे। निहारा, बालकृष्णके मुख-चन्द्रको। अघटितघटनापटीयसी बुद्धि चकरा उठी। सहसा श्यामसुन्दर मुस्कुरा उठे। उसी कौतुकी नटवरकी यह माया ही तो थी। अब ब्रजेश्वरकी स्मृति जगी। महर्षि गर्गाचार्यने कहा था – नन्द यह बालक सामान्य बालक नहीं, पर वही है जिससे तुम्हें पूर्व जन्ममें वर प्राप्त है। समय आनेपर वृन्दा-बनमें तुम्हें महाप्रभुका दर्शन होगा। बस, तन्मय हो गये और लगे स्वरूपका ध्यान करने। आँखें खुलती हैं तो सामने देखते हैं कि श्रीराधा खड़ी है। लगे तर्क-वितर्क करने-आखिर यह इस सूनसान स्थानमें ऐसे बीहड़ समयमें आयी ही कैसे? समझा; निश्चय ही यह हमारा पुत्र नहीं बल्कि चराचर स्वामी है और यह राधा उसीकी वामाङ्गभूता सह-चरी है। महर्षि गर्गकी सभी बातें सच्ची निकलीं। अनुकूल समय जान मौनावलम्बन छोड़ बोल उठे:--

जानामि त्वां गर्गमुखात् पद्माधिक प्रियां हरेः,
जानामीमं महाविष्णुं परं निर्गुणमच्युतम् ॥
तथापि मोहितोऽहञ्च मानवो विष्णुमायया,
गृहाण प्राणनाथञ्च गच्छ भद्रे यथासुखम् ॥
पश्चाद्दास्यसि मत्पुत्रं कृत्वा पूर्णमनोरथं,
इत्युक्त्वा स ददौ तस्यै रुदन्तं बालकं भिया;
जग्राह बालकं राधा जहास मधुरं मुखात् ॥

राधे! मैं अब तुम्हें और तुम्हारे श्यामको समझ गया। मैं मनुष्य भला मायाके इस रहस्यको क्या समझूँ; लो अपने प्राणनाथको और अपना मनोरथ पूराकर फिर मुझे पहुँचा देना। अब हटा लो अपनी माया। श्री राधिकाने बालकको ले लिया छातीसे लगाया और हँस पड़ीं। कहा भीः—

उवाच नन्दं सा यत्नान्त प्रकाश्यं रहस्यकम्,
अहं दृष्टा त्वयानेन कति जन्म फलोदयात् ॥
प्राज्ञस्त्वं गर्गवचनात् सर्वं जानासि कारणम्,
अकथ्यमावयोर्गोप्यं चरितं गोकुले व्रज ॥
वरं वृणु व्रजेशत्वं यत्ते मनसि वर्तते,
युग्योश्चरणे भक्तिं देहिनान्यत्र मे स्पृहा ॥

हे ब्रजेश, तुम विद्वान् हो, गर्गसे सारी बात सुन चुके हो, अतः अब घर जाओ। लेकिन स्मरण रहे हम लोगोंके इस रहस्यको गुप्त रखोगे। अब जो कुछ इच्छित हो वर माँग लो। अनुकूल अवसर जान ब्रजेशने कहा—हमें तो तुम दोनोंके चरणोंमें अविच्छिन्न भक्ति चाहिये और कुछ नहीं। बस मनचाहा वर मिला, अति प्रसन्न हो घरकी ओर लौट पड़े। योगमायाका विस्तृत विस्तार सीमित हो गया। प्राणवल्लभको छातीसे चिपकाये श्रीमती राधिका कान्तारके अन्तर प्रदेशकी ओर चल पड़ीं और एकान्तमें आकर लगीं उस अनोखी छविको निहारने, निरखने और परखने। इतना ही नहीं—

कृत्वा वक्षसि तं कामात् श्लेषं चुचुम्बहं,
पुलकांगिन सर्वांगी सस्मार रासमण्डलम् ॥

श्यामसुन्दरको गलेसे लगाया, बार-बार चूमा। सारा शरीर पुलकायमान् हो उठा और गोलोकका रास स्मरण हो चला। रासमण्डलके संस्मरण होते ही देखा कि इस सुनसान प्रदेशमें एक परम मनो-हर अतिरमणीय वितान सज गया। तोरण, पताका तथा नाना देशोद्भव पुष्पोंसे सारा प्रान्त सुशोभित हो जगमगा उठा। यत्र-तत्र रत्नपूर्ण कलशें सैकड़ोंकी संख्यामें कुबेरके भवनको भी लजाने लगीं।

केशर, कस्तूरी, अगुरु, चोवा, चन्दन, कुंकम, सिन्दूर आदि सुगन्धित द्रव्योंसे सम्पूर्ण कानन सुरभित हो उठा। मण्डपकी विचित्र रचनासे श्रीराधिकाजीका अन्तस्तल आकर्षित हो उठा और वे उसके भीतर प्रवेश कर गयीं। अन्तः प्रदेशमें जा देखती क्या हैं कि:—

ददर्श रत्नकुम्भस्थं शीतं स्वच्छं सुधोपमम्,
पुरुषं कमनीयञ्च किशोरं श्यामसुन्दरम्॥
कोटिकन्दर्पलीलाभं चन्दनेन विभूषितम्,
शयानं पुष्पशय्यायां सस्मितं सुमनोहरम्,
पीतवस्त्रपरिधानं प्रसन्नवदनेक्षणम्॥
क्रोडं बालकशून्यञ्च दृष्ट्वा तं नवयौवनम्,
सर्वस्मृति स्वरूपा सा विस्मयं परमं ययौ॥

श्यामसुन्दर पीताम्बर धारण किये भव्य शय्या पर आसीन हैं। उनकी शोभा विचित्र है। नयी जवानी, श्यामलता सलोना रूप, कमलनयन, करोड़ों मनोजको भी लजा देनेवाली सुन्दरता, ईक्षणमें मादकता हमें अपनी ओर बरबस खींच रही है। हमारा अंक बालक-शून्य है। कैसी विचित्रता है उस आनन्दघनकी। उस लीला वपुधारीकी यह अप्रतिम और अतर्क्य लीला देख विस्मय विमुग्ध हो श्रीराधा अपनी लीला भूल गयी और लगी उस रूपसुधारसका आस्वादन करने। माधवी रूप सुधा-माधुरीने राधाको विक्षिप्त बना डाला। नवसंगमकी लालसा उद्दीप्त हो उठी। सारा शरीर आनन्दातिरेकसे रोमांचित हो उठा। फिर क्या था, पुष्पधनुने श्रीराधिकाजीके ऊपर बाण-प्रहार करना प्रारम्भ कर ही तो दिया। फलतः श्याम-मुख-चन्द्र-चकोरी श्रीराधा नारी सहज विभूति लज्जा एवं संकोचवश खड़ी-खड़ी रसिकराजकी स्नेह-सरितामें लगी डूबने और उतराने। उनकी यह स्थिति देख राधिकाराधन बोल उठेः—

तामुवाच हरिस्तत्र स्मेराननसरोरुहाम्,
नवसंगमयोग्याञ्च पश्यन्तीं वक्रचक्षुषा॥
राधे स्मरसि गोलोके वृत्तान्तं स्मरणं यदि,
अद्यपूर्णं करिष्यामि स्वीकृतं यत् पुरा प्रिये॥

प्रिये! गोलोकका वृत्तान्त तुम्हें स्मरण है। आज मैंने जो बात स्वीकार की थी उसे पूरा करूँगा। तुम्हारे बिना मैं सृष्टि नहीं कर सकता; क्योंकि तू ही सृष्टिका आधार हो और मैं बीजरूप, फिर भी अच्युत हूँ। भगवती राधिका प्राणेश्वरकी पीयूषवर्षिणी वाणी सुन सचेत हो बोलीं:—

स्मरामि सर्वं जानामि विस्मरामि कथं प्रभो,
यत्त्वं वदसि सर्वाहं त्वत्पादाब्जप्रसादतः॥
भक्तस्यैकस्य शापेन गोपिकाहं महीतले,
शत वर्षञ्च विच्छेदो भविता मे त्वया सह॥

नाथ! तुम्हारे चरणकमलकी कृपासे हमें सब कुछ स्मरण है। एक भक्तके शापसे हमें गोपी बनना पड़ा है, साथ-साथ सौ वर्षों तकका आपका वियोग भी स्मरण है। लेकिन हे मायेश! तुम धन्य हो। तुम्हारी मायाके प्रभावसे हमारे जैसे कितने भक्त जन्म-जन्मान्तर तक भ्रममें पड़े रहते हैं। भावनाके अनुकूल ही तुम्हारी कृपा होती है, फिर भी योग्य अथवा अयोग्य दम्पति पर तो कृपा समान ही रहनी चाहिये। तुम सोये हो और मैं खड़ी हूँ। अब तो क्षणभरका भी बिलगाव हमारे अन्तस्थलको व्यथित बना रहा है। अब अधिक देर न करो। जीवन-धन! दो अपना चरण कमल, उसे सिरसे लगा वक्षः-स्थलमें धारणकर प्रतीक्षामें तप्त हृदयका तपन शान्त करूँ। श्रीराधिकाकी यह अहेतुकी निष्ठा देख

सच्चिदानन्दघनने कहा, प्रिये घबड़ाओ नहीं—

यदेवाचरणं यत्र देशे जन्मनि वा प्रिये,
न खण्डनीयं तत् तत्र मया पूर्वं निरूपितम् ॥
तिष्ठ भद्रे क्षणं भद्रं करिष्यामि तव प्रिये,
त्वन्मनोरथ पूर्णस्यकालः स्वयं समागतः ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा जगाम पुरतो हरेः,
माला कमण्डलुकर ईषत्स्मेर चतुर्मुखः ।

जिस देशमें आगमन हुआ हो, जहाँ जन्मलाभ किया हो, वहाँका जो सदाचार है उसे तोड़ना नहीं चाहिये; क्योंकि मैंने ही तो उसकी पहले ही से महत्ता दी है। क्षण भर ठहरो। तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होनेका समय स्वयं आ गया है। इसी बीच जगत्पिता चतुरानन हाथमें माला और कमण्डलु धारण किये भगवान्‌के सम्मुख उपस्थित हुये और दम्पतिकी भिन्न-भिन्न तरहकी स्तुति प्रार्थना की फिर श्रीरमिकेश्वरका मनोगत भाव जान—

तदा ब्रह्मा तयोर्मध्ये प्रज्वाल्य च हुताशनम्,
हरिं संस्मृत्य हवनं चकार विधिना विधिः ॥
ता च तं कारयामास सप्तधा च प्रदक्षिणम्,
पुनः प्रदक्षिण राधां कारयित्वा हुताशनम्,
प्रणम्य च पुनः कृष्णं वासयामास ता विधिः ॥
तस्या हस्तञ्च श्रीकृष्णं ग्राहयामास तद्विधिः
वेदोक्त सप्तमंत्राश्च पाठयामास माधवम् ॥
संस्थाप्य राधिकाहस्तं हरेर्वक्षसि वेदवित्,
श्रीकृष्ण हस्त राधाया पृष्ठदेशे प्रजापतिः,
स्थापयित्वा च मन्त्राश्च पाठयामास राधिकाम् ॥
पारिजात प्रसूनानां मालामाजानुलम्बितम्,
श्रीकृष्णस्य गले ब्रह्मा राधा द्वारा ददौ मुदा ॥
प्रणमय्य पुनः कृष्ण राधाञ्च कमलोद्भवः,
राधागले हरिद्वारा ददौ मालां मनोरमाम् ॥

जगद्धाताने दोनोंके बीच अग्निदेवका आवाहन कर उसमें विधिवत् हवन किया और दम्पतिसे सप्त प्रदक्षिणा करायी। श्रीराधिकाका हाथ भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें पकड़वा कर वेदोक्त सात मन्त्रोंको श्यामसुन्दरको पढ़ाया। फिर राधिकाका हाथ हरिके वक्षस्थल तथा हरिका हाथ राधाके पृष्ठदेश पर स्थापित करा प्रजापतिने वेद मन्त्रोंको श्रीराधिका द्वारा भी पढ़वाया। इसके बाद पारिजात पुष्पोंकी मालाओंको लेकर राधाने श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णने श्रीराधाके गलेमें पहना दी। पुनः पद्मयोनिने श्रीराधिकाजीको भगवान् श्रीकृष्णके वामभागमें बैठाकर सविधि हवन किया। अग्निकी पूर्णाहुति दी और दम्पतिको सम्पुटांजलि करा, वेदोक्त पाँच प्रतिज्ञा-मन्त्रोंको बारी-बारीसे उन्हें पढ़ाया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती राधिकाका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ।

एतस्मिन्नन्तरे देवाः सानन्द पुलकोद्गमाः।
दुन्दुभिं वादयामासुरानक मुरजादिकम् ॥
पारिजात प्रसूनाना पुष्पवृष्टिं चकार ह,
जगुर्गन्धर्व प्रवरा ननृतुश्चाप्सरसो गणाः ॥
तुष्टाव श्रीहरिं ब्रह्मा तमुवाच ह सस्मितः,
युवयोश्चरणाम्भोजे भक्तिं मे देहि दक्षिणाम् ॥

श्रीराधा और कृष्णका परिणयन हुआ जान सारा सुरलोक पुलकित हो उठा। देवोंने दुन्दुभियाँ बजाई, गन्धर्वलोक आनन्दके गीत गाये और अप्सरा-लोकने खूब ही नृत्य किया। जगत्पिताने अनुकूल अवसर जान श्रीहरिकी पूरी स्तुति की और कहा—नाथ! इस विवाहकी दक्षिणा हमें अवश्य दें और वह यह कि श्रीयुगल चरणकमलोंमें हमारी अविच्छिन्न भक्ति सदा बनी रहे। राधाके मनोरथ पूरे हुए।

फिर वही बालक श्रीकृष्ण और वही राधिका, वही वन। महाभाग नन्द घर आ, यशोदाको किसी प्रकार सन्तोष दिला नगरके बाहर उपवनमें टहल रहे थे कि राधा आ पहुँची। बालकृष्णको नन्दके हाथोंमें सौंप दिया और स्वयं अपने घर चली गयीं।

इधर वृषभानुने देखा कोटिपूर्णशशिप्रभा तप्त-कांचनवर्णा राधिका तरुणी हुई जा रही है। अतः एक योग्य वरके साथ इसका विवाह संस्कार सम्पन्न करा देना चाहिये। अस्तु, अनुकूल वरकी खोज हुई और वह गोकुल में ही मिला।

> अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वा तां नवयौवनाम्,
> सार्द्धं रायाणवैश्येन तत्सम्बन्धं चकार ह ॥

वरका नाम था रायाण, उत्तम कुल, अच्छी स्थिति। बस उसीके साथ कन्याका विवाह सम्बन्ध निश्चित कर दिया। फिर स्वकुलाचारके अनुसार वैवाहिक लग्न आदि निश्चित किये गये। विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। इसी बीच एक दिन श्री-राधाने अपनी मातासे कुछ इंगित किया, लेकिन उसे वह समझ न सकीं। समझ पाती ही कैसे? यह तो गोलोकका शाप ही था, वहाँ श्रीकृष्ण भगवान्के ऊपर मानके कारण मनमें जो विकार हो गया था उसका फल भोगना था। फल था कलंकिनी बनना और इसलिये उस जगदाधारने पहले ही से ऐसा रूपक रचा रखा था तथा भगवती राधाको यह आदेश दे दिया था कि उस समय अपनी छाया छोड़ अन्तर्हित हो जाना, जिसमें साधारणजन इस रहस्यको न जान सकें और अपनी मूढ़तावश तुम्हें पत्नीही कहकर सम्बोधित करें वैवाहिक लग्न जब उपस्थित हुआ, सारा समाज जुट गया, पुरोहित आये, नेगी आये, नेग ले गये, जब सिन्दूरदानकी तैयारी होने लगी तब—

> छायां संस्थाप्य तद्देहे सान्तर्द्धानं चकार ह,
> बभूव तस्यवैश्यस्य विवाहश्छायया सह ॥

मायाधीश्वरी राधिका उस देहमें छाया रख वहीं अन्तर्हित होगईं और उस वैश्यका विवाह छायाके साथ ही हुआ। हालाँ कि यह वैश्य कोई अन्य नहीं बल्कि:—

> गोलोके गोपकृष्णांशः रायाणः जात गोकुले,
> श्रीकृष्णपत्नी सा राधा, तदर्द्धांग समुद्भवा ॥

भगवान् श्रीकृष्णका ही अंश था जिसे साक्षात् हरिने गोकुलमें इसी कार्यके लिये भेजा था। क्योंकि श्रीराधा साक्षात् हरिके अर्द्धांगसे उद्भूता होनेके कारण किसी दूसरेकी पत्नी हो नहीं सकती थीं। वस्तुतः बात तो यह थी कि भगवान् अपने भक्तोंका सृजन, पालन और रक्षा स्वयं करते हैं तथा उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आने देता। यदि आता है तो चाहे जिस तरह हो, दुलारसे या प्यार से, दुत्कारसे या फटकारसे डाँटसे या दण्डसे उसे निर्विकार बनाता ही है, भले ही उसे उस भक्तके लिये कठिनसे भी कठिन अकर्त्तव्य, निन्दित, घृणित कार्य्य भी करने क्यों न पड़ें। अस्तु, शापके कारण श्रीराधिका गोकुलमें रायाणको छाया, पत्नी भी बनीं; लेकिन राधाका रूप-दर्शन हुआ भगवान् श्रीकृष्णके साथ ही।

> स्वप्ने राधापदाम्भोजं नहि पश्यन्ति बल्लवाः,
> स्वयं राधा हरेः क्रीडे छाया रायाण मन्दिरे ॥

यही तो है भगवती राधिकाके चरित्रोंकी एक छोटी-सी झलक। कहाँ इस देवीके जीवनमें वह कुत्सित वासनामय भावावेश है, जो हमें आज पग-पग पर पदच्युत बना देता है? यह अतृप्त वासना

जो आज विकासवादकी अखिल पूँजी समझी जाती है, जिसके द्वारा प्रभावित हो हम मानव पशु ही नहीं, बल्कि दानव बनकर तरह-तरहके घृणित कार्य करते भी नहीं अघाते। वह भले ही हमारी नित्य संगिनी बनी रहे, चाहे समाज नरका हो अथवा नारीका, पर इसका सामर्थ्य और साहस ही क्या, जो उन पवित्रात्माओंकी छाया भी छू सके। बात तो वस्तुतः यह है कि हम आज नैतिकतासे इतने नीचे गिर गये हैं और अहर्निश गिरे जा रहे है कि हमारा ज्ञान, विज्ञान और मस्तिष्क सर्वथा विवेक-हीन, निःसार और सदोष बन गया है; फलतः हम पर-दोष एवं पर-छिद्रान्वेषणमें ही जीवन बिता डालना अपना परम लक्ष्य समझने लग जाते है। इतना ही नहीं, हम उन महापुरुषों और देवियोंके चरित्र, जो हमें संसारमें आज भी गौरवान्वित कर रहे हैं; उनमें भी कहीं कुछ कमजोरी है या नहीं, इसीको ढूँढ निकालनेमें ही अपने मस्तिष्क, अपनी विद्वता एवं सज्जनताका एकमात्र श्रेय समझते हैं। उनमें कौन-सी विशेषतायें है, कहाँ कुछ रहस्य है, क्या तथ्य है, इन पर ध्यान जाते ही नहीं, तह तक पहुंचनेकी बात तो दूर रहे। भागवती महिमा इतनी सीधी-सादी नहीं, जो चल-चित्रकी तरह देखी-सुनी जा सके। हाँ, यह भी देखी जाती, सुनी जाती है पर इन बाह्य इन्द्रियोंमे नहीं; उसके लिये आवश्यकता है अन्तरके इन्द्रियोंमे काम लेनेकी और तभी उसके रहस्य भी समझे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। आज भी भक्त एवं सहृदय जनता इन दिव्य चरित्रोंके मनन, कीर्तन कर आनन्दके पोखरेमें डुबकियाँ लगाया करती है। इन चरित्रोंके रहस्योंकी ओर मस्तिष्क लगा, परम प्रभुका साक्षात्कार कर, देश, समाज तथा अपनेको पावन बना, आज भी उनके जन नाच उठते हैं और थिरक उठती है उनकी अन्तरात्मा तथा हृत्तन्त्रियोंसे एक आध-बार नहीं, बल्कि बार-बार यह ध्वनि निकल पड़ती है कि: —

रा-शब्दोच्चरणाद्भक्तो राति मुक्तिं सुदुर्लभम्,
धा-शब्दोच्चारणाद्भक्तो धावत्येव हरेः पदम्॥
आदौ राधां समुच्चार्य पश्चात् कृष्णं वदेद्बुधः,
व्यतिक्रमे ब्रह्म-हत्या लभते नात्र संशयः।

* * * *

क्या बच्चों को पीटना अनिवार्य है ?

[ले० — श्री गोविन्द शास्त्री दुगवेकर]

प्रत्येक देशके स्वतन्त्र मानव समाजोंकी अपनी एक स्वतन्त्र संस्कृति होती है और उसका वे निरन्तर पोषण किया करते हैं; परन्तु जो समाज अन्य किसी समाजकी अधीनतामें आ जाते हैं, परतन्त्र हो जाते हैं, उनकी संस्कृतिमें सांकर्य आ जाता है और वे अपनी मूलसंस्कृतिसे हाँथ धो बैठते है। अंग्रेजी शासनमें सौ-दो सौ और मुसलमानो शासनमें छः-सात सौ वर्ष रहने के कारण हमारी भी यही दशा हो गयी है। हमने अपनी प्राचीन विशुद्ध संस्कृति भुला दी है। उसमें अंग्रेजों और

मुसलमानोंकी संस्कृतिकी बहुत-सी बातें आ जानेसे संकरता आ गयी है। जब कि अब हम स्वतन्त्रताके वायुमण्डलमें श्वास लेने लगे हैं, जब हमें अपने संस्कृतिरूपी सोनेको गलाकर, उसमें की मिलावटको पृथक् कर, उसे फिर विशुद्धरूपमें परिणत करने का प्रयोजन प्रतीत होने लगा है। उत्तम और श्रेष्ठ संस्कृतिका शास्त्रकारोंने यह लक्षण निर्धारित किया है कि, जिसमें सत्वगुणकी अभिवृद्धिकी गुञ्जाइश हो, वह अनुकरणीय और उपादेय संस्कृति है और जो रजोगुण या तमोगुणकी ओर ले जावें, वह त्याज्य और हेय है। प्राचीन आर्य-संस्कृति सत्वगुण से आपाततः परिपूर्ण होनेके कारण विदेशीय विद्वानोंने भी उसकी 'आदर्श संस्कृति' कहकर प्रशंसा की है। ग्रामीण कृषकों और निर्धन श्रमिकोंमें भी यहाँ सत्वगुणका कितना उत्कर्ष देख पड़ता था, इसके आँखों देखे उदाहरण उन्होंने अपने यात्रा-वर्णनोंमें लिख रक्खे हैं।

हमारे देशमें नन्हें-नन्हें कोमल बच्चोंको बात-बातमें पीट देने, उनको चोट पहुँचाने, उनके शरीर पर आघात करनेकी जो प्रथा चल पड़ी है, वह ईसाई और मूसाई (महम्मदी) संस्कृतिकी देन है। हमारे आर्य-साहित्यमें इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु अंग्रेजी-फारसी पढ़े हुए हमारे यहाँ के विद्वान् तोते जब अपने गुरुओंकी सिखायी हुई सिद्धांत स्वरूप कुछ कहावतोंको सुना कर इसका समर्थन करने लगते हैं, तब उनकी बुद्धि पर दया आ जाती है। एक कहावत इस प्रकार है:—

"Spare the rod spoil the child"

इसी आशयकी हमारी देशी भाषाओंमें भी कहावतें बन गयी हैं। यथाः—

छड़ी लागे छम छम विद्या आवे धम धम।
छड़ी जमाना छोड़ दिया विद्याने मुँह मोड़ लिया।

मानों बच्चे पीटनेके लिए ही जन्म ग्रहण करते हैं। जिस संस्कृतिमें अन्य धर्मियोंको मार डालना पुण्य कार्य माना जाता है, सत्य और हित का उपदेश करनेवालोंको सूली पर चढ़ा दिया जाता है, उसमें स्त्रियों, बहू-बेटियों और बच्चोंको पीटना शास्त्रोक्त माना जाना स्वाभाविक है; परन्तु मानवता के विचारसे यह प्रथा समर्थनके योग्य नहीं कही जा सकती।

नीति विशारद चाणक्यका एक वचन है:—

लालयेत्पञ्चवर्षाणि दशवर्षानि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

अर्थात् बच्चेका पाँच वर्ष तक पालन (लाड़-प्यार) करे, तदनन्तर दस वर्ष तक उसे अनुशासनमें रहना सिखावे और जब वह सोलहवें वर्षमें प्रवेश करे, तब उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करे। पाँच वर्ष तक बच्चेका लाड़-प्यार करना भला भी जान पड़ता है; क्योंकि उस अवस्थामें वे अबोध और निर्विकार रहते हैं। उनके खेलने-खाने, मचलने, चलने-फिरने, बोलने-हँसने, लुढ़कने-पुढ़कनेमें एक प्रकारका सौन्दर्य रहता है और उससे घरके सब लोगोंका चित्त वे अपनी ओर आकृष्ट किये रहते हैं। तदुपरान्त वे जब अनुशासनमें रहने लगते हैं, तब भावी जीवनकी नींव जमाते हैं। उस समय उन्हें जैसी आदतें पड़ जाती हैं, वैसा ही उनका चरित्र-गठन होता है। यदि १५-१६ वर्षका लड़का गोदके बच्चेकी तरह माँका दूध पीने लगे, तो उसे पागल ही कहना चाहिये। यह अनुशासनके विरुद्ध है। इस श्लोक और गोस्वामी तुलसीदासजीकी

सुप्रसिद्ध चौपाईमें जो 'ताड़न' शब्द आया है, उसका सरल अर्थ है,—'अनुशासन'। 'पीटना' या 'लतियाना' अर्थ करना युक्तियुक्त नहीं है। ढोल भी पीटा नहीं जाता, किन्तु बजाया जाता है। बजानेके कुछ नियम होते हैं। उनके अनुसार उसे काममें लाना ही उसका अनुशासन है।

प्राचीन आर्य-संस्कृतिके अनुसार त्रिवर्णोंके बालक गुरुकुलमें भेज दिये जाते थे, सो पिटवानेके लिये नहीं, किन्तु शिक्षा ग्रहणकर देश, धर्म और जातिकी सेवाका ढंग जाननेके लिये। यदि बच्चोंको पीटने-पीटवानेसे ही उनका जीवन बन सकता है, तो शिक्षासंस्थाओंकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। प्रातःकाल उठते ही लात, घूंसा, थप्पड़, लाठी, जूता, बेत आदिसे उनकी यथेष्ट पूजाकर देनेसे ही काम बन जायगा और इस मँहगी—कन्ट्रोलके दिनोंमें जो बच्चोंकी पढ़ाईमें व्यर्थ व्यय होता है, वह बच जायगा।

बच्चोंके मारखानेके तीन स्थान होते :-१ घरके गुरुजन (माता-पिता, ताऊ चाचा, बड़े भाई, ताई-चाची आदि), २ – पाठशालाके गुरुजी, मखतबके मौलवी साहब और ३ – आपसके झगड़ेकी मार-पीट। घरके गुरुजन, उनके मनके विरुद्ध कोई बात हो जानेसे, क्रोधान्ध होकर चाहे जैसे पीटने लगते हैं। गुरुजी और मौलवी साहब पीटनेमें बुद्धिसे काम लेते हैं और पीटनेकी ऐसी युक्तियाँ खोज निकालते हैं कि, बच्चेको कष्ट तो असहनीय हो, किन्तु शरीर-पर चोटके चिन्ह देख न पड़ें और आपसकी मार-पीटमें सशक्त बच्चे अशक्त बच्चोंको पीट देते हैं। इस मारपीटमें कभी-कभी गहरी चोट आजाती है, आँख फूट जाती है, हाथ-पैरकी हड्डियोंके जोड़ उखड़ जाते हैं और कभी कभी जानपर आफत आ जाती है। एक बार एक बच्चेका उसके साथीने ऐसा गला दबाया कि, उस समय घरके लोग बचानेको न होते, तो उसके प्राण निकल जाते। शिष्टता और सदाचारके वातावरणमें रहनेसे तीसरे प्रकारकी मार तो रुक सकती है; परन्तु गुरुजन और गुरुजी-मौलवी साहबकी मारसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। माँ या घरका कोई व्यक्ति बच्चेको यदि पाठ-शालामें पहुंचाने जाता है, तो गुरुजी या मौलवी साहब को यह चेतानेको नहीं भूलता कि, यह बड़ा बदमाश होगया है। इसको खूब पीटिये। इसका परिणाम यह होता है कि, जो विद्यालय बच्चोंके लिये नन्दनवन या मनोरञ्जनका—आनन्दका—स्थान होना चाहिये, वह उन्हें नरक या कारागार प्रतीत होने लगता है और जिन गुरुओंके प्रति उन्हें श्रद्धा होनी चाहिये, वे यमदूत जैसे भयानक देख पड़ने लगते हैं। उनके दर्शनसे ही उनके प्राण सूख जाते और शरीर काँपने लगता है। यह स्थिति हमारे यहाँ ही नहीं; विलायतमें भी है। महाकवि शेक्सपीयरने अपने 'एज यू लाइक इट' नाटकमें इसका बड़ा सुन्दर-सुन्दर वर्णन किया है।

इस देशमें मुसलमानोंका राज्य स्थापित होजाने पर जो मखतब खुले, उनमें बच्चे हण्टरसे पीटे जाते थे और जिस मखतबमें मार अधिक पड़ती हो वह उत्तम माना जाता था। उनका विश्वास था कि, बिना मार खाये विद्या आ ही नहीं सकती। उन मखतबोंमें जिन्होंने शिक्षा ग्रहण की, उन्होंने वही परम्परा आगे भी जारी रक्खी। अंग्रेजी राज्य होने पर पहले पहल ईसाइयोंने यहाँ स्कूल खोले, जो सरकारी सहायतासे चलते थे। उनमें भी पीटनेका

सिलसिला जारी रहा। दो चार बेंत फटकारनेका सभी मास्टरोंको अधिकार था; परन्तु अधिक पीटने का अधिकार हेडमास्टरको ही रहता था। वह अपराधी बच्चेको एक कमरेमें बन्द करके खूब धुनता, जिससे कभी-कभी बच्चेको महीनोंमें खटिया पर पड़े-पड़े हलुआ खाना पड़ता था मार खाते समय बच्चा चीखता, तो किसीके कानों पर जूं नहीं रेंगती थी और इस नृशंसताके विरुद्ध कभी किसी अभिभावकने आवाज ऊँची नहीं उठायी। उन्हें भरोसा था कि, मार खानेमें ही विद्या आती है।

हमारे आदर्श प्राचीन गुरुकुल होने चाहिये; क्योंकि हर एक जातिकी संस्कृति, सभ्यता रीति-नीति, मनोरचना, विचार-प्रणाली, आनुवंशिक संस्कार, विश्वास और लक्ष्य विभिन्न होनेसे तदनुसार ही उसकी शिक्षाकी व्यवस्था होना आवश्यक है। आर्य जातिकी उक्त सब बातें मुसलमानों या ईसाइयों से भिन्न होनेसे अन्य धर्मावलम्बियोंकी शिक्षा-प्रणाली आर्यपरम्पराके अनुकूल नहीं हो सकती हमारे प्राचीन गुरुकुलोंमें पशुबलसे नहीं; किन्तु मनोबलसे अध्यापनका कार्य हुआ करता था। जो अध्यापक ठोंक पीटकर बच्चोंको वैद्यराज बनाना चाहता है, समझना चाहिये कि, वह डार्विनका नातेदार है। हालमें ही पशुसे मनुष्य बना है, परन्तु जबतक उसका पशुभाव बना है, वह कदापि अध्यापन कार्य करनेके योग्य नहीं बन सका है प्राचीन पुराण इतिहास आदि संस्कृत भाषाके साहित्यमें कहीं बच्चोंके पीटे जानेका उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन कालमें हमारे पूर्वज जब बिना मार खाये ही विद्वान् होते आये हैं, तब वर्तमान कालमें ही हमारे कोमल बच्चोंको लतियाने का क्यों अनिवार्य प्रयोजन प्रतीत होने लगा? यह विदेशियोंका अनुकरण नहीं तो क्या है?

प्राचीन गुरुकुलोंमें गुरु-शिष्यका जैसा मधुर सम्बन्ध देख पड़ता था, उसकी वर्तमान विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंके गुरु-शिष्योंके सम्बन्धसे तुलना की जाय, तो आकाश-पाताल-सा अन्तर देख पड़ेगा। जहाँ गुरुकुलोंमें शील, सौजन्य, शिष्टाचार और अनुशासनकी सर्वत्र झांकी देख पड़ती थी, वहां आज उद्दण्डता, कलह, दुर्वचन, स्वेच्छाचार और निरंकुशताके बीभत्स दर्शन होते हैं। इतनी कड़ाई मार-पीट, डण्डेका प्रयोग, अर्थदण्ड, अपमान आदि करने पर भी ऐसी विषमता क्यों देख पड़ती है? शिक्षा व्यवसाइयोंके मस्तिष्कका दिवाला निकल गया, इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? गुरुकुलोंमें सबसे पहले यह शिक्षा दी जाती थी कि प्रत्येक शिष्य आचार्यके आज्ञाधीन रहें और उनकी आज्ञाओंका अपना पवित्र कर्तव्य समझकर पालन करे। आज आज्ञा भंगका दौर-दौरा है। विद्यार्थी लोग माता-पिता, राजा तथा गुरुजनकी आज्ञाओंको भंग करने, उनकी अवज्ञा करने, उनको नासमझ समझनेमें कृतार्थ समझते है। शास्त्रोंमें इस आचरणको बिना शस्त्रके बध करना कहा है नीतिका बचन है: -

आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां द्विजानां मानखण्डनम्।
पृथक् शय्या च नारीणां अशस्त्र बध उच्यते॥

तात्पर्य यह है कि जिन बच्चोंको आज हम मार पीटकर विद्वान् बनाना चाहते हैं, वे ही कल उक्त प्रकारसे हमारा अशस्त्रबध करनेको प्रस्तुत हो जाते हैं।

घरमें बच्चों पर गालियोंके मन्त्रोंसे पवित्र किये हुए लात, जूता, घूंसा, रस्सी, छड़ी, थप्पड़, दीवारसे

सिर टकराने आदि से मारका काम चल जाता है; किन्तु गुरुजीकी पाठशालाका दण्ड-विधान देखकर तो रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। वहाँ बेत, पंखेकी डण्डी, हण्टर आदिके अतिरिक्त कुर्सी बनना, एक पैर पर खड़े होना, निहुरकर पैरके अंगूठे पकड़कर खड़े होना, कोलदण्डा, मुरगा, सूरजका बच्चा आदिके जो दण्ड दिये जाते हैं, उनके आविष्कारमें बड़ी बुद्धि लगायी गयी है। उनसे बच्चेको प्राणान्तिक कष्ट तो भरपूर होते हैं किन्तु शरीर पर मार खाने का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता इन दण्डोंका स्वरूप समझने योग्य है—

जैसे :—कोलदण्डा—इसमें बच्चेके दोनों हाथ घुटनोंके नीचेसे बाहर निकालकर डोरीसे बाँध दिये जाते हैं और केहुनीके जोड़ोंके नीचे पीठकी ओरसे एक मोटा डण्डा क्योंड़ेकी तरह पहना दिया जाता तथा बच्चेको लेटा दिया जाता है। न हाथ हिला सकता, न पैर। शरीरको खुजला भी नहीं सकता और वेदनाओंसे व्याकुल होजाता है। रोता है, तो कौन सुनता है? उलटे ऊपरसे छड़ी सटकने लगती है। घण्टों पड़ा-पड़ा बच्चा बेचैन हो जाता है।

मुरग़ा—इसमें कोलदण्डेकी तरह घुटनोंसे हाथ बाहर निकालकर कान पकड़वा दिये जाते हैं और पंजोंके बलपर उकडूँ बैठा दिया जाता है तथा गर्दन-पर एक कंकड़ रख दिया जाता है हिलने-डुलनेमें यदि कंकड़ गिर पड़े, तो लात-घूसों और हण्टर-छड़ीसे खबर ली जाती है। इस दण्डमें बच्चेका सारा शरीर भर आता है और आँखोंमें रक्त उतर आता है। इस दण्डसे बच्चेका मस्तिष्क विकृत होनेकी सम्भावना रहती है; परन्तु गुरुजीको इसकी क्या परवाह? उन्हें तो बच्चोंके सतानेमें ही आनन्द आता है।

सूरजका बच्चा—इसमें बच्चेके दोनों हाथ बाँधकर उसे खूँटीमें लटका दिया जाता है। दोनों पैर बाँध दिये जाते हैं और ऊपरसे मार पड़ती है। इसीका लघुरूप यह है कि, कागज़ दबानेकी 'क्लिप' बच्चेके कानमें लटका दी जाती है और फिर अँगुलियोंसे दबाई जाती है, जिससे बच्चा चीखने लगता है। अँधेरी कोठरी (काल कोठरी) में बच्चेको बन्द करके भी सूरजका बच्चा दिखाया जाता है।

कभी कभी इसका परिणाम बड़ा भयानक होता है और वह बच्चेको आजीवन भोगना पड़ता या प्राणोंसे ही हाथ धो बैठना पड़ता है। आँखों देखी दो-चार घटनाओंको नमूनेके रूपमें यहां बता देना उचित जान पड़ता है

भेलसा (ग्वालियर राज्य) के स्कूल की दीवालपर एक लड़केके हाथसे स्याही गिर गयी। हेड-मास्टरने बेत उठाया और अन्य लड़कोंको इसके दण्डका स्वरूप दिखानेके लिये उसे एक-एक कमरेमें ले जाकर उसके एक ही हाथमें १०-१२ बेत जमाये। आठ कमरे थे, इस कारण उसपर सब मिलाकर ९६ बेत पड़े। बेत दातौनकी तरह ब्रुश बन गया और बच्चेके हाथ की सब शिराएँ टूट गयीं। हाथसे खून बह रहा था, अन्तमें लड़का बेहोश होकर गिर पड़ा, पर मास्टर साहबको दया नहीं आयी लड़का घर पहुँचाया गया। महीनों डाक्टरोंने मरहम पट्टी की; परन्तु हाथ अच्छा नहीं हुआ, वह बेकाम हो गया और दाहिना हाथ होनेसे जीविका उपार्जन करनेमें भी वह सदाके लिये असमर्थ हो गया।

चाँदा (मध्य प्रदेश) के एक स्कूलमें मास्टरने एक लड़केको कालकोठरीमें बन्द करनेका दण्ड

दिया। उस अँधेरी कोठरीमें जब लड़का बन्द होगया, तब वहाँ एक साँप निकला और उसे डसने लगा। लड़का बहुत चिल्लाया कि, मास्टर साहब मुझे साँप काट रहा है; परन्तु यह कहकर कि, बहाना कर रहा है, मास्टरने उधर ध्यान नहीं दिया। स्कूल बन्द होनेसे पहले कोठरी खोली गयी, तो लड़का मरा पड़ा हुआ मिला। विद्याप्राप्तिके लिये उसे यमलोकमें भेज दिया था।

मारखानेसे कितने ही बच्चे अन्धे, लंगड़े, लूले, बहरे हो जाते हैं, इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। एक बापने अपने बेटेको एक बड़ा लोटा खींचकर ऐसा मारा कि, उसके पैरकी हड्डी टूट गयी और वह सदाके लिये लँगड़ा होगया। यह चुनारकी घटना है। एक पिताजीने अपने मुन्नूके हाथकी दो अँगुली पकड़कर ऐसी तानीं कि, बीचोबीच हथेली फट गयी और हाथ बेकाम होगया। यह थाना (बम्बई) की घटना है। एक मामाने अपनी भांजीके गालमें ऐसी थप्पड़ जड़ी कि, उसकी आँख की पुतली नाकके नीचे घुस गयी और वह एंचातानी होगयी; जिससे उसका विवाह होना कठिन होगया और बहुत-सा धन देकर बड़ी अवस्थाके पुरुषसे उसका सम्बन्ध करना पड़ा। यह सतने (रीवाँ राज्य) की बात है। थप्पड़से बच्चोंके कानके पर्दे तो प्रायः फटा करते हैं।

यह निर्दयता और पशुभावकी चरम सीमा है। राजशासनमें अपराधियोंको जब बेत लगानेका दण्ड दिया जाता है, तब डाक्टर द्वारा जाँच करा ली जाती है कि, वह उतने बेत सह सकता है, या नहीं। यदि न सह सकता हो, तो दण्डका स्वरूप बदल दिया जाता है और बेत लगाये भी जाते हैं, तो डाक्टरके सामने। साथ ही साथ बेत लग जानेपर डाक्टरके द्वारा दवा लगानेकी भी व्यवस्थाकी जाती है। परन्तु जेलके अपराधियोंकी अपेक्षा बच्चोंकी अवस्था बहुत कम होनेपर भी उनके लिये कोई व्यवस्था नहीं। क्योंकि बच्चे पैदा करनेसे ही उन्हें पीटनेका अभिभावकोंको अधिकार प्राप्त हो जाता है और गुरुजीके सामने तो दूसरोंके बच्चे होते हैं। उनको धुननेमें वे क्यों आनाकानी करने लगें? फिर भी आश्चर्य यह है कि, बच्चोंको पाठशालामें पहुँचाते समय अभिभावक गुरुजीको यह चेतानेमें कभी भूल नहीं करते कि, गुरुजी, इसको खूब पीटा करो! बड़ा बदमाश होगया है। 'लातके देवता बातसे नहीं मानते' इत्यादि।

अब यह देखना है कि, जिन बच्चोंके लिये माता-पिता देवताओंकी मिन्नत मानते हैं, अपने सुख-दुःखका विचार न कर अपना सर्वस्व लगाकर बच्चोंका परिपालन करते हैं और उनको अपना जीवनाधार या कलेजेका टुकड़ा मानते हैं, उनको निर्दयतासे क्यों पीटते हैं और ऐसी वाहियातकी गालियाँ क्यों देते हैं, जिनका अर्थ स्वयं नहीं जानते? क्या उनके हृदयमें बच्चोंके प्रति स्नेह नहीं होता? या मार देते समय प्रेमका स्रोत सूख जाता है? इसका उत्तर यह है कि, उनमें स्नेह होता है, प्रेम होता है, सब कुछ होता है; किन्तु उस समय वे क्रोधके वशीभूत होकर अन्धे हो जाते हैं और उनकी विवेक-बुद्धि मारी जाती है। उन्हें बच्चोंको सुधारनेके प्रयत्न करनेसे पहले आत्म निरीक्षण कर अपना सुधार करनेका प्रयत्न करना चाहिए। बच्चे तो बच्चे ही हैं; परन्तु अपनेको ज्ञानी और बुद्धिमान समझनेवाले लोग जब विकारवश हो जाते हैं, तब

बच्चेसे बच्चे ही नहीं; किन्तु दया और विवेकहीन, निरेपशु. या बीभत्स यमकिङ्कर बन जाते हैं।

कभी-कभी न्यायानुसार बच्चोंको दण्ड देना आवश्यक हो जाता है; परन्तु न्याय देते समय न्यायाधीशका मन निर्विकार होना चाहिए। विकार-वश होकर दिया जाने वाला दण्ड अन्याय ही माना जायगा। तुनक मिजाज या क्रोधान्ध मनुष्य न्याय-अन्यायका विचार कब करता है? प्रायः अभिभावकों या गुरुदेवोंके क्रोधावेशमें आजानेपर ही बच्चे पीटे जाते हैं। पीटनेसे बच्चेके शरीर और मनपर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका विचार करनेको उन्हें अवकाश कहाँ? शारीरिक कष्टसे बचनेके लिये बच्चे झूठ बोलने और नाना प्रकार की तिकड़म भिड़ाने लगते हैं। साधारणतः समझनेकी बात है कि, बच्चेको पढ़ाते समय कोई विषय उसके मस्तिष्कमें न उतरता हो और उसे पीट दिया जाय, तो उसकी धृति और ग्रहणशक्ति नष्ट हो जाती है। उसका चित्त पीठकी वेदनासे व्याकुल हो जानेसे उस विषयमें उसका चित्त प्रविष्ट ही नहीं हो सकता, वह सोचेगा क्या खाक? उसको पढ़ाई असह्य कष्टकारक हो जाती है और वह पढ़नेसे जी चुराने लगता है। परिणामतः उसका जीवन संकटमें पड़ जाता है और अपढ़ होनेसे आजीवन दुःख भोगता रहता है। किसी वस्तुको हृदयङ्गम करनेके लिये मस्तिष्कका शान्त रहना आवश्यक है। जो अभिभावक या गुरु बच्चेकी बुद्धिका अध्ययन कर तदनुसार उसमें पढ़नेकी अभिरुचि उत्पन्न नहीं कर सकता, वह अध्यापनके कार्य करनेके योग्य नहीं समझा जा सकता। बच्चोंकी बुद्धि यदि डण्डेसे ही समुन्नत हो सकती, तो दो-चार बार कुचल देनेसे ही वह बृहस्पति बन जाता, सरकारको भी विद्या-विभागमें इतना व्यय नहीं करना पड़ता और विद्वानोंको भी अध्यापन-कलामें योग्यता प्राप्त करनेके लिए माथापचाना न पड़ता।

यदि बच्चा कोई अपराध करता है, तो अभिभावक तत्काल क्रोधमें लाल होकर उसे पीट देता है; परन्तु शान्त चित्तसे यह नहीं सोचता कि, उसने यह अपराध क्यों किया, जो उसके लिये ही हानिकारक है। यह भी वह विचार नहीं करता कि किस तरह यह बात इसके चित्तमें उतार दी जाय, जिससे ऐसा यह फिर अपराध न करे। शरीरका घाव डाक्टरों द्वारा अच्छा किया जा सकता है, किन्तु हृदयका घाव कोई अच्छा नहीं कर सकता। महाभारतमें कहा है:—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचादुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम्॥

अर्थात् बाणों या कुल्हाड़ीसे वृक्षको काट देनेपर भी वह फिर पनप जाता है, परन्तु दुर्वचनसे जो हृदयमें घाव हो जाता है, वह कदापि अच्छा नहीं होता। बच्चोंके हृदयमें अपराधकी बात यदि चुभजाय तो फिर वह कभी अपराध नहीं करेगा। अपराध करनेकी इच्छा होना एक मनोव्यापार ही है। अतः बच्चोंके मनको सुसस्कृत करनेका प्रयत्न करना चाहिए। पीटनेसे विपरीत परिणाम होता है। अधिक अपराध करनेकी प्रवृत्ति होती है; परन्तु अभिभावकोंकी दृष्टि बचाकर। इससे उनकी उन्नति रुक जाती है और वे रूभ्य आवारा बन जाते हैं। बच्चे पैदा कर देनेसे ही माता-पिताका कर्त्तव्य समाप्त नहीं होता; किन्तु उनको सुयोग्य बनानेका भार भी उन्हीं पर होता है। अतः बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षाका ज्ञान अभिभावकोंको होना चाहिए और

इसके लिये इस विषयका उन्हें मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए और क्रोधान्ध न होकर विवेकसे काम लेना चाहिए। साथही यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि, अपनी बात बच्चेके मस्तिष्कमें नहीं उतरती, यह दोष बच्चेका नहीं, अपना है। हम उसे ठीक तरहसे बात समझा नहीं सके। बच्चा तो एक कच्चा घड़ा है। जैसा उसे हम बनावेंगे वैसा वह बनेगा। बच्चोंको शिष्टाचार और सदाचार सिखानेसे पहले हमें मनोनिग्रहपूर्वक अपने आचरणपर संयम रखना चाहिए। उदाहरणार्थ कोई मिलने आवे और हम उससे मिलना न चाहें, तो झटसे बच्चोंसे कहला दिया जाता है कि कह दो बाबूजी घरमें नहीं हैं। इससे जिस प्रकार उन्हें झूठ बोलनेकी आदत पड़ती है, उसी प्रकार किसीके बागमें टहलते हुए वहाँका कोई फूल तोड़ लेने या बच्चोंसे तोड़ लानेको कहनेसे उन्हें चोरी सिखाई जाती है। किसीके साथ हमें अशिष्ट व्यवहार करते हुए जब वे देख लेते हैं, तब आपभी उद्दण्डता करने लगते हैं। बच्चे अनुकरणशील होते हैं। जैसा अपने बड़ोंको करते देखते हैं, वैसाही स्वयं करने लगते हैं। अतः बच्चोंको सुधारनेसे पहले आत्म-संशोधन और आत्मसुधार करना चाहिए। गीतामें भगवान् भी यही कहते हैं—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते"॥

इस वचनको स्मरण रखकर बच्चोंकी शिक्षाके समय क्रोधसे बचे रहना चाहिए। क्रोधके वशीभूत हो जानेपर मनुष्य क्या बन जाता है, इसका वर्णन कैलाशवासी देशभक्त श्रीअश्विनीकुमार दासने अपनी 'भक्तियोग' नामक पुस्तकमें बड़े अच्छे ढङ्गसे किया है। उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है। श्रीदत्तबाबू लिखते हैं:—

"क्रोध दुर्बलताका परिचायक है। जो तेजस्वी होते हैं, वे कभी क्रोधसे विचलित नहीं होते।" महाभारतमें लिखा है:—

"तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः।
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम्"।

अर्थात् "दीर्घदर्शी पण्डित लोग जिसे तेजस्वी कहा करते हैं, उनके हृदयमें क्रोध कभी प्रवेश नहीं करता, यह निश्चित है।" महाभारतमें युधिष्ठिर द्रौपदी-से कहते हैं:—

"क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात्क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि॥
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते।
वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा।
हिंस्यात्क्रोधादवध्याँस्तु वध्यान्सम्पूजयेत च॥
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद्यमसादनम्।
क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत्प्रपश्यति।
न कार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति"॥

अर्थात् "इस लोकमें क्रोधही जीवके विनाशका मूल है। क्रुद्ध व्यक्ति पाप करता है, गुरुजनका भी वध करता है और कटु बचनोंसे अपने कल्याणकर कार्यों-का अवमानना करता है। क्रोधके वशीभूत हो जानेसे मनुष्यको वाच्यावाच्यका ज्ञान नहीं रहता। वह न करने योग्य कोई ऐसा काम नहीं, जो न कर डालता हो और बोलनेके अयोग्य ऐसा कोई बचन नहीं, जो वह बोल न देता हो। क्रोधकी उत्तेजनामें आकर वह अवध्योंका वध कर डालता और वध्योंकी पूजा करता है। यही क्यों, वह आत्महत्या भी कर बैठता

है। क्रोधान्ध मनुष्य किस कार्यका क्या फल होगा, यह नहीं सोच सकता। कौन-सा कार्य उचित है और मर्यादाकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए, क्रुद्ध व्यक्ति इसको नहीं समझ सकता"।

क्रोध मनुष्यका परम शत्रु है। क्रोध मनुष्यके मनुष्यत्वका नाश करता है। पृथ्वीको नरकमें परिणत करनेवाले संसारमें जो लोम-हर्षणकाण्ड हुआ करते हैं, उनके मूलमें क्रोधही होता है। क्रोधके समय क्रुद्ध व्यक्तिके चेहरेपर दृष्टि डालनेसे ही स्पष्टतया पता चल जाता है कि, क्रोध मनुष्यको किस प्रकार पशुभावापन्न कर देता है। जिसका श्रीमुख तुम्हें बड़ा सुन्दर और मधुर देख पड़ता था, जिसका मुखमण्डल हास्यसे सदा खिला रहता था, जिसको तुम देवता समझ रहे थे, जिसके देखनसे ही तुम्हारे हृदयमें आनन्दकी बाढ़ आजाती थी, क्रोधके समयमें उसके उसी मुखकमल पर दृष्टि डालो, तो तुम्हें देख पड़ेगा कि, वह स्वर्गीय सुषमा उसमे नहीं रही है। उसने नरकाग्निका विकट रूप धारण कर लिया है आँखें लाल हो गयी हैं, होठ काँप रहे हैं, नकुए फड़क रहे हैं, दम फूल रहा है और उसी मधुरमुखपर कालिमाकी छाया छा गयी है और एक आसुरिक भाव जाग उठा है। उस समय उसको आलिङ्गन करना दूर रहा, उसके पास जानेका भी साहस नहीं होता। सुन्दरसे सुन्दर मनुष्यको कुरूपसे कुरूप बनानेमें क्रोधसे बढ़कर कोई शत्रु या मनोविकार कृतकार्य नहीं हो सकता। क्रोधमें आकर मनुष्य क्या नहीं कर सकता? संसारमें बच्चेसे बढ़कर प्यारा कौन हो सकता है? वेदोंने तो पुत्रको आत्माही कहा है 'आत्मा वै पुत्र निमसा' परन्तु एक विद्वान् और प्रतिष्ठित सज्जन उसी आत्माका क्रोधके प्रभावमें आकर एक खांडेसे सिर उतारनेको प्रस्तुत हो गये थे। खांडा पुराना था और जलावनकी लकड़ी फाड़नेके काम आता था। उसमें धार थी नहीं और वे महाशयजी भी कभी मुरगी तक नहीं काटे थे। लगे बच्चेके गलेपर खाँडा रेतने। दिनका समय था। बच्चा चिल्लाया, तो लोग दौड़ पड़े। बच्चेके प्राण बचे; परन्तु यदि समयपर लोग न आ पाते, तो बच्चा अकारण प्राणोंसे हाथ धो बेठता। उसका भाग्य अच्छा था। वेचारा चिरंजीवी हो।

क्रोधसे जिन रोगोंकी सृष्टि होती है, उनको सोचतेही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। चिकित्साशास्त्रके स्वदेशी और विदेशी पारदर्शी विद्वानोंका मत है कि, अपस्मार, उन्माद, मूर्च्छा, नाक हृत्पिण्ड और पाकस्थलीसे रक्तस्राव, रक्तवमन आदि रोग क्रोधके वशीभूत हो जानेसे होते हैं। कभी-कभी तो क्रोधावेशमें मृत्यु भी हो जाती है। बगालके वाकरगंज जिलेके एक गाँवकी दो स्त्रियोंमें विवाद चल पड़ा था। एकदिन उनमेंसे एक स्त्री दूसरीको मारने दौड़ी, तो दूसरी एक घरमें जाकर छिप गयी और दरवाजा बन्द कर लिया। पहलीने दरवाजा बहुत खटखटाया; परन्तु जब नहीं खुला, तो वहीं बैठ गयी। पहले तो उसका सारा शरीर थर-थर काँप रहा था, फिर वह मूर्छित हो गयी और थोड़ीही देरमें मरगयी।

पागलखानोंकी रिपोर्टोंसे भी जाना जाता है कि, उन्मादका प्रधान कारण क्रोध है। इसका तो सभीको अनुभव है कि, क्रोधका झटका बैठतेही भोजनकी इच्छा नहीं होती, क्षुधा घट जाती है और उस समय रक्तका वेग बहुत बढ़कर वह शरीरके नाना स्थानोंमें सञ्चालित होने लगता है, जो विशेष क्षतिकारी होता

है। क्रोधमे मस्तिष्कमें आघात होता है और उसीसे उन्मादकी सूचना मिलती है। क्रोधमे पाचनशक्ति भी कम होजाती है। क्रुद्ध व्यक्ति धैर्यपूर्वक अपना मुँह आइनेमें देखे, तो अपनी आसुरी मूर्ति देखकर वह लज्जित हुए बिना नहीं रहेगा और अपने आपको धिक्कारने लगेगा। परन्तु क्रोधमें वह ऐसा क्यों करने लगे?

प्रसिद्ध पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता प्लेटो मौनावलम्बनके द्वारा अपना क्रोध दमन करनेमें सफल हुआ था। वह क्रोध आतेही चुप होजाता था और जब क्रोध ठण्डा हो जाता, तब जिसको जो दण्ड देना होता था, दिया करता था। एक दिन वह इसी तरह क्रोध आजानेसे एकान्तमें चुप होकर बैठ रहा था। इतनेमें उसके एक मित्रने आकर पूछा,—'प्लेटो, क्या कर रहे हो?' प्लेटोने उत्तर दिया,—'मैं एक क्रुद्ध व्यक्तिको दण्ड देरहा हूँ।' उसका मत था, 'यदि किसीको कोई दण्ड देना हो, तो क्रुद्ध अवस्थामें दण्डदेना उचित नहीं है। उसी समय दण्ड देनेसे दण्डकी मात्राकी मर्यादा नहीं रहती। क्रोधका आवेग घट जानेपर शान्तचित्तसे दण्डविधान करना चाहिये; जिससे किसीके साथ अन्याय नहीं हो पावे। क्रोधके समय स्थान-परिवर्तन कर देना भी उपकारी होता है।'

परन्तु इन सब बातों पर क्रोधी अभिभावक या गुरुजी कभी विचारही नहीं करते और कोमल बच्चे मारके शिकार बनते हैं। मनके विरुद्ध कोई बात हो जानेसे ही मनुष्यको क्रोध आता है। 'बन्दर बालक एक समान' इस कहावतके अनुसार बच्चे प्रायः हमारे मनके विरुद्ध बहुतसी बातें किया करते हैं। क्योंकि उनके लिये दुनियाँ नयी रहती है, हमारा अनुभव उनको कहाँ? ऐसे समयमें धीरता और समझदारीसे काम लेना और आत्मसंवरण करना उत्तम है। बच्चोंको सन्मार्ग दिखाने और असन्मार्गसे परावृत्त करनेके लिये कोई निरापद उपाय सोचना चाहिये।

बालकोंको सन्मार्गमें लानेमें मृदुता जैसी कार्यकारी होती है, वैसी कठोरता हो नहीं सकती। कठोर शासनसे जितना फल होता है, मधुर शासनसे उससे हजारगुना अधिक फल होता है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। इस सत्यका अनुभव प्रयोगके द्वारा शिक्षक और अभिभावक करके देखें, तो उन्हें अपनी भूल आप विदित हो जायगी। कोई क्रुद्ध-व्यक्ति यदि तुम्हें मारने दौड़े और तुम मृदुतासे उसका सामना करो, तो देखोगे कि, मृदुताके आगे क्रोध परास्त हो जायगा। महाभारतमें लिखा है:—

"मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किञ्चित्तस्मात्तीव्रतरं मृदु॥"

"मृदुतासे मृदु और कठोर दोनोंको वशमें किया जा सकता है। मृदुताके लिये असाध्य कुछ भी नहीं है। अतः मृदुता कठोरतासे बहुत अधिक तीव्र होती है।" 'ठण्डा लोहा गरम लोहेको काट देता है' यह कहावत प्रसिद्ध ही है।

आश्चर्य यह है कि, आर्य परम्पराके विरुद्ध और आर्य सभ्यताके लिये लज्जाजनक बच्चोंकी पिटाईकी यह प्रथा मुसलमानी शासनकालसे चल पड़नेपर इसकी बुराइयोंपर अबतक किसी भारतवासीने विचार नही किया और न इसको रोकनेके लिये कोई आवाजही उठायी। उलटे यावनो और आंग्लसंस्कृति-सम्पन्न अभिभावकों और गुरुओंके द्वारा, स्वयं क्षतियाबे जानेके कारण वही कपोती

परम्परा अपनी सन्तानके लिये भी अक्षुण्ण रक्खी गयी, जो घर-घर और प्रारम्भिक पाठशालाओंमें अंशतः देख पड़ती है।

धन्य हैं वे पचीसों हजार बच्चोंकी माता डाक्टर एनी बेसेण्ट, जिन्होंने इस देशमें सबसे पहले इस प्रथाके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया और सरकार पर अपना पूरा प्रभाव डालकर हाईस्कूलोंसे यह प्रथा उठादी। उनकी हाईस्कूलके एक हिन्दी मास्टर सुप्रसिद्ध हिन्दीके लेखक लाला भगवानदीनजीने एकबार एक छात्रका कान ऐसा ऐंठा, जिससे उसके कानसे रक्त बहने लगा। इसका पता लगते ही उस समयके हेडमास्टर पं० इकबालनारायण गुर्टू साहबने उन्हें तुरन्त नौकरीसे हटजानेकी आज्ञा दी। बहुत अनुनय विनय करनेपर नौकरी तो रह गयी; किन्तु लालाजीको इस अपराधके लिये प्रार्थनाके समय भरी सभामें सब बालकोंके सामने क्षमा माँगनी पड़ी थी। अब एक विदेशी महिला मिसेस माण्टसरी महोदयाने बच्चोंकी शिक्षाके लिये एक नयी वैज्ञानिक प्रणाली निकाली है, जिसका प्रचार संसारभरमें जोरोंसे होरहा है। भारतमें भी उसकी शाखा है और प्रयोग करके देखा गया है कि, उनकी प्रणाली सफल हुई है।

माण्टसरी प्रणालीका आधार मनोविज्ञान है। बच्चा अपराध क्यों करता है या अमुक बच्चेने अमुक अपराध क्यों किया, इस विषयका मनोविज्ञानके अनुसार अध्ययन किया जाय, तो उसके निवारणके सात्विक उपाय भी निकल सकते हैं और तामसिक उपायोंसे हाथ खींच लिया जा सकता है। अपराधी बालकसे घरके सबलोग यदि अबोला कर दें, तो वह स्वयं अपने अपराधको खोजनेकी चेष्टा करेगा कि, सबलोग मुझसे क्यों बात नहीं करते हैं। क्रमशः इसी तरह उसे आत्म-निरीक्षण करनेका अभ्यास हो जायगा और आगे चलकर वह उन्नत विचारशील, सदाचारी तथा प्रतिष्ठित नागरिक बन जायगा। क्रोधके वशीभूत होनेसे अन्तमें दुःख, दौर्मनस्य और ग्लानिके सिवा और कुछ हाथ नहीं आ सकता। बगाली बच्चोंको यह बहुत ठीक ही सिखाया जाता है कि—

"दप् कोरे जोले उठे आगून जे कोन,
धप् कोरे चोले आसे राग ओने भोन।
आगून नीबिया गेले पोड़े थ के छाय,
राग ओ थामिया गेले मोने दुःख पाय" ॥

अर्थात् आग जैसी धप्‌से भभक उठती है, क्रोध भी वैसाही धप्‌से सिरपर सवार हो जाता है; परन्तु आगके बुझ जाने पर जिस प्रकार राख पड़ी रहती है, उसी प्रकार क्रोधके शान्त हो जाने पर मनमें बड़ा दुःख (पश्चात्ताप) होता है"।

हम आर्य हैं हमनेही संसारको किसी समय सभ्यताका पाठ पढ़ाया है। हमें सर्वदा समाजमें सत्वगुणका उत्कर्ष करनेकी ओर ध्यान रखना चाहिए। आजके बच्चे कलके नागरिक हैं। उनके सामने अपने चारित्र्यका ऐसा सुन्दर आदर्श रखना चाहिए, जिससे उनका भावी-जीवन सुखमय हो और संसार उनका अनुकरण करनेको उत्कण्ठित रहा करे। रगड़से तो चन्दनसे भी आग निकलती है, जैसाकि—गोस्वामी जीने कहा है—

"अतिशय रगड़ करे जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन तें होई" ॥

काशीराज दिवोदास

प्राचीन-कालमें दिवोदास नामसे प्रसिद्ध एक काशीराज हुए हैं, स्कन्द पुराणमें उनके आदर्श शासनका वर्णन मिलता है। यह अगस्त तथा कार्तिकेय के सम्वाद रूपमें है। इससे प्राचीन-कालके आदर्श राज्यशासन तथा आदर्श राजाका दर्शन होता है। —सम्पादक

भगवान् अगस्त्यजीने प्रश्न किया—भगवन्! भगवान् शंकरने राजा दिवोदाससे किसप्रकार काशीपुरीका परित्याग करवाया?

कार्तिकेयजीने कहा—गिरिराज मन्दरकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शिव ब्रह्माजीके वचनोंके गौरवसे मन्दराचलको चले गये। उनके जानेपर उन्हींके साथ सम्पूर्ण देवगण भी उन्हींके साथ वहाँ चले गये। भगवान् विष्णु भी पृथिवीके वैष्णव-तीर्थोंका परित्याग करके जहाँ उमानाथ भगवान् शिव विराजमान थे, उसी मन्दराचल पर चले गये पृथिवीसे देव समुदायके चले जाने पर प्रतापीराजा दिवोदासने यहाँ निर्द्वन्द राज्य किया उन्होंने काशीपुरीमें सुदृढ़ राजधानी बनाकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए सबको उन्नतिशील बनाया। हाथियोंसे भी अधिक बलवान महाराजा दिवोदास का अपराध कभी नागलोग भी नहीं करते थे। दानव भी मानवकी आकृति धारण करके उनकी सेवा करते थे। गुह्यक लोग सब ओर मनुष्योंमें राजाके गुप्तचर बनकर रहते थे। उनकी राजसभामें बैठे हुए विद्वानों एवं मन्त्रियोंको किसीने कभी शास्त्रोंद्वारा नहीं हराया तथा रणाङ्गणमें डटे हुए उनके योद्धाओंको कभी किसीने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा परास्त नहीं किया। उनके राज्यमें कभी ऐसे लोग नहीं देखे गये जो पद-भ्रष्ट तथा दूसरोंके द्वेषभाजन हों। उस समय सब प्रजा अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित एवं सुखी थी। राजा दिवोदासके राज्यमें सभी गाँव ईति भीतिसे रहित थे। कोई गाँव ऐसा नहीं था, जिसकी-रक्षाके लिए राजकर्मचारी उपस्थित न हों। घर-घरमें लोग कुबेरके समान धन-दान करनेवाले थे।

इसप्रकार काशीमें राज्य करते हुए दिवोदासके अस्सीहजार वर्ष एक दिनके समान व्यतीत हो गये। अपने औरस पुत्रोंकी भाँति प्रजाका पालन करते रहनेवाले राजा रिपुञ्जय (दिवोदास) के द्वारा थोड़े से भी अधर्मका संग्रह नहीं हुआ। वे राजनीति सम्बन्धी छः गुणों के ज्ञाता थे। उनका चित्त अपनी त्रिविध शक्तियोंसे सदा उत्साहित रहता था। वे नीतिनिपुण पुरुषोंके समस्त उपायोंका ज्ञान रखने वाले थे। इसलिए उनके छिद्रों (दोषों) को देवता भी नहीं जानते थे। दिवोदासके राष्ट्रमण्डलमें सभी पुरुष एकपत्नी व्रती थे। स्त्रियोंमें कोई भी ऐसी नहीं थी जो पतिव्रता न हो। एक भी ब्राह्मण ऐसा नहीं था, जिसने वेद शास्त्रोंका अध्ययन न किया हो। कोई भी क्षत्रिय ऐसा न था, जो शूर वीर न हो। एक भी वैश्य ऐसा नहीं दिखाई देता था, जो अर्थोपार्जनके काममें कुशल न हो। शूद्र अनन्य-भावसे द्विजातियोंकी सेवामें लगे रहते थे। उनके राज्यमें अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी थे, जो सदा गुरुकुलके अधीन रहकर वेद-विद्याके अध्ययनमें तत्पर थे। गृहस्थलोग अतिथि-सत्काररूपी धर्ममें कुशल, धर्मशास्त्रोंके मर्मज्ञ तथा

सर्वदा शुभ आचरणोंमें संलग्न रहनेवाले थे। तीसरे आश्रमको स्वीकार करनेवाले वानप्रस्थी वनमें उपलब्ध होनेवाली जीविकाके प्रति ही आदर रखते थे। ग्रामीण वार्ताओंके प्रति उनके मनमें कोई उत्सुकता न थी और वे वैदिकमार्गमें चलने वाले थे। उनके राज्यमें रहनेवाले सन्यासी सब प्रकार की आसक्तियोंसे रहित जीवनमुक्त, संग्रह-शून्य, मन, वाणी और कर्मरूपी दण्डसे युक्त तथा सर्वथा निरग्रह थे। दूसरे अनुलोम और विलोम कर्मसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंने भी अपनी पूर्वपरम्परासे प्रचलित धर्ममार्गका किञ्चिन्मात्रभी परित्याग नहीं किया था। राजा दिवोदासके राज्यमें कोई भी सन्तानहीन, निर्धन, वृद्धोंकी सेवा न करनेवाला तथा अकाल मृत्युसे मरनेवाला नहीं था। चञ्चल, वाचाल, वञ्चक हिंसक पाखण्डी, भाँड, रडुवे और मदिरा बेचनेवाले भी नहीं थे। सर्वत्र मन्त्रोंका घोष सुनाई देता था। पद-पदपर शास्त्र-चर्चा सुनायी देती थी। सब ओर शुभ वार्तालाप होते और आनन्दसे मंगल गीत गाये जाते थे। मांस भक्षी, ऋण लेनेवाले और चोर भी उनके राज्यमें नहीं थे। पुत्र पिताके चरणोंकी पूजा, देवाराधना, उपवास, व्रत, तीर्थ, और देवोपासनाको परमधर्म समझ कर करते थे। नारियाँ अपने पतिके चरणोंकी पूजा, उनके वचनोंको सुनना और स्वामीकी आज्ञाका पालन करना अपना श्रेष्ठ धर्म समझती थीं। सबलोग अपने बड़े भाईकी सदा पूजा करते थे। सेवक प्रसन्नता पूर्वक अपने स्वामीके चरण-कमलोंकी पूजा करते थे। छोटी जातिके लोग ऊँची जातिके लोगोंके गुण और गौरवकी प्रशंसा करते थे। काशीपुरीके रहनेवाले सब मनुष्य तीनों समय वहाँके देवताओंकी बार-बार सेवा-पूजा करते, सब विद्वान् सब स्थानों पर अपनी मनोवाञ्छित वस्तु पाकर सम्मानित होते थे। विद्वान् लोग तपस्वी महात्माओंकी, तपस्वी महात्मा जितेन्द्रिय पुरुषोंकी, जितेन्द्रिय महापुरुष ज्ञानियोंकी और ज्ञानीलोग शिवयोगियोंकी पूजा करते थे। ब्राह्मणोंके मुखरूपी अग्निमें दिनरात विधिपूर्वक उत्तमरूपसे तैयार की हुई मन्त्रपूत एवं बहुमूल्य हविका हवन किया जाता था। दिवोदासके राज्यमें जहाँ-तहाँ सब ओर पग-पगपर शुद्ध द्रव्यराशिके द्वारा बावली, कुआँ और पोखरा खुदवानेवाले तथा बगीच लगानेवाले धर्मात्मा पुरुष बहुत बड़ी संख्यामें थे। वहाँ सब जतिके लोग अनिन्द्य (उत्तम) सेवा-कार्य से सम्पन्न हो हृष्ट पुष्ट दिखायी देते थे। इसप्रकार सर्वत्र शुद्ध एवं पवित्र बर्ताव करने वाले उस भूपालके छिद्र ढूँढ़नेके लिए देवताओंने बहुत चेष्टा की किन्तु उन्हें थोड़ा सा भी छिद्र नहीं प्राप्त हो सका।

— — -

आर्य-महिलाके नियम

१—'आर्यमहिला' श्री आर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्‌की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करनाही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्‌के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमास प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेके बाद में कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिए पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६ सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंट के पतेसे आना चाहिए।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होने वाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है:--

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
„ „ तीसरा पृष्ठ	२५)	„
„ „ चौथा पृष्ठ	३०)	„
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	„
„ १/२ „	१२)	„
„ १/४ पृष्ठ	८)	„

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

क्रोडपत्र

क्रोडपत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये, अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

Regd. No. A-179 Arya-Mahila

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला-कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।
मुद्रक—सर्वोदय प्रेस, लहुराबीर, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्‌की मासिक मुखपत्रिका

आर्य-महिला

फाल्गुन-चैत्र सं० २००८-९ | वर्ष ३३, संख्या ११-१२ | फरवरी-मार्च १९५२

काहे ते हरि मोहिं बिसारो !
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ संभारो ॥

पतित-पुनीत दीन-हित असरन-सरन कहत श्रुति चारो ।
हौं नहिं अधम सभीत दीन किधौं वेदन मृषा पुकारो ॥

खग - गनिका - गज - व्याध-पाँति जहँ - तहँ हौंहूँ बैठारो ।
अब केहि लाज कृपानिधान, परसत पनवारो टारो ॥

जौ कलिकाल प्रबल अति हो तो तुव निदेस तें न्यारो ।
तौ हरि रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते तजि गारो ॥

मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम, करहु प्रभाव तुम्हारो ।
यह सामर्थ्य अछत मोहिं त्यागहु नाथ तहां कछु चारो ॥

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी एम. ए., बी. टी.

विषयानुक्रमणिका

"आर्यमहिला"का आगामी

अपूर्व विशेषांक

"व्रतोत्सवाङ्क"

आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की मासिक मुखपत्रिका 'आर्यमहिला' आगामी अप्रैल १९५२ से अपने ३४वें वर्षमें पदार्पण कर रहा है। इस नवीन वर्षके उपलक्ष्यमें 'आर्यमहिला'का विशेषाङ्क 'व्रतोत्सवाङ्क' प्रकाशित होगा।

इस व्रतोत्सवाङ्कमें वर्षभरके प्रत्येक मासके व्रतोत्सवोंके शास्त्रीयस्वरूपपर प्रकाश डालकर तदनन्तर उनकी अनुष्ठानविधि, उनका लौकिकस्वरूप, प्रचलित कथादि और अन्तमें इन व्रतोत्सवोंसे हमें देश तथा जाति-हितकर कैसी शिक्षा मिलती है इसका सुन्दर विवेचन होगा, जो प्रत्येक गृहस्थके लिये अत्यन्त उपयोगी वस्तु होगी। साथही भारतके सुप्रसिद्ध चुने हुए विद्वानोंके मु[illegible] विषयपर लेख भी इसमें प्रकाशित होंगे। यह विशेषाङ्क 'आर्यमहिला'के आकारमें लगभग [illegible]कमें (२८० पृष्ठों) का होगा। अतः अपनी प्रति शीघ्र सुरक्षित कराइये; क्योंकि थोड़ी [illegible]ं छप रही हैं।

पत्र व्यवहार का पता—व्यवस्थापक, 'आर्यमहिला'
जगतगंज, बनारस कैंट।
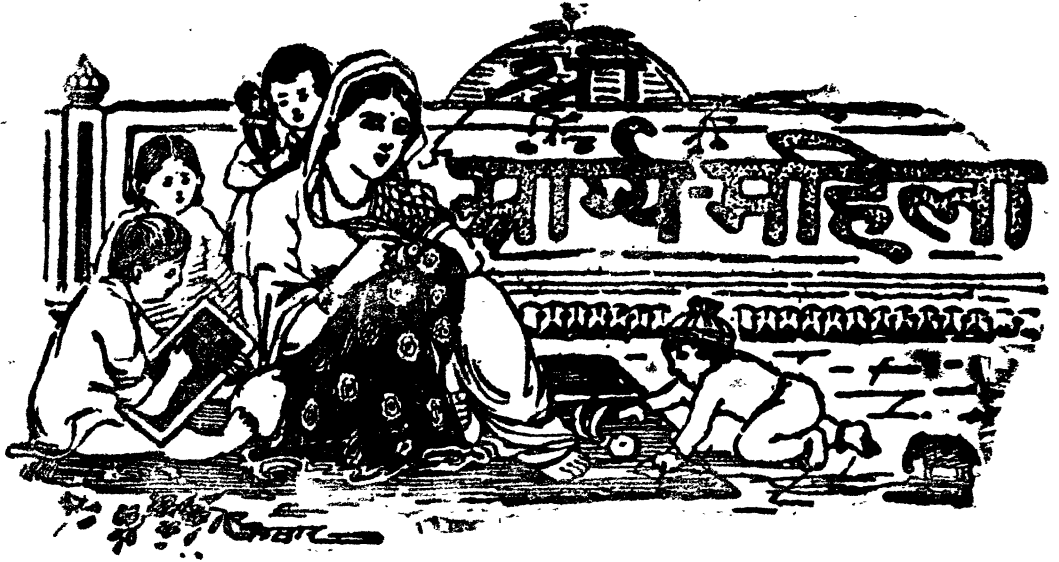
अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

फाल्गुन-चैत्र सं० २००८-९ | वर्ष ३३, संख्या ११-१२ | फरवरी मार्च १९५२

प्रार्थना

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो ।
समदरसी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो ॥
इक नदियाँ इक नार कहावत, मैलो नीर भरो ।
जब दोऊ मिलि एक बरन भये, सुरसरि नाम परो ॥
एक लोहा पूजा में राखत, एक घर बधिक परो ।
पारस गुण अवगुण नहिं चितवे, कञ्चन करत खरो ॥
यह माया भ्रम जाल कहावे, 'सूर' श्याम सगरो ।
अबकी बेर मोहिं आनि उबारो, नहिं प्रण जात टरो ॥

——

आत्म-निवेदन ।

क्वचिदपि कुमाता न भवति ।

माँ ! जगदम्बे ! कबतक ताड़न करेगी ? हमारी दुःख दुर्दशाओंकी तो सीमा नहीं है । हम भूखे-नंगे बिलख रहे हैं और दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं, उदर-पूर्तिके लिये अन्न नहीं है और शरीर ढाँकनेके लिये वस्त्र नहीं है । कहीं वर्षोंसे सूखा पड़ा है, कहीं अतिवर्षासे बढ़िया आकर सब कुछ बहा ले जाती है तो कहीं असमय वर्षा होकर सारा सस्य नष्ट हो जाता है, अन्य कहीं भूकम्प होकर सब कुछ पृथ्वीमें समा जाता है । आज विज्ञान का युग है, नित्य नये आविष्कार होते हैं परन्तु ऐसा कोई आविष्कार नहीं हुआ जिससे हमारे इन दुःखोंका अन्त होता । संसारमें जितने आविष्कार अबतक हुए एटम बम, आक्सिजनबम आदि ये सब प्राणियोंके भयंकर विनाशके लिये हुए, शान्ति एवं सुखके लिये नहीं, यद्यपि शान्ति एवं सुखकी खोजमें सभी दिनरात अशान्त हैं । इन सबका एकही कारण है कि हमने तुमसे मुँह मोर लिया है, हम तुम्हें भूल गये हैं, हम परस्पर के ईर्षा, द्वेष, स्वार्थपरता, इन्द्रियलिप्सा की आगमें झुलस रहे हैं । अनाचार, भ्रष्टाचार, दम्भ अभिमान, प्रमाद आदिसे उन्मत्त हो हम सदसद् विवेक खो चुके हैं । हमने अपने धर्म, कर्तव्य एवं मनुष्यत्वकी तिलाञ्जली दे डाली है । हमने उचित-अनुचित जिस उपायसे भी हो, अपने इन्द्रियोंकी तृप्ति और उसके भोगके साधनोंके संग्रहकोही अपने जीवनका चरम लक्ष्य मान लिया है । इस कारण अपने तुच्छ स्वार्थोंके लिये अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थों का नाश करना हमारा प्रतिदिनका कार्य होगया है, उदरपूर्ति और कामनाकी तृप्ति हमारा एकमात्र पुरुषार्थ रह गया है । हमारी इन नीचताओंके कारण माँ तुम हमसे रूठ गयी हो, तुमने मानों हमें दण्ड देनेके कराली कालीका यह विकराल रूप धारणकर लिया है । इसी कारण आज हम सब ओरसे दैविक-भौतिक संकटोंसे घिरे हैं; संसारमें किसीमें सामर्थ्य नहीं जो हमें इनसे बचा सके । परमवात्सल्यमयी सर्वशक्तिमयी माँ ! हम जैसे-तैसे तुम्हारी ही सन्तान हैं, तुम्हारी शरण हैं; हमारे अगणित अपराधोंको क्षमा करो, पुनः एक बार हमें अपनी स्नेहभरीदृष्टिसे देखो, हमारी दुःख दरिद्रता दीनता दूर हो, हमारी बुद्धिमें विवेक, मनमें साहस और शरीरमें शक्तिका सञ्चार हो । हम तुमसे कभी विमुख न हों । महा-शक्तिमयी मातः हमें ऐसी शक्ति दो जिससे हम तुम्हारी सेवाके लिये जियें और सदा अपने देश, धर्म और कर्तव्यके लिये मरने-मिटनेको तत्पर रहें । माँ ! हम महान् अपराधी हैं, तब भी तुम्हारी सन्तान हैं । कुपुत्र होता है, परन्तु कुमाता नहीं होती "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" । वासन्ती नवरात्रमें तुम्हारी आराधना करते हुए हम तुम्हारे चरणोंमें यही प्रार्थना करते हैं कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत् ॥

सब लोग सुखी हों, सब नीरोग हो, सभी शुभ देखें, अशुभ किसीका न हो । कोई भी दुःखका भागी न हो ।

ईश्वर सरकारको सुबुद्धि दें।

देशव्यापी चुनाव समाप्त हो गया। इसे चुनाव नहीं, चुनावका अभिनय कहना अधिक उपयुक्त होगा। जो भी हो, इसबार किसी प्रकार कांग्रेस पुनः शासनके सिंहासनपर आसीन हो गयी है; परन्तु इस चुनावसे यह तो अवश्य स्पष्ट होगया कि यदि कांग्रेस पद-त्यागकर चुनाव लड़ती और निष्पक्ष चनाव होता तो उसकी विजय असम्भव-प्रायः थी; क्योंकि साधारणजनता कांग्रेसी कुशासन-से ऊब उठी है। इस विषयको प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरूने भी अपने चुनाव-दौरेमें अनुभव किया है ऐसा अनुमान होता है। उन्होंने एक प्रेस कान्फरेन्समें कहा भी था कि यदि मैं स्वयं देशभरका दौरा न करते तो कांग्रेसके नेताओंमें बहुत कम लोग ऐसे थे जो अपना कार्य करते हुए दूसरेकी सहायता करते। अब आगामी पाँच वर्षोंका और समय कांग्रेस सरकारको मिलगया है। उसे चाहिये कि अब भी सावधान हो जाय और समाज-सुधारके नामसे किसीके धर्ममें हस्तक्षेप न करे और किसीकी धार्मिक, सामाजिक स्वतन्त्रताका अपहरण करनेका प्रयत्न न करे। अन्न, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, रक्षा और न्याय जिनके लिये जनता आज तरस रही है उसकी सुव्यवस्था करे। जनता किसी भी शासनसे इन्हीं सुविधाओंकी आशा रखती है और इन्हीं सातोंकी सुव्यवस्था ही किसी भी सरकारका पहला कर्त्तव्य है; परन्तु यह कटु किन्तु निर्विवाद सत्य है कि कांग्रेससरकार इन कार्योंमें सर्वथा असफल रही। हाँ, कांग्रेस-सरकार योजना बनानेमें सबसे आगे रही। नित्य नयी-नयी अरबों रुपयोंकी योजनायें बनती रहीं और उनपर भूखी-नङ्गी जनताकी गाढ़ीकमायीके करोड़ों रुपये नष्ट किये गये। कोई योजना अब तक कार्यान्वित नहीं हुई और न जनताका उससे कोई हित ही हुआ। हिन्दू-कोडबिलपर ही जनताके करोड़ों रुपये व्यय किये गये; परन्तु जनमत उसका घोर विरोधी होनेसे उसमें भी सरकार असफल रही। यदि ये करोड़ों रुपये देशके बच्चोंकी शिक्षा और स्वास्थ्यके लिये व्यय किये गये होते तो बहुत कुछ कार्य हुआ होता। अस्तु, हमारी मंगलमय श्रीभगवानके चरणों-में यही प्रार्थना है कि कांग्रेस-सरकारको अब भी सुबुद्धि दें जिससे जनताका दुःख दूर हो।

हिन्दू संस्कृति समीक्षा

आर्य-संस्कृति

इधर प्रचलित भाषाओंमें अंग्रेजी 'कल्चर' शब्दके लिए 'संस्कृति' शब्द व्यवहृत होने लगा है। 'पालिसी' शब्दकी तरह 'कल्चर' शब्दका भी अर्थ बहुत व्यापक होनेपर भी उसके लिए 'संस्कृति' शब्द अच्छा गढ़ा गया है। सम् पूर्वक 'कृ' धातुसे भाव-अर्थमें 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'संस्कृति' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है परम्परागत अनुस्यूत संस्कार। यह दर्शन-शास्त्रका सिद्धान्त है कि संस्कार-रूपी बीजके ही अनुसार कर्म-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता

है। हमारे जैसे पूर्व संस्कार होंगे वैसे ही हमारे कर्म बनेंगे। आर्योंका प्राचीन रहन-सहन, आचार-व्यवहार, धर्म, कर्म, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था, शास्त्रीय सिद्धान्त, शिक्षा-प्रणाली आदि जिसके प्रधान-प्रधान अवलम्बन हों, वही आर्य-संस्कृति कही जा सकती है।

आर्यजातिके लक्षण

आचारोंमें ही जाति मानी जाती है। शास्त्र कहते हैं 'आचार मूला जातिः' अर्थात् आचार देखकर जाति बनायी जा सकती है। आर्यजातिकी विशेषता यह है कि वह जीवन-यात्रा-निर्वाहमें रजोवीर्य-शुद्धिमूलक वर्ण-व्यवस्था तथा प्रवृत्ति-रोधक और निवृत्तिपोषक आश्रम-व्यवस्था मानती है। इसीसे शास्त्रमें उसका लक्षण कहा गया है 'उभयोपेता आर्यजातिः।' अर्थात् वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके लक्षण जिस जातिमें पाये जाँय उसे आर्यजाति कहते हैं। आर्यजातिके शारीरिक व्यापार-मूलक आचार पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंसे कुछ विलक्षण हैं। हमारी संस्कृतिका विचार करने-वालोंको यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस मनुष्य-जातिमें रजोवीर्य शुद्धि-मूलक जाति-भेदका सिद्धान्त, सतीत्वधर्ममूलक स्त्रीजातिकी पवित्रता, प्रवृत्तिमूलक ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम और निवृत्तिमूलक वानप्रस्थ एवं सन्यासआश्रम ऐसे धर्मोंके लक्षण पाये जाते हैं, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कहाती है। ये सब बातें आर्य (हिन्दू)-संस्कृतिके मौलिक सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार पुरुष-धर्म और नारीधर्मके अधिकार आर्य-धर्ममें अलग-अलग माने गये हैं।

पुरुष और स्त्रीके विभिन्न धर्म

मनुष्य-सृष्टिमें पुरुष और स्त्री—ये दो विभाग हैं और दोनोंके धर्म भिन्न-भिन्न हैं। कैवल्य-प्राप्तिके लिए पुरुष स्वतन्त्र है; परन्तु स्त्री पुरुष होनेकी अपेक्षा रखती है। वह पतिमें तन्मय होकर जब पुरुष होगी, तभी कैवल्य प्राप्त कर सकेगी। पुरुष स्वतन्त्र होनेसे उसका धर्म यज्ञ-प्रधान है, कैवल्य प्रदान करनेवाले ज्ञानका यज्ञके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। यज्ञ-धर्म, कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीन काण्डोंमें विभक्त है। स्मृति शास्त्रमें कहा है--

यज्ञ प्रधानतामेति नृणां धर्म इति श्रुतिः।

नारी-धर्म एक विशेषधर्म है। आदिसृष्टि जब आदि-पुरुष परमात्मा और प्रकृति महामायाके सम्बन्धसे आरम्भ होती है, तब जीवकी प्रथमोत्पत्ति-में भी वे ही दो सत्तायें विद्यमान रहेंगी--इसमें कोई सन्देह नहीं है। उद्भिज्जादि जीवोंमें भी पुरुष और नारीकी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ देख पड़ती हैं। मनुष्य-योनिमें पहुँचकर जीव जबतक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक नवीन संस्कार भी संग्रह नहीं कर सकता। सहजकर्म परिवर्तित भी नहीं होते, इस कारण साधारण स्त्री स्त्रीहोकर और पुरुष पुरुषहोकर ही अग्रसर होता है। अद्वैत-भावके बिना कैवल्यकी प्राप्ति नहीं होती। वह स्थिति परम-पुरुषके स्व-स्वरूपमें ही विद्यमान है। इसकारण कैवल्याधिगमके लिये पुरुषको आत्म-ज्ञानके अव-लम्बनसे स्व-स्वरूपको प्राप्त करना होता है और स्त्रीको पुरुषमें तन्मयता प्राप्त करके पुरुषद्वारामें पहुँचनेपर आत्मज्ञानके अवलम्बनसे अद्वैत भावमय स्व-स्वरूपकी उपलब्धि करनी पड़ती है। इस प्रकार

जब स्त्रीको अपनी धारा बदलनी पड़ती है, तब उसके लिये तपोधर्मका आश्रय लेना अनिवार्य है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

तपः प्रधानतामेति नारीधर्मो यतः सदा।

आदि सृष्टिसे ही स्वाभाविक संस्कार और सहज कर्मके अनुसार पुरुषधारा और स्त्रीधारा दोनों पृथक् पृथक् प्रवाहित हुआ करती हैं। परमपुरुष स्वाधीन, निःसङ्ग तथा चेतन-स्वरूप है और मूल-प्रकृति जड़ा, सङ्गकी अपेक्षा रखनेवाली और पराधीना है। इसीकारण कार्यरूपी सृष्टिप्रवाहमे वे ही गुण वर्तमान रहनेसे नारीका पराधीन होना विज्ञान-सिद्ध है। यही कारण है कि हिन्दूजातिमें कन्यावस्था-से लेकर वृद्धावस्थातक पिता, पति, पुत्र और आत्मीय स्वजनोके संरक्षणमें नारीके रहनेकी विधि है और यही आर्य-जातिकी प्राचीन संस्कृति है।

वैदिक दर्शनोंने यह भी सिद्ध किया है कि इस संसारके स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चके सब अगोमें दो प्रकारकी शक्तियाँ देखनेमें आती हैं—एक आकर्षण-शक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति। स्थूल-प्रपञ्चमें परमाणुसे लेकर ग्रह-उपग्रहोंतकमें आकर्षण और विकर्षणरूपी दोनों शक्तियोंका कार्य स्पष्ट देखनेमें आता है। ग्रह-उपग्रहादिकी सृष्टि-दशामे परमाणु एकत्र होते हैं और प्रलय-दशामें पृथक् पृथक् होकर ब्रह्माण्डका प्रलय-संसाधन करते हैं। उसी स्थूल-उदाहरणके अनुसार सूक्ष्म अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें रागकी वृत्तियाँ आकर्षणजनित और द्वेषकी वृत्तियाँ विकर्षणजनित होती हैं। राग-मूलक आकर्षणशक्ति रजोगुण-समुद्भूत और द्वेष-मूलक विकर्षणशक्ति तमोगुण समुद्भूत है। इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड आच्छन्न हैं। दोनों शक्तियोंका विकास पुरुषशरीर और स्त्रीशरीरमें होता रहता है। पुरुष विकर्षण-शक्तिरूप और स्त्री आकर्षण शक्तिरूप है। अन्ततः दोनोंके अधिकार और धर्म भी स्वतन्त्र हैं। आकर्षण-शक्तिसे सृष्टि-क्रिया होती है और विकर्षण-शक्तिसे लय क्रिया। स्मृतिशास्त्र कहता है—

आकर्षणस्वरूपं हि शरीरं योषितामिह।
तथा विकर्षणं नृणां शरीरं स्यात्स्वरूपतः॥

जिस प्रकार अन्तर्जगतमें राग और द्वेष दोनों के समन्वयसे मुक्तिका उदय होता है अर्थात् साधक रजोगुण - संभूत राग और तमोगुण-संभूत द्वेषको जीतकर सत्वगुणके अवलम्बनसे द्वन्द्वातीत हो जाता है—मुक्त होजाता है, उसी प्रकार बहिर्जगतमें ऊर्ध्वरेता होकर वह दाम्पत्य सम्बन्धके आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी जय करके द्वन्द्वातीत मुक्तिभूमिमे पहुंच जाता है। इसीसे वानप्रस्थाश्रममें सस्त्रीक रहकर स्त्री सम्बन्धी कामका जय करके मुक्तिमार्गमे अग्रसर होनेकी विधि शास्त्रोंमें पायी जाती है। पतिभक्ति और सतीत्वकी सहायतासे स्त्री मुक्तिमार्गमें अग्रसर होती है और पुरुष भी स्त्री-दुर्गद्वारा सुरक्षित रहकर मुक्तिमार्ग पर विजय लाभ करनेमें समर्थ होता है। दोनों शक्तियोंकी जहाँ सुन्दर समता होती है, वही सत्वगुणमय ज्ञान और आनन्दका स्थान है।

सृष्टि-कार्यमें प्रकृतिकी प्रधानता होती है, यह कहा जा चुका है। चाहे कोई दर्शनशास्त्र उसे मूल-प्रकृति कहे, कोई महामाया कहे, कोई ब्रह्मशक्ति कहे—सब दर्शनशास्त्र प्रकृतिकी प्रधानता मानते हैं। यही कारण है कि वेद, पुराण और तन्त्रादि शास्त्र एक वाक्य होकर नारीका सम्मान करने और उसको जगदम्बाका स्वरूप समझकर उसकी पूजा करने की आज्ञा देते हैं। आर्य-जाति के सदाचारोंमें और उसके पूजा-प्रकारमें कुमारी-पूजा और सुवासिनी-पूजाकी सर्वमान्य विधि पायी जाती है। पश्चिमकी

वर्तमान सभ्य जातियोंमें इन सब दार्शनिक सिद्धान्तों की कल्पना भी नहीं पायी जाती। आर्यजाति स्त्री-जातिको जगदम्बाकी प्रकृति समझकर उसकी पूजा करती है; परन्तु पश्चिमी सभ्य जातियाँ स्त्रीजाति को केवल भोग विलासकी एक सामग्री समझती हैं और उसकी पवित्रता और अपवित्रताका कुछ भी विचार नहीं रखतीं।

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्री और पुरुष—इन दोनोंके पृथक्-पृथक् अधिकारके विचारका स्थान सबसे प्रधान माना गया है। क्या प्राचीन साहित्य और क्या नवीन साहित्य, क्या प्राचीन वैदिक शास्त्र-समूह और क्या नवीन अर्थादिशास्त्र समूह और क्या प्राचीन संस्कृतिकी विद्वन्मण्डली और क्या नवीन संस्कृतिके विद्वज्जन इन सबोंका एकमत इस विषयमें होगा कि स्त्री और पुरुष इन दोनोंके अधिकारका प्रश्न सब तरहके सृष्टि प्रकरणमें सबसे प्रधान तथा परमावश्यक है, परन्तु अज्ञानके कारण ऐसे बड़े आवश्यक विषयपर बहुत कम लोग ध्यान दे रहे हैं। वर्तमान समयकी राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक उथल-पुथल तथा धार्मिक उथल-पुथलकी सन्धिमें सबसे पहले स्त्री और पुरुषके अधिकार-विज्ञानपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

वेद और वेदसम्मत शास्त्र-समूह एक वाक्य होकर बताते हैं कि सृष्टिकी आदि अवस्थामें सृष्टि-कर्त्ता भगवान् ब्रह्माजीने जब सृष्टिका प्रारम्भ किया तब उस समय सबसे पहले सनक, सनन्दन आदि पूर्णावयव मनुष्यरूपी महात्माओंकी सृष्टि हुई। वे पूर्णावयव होनेके कारण उनमें सृष्टिकी वासना तकका सम्बन्ध नहीं पाया गया और न उनसे सृष्टि बढ़ानेका कार्य ही हुआ। उसके बाद भगवान् ब्रह्माजीने दुबारा सृष्टिकी इच्छाकी, जिससे प्रजापतिगण पैदा हुए। ये लोग एक प्रकारके देवता थे। उनको आज्ञा देनेपर उनसे मानसिक सृष्टि उत्पन्न हुई - यह सृष्टिकी दूसरी अवस्था है। उसके बाद सृष्टिकी तीसरी अवस्थामें, जबकि सृष्टिके पूर्णावयव जीव उत्पन्न होगये थे, उस दशामें स्त्री-पुरुषके संयोगसे बैजी सृष्टिका प्रारंभ हुआ, यही साधारण मैथुनी (लौकिकी) सृष्टिकी पहली अवस्था है। हिन्दू-दर्शनशास्त्र इसके पहलेकी अवस्थाको दैवी सृष्टिकी अवस्था मानते हैं। लौकिकी सृष्टिकी अवस्थामें स्त्री और पुरुष दोनोंके अधिकार समान रहनेपर भी नारी-जातिका स्थान प्रधान माना गया है। साधारण तौर पर देखा भी जाता है कि सृष्टि प्रकरणमें पुरुषोंका कार्य मिनटोंका है; किन्तु नारी जातिका वर्षोंका है; क्योंकि उनको गर्भपालन और शिशु-पालन आदि कार्य करने पड़ते हैं। आजकल साइंसकी उन्नतिके साथ-ही-साथ विज्ञानके द्वारा इस बातकी भी पुष्टि हो चुकी है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चारों प्रकारकी जीव-योनियोंमें स्त्री और पुरुषका होना समान रूपसे पाया जाता है। निम्नश्रेणीके उद्भिज्जजीवोंमें स्त्रीरेणु और पुंरेणु—इन दोनोंके संगमसे सृष्टि होनेके प्रत्यक्ष प्रमाण बताये गये हैं। स्वेदज, अण्डज और जरायुज पिण्डोंकी सृष्टि तथा पूर्णावयव मानव-पिण्डोंकी सृष्टि—सभीमें इस विज्ञानकी सिद्धि होती है।

पिण्ड तीन प्रकारका होता है—उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज पशुका सहज पिण्ड, मनुष्यों का मानवपिण्ड और देवताओंका देवपिण्ड। दर्शनशास्त्र, पदार्थविद्याका विज्ञानशास्त्र और

लौकिक अनुभव—इन सबोंसे प्रमाणित होता है कि सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी जिम्मेवारी सबसे अधिक है। स्त्री भूमिरूपा है और पुरुष बीजरूप है। यही कारण है कि वेद और शास्त्रोंने एक वाक्य होकर स्त्रीजातिके लिए यज्ञमूलक आचारोंका उपदेश दिया है। दोनोंके लिए पृथक्-पृथक् धर्म और आचारका होना स्वतः सिद्ध है। इस विषयमें हिन्दू-शास्त्र तो एकमत है ही, किन्तु पृथ्वीके सब चिन्ताशील पण्डितोंको भी एकमत होना ही पड़ेगा; क्योंकि सत्य सत्य ही है।

सृष्टिकार्यको पवित्र रखनेके लिये वेद, स्मृति, पुराण, तन्त्र, हिन्दुओंका ज्योतिषशास्त्र और आयुर्वेद आदि सब शास्त्र-समूह एक वाक्य होकर स्त्री-पुरुषके पृथक् अधिकार विज्ञानकी पुष्टि करते हैं। इस अलौकिक और परमावश्यक विषयकी ओर आधुनिक शिक्षित समाजकी दृष्टि आकृष्ट नहीं हुई है।

स्त्रीजातिकी पवित्रता-रक्षा और आध्यात्मिक विज्ञानसम्मत विवाह-पद्धति

सृष्टि-प्रकरणमें स्त्रीजातिकी पवित्रताकी रक्षा और धर्मानुकूल विवाह-पद्धतिकी प्रथाको स्थायी रखना परमावश्यक है। हिन्दू-जातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें स्त्रीजातिकी पवित्रताकी रक्षाकी ओर विशेष ध्यान नहीं है। उन जातियोंमें जैसे युवकोंकी स्वतन्त्रता है; वैसेही युवतियोंकी भी स्वतन्त्रता रखी गयी है। वयः प्राप्त होने पर स्त्रियाँ अपनी इच्छासे मनमाने पुरुषोंसे सम्बन्ध कर लेती हैं और पीछेसे उनके अपने-अपने धर्मानुकूल विवाह होता है। विवाह होतेही स्वतन्त्र रीतिसे विवाहित दम्पति आनन्दोत्सव मनानेके लिये बाहर चले जाते हैं और यथेच्छा विहार करते हैं तथा पतिमें अनबन होनेपर एक दूसरेसे अदालतके द्वारा विवाह-विच्छेद भी करा लेते हैं। स्त्रीके विधवा होनेपर उनके यहाँ विधवाओंका बार-बार पुनर्विवाह होता है। पृथ्वीके अन्य धर्मावलम्बियोंमें जन्मान्तरवादपर विश्वास न रहनेसे विवाहित दम्पतिके लोकान्तर होनेपर पति-पत्नीका सम्बन्ध स्थायी नहीं मानते। इनसब कारणोंसे अन्य जातियोंमें 'स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध परलोकमें भी स्थायी रहता है', ऐसा विश्वास नहीं है; किन्तु वर्णाश्रमी हिन्दूजातिमें जन्मान्तर और लोक-लोकान्तरवादका सम्बन्ध पूर्णरूपसे माना गया है। आर्यस्त्रियोंमें सतीत्वधर्मका अधिकार सर्वोपरि माने जानेसे उच्चश्रेणीकी आर्य-नारियोंमें विधवा-विवाहकी आज्ञा नहीं है। शरीरकी तो बातही क्या है, मनसे भी पर पुरुषका सम्बन्ध होना आर्य स्त्रियाँ गर्हित समझती हैं। स्वेच्छासे विवाह और विहार न होने देना ही वेद और स्मृतिकी आज्ञा है। हिन्दूजातिका विवाह एक बड़ा भारी धर्मकार्य है। हिन्दूका विवाह इन्द्रिय-सुखभोगके लिये नहीं; बल्कि परलोकगत पितरोंको चिर-सहायता पहुँचानेके लिये माना गया है। हिन्दू-शास्त्रके अनुसार विवाहकी आठ श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—यथा ब्राह्म, आर्ष, दैव, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। इन आठ श्रेणियोंके विवाहोंमें से ब्राह्मण-जातिमें प्रथम चारश्रेणियोंके विवाह उपादेय हैं और पीछेकी चार श्रेणियोंके विवाह हेय हैं। क्षत्रिय-जातिके लिये अन्य विवाहोंके उदाहरण भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं; परन्तु उनके द्वारा कन्याका संग्रह होनेपर भी पीछेसे शास्त्रोक्त विवाह करनेकी विधि है, जैसे राजाओंके यहाँ गान्धर्व-विवाह हो

आने पर भी पीछेसे शास्त्रोक्त-विवाह-विधिकी पूर्णता की जाती थी। हिन्दू-शास्त्र-समूहका सिद्धान्त यह है कि कन्यामें रजोधर्म हो जानेसे पूर्व कन्याके चित्तको पतिदुर्ग द्वारा सुरक्षित कर देना चाहिये। क्योंकि रजोधर्म पूर्णवयस्काका लक्षण है और पूर्णवयस्का कन्या होनेपर उसमें कामादिकी चेष्टा होना भी स्वाभाविक है, इस कारण आध्यात्मिक-उन्नतिशील हिन्दू-जातिमें वाग्दानकी प्रथा पहलेसेही प्रचलित है और पूर्णवयस्का होनेसे पहले कन्याका चित्त पतिदुर्ग द्वारा सुरक्षित हो जाने पर उसमें अपवित्रता-अनाचारका बीज पैदा ही नहीं होने पाता और सतीत्वका बीज सुरक्षित रहता है। इस कारण स्वेच्छा विवाहका अनादर आर्य-संस्कृतिमें चिरकालसे चला आता है। आर्य-संस्कृतिमें दम्पतिके भेदका कुछ दिग्दर्शन तन्त्र और पुराणोंके आधारपर नीचे कराया जाता है। त्रिगुण सम्बन्धी भेदके अनुसार नर और नारी तीन प्रकारके होते हैं—सात्विक गुणमोहित, राजसिक रूपमोहित और तामसिक नर-नारी काममोहित होते हैं। नर-नारियोंकी मिथुनीभूत कालमें भी तीन दशायें होती हैं। सात्विककी प्राकृतदशा, राजसिककी विकृत दशा और तामसिककी उन्माद दशा होती है। प्राकृत दशा मुक्तिप्रद है, विकृतदशा स्वर्गप्रद है और उन्माद दशा नरकप्रद है—यों समझना चाहिये। सात्विक स्वल्प-मैथुनसेवी, राजसिक कामुक किंतु विचारवान् और तामसिक नर-नारी घोर कामासक्त तथा अविचारी होते हैं। सात्विक नर-नारी ज्ञाननिरत तथा परस्परार्थी होते हैं, राजसिक भोगनिरत और स्वार्थी होते हैं तथा तामसिक नर-नारी विचार रहित, प्रमादी, कामभोग परायण और अनर्थकारी होते हैं। सात्विक नर-नारी पवित्र ज्ञान-कुशल, राजसिक अद्भुत क्रियाशील और तामसिक पशुभावके सदा पक्षपाती होते हैं। सात्विक स्वभावतः धीर, राजसिक चञ्चल और तामसिक उन्मादी होते हैं। सात्विक नित्य प्रेमिक, राजसिक कुटिल और तामसिक निर्लज्ज होते हैं। सात्विक नर-नारीकी संगम-दशामें अध्यात्मकी ओर लक्ष्य और एक-दूसरेके आनन्दमें तत्परता, राजसिकका एकमात्र कामज सुखकी ओर लक्ष्य और भोगमें तत्परता तथा तामसिकका केवल अपना-अपना लक्ष्य और प्रमाद-जनित सुखमें तत्परता रहती है। सात्विक नर-नारियोंके चित्तमेंही आत्मज्ञान और धर्मका पूर्ण स्वरूप प्रकाशित हो सकता है। स्त्री और पुरुष यदि समान प्रकृति, प्रवृत्ति और धर्मवाले होकर सात्विक लक्षणोंको धारणकर सकें तो उनके लिये अभ्युदयकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी अति सुलभ है। यदि दोनों स्त्री-पुरुष ज्ञानी भक्त होकर जन्म ग्रहण करें तो ऐसा लोकातीत मेल हो सकता है। साधारणतः शास्त्रमें पुरुष और स्त्रीकी जो चार श्रेणियाँ बाँधी गयी हैं उनमें उनके शरीरके लक्षण और मापका हिसाब भी दिया गया है जिनका माप कम है, वे उत्तम समझे जाते हैं। यह विचित्रता है जो ध्यान देने योग्य है। तन्त्र और पुराण आदि शास्त्रोंमें पुरुष और स्त्रीके सोलह-सोलह भेद कहे गये हैं। शश, मृग, वराह और अश्व ये पुरुष की चार श्रेणियाँ होती हैं। प्रत्येक श्रेणीमें प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे पुरुषकी सोलह श्रेणियाँ होती हैं। पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी और हस्तिनी – ये चार श्रेणियाँ स्त्रियोंकी होती हैं। इन चारोंमें प्रत्येकमें प्रत्येकका अन्तर्भाव होनेसे स्त्रीकी भी सोलह श्रेणियाँ हुईं। यदि इन सोलह प्रकारके पुरुष और सोलह

प्रकारकी स्त्रियोंमें ठीक-ठीक समान श्रेणीमें दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित हो तो वह दोनोंके अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण होता है। दोनोंमें यदि स्त्रीकी श्रेणी उच्च हो तो सात श्रेणियोंतक नारीकी प्रकृति सामञ्जस्यकी रक्षा करती है और अभ्युदयका क्रम बना रहता है। सात श्रेणीके अनन्तर अशान्ति, रोग और दुःख होता है। पुरुषका यथाक्रम सामञ्जस्य बना रहता है। तदनन्तर सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षामें बाधा होती है। स्त्रियाँ और पुरुष यदि अपने-अपने धर्मसे च्युत हो जाँय तो सृष्टिका सामञ्जस्य ठीक-ठीक नहीं रहने पाता; क्योंकि नारीधर्म 'तपःप्रधान' है और पुरुषधर्म 'यज्ञ प्रधान' है। नारीके लियेही श्री, मधुर वचन, त्रिविध पवित्रता, स्वार्थ रहितता, पातिव्रत्य, वात्सल्यभाव, सेवापरायणता और पुरुषोंके उपयोगी भावोंमें भावित होनेमें सदा रुचि-ये आठ ही उत्तम गुण कहे गये हैं। पुरुषोंके लिये अपने वर्णाश्रमाचारका सदा प्रतिपालनही उत्तम गुण कहा गया है। स्त्री और पुरुषोंकी परीक्षा बहुत ही कठिन है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा-युक्त ज्ञानी भक्तही यथार्थ रूपसे स्त्री-परीक्षा और पुरुष-परीक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। सामुद्रिक विद्या, स्वरोदय विद्या और ज्योतिष विद्या आदिके द्वारा भी दोनोंकी परीक्षा की जाती है।

दाम्पत्य-सम्बन्ध करनेके लिये जिन पचीस बातोंपर ध्यान देना अभ्युदय और कैवल्यकी इच्छा रखनेवालोंको आवश्यक है, वे ये हैं यथा—कुल, शरीर, गण, योनि, ग्रह, राशि, दिन, माहेन्द्र, स्त्री-दीर्घ, राशिका अधिपति रज्जु, वश्य, वेध, वर्णकूट, नाड़ीभूत लिंगाख्य कूट, योगिनी, गोत्र, जाति, पक्षिकूटक, तारा, भकूट, प्रवृत्ति, इन्द्रियदार्ढ्य, बुद्धि और पचीसवाँ—भाव। यदि समानाधिकारमें कल्याणकारी दाम्पत्य-सम्बन्ध हो तो अभ्युदयकी तो बातही क्या, निःश्रेयस भी सुलभ है। ऐसा दाम्पत्य-सम्बन्ध होनेपर देवता, ऋषि और पितरोंकी प्रसन्नता होती है, कुल पवित्र होता है तथा दम्पति स्वयं ज्ञानवान् होकर एवं पूर्ण ज्ञान-सम्पन्न सन्तान प्राप्त-कर जगतको धन्य करते हुए स्वयं भी धन्य होते हैं।

जिस दार्शनिक विज्ञान और सत्यपर वर्णाश्रमी आर्यजातिके स्त्री-पुरुषोंका विवाह-संस्कार प्रतिष्ठित है, उसकी कल्पना तक पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें नहीं है और न उनके आचार-विचारमें हो सकती है। इस कारण पृथ्वीकी इस वर्तमान उथल-पुथलके दिनोंमें केवल इन्द्रिय-सुखको लक्ष्य करके हिन्दुस्थानके नेतृवृन्दोंको बिना पूर्वापर-विचार किये विपथगामी नहीं होना चाहिये। उनको यह विचार लेना चाहिये कि आर्य-जातिका आध्यात्मिक लक्ष्य कहाँसे कहाँ तक है और आर्योंके नारीधर्म और पुरुषधर्मके अधिकार निर्णय करनेमें हमारे पूर्वजोंने कितना सूक्ष्म विचार और दूरदर्शिताका काम किया है।

हिन्दुस्तानके हिन्दूलोग स्त्री-पुरुषोंके अधिकार-विज्ञान और विवाह-पद्धतिके सिद्धान्तको परम आवश्यक धार्मिक सिद्धान्त समझते हैं; क्योंकि ये सब मौलिक विचार स्त्री-पुरुषोंके भविष्यतको सम्हालनेवाले हैं, वंशकी संस्कृति स्थिर रखनेवाले हैं और जातिको पवित्र रखनेवाले हैं। कन्या और वर दोनोंके स्वेच्छाचारी होकर विवाह करनेकी आज्ञा आर्य जातिमें नहीं है; क्योंकि काम पशुभावका स्वाभाविक प्रेरक है। युवती कन्या और युवक इन दोनोंमें संसारका अनुभव नहीं होता। इसकारण उनसे बड़ी-बड़ी भूलें हो सकती हैं। पिता-माता और

पारिवारिक गुरुजनोंमें अनुभव अधिक होता है। अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना कम होती है। इसकारण विवाहप्रथामें युवक और युवतियोंको, स्वाधीनता न देकर उनको नियन्त्रित किया जाय यही आर्य-संस्कृति है। कन्या-अवस्थामें बालिकाओं-को देवीरूप समझना, उनके सामने कभी काम-चेष्टाकी बातें करना भी पापजनक समझना, बाल्या-वस्थामे ही उन्हें धार्मिक शिक्षा देना और धार्मिक व्रतादि कराना, तुलसी-अन्नपूर्णा आदिकी पूजा कराना, कन्याके रजस्वला होनेसे पहलेही उसका विवाह-संस्कार कर देना, प्रथम रजोदर्शनमें गर्भाधान संस्कार कराके देवता, ऋषि और पितरोंका संवर्धन कराते हुए गर्भाधान-संस्कारकी विधि सम्पन्न करना-ये सब बातें आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक हैं। पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें इस प्रकारको पवित्रताके साधक संस्कारोंका नाम तक नहीं है। वहाँ विवाह पशुधर्मका एक सहायकमात्र है।

संस्कार

अब गर्भाधानसे लेकर शरीरपर्यन्त आर्य-जाति के आचारोंके विशेषत्व और महत्त्वके सम्बन्धमें प्रकाश डाला जाता है। साथही साथ लोक-कल्याण बुद्धिसे तुलनात्मक गवेषणाकी जायगी। आर्य-जातिमें विवाह-संस्कार सबसे बड़ा शास्त्रीय संस्कार है— जिसका सम्बन्ध केवल इसी लोक तक नहीं, किन्तु लोक-लोकान्तर तक माना गया है। पृथ्वीकी अन्य सभ्य जातियों और विभिन्न धर्मावलम्बियोंमें विवाह स्थायी संस्कार नहीं है और न उसका सम्बन्ध शरी-रान्तके उपरान्त माना ही गया है। उनमें इन्द्रिय-सुखकी चरितार्थता और इस जन्ममें सामयिक सुख-प्राप्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं माना गया है। उनके यहाँ विवाह-विच्छेद साधारणसी बात है; किन्तु आर्य संस्कृतिमें विवाह-विच्छेद हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आर्य-जातिने विधवाका विवाह होना अशास्त्रीय माना है। छोटी-जातियोंमें विधवा विवाह प्रचलित है, परन्तु वह 'विवाह' नहीं 'नाता' कहाता है। द्विजोंमें तो विधवा विवाह अधर्म समझा जाता है, क्योंकि विधवा-विवाह प्रचलित होनेपर त्रिलोक-पवित्रकारी सती-धर्मपर आघात पहुँचता है। आर्य-जातिमें विवाह-संस्कारका सबसे बड़ा उद्देश्य यह रखा गया है कि विवाह परलोकगामी पितरोंके आवागमन-चक्रमें श्राद्धादिसे सन्तति सहायता करे और यही कारण है कि इसी सिद्धान्तके अनुसार दायभागकी व्यवस्था बाँधी गयी है। इन सब सूक्ष्म विषयोंपर आजकलके नवशिक्षित सज्जन कभी ध्यान ही नहीं देते और मनमाने विधानोंको बनानेकी चेष्टा किया करते हैं। वे यह भी नहीं सोच सकते कि कानूनद्वारा सत्यकी जड़ काटना असम्भव है। सत्य सूर्यके समान सत्यही है। सूर्य कभी-कभी बादलोंसे ढँक जाता है, परन्तु वह ढँकना सामयिक होता है।

पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें विवाहका काल निश्चित नहीं किया गया है और न स्त्रीसंभोगके लिये कोई आध्यात्मिक लक्ष्यही रखा गया है। हनी-मून जैसे वैषयिक आनन्दप्रद आचार उनमें किस प्रकार प्रचलित हैं, सभी जानते हैं। आर्य-संस्कृतिमें रजोदर्शनसे पूर्व विवाह-संस्कार करने की दृढ़ आज्ञा है। यदि ऐसा हो जाय कि विवाहसे पहले ही कन्या में रजोदर्शन होने लगे तो प्रत्येक रजोदर्शनमें पिता को प्रायश्चित्त करके शुद्ध होनेकी आज्ञा है। प्रथम रजोदर्शन होनेके अनन्तर पशु-धर्मके अनुसार स्त्री-सम्बन्ध न करके ऋषि-देवता और नित्य-नैमित्तिक

पितरोंका संवर्धन करते हुए एक संस्कार करनेकी आज्ञा है, जिसे 'गर्भाधान-संस्कार' कहते हैं। तदनन्तर काम-वृत्तिसे नहीं, धर्म वृत्तिसे स्त्री सम्बन्ध करनेकी आज्ञा आर्य-शास्त्र देते हैं। तदनन्तर पूर्णिमा, अमावस्या आदि पुण्य तिथियों तथा अशास्त्रीय वार-कुयोग, पर्वदिन, आशौचके दिन आदि दिनोंको छोड़कर धर्म-बुद्धिसे युक्त होकर स्त्री संसर्ग करनेकी आर्य-शास्त्र आज्ञा देते हैं। इसके विरुद्ध चलनेका धर्मशास्त्र निषेध करते हैं। अपनी उम्रसे अधिक उम्रकी कन्यासे विवाह करना आर्य-शास्त्रमें निषिद्ध है। गोत्र और प्रवरका सम्बन्ध इस कल्पके प्रारंभसे ही माना गया है और अपने गोत्र तथा प्रवरसे सम्बन्ध कन्यासे विवाह करना मातासे विवाह करनेके समान समझा गया है। जन्मसे जाति मानना, अपनी जातिकी कन्यासे विवाह करना और रजोदर्शनसे पहले विवाह सम्बन्ध करना आर्यविवाहके लक्षण हैं। कामज विवाह अन्य जातिकी स्त्रियोंके साथ दूसरे युगोंमें हो सकता था; किन्तु वह भी अनुलोम विवाह हो सकता था, प्रतिलोम नहीं। अपनेसे निम्नजातिकी स्त्रीसे विवाह करना अनुलोम और उच्च जातिकी स्त्रीसे विवाह करना प्रतिलोम कहाता है। प्रतिलोम नरकका कारण होता है और उसकी सन्तति पतित समझी जाती है। अनुलोम सन्तति माताकी जातिकी होती है। ब्राह्मण यदि शूद्रसे विवाह करे, जैसा दक्षिणमें होता है, तो उसकी सन्तति शूद्र ही मानी जायगी। ऐसी जाति दक्षिण भारतमें विद्यमान भी है, पृथ्वीकी किसी अन्य सभ्यजातिमें विवाहके ऐसे दूरदर्शितापूर्ण नियम नहीं पाये जाते और स्मृति-शास्त्र तथा दर्शन शास्त्र एकमत होकर यह सिद्ध करते हैं कि इन्हीं सब मौलिक कारणोंसे आर्य जाति सृष्टिके आरम्भ-काल से अबतक अपने स्वरूपमें जीवित है। 'पृथ्वीकी अन्य मनुष्यजातियाँ, जिनमें रजोवीर्य शुद्धि और वर्ण-धर्मकी शृङ्खला नहीं है, पतित हो गयीं और कालके कवल में पहुँच गयीं। प्राचीन इतिहास और आधुनिक इतिहास हाथ उठाकर इसकी साक्षी दे रहे हैं।

आर्य-संस्कृतिके अनुसार वेद स्मृति और तन्त्रमें सब मिलाकर ४२ संस्कार पाये जाते हैं उनमेंसे १६ मुख्य हैं जिनकी मीमांसा वेदके, 'कर्म मीमांसा' दर्शनमें की गयी है। संस्कारको भी मीमांसा शास्त्रमे कर्मका बीज कहा है। जैसे बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही संस्कारसे धर्म प्रकट होता है। सुकौशल-पूर्ण उपायद्वारा ये १६ संस्कार ऐसे बाँधे गये हैं कि विधिपूर्वक उनका अनुष्ठान हो तो ये ही १६ संस्कार जिनमें अन्य सब संस्कारोंका अन्तर्भाव है, मनुष्यको प्रथम ८ संस्कारों द्वारा प्रवृत्तिमार्गमें पूर्णोन्नति देते हैं और शेष ८ संस्कारों द्वारा मुक्तिभूमिमें पहुँचा देते हैं। सोलह संस्कारों में प्रथम संस्कार गर्भाधान संस्कार है और अन्तिम संस्कार सन्यास-संस्कार है। आर्य-शास्त्रोंने यह भली-भाँति सिद्ध किया है कि यदि माता और पिता दोनों सात्विकबुद्धिसे तथा अन्तःकरणसे इच्छा करें और विधिपूर्वक सावधान होकर संस्कार करें तो जैसी चाहें वैसी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। दम्पतिका साक्षात् सम्बन्ध दैवीजगतसे बाँधनेके लिये गर्भाधान-संस्कार किया जाता है। तदनन्तर कोई भी दैवीकार्य बिना स्त्री और पुरुष दोनोंके एकत्र हुए सम्पन्न नहीं हो सकता। इसीसे गठ-बन्धनकी प्रणाली हिन्दू-जातिमें सर्वत्र प्रचलित है।

इस प्रकार दोनों एकत्र होकर दैवीकार्य करें तो वहाँ एक दैवीपीठ बन जाता है। ये सिद्धान्त आर्य-संस्कृतिके मूलभूत हैं। पृथ्वीकी जो अन्य अवैदिक जातियाँ हैं, उनमें इन पवित्र सिद्धान्तोंकी गन्धमात्र भी नहीं है। ऐसे गूढ़ रहस्य-पूर्ण शास्त्रीय विषयोंका विचार न करके आजकलके नेतृवृन्द जो पश्चिमी जातियोंका अनुकरणकर हिन्दू-जाति, हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-अचार-विचारोंमें विप्लव मचाना चाहते हैं—यह कितनी हानि और अदूरदर्शिताका कार्य है, इसे विचारशील पुरुष सुगमताके साथ समझ सकते हैं।

हिन्दू-शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसाही वृक्ष होता है। अवश्यही वृक्षोत्पत्तिमें और भी कई वस्तुओंकी आवश्यकता होती है--जैसे देश, काल, जल, भूमि आदि; किन्तु सबसे अधिक महत्त्व बीजका है। वैदिक, पौराणिक स्मार्त और तान्त्रिक संस्कारोंका तात्पर्य यही है कि द्रव्य-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि, और मन्त्र-शुद्धिसे सुकौशल पूर्ण रीतिपर इन वैदिक संस्कारोंके द्वारा अन्तर्जगतमें ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाती है कि वही शक्ति समयान्तरमें वैसे ही वृक्ष और फलकी उत्पत्ति करती है, जैसी इच्छा बीजरोपणके समयमें संकल्प द्वारा की गयी थी। दार्शनिक विषयोंको समझनेके लिये दर्शनोंके अनुशीलनकी आवश्यकता है। इसीमें संस्कार शुद्धिके बलसे भारतवर्षमें (पृथ्वीमें) हिन्दुस्थान (भारत-द्वीप) एक अनोखी भूमि है, जहाँ 'अर्थ' और 'काम'की अपेक्षा 'धर्म' और 'मोक्ष' को प्रधान माना जाता है और मनुष्यजीवनमें आध्यात्मिक उन्नतिको ही श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसी अनादि सिद्ध संस्कार-शुद्धिके बलसे भारत-खण्ड (हिन्दुस्थान) में अनेक प्रान्त और भाषायें होने पर भी सम्पूर्ण भारत एक राष्ट्र माना गया है। जिस राष्ट्रमें निवृत्ति परायण धन-ऐश्वर्यकी उपेक्षा करने वाली, तपःस्वाध्याय निरत ब्राह्मणजाति स्वाभाविक नेता समझी जाती है, जिसके शिष्टलोगोंकी राष्ट्र-भाषा संस्कृत है और जिसके सब ग्रन्थ अनादि काल से संस्कृतमें ही बने हैं, जिसके सब शास्त्रीय संस्कार संस्कृतमें ही होते हैं। कोई कुछ भी कहे, किन्तु ऐसी स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था संसारकी किसी जातिमें नहीं पायी जाती।

सृष्टि होनेके सूत्रपातकी दशामें स्त्रीरूपी पीठमें दैवीजगतसे गर्भाधानके द्वारा सम्बन्ध बाँधा जाता है। तदनन्तर शुद्धाचारके द्वारा दैवीजगतको सामने रखकर सृष्टि उत्पन्न की जाती है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार दैवीजगतसे सम्बन्ध-स्थापनके लियेही किये जाते हैं। यथा समय 'चूडाकर्म' तो हिन्दू-जातिके सब वर्णोंमें होता है। इसका कारण यह है कि बालककी शिखा रखाकर उसका दैवीजगतसे सम्बन्ध कराया जाता है और उसका उत्तमाङ्ग (सिर) देव-मन्दिरके रूपमें परिणत किया जाता है। द्विज बालकोंका यथासमय 'यज्ञोपवीत संस्कार' करा के उन्हें आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक शुद्धिके लिये तीन लड़ोंका जनेऊ पहनाया जाता है और आजीवन व्रत धारण कराके उसको आध्यात्मिक जीवनके लिये प्रतिज्ञाबद्ध कराया जाता है। इसके अनन्तर बालककी पाठ्यावस्था आरम्भ होती है, जिसमें गुरुका प्राधान्य रखा गया है और गुरु क अधिकार सर्वोपरि माना गया है। तदनन्तर 'विवाह संस्कार' होता है, जो स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये प्रवृत्ति

मार्गका सबसे बड़ा संस्कार है। इस संस्कारमें स्त्री और पुरुषका पृथक्-पृथक् उत्तरदायित्व बताया जाता है और वह उत्तरदायित्व इसी जन्मतक सीमित न रहकर जन्म-जन्मान्तर तक बना रहता है। विवाहित दम्पति हिन्दू-संस्कृतिके अनुसार केवल अपने ही गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी नहीं, किन्तु समस्त ब्रह्माण्डकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी होते हैं। यह महत्ता संसार की किसी जातिमें नहीं पायी जाती। हिन्दू-जातिका पञ्च महायज्ञ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह स्थूल-संसार दैवीजगतकी सहायतासे सुरक्षित रहता और परिचालित होता है। दैवीजगतके सञ्चालकोंमें ज्ञानके प्रवर्तक होनेसे भृगु, वशिष्ठ और अङ्गिरा आदि महर्षियोंका स्थान सबसे ऊँचा है। उनके सम्बर्द्धनके लिये नित्य यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य है, यह 'ऋषियज्ञ' है। अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, देवराज इन्द्र, धर्मराज, यम आदिके संवर्धनके लिये प्रतिदिन नियमित रूपसे 'देवयज्ञ' करनेकी आज्ञा है; क्योंकि कर्मके दाता उक्त पदधारी देवताही समझे जाते है। तीसरे महायज्ञका नाम है 'पितृ यज्ञ'। पितृगण एक प्रकारके देवता हैं, जो नित्य पितृ कहलाते हैं। उनकी कृपासे कुल—वंश और मनुष्य-समाजकी सुरक्षा होती है और स्त्रीकी गर्भावस्थामें उन्हींकी कृपासे गर्भके अन्तर्गत पूर्वकर्मानुसार देह बनता है। नैमित्तिक पितृ वे कहाते हैं, जो हमारे पितर शरीरान्तके पश्चात् पितृलोकमें पहुँचते हैं और आवागमनके नियमानुसार फिर लौटकर इसी लोकमें आजाते हैं। इनके संवर्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, वह 'पितृ यज्ञ' कहाता है और यह श्राद्ध-तर्पणके द्वारा भी होता है। तर्पणकी यहाँ तक महिमा है कि तर्पणके द्वारा साधक मिनटोंमें पञ्चमहायज्ञका यजन कर सकता है। चतुर्थ महायज्ञका नाम है 'भूतयज्ञ'। मनुष्यके अतिरिक्त संसारकी अन्य जो जीव सृष्टि है, वह चार श्रेणियोंमे विभक्त है और वे चारों श्रेणियाँ स्वतन्त्र रूपसे देवताओं द्वारा परिचालित और संवर्द्धित होती हैं। जैसे वृक्षादिकी उद्भिज्ज सृष्टि जो रोग उत्पन्न करती और नीरोगता भी उत्पन्न करती है; उसके बादकी स्वेदज सृष्टि—जैसे जूँ, खटमल इत्यादि; अण्डेमें उत्पन्न होनेवाली अण्डज सृष्टि—पक्षी, मछली, सर्प आदिकी सृष्टि और चौथी सृष्टि का नाम है जरायुज सृष्टि जैसे मृग, गाय, घोड़ा और हाथी आदि। मनुष्यकी सृष्टि यद्यपि जरायुज ही है, फिर भी वह उक्त स्वाभाविक जीवसृष्टिसे भिन्न है; क्योंकि उसको धर्माधर्मका अधिकार प्राप्त हो जाता है। हिन्दू-धर्मके महत्त्व उदारता और आचारकी व्यापकताका यह ज्वलन्त प्रमाण है कि वह कृतज्ञताके वश होकर चतुर्विध भूतसंघके कल्याणके लिये प्रतिदिन भूतयज्ञका आदेश देता है। हिन्दू-जातिका पंचम महायज्ञ 'नृ-यज्ञ' कहाता है। अपने भोजनसे पहले किसी वर्ण, किसी आश्रमका मनुष्य हो, आर्य-अनार्य, किसी जाति या देशका हो, उसे देवता समझते हुए पहले भोजन कराकर पीछे गृहस्थको स्वयं भोजन करनेकी विधि है। अतिथि-सेवा भी इसी महायज्ञका अङ्ग माना जाता है। जो अदूरदर्शी सज्जन हिन्दुओंके ऊँच-नीचके अधिकारभेद और मनुष्योंमे स्पर्शास्पर्श-विवेक और जाति भेद आदि माननेका कलंक लगाते हैं। वे यदि समाहित-अन्तःकरण होकर शान्तिसे विचार करेंगे तो देखेंगे कि भगवानकी

सर्वव्यापी शक्ति तथा अनन्त प्राणियोंकी एकताका अनुभव, स्थूल और सूक्ष्म लोगोंका सम्बन्ध और मनुष्यमात्रमें भ्रातृभाव-स्थापनाका अधिकार जैसा हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्ममें है, वैसा न कहीं देखनेमें आता है न सुननेमें ही आता है।

प्रवृत्ति-धर्मकी पूर्णता गार्हस्थ्यमें हो जाती है—वह कैसे होती है सो ऊपर बताया गया है। तदनन्तर आर्य-जीवनमें निवृत्त-धर्मका अधिकार प्रारंभ हो जाता है, उस समय जो आश्रम आरंभ होता है, उसका नाम वानप्रस्थ है। यह तृतीय आश्रम है। इस आश्रममें पुरुष अकेला रह सकता है और स्त्रीको भी साथ रख सकता है। सब इन्द्रियादिको वशमें लानेके लिये वह तपस्याके द्वारा प्रयत्न करता रहता है। प्राचीन कालके ऋषि-मुनिगण प्रायःवानप्रस्थही हुआ करते थे, जिनका विवरण पुराण आदि शास्त्रोंमें पाया जाता है। तदनन्तर अन्तमें जो आश्रम ग्रहण किया जाता है, उसका नाम है संन्यास'। आज-कल जैसी पृथ्वीभरमें प्रथा है कि एक गृहस्थाश्रमके ढगपरही समस्त जीवन व्यतीत करते और निवृत्तिकी ओर ध्यान भी नहीं देते, यह अनार्य प्रथा है। प्रकृति-माता जैसा इंगित करती है, मनुष्यको उसीका अनुसरण करना चाहिये। नहीं तो जीवका नीचे गिरना स्वाभाविक है। इस कारण प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म यथासमय अवश्य पालनीय हैं। संन्यासाश्रमके चार पृथक्-पृथक् अधिकार हैं-कुटीचक धर्म, बहूदक धर्म, हंसधर्म और परमहंस-धर्म इनके अलग-अलग साधन और आचार हिन्दू शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, जो संन्यास-गीता और संन्यास-पद्धतिमें द्रष्टव्य हैं। इस समय यद्यपि इसमें व्यतिक्रम दीख पड़ता है, तथापि जो व्यवस्था बाँधी गयी है, वह सर्वोत्तम है।

इस प्रकार जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त संस्कारोंसे संस्कृत होकर मनुष्य कैसी नियमित उन्नति कर सकता है, इसकी विस्तृत पद्धति हिन्दू-धर्ममें ही है और हिन्दू-जातिके अधःपतित होने पर भी ये सब संस्कृति के लक्षण हिन्दू जातिमें ठीक-ठीक मिलते हैं। इस समयके नेतृवृन्दोंको सबसे पहले हिन्दू-संस्कृतिका अध्ययन करके अन्य संस्कृतियोंके साथ तुलनात्मक गवेषणा करनी चाहिये। तत्पश्चात् हिन्दू-संस्कृतिकी रक्षा करते हुए यदि वे सामाजिक सुधारमें ध्यान देंगे, तभी वे सफल होंगे, नहीं तो ऐहिक और पारलौकिक पतनके कारण होंगे।

हिन्दू-संस्कृतिके सोलह मूलाधार

आर्य-जाति जो धर्मप्राण है, उसके प्राण-स्वरूप हिन्दू-धर्मके सोलह अंग प्रधान हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने सनातन हिन्दू धर्मको सोलह प्रधान अंगोंमें विभक्त किया है और इस धर्म को पूर्णचन्द्रकी तरह सोलह कलाओंसे पूर्ण बताया है। हिन्दू-धर्मके ये ही सोलह अंग हिन्दू-संस्कृतिके मूलाधार हैं।

(१) धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार-रूपी सदाचार समूह इसका प्रथम अंग है। (२) आत्माकी ओर ले जानेवाले यावत् विचार सदूविचार कहाते हैं। यह उसका दूसरा अंग है। इस दूसरे अंगकी पूर्तिके लिये आर्य-जाति शिखा-सूत्र धारण करती है। शिखाके द्वारा यह शरीर देव-मंदिर समझा जाता है। शिखा बन्धनके समय ब्रह्मा, विष्णु और महेशका ध्यान किया जाता है। सूत्रमें जो तीन लड़ें होती हैं, वे अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूत-शुद्धिकी द्योतक हैं। (३) वर्ण-धर्म सनातनधर्मका

तीसरा अंग है। क्योंकि रजोवीर्य-शुद्धिसे ही जातिकी शुद्धि बनी रहती है और जातिकी आधिभौतिक शुद्धि पिताके वीर्य और माताके रजकी शुद्धि पर निर्भर रहती है। (४) जातिकी इस शुद्धिका मूल माताओं के सतीत्व धर्मके पालन पर ही सम्पूर्ण रूपसे निर्भर है। इस कारण आर्य नारियोंमें सतीत्वका प्राधान्य रहता है और यह इसका चौथा अङ्ग है। (५) हिन्दू-जातिके धर्मका पाँचवाँ अंग आश्रम-धर्म है। इसके द्वारा मनुष्य-जातिका जीवन व्यवस्थित रहता है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति कैसे की जाती है, इसकी सब तरहसे शिक्षा दी जाती है। यहीं जीवनकी समाप्ति नहीं होती। तीसरे वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती और चौथे संन्यासाश्रममें निवृत्ति करायी जाती है। इन्हींके द्वारा मनुष्यजीवनकी सार्थकता होती है। (६) दैवीजगतपर विश्वास हिन्दू धर्मका छठा अंग है। यह स्थूलजगत सूक्ष्मदैवीजगतके अधीन होकर सुरक्षित होता है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के प्रतिनिधि होकर हमारे इस चतुर्दश लोकमय ब्रह्माण्डके सृष्टि-कार्यमें भगवान् ब्रह्मा, रक्षा-कार्यमें भगवान् विष्णु और प्रलय-कार्यमें भगवान् शिव नियुक्त हैं। उनके अधीन रहकर वसु नामक अनेक देवता, रुद्र नामक अनेक देवता और आदित्य नामक अनेक देवता अपने-अपने पदोंपर नियुक्त हैं। दूसरी ओर नित्य ऋषिगण ज्ञानराज्यका संचालन करते हैं और अर्यमा आदि नित्यपितृगण स्थूल-राज्यकी सुव्यवस्था करते हैं। पूर्वजन्मार्जित कर्मके अनुसार सुन्दर शरीर, कुरूप शरीर, अन्धता, वंधता आदि नित्यपितृगण ही माताके गर्भमें सृजन करते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज आदि चतुर्विध भतसंघकी व्यवस्था भी देवतागण ही करते हैं किसी मनुष्यको मारना अथवा बचाना ये सब काम देवताओं और असुर आदिकी प्रेरणासे ही मनुष्य किया करता है। राजा अथवा विचारपति जब विचार करने बैठता है, तब यदि वह आस्तिक हो तो उसके हृदयमें देवता प्रेरणा किया करते है। यही सब दैवीराज्यकी अलौकिक क्रियायें हैं। (७) भगवान्की दैवीशक्तिपर स्थिर विश्वास रखकर उनके तथा देवताओं और असुरोंके अवतारोंपर विश्वास करना हिन्दू-धर्मका सातवां अंग है। (८) योगमूलक और भक्ति-मूलक हिन्दू-धर्मकी जो उपासना-पद्धति है, वह इसका आठवाँ अंग है। स्थूलध्यानमूलक मन्त्रयोग, ज्योतिर्ध्यानमूलक हठयोग, बिन्दुध्यानमूलक लययोग और निर्गुण ध्यानमूलक राजयोग –ये ही योगमार्गके चार भेद हैं। इसीसे हिन्दुओंकी उपासना-प्रणाली बहुत विस्तृत है। (९) मूर्त्ति आदि सोलह प्रकारके दिव्य देशोंमे पीठ स्थापन करके सर्वव्यापक भगवत्सत्ताकी उपासना करना हिंदू-धर्मका नवाँ अंग है। (१०) शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक इसका दसवाँ अंग है। यह अङ्ग बहुत गम्भीर विज्ञानसे पूर्ण है। जीवात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय— इन पाँच कोषोंसे आच्छादित रहता है। शुद्धयशुद्धि और स्पर्शास्पर्श-विचारके द्वारा उन कोषोंकी पवित्रता सम्पादन करता हुआ अंतमें उन्नत साधक मुक्त हो जाता है। इन पाँचों कोषोंके पाँच स्वतंत्र अपवित्र करनेवाले पदार्थ हैं। अन्नमय कोषके दोषको मल कहते हैं। इस मलका लक्षण तो स्पष्टही है। प्राणमय कोषके दोषको विकार कहते हैं। शवादिके स्पर्श करनेसे यह विकार-

शक्ति बढ़ती है; क्योंकि प्राणमय कोष अन्य कोषोंको लेकर लोकांतरमें चला जाता है; तब भी मृतदेहमें अन्यकी प्राणशक्तिको खींचनेकी शक्ति बनी रहती है। इसी कारण अवगाहन स्नान, सुवर्ण स्पर्श, अग्नि स्पर्श आदिकी विधि श्मशान-यात्राके बाद करनेकी शास्त्राज्ञा है। मनोमय बाधक शक्तिको विक्षेप कहते हैं। यह दोष आशौच, सूर्य-चन्द्र ग्रहण आदिके समय आ जाता है, जिसके निवारणके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। विज्ञानमय कोषके दोषको आवरण कहते हैं और आनंदमय कोषके दोषको अस्मिता कहते हैं। कर्ममीमांसा शास्त्रमें इन दोषोंसे बचनेके लिए ही शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेककी विधि बतायी गयी है।

(११) यज्ञों, महायज्ञों पर विश्वास रखना हिन्दू-धर्मका ग्यारहवाँ अंग है। यज्ञ महायज्ञके हिन्दू-शास्त्रमें अनेक भेद कहे गये हैं जो धर्मकार्य एकाधारमें श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता सम्पादन करके साथ-ही साथ दैवीराज्यके सम्बर्द्धनका कारण होता है, उसको यज्ञ कहते है। यज्ञ और महायज्ञमें भेद यह है कि साधक अपने ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके लिये जो साधन करता है—जैसा कि पुत्रेष्टि याग और अग्निहोत्रादि, उसको यज्ञ कहते हैं और जो जगतके मंगलके लिये किया जाता है जैसे पंचमहायज्ञ, उसको महायज्ञ कहते हैं। ऋषियों [illegible] तृप्तिके लिये किये जाने वाले यज्ञको ब्रह्मयज्ञ कहते [illegible]और देवताओंके संवर्धनके लिये जो यज्ञ किया [illegible]ता है, उसको देवयज्ञ कहते हैं। अर्यमा आदि [illegible]नित्य पितृगण और अपने मृत पूर्वजोंकी तृप्ति के लिये किया जाने वाला यज्ञ पितृयज्ञ है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चतुर्विध भूतसङ्घके मंगलके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसको भूतयज्ञ कहते हैं। एक मनुष्य मनुष्यजातिका अंश है; इस कारण कर्त्तव्य-बुद्धिसे भोजनसे पहले जो कोई आ जाय, उसको अन्नादिसे तृप्त करना नृयज्ञ है। ये पञ्चमहायज्ञ आर्य-जातिके नित्यकर्म हैं; परन्तु इस समय इनको लोग बिल्कुल भूल गये हैं (१२) वेदों और वेद-सम्मत स्मृति, पुराण और तन्त्रादि शास्त्रोंमें स्थिर विश्वास रखना हिन्दू-धर्मका बारहवाँ अङ्ग है। (१३) कर्म तथा कर्मका बीज, संस्कार और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियापर दृढ़ विश्वास रखना हिन्दू-धर्मका तेरहवाँ अंग है। (१४) जन्मान्तरवादपर विश्वास हिन्दूधर्मका चौदहवाँ अङ्ग है। मनुष्य मृत्यु-लोकमें आता है और जाति, आयु, भोग प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति, और संस्कार—इन सातोंके अनुसार अपने कर्म-फलको भोगता है और भोग लेनेपर प्रेतलोक, नरकलोक, पितृलोक, असुरलोक और स्वर्ग आदि लोकोंमें जाता है और घूम-फिरकर पुनः इस मृत्युलोक में आ जाता है। इसी निरन्तर घूमनेको आवागमन-चक्र कहते है। इसी निरन्तर घूर्णायमान चक्रमें आत्मा या जीवको सहायता पहुँचाने के लिये नाना प्रकारकी श्राद्धविधि, तर्पणविधि और दायभागविधि स्मृतिकारोंने बाँधी है और श्राद्धादिके नाना अधिकार स्मृति-पुराणोंमें वर्णित हैं। आजकल दायभागको जैसा लोग समझते हैं, वैसी दायभागकी विधि साधारण विज्ञानविरुद्ध नहीं है। वह बड़ी सद्व्यवस्थासे बाँधी गयी है। (१५) निर्गुण-उपासना और सगुण-उपासनाकी नाना विधियाँ जो हिन्दूशास्त्रोंमें बतायी गयी हैं, वह हिन्दू-धर्मका पन्द्रहवाँ अङ्ग है और (१६) जीवकी कैवल्य-प्राप्ति इसका सोलहवाँ अङ्ग है। हिन्दू-संस्कृतिको समझनेके लिये सबसे पहले ऊपर लिखित इन सब बातोंकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

शिव पार्वती विवाह ।

जिस समय सप्तर्षिगण पार्वतीके विवाहका प्रस्ताव भगवान् शिवजीकी ओरसे लेकर पर्वतराज हिमालयके पास आये उस समय उन्होंने अपने स्वजाति बन्धुओंसे इसप्रकार पूछा 'हे मेरु! हे निषद! हे गन्धमादन! मन्दराचल! और हे मैनाक! तुम सबलोग अपनी यथोचित सम्मति दो, कि इस विषयमें क्या करना चाहिये। इसपर बातचीतमें कुशल मेनाने कहा - 'नाथ! इस समय आपसमें विचार करनेसे क्या लाभ? यह कार्य तो तभी सम्पन्न होगया था जब इस बड़भागिनी कन्याने जन्म लिया था। यह देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये ही उत्पन्न हुई है और भगवान् शिवके लिये ही इसका जन्म हुआ है। अतः यह शिवको ही ब्याही जानी चाहिये। इसने भगवन् रुद्रकी आराधना की है और रुद्रने भी वरदान देकर इसका सम्मान किया है। महाभागा पार्वती साक्षात् सती ही है। अतः यह शिवको ही ब्याही जाय यही उचित है यह वैवाहिक कृत्य हमारे द्वारा भगवान् शिवकी पूजामें निमित्त बनेगा।

मेनाकी यह उत्तम सम्मति सुनकर हिमवान् बहुत सन्तुष्ट हुए और सप्तर्षियोंने वहाँसे पुनः लौटकर भगवान् शिवसे उनकी प्रेयसी पार्वतीका वृत्तान्त इसप्रकार कहा-देवेश! गिरिराज हिमवान्ने अपनी कन्या आपको दे दी, इसमें संशय नहीं है। अब आप देवताओंको साथ ले शीघ्रही पार्वतीसे विवाह करनेके लिये प्रस्थान करें। ऋषियोंका यह वचन सुनकर परमेश्वर शिवने कहा—'विवाह कैसे होगा और बारातमें कौन-कौन चलेंगे। यह सब बात विस्तार पूर्वक बताओ।' इसपर उन ऋषियोंने भगवान् सदाशिवसे हँसकर कहा— देव! भगवान् विष्णुको बुलाना चाहिये। साथही ब्रह्मा, इन्द्र, ऋषिगण, यक्ष, गन्धर्व, नाग, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर, अप्सरागण तथा अन्यलोगोंको भी शीघ्र बुलाना चाहिये। ऋषियोंकी यह बात सुनकर महादेवजीने देवर्षिनारदसे कहा—'तुम शीघ्र जाकर भगवान् विष्णुको बुला लाओ। उसके बाद ब्रह्मा, इन्द्र तथा अन्य देवगणोंको भी ले आना।' लोक-पावन नारदने भगवान् शिवकी आज्ञा शिरोधार्य की और तुरन्त वहाँसे भगवान् विष्णुके प्रिय धाम बैकुण्ठलोकमें गये। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान्-विष्णु एक श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हैं। देवी-लक्ष्मी उनकी सेवा कर रही हैं। भगवान्की चार-भुजाएँ हैं तथा वे सब देवताओंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त तेजस्वी हैं। उनके श्रीअङ्गोंकी आभा नील-कमलके समान श्याम है, कानोंमें बहुमूल्य रत्न-जटित मनोहर कुण्डल झलमला रहे हैं। मस्तकपर परम सुन्दर विशाल मुकुट शोभा पारहा है, जिसमें जड़े हुए उत्तम रत्नोंकी प्रभासे वे और भी प्रकाशित हो रहे हैं। गलेमें सुन्दर वैजयन्तीकी वनमाला शोभा देरही है। इसप्रकार त्रिभुवन सुन्दर वे सनातन देव विष्णु बैकुण्ठमें विराज रहे हैं।

ऋषियोंमें श्रेष्ठ सर्वज्ञ नारदजी ब्रह्मवीणा बजाते हुए भगवान् विष्णुके समीप गये और शङ्करजीका संदेश सुनाते हुए बड़े आदरसे बोले— महाविष्णो! शीघ्र चलिये भगवान् शङ्कर तथा पार्वतीका मंगलमय विवाह निश्चित होगया है। उनकी ओरसे सबकार्योंकी व्यवस्था करनेवाले केवल आप ही हैं। नारदजीकी बात सुनकर देवाधि-

देव भगवान् जनार्दनने नारदजी तथा पार्षदोंके साथ वहाँसे प्रस्थान किया। भगवान् विष्णु योगेश्वरोंके भी प्रभु हैं, महान् हैं तथा परमात्मा हैं। वे उस समय गरुड़पर आरूढ़ हो श्रेष्ठ देवताओंके साथ आकाशमार्गसे भगवान् शिवके समीप आये। योगीजन जिनके चरणारविन्दोंका सदा चिन्तन करते हैं, वे महादेवजी भगवान् विष्णुको आया हुआ देख उठकर खड़े होगये और आनन्दमग्न हो उन्हें छातीसे लगा लिया। फिर भगवान् हरि और हर दोनों एकही आसनपर विराजमान् हुए। दोनोंने एक दूसरेकी कुशल पूछी। तत्पश्चात् महादेवजीने कहा—'विष्णो! पार्वतीकी तपस्यासे मैं उसके वशमें होगया हूँ और आज उसका पाणिग्रहण करनेके लिये हिमवान्के घर चलना चाहता हूँ। यह बातचीत हो ही रही थी कि ब्रह्माजी भी इन्द्र तथा सम्पूर्ण लोकपालोंके साथ वहाँ आ पहुँचे। इसीप्रकार सब असुर यक्ष दानव, नाग, पक्षी, अप्सरा और महर्षि भी आये। सबने एकत्र होकर भगवान् शिवसे एक स्वरमें कहा 'देवाधिदेव! अब आप हमलोगोंके साथ हिमवान्के घर शीघ्र पधारिये।' तब भगवान् विष्णुने भी इस प्रस्तावके अनुरूप बात कही—'शम्भो! आपको गृहसूत्रोक्त विधिके अनुसारही यहां वैवाहिककर्म करना चाहिये, जैसे नन्दीमुख श्राद्ध और मण्डपकी स्थापना आदि आवश्यक कार्य हैं।' भगवान् विष्णुके कथनानुसार महादेवजीने अपने हितके लिये सबकार्य वैसाही किया। आभ्युदयिक श्राद्धकर्ममें जिनका पूजन उचित और आवश्यक है ऐसे ब्रह्मादि देवताओंकी उन्होंने पूजा की। ब्रह्माजीके साथ कश्यप मुनिने नवग्रहोंका पूजन किया अत्रि, वशिष्ठ, गौतम भागुरि, भृगु, वृहस्पति, शक्ति, जमदग्नि पराशर, मार्कण्डेय, शिलावाक्, शून्यपाल, अक्षतश्रम्, अगस्त्य, च्यवन तथा गोभिल—ये और दूसरे भी अनेक महर्षि शिवजीके समीप आए। ब्रह्माजीकी आज्ञासे उन सबने वहाँ विधिपूर्वक शास्त्रोक्त रीतिसे शुभकर्म सम्पन्न कराये। चण्डीदेवी सब भूतोंसे घिरी हुई सबके आगे-आगे चलीं। उन्होंने अपने मस्तकपर सोनेका कलश ले रखा था। चण्डीके पीछे भगवान् शिवके गण थे और गणोंके पीछे इन्द्र आदि देवता लोकपाल और ऋषि चल रहे थे। ऋषियोंके पीछे भगवान् विष्णुके महातेजस्वी कुमुद आदि पार्षद थे जो भगवान्के असंख्य भावोंको शीघ्रही समझ लेनेवाले तथा बड़े मनोहर थे। परम पुरुषार्थ प्रदान करनेवाले तथा विश्वके एकमात्र बन्धु परमात्मा भगवान् श्रीहरि शिवजीके साथ-साथ चल रहे थे। तीनोंलोकोंके एकमात्र पालक भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ अपने वाहन गरुड़जीकी पीठपर बैठे थे। बड़े-बड़े मुनीश्वर अपने हाथोंमें सुन्दर चवँर लिये हुवा कर रहे थे। सर्वेश्वर श्रीहरि उन सबके साथ बड़ी शोभा पा रहे थे। इसीप्रकार ब्रह्माजी भी चारो वेदों, छहों वेदाङ्गों, आगमों इतिहासों और पुराणोंके साथ अपने वाहन हंसपर विराजमान थे। ब्रह्मा, विष्णु, देवेश्वरगण तथा ऋषिवृन्दसे घिरे हुए भगवान् शिव अपने वाहन वृषभपर बैठकर चल रहे थे। वे सम्पूर्ण योगेश्वरोंके लिये भी दुर्लभ तथा अगम्य हैं। वेद, देवता, सिद्ध और महर्षिगण जिसे धर्म कहते हैं, उसी धर्म स्वरूप, धर्मवत्सल वृषभपर महादेवजी आरूढ़ थे। मातृकाएँ उन्हें सब ओरसे घेरकर अपनी मधुर वाणी द्वारा भगवान् शिवके लिये मंगलगान कर रही थीं। इसप्रकार भगवान् महेश्वर सम्पूर्ण देव-दानवोंके साथ सब प्रकारसे अलंकृत हो नारियोंमें श्रेष्ठ पार्वतीजीका पाणिग्रहण

करनेके लिये गिरिराज हिमवान्‌के घर चले।

इधर गिरिराज हिमालय भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी पुत्रीके लिए उसी प्रकार सब मंगलाचार करा रहे थे। उन्होंने गर्गजीको पुरोहित बनाकर महान् वैभवके द्वारा माङ्गलिक भूमि निर्माण करायी। विश्वकर्माको बुलाकर उनके द्वारा बड़े उत्साहके साथ अत्यन्त विशाल मण्डप तैयार कराया, जो बहुतसी वेदियोंके कारण अतीव मनोहर जान पड़ता था वह मण्डप अनेक प्रकारके गुणोंसे तथा भाँति भाँतके आश्चर्य भरे दृश्योंसे सुशोभित था। वह अपनी दिव्य निर्माण-कलासे देवताओंका भी मन मोह लेता था।

तदनन्तर इन्द्र आदि सब देवता नारदजीको आगे करके हिमवान्‌के परम अद्भुत भवनमें एक साथ प्रवेश किया। उसे विश्वकर्माने विचित्र ढंगसे बनाया था। वहाँ अनेक प्रकारकी आश्चर्यभरी बातें देखनेमें आती थीं। वह यज्ञ—मंडप अत्यन्त पवित्र और उत्तम था। बहुत लोगोंने सर्वश्रेष्ठ बताकर उसकी प्रशंसा की थी। उसकी कारीगरी अद्भुत थी। वह मन और बुद्धिके लिये अतर्क्य था। बुद्धिमान् विश्वकर्माने इस प्रकार विचित्र यज्ञमंडपकी रचना की थी। वे सम्पूर्ण देवेश्वर ऋषियोंके साथ उस मण्डपमें प्रवेश करना ही चाहते थे तब तक हिमवान्‌की दृष्टि उनके ऊपर पड़ी। हिमवान्‌ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उन सबके ठहरनेके लिये बड़े मनोहर गृह प्रदान किये। गन्धर्व, सिद्ध, प्रमथ, यक्ष, देव, नाग, तथा अप्सरायें—इनमें जो जहाँ सुख पूर्वक रह सके, वहीं विश्राम स्थान हिमालयने दिया।

हिमवान्‌से सम्मानित होकर सब देवताओंने अपने परिवार और वाहनों सहित उस मण्डपमें आनन्द पूर्वक निवास किया। विश्वकर्माने उसमें बहुत विस्तृत अवकाश बना रखा था। ब्रह्माजीके निवासके लिये अत्यन्त प्रकाशमान स्थान बनाया गया था। उसी प्रकार भगवान् विष्णुके लिये दूसरा भवन बना था जो अत्यन्त विचित्र और बहुतही प्रकाशमान था। विश्वकर्माने उसे अपने हाथों सँवार कर अत्यन्त मनोहर बना रखा था। इसी प्रकार चण्डीगृह भी उन्होंने बड़ा सुन्दर बनाया था। उसके अतिरिक्त विश्वकर्माने जो एक अत्यन्त विचित्र परम मनोहर, महान् मंगलमय श्रेष्ठ देवताओं द्वारा प्रशंसित, कैलासके समान अतिशय प्रभापूर्ण तथा अत्यन्त शोभायमान भवन बना रखा था उसीमें हिमवान्‌ने महान् वैभवके साथ भगवान् शिवको ठहराया। इसी समय मेनादेवी अपनी सखियों तथा ऋषि मुनियोंके साथ भगवान् शिवकी आरती उतारनेके लिये आयीं। उस समय जो बाजे बज रहे थे, उनके शब्दसे तीनों लोक गूँज उठे। मेनाने तपस्वी शिवकी अपने हाथों आरती उतारीं। वे बड़ी सती साध्वी थीं। जामाताको देखकर उन्हे पार्वतीकी कही हुई सब बातें स्मरण हो आयीं और वे विस्मय विमुग्ध हो उठीं। मेना मन-ही-मन कहने लगीं अहो! पार्वतीने पहले मेरे समीप जो कुछ कहा था, उससे कहीं अधिक सौंदर्य इस समय मै महादेवजीके अंगोंमें देख रही हूँ। यह सौन्दर्य तो अनिर्वचनीय है।' इस प्रकार विस्मयमें डूबी हुई मेनादेवी अपने घरमें लौट आयीं।

उस समय पार्वती स्नान करके मङ्गलपीठपर बैठी थीं। ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंने सब ओरसे उन्हें घेरकर आरती उतारी। तदनन्तर गर्गाचार्यने कहा— 'विद्वानों! आप लोग इसी समय पाणिग्रहणके लिये भगवान् शङ्करको इस मण्डपमें ले आवें। इस कार्यमें शीघ्रता होनी चाहिये।' गर्गाचार्यका वचन सुनकर

गिरिराज हिमवान्‌के सब मन्त्री भगवान् शङ्करके पास गये और उन्होंने तीन कलशोंके जलसे माङ्गलिक विधिके अनुसार भगवान् सदाशिवको स्नान कराया तथा उनकी आरती भी उतारी। स्नान करके सुन्दर वस्त्र धारणकर लेनेके पश्चात् शङ्करजीका उन सबने पुनः पूजन किया। उसके बाद उन्हें सब प्रकार के आभूषणोंसे विभूषित करके हाथी पर चढ़ाया। उस समय भगवान् शिवके मस्तकपर बहुत बड़ा छत्र तना हुआ था, उस छत्रसे उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। ऊपरसे चँदोवा तना था और सब ओर से उनको चँवर डुलाये जा रहे थे। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र तथा सब लोकपाल 'वर' के आगे-आगे चलते हुए उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न दिखायी देते थे। उस यात्राके समय शख, भेरी, पटह आनक, और गोमुख आदि बाजे बज रहे थे। सम्पूर्ण गायक उत्तम माङ्गलिक गीत गा रहे थे। अरुन्धती, अनुसूया, सावित्री तथा मातृकाओंसे घिरी हुई लक्ष्मीजी भी उस शोभायात्रामें सम्मिलित थीं। इन सबके साथ जगत्‌के एकमात्र बन्धु भगवान् शिव अपने उत्तम तेजसे सुशोभित हो रहे थे। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि वायु, श्रेष्ठ लोकपाल तथा महर्षिगण भी उनके साथ थे। साक्षात् वायुदेव पंखा कर रहे थे। चन्द्रमाने उनके सिरपर छत्र लगा रखा था। सूर्य्य आगे रहकर अपने तेजसे तप रहे थे। देवराज इन्द्र हाथमें बेतकी छड़ी लेकर छड़ीदारका काम करते थे। इस प्रकार देवता और पर्वत भगवान् शिवके आगे चलते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे। उस समय देवता और मुनि भगवान् शिवके ऊपर फूल बरसा रहे थे, जिससे उनकी शोभा और भी बढ़ गई थी। सामने हिमवान्‌का सुन्दर भवन था जो महान् वैभव के कारण सब ओरसे शोभा सम्पन्न दिखायी देता था उस घरका आँगन सोनेका बना हुआ था। वहाँ द्वारे परे भगवान् शिवकी विशेष रूपसे पूजा हुई। फिर मनुष्य, देवता और दानवोंके द्वारा पूजित होकर उन्होंने उस भवनमें प्रवेश किया। इस प्रकार अन्तःपुरमें पहुँचकर भगवान् शिव यज्ञ-मण्डपमें पधारे। उस समय नाना प्रकारकी स्तुतियोंसे परमेश्वर शिवके गुण गाये जा रहे थे। वहाँ पहुँचने पर गिरिराज हिमवान्‌ने महेश्वरको हाथीसे उतारा और मङ्गलपीठपर बिठाकर सखियों सहित मेना तथा पुरोहितने उनकी विशेषरूपसे आरती की। वहाँ मधुपर्क आदिकी जो आवश्यक विधि है वह सब ब्रह्माजीकी आज्ञासे पुरोहितने तत्काल सम्पन्न किया। तत्पश्चात् अन्तर्वेदीमें प्रवेश करके जहाँ 'तन्वङ्गी' पार्वती समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो वेदीके ऊपर विराजमान थीं वहीं महादेवजी भी लाये गये। उनके साथ भगवान् विष्णु और ब्रह्मा भी थे। वृहस्पति आदि विद्वान् लग्नकी प्रतीक्षा कर रहे थे। गर्ग और वशिष्ठ मुनि जहाँ घड़ीका स्थान था वहीं बैठे थे। ज्योंही घड़ी पूरी हुई गर्गाचार्यने ॐकारका उच्चारण करके हाथ जोड़कर निवेदन किया। अब मङ्गलमय पुण्य मुहूर्त्त आ गया। पार्वतीने अपने हाथकी अञ्जलिमें अक्षत लेकर उसे शिवके ऊपर छोड़ा। फिर दही, अक्षत और कुशके जलसे उनका भली-भाँति पूजन किया।

इसी समय गर्गाचार्यके आदेशसे हिमवान् अपनी पत्नी मेनाके साथ वहाँ कन्यादान करनेको प्रस्तुत हुए। मेना सोनेका कलश लेकर उनकी अर्द्धाङ्गिनी बनी हुई थीं। परम सौभाग्यवती मेना समस्त आभरणोंसे विभूषित होकर हिमवान्‌के साथ बैठी थीं। उस समय हिमवान्‌ने सबको वर देनेवाले भगवान् विश्वनाथसे कहा 'आज मैं ब्रह्माजी तथा

भगवान् विष्णुका संग पाकर और अपने पुरोहित परम महात्मा गर्गजीके साथ बैठकर देवाधिदेव भगवान् शङ्करको कन्यादान करता हूँ। विप्रवर! इस समय कन्यादानके लिये उत्तम बेला आयी है। इसमें आप संकल्प पढ़ें।' बहुत अच्छा' कहकर वहाँ आये हुए सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने हिमवान्की बात स्वीकार की। वे सभी शुभ समयके ज्ञाता थे। उन्होंने तिथि, मास, नक्षत्र, आदिका यथावत् उच्चारण किया। फिर हिमवान् भगवान् शङ्करसे इस प्रकार बोले—

हिमवान्ने कहा—तात! महाभाग! आप अपने गोत्रका नाम बतावें और अपने कुलका विशेषरूपसे परिचय दें।

भगवान् शङ्करके मुखारविन्दसे इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं मिला। उस समय नारदजी बहुत हँसे और अपनी वीणा बजाने लगे। यह देखकर बुद्धिमान् हिमवान्ने उन्हें मना करते हुए कहा—'प्रभो! आप वीणा न बजाइये।' पर्वतके ऐसा कहनेपर नारदजी बोले—'गिरिराज! तुमने साक्षात शिवजीसे उनका गोत्र बतानेके लिये कहा है; परन्तु इनका गोत्र और कुल तो 'नाद' ही है। भगवान् शङ्कर न तो किसी कुलमें उत्पन्न हुए हैं और न इनका किसी विशेष कुलसे सम्बन्ध ही है। ये गोत्रोंके भी परमगति हैं। महादेवजी नादमें प्रतिष्ठित हैं और नाद उनमें प्रतिष्ठित है। अतः भगवान् शिव नादमय हैं और नादसे ही प्राप्त होते हैं। यही भाव व्यक्त करनेके लिये मैंने इस समय वीणा बजायी है। इनके गोत्र और कुलका नाम ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं जानते, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है। भगवान् शिवका कोई रूप नहीं है। इसीलिये किसी कुलमें उत्पन्न न होनेके कारण ये अकुलीन कहलाते हैं। गिरिराज! इसीलिये तुम्हारे ये 'जामाता' गोत्र-रहित हैं। राजन्! मेरे बहुत कहनेसे क्या लाभ। इनके अंशमात्रसे मोहित होकर ये ऋषि लोग भी इनके स्वरूपको यथावत् रूपसे नहीं जानते। यह कन्या कौन है, इस बातको अभी तुम भी ठीक ठीक नहीं जानते। शिव और पार्वती—इन दोनोंसे ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होती है तथा इन्हीं दोनोंके आधारपर यह टिका हुआ है।'

महात्मा नारदका यह वचन सुनकर हिमवान् आदि समस्त पर्वत और इंद्र आदि सब देवता विस्मित होकर उन्हें 'साधुवाद' देने लगे। भगवान् महेश्वरकी गंभीरताको जानकर वहां आये हुए सब विद्वान् आश्चर्यचकित हो परस्पर कहने लगे—जिनकी आज्ञासे ब्रह्माजीके द्वारा इस सम्पूर्ण विशाल विश्वकी सृष्टि हुई है, जिनसे अभिन्न होनेके कारण यह समस्त जगत परात्पररूप तथा आत्मबोध स्वरूप है, स्वतन्त्र परमेश्वररूपसे जानने योग्य है, वे भगवान् शिव ही अपने त्रिभुवनमय स्वरूपसे युक्त होकर सर्वत्र विराज रहे हैं।

तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी आज्ञासे हिमवान्ने कन्या-दान किया और कहा—हे परमेश्वर! मैं अपनी यह कन्या आपकी धर्मपत्नी बनानेके लिये अर्पित करता हूँ, कृपया स्वीकार करें। यह वाक्य बोलकर उन्होंने अपनी कन्या दे दी। फिर कमलके समान नेत्रोंवाले वे दोनों दम्पति (वर-वधू) वेदीके बाहर लाये गये तथा उन पार्वती और परमेश्वरको बाहरकी ही वेदीपर बिठाया गया। जब होमका कार्य आरम्भ हुआ तब ब्रह्माजी भगवान् शिवके समीपही ब्रह्मा-सनपर विराजमान हो गये। हवन पूरा होनेपर ब्राह्मण लोग शान्ति पाठ करने लगे। उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। उच्च स्वरसे बोले

जानेवाले वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे वहांकी सम्पूर्ण दिशायें गूँज उठीं। तत्पश्चात् देवाङ्गनाओंने महादेवजीकी आरती उतारी तथा ऋषि-पत्नियोंने उनका पूजन किया। गिरिराज हिमालयके घरकी स्त्रियोंने भी वरकी आरती उतारी। संगीतज्ञोंमें कुशल गंधर्व आदिने अपने गीतोंसे तथा महर्षियोंने स्तुतियों द्वारा भगवान् शिवको प्रसन्न किया। उदारचित्तवाले गिरिराज हिमालयने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर ऋषि, गंधर्व, यक्ष और वहां पधारे हुए अन्य लोगोंको भी बहुमूल्य रत्न भेंट किये इसके पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु और देवेश्वर भगवान् शिवको आगे करके भोजन करने लगे। हिमालयने उन सबका यथोचित सत्कार किया उन सबने एक साथ मिलकर और एक ही स्थानपर पंक्ति लगाकर साथ भोजन किया। कोई-कोई गण पंक्तिसे अलग होकर भोजन करते थे। उन्होंने अपने लिए पृथक् पात्र बना रक्खा था। नन्दी तथा वीरभद्र आदि महात्मा भगवान् शिवके पीछे बैठकर भोजन कर रहे थे। इंद्र आदि देवता तथा ऋषि-मुनि भी भगवान् महेश्वरके पास ही भोजन करते थे। चण्डीके गणोंने भी वहां भोजन किया। बेताल, क्षेत्रपाल, कूष्माण्ड, भैरव, शाकिनी, डाकिनी, यक्षिणी, मातृका, आदि चौंसठ योगिनी तथा अन्यान्य योगीजन भी उस महान् भोजमें सम्मिलित हुए थे।

इस प्रकार वे सब बराती खा-पीकर तृप्त और सन्तुष्ट हुए। उन सबके चित्तमें बड़ा आनन्द था। तदनन्तर ब्रह्मा आदि सभी देवता विश्राम करनेके लिये अपने-अपने डेरों पर गये। इस तरह हिमवान्ने बड़े समारम्भके साथ परम मंगलमय और अतिशय शोभायमान वह वैवाहिक उत्सव सम्पन्न किया। अन्तिम दिन हिमवान्ने उत्साहपूर्ण हृदयसे वस्त्र, आभूषण और भाँति-भाँतिके रत्न भेंट करके देवाधिदेव भगवान् शिवका पूजन किया। तत्पश्चात् वे विष्णु भगवान्का पूजन आरम्भ किये। सुन्दर-सुन्दरवस्त्रों और आभूषणों द्वारा उन्होंने लक्ष्मी सहित विष्णुका पूजन किया। इसीप्रकार ब्रह्माजी, बृहस्पतिजी और इन्द्राणी सहित इंद्रकी तथा अन्य लोकपालोंकी भी पृथक्-पृथक् पूजा की। वस्त्राभूषणों तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे भूत, प्रमथ और गुह्यक गणों सहित चण्डी देवीका भी पूजन किया। इनके अतिरिक्त भी जो लोग वहां पधारे थे उन सबका हिमवान्ने यथावत् सत्कार किया। इस प्रकार उस समय हिमवान्के द्वारा रुद्र देवता, ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, चारण, मनुष्य तथा अप्सरा इन सबका भलीभांति सत्कार किया गया।

इसके बाद भगवान् विष्णुने भी उसी तरह सब पर्वतोंका सत्कार किया। सह्याचल, विन्ध्याचल, मैनाक, गन्धमादन, माल्यवान्, मलय, महेन्द्र, मन्दराचल तथा मेरु इन सबका श्रीहरिने प्रयत्न पूर्वक पूजन किया। श्वेतकूट, श्वेतगिरि, नीलगिरि, उदयगिरि, शृङ्गाचल, अस्ताचल, मानसाचल, कैलाश तथा लोकालोक पर्वतका पूजन ब्रह्माजीने किया। इस प्रकार सभी श्रेष्ठ पर्वतोंकी वहां पूजा की गयी। साथही सम्पूर्ण पर्वत-वासियोंका भी पूजन किया गया। भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके साथ सबके स्वागत-सत्कारका कार्य समुचित रूपसे सम्पन्न किया। दूसरे दिन बारात लौटी। हिमालयने अपने बन्धुओंके साथ गन्धमादन पर्वत तक वरका अनुगमन किया। शिव और पार्वती दोनों महातेजस्वी दम्पति हाथी पर शोभा पारहे थे। ब्रह्माजी विमानपर और भगवान् विष्णु गरुड़पर बैठे थे। इंद्र ऐरावत

पर और कुबेर पुष्पक विमानपर विराज रहे थे। पाशधारी वरुण मगरपर तथा यमराज भैंसेपर सवार थे। नैर्ऋत प्रेतपर और अग्निदेव बकरेपर चढ़े थे। वायुदेव मृगपर तथा ईषान् वृषभपर आरूढ़ थे। इस प्रकार ये सब लोकपाल और ग्रह अपनी-अपनी सेनाओंके साथ वरको घेरे चल रहे थे। प्रमथ आदि गण भी वरयात्रामें सम्मिलित थे। जिनके कन्या-दानरूपी महान् दानसे भगवान् शङ्कर सन्तुष्ट हुए, वे गिरिराज हिमवान् तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये।

इस प्रकार भगवती पार्वतीका मंगलमय विवाह भगवान् शिवके साथ अद्भुत समारोहके साथ सम्पन्न हुआ था

❀ ❀ ❀

श्रीभगवद्गीता—द्वितीय अध्याय

(हिन्दी पद्यानुवाद—गतांक से आगे)

श्रीमोहन वैरागी

३३

फैलेगी अपकीर्ति जगत में
होगा हा उपहास महान।
श्रेष्ठ जनों के लिये धनञ्जय
अपयस है बस मृत्यु समान॥

३४

तुम्हें वीरगण भीरु कहेंगे
और हँसेगा स्वजन समाज।
जिनके थे तुम मान्य अभीतक
लज्जित वही करेंगे आज॥

३५

प्रतिपक्षी कौरव ये सारे
देंगे सदा तुम्हें धिक्कार।
लखकर अपनी हीन दशा यों
किसे न होगा क्लेश अपार॥

३६

उठो पार्थ अब धनुष सँभालो
तजो मोह ममता अज्ञान।
यदि मर गये स्वर्ग पाओगे
जीते तो साम्राज्य महान॥

३७

सुख दुख लाभ हानि यश अपयश
इन सबसे रहकर निर्लिप्त।
विजय पराजय एक समझकर
हो अब पार्थ युद्धमें लिप्त॥

३८

होकर विरत फलाफलसे तुम
रत हो कर्मसिद्धिमें पार्थ।
कर्मपाशमे तुम न बँधोगे
यदि है कर्म निपट निस्वार्थ॥

३९

इस प्रकार सब कर्म तुम्हारे
होंगे पार्थ पूर्ण निर्विघ्न।
होगी तुम्हें सफलता निश्चय
तथा दूर होंगे सब विघ्न॥

४०

कर्माकर्म ज्ञात है उसको
मति जिसकी रहती एकान्त।
स्वार्थ वासना निहित बुद्धि तो
होता सदा अनिश्चित भ्रान्त॥

(क्रमशः)

महापरिषद् सम्वाद ।

श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की प्रबन्ध समितिकी बैठक चैत्र कृष्ण ६ सोमवार २००८ तदनुसार ता० १७-३-५२ को सन्ध्याकाल ५ बजे श्री-आर्यमहिला महाविद्यालय भवनमें धर्मरत्न श्रीमान् सेठ बाबूलाल जी ढनढनिया महोदयकी अध्यक्षतामें हुई। जिसमें निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे—

धर्मरत्न श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढनढनिया जी
श्रीमती विद्यादेवी जी महोदया
श्रीमती मलावादेवी सूद
श्रीमान् बाबूकिशोरीरमण प्रसाद जी
श्रीमान् पं० रामशंकर जी वैद्य,
धर्मभूषण श्रीमान् ठाकुर लौटू सिंह गौतम जी
श्रीमान् पंडित अवधेशप्रसाद शर्मा जी
श्रीमान् पंडित रामअवतार पांडेय जी

गत बैठककी कार्यवाही पढ़ी गयी और पुष्ट की गयी।

महापरिषद्का आय-व्ययका मासिक हिसाब अक्टूबर सन् ५१ से जनवरी १९५२ तकका तथा विद्यालयका आय व्ययका मासिक विवरण नवम्बर ५१ से जनवरी ५२ तकका उपस्थापित हुआ और स्वीकृत हुआ।

सन् १९४९-५० के विद्यालयके आडीटरकी रिपोर्ट प्रिंसपल महोदयाके उत्तरके साथ पढ़ी गयी तथा सम्बन्धित कागज-पत्रोंका भी निरीक्षण किया गया। सर्व सम्मतिसे निश्चय हुआ कि जो उचित सुझाव आडिटरने दिया है उसका पालन किया जाय; किन्तु रिपोर्टके पैराग्राफ पाँचका तीसरा नम्बर और अन्तिम पैराग्राफमें जो आडीटरने आक्षेप किये हैं वे सर्वथा निराधार, अत्यन्त आपत्तिजनक और अपमानजनक हैं। ऐसा लगता है कि निरीक्षकने अपना सन्तुलन खोनेके कारणही ऐसी बातें लिख डाली हैं। यह समिति शिक्षाविभागसे अनुरोध करती है कि इस पर विचार करे। इस मन्तव्यकी प्रतिलिपिके साथ प्रिंसपल महोदयाका उत्तर शिक्षा-विभागको भेज दिया जाय।

यह भी निश्चय हुआ कि तीन हजारकी उधार की रकमपर जो आपत्ति है वह महापरिषद्की ओरसे सहायता दी गयी थी, अतः विद्यालयमें सहायता लिखी जाय।

गौरी अधिकारीका ता० १६-१२-५१ का त्याग पत्र प्रिंसपलकी रिपोर्टके साथ उपस्थापित हुआ। निश्चय हुआ कि उन्होंने एग्रीमेण्टके अनुसार दो महीनेका न तो नोटिस दिया है न नोटिसके बदले दो महीनेका वेतन ही दिया है। अतः सर्व सम्मतिसे निश्चय हुआ कि उनसे दो माहका वेतन २५२ रु० जो विद्यालयका पावना होता है उनके बाकी वेतन एवं प्रविडेण्ड फण्डसे शिक्षा विभागकी अनुमतिसे वसूल किया जाय और इसपर भी जो रकम बाकी पड़े उसको बट्टे खाते लिखा जाय।

महापरिषद्की प्रबन्ध समितिकी एक बैठक पुनः चैत्र शुक्ल प्रतिपदा बुधवार सं २००९ को महापरिषद्के कार्यालयमें हुई थी जिसमें विद्यालयको डिग्री कालेज बनानेके सम्बन्धमें अनेक विचार विमर्श हुआ और उसके लिये आवश्यक कार्यवाही करनेके विषयमें मन्तव्य स्वीकृत हुए। इस बैठकमें सर्व सम्मतिसे श्रीमान् रायगोविन्दचन्द्र जी एम. ए, श्रीमान् गङ्गाशंकर मिश्र एम. ए., श्रीमान् नागेश उपाध्याय एम ए, श्रीमान् प्रो० एस. एल. दर एम. ए और श्रीमान् कविराज ब्रजमोहन दीक्षित इस समितिके सदस्य निर्वाचित किये गये।

धार्मिक साहित्यकी अपूर्व निधियाँ

धर्म-विज्ञान

तीन खण्डों में

(ब्रह्मीभूत श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा विरचित)

सनातनधर्मके विभिन्न विषयका विशद प्रतिपादन तुलनात्मकरूपसे इस बृहद् ग्रन्थमें किया गया है और इसमें पश्चिमी विद्वानोंके प्रमाण भी दिये गये हैं, यह ग्रन्थ तीन खण्डोंमें प्रकाशित है। प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इसका अध्ययन करना परमावश्यक और लाभदायक है। यह पुस्तक एम० ए० क्लासकी पाठ्य-पुस्तक हो सकती है। मूल्य प्रथम खण्ड ५), द्वितीय खण्ड ४), तृतीय खण्ड ४)।

धर्मतत्त्व

धर्माधर्मसम्बन्धी ज्ञानप्राप्त करना प्रत्येक हिन्दूका आवश्यक कर्तव्य है। इस धर्मग्रन्थमें उसके अङ्गोंपर संक्षेपसे बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। अतः प्रत्येक गृहस्थके लिये यह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है, ऐसे स्कूल और कालेज तथा पाठशालाएँ जिनमें धार्मिक शिक्षा देनेका नियम है, इस धर्मग्रन्थसे काफी लाभ उठा सकते हैं। स्त्री-पुरुष, बालक बालिकाओं यानी सभी वर्गके लोगोंके लिये यह समान हितकारी है। धर्मज्ञानकी ज्योतिको घर-घरमें जगानेके लिये यह सर्वाङ्गसुन्दर एवं उपयोगी ग्रन्थ है। मूल्य १=) मात्र।

आर्य-महिलाके नियम

१—'आर्यमहिला' श्री आर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्‌की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करनाही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्‌के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमास प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादमें कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें बिलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिए पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्यमहिला' जगतगञ्ज, बनारस कैंट के पतेसे आना चाहिए।

७—लेख कागजपर एकही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होने वाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक परे प्राप्त नहीं होंगे प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है:--

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५) प्रतिमास
„ „ तीसरा पृष्ठ	२५) „
„ „ चौथा पृष्ठ	३०) „
साधारण पूरा पृष्ठ	२०) „
„ १/२ „	१२) „
„ १/४ पृष्ठ	८) „

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छपानेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

क्रोडपत्र

क्रोडपत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये, अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

Regd. No. A-197 Arya-Mahila.

'आर्यमहिलाके अलौकिक सुन्दर सचित्र विशेषांक

आर्यमहिलाके पाठकोंको तथा धार्मिक साहित्यप्रेमियोंको भलीभाँति विदित है कि, समय-समयपर प्रकाशित आर्यमहिलाके सुन्दर सचित्र विशेषांकोंने हिन्दी-साहित्यमें एक अपूर्व हलचल मचा दी थी और धर्मजिज्ञासुओंकी चिरतृषाको तृप्त किया था। अब थोड़ीसी प्रतियाँ और शेष हैं धार्मिक साहित्यका ऐसा विवेकपूर्ण चयन और संकलन अन्यत्र दुष्प्राप्य है। आजही अपनी कापीका आर्डर दीजिये।

परलोकाङ्क ३) कर्माङ्क ३) धर्माङ्क ३)

ज्ञान और भक्तिका अद्वितीय प्रकाशन

भगवान् वेदव्यास प्रणीत श्रीमद्भागवतका एकादश स्कन्ध

(मूल और सरल हिन्दी अनुवाद सहित)

सम्पूर्ण भागवतका सारभूत यही एकादश स्कन्ध ज्ञान और भक्तिसे ओतप्रोत है। सांख्ययोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि सभी गूढ़ विषयोंका सुन्दर, सरल और सरस विवेचन इस एक स्कन्धमें सन्निहित है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी-सी प्रतियाँ छपी हैं। अतः शीघ्र आर्डर भेजकर अपनी प्रति मँगा लें यह दुर्लभ प्रकाशन प्रत्येक हिन्दूके लिये संग्रहणीय है। मूल्य ३।) मात्र

व्यवस्थापक—आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्,
जगतगंज, बनारस।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला-कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।
मुद्रक—सर्वोदय प्रेस, लहुराबीर, बनारस।

श्री आर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्‌की—मुखपत्रिका

आर्य्य-महिला

प्रधान सम्पादिका :—

श्रीमती सुन्दरीदेवी, एम्० ए०, बी० टी०

विषय-सूची

मातृभाषा हिन्दीके लिये—

प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है कि वह हर प्रकारके व्यवहारमें हिन्दीभाषा और देवनागरी लिपिको ही अपनाकर उसे राजभाषा और राष्ट्रभाषाका समुचित स्थान दिलानेमें दृढ़-प्रतिज्ञ हो और दूसरोंसे भी यही प्रतिज्ञा करावे।

— माननीया अम्मामाता

अर्द्धं भार्य्या मनुष्यस्य, भार्य्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्य्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्य्या मूलं तरिष्यतः॥

श्रावण, सं० २००६ | वर्ष ३१, संख्या ५ | अगस्त, १९४९

सर खनतहिं जनम सिरान्यो

कबहूँ मन विश्राम न मान्यो।

निसिदिन भ्रमत, विसारि सहज सुख, जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो॥

जदपि विषय संग, सहे दुसह दुख, विषम जाल अरुझान्यो।

तदपि न तजत, मूढ़ ममता बस, जानतहूँ नहिं जान्यो॥

जनम अनेक, किये नानाविधि, करम कीच चित सान्यो।

होई न विमल, विवेक नीर विनु, वेदपुरान वखान्यो॥

निजहित नाथ, पिता-गुरु-हरिसों, हरषि हृदय नहिं आन्यो।

'तुलसीदास' कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥

— महात्मा तुलसीदास

आर्यमहिलाका आदर्श और कालिदास

श्रीयुत—केदारनाथ शर्म्मा सारस्वत, सुप्रभात-सम्पादक

भारतकेही नहीं; विश्वके महाकवि कालिदासके सम्बन्धमें हमारी यह एक साधारण धारणा है कि वे श्रृङ्गाररसके महान् कवि थे। उनके काव्य और नाटक प्रायः नायक-नायिकाओंकी प्रेम-कथाओंके आधारपर ही निर्माण किये गये हैं। यद्यपि कालिदाससे कहीं अधिक नग्नश्रृङ्गारका वर्णन करनेवाले श्रीहर्ष, कुमारदास, माघ आदि अनेक कवियोंके रहते भी कालिदासकीही श्रृङ्गारमें अधिक प्रसिद्धिका कारण हमारी उनके प्रति अनभिज्ञता है। हम काव्योंका अध्ययन काव्य एवं अलङ्कारोंको रस और व्यङ्गथकी दृष्टिसे करते हैं। हम कविके उस सूक्ष्मतम व्यङ्गथकी ओर अपनी दृष्टिका प्रयोग नहीं करते, जिससे प्रेरित होकर कवि अपने काव्यके निर्माणमें प्रवृत्त होता है और जो उसका अन्तिम और महान् लक्ष्य होता है।

काव्यका प्रधान उद्देश्य—कान्तासम्मित उपदेश है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी कविताका अन्तिम लक्ष्य या व्यङ्गथ अथवा आदर्श है:—रामका चरित्र अनुकरणीय है, भरत, लक्ष्मण, हनूमानके चरित्र अनुकरणीय हैं, रावण, वाली या मन्थरा, कैकेयीके नहीं!

इसी प्रकार अपने समयका प्रतिनिधि कवि तत्कालीन समाजमें प्रचलित बुराइयोंको दूरकरनेका लक्ष्य रखकर अपनी सरस-मधुर वाणीद्वारा समाजके लिये समुचित कर्तव्य और अपनी संस्कृतिके उच्चतम आदर्शको अलक्षितरूपेण उपस्थित करता है, जिसका सहृदय पाठकके हृदयपर अदृश्य किन्तु दृढतम प्रभाव पड़ता है।

कालिदास उसयुगके प्रतिनिधि हैं, जो भारतका स्वर्णयुग कहा जाता है। गुप्तकालीनभारत, स्वर्णभारत था भारतकी सभ्यता, कला, सुख, समृद्धि, ऐश्वर्य, वैभव और विद्वत्ता उससमय परम सीमापर पहुँच चुकी थी। राजा और धनी विलास-वासनामें चूर्ण थे। धन-वैभव-मत्त राजाओंके अन्तःपुर कामिनी-करकलित वीणाकी झंकारोंसे झांकारित थे। राजमहल दिनरात नृत्यगीत और मृदङ्गोंकी मेघ-गम्भीरध्वनिसे मुखरित थे। कादम्बरी और कामिनीका बोलबाला था। परन्तु इतना होनेपर भी वे आजकलके विलासी राजा-रईसोंके समान कर्तव्यच्युत न थे। उनका जीवन विदेशियोंसे स्वदेशकी रक्षाके लिये सर्वदा सन्नद्ध रहता था, वे महान्से महान् त्याग करनेके लिये, धर्म और देशपर प्रसन्नताके साथ बलिदान होनेके लिये सदा प्रस्तुत थे और शास्त्र एवं धर्मकी आज्ञा माननेवाले सच्चे वीर थे। फिर भी उस भारतीय-आर्य संस्कृतिकी उनके द्वारा अवहेलना हो जाती थी। आर्यसंस्कृतिके सच्चे सन्देश वाहक महाकवि कालिदासने इन्हें शिक्षा देने और आर्ष-पथ-प्रदर्शन करानेके लिये कान्तासम्मित उपदेशका मार्ग ग्रहण किया था। उन्होंने किसी भी तत्कालीन अपने संरक्षक राजाका नाम तक नहीं लिया, न उनकी प्रशस्तिमें एक पङ्क्तिका भी उपयोग किया।

अपने प्रथमकाव्य कुमारसम्भवमें उन्होंने एक पक्षका सुन्दर और सजीव चित्र अङ्कित किया है। अनिन्द्य सुन्दरी पर्वतराज कन्या पार्वती, अखण्ड ब्रह्मचारी परमतपस्वी शिवजीपर आसक्त होकर उन्हें अपने सौन्दर्यके जालमें फँसाना चाहती थी। सभी देवता उसके सहायक थे। वे उस महातेजस्वी ब्रह्मचारीकी तेजः प्रसूत एक ऐसी महावीर और वर्चस्वी सन्तान चाहते थे जो उनकी रक्षा कर सके। सुन्दर अवसर पाकर देवराज इन्द्रसे प्रेरित काम ने शिवजीके प्रशान्त-पावन आश्रममें

सहसा अपना जाल बिछा दिया। उसके अभिन्न मित्र वसन्तने अकालमें ही तपोवनपर आक्रमण किया, सौन्दर्यगर्विता नागराजपुत्री पार्वती वसन्त पुष्पाभरणको धारण किये हुए अपने अनिन्द्य रूपसे भोले-भाले शिवजीके हृदयपर प्रभाव जमानेके लिये सज-धजके साथ चल पड़ी। कामने बाण चला दिया। परन्तु महायोगी शिव तनिक भी विचलित न हुए। सच है—

"विकार हेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

समूची योजना विफल रही।

यह भारतीय संस्कृतिका आदर्श नहीं है कि आर्य-रमणी ऐसे दुर्लभ पतिको प्राप्त करनेके लिये अपने बाह्यरूपके आकर्षणका प्रयोग करे। भारतीय-संस्कृतिमें ऐसे स्वर्गीय और सच्चे प्रेम, पतिको प्राप्त करनेके लिये सच्चे त्याग और कठोर तपकी आवश्यकता है। बाह्य आकर्षणसे होनेवाला प्रेम चिरस्थायी नहीं होता, वह बाहरी ही रहता है।

आर्य-संस्कृतिके इस महान् सत्यको कविकुल-गुरु दो श्लोकोंमें प्रकट करते हैं जो इस काव्यका वास्तविक तत्व है:—

तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्न मनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अनाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं
तथा विधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

आखोंके सामने इसप्रकार कामदेवको भस्म होते देखकर पार्वतीकी सारी आशाएँ मिट्टीमें मिल गयीं और टूटे हुए हृदयसे अपने अनुपम सौन्दर्य को कोसने लगीं, क्योंकि जिससुन्दरतासे अपने प्रियतमको रिझा न सकी—ऐसी सुन्दरता व्यर्थ है।

अतः उसने यह निश्चय कर लिया कि इस असफल बाह्यरूपको अब वह तप और समाधि द्वारा सफल और सुन्दर बनानेका प्रयत्न करेगी। बातभी ठीकही है, ऐसा अनुपमपति और वैसाही सच्चाप्रेम बिना तपस्याके योंही नहीं प्राप्त होसकता।

जो स्त्रियाँ प्रेमको इतना सस्ता समझती हैं उनके लिये कालिदासकी यह मार्मिक शिक्षा है। तत्कालीन भारतकी स्त्रियाँ अपने देव-दुर्लभ बाह्य-सौन्दर्यके गर्वके कारण भारतीय दाम्पत्य प्रेमके आदर्शको भूलती जारही थीं, वे प्रेमको सस्ती, सुलभ, बाजारू वस्तु समझने लगी थीं। यही कारण था कि कविकुलगुरुने इस अनुपम और सरस-कोमल काव्यरचनाद्वारा आर्यमहिलाके सच्चे आदर्शको जनताके सन्मुख उपस्थित किया था; यही कुमार सम्भवका मुख्य तत्व, ध्येय या अन्तिम और उत्तम व्यङ्ग्य है।

इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तलमें भारतीय संस्कृतिके महान् गुरु कालिदासने ऐसे ही युवक और युवतीके प्रेमका दूसरी पृष्ठ भूमिकापर चित्रण किया है।

दुष्यन्तका चरित्र तत्कालीन विलासिता प्रेमी युवक राजाओं और धनिकोंका है जो भ्रमरके समान किसी अलौकिक सौन्दर्यशाली युवती-प्रसून को देखकर तत्काल उसपर मुग्ध होकर रसपान करनेके लिए सभी सम्भव प्रयत्नोंका प्रयोग कर भोली-भाली बालाओंको प्रेम पासमें बाँधकर वासनाकी तृप्ति कर लेते हैं और बादमें किसी दूसरे नव-विकसित कुसुमरसके मदसे मत्त होकर उसे भूल जाते हैं। गुप्त-कालीन भारतमें ऐसी प्रेम लीलाएँ सर्वथा सम्भव थीं। कविने इस सजीव शब्द-चित्र द्वारा ऐसे ही बाह्य सौन्दर्यके चक्करमें पड़कर आर्य-संस्कृतिक आदर्शसे भ्रष्ट होनेवाले युवकों और युवतियोंको एक मधुर और हृदयग्राही शिक्षा दी है, विशेषतः उन युवतियोंको

जो अपने भोलेपनके कारण विलासी युवकोंके धन, वैभव, ऐश्वर्य और चाटुकारितामें फँसकर अपने गुरुजनोंकी अवहेलना करके अमर्यादित हो जाती हैं। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें भोली-भाली युवतियोंका नियन्त्रण उनके पिता, पति और पुत्र पर रखा गया है। पिता कण्वकी अनुपस्थितिमें तपोवनके अन्दर आये हुए अपरिचिप एक शिकारी राजाका शिकार बन कर यौवनके उन्मादमें उन्मत शकुन्तलाने आर्य-मर्य्यादाका उलंघन किया था, फलस्वरूप एक सम्राट्के प्रेमके प्रलोभनने उसे अनाथ एवं असहाय बना दिया, वह कहींकी न रही। धोखेबाज विलासी राजाने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि हम राजा लोग न जाने ऐसी-ऐसी कितनी ही प्रेमिकाओंसे सम्बन्ध रखते हैं। वास्तवमें उन्मादिनी शकुन्तलाके अपराधका यही प्रायश्चित्त भी था कि भूमि फट जाय और उसमें सर्वदाके लिये विलीन हो जाय।

धोखेबाज शिकारी राजाके तपोवन-प्रवेश और वहाँके भावदूषित वातावरणका अभास प्रथम अङ्कमें जो सुन्दरतासे तथा भाव पूर्ण व्यङ्ग्य द्वारा व्यञ्जित किया है—वह महाकविका ही कौशल है।

"हे तपस्वियो! आकर तपोवनमें प्राणियोंको बचाओ। आखेटका प्रेमी राजा दुष्यन्त पासही आ पहुँचा है। उसके घोड़ेकी टापोंसे उठी हुई और साँझकी ललाई समान लाल-लाल धूल टिड्डी दलके समान उड़कर आश्रमके उन वृक्षोंपर पड़ रही है जिनकी शाखाओंपर बल्कलके गीले वस्त्र फैलाए हुए हैं।

और देखो—"राजाके रथसे डरा हुआ यह जंगली हाथी हमारी तपस्याके लिए साक्षात् विघ्न बना हुआ हरिणोंके झुण्डको तितर-बितर करता हुआ तपोवनमें घुसा आ रहा है। इसने अपनी करारी टक्करसे एक वृक्ष उखाड़ लिया है, जिसमें उसका दाँत फँसा हुआ है। और टूटी हुई लताएँ उसके पैरोंमें उलझी हुई हैं।

राजा दुष्यन्त हाथी है, जो तपस्वीने ऋषिकन्याओंके लिये चिरसञ्चित तपस्याका सचमुच विघ्न-स्वरूप है। महर्षि कण्वके आश्रमको उसने उखाड़ फेंका है। और उसपर उसका दाँत गड़ गया है। भोली-भाली आश्रित लताएँ—शकुन्तला, प्रियम्वदा, अनसूया—उसके पैरोंमें उलझ गयी है। कितना सुन्दर और गम्भीर व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार कालिदासके प्रत्येक शब्दमें उपदेशके साथ-साथ व्यङ्ग्य आदिकी अनेक विशेषताएँ हैं जिनसे वे विश्वके महाकवि कहे जाते हैं।

अस्तु! सारांश यह कि शृङ्गारके महाकवि कहे जानेवाले कविकुलगुरु ने आर्यमहिलाके उस महनीय आदर्शका चित्र उपस्थित करते हुए शकुन्तलाको प्रेम-तपस्विनी बनाकर और दुष्यन्तको भी विरहाग्निमें तपाकर सच्चा सम्मिलन कराया है जो भारतीय नारीका महान् वैशिष्ट्य है।

कविका तीसरा और प्रौढ़कालीन चित्र, मेघदूत भी एक सच्चे और पवित्र प्रेमका आदर्श प्रदर्शित करता है। नवीन प्रेमीका प्रथम-प्रणयके गम्भीर प्रवाहमें कर्तव्यच्युत होजाना अधिक सम्भव है, परन्तु यह आदर्श नहीं है, प्रत्युत प्रमाद है। भारतीय संस्कृतिमें प्रमाद प्रेमका कलङ्क है। सच्चा प्रेम तो जीवनको इतने ऊँचे दिव्य स्तर पर ले जाता है, जहाँ प्रमादका स्थान ही नहीं है। यक्ष-दम्पती प्रेमोन्मादमें अपने नित्यकर्तव्यमें प्रमाद करने लगे, अपराध-स्वरूप दोनोंको दण्ड भोगना पड़ा। विरहावस्थामें कविने पति-पत्नीके सच्चे प्रेम और मनोभावोंका जो वर्णन किया है वह भारतीय दम्पतीका पवित्र आदर्श है। मेघदूतमें शृङ्गारका समुचित, शुद्ध और उत्कृष्ट वर्णन, भारतीय दम्पतीके आदर्श प्रेमका द्योतक है।

रघुवंशमें कविकुलगुरु ने आर्य्यललना-शिरोमणि सीताका चित्रण किया है। यहाँ कविने भारतीय आर्य्यमहिलाका उच्चतम आदर्श, अगाध-हृदय एवं अनन्त क्षमताका वर्णन एकवाक्यमें किया है—

सोऽहं तपः सूर्य-निविष्ट-दृष्टि
रूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
त्वमेव भर्ता नच विप्रयोगः ॥

अर्थात्—प्रसूति अनन्तर सूर्यमें आँखें गड़ाकर इसलिये तपस्या करूँगी कि जिससे आगामी जन्ममें तुम पुनः मेरे पति बनो और फिर कभी इस प्रकार वियोग न हो।

एक सम्राट्‌की आसन्नप्रसवा निरपराधिनी धर्मपत्नी गङ्गातटके हिंस्रजन्तुओंसे भरे भीषण जंगलमें निर्दयतापूर्वक प्रियपतिद्वारा धोखा देकर निर्वासित किये जानेपर पतिकेलिये एक आर्य-ललनाका अन्तिम सन्देश प्रत्येक भारतीय आर्य्य-ललनाके लिये महान् आदर्श है।

इस प्रकार हमारे स्वर्णयुगके स्वर्ण कविने अपने प्रत्येक शब्द चित्रमें आर्यनारीके उस उच्चतम आदर्शका सजीव चित्रण करते हुए भारतीय साहित्यकी महत्ताके साथ-साथ भारतीय-संस्कृतिके महान् पथ-प्रदर्शकका कार्य किया है। उनकी काव्य रचनाओंका यही मुख्य ध्येय था जिसमें वे सबसे अधिक सफल हुए।

उनकी प्रत्येक रचना भारतीय नर-नारीके सुखद दामात्य-जीवनका निर्माण करनेके लिए भारतीय संस्कृति और उसके आदर्शोंके साथ-साथ सुमधुर शब्दों द्वारा मन्त्र-शास्त्रका काम करती है इसीलिए ऐसे काव्यको कान्ता सम्मित उपदेश (कान्ताका उपदेश) कहा गया है।

—✿—

ज्योति-भारत

ज्योति भूमि,
जय भारत देश !
ज्योति चरण धर जहाँ सभ्यता
उतरी तेजोन्मेष !
समाधिस्थ सौंदर्य्य हिमालय;
श्वेत शांति आत्मानुभूतिलय,
गंगा यमुना जल ज्योतिर्मय
हँसता जहाँ अशेष !

फूटे जहाँ ज्योतिके निर्झर
ज्ञान भक्ति गीता वंशी स्वर,
पूर्णकाम जिस चेतन रज पर
लोटे हँस लोकेश !
रक्त-स्नात मूर्छित धरती पर
बरसा अमृत ज्योति स्वर्णिमकर
दिव्य चेतनाका प्लावन भर
दो जगको आदेश !

—श्री सुमित्रानंदन पंत

हिन्दूकोड-बिल हिन्दूसंस्कृतिका घातक

श्रीमती—माननीया विद्यादेवी महोदया

प्रस्तावित हिन्दूकोड-बिलके विषयमें देशके बड़े-बड़े विचारशील व्यक्ति—स्त्री-पुरुष दोनों ही अनेक दृष्टिकोणसे अपनी-अपनी सम्मति व्यक्त कर चुके हैं। यहां केवल धार्मिक दृष्टिकोणसे ही उसपर संक्षिप्त विचार किया जायगा।

हिन्दू-संस्कृतिकी अपनी कुछ विशेषता है; वही विशेषता उसका प्राण है। जैसे बिना प्राणके शरीर कुछ ही देरमें सड़ने लग जाता है, और सड़-गलकर मिट्टीमें मिल जाता है, वैसे ही यदि हिन्दू-संस्कृतिकी वह विशेषता मिटा दी जाय, तो हिन्दूजातिका अस्तित्व ही मिट जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है। इसकी वह विशेषता यही है कि हिन्दुओंके जीवनके प्रत्येक क्रिया-कलाप, आचार-व्यवहार और चेष्टाओंके साथ धर्मका अविच्छिन्न सम्बन्ध है एवं उसकी नींव आध्यात्मिकतामें है। अन्यान्य पाश्चात्य देशोंकी तरह केवल Eat drink and be marry 'खाओ, पीओ और मौज करो' इतना ही हमारे जीवन का लक्ष्य तथा उद्देश्य नहीं है। उदाहरणार्थ हिन्दुओंका विवाह ही ले लिजिये। यहां विवाह केवल इन्द्रियोंके सुख-भोगका साधन नहीं, किन्तु एक प्रधान धार्मिक संस्कार है। उसका लक्ष्य दम्पतीकी आध्यात्मिक उन्नति और सन्तान-की उत्पत्तिके द्वारा पितरोंको तृप्ति तथा सम्वर्द्धन है। इस संस्कारके द्वारा स्त्री-पुरुष एक पवित्र सूत्र-में सदाके लिये बँध जाते हैं। वैदिक मन्त्रोंद्वारा, देवता, अग्नि, ब्राह्मण तथा उपस्थित बन्धु-बान्धव एवं जन-समुदायके सामने एक दूसरेको शरीर, मन, प्राण सब सदाके लिये अर्पण कर देते हैं। इसी कारण यहां विवाह-विच्छेदकी कोई कल्पना भी सम्भव नहीं है। इसी संस्कार-जनित परम्परागत संस्कृतिके कारण इस महान् देशको अनेक सती देवियोंने पवित्र किया है और आज भी कर रहीं हैं; जिनका नाम लेकर हिन्दूसमाज अपनेको गौरवान्वित और पवित्र समझता है। यहांकी आर्य-ललनाएँ एक पुरुषको केवल इसी जन्मके लिये नहीं, किन्तु अगले जन्म तथा परलोक तकके लिये एक ही बार पतिरूपसे वरण करती हैं; अतएव वे आर्यदेवियाँ विवाह विच्छेद (तलाक) अथवा विधवा विवाहकी बात स्वप्नमें भी कभी सोच नहीं सकती हैं। और ऐसी बातोंको सुनना अपना अपमान समझती हैं। आजकल जो स्त्रियां ऐसी बात कहती तथा इसके लिये आन्दोलन करती हैं, वे अनार्य-संस्कृतिमें पाली-पोसी गयी अनार्य स्त्रियां है, इनकी संख्या कोटि-कोटि आर्य-देवियोंकी तुलनामें अत्यन्त ही नगण्य है।

इसी प्रकार हिन्दूओंका उत्तराधिकार तथा सम्पत्तिमें अधिकारका विचारभी धर्मके सम्बन्धसे ही किया गया है। हिन्दूजाति परलोकमें विश्वास करती है, मृत्युके बाद आत्माका लोकान्तर गमन तथा मृतात्माके दुःख-सुखका भोग आदि हमारे शास्त्रोंसे सिद्ध है। अतः श्राद्ध-तर्पण आदिके द्वारा मृतात्माको शान्ति-सुख पहुंचानेके जो अधिकारी होते हैं, उन्हींको मृतात्माद्वारा अधिकृत सम्पत्तिमें अधिकार शास्त्रकारोंने दिया है, जिनको उसके श्राद्ध-तर्पणका अधिकार नहीं है, उनको सम्पत्तिमें भी अधिकार नहीं है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कन्याका पिताकी सम्पत्तिमें अधिकार नहीं है, क्योंकि कन्या विवाह हो जानेपर अन्य गोत्रमें चली जाती है, इस कारण उसको पिता-माताका श्राद्ध-पिण्डदानादिमें अधिकार नहीं रहता है। हिन्दू संस्कृतिमें परलोकगत आत्माकी शान्ति तथा उन्नतिके लिये श्राद्ध-तर्पणका विशेष महत्त्व है।

अर्जुन ने गीतामें कहा ही है—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्यच।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्त पिण्डोदक क्रियाः॥

अर्थात् कुलमें उत्पन्न सङ्कर प्रजा कुलनाशकों-के नरकका ही कारण बनती है। उनके पितर श्राद्ध तर्पण आदि क्रियाओंके लुप्त हो जानेसे पतित हो जाते हैं।

श्राद्धादि पितृकार्यमें केवल स्वगोत्र वालोंका ही अधिकार माना गया है। दत्तक पुत्रके विषय-में भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। जैसा पहले कहा गया है, कि हिन्दुओंके जीवनके प्रत्येक कार्योंके साथ धर्मका सम्बन्ध है; उनमें विवाह और मृत्यु इनका प्रभाव बहुव्यापक होनेसे इन दोनोंके सम्बन्धमें शास्त्रकारोंने बहुत सूक्ष्म और गहरा विचार किया है।

प्रस्तावित हिन्दूकोड-बिल जो इस समय केन्द्रीय धारासभामें विचाराधीन हैं, उसमें अस-वर्ण-विवाह, स्वगोत्र-विवाह, बिधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद (तलाक), कन्याका पिताकी सम्पत्तिमें अधिकार, दत्तक-विधान आदि ऐसे विषयोंका समावेश है कि, थोड़ेसे पश्चिमी सभ्यता-से विकृत मस्तिष्कवाले लोगोंके दुराग्रहसे यदि यह बिल पास होगया तो विवाहकी पवित्रता नष्ट हो जायगी, वर्णसंकरी सन्तान उत्पन्न होगी। पितरों-का श्राद्ध-तर्पण आदि समाप्त होजायगा। और हमारी सभी प्राचीन कुलपरम्परा, कुलधर्म, जाति-धर्म सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे। अब तक जो हिन्दू समाजमें गृहस्थ जीवनकी पवित्रता और सुख-शान्ति तथा सुव्यवस्था चली आरही है, सभी नष्ट हो जायगी। इस प्रकार हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृतिका अस्तित्व ही मिटा देनेका यह उद्योग होरहा है।

हिन्दूधर्मपर पहले भी बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ और संकट आये हैं, किन्तु हिन्दुओंने प्राणोंकी बाजी लगाकर उनका सामना किया, बड़ेसे बड़ा संग्राम किया, बड़ेसे बड़ा बलिदान किया परन्तु अपने प्राणोंसे प्रिय धर्म एवं संस्कृति को नष्ट नहीं होने दिया। वही हिन्दूधर्म आज पुनः संकट में हैं। हिन्दूकोड-बिल हिन्दूधर्म तथा हिन्दू-संस्कृतिके नाशके लिये केन्द्रीय धारासभामें विचाराधीन है। अतः प्रत्येक हिन्दू नर-नारीको प्राणपणसे इसका तबतक विरोध करते रहना चाहिये, जबतक सरकार इसे वापस न ले ले।

विचारकी बात है कि केवल हिन्दूके लिए ही यह कोड क्यों बनाया जारहा है, मुसलमानोंके लिये क्यों नहीं; इसलिये कि, सरकार जानती है कि, मुसलमान संगठित है; उनके धर्ममें हस्तक्षेप करनेसे वे अविलम्ब लड़ने-मरनेको तैयार हो जायँगे, इस कारण सरकार उनके धर्ममें हस्तक्षेप करनेका साहस नहीं करती। हिन्दू जिनकी संख्या तीस करोड़ है, उन्हींके लिये बिल बनाया जारहा है। इसलिये कि वे असंठित और अज्ञानमें पड़े हैं, उनको पता भी नहीं है, कि उनपर यह कौनसी विपत्ति ढाही जारही है अतः हम हिन्दुओंको यदि अपना अस्तित्व संसारमें बनाए रहना है, यदि हमें अपने पूर्वजोंके गौरव और संस्कृतिकी रक्षा करनी है, यदि ससारके सामने अपना मस्तक ऊँचा रखना है, तो हिन्दू समाजका कोढ़-रूप यह हिन्दूकोड-बिलका तीव्र विरोध करना चाहिये और सरकारको विवश करना चाहिये कि, वह हिन्दूकोड जैसा हिन्दूसंस्कृति तथा हिन्दू-धर्मका घातक बिल बनानेका दुःसाहस कभी न करे।

इस हिन्दूकोड बिलका प्रस्ताव बृटिश-शासनके समय हुआ था। अंगरेजोंने भेदनीतिके सहारे ही इतने दिनों तक इस देशपर शासन किया। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानोंको लड़ाया, सवर्ण-हिन्दू और अन्त्यजको लड़ाकर हिन्दुओंको ही छिन्न-भिन्नकर दुर्बल बनाया। इतनेसे भी उन्हें संतोष नहीं हुआ, अतः उन्होंने हिन्दू संस्कृति, हिन्दूधर्म तथा हमारी प्राचीन परम्पराको

नष्ट-भ्रष्ट करने, पति-पत्नी, माता-पुत्र, भाई-बहिन आदिको परस्परमें लड़कर हिन्दूसमाजका सर्वनाश करनेके उद्देश्यसे हिन्दूकोड बिल बनानेका प्रस्ताव किया था। ईश्वरीय अनुकम्पासे वे अंगरेज शासक इसी बीचमें चले गये और देश स्वतन्त्र हुआ। अब देशका शासन-सूत्र उन महान् व्यक्तियोंके हाथमें हैं, जिन्होंने देशकी स्वतन्त्रताके लिये कठिन तप और त्याग किया था। उनके लिये जनताका बड़ा आदर और प्रेम भी है। उचित तो यही था, कि देशके स्वतन्त्र होते ही यह प्रस्तावित कोडबिल रद्द कर दिया जाता। परन्तु बड़े खेदकी बात है, कि देशव्यापी विरोध होते हुए भी जन-तन्त्र कहानेवाली सरकार धर्म-निरपेक्षताकी घोषणा करके भी उसे पास करनेपर तुली हुई है। अतः यह धर्मघाती बिल जबतक रद्द नहीं होजाय, इसका घोर विरोध करते ही रहना चाहिये।

आह्वान !

प्रभु तुम एक बार आ जाओ।
काम क्रोध मद मोह लोभसे हमें बचाओ॥
जीवन नैया डूब रही है प्रभु तुम केवट बन जाओ।
शून्य गगनमें प्रभु तुम एक झलक दिखला जाओ॥

❋ ❋ ❋ ❋

जीवन का विश्वास नहीं है प्रभु तुम अब आ जाओ।
इन नयनोंको तृप्त करो प्रभु तुम दर्शन दे जाओ॥
पड़ी हुई हूँ घोर भँवरमें डूब रही हूँ मुझे बचाओ।
जीवन नभके प्राङ्गणमें तुम चाँद-सितारे बन जाओ॥

❋ ❋ ❋ ❋

इस माया की भूल भुलेया में भूलीको पथ दिखला जाओ।
जगती में फिर एक बार सुख-शान्ति स्थापित कर जाओ॥
इस कंटकमय जीवनके प्रभु तुम पथ-प्रदर्शक बन जाओ।
'चन्दा' कहती प्रभु तुम एक बार बस आ जाओ !

—कुमारी चन्द्रकान्ती पाठक

स्वतन्त्रता दिवसके अभिनन्दनमें

जिसके एक-एक रजकणपर जगत् निछावर सारा।
शत-शत स्वर्गोंसे भी बढ़कर भारत देश हमारा॥

जिसके गौरवका साची है गगनस्पर्शी उच्च हिमाचल।
जिसका पावन-विमल-धवल-यश गातीं गंगा-यमुना कलकल॥
अंकित भला करेगा उसको क्या इतिहास बिचारा।
जिसके एक-एक रजकणपर जगत् निछावर सारा॥

कुशल कृतीकी आदिकल्पनाका जो चिरविकास लीलास्थल।
निर्निमेष लखरहा मुग्ध-सा नभतल जिसका रचनाकौशल॥
ऐसी सृष्टि अनोखी ऐसा देश हमारा न्यारा।
जिसके एक-एक रजकणपर जगत् निछावर सारा॥

अपने कोमल कलित करोंसे प्रकृति स्वयं नित जिसे सजाती।
जहाँ छओं ऋतुयें क्रम-क्रमसे अपनी नव-नव कला दिखातीं॥
चेतनकी तो बात कहें क्या—जडतकको जो प्यारा।
शत-शत स्वर्गोंसे भी बढ़कर भारत देश हमारा॥

मधु अतीतके स्मृतिपट पर हाँ अंकित जिसकी अमर कहानी।
पैदा जिसने किये अनेकों यती-तपस्वी त्यागी-ज्ञानी॥
प्रकटे प्रथम अजिरमें जिसके सूर्य-चन्द्र-ध्रुवतारा।
शत-शत स्वर्गोंसे भी बढ़कर भारत देश हमारा॥

पालन किया अन्ततक जिसने आत्मवचन सर्वस्व गँवाकर।
करके विजय स्वर्णकी लंका फिर जिसने कर दिया निछावर॥
ऐसे चरम चरणचिह्नोंसे चित्रित देश हमारा।
जिसके एक-एक रजकणपर जगत् निछावर सारा॥

अरुणा प्राचीमें जिसकी वह ऊँची शुभ्र ध्वजा फहराती।
उषा सुनहली जहाँ प्रात नित पावन सामगान मृदुगाती॥
करती पूत कलेवर जिसका स्वर्गङ्गाकी धारा।
शत-शत स्वर्गोंसे भी बढ़कर भारत देश हमारा॥

—श्री मोहन बैरागी

तक्षशिला

श्री प्रभातकुमार पाण्डेय

आजसे हजारों वर्ष पहले तक्षशिला-नगरी भारतवर्षकी विशाल और समृद्ध नगरी थी। हम लोग इसे यहाँके महान् विद्यापीठके कारण जानते हैं, इसकी ख्याति और वैभवका यह प्रमुख कारण भी था, परन्तु साथ ही यह आर्थिक आदि दृष्टिसे भी समृद्ध थी। भारतसे मध्य-पश्चिम एशिया को जानेवाले राजपथके किनारे बसी होनेसे एक समय यह प्रमुख व्यापारिक-केन्द्र थी। इसके महत्वको तत्कालीन भारतीय और विदेशी राज-नीतिज्ञ अच्छी तरह समझते थे, यह इसपर होनेवाले आक्रमणोंको देखनेसे पता चलता है।

वर्तमान पश्चिमी पंजाबके रावलपिण्डी नगरसे २० मील दूर वायव्यकोणमें यह बसाई गई थी। इसके आस-पास पर्वतश्रेणियाँ हैं। पास ही 'हारो' नामक नदी इस प्रदेशको उर्वरा बनाती बहती है।

संस्कृत और प्राकृतके साहित्यमें तक्षशिला-सम्बन्धी अनेक वर्णन मिलते हैं। वाल्मीकि रामायणसे पता चलता है कि दशरथ-पुत्र श्रीराम-चन्द्रके छोटे भाई श्रीभरतने अपने पुत्र कुमार तक्षके नामसे इसे बसाया। (रामयण, उ. कां० १०१, श्लो० १०-१६) महाभारत (आदि पर्व, अ० ३, इलो० २०) में लिखा है कि परीक्षितके पुत्र जनमेजयने अपने पिताकी मृत्युका बदला लेनेके लिये इसी भूमिमें नागयज्ञ किया था। महर्षि पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें भी (४-३-९३,) तक्षशिलाका उल्लेख किया है।

इसी प्रकार बृहत्संहिता, कथासरित्सागर और बृहत्कथामञ्जरीमें इस सम्बन्धके वर्णन मिलते हैं। बौद्ध साहित्यमें विशेषतः जातक ग्रन्थोंमें भी तक्षशिलाका वर्णन मिलता है। विनयपिटकमें लिखा है कि तक्षशिलाके दिशा प्रमुख (दिगन्त प्रसिद्ध) वैद्यके पास एक विद्यार्थी अध्ययन करने आया। उसने उसके पास ७ वर्ष रह कर अध्ययन किया, बादमें परीक्षा लेनेकी इच्छासे गुरुने शिष्यसे कहा—विद्यालयके चारों ओर जाकर अभैष्य (चिकित्साके लिए अनुपयुक्त बनस्पति आदि) लाओ। शिष्यने आकर कहा, मुझे कुछ भी अभैज्य नहीं मिला। अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपने गुणों और अनुपानके द्वारा सेवन करनेसे अनुपयुक्त नहीं हो सकती। तब गुरुजीने कहा, तुम्हारी जीविकाके लिए इतना अध्ययन पर्याप्त है।

दिव्यावदानके अनुसार सम्राट् बिन्दुसारके समय यहाँ विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिसे दबानेके लिए सम्राट्ने अपने पुत्र अशोकको भेजा। अशोकके समय भी यहाँ विद्रोह उठा, इसे दबानेके लिये उन्होंने युवराज कुणालको यहाँ भेजा जब युवराज तक्षशिलामें थे, रानी तिष्यरक्षिताने कपट-लेख भेजकर उनके कमल-नेत्र निकलवा लिये थे।

शत्रुञ्जय-महात्म्य, प्रभावकचरित आदि जैन ग्रन्थोंमें भी तक्षशिलाके विस्तृत और ऐतिहासिक वर्णन मिलते हैं।

गवेषकोंका मत है कि वाल्मीकि रामायणकी रचना ईशवीय सम्वत् गणनासे प्रायः २५०० वर्ष पूर्व हुई। इसके अनुसार अनुमानसे तक्षशिला नगरी-का निर्माण-काल भी प्रायः यही आता है। महाभारत काल (ईशवीय सम्वत्से २५० वर्ष पूर्व) तथा बौद्ध-काल (ई० ५ वीं सदी तक) में तक्षशिला, गान्धारजनपदकी राजधानी रही। मगधके नन्दोंके समय भी यह पूर्ण स्वतन्त्र थी। कुछ दिनों तक

इस पर ईरानियोंका आधिपत्य अवश्य रहा। जब सिकन्दर महान् (ई० पू० ४ थी सदी) ने भारतपर आक्रमण किया तब यहाँके शासक आम्भि थे। उन्होंने सिकन्दरसे सन्धि करली। इसके बाद शीघ्र ही सम्राट् चंद्रगुप्तमौर्यने इसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया। इसके बाद यहाँ यूनानी, शक, पह्लव और कुषाण क्रमशः आधिपत्य करते रहे। ई० ५वीं सदीमें चन्द्रगुप्त द्वितीयने यहाँ तक अपना राज्यविस्तार किया, परन्तु दुर्दान्त हूणोंने आक्रमण कर इसे अपने अधिकारमें ले लिया। सम्भवतः विभिन्न आक्रमणोंके अप्रत्यक्ष प्रभावके फलस्वरूप ५ वीं सदीके अन्तमें भारतकी यह समृद्ध और प्रमुख शिक्षा-स्थली नष्ट हो गई।

मध्य-पश्चिम एशियाके साथ व्यापार करनेके मार्गके किनारे बसी होनेके कारण यह नगरी आर्थिक दृष्टिसे सम्पन्न रही, पर इसका उत्कर्ष बढ़ानेका श्रेय, एकमात्र यहाँकी विद्यापीठको था। यह विद्यालय ई० पू० ७ वीं सदीसे ही भारतका मान्य शिक्षाकेन्द्र हो गया था। इसकी ख्याति सुदूर प्रदेशों तक फैली हुई थी।

यद्यपि इस विद्यालयको उस समय विश्व विद्यालय नहीं कहा जाता था, तथापि विश्व-विद्यालय शब्दका आजकल जो अर्थ लिया जाता है, वह इस विद्यालयमें निहित था। यहाँ वेद-वेदाङ्ग षड्दर्शन, जैन व बौद्ध दर्शनकी शिक्षाके साथ व ललितकला, राजनीति, तथा आयुर्वेदकी भी शिक्षा दी जाती थी। यहाँके अध्यापक अपने अपने विषयके अच्छे विद्वान् होते थे। डॉ० हर्नलेका मत है कि—आयुर्वेदके प्रवर्त्तक पुनर्वसु आत्रेय यहींपर मुख्याध्यापक थे।

यहाँ अध्ययन करनेके लिये विभिन्न प्रदेशोंसे हजारों विद्यार्थी आते थे धनुर्वेद और राजनीतिके अध्ययनके लिये समीपवर्ती प्रदेशोंसे बहुतसे राजकुमार भी आते थे। यहाँके स्नातकोंमें पाणिनि, वर्ष, उपवर्ष, कत्यायन, पिंगल, चरक, नागार्जुन व चाणक्य जैसे प्रतिभाशाली आचार्य हुए, जिनके एक-एक ग्रन्थोंको आज भी संस्कृत साहित्यकी अपूर्व निधि माना जाता है। इनमेंसे कुछने यहाँ रह कर अध्यापन भी किया। कुछ बौद्ध स्नातक विदेशोंमें भारतीय संस्कृतिका प्रचार करने लगे।

विभिन्न आक्रमणोंका समयानुकूल प्रभाव यहाँकी शिक्षा-प्रणालीपर पड़ा। ईरानियोंके आधिपत्यके समय ब्राह्मीका स्थान खरोष्ठीने ले लिया। सिकन्दरके आक्रमणसे यहाँ यूनानी गणित और ज्योतिषका अध्ययन होने लगा। मौर्यकालमें पौरस्त्योंका पाश्चात्योंके साथ सम्बन्ध बढ़ा, जिसके फलस्वरूप यहाँ दोनोंके ज्ञान-विज्ञानका तुलानात्मक अध्ययन चल पड़ा। इसी तरह शक-हूण आदि आक्रामकोंके प्रभावसे यहाँकी शिक्षा-प्रणाली प्रभावित होती रही।

आज तक्षशिलाके नामसे कुछ खण्डहर अवशिष्ट हैं, जो हमारे प्रचीन गौरवकी हमें याद दिलाते हैं और सम्भवतः समय-चक्रकी गति-विधिका ज्ञान भी कराते हैं। तक्षशिला स्टेशनसे आधा मील दूरीपर उत्तर-पश्चिमकी ओर तक्षशिला-सङ्ग्रहालय है, जहाँ तक्षशिला तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशोंसे पायी हुई वस्तुओंका सङ्ग्रह है। इनमें बोधिसत्वकी मूर्ति, चित्र, भिक्षुओं, विद्यार्थियों तथा साधारण लोगोंके उपयोगमें लाई जाने वाली वस्तु, मुद्रा तथा आभूषण आदि हैं।

सङ्ग्रहालयसे दो मील दूर पूर्वकी ओर धर्म-राजिका नामक स्तूप दर्शनीय है। इसे सम्भवतः अशोकने बनवाया है। यहाँसे डेढ़ मील दूर नैऋत्य कोणमें कलावन-विहारके अवशेष मिले हैं। तक्षशिलामें यों तो बहुतसे स्तूप हैं, पर महत्त्वपूर्ण है—कुणाल स्तूप, जिसे सम्राट् अशोकने अपने प्रिय-पुत्र अशोककी स्मृतिमें बनवाया था।

भारतकी वर्तमान शासन-प्रणाली

श्री पंडित दुर्गाप्रसाद शास्त्री, अजमेर

राज्य-व्यवस्थाका उद्देश्य समाजकी रक्षा करना है। रक्षित समाज ही उन्नत और आदर्श-रूप होता है, समाजकी रक्षा भीतरी और बाहरी दो प्रकारसे होती है। भीतरी रक्षा समाजके दुष्टों, नीचों, आततायियों, व्यभिचारियों, रिश्वतखोरों और भ्रष्टाचार फैलानेवालोंसे की जाती है और बाहरकी रक्षा बाहरी शत्रुओंसे। जिस देश और समाजकी सुव्यवस्था इस प्रकार होती है वही देश समुन्नत और शक्तिशाली कहलाता है।

हम यह देख रहे हैं कि संसारके सभी देशोंमें दो प्रकारके मनुष्य पाये जाते हैं। एक—विद्वान् और दूसरे—मूर्ख। विद्वानोंके लिये राज्य शासनकी आवश्यकता अधिक नहीं होती, क्योंकि विद्वान् लोग कभी शारीरिक शासन या दण्डसे काबूमें नहीं आते। ये लोग तो कानूनके दब-दबेसे ही दबे रहते हैं। परन्तु राज्यशासन मूर्ख, उद्दण्ड, कामी, अनाचारी, पतित और अत्याचारियोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है कि जिनके पापकर्मोंको सभी लोग देखते और सुनते है, उनके दमनकी नितान्त आवश्यकता होती है जहाँकी राज्य व्यवस्था अपनी ढुल-मुल नीतिके कारण दुष्टों और राक्षसोंका दमन नहीं कर सकती, वह स्वंय नष्ट हो कर उस देशको भी नष्ट कर देती है।

मनु कहते हैं कि "जिस राजाके राज्यमें चोर, व्यभिचारी, रिशवतखोर, राजाज्ञाका उलंघन करनेवाले पुरुष नहीं होते, वही राज्य-व्यवथा देशके कल्याणका कारण बनती है।" आर्यराज्यका यह काल्पनिक आदर्श नहीं है, प्रत्युत राजा अश्वपति कहते हैं कि "मेरे राज्यमें न कोई चोर है, न कायर; न मद्यपान करनेवाले हैं न अग्निहोत्र न करनेवाले; न मूर्ख हैं न व्यभिचारी; और न कोई असत्यवादी ही है।" यथार्थमे यही राज्यशासन-प्रणालीका उद्देश्य है और यथार्थ शासनका आदर्श है। इसी प्रकारके शासनमें शत्रुओं और नीचकर्म करनेवाले दुष्ट मनुष्योंको प्रश्रय नहीं मिल सकता। परन्तु आज राजनीतिके क्षेत्रमें मनुष्यता सर्वथा नष्ट होगई है। आज राजनीतिको सफलता उसमें देखी जाती है कि—वह कितना सत्य प्रतीत होनेवाला झूँठ बोल सकता है। यथार्थको छिपाकर कितने समय तक झूठको प्रबल बना सकता है। राजनीतिक भाषामें ऐसे ही लोगोंको कूटनीतिज्ञ कहा जाता है। आज इस संसारमें नृशंसता खुलकर राज्य कर रही है, राजनैतिक सम्पत्ति बढ़ानेके लिये शराब, वैश्यालओं, श्रृङ्गारिक पदार्थों, और भौतिक भोग-बिलासोंके साधन जुटानेवालोंको प्रोत्साहन दिया जारहा है।

आज तक भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें महात्मा गांधीजी सर्वप्रथम व्यक्ति माने जाते थे—जिन्हों-ने राजनीतिकके कोरे झूठ-विद्वेश-दग़ाबाजी-छल-कपट-हिंसाको छोड़कर सत्य और न्यायाचरणकी रक्षाकी, उन्होंने प्राचीनताको भुलाया हुआ—सत्य और अहिंसाका जो सफल और व्यावहारिक प्रयोग सहस्रों वर्षोंके पश्चात् पुन: इस देशपर किया, उसकेद्वारा इस दुनियांके सामने नवीन मानवीय अध्याय खोल दिया है।

लेकिन आज जब हम समाचार पत्रोंमें आये दिन यह पढ़ते हैं कि महात्माजीके अनुयायियों द्वारा ली गयी देशके शासनकी बागडोर अनेक स्थानोंमें ऐसे लोगोंके हाथों सौंपी गयी है—जिनको राजनीतिका अनुभव ही नहीं था—

हुकूमतका नशा इन नये खिलाड़ियों पर सवार हो गया है– इस कारण जनताके कष्टोंपर ये लोग कुछ ध्यान ही नहीं देते। नामवरीके प्रलोभनमें आवश्यकतासे अधिक समय बिताते हैं। एक संघके मन्त्रिमण्डलके बारेमें एक पत्रकारने तो यहाँ तक लिखा है कि इनका अनुभव दाल रोटी तक ही सीमित है, यहाँपर अवसर वादियोंका ही अधिक बोलबाला है और अधिकांश जनताको इनपर कोई विश्वास नहीं है, पचास साठ रुपये वेतन पानेवालोंको दो-दो हजारकी मोटी मोटी तनख्वाहें लेकर चोरबाजारी और घूसखोरीका नग्न ताण्डव कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें भारतको राम राज्य बनानेवाली महात्माजीकी स्वर्गस्थ आत्माको कितना दुःख होता होगा, उसकी कल्पना भी नहींकी जा सकती।

जयपुर कांग्रेस अधिवेशनके एक दर्शकने लिखा है कि इस अवसरपर धनपति और उनके परिवार एकसे एक रेशमी वस्त्रोंसे सुसज्जित इस गांधी नगरमें अपना प्रदर्शन कर रहे थे और कह, रहे थे कि लोग यदि आज खादी पहिने हुये हैं तो उनकी आत्मा कोई शुद्ध नहीं होगई है उनमें इस खादीसे सच्चरित्रताने घर नहीं कर लिया है— खादीकी आड़में वे लोग सरकारी मंत्रियोंकी विशिष्ट कृपाके भाजन सरलतासे बन जाते हैं। आज राष्ट्रकी नारी सामूहिक दृष्टिसे अपनी दृष्टि उसी मर्य्यादा-रेखा तक फेंकती है, जहांतक कि उनका पति सुगमतासे रुपया अर्जित करता रहता है। उसने कुछ मन्त्रियोंकी पत्नियां और पुत्रियोंको भी देखा, जो कलतक चने-चवेनी पर पलनेवाले कुछ कर्मठनेता आज अपनी सन्तानोंको इस सज-धज सजावट और फैशनके साथ रखते हैं वे करोड़ों दुःखित भारतवासियोंकी पुकार कैसे सुन सकेंगे, इसलिये जिन राज्योंमें शान्ति नहीं? सुख नहीं –मनुष्योंके प्रति दया नहीं—परस्पर प्रेम और सहानुभूति नहीं, उन राज्योंसे तो किसी रेतीले मैदानमें बालू खाकर रहना अच्छा है। संक्षेपमें यही अवस्था आजके भारत और उसकी शासन-प्रणालीकी होरही है।

गृहस्थाश्रम

सब अङ्गोंसे पूर्ण गृहस्थाश्रम यह सोहत।
परमात्माका शान्ति-निकेतन मुनि-मन मोहत॥
युवा-युवति, नर-नारि, वृद्ध-गुरु, बालक भी हैं।
सभी आश्रमोंका आश्रय, पशुपालक भी हैं॥
दया-दान-करुणा-क्षमा, पौरुषका सुविकास है।
भक्ति-ज्ञान-वैराग्ययुत कर्मयोग-आवास है॥

—श्रीमती ललितादेवी,

सम्पादकीय

धार्मिक और साँस्कृतिक दृष्टिसे—

स्वतन्त्र भारतके दो वर्ष

१५ अगस्त ४९ को हमारे भारतको स्वतन्त्र हुए दो वर्ष समाप्त हो गये। सर्वप्रथम स्वतन्त्र भारतकी कल्पना करने और उसका विचार कर उसे सक्रिय रूपमें प्रयुक्त करके स्वतन्त्र भारतकी सुदृढ़ नींवके निर्माण करनेका श्रेय महापुरुष सर्वश्री—गोखले, लोकमान्य तिलक, मदनमोहन मालवीय और मोतीलालनेहरू प्रभृति जिन महात्माओंको है, क्या धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें उनके यही विचार और यही संकल्प रहे होंगे—जो कि हमारे विगत दो वर्षोंके स्वतंन्त्र भारतमें हुई है? अथवा भविष्यके लिये भी इस विषयको लेकर जो-जो योजनाएं बन रही हैं? आज उन महापुरुषोंकी आत्मा भारतके धार्मिक और सांस्कृतिक ह्रासको देखकर क्या कह रही होगी? क्या कह रही होगी उन शहीदोंकी आत्मा जिन्होने अपने देशकी स्वतंत्रताकी लड़ाईमें एकमात्र इसी उद्देश्यसे भाग लिया था। और क्या कह रही होगी उनकी आत्मा जो केवल कुर्सी या पदके प्रलोभनमें न आकर अनेक बार जेल जाकर और अपना सब कुछ देशके नामपर लुटाकर आज कहींके नहीं रह गये हैं।

हम जब विचार करते हैं कि भारत तो अब स्वतन्त्र है, लेकिन उसमें आज जो हमारे भारतीय सनातनधर्मका—हमारी अमूल्य भारतीय सम्पत्तिका—अकथनीय या अकाल्पनिक ह्रास हो रहा है उसे देखकर वरबस हृदय रो पड़ता है। आज भी हमारी राष्ट्रीय सरकारद्वारा भारतीय संस्कृतिका तिरस्कार कर, उसके स्थानपर जिस विदेशी संस्कृतिका पालन-पोषण और संरक्षण हो रहा है, वह हमारे लिए—स्वतन्त्र भारतके प्रत्येक मानवके लिए—महती लज्जा और परम संकोचका विषय है।

यद्यपि धर्म और राजनीतिमें उतनाही अन्तर है जितना '३६' के दो अङ्कोंमें, किन्तु दोनोंका परिस्परिक सम्बन्ध भी उतनाही है कि एक दूसरेके बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता। लेकिन आजके स्वतन्त्र भारतमें धर्म और संस्कृति नामक कोई पदार्थ ही नहीं; जो कुछ है, सभी कुछ एकमात्र राजनीति। यही तो एक चाल है! जब तक धर्मको राजनीतिके दायरेमें नहीं बाँधा जायगा, तब तक सरकार उसपर अपना एकाधिपत्य नहीं रख सकती, बिना ऐसा किये प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक और सांस्कृतिक विषयोंमें स्वतन्त्र रहेगा, जो हमारी सरकारको सर्वथा अनभीष्ट है।

यहाँ हम स्पष्ट कहेंगे कि यही एक हमारी भारतीय नेताओंकी सब से बड़ी राजनीतिक अनभिज्ञता है। संसार-प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ अंग्रेजोंने सैकड़ों वर्षों तक भारतपर शासन किया, भारतकी प्रत्येक धमनीका रक्त भली भाँति चूसा। यहाँ तक चूसा कि आज भारतमें कुछ सोचने और विचार करनेकी तक शक्ति न रही! लेकिन उन्होंने भी विक्टोरिया महारानी द्वारा दी गयी भारतकी धार्मिक स्वतन्त्रतापर हस्तक्षेप करनेका विचार भी नहीं किया। जिस धर्मप्राण भारतका रहस्य विक्टोरिया समझ सकी थी और समझ सके थे उसके बादके अन्य अंग्रेज-शासक। लेकिन दुःख है कि आज हमारे भारतीय शासक ही उसे समझनेमें सर्वथा असमर्थ रहे! भारतीय स्वतंन्त्रताके साथ हिन्दू-धर्मपर अनेकों आक्रमण आरम्भ हुए, जहाँ

हिन्दु-समाजके लिए प्रत्यक्ष कलंक-रूप 'हिन्दू कोडबिल' जैसे प्रस्तावोंको प्रश्रय देकर एक विचारणीय विषय बनाया गया, जिसके स्वीकृत होजानेपर निस्सन्देह यह कहा जासकता है कि रहा-सहा हिन्दूधर्म भी कानूनोंके सबल आघातों द्वारा एक दिन सर्वथा लोप हो जा सकता है !

एक ओर तो हिन्दूत्वका विघातक हिंन्दूकोड ही प्रबल है, लेकिन इतना ही नहीं, अछूतोद्धार, मन्दिर प्रवेश जैसे अनेकों प्रस्ताव पास हुए और कार्यान्वित किये गये। अनेक प्रसिद्ध मन्दिरोंमें राजकीय सहायता और प्रभाव द्वारा अछूनोंका प्रवेश कराया गया !

निश्चित है कि जिन उपायोंसे हमारी सरकार एकताकी बात सोच रही है, वेही उपाय निकट भविष्यके भारतमें अंत:कलहके कारण बनेंगे। अभी तो हमारे भारतके अधिकतर अछूत अपने-अपने धर्म और जातिमें विश्वास रखते है, इसीलिये वे उपरोक्त नियम या इस प्रकारके अनेक विधान बन जानेपर भी अविचलित और शान्त बैठे हैं। जिस दिन वे इस शान्ति और धार्मिक विश्वासको खो बैठेंगे, उसीदिन भारतमें अन्त:कलहकी चिनगारी दावाग्निके समान आग भड़काकर सभीको भस्मसात् कर देगी। एक जाति दूसरी जातिके लिये, या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके लिये 'गोडसे'के रूपमें आयगा।

आज गो-वध या गौ-ह्रास समस्त भारतके ह्रासका कारण बना हुआ है, इस बातको प्राय: सभी समझने लगे हैं। जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ नगरोंकी म्युनिसिपालिटियोंने अपने-अपने क्षेत्रोंमें गो-वध बन्द करा दिया है, लेकिन दुख:का विषय है कि अभी तक प्रान्तीय और केन्द्रीय धारा-सभाओंमें गो-बध विषयक प्रश्न अनेक बार उठाए जानेपर भी स्थगित कर दिया है, क्योंकि सरकारकी दृष्टिमें यह विषय महत्वपूर्ण धार्मिक और राजनीतिक होता हुआ भी विशुद्ध साम्प्रदायिक हो जाता है।

आज भारतमें जितनी भी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उठ रही हैं—सभी एक-से-एक अनीश्वर वादी हैं, इसलिये इसके बाद भी हमारे सनातन भारतका भविष्य अन्कारमय-सा ही प्रतीत होरहा है। यदि कुछ अंशमें भारतीयताका आदर्श लेकर आगे बढ़ना चाहते हैं तो हिन्दूमहासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। लेकिन इनका रास्ता भी काटोंसे खाली नहीं है। क्योंकि सरकार जिस समय चाहे इन्हें साम्प्रदायिक संस्था कहकर प्रतिवन्धित या नियन्त्रित कर सकती है। जैसा कि दोनोंपर अभी बीत चुकी है। हाँ, इस प्रकारकी गतिविधिको देख कर एक बातकी प्रशंसा हम अवश्य करेंगे—जो इस सरकारके लिए असम्भव-सी थी—साँस्कृतिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण है, वह है—भारतीय डाकविभागका टिकट-परिवर्तन। जो प्राय: सभी भारतीय संस्कृतिके किसी-न-किसी रूपमें प्रतीक हैं, बस।

संक्षेपमें स्वतन्त्र भारतके इन दो वर्षोंमें हिन्दूभारतके प्राण सनातनधर्म और जगत्पवित्र भारतीय संस्कृतिकी उत्तरोत्तर उन्नतिके विपरीत ह्रास हो हुआ है। सभी पहलुओंद्वारा विचार करनेपर भी हिन्दू-भारतके हितका कोई भी विषय आशा और उत्साहके साथ उल्लेखनीय नहीं है। अब भविष्य देखना है।

राष्ट्रभाषा हिन्दीका विरोध

राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें विधान-परिषद्को परामर्श देनेवाली मसविदा-समितिकी अबतककी जो कार्यवाही हुई है—उससे स्पष्ट है कि हिन्दीकी आकाल्पनिक उपेक्षा की जा रही है। इस उपेक्षाके कारण हैं—दक्षिण भारत और बंगालके कुछ इने-गिने नगण्य-से सदस्य। दक्षिण भारतके महाराष्ट्रीय और पूर्वी पंजाबके सदस्योंने भी हिन्दीको ही मत दिया है। फिर भी मुट्ठी भर दक्षिण-भारत और बंगालके सदस्यों द्वारा प्रबल अड़ंगा लगा दिया गया है यद्यपि उक्त सदस्योंके इस अड़ंगेका प्रभाव तब तक नहीं पड़ सकता

जबतक हिन्दीके समर्थक बहुसंख्यक सदस्योंके अतिरिक्त माननीय श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन, पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सेठ गोबिन्ददास आदि अनेक दिग्गज महापुरुष उसमें हैं। लेकिन भारतीय जनताके प्रतिनिधि इन महापुरुषोंके रहते हुए भी आज इस अकिञ्चित्कर हिन्दीके विरोधको विशेष महत्व दिया जा रहा है, इसका कारण राष्ट्रके प्रमुख और इस जनतन्त्र कहानेवाली सरकारमें भी कर्तुमकर्तु-मन्यथा कर्तुं वा समर्थ केन्द्रीय सरकारके कुछ प्रमुख सदस्य हैं। जो पहलेसे हिन्दी राष्ट्रभाषा-विरोधी रहे हैं और आज भी हिन्दीके प्रति जिनकी धारणा ज्यों-की-त्यों बनी है।

दक्षिण भारतीयों द्वारा हिन्दीपर अड़ंगा लगानेका कारण यह है कि—केन्द्रीय सरकारकी नौकरियोंमें लगे हुए ६०) से ४००० तक वेतन पानेवाले अधिकतर कर्मचारी दक्षिण भारतीय ही हैं। अत: वे अपने प्रान्तीयों और अपने सम्बन्धियों-के हितोंकी रक्षाके लिए अभी कमसे कम ५ वर्षोंतक इस प्रश्नको टालना चाहते हैं और उन्हें यह विश्वास है कि यदि ५ वर्षों तक हिन्दी राष्ट्र-भाषा न होगी तो फिर इसका प्रश्न ही टल सकता है। उधर उद्योग-विभागमें उसके अधिकारियोंने सर्वत्र अपने दलविशेषकी ही भरमार कर रखी है अतः वे भी उनकी नौकरियोंकी सुरक्षाके लिये हिन्दी राष्ट्रभाषाका प्रश्न कमसे कम १५ वर्षों तकके लिये टरकाना चाहते हैं। (किन्तु यह सुध किसीको नहीं है कि सन ५१ में क्या होगा?)

हमारे समझमें तो ये दोनों प्रान्तीयोंका अड़ंगा लगाया जाना कोई दूरदर्शिता नहीं है। ऐसे-ऐसे छोटे-छोटे स्वार्थोंकी सुरक्षाके लिये इतने महत्व पूर्ण और व्यापक प्रश्नको खटाईमें डाल देना प्रत्येक भारतीयके दुर्भाग्यका द्योतक होगा। उचित तो यह था कि प्रत्येक सरकारी कर्मचारीको हिन्दी सीखनेका आदेश नियत समय तकके लिये दे दिया जाता, इसमें कौन-सी राष्ट्रकी बुराई होती कि जो हिन्दी न सीखता उसे हटा दिया जाता? यदि इसीप्रकार आज पुरानी और घिसी हुई मशीनरीके ये अँग्रेजी-दाँ पुर्जे निकाल दिये जायँ तो बहुत-कुछ राष्ट्रकी हालत सुधर सकती है। लेकिन यह भी तब होता जब कि राष्ट्रके हाई कमान हिन्दीके समर्थक होते। हम भारतके प्रधान उन व्यक्तियोंसे ही पूछते हैं जो कि पदे-पदे अन्ताराष्ट्रोंको दिखाने के लिये छोटी-छोटी बातोंमें भी आदर्शवादी बनते हैं—बेड़ियों द्वारा लगी हुई कालिखके समान उस पराधीनताकी निशानी अँग्रेजीकी रक्षा करते रहना और अभी भी उसे वही स्थान दिये रहना भारतके लिये लज्जाका विषय न होगा? अस्तु, फिर भी हम अपने उन माननीय सदस्योंपर विश्वास रखते हैं, जो कि प्राणपणसे राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि नागरीको राष्ट्रमें समुचित पद दिलानेके लिये कृत-संकल्प हैं। भारतके उन सपूतोंके रहते हमारी मातृभाषाका यह प्रश्न खटाईमें नहीं पड़ सकता।

साहित्य-सेवा

सत् पथ दिखलाती ज्ञानको है बढ़ाती,
उचित. अनुचितोंमें भेदको है बताती;
इस सम अति मीठी ना सुधा है न मेवा।
सुख अतिशय देती सत्य - साहित्य - सेवा॥

श्रीमद्भागवत

(सटीक)

एकादशस्कन्धे

प्रथमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच—

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन्कलिम् ॥१॥
ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्त मितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान्निरहरत्क्षितिभारमीशः ॥२॥
भूभार राज पृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननुगतोऽप्यगतं हि भारं
यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

श्री शुकदेव जीने (राजापरीक्षितसे) कहा—हे राजन्! बलरामजी तथा अन्य यदुवंशियोंसे युक्त श्रीकृष्णचन्द्रने दैत्योंका वध कराया और भीषण संग्राम कराकर पृथ्वीका बोझ उतार दिया ॥ १ ॥ कपटके साथ जुवा खेलाकर तथा द्रोपदीके केश और वस्त्र आदि खींचकर तथा अन्यान्य अपमानों द्वारा शत्रुदलसे जो पाण्डव क्रुद्ध करा दिये गये थे उन्हीं पाण्डवोंको निमित्त बनाकर युद्ध करनेके लिए आए हुए दोनों दलोंके राजाओं-का संहारकर भगवान्ने पृथ्वीका भार उतारा ॥२॥ अपनी भुजाओंके बलसे रक्षित पाण्डवोंद्वारा पृथ्वीकी भारके समान दूसरे राजाओंकी सेनाओंका संहार कराकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने सोचा—यद्यपि पृथ्वीका भार कम होगया है, फिर भी मैं इसे भार रहित नहीं कह सकता हूं, क्योंकि अभी तक असह्य यादव वंश तो ज्यों-का त्यों बना हुआ

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत्कथंचिन्म-
त्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्तः कलिं यदुकुलस्य निधाय वेणु-
स्तम्भस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥४॥
एवं व्यवसितो राजन्सत्य सङ्कल्प ईश्वरः ।
शाप व्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः ॥५॥
स्वमूर्त्यालोकलावण्य निर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥६॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः ॥७॥

है ॥ ३ ॥ मेरे आश्रित और वैभव शाली इस यदुवंशका दमन अन्य किसीके द्वारा किसी प्रकार नहीं हो सकता, अतएव बाँसके जंगलमें उत्पन्न आगकी तरह परस्पर इनमें अन्तःकलह उत्पन्नकर मैं शान्तिपूर्वक अपने धामको जाता हूँ ॥ ४ ॥ हे राजन्! सत्यसङ्कल्प करनेवाले और सर्वशक्तिमान् ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने इस प्रकारके निश्चयसे ब्राह्मणोंके शापका बहाना बनाकर अपने (यादव) कुलका नाश किया ॥ ५ ॥ समस्त संसारकी सुन्दरताका तिरस्कार करनेवाली अपनी मूर्तिद्वारा लोगोंके चक्षुओं, अपने दिव्य उपदेशोंके स्मरण करनेवाले चित्तोंको, अपने आधीन करके तथा निज चरण चिह्नोंद्वारा उन दर्शन करनेवालों-की अन्यान्य क्रियाओंको रोककर तथा अपनी अद्भुत कीर्तिको इसलोकमें इस विचारसे विस्तृत कर कि —"इसके द्वारा मनुष्य सहसा आज्ञान-सागरको तर जायँगे"—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र

राजोवाच—

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्॥८॥
यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम!
कथमेकात्मनां भेद एतत्सर्वं वदस्व मे॥९॥

श्रीशुक उवाच—

विभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन्भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छतकुलं स्थित कृत्यशेषः॥१०॥
कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायञ्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा।
कालात्मना निवसता यदुदेव गेहे
पिण्डारकं सुमगमन्मुनयो विसृष्टाः॥११॥

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः॥१२॥
क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत्॥१३॥
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवती सुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा॥१४॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित्सञ्जनयिष्यति॥१५॥
एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुल नाशनम्॥१६॥
तच्छ्रुत्वा तेऽति संत्रस्ता विमुच्य सहसोदरम्।

अपने धामको चल दिये॥६-७॥ राजा परीक्षितने पूछा—हे भगवन्! जो (यादव) ब्राह्मणोंके परम भक्त, उदार-हृदय और नित्य गुरुजनोंकी सेवामें रत रहते थे तथा जिनका मन एकमात्र-कृष्णमें ही लगा रहता था ऐसे यादवोंको ब्राह्मणोंने शाप क्यों दिया?॥८॥ हे द्विजोत्तम! वह शाप जिसलिए हुआ, जैसा था और उन यादवोंमें पारस्परिक फूट कैसे हुई? ये सभी सन्दर्भ मुझसे कहिए॥९॥ श्री शुकदेवजीने कहा—हे राजन्! सुन्दर-सुन्दर सामग्रियोंसे युक्त शरीर धारी तथा पूर्ण मनोरथ हो जानेपर भी लोक में विविध माङ्गलिक कर्म करते, साथ ही श्रीद्वारकापुरीमें विहार करते हुए उदार कीर्तिवाले भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रने यदुकुल-संहारकी इच्छा की, क्योंकि अब शेष एक यही कार्य रह गया था॥१०॥ जो अपना पुण्य-गाना गाते हुए संसारके सभी पापोंको नाश करनेवाले हैं ऐसे विविध पुण्यप्रद और मंगलमय कृत्यकरके जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीवसुदेवजीके घरमें (निज-कुल-संहारक) कालरूपसे रहने लगे, उस समय विश्वामित्र, असित कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ट और नारद आदि मुनिजन भगवान्से आज्ञा प्राप्तकर पिण्डारक नामके स्थानमें रहने लगे॥११-१२॥ किसी समय क्रीडा करते हुए यदुवंशके कुछ चंचल राजकुमारों ने स्त्रियोचित वस्त्राभूषणोंसे युक्त जाम्बवतीके पुत्र साम्बका स्त्रीवेश बनाकर बनाकर उन मुनिगणोंके पास जा अत्यन्त विनय पूर्वक पूछा—"ब्राह्मण-वृन्द! यह कृष्णनयना रमणी गर्भवती है और आप लोगोंसे कुछ पूछना चाहती है, किन्तु स्वयं पूछनेमें लज्जित हो रही है; इसलिए हे अमोघ दर्शनों वाले मुनिवृन्द! यह बाला अब प्रसवोन्मुखी है, अतः आप बताइये कि इससे पुत्रकी उत्पत्ति होगी या पुत्रीकी।"॥१३, १४, १५,॥ हे राजन्! उनके इस प्रकारके छलसे क्रुद्ध होकर मुनीश्वरोंने शाप दिया—"रे मूढ़ बालको! यह स्त्री तुम्हारे कुलका संहार करनेवाला एक मूसल उत्पन्न करेगी।"॥१६॥ यह सुनकर भयभीत होकर उन राज-

साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन्मुसलं खल्वयस्मयम् ॥१७॥
किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किंवदिष्यन्ति नो जनाः।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥
तच्चोपनीय सदसि परिम्लान मुखश्रियः।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादव सन्निधौ ॥१९॥
श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप।
विस्मिता भय सन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः॥२०॥
तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः।
समुद्र सलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम्॥२१॥
कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः।
उह्यमानानि वेलायाँ लग्नान्यासन्किलैरकाः ॥२२॥
मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे।

कुमारोंने तुरन्त साम्बका पेट खोला तो उसके पेटमें वस्तुतः एक लोटेका मूसल मिला॥१७॥ फिर "हम मन्दभाग्योंने यह क्या किया, लोग हमें क्या कहेंगे" इस प्रकारकी चिन्तासे चिन्तित हो, उस मूसलको लेकर सब घरोंको गये॥१८॥ इसके बाद वे राजकुमार अपनी मलीन मुखकान्तिको धारण किए हुए उस मूसलको लेकर राजसभामें गए और सभी यादवोंके समक्ष उसका सारा वृत्तान्त राजा उग्रसेनको सुनाया॥१९॥ तदनन्तर हे राजन्! ब्राह्मणोंके व्यर्थ न होनेवाले उस शापको सुनकर सभी द्वारकावासी विस्मित और भयाकुल हो गये॥२०॥ यदुराज उग्रसेनने उस मूसलके लोहेका चूरा कराकर और शेष टुकड़ोंको भी समुद्रमें फेंकवा दिया॥२१॥ लोहेके टुकड़ोंको तो कोई मछली निगल गयी और चूरा तरङ्गोंकी थपेड़ोंसे समुद्रतटपर लग गया, जिससे वहाँ 'एरका' नामके वृक्ष उग गये॥२२॥ मछुवेने उस मछलीको अन्य मछलियोंके साथ जालमें फँसा लिया और उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था

तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत्॥२३॥
भगवाञ्ज्ञात सर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्तुंनैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥२४॥

श्रीमद्भगवते महापुराणे एकादशस्कन्धे-
प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

श्रीशुक उवाच—

गोविन्दभुजगुप्तायाँ द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥१॥
को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥२॥
तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम्।
अर्चितं सुख मासीनमभिवाद्येनमब्रवीत् ॥३॥

उसे व्याधने अपनी वाणकी नोकमें लगा लिया॥२३॥ इस वृत्तान्तको जानकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने उस शापको लौटा देनेमें समर्थ होते भी हुए भी अन्यथा करना तो नहीं ही चाहा, प्रत्युत उसका समर्थन भी किया॥२४॥

श्रीमद्भागवत महापुराणके एकादशस्कन्धका
प्रथम अध्यायः॥१॥

दूसरा अध्याय।

श्री शुकदेवजीने कहा—हे कुरुकुल गौरव! देवर्षि नारद भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भुजाओंसे सुरक्षित द्वारकापुरीमें उनकी उपासनाकी लालसासे प्रायः सदासे ही रहते आए हैं॥१॥ हे राजन्! सर्वत्र मृत्युसे आक्रान्त होनेपर भी कौन ऐसा इन्द्रियोंवाला प्राणी होगा जो अनेक देवताओंसे सुसेवित भगवान्के चरण कमलोंको न भजेगा?॥२॥ एक समय श्रीवसुदेवजी अपने घरमें आए हुए, पूजाकर लेनेपर सुख पूर्वक आसन पर बैठे हुए देवर्षि नारदजी को

वासुदेव उवाच—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥४॥

भूतानां देवचरितं दुःखायच सुखायच।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥५॥

भजन्ति ये यथादेवान्देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीन-वत्सलाः ॥६॥

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान्भागवतांस्तव।
यान्छ्रुत्वाश्रद्धया मर्त्यो मुच्यते विश्वतो भयात्॥७॥

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थे भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देव मायया ॥८॥

यथा विचित्र व्यसनाद्भवद्भिर्विश्वतोभयात्।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥९॥

श्रीशुक उवाच—

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥१०॥

नारद उवाच—

सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ।
यत्पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वंविश्वभावनान् ॥११

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ॥१२॥

त्वया परम कल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥१३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आर्षभाणांच संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥१४॥

प्रणामकर ये बातें कहने लगे ॥३॥ श्रीवसुदेवजीने कहा—भगवन्! पुत्रोंके लिए अपने माता-पिता और दीनों तथा दुखियोंके लिए भगवत्परायण महात्माओंके समान आपका आगमन सभी देहियोंके कल्याणके लिये ही होता है ॥ ४ ॥ प्राणियोंके सुख और दुःख दोनोंहीका कारण देवचरित्र होता है किन्तु आपके समान महापुरुषोंका आगमन उनके केवल सुखके लिये ही होता है ॥ ५ ॥ जो जिस देवताका भजन जैसे करता है, वह देवता भी उसको वैसा ही फल देता है; वे कर्मोंका अनुसरण छायाकी तरह करते हैं, लेकिन साधु लोग प्रकृतिसे ही दीन-दुःखियोंपर कृपा करते हैं ॥ ४ ॥ हे ब्रह्मन्! आपसे भागवत धर्मोंके सम्बन्धमें कुछ पूछना चाहता हूँ, जिनको सुनकर श्रद्धापूर्वक मनन करनेसे मनुष्य संसारके सर्वविध भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ मैंने एकबार अपने पूर्वजन्ममें मुक्ति देनेवाले भगवान्का पूजन सन्तान-कामनासे ही किया था, मोक्ष-कामनासे नहीं ॥ ८ ॥ इसलिये, हे सुव्रत! विविध प्रकारके दुःखों और भयोंद्वारा आकुल इस संसारसे जिस प्रकार मुक्ति प्राप्त हो सके इस प्रकारका उपदेश हम आपके श्रीमुखसे सुनना चाहते हैं ॥ ९ ॥ श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन्! चतुर वासुदेवजीद्वारा इस प्रकारका प्रश्न पूछे जाने और भगवान्के कीर्तनद्वारा उनका स्मरण करा देनेपर देवर्षि नारद प्रसन्न हो गये और बोले ॥१०॥ नारदजीने कहा—हे यादवेन्द्र! यह आपका अत्युत्तम विचार है, क्योंकि आप संसारको पवित्र करनेवाले भागवत धर्मके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं ॥ ११ ॥ सुनने, बार-बार श्रवण करने, पढ़ने, आदर या अनुमोदन किये जानेपर यह सुन्दर धर्म विश्वके द्रोही व्यक्तियोंको भी उसी समय पवित्र कर देता है ॥ १२ ॥ जिनके नाम, जिनका स्मरण और कीर्तन भी पवित्र करने योग्य है, उन परम कल्याण स्वरूप देव नारायणका आपने आज मुझे स्मरण करा दिया है ॥ १३ ॥ यहाँपर भी महात्मा विदेह और ऋषभके पुत्रोंका संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतःस्मृतः॥१५॥
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्वेदपारगम् ॥१६॥
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥१७॥
स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥१८॥
तेषां नव नवद्वीप पतयोऽस्य समन्ततः ।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥१९॥
नवा भवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थसंशिनः ।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदाः ॥२०॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।

॥१४॥ स्वायंभुवके प्रियव्रत नामके पुत्रसे आग्नीध्रका जन्म हुआ, आग्नीध्रके नाभि तथा नाभिके पुत्र ऋषभजी हुए ॥ १५ ॥ ऋषभजी वासुदेवजीके अंश थे, मोक्षधर्मको कहनेके लिये उन्होंने अवतार लिया था; उनके सौ पुत्र हुए, जो सभी वेद-पारग थे ॥ १६ ॥ उनमें सबसे बड़े और नारायणके अनन्य भक्त थे—भरतजी, जिनके नामसे यह अद्भुत भारतवर्ष विख्यात हुआ है ॥ १७ ॥ उन भरतजीने—भोगे गये हैं भोग जिसमें, ऐसी पृथ्वीको छोड़कर तपस्यापूर्वक भगवान्‌की उपासना करके तीन जन्मोंके पश्चात् मोक्षपद लाभ किया ॥ १८ ॥ उन पुत्रोंमेंसे नौ पुत्र दस भू-मण्डल और और नव द्वीपोंके अधिपति हो गये। शेष इक्यासी कर्मतन्त्रोंके निर्माता ब्राह्मण हो गये ॥ १९ ॥ उनमेंसे नौ महानुभाव परमार्थ तत्वका निरूपण करनेवाले मुनिवर कहलाए, जो आत्म-विद्याके परिश्रमी, दिगम्बर तथा अध्यात्म विद्यामें निपुण थे ॥ २० ॥ उनके नाम—कवि, हरि, अन्तरिक्ष,

आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥२१॥
एते वै भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेणपश्यन्तोव्यचरन्महीम्॥२२॥
अव्याहतेष्टगतयः सुर सिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधर द्विजगवां भुवनानि कामम्॥२३॥
त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥२४॥
तान्दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान्महाभागवतान्नृपः ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥
विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायण परायणान् ।
प्रीतः सम्पूजयाञ्चक्र आसनस्थान्यथार्हतः ॥२६॥
तान्रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान्नव ।

प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—थे ॥ २१ ॥ ये सत् और असत् अपनेसे अभिन्न और भगवद्रूप समस्त संसारको देखते हुए विचरण करते थे ॥ २२ ॥ इसीप्रकार देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर, नागलोकों तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गायोंके स्थानोंमें अपनी अप्रतिहत गतिसे विचरते थे ॥ २३ ॥ एकबार ये अजनाभ खण्डमें (जो नाम भारतके पहले था) राजा निमिके यहाँ ऋषियोंद्वारा यज्ञ कराते समय सहसा पहुँच गये ॥ २४ ॥ उन सूर्यके समान तेजस्वियोंको देखकर हवन करते हुए यजमान राजा, ब्राह्मण और अग्नि सभी उठकर खड़े हो गये ॥ २५ ॥ महाराज विदेहने भी आसनमें आए हुए उन मुनिवरोंका सादर और यथोचित पूजन किया ॥ २६ ॥ अपने-अपने शरीरकी प्रभासे प्रजापतिके पुत्रोंके समान सुशोभित होनेवाले नव

पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥२७॥

विदेह उवाच—

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान्वो मधुद्विषः ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥२८॥

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२९॥

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामि भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गःशेवधिर्नृणाम् ३०

धर्मान्भागवतान्ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैःप्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्मानमप्यजः ॥३१॥

श्रीनारद उवाच—

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।

योगियोंसे राजा जनकने प्रसन्न होते हुए नम्रतापूर्वक प्रश्नकिया ॥ २७ ॥

महात्मा विदेह बोले—हे भगवन्! मैं यह समझता हूँ कि आप लोग श्रीविष्णुभगवान्के ही गण हैं, क्योंकि विष्णुभगवान्के ही पार्षद विश्वके प्राणि-मात्र को पवित्र करनेके लिये प्रयत्न करते हैं ॥२८॥ जीवको पहले यहाँ क्षणमें विनाश होनेवाला शरीर ही मिलना दुर्लभ है, इसमें भी श्रीविष्णुभगवान्के भक्तोंका दर्शन मिलना और भी दुर्लभ है ॥२९॥ अतः हे निष्पाप महात्माओ! इस संसारमें अतिशय कल्याण किसमें है? क्योंकि इस संसारमें आधे क्षणके लिये भी सत्सङ्ग बहुत बड़ी धरोहर (खजाने) के समान है॥३०॥ यदि हम सुन सकनेके योग्य हों तो हमें आपलोग उन भागवत धर्मोंको सुनाइये, जिनसे प्रसन्न हो अजन्मा भगवान् स्वयं अपनेको भक्तके अर्पण कर देते हैं ॥ ३१ ॥

श्री नारदजीने कहा—हे वसुदेवजी ! निमि-द्वारा इसप्रकारके प्रश्न पूछे जानेपर उन महात्मा-

प्रतिपूज्यान्ब्रुवन्प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥३२॥

कविरुवाच—

मन्ये कुतश्चिद्भय मच्युतस्य
पादाम्बुजोपासन मत्र नित्यम् ।
उद्विग्न बुद्धे रसदात्म भावा—
द्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्म लब्धये ।
अञ्जः पुसामविदुषां विद्धि भागवतान्हि तान् ॥३४॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥३५॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृत स्वभावात्
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ ३६ ॥

ओंने प्रसन्नतापूर्वक धन्यवाद देते हुए ऋषियों सहित बैठे हुए राजानिमिसे इस प्रकार कहा ॥३२॥

कविजीने कहा—हे राजन्! मैं इस संसारमें केवल भगवान् अच्युतके चरण-कमलोंकी नित्य सेवा ही भयरहित समझता हूँ, क्योंकि असत् पदार्थमें आत्मीय भावनाके कारण जिनकी बुद्धि चञ्चल हो गयी है, उनका भी सम्पूर्ण भय नष्ट हो जाता है। ॥३३॥ अज्ञ पुरुषोंके लिये भी आत्मलाभके जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं उन्हीं को भागवत-धर्म जानो ॥३४॥ हे राजन्! उन भागवत धर्मोंका आश्रयण करनेपर मनुष्य कभी भी उन्माद नहीं करता और आँख मूँदकर दौड़नेपर भी वह न फिसल सकता है न गिर सकता है ॥३५॥ इसलिये शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहङ्कार अथवा स्वाभावानुसार जो कर्म किया जाय वह सब नारायणके लिये ही है—इस

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

अविद्यमानोप्यवभाति हि द्वयो
र्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत्कर्म संकल्प विकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥३८॥

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ३९ ॥

भावनासे समर्पणकर दिया जाय ॥३६॥ भगवानसे विमुख मनुष्यको उनकी ही मायासे उनके स्वरूपकी विस्मृति और विपरीत ज्ञान होता है, फिर अपनेसे पृथक् द्वितीय पदार्थकी सत्ताका अभिमान होनेपर उसे भयकी प्राप्ति हो जाती है; अतएव बुद्धिमान् मनुष्य अपने गुरुदेवमें ही इष्टकी भावना रखकर उस भगवान्का ही अनन्य होकर भक्तिपूर्वक भजन करे। यह वास्तविक द्वैत-प्रपंच न होनेपर भी ठीक इसी प्रकार परमार्थ रूप भासित होता है जैसे स्वप्न और मनोरथक पदार्थोंका रूप न होते हुए भी चिन्तन करनेवाली बुद्धिमें सत्यकी भाँति प्रतीत होते हैं। अतएव विचारशील मनुष्य पहले अस्थिर चित्तको रोके, तभी उसे अभयपदकी प्राप्ति हो सकेगी ॥ ३८ ॥ और लोकमें चक्रपाणि भगवान्के जन्मकर्म एवं उनकी अद्भुत लीलाओं-के आधार पर रखी गयी नामावलीका संकोच रहित होकर गान करता हुआ असङ्ग भावसे संसारमें विचरण करे ॥ ३९ ॥ इस प्रकारका

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोक बाह्यः ॥४०॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतःस्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः

व्रत करनेवाला मनुष्य अपने प्रभुपर अनुराग उत्पन्न हो जानेके अनन्तर द्रुतचित्त हो जाने-पर संसारकी उपेक्षा करता हुआ कभी ठहाका मार हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी उन्मत्तकी भांति नाचने लगता है ॥ ४० ॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि और नदियाँ, समुद्र सभी भगवान् हरिके ही शरीर हैं; इसलिये सभीको अनन्य रूप या भावसे प्रणाम करे ॥४१॥ भगवान्का भजन करनेवालेको—परमेश्वरके प्रति प्रेम, उसका स्वरूपज्ञान तथा अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—ये तीनों कार्य एक साथ होते हैं जिस प्रकार भोजन करनेवाले व्यक्तिको प्रत्येक ग्रासके साथ-ही-साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति एक साथ होती है ॥ ४२ ॥ हे राजन्! इस प्रकार भगवान्के चरण कमलोंका अहर्निश भजन करने-वाले भक्तको भगवत्-प्रेम, विषयोंसे वैराग्य और

भवन्तिवै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

राजोवाच—

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्,
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥४४॥

हरिरुवाच—

सर्व भूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥

ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सुच ।
प्रेममैत्री कृपोपेक्षा यःकरोति स मध्यमः ॥४६॥

आचार्यामेव हरये पूजाँ यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥४७॥

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्माया मिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः॥४८॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्ष कृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥ ४९ ॥

न काम कर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥ ५० ॥

न यस्य जन्म कर्मभ्यां न वर्णाश्रम जातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥५१॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥

भगवान्‌का स्वरूप-ज्ञान ये सभी निश्चित रूपसे होते हैं, तदनन्तर वह भक्त साक्षात् परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

राजा निमिने कहा—अब आप भगवद्भक्त मनुष्यका वर्णन कीजिए, उसके जो धर्म हैं, मनुष्योंमें उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, वह जिस प्रकार आचरण करता है, जो बोलता है, और जिन (विशिष्ट) लक्षणोंके कारण वह भगवान्‌का प्यारा होता है ॥ ४४ ॥

हरिने कहा —जो भक्त सभी प्राणियोंमें अपनी आत्माका भगवद्भाव रूप देखता है और जो अपनी भगवतस्वरूप आत्मामें प्राणिमात्रको देखता है, वही सर्वश्रेष्ट भगवद्भक्त है ॥ ४५ ॥ जो ईश्वरसे प्रेम, भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानियों पर कृपा और द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है वह मध्यम है ॥ ४६ ॥ जो श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की पूजामें ही लगा रहता है तथा जो भगवद्भक्तों या अन्य किसीकी पूजामें प्रवृत्त नहीं होता वह साधारण (प्राकृत) भक्त कहा गया है ॥ ४७ ॥ जो इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करता हुआ भी न उनसे प्रसन्न रहता है और न उनसे द्वेष करता है, अर्थात् प्रत्येक अवस्थामें समान ही रहता है और "यह सब विष्णु-भगवान्‌की ही माया है" इस प्रकारकी धारणा रखता है, वह निश्चित ही श्रेष्ठ भक्त है ॥ ४८ ॥ हरिस्मरणमें तन्मय रहनेके कारण जो देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धिके सांसारिक धर्म जन्म, मृत्यु, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रम आदिसे मोहित नहीं होता, वह श्रेष्ठ भगवद्भक्तोंमें है ॥ ४९ ॥ कामना और कर्मके बीजोंका प्रादुर्भाव जिसके मनमें नहीं होता जो केवल वासुदेवैक-शरण है, वह निश्चित ही भगवद्भक्तोंमें उत्तम है ॥५०॥ जिसका जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम और जातिके कारण इस शरीरमें अहंभाव नहीं होता, वह निश्चय ही भगवान्‌का प्रिय होता है ॥ ५१ ॥ शरीर अथवा द्रव्यमें जिसका "यह मेरा, यह दूसरेका" इस प्रकारका भेद-भाव न हो, जो सभीके लिये समदर्शक और शान्त चित्तवाला हो, वह निश्चित सर्वश्रेष्ठ भगवद्भक्त है ॥ ५२ ॥

श्री भारतधर्म-महामण्डल और वाणी-पुस्तकमाला

काशी द्वारा प्रकाशित

धार्मिक पुस्तकें

धर्म-विज्ञान

सनातनधर्मका अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें धर्म और आधुनिक विज्ञानके समन्वयके साथ धर्मके विविध अङ्गोंपर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। सनातनधर्मको पूर्णरूपसे समझनेके लिए अकेली यही पुस्तक पर्याप्त है। समय-समयपर लोगोंद्वारा किये गये और की जानेवाली यथा सम्भव शंकाओंका समाधान सुन्दर भाषामें शिष्ट उत्तरों द्वारा किया गया है। इसमें वर्णित प्रमुख स्तम्भोंके विषय इस प्रकार हैं—आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म, देशसेवा और सनातनधर्म, स्वराज्य और सनातनधर्म, आचारमें वैज्ञानिक चमत्कार, नित्यकर्म, षोडश-संस्कार, श्राद्ध-तर्पण, शक्ति-संचय और आश्रमधर्म, सतीधर्म-रहस्य, विवाहकाल-निर्णय, वर्ण-विज्ञान और स्पृश्या-स्पृश्य विचार, उपासनातत्व और मन्त्रशास्त्र, भक्ति और योग, अवतार मीमांसा, ब्रह्म-ईश्वर-जीव-माया-तत्व, सृष्टिस्थिति, प्रलय-तत्व, परलोक और जन्मान्तर तत्व, वेद-वेदाङ्ग, दर्शन-शास्त्र, पौराणिक शंका-समाधान, गोमहिमा आदि अनेकानेक विषय विस्तृत और महत्वपूर्ण विवेचनके साथ तीन भागों में प्रकाशित हैं। साइज—डबल क्राउन अठपेजी, प्रत्येक खण्डकी लागत क्रमशः - ५)-४)-४) मात्र।

१—ईशोपनिषद् ।।।)

२—केनोपनिषद् ।।।)

३—कठोपनिषद् ३)

उपनिषदोंकी दुरूहता किसीसे छिपी नहीं है। इनके गूढ़ रहस्योंका जैसा उद्घाटन श्रीमत् शंकर-प्रभुने अपने भाष्योंमें किया है, वह अद्वितीय है। परन्तु वह भाष्य संस्कृतमें होनेके कारण केवल हिन्दी जाननेवाले लोगोंको उसका ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा कठिन था। अतः सरल और सुगम बनानेके विचारसे उपनिषदोंकी ये टीकाएँ प्रस्तुतकी गयी हैं। इसमें मूल, अन्वय, मन्त्रार्थ, शांकर-भाष्य तथा भाष्यका हिन्दी अनुवाद तत्पश्चात् 'उपनिषद् सुबोधिनी, नामक सुन्दर और सरल टीकाद्वारा उनके भावोंको जन-साधारणके उपयोगी बना दिया गया है एवं अस्पष्ट स्थलोंको सुस्पष्ट और सुबोध किया गया है। यह टीका सर्वथा वैज्ञानिक और समस्त भारतीय भाषाओंमें अपने ढंगकी अनोखी हुई है। धममें श्रद्धा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको ऐसे महिमामय ग्रन्थोंका अवश्य अवलोकन करना चाहिये।

सप्तशती गीता (दुर्गा)

यों तो इसके अनेक संस्करण अनेक स्थानोंसे प्रकाशित हुए आपको दिखायी पड़े होंगे, किन्तु यह संस्करण जो 'वाणी-पुस्तकमाला' द्वारा प्रकाशित हुआ है, सचमुच अद्वितीय है। मूल, फिर अन्वय तथा इसके बाद उसका सरल और सुन्दर हिन्दी भाषामें अनुवाद करके इसका जैसा सौन्दर्य्य बढ़ाया गया है, साथ ही यह एक ऐसी टीकाके संयुक्त है, कि पढ़ने या पाठ करनेसे माँ दुर्गाका आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्य अनायास समझमें आ जाता है। हर प्रकारकी आशङ्काओंको इस ग्रन्थका पाठ विनष्ट कर देनेवाला है। किसी भी भाषामें अबतक दुर्गा सप्तशतीका ऐसा प्रकाशन आपको उपलब्ध नहीं हुआ होगा,

दुर्गा-पाठ करनेवाले प्रत्येक विद्वान्, पण्डित और हिन्दू सद्गृहस्थको यह ग्रन्थ अपने घरमें रखकर लाभ उठाना चाहिये । अजिल्द १।।) सजिल्द १।।।=)

सती सदाचार

दाम्पत्य जीवनको सुन्दर और सरस बनानेवाली यह आदर्श पुस्तक है। अधिक कहना व्यर्थ है। इस पुस्तकको आप स्वयं पढ़ें, अपनी गृहिणीको पढ़ावें, बालक और बालिकाओंको दें। किसी भी प्रकारका संकोच नहीं। इसके अध्ययनके द्वारा गार्हस्थ्यधर्ममें सुख और सौन्दर्य्यकी वृद्धि होगी और जीवन सुनहला हो चमकने लगेगा। मूल्य ।।।) मात्र।

धर्मतत्त्व

धर्माधर्मसम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक हिन्दूका आवश्यक कर्तव्य है। इस धर्मग्रंथमें तथा उसके अङ्गोंपर संक्षेपसे बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। अतः प्रत्येक गृहस्थके लिए यह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है ऐसे स्कूल और कालेज तथा पाठशालाएँ, जिनमें धार्मिक शिक्षा देनेका नियम है— इस धर्मग्रन्थसे काफी लाभ उठा सकते हैं स्त्रीपुरुष, बालक बालिकाओं यानी सभी वर्गके लोगोंके लिये यह समान हितकारी है। धर्म ज्ञानकी ज्योतिको घर-घरमें जगानेके लिये यह सर्वाङ्ग सुन्दर एवं उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १=) मात्र।

भारत-धर्म-समन्वय

सनातनधर्म पृथिवीके सब धर्ममार्गोंका कितना सुहृद् है, किस प्रकार वह किसी भी धर्मका विरोधी नहीं है, किस रूपमें और धर्मोंका सहायक है, इसका यदि ज्ञान करना हो तो इस पुस्तकको अवश्य पढ़ें। परधर्म विद्वेष दूर करने तथा सनातनधर्मके उदार स्वरूपको सबके सामने रखनेके लिए एक पूज्य महात्माके द्वारा इसका पुस्तककी रचना हुई है। इसमें धर्मका सार्वभौम रूप, धर्मकी दार्शनिक व्याख्या, साधारण धर्म, विशेषधर्म समन्वय आदि स्तम्भोंको पढ़कर आपका हृदय सनातनधर्मकी महत्तापर मुग्ध हो जायगा। सभी श्रेणीके धर्मप्रेमी विद्वानों और विद्यार्थियोंके लिये भी यह ग्रन्थ परम उपयोगी सिद्ध होगा। मू० १=) मात्र

परलोक-तत्त्व

परलोक एक ऐसा स्थान है, जहाँ मृत्युके बाद सभीका पहुँचना अनिवार्य्य है। ऐसे स्थानकी रहस्यमयी बातोंका जाननेके लिये किसके हृदयमें कौतूहल उत्पन्न नहीं होता। किन्तु अबतक कोई ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था, जो इस विषयपर पूर्ण प्रकाश डालता। इस पुस्तकके द्वारा यह कमी दूर हो गयी। थोड़ा भी हिन्दी पढ़ा लिखा मनुष्य इस पुस्तकके द्वारा उस आश्चर्य्यमय लोककी बातोंको समझ अपनी चिन्ता मिटा सकता है। मूल्य ।।।≡) मात्र।

आचार-चन्द्रिका

यह पुस्तक ब्रह्मीभूत श्री १०८ श्रीस्वामी दयानन्दजी द्वारा प्रणीत है। धर्महीन पाश्चात्य शिक्षाके फलस्वरूप 'आर्य्य-जीवनमें' प्राचीन आदर्शोंका लोप-सा दिखायी पड़ता है। कोई भी बालक या बालिका धर्म शिक्षाके अभावके कारण अपना जीवन आर्य आदर्शके अनुकूल बनानेमें समर्थ नहीं है। अतः सदाचार-प्रतिपालन, ईश्वरभक्ति, गुरुजन श्रद्धा, मातृभक्ति, सच्चरित्रता, आस्तिकता, परार्थपरता एवं ज्ञानार्जनस्पृहा उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे इस पुस्तककी रचना हुई है। पुस्तक अतीव उपयोगी है। बालक और बालिकाओंके अतिरिक्त सयाने लोगोंको भी यह पुस्तक मार्गप्रदर्शकका काम देनेवाली है मू०—।।।) मात्र।

धर्म-प्रवेशिका

सर्वसाधारणमें धर्मका प्रारम्भिक ज्ञान करानेवाली ऐसी कोई दूसरी पुस्तक नहीं। इसमें धर्मका स्वरूप, पुण्य और पाप, धर्मके अङ्ग और उपाङ्ग, वेद और शास्त्र, इहलोक और परलोक, ईश्वर, देवता और अवतार, उपासना और पूजा, गृहस्थके कर्त्तव्य आदि शीर्षक देकर छोटे-छोटे निबन्धरूप-धर्मके प्रत्येक अङ्गपर सरल हिन्दी भाषामें ऐसा प्रकाश डाला गया है, कि एक बालक भी इसे पढ़कर हिन्दूधर्मका अच्छा ज्ञाता बन सकता है। अधिक कहना व्यर्थ है, पुस्तक देखते ही प्रकट होगा। मू० ।≈) मात्र।

व्रतोत्सव कौमुदी

ऐसा कौन हिन्दू होगा जिसके घरकी महिलाएँ तथा बालिकाएँ व्रत करनेकी अभिलाषा नहीं रखती हैं। वे परम्परागत व्यवहारानुसार व्रत तो करती हैं किन्तु अधिकांशको इस बातका पता ही नहीं रहता कि किस व्रतके करनेकी क्या विधि है, उसे क्यों किया जाता है, उसके करनेसे क्या लाभ होता है, आदि-आदि। इस अनभिज्ञताके कारण व्रतके नियमोंके यथाविधि पालनमें त्रुटि रहती ही है। इस पुस्तकमें हिन्दू घरोंमें होने वाले प्रायः सभी व्रतोंकी विधियाँ उसके माने जानेके कारण आदिपर भलीभाँति प्रकाश डाला गया है। घर-घरमें इसका प्रचार हो, इसलिये मूल्य केवल लागत मात्र ही रख गया है। मू० ॥-) मात्र।

पूजा और प्रार्थना

इस पुस्तकमें गणेश, विष्णु, दुर्गा, काली आदि अनेक देव और देवियोंकी प्रार्थना और पूजाकी पद्धतिपर स्पष्ट प्रकाश डाला गया हैं। इसकी उत्तमताके विषयमें कुछ कहना सूर्यको दीपक दिखाना है। पुस्तक प्रत्येक हिन्दू गृहस्थमात्र तथा विद्यार्थियोंके कण्ठ करने योग्य है। मू० ।) मात्र।

वेदान्त-दर्शन

महर्षि वेदव्यासका यह संसार-प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका अध्ययन जिसने नहीं किया, वह दयनीय हिन्दू है। इसके सुप्रसिद्ध और सारभूत चतुःसूत्री का ऐसा सरल और सुभग भाष्य, वह भी शंकर भाष्यके अनुकूल हिन्दीमें कहीं प्रकाशित नहीं हुआ होगा। हमारा सबसे अनुरोध है, कि वे एक-एक पुस्तक अवश्य खरीदें। मू० ॥-)

गीतार्थ-चन्द्रिका

सनातनके सुप्रसिद्ध व्याख्याता ब्रह्माभूत श्री स्वामीदयानन्दजी महाराजने गीतापर यह अद्भुत टीका लिखकर अपने बुद्धि-वैभवका जो चमत्कार प्रदर्शित किया है—वर्णन नहीं किया जा सकता। इसकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इतने जटिल विषयको भी अत्यन्त सुन्दर और सरल हिन्दीमें लिखकर गूढ़ एवं गम्भीर गीताके रहस्यको स्पष्ट कर दिया है। इसमें ज्ञान, कर्म और उपासना-तीनोंका सामञ्जस्य सफलता पूर्वक किया गया है। सजिल्द—३) सादी – २॥) मात्र।

कर्म-रहस्य

यह पुस्तक अभी हालहीमें प्रकाशित हुई है। कर्मसम्बन्धी बड़ा सुन्दर विवेचन है। इसमें कर्मका स्वरूप, कर्मसे सृष्टि, कर्मके भेद, कर्मका परिणाम, कर्मसे जाति, कर्मसे आयु, कर्मसे प्रकृति, कर्मसे प्रवृत्ति, कर्मसे संस्कार, कर्मसे शक्ति, कर्मसे काल, आदि शीर्षक देकर एक पूज्य महात्मा द्वारा अनेक निबन्ध लिखे गये हैं। यह जीवन कर्ममय है या यह कहिये कि कर्महीसे जीवन है; अतः जीवन-प्राण कर्म सम्बन्धी सभी बातें मनुष्यमात्रको ही जाननी चाहिये। इस पुस्तकमें कर्मके विषयकी सभी बातोंपर पूर्ण प्रकाश डाल गया है और इसके अध्ययनके द्वारा जीवन बहुत कुछ सफल बनाया जा सकता है। मूल्यलागत मात्र ॥≈)

श्रीमद्भगवद्गीता

(प्रथम खण्ड)

यह प्रथम खण्ड प्रथम अध्यायसे नवें अध्याय तक प्रत्येक श्लोक, अन्वय, अर्थके अतिरिक्त 'तत्व बोधिनी' नामकी विस्तृत टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि आज तक गीताकी विविध टीकाएँ निकल चुकी हैं, किन्तु इसकी यह अपनी मौलिक विशेषता—गीताका अध्यात्म, अधिदैव अधिभूतके साथ त्रिविधस्वरूप वैज्ञानिक ढंगसे है जो प्रत्येक जिज्ञासुके लिए तृप्ति-दायक है। भाषा अति सुन्दर और सरल है। हिन्दीमें गीताकी यह अपूर्व पुस्तक है। मूल्य—४) मात्र। दूसरा खण्ड भी शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

आदर्श-देवियाँ

निस्सन्देह इस ग्रन्थको पढ़कर प्रत्येक महिला आदर्श-महिला या आदर्श-देवी हो सकती है। क्योंकि इस ग्रन्थमें वैदिक कालसे लेकर ऐतिहासिक काल तक जिन जिन देवियोंके चरित्र संकलित हुए हैं, जिनमें कोई आदर्श-विदुषी है, कोई आदर्शमाता है, कोई आदर्श सती है, कोई आदर्श योगिनी है, और कोई आदर्श वीराङ्गना है। अतः प्रत्येक पाठिका अपनी प्रवृत्तिके अनुसार किसी भी देवीका आदर्श ग्रहण कर सकती है और आदर्श महिला बन सकती है। लगभग ५० देवियोंके चरित्रोंका सुन्दर चयन है। ग्रन्थ दो भागोंमें है, प्रत्येक भागका मूल्य १।-) है।

सन्यास-धर्म-पद्धति

यह ग्रन्थ सभी सम्प्रदायोंके साधुओं और सन्यासियोंके लिये परमोपयोगी और संग्रहणीय संस्कृत भाषामें है। मू० १॥) मात्र।

गोप्रस-तीर्थ-महिमा

इस पुस्तकमें गौ-माताकी महिमा एवं महत्ता समस्त हिन्दू त्योहारों तथा तीर्थोंके सम्बन्धमें सुन्दर और निबन्ध हैं। मू०॥)

तत्वबोध

(श्री शंकराचार्य रचित मूल)

भाषानुवाद और वैज्ञानिक ठिप्पणीके सहित। मू० ।=)

कुछ अन्य पुस्तकें

धर्माधर्म प्रश्नोत्तरी	=)
सदाचार प्रश्नोत्तरी	=)
तीर्थ और देवपूजन प्रश्नोत्तरी	=)
महिला प्रश्नोत्तरी	=)
परलोक प्रश्नोत्तरी	=)
भाभीके पत्र	।।।)
हिन्दूधर्मका स्वरूप	≡)
गायत्रीमन्त्रकी टीका	=)
कन्या-शिक्षा-सोपान	=)
दर्शनादर्श	१)
सन्यास गीता	॥)
सरल साधन प्रश्नोत्तरी	=)
श्री व्यास-शुक संवाद	।)

उपरोक्त पुस्तकोंके अतिरिक्त अनेकानेक पुस्तकें हमारे यहाँसे प्रकाशित हुई हैं, जिनका उल्लेख स्थानाभावके कारण हम यहाँ करनेमें असमर्थ हो रहे हैं। अतः सूचीपत्र मँगालिया जा सकता है।

व्यवस्थापक—**वाणीपुस्तकमाला, जगतगंज**

—बनारस (केन्द्र)

सम्पादक, मुद्रक व प्रकाशक—श्रीमदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारसने हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशीमें छपवाकर प्रकाशित किया।

आर्य्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला', श्री आर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका है। महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सभी श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—पत्रिका प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अङ्क दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके पश्चात् तत्काल कार्य्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे जाँच करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिये। समुचित समयपर सूचना न मिलनेपर कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना पूर्ण पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखनी चाहिये, अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका उत्तरदायी न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये, यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना कार्यालयमें देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला,' जगतगञ्ज, बनारस (कैण्ट)के पतेसे आना चाहिये।

७—लेखादि कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिए पर्याप्त जगह छोड़ देनी चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताको प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने, बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख पूरे आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिए टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिए

विज्ञापनदाताओंके लिए काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, ½ पृष्ठ	१६)	,,
,, ¼ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्द्धारित है। विज्ञापनदाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेज तक विज्ञापन छपानेवालोंको "आर्य्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास २५) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

आवश्यक सूचना

सर्वसाधारणको सूचित किया जाता है कि ठाकुर आत्माप्रसादसिंह भूतपूर्व सम्पादक तथा व्यवस्थापक "आर्यमहिला" दिनाङ्क ८-९-४९ को अपने उक्त पदोंसे पृथक् कर दिये गये हैं। अतः उनके लेन-देन सम्बन्धी किसी भी कार्यके लिये संस्था उत्तरदायी नहीं है, इसलिये जनताको उनके द्वारा किये गये 'संस्था' सम्बन्धी किसी भी व्यवहारके भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये।

व्यवस्थापक—

आर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्

प्रधान कार्यालय, काशी।

मध्यप्रांत तथा बरारके शिक्षा-संचालक द्वारा शालाओं और पुस्तकालयोंके लिये स्वीकृत

समाजके सर्वांगीण विकासकी अभिनव मासिक-पत्रिका

स्वीकृति-पत्र सं० ५५१, दिनांक १९-४-४९

सम्पादिका
भारती एम. ए.

सम्पादक
बागमल गोलछा

वार्षिक—५)
एक प्रति—॥)
पुस्तकालयों तथा छात्रोंसे ४) मात्र

'कला'के ग्राहक बनकर गागरमें सागर सागरसे— * * * लाभ उठाइये। 'कला'में विज्ञापन देकर अपने व्यवसाय की व्यापकतासे—

पत्र व्यवहारका पता :—

'कला' मासिक कला-मन्दिर सदर, नागपुर।
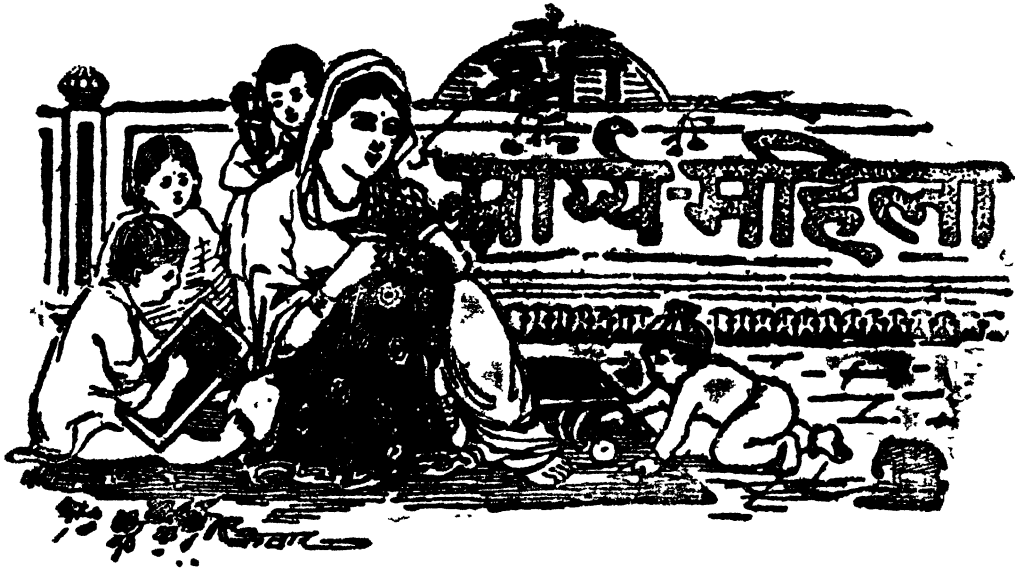
अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

मार्गशीर्ष सं० [illegible] | वर्ष ३२, संख्या ८, | नवम्बर १९५०

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी ।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुञ्ज-हारी ॥
नाथ तू अनाथको अनाथ कौन मोसों ?
मो समान आरत नहि आरतिहर तोसों ॥
ब्रह्म तू हौं जीव, तुही ठाकुर हौं चेरो ।
तात मात गुरु सखा तू सब विधि हित मेरो ॥
तोहि मोंहि नाते अनेक मानिये जो भावैं ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावैं ॥

आत्मनिवेदन

कांग्रेस अध्यक्ष श्रीटंडनजीसे—

गत १६ अक्टूबरको इलाहाबादमें ललिता महोत्सवके उपलक्ष्यमें आयोजित सभामें भाषण करते हुए श्रीपुरुषोत्तमदास टंडनजीने स्त्रियोंको सीता-सावित्रीका आदर्श रखनेका उपदेश दिया और पुरुषोंको श्रीरामचन्द्रजीकी भाँति एकपत्नीव्रतका आदर्श रखनेकी सम्मति दी ; उनका भाषण जो दैनिक भारतके २२-१०-५० के अङ्कमें प्रकाशित हुआ था, उसको यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है—"शिवजीकी बिना सम्मतिके सती अपने पिता दक्षके यज्ञमें चली आयी। शिवका भाग न देखकर वह पतिके अपमानके दुःखमें भस्म हो गयी। यही हमारी भारतीय संस्कृति है। जो स्त्रियाँ स्वयं अपने पतिका अपमान करती हैं, उनके लिये क्या कहें। हमारे देशका आदर्श है सतीत्व। उसमें तड़क-भड़कके लिये जगह नहीं, गम्भीरता चाहिये। भारतीय संस्कृति नहीं चाहती, हमारी महिलायें तितलीकी भाँति सज-धजकर मारी मारी घूमें। हमारे यहाँका आदर्श तो कबीर साहबने बताया है कि :—

पतिव्रता मैली भली, काली कुचिल कुरूप।
पतिव्रताके रूप पै वारो कोटि सुरूप॥
पतिव्रता मैली भली, गले कारचकी पोत।
सब सखियनमें यों दिखे ज्यों तारा खद्योत॥

इसलिये स्त्रियोंको सीता-सावित्रीका आदर्श रखना चाहिये।" माननीय टंडनजीका महिलाओंके लिये यह उपदेश उनके महान् व्यक्तित्वके अनुरूप ही है। और आज भी आर्यमहिलाएँ तो सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि महाभागा सतियोंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करनेमें ही अपना परम गौरव, सुख एवं सम्मानका अनुभव करती हैं। अभी थोड़े दिन पहले हमीरपुर ग्राममें एक हरिजनकी पुत्रीके पतिके मृत्यु होनेपर सती होनेका समाचार काशीके 'सन्मार्ग'में प्रकाशित हुआ था। पाश्चात्य शिक्षा एवं दूषित वातावरणके प्रभावसे प्रभावित कुछ महिलाएँ भले ही इस आदर्शको न मानतीं हों किन्तु ऐसी महिलाओंकी संख्या नगण्य ही है। भारतकी कोटि-कोटि महिलाओंकी तु[illegible]में इनका कोई स्थान नहीं है। [illegible]न्तु टंडनजीको विदित हो है कि, उनकी कांग्रेस[illegible]रकार हिन्दूकोड-बिल पास करनेको कटिब[illegible]। प्रधानमन्त्री नेहरूजी उसको पास कर[illegible] अपने सरकारके अस्तित्वकी बाजी लग[illegible] हैं। महिलाओं तथा महिला-संस्थाओंकी ओरसे इस बिलका उग्र विरोध किया गया परन्तु कोई सुनवाई नहीं हुई। सहस्रों महिलाओंने दिल्लीमें इस बिलपर विचार होते समय गत दिसम्बरके महीनेमें असेम्बली भवनके सामने अपना विरोध प्रदर्शन किया तो उनपर लाठी-प्रहार कराया गया। अब तो नासिक कांग्रेसमें नेहरूजीने स्पष्ट ही कह डाला कि "यदि गणतन्त्रका अर्थ जनताकी राय मानना है, तो मैं गणतन्त्रवादी नहीं हूँ।" ऐसी स्थितिमें नेहरूजीके सामने जनताकी पुकारका कोई मूल्य ही नहीं रहा। हिन्दूकोडबिल पास किया ही जायगा। उसके पास हो जानेपर क्या

सीता-सावित्रीका आदर्श स्त्रियोंमें तथा रामका आदर्श पुरुषोंमें बना रह सकेगा? इस कोडके द्वारा तो स्त्रियोंको पातिव्रतधर्म तथा सतीत्वसे भ्रष्ट कर उनको स्वेच्छाचारिणी स्वैरिणी तथा पुरुषोंको लम्पट व्यभिचारी बनानेका साधन सुलभ किया जा रहा है। अतः स्वतः प्रश्न होता है कि, हिन्दूकोडबिलको रोकनेके लिये श्रीटंडनजीने क्या किया? श्रीटंडनजीका उत्तर हो सकता है कि, "हमारे हाथमें शासन नहीं है किन्तु शासकोंकी सम्मति दे सकता हूँ।" जैसा उन्होंने उसी दिनके भाषणके अन्य प्रसंगमें कहा भी था। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि, इस समय कांग्रेसदलका शासन है और सौभाग्यसे टंडनजी कांग्रेसके अध्यक्ष पदपर आसीन हैं। कांग्रेसकी नीतिका सञ्चालन उन्हींके हाथमें है। कांग्रेस अपनी सरकारको आदेश देकर हिन्दूकोडबिलको वापस लेनेको बाध्य कर सकती है। कांग्रेस सरकारको कांग्रेसका आदेश मानना ही पड़ेगा। श्रीटंडनजी निर्भीक, न्यायशील निष्पक्ष नेता हैं। यदि कांग्रेस आपके नेतृत्वमें भी ऐसा नहीं कर सकी और नेहरूजीके पदत्यागकी धमकीसे डरती ही रही तो वह केवल सरकारके प्रचार एवं चुनाव लड़नेका साधनमात्र रह जायगी और इसप्रकार अन्तमें अपना अस्तित्व भी खो बैठेगी। अतः टंडनजीसे हमारी नम्र प्रार्थना है कि वे कांग्रेस कमिटी से प्रस्ताव स्वीकृत कराकर हिन्दूकोडबिल वापस लेनेके लिये अपनी सरकारको बाध्य करें और सरकारको इस भयंकर भूलसे बचावें।

ईश्वर सरकारको सुबुद्धि दें।

देशको अन्नके विषयमें आत्मनिर्भर बनानेके लिये केन्द्रीय सरकार अनेक उपाय कर रही है, उन्हींमें एक बन्दरों एवं नीलगायोंका बध भी बड़े जोरोंसे किया जा रहा है; क्योंकि सरकारकी बुद्धिमें ये प्राणी मनुष्योंका अन्न नष्ट करते हैं। परन्तु इसका फल कुछ उल्टा ही देखा जा रहा है। सरकारी विज्ञप्तिके अनुसार अतिवृष्टि और भूकम्पके कारण पञ्जाब आसामआदि प्रदेशोंमें सरकारद्वारा सुरक्षित चार लाख टन अन्न नष्टहो गया। इन निरीह पशुओंका बध करके अन्न नहीं बचाया जा सका। अब अनावृष्टिके कारण बिहारमें दुष्काल घोषित होनेकी सम्भावना दिखायी दे रही है, जिसे स्मरण करके रोमाञ्च हो आता है। सरकारके इन पापोंका फल दैवकोप निरपराध जनताको भोगना पड़ रहा है। क्योंकि वैदिक शास्त्रके अनुसार राजा ही कालका कारण माना गया है, जैसा कि :—

> कालो वा कारणं राज्ञः
> राजा वा कालकारणम्।
> इति ते संशयो मा भूत्,
> राजा कालस्य कारणम्॥

दुर्भाग्यवश सरकारकी प्रायः सभी चेष्टाएँ ऐसी हो रही हैं, जिससे जनताका दुःख दिन दिन बढ़ता ही जा रहा है। मंगलमय ईश्वर सरकारको सुबुद्धि दें।

मृच्छकटिक।

[ले० पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर]

काव्यसाहित्यमें नाटकका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। भरतमुनिने तो इसका एक स्वतन्त्र शास्त्र ही बना डाला है। इसीसे संस्कृत नाटक जैसे शास्त्रशुद्ध लिखे गये है, वैसी संसारकी किसी भाषामें देख नहीं पड़ते। भरतने अपने शास्त्रमें मनोविज्ञानका अच्छा विश्लेषण किया है और रूपकका वही प्राण है। संस्कृत नाटकोंमें 'मृच्छकटिक' सबसे प्राचीन है। यद्यपि यह बौद्धकालमें लिखा गया है, तथापि इसपर वर्णाश्रमधर्मकी अच्छी छाप पड़ी है। उसी नाटकका कथानक संक्षेपमें पाठकोंको भेट किया जाता है। उज्जैनमें जब पालक राजा राज्य करता था, उस समयकी घटना है और इसके लेखकका नाम है शूद्रक।

पालकके समयमें अवन्तिका (उज्जैन) वैभवके शिखरपर पहुँच गयी थी। नाटकका नायक है चारुदत्त और नायिका है बसन्तसेना। चारुदत्त एक बड़ा धनी-मानी ब्राह्मण है और बसन्तसेना है एक वेश्या। दोनोमें बड़ा प्रेम था। बसन्तसेना चारुदत्तपर अनुरक्त थी। बसन्तसेनाका रूपलावण्य अद्भुत था। उस जैसी सुन्दरी और साहित्य-संगीतमें कुशल उस समय मालवमण्डलमें कोई स्त्री नहीं थी। उसका यौवन, उसके सौन्दर्यको अधिक देदीप्यमान कर रहा था और उसकी कीर्ति सब ओर फैल रही थी।

राजाका शकार नामक एक मूर्ख, विषयी और लम्पट शालक था, जिसे रानीके अनुरोधसे राज्यमें एक उच्च पद मिल गया था। राजशालक होनेसे उससे सभी डरा करते थे। वह दन्त्य 'स'-कारका उच्चारण नहीं कर सकता था। 'स'के स्थानमें तालव्य 'श' का उच्चारण करता था। इसीसे उसका शकार नाम पड़ गया था। वास्तविक नाम क्या था, पता नहीं। उसकी कुदृष्टि बसन्तसेनापर पड़ी, तो उसे फँसानेका वह कुचक्र रचने लगा। बसन्तसेना उससे तिरस्कार करती थी और वह अपने पदका दुरुपयोग कर रहा था।

चारुदत्त बड़ा धार्मिक और दानी था। उसकी सब सम्पत्ति दानधर्ममें व्यय हो चुकी थी और वह दरिद्र बन गया था। परन्तु उसके प्रति बसन्तसेनाका अनुराग कम नहीं हुआ था और उसके बाल मित्र मैत्रेयने सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमें भी उसका साथ नहीं छोड़ा था। एक दिन वैश्वदेव-बलिहरण कर जब वह काकबलि देने अपने द्वारपर आया, तो क्या देखता है कि, याचक लोग इसके घरके पहले के घरमें जाते और बादके घरमें जाते ; परन्तु इसका घर इस कारण छोड़ देते हैं कि, इसके पास अब धरा ही क्या है, जो दान करे। चारुदत्तकी आँखोंमे आँसू भर आये। मैत्रेय पूछता है,—"मित्र, आँखोंसे आँसू क्यो बहाते हो? बताओ, तुम्हें मरण पसन्द है, या दरिद्रता ?" चारुदत्त उत्तर देता है,—"सुहृद्! दरिद्रतासे तो मरण ही कहीं अधिक अच्छा है। जब दान करनेकी शक्ति नहीं, तब जीकर ही क्या करूँगा ?" वैश्वदेव-बलिकर्म करने और दानधर्ममें प्रबल आस्था रखनेसे चारुदत्तकी वर्णाश्रमधर्मसम्बन्धी श्रद्धा निखर पड़ती है।

बसन्तसेनाने चारुदत्तकी अकिंचनता देख, अपने अलंकारोंका एक जोड़ उसके पास धरोहरके रूपमें रख दिया। उसने यह सोचा कि, काम पड़ने पर ये अलङ्कार इसके काम आ जायँगे। चारुदत्तकी पत्नी धूता भी बड़ी उदार, पतिव्रता और पतिके मनो-वृत्तानुसार चलनेवाली थी। चारुदत्त जब कोई अलङ्कार बनवाता, तब एक नहीं, धूता और बसन्त-सेनाके लिये दो बनवाता और दोनों एकसे बनते। धूताके सब अलङ्कार बिक चुके थे; परन्तु वह जोड़ बच रहा था, जो बसन्तसेनाने धरोहरके रूपमें भेजा था।

बसन्तसेनाकी रदनिका नामक एक दासी थी। उसपर शर्विलक नामक एक डाकू आसक्त था। उसने जब रदनिकासे प्रेम प्रस्ताव किया, तब उसने कहा कि, मैं क्रीतदासी हूँ। जितने मूल्यमें मैं खरीदी गयी हूँ, उतनी रकम तुम चुकती कर दो, तो मैं मालकिनसे छुट्टी पा सकूँगी। शर्विलक राजी हो गया और रकम जुटानेके फेरमें पड़ गया। इधर चारुदत्त बसन्त-सेनाकी धरोहर छातीसे लगाये रहता था और सोते समय मैत्रेयको सौंपकर तब सोता था। मैत्रेय भी बड़ी सावधानीसे उसे सम्हालता था। एक रात्रिमें अधिक समयतक गान बजाना होनेके कारण चारुदत्त और मैत्रेयको गाढ़ी नींद आ गयी। वे निश्चिन्त होकर सो गये।

शर्विलकने किसी धनीके घरमें सेंध मारनेका निश्चय किया। उसे रदनिकाके लिये रकम जुटानी थी। चारुदत्तकी हवेली सबसे बड़ी और मनोहर होनेके कारण उसीमें आधी रातके समयमें सेंध लगानेपर उद्यत हुआ। वह सोचने लगा कि, किस आकृतिकी सेंध लगायी जाय, जिससे इष्टसिद्धि शीघ्र हो? बहुत सोचकर घड़ेके आकारकी उसने सेंध लगायी। उसके मतानुसार घड़ेके आकारकी सेंध लगानेसे जो धनकी प्राप्ति होती है, उससे सुन्दरी स्त्रीका लाभ होता है। यही वह चाहता भी था। इससे प्रतीत होता है कि, उस समय चौर्यविद्याका भी एक शास्त्र बन गया था।

सेंध लगाकर जब वह कोठेपर गया, तो क्या देखता है कि, कमरेमें चारों ओर तानपूरे, मृदङ्ग, दिलरुबा, बीन आदि बाजे रक्खे हुए हैं और दो पुरुष बेखबर सोये हुए हैं। उसे बड़ी निराशा हुई कि इन गवैये-बजवैयोके यहाँ मुझे क्या मिलना है? वह निराश होकर लौटने ही वाला था कि, इतनेमें मैत्रेय स्वप्नमें बरबराने लगा,—"मित्र! मुझे बहुत नींद आ रही है। अतः अपनी इस धरोहरको सम्हालो, मैं सोता हूँ।" मैत्रेयने अलङ्कारोंका डिब्बा देनेको हाथ बढ़ाया, तो शर्विलकने आगे बढ़कर वह ले लिया और अपनी राह ली।

प्रातःकाल होते ही वह बसन्तसेनाकी हवेलीमें पहुँचा और उसे वह डिब्बा देकर रदनिकाकी माँग करने लगा। बसन्तसेना अपने अलङ्कारोंको देखकर अकचका गयी और समझ गयी कि, यह चारुदत्तके वहाँसे चुरा लाया है। डाकू है, इसका यही काम है। यह सोचकर कुछ बोली नहीं और यह जान-कर कि, रदनिकासे इसका सच्चा प्रेम है और रदनिका भी इसे चाहती है, अपने व्ययसे बड़े ठाटसे दोनोंका विवाह कर दिया।

इधर मैत्रेय और चारुदत्त प्रातःकाल जागे, तो डिब्बा न पाकर बड़े घबड़ाये। मैत्रेय कहता है

कि, उसने डिब्बा मुझे दिया और मुझे तो मिला नहीं। थोड़ी देरमें सेंध लगनेका जब उसे समाचार मिला, तब वह जान गया कि, डिब्बा चोर ले गये। परन्तु अपनी चोरीका कलङ्क कैसे धोया जाय? बसन्तसेना यही समझेगी कि, दरिद्र होनेके कारण मैं उसके अलङ्कार बेचकर खा गया। उसको चिन्तित देखकर और चिन्ताका कारण जानकर पतिव्रता धूताने विनीतभावसे निवेदन किया,—नाथ! ऐसे चिन्तित क्यों हो रहे हैं? बसन्तसेनाके अलङ्कारोंके समान ही मेरा जोड़ मेरे पास है। वह बसन्तसेनाके पास यह कहकर भेज दें कि, इस समय पहरा चौकीका प्रबन्ध न होनेसे मेरा घर सुरक्षित नहीं है। शकारकी अयोग्यतासे नगरमें डाँके पड़ रहे हैं, अतः आपकी धरोहर लौटा रहा हूँ। इसे सम्हाल लीजिये। पत्नीके इस व्यवहारसे चारुदत्त लज्जित तो हुआ, परन्तु उसके आनन्दका भी ठिकाना नहीं रहा। धूताके कहे अनुसार चारुदत्तने उसके अलङ्कार बसन्तसेनाके पास भेज दिये। जब वे अलङ्कार बसन्तसेनाके हाथ आये, तब उसके आश्चर्य-की सीमा न रही। वह पहचान गयी कि, ये अलङ्कार धूताके हैं, क्योंकि वैसेही उसके अलङ्कार उसके पास पहुँच चुके थे।

इस घटनाका रहस्य जाननेके लिये वह तुरन्त चारुदत्तके घर गयी। उस समय आँगनमें चारुदत-का ५-६ वर्षका बालक खेल रहा था। वह सोनेकी गाड़ीके लिये हठ ठाने था और दाई मिट्टीकी गाड़ी दिखाकर उसे समझा रही थी। बालक अबतक सोनेकी गाड़ीसे खेलता था, मिट्टीकी गाड़ीसे क्यों माने? बसन्तसेना यह देखकर रो पड़ी। उसने बालकको छातीसे चिपका लिया और इसप्रकार समझा-बुझाकर कि, चलो मुन्ना! मैं दूँगी तुम्हें सोनेकी गाड़ी। वह उसे अपने साथ ले गयी। अन्दर जानेपर चोरीका भेद खुला, तब अन्तःपुरमें जाकर धूताके चरणोंमें गिर पड़ी और प्रेम-गद्गद कण्ठसे बोली,—देवी! तुम धन्य हो। तुमने आज आर्य-महिलाओंका मुख उज्ज्वल किया है। तुम्हारे जैसी गृहलक्ष्मियोंने ही आर्योंकी मर्यादाका गौरव बढ़ाया है। मेरे अलंकार मेरे पास पहुँच गये हैं। आप अपने अलङ्कार स्वीकार करें। इस दासीका यही निवे-दन है कि, जब आपको धनकी आवश्यकता हो तब सेविकाके यहाँसे मँगा लिया करें। आखिर मेरे पास जो कुछ है, वह सब आपके यहाँसे ही तो आया है? उसकी सच्ची स्वामिनी आप ही हैं। संकोच किस बातका? इस दासीकी यह प्रार्थना आप अवश्य स्वीकार करें। अभी मुन्नाको मैं अपने साथ लिये जाती हूँ। थोड़ी देरमें लौट आवेगा। मेरा भी तो उसपर कुछ अधिकार है? "वह आपका ही है" कहकर धूता चुप हो गयी।

नाटकमें एक घटनासे बसन्तसेनाके आधारपर वैभवका कविने बड़ी कुशलतासे दिग्दर्शन कराया है। एक दिन बसन्तसेनाका हाथी छूटकर नगरमें उत्पात मचा रहा था और किसी प्रकार काबूमें नहीं आता था। अनेक महावतों और भालदारोंके उद्योगसे वह फिर बाँधा जा सका। इस प्रसङ्गसे कविने बसन्तसेनाके सातचौक वाले भव्य प्रासादका जो वर्णन किया है, उसके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि, वैसा प्रासाद विरले ही राजा-महाराजाके हो सकते हैं। जब नगरकी एक वेश्याके रत्नस्तम्भवाले सुन्दर भवन थे, तब वहाँके राजप्रासाद कैसे होंगे, इसकी कल्पना ही करते बनती है। बसन्तसेनाके द्वारपर

हाथी झूमा करते थे। उसका यह वैभव चारुदत्तके धनसे हुआ था। चारुदत्त दानशूर था, धार्मिक था। जब वह एक वेश्याको इतना धन दे सकता था, तब उसने योग्य पात्रोंको कितना दान दिया होगा और वह कितना धनसम्पन्न रहा होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

इधर शकारके जब सब प्रयत्न विफल हुए और बसन्तसेना वशीभूत नहीं हो सकी, तब उसने उसकी हत्या करनेका निश्चय किया। साथ ही उस हत्याका अपराध चारुदत्तपर लादकर उसे भी प्राणदण्ड देनेका षड्यन्त्र रचा। जिससे प्रेमी-प्रेमिका दोनों संसारसे उठ जायंगे। 'रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी'। बन्सी और बन्सीधर दोनों उसकी आँखमें खटक रहे थे।

बसन्तसेनाके लिये प्रतिदिन चारुदत्तकी गाड़ी आया करती और उसीमें चढ़कर वह सन्ध्यासमय चारुदत्तके घर जाया करती थी। एक दिन शकारने चारुदत्तकी गाड़ी मंगनी मँगवा ली। बसन्तसेनाके बधके लिये एक सोतेके पासका जङ्गल स्थिर किया और वहाँ अपने कुटिल संगी-साथियोंसहित पहलेसे जा डटा। अपने कोचवानको आज्ञा दी कि, उसी स्थानमें वह बसन्तसेनाको ले आवे। प्रतिदिनकी तरह आज भी बसन्तसेनाके यहाँ चारुदत्तकी गाड़ी पहुँची। विश्वास और नित्यके अभ्यासके अनुसार बसन्तसेना गाड़ीमें निःशङ्क होकर चढ़ी। उसे क्या पता कि, वह बधस्तम्भकी ओर ले जायी जा रही है और आज उसका बध होगा, कोचवानने उसे उसी स्थानमें पहुँचा दिया, जहाँ चाण्डाल चौकड़ी उसके बधके लिये प्रस्तुत होकर उत्कण्ठासे उसकी मार्ग प्रतीक्षा कर रही थी। उसके पहुँचते ही सब दुर्वृत्त प्रसन्नतासे उछल पड़े और बोले,—राजशालक! शिकार तो आ गया। अब बताइये कि, किस शस्त्रसे इसका बध किया जाय? शकारने उत्तर दिया,—मालतीके फूलके लिये शस्त्रका क्या प्रयोजन है? वह तो अंगुलियोंसे मींज दिया जा सकता है। मैं गला दबाकर उसका बध करूँगा। इसी बहानेसे उसके कोमल शरीरके स्पर्शका सुख मुझे प्राप्त हो जायगा।

गाड़ीका पर्दा हटाकर बसंतसेना उतरी, तो वहाँका दृश्य देखकर भौंचक्की हो गयी। सामने शकारको देखकर वह यह तो समझ गयी कि, यह इसीका कुचक्र है, मुझे धोखा दिया गया है; परन्तु यह नहीं जान सकी कि, मेरे बधका आयोजन किया गया है। वह अधिक सोचने भी नहीं पायी कि, शकारके साथियोंने उसे झपटकर भूमिपर गिरा दिया और वह चिल्ला न सके, इसलिये उसके मुँहमें चिथड़े ठूंस दिये। शकार स्वयं उसकी छातीपर चढ़ बैठा और उसका गला दबाने लगा। थोड़े ही समयमें बसन्तसेना बेसुध हो गयी। तब उसके मुँहसे चिथड़े निकाल कर शकार उससे पूछता है,—"तू मरी या नहीं? अब तुझे बचानेवाला वह ब्राह्मण चारुदत्त कहाँ है? जा, सीधी यमराजके घर चली जा। राजशालकका अपमान करनेका क्या फल होता है, यह अच्छी तरह समझ ले"। सबने देखा कि, वह निश्चेष्ट हो गयी है, तब उसे छोड़ दिया और उसपर पेड़ोंकी हरीपत्तियाँ ताप दीं; जिससे किसीको पता न लगे। यह दिव्य पुरुषार्थ कर चारुदत्तकी ही गाड़ीसे सब लोग वहाँसे चल दिये।

रातभर बसन्तसेना वहाँ वैसी ही बेसुध पड़ी रही। पौ फटनेपर नित्यके नियमानुसार पासकी

एक कुटियामें रहनेवाला एक बौद्ध संन्यासी वहाँ आया और सोतेमें स्नानकर उसने अपना उत्तरीय उसी पत्तियोंके ढेरपर सुखानेके लिये फैला दिया। प्रातःकालकी जीवनदायिनी बयार और हरी पत्तियों तथा गीले कपड़ेकी ठण्ढक पाकर बसन्तसेनाके शरीर-में प्राणोंका सञ्चार हुआ। संन्यासी अपने आह्निक-कर्ममें लगा था। इतनेमें क्या देखता है कि, पत्तियोंका ढेर तितर-बितर हो गया है और उसमेंसे एक सुन्दरी स्त्री प्रादुर्भूत हुई है। बसन्तसेना उठकर बैठ गयी थी और चारों ओर अकचकी-सी देख रही थी। उसकी बड़ी बड़ी आँखोंकी चमक और शरीरके लावण्यको देखकर पहले तो वह घबड़ाया और समझने लगा कि, यह कोई दैवीचमत्कार है; परन्तु जब वह पास आया और उसे बसन्तसेनाने प्रणाम किया, तब वह समझ गया कि यह देवी नहीं, मानुषी ही है और घटना चक्रसे यहाँ आ गयी है। बातचीतमें सब भेद खुल गया। बसन्तसेनाने संन्यासीको अपनी सब राम कहानी कह सुनायी और प्रार्थना की कि,—"पिताजी, कृपाकर मुझे घर पहुँचा दें।" उसकी करुण कहानी सुनकर दयालु संन्यासीको बहुत दुःख हुआ। उसने आश्वासन दिया कि, "बेटी! तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हें सावधानीसे सुरक्षितरूपसे घर पहुँचा दूँगा।"

इधर महलमें लौटकर शकारने घोषणा करा दी कि, दरिद्र होनेसे धन-लोभके कारण नगरकी सर्वोत्तम वेश्या बसन्तसेनाको घातक चारुदत्तने जानसे मार डाला है। वेश्या लापता है। चारुदत्त पकड़ा गया। तुरन्त न्यायालयमें उसका विचार हुआ और आज्ञा हुई कि, प्रातःकाल ही उसे सूलीपर चढ़ा दिया जाय। तदनुसार उस समयकी प्रथाके अनुसार चारुदत्तको लाल कपड़े पहनाये गये। उसके गलेमें लाल फूलोंकी मालाएँ पहनायी गयीं और लाल तिलक काढ़ा गया। उसका जलूस निकाला गया और उसके अपराधका डंका पीटा गया। चारुदत्तने न्यायकी बहुत दोहाई दी; परन्तु शकारके शासनमें सुनने वाला कौन था? चारुदत्त नगरके बाहर बध-स्थानमें लाया गया। अब उसे सूलीपर चढ़ाया ही जा रहा था कि, भीड़को चिरता हुआ एक युवती सुन्दरी स्त्रीको साथ लेकर एक भव्य संन्यासी वहाँ आ पहुँचा और बोला,—"महाराजा पालकके राजमें यह कैसा भयंकर अन्याय हो रहा है? अकारण यह घोर ब्रह्महत्या क्यों की जा रही है? छोड़ो, इस निरपराध ब्राह्मणको छोड़ो। प्रणयिनी यह बसन्तसेना जीवित है। चारुदत्तकी दानशूरताके पुण्यसे ही इसकी प्राणरक्षा भगवान्ने की है। नमो बुद्धाय, वास्तवमें इसका हत्यारा तो वह राजशालक है, जो एक निरपराध ब्राह्मणका बध देखनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ यहाँ आया है। ब्राह्मणके लिये निर्माण की हुई सूलीपर न्यायतः वही चढ़ाया जाना चाहिये"। बसन्तसेनाको देखते ही शकार काठ हो गया। उसके सब हौसले पस्त हुए, सब षड्यन्त्र विफल हुए, वह भीड़मेंसे ऐसा भागा कि, फिर उसने उस राज्यमें मुँह नहीं दिखाया। किसी कविने ठीक कहा है कि, "जाको राखे साइयाँ, मार न सकिहैं कोइ"। इसके अतिरिक्त श्रुतिका यह वचन भी मिथ्या नहीं हो सकता कि, "सत्यमेव जयते नानृतम्"। अनृत (मिथ्या) की नहीं, किन्तु सत्यकी ही विजय होती है। परन्तु सत्यके पक्षपातियोंको प्राणान्तिक कष्ट भी भोगने पड़ते हैं, यह चारुदत्त-बसन्तसेनाके उदाहरणसे सिद्ध हो गया है।

चारुदत्त श्रीमान् था, दानधर्मके कारण दरिद्र हो गया था। उसके बच्चे सोने-चाँदीके खिलौनोंसे खेलते थे, उन्हें मिट्टीके खिलौनोंसे खेलनेके लिये विवश किया जाता है। बच्चा मिट्टीकी गाड़ीसे खेलना नहीं चाहता और सोनेकी गाड़ीके लिये हठ करता है। इसीसे इस नाटकका नाम कविने "मृच्छकटिक" - 'मिट्टीकी गाड़ीवाला' नाटक रक्खा है, जो बहुत ही मार्मिक है। नाटकमें जहाँतहाँ बौद्ध समयमें भी लोग सनातनधर्मकी कैसी संघटित होकर आचारके साथ रक्षा कर रहे थे, इसकी झलक देख पड़ती है। भाषा ऐसी प्राञ्जल, सरल, हृदयग्राही और प्रसादपूर्ण है कि, वैसी किसी संस्कृत नाटकमें देख नहीं पड़ती। इस नाटकसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितिपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। संस्कृत काव्य-साहित्यकी यह अपूर्व सम्पत्ति हमारे लिये गौरवकी वस्तु है। संस्कृतके महाकवियोंने प्रायः ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक ही लिखे हैं; परन्तु जगत्‌की सब भाषाओंमें यही पहला सामाजिक नाटक है और यही इसकी विशेषता है।*

* मृच्छकटिक नाटककी नायिका एक वेश्या होनेसे महाकवि शूद्रककी सदभिरुचिके सम्बन्धमें कुछ लोग, सन्देह करने लगते हैं; परन्तु इसमें कविवरने कोई अपराध नहीं किया है। बसन्तसेना कोई बाजारू वेश्या नहीं, किन्तु एक आदर्श नर्तकी है और पुराणप्रसिद्ध गण्डकीकी तरह एक श्रेणीकी पतिव्रता ही कही जा सकती है। चारुदत्तके प्रति उसकी अनन्यताको देखकर चारुदत्तकी पत्नी धूता भी उसपर मुग्ध थी और उसका आदर करती थी। वह आदर्श रमणी न होती, तो सती धूता उसके साथ आत्मीयताका व्यवहार न करती। वह एक कलाकार और सच्ची प्रणयिनी थी। वेश्याओंमें जो स्वाभाविक दुर्गुण होते हैं, उनमें उसमें कोई दुर्गुण नहीं था। कविने कहीं सम्भोग-शृङ्गारका आश्रय नहीं लिया है, जो वेश्याके सम्बन्धमें अनिवार्य था। सम्भोग-शृङ्गारका वर्णन काव्यदोष माना गया है और उस दोषसे कवि बाल बाल बच गया है।

पालकका राजत्वकाल डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्वके आसपास माना गया है। उस समय हमारा देश कैसा वैभवसम्पन्न था और बौद्धोंका प्रभाव प्रबलतर होनेपर भी वर्णाश्रमधर्मकी पालकके राजत्वकालमें कैसी सुरक्षा हो रही थी, यही दिखानेका कविका उद्देश्य है। उस समयके राजाओंके महलों और वैभवकी तो बात ही क्या वेश्याओंके जड़ाऊ कामके खम्भोंवाले महलोंका वर्णनको पढ़कर चकित हो जाना पड़ता है। तत्कालीन परिस्थितिका इसीसे पता चल जाता है कि, वेश्याओंके द्वारपर भी 'मदगलितकपोल' हाथी बँधे रहते थे। अतिदरिद्र होनेपर भी चारुदत्त पंचमहायज्ञ आदि नित्यकर्म निबाहता जाता था। वह अपने लिये दुःखी नहीं था। वह इसलिये दुःखी था कि, याचकोंको देनेके लिये उसके पास कुछ नहीं बच रहा था। बसन्तसेनाके साथ उसका सम्बन्ध विलासी कामुकों जैसा नहीं था। शिष्टाचार और लोकमर्यादापर उसने लंपटोंकी तरह तिलाञ्जलि नहीं दी थी। देशके समृद्ध और वैभवसम्पन्न होनेपर दानशूर धनी ब्राह्मण भी यदि उत्तम कलाकारोंका यथोचित आदर करें, तो इसमें नाक सिकोड़नेकी क्या बात है।

पतिव्रता कौन है ?

जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौगुने स्नेहसे पतिकी आराधना करती है, राजाके समान उसका भय मानती है और पतिको भगवान्‌का स्वरूप समझती है, वह पतिव्रता है। जो गृहकार्य करनेमें दासी, रमण-कालमें वेश्या तथा भोजनके समय माताके समान आचरण करती है और जो विपत्तिमें स्वामीको उचित सलाह देकर मन्त्रीका कार्य करती है, वही स्त्री पतिव्रता मानी गयी है। जो मन, वाणी, शरीर और कर्मद्वारा कभी भी पतिकी आज्ञाका, उल्लंघन नहीं करती तथा पतिके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करती है, उस स्त्रीको पतिव्रता समझना चाहिये। जिस जिस शय्यापर पति शयन करते हैं, वहाँ-वहाँ जो प्रतिदिन यत्नपूर्वक उनकी पूजा करती है, पतिके प्रति कभी जिसके मनमें डाह नहीं पैदा होती, कृपणता नहीं आती और जो मान भी नहीं करती, पतिकी ओरसे आदर मिले या अनादर—दोनोंमें जिसकी समान बुद्धि रहती है, ऐसी स्त्रीको पतिव्रता कहते हैं। जो साध्वी स्त्री सुन्दरवेषधारी परपुरुषको देखकर उसे भ्राता, पिता अथवा पुत्र मानती है वह भी पतिव्रता है।

पालकके राजत्वकालमें विशेषता यह है कि, उसका राज्य सर्वबाधाविनिर्मुक्त था। उसके राज्यमें कभी विद्रोह, अशान्ति या अकालके लक्षण नहीं दिखाई पड़े। सब माण्डलिक सामन्त आदि उसके आज्ञाधीन थे। और कभी किसीसे उसे लड़ाई-झगड़ा नहीं करना पड़ा। सब प्रजा परम आनन्दका अनुभव करती थी और राजाको देवताकी तरह मानती थी।

राजसभामें खलमण्डलकी कमी नहीं रहती। यही देखकर महाराजा भर्तृहरीने उनके हृदयमें चुभने वाले सात काँटोंमें खलको भी एक काँटा बताया है। वे काँटे इसप्रकार हैं :—

दिनमें मलिन चन्द्रमा, युवती—जिसका यौवन बीता हो।
सुन्दर पुरुष निरक्षर, सरवर—पंकज कुलसे रीता हो॥
स्वामी अर्थपरायण, सज्जन—दुर्गतिमें दिन काटे हैं।
राजसभामें खलगण, हियमें चुभते सातों काँटे हैं॥

शकार खलमण्डलीका अधिनायक था। उसने चारुदत्त और बसन्तसेनाको बहुत सताया, परन्तु धर्मका अवलम्बन किये रहनेसे अन्तमें सत्यकी विजय हुई और चारुदत्तके प्राण बच गये।

संस्कृतमें ही नहीं, जगत्‌की भाषाओंमें यही पहला सामाजिक नाटक होनेपर भी इसको इतिहासका आधार है और इसमें तत्कालीन परिस्थितिपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। यह जैसा मौलिक है, वैसा उपादेय भी है। हमारे भूतकालीन वैभवकी इसमें झलक मिलती है। इसके अनेक गुणोंको देखते हुए केवल बसन्तसेनाके सम्बन्धसे ही भावुकोंको चिहुँकना नहीं चाहिये।

श्रीभगवद्गीता

हिन्दी पद्यानुवाद

श्रीमोहन वैरागी

[गताङ्कसे आगे]

(१०)

भीष्म सुरक्षित सैन्य हमारी बल-विक्रममें अतुल अगण्य।
तथा भीमद्वारा संरक्षित पाण्डव-सेना निपट नगण्य॥

(११)

यथायोग्य अपने पदपर दृढ़ रहकर सतत सतर्क सचेष्ट।
रणमें भीष्म पितामहकी सब मिलकर रक्षा करें यथेष्ट॥

(१२)

दुर्योधनके हर्षहेतु तब किया भीष्मने शंखनिनाद।
उसके भीषण भैरव रवसे हुआ कौरवोंको आह्लाद॥

(१३)

शंखनाद जब हुआ भीष्मका सहसा बजे सभी रणवाद्य।
एक साथ भेरी-मृदङ्गका हुआ समरमें तुमुल निनाद॥

(१४)

बैठे श्वेत अश्वके रथपर तब गोविन्द धनञ्जयवीर।
अपने अनुपम शंख बजाकर करने लगे नाद गम्भीर॥

(१५)

पाञ्चजन्यसे हृषीकेशने किया समरमें भीषण घोष।
देवदत्तद्वारा अर्जुनने प्रकटित किया शत्रुपर रोष॥

(१६)

पौण्ड्रशंखसे रुद्रभीमने किया समरमें महानिनाद।
तथा युधिष्ठिर धर्मराजने किया अनन्तविजयसे नाद॥

(क्रमशः)

कर्ममीमांसादर्शन।

[गताङ्कसे आगे]

अब अवतार सम्बन्धसे भारतखण्डकी महिमा कहते हैं :—

भगवान्‌के अवतारकी आविर्भाव भूमि है ॥ १३२ ॥

अवतारविज्ञानकी दृढ़ताके लिये अवतार महिमाके प्रसङ्गसे अवतारकी आविर्भाव-भूमिका महत्त्व कहा जाता है। कर्मके सम्बन्धसे ब्रह्माण्डमें जम्बुद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बुद्वीमें नौ वर्ष हैं। उनमें भारतवर्ष (मृत्युलोक) श्रेष्ठ है और भारतवर्षमें भारतखण्ड (हिन्दुस्थान) श्रेष्ठ है। यह शास्त्रोंसे सिद्ध है कि, आदि मानवसृष्टि इसी भारतखण्डके काश्मीरप्रान्तकी देविका नदीके तटपर हुई थी और भारतखण्डकी छहों ऋतुओंके वैभवसे परिपूर्ण है। यहाँकी भूमि चातुर्वर्ण्यसे युक्त है। अर्थात् यहाँ ब्राह्मणभूमि, क्षत्रियभूमि, वैश्यभूमि और शूद्रभूमि चारों प्रकारकी भूमियाँ देखनेमें आती हैं और सृष्टिके सब प्राकृतिक वैभव यहाँ उपलब्ध हैं। दूसरी ओर सृष्टिके आदिमें और प्रत्येक सत्ययुगके प्रारम्भमें वेद यहाँके ऋषियोंके अन्तःकरणमें शब्दशः सुनाई देते हैं। वेदसम्मत सब शास्त्र यहीं प्रकट हुए और प्रकट होते हैं। अन्तर्जगत्‌की ज्ञान-प्राप्तिके लिये सातों दर्शन, चारों योगसाधन-प्रणालियाँ और धर्माधर्म-निर्णायक शास्त्रसमूह इसी पवित्र भूमिमें प्रकट होते हैं। यही कारण है कि, श्रीभगवान्‌के अवतारोंकी यही आविर्भाव-भूमि है। यह पुराणादि शास्त्रोंसे भी सिद्ध है ॥ १३२ ॥

अब आठवीं कला कहते हैं :—

पूर्ण होनेसे योग और भक्तिपूर्ण उपासना आठवीं है ॥ १३३ ॥

जगदीश्वरके निकट पहुँचनेके उपायोंको उपासना कहते हैं। उपासनाका शरीर है योग और प्राण है भक्ति। जितने प्रकारकी योग-साधन-प्रणालियाँ हैं और जितने प्रकारके भक्तिके भेद हैं, वे सब आर्यधर्ममें पाये जाते हैं। दोनों प्रणालियाँ पूर्ण होनेके कारण अन्य धर्मावलम्बी भी उनसे लाभ उठा सकते हैं। वह सर्वाङ्गपूर्ण है ॥ १३३ ॥

इसकी उपयोगिता बताते हैं :—

सबकी अनुकरणीय है ॥ १३४ ॥

आर्योंकी उपासनाप्रणाली योग और भक्ति इन दोनों अङ्गोंसे पूर्ण होनेके कारण सबका हित करनेवाली और सर्वांगपूर्ण है। इसके अङ्ग और उपाङ्ग पृथ्वीके सब धर्मोंके सहायक हुए हैं। उन्होंने इसके अङ्गोंको अपने धर्मोंमें यथासम्भव सन्निविष्ट किया है ॥ १३४ ॥

अब नवीं कलाके विषयमें कहते हैं :—

शक्तिविश्वाससे पीठपूजा नववीं है ॥ १३५ ॥

आर्यजाति भगवच्छक्तिपर विश्वास करती है। इस कारण आर्यधर्मकी नववीं कला पीठपूजा है।

भगवदवताराविर्भावभूमिः ॥ १३२ ॥

योगभक्तिद्वयाङ्गोपासनाष्टमी पूर्णत्वात् ॥ १३३ ॥

अनुकृतेयम् सर्वैः ॥ १३४ ॥

नवमी पीठपूजा शक्तिविश्वासात् ॥ १३५ ॥

आर्यलोग पत्थर, मिट्टी आदिकी पूजा नहीं करते; किन्तु दैवीपीठमें सर्वव्यापक भगवान्‌की पूजा करते हैं। सर्वशक्तिमान् भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिलीलामें सर्वत्र विराजमान हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड-में उनके प्रतिनिधिरूपसे सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्त्ता भगवान् विष्णु और संहारकर्त्ता भग-वान् शिव अलग अलग विराजमान रहते हैं। इसीप्रकार उनके अंशरूपसे अपने अपने ब्रह्माण्डमें अपने अपने अलग काम करनेके लिये अनेक देव-देवियाँ विद्यमान रहती हैं, वे यथायोग्य स्थानमें, यदि पीठ बने, तो वहीं आविर्भूत हो जाती हैं। इन सब दैवीकार्योंकी निष्पत्तिके लिये ऋषिसंघ, देवसंघ और पितृसंघ अर्थात् अर्यमाआदि नित्यपितृगण जो एक प्रकारके देवता ही हैं,—कर्मके नियन्ता और जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका लेखा रखकर तदनुसार फल देनेवाले यमधर्मराज, जगत्‌में ज्योति फैलानेवाले भगवान् सूर्यदेव आदि सब देवपदधारी, जहाँ उनका पीठ बन जाय, वहाँ आविर्भूत हुआ करते हैं।

इस सृष्टिलीलामें दो शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं,—एक आकर्षणसक्ति और दूसरी विकर्षण शक्ति। दोनों शक्तियोंका जहाँ समन्वय होता है, वहीं पीठ बन जाता है। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, दो लड़कियाँ एक दूसरीका हाथ पकड़कर जब गोलघुमरी खेलती हैं, तब उनके चक्करमें एक केन्द्र बन जाता है और वे गिरती नहीं। परन्तु यदि उनका हाथ छूट जाय, तो वे इधर उधर जा गिरेंगीं और उनके हाथ-पैर टूट जायँगे। इसी तरह आकर्षण-विकर्षण शक्तियोंका जहाँ समन्वय होता है, वहीं पीठ बन जाता है और पीठमें दैवी-शक्तिका आविर्भाव हो जाता है। ग्रह-नक्षत्रादि भी इन्हीं शक्तियोंके कारण अपनी अपनी कक्षाओंमें रहकर घूमा करते हैं। टेबलरेपिङ्ग और सर्किल जैसी क्रियाओंमें भी इसप्रकारका पीठ बन जाता है। इसको तो भौतिक परलोक विज्ञानवेत्ता भी स्वीकार करने लगे हैं। ऐसी क्रियाओंमें जब पीठ बन जाता है, तब जड़ पदार्थ भी चेतन पदार्थकी तरह कार्य करने लग जाते हैं। यह पीठ कहीं कहीं स्वाभाविक बना रहता है। जैसे—शालिग्रामशिला, बाणशिव-लिंग, अपराजिता पुष्प आदि। ऐसे पदार्थोंमें आप ही आप पीठ बना रहता है। जब चाहे, तब उनमें पूजा की जा सकती है। इनमें आवाहन-विसर्जनकी आवश्यकता नहीं होती। आर्यजाति भगवच्छक्तिपर विश्वास करती है। वह पीठमें श्रीभग-वान्‌की पूजा करती हैं। इसीसे आर्यधर्मकी नववीं कला पीठपूजा कही गयी है॥ १२५॥

अब हेतुसहित मूर्तिपूजाका समर्थन करते हैं:—

प्रतीकका आश्रय करती है॥ १२६॥

दैवीशक्तिके द्वारा पीठका आविर्भाव होता है। यही कारण है कि, आर्यजातिमें मूर्तिआदि पीठोंकी उपासना-प्रणाली प्रचलित है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने श्रीमुखसे स्पष्ट कहा है कि, अव्यक्त अर्थात् निराकारकी उपासना बड़ी कठिन है। साकार उपासनाके लिये आर्यशास्त्रोंमें अनेक प्रकार-के प्रतीकोंके अवलम्बनकी सहायता लेनेकी आज्ञा दी है। नानाप्रकारके पाषाण, धातु आदिसे

प्रतीकाश्रयः॥ १२६॥

निर्मित मूर्त्ति, स्थण्डिल, चित्र, भित्तिरेखा, यंत्र, जलकुम्भ, अग्नि आदि प्रतीकके अवलम्बनसे मनकी धारणा बनानेमें बड़ी सहायता होती है। इसका विज्ञान वेद, पुराण और तन्त्रादि शास्त्रोंमें बहुत विस्तारसे पाया जाता है ॥ १३६ ॥

अब दशवीं कलाका वर्णन करते हैं :—

पञ्चकोश सम्पर्कसे शुद्धाशुद्धि स्पर्शास्पर्श विवेक दसवीं कला है ॥ १३७ ॥

शुद्धाशुद्धि-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक आर्यधर्मकी दसवीं कला है। आर्यजाति सर्वदा पञ्चकोषोंका विचार रखती है। आत्मा पञ्चकोषोंसे ढँका रहता है। उन पाँचों कोषोंकी शुद्धिके लिये दैवीराज्यसे सम्बन्ध स्थापनद्वारा शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शके विवेकका साधन आर्यजाति किया करती है। इसका विस्तृत विवेचन इसी अध्यायमें पहले आ चुका है ॥ १३७ ॥

अब इसका फल बताते हैं :—

दैवानुकम्पाशालिनी है ॥ १३८ ॥

तात्पर्य यह है कि, इस धर्मके पालनसे आर्यजाति दैवानुकम्पाशालिनी है। शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शका सदा विचार रहनेसे आर्यजातिको अधिभूतशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अध्यात्मशुद्धि इन तीनों शुद्धियोंका अधिकार प्राप्त हो जाता है। ऐसा होनेसे दैवीशृंखलाके व्यवस्थापक देवताओंको अपनी शृंखलाके बाँधनेमें बड़ी सहायता मिलती है। इसकारण आर्यजाति दैवानुकम्पाशालिनी हो जाती है ॥ १३८ ॥

धर्मकी ग्यारहवीं कला बताते हैं :—

परस्पर सम्बन्धसे यज्ञ-महायज्ञ ग्यारहवीं है ॥ १३९ ॥

यज्ञ और महायज्ञपर विश्वास रखना आर्यधर्मकी ग्यारहवीं कला है। क्योंकि यज्ञके द्वारा देवता और मनुष्योंमें परस्पर सहायताका सम्बन्ध स्थापन हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है :—

"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।"

अर्थात् एक दूसरेकी सहायता कर उत्तम कल्याणको प्राप्त करो। भगवान्‌की कृपा प्राप्त करके जिस धर्माङ्गके साधनद्वारा दैवीराज्यका संवर्द्धन किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञमें भेद यह है कि, जो यज्ञ सम्बन्धी धर्मकार्य किसी व्यक्तिके कल्याणके लिये किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं और जो यज्ञसम्बन्धी धर्मकार्य जाति और जगत्‌के कल्याणके लिये किया जाता है, उसको महायज्ञ कहते हैं ॥ १३९ ॥

इसका फल बताया जाता है :—

धर्मप्राण है ॥ १४० ॥

आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिका जीवन यज्ञमय होनेसे वह धर्मप्राण है। आर्यजातिके शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक सब कार्य धर्ममूलक होते हैं और उनका जीवन यज्ञमय होता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, आर्यजातिके प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेकी शास्त्राज्ञा है। ऐसी जातिका धर्मप्राण होना स्वाभाविक ही है ॥ १४० ॥

शुद्धयशुद्धिस्पृश्यास्पृश्यविवेको दशमी पञ्चकोषसम्पर्कात् ॥ १३७ ॥ दैवानुकम्पाशालिनी ॥ १३८ ॥ यज्ञमहायज्ञावेकादशी परस्परसम्बन्धात् ॥ १३९ ॥ धर्म प्राणा ॥ १४० ॥

अब बारहवीं कला बताते हैं :—

नित्य होनेसे वेदशास्त्रपर विश्वास बारहवीं है ॥ १४१ ॥

वेद और शास्त्रोंपर विश्वास करना आर्यधर्मकी बारहवीं कला है। क्योंकि वेद और शास्त्र नित्य हैं और भगवत्प्रेरित हैं ॥ १४१ ॥

वेदशास्त्र नित्य कैसे हैं, बताते हैं :—

शब्दरूपसे वेद और भावरूपसे शास्त्र नित्य हैं ॥ १४२ ॥

वेद शब्दरूपसे नित्य है और अन्यान्य शास्त्र भावरूपसे नित्य है। वेदकी शब्दराशि ज्योंकीत्यों सुनाई देती है और अन्यान्य शास्त्र ऋषि-मुनियोंके अन्तःकरणमें भावरूपसे प्रकट होते हैं और वे फिर उन्हें अपने शब्दोंमें प्रकट करते हैं। वैदिक विज्ञानका यह सिद्धान्त है कि, वेदके शब्द बदलते नहीं हैं। वे नित्यरूपसे ब्रह्मलोकमें रहते हैं और इस मृत्युलोकमें मनुष्योंके कर्मानुसार समय समयपर उनका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है।

जड़ विज्ञानसे अब यह तो सिद्ध हो ही गया है कि, शब्द सर्वव्यापक आकाशमें नित्य रहते हैं और जहाँ रेडियो-यन्त्र होता है, वहाँ उसके द्वारा प्रकट हो जाते हैं। इसीतरह ब्रह्मलोकमें नित्य रूपसे रहनेवाले वेद चतुर्युग बीत जानेपर सत्ययुगके आरम्भमें संयमशील उन्नत अन्तःकरणके ऋषियोंके अन्तःकरणमें ज्योंकेत्यों प्रकाशित हो जाते हैं, उन्हें सुनाई देने लगते हैं। इसीसे वेदको श्रुति कहते हैं। शास्त्र, जिनको स्मृति कहते हैं, वे भी समय समयपर भावरूपसे प्रशान्त और योगयुक्त ऋषि-मुनियोंके अन्तःकरणमें प्रकाशित होते हैं और फिर वे (ऋषिमुनि) अपने शब्दोंमें उन्हें जगत्में प्रकट करते हैं। यही वेद और शास्त्रोंके नित्य होनेका रहस्य है ॥ १४२ ॥

अब धर्मकी तेरहवीं कला बताते हैं :—

बीजाङ्कुरके समान संस्कार-कर्म-श्रद्धा तेरहवीं है ॥ १४३ ॥

संस्कारों और कर्मोंपर श्रद्धा करना आर्यधर्मकी तेरहवीं कला है। कर्म और संस्कार ये दोनों बीज और अंकुरके समान हैं। संस्कार कर्मका बीज है और कर्म उसका अंकुर है। वेदके इस कर्ममीमांसादर्शनमें संस्कारके नाना भेद, संस्कारजन्य ऊर्द्ध्वगति और अधोगति, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, कर्मका अलौकिक विज्ञान और उसके जैव, ऐश और सहज भेद, यह सब विस्तृतरूपसे अन्यत्र वर्णित है ॥ १४३ ॥

इसका फल बताते हैं :—

चतुर्वर्ग फलप्रदा है ॥ १४४ ॥

कर्म और संस्कारोंपर श्रद्धा होनेसे आर्यधर्मकी उक्त तेरहवीं कला आर्यजातिको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्गको प्राप्त कराती है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चारोंके अन्तर्गत समस्त अभ्युदय और निःश्रेयस आ जाता है। यदि संस्कार और कर्म दोनों यथाधिकार प्राप्त किये जायँ, तो

वेदशास्त्रविश्वासो द्वादशी नित्यत्वात् ॥ १४१ ॥
प्रथमः शब्दरूपत्वाद् भावरूपत्वाद् द्वितीयम् ॥ १४२ ॥
संस्कारकर्मश्रद्धा त्रयोदशी बीजाङ्कुरवत् ॥ १४३ ॥
चतुर्वर्गफलप्रदा ॥ १४४ ॥

जीवको सब कुछ प्राप्त हो जाता है। यही इस सूत्रका तात्पर्य है ॥ १४४ ॥

अब चौदहवीं कला कहते हैं :—

अभ्युदय निमित्तक आवागमन-चक्र जन्मान्तरवाद-विश्वास चौदहवीं है ॥ १४५ ॥

जीवके निरन्तर अभ्युदयका कारण होनेसे आवागमनचक्र और जन्मान्तरवादपर विश्वास करना आर्यधर्मकी चौदहवीं कला है। जीव जबसे उत्पन्न होता है और जबसे वह सहजपिण्डके चतुर्विध भूतसंघसे आगे बढ़कर मानवपिण्डमें पहुँचता है, तबसे वह आवागमन-चक्रमें निरन्तर घूमता रहता है। आवागमन-चक्रका तात्पर्य यह है कि, जीव जन्मता है, मरता है, प्रेतलोक, नरकलोक, स्वर्गलोक आदिमें जाता है और फिर मृत्युलोकमें आ जाता है। फिर इसीप्रकार जाता है और फिर मृत्युलोकमें लौट आता है, इसीको आवागमन-चक्र कहते हैं। जन्मान्तरवादका अर्थ स्पष्ट ही है। इसी आवागमन-चक्र और जन्मान्तरके कारण जीव प्रथम अवस्थामें अभ्युदय और अन्तिम अवस्थामें निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है। यही धर्मकी चौदहवीं कला है ॥ १४५ ॥

इस विज्ञानको पुष्ट करते हैं :—

विवाह दाय श्राद्ध तर्पणके चतुर्व्यूहसे सुरक्षित है ॥ १४६ ॥

जन्मान्तरवाद और आवागमन-चक्रकी सुरक्षाके लिये विवाह संस्कार, दायभाग व्यवस्था, श्राद्धकर्म और तर्पणकर्म, ये चार व्यूह बने हुए हैं। इन व्यूहोंसे आर्यजातिका जन्म-मृत्यु और आवागमन-चक्र सुरक्षित रहता है। आवागमन-चक्रमें भ्रमायमान जीवकी सहायताके लिये श्राद्धकर्म, तर्पणकर्म, और दायभाग-व्यवस्था दृढ़तापूर्वक अवलम्बनीय है। क्योंकि ये परलोकगामी जीवके सहायक हैं। सृष्टिकार्यमें विवाह-संस्कार सबसे महत्त्वका है। आर्यलोग इसकी पवित्रता सदा बनाये रहते हैं। इसी कारण रजस्वला होनेसे पहले कन्याके चित्तको विवाह-संस्कारसे सुरक्षित और पवित्र रखते हैं और वर-कन्याका सम्बन्ध उभयलोकव्यापी अर्थात् जन्मान्तरव्यापी किया जाता है। दायभाग अर्थात् सम्पत्तिका जो विभाजन किया जाता है, वह भी परलोकगत आत्माओंको जिनके द्वारा सहायता मिलती है, उन्हींको सम्पत्ति देनेकी शास्त्र आज्ञा देता है, औरोंको नहीं। इस कार्यकी सुसिद्धिके लिये दो विधियाँ शास्त्रोंने बतायी हैं, एक विस्तृत और दूसरी सुलभ। उनमें श्राद्धकर्म विस्तृत है और तर्पणकर्म सुलभ। इसप्रकारसे पूर्वकथित सिद्धान्त चतुर्व्यूह-द्वारा पुष्ट किया गया है ॥ १४६ ॥

अब धर्मकी पन्द्रहवीं कला कहते हैं :—

सर्वशक्तिमत्तासे सगुण-निर्गुण-उपासना पन्द्रहवीं है ॥ १४७ ॥

श्रीपरमात्माकी निर्गुण और सगुणरूपमें उपासनाकी व्यवस्था आर्यधर्मकी पन्द्रहवीं कला है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। उनके लिये असम्भव कुछ नहीं है। वे निर्गुण और निराकार होनेपर भी भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण और साकाररूप भी धारण कर सकते हैं ॥ १४७ ॥

आवागमनचक्र-जन्मान्तरवाद-विश्वासश्चतुर्दशोऽभ्युदयनिमित्तत्वात् ॥ १४५ ॥

विवाहदायश्राद्धतर्पणचतुर्व्यूहसुरक्षितः ॥ १४६ ॥ सगुणनिर्गुणोपासना पञ्चदशी सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ १४७ ॥

इसका कारण कहते हैं :—

अधिकारीभेदसे व्यवस्था ॥ १४८ ॥

आर्यधर्ममें उपासनाके लिये अधिकारीभेदकी व्यवस्था रक्खी गयी है। जैसा जिसका अधिकार हो वैसा ही उसके लिये उपासनाकी व्यवस्था की गयी है। इसीसे इस धर्ममें निम्नसे निम्न भूत-प्रेतादि-की उपासनासे लेकर सर्वोच्च निर्गुणब्रह्मोपासना तककी विधि है। सब श्रेणीके उपासक निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक भगवद्भावकी धारणा करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। इसीसे आर्यधर्ममें सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारकी उपासनाओंकी व्यवस्था है। क्योंकि श्रीभगवान् सगुण हैं और निर्गुण भी हैं, साकार हैं और निराकार भी हैं ॥ १४८ ॥

अब आर्यधर्मकी सोलहवीं कला बताते हैं :—

पूर्ण होनेसे कैवल्याधिगम सोलहवीं है ॥ १४९ ॥

जीवकी क्रमोन्नतिका अन्तिम पद कैवल्यकी प्राप्ति है। अपने अपने ढंगपर और अपने अपने अधि-कारके अनुसार सब वैदिक-दर्शनोंने मुक्तिका स्वरूप दिखाया है। जीवके अभ्युदयके अधिकार अनेक हो सकते हैं; परन्तु उसकी अन्तिम सीमा कैवल्य है। मुक्तिका अधिकार केवल आर्यधर्ममें ही निर्णीत किया गया और उसी पदपर पहुँचकर जीव कृतकृत्य हो जाता है। इसीसे इसका आर्यधर्मकी सोलहवीं कलाके रूपमें निर्देश किया है ॥ १४९ ॥

आर्यधर्मका महत्त्व बताते हैं :—

आर्यजाति जगद्गुरु है ॥ १५० ॥

आर्यधर्म इसप्रकार सोलह कलाओंसे पूर्ण होनेके कारण आर्यजाति जगद्गुरु है। आर्यजातिके जगद्गुरुत्वके सम्बन्धमें मनुभगवान् आज्ञा करते हैं :—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

अर्थात् इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके सब मनुष्योंको अपने अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इसीतरह पृथ्वीकी सब सभ्य-जातियोंके विद्वान् पुरुषोंने एकमत होकर स्वीकार किया है कि, प्राचीन आर्यगण ही जगत्‌के गुरु थे। उपर्युक्त मनुभगवान्‌की आज्ञामें ब्राह्मणशब्द इस-लिये आया है कि, तपः स्वाध्यायनिरत, त्यागशील और समस्त जगत्‌का मंगलसाधन करनेके लिये जीवनधारण करनेवाले ब्राह्मणोंके महत्त्वसे ही आर्यजातिका महत्त्व है ॥ १५० ॥

अब आर्यजातिके जीवनका महत्त्व बताकर अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं :—

जीवन यज्ञमय है ॥ १५१ ॥

यज्ञ और महायज्ञका लक्षण और महत्त्व इस दर्शनमें कई जगह बताया गया है। आर्यजातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी किसी जातिमें इसप्रकारका यज्ञ-मय जीवन देखनेमें नहीं आता ॥ १५१ ॥

अधिकारिभेदाद् व्यवस्था ॥ १४८ ॥
कैवल्याधिगमः षोडशी पूर्णत्वात् ॥ १४९ ॥
जगद्गुरुत्वमार्यजातेः ॥ १५० ॥
यज्ञमयजीवनञ्च ॥ १५१ ॥

यज्ञकी विशेष महिमा कह रहे हैं :—

यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि होती है ॥ १५२ ॥

जब धर्म और यज्ञ पर्यायवाचक शब्द हैं, तब यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि होती है, यह स्वतः सिद्ध है। जब धर्मके द्वारा जगत्की सुरक्षा होती है, धर्म ही स्थितिका मूल है और धर्मके द्वारा ही सब जीवगण क्रमशः निःश्रेयसकी ओर अग्रसर होते हैं, तो धर्म-रूपी यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि भी होती है। यदि ऐसा न हो, तो प्रजाकी रक्षा और क्रमोन्नति हो ही नहीं सकती। जो प्रजाकी स्थितिका मूल है, जिसके द्वारा सृष्टिकी रक्षा होती है और जिसके द्वारा प्रजा अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करती है वह प्राकृतिक नियम तथा भगवत्शक्तिरूपी धर्म सृष्टिके साथ उत्पन्न होता है, यह मानना ही पड़ेगा। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाओं-को उत्पन्न करके कहा कि, इस यज्ञके द्वारा तुमलोग क्रमशः आत्मोन्नतिलाभ करो, यह तुमलोगोंको अभीष्ट भोगप्रद हो ॥ १५२ ॥

और भी कह रहे हैं :—

प्रजा और देवतामें परस्पर सम्बर्द्धन होता है ॥ १५३ ॥

इस विषयमें गीतोपनिषद्में कहा है :—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

इस यज्ञके द्वारा तुम लोग देवताओंका सम्वर्द्धन करो और वे देवतागण भी तुम्हें सम्बर्द्धित करें। इसप्रकारसे परस्पर सम्वर्द्धित होकर परम कल्याण प्राप्त करोगे। देवतागण यज्ञद्वारा सम्बर्द्धित होकर तुम लोगोंको अभीष्ट भोग-प्रदान करेंगे, इस कारण उन लोगोंका दिया हुआ द्रव्य उन्हें न देकर जो भोग करते हैं, वे चोर हैं।

यज्ञका और भी महत्त्व यह है कि, जब धर्मरूपी यज्ञ सृष्टिको धारण करता है, उसके क्रमाभ्युदय का कारण है और वह सृष्टिसंरक्षण तथा अभ्युदय-कार्य देवताओंके द्वारा हुआ करता है, क्योंकि कर्म जड़ है, बिना चेतन चालकके कर्मसे फलोत्पत्ति नहीं हो सकती है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि, यज्ञ और देवताओंका परस्पर सम्बन्ध है। दूसरी ओर धर्मोत्पन्न कर्मकी यथावत् सुव्य-वस्था तथा उससे यथायोग्य फल-प्रदान देवताओंका कार्य है और यज्ञके द्वारा उनके कार्यमें पूर्ण सहा-यता मिलती है, क्योंकि यज्ञरूपी धर्म विश्वधारक है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि, देवतागण यज्ञसे सम्बर्द्धित होते हैं। बिना यज्ञके सृष्टिकी रक्षा जैसे नहीं हो सकती, बिना यज्ञके जीवगण अभ्युदय और निःश्रेयसको नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही बिना यज्ञके देवतागण अपने जीवनका कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकते हैं। जब जीवन और जीविकाका सम्बन्ध यज्ञके साथ एवं यज्ञका सम्बन्ध देवताओंके साथ है,

---

सहयज्ञा प्रजासृष्टिः ॥ १५२ ॥
प्रजादेवयोरन्योऽन्यं सम्बर्द्धनम् ॥ १५३ ॥

तो यह भी सिद्ध हुआ कि, यज्ञके द्वारा देवतागण सम्बर्द्धित होकर पुष्ट और तुष्ट होते हैं, तो उनके बदलेमें वे अवश्य ही प्रजाको पुष्ट और तुष्ट करते रहते हैं। क्योंकि यह उनका स्वाभाविक कर्त्तव्य है ॥१५३॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं :—

साम्राज्यके समान समझना चाहिये ॥१५४॥

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार इस विज्ञानकी पुष्टिके लिये उदाहरण दे रहे हैं कि, जिसप्रकार किसी साम्राज्यमें साम्राज्य तथा प्रजाका सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार मनुष्य तथा देवताओंका सम्बन्ध है। जिसप्रकार राजाके द्वारा प्रजा सुरक्षित होती है, उसी प्रकार देवताओंके द्वारा मनुष्यादिकी सृष्टि सुरक्षित होती है। दूसरी ओर जिस प्रकार प्रजा ही राजाको धनबल, जनबलआदिद्वारा पुष्ट और योग्य बनाती है, उसी प्रकार मनुष्यगण धर्मसाधनद्वारा दैवराज्यको पुष्ट, तुष्ट, और समृद्धिशाली करते हैं। बिना प्रजाकी योग्यताके राजाका कल्याण नहीं और बिना राजाके प्रजाका कल्याण नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार बिना मनुष्यसमाजके धार्मिक हुए दैवराज्य पुष्ट नहीं हो सकता और बिना दैवराज्यकी पुष्टि और तुष्टिके मृत्युलोकका अभ्युदय असम्भव है। प्रजा यदि निरंकुश, राजाकी विरोधी और असन्तुष्ट हो, तो राजाका किसी प्रकारसे कल्याण नहीं हो सकता, उसीप्रकार राजा यदि स्वार्थपर, प्रजा-हित-विमुख, असंयमी, प्रजावात्सल्यहीन हो, तो ऐसे राजाकी प्रजा कदापि अभ्युदयको प्राप्त नहीं हो सकती है। ठीक उसीप्रकार मनुष्यलोकमें यदि धर्मानुष्ठान नष्ट हो जाय, तो देवलोक निर्बल और कर्त्तव्यशिथिल हो जाता है और उस समय आसुरी बल बढ़ जाता है। दूसरी ओर यदि देवतागण दुर्बल होकर कर्त्तव्य-विमुख हो जायँ तो, मृत्युलोकमें सब प्रकारका ताप और अशान्ति बढ़कर प्रजा क्लेशित हो जाती है। इस उदाहरणसे पूर्वकथित उदाहरणकी पूर्णतया पुष्टि होती है ॥ १५४ ॥

अब कर्मके फलानुसन्धानकारी भेद कहे जाते है :—

शुभ और अशुभरूपसे कर्म द्विविध है ॥ १५५ ॥

जहाँ क्रिया है, वहाँ प्रतिक्रिया अवश्य होगी। हाथ उठाना-रूप क्रिया जब हुई, तो हाथ गिराना रूप प्रतिक्रिया अवश्य होगी। वही प्रतिक्रिया ही कर्मसे फलोत्पन्न करती है। एक मनुष्य यदि किसी दूसरे मनुष्यका हनन करे, तो उसके कर्मकी परिपाक-अवस्थामें जन्मान्तरमें जो प्रतिक्रिया होगी, उससे उस मारनेवाले व्यक्तिका दूसरे जन्मका शरीर, उस मृत व्यक्तिके दूसरे जन्मके शरीर द्वारा मारा जायगा। अथवा यदि कर्मका रूपान्तर हुआ, तो मारनेवाला व्यक्ति अल्पायु होगा। इसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि, प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया-अवस्थामें फलकी उत्पत्ति हुआ करती है। इसी कारण स्मृतिशास्त्रने कहा है :—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"।

किये कर्मका शुभाशुभ फल अवश्य मिलता है।

क्रमशः

साम्राज्यवत् ॥ १५४ ॥

द्विविधं कर्म शुभमशुभं च ॥ १५५ ॥

सीता

[ले० महेश्वरप्रसाद]

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

सीता और सती एक ही बात है। चाहे सीता कहिये, चाहे सती कहिये। सीतामें सती और सतीमें सीता स्पष्टतः परिलक्षित हो रही है। सीता और सतीका परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। सीतामें सतीकी झाँकी पायी जाती है और सतीमें सीताकी। सीता सतीकी स्थूल मूर्ति है। सीता नाम ही ऐसा है जो सती नाममें जाकर घुल-मिल जाता है। पता नहीं लगता कि सीता कि सती। सीता और सतीका मिलता-जुलता नाम यदा-कदा भ्रममें डाल देता है। पहचानना कठिन है कि, सीता है कि सती है। मानो सीता नाम लेते ही सतीत्वकी अभिव्यक्ति हो जाती है। सीता नाममें ही सतीत्वके समस्त गुण केन्द्रीभूत कर दिये गये हैं। अपनी विशेषताओंके कारण सीता नाम विशेषण बन गया है। लोकमें प्रचलित है कि, अमुक सीता है। इसप्रकार नारीत्व, स्त्रीत्व, पातिव्रत्य, पत्नीत्व और सतीत्वका सारा सार खींचकर सीता नाममें ही रख दिया गया है। सीताका नाम लेते ही सीताका चित्र आँखोंके सामने उपस्थित हो जाता है। यही तो है सीताका नाम।

सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।

प्रारम्भसे ही सीताका विलक्षण चरित्र समुपस्थित हो जाता है। प्रथम तो यही विलक्षण बात है कि, सीता 'जनकाद्भोत्पतिर्वसुधातलात्'। हाँ, उसका लालन-पालन होता है 'अनासक्त गेही' योगी राजाके गृहमें। सीताको पाकर जनक जनक हो जाते हैं और सुनयना जननी हो जाती है। सीताके बचपनका लाड़-प्यार बहुमूल्य है। थोड़ेमें इतना ही कहा जा सकता है कि, पृथ्वीकी पुत्री पृथ्वीपर पैर नहीं रखती, पृथ्वीपर पैर रखनेका उसे अवसर नहीं मिलता। लेकिन एकदिन अचानक सुनयना आज्ञा देती हैं शंकरजीके पिनाकका स्थान साफ कर देने की। सीता उस कठोर पिनाकको स्वभावतः उठा लेती हैं और पूजा-स्थानको परम दिव्य बना डालती हैं। माता-पिता इस अलौकिक कृत्यको देखकर दंग रह जाते हैं। अन्तमें धनुष-यज्ञ होता है। सीताका स्वयम्बर और रामसे व्याह। सीता जनकपुरसे अयोध्या आती है। अयोध्यामें ससुर दशरथ और पति राम। इसके अतिरिक्त तीन देवर, तीन बहनें और तीन सासें। एक बृहत् परिवार सामने आ जाता है। तिसपर 'फूलत-फलत' विधाता भी वाम हो जाता है—रामका वनवास। राम समझाते हैं, वनका दुःख। सीता नत होकर नूपुरोंके सहारे मौन-व्यथा व्यक्त करती है। पुनः रामसे खुले शब्दोंमें अनुरोध करती है।

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि चिन्वन्ती कुशकण्टकान्॥

इतना ही क्यों? सीता कहती हैं कि, वे कुश-कण्टक भी रामके सहवाससे उसे 'तूलाजिनसमस्पर्शा' लगेंगे और वायु-प्रेरित धूलिके कण 'प्रसार्यमिव

चन्दनम्' प्रतीत होंगे। लेकिन ज्योंही 'पलंग-पीठ तजि गोद हिंडोरामें' झूलनेवाली सीता अयोध्यासे बाहर होती हैं कि, 'पुट सुखि गये मधुराधर वै'। सहसा इस दृश्यको देखकर रामकी आँखें बरस पड़ती हैं और सीता बढ़ती हैं आगे बनके कठोर-पथमें। मार्गमें स्त्रियाँ पूछतीं हैं 'साँवरो सो सखि रावरो को है?' सीता कहती है—'गोरे देवर श्याम उन्हींके ज्येष्ठ हैं।' पुनः बड़े कायदेके साथ—'तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसुकाय चली!' और 'खंजन मंजु तिरीछे नैननि; निज पति कहेहु तिन्हहिं सिय सैननि।' ऐसी सीताके लिये मरते दमतक दशरथको कसक रह जाती है—"फिरइत होइ प्रान अवलम्बा।' यदि सीता लौट आती तो शायद दशरथ मरते नहीं। उधर विदेह जनक तो चित्रकूट-में जाकर सीताको छोड़ते नहीं—

> लीन्हि लाइ उर जनक जानकी।
> पाहुनि पावन प्रेम प्रानकी॥
> पुत्रि! पवित्र किए कुल दोऊ।
> सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥
> गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे।
> तें किए साधु समाज घनेरे॥

सीता प्रेमकी और प्राणकी पाहुनी हैं। उसकी कीर्ति अक्षुण्ण है, उज्ज्वल है। गङ्गाकी तरह उसकी कीर्ति पवित्र यश फैला हुआ है। विशेषता तो यह है कि, गङ्गाका सुयश हरिद्वार, प्रयाग और गङ्गा-सागरतक ही सीमित है और सीतका पावन यश जगत्के अनेक भागोंमें अनेक संत पुरुषोंद्वारा नित्य-ही गाया जा रहा है। सीता दोनों कुलोंके लिये धर्म-ज्योति हैं। उसने मैके और ससुराल दोनों कुलोंको अपने धवल सुयशसे पवित्र कर दिया है। अस्तु, असह्य शोकसे मुक्ति पानेकी चाहसे सीता रामके साथ वन आती हैं। चित्रकूटकी एकान्त वनस्थलीमें सीता थके हुए रामके श्यामल शरीरके 'अमल-विन्दु-मय' मोतियोंको अपने आँचलसे बटोरती हैं। लेकिन यह सुख कै दिन मिलता है! रावण शीघ्र ही सीता-को चुरा ले जाता है। रामके विरहसे 'अशोकमें सशोका, सीताकी कारुणिक दशा तो तनिक देखिये :—

> चेष्टमानामथाविष्टां पन्नगेन्द्रवधूमिव।
> धूप्यमानां ग्रहेणेव रोहिणीं धूमकेतुना॥
> पतिशोकातुरां शुष्कां नदीं विस्रावितामिव।
> परया मृजया हीनां कृष्णपक्षे निशामिव॥

इसप्रकार शुक्लपक्षकी प्रथम तिथिकी चन्द्ररेखाकी भाँति सीता दुर्बल और क्षीण हो रही हैं। वह उपवास कर रही हैं। अश्रु-प्रवाह कर रही हैं और दीर्घनिःश्वास ले रही हैं। पृथ्वीपर सोती हैं और रावण-वधके लिये नाना प्रकारकी तपस्या करती हैं। जैसे मृणालिनी पङ्कमें लिप्त हो जाती है वैसे सीता विरहमें मलिन होती जा रही हैं। संकल्प-हय-संयुक्त मनोरथ-के रथपर चढ़ वह निरन्तर रामके समीप पहुँच रही हैं। क्यों न? रामका ध्यान ही तो 'कपाट' है। तिसपर वह हनुमानसे पूछती हैं—'कबहुँ कपि! राघव आवहिंगे?' इधर रावण 'एकबार बिलोकु मम ओरा' का हठ पकड़े बैठा है। मगर क्या मजाल कि सीता उसकी ओर फूटी नजरोंसे भी झाँक लें। रावणके बहुत अनुनय-विनय करनेपर 'तृन धरि ओट कहति बैदेही'—

> शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा।
> अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥

उपधाया भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम् ।
कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ॥

राक्षसियाँ सीताको नानाप्रकारकी धमकियाँ देती हैं। सीता तनिक भी डरती नहीं। अपने सिद्धान्तपर अटल रहती हैं। सच है—'ना मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति'। अशोक भी सीताके लिये अंगार बरसा रहे हैं। येनकेन-प्रकारेण सीता 'मास दिवस'की अवधि तै करती हैं कि, राम लंका आते हैं और उसका उद्धार हो जाता है। राम सीताका उद्धार करते हैं मगर अपनाते नहीं। ऊपरसे वह कठोर वचन बोलते हैं। सीता शिवकी भाँति उस काल-कूटको पी लेती हैं। पुनः रामसे कहती हैं—'यदहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो।' अतएव—'मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्त्तते'। लेकिन परिणाम कुछ भी नहीं निकलता। सीता तब विकल होकर लक्ष्मणसे चिता तैयार करनेको कहती हैं। लक्ष्मण चिता तैयार करते हैं और चिता स्वयं धधक उठती है। अग्निकी प्रदक्षिणा करके सीता उस धधकती हुई चितामें कूद पड़ती हैं। सभी साश्चर्य 'हुताशन मध्य सबासन सीता'को देखते हैं। फिर देखते हैं कि, जिसप्रकार जनकने जनकपुरमें रामको सीता दी थी, उसीप्रकार अग्निदेव लंकामें पुनः निष्कलंक सीताको रामको सौंप रहे हैं। वह 'दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि'। सीता अयोध्या आती हैं। अयोध्यामें 'यद्यपि गृहसेवक-सेवकिनी' हैं लेकिन सीता स्वयं—

निजकर गृह परिचरजा करई।
रामचन्द्र आयसु अनुसरई ॥
जेहि बिधि कृपासिन्धु सुख मानइ।
सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ ॥

कौसल्यादि सासुगृह माहीं।
सेवइ सबन्हि मानमद नाहीं ॥

परिणाम यह निकलता है कि, सीता निर्वासित की जाती हैं महज धोबीके कथनपर। निर्वासनका सम्वाद लक्ष्मण जंगलमें उसे सुनाते हैं। सीता इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न सद्वृत्त रामका आदेश सुनकर श्रीहीन हो जाती हैं, पृथ्वीपर गिर पड़ती हैं। लेकिन रामके लिये कुछ अपशब्द नहीं कहतीं। यही कहती हैं, हे वत्स! तुम चिरजीवी महाराजसे कहना कि, आपके सम्मुख मैं अपने विशुद्ध अग्निकी परीक्षा दे चुकी थी; फिर भी लोकापवादके भयसे आपने जो मुझे त्यागा है, क्या यह कार्य आपके प्रख्यात वंशके गौरवके अनुकूल हुआ है? फिर भी सूर्यसे यही अनुरोध है कि, जन्मान्तरमें मुझे आप भर्त्तारूपमें प्राप्त हों। लव-कुशके जन्मोपरान्त सीता अपनेको भागीरथीमें छिपा देना चाहती हैं। मगर वह सौभाग्य कहाँ? अन्तमें राम नैमिषारण्यमें शम्बूक-वधके पश्चात् आते हैं। सीताके 'दो पग आगे ही वह धन' है लेकिन कोई राहत नहीं। वेदवती सीतासे रामको निर्दयी कहती है। सीता कहती हैं कि उन्होंने उसे शरीरसे त्यागा है, हृदयसे नहीं। इसकी अपील स्वयं वाल्मीकि रामसे करते हैं :—

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि जानकी ॥

लेकिन नहीं, राम क्या यह सबकुछ नहीं जानते थे। रामने लंकासे सीताका उद्धार कर दिया था। अयोध्यामें रानी बनाया था सीताको। अश्वमेधमें स्वर्णप्रतिकृति सीताकी ही प्रतिष्ठित हुई। शम्बूक-वधके समय पञ्चवटीमें राम सीताकी स्मृतिमें रोने ही के लिये गये। फिर भी [illegible], [illegible],

लोक-व्यवस्था आदिका जटिल प्रश्न, जिसे सीता स्वयं जानती हैं या। दूसरे पिताकी आयुका भोग। अतः ऐसे समयमें सीताने 'माधवी देवीसे' भरी सभामें अपना मार्ग ही माँगना उचित समझा। बस क्या था। पृथ्वीसे एक दिव्य सिंहासन निकलता है और सीता उसपर चढ़कर पृथ्वीमें प्रवेश कर जाती है :—

जयति श्री जानकी भानुकुल भानुकी,
प्राणप्रिय वल्लभा तरणि रूपे।
राम आनन्द चैतन्य हरन निग्रहा
शक्ति आह्लादिनी सारूरूपे॥
जयति चितचरणचिन्तनि जेहि धस्त
दृष्टि काम भय क्रोधमद मोह माया।
रुद्रविधि विष्णु सुर सिद्ध वंदितपदे
जयति सर्वेश्वरी राम जाया॥

माताकी महिमा

जगद्‌गुरु भगवान् व्यासने बृहद्धर्म पुराणमें माताकी अद्‌भुद महिमा गायी है, वही यहाँ उद्धृत किया जाता है, जिससे हिन्दूधर्ममें माताका कितना महत्त्व स्थान है इसका दर्शन होता है। भगवान् व्यासजी जाबालीसे कहते हैं—धर्मज्ञपुत्र माता और पिता दोनोंको एक साथ देखनेपर प्रथम माताको प्रणाम करे, पश्चात् पितारूप गुरुको प्रणाम करे। माता, धरित्री जननी, दयार्द्रहृदया, शिवा, त्रिभुवनश्रेष्ठा, देवी, निर्दोषी, सर्वदुःखहा, परमाराधनीया, दया, शान्ति, क्षमा, धृति, स्वाहा, स्वधा, गौरी, पद्मा, विजया, जया एवं दुःखहन्त्री, माताके ही ये इक्कीश नाम हैं। जो मनुष्य इन नामोंको सुनता-सुनाता है, वह सब दुःखोंसे विमुक्त हो जाता है। महान्‌से महान् दुःखोंसे पीड़ित होनेपर भी भगवती माताकी दर्शनकर मनुष्यको जो आनन्द मिलता है, उसको क्या वचनद्वारा व्यक्त किया जा सकता है? किसी परमधर्मज्ञ व्याधने केवल माता-पिताकी सेवा करके तपस्वियोंके लिये भी दुर्लभ सर्वज्ञताको प्राप्तकर ली थी। अतः अनिमयत्नसे माता-पिताकी भक्ति करनी चाहिये। यह बात मेरे पिता शक्तिपुत्र पराशरजीने मुझसे कही थी। बृहद्धर्मपुराण, पूर्व खण्ड दूसरा अध्याय।

मातरं पितरञ्चोभौ दृष्ट्वा पुत्रस्तु धर्मवित्।
प्रणम्य मातरं पश्चात् प्रणमेत् पितरं गुरुम्॥
माता धरित्री जननी दयार्द्रहृदया शिवा।
देवी त्रिभुवनश्रेष्ठा निर्दोषा सर्वदुःखहा॥
आराधनीया परमा दया शान्तिः क्षमा धृतिः।
स्वाहा स्वधा च गौरी च पद्मा च विजया जया॥
दुःखहन्त्रीति नामानि मातुरेवैकविंशतिम्।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यः सर्वदुःखाद् विमुच्यते॥
दुःखैर्महद्‌भिर्दूनोपि दृष्ट्वा मातरमीश्वरीम्।
यमानन्दं लभेत् मर्त्य सर्कि वाचोपपद्यते॥
सेविता पितरौ कश्चिद् व्याधः परमधर्मवित्।
लेभे सर्वज्ञतां या तु साध्यते न तपस्विभिः॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन भक्तिः कार्या तु मातरि।
पितर्यपीति चोक्तं वै पित्रा शक्तिसुतेन मे॥

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें बिलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५) प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५) ,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०) ,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०) ,,
,, १/२ पृष्ठ	१२) ,,
,, १/४ पृष्ठ	८) ,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

हा सरदार !

थे सचमुच सरदार [illegible] रहे सदा तुम आगे ।
इस कुसमयमें तुमको खोकर हम सब हुये अभागे ॥
रहे अडिग तुम अपने व्रत पर 'लौह पुरुष' कहलाये ।
जब जब तुम आये विरोधमें शत्रु हमारे भागे ॥
तुम तो हुये अमर मरकर भी हम जीवित भी हैं निर्जीव ।
कर अनुगमन चरण-चिह्नोंका हम सब हों अब सबल सजीव ॥

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय		लेखक	पृष्ठ

अर्द्ध' भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

पौष सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ६, | दिसम्बर १६५०

चरन-कमल बन्दौं हरि राई।

जाकी कृपा पंगु गिरि लांघै अन्धेको सब कुछ दरसाई ॥

बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।

'सूरदास' स्वामी करुणामय बार बार बन्दौं तेहि पाई ॥

आत्मनिवेदन।

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादसे—

श्रीनगरमें ता० १०-११-५० को वहाँके म्युनिसिपल कारपोरेशनके अभिनन्दन-पत्रके उत्तरमें भाषण करते हुए राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसादने Secular Democracy की व्याख्या की। आपने कहा कि, "सेकुलर डिमोक्रेसीका यह अर्थ नहीं कि, भारत अधार्मिकताको प्रोत्साहित करता है। उसका अर्थ तो यह है कि, प्रत्येक व्यक्ति अपना धर्मपालन करनेके लिये स्वतन्त्र है" इत्यादि। (अमृतबाजार पत्रिका १२ नवम्बर) राष्ट्रपतिने सेकुलर डिमोक्रेसीकी जो व्याख्या की है, क्या व्यवहारमें वह वैसा ही बरता जा रहा है? राष्ट्रपतिको विदित ही है, कि सेकुलर डिमोक्रेसी कहानेवाली शासनसत्ता हिन्दू-कोडबिल बनाकर हिन्दुओंको अपना धर्मपालन करनेकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका अपहरण करने जा रही है। क्योंकि हिन्दूकोडबिल हिन्दूधर्मके मौलिक सिद्धान्तोंपर प्रत्यक्ष प्रहार है। यह हिन्दूजातिपर बलात् लादा जा रहा है और हिन्दूजातिको अपने धर्मपालनके अधिकारसे विधान बनाकर वञ्चित किया जा रहा है। हिन्दूकोडबिल यदि विधान बन गया, तो इसके द्वारा हिन्दूओंका धर्म, जातीय परम्परा, रीति-रिवाज सभी नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे। क्योंकि हिन्दुओंका धर्म हिन्दूजातिके जीवनके प्रत्येक क्रिया-कलापके साथ सम्बन्धित है। उसका विवाह गृहस्थाश्रमका सबसे प्रधान धार्मिक संस्कार है, जिसके भीतर मनुष्यकी सारी पशु-प्रवृत्तियोंके नियन्त्रणका रहस्य निहित है, इसी प्रकार उसके उत्तराधिकार-व्यवस्थामें परलोकगत आत्माकी शान्ति एवं उन्नतिका रहस्य निहित है। हिन्दूकोडबिल-द्वारा इन सबको तोड़-मड़ोरकर हिन्दूसमाजको विदेशीय-विजातीय साँचेमें ढालनेका प्रयत्न है। ऐसी दशामें भारत सरकारकी तथाकथित धर्म-निरपेक्षताकी क्या सार्थकता रही? हिन्दूधर्म किसी व्यक्तिकी कपोल-कल्पना नहीं, किन्तु ईश्वरीय अनादि विधान है। उसका आधार वेद है। विधान बनाकर उसका नाश करनेके उद्योगका सीधा अर्थ होता है, उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिताको आमन्त्रण देना। इस प्रकार भारत सरकार धर्मनिरपेक्षताकी आड़में अधार्मिकताको प्रोत्साहन दे रही है, यही दिखायी दे रहा है। विचारकी बात है कि, पशु-प्रवृत्तियोंकी चरितार्थताके लिये जब विधान बनाकर मार्ग प्रशस्त कर दिया जायगा तो क्यों कोई धर्म-पालनसे अपनी उद्दण्ड-उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंको रोकनेका प्रयत्न करेगा? परलोक एवं परमात्माके भयसे ही तो मनुष्य संयत, सदाचारी, सहिष्णु, सत्यव्रत सेवा-परायण बन सकता है और अपनी पशु-प्रवृत्तियोंपर विजय पा सकता है। इसी कारण यहाँके त्रिकालदर्शी महर्षियोंने हिन्दूओंके प्रत्येक आचार-व्यौहार तथा चेष्टाओंके साथ धर्मका सम्बन्ध बाँधा था और महर्षियोंके उन्हीं आदेशोंका अनुसरण करके हिन्दू-जाति अपनी आध्यात्मिकतामें जगद्गुरु-पदपर प्रतिष्ठित हुई थी और पृथिवीकी समस्त मनुष्यजातिको इसने अपने ज्ञानालोकसे आलोकित किया था। आजके इस भौतिक युगमें भी यहाँके उपनिषद् एवं दर्शन-शास्त्र जगत्को आध्यात्मिक आलोक प्रदान कर

ही हुए हैं। संसारमें उनकी तुलना कहीं नहीं है। अतः हमारी प्रार्थना है, कि यदि Secular Democracy का वही अर्थ है, जो हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादने की है, तो वे अपना सारा प्रभाव एवं शक्ति लगाकर भारत सरकारको अपनी ही घोषित नीतिके विरुद्ध कार्य करनेसे विरत करें और हिन्दूकोडबिल वापस लेनेको वाध्य करें।

क्या इम्प्रुभमेन्टट्रष्टके अधिकारी ध्यान देंगे ?

संतोषका विषय है कि, काशीमें भी इम्प्रुभमेन्ट ट्रष्टकी स्थापना हो गयी है। इसकी मार्च सन् १६५० तककी विवरणी हमारे पास प्रकाशनार्थ आयी है, जो आर्य-महिलाके पाठक-पाठिकाओंके अवलोकनार्थ इसी अङ्कमें प्रकाशित की जाती है। इसको देखने से विदित होता है कि, काशीके कुछ सड़कोंको सौ फीट एवं कुछको अस्सी फीट चौड़ी बनानेकी योजना है। एक नया उपनगर जिसमें वहाँ बसनेवालोंकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्तिके साधन प्रस्तुत किये जायँगे, बसानेकी भी योजना है। ट्रष्टकी इस योजना-का हम हृदयसे स्वागत करते हैं और भगवान् विश्वनाथके चरणोंमें प्रार्थना करते हैं कि, यह शीघ्र कार्यान्वित हो। परन्तु सड़कोंके विषयमें अनेक बातें विचारणीय हैं, जिनपर हम ट्रष्टके अधिकारियोंका ध्यान दिलाना अपना कर्तव्य समझते हैं। यह सर्ववादिसम्मत है कि, काशी एक अति प्राचीन महान् तीर्थ है, यह कलकत्ता या बम्बई जैसा कोई बड़ा व्यापारिक केन्द्र नहीं, जहाँपर सौ फीट या ८० फीट चौड़ी सड़कोंकी आवश्यकता हो। यह तीर्थस्थान है। इसकी सुन्दरता एवं विशेषता यहाँके सुन्दर घाटोंसे है। विशेष-विशेष अवसरोंपर—जैसे चन्द्रग्रहण आदिके समय लाखों लाखों मनुष्योंका समूह गङ्गास्नानके लिये यहाँ एकत्र होता है। किन्तु इन घाटोंकी इस समय कैसी शोचनीय अवस्था है, सो इसी विवरणीमें वर्णित है; हमें खेद है कि, उन घाटोंके मरम्मत एवं पुनर्निर्माणके लिये उनके अधिकारियोंकी सहायताकी अपेक्षा की जा रही है। काशीके ये घाट अधिकांश देशी नरेशोंद्वारा बनाये गये थे। इन नरेशोंके उत्तराधिकारी ज्यों-ज्यों अंग्रेजी सभ्यता-संस्कृतिके दास बनते गये, त्यों-त्यों उनके दानधर्म बन्द होते गये और इन घाटोंकी दशा भी बिगड़ती गयी और अब तो सभी देशी राज्य सरकारके अङ्ग बना दिये गये हैं, उनके अस्तित्व ही प्रायः मिट गये हैं। अतः इन घाटोंकी मरम्मत एवं पुनर्निर्माणका कार्य सरकारका ही कर्तव्य हो गया है। इस कारण इम्प्रुभमेन्ट ट्रष्ट यदि वस्तुतः जनताका हित करना चाहता है, तो उसे अपनी सारी शक्ति और साधनोंका उपयोग काशीके घाटोंके पुनर्निर्माण एवं मरम्मतके लिये ही करना चाहिये। यहाँ सड़कोंको सौ फीट एवं अस्सी फीट चौड़ी करने-की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। विशेषतः लहुराबीर चौमुहानीसे कलक्टरेट तककी सड़कको सौ फीट चौड़ी करना सर्वथा अनावश्यक है, वैसे ही मैदागिनसे इङ्गलिशिया लाइन जानेवाली सड़कके भी इतनी चौड़ाईकी आवश्यकता नहीं। इनपर साधारणतः कचहरी तथा रेलगाड़ियोंके समयोंपर कुछ सवारियाँ दिखायी पड़ती हैं। बाकी समय इन सड़कोंपर कोई भी भीड़ नहीं होती। दूसरी विचारणीय यह है कि, ट्रष्टकी इसी विवरणीमें ही भवनोंकी कमी स्वीकार की गयी है। ऐसे समयमें सड़कोंको चौड़ी करनेके उद्देश्यसे अनिश्चित समयके

लिये भवन-निर्माणका कार्य उन स्थानोंपर रोक रखना तथा भवनोंको गिराकर सड़क चौड़ी करना भवनकी समस्याको और भी जटिल बना देना कदापि वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। हिन्दी विवरणीमें यह भी कहा गया है, कि मकानोंको गिराकर सड़क बढ़ानेका विचार नहीं है, किन्तु जब मकान स्वतः गिर जायँगे, तब सड़कोंको चौड़ा किया जायगा। ऐसे सड़कोंपर अब जो मकान—दूकान बनेंगे, उनको बनानेकी स्वीकृति सड़कोंको चौड़ी करनेके लिये जितनी भूमि अपेक्षित है, उतना छोड़कर ही दी जायगी। ट्रष्टके इस योजनासे भी जनताकी हानिके अतिरिक्त लाभ नहीं दृष्टिगोचर होता। क्योंकि इन सड़कोंपर कुछ भवन वर्ष-दोवर्ष पहले ही निर्मित हुए हैं। कमसे कम सौ वर्ष इनके स्वतः गिरनेकी सम्भावना नहीं हो सकती। इस परि-स्थितिमें इतनी भूमि इतने दिन खाली छोड़ रखना जनताके जीवन-निर्वाहके प्रश्नको और भी विकट बनाना है। इन स्थानोंमें भवन या दूकान बन जानेसे सहस्रों मनुष्योंके जीवन-निर्वाह एवं आवासकी समस्या हल हो सकती है। आज जब मनुष्योंको पेट भरनेके लिये पैसे नहीं, रहनेके लिये घर नहीं है और सौ वर्ष बाद सड़क चौड़ी करनेके लिय जमीनें यों ही पड़ी रखी जाँय, वहाँ मकान-दूकान न बनने दिया जाय, इसका समर्थन जनताका कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता। अतः इम्प्रुभमेन्ट ट्रष्टके अधि-कारियोंसे हमारी यह प्रार्थना है, कि रिक्त स्थानोंमें सुन्दर उपनगरोंका निर्माण एवं यहाँके घाटोंके मरम्मत एवं पुनर्निर्माणके कार्योंमें ही वे अपने सब साधनों एवं शक्तिका उपयोग करें तो जनताका यथार्थ हित होगा और इस कार्यमें उन्हें जनताका सहयोग तथा सहानुभूति भी प्राप्त होगी। क्या इम्प्रुभमेन्ट ट्रष्टके अधिकारीगण इसपर ध्यान देंगे?

वैदिक संस्कृति और धर्मशिक्षाकी आवश्यकता

स्थानीय काशी विश्वविद्यालयके तैंतीसवें वार्षिक उपाधि वितरणोत्सवके उपलक्षमे काशीमें अनेक विशिष्ट महानुभावोंका पदार्पण हुआ था। उक्त अवसरपर पूना विश्वविद्यालयके वाइस चांसलर डा० मुकुन्दराव जयकरका जो भाषण हुआ वह बहुत बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शितापूर्ण है। धर्मनिरपेक्षताके विषयमें उन्होंने जो विचार प्रकट किया, उससे ऐसा अनुमान होता है, कि भारत सरकारकी रहस्यमयी धर्मनिरपेक्षता अभीतक वे भी नहीं समझ सके हैं, उन्होंने कहा, कि यदि धर्मनिरपेक्षताका अर्थ सभी धर्मों एवं संस्कृतिका पूर्ण रूपसे विनाश है, तो यह व्यर्थकी चेष्टा है। यदि धर्मनिरपेक्ष करनेसे यह मतलब हो, कि किसी धर्मविशेषको मान्यता नहीं है, तो इससे सभी सहमत रहेंगे। यदि धर्मनिरपेक्षताका यह अर्थ है, कि धर्मके आधारपर किसी व्यक्ति या वर्गको कोई विशेष सुविधा प्रदान नहीं की जायगी तो इसे भी सभी स्वीकार करेंगे। परन्तु धर्मनिरपेक्षताभी किसी हद-तक ही अच्छी है और हदके बाहर मूर्खता मात्र है आगे उन्होंने कहा कि "आज विश्वको वैदिक संस्कृति और संस्कृत-शिक्षाकी विशेष आवश्यकता है। प्राचीन वैदिक कालका भी यही लक्ष्य था कि, विश्वमें एक व्यवस्था तथा चार स्वतंत्रताएँ स्थापित हों। हमारे यहाँ भूख, कठिनाइओं, दुःख और आवश्यकताओंसे मुक्ति ही चार स्वतंत्रताएँ रही हैं। इन्हींसे छुटकारा पा जाना चार स्वतन्त्रताएँ प्राप्त करना है।" डाक्टर

विषय-सूची

अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥

आश्विन सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ६, | सितम्बर १९५०

भज मन चरण कँवल अविनासी।
जेतइ दीसे धरण गगन बिच तेतई सब उठ जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हे कहा लिये करवट कासी॥
इण देहीका गरब न करना माटीमे मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी साँझ पड्या उठ जासी॥
कहा भयो है भगवा पहरयाँ घर तज भये संन्यासी।
योगी होय जुगत नहिं जाणी उलट जनम फिर आसी॥
अरज करूँ अबला कर जोड़े स्याम तुम्हारी दासी।
मीराके प्रभु गिरधर नागर काटो जमकी फाँसी॥

आत्मनिवेदन।

ईश्वरसे डरो

आजका युग वैज्ञानिक युग कहा जाता है, मनुष्योंकी इन्द्रियोंकी तृप्ति एवं भोगके साधनों आराम एवं सुख-सुविधाओंके नित्य नये चमत्कार सायन्सद्वारा आविष्कृत होते रहते हैं, तबभी प्रत्यक्ष देखा यह जा रहा है, कि मनुष्योंका दुःखदुर्दैव, दरिद्रता एवं विनाश दिनानुदिन बढ़ता ही जा रहा है, नित्य नयी अप्रत्याशित आपत्तियाँ आ रही हैं, और किसीभी भौतिक शासन अथवा सायन्समें यह शक्ति नहीं कि इनसे मनुष्योंका त्राण कर सके। प्राणियोंके नाशके लिये एटमबम्बका आविष्कार तो हुआ परन्तु किसी वैज्ञानिकने अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, जलप्लावन, महामारी आदिसे मनुष्योंको बचानेके लिये अबतक कोई आविष्कार नहीं किया। भारतसरकारने "अधिक अन्न उपजाओ"की योजना बनायी, करोड़ों रुपये व्यय कर विदेशोंसे ट्रेक्टर तथा खाद मँगाये गये और लाखों एकड़ परती जमीन भी जोत डाली गयी, परन्तु फल क्या हुआ, अचानक नदियोंमें बाढ़ आ जानेसे उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा पञ्जाबके हजारों गाँव बह गये, खेती नष्ट हो गयी, और सरकारकी सारी योजना मिट्टीमें मिल गयी। सरकारके भरसक प्रयत्न करने पर भी बिहार तथा मद्रासमें भूखमरीसे मनुष्य कालके गालमें जा रहे हैं। रेल उलटनेकी दुर्घटनाएँ तो आज एक साधारण-सी बात हो गयी है, जिनमें सैकड़ों निरीह प्राणियोंका संहार हो रहा है, जिसे स्मरण करके हृदय काँप उठता है। गत १५ अगस्तको जब सारे भारतमें स्वतन्त्रताका आनन्द मनाया जा रहा था, आसाममें मानों मनुष्योंके पापपुञ्जसे भीत हो पृथिवी माता काँप उठीं, सैकड़ों प्राणियोंकी बलि हो गयी, हजारों सुन्दर-सुन्दर अट्टालिकाएँ धूलीमें मिल गयीं, करोड़ोंकी सम्पत्तिपर पानी फिर गया। हुआ क्या? पृथिवी माता केवल कुछ पलके लिये काँप उठी थी! क्या संसारकी किसी शासनसत्तामें यह क्षमता है, जो इनसे प्राणियोंको बचा सके? विवश हो उत्तर यहीं देना होगा कि नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि आये दिन ऐसे नित्य नये उत्पात हो ही क्यों रहे हैं? आस्तिक सूक्ष्मविचारशील व्यक्तिके लिये इसका एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि केवल इस दृश्यमान भौतिक जगत्का ही नहीं किन्तु स्थूल-सूक्ष्म निखिल विश्वब्रह्माण्डका एकमात्र नियन्ता, सब शासकोंका शासक कोई ईश्वर है, जो मनुष्योंके दानवी राक्षसी कुकृत्योंसे कुपित हो उठा है। उसीके प्रकोपसे ये सारे प्राकृतिक उत्पात हो रहे हैं और सब दुःख-दरिद्रता, दीनता, हीनता छा गयी है। उस जगन्नियन्ता ईश्वरसे डरो जिसके लिये श्रुति कहती है—"महद्भयं वज्रमुद्यतम्"—कठोपनिषद्। विश्वास करो कि तुम जिस कर्मको बहुत लुक छिपकर करते हो, और समझते हो कि तुमको कोई नहीं देख रहा है, उसको तुम्हारे ही अन्तरमें बैठा हुआ वह सर्वशासक ईश्वर देखता रहता है। उससे तुम्हारा कोई भी कर्म छिपा नहीं रह सकता है। और उसका दण्डविधान अव्यर्थ होता है। अतः उस सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी सब शासकोंका भी शासक ईश्वरसे डरो, तभी कल्याण होगा।

गृहदेवियोंका सम्मान करो।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दूसंस्कृतिमें स्त्रियोंको जितना सम्मान तथा गौरव दिया गया है उतना संसारके किसी सभ्य-समाजमें नहीं दिया गया है। आर्यऋषियोंने स्त्रियोंका मौलिक स्वरूप ठीक-ठीक समझा था, और उसके अनुरूप उन्होंने स्त्रियोंको अतुलनीय गौरव प्रदान किया था। वेद, पुराण, इतिहास एवं स्मृतियोंमें इस विषयके भूरि-भूरि प्रमाण भरे पड़े हैं। केवल शास्त्रोंमें ही नहीं किन्तु व्यवहारमें भी उनका वही सम्मान था और वैदिककालसे लेकर विदेशी शासनके पहले तक उनकी वही मर्यादा तथा सम्मान बना रहा। जब तक यहाँ स्त्रियोंका वैसा सम्मान था, वे वस्तुतः गृहसम्राज्ञी या गृहस्वामिनीके पदपर आसीन थीं, तब तक यह भारतदेश सबप्रकारके सुख-समृद्धि-सम्पन्न था और स्त्रियोंने बड़ी योग्यता तथा कौशल-से पुरुषोंके प्रत्येक कार्यमें हाथ बटाया। यद्यपि अपना घर ही उनका साम्राज्य था, तब भी समय पड़नेपर उन्होंने राजकार्यका सञ्चालन भी किया और स्वधर्म, स्वतन्त्रता तथा सम्मान-रक्षाके लिये रणचण्डीका प्रचण्डरूप धारणकर कभी रणरङ्गमें भी उतर पड़ीं, एवं मानवरूपधारी दानवोंके दाँत खट्टे किये। चित्तौर और झाँसीके अमिट इतिहास इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं। कालचक्रने पलटा खाया, भारत परतन्त्र हो गया। सैकड़ों वर्षोंकी दासताने उसको अपना स्वरूप ही भूला डाला और जैसे भारत अपनी अन्य विशेषताओंको भूल गया, वैसे ही वह अपनी गृहदेवियोंका सम्मान करना भी प्रायः भूल सा गया। फलतः स्त्रियाँ भी अपने पूर्व-गौरवान्वित पदको भूल गयीं। वर्तमान समयमें हमारे देशमें स्त्रियोंकी दशा बड़ी दयनीय तथा शोचनीय हो गयी है। प्राचीन गौरवकी बात अब प्रायः शास्त्रोंमें ही रही है, व्यवहारमें नहींके समान है। पुत्र माताकी महिमा नहीं समझता और कितने ही पुरुष अपनी सती साध्वी स्त्रीका परित्याग कर देते हैं, कितने ही उनपर अमानुषिक अत्याचार करते हैं। समाजके कलङ्करूप ऐसे पुरुषोंको समाज द्वारा कठोर दण्डकी व्यवस्था होनी चाहिये। और स्त्रियोंको पुनः उनके गृहस्वामिनीके पदपर प्रतिष्ठित करना चाहिये, तभी भारत पुनः अपना जगद्गुरु-पद प्राप्त कर सकेगा। पुरुषोंको सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिसप्रकार स्त्रियोंकी आदर्श भगवती सीता हैं, वैसेही पुरुषोंके आदर्श एकपत्नीव्रत भगवान् रामचन्द्र हैं। भगवान् रामचन्द्र जैसे आदर्श राजा थे, वैसेही वे आदर्श पतिभी थे। एक नीच धोबीकी बात गुप्तचरद्वारा सुनकर प्रजारञ्जनके लिये उन्होंने अपनी प्राणप्रिया सती साध्वी सम्राज्ञी सीताका त्याग तो कर दिया परन्तु दूसरी पत्नी ग्रहण करने की उन्होंने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की। अतः यदि सच्चा सुख, सच्ची शान्ति और आनन्द चाहते हो, तो भगवान् रामचन्द्रको अपना आदर्श बनाओ, अपनी गृहदेवियोंको सच्ची गृहस्वामिनी बनाओ, उनका उचित आदर सम्मान करो। देखो, भगवान् मनु क्या कहते हैं—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कार्येषूत्सवेषु च॥

तात्पर्य यह है कि अपना उत्तम कल्याण चाहनेवाले पिता, भाई, पति, देवर आदिको कन्या, बहिन, पत्नी, भौजाई आदिका उचित आदर सम्मान करना चाहिये और उनको वस्त्राभूषणसे सदा प्रसन्न रखना चाहिये। जिस घरमें स्त्रियाँ शापती रहती हैं, वह घर शीघ्रही नष्ट हो जाता है। इस कारण अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको भोजन, वस्त्र और अलङ्कार आदिके द्वारा सदा इनकी पूजा करनी चाहिये। अतः भगवान् मनुका यह परमकल्याणमय उपदेश सदा मनमें रखो और अपनी माताओं, बहिनों, बेटियों एवं धर्मपत्नियोंका उचित आदर सम्मान करो।

तुलसीदलका महत्त्व तथा स्तुति।

(संकलित)

देवताओंके सेनापति श्रीकार्तिकेयजीने एकबार अपने पिता महादेवसे पूछा कि, भगवन्! ऐसा कौनसा वृक्ष है, जिसका पत्ता और फूलभी भोग-मोक्ष प्रदान करनेवाला है? आप सर्वज्ञ हैं, इस विषयमें आपही जानते हैं। महादेवजीने कहा—बेटा! सब प्रकारके पत्तो और फूलोंकी अपेक्षा तुलसीही श्रेष्ठ मानी गयी है। वह परम मंगलमयी, समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली, श्रीविष्णुको अत्यन्त प्रिय तथा 'वैष्णवी' नाम धारण करनेवाली है। वह सम्पूर्ण लोकमें श्रेष्ठ, शुभ तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली है। भगवान् विष्णुने प्राचीनकालमें समस्त लोकोंका हित करनेके लिये तुलसीका वृक्ष बोया था। तुलसीके पत्ते और पुष्प सब धर्मोंमें प्रतिष्ठित है। जैसे भगवान् विष्णुको लक्ष्मी और मैं दोनों प्रिय हैं, उसीप्रकार यह तुलसी-देवी भी परमप्रिय हैं। हम तीनोंके सिवा कोई चौथा ऐसा नहीं जान पड़ता, जो भगवान्को इतना प्रिय हो। तुलसीदलके बिना दूसरे-दूसरे फूलों पत्तों चन्दन आदिके लेपोंसे भगवान् श्रीविष्णुको उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी तुलसीदल चढ़ानेसे। जिसने तुलसीदलके द्वारा पूर्ण श्रद्धाके साथ प्रतिदिन भगवान् श्रीविष्णुका पूजन किया है, उसने दान, होम, यज्ञ और व्रत आदि सब पूर्ण कर लिये। तुलसीदलसे भगवान्‌की पूजा कर लेनेपर कान्ति. सुख, भोगसामग्री, यशोलक्ष्मी, श्रेष्ठकुल, शील, पत्नी, पुत्र, कन्या, धन, राज्य, आरोग्य, ज्ञान, विज्ञान, वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, पुराण, तन्त्र और संहिता—सब कुछ मैं करतलगत समझता हूँ। जैसे पुण्यसलिला भागीरथी, गंगा मुक्ति प्रदान करनेवाली है, उसीप्रकार भगवती तुलसीभी कल्याण करनेवाली है। हे पुत्र! यदि मञ्जरीयुक्त तुलसीपत्रोंके द्वारा भगवान् श्रीविष्णुकी पूजा की जाय तो उसके पुण्यफलका वर्णन करना असम्भव है। जहाँ तुलसीका वन है, वहीं भगवान् श्रीकृष्णका सान्निध्य है। वहीं ब्रह्मा और लक्ष्मीजी भी सम्पूर्ण देवताओंके साथ निवास करती हैं। इसलिये अपने निकटवर्ती स्थानमें तुलसीदेवीको रोपकर उनकी पूजा अवश्य करनी चाहिये। तुलसीके निकट जो स्तोत्र-मन्त्र आदिका जप किया जाता है, वह सब अनन्तगुण फलप्रद होता है।

प्रेत, पिशाच, कुष्माण्ड, ब्रह्मराक्षस, भूत और दैत्य आदि सब तुलसीके वृक्षसे दूर भागते हैं। ब्रह्महत्या आदि पाप तथा पाप और खोटे विचारसे उत्पन्न होनेवाले रोग—ये सब तुलसीवृक्षके समीप नष्ट हो जाते हैं। जिससे श्रीभगवान्‌की पूजाके लिये तुलसीका बगीचा लगा रक्खा है, उसने उत्तम, दक्षिणाओंसे युक्त सौ यज्ञोंका विधिवत् अनुष्ठान पूर्ण कर लिया है। जो श्रीभगवान्‌की प्रतिमाओं तथा शालिग्राम शिलाओं पर चढ़े हुये तुलसीदलको प्रसादके रूपमें ग्रहण करता है, वह श्रीविष्णुके सायुज्यको प्राप्त होता है। जो श्रीहरिकी पूजा करके उन्हें निवेदन किये हुए तुलसी-दलको अपने मस्तकपर धारण करता है, वह पापसे शुद्ध होकर स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। कलियुगमें तुलसीका पूजन, कीर्तन, ध्यान, रोपण और धारण करनेसे वह पापको जलाती और स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करती है। जो तुलसीके पूजन आदिका दूसरोंको उपदेश देता और स्वयं भी आचरण करता है, वह भगवान् श्रीलक्ष्मीपतिके परमधामको प्राप्त होता है। जो वस्तु भगवान् विष्णुको प्रिय जान पड़ती है, वह मुझे भी अत्यन्त प्रिय है। श्राद्ध और यज्ञ आदि कार्योंमें तुलसीका एक पत्ता भी महान् पुण्य प्रदान करनेवाला है। जिसने तुलसीकी सेवा की है, उसने गुरु ब्राह्मण, देवता और तीर्थ—सबका भलीभाँति सेवन कर लिया। इसलिये षडानन! तुम तुलसीका सेवन करो। जो शिखामें तुलसी स्थापित करके प्राणोंका परित्याग करता है, वह पापराशिसे मुक्त हो जाता है। राजसूय आदि यज्ञ; भाँति भाँतिके व्रत तथा संयमके द्वारा धीर पुरुष जिस गतिको प्राप्त करता है, वही उसे तुलसीकी सेवासे मिल जाती है। तुलसीके एक पत्रसे श्रीहरिकी पूजा करके मनुष्य वैष्णवत्वको प्राप्त होता है। उसके लिये अन्यान्य शास्त्रोंके विस्तारकी क्या आवश्यकता है! जिसने तुलसीकी शाखा तथा कोमल पत्तियोंसे भगवान् श्रीविष्णुकी पूजा की है, वह कभी माताका दूध नहीं पीता—उसका पुनर्जन्म नहीं होता। कोमल तुलसीदलोंके द्वारा प्रतिदिन श्री-हरिकी पूजा करके मनुष्य अपनी सैकड़ों और हजारों पीढ़ियों तार सकता है। तात! ये मैंने तुमसे तुलसीके प्रधान गुण बतलायें हैं। सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन तो बहुत अधिक समय लगने पर भी नहीं हो सकता।

इस तरह भगवान् शंकरने स्वयं तुलसीकी इतनी महिमा गायी है। खेदकी बात है कि आजकल नव-शिक्षित लोगोंके घरोंसे तुलसीजीकी चबूतरा बनाने-की प्राचीन रीति उठती जा रही है। इन लोगोंको अपने शास्त्रोंपर श्रद्धा-विश्वास नहीं रहा है। उनके गुरु तो अंगरेज बन गये हैं। परन्तु अंग्रेज वैज्ञानिक लोग भी कहते हैं कि तुलसीमें अनेक प्रकारके रोगके कीटाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति है।

तुलसीकी स्तुतिके सम्बन्धमें शतानन्दने अपने शिष्योंसे कहा है कि तुलसीका नामोच्चारण करने पर असुरोंका दर्प दलन करनेवाले भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं। मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा उसे अक्षय पुण्यकी प्राप्ति होती है। जिसके दर्शनमात्रसे करोड़ों गो-दानका फल होता है, उस तुलसीका पूजन और वन्दन लोग क्यों न करें! कलियुगके संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं, जिनके घरमें शालग्राम-शिलाका पूजन सम्पन्न करनेके लिये प्रति-दिन तुलसीका वृक्ष भूतलपर लहलहाता रहता है।

जो कलियुगमें भगवान् श्रीकेशवकी पूजाके लिये पृथ्वीपर तुलसीका वृक्ष लगाते हैं, उनपर यदि यमराज अपने किङ्करों सहित रुष्ट हो जाँय तो भी वे उनका क्या कर सकते हैं! 'तुलसी! तुम अमृतसे उत्पन्न हो और केशवको सदा ही प्रिय हो। कल्याणी! मैं भगवान्‌की पूजाके लिये तुम्हारे पत्तोंको चुनता हूँ। तुम मेरे लिये वरदायिनी बनो। तुम्हारे श्रीअङ्गोंसे उत्पन्न होनेवाले पत्तों और मञ्जरियों द्वारा मैं सदाही जिस प्रकार श्रीहरिका पूजन कर सकूँ, वैसा उपाय करो। पवित्राङ्गी तुलसी! तुम कलि-मलका नाश करनेवाली हो।' इस भावके मन्त्रोंसे जो तुलसी-दलोंको चुनकर उनसे भगवान् वासुदेवका पूजन करता है, उसकी पूजाका करोड़ों गुना फल होता है।

देवेश्वरी! बड़े बड़े देवता भी तुम्हारे प्रभावका गायन करते हैं। मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, पातालनिवासी साक्षात् नागराज शेष तथा सम्पूर्ण देवता भी तुम्हारे प्रभावको नहीं जानते; केवल भगवान् श्रीविष्णु ही तुम्हारी महिमाको पूर्णरूपसे जानते हैं। जिस समय क्षीर-समुद्रके मन्थनका उद्योग प्रारम्भ हुआ था, उस समय श्रीविष्णुके आनन्दांशसे तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ था। पूर्वकालमें श्रीहरिने तुम्हें अपने मस्तक-पर धारण किया था। देवि! उस समय श्रीविष्णुके शरीरका सम्पर्क पाकर तुम परम पवित्र हो गई थीं। तुलसी! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम्हारे अङ्गमें उत्पन्न पत्रों द्वारा जिस प्रकार श्रीहरिकी पूजा कर सकूँ, ऐसी कृपा करो, जिससे मैं निर्विघ्नतापूर्वक परम गतिको प्राप्त होऊँ। साक्षात् श्रीकृष्णने तुम्हें गोमती-तटपर लगाया और बढ़ाया था। वृन्दावनमें विचरते समय उन्होंने सम्पूर्ण जगत् और गोपियोंके हितके लिये तुलसीका सेवन किया। जगत्प्रिया तुलसी! पूर्वकालमें वसिष्ठजीके कथनानुसार श्रीरामचन्द्रजीने भी राक्षसोंका वध करनेके उद्देश्यसे सरयूके तटपर तुम्हें लगाया था। तुलसीदेवी! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। श्रीरामचन्द्रजीसे वियोग हो जाने पर भी अशोकवाटिकामें रहते हुये जनक-किशोरी सीताने तुम्हारा ही ध्यान किया था, जिससे उन्हें पुनः अपने प्रियतम का समागम प्राप्त हुआ। पूर्वकालमें हिमालय-पर्वतपर भगवान् शङ्करकी प्राप्तिके लिये पार्वतीदेवीने तुम्हें लगाया और अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये तुम्हारा सेवन किया था। तुलसीदेवी! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। सम्पूर्ण देवाङ्गनाओं और किन्नरोंने भी दुःस्वप्नका नाश करनेके लिये नन्दनवनमें तुम्हारा सेवन किया था। देवि! तुम्हें मेरा नमस्कार है। धर्मारण्य गयामें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने हित-साधनकी इच्छासे परम-पवित्र तुलसीका वृक्ष लगाया तथा लक्ष्मण और सीताने भी बड़ी भक्तिके साथ उसे पोसा था। जिस प्रकार शास्त्रोंमें गङ्गाजीको त्रिभुवनव्यापिनी कहा गया है, उसी प्रकार तुलसीदेवी भी सम्पूर्ण चराचर जगत्‌में दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीका ग्रहण करके मनुष्य पातकोंसे मुक्त हो जाता है और तो और मुनीश्वरो! तुलसीके सेवनसे ब्रह्महत्याभी दूर हो जाती है। तुलसीके पत्तेसे टपका हुआ जल जो अपने सिरपर धारण करता है, उसे गङ्गास्नान और दस गो-दानका फल प्राप्त होता है। देवि! मुझपर प्रसन्न होओ। देवेश्वरि! हरिप्रिये! मुझपर प्रसन्न हो जाओ। क्षीरसागरके मन्थनसे प्रकट हुई तुलसीदेवि! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

द्वादशीकी रात्रिमें जागरण करके जो इस तुलसी-स्तोत्रका पाठ करता है, भगवान् श्रीविष्णु उसके

बत्तीस अपराध क्षमा करते हैं। बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी और बुढ़ापे में जितने पाप किये होते हैं, वे सब तुलसी-स्तोत्रके पाठसे नष्ट हो जाते हैं। तुलसीके स्तोत्रसे सन्तुष्ट होकर भगवान् सुख और अभ्युदय प्रदान रकते हैं। जिस घरमें तुलसीका स्तोत्र लिखा हुआ विद्यमान रहता है, उसका कभी अशुभ नहीं होता, उसका सबकुछ मङ्गलमय होता है, किञ्चित् भी अमङ्गल नहीं होता। उसके लिये सदा सुकाल रहता है। वह घर प्रचुर धन-धान्यसे भरा रहता है। तुलसी-स्तोत्रका पाठ करनेवाले मनुष्यके हृदयमें भगवान् श्रीविष्णुके प्रति अविचल भक्ति होती है। तथा उसका वैष्णवोंसे कभी वियोग नहीं होता। इतना ही नहीं, उसकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं प्रवृत्त होती। जो द्वादशीकी रात्रिमें जागरण करके तुलसीस्तोत्रका पाठ करता है, उसे करोड़ों तीर्थोंके सेवनका फल प्राप्त होता है।

सती सुकला।

कहानी

(ले० श्रीमती सुन्दरी देवी)

काशी नामकी एक बहुत बड़ी पुरी है, जो गङ्गाके तटपर बसी होनेके कारण बहुत सुन्दर दिखाई देती है। उसमें एक वैश्य रहते थे, उनका नाम कृकल था। उनकी पत्नी परमसाध्वी तथा उत्तम-व्रतका पालन करनेवाली थी, उसका नाम सुकला था। वह सदा धर्माचरणमें रत और पतिव्रता थी। सुकलाके अङ्ग पवित्र थे। वह सुयोग्य पुत्रोंकी जननी, सुन्दरी, मङ्गलमयी, सत्यवादिनी, शुभा और शुद्ध स्वभाववाली थी। उसकी आकृति देखनेमें बड़ी मनोहर थी। व्रतोंका पालन करना उसे अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार वह अनेक गुणोंसे युक्त थी। वे वैश्य भी उत्तम वक्ता, धर्मज्ञ, विवेकसम्पन्न और गुणी थे। वैदिक तथा पौराणिक धर्मोंके श्रवणमें उनकी बड़ी लगन थी। उन्होंने तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें यह बात सुनी थी कि तीर्थोंका सेवन बहुत पुण्यदायक है, वहाँ जानेसे पुण्यके साथही मनुष्यका कल्याण भी होता है। इस बात पर उनके हृदयमें बड़ी निष्ठा थी, दैवश ब्राह्मणों और व्यापारियोंका साथ भी मिल गया। इससे वे तीर्थयात्राके लिये तैयार हो गये। उन्हें जाते देख उनकी पतिव्रता पत्नी सुकला पतिके स्नेहसे मुग्ध होकर बोली—

प्राणनाथ! मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ, अतः आपके साथ रहकर पुण्य करनेका मेरा अधिकार है। मैं आपके मार्गपर चलती हूँ। इस सद्भावके कारण मैं आपको अपनेसे अलग नहीं कर सकती। आपकी छायाका आश्रय लेकर मैं पातिव्रत्य के उत्तम-व्रतका पालन करूँगी, जो नारियोंके पापका नाशक और उन्हें सद्गति प्रदान करनेवाला है। जो स्त्री पतिपरायण होती है, वह संसारमें पुण्यमयी कहलाती है। युवतियोंके लिये पतिके सिवा दूसरा कोई ऐसा तीर्थ नहीं है, जो इस लोकमें सुखद और परलोकमें स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला है। साधु-श्रेष्ठ! स्वामीके दाहिने चरणोंको प्रयाग समझिये और बाँयेंको पुष्कर। जो स्त्री ऐसा

मानती है तथा इसी भावके अनुसार पतिके चरणोदकसे स्नान करती है, उसे उन तीर्थोंमें स्नान करनेका पुण्य प्राप्त होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्त्रियोंके लिये पतिके चरणोदकका अभिषेक प्रयाग और पुष्करतीर्थमें स्नान करनेके समान है। पति समस्त तीर्थोंके समान है। पति सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूप है। यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले पुरुषोंको यज्ञोंके अनुष्ठानसे जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य साध्वी स्त्री अपने पतिकी पूजा करके तत्कालप्राप्त कर लेती है। अतः प्रियतम! मैं भी आपकी सेवा करती हुई तीर्थोंमें चलूँगी और आपकी ही छायाका अनुसरण करती हुई लौट आऊँगी।

कृकलने अपनी पत्नीके रूप, शील, गुण, भक्ति और सुकुमारता को देखकर बारबार उसपर विचार किया कि—'यदि मैं अपनी पत्नीको साथ ले लूँ तो मैं तो अत्यन्त दुःखदायी दुर्गम मार्गपर भी चल सकूँगा, किन्तु वहाँ सर्दी और धूपके कारण इस कोमलाङ्गीकी क्या दशा होगी? रास्तेमें कठोर पत्थरोंसे ठोकर खाकर इसके कोमल चरणोंको बड़ी पीड़ा होगी। उस अवस्थामें इसका चलना असम्भव हो जायेगा। भूख-प्याससे जब इसके शरीरको कष्ट पहुँचेगा तो न जाने इसकी क्या दशा होगी! यह मुझको प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है तथा नित्य-निरन्तर मेरे गार्हस्थ्यधर्मका यही एकमात्र सहारा और आधार है। यदि मेरी यह प्राणप्यारी पत्नी मर गयी तो मेरा तो नाश ही हो जायगा। यही तो मेरे जीवनका अवलम्बन है, यही मेरे प्राणोंकी अधीश्वरी है। अतः मैं इसे तीर्थों में नहीं ले जाऊँगा, अकेले ही यात्रा करूँगा।'

ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा—मैं तुम्हारा कभी त्याग नहीं करूँगा। और उससे बिना कहे ही वे चुपकेसे साथियोंके साथ चले गये। महाभाग कृकल बड़े पुण्यात्मा थे, उनके चले जानेपर सुन्दरी सुकला देवाराधनाकी बेलामें पुण्यमय प्रभातके समय जब सोकर उठी, तब उसने अपने स्वामीको घरमें नहीं देखा। फिर तो वह घबड़ाकर उठ बैठी और अत्यन्त शोकातुर होकर रोने लगी। वह साध्वी अपने पतिके साथियोंके पास जा-जाकर पूछने लगी—'महाभागगण! आपलोग मेरे बन्धु हैं, मेरे प्राणनाथ कृकल मुझे छोड़कर कहीं चले गये हैं; यदि आपने उन्हें देखा हो तो बताइये। जिन महात्माओंने मेरे पुण्यात्मा स्वामीको देखा हो, वे मुझे बतानेकी कृपा करें।' उसकी करुणाभरी बात सुनकर जानकार लोगोंने उससे इसप्रकार कहा—'शुभे! तुम्हारे स्वामी कृकल धार्मिक यात्राके प्रसंग से तीर्थसेवनके लिये गये हैं। तुम घबड़ाओ मत, शोक मत करो, भद्रे! वे बड़े-बड़े तीर्थोंकी यात्रा पूरी करके शीघ्रही तुम्हारे पास लौट आयेंगे।'

महात्मा कृकलके बन्धुओंके द्वारा इसप्रकार विश्वास दिलाये जानेपर सती सुकला पुनः अपने घर चली आयी और करुण स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगी। वह पतिपरायणा साध्वी नारी थी। उसने यह निश्चय कर लिया कि 'जबतक मेरे स्वामी लौटकर घर नहीं आयेंगे, तबतक मैं भूमिपर चटाई बिछाकर सोऊँगी। घी, तेल और दूध-दही नहीं खाऊँगी। पान और नमकका भी त्याग कर दूँगी। गुड़ आदि वस्तुओंको भी छोड़ दूँगी। जब तक मेरे स्वामीका यहाँ पुनः आगमन नहीं होगा, तबतक एक समय भोजन करूँगी अथवा उपवास करके रह जाऊँगी।'

इसप्रकार कठिन व्रत लेकर सुकला बड़े दुःखसे

दिन बिताने लगी। उसने एक वेणी धारण करना आरम्भकर दिया। एक ही अंगियासे वह अपने शरीरको ढकने लगी। उसका वेष मलिन हो गया। वह एक ही मलिन वस्त्र धारण करके रहती और अत्यन्त दुःखित हो लम्बी साँस खींचती हुई अपने स्वामीके विरहमें व्याकुल रहा करती थी। विरहाग्निसे दग्ध होनेके कारण उसका शरीर काला पड़ गया। उसपर मैल जम गया। इस तरह कठिन आचारका पालन करनेसे वह अत्यन्त दुबली हो गयी। निरन्तर पतिके लिये व्याकुल रहने लगी। दिन-रात रोती रहती थी। रातको उसे कभी नींद नहीं आती थी और न भूख ही लगती थी।

सुकलाकी यह अवस्था देख उसकी सहेलियोंने आकर पूछा—'सखी सुकला! तुम्हारी ऐसी दशा क्यों हो गयी है? सुमुखि! हमें अपने दुःखका कारण बताओ।'

सुकला बोली—सखियों! मेरे धर्मपरायण स्वामी मुझे छोड़कर धर्मोपार्जन करने गये हैं। मैं निर्दोष, साध्वी, सदाचारपरायण और पतिव्रता हूँ। फिर भी मेरे प्राणाधार मेरा त्याग करके तीर्थ-यात्रा कर रहे हैं; इसीसे मैं दुःखी हूँ। उनके विरहकी अग्निसे मैं दिनरात जला करती हूँ। सखी! प्राण-त्याग देना अच्छा है, किन्तु प्राणाधार स्वामीका त्यागना कदापि अच्छा नहीं है। प्रतिदिनकी यह दारुण वियोग-वेदना अब मुझसे नहीं सहा जाता। सखियों! यही मेरे दुःखका कारण है। मेरे स्वामी-के विरहसे ही मैं कष्ट पा रही हूँ।

सखियोंने कहा—बहिन! तुम्हारे पति तीर्थ-यात्राके लिये गये हैं। यात्रा पूरी होनेपर वे घर लौट आयेंगे। तुम व्यर्थ ही इतना शोक कर रही हो। वृथा ही अपने शरीरको सुखा रही हो। अकारण ही भोगोंका परित्याग कर रही हो। अरी! मौजसे खाओ-पीयो, क्यों कष्ट उठाती हो। कौन किसका स्वामी, कौन किसके पुत्र और कौन किसके सगे-सम्बन्धी हैं? संसारमें कोई किसीका नहीं है। किसी-के साथ भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। सखी! खाना-पीना और मौज उड़ाना, यही संसारका फल है। मनुष्यके मर जानेपर कौन इस फलका उपभोग करता है और कौन उसे देखने आता है।

सुकला बोली—सखियों! तुमलोगोंने जो बात कही है, वह वेदोंको मान्य नहीं है। जो नारी अपने स्वामीसे पृथक् होकर अकेली रहती है उसे पापिनी समझा जाता है। श्रेष्ठपुरुष उसका आदर नहीं करते। वेदोंमें सदा यही बात देखी गयी है कि, पतिके साथ नारीका सम्बन्ध पुण्यके संसर्गसे ही होता है, और किसी कारणसे नहीं। अतः स्त्रीको अपने पतिके साथ रहनेमें ही शोभा, सम्मान और गौरव है। शास्त्रोंका वचन है कि पति ही सदा नारियोंके लिये तीर्थ है। इसलिये स्त्रीको उचित है वह सच्चे भावसे पतिसेवामें प्रवृत्त होकर प्रतिदिन मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा पतिका ही आवाहन करे और सदा पतिका ही पूजन करे। पति स्त्रीका दक्षिण अङ्ग है, उसका बामपार्श्व ही पत्नीके लिये महान् तीर्थ है। गृहस्थ नारी पतिके बामभागमें बैठकर जो दान-पुण्य और यज्ञ करती है, उसका बहुत बड़ा फल बताया गया है, काशीकी गङ्गा, पुष्करतीर्थ, द्वारकापुरी, उज्जैन तथा केदार-नामसे प्रसिद्ध महादेवजीके तीर्थमें स्नानकरनेसे भी वैसा फल नहीं मिल सकता। यदि स्त्री अपने पतिको साथ लिये बिना ही कोई यज्ञ करती है, तो

उसे उसका फल नहीं मिलता। पतिव्रता स्त्री उत्तम सुख, पुत्रका सौभाग्य, स्नान, पान, वस्त्र, आभूषण, सौभाग्य, रूप, तेज, फल, यश, कीर्ति और उत्तमगुण प्राप्त करती है। पतिकी प्रसन्नतासे उसे सब कुछ मिल जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जो स्त्री पतिके रहते हुये उसकी सेवाको छोड़कर दूसरे किसी धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका वह कार्य निष्फल होता है तथा लोकमें वह व्यभिचारिणी कही जाती है। नारियोंका यौवन, रूप और जन्म—सब कुछ पतिके लिये होते हैं; इस भूमण्डलमें नारीकी प्रत्येक वस्तु उसके पतिकी आवश्यकता-पूर्तिका ही साधन है। जब स्त्री पतिहीन हो जाती है, तब उसे भूतलपर सुख, रूप, यश, कीर्ति और पुत्र कहाँ मिलते हैं। वह तो संसारमें परम दुर्भाग्य और महान् दुःख भोगती है। पापका भोग ही उसके हिस्सेमें पड़ता है। उसे सदा दुःख-मय आचारका पालन करना पड़ता है। पतिके संतुष्ट रहनेपर समस्त देवता स्त्रीसे संतुष्ट रहते हैं। ऋषि और मनुष्यभी प्रसन्न रहते हैं। पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओंसहित उसका इष्टदेव और पति ही तीर्थ एवं पुण्य है। पतिके बाहर चले जानेपर यदि स्त्री शृङ्गार करती है तो उसका रूप, वर्ण—सब कुछ भाररूप हो जाता है। पृथ्वीपर लोग उसे देखकर कहते हैं कि वह निश्चय ही व्यभिचारिणी है। इसलिये किसी भी पत्नीको अपने सनातनधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

सती सुकलाके इसप्रकार समझानेपर उसकी सखियोंने भी उसका अनुमोदन किया। इसप्रकार उपरोक्त कठिन नियमोंका पालन करती हुई सुकला अपने दिन बड़े दुःखसे काटने लगी। कुछ महीनों बाद एकपत्नीव्रत धर्मात्मा कृकल सकुशल तीर्थयात्रासे लौटकर आ गये और अपनी पत्नीकी पतिनिष्ठा देख उन्होंने अपनेको धन्य माना। बिना कहे चले जानेका कारण बतलाकर कृकलने अपनी साध्वी पत्नीको आश्वासन दिया और दोनों आनन्दपूर्वक अपने धर्मका आचरण करने लगे।

मनुष्यरूपमें देवता

शास्त्रोंमें देवताओंके लक्षण इसप्रकार कहा है कि—जो द्विज, देवता, अतिथि, गुरु, साधु और तपस्वियोंके पूजनमें संलग्न रहनेवाला, नित्य तपस्यापरायण, धर्मशास्त्र एवं नीतिमें स्थित, क्षमा-शील, क्रोधजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, लोभहीन, प्रिय बोलनेवाला, शान्त, धर्मशास्त्रप्रेमी, दयालु, लोकप्रिय, मिष्टभाषी, वाणीपर अधिकार रखनेवाला, सब कार्योंमें दक्ष, गुणवान्, महाबली, साक्षर विद्वान्, आत्मविद्या आदिके लिये उपयोगी कार्योंमें संलग्न, घी और गायके दूध-दही आदिमें तथा निरामिष भोजनमें रुचि रखनेवाला, अतिथिको दान देने और पार्वण आदि कर्मोंमें प्रवृत्ति रखनेवाला है, जिसका समय स्नान-दान आदि शुभकर्म, व्रत, यज्ञ, देवपूजन तथा स्वाध्याय आदिमें ही व्यतीत होता है, कोई भी दिन व्यर्थ नहीं जाने पाता, वही मनुष्य देवता है। यही मनुष्योंका सनातन सदाचार है। श्रेष्ठमुनियोंने मानवोंका आचरण देवताओंके ही समान बतलाया है।

कर्ममीमांसादर्शन ।

[गताङ्कसे आगे]

इस विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

चेतन और जड़से सम्बद्ध है ॥ ९० ॥

स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टिसे उनका यथाक्रम सम्बन्ध है । एक जड़राज्यव्यापी और दूसरा चेतन-राज्यव्यापी है । इन दोनों कर्मप्रवाहोंमेंसे जो कर्मप्रवाह जड़से चेतन आत्माकी ओर प्रवाहित होता रहता है, वह चेतनराज्यव्यापी प्रवाह है। वह प्रवाह जड़ परमाणुसे चलकर चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न करता हुआ चौरासी लक्ष योनियोंमें जीवका भ्रमण कराकर उसे मानवपिण्डमें पहुँचा देता है, और पुनः आवागमनकी नाना अवस्थाओंमें घूमाकर परमात्मा-रूपी स्वस्वरूपपारावारमें पहुँचा देता है। दूसरा प्रवाह चेतनसे जड़की ओर प्रवाहित रहता है, जो यावत् अनात्मा कहलानेवाली सृष्टिका कारण बनता है। जीवभूतके अतिरिक्त यावत् सृष्टि इस प्रवाहके अन्तर्गत है। कभी कभी जीवगण भी इस प्रवाहके चक्रमें पड़कर दण्डार्ह होकर नीचे उतर जाते हैं, परन्तु वह उतरना केवल सामयिक होता है। यथा—यमलार्जुनका वृक्ष होना, भरतका मृग होना इत्यादि। नहींतो वस्तुतः इस प्रवाहका सम्बन्ध केवल जड़-जगत्से ही रहता है। कर्मके चेतन-प्रवाहमें जीवका जीवत्व तथा दैवी सहायता दोनों ही सहायक रहते हैं। दूसरे जड़प्रवाहमें केवल देवतागण ही सहायक रहते हैं। वे देवता नदी, पर्वत, पञ्चभूत, धातु-रत्नादिकके अधिष्ठातृदेव कहाते हैं। इस प्रकारसे कर्म दो प्रवाहोंमें प्रवाहित होकर विराट्रूपधारी परमात्माके देहको अभिषिक्त करते रहते हैं। ॥९०॥

अब और भी भेद कह रहे हैं—

प्रथम द्विविध है ॥ ९१ ॥

जीवमय जो प्रथम प्रवाह है, उस प्रवाहकी दो शाखाएँ हैं। जिसप्रकार शाखानदियाँ मिलकर एक बड़ी नदी बन जाती है, जैसी गङ्गा और यमुना मिलकर गङ्गा प्रबलता धारण करती है, उसी उदा-हरणके अनुसार जीवमयी यह धारा दो शाखाओंमें प्रवाहित होकर अन्तमें एकही रूपको धारण करके ब्रह्मसमुद्रमें लय हो जाती है ॥ ९१ ॥

इस विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

एक प्राकृतिक और दूसरा स्वतन्त्र है ॥९२॥

इन दोनों शाखाओंका रहस्य स्पष्ट करनेके लिये महर्षि-सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। सहजकर्मसे सम्बन्ध रखने वाली प्राकृतिक जीवधारा और जैवकर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली स्वाधीन जीव-धारा इसप्रकारके दो भेद माने गये हैं। प्राकृतिक जीवधारा उद्भिद् आदिमें प्रकट होकर मनुष्यत्व-प्राप्तिमें पूर्ण गुप्त हो जाती है और पुनः वह जीव-न्मुक्तमें प्रकट होती है और स्वाधीनधारा मनुष्यपिण्ड और दैवपिण्डमें प्रकट होकर आवागमनचक्रमें घूमती हुई पुनः मुक्तिभूमिमें जाकर उसी सहजधारामें लय हो जाती है। वस्तुतः ये दोनों शाखाएँ जीवमय प्रवाहका ही अङ्ग हैं ॥ ९२ ॥

चेतनजड़सम्बद्धो ॥ ९० ॥ द्विविधः प्रथमः ॥ ९१ ॥ प्राकृतिक एकः स्वतन्त्रोऽपरः ॥ ९२ ॥

दोनोंका कार्य्य कहा जाता है—

वे दोनों मुक्ति और बन्धनके निमित्त हैं ॥९३॥

इन दोनोंमेंसे स्वाधीन जीवधारा बन्धनका कारण और प्राकृतिक जीवधारा मुक्तिका कारण होती है। जीव जब क्रमशः अपने पञ्चकोषोंकी पूर्णता सम्पादन करता हुआ मनुष्यत्व प्राप्त करता है, तब वह अपने पिण्डका अधीश्वर बन जाता है। इस स्वाधीनताको लाभ करके वह अपनी नवीन वासनाद्वारा नवीन-कर्म संग्रह करता हुआ आवागमनचक्रको स्थायी रखता है। सुतरां यह धारा बन्धनका कारण बनती है और जो दूसरी धारा है, जो प्राकृतिक नियमके अनुसार स्वाभाविक रूपसे प्रवाहित होती है, वह आवागमनचक्रका भेदन करनेवाली है और वह मुक्तिकी कारण है। जिसप्रकार तरलतरङ्गिणी पतितपावनी गङ्गा वस्तुमात्रको अपने प्रवाहमें प्रवाहित करके महार्णवमें पहुँचा देती है और यदि कोई वस्तु बीचमें उस नदीके घोर आवर्त्तमें फँस जाय, तो भी वह कालान्तरमें उस पदार्थको उस आवर्त्तसे निकलते ही पुनः सरलगतिसे वारिधि तक पहुँचा देती है। इसी उदाहरणके अनुसार यह प्राकृतिक कर्मधारा प्रथम अवस्थामें उद्भिज्जादि जीवोंकी क्रमोन्नति कराती हुई मनुष्ययोनितक पहुँचा देती है और वहाँ उस जीवके आवागमनचक्ररूपी आवर्त्तमें फँस जानेपर भी कालान्तरमें पुनः उसकी मुक्तिका कारण बनती है ॥ ९३ ॥

प्रथमका विशेष परिचय दे रहे हैं—

पहला सरलताके कारण देवरक्षित है ॥९४॥

चैतन्यप्रवाहके दो भेद हैं। प्राकृतिक और स्वतन्त्र। उन दोनोंमेंसे प्राकृतिक अतिसरल होनेसे वह सर्वथा देवरक्षित है। "दैवीमीमांसा" दर्शनमें यह विस्तारित रूपसे सिद्ध हुआ है कि, सहजपिण्डमें प्रत्येक योनिकी सम्हाल करनेवाले अलग अलग देवता हैं। दूसरी ओर जब वह प्रवाह गुप्त अवस्थासे जीवन्मुक्त दशामें पुनः प्रकट होता है, तो जीवन्मुक्त दशामें भी वह प्रवाह देवताओंके द्वारा सुरक्षित हो जाता है। जीवन्मुक्त महापुरुषमें वासनाजाल छिन्न हो जानेसे उनमें स्वकीय इच्छाद्वारा कोई कर्म होता ही नहीं। वे जगत्कल्याणार्थ जो कार्य करते हैं, सो दैवी इच्छाके वशीभूत होकर ही करते हैं। इस स्थलपर शंकासमाधानके लिये कहा जाता है कि, उनमें जो प्रारब्धसंस्कारके वेग हैं, उनको वैसे ही समझना चाहिये, जैसे स्वेदज-अण्डजादि जीव अपनी अपनी प्रकृतिके वश होकर भोगमें प्रवृत्त रहते हैं। जैसे अज्ञानके वशीभूत होकर मनुष्येतर जीव कर्म करते हैं, वैसे ही स्वरूपमें स्थित जीवन्मुक्तगण जैववासनासे सर्वथा रहित होकर प्रारब्धके वेगसे कर्म कर लेते हैं। इस दशामें देवताओंकी सहायता स्वतःसिद्ध है, क्योंकि जड़कर्मके चालक देवतागण हैं। दूसरी ओर जो ईशकोटिके जीवन्मुक्त यदि जगत्कल्याणमें रत होकर क्रियमाणकर्मशीलवत् प्रतीत हों, तो यही समझना उचित है कि, वे दैवीक्रियानिष्पत्तिके लिये भगवत्प्रेरित होकर ऐसा कर रहे हैं ॥ ९४ ॥

दूसरेका विशेष परिचय दे रहे हैं—

मुक्तिबन्धननिमित्ते ॥ ९३ ॥

आद्यो देवरक्षितः सारल्यात् ॥ ९४ ॥

वैपरीत्यके कारण दूसरा विभूतिद्वारा सुरक्षित होता है ॥ ९५ ॥

सकाम होनेसे बहुशाखायुक्त स्वाधीन प्रवाहमें जैवकर्मका अनन्त विस्तार होनेके कारण उसके संरक्षणमें देवताओंकी सहायता रहती है; क्योंकि देवता कर्मके संचालक और कर्मफलदाता हैं। तथापि मनुष्यपिण्डमें ही उत्पन्न भगवद्विभूतियोंके द्वारा उसकी सदसद्व्यवस्था हुआ करती है। प्राकृतिक प्रवाह जिसप्रकार एकरसयुक्त है, यह स्वाधीन प्रवाह इसप्रकार नहीं है। जीवकी वासना देवी-माहात्म्यमें कथित रक्तबीजके सदृश विस्तारकारी होनेके कारण वह बहुशाखासे युक्त है और अनन्त है। कर्म जड़ होनेके कारण प्रेरकत्व और कर्मफल-दातृत्वके विचारसे सर्व अवस्थामें गौणरूपसे दैवी सहायता होनेपर भी स्वाधीन प्रवाहमें विभूतियोंकी सहायताकी प्रधानता है; क्योंकि इसमें जैववासना-का प्राधान्य रहनेके कारण और दैवीसहायताकी गौणता रहनेके कारण मनुष्यलोकमें ही उत्पन्न विभूतियोंके द्वारा ही इसका संरक्षण आवश्यक है। साधारण मनुष्यसे इतर चतुर्विध भूतसङ्घमें तथा आगे पहुँचकर जीवन्मुक्तोंमें केवल प्रकृतिका वेग ही कर्म कराता है, इस कारण वहाँ प्रवाहमें सारल्य है। परन्तु स्वाधीन प्रवाहमें प्रत्येक जीव अपनी स्वाधी-नतासे सदसत् संस्कार संग्रह करता है और वासना-जालको बढ़ाता रहता है इस कारण बहुशाखासे युक्त होनेसे वह विपरीत भावापन्न अर्थात् जटिल है। मनुष्यके स्वाधीनताका अवलम्बन करनेसे देवताओंकी दृष्टि गौण हो जाती है और उस प्रवाहको सुधारनेके विषयमें उनकी उपेक्षा रहती है। सुतरां ऐसी दशामें सर्वशक्तिमान् सर्वहितमें निरत ईश्वरकी इच्छाके अनुसार उनके जगत्हितकारी नियमको अवलम्बन करके गृहपति, समाजपति, गुरु, आचार्य्य, राजा आदि विभूतिद्वारा वह प्रवाह सुरक्षित रहता है। इसीकारण मनुष्य-समाजमें राजानुशासन, शब्दानुशासन और योगा-नुशासनरूपी त्रिविध अनुशासनकी आवश्यकता रहती है ॥ ६५ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

कर्म जड़ होनेके कारण दैवापेक्ष्य है ॥ ९६ ॥

पहले कर्मके तीन विभाग, तदनन्तर जैवकर्मकी दो श्रेणियाँ और उनमें दैवी सहायताकी मुख्यता और गौणताका विचार इत्यादि देखकर जिज्ञासुके हृदयमें नाना प्रकारकी शंकाएँ हो सकती हैं; उन सब शंकाओंको दूर करनेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्र-कार कह रहे हैं कि, दैवी सहायताकी कहीं मुख्यता और कहीं गौणताका विचार रहनेपर भी सिद्धान्ततः सब कर्मके मूलमें दैवी सहायताकी आवश्यकता रहती है। वस्तुतः कर्म जड़होनेके कारण उसके मूलमें चेतनसत्ताकी आवश्यकता है। जो दार्शनिक यह युक्ति देते हैं कि, चेतनकी सहायताके बिना कर्म कार्य्यकारी होता है, उनकी यह युक्ति भ्रमात्मक है। जड़पदार्थ अथवा जड़शक्ति बिना चेतनकी सहायता-के नियमितरूपसे कार्य्यकारी नहीं हो सकती। क्योंकि जड़की शृंखला बिना चेतनके संसाधित नहीं हो सकती है। उदाहरणके रूपमें समझ सकते हैं कि, कोई जड़शक्ति यद्यपि अपने आप कार्य्यकारी

विभूत्या रक्षितोऽपरो वैपरीत्यात् ॥ ९५ ॥

तद्दैवापेक्ष्यं जड़त्वात् ॥ ९६ ॥

होती हुई दिखायी देती है, यथा,—चुम्बककी लोहाकर्षण शक्ति, आतसी कंचकी अग्निप्रदायिका शक्ति, मेघकी वज्रनिपातकी शक्ति इत्यादि, तथापि ये सब शक्तियाँ क्रियाशील होनेपर भी जबतक उनके मूलमें कोई बुद्धिजीवी चेतनशक्ति न हो, तबतक उनसे शृंखलाबद्ध कार्य्य कदापि नहीं होगा। और व्यवस्था तथा शृंखला न रहनेसे उनके उपयोगका कुछभी मूल्य नहीं हो सकता है। अतः लौकिक जड़शक्ति जब बुद्धिजीवी मनुष्यद्वारा चालित हो, अलौकिक समष्टिजड़शक्ति जब अलौकिक देवता आदि द्वारा चालित हो, तभी उनका सदुपयोग हो सकता है। इसी उदाहरणके अनुसार यह मानना ही पड़ेगा कि, जड़शक्तिसम्पन्न कर्म जबतक चेतनशक्तिसम्पन्न देवतागण अथवा सर्वशक्तिके आधार सगुणब्रह्मके द्वारा चालित न हो, तबतक उसका सदुपयोग असम्भव है। अतः यह सिद्ध हुआ कि कर्म जड़ होनेसे वह चेतनकी सहायताकी अपेक्षा रखता है ॥ ९६ ॥

सहजकर्मके सम्बन्धसे कह रहे हैं—

सहज कर्म प्रकृतिके अधीन है ॥ ९७ ॥

सहजकर्मका विस्तारित स्वरूप पहले कहा गया है। वस्तुतः प्रकृतिके त्रिगुणतरङ्गके सहजात होनेके कारण इसका नाम सहजकर्म है। सब सहजकर्म प्रकृतिसहजात हैं, तो वे प्रकृतिके अधीन हैं यह स्वतःसिद्ध है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, सहजकर्मसे चिज्जड़ग्रन्थिसे उत्पन्न जीव अपने आपही उद्भिज्जसे स्वेदजादिमें होता हुआ मनुष्ययोनि तक पहुँच जाता है। सहजकर्मकी इस गतिका और कोई विशेष जीवेप्सित कारण नहीं है; केवल प्रकृतिकी स्वाभाविक गतिसे अपने आपही ऐसा होता है। प्रकृति तरङ्गायित होकर जब तमकी ओर से सत्त्वकी ओर चलती है, तब यह क्रिया स्वतः होती जाती है ॥ ९७ ॥

पूर्वप्रसङ्गसे इसका फल कह रहे हैं—

इस कारण दैव साहाय्यापेक्ष्य है ॥ ९८ ॥

सहजकर्म जब सम्पूर्णरूपसे प्रकृतिके अधीन है और उसकी क्रियाके साथ जैववासनाका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो यही मानना पड़ेगा कि, वह सम्पूर्णरूपसे देवताओंकी सहायताकी अपेक्षा रखता है। जब कर्ममात्र ही जड़ होनेसे कोई न कोई चेतनशक्तिकी अपेक्षा कर्मको रहती है और जब यह प्रमाणित हुआ है कि, सहजकर्मके साथ जैववासनाका कोई भी सम्बन्ध नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि, देवताओंकी सहायता सहजकर्मकी फलोत्पत्तिमें अवश्य रहना सम्भव है। कर्मके संचालित करनेमें या तो पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्यकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिकी अपेक्षा रहती है अथवा देवताओंकी इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्तिकी उपेक्षा रहती है और जब यह सिद्ध हुआ कि, सहजकर्ममें मनुष्य-इच्छाकी कोई अपेक्षा नहीं है, तो अवश्य ही वह दैवीसहायता सापेक्ष्य है, यह मानना ही पड़ेगा ॥ ९८ ॥

अब जैवकर्मके सम्बन्धसे कह रहे हैं—

जैव जीवके अधीन है ॥ ९९ ॥

जैवकर्मके मूलमें पूर्णावयव जीवकी इच्छाशक्ति कार्य्यकारिणी है इस कारण वह जीवके अधीन है,

---

सहजमायत्तं प्रकृतेः ॥ ९७ ॥ तस्माद्दैवसाहाय्यमपेक्ष्यम् ॥ ९८ ॥ जैवं जीवनिघ्नम् ॥ ९९ ॥

ऐसा मानना पड़ेगा। मनुष्यका चाहे प्रारब्ध-संस्कार हो, चाहे क्रियमाण-संस्कार हो और चाहे संचितसंस्कार हो, सभी मनुष्य-वासना-सम्भूत हैं और उस संस्काररूपी बीजका वृक्षरूपी जैवकर्म भी मनुष्य-वासना-सम्भूत है, यह मानना पड़ेगा। अतः जैवकर्म जीवेच्छाके अधीन है, यह सिद्ध हुआ ॥ ९९ ॥

प्रसंगसे इसका दैवसम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

इसकारण देवताओंका अर्द्ध-साहाय्यापेक्षी है ॥ १०० ॥

सहजकर्मके साथ जिसप्रकार देवताओंकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति दोनोंकी अपेक्षा रहती है, जैवकर्ममें वैसा नहीं होता है। जैवकर्ममें केवल देवताओंकी क्रियाशक्तिकी सहायता अपेक्षित होनेसे उसमें देवताओंकी आधी सहायताकी अपेक्षा है, ऐसा कहना पड़ेगा। जैवकर्मका जब संस्कार संग्रह होता है, वह अवश्यही जैववासनासे होता है। इसकारण उसमें जीवकी इच्छाशक्तिका सम्बन्ध होनेसे जैव-कर्ममें जीवका सम्बन्ध अवश्य आधा है, यह सिद्ध है। दूसरी ओर जब कर्मके फलदाता देवतागण हैं, तो यह भी सिद्ध हुआ कि, देवताओंकी क्रियाशक्ति उसमें अपेक्षित है अतः देवताओंका आधा सम्बन्ध जैवकर्मके साथ रहता है ॥ १०० ॥

अब स्थूलप्रपंचमें कर्मका सम्बन्ध दिखा रहे हैं—

कर्मके द्वारा स्थूलसम्बन्धयुक्त आकर्षण और विकर्षणशक्ति उत्पन्न होती है ॥१०१॥

कर्मके प्रभावसे ही स्थूलप्रपंचमें आकर्षण और विकर्षणशक्तिका आविर्भाव होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुसे लेकर बृहत्से बृहत् ग्रह उपग्रह पर्य्यन्त सबमें जो आकर्षण विकर्षण शक्ति है, वह कर्म-जनित है। स्थूलप्रपंचके सब स्थानोंमें दो शक्तियाँ प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। उनसे तीन अवस्थाएँ बनती हैं। एक आकर्षणकी अवस्था, दूसरी विकर्षणकी अवस्था और तीसरी दोनोंके समन्वयकी अवस्था। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, बालुके परमाणु परस्परमें आकर्षित होकर कंकर या पत्थर बनता है। यह बननेकी अवस्था आकर्षणकी अवस्था है। जब उनमें नोना लगकर परमाणु अलग अलग हो जाते हैं, तब विकर्षणकी दशा होती है और बीचकी दशामें जब आकर्षण और विकर्षणका समन्वय रहता है, वही स्थितिकी अवस्था तीसरी है। ये दोनों शक्तियाँ और ये तीनों अवस्थाएँ सब समष्टि और व्यष्टिकर्म-जनित हैं ॥ १०१ ॥

प्रसंगसे इन दोनों शक्तियोंका गुणके साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है—

दोनों रजस्तमोमूलक हैं ॥ १०२ ॥

इस त्रिगुणात्मक प्रपञ्चका सब अंग-उपांग त्रिगुणसे रहित नहीं है। जब संसार प्रपंचकी मूल-कारण मूलप्रकृति त्रिगुणात्मिका है, तो उससे उत्पन्न सब प्रपञ्च भी त्रिगुणात्मक हैं। उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार आकर्षण विकर्षण दोनों शक्तियोंमेंसे आकर्षण रजोगुण-सम्भूत और विकर्षण तमोगुण-सम्भूत है, ऐसा समझना चाहिये। प्रपंच-की तीनों अवस्थाएँ देखनेसे ऐसा ही सिद्ध होता है।

अतस्तदर्द्धम् ॥ १०० ॥ कर्मणाकर्षणविकर्षणे स्थूलसम्बद्धे ॥ १०१ ॥ रजस्तमोमूलकमुभयम् ॥ १०२ ॥

जब परमाणु परमाणु परस्परमें आकर्षित होते हैं, वही भगवान् ब्रह्माका सृष्टि-कार्य्य है, वह अवश्य ही रजोगुणजनित है। जब दोनों शक्तियाँ बराबरकी रहती हैं, उसी दशामें भगवान् विष्णुका स्थितिकार्य्य समझने योग्य है। स्थिति-अवस्था अवश्य ही सत्त्वगुणात्मक है और तीसरी अवस्था वह है, जब परमाणुओंमें विकर्षण होकर परमाणु अलग अलग हो जाते हैं, यह भगवान् रुद्रका कार्य्य तथा तमोगुणात्मक है। सुतरां, आकर्षणशक्ति राजसिक और विकर्षणशक्ति तामसिक है ॥ १०२ ॥

अब सूक्ष्मप्रपंचमें उसका सम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

सूक्ष्ममें रागद्वेष है ॥ १०३ ॥

जैसे स्थूल प्रपंचमें आकर्षण विकर्षण है, वैसेही सूक्ष्म प्रपंचमें रागद्वेष है। वृत्तिराज्यमें रागजनित सब वृत्तियाँ रजोगुणसम्भूत हैं और द्वेषजनित सब वृत्तियाँ तमोगुणसम्भूत हैं। बहिर्जगत्में जैसा आकर्षण विकर्षण शक्तियाँ हैं, अन्तर्जगत्में भी ठीक वैसी ही रागद्वेषजनित वृत्तियाँ हैं। देखने में भी ऐसा ही आता है कि, रागमें एकका दूसरेमें आकर्षण है और द्वेषमें एकका दूसरेसे विकर्षण है। मित्रोंके परस्परमें राग रहनेसे एक दूसरेकी सब बातें खिंचती हुई होती हैं और उपादेय लगती हैं। उसी प्रकार शत्रुओंमें द्वेष रहनेसे एक दूसरेकी सब बातें चित्तको धक्का देनेवाली होती हैं और हेय प्रतीत होती हैं ॥ १०३ ॥

उसका प्रधान फल कहा जाता है—

वे सृष्टि और लयमूलक हैं ॥ १०४ ॥

चाहे अन्तर्जगत्में हो, चाहे बहिर्जगत्में हो, इन दोनों शक्तियोंमें एक सृष्टिके लिये है और दूसरी लयके लिये है। बहिर्जगत्में आकर्षण सृष्टिके लिये है और अन्तर्जगत्में राग सृष्टिके लिये है, दूसरी ओर बहिर्जगत्में विकर्षण प्रलयके लिये है और अन्तर्जगत्में द्वेष लयके लिये है। सृष्टि और लयके मूलमें सर्वस्थानोंमें और सर्व अवस्थाओंमें यही मूल-तत्त्व विद्यमान है। स्थूलजगत्में परमाणुसे लेकर ग्रह उपग्रह पर्यन्तमें जब आकर्षण क्रिया होती है तब सृष्टि उत्पन्न होती है और जब विकर्षणक्रिया होती है, तब प्रलय हो जाता है। सृष्टि होतेसमय परमाणु परमाणु खिंचकर, पंचतत्त्वात्मक नाना प्रकारकी स्थूल सृष्टि बनाते हैं। ग्रह-उपग्रह आदि भी ऐसे ही बनते हैं। ब्रह्माण्डका प्रलय होते समय अथवा प्रस्तर, लौह आदि स्थूलपदार्थोंका लय होते समय परस्परमें मिले हुए परमाणु अलग अलग हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि, स्थूल प्रपञ्चमें आकर्षण सृष्टिका कारण है और विकर्षण प्रलयका कारण है। उसी प्रकार अन्तर्जगत्में विचार करनेसे पाया जायगा कि, राग सृष्टिका हेतु है और द्वेष प्रलयका हेतु है। रागके कारण ही प्रवृत्ति होती है, रागके कारण ही पिता, पुत्र, पति, स्त्री आदिका सम्बन्ध स्थित रहताहै रागके कारण ही स्त्री-पुरुषजनित सृष्टि उत्पन्न होती है। सिद्धान्त यह है कि, राग प्रवृत्तिका हेतु है और प्रवृत्ति सृष्टिका हेतु है। उसी प्रकार द्वेषके कारण प्रवृत्तिसे अरुचि होती है, द्वेषके कारण ही विषयसे साधकको वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्यसे मुक्तिका द्वार उद्घाटित

सूक्ष्मसम्बद्धौ रागद्वेषौ ॥ १०३ ॥

सर्गविसर्गनिमित्तम् ॥ १०४ ॥

होता है। तब विषयोंमें द्वेषसे प्रवृत्तिका नाश होकर निवृत्तिका उदय होता है और निवृत्तिसे विषयका त्याग होकर लयक्रियाकी सार्थकता होती है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि, इन दोनों शक्तियोंमेंसे एक सृष्टिकी हेतु है और दूसरी लयकी हेतु है ॥१०४॥

प्रसंगसे सृष्टि और लयका नैसर्गिकत्व सिद्ध किया जाता है—

अतः सृष्टि और लय स्वाभाविक हैं ॥१०५॥

जब ब्रह्मप्रकृति त्रिगुणात्मिका है और जब प्रकृतिके रज और तमके द्वारा ही पूर्वकथित द्विविध शक्तियोंका उदय होकर सृष्टि और लयकी क्रिया संसाधित होती है, तो यह स्वतःसिद्ध है कि, सृष्टि और लय स्वाभाविक हैं। जब ब्रह्म नित्य है, उसकी प्रकृति भी नित्य है, जब प्रकृति नित्य है, तो प्रकृतिके तीन गुण भी नित्य हैं, और जब तीन गुण स्वाभाविक और नित्य हैं, तो उन तीन गुणोंमेंसे रज और तमकी क्रिया भी स्वाभाविक होगी। अतः रजोगुणकी सृष्टिक्रिया और तमोगुणकी लयक्रिया भी स्वाभाविक है, इसमें सन्देह नहीं ॥१०५॥

अब सत्त्वगुणके उदयका विज्ञान कह रहे हैं—

दोनोंकी समतामें सत्त्वगुणका उदय होता है ॥१०६॥

जब रजोगुण और तमोगुणका समन्वय रहता है, तब सत्त्वगुणका उदय होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, जब बहिर्जगत्में आकर्षण और विकर्षणशक्तिका समान अधिकार रहता है, अर्थात् न आकर्षणशक्ति अधिक बढ़ने पाती है, न विकर्षणशक्ति अधिक बढ़ने पाती है, ऐसी दशामें सत्त्वगुणका उदय होता है और यही जगत्की स्थिति-अवस्था है। स्थूलजगत्में आकर्षण-विकर्षणादि एक दूसरेको आकर्षणभी करते हैं और धक्का भी देते हैं। क्योंकि ये दोनों शक्तियाँ स्वाभाविक हैं। परन्तु जबतक आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति इन दोनोंमें से कोई भी अधिक बढ़ने नहीं पाती और बराबर रहती है, तबतक ग्रह-उपग्रहगण अपनी अपनी कक्षामें वर्त्तमान रहते हैं और यही स्थितिकी अवस्था है। इसीप्रकार अन्तर्जगत्में जब राग और द्वेषका समन्वय रहता है, तभी वह सत्त्वगुणकी अवस्था है और वही विश्वधारक धर्मका पूर्णाधिकार है ॥ १०६ ॥

उसका फल कहा जाता है—

अतः स्थितिमूलक है ॥ १०७ ॥

रजोगुणसे सृष्टि, तमोगुणसे लय और सत्त्वगुणसे स्थिति हुआ करती है। अतः जब यह सिद्ध हुआ कि, उभयशक्तियोंके समन्वयसे ही सत्त्वगुणका उदय होता है, तो यह भी सिद्ध हुआ कि, उभयशक्तियोंकी साम्यावस्थासे ही स्थिति होती है। रज और तम इन द्विविध शक्तियोंके समन्वयसे ही सात्त्विकशक्ति प्रकट होती है और वही सात्त्विकशक्ति बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्, स्थूल और सूक्ष्म तथा ब्रह्माण्ड और पिण्ड सब स्थानोंमें स्थिति उत्पन्न करती है ॥ १०७ ॥

प्रसंगसे धर्मके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया जाता है—

तावतो नैसर्गिकौ ॥ १०५ ॥ उभयसाम्ये सत्त्वम् ॥ १०६ ॥ स्थितिमूलमतः ॥ १०७ ॥

वह धर्मकी प्रतिष्ठाका स्थान है ॥ १०८ ॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, सत्त्वगुण-वर्द्धक यावत् क्रियाही धर्म कहाती है। सत्त्वगुणकी क्रमाभिवृद्धि ही धर्मका मूल है। अतः जब उभय-शक्तियोंके समन्वयसे ही सत्त्वगुणका उदय होता है तो, यह मानना ही पड़ेगा कि, यह अवस्था ही धर्मकी प्रतिष्ठाका स्थान है। जहाँ जहाँ रज-तम-मूलक उभयविध शक्तियोंका समन्वय होता है, वहीं धर्मका उदय बना रहता है। यद्यपि राजसिकधर्म और तामसिकधर्मभी मुख्य और गौण विचारसे कहे जाते हैं, परन्तु वह अधिकार त्रिगुणविचारसे निर्णय किया जाता है; अर्थात् सत्त्वमूलक धर्मके ही वे तीनों अवान्तर भेद हैं। वस्तुतः धर्मकी प्रतिष्ठाका स्थान पूर्वकथित द्विविध शक्तियोंके समन्वयसे उत्पन्न सत्त्वगुण ही है ॥ १०८ ॥

दूसरा सम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

वह विद्याका क्षेत्र है ॥१०९ ॥

विद्याका स्वरूप पहलेही भलीभाँति कहा गया है। विद्या जब ज्ञानजननी है और विद्या जब सत्त्वगुणमयी है, तो विद्याका क्षेत्र रज और तमकी शक्तियोंके समन्वयसे उत्पन्न शुद्धसत्त्व ही होगा, इसमें सन्देह ही क्या है। साधकमें जितना सत्त्व-गुणका अधिकार बढ़ता जायगा, उतनी ही उसमें विद्यादेवीकी ज्योति विकसित होती जायगी। सत्त्वगुणको बढ़ाना ही विद्यादेवीकी कृपा प्राप्त करना है। सत्त्वगुणकी अभिवृद्धिके साथ ही साथ मल, विक्षेप और आवरणका नाश होकर वह क्षेत्र विद्यादेवीके अधिष्ठानके उपयोगी बन जाता है ॥ १०९ ॥

और भी सम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

कैवल्यकारण भी है ॥ ११० ॥

रज और तमके समन्वयसे उन दोनोंको अभिभूत करके जब सत्त्वगुणकी प्रतिष्ठा होती है, वही सत्त्व-गुणकी प्रतिष्ठाकी अवस्था जैसी धर्मप्रकाशक है और जैसा विद्याका क्षेत्र है, उसीप्रकार वह कैवल्यप्राप्तिका कारण भी है। रज और तमको दूर करके जितना जितना सत्त्वगुण मुमुक्षुमें बढ़ता जाता है, उतना ही वह अधिकसे अधिक धर्मात्मा होता हुआ आत्मज्ञान-की अभिवृद्धि करता हुआ ज्ञानजननी-विद्याकी कृपा प्राप्त करता है और क्रमशः तत्त्वज्ञानकी उन्नति करता हुआ कैवल्यपदका अधिकारी बन जाता है। अतः पूर्वकथित स्थिति कैवल्यका भी कारण है ॥ ११० ॥

(क्रमशः)

भावी

राजतिलक टल गया वहाँ थी बदी खाक जङ्गलकी।
बिखरी श्री छप्पर फटकर मिल गई विभूति महल की ॥
आशा-आशा बुझे प्राण था सपना किन्तु सफल है।
भावी तेरे खेल अनोखे कौन जानता कलकी ॥

मोहन वैरागी

प्रतिष्ठास्थानं धर्मस्य ॥ १०८ ॥ विद्याक्षेत्रम् ॥ १०९ ॥ कैवल्यकारणं च ॥ ११० ॥

महापरिषद् सम्वाद

आर्यमहिला-महाविद्यालयमें गत १५ अगस्तको प्रातःकाल १०॥ बजे नगरपालिकाके अध्यक्ष और काशीके नामाङ्कित रईस श्रीमान् राय गोविन्दचन्दकी अध्यक्षतामें बड़े समारोहके साथ स्वतन्त्रतादिवस मनाया गया। कार्यक्रम भगवत्प्रार्थनासे प्रारम्भ हुआ। छात्राओंके ललित संगीत, नृत्य, वाद्य आदि के अनन्तर अध्यक्षने अपने भाषणमें महात्मा गान्धीको श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, जिनके नेतृत्वमें देश स्वतन्त्र हुआ। उपस्थित विशिष्ट व्यक्तियोंमें श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढनढनिया, श्रीमान् सेठ नन्दलाल भुवालका, श्रीमङ्गलाप्रसाद सिंह, सेठ शिवकुमार भुवालका, पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा, श्रीमान् पं० रामशंकरजी वैद्य, लाला बालादीन आदिके नाम उल्लेखनीय है। छात्राओं द्वारा "वन्दे मातरम्" गानके बाद उत्सव समाप्त हुआ।

श्री आर्यमहिला-महाविद्यालय इन्टरकालेजमें गत ४ सितम्बरको श्रीकृष्णजन्माष्टमीका महापर्व छात्राओंने बड़े उत्साहके साथ मनाया। इस अवसर हिन्दूजगत्के हृदयसम्राट् पूज्यपाद श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजका पदार्पण हुआ था। वैदिक पण्डितोंद्वारा श्रीमहाराजका विधिवत् पूजन हुआ। अनन्तर मङ्गलाचरणसे कार्यारम्भ हुआ। छात्राओं द्वारा 'कालियदमन' 'विप्रपत्नीपर कृपा आदि अभिनय तथा राधाकृष्णनृत्य एवं मीराके भजन बड़े मनोहारी थे। अन्तमें पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजी महाराजका प्रवचन हुआ।

श्री महाराजने कहा कि भगन्नाम स्मरण करते हुए स्वधर्ममें निष्ठा, अधर्मसे निवृत्ति, परस्पर सद्भावना हो तो व्यष्टि समष्टि सबका कल्याण होता है। भगवान् धर्मकी रक्षा एवं अधर्माभ्युत्थान मिटानेके लिए निर्गुण निराकार भगवान् व्रजेन्द्रनन्दके रूपमें अवतार लेते हैं। जैसे किसी भी व्यवहारके लिए प्रखर प्रकाश आवश्यक है वैसे ही सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, अन्ताराष्ट्रीय व्यवहार चलाने, लौकिक, पारलौकिक अभ्युत्थान एवं उनके साधनोंमें ज्ञानके लिए भी शास्त्र अपेक्षित होता है। संसारमें अपने मातापिताका परिज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणसे नहीं किन्तु शब्दप्रमाणसे ही होता है। अनुमान प्रमाणमें पशु बन्दर आदि भी चतुर हैं। रोटी देखकर प्रवृत्त होना और दण्डा देखकर भागना वह भी जानता है। जो प्रत्यक्षानुमानाश्रिता मतिकी गतितक ही तत्त्व मानते हैं उनकी गणना बानरोंसे अधिक नहीं की जा सकती। किसी भी कार्यके औचित्य-अनौचित्यको समझनेके लिए काम-क्रोध-लोभादिका वेग रोकना एवं बुद्धिकी शान्तता अपेक्षित होती है। वेगको रोकनेका एकमात्र साधन धर्म है। इसलिए गीताकारने कर्त्तव्यका निर्णय शास्त्रद्वारा सम्पादन करना बतलाया है। धार्मिक व्यवस्थाकी रक्षाके लिये ही भगवान्का अवतार होता है। मात्स्य न्यायकी दुरवस्था दूर करनेके लिए शासन अपेक्षित होता है। जबसे नियम्य तभीसे नियामक और तभीसे नियन्त्रणका विधान होना चाहिये। इसीलिये अनादिजीवजगत्के कल्याणके लिए अनादि परमात्माका विधानभी अनादि होना चाहिये। वही परमेश्वरीय विधान वेद है। भाई-बहनकी शादीके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय प्रत्यक्षानुमानके

आधारपर नहीं किया जा सकता। वह तो शास्त्र-द्वारा ही जाना जा सकता है। धर्मकी रक्षाके लिए भगवान्का अवतार होनेपर उनकी बड़ी रोचक लीला होती है। सिनेमा आदि उसकी सोलहवीं कला भी नहीं हो सकते। विधि-निषेध साधनमें होता है, फलमें नहीं। भगवान् कृष्ण फल हैं, साधन नहीं। समाजवादी या धर्मनिरपेक्षतावादी लोग रोटी-कपड़ेकी व्यवस्था कर लेनेमें ही अपनी इति-कर्तव्यताकी समाप्ति मानते हैं पर वह भी उचित न हो सकी। गोचर-भूमि जोती गयी अन्न उत्पादनके लिए तो दैवी कोप ऊपरसे आ गया। बिना धार्मिक व्यवस्थाके सबकी रक्षाकी गारण्टी केवल लौकिक साधनोंके ऊपर देना शास्त्रज्ञोंकी दृष्टिमें इससे बढ़कर मूर्खता और कोई नहीं। जिन लोगोंने समाचार-पत्र, रेडियो आदिके समाचारका गम्भीर अध्ययन किया है, वे समझते हैं इधर हिटलरके समान शक्ति-संग्रह करने वाला विजयपर विजय प्राप्त करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं हुआ। परन्तु प्रकृति विरोधके कारण उसका भी घोर पतन हुआ। लोग कहते हैं कि भारत दिनरात मरने जीनेकी चिन्तामें रहता, इसे इस लोककी चिन्ता ही नहीं रहती, किन्तु बात ऐसी नहीं है। शास्त्रोंने कहा है कि विद्या और अर्थका सञ्चय अपनेको अजर अमर समझकर करना चाहिये। प्रतिदिन कमाना प्रतिदिन खाना यह कोई अच्छी स्थिति नहीं। स्वस्थताका सुख स्वस्थ प्राणीको अनुभूत नहीं होता किन्तु बीमार होनेपर बीमारी निवृत्त होनेपर अनुभूत होता है। अतः रोग पैदाकर रोगनिवृत्ति द्वारा स्वस्थताका आनन्द लेना भारतीय पद्धति नहीं। किन्तु भारतीय पद्धति तो वह है कि एकबार इतना कमाया जाय कि फिर कमाना न पड़े। अर्थका गौण प्रयोजन भोग, मुख्य प्रयोजन धर्म एवं धर्मका गौण प्रयोजन अर्थ एवं मुख्य फल भगवत्प्राप्ति है। इसीतरह कामका भी अन्तिम तात्पर्य भगवत्प्राप्ति है। भगवल्लीलाका चिन्तन भवरोगका औषध होते हुये भी अत्यन्त मधुर है। पिता एवं आचार्य-पुत्र एवं शिष्यको पवित्र नहीं बना सकता। केवल माता ही पुत्रको योग्य एवं पवित्र बना सकती है। स्त्रियोंको पुरुषोंकी बराबरीका दर्जा देना उनका अपमान करना है पतन करना है। पिताकी अपेक्षा हजार गुना बड़ा दर्जा माताका मनुने बताया है। भारतमें १६, १७ करोड़ पुरुषोंने तलवार बन्दूक चलाकर यदि कोई चमत्कार पूर्ण कार्य नहीं किया तो दो चार करोड़ स्त्रियाँ ही बन्दूक चलाकर क्या कर लेंगी? वे तो घरकी चहारदिवारीके भीतर रहकर एक हरिश्चन्द्र रामचन्द्र जैसा पुत्र पैदा कर दें तो देशका मुख उज्वल कर सकती हैं। यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है। यदि बुद्धि शास्त्रानुसारिणी होंगी तो उसीसे माताएँ पतिव्रता होंगी, धर्मकी रक्षा अधर्मकी निवृत्ति होगी, देश एवं विश्वका कल्याण होगा।

अनन्तर भगवान्की पूजा आरती और प्रसाद वितरणके पश्चात् समारोह समाप्त हुआ। विद्यालयका हाल नर-नारियोंसे इतना भरा था, कि पीछे आने-वाले सैकड़ों व्यक्तियोंको बाहर ही खड़े रहना पड़ा उपस्थित विशिष्ट सज्जनोंमें लखनऊ विक्रमाजीत-काटनमिलके श्रीमान् रणजीत सिंह जी, श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढनढनिया, श्रीमान् सेठ नन्दलाल झुवालका, श्रीमान् जी० डी० माथुर, बा० देवी नारायणजी आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्‌की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्‌के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीखतक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ़ करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, १/२ पृष्ठ	१२)	,,
,, १/४ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

वाणी-पुस्तकमाला

का

अद्वितीय दार्शनिक प्रकाशन

श्रीभगवद्गीता

गीता-तत्त्व-बोधिनी टीका-सहित

(दो भागोंमें सम्पूर्ण)

लोकप्रसिद्ध श्रीभगवद्गीताके गूढ़ दार्शनिक तत्त्वोंको अत्यन्त सरलतासे समझनेके लिये गीता-तत्त्व-बोधिनी टीकासे बढ़कर अभीतक गीताकी कोई दूसरी टीका प्रकाशित नहीं हुई है।

पूज्यपाद श्री १९०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके वचनामृतद्वारा गीताके गूढ़ रहस्योंको समझनेके लिये गीताकी प्रस्तुत टीका एक अनुपम साधन है। अवश्य अध्ययन कीजिये और आध्यात्मिक आनन्द तथा शान्ति प्राप्त कीजिये। साथ ही ऐसे अमूल्य ग्रन्थरत्नके संग्रहद्वारा अपनी पुस्तकालयकी शोभा बढ़ाइये। आज ही एक प्रतिका आर्डर भेजिये। अन्यथा प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; थोड़ी प्रतियाँ ही छपी हैं।

मूल्य सम्पूर्ण प्रतिका ७॥)

प्राप्तिस्थान :—

व्यवस्थापक

श्रीवाणी-पुस्तकमाला

महामंडल भवन

जगतगञ्ज, बनारस कैन्ट।

आर्य-महिला

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका आर्यमहिला-महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको विना मूल्य दी जाती है। महापरिषद्की साधारण सदस्यताका चन्दा ५) वार्षिक है। ५) रुपया वार्षिक देकर आप महापरिषद्का साधारण सदस्य बनकर भारतीय पवित्र संस्कृतिके अनुसार नारीजातिकी शिक्षा, रक्षा और उन्नतिके पुण्य-कार्यमें हाथ बटा सकते हैं, साथही 'आर्य-महिला' पत्रिकाके सुन्दर सत्साहित्यसे अपने घरको सुन्दर शान्ति-सुखमय बना सकते हैं। आज ही मनिआर्डर से ५) रुपया भेजकर महापरिषद्का सदस्य बनिये।

व्यवस्थापक—

आर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्

प्रधान कार्यालय

महामण्डल भवन, बनारस कैन्ट।

वाणी-पुस्तकमालाके

स्थायी ग्राहक तथा एजेन्टोंके नियम।

(१) कोई भी सज्जन एकबार केवल १) देकर इस पुस्तकमालाका स्थायी ग्राहक बन सकते हैं।

(२) स्थायी ग्राहकोंका वाणी-पुस्तकमाला तथा आर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकोंपर प्रतिशत बीस रुपया कमीशन दिया जाता है।

(३) कोई भी नई पुस्तक प्रकाशित होते ही स्थायी ग्राहकोंको उसका सूचना दे दी जाती है। ग्राहकके लिखनेपर उनका पुस्तक बीस प्रतिशत कमीशन कमकर वी० पी० से भेज दी जाती है। परन्तु ग्राहकोंका मनिआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर पुस्तकें मगानेसे वी० पी० खर्च बचेगा।

(४) अन्य ग्राहकोंकी तरह स्थायी ग्राहकोंका भी डाकव्यय पैकिङ्ग आदि देना पड़ता है।

(५) स्थायी ग्राहकोंको अपना नाम, पूरा पता पोस्ट तथा रेलवे स्टेशन आदि साफ-साफ लिखना चाहिये।

(६) २५) रुपयेकी पुस्तकें मँगानेसे पुस्तकोंके मूल्यका एक-चौथाई अग्रिम भेजना आवश्यक होगा।

(७) कोई भी सज्जन ५०) रुपयेकी पुस्तक एक साथ खरीदनेसे इनका एजेन्ट बन सकते हैं।

(८) एजेन्टोंको २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।
मुद्रक :—श्री कालाचाँद चटर्जी, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की सचित्र मासिक मुखपत्रिका

कार्तिक सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ७, | अक्टूबर १९५०

ऐसी मूढ़ता या मनकी ।
परिहरि राम भगति सुरसरिता
आसकरत ओसकनकी ।
धूम समूहनिरिखि चातकज्यों
तृषित जनि मतिधनकी ।
नहि तहँ सीतलना न वारि पुनि
हानि होत लोचनकी ।
ज्यों गज-काँच विलोकि सेन जड़
छाँह आपने तनकी ।
टूटत अति आतुर अहार बस
छति बिसारि आननकी ।
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि
जानत हौं गति मनकी ।
तुलसीदास प्रभु हरहु दुसह दुःख
करहु लाज निज पनकी ।

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी एम. ए., बी. टी.

विषय-सूची

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

कार्तिक सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ७, | अक्टूबर १९५०

देवि ! प्रपन्नार्तिहरे ! प्रसीद,
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ।
प्रसीद विश्वेश्वरि ! पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि ! चराचरस्य ॥

शरणागतके दुःखको दूर करनेवाली ! देवि ! तुम प्रसन्न हो, निखिलविश्वकी जननी ! तुम प्रसन्न हो । चराचर जगत्की एकमात्र ईश्वरी, तुम विश्वपर प्रसन्न हो और उसकी रक्षा करो ।

आत्म-निवेदन

रचयामास वानरम्

बृटिश शासनने हिन्दू-कोडबिलका जन्म दिया था। जबसे इसका सूत्रपात हुआ, तबसे सभी श्रेणीकी हिन्दूजनता इसका विरोध करती आ रही है। सरकारी रिपोर्टमें ही इसका उल्लेख है, कि इस बिलका जितना विरोध हुआ, अब तक किसी बिलका उतना नहीं हुआ। बृटिशशासनको जिस किसी साधनसे अपने स्वार्थोंकी सिद्धि करनी थी, उसने इसके लिये भेदनीतिको अपना शस्त्र बनाया, जिन्ना-अम्बेदकरकी सृष्टि की और हिन्दुओंके साथ लड़नेके लिये अखाड़ेमें उतार दिया। उसके पापोंका घड़ा भर गया और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि वह भारतको अपनी मुट्ठीमें नहीं रख सका, उसे यहाँसे जाना पड़ा; जाते-जाते भी हिन्दुस्तानकी छातीपर पाकिस्तान बनाकर ही गया जिससे दोनों परस्पर लड़ते रहे और भारत कभी बलशाली राष्ट्र न बन सके। उसी बृटिश शासन-प्रसूत यह हिन्दूकोडबिल धारासभाके नवम्बरके अधिवेशनमें पुनः उपस्थापित होने जा रहा है। स्वतन्त्र भारतके सूत्रधारोंको उचित था कि, बृटिश शासन-प्रसूत इस हिन्दकोड-बिलको रद्दीकी टोकरीमें फेंक देते और हिन्दू जनताके साथ न्याय करके उसका विश्वासभाजन बनते, परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। हमारे प्रधान-मंत्रीने अपने सरकारके अस्तित्वकी बाजी लगाकर उसे पास करनेकी ठान ली है। समाज-सुधारके नामपर वैदिक हिन्दूधर्मके आधारभूत सिद्धान्तोंपर हिन्दूकोडद्वारा कुठाराघात करनेका कुचक्र चल रहा है। कुछ मनचले पुरुष और तलाककी तितिलियाँ इसका समर्थन भी कर रही हैं। वैदिक विवाह-संस्कार, वर्णाश्रमव्यवस्था, सतीत्व-संस्कार जो हजारों हजारों वर्षोंसे अनुभूत और परीक्षित हो चुके हैं और जिनके कारण हिन्दूजाति अनेक प्रचण्ड प्रहारोंको सहकर आज भी अपने स्वरूपमें जीवित है, उनके स्थानपर सुधारके नामपर पाश्चात्य देशोंकी निन्दनीय कन्ट्रैक्टका विवाह तलाकप्रथाआदि लानेका प्रयत्न ठीक ऐसा ही है जैसा "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्"।

सती देवियाँ चेतें

इतिहास इसका साक्षी है कि, जब जब भारत-पर बड़े-बड़े संकट आये, धर्म, संस्कृति और स्वतन्त्रता खतरेमें पड़ी, तब-तब यहाँके संतों एवं सतियोंने अपनी तपस्या, त्याग एवं बलिदानके बलसे इसकी रक्षा की। यही कारण है कि, शताब्दियोंसे अनेक आक्रमण एवं प्रहारोंको सहकर पवित्र हिन्दूसंस्कृति एवं हिन्दूधर्म अबतक जीवित है। भगवान् बुद्ध सन्त थे, भगवान् आदि शङ्कराचार्य सन्त थे, भट्टपाद कुमारिल सन्त थे, समर्थ रामदास सन्त थे, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नानक आदि दसों गुरु, और स्वामी दयानन्द आदि सब सन्त ही थे। इसीप्रकार महारानी पद्मिनी, महारानी कर्मावती, महारानी वीरा, महाराणाप्रताप की रानी, जवाहर बाई, साध्वी किरणदेवी, कर्मदेवी कमलावती, कर्णवती, महारानी लक्ष्मीबाई आदि सतियाँ थीं। ऐसे सन्त और सतियाँ न हुई होती तो भारत आज भारत न होता। हिन्दूसंस्कृति और हिन्दूका नाम-निशान नहीं होता। इन सन्तों एवं

सतियोंकी परम पवित्र विमल कृतियाँ आज भी भारतको भारतीयताका पाठ पढ़ा रही हैं। इसमें भी विशेषता तो सतियोंकी ही है, क्योंकि इन सन्त महापुरुषोंको जाननेवाली, इनको अपने अङ्कमें खिलानेवाली और अपने पवित्र दूधके साथ साथ इनके हृदयोंमें त्याग, तप, बलिदान, शूरता-वीरता आदिके भावोंको भरनेवाली ये सती देवियाँ ही हैं। आज देशपर गम्भीर संकट है, सतीत्व, सदाचार, संस्कृति, और धर्म संकटमें है। अब वह समय आ गया है, जब अपने सतीत्व, सम्मान, मर्यादा आदिकी रक्षा हमें स्वयं करनी होगी। अतः अपने प्राचीन परम्परा एवं गौरव को स्मरणकर सतियाँ चेतें और अपने कर्त्तव्यका पालनकर भारतको सर्वनाशसे बचावें। अंगुलियोंपर गिनी जानेवाली तलाककी तितिलियाँ आज सतियोंके प्राचीन पवित्र गौरवको कलङ्कित करनेको कटिबद्ध हैं।

क्या स्त्री-पुरुष समान हो सकते हैं ?

ले० :—श्रीमती सुन्दरीदेवी एम. ए. बी. टी.

आजकल स्त्री एवं पुरुषके समानताका आन्दोलन बड़े जोरोंसे चल रहा है। अतः यह प्रश्न होता है क्या स्त्री और पुरुष समान हो सकते हैं ? इस विषयमें पश्चिमी देशके विचारशील विद्वानोंने भी स्त्री-प्रकृति और पुरुष-प्रकृतिमें मौलिक भेद निर्णय किये हैं यथा :—

These are deep-seated, essential differences, the result of ages of evolution between boy-nature and girl-nature both physically and psychically. These manifest physically in height, weight, blood corpuscles, brain volume, grain structure, and as only recently discovered, in ductless glands—a study of these latter showing, how intimate and delicate is the interaction between our mental life and our bodily functions. [An up-to-date and impartial summing up of the main sex differences is to be found in Dr Heilbroom's 'The opposite Sexes' published by Methuen]. In the course of evolution the male of the species has had occasion to develop his cerebrospinal nervous system more while the female has developed her sympathetic nervous system more specially. Women excel in the subjective, instinctive, intuitional aspectes of human life, while men on the other hand are objective, rational, abstract and analytical. Man is Apollonian. He is interested in form, in abstract thought, Woman is Dionysian. She is rooted in nature, in the elemental and life-giving. Hence Natures' working is through this law of human Bipolarity; for a division of labour between the sexes is part of the scheme of evolution. Hence has been left the age-long need of woman by man and of man by woman, the search for this self-complimen-

tary opposite. Hence the right social ideal is that, which aims at helping the sexes to complement and aid each other. (Dr. Meyrick Booth's Woman and Society. George Allan and Unwin Ltd.)

शत शत वर्षतक क्रमोन्नतिके फलसे स्त्रीप्रकृति और पुरुषप्रकृतिमें स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही भावोंमें गम्भीर मार्मिक पार्थक्य हो जाता है। स्थूलरूपसे यह पार्थक्य शरीरकी ऊँचाई, वजन, रक्तके कीट, मस्तिष्कका आकार, मस्तिष्कका गठन और नल-विहीन पेशीके रूपमें प्रकट होता है और इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि शारीरिक भेदके अनुसार मनोवृत्तिमें किस किस प्रकारके भेद हुआ करते हैं। (डा० हिलब्रनकी पुस्तकमें स्त्री-पुरुषभेदके और भी अनेक वर्णन मिलते हैं। उन्नतिके क्रममें पुरुषको मस्तिष्क और मेरुदण्डसम्बन्धीय स्नायुओंको उन्नत करनेका विशेष मौका मिलता है। मनुष्यजीवनके जिन अंशोंमें मन तथा मानसिक-वृत्तियाँ और नैसर्गिक बुद्धि विचारहीन भावोंका सम्बन्ध है उन सभीमें स्त्रियाँ अधिक निपुण होती हैं, दूसरी ओर जिन अंशोंमें बुद्धि, विचार प्रत्यक्ष व्यवहार या वस्तुविश्लेषणका सम्बन्ध है उनपर पुरुषोंका विशेष अधिकार रहता है। बुद्धिके प्रेरक सूर्यकी प्रकृति मनुष्यकी है, वह बुद्धिजीवी, प्रत्यक्षदर्शी, विचार-प्रधान जीव है, किन्तु स्त्रीमें मायाका भाव अधिक है, बल्कि स्त्रीप्रकृतिकी जड़में ही मायाशक्ति है। वह मनोवृत्ति तथा नैसर्गिकभाव प्रधान जीव है। प्रकृति-का क्रमोन्नतिकार्य इन दोनों विपरीत केन्द्रोंको लक्ष्य करके इनमें श्रमविभागद्वारा सम्पादित होता है। यही कारण है कि परस्परमें पूर्णता लानेके लिये अनादिकालसे पुरुषको स्त्रीकी चाह और स्त्रीको पुरुषकी चाह रहती है। अतः यथार्थ सामाजिक आदर्श वही कहलावेगा जिसमें स्त्री और पुरुष अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार उन्नति लाभ कर सके और विवाह-सूत्रमें बद्ध होकर पारस्परिक श्रम-विभाग तथा सहायता द्वारा पूर्णताको प्राप्त कर सके। (डा० मेरिक बुथ)

इसी विचारधाराको अनुभव करके अन्यान्य-वैज्ञानिकोंने और भी विचार किया है। यथा :—

As the Sun, the great manifestation of day, typified the creative force, the positive male element, so the Moon, signifying the supernal feminine principle ranked equally with the forms in talismanic popularity.

(Artie Mae Blackburn–The Alchemy of precious stones—Kalpaka).

The mind has two poles, a nagative and a positive. The emotional side is the negative and the intellectual side is the positive. Likewise the body has two poles The right hand is positive and left negative in all right handed pole.

(The Nature and cultivation of Personal Magnetism.

by Dr. Sheldon Leavitt Kalpaka).

सूर्यशक्ति 'पजिटिभ' (सम) पुरुष शक्ति है जिसके द्वारा सृष्टिकी शक्ति प्राप्त होती है, चन्द्रमें 'नेगेटिभ' (विषम) स्त्रीशक्ति है जिसका उपयोग यन्त्रधारणमें बहुधा किया जाता है। (आर्टिमी ब्लेक बर्न)।

अन्तःकरण दो परिधियाँ हैं, एक पजिटिभ और नेगेटिभ। मनका अंश नेगेटिभ और बुद्धिका अंश पजिटिभ है। इसीप्रकार शरीरकी भी दो परिधियाँ हैं, उसमें दाहिना भाग पजिटिभ और बाम भाग निगेटिभ है।

(डा० शेल्डन लिभिट)

It is a significant coincidence that the lunar month exactly tallies with woman's Catamenia form menses to menses.

(The Sacrament of Marriage Ceremony)

चन्द्रमाके साथ स्त्रीप्रकृतिकी स्वाभाविक एकता होनेके कारण ही स्त्रियोंका ऋतुधर्म चन्द्रमासके हिसाबसे हुआ करता है। और भी :—

Man and woman evolved on divergent lines from the original impregnated ovum, differing in their metabolic ratio as more katabolic impressions can be studied in the anatomical, physiological and even psychological differences of the male and the female. The costal prominence of men and the pelvic superiority of woman, the great muscular activity of man and the less of it in woman, and the grander masculine cerebrations in the one and the deeper retentivity and application to details in the other are respectively among the famous illustrations of the three sets sexual demorphism, (Cf. Ernest Haekal's Evolution of Man and Havelock Ellis' Man and Woman).

उत्पत्तिके समयसे ही स्त्री और पुरुषकी प्रकृतिमें भेद हैं, पुरुषमें 'कैटाबलिक' और स्त्रीमें 'एनाबलिक' भाव अधिक है। शरीरका गठन, शारीरिक क्रिया, मानसिकभाव, सभीमें यह पार्थक्य प्रकट हुआ करता है। अस्थि-पञ्जरकी विशेषता पुरुषमें और गर्भाशयकि विशेषता स्त्रीमें है। मज्जा और पेशियोंकी क्रिया पुरुषमें अधिक और स्त्रीमें कम है। मस्तिष्क तथा बुद्धि सम्बन्धीय क्रिया पुरुषमें अधिक और धारणा तथा छानबीनकी क्रिया स्त्रीमें अधिक है। इस प्रकारसे प्रारम्भसे ही नरनारी भेद बनाया गया है।

(अर्नेष्ट हेकेल और हैभ्लक इलिस)

और भी :—

Consequent upon primary sexual dimorphism and causing it numerous results as secondary characteristics, there are also many important mental and temperamental peculiarities in man and differently in woman, constituting the final list of psychic differences between him and her and serving to bring them together on a moral and mental basis. Greater cerebral variability and appreciation generalisations with lesser attentions to the details of things are masculine. Greater memory and appreciations of details and lesser cerebration are truly feminine. Courage, impetuosity and knocking about in the world for ideals or otherwise are in line with the katabolic nature of man. Greater patience, endurance and sacrifice mark the anabolic nature of the female sex. The maintenance of this

fundamental difference is indispensable for the evolution of species.

(Ernest Haekal)

Variation and preservation are two important functions of evolution being incongruous, they remain divided between man and woman with comparative preponderance. In view of the further possibilities of evolutions, a union between them has been therefore made the sinequa non for the propagation of species.

(A. A. Phillip)

प्रारम्भसे हो दोनों लिङ्गोंके भेद तथा उसीके अनुसार लक्षण भेद होनेसे स्त्री-पुरुषोंके अन्तःकरण और मनोवृत्तियोंमें बहुत कुछ भेद हो जाते हैं। और इसी भेदके कारण ही विवाह सम्बन्धके द्वारा दोनों मिलकर परस्परकी पूर्णता सम्पादन करते हैं। मस्तिष्क सम्बन्धीय अनेक विषयोंमें लगे रहना और अधिक छान-बीनमें न पड़कर मौलिक सिद्धान्तों-पर दृष्टि रखना पुरुष प्रकृतिके लक्षण हैं। अधिक स्मरणशक्ति, अधिक छानबीन और मस्तिष्कसे काम कम लेना स्त्रीप्रकृतिके लक्षण हैं। साहस, उद्यम, जोशके साथ भिड़जाना, लक्ष्यसिद्धिके लिये सर्वत्र विचरण—ये सब पुरुषके 'वैटाबलिक' प्रकृतिके अनुकूल कार्य हैं। अधिक धैर्य्य, सहनशीलता और त्याग तथा समर्पणभाव ये सब स्त्रीजातिकी 'एनबलिक' प्रकृतिके अनुकूल कार्य है। सृष्टिप्रवाह-की क्रमोन्नतिके लिये इस मौलिक भेदकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है।

(अर्नेष्ट हेकेल)

अनेकरूपता और रक्षा क्रमविकासके ये दो आवश्यक कार्य हैं। इनमें एक दूसरेसे पृथक होनेके कारण, एक पुरुषमें दूसरा स्त्रीमें अधिकताके साथ बना रहता है। क्रमविकाशनकी सम्भावनापर विचार करके सृष्टिप्रवाहके विस्तारार्थ विवाहके द्वारा इन दोनोंका मेल करा दिया जाता है।

(ए. ए. फिलिप)

नरनारियोंकी प्रकृतिमें इसप्रकार स्वाभाविक भेदकी दशामें भी यदि कहींपर नरके गुण नारीमें और नारीके गुण नरमें देखनेमें आ जाय तो इस विषयमें कैसा सिद्धान्त करना चाहिये इसपर प्रसिद्ध विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सरने कहा है—

The most serious error usually made in drawing these comparisons (i. e. between the minds of man and woman) is that of overlooking the limit of moral mental power. Either sex, under special stimulations is capable of manifesting powers ordinarily shown only by the other; but we are not to consider the deviations so caused as affording proper measures. Thus to take an extreme case, mammae of men will, under special excitation, yield milks there are various cases of gynaecomatsy on record and in famines infants whose mothers have died have thus been saved. But this ability to yield milk, which, when excited, must be at the cost of masculine strength, we do not count among masculine attributes.

Similarly, under special discipline,

the feminine intellect will yield products higher than the intellects of most men can yield. But we are not to count this productivity as truly feminine, if it entails decreased fulfilment of the maternal functions. Only that mental energy is normally feminine which can co-exist with the production and nursing of the due numbers of healthy children.

स्त्री और पुरुषकी मानसिक शक्तिके विषयमें तुलना करते समय प्रायः यह भारी गलती हो जाती है कि, उनकी मानसिक शक्ति साधारणतः कहाँ है इसे हम देखना भूल जाते हैं। किसी खास उत्तेजनाके वशीभूत होकर इनमें से एक दूसरेके अधिकारकी शक्तिको प्रकट कर सकता है किन्तु ऐसे असाधारण कारणसे शक्तिकी ठीक परीक्षा नहीं होती है। एक असाधारण कारणका दृष्टान्त यह है कि खास उत्तेजनाको पाकर पुरुषके स्तनसे भी दूध निकल आवेगा। स्त्रीजाति-सुलभ गुणोंका इस प्रकार विकाश और भी अनेक मौके पर देखा गया है, जिससे दुर्भिक्षके दिनोंमें मातृहीन शिशुकी प्राणरक्षा हो सकी है। किन्तु इस प्रकार उत्तेजनावश दूध देनेकी शक्तिको पुरुषकी स्वाभाविक शक्ति हम नहीं कह सकते, बल्कि पुरुषशक्तिको नष्ट करके यह स्त्रीजाति-सुलभ शक्ति उसमें आ गई, यही कहना चाहिये। ठीक इसी प्रकारसे खास प्रलयके द्वारा किसी समय किसी स्त्रीकी बुद्धि पुरुषसे भी अधिक विभूतिका विकास कर सकती है, किन्तु यदि ऐसे विकासमें किसी प्रकार मातृगुणका अपचय हो तो इसे यथार्थ स्त्री-बुद्धि विकाश नहीं कहना चाहिये। स्त्रीजातिकी उतनी ही मनोवृत्ति तथा बुद्धिवृत्ति स्वाभाविक है, जिसके रहनेसे सन्तानोत्पादन और सन्तानके पालनमें किसी प्रकारका विघ्न न हो।

स्त्री-पुरुषके शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक मौलिक भेदके विषयमें यहाँ तक पश्चिमी विचारशील विद्वानोंके विचार दिये गये हैं। हमारे ऋषि-मुनियोंने तो सहस्रों वर्ष पहले इन दोनोंके मौलिक भेद तथा उनके प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार अलग-अलग कर्तव्य बतला रखा है। भगवान् मनुजीने तो सृष्टिके समयकी बात इन शब्दोंमें कही है—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥

तात्पर्य यह है कि सृष्टिके समय परमात्माने अपनेको दो भागोंमें विभक्त किया और आधेमें नारी आधेमें पुरुष बन गये। उसी नारीमें परमात्माने विराटकी सृष्टि की।

इसमें कौन किस भागमें है, इसका वर्णन भी देवी भागवतमें है, यथा :—

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूवभह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पमान स्मृतः।

अर्थात सृष्टिकी इच्छा करके परमात्मा दो भागमें, विभक्त हो गये, वामभाग स्त्री और दक्षिणभाग पुरुष हुआ। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि, सृष्टिकालके प्रारम्भसे ही स्त्री-पुरुष अलग-अलग उत्पन्न हुए हैं और इनके कर्तव्य भी अलग-अलग हैं। सृष्टिकार्यमें परमात्माकी शक्ति प्रकृतिकी ही प्रधानता है, परमात्मा केवल द्रष्टा मात्र है, जैसा गीतामें :— "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्" अर्थात् मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चर अचर जगत्को प्रसव करती है।

समस्त जगत्की स्त्रियाँ उसी जगन्माताकी अंशरूपिणी हैं, अतः इनके भीतर मातृत्व ही कूट-कूट कर भरा है। ये भावुकता, दया, स्नेह करुणाकी मूर्ति हैं। पुरुषोंमें विचारशक्तिकी प्रधानता है। अतः सन्तानका लालन-पालन, गृहकार्यका सुन्दर सञ्चालन जैसा स्त्रियाँ कर सकती हैं, पुरुष कदापि नहीं कर सकता। कहते भी हैं "गृहिणी गृहमुच्यते" गृहिणी ही गृह हैं। इसका मौलिक कारण यही है कि ये कार्य उनके स्वभाव तथा प्रकृति प्रदत्त है। कोई कोई स्त्री किसी विशेष अवस्थामें पुरुषके कार्य भी कर लेती हैं, वह उसका असाधारण अधिकार है, साधारण नहीं। परन्तु इसका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि स्त्री पुरुषसे हीन है। जहाँ तक सम्मानका सम्बन्ध है, वहाँ तो "पितुः दशगुणा माता गौरवेणाऽतिरिच्यते" और विद्या अध्ययनके समय भी "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव" आदिकी शिक्षा साथ साथ चलती थी। परन्तु स्त्री-पुरुषोंके प्रकृति-प्रवृत्ति एवं संस्कार एवं शक्तिमें मौलिक भेद होनेके कारण दोनोंको एकही साँचेमें नहीं ढाला जा सकता। जो अल्पदर्शी स्त्री-पुरुषोंको समान करना चाहते हैं, वे भारी भूल करते हैं और मूलमें ही भूल रहनेसे उनको सफलता भी मिलना सम्भव नहीं। परन्तु इस प्रकारकी अनधिकार चेष्टासे समाजको वे बड़ी भारी क्षति पहुँचाते हैं। क्योंकि जो स्त्री पुरुष बननेकी चेष्टा करती है, वह प्रकृति विरुद्ध होनेसे पुरुष तो बन नहीं सकती, अधिकन्तु अपने स्त्रीसुलभ सुन्दर मधुर गुणोंको भी खो बैठती है। पूर्णमातृत्व एवं गृहिणीत्व का विकास करना ही उनकी पूर्णता और यथार्थ उन्नति है। अब पाठक स्वयं सोचें कि स्त्री-पुरुष क्या समान हो सकते हैं?

भक्त जयदेव और पद्मावती

भक्तश्रेष्ठ जयदेव एक प्रसिद्ध भगवद्भक्त हो गये हैं। ये संस्कृतके प्रगाढ़ पण्डित थे इनका 'गीत गोविन्द' नामक संस्कृतका एक अपूर्व ग्रन्थ है, जो भक्तिरसका अपूर्व रसास्वाद कराता है। जगन्नाथ पुरीमें सुदेव नामसे विख्यात भगवद्भक्त ब्राह्मण थे, उन्होंने भगवान्के स्वप्नमें आदेश पाकर अपनी पद्मावती नामकी कन्याका विवाह श्रीजयदेवके साथ करा दिया था, जैसे जयदेव भगवान्के परमभक्त थे, वैसे ही उनकी पत्नी पद्मावती परम सती साध्वी एवं भगवद्भक्त थी। कुछ दिनों बाद भक्त जयदेव गौड़देशके राजा लक्ष्मणसेनके आग्रहसे उन्हींके पास रहने लगे थे। भगवत्कथा कीर्तनमें ही दोनोंका दिन कटता था। पद्मावती अन्तःपुरमें रानीके पास जाया-आया करती थी, वहाँ वे रानीके साथ सत्सङ्ग एवं भगवच्चर्चा किया करती थी। उन्होंने एक दिन सती स्त्रियोंके प्रसङ्गमें रानीसे कह दिया कि, सती स्त्रीका एकमात्र गति एवं परमपूज्य इष्टदेव तो उसका पतिही है। सती स्त्री अपने प्रिय पतिके वियोगको एक क्षणके लिये भी सहन नहीं करती है। पतिके वियोग सुनते ही उसका प्राणान्त हो जाता है।

पद्मावतीके ये बातें सुनकर रानीके मनमें कुछ ईर्षाका भाव जागृत हो गया। उसने पद्मावतीकी परीक्षा लेनेको मन ही मन ठान लिया। वह ऐसे अवसरकी प्रतीक्षामें थी। श्रीजयदेव राजाके साथही

रहते और यदा-कदा राजाके साथ बाहर भी जाया करते थे। एकदिन जब श्रीजयदेव राजाके साथ बाहर गये थे, रानीने अपना उद्देश्य पूरा करनेका निश्चय किया और अपनी मुख-मुद्रा बड़ी गम्भीर और दुःखित बनाकर पद्मावतीसे कहा कि "आह! श्री जयदेव तो वनमें सिंहके शिकार हुए।" इतना सुनते ही पद्मावती अचेत होकर पृथिवीपर गिर पड़ी और उसके प्राण-पखेरु उसी क्षण उड़ गये। रानीने जब देखा कि पद्मावती अब जीवित नहीं तब तो बड़ी व्याकुल हो उठी और सोचने लगी कि जयदेवजी हमें क्या कहेंगे, उनको मैं कौन मुँह दिखाऊँगी। बार बार यही सोचकर वह उद्विग्न हो अपनेको धिक्कार रही थी, इसी समय श्री भक्तराज जयदेव आ गये और उन्होंने अपनी प्रिय पत्नीको निर्जीव पड़ा देखा। परन्तु वे अधीर नहीं हुए, उनको भगवान्‌की कृपापर दृढ़ विश्वास था किन्तु रानीको बहुत लज्जित एवं दुःखित देखकर कहा कि, आप दुःख न करें और उन्होंने गद्-गद् हृदयसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी प्रारम्भ की। कुछ ही समय बाद पद्मावती उठकर बैठ गयी, जैसा कोई सोकर उठा हो।

इसके कुछ समय बाद श्रीजयदेव राजाकी आज्ञा लेकर पद्मावतीके साथ अपने ग्राम केन्दुविल्व लौट आये और दोनों अनन्यभक्तिके साथ भगवान्‌की सेवा-पूजामें आनन्दसे अपना समय काटने लगे। एक दिन वे गीतगोविन्दके पद लिख रहे थे। उसमें :—

स्मर गरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनम्—इसके आगेका वाक्य ठीक बैठता नहीं था, देर हो गयी थी, भोजनका समय हो गया, इसी समय पद्मावतीने भोजनके लिये प्रार्थना की। अतः इस पदको असम्पूर्ण ही छोड़कर श्रीजयदेव स्नान करने चले गये। पद्मावती उनकी प्रतीक्षामें बैठी ही थी, इतनेमें श्री जयदेवको वापस आये देख पद्मावती उठ खड़ी हुई। जयदेवने गीतगोविन्दकी पोथी माँगी। पद्मावतीने आश्चर्यसे पूछा कि अभी तो आप स्नान करने गये थे, मार्गसे ही कैसे लौट आये? पद्मावती भगवान्‌की माया कैसे जान सकती थी। उत्तर मिला कि मार्गमें जाते हुए अन्तिम चरणका स्मरण हो आया, अतः लौट आया हूँ। पद्मावतीने पोथी, लेखनी, स्याही सब लाकर दे दी, जयदेवरूप भगवान्‌ने "देहि पदपल्लवमुदारम्" लिखकर पदकी पूर्ति कर दी। उसके बाद वहीं स्नान करके भोजन किया और विश्रामके काजसे शयनगृहमें लेटने चले गये। इधर पद्मावती अपने इष्टदेव पतिदेवके भोजन कर चुकने पर उसी थालमें भोजन करने बैठ गयी। अब श्री जयदेव स्नान करके घर लौटे और अपनी पत्नीको भोजन करते देख आश्चर्यमें डूब गये। क्योंकि इससे पहले कभी भी पद्मावतीने उनसे पहले भोजन नहीं किया था। श्रीजयदेवने आश्चर्य-चकित होकर पद्मावतीसे पूछा—"पद्मे! यह क्या? इससे पहले तुमने कभी भी मेरे पहले भोजन नहीं किया था"। पद्मावतीके आश्चर्यका पार नहीं रहा, उसने कहा "स्वामिन्! आप यह क्या कह रहे हैं? अभी तो आपने अपने गीतगोविन्दके एक पदके अन्तिम चरणकी पूर्ति करके स्नान-भोजन किया और सोने गये।" श्री जयदेव भगवान्‌की लीला समझ गये।

श्री जयदेव अपने शयनागारमें गये, वहाँ कोई भी नहीं था। पुनः उन्होंने पोथी खोलकर देखी तो उनके विस्मयका ठिकाना नहीं रहा। वे प्रेमानन्दसे

पुलकित हो उठे, उनके दोनों आँखोंसे प्रेमकी अश्रुधारा बह चली, वे प्रेम-गद्गद स्वरसे पद्मावतीके भाग्यकी बार बार सराहना करने लगे और कहने लगे, साध्वी! तुम धन्य हो, भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने तुमको दर्शन दिया। मुझ अभागेको उन्होंने इस योग्य नहीं समझा। इस प्रकार भगवत्प्रेममें विभोर बार-बार विलाप करने लगे। भगवान्ने उनकी भक्तिको तीव्र करनेके लिये ही यह लीला की थी।

कुछ वर्षों बाद श्री जयदेव अपनी सती-साध्वी पत्नी पद्मावतीको साथ लेकर वृन्दावन चले गये। वहाँ कलुषनाशिनी कालिन्दीमें स्नान तथा कृष्ण-लीलाचिन्तन करते हुए दोनोंने अपने नश्वर पार्थिव शरीरका त्याग कर इष्टदेवके लोकको प्रस्थान किया। ऐसे दम्पती अपना अपने कुलका तथा सारे संसारका उद्धार करनेमें समर्थ होते हैं।

श्रीभगवद्गीता

हिन्दी पद्यानुवाद

श्री मोहन वैरागी

धृतराष्ट्रने कहा

(१)

कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें रणकी इच्छासे एकत्र।
सञ्जय कहो किया क्या सबने मेरे तथा पाण्डुके पुत्र॥

सञ्जयने कहा

(२)

निरख व्यूह पाण्डव-सेनाका राजा दुर्योधन साश्चर्य।
पहुँच निकट आचार्य द्रोणके बोले लखिये हे गुरुवर्य॥

(३)

पाण्डवकी सेना विशाल यह खड़ी समरमें व्यूहाकार।
सज्जित द्रुपदपुत्रद्वारा जो शिष्य आपका विज्ञ अपार॥

(४)

इस सेनामें भीमार्जुनके तुल्य धनुर्धर योद्धा वीर।
अगणित महारथी हैं सात्यकि द्रुपद विराट श्रेष्ठ रणधीर।

(५)

धृष्टकेतु नृप चेकितान ये काशिराज अतुलित बलवान ।
पुरुजित् कुन्तिभोज नरपुङ्गव युधामन्यु रणशूर महान ॥

(६)

शैब्य उत्तमौजा ये योद्धा वीर द्रौपदीसुत सौभद्र ।
कितने अन्य महान शूर हैं उनको आप समझ लें भद्र ॥

(७)

अपनी सेनामें विशिष्ट जो वीर और नायक बलवान ।
उन सबको भी आप जान लें कहता हूँ सुनिये श्रीमान ॥

(८)

शूरशिरोमणि आप महात्मा भीष्म अजेय कर्ण कृपवीर ।
महारथी अश्वत्थामा हैं सौमदत्ति जयद्रथ रणधीर ॥

(९)

वीरविकर्ण आदि योद्धा सब कितने अन्य बलिष्ठ महान ।
नाना शस्त्रास्त्रोंसे सज्जित जिन्हें न रणमें प्रिय हैं प्राण ॥

[क्रमशः]

एक

घट-घटमें बस वही एक है
उसी एकमें व्याप्त अनेक ।
तुझमें मुझमें इसमें उसमें
सबमें वही झलकता एक ॥
भाँति-भाँतिके रङ्ग रूप हैं
अलग अलग सबकी अनुभूति ।
भिन्न-भिन्न हैं भाव पदोंके
किन्तु एक है लयकी टेक ॥

मोहन वैरागी

कर्ममीमांसादर्शन ।

[गताङ्कसे आगे]

प्रकृत विषयका पुनः अनुसरण कर रहे हैं—

कर्मके द्वारा सृष्टि, स्थिति और लय होता है ॥ १११ ॥

यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि रजोगुणसे सृष्टि होती है, सत्त्वगुणसे स्थिति होती है और तमोगुणसे लय होता है, और इन तीनों गुणोंके अधिष्ठाता यथाक्रम ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं; परन्तु कर्म ही तीनों क्रियाओंका मूल है। यह पहिले ही सिद्ध हो चुका है कि, प्रकृतिके स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति है और प्राकृतिक-स्पन्दनसे त्रिगुणके कारण स्वतः ही होता है। दूसरी ओर सृष्टि, स्थिति, लय, ये तीनों क्रियाएँ हैं। इस कारण सृष्टि, स्थिति, लयरूपी फल कर्मसे ही साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। सबसे बड़ा विचारने योग्य विषय यह है कि, सृष्टिस्थितिलय-रूपी फल पूर्वसंस्कारके अनुसार ही होता है। जिस-प्रकार पिण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके मूलमें प्रारब्ध संस्काररूपी कर्मबीज रहते हैं, उसीप्रकार ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लय भी ब्रह्माण्डके समष्टिप्रारब्धके अनुकूल होते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि, कर्मको ही सृष्टिस्थितिलयका कारण कह सकते हैं ॥ १११ ॥

प्रसंगतः सिद्धान्त कह रहे हैं—

अतः वह ब्रह्म है ॥ ११२ ॥

जब कार्य्यब्रह्मरूपी सृष्टिप्रपञ्चका रूपान्तरसे कर्म कारण है, तो वही ब्रह्मरूप है। श्रीभगवान्ने गीतोपनिषद्में कहा है—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

अक्षररूप निर्गुणब्रह्मसे प्रकृतिकी उत्पत्ति होती है। वह ब्रह्मका ही स्वरूप है और ब्रह्मप्रकृतिसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। इस कारण सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित है, इनमें सन्देह नहीं। वस्तुतः जब ब्रह्ममें और ब्रह्मप्रकृतिमें भेद नहीं है और ब्रह्मप्रकृति और कर्ममें भेद नहीं है, तो कर्म ही ब्रह्मरूप है, यही सिद्धान्त है ॥ ११२ ॥

अब विशेषकर्मका वर्णन कर रहे हैं—

सुकौशलपूर्ण कर्मको यज्ञ कहते हैं ॥११३॥

यज्ञके लक्षणके विषय में स्मृतिकारोंने यों कहा है—

एवं यज्ञस्तथा धर्म उभौ पर्यायवाचकौ।
कथितौ वेदनिष्णातैः शास्त्रज्ञैः शास्त्रविस्तरे ॥

शास्त्रके जाननेवाले जो वेदनिष्णात जन हैं, वे यज्ञ तथा धर्म पर्यायवाचक शब्द हैं, ऐसा कहते हैं।

गाँठका लगना कर्म है और गाँठका खोलना भी कर्म है। गाँठके लगानेमें डोरी उलझ जाती है और गाँठके खोलनेमें डोरी सुलझ जाती है। डोरी उलझते समय भी हाथका हिलावरूपी कर्म होता है और गाँठके सुलझते समय भी हाथका हिलाना रूपी कर्म हुआ करता है। दोनों ही कर्म हैं। भेद इतना ही है कि, उलझानेका कर्म सुकौशलपूर्ण नहीं है और सुलझानेका कर्म सुकौशलपूर्ण है। इसी प्रकार जीवकी निरङ्कुशतासे जो कर्म होता है, वह सुकौशल-

कर्मणैव सृष्टिस्थित्यन्ताः ॥ १११ ॥ तदतो ब्रह्म ॥ ११२ ॥ यज्ञः कर्म सुकौशलम् ॥ ११३ ॥

पूर्ण नहीं होनेसे अधर्म होता है और उससे आवागमनरूपी बन्धन उलझता जाता है। जो वेद, शास्त्र, गुरु और विवेकके अनुसार कार्य्य होता है, वही सुकौशलपूर्ण कार्य्य है। उससे आवागमनरूपी बन्धन सुलझ जाता है। वही धर्म है और वही सुकौशलपूर्ण कार्य्य यज्ञ कहाता है। केवल शक्तिविचारसे उसको धर्म कहते हैं और क्रियाके विचारसे यज्ञ कहते हैं। शास्त्रोक्त यज्ञ बहुत प्रकारके होते हैं। यथा—दानयज्ञ, तपोयज्ञ, वैदिकयज्ञ, स्मार्तयज्ञ, उपासनायज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ इत्यादि ॥ ११३ ॥

अब महायज्ञका लक्षण कह रहे हैं :—

समष्टिसम्बन्धसे महायज्ञ होता है ॥ ११४ ॥

यज्ञका लक्षण सुनकर जिज्ञासुको स्वतः शंका हो सकती है कि, यज्ञ और महायज्ञमें क्या भेद है। इस कारण पूज्यपादमहर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यज्ञके साथ जो 'महा'शब्द प्रयुक्त होता है, वह केवल महिमावाचक या निरर्थक नहीं है। जीवके व्यष्टिगत अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद जो सुकौशलपूर्ण कर्म हैं, वे तो यज्ञ कहाते हैं और समष्टिजीवोंके अभ्युदय निःश्रेयसके अर्थ अथवा ब्रह्माण्डके कल्याणार्थ जो सुकौशल कर्मरूपी धर्मसाधन किया जाता है, उसको महायज्ञ कहते हैं। साधारण मनुष्यमें जब तक स्वार्थ अधिक होता है, तब तक उसके अन्तःकरणमें महायज्ञकी महिमाको स्थान नहीं प्राप्त होता। जितनी जितनी साधकमें स्वार्थपरता घटती जाती है और उसके चित्तकी उदारता बढ़ती जाती है, उतना उतना वह महायज्ञका अधिकारी बनता जाता है। जैसा कि, शास्त्रोंमें कहा है :—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

इस वचनका तात्पर्य्य यह है कि, यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकारके विचारकरनेवाले लघुचेता पुरुष होते हैं और उदार-चरितवालोंके लिये वसुधा ही कुटुम्ब है।

ऐसे उदारचित्त महापुरुष ही महायज्ञकी महिमा ठीक ठीक समझ सकते हैं तथा उसके अधिकारी हैं। जैवस्वार्थसे रहित परोपकारभावसे युक्त, समष्टि-अभ्युदयसहायक और भगवत्कार्य्यरूप होनेसे ऐसे धर्मकार्यको महायज्ञ कहते हैं ॥ ११४ ॥

इसका अधिकार वर्णन कर रहे हैं :—

चतुर्थाश्रममें भी यह उदारताके साथ अनुष्ठान करने योग्य है ॥ ११५ ॥

उदार-अन्तःकरणयुक्त व्यक्ति ही महायज्ञका अधिकारी होता है, यह पहले कह चुके हैं। गृहस्थादि आश्रममें उदारताके अभ्यासके लिये महायज्ञसाधनका अनुष्ठान विहित है। चतुर्थाश्रमी संन्यासियोंके लिये भी महायज्ञका अनुष्ठान विहित है। क्योंकि महायज्ञ उदारतायुक्त है। चतुर्थाश्रममें कर्मका त्याग विहित है और वहाँ यज्ञादि साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। यहाँतक कि, चतुर्थाश्रममें सबप्रकारके यज्ञोंका त्याग कहा गया है; परन्तु महायज्ञका साधन इतना उन्नत है कि, चतुर्थाश्रमियोंके लिये वह कल्याणप्रद होनेसे रूपान्तरमें जगत्कल्याणके कर्मरूपसे उसका साधन करना उचित है। चतुर्थाश्रममें निवृत्तिकी चरितार्थता होती है तथा चतुर्थाश्रमीका अन्तःकरण भगवद्भावापन्न

समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः ॥ ११४ ॥

उदारमनुष्ठेयस्तुर्य्येऽप्येषः ॥ ११५ ॥

रहता है। ऐसी उन्नत दशामें उदारताकी पराकाष्ठा-प्राप्तिके लिये महायज्ञका अनुष्ठान विहित है। इसी कारण चतुर्थाश्रमधारी तत्त्वज्ञानी महापुरुषगण भी लोकहितकर कार्यमें रत दिखाई पड़ते हैं। उनका जगत्कल्याणकारी व्रत, उनकी जगत्की आध्यात्मिक उन्नतिकी चिन्ता, उनका कर्मयोग, उनका ग्रन्थप्रणयन, उनका जिज्ञासुओंको उपदेशदान आदि महायज्ञका ही परिचायक है ॥ ११५ ॥

और भी कह रहे हैं :—

इस कारण वह महीयान् है ॥ ११६ ॥

केवल उदारचरित महापुरुषगण ही महायज्ञके पूर्णाधिकारी हैं। तुरीयाश्रम, जिसमें कर्मका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना पड़ता है, उस दशामें भी महायज्ञ करनेकी आज्ञा है। यह सब महायज्ञकी महिमाका ही प्रमाण है। गृहस्थाश्रममें भी पञ्चमहायज्ञरूपसे इसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है और पञ्चमहायज्ञका यहाँ तक महत्त्व रक्खा गया है कि, गृहस्थ यदि पञ्चमहायज्ञ न करे, तो बड़े भारी दोषका भागी होता है। यह सब महायज्ञकी महिमाका ही सूचक है। ज्ञानके अधिदैव ऋषियोंके सम्वर्द्धनके निमित्त वेद और शास्त्रके मननको ब्रह्मयज्ञ, कर्मचालक देवताओंके सम्वर्द्धनके निमित्त हवनको देवयज्ञ, आधिभौतिक सृष्टिके संरक्षक पितरोंके सम्वर्द्धनके निमित्त श्राद्ध-तर्पणादिके द्वारा पितृयज्ञ, सम्पूर्ण प्राणियोंके संरक्षक नाना नैमित्तिक देवताओंके सम्वर्द्धन और उनके द्वारा उक्त प्राणियोंकी मंगल-कामनाके अर्थ भूतवलि आदि भूतयज्ञ और सम्पूर्ण मानवसमाजके निकट कृतज्ञता प्रदर्शनके निमित्त आश्रममें आये हुये आचाण्डाल कोई हो, उसको नारायणबुद्धिसे भोजन करानेको नृयज्ञ कहते हैं, शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके प्रमाण मिलते हैं। यथा :—

> पाठो होमश्चातिथीनां सपर्य्या तर्पणं बलिः।
> एते पञ्चमहायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः॥
> दिव्यो भौमस्तथा पैत्रो मानुषो ब्राह्म एव च।
> एते पञ्चमहायज्ञा ब्रह्मणा निर्मिताः पुरा॥

पढ़ना-पढ़ाना, हवन, अतिथिकी पूजा, श्राद्ध और बलि ये पञ्चमहायज्ञ कहे जाते हैं। यज्ञसम्बन्धीय कार्य, भूतबलि आदि सम्बन्धीय कार्य श्राद्धादि, अतिथियोंकी सेवा और वेदका पढ़ना-पढ़ाना ये पञ्चमहायज्ञ ब्रह्माने पहिले ही बनाये हैं ॥ ११६ ॥

उन दोनोंका साक्षात् फल कहा जाता है :—

उन दोनोंसे अभ्युदय और निःश्रेयस होता है ॥ ११७ ॥

साधारणरूपसे विचार करनेपर यही सिद्धान्त होगा कि, यज्ञके द्वारा अभ्युदय और महायज्ञके द्वारा निःश्रेयस होता है। जब व्यक्तिगत धर्मसाधनमात्रको ही यज्ञ कहते हैं, तो उसके द्वारा जीवको अभ्युदय अवश्यम्भावी है। दूसरी ओर महायज्ञ-साधनमें जब व्यक्तिगत जैवस्वार्थ नहीं रहता है और अपना व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर केवल जगत्-कल्याणबुद्धिसे ही महायज्ञका साधन करना होता है, तो यह भी स्वतःसिद्ध है कि ऐसे साधन द्वारा निःश्रेयसपद लाभ होना अवश्यम्भावित है। जीवका अहङ्कारजनित स्वार्थबुद्धि ही जब उसके बन्धनकी मौलिक कारण है और महायज्ञमें उसका सम्बन्ध

महीयांस्ततोऽसौ ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभ्युदयनिःश्रेयसे ॥ ११७ ॥

नहीं रहता है, तो महायज्ञ निःश्रेयसप्रद होगा, इसमें सन्देह ही क्या है! अब जिज्ञासुओंके हृदयमें यदि यह शंका हो कि, क्या यज्ञसमूह केवल अभ्युदयप्रद ही हैं? उनसे क्या निःश्रेयस नहीं होता है? धर्ममात्र ही अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद है, इस सिद्धान्तकी चरितार्थता कैसे होगी? ऐसी शंकाओंके समाधानमें श्रीगीतोपनिषद्‌के वचन दिये जाते हैं। यथा :—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

यथार्थ कर्मके अतिरिक्त कर्म करनेसे वह जीव बन्धनयुक्त होता है। इस कारण हे कौन्तेय! यथार्थ कर्म निष्काम होकर करो। अतएव तुम फलासक्तिशून्य होकर सर्वदा कर्त्तव्य कर्मका अनुष्ठान करो। क्योंकि अनासक्त होकर कर्मका अनुष्ठान करनेसे पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि, जिसप्रकार महायज्ञसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार यज्ञसे भी निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है; परन्तु साधारणरूपसे नहीं। निष्काम होकर केवल यजनके लिये ही यदि यज्ञ किया जाय, उसमें फलकी अभिसन्धि न रहे, तभी वह यज्ञ महायज्ञकी फल रूपी मुक्ति प्रदान करता है; नहीं तो केवल अभ्युदय देता है॥ ११७॥

प्रसंगके अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयसका पूर्ण अधिकार देनेवाले आर्यधर्मका पूर्णचन्द्रकी उपमा से विवेचन किया जाता है :—

आर्यधर्म पूर्णचन्द्रमाकी तरह षोड़श कलाओंसे पूर्ण है॥ ११८॥

अर्थ स्पष्ट है। उन कलाओंमें से पहली कला बताते हैं :—

व्यापक होनेसे पहली सदाचार है॥ ११९॥

पूर्वोक्त सोलह कलाओंमें से पहली कला सदाचार है; क्योंकि वह व्यापक है॥ ११९॥

अब उसका महत्त्व बताते हैं :—

अतः आर्यसंस्कृतिका महत्त्व है॥१२०॥

यही कारण है कि, आर्यसंस्कृतिका इतना महत्त्व है। शारीरिक व्यापार यदि धर्मानुकूल हो तो वह सदाचार कहाता है। मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता। मनुष्य मन, बुद्धि, वचन और शारीरिक व्यापार इस प्रकार चार प्रकारके कर्म करता है। वे कर्म धर्ममूलक होते हैं और अधर्ममूलक भी। अतः धर्मवर्धक जो शारीरिक व्यापार हैं, वही सदाचार है॥ १२०॥

अब हेतुसहित दूसरी कला बताते हैं—

दूसरी कला सद्विचार है। आर्यजातिके शिखासूत्र धारण करनेसे॥ १२१॥

सनातनधर्मकी दूसरी कला सद्विचार है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार धार्मिक व्यक्ति अपनी शारीरिक चेष्टाओंको धर्मानुकूल बनावें तो सदाचारी कहाता है; उसीप्रकार वह अपने विचारोंको जब

षोडशकल आर्यधर्मः पूर्णचन्द्रवत्॥११८॥
तत्र प्रथमः सदाचारो व्यापकत्वात्॥११९॥
अतः आर्यसंस्कृतेर्महत्त्वम्॥ १२०॥
सद्विचारो द्वितीयार्यजातेः शिखासूत्रधारित्वात्॥ १२१॥

धर्मानुकूल बनाता है, तब वह सद्विचारवान् कहाता है। भगवान् ने स्वयं श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है :—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात् मनको बुद्धिसे अर्थात् विवेकसे युक्तकर जीवको ऊपर उठावे। उस जीवका इन्द्रियोंसे युक्त मन नीचेकी ओर गिरता है, उसे गिरने न दें। इसका तात्पर्य यह है कि, सदा विवेकयुक्त रहे और इन्द्रियवत् मनको नींचे न गिरने दे। क्योंकि अविवेकी मन जीवका शत्रु है और विवेकयुक्त मन जीवका मित्र है। यही सद्विचारका तात्पर्य है। आर्यजातिकी सब चेष्टाएँ विवेकसे युक्त रहती हैं। इसीसे सद्विचारवान् व्यक्ति धार्मिक हो सकता है। शिखा और सूत्र इसका द्योतक है।

आर्यजाति शिखा-सूत्रधारी है। सिरपर ब्रह्म-रन्ध्रके स्थानमें गायके खुरके बराबर जो केशोंका पुञ्ज बढ़ाया जाता है, उसे शिखा कहते हैं। वामस्कंधसे लेकर दक्षिणबाहुके नीचे कटिपर्यन्त यथाशास्त्र लटकता हुआ उपनयनके समयमें धारण किया जाने-वाला परमपवित्र, विलक्षण प्रभावका उत्पादक, पूर्ण आयु देनेवाला यथाविधि निर्माण किया हुआ, ब्रह्मादि नवदेवताओंका आश्रयस्वरूप, और द्विजका चिह्नस्वरूप जो उपवीत होता है, वही सूत्र या यज्ञसूत्र कहाता है। वर्णाश्रमधर्मको माननेवाली आर्यजाति शिखा और सूत्र धारण करती है, इसीसे आर्यधर्मकी दूसरी कला सद्विचार कही गयी है॥ १२१॥

अब शिखासूत्रका फल बताते हैं :—

शिखा देवमन्दिरका सूचक है, यज्ञसूत्र त्रिभावशुद्धिका सूचक है॥ १२२॥

शिखाके कारण आर्यजातिका उत्तमाङ्ग (सिर) देवमन्दिर समझा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता जिसमें निवास करते हैं, उसको शिखा कहते हैं। वह मनुष्यकी बुद्धिको प्रखर करती है, इस कारण आर्योंका वह विशेष चिह्न है। जिसप्रकार देवमन्दिरका शिखर होता है, उसीप्रकार देवताओंके निवासस्थान आर्योंके शरीररूपी मन्दिरका शिखर शिखा है। शास्त्रमें शिखाबन्धनका मन्त्र इस-प्रकार है :—

ब्रह्मवाणीसहस्रेण शिववाणीशतेन च।
विष्णुनामसहस्रेण शिखाबन्धं करोम्यहम्॥

ब्रह्माके सहस्रनामोंसे, शिवके सौ नामोंसे, और विष्णुके सहस्रनामोंसे मैं शिखाबन्धन करता हूँ। शिखाके मूलमें सब देवता निवास करते हैं। अतः आर्योंकी शिखा देवमन्दिरका परिचायिका है। त्रिभावशुद्धिका द्योतक आर्योंका यज्ञोपवीत है। अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धिको स्मरण रखनेके लिये यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेवाली आर्यजाति तीनखण्डोंका यज्ञसूत्र धारण करती है॥ १२२॥

अब कारण सहित तीसरी कला बताते हैं :—

पूर्ण होनेसे वर्णधर्म तीसरी है॥ १२३॥

आर्यधर्मकी तीसरी कला वर्णधर्म है। इसीलिये आर्यजाति त्रिविध भावशुद्धिसे पूर्ण है॥ १२३॥

शिखा देवमन्दिरस्य सूत्रं त्रिभावशुद्धेः॥ १२२॥ वर्णधर्मस्तृतीयतस्तत्पूर्णा॥ १२३॥

इस तीसरी कलाके महत्त्वके विषयमें कहते हैं :—

चिरजीविनी है ॥ १२४ ॥

वर्णधर्मके कारण आर्यजातिमें रजोवीर्यकी शुद्धि बनी रहती है, इसकारण आर्यजाति चिरजीविनी है। सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अबतक आर्यजाति विद्यमान है; परन्तु दूसरी अनेकों जातियाँ उत्पन्न हुई और कालकवलित हो गयीं। इसका एकमात्र कारण आर्योंका वर्णधर्म ही है ॥ १२४ ॥

अब उपपत्तिसहित चौथी कला बताते हैं :—

नारीधर्मसे पूर्णहोनेसे सतीत्व चौथी है ॥ १२५ ॥

सतीत्वधर्म आर्यधर्मकी चौथी कला है। क्योंकि आर्यमहिलाएँ नारीधर्मसे पूर्ण होती हैं। नारीधर्मकी पूर्णता सतीत्वधर्मसे सिद्ध होती है। जिस जातिमें नारियाँ सतीधर्मकी तपस्यासे सुशोभित होती हैं, उसी मनुष्यजातिकी महिलाओंकी जगत्में महिमा होती है। आर्यनारियोंमें सतीत्वकी पूर्णता चिरदिनसे देखनेमें आती है ॥ १२५ ॥

अब आर्यमहिलाओंके महत्त्वके विषयमें कहते हैं :—

इसीसे त्रिलोकपावनी है ॥ १२६ ॥

सतीत्वके कारण ही आर्यमहिलाएँ त्रिलोकको पवित्र करनेवाली होती हैं। सतीत्वकी पूर्णता जैसी आर्यमहिलाओंमें देख पड़ती है, वैसी किसी भी जातिमें नहीं देख पड़ती। सतीत्वधर्मके कारण ही आर्यमहिलाएँ त्रिलोकमें पूजित होती हैं। ऊर्ध्वलोक अर्थात् स्वर्गादिलोक, अधोलोक अर्थात् पातालादि लोक और मध्यलोक अर्थात् भारतवर्षरूपी मृत्युलोक तीनोंका इतिवृत्त पुराणादिमें पाठ करनेसे यही सिद्ध होता है कि, सतीत्वकी महिमा सब लोकोंमें समानरूप से मानी जाती है ॥ १२६ ॥

अब आर्यधर्मरूपी चन्द्रमाकी पाँचवीं कला बताते हैं :—

प्रवृत्ति-निवृत्तिकी पूर्णतासे आश्रमधर्म पाँचवीं है ॥ १२७ ॥

आर्यधर्मकी पाँचवीं कला आश्रमधर्म है। वह प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंसे पूर्ण है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति सिखायी जाती है। गृहस्थाश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्ति करायी जाती है, वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती है और संन्यासाश्रममें पूर्णनिवृत्ति करायी जाती है। अतः प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंसे पूर्ण होनेके कारण आश्रमधर्मकी महिमा है और वह आर्यधर्मरूपी चन्द्रमाकी पाँचवीं कला मानी गयी है ॥ १२७ ॥

अब आश्रमधर्मका फल बताते हैं :—

जीवन्मुक्तिका उदय होता है ॥ १२८ ॥

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मकी पूर्णता होनेसे आश्रमधर्ममें जीवन्मुक्तिका उदय होता है। जिस संस्कृतिमें प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंकी पूर्णता है, वही संस्कृति क्रमाभिव्यक्तिके अधिकारोंसे पूर्ण कही जा सकती है। मनुष्यकी क्रमाभिव्यक्तिकी पूर्णता ही जीवन्मुक्तिपद है, इस अभ्युदयका क्रम जैसा आश्रमधर्ममें बाँधा गया है, वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। संन्यासधर्म निवृत्तिधर्मका अन्तिम

चिरजीविनी ॥ १२४ ॥ चतुर्थी सतीत्वं नार्याः पूर्णत्वात् ॥ १२५ ॥ अतस्त्रिलोकपावनी ॥ १२६ ॥

पञ्चम्याश्रमधर्मः, प्रवृत्ति-निवृत्तिपूर्णत्वात् ॥ १२७ ॥ जीवन्मुक्तिप्रादुर्भावः ॥ १२८ ॥

अधिकार है। उसमें यथाक्रम चार सीढ़ियाँ—बाँधी गयी हैं। यथा,—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। परमहंस अवस्था ही जीवन्मुक्तिपद है, श्रीमद्भवगद्गीताके अनुसार जो सांख्य और योग दोनोंका समान अधिकार बताया है, वही—चाहे किसी आश्रमका मनुष्य हो—कर्मयोगके द्वारा जीवन्मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। उधर संन्यासधर्मका जो क्रम है, वह ऊपर बताया ही गया है। अतः सुकौशलपूर्ण कर्मके द्वारा हो अथवा ज्ञानार्जनके द्वारा हो, आर्यजातिमें ही आश्रमधर्मके अवलम्बनसे जीवन्मुक्तिपदकी प्राप्ति सम्भव है ॥ १२८ ॥

अब छठीं कलाका वर्णन करते हैं :—

आस्तिक होनेसे दैवजगत्को शरण ली जाती है ॥ १२९ ॥

दैवजगत् और उसके नाना देवपदधारियों पर विश्वास करना ही आस्तिकताका मूल है। स्थूलजगत्का चालक और रक्षक दैवजगत् ही होता है। अतः दैवजगत्की शरण लेना आर्यधर्मकी छठीं कला कही गयी है ॥ १२९ ॥

इस कलाके महत्त्वके विषयमें कहते हैं :—

त्रिविध संघका अनुग्रह होता है ॥ १३० ॥

यही कारण है कि, आर्यजातिपर देवसंघ, ऋषिसंघ और पितृसंघ तीनोंका अनुग्रह रहता है। शास्त्रोंमें इन त्रिविध संघोंके देवपदधारियोंका वर्णन है। आस्तिकताके कारण ही आर्यजातिपर उनकी कृपा बनी रहती है। विशाल दैवीजगत्का एकसहस्रांश भी हमारा मृत्युलोक नहीं है। इसके चौदह भुवन हैं। उनके प्रधान देवपदधारी तीन हैं। उनके अधीन तैंतीस मुख्यपदधारी देवता हैं तथा ऋषिसंघ, देवसंघ और पितृसंघ हैं, जो प्रत्येक मन्वन्तरमें बदल जाते हैं,—वे और अन्य अनेक देवपदधारी हैं। आर्यजातिके आस्तिक होनेसे अर्थात् उनपर श्रद्धा और विश्वास होनेसे उनपर तीनों संघोंकी कृपा बनी रहती है ॥ १३० ॥

अब धर्मकी सातवीं कला कही जाती है :—

धर्मसामञ्जस्यके लिये अवतारनिष्ठा सातवीं है ॥ १३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है :—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

हे अर्जुन! जब जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका प्रभाव बढ़ जाता है, तब तब मैं अवतार धारण करता हूँ। साधु सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करने तथा धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके लिये मैं प्रत्येक युगमें अवतीर्ण होता हूँ। अवतार ऋषियोंके होते हैं, देवताओंके होते हैं और भगवान्के होते हैं। भगवदवतार कलाभेदसे कई प्रकारके होते हैं। भगवदवतारमें दो शक्तियाँ कार्य करती हैं। एक वह शक्ति, जिस केन्द्रमें भगवान्का अवतार होता है, उसके पूर्वजन्मके कर्मानुसार उसके प्रारब्धकी शक्ति और दूसरी, भगवदवतारका जिस प्रयोजनसे आविर्भाव हुआ है, उसके अनुसार भगवच्छक्ति। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा है

षष्ठी दैवजगच्छरणमास्तिकत्वात् ॥१२९॥ त्रिविधसंघानुग्रहः ॥१३०॥ सप्तम्यवतारनिष्ठा धर्मसामञ्जस्यात् ॥१३१॥

कि, हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे कितने ही जन्म हो चुके हैं। उन सबको तुम नहीं जानते, परन्तु मैं जानता हूँ। इस भगवद्वचनसे पहिली शक्तिकी सिद्धि हो रही है और भगवच्छक्तिकी सिद्धिके विषय में श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी व्रजलीला, द्वारका-की लीला और महाभारतकी लीला आदि प्रमाण हैं। श्रीभगवान्‌का शिशुकालमें पड़े पड़े स्वाभाविक रूपसे हाथ-पैर हिलाते हुए छकड़ेको आध्मातसे उलट देना, उखलीमें पैरकी टेक देकर यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ फेकना, कानी अंगुलीपर गोवर्धनपर्वतको उठाकर व्रजमण्डलकी रक्षा करना, महारास रचकर गोपियों-को मोहित करना, ये सब मानवी कार्य नहीं; किन्तु भगवच्छक्तिके ही निदर्शक हैं। दो छोटे छोटे कुमारों—श्रीकृष्णचन्द्र और बलरामका मथुरामें जाकर पहाड़ जैसे कुबलया नामक मस्तहाथीके दाँतों तोड़कर मार डालना, मल्लोंमें अजेय मुष्टिक और चाणूरको मार गिराना और कंस जैसे महापराक्रान्त सम्राट्का भरी सभामें सिर उतार लेना मनुष्यका कार्य नहीं हो सकता। यह भगवच्छक्तिका ही परिचायक है। भगवान्‌भी अपनी बनायी हुई कर्मशृंखलामें बँधे रहते हैं। जरासन्धका उत्पात जब बहुत बढ़ गया, तब यह जानकर कि, वह अपना वध्य नहीं, भीमसेनका बध्य है, देवकुलकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने पश्चिमी समुद्रमें एक नया विस्तृत टापू निर्माण किया, जिसमें लाखों करोड़ों मनुष्योंकी बस्ती बसाई गयी और द्वारका नामक नयी नगरी प्रतिष्ठित कर वहीं मथुरासे हटाकर अपनी राजधानी स्थापित की, सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह कर उतने ही रूपोंसे वे उनके साथ रहने लगे, क्या ये सब कार्य पौरुषेय कहे जा सकते हैं? भगवच्छक्ति-के ही ये द्योतक हैं। लीलासंवरणका समय आनेपर सब यादवोंको आपसमें लड़ाकर कुलका नाश हो जानेपर स्वयं निजधाममें चले गये। उनके जानेकी घटनाका अद्भुत रहस्य भी विचार करने योग्य है। कई करोड़ वर्ष पहले जब रामावतार हुआ था, तब भगवान् रामचन्द्रने पेड़की आड़में छिपकर बालीपर बाण चलाकर उसको मारा था। उसी बालीकी आत्मा भीलके रूपमें आयी और उसके बाणसे श्रीभगवान्‌ने लीला सम्वरण की। शंका समाधान के लिए कहा जा सकता है कि, अवतारके दो तरहके कर्म होते हैं, जैसा ऊपर कहा गया है, एक तो उनके पूर्वजन्मार्जित कर्म और दूसरे, अवतार सम्बन्धी कर्म। यह अवतार सम्बन्धी कर्म है, व्यक्तिगत कर्म नहीं है। क्योंकि रामावतारके कर्मका फल उन्हें इस अवतारमें भोगना पड़ा। यह व्यक्ति-गत कर्म हो नहीं सकता। श्रीभगवान् राम और श्रीभगवान् कृष्ण दोनों समान अधिकारके अवतार हैं। इसकारण समान स्तरके अवतारोंमें ऐसा हो सकता है। श्रीभगवान् कृष्णके शरीरके अन्तका समय आ गया और उधर बालीका ऋण चुकानेका समय भी आ गया था। इसीसे बालीने भीलके रूपमें आकर अपना बदला चुकाया और भगवान् निज-धाममें पधार गये। दर्शनशास्त्र सिद्ध करता है कि, भगवान्‌की सोलह कलाओंके विकाशके अनुसार यह हिसाब बाँधा गया है कि उद्भिज्जसे लेकर चतुर्विध-भूतसंघमें यथाक्रम चार कलाओंका विकास होता है। उसके बाद असभ्य और सभ्य मनुष्योंमें आगेकी चार कलाओंका विकास होता है और तदनन्तर नौ कलाओंसे सोलह कलाओंतकका विकास भगवद-वतारोंमें होता है, जिनकी अनेक श्रेणियाँ हैं। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र सोलह कलाओंसे युक्त पूर्ण अवतार थे। इसका वर्णन महाभारतमें करके भगवान् व्यासदेवने जगत्‌को धन्य किया है धर्मके सामञ्जस्यके लिये ही भगवान्‌के अवतार हुआ करते हैं। भगदवतारोंके ऊपर बनाये हुये विज्ञानके अनु-सार आर्यजाति भगवदवतारोंपर निष्ठा रखती है। इसीसे अवतार-निष्ठा आर्यधर्मकी सातवीं कला कही गयी है॥ १३१॥

[क्रमशः]

महापरिषद्-सम्वाद

श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्‌की प्रबन्ध-समितिकी बैठक ता० ७-१०-५० को विद्यालय-भवनमें पं० रामशंकरजी वैद्यकी अध्यक्षतामें हुई थी। उसमें मासिक हिसाबकी स्वीकृतिके पश्चात् निम्नांकित मन्तव्य स्वीकृत हुए—

मन्तव्य संख्या ४—निश्चय हुआ कि विद्यालयके 'बस' खरीदनेके लिये यूनाइटेड कमर्शियलबैंक, बनारससे पच्चीस हज़ार रुपये फिक्सड डिपाजिटकी जमानतपर चौदह हज़ार रुपया एक वर्षके लिये ऋण लिया जाय और इस सम्बन्धकी कार्यवाही करनेका अधिकार श्रीमती विद्यादेवी प्रधान मंत्रिणीको दिया जाता है।

मं० सं० ५—निश्चय हुआ कि आर्यमहिलामहा-विद्यालयको चौदह हज़ार रुपया 'बस' खरीदनेके लिये ऋण दिया जाय तथा सरकारी सहायता एवं फोर्ड बसकी बिक्रीसे यह रकम वापस लेकर बैंकका ऋण चुकता कर दिया जाय।

मं० सं० ६—शिक्षाविभागके २-२६/६/५० के बैटेर मैनेजमेंट कमिटी रिपोर्टके अनुसार प्रबन्ध-समिति बनानेके विषयके दोनों पत्र पढ़े गये, इस विषयमें यह समिति ता० १७-१०-५० की बैठकमें स्वीकृत प्रस्ताव नं० ४ को पुनः दोहराती है और शिक्षाविभागसे यह अनुरोध करती है कि यदि ऐसा करना ही अभीष्ट है तो जिन शिक्षा-संस्थाओंका प्रबन्ध ठीक नहीं है केवल उनपर यह योजना लागू की जाय। जिन शिक्षा-संस्थाओंका संचालन सुचारु रूपसे हो रहा है उनके कार्यमें इस प्रकारका अनावश्यक, अनुचित और अपमानजनक हस्तक्षेप करके शिक्षाके सार्वजनिक हितमें बाधा पहुँचाना कदापि वांछनीय नहीं है।

मं० सं० ७—प्रिंसिपलकी रिपोर्टसे विदित हुआ कि इस समय कई अध्यापिकाओंके अवकाश लेनेके कारण विद्यालयके अध्यापन-कार्यमें बड़ी बाधा हो रही है। अतः निश्चय हुआ कि निम्न अध्यापिकाओंकी निम्नलिखित वेतनपर अस्थायी नियुक्ति की जाय।

(क) श्री कौशल्याकुमारी बेरी बी० ए० बी० टी० २४-१०-५० से ३०-४-५१ तक के लिये मासिक वृत्ति १२०)।

(ख) श्री उमा बनर्जी एच० एस० २४-१०-५० से ३०-४-५१ तक मासिक वेतन ५०)।

(ग) श्री विजनमुकर्जी एच० एस० १६-६-५० से ३०-४-५१ तक मासिक वेतन ५०)।

मं० सं० ८—श्रीविश्वनाथसिंह, विद्यालयके क्लर्कका त्यागपत्र श्रीमती प्रिंसिपलकी रिपोर्टके साथ उपस्थापित हुआ जिससे विदित हुआ कि उन्होंने एक महीनेका नोटिस तो दिया परन्तु नोटिसके अनु-सार पूरा एक महीना कार्य नहीं किया। अतः निश्चय हुआ कि नोटिसके समयमें जितना दिन उन्होंने काम नहीं किया है, उतने दिन नोटिसके बदले वेतन जमा किया जाय, शेष वेतन यदि कुछ शेष बचा रहे तो उनको दे दिया जाय।

मं० सं० ९—श्रीमती विद्यादेवीजी संचालिकाको अधिकार दिया जाता है कि विद्यालयके लेखकके रिक्त स्थानकेलिये जो प्रार्थनापत्र आये हैं, उन प्रार्थि-

योंमेंसे जिनको उपयुक्त समझें, उनको ३०-४-५१ तकके लिये नियुक्त कर लें।

मं० सं० १०—श्रीमती स्नेहलतादेवी सहायक सुपरिन्टेन्डेन्टका त्यागपत्र ता० १-१०-५० का उपस्थापित हुआ और स्वीकृत हुआ।

मं० सं० ११—श्रीमती कमलादेवीका प्रार्थनापत्र उपस्थापित हुआ कि ता० २-१०-५० से १५-५-५१ तकके लिये उनकी अस्थायी नियुक्ति सहायक सुपरिन्टेन्डेन्टके पदपर भोजनके साथ २५) मासिक पारिश्रमिक पर की जाय।

मं० सं० १२—श्रीमती रामदुलारी बर्माका प्रार्थनापत्र ता० २३-८-५० का तथा २२-६-५० का उपस्थापित हुआ। निश्चय हुआ कि उनको तीन महीनेकी प्रीविलेज लीव एवं बाकी बिना वेतनका अवकाश दिया जाय।

मं० सं० १३—प्रिंसिपलकी रिपोर्टसे ज्ञात हुआ है कि पुराने हालकी छतकी दशा चिन्ताजनक है, उसके धरन टूट गये हैं और इञ्जिनियरकी रायमें वह किसी भी समय गिर सकता है। अतः निश्चय हुआ कि इस सम्बन्धमें खर्चेका एस्टीमेट लिया जाय और शिक्षाविभागकी शीघ्र ग्रांट देनेके लिये लिखा जाय।

मं० सं० १४—पन्ना ड्राइवरका काम बहुत ही असन्तोषजनक है। अतः निश्चय हुआ कि उनको १०-१०-५० से कार्यसे पृथक् (डिसमिस) किया जाय और उस दिन तकका उसका पावना चुकता दे दिया जाय।

मं० सं० १५—श्री नानकचन्द चोपड़ाका वेतन-वृद्धि सम्बन्धी प्रार्थनापत्र २५-८-५० का उपस्थापित हुआ। निश्चय हुआ कि इसमें शिक्षाविभागकी स्वीकृति नहीं है, अतः समिति इस विषयमें विवश है।

सभापति महोदयको धन्यवाद देनेके अनन्तर सभाकी कार्यवाही समाप्ति हुई।

आर्यमहिला-महाविद्यालय दुर्गापूजाके अवकाश-के बाद २४-१०-५० को खुल गया है और अध्यापनका कार्य पूर्ववत् प्रारम्भ हो गया है। विद्यालय के लिये बस खरीद ली गयी है। आशा है कि बहुत शीघ्र उसकी बाडी बनकर तैयार हो जायगी और कन्याओंके यातायातमें विशेष सुविधा हो जायगी।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डर द्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें बिलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट अक्षरोंमें रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, १/२ पृष्ठ	१२)	,,
,, १/४ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

क्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

वाणी-पुस्तकमाला

का

अद्वितीय दार्शनिक प्रकाशन

श्रीभगवद्गीता

गीता-तत्त्व-बोधिनी टीका-सहित

(दो भागोंमें सम्पूर्ण)

लोकप्रसिद्ध श्रीभगवद्गीताके गूढ़ दार्शनिक तत्त्वोंको अत्यन्त सरलतासे समझनेके लिये गीता-तत्त्व-बोधिनी टीकासे बढ़कर अभीतक गीताकी कोई दूसरी टीका प्रकाशित नहीं हुई है।

पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके वचनामृतद्वारा गीताके गूढ़ रहस्योंका समझनेके लिये गीताकी प्रस्तुत टीका एक अनुपम साधन है। अवश्य अध्ययन कीजिये और आध्यात्मिक आनन्द तथा शान्ति प्राप्त कीजिये। साथ ही ऐसे अमूल्य ग्रन्थरत्नके संग्रहद्वारा अपनी पुस्तकालयकी शोभा बढ़ाइये। आज ही एक प्रतिका आर्डर भेजिये। अन्यथा प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; थोड़ी प्रतियाँ ही छपी हैं।

मूल्य सम्पूर्ण प्रतिका ७॥)

प्राप्तिस्थान :—

व्यवस्थापक

श्रीवाणी-पुस्तकमाला

महामंडल भवन

जगतगंज, बनारस कैन्ट।

आर्य-महिला

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका आर्यमहिला-महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको बिना मूल्य दी जाती है। महापरिषद्की साधारण सदस्यताका चन्दा ५) वार्षिक है। ५) रुपया वार्षिक देकर आप महापरिषद्का साधारण सदस्य बनकर भारतीय पवित्र संस्कृतिके अनुसार नारीजातिकी शिक्षा, रक्षा और उन्नतिके पुण्य-कार्यमें हाथ बटा सकते हैं, साथही 'आर्य-महिला' पत्रिकाके सुन्दर सत्साहित्यसे अपने घरको सुन्दर शान्ति-सुखमय बना सकते हैं। आज ही मनिआर्डर से ५) रुपया भेजकर महापरिषद्का सदस्य बनिये।

व्यवस्थापक—

आर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्

प्रधान कार्यालय

महामण्डल भवन, बनारस कैन्ट।

वाणी-पुस्तकमालाके

स्थायी ग्राहक तथा एजेन्टोंके नियम।

(१) कोई भी सज्जन एकबार केवल १) देकर इस पुस्तकमालाका स्थायी ग्राहक बन सकते हैं।

(२) स्थायी ग्राहकोंका वाणी-पुस्तकमाला तथा आर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकोंपर प्रतिशत बीस रुपया कमीशन दिया जाता है।

(३) कोई भी नई पुस्तक प्रकाशित होते ही स्थायी ग्राहकोंको उसका सूचना दे दी जाती है। ग्राहकके लिखनेपर उनका पुस्तक बीस प्रतिशत कमीशन कमकर वी० पी० से भेज दी जाती है। परन्तु ग्राहकोंका मनिआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर पुस्तकें मँगानेसे वी० पी० खर्च बचेगा।

(४) अन्य ग्राहकोंकी तरह स्थायी ग्राहकोंका भी डाकव्यय पैकिङ्ग आदि देना पड़ता है।

(५) स्थायी ग्राहकोंको अपना नाम, पूरा पता पोस्ट तथा रेलवे स्टेशन आदि साफ-साफ लिखना चाहिये।

(६) २५) रुपयेकी पुस्तकें मँगानेसे पुस्तकोंके मूल्यका एक-चौथाई अग्रिम भेजना आवश्यक होगा।

(७) कोई भी सज्जन ५०) रुपयेकी पुस्तक एक साथ खरीदनेसे इनका एजेन्ट बन सकते हैं।

(८) एजेन्टोंको २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।
मुद्रक :—श्री कालाचाँद चटर्जी, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की सचित्र मासिक मुखपत्रिका

भाद्रपद सं २००७ | वर्ष ३२, संख्या ५, | अगस्त १९५०

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी, एम. ए., बी. टी.

हरि बिन कौन दरिद्र हरै ।
कहत सुदामा सुन सुन्दरि
जिय मिलन न हरि बिसरै ॥
और मित्र ऐसे समया महँ
कत पहिचान करै ।
बिपत परे कुसलात
न बूझै बात नहीं अधरै ॥
उठके मिले तन्दुल हम
दीने मोहन बचन फुरै ।
'सूरदास' स्वामी की महिमा
टारी बिधि न टरै ॥

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूल त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

भाद्र सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ५, | अगस्त १९५०

मन रे परसि हरिके चरण ।
सुभग शीतल कँवल कोमल त्रिविध ज्वाला हरण ।
जिन चरण प्रहलाद परसे इन्द्रपदवी धरण ॥
जिन चरण ब्रह्माण्ड भेट्यो नख सिखां श्रीधरण ।
जिन चरण कालीनाग नाथ्यो गोप-लीला करण ॥
जिन चरण गोबरधन धारयो गर्व मघवा हरण ।
दासि मीरा लाल गिरधर अगम तारन तरन ॥

आत्मनिवेदन

[श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी]

आगामी भाद्रकृष्ण अष्टमीके दिन समस्त भारत-खण्डमें बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिके साथ भगवान् कृष्णचन्द्रका जन्मोत्सव मनाया जायगा। इसी भाद्रकृष्ण अष्टमीके शुभदिन रोहिणी नक्षत्रमें अर्द्ध-रात्रिके समय बारह बजे जब काले काले बादल मड़रा रहे थे रिम-झिम रिम-झिम वर्षा हो रही थी, चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था, इसीतरह मनुष्योंके हृदयमें भी घोर अन्धकार एवं निराशा छा रही थी, कंसके त्राससे साधु-जन त्रस्त हो रहे थे. ऐसे समय पूर्णावतार कृष्णचन्द्रका उदय हुआ—संसार आलोकित अनुप्राणित और प्रकाशित हुआ था। भगवान्ने अपने मधुर वंशीनिनादसे भक्तोंको अभय दिया, साधुओंका त्राण किया और धर्मद्वेषी असुरोंका संहार करके धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की, एवं मनुष्य-मात्रके मार्गप्रदर्शनके लिये गीताका संदेश सुनाया। जन्माष्टमी प्रतिवर्ष हृदयपटलपर उनके इन महान् पुण्य-कृतियोंको नवीन करती है। इसीलिये इस देशमें अवतारों एवं महापुरुषोंकी जयन्ती मनानेकी पुरानी प्रथा चली आती है।

इसमें सन्देह नहीं कि वही श्रद्धा-भक्तिके साथ हम प्रतिवर्ष भगवान् कृष्णकी जयन्ती-रूपसे यह महापर्व मनाते हैं, उपवास और उत्सव करते हैं, परन्तु प्रश्न यह होता है कि भगवान्के गीताकथित संदेशका हम कितने अंशोंमें पालन करते हैं? उत्तर यही होगा, कि उसे हम सर्वथा भूले हुए हैं। क्योंकि गीताके प्रायः प्रत्येक प्रसङ्गमें भगवान्ने अपने अपने कर्तव्य-पालनका उपदेश दिया है और अन्तमें यहाँ-तक भी कहा है कि :—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अर्थात् अपने-अपने कर्तव्य कर्मोंमें निरत रहकर ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है, अपने कर्ममें निरत रहकर कैसे सिद्धि प्राप्त करता है, सो सुनो। जिससे प्राणियोंकी प्रवृत्ति और जिससे सारा विश्व परिव्याप्त है, अपने कर्मद्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। यह मङ्गलमय उपदेश भगवान् कृष्णका है, जो आबालवृद्ध, स्त्री, पुरुष, सबके लिये समानरूपसे हितकारी है। परन्तु आज भारतको एकही संक्रामक लगा हुआ है, जिससे प्रायः सभी आक्रान्त है, वह यही कि कोई भी अपना कर्तव्य पालन नहीं करना चाहता, न अपना उत्तर-दायित्वका अनुभव ही करता है। आलस्य, प्रमाद, जड़ता, स्वार्थपरता, ईर्ष्या, द्वेषका त्यागकर यदि भगवान्के उपरोक्त उपदेशको सदा स्मरण रखकर सभी अपने-अपने कर्तव्य कर्मका सचाईके साथ पालन करने लग जॉय तो आजके सारे दुःख, दारिद्र्य, दैन्य, रोग, शोक, ताप सब स्वतः दूर भागेंगे और स्वतःही हमें नन्द-नन्दन आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्रकी कृपा प्राप्त होगी; तभी हमारा यह पर्व मनाना भी सार्थक होगा।

वन-महोत्सव तथा हिन्दू संस्कृति।

विश्वकी सबसे प्राचीन संस्कृति आर्यसंस्कृतिमें वृक्ष लगाने तथा कूप-वापी, तालाब बनानेकी बड़ी महिमा है। पुराणोंके पृष्ठके पृष्ठ इनकी महिमासे

भरे पड़े हैं। इन सबका उद्देश्य यही है कि इन सब जीव-हितकारी महत्कार्योंमें लोगोंकी प्रवृत्ति बढ़े, उनकी अभिरुचि इस ओर जाग्रत रहे। प्राचीन-कालमें हमारे त्रिकालदर्शी महर्षिगण, तपस्वी ब्राह्मणगण एवं वाणप्रस्थी गृहस्थगण वृक्षबहुल वनोंमें ही निवास करते थे; कन्द-मूल-फलोंका आहार करते थे और आध्यात्मिक चिन्तनके ज्ञानालोकसे समस्त विश्वको आलोकित किया करते थे। उन अरण्योंमें समाधिस्थ अन्तःकरण ऋषियों द्वारा प्राप्त होनेके कारण उपनिषदोंको आरण्यक भी कहते हैं। उन महातपा महर्षियोंके तपःप्रभाव एवं अध्यात्मचिन्तनके प्रभावसे सारे देशका वायुमण्डल एवं वातावरण ऐसा बना हुआ होता था कि चक्रवर्ती सम्राट्गण भी पुत्रके राज्यशासनके उपयोगी होते राज्य-शासनका भार उसे सौंपकर स्वयं परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छासे इन्हीं अरण्योंमें चले जाया करते थे और अपना अन्तिम शेषजीवन भगवत्-भजनमें व्यतीत किया करते थे। बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ भी इन्हीं अरण्योंमें तपोधन ब्राह्मणों द्वारा सञ्चालित हुआ करती थीं। कालचक्रके अपरिहार्य नियमके अनुसार आर्य-जातिका वह स्वर्णयुग समाप्त हो गया और अधःपतन प्रारम्भ होने लगा, अरण्योंका महत्व लोग भूलने लगे एवं विदेशी शासनके प्रभावसे आर्यजाति अपने स्वरूपको भूलने लगी। धीरे-धीरे अधःपतित होते-होते वह पतनकी इस सीमातक पहुँच गयी कि उसे अपनी पवित्र प्राचीन संस्कृति अपना विश्व-कल्याणकारी धर्म, अपनी परम्परा सबमें दोष दिखाई देता है; अपनी प्रत्येक वस्तुसे घृणा होती है, पाश्चात्योंकी नकल करनेमें आत्म-सम्मान एवं गौरवका अनुभव होता है। परन्तु समयने पुनः पल्टा खाया। सर्वशक्तिमान् भगवान्की कृपासे विदेशी शासनका अन्त हुआ और अब कुछ लोगोंका ध्यान भारतीय संस्कृतिकी महत्ताकी ओर आकर्षित होनेके कुछ लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे हैं। भारतसरकारके खाद्यमन्त्री श्रीकन्हैयालाल मुन्शीकी प्रेरणासे जुलाईके प्रथम सप्ताहमें सारे देशमें वन-महोत्सव बड़े उत्साहसे मनाया गया। इस उपलक्षमें देशमें लाखों वृक्ष लगाये गये; यह बड़े सन्तोषका विषय है। श्रीमुन्शी का यह भी कहना है कि देशमें खाद्यान्नकी कमी है, अतः सप्ताहमें एकदिन प्रति सोमवार शाक-फल आदिसे निर्वाह किया जाय। इस प्रसङ्गमें यह कहना अनुचित नहीं होगा कि, आर्यसंस्कृतिमें व्रत-उपवासकी भी महिमा कम नहीं है, एवं इस संस्कृतिमें विश्वास रखनेवाले बहुसंख्यक लोग एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा, अष्टमी, प्रदोष, रविवार, सोमवार, मङ्गलवार आदि अनेक व्रतोंके उपलक्षमें एकाहार, फलाहार, अनाहार-रूपसे महीनेमें आठ-दस उपवास करते ही हैं। परन्तु जो पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृतिके पोषक हैं, उन्होंने तो चारबार भोजनकी प्रथा विदेशियोंसे सीखी है, उनकी सभ्यता-में व्रत-उपवासका कोई भी स्थान नहीं है। अतः यदि प्राचीन भारतीय हिन्दूसंस्कृतिका अच्छी तरहसे पुनः प्रचार किया जाय, तो पुनः व्रत-उपवासपर लोगोंका विश्वास बढ़ेगा। इससे अन्न एवं स्वास्थ्य दोनोंकी रक्षा होगी। यदि हमारे शासकवृन्द शान्त मस्तिष्कसे सोचेंगे तो वे इसी निश्चयपर पहुँचेंगे कि हिन्दूसंस्कृतिमें ही समस्त मनुष्य-जातिका कल्याण निहित है और वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालोंमें समान रूपसे हितकारी है।

सत्यका प्रकाश

[ले० श्रीमान् पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर]

यह कालका प्रभाव ही समझना चाहिये कि, इस समय भारतीय आर्यसन्तान आत्मविस्मृत हो गयी है, अपने आपको भूल गयी है और विदेशी चश्मेसे अपने देश, जाति, धर्म, आचार और व्यवस्थाओंको देखने लगी है। जब कोई जाति किसी दूसरी जातिपर शासन करने लगती है, तब उसका कर्तव्य हो जाता है कि, शासित जातिको आत्म-विस्मृत करा दिया जाय। वह अपनी रीति-नीति, परम्परा, आचार-व्यवहार आदिको ही न समझने लगे और शासक जातिकी सभी बातोंको आदर्श मान ले। इस नीतिसे शासित जातिको अपनी सब बातें हीन प्रतीत होने लगती हैं और शासकोंकी सब बातें अनुकरणीय जान पड़ती हैं। भारतवासी आर्यसन्तानकी कई शताब्दियोंकी पराधीनतासे यही अवस्था हो रही है। अपने सम्मान और आर्य-गौरवको भूलकर वह परमुखापेक्षी हो गयी है। अंगरेजीकी पढ़ाईसे सब बातोंमें हम अंग्रेजोंका अनुकरण करने लगे हैं और उसीको सभ्यताकी चरमसीमा समझ बैठे हैं। अंग्रेजी पढ़ाईका सबसे बड़ा दोष यह है कि, मनुष्यमें अवास्तव अहंकार हो जाता है और अहंकारसे विमूढ़ हो जानेपर वे यह जाननेमें भी असमर्थ हो जाते हैं कि, वास्तवमें सभ्यता या संस्कृति क्या वस्तु है। अंग्रेजी अनुकरणका परिणाम यह हुआ कि, हम अंग्रेज तो बन ही नहीं सके, अंग्रेज बन जाना अस्वाभाविक और असम्भव ही था, किन्तु अपने समाज, धर्म, व्यवस्था आदिका घोर अज्ञान छा जानेसे अपना आर्यत्व भी खो बैठे। श्रीभगवान्‌की कृपासे अब ऐसा समय आ गया है कि—'बीती ताहि बिसारदे, आगेकी सुध ले'।

कहा जाता है कि, अब स्वराज्य हो गया है। स्वराज्य हुआ है, तो अच्छा ही हुआ है; परन्तु प्रश्न यह उठता है कि, किसका राज्य हुआ है? जबतक हम 'स्व' शब्दको अच्छी तरह नहीं समझ लेंगे, तबतक यथार्थ स्वराज्यकी कल्पना करना हास्यास्पद ही समझा जायगा। 'स्व'का ज्ञान हो जानेपर ही स्वराज्यकी रूपरेखा निश्चित की जा सकती है। पहले यह जान लेना आवश्यक है कि, हम हैं कौन? हमारा लक्ष्य क्या है? हमारी परम्परा क्या है? हमारा कर्त्तव्य क्या होना चाहिये और अपना राज्य हो जानेपर हमें किस रीति-नीतिको अपनाना चाहिये, जिससे हम जियें और अन्य मानवसमाजोंको भी जीनेकी गुञ्जाइश रखें। पृथ्वीकी जितनी मनुष्य-जातियाँ हैं, उनमें आर्यजाति सबसे पुरानी है और इसकी संस्कृति भी अतिप्राचीन है, यह तो पश्चिमी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इतने दीर्घकालतक अनेक आक्रमणों और आघातोंको सहकर यह जीवित रह सकी है, इसके कारणोंको जान लेना भी आवश्यक है। इसकी संस्कृतिमें ऐसी चिरजीवित्व-की कौनसी बातें हैं कि, संसारकी कितनी जातियाँ उठीं, बढ़ीं, उत्कर्षको प्राप्त हुईं और अन्तमें अनन्त-कालके गर्भमें समा गयीं; परन्तु यह ज्यों-की-त्यों बनी हुई है? उन बातोंको जानकर, यदि उनमें कुछ मलिनता आ गयी हो, तो उसे दूर कर, उन्हें फिर अपना लें और तदनुसार शासन-व्यवस्थाको निश्चित

करें, तभी स्वराज्यप्राप्तिसे हम पुलकित हो सकते हैं। अन्यथा 'सब हँसे, तो हम भी हँस दिये' यही कहावत चरितार्थ होगी। अंग्रेजोंके हट जानेसे ही हम यह नहीं कह सकते कि, हमारा राज्य—स्वराज्य हो गया। यह तो एक घटनाचक्र है, जो घूमाही करता है। उससे लाभ उठाकर हम अपनेको समझकर अपनी सब बातोंको जब सम्हाल लेंगे, तभी यथार्थरूपमें स्वराज्य प्राप्त करनेका आनन्द मनानेके अधिकारी होंगे। हम अपने आपकी जबतक उपेक्षा करते रहेंगे, तबतक 'स्वराज्य'शब्दसे उल्लसित हो जाना व्यर्थ है। 'मन मोदक नहिं भूख बुझावहिं'।

यद्यपि इस समय अंग्रेज अफ़सरोंके स्थानपर हिन्दुस्थानी अफसर आ गये हैं, परन्तु शासन-व्यवस्थाका वही पुराना ढाँचा बना हुआ है। विशेषता यह अवश्य हुई है कि, हमारी सामाजिक व्यवस्थामें जहाँ हस्तक्षेप करनेकी उलझनमें अंग्रेज नहीं पड़ते थे, वहाँ वर्तमान शासक अधिकारके बलपर उस व्यवस्थाको तोड़-ताड़ डालनेके लिये डण्डा लेकर पीछे पड़ गये हैं। इसका कारण यह है कि, वर्तमान शासनके सूत्र जिनके हाथमें है, वे अंग्रेज़ी-शिक्षासम्पन्न हैं, पश्चिमी सांचेमें ढले हुए हैं और भारतको भी पश्चिमी रंगमें रंगनेपर तुल गये हैं। परन्तु भारत कभी भी योरप नहीं हो सकता, यहाँकी जलवायु, प्रकृति, परिस्थिति आदि सभी योरपसे भिन्न है। भारत भारत ही रहेगा और अनादिकालसे जैसा यह जगद्गुरु रहा है, वैसाही रहेगा तथा अपनी आध्यात्मिकताकी देन संसारभरके मानव-समाजको देता रहेगा। इसीसे जगत्का मङ्गल होना सम्भव है।

इस समय जिन लोगोंके हाथमें शासनकी बागडोर है, वे विद्वान् हैं, इतिहासवेत्ता हैं, राजनीतिज्ञ हैं, प्रभावशाली हैं और कर्तृत्वसम्पन्न हैं, इसमें सन्देह नहीं ; फिर भी वे आर्यधर्म और आर्यसंस्कृतिसे उदासीन ही नहीं, घृणा भी करते हैं, डरते हैं और उसे नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते हैं, इसका कारण क्या है ? हमारी समझमें इसके कारण निम्नलिखित हो सकते है :—

प्रथमतो आर्यसंस्कृतिका उन्होंने अध्ययन ही नहीं किया है। उन्होंने वेद और शास्त्रोंका अच्छी तरह अध्ययन किया होता और उनकी भाषाओंको तथा उनके लक्षणोंको जानकर आर्यसंस्कृतिको ठीक तरहसे समझनेका प्रयत्न करते, तो अपनी भ्रान्त धारणाको जान जाते। जो आर्यशास्त्रोंका सरसरी तौरसे कभी कदाचित् अवलोकन करते भी हैं, तो अंग्रेजीके माध्यमसे। अंग्रेजी भ्रान्त भाषान्तरोंसे महर्षियोंके गूढ़ दार्शनिक विषय जाने नहीं जा सकते। और उनको जाने बिना आर्यसंस्कृतिका ज्ञान हो नहीं सकता। अन्ततः आर्यसंस्कृतिका अज्ञानही प्रथम कारण है। दूसरा कारण है,—दैवीजगत् और उसकी शृंखलाको न जानना। तीसरा कारण है,—जीवपिण्ड कितने प्रकारका है और उसमें परिणाम कैसे होता है, इसको न समझना। चौथा कारण है,—आर्योंके संकल्पमें ब्रह्माण्डरूपी देश और कल्प, मन्वन्तर आदि कालका जो उल्लेख किया जाता है, उसका रहस्य न समझना। पाँचवाँ कारण है,—दैवीसृष्टि और मानवीसृष्टिकी पृथकताको न जानना। छठा कारण है,—सतीत्वका महत्त्व तथा इस सम्बन्धसे सदाचार और कदाचारके विज्ञानको न जानना। और सातवाँ कारण है,—अवतारचरित्रोंको न समझना। आर्यसंस्कृति इन्हीं

स्तृत बातों पर अवलम्बित है और इनको हृदयङ्गम किये बिना आर्यसंस्कृति और आर्यधर्मका स्वरूप जाना नहीं जा सकता। जो दूरदर्शी नेता इन बातोंको समझनेका प्रयत्न करेंगे, उनसे जातिनाशकारी भयंकर भूल हो नहीं सकती। उन्हींकी सहायताके लिये यह लेख लिखनेका प्रयत्न किया जा रहा है, जिससे गुरुतर प्रमाद और पापसे बचें और यथार्थ स्वराज्यका वे उपभोग कर सकें।

संसारकी मनुष्यजातिकी संस्कृतिको यदि दो भागोंमें विभक्त किया जाय, तो एक होगी आर्यसंस्कृति और दूसरी अनार्यसंस्कृति। दोनोंका लक्ष्य नितान्त भिन्न है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयोंका इन्द्रियों द्वारा भोग करनेके लिये ही अनार्यसंस्कृतिमें सबप्रकारके शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक कर्म किये जाते हैं। आर्यसंस्कृतिमें चाहे किसी प्रकारका कर्म हो, आध्यात्मिकता और धर्मकी अभिवृद्धि ही उसका लक्ष्य होता है। आर्यलोग भी इन्द्रिय-विषयोंको ग्रहण करते हैं, वे भी मनुष्य ही हैं; परन्तु वे आत्मोन्मुख होकर उनको ईश्वरके चरणोंमें अर्पण करके करते हैं। इसीसे वे बन्धनसे बच जाते हैं। निष्कामभावसे ईश्वरार्पण-बुद्धि रखकर जो कर्म किये जाते हैं, उनसे बन्धन नहीं होता। भगवान्‌की आज्ञा है :—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थात् हे अर्जुन! तुम जो कुछ करो, खाओ, हवन करो, दान करो या तप करो, वह मुझे अर्पण कर दिया करो। इसी आज्ञाके अनुसार आर्यसंस्कृतिमें नित्यके उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागने, वस्त्र-पहनने, भोजन करने आदि व्यवहारोंके आदि तथा अन्तमें भगवत्स्मरण करनेकी विधि है। किसी अवस्थामें भगवान्‌को न भूलना और उन्हींकी आज्ञाधीन होकर सब कर्तव्योंका पालन करना आर्यसंस्कृतिका पहला लक्षण है।

आर्यसंस्कृतिको अच्छी तरह जाननेके लिये दैवीजगत् और उसकी शृङ्खलाको जान लेना आवश्यक है। आर्यजाति ईश्वर और परलोकको माननेवाली आस्तिक जाति है। आर्योंके दर्शनशास्त्रने यह सिद्ध कर दिया है कि, इस स्थूल मृत्युलोककी व्यवस्था और सञ्चालन सूक्ष्म दैवीलोक द्वारा होता है। सर्वशक्तिमान् भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कार्य करते रहते हैं। हम जिस ब्रह्माण्डमें रहते हैं, उसका स्वरूप जान लेनेसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी कल्पना की जा सकती है। हमारा यह ब्रह्माण्ड चौदह लोकोंमें विभक्त है। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ये सात ऊपरके लोक हैं और अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात नीचेके लोक हैं। ऊपरके लोकोंमें देवताओं और उन्नत आत्माओंका तथा नीचेके लोकोंमें असुरोंका निवास है। भूः और भुवः ये दो लोक भौमस्वर्ग कहाते हैं इसीमें सब ग्रह-नक्षत्र और सूर्यलोक है। उसके अन्तमें ध्रुवलोक है, जो रातमें एकही स्थानमें उत्तर दिशामें दिखायी देता है। उसकी उत्तरमें माहेन्द्रस्वर्ग है, जिसको स्वर्लोक भी कहते हैं। उसकी उत्तरमें प्राजापत्य-स्वर्ग है, जो महर्लोक कहाता है। उसकी उत्तरके जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ब्राह्मस्वर्गके नामसे प्रसिद्ध हैं। उक्त सात लोकोंमेंसे भूर्लोक सातद्वीपोंमें

विभक्त है। उनमेंसे सबसे छोटे द्वीपको जम्बुद्वीप कहते हैं। सातों द्वीप जलसे नहीं, किन्तु विभिन्न वातावरणसे घिरे हुए हैं। जम्बुद्वीपमें ही सुमेरु-पर्वत ऊपरतक गया है। मानवी शरीरके मेरुदण्डकी तरह वह ब्रह्माण्डका मेरुदण्ड है। वह दैवीपर्वत है। जम्बुद्वीपके अन्तर्गत ही दक्षिणदिशामें श्रीभगवान् यमधर्मराजकी राजधानी है, जो साधारण लोगोंके लिये स्वर्गलोक है। इसीके निकट नरकलोक है, जो अपराधियोंको दण्ड देनेके लिये कारागार-स्वरूप है। जीव जो कर्म करता है, चाहे मनसे, बुद्धिसे, शरीरसे या वाणीसे उसका संस्कार भगवान् यमधर्मराजके यहाँ पहुँच कर अङ्कित हो जाता है। उसीके अनुसार जीवको पाप या पुण्यका फल भोगना पड़ता है। उदाहरण रेडियो-यन्त्र है। पृथ्वीके किसी कोनेका कोई शब्द जिसप्रकार इस यन्त्रमें प्रकाशित हो जाता है, उसीप्रकार मनुष्यके चित्ता-काशके संस्कार ब्रह्माण्डके चिदाकाशमें अंकित हो जाते हैं।

जैसे देवलोकके राजा देवराज इन्द्र हैं, वैसे असुर-लोकके राजा असुरराज होते हैं, जो अपनी अपनी शृङ्खलाकी रक्षा किया करते हैं। देवता कभी असुर-लोकके पानेकी इच्छा नहीं करते; क्योंकि वे आसुरी सुखके लोक हैं, जो देवलोकके सुखके विपरीत हैं। परन्तु असुर प्रायः देवलोक पर आक्रमण करते रहते हैं। इसीसे देवासुर-संग्राम हुआ करता है।

पूर्वकथित जम्बुद्वीपमें नौ वर्ष हैं। उनमें से एक भारतवर्ष है, जिनको दुनियाँ कहते हैं। यह मृत्युलोक है, जो इस ब्रह्माण्डके हजारवें हिस्सेसे भी कम है, इसीमें माताके गर्भसे जीव उत्पन्न होता है। शेष-वर्ष देवलोक हैं। देवलोकके साथ मृत्युलोकका ऐसा सम्बन्ध है कि, यहांके जीव अपने पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये शरीरान्त होनेपर नरक या स्वर्गमें जाते हैं और भोग शेष हो जानेपर फिर यहीं आ जाते हैं और फिर नये संस्कार ग्रहण करने लगते हैं। इसी आने-जानेके क्रमको आवागमन-चक्र कहते हैं। इस मृत्युलोकमें जिसका कुल ठीक रहता है, उसीके कुलमें लौटा हुआ जीव जन्मग्रहण करता है और कुल ठीक न रहनेपर दूसरे कुलमें चला जाता है। इसीसे कुलको ठीक रखनेकी शास्त्राज्ञा है और हिन्दू-लोगोंमें कुलीनताका महत्त्व माना गया है। देवताओं-के हाथमें समस्त विश्वका प्रबन्ध साधारण तौरपर रहता है। जब देवता हार जाते हैं, तब कुछ दिन गड़बड़ रहती है; परन्तु जब वे जीत जाते हैं तब सब प्रबन्ध पूर्ववत् हो जाता है। सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा सृष्टिकार्यका नेतृत्व करते हैं। भगवान् विष्णु स्थितिकार्यका नेतृत्व करते हैं और भगवान् शिव लयकार्य तथा जीवको मुक्ति प्रदान करनेके कार्यका नेतृत्व करते हैं। क्योंकि निर्वाणमुक्ति, जो सामीप्य, सारूप्य आदि मुक्तियोंसे परे हैं और जिसमें जीवके स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणशरीरका भी लय हो जाता है, वह एक आत्यन्तिक प्रलय ही है। यह कार्य भगवान् शिवके अधीन है। इसी तरह प्रत्येक ब्रह्माण्डमें सर्वशक्तिमान्, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान्के प्रतिनिधिरूपसे उक्त तीनों देवताओंका पृथक् पृथक् नियन्त्रण रहता है।

हमारे इस ब्रह्माण्डमें उन त्रिमूर्त्तियोंके अधीन द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अष्टवसु और दो और देवता, जिनके नाम प्रत्येक मन्वन्तरमें अलग अलग होते हैं, ये ही तैंतीस उच्चपदधारी देवता हैं और उनके अधीन छोटे पदधारी अनेक देवता हैं। इनके

नियामक देवता ऋषि कहाते हैं, जैसे सप्तऋषि आदि ये भी प्रत्येक मन्वन्तरमें बदल जाते हैं। कर्मके चलानेवाले और शुभाशुभ फल देनेवाले जो देवता हैं, वे ही ऊपर कहे हुए तैंतीस उच्चपदधारी देवता हैं। स्थूलशरीरके निर्माण करनेवाले और सम्हालनेवाले देवता अर्यमा, अग्निष्वात्ता आदि नित्यपितृगण कहाते हैं। माताके गर्भमें रजोवीर्यकी सहायतासे जीवके कर्मानुसार वे ही पितृगण शरीर बनाते हैं। इसी प्रकार उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजोंके चलानेवाले अनेक देवता हैं। इसप्रकार दैवीराज्यकी शृंखला बहुत विस्तृत और चमत्कारपूर्ण है। साधनके द्वारा इन सब देवताओंको प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है। इसके उपाय दर्शनशास्त्र और तन्त्रशास्त्रमें अच्छी तरह बताये गये हैं, जिनकी कल्पना आजकलके विद्वन्मन्य लोग कर नहीं सकते।

दैवीजगत् और उसकी शृंखलाको समझ लेनेके साथही साथ यह भी जान लेना चाहिये कि, जीवपिण्डकी कितनी श्रेणियाँ होती है और कैसे कैसे उनके परिणाम हुआ करते है। दर्शनशास्त्रोंने जीवपिण्डकी तीन श्रेणियाँ की हैं, १—देवपिण्ड, जो मनुष्योंके पिण्डसे विलक्षण होता है। असुर, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, ब्राह्मस्वर्गके पिण्ड, प्राजापत्य-स्वर्गके पिण्ड, भूः भुवः और स्वः लोकके पिण्ड, प्रेतलोकके जीवोंके पिण्ड, नरकलोकके जीवोंके पिण्ड, ये सब देवपिण्डके अन्तर्गत है। २—भारतवर्षरूपी जो हमारा मृत्युलोक है, जहाँ मातृगर्भसे जीवोंका जन्म होता है, उसमे उत्पन्न होने वाला मानव-पिण्ड कहाता है। इन उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजोंके जो पिण्ड है, वे सब सहजपिण्ड हैं। सहजपिण्ड सबसे पहले पृथ्वी और जल इन दोनोंके मलसे उत्पन्न होता है; जैसे—काई आदि। क्रमशः वह जीव क्रमाभिव्यक्ति (इवोल्यूशन प्रिन्सिपल) के नियमानुसार अनेक घास, ओषधि, लता, गुल्म, वृक्षआदि रूपोंमें आगे बढ़ता हुआ पीपल, वटआदि महान् वृक्षोंके पिण्डोंमें पहुँच जाता है। तदुपरान्त इसी नियमानुसार वह उद्भिज्जजातिसे स्वेदजजातिके जीवपिण्डमें पहुँच जाता है। स्वेदजजातिके जीवोंके अनेक भेद हैं। जीवशरीरमें उत्पन्न होनेवाले रोग-उत्पन्नकारी स्वेदजजीव और रोगोंका नाश करनेवाले स्वेदजजीव, इस प्रकारके अनेक कीटाणु हैं, जो साधारण दृष्टिसे दिखायी नहीं देते, किन्तु यन्त्रके द्वारा जलमें, स्थलमें सर्वत्र दिखायी देते हैं। इसप्रकार जीव उद्भिज्जसे स्वेदज सृष्टिमें जाकर फिर उत्पन्न होता हुआ अण्डज-योनिमें पहुँच जाता है। सर्प, पक्षी, पतङ्ग आदि अण्डज-योनिके जीव प्रसिद्ध ही हैं, जिनके लाखों भेद हैं। उद्भिज्जमें केवल अन्नमयकोशका विकास होता है। इसीसे वृक्षकी डार काटकर दूसरी ओर लगा देनेसे वह वृक्ष बन जाती है। स्वेदजोंमें अन्नमय और प्राणमय दोनों कोशोंका विकास होता है। इसीसे उनमें रोग उत्पन्न करने, रोग नाश करने आदिका प्रभाव देख पड़ता है। अण्डजयोनिमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशका विकास होता है। इसीसे देखा जाता है कि, कबूतर चिट्ठीरसाका काम करता है। फिर जब जीव आगे बढ़कर जरायुज योनिमें पहुँच जाता है, तब उसमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयकोशका विकास हो जाता है। इसीसे हाथी, घोड़ा, गाय, कुत्ता आदिमें बुद्धिका कार्य देख पड़ता है तदनन्तर जब अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय

और आनन्दमयकोषके विकासका समय आता है, तब वह मानवपिण्डमें पहुँच जाता है और उसके आनन्दके द्योतक हास्यका विकास होता है। चतुर्विध-भूतसंघके सहजपिण्डको छोड़कर जीव जब पञ्चकोशोंसे पूर्ण मानवपिण्डमें पहुँचता है, तब वह तीन योनियों अर्थात् द्वारोंसे होकर आता है। १—वानरयोनि, २—सिंहयोनि और ३—गौयोनि। पहले वह असभ्य मानवश्रेणीमें जन्मता है। फिर असभ्यसे सभ्य, अनार्यसे आर्य, अज्ञानीसे ज्ञानी होता हुआ तथा आवागमन-चक्रमें घूमता हुआ क्रमशः काम, अर्थ, धर्म और मोक्षके अधिकारी एवम् प्रथम प्रवृत्ति तथा फिर निवृत्तिके अधिकारोंको प्राप्त करता है। यही जीवपिण्डकी क्रमाभिव्यक्तिका क्रम है और यही जीवपिण्डका परिणाम है। आर्योंको छोड़कर ऐसा स्वानुभव पृथ्वीकी किसी जातिने नहीं किया है और यह भी आर्यसंस्कृतिकी एक विशेषता है।

कोई भी व्यवस्था या कृति यदि देश-कालको न समझकर की जाय, तो वह विफल हो जाती है। इसीसे बुद्धिमान् लोग देश और कालका बहुत विचार रखते हैं। अतः पहले यह विचार लेना चाहिये कि, देश और काल है क्या वस्तु? प्राचीन आर्यलोगोंने देश और कालका स्वरूप जान लिया था, इसीका कारण प्रत्येक धर्मकार्यके सङ्कल्पमें वे देश और कालको दृष्टिके सामने रक्खा करते थे। आर्यगण चतुर्दशभुवनमय देशको अपना देश मानते थे। इन भुवनोंका विवरण पहले किया गया है। प्राचीनकालमें इन भुवनोंका ऐसा परस्पर सम्बन्ध था कि, इस मृत्युलोकके मानवपिण्डधारी जीव स्वर्गादिलोकोंमें जाया करते थे और वहाँके देवपिण्डधारी यहाँ आया करते थे। महाभारतका समय पाँचहजार वर्षसे कुछ ही ऊपर है। उस महान् प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थसे विदित होता है कि महाभारतके समयतक देवपिण्डधारी देवताओंका यहाँ आना और यहाँके मानवपिण्डधारी मनुष्योंका वहाँ जाना चलता रहता था। देवर्षि नारद और महर्षि दुर्वासा देवपिण्डधारी थे। उनका सर्वत्र पहुँचना रामायण और पुराणादि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। महर्षि दुर्वासाके उपदिष्ट मन्त्रसे आकृष्ट होकर भगवान् सूर्यदेव, भगवान् यमधर्मराज, भगवान् वायुदेव और भगवान् इन्द्रदेवने मृत्युलोकमें आकर मानवपिण्ड धारणकर कुन्तीदेवीमें गर्भाधान किया था। देवताओंके लिये एक पिण्डसे दूसरे पिण्डमें चले जाना सुगम है और देवताओंकी कृपासे मानवपिण्ड भी देवपिण्डमें परिणत हो सकता है। महावीर अर्जुन इसी शरीरसे स्वर्ग गये थे और वहाँ बहुत कुछ कार्य भी किया था; परन्तु इस शरीरके परमाणु बदलकर वे देवशरीरमें परिणत हुये थे। इसी तरह परमाणु परिवर्तन कर धर्मराज युधिष्ठिर भी स्वर्गमें पहुँचे थे। राजा दुर्योधनका स्थूलशरीर यद्यपि यहीं पड़ा रहा, तथापि उनके सूक्ष्मशरीरके असुरलोकमें पहुचने और उपदेश पानेका प्रमाणभी पाया जाता है। मानवोंका स्वर्गादि लोकोंमें जाना और देवताओं तथा असुरोंका यहाँ आना महाभारत-कालके अनन्तर भी हुआ करता था। बाइबिलमें लिखा है कि, महात्मा ईसाका जन्म बिना पिताके हुआ था। कुरानशरीफसे पता चलता है कि महात्मा महम्मदके समयमें देवपिण्डधारी फ़रिश्तोंका और असुरोंका यहाँ आना-जाना होता था। इन्हीं प्रमाणोंसे आर्यगण चतुर्दश भुवनोंको अपना देश समझते थे।

कालके विषयमें भी आर्योंकी धारणा अति महान् है। आर्यशास्त्रोंके हिसाबसे ४ लाख ३२ हज़ार मानववर्षोंका कलियुग, उससे दुगना द्वापर, उससे दुगुना त्रेता और उससे दुगुना सत्ययुग होता है। इन चारोंका मिलकर महायुग कहाता है और ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है। १४ मन्वन्तरोंका एक कल्प अर्थात् श्री ब्रह्माजीका एक अहोरात्र होता है। इस प्रकार ब्रह्माजीके १०० वर्ष होने पर उनकी आयु समाप्त होकर वे ब्रह्मीभूत हो जाते और उनके पदपर दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। ब्रह्माकी आयुके १०० वर्षोंमें श्रीविष्णु भगवान्का एक अहोरात्र होता है और विष्णुके १०० वर्षोंमें श्री भगवान् शिवजीका एक अहोरात्र होता है। परन्तु शिवजीके १० करोड़ निमेषोंमें श्री जगदम्बाकी एकही त्रुटि होती है। प्रत्येक मन्वन्तरमें यद्यपि इन्द्रादि देवपदधारी देवता, ज्ञानके परिचालक ऋषि और स्थूलशरीरके संचालक नित्यपितृगण बदल जाते हैं, किन्तु सम्पूर्ण प्रलय नहीं होता, खण्डप्रलय होता है और भूः भुवः स्वः इन तीनों लोकोंकी शृङ्खला और सभ्यतामें अन्तर पड़ जाता है, परन्तु श्रीजगदम्बाकी एक त्रुटिमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका प्रलय हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशके प्रकट होनेसे पहले प्राकृतिक सृष्टि होती है और उसमें ब्रह्माण्डके उपादानरूपी परमाणुपुञ्जोंको एकत्र करनेमें समय लगता है। इसीतरह जीवोंका प्रलय करके शिवजीके ब्रह्मीभूत हो जानेपर उनके बिखरनेमें भी समय लगता है। सृष्टि और प्रलयके सब कार्य जिस समयमें हों, उस समयको ब्रह्माण्डकी आयु कह सकते हैं। हर एक ब्रह्माण्डके एक एक ब्रह्मा, विष्णु, महेश होते हैं और वे अपने अपने १०० वर्ष बीतनेपर ब्रह्मीभूत हो जाते और उनके स्थानों पर नये त्रिदेव आ जाते हैं।

इस विवरणके अनुसार आर्य-महर्षियोंको कालकी विशालताका जैसा पता लगा था, वैसा उसकी सूक्ष्मताका भी पता लगा था। वर्तमान कालके मापमें सेकेण्डसे सूक्ष्मकालका माप करनेकी गुञ्जाइश नहीं है। परन्तु आर्ष हिसाबसे १०० त्रुटिका १ पर, ३० परका १ निमेष, १८ निमेषकी एक काष्ठा, २० काष्ठाकी एक कला, ३ कलाकी एक घटिका, २ घटिकाका १ क्षण और ३० क्षणका १ अहोरात्र होता है। कालकी इतनी सूक्ष्मता संसारकी किसी जातिने नहीं जानी है। जो आधुनिक विद्वान् कल्पनाके आधारपर ब्रह्माण्डकी आयु जाननेका प्रयत्न करते हैं, वे यदि आर्योंके देश-काल-ज्ञानका अध्ययन करें, तो उन्हें वास्तविकता ज्ञात हो जायगी और भ्रान्त नहीं होना पड़ेगा।

श्रद्धा और विश्वासके उठ जानेसे आजकलके वैज्ञानिक दैवीसृष्टि और मानवी सृष्टिके अन्तरको हृदयङ्गम नहीं कर सकते। दैवीसृष्टिकी तुलनामें मानवी सृष्टि बहुतही छोटी वस्तु है। मानवपिण्ड केवल मृत्युलोकमें ही उत्पन्न होता है और उसकी शक्ति बहुत सीमित रहती है। देवपिण्डमें दैवीशक्तिका प्राधान्य रहनेसे जन्मसे ही उसमें पूर्णता आ जाती है और उसकी शक्ति अमोघ रहती है। साधारण मनुष्य अपनी साधारणबुद्धिसे दैवीसृष्टिका स्वरूप समझ नहीं सकते, इसीसे अपने पूर्वजों पर नाना निर्मूल आक्षेप किया करते हैं। इस पापसे बचनेके लिये उन्हें आर्यशास्त्रोंके द्वारा दैवीसृष्टि और मानवीसृष्टिका रहस्य समझ लेना चाहिये। आजकल युरोप और अमेरिकाके कुछ खोजी विद्वान्

टेबल, रेपिंग, प्लैंचेट, सरकल आदि क्रियाओंके द्वारा देवताओंसे सम्बन्ध स्थापन करनेका प्रयत्न करते हैं; परन्तु क्षुद्र प्रेतोंसे ही उनका सम्बन्ध स्थापन होता है, उन्नत देवताओंसे नहीं। जीवपिण्डकी श्रेणियाँ और उनके परिणाम पहले बताये जा चुके हैं। यहाँ यह देखना है कि, मानवपिण्डकी देवपिण्डसे कितनी प्रथकृता है और देवपिण्डकी शक्ति कितनी महान् है। देवपिण्डधारी बड़े बड़े देवता यदि चाहें, तो मानवपिण्ड धारणकर मनुष्यलोकमें बड़े बड़े आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। वे सिद्धमन्त्रोंसे आकृष्ट होकर मानवपिण्ड धारणकर मानव-पिण्डधारिणी स्त्रीके गर्भाधान कर सकते हैं। महर्षि दुर्वासाके सिद्धमन्त्र द्वारा आकृष्ट होकर देवताओंके द्वारा गर्भाधान होनेसे वीरवर कर्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, धनुर्धर अर्जुन आदिकी उत्पत्ति हुई थी।

देवपिण्डधारियोंमें ऐसी विलक्षण शक्ति होती है कि, वे मानवपिण्डधारियोंके परमाणुओंमें परिवर्तन कर उनको देवपिण्डधारियोंमें परिणत करके देवलोकमें ले जाते हैं। महाराजा दशरथ इसीतरह असुरोंको दबानेके लिये देवलोकमें गये थे। वीरवर अर्जुनने देवलोकमें जाकर इन्द्रसे बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त की थी। महाराजा युधिष्ठिर सदेह स्वर्ग गये थे। जिसप्रकार देवपिण्डधारी मानवपिण्डकी स्त्रियोंमें गर्भधारण कर सकते हैं, उसीप्रकार देवाङ्गनाओंके द्वारा मानवपिण्डधारी पुरुषोंके संयोगसे सृष्टि उत्पन्न हो सकती है। शकुन्तलाकी उत्पत्ति इसी तरह हुई थी। महाराजा शान्तनुने गङ्गादेवीके द्वारा आठ पुत्र उत्पन्न किये थे। पितामह भीष्मदेव उनमेंसे आठवें थे। महर्षि पराशर और सत्यवती दोनों देवपिण्डधारी थे। उनसे व्यासदेवने जन्मग्रहण किया था। देवपिण्डधारियोंमें विशेषता यह होती है कि, उनकी सन्तति पूर्णावयव होती है। व्यासदेव भी पूर्णावयव थे और उनकी स्थिति अब भी है। इसीसे उन्होंने श्रीशङ्कराचार्यको दर्शन दिये थे। महारानी द्रौपदी भी देवपिण्डधारिणी थीं और हवनकुण्डसे उत्पन्न हुई थीं। इसीसे पाँच पति होनेपर भी वे सतीत्वधर्मकी रक्षा कर सकीं। अब भी यदि कोई देवताओंको प्रत्यक्ष करना चाहें, तो यथायोग्य प्रयत्न करनेसे सफलकाम हो सकते हैं।

आजकलके विद्वानोंको अवतार-चरित्रोंमें विश्वास न होनेसे इतिहासको कल्पनाकी दृष्टिसे देखते हैं। श्रीभगवान् गीतामें अर्जुनसे कहते हैं,—अर्जुन! तुम्हारे और मेरे कितने ही जन्म हो चुके हैं, उनको तुम नहीं जानते; परन्तु मैं जानता हूँ। इसका रहस्य यह है कि, भगवान् विष्णुके पूर्णावतार थे। इसकारण वे भूत-भविष्य सब जानते थे और पूर्णदैवीशक्तिसम्पन्न थे। उनके लिये असाध्य कुछ नहीं था। यह उनकी ब्रजकी बाललीलाओंसे ही सिद्ध है। नन्हींसी अवस्थामें शकटासुर, अघासुर, बकासुर, पूतनाआदिको मारना, कालियनागको नाथना, गोवर्धन-पर्वतको अंगुलीपर उठाना आदि कार्य अवतारी महामानवके अतिरिक्त कोई कर नहीं सकता।

किशोरलीलामें कुबड़ीको सुन्दरी बना देना, कुवलयाके दाँत तोड़ना, मुष्टिक-चाडूरको मार गिराना और कंसका सिर उतार लेना पूर्णावतारी पुरुषके लिये ही सम्भव था। जिसके जैसे कर्मसंस्कार होते हैं, उनकी मर्यादाका पालन पुरुषोत्तमको करना ही पड़ता है। इसीसे अपनी इच्छाशक्तिसे पश्चिमी सागरमें द्वारकानगरी निर्माण कर वहाँ

यादवोंको बसाया और जरासन्धके अत्याचारोंसे उनकी रक्षा की। जरासन्धको स्वयं न मारकर आगे चलकर भीमसेनसे उसे मरवाया; क्योंकि भगवान्‌के हाथोंसे उसकी मृत्यु बदी नहीं थी। सोलह सहस्र रानियोंको उतने ही रूप धारणकर सन्तुष्ट किया करते थे; क्योंकि वे योगेश्वर थे। उनके लिये असम्भव क्या था ? फिर भी राजसूययज्ञके समय ब्राह्मण-पुत्रको जिलानेसे उनका ब्रह्मचर्य सिद्ध हो चुका था। इसी तरह अपने गुरु सन्दीपिनी ऋषिके पुत्रको भी यमलोकसे लौटा लाये थे। लौकिक चरित्रमें भी उनका सुदामाके साथ किया हुआ व्यवहार लोकोत्तर है। गजेन्द्रमोक्ष और द्रौपदीकी लज्जारक्षाका उनका कार्य किसके हृदयमें श्रद्धाका सञ्चार नहीं करता !

भगवान् श्रीकृष्णका अवतार-चरित त्रिविध भावोंसे परिपूर्ण है। उनकी व्रजलीला अधिदैवभावसे अलंकृत है। द्वारकाकी लीला अधिभूतभावसे सुमण्डित है और वेदकी सारस्वरूपा गीताका प्रकाशन उनके आध्यात्मिक भावसे ओतप्रोत है। भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र आदिसे अन्ततक अतिविचित्रतासे पूर्ण है। उसमें कर्मका स्वरूप विशदरूपसे प्रकट हुआ है। भगवान् रामचन्द्रका चरित्र मर्यादा पुरुषोत्तमका चरित्र है। आदर्श धार्मिक मनुष्य कैसा होना चाहिये, आदर्श धार्मिक राजा कैसा होना चाहिये, आदर्श धार्मिक सद्‌गृहस्थ कैसा होना चाहिये, श्रीरामचरितमें उसकी मर्यादाकी पराकाष्ठा हुई है। श्रीरामचरित्रमें मन्त्रशक्तिके चमत्कार विशेषरूपसे देख पड़ते हैं। महर्षि विश्वामित्रसे उन्हें बला और अतिबला विद्या प्राप्त हुई थी, जिनके प्रभावसे भूख-प्यास नहीं लगती थी। एक बाणसे मारीचको दक्षिणभारतमें उन्होंने फेक दिया था और इन्द्रपुत्र जयन्तको एक तिनकेसे तीनों लोकोंमें दौड़ाया था। जटायुके सम्बन्धकी उनकी कृतज्ञता सिद्ध ही है। उस समयके मन्त्रपूत शस्त्रास्त्रों और विमान आदिके वर्णनोंको पढ़कर लोग उनकी आजकलके ऐरोप्लेन, ऐटम बमके साथ तुलना करते हैं; परन्तु यह उनका भ्रम है। मन्त्रशक्तिके प्रभावका अज्ञान है। प्राचीन मन्त्रशक्तिपूर्ण अस्त्र आजकलके भौतिक अस्त्रोंकी तरह अकारण सृष्टिका नाश नहीं करते थे, किन्तु जिसपर वे चलाये जाते थे, उसीका संहार कर या अपना नियोजित कार्य कर पुनः प्रेरकके पास लौट आते थे, वह शक्ति ऐटम बम जैसे आधुनिक अस्त्रोंमें कहा है ?

आर्यगण कितने प्रकारकी पुस्तकें और उनकी कितने प्रकारकी भाषाएँ मानते थे, इसके न जाननेसे भी प्राचीन वेदशास्त्रोंके सम्बन्धमें आजकलके विद्वान् भ्रममें पड़ जाते और अपने आर्यपूर्वजों पर नानाप्रकारके निर्मूल आक्षेप कर बैठते हैं। यदि उन्हें वास्तविकता जाननेकी इच्छा हो, तो उन्हें जानना चाहिये कि, आर्यगण पाँच प्रकारकी पुस्तकें मानते थे। वे पुस्तकें हैं,—ब्रह्माण्ड, नाद, बिन्दु, पिण्ड और अक्षरमयी। ब्रह्माण्डपुस्तक ब्रह्माण्डके अधीश्वर ब्रह्मा विष्णु और शिवके द्वारा प्रकाशित होती है। ब्रह्माके कहे हुए शास्त्र, विष्णुके प्रतिपादित शास्त्र, शिवनिर्मित तन्त्रादि ब्रह्माण्डपुस्तकके अन्तर्गत है। नादपुस्तक वेद हैं, जो कल्पारम्भमें महर्षियोंको ज्योंके त्यों सुनाई देते हैं। योगिगण बिन्दुमें संयमकर योगशक्तिके द्वारा जो अलौकिक शास्त्र प्रकाशित करते हैं, उसे बिन्दुपुस्तक कहते हैं और ज्ञानके अधिष्ठाता महर्षिगणके द्वारा या उनकी प्रेरणासे जो पुस्तक

प्रकाशित होती है, वह पिण्डपुस्तक है। पाँचवीं अक्षरमयी पुस्तक है, जो लिखी या छापी जाती है। यह नाशवान् है, परन्तु शेष चारों अविनाशी हैं और यथासमय उनका आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। वेदोंमें सत्त्व, रज, तम ये त्रिगुण और अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये त्रिभाव समान-रूपसे विद्यमान होनेसे उनमें ज्ञानकी पूर्णता है, वे अभ्रान्त और नित्य हैं।

इसीतरह वेद और शास्त्रोंकी भाषाएँ तीन हैं,—समाधिभाषा, लौकिक-भाषा, और परकीयभाषा। वेदों, इतिहास-पुराणों और तन्त्रादिशास्त्रोंमें प्रायः लौकिक अर्थात् रहस्यमयी भाषाका ही प्रयोग हुआ है और वह श्रीभगवान्का भी प्रिय है। प्राण, इन्द्रिय और मनोमय शब्दब्रह्म अतिदुर्बोध और समुद्रकी तरह अपार है, गम्भीर और दुस्तर है। अतः रहस्यमयी लौकिक भाषाका बड़ा महत्त्व है ; जैसे,—श्रीमद्भागवतकी रासलीला। गाथा-गुम्फित परकीय-भाषामें तो अतिविचित्रता होती है। जहाँ जैसी आवश्यकता होती है, वहाँ वैसा उसका उपयोग होता है। परस्परविरोधी दो घटनाओंमेंसे दोनों सत्य होनेपर भी कल्पान्तरके तारतम्यसे चरित्रोंमें अन्तर देख पड़ता है ; जैसे,—श्रीमद्भागवतका और देवीभागवतका शुकदेवका चरित्र। समाधिभाषामें ऐसा अनन्तर नहीं देख पड़ता : क्योंकि समाधिगम्य विषय एकही तरहका होता है। जैसे,—आत्माका स्वरूप, प्रकृतिका स्वरूप, सृष्टि और लयका क्रम इत्यादि। वेद, पुराण, तन्त्रआदिकी समाधिभाषा एकही तरहकी होनेपर भी लौकिकभाषाका रहस्य-मय वर्णन और परकीयभाषाका गाथा-गुम्फित वर्णन एकसा न होनेसे उसके पढ़ने-सुनने और मनन करनेवाले इस रहस्यके न जानने वाले भूलभुलैयामें पड़ जाते और अण्डबण्ड आक्षेप करने लगते हैं। यदि वे सुयोग्य गुरुदेव अथवा आचार्यसे भाषाज्ञान प्राप्त कर लें, तो अपने पूर्वजोंके प्रति जो अपराध कर रहे हैं, उस पापसे बच जायँगे। यदि विदेशी ग्रन्थकारोंकी बातोंपर अन्धविश्वाससे निर्भर न रहकर वे अपने प्राचीन आर्षसाहित्यका ध्यानपूर्वक अध्ययन करें, तो उक्त सब बातें सत्यके रूपमें आइनेकी तरह उनकी आँखोंके सामने आ जायँगी। इस अध्ययनमें श्रीमहामण्डलद्वारा प्रकाशित 'निर्मूल आक्षेपोंका उत्तर', 'अन्तःकरणविज्ञान', 'स्त्री-पुरुषविज्ञान', 'हिन्दूधर्मका स्वरूप', 'स्मरणी' आदि पुस्तिकाएँ सहायक हो सकती हैं। श्रीभग-वान्के चरणकमलोंमें यही प्रार्थना है कि, हमारे देशके चिन्ताशील स्त्री-पुरुषोंको ऐसी बुद्धि प्रदान करें, जिससे उनके भ्रम दूर होकर उनको सत्यका प्रकाश देख पड़े।

परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका अवतार क्यों होता है ?

(लेखक :—भक्त रामशरणदासजी पिलखुवा)

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी आ रही है। कौन ऐसा भारतीय हिन्दू है कि जो श्रीकृष्णजन्माष्टमीका नाम सुनतेही प्रसन्न न हो जाता हो, गद्‌गद् न हो जाता हो। ३० करोड़ हिन्दुओंके हृदयसर्वस्व जीवनाधार प्रभु श्रीकृष्ण आजके ही दिन श्रीदेवकीजी की परमपवित्र कोखसे प्रकट हुए थे। जो ब्रह्म बड़े बड़े योगियोंके, ज्ञानियोंके, ध्यानियोंके, त्यागियोंके, तपस्वियोंके, ध्यानमें भी नहीं आते वही ब्रह्म आजके दिन इस परमपवित्र भारतकी गलीगली घूमने, खेलने, कूदने, हँसनेके लिये प्रकट हुये थे। आज अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक जगन्नियन्ता साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् निराकारसे साकार हो सनातनवर्णाश्रमधर्म, हिन्दूधर्मकी रक्षाके लिये, गौ-ब्राह्मणों, साधु-सन्तों, वेदशास्त्रों, मन्दिरोंकी रक्षाके लिये अवतीर्ण हुये थे। धन्य है इस भारतमाताको, सनातनधर्मको, श्रीवसुदेव-देवकीको श्रीनन्दबाबा और श्रीयशोदा मईयाको।

क्या श्रीकृष्ण काल्पनिक हैं ?

आजकलके कुछ मनचले मनुष्य कहते हैं कि श्रीकृष्ण काल्पनिक हैं, कुछ कहते हैं कि श्रीकृष्ण योगी हैं, कुछ कहते हैं कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं। लेकिन ऐसा कहनेवाले सभी घोर पाप करते हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मको साधारण मनुष्य मानना या नहीं हुये हैं ऐसा मानना श्रीकृष्णका घोर अपमान करना है। कुछ मनुष्य बड़े जोर-शोरसे प्रचार करते देखे जा रहे हैं और कहते देखे जा रहे हैं कि जब देशके सुप्रसिद्ध नेता गाँधीजीने अनासक्तियोगमें श्रीकृष्णको काल्पनिक लिखा है तो श्रीकृष्णको मानना मूर्खता है। हम तो यह डंकेकी चोट घोषणाकर कहनेको तैयार हैं कि एक गाँधीजी नहीं, करोड़ों गाँधीजी भी मिलकर कहें कि श्रीकृष्ण काल्पनिक हैं, श्रीकृष्ण नहीं हुये हैं तो भी उनकी यह मूर्खतापूर्ण बात कदापि मान्य नहीं है। करोड़ों उल्लू और चमगादड़ोंके जब यह कहनेपर कि हमें दिनमें सूर्य नहीं दीखता इसलिये सूर्य है ही नहीं, तो सूर्य कहीं नहीं चला जाता, सूर्य बराबर रहता है। इसीप्रकार देशके चाहे कितनेही बड़ेसे बड़े नेता और उनके अनुयायी मिलकर कहें कि श्रीकृष्ण नहीं हुये हैं तो उनकी इस तुच्छ बातका क्या मूल्य है ? कुछ पाश्चात्यसभ्यताके रंगमें रँगे बाबुओंका कहना है कि क्राईस्ट (ईसा) को ही श्रीकृष्ण कहने लगे हैं, क्राईस्टका नाम ही दूसरा श्रीकृष्ण है, अलग श्रीकृष्ण कोई नहीं हुये। श्रीकृष्णको काल्पनिक मानना या क्राईस्टको ही श्रीकृष्ण मानना अपनी अज्ञानता और अपनी मूर्खताका परिचय देना है। जिन भगवान् श्रीकृष्णके होनेमें वेदशास्त्र, पुराण, महाभारत उपनिषद्, गीताभागवत प्रमाण हैं, करोड़ों ऋषि-महर्षि, जिन श्रीकृष्णका दिनरात गुणगान करते थे, करोड़ों विद्वान् जिन श्रीकृष्ण की कथा कह अपनेको सौभाग्यशाली समझते थे, करोड़ों भक्त जिन श्रीकृष्णका कीर्तनकर भवसागरसे पार हो गये, समस्त हिन्दुओंके ही नहीं समस्त जीवमात्रके जो श्रीकृष्ण जीवनाधार हैं, आज भी ३० करोड़ हिन्दू

जिन श्रीकृष्णको नित्य स्मरणकर श्रद्धासे सर झुकाते हैं, लाखों श्रीस्वामीरामतीर्थ और विवेकानंदजीके अंग्रेज शिष्य केलिफोर्नियाँमें श्रीकृष्णमन्दिर बना श्रीकृष्णपूजनकर अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, जिन श्रीकृष्णके व्रजके रजमें आज भी बडे़से बड़े पापियोंको क्षणमात्रमें मुक्तिप्रदान करनेकी शक्ति विद्यमान है, महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव जिन श्रीकृष्णके प्रेममें विभोर हो 'हा श्रीकृष्ण हा श्रीकृष्ण' कह प्रेमसे रोया करते थे और १६ वर्ष तक निरन्तर जिन श्रीकृष्णके लिये गम्भीर गुफामें बैठे रोते रहे थे, जिन श्रीकृष्णके लिये श्रीसंत सूरदासजीने अपने हाथों अपने नेत्र फोड़ डाले और लाखों पद श्रीकृष्णकी लीलाके बनाये, जिन श्रीकृष्णके लिये राजारानी श्रीमीराबाई ने जहरका प्याला पीया, जिन श्रीकृष्णके लिये नरसीमेहताने अपना सर्वस्व लुटा दिया, जिन श्रीकृष्णका नाम लेकर, संत तुकाराम, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव प्रेममें विभोर हो जाते थे, जिन श्रीकृष्णके लिये बड़े बड़े राजाओंने अपना राजपाट त्याग जंगलोंका रास्ता पकड़ा, श्रीकृष्णके लिये लाखोंने अपना सर्वस्व न्यौछावर किया, जिन श्रीकृष्णका हर समय हाथमें वीणा लिये श्रीनारदजी गुणगान करते घूमा करते हैं, जिन श्रीकृष्णको साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मान भगवान् श्रीवेदव्यासने पुराणोंमें जिनका वर्णन किया, जिन श्रीकृष्णका गुणगान करनेमें श्री अवधूत शिरोमणि श्रीशुकदेवजी महाराजने अपनेको धन्य धन्य माना, जिन श्रीकृष्णकी सृष्टिरचयिता साक्षात् ब्रह्माजी चारमुखोंसे और भगवान् शेषनाग हजार मुखोंसे स्तुति करते नहीं थकते, जिन श्रीकृष्णकी कथा सुन महाराजा परीक्षित भवसागरसे पार हो गये, जिन श्रीकृष्णके ध्यानमें भगवान् जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी हर समय मग्न रहते थे, जिन श्रीकृष्णकी भक्तिका प्रचार करनेके लिये श्रीशेषावतार भगवान् श्रीरामानुजाचार्य दिनरात एक कर दिया, जिन श्रीकृष्णको बालकृष्णके रूपमें वल्लभाचार्य आजन्म लाड़ लड़ाते रहे, जिन श्रीकृष्णको निम्बार्काचार्य परमात्मा मान पूजते रहे, जिन श्रीकृष्णकी महिमासे मध्वाचार्य ग्रन्थ भरते रहे, जिन श्रीकृष्णकी भक्तिका प्रचार रामानन्दाचार्यजीने घर घर किया, जिन श्रीकृष्णके लिये साक्षात् भगवान् श्रीशङ्कर भिखारीका रूप बना व्रजकी गलियोंमें दर्शनोंकी लालसासे घूमते रहे, जिन श्रीकृष्णका कीर्तन कर सिक्खोंके दसों गुरुओंने अपनेको भाग्यशाली माना, जिन श्रीकृष्णका कीर्तन किये बिना निराकारोपासक संत कबीर दादूसे भी न रहा गया, जिन श्रीकृष्णकी भक्तिके लिये मुसलमान रसखानने अपना सब कुछ छोड़ा, जिन श्रीकृष्णके लिये मुसलमानी बेगम ताजने "हौं तो मुगलानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं" की घोषणा की, जिन श्रीकृष्णके प्रेममें विभोर हो मुसलमान रहीमने—

रहिमन कोऊ कहा करे ज्वारी चोर लबार।
जो पतराखन हार है माखन चाखन हार ॥

कहा। जिन श्रीकृष्णकी गीतापर आजभी समस्त विश्व मोहित हो रहा है और लाखों अंग्रेज तक जिसका पाठकर शान्तिका अनुभव करते हैं, जिन श्रीकृष्णकी वंशीको सुन जड़चेतन सभी पागल जैसे बन जाते थे, जिन श्रीकृष्णको ईसाइयोंने नवी करके माना, जिन श्रीकृष्णको चीन जापानके करोड़ों बौद्धोंने स्वीकार किया, जिन श्रीकृष्णको जैनियोंने

तीर्थंकर करके माना, जिन श्रीकृष्णको आर्यसमाजियोंने महापुरुष करके माना, जिन श्रीकृष्णको मुसलमानोंने पैगम्बर करके माना, जिन श्रीकृष्णको एक बार मोहम्मद साहब हाथ जोड़ खड़े भारतकी ओर मुख किये स्मरण कर रहे थे, किसीके पूछने पर आपने उत्तर दिया—

'ननी उलफिल हिन्दे असवर उल्लोन हस्मुन काहिनुन' हिन्दुस्तानमें एक नबी गुजरे हैं कि जिनका रङ्ग साँवला था और नाम कन्हैया था। जिन श्रीकृष्णका कीर्तन करते रोकनेसे मुसलमान हरिदासने शरीरपर मार पड़ते समय कहा था—

टुकड़े टुकड़े देह हों तनसे निकले प्रान।
तब भी मुख त्याग नहीं हरिनामकी तान॥

जिन श्रीकृष्णके सम्बन्धमें अद्वैतवादी शंकराचार्य श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती जी महाराजने डंकेकी चोट घोषणा करते हुए कहा—

वंशी-विभूषित-करान्नवनीरदाभात्।
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्॥
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्।
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

श्रीकृष्णसे बढ़कर कोई तत्त्व ही नहीं जाना। मुसलमान श्रीकृष्णभक्त रसखानने तो हद ही कर दी—

गावैं गुनि गनिका गन्धर्व औ
सारद सेष सबै गुन गावैं।
नाम अनन्त गनन्त गनेस ज्यों
ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावैं॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध
निरन्तर जाहि समाधि लगावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ
छछियाँ भरि छाछ पै नाच नचावैं॥
सेस महेस गनेस दिनेस
सुरेसहुं जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड
अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारदसे सुक व्यास रटैं
पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

जिन श्रीकृष्णका बालब्रह्मचारी पितामह भीष्मजी महाराज बाणोंकी शय्या पर पड़े ध्यान किया करते थे, जिन श्रीकृष्णकी मन्दिरोंकी रक्षाके लिये लाखों क्षत्रियोंने प्राण दिये, जिन श्रीकृष्णको बड़े बड़े ऋषियोंने, मुनियोंने, ज्ञानियोंने, ध्यानियोंने, त्यागियोंने, तपस्वियोंने, योगियोंने, वीरोंने, भक्तोंने, सन्तोंने, गोभक्तोंने, गोरक्षकोंने, मुसलमानोंने, ईसाइयोंने, सनातनधर्मियोंने, आर्यसमाजियोंने, जैनोंने, बौद्धोंने, सिक्खोंने, पारसियोंने सभीने एकस्वरसे स्वीकार किया और भारतके प्रत्येक ग्राम ग्राममें जिन श्रीकृष्णके करोड़ों मन्दिर हैं,—हाय आज यह धूर्त पापी उन्हीं श्रीकृष्णका नाम मिटा डालना चाहते हैं, उन्हें ही काल्पनिक बताते हैं, नहीं हुआ बताते हैं, जिन धूर्तोंने हमारा हिन्दू नाम मेट हिन्दूसे हमें गैर-मुसलिम बनाया, जिन्होंने हमारे देशका नाम हिन्दुस्तानसे इण्डिया बनाया, जिन्होंने हिन्दी मेट हिन्दीकी जगह हिन्दुस्तानी भाषा गढ़ी, वही हमारे प्राणवल्लभ प्राणधन प्रभु श्रीकृष्णका नाम भी हमसे छीन लेना चाहते हैं। यदि मूर्खतावश हिन्दुओंने इनकी इस मूर्खतापूर्ण बातको मान लिया कि

श्रीकृष्ण काल्पनिक हैं तो याद रहे प्रत्येक हिन्दूको औरङ्गजेबका रूप धारण करना होगा और औरङ्गजेबकी तरह श्रीकृष्ण-मन्दिरोंको ढाहकर धूलीमें मिलाना होगा। कारण कि जब श्रीकृष्ण हुये ही नहीं तो फिर भला मन्दिरोंका क्या काम ? 'न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' न श्रीकृष्णको हुआ माना जायेगा न उनके मन्दिर बनेंगे। हिन्दुओंके इस घोर पतनपर दुनियाँ हँस रही होगी और आकाशमें बैठे महाराणा प्रताप, शिवाजी, श्रीगुरुगोविन्द सिंह जी, वन्दावीर आदि और सभी देवी देवता नौ नौ-धार आँसू बहा रहे होंगे और हमपर थूक रहे होंगे। आज किसी धार्मिक क्षत्रियका राज्य होता तो श्रीकृष्णको काल्पनिक बतलानेका कोई साहस नहीं करता। हिन्दुओंके सर्वस्व श्रीकृष्णका नाम मिटानेका षडयंत्र रचा जा रहा हो फिर भी हिन्दू बैठे-बैठे देखते रहें इससे बढ़ करके हिन्दुओंका और क्या पतन होगा ?

भगवान् श्रीकृष्णका अवतार क्यों हुआ ?

श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं इसमें तनिक भी संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण भगवान्‌का अवतार हमारे सनातनवर्णाश्रमधर्मकी रक्षा, गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये ही हुआ करता है। श्रीकृष्णका अवतार क्यों हुआ ? इसीलिये कि कंस आदि बड़े बड़े राक्षस सनातन-वर्णाश्रमधर्मके द्रोही थे, उन्हें मारकर धर्मकी ध्वजा फहरानेके लिये। कभी विचार किया कि कंस इतना भयंकर धर्मद्रोही राक्षस क्यों हुआ ? कंस था वर्णसंकर और वर्णसंकर कभी धर्मात्मा हो सकता नहीं। यही तो श्री अर्जुनने कहा था—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया ॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है और लोप हुई पिण्ड और जलकी क्रिया वाले इनके पितरलोग भी गिर जाते हैं।

महाराजा श्रीउग्रसेनजी महाराजकी रानी पवनरेखा थीं। एकबार वह पवनरेखा अपनी सहेलियों सहित वनमें भ्रमण करने गई हुई थीं। वह अकेली आगे बढ़ गईं और उन्हें वहाँपर एक द्रुमलिक नामक राक्षस मिल गया और उसने उन्हें अकेली देख उन्हें पकड़ लिया और उनके साथ बलात्कार किया जिससे उनके गर्भ रह गया। आगे जाकर वही कंस राक्षस पैदा हुआ और उस कंस-राक्षसने (वर्णसंकरने) समस्त देशमें त्राहि त्राहि मचा दी, खलबली मचा दी और योगयज्ञ, जपतप दानपुण्य सबकोही बन्द करनेकी ठान ली और वेदशास्त्रोंके पठन-पाठन करनेवालोंको दंड देना प्रारम्भकर दिया। हिन्दूसभ्यता संस्कृतिको जड़मूलसे नष्ट करनेका निश्चय कर लिया। बड़े बड़े ऋषि-महर्षियोंने उसे समझाया परन्तु उस वर्णसंकर धूर्त कंसके समझमें तनिक भी तो नहीं आया और सनातनधर्मकी नैया डगमगाने लगी। अन्तमें निराकार ब्रह्मको श्रीकृष्णके रूपमें अवतार लेना पड़ा। और उस पापीके केश पकड़कर उसे पछाड़ना पड़ा। वह पापी कंस बच्चोंका बध करवाता था, अपने हाथों उसने अपने भानजे भानजियोंको मरवा डाला अपने बहनोई-बहिन वसुदेव-देवकीको जेलोंमें डाला, भानजे श्रीकृष्णको मारनेके लिये पूतनाको भेजा, गावोंमें आग लगवाई। आज भी जो भारतमाताके पाकिस्तान द्वारा खंड खंड

टुकड़े टुकड़े अङ्गभङ्ग हो गये हैं, करोड़ों हिन्दू मारे मारे डोल रहे हैं, लाखों बहिन बेटियाँ भगा ली गई हैं, बच्चे चीरे गये हैं, स्त्रियोंकी छातियाँ काट नंगीकर जुलूस निकाले गये हैं और गाँवके गाँव फूँककर राख कर दिये गये हैं, यह सब भी वर्णसंकर संन्तानोंकी ही काली-करतूतें हैं, और कुछ नहीं। यह हिन्दूसे बने मुसलमान क्या क्या अनर्थ नहीं कर सकते? आज जो जातपाँत तोड़कर ब्राह्मणकी लड़कीकी शादी भंगीके लड़केसे और भंगीकी लड़कीकी शादी ब्राह्मण-के लड़केसे, हिन्दूकी लड़कीकी शादी गो-भक्षक मुसलमानके लड़केसे, ब्राह्मण-कन्याकी पारसीसे, ब्राह्मण-कन्याकी वैश्यके लड़केसे की जा रही हैं और की गई हैं इनसे जो वर्णसंकर कंस पैदा होंगे वह क्या देशके अन्दर सुख शान्ति फैलाएगे? नहीं नहीं, त्रिकालमें भी नहीं, कदापि भी नहीं, वह तो देशमें प्रलय जैसा दृश्य उपस्थित करेंगे और घोर उपद्रव मचायेंगे। यह सब नये नये कंस धर्मकर्म वेद-शास्त्र सबको ही मेटने पर तुल जायेंगे और आज कुछ तुल भी गये हैं। आज जो साधुओंको जेलोंमें डाला जा रहा है, वर्णाश्रमधर्मका विध्वंस किया जा रहा है, छूआछूत जातपाँतको मिटाया जा रहा है मन्दिरोंकी मर्यादायें नष्ट की जा रही हैं, हिन्दूकोड-बिल तलाकबिलद्वारा हिन्दूधर्म जड़मूलसे समाप्त किया जा रहा है, हिन्दूललनायें गुण्डोंके घरोंमें पड़ी खूनके आँसू बहा रही हैं यह सब घोर अनर्थ हो रहा है इस घोर अनर्थको दूर करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतार हुआ था। बस, अब यही कहना है कि अपने वर्णाश्रमधर्म जातपाँत छूआछूत धर्मकर्म, वेदशास्त्र, सबको मानो, भूलकर भी मत छोड़ो और इनसबकी प्राण देकर भी रक्षा करो। जातपाँत तोड़कर शादी भूलकर भी मत करो, विधवाविवाहका नाम भूलकर भी मत लो, नहीं तो वर्णसंकर संतान होंगी और घर-घरमें कंस पैदा हो जायेंगे और समस्तदेशमें अशान्ति पैदा कर देंगे। पिण्डदान, श्राद्ध, तर्पण पूजापाठ सब बन्द हो जायेंगे। जिस धर्मकी रक्षाके लिये भगवान् श्री-कृष्णका अवतार हुआ आज हमारा परम कर्तव्य है कि हम उस धर्मकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जायँ इसीसे प्रभु श्यामसुन्दर हमसे प्रसन्न होंगे और इसीमें हमारा कल्याण है।

बोलो भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!
बोलो सनातनधर्मकी जय !!

काल

घास-फूसकी पर्णकुटीको
रागरङ्गसे भरे महल को।
दीन हीन असहाय अबलको
दिग्विजयी सम्राट् सबलको॥
लीप रहा है काल सभीको
मलिन धूलिके गहरे रँगसे।
फिरती कूँची आज किसीपर
और किसीपर चलती कलको॥

धूलि

हाड-माँसका कलित कलेवर
पत्थरका विशाल प्रासाद।
हृदय-हृदय की लगन लालसा
जीवनका विषाद उन्माद॥
तेरे एक-एक मृदुकणमें
अङ्कित है सबका इतिहास।
कर लेती अपना तू सबको
अहो धूलि दो दिनके बाद॥

मोहन वैरागी

कर्ममीमांसादर्शन।

[गताङ्कसे आगे]

अब दूसरी आवश्यकता कही जाती है—

त्रिविध शुद्धिकी भी आवश्यकता है ॥ ७३ ॥

अधोगामीस्रोतसम्पन्न जैवकर्मकी अधोगामिनी-गतिको रोककर उसकी नियमित क्रमोन्नत गतिको स्थायी रखनेके लिये जिसप्रकार वर्णाश्रमधर्म और अधिकार-भेदकी आवश्यकता है, उसीप्रकार त्रिविध शुद्धिकी भी आवश्यकता है। मनुष्यकी नियमित क्रमोन्नतिमें तीन प्रकारकी बाधा होती है, एक स्थूल-शरीरकी बाधा, दूसरी सूक्ष्मशरीरकी बाधा, तीसरी कारणशरीरकी बाधा। इन्हीं तीनोंके सम्बन्धसे शारीरिक पवित्रता, मानसिक पवित्रता और बुद्धिकी पवित्रता ये तीन पवित्रताएँ मानी गई हैं। इसी सम्बन्धसे आधिभौतिक शुद्धिद्वारा मलका नाश, आधिदैविक शुद्धिद्वारा विक्षेपका नाश और आध्यात्मिक शुद्धिद्वारा आवरणका नाश होना माना गया है। युगपत् ये तीनों जबतक न हों, तबतक जीवकी स्थायी और नियमित क्रमोन्नति नहीं हो सकती है। यही कारण है कि वेद एक साथही तीनों काण्डोंके साधनोंका उपदेश देते हैं। कर्मकाण्डके साधनोंसे आधिभौतिक शुद्धि, उपासनाकाण्डके साधनोंसे आधिदैविक शुद्धि और ज्ञानकाण्डके साधनोंसे आध्यात्मिक शुद्धि हुआ करती है, सुतरां इन तीनों शुद्धियोंकी भी विशेष आवश्यकता जैवकर्मके द्वारा नियमित उन्नति करनेकेलिये अवश्य रहती है ॥ ७३ ॥

अब तीसरेकी स्वाभाविक गतिका वर्णन कर रहे हैं—

ऐश उभयवाही है ॥ ७४ ॥

तीनों श्रेणियोंके कर्मोंमेंसे ऐशकर्म की विशेषता प्रतिपादनके लिये कहा जाता है कि, ऐशकर्मकी स्वाभाविक गति दोनों ओर प्रवाहित होती है। जब जीव नीचेकी ओर गिरता है, तौ भी ऐशकर्मकी सहायता लेनी पड़ती है और ऊपरकी ओर चढ़ता है तौ भी ऐशकर्मकी सहायता लेनी पड़ती है। जीव जब मनुष्ययोनिसे असत्-भोगकी प्राप्तिके लिये प्रेतलोक वा नरकलोकमें जाता है अथवा एक जन्मके लिये तिर्य्यग्योनिमें पहुँचता है तौभी देवतालोगही उसको पहुँचाते हैं। उसीप्रकार मनुष्य जब सत्कर्मके भोगके निमित्त पितृलोकमें जाता है, देवलोकमें जाता है अथवा असुरलोकमें जाता है तौभी उसको देवताओंकी सहायता निबन्धन ऐशकर्मकी सहायता लेनी पड़ती है। इस विज्ञानको और तरहसे भी समझ सकते हैं कि सहजकर्म केवल ऊर्द्ध्वगामी है, उसीप्रकार जैवकर्मको केवल निम्नगामी कह सकते हैं जैसे कि पहले सिद्ध हो चुका है कि वर्णाश्रमधर्म अधिकार-भेद और त्रिविध शुद्धिके द्वारा उसकी अधोगामिनी गतिको रोक देना पड़ता है। इस कारण ये दोनों एकदेशीय हैं। एककी गति ऊर्द्ध्व है, एककी गति निम्न है; परन्तु ऐशकर्मकी गति उभय ओर

शुद्धित्रैविध्यञ्च ॥ ७३ ॥ ऐशमुभयवाहि ॥ ७४ ॥

प्रवाहिणी है क्योंकि वह ऊपर जाते समय भी सहायक होता है और नीचे जाते समय भी सहायक होता है। यह मानना ही पड़ेगा कि ऐशकर्मकी व्यापकता सबसे अधिक है और उसकी गति सर्वतोन्मुखिनी है ॥ ७४ ॥

इसी प्रसङ्गसे ऐशकर्मका महत्त्व प्रतिपादन किया जाता है—

इस कारण वह अलौकिक और विचित्र है ॥ ७५ ॥

सहजकर्म और जैवकर्म अपने अपने अधिकारके अनुसार विस्तृत और अतिशक्तिशाली होने पर भी वे दोनों ही अपने अपने ढङ्गके एकदेशीय हैं और प्रत्यक्ष रूपसे समझमें भी आते हैं। परन्तु ऐशकर्म पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार सर्वतोमुखीन-शक्ति-सम्पन्न तथा सर्वसहायक होनेके कारण उसको विचित्र शक्तियुक्त कह सकते हैं और अलौकिक भी कह सकते हैं। उसमें सर्वतोमुखीन शक्ति होनेसे वह विचित्र है और उसकी शक्ति गुप्तरहस्यपूर्ण होनेसे वह अलौकिक है ॥ ७५ ॥

प्रसंगसे अब कर्मबीजसंग्रहका स्थान निर्णय किया जाता है—

चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश रूपसे संस्कार स्थान त्रिविध है ॥ ७६ ॥

कर्मका श्रेणीविभाग तथा उनका पृथक् पृथक् स्वरूप वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कर्मका संग्रह बीजरूपमें कहाँ कहाँ रहता है, सो कह रहे हैं। कर्मरूपी वह वृक्ष जब संस्काररूपी वट-बीजके रूपको धारण करता है, तो उस अवस्थामें कारणरूपमें उस कर्मके रहनेका स्थान त्रिविध है, यथा—चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश। मनुष्यके अन्तःकरणके आकाशको चित्ताकाश कहते हैं, एक ब्रह्माण्डके समष्टि अन्तःकरणके आकाशको चिदाकाश कहते हैं, अर्थात् पिण्डके आकाशको चित्ताकाश और ब्रह्माण्डके आकाशको चिदाकाश कहते हैं और अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डव्यापी आकाशको महाकाश कहते हैं। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि आधिभौतिक सृष्टिसे सम्बन्धयुक्त चित्ता-काश है, आधिदैविक सृष्टिसे सम्बन्धयुक्त चिदाकाश है और आध्यात्मिक सृष्टिसे सम्बन्धयुक्त महाकाश है जिन तीनों सृष्टिप्रकरणोंका वर्णन दैवीमीमांसा अर्थात् मध्यमीमांसा-दर्शनशास्त्रमें अच्छी तरहसे किया गया है ॥ ७६ ॥

तीनोंका यथायोग्य सम्बन्ध बताया जाता है।

तीनोंका तीनोंसे सम्बन्ध है ॥ ७७ ॥

जीव जो कुछ कर्म जन्मजन्मान्तरमें करता है, उसके बीजरूप संस्कार जब संगृहीत होते हैं, तब वे तीनश्रेणीके कहाते हैं। यथा:—प्रारब्धसंस्कार, सञ्चित-संस्कार और क्रियमाण संस्कार। एक जन्म लेनेसे पूर्व उस जन्मरूपी वृक्षके लिये जितने संस्कार-राशि बीज होते हैं वे ही प्रारब्ध संस्कार कहाते हैं। जो कुछ नवीन कर्म जीव करता रहता है, और

अतो विचित्रमलौकिकञ्च ॥ ७५ ॥ संस्कारस्थानं त्रिविधं चित्ताकाशं चिदाकाशं महाकाशञ्च ॥ ७६ ॥

त्रयाणां त्रिभिः सम्बन्धः ॥ ७७ ॥

उसके जो बीज संग्रह होते हैं, सो क्रियमाण संस्कार कहाते हैं और जीवके अनन्त-कोटि जन्मोंके जो अनन्त संस्कारराशि हैं, और जिन बीजोंको अङ्कुरित होनेकी बारी अभी नहीं आई है, उनको सञ्चित संस्कार कहते हैं। वस्तुतः प्रारब्ध-संस्कारके साथ प्रधान सम्बन्ध चित्ताकाशका, क्रियमाण संस्कारका प्रधान सम्बन्ध चिदाकाशके साथ और सञ्चित-संस्कारोंका प्रधान सम्बन्ध महाकाशके साथ माना गया है। यद्यपि तीनों आकाश ही एक हैं और पहले दोनों महाकाशके अङ्गरूप हैं; जिस प्रकार घटाकाश, मठाकाश और महाकाश अर्थात् घड़ेका आकाश, गृहका आकाश और बाहरका आकाश तीनों एकही है; केवल उपाधिभेदसे अलग अलग प्रतीत होते हैं। तीनों आकाश एक होनेपर भी और कर्मके बीजरूपी संस्कार सब एक ही ढंगके होनेपर भी उन संस्कारोंके अङ्कुरित होनेके अवसरके अनुसार उनके स्थानोंका इस प्रकारसे विभाग किया गया है। ये तीनों एक ही आकाशके स्तरविशेष हैं। जैसे घटाकाशमें भी महाकाश है और मठाकाशमें भी महाकाश है, परन्तु घटाकाशका स्तर सबसे नीचे हैं, मठाकाशका स्तर उससे ऊपर है और महाकाशका स्तर सर्वव्यापक है। उसी स्तरके तारतम्यसे उनमें बिखरे हुए संस्कारराशिकी अङ्कुरोत्पत्तिरूपी शक्तिका भी तारतम्य हुआ करता है। इसीसे इन तीनोंकी स्वतन्त्र सत्ता स्थिर हुई है और कर्मबीजोंको भी तीन भागमें विभक्त किया गया है ॥ ७७ ॥

तीसरेका स्वरूप कहा जाता है—

आदि अन्त रहित होनेके कारण तृतीय एक तथा नित्य है ॥ ७८ ॥

तीसरा अर्थात् महाकाश जो श्रीभगवान्‌के विराट् देहके साथ सम्बन्ध रखता है, इस कारण वह आदि और अन्तरहित है। क्योंकि श्रीभगवान्‌का विराट् स्वरूप भी आदि-अन्तरहित है। अतः महाकाश भी विराट्‌रूपधारी श्रीभगवान्‌के सदृश एक और नित्यरूपसे विराजमान है। जैसे एक ब्रह्माण्डमें अनेक पिण्ड उत्पन्न होते हैं और लयको प्राप्त होते रहते हैं, उसीप्रकार महाकाशसे सम्बन्धयुक्त श्रीभगवान्‌के विराट् देहमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और लय होते रहते हैं। परन्तु श्रीभगवान्‌के विराट् देहसे सम्बन्ध-युक्त वह महाकाश सदा एकही रूपमें विराजमान रहता है ॥ ७८ ॥

अब अन्य दोनोंका स्वरूप कह रहे हैं—

अपर दोनों सादि सान्त हैं ॥ ७९ ॥

पिण्ड और ब्रह्माण्डसे सम्बन्धयुक्त जो चित्ताकाश और चिदाकाश हैं, वे दोनों सादिसान्त हैं। जिस प्रकार प्रत्येक पिण्डका आदि-अन्त है, उसीप्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डका आदि और अन्त है। इस कारण उन दोनोंसे सम्बन्धयुक्त जो दो आकाश हैं, वे अवश्यही सादि सान्त होंगे। जिस प्रकार घटके नष्ट होनेसे घटाकाश और मठके नष्ट होनेसे मठाकाश नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उपाधिके नष्ट होनेसे वे दोनों महाकाशमें मिल जाते हैं, उसीप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चित्ताकाश और चिदाकाश ये दोनों सादि सान्त हैं। एक पिण्डस्थ जीव यदि मुक्त हो

तृतीयं नित्यमेकमनाद्यनन्तत्वात् ॥ ७८ ॥ अपरे सादिसान्ते ॥ ७९ ॥

जाय तो उसका बन्धनकेन्द्र नष्ट हो जानेसे कर्मबीज-संस्कारके रक्षोपयोगी उस पिण्डका आकाश भी ब्रह्माण्डके आकाशमें मिल जायगा, इसीप्रकार एक ब्रह्माण्डके महाप्रलय होनेपर एक ब्रह्माण्डका आकाश भी महाकाशमें मिल जायगा। यह शङ्का हो सकती है कि, कर्मके बीजरूपी संस्कारसमूह कहाँ चले जाते हैं और किसप्रकार चले जाते हैं? इस-प्रकारकी शंकाओंका समाधान यह है कि, जो जीव मुक्त हो जाता है और उसके पिण्डके पञ्चभूत, प्रकृति-के यथायोग्य स्थानमें विलीन हो जाते हैं तथा उसका चित्ताकाश अपने केन्द्रको छोड़कर चिदाकाशमें लीन हो जाता है तो स्वतःही उस जीवकेन्द्रके साथ सम्बन्धयुक्त जितने कर्मबीज थे, वे अपने आपही ब्रह्माण्डके केन्द्रको पकड़कर ब्रह्माण्ड-प्रकृतिका आश्रय करते हुए ब्रह्माण्डके चिदाकाशमें स्थान प्राप्त हो, उस ब्रह्माण्डकी भावी फलोत्पत्तिमें सहायक होते हैं। उसीप्रकार एक ब्रह्माण्ड जब महाप्रलयके गर्भमें लीन होता है तो उस ब्रह्माण्डके पञ्चभूतसमूह चाहे किसीके मतमें परमाणुरूपको धारण करते हैं, चाहे किसीके मतमें अपने कारणमें लय होते हैं। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि, ब्रह्माण्ड किसी न किसी रूपमें मूलप्रकृतिके अङ्गमें प्रवेश कर जाता है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है, तो उस ब्रह्माण्डका कर्मबीज-धारक चिदाकाश अपने अस्तित्वको छोड़कर महाकाशमें विलीन हो जाता है। जब पुनः ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है, तो "यथा-पूर्वमकल्पयत्" इस श्रुत्युक्त-विज्ञानके अनुसार हुआ करती है यह निश्चित है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि, वे समष्टि-कर्मबीज कहीं-न-कहीं अवश्य रहा करते हैं। वे उस समय महाप्रलयमें जहाँ रहते हैं, आकाशके सर्वव्यापक अनादि अनन्त उसी स्तरको महाकाश कहते हैं। इसप्रकार मान लेने पर उस-प्रकारकी कोई शंकायें रह ही नहीं सकती हैं। अब दूसरी श्रेणीकी शंका यह हो सकती है कि, जीवके साथ क्रियमाण और सञ्चित-संस्कारोंका क्या कुछ सम्बन्ध रहता ही नहीं? यदि रहता है, तो उस जीवकेन्द्रके रहते समय वे कैसे रहते हैं और नष्ट होते समय वे किस अवस्थाको प्राप्त होते हैं? इत्यादि शंकाओंके समाधानके लिये निम्नलिखित विज्ञान समझने योग्य है। महाकाशमें जिसप्रकार चित्ताकाश और चिदाकाशका समावेश है, जैसे कि, व्यापक आकाशमें मठाकाश और घटाकाशका समा-वेश रहता है, उसीप्रकार चित्ताकाशमें और चिदा-काशमें भी चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश इन तीनोंका सम्बन्ध विद्यमान है, केवल तीनोंका स्तर स्वतन्त्र स्वतन्त्र है। जीवके चित्ताकाशके साथ प्रारब्धसंस्कारका प्रधान सम्बन्ध रहता है, क्योंकि वे सब अङ्कुरित दशामें रहते हैं; तथापि क्रियमाण संस्कार और सञ्चित संस्कारभी गौणरूपसे रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो जीवको क्रियमाण संस्कारकी स्मृति कैसे रहती है, क्योंकि स्मृतिका सम्बन्ध तो जीवके चित्ताकाशसे रहता है। अतः जीवके क्रिय-माण संस्कार चिदाकाशके स्तरमें पहुँच जानेपर भी वे स्मृतिको अवलम्बन करके गौणरूपसे चित्ताकाशसे भी सम्बन्धयुक्त रहते हैं। जन्मान्तर होते समय वे क्रियमाण संस्काररूपको धारण किये हुए कर्मबीज जैसा अवसर हो, कुछ तो चित्ताकाशमें आकर प्रारब्ध बन जाते हैं और कुछ महाकाशके स्तरमें जाकर सञ्चित बन जाते हैं। अवश्य जीवकेन्द्र मुक्ति-दशामें नष्ट होनेसे उससे गौणरूपसे सम्बन्धयुक्त

चाहे क्रियमाण संस्कार हो, चाहे सञ्चित संस्कार हो, सभी मूल प्रकृतिका आश्रय करके महाकाशमें स्थान प्राप्त करते हैं और समयान्तरमें ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके कारण बनते हैं। संञ्चित संस्कारके साथ भी गौण सम्बन्ध चित्ताकाशसे रहता है। क्योंकि जीवके जो जन्मान्तरमें प्रारब्ध संस्कार बनते हैं, वे अधिकतर संञ्चित संस्कारसे आकर्षित होकर बनते हैं ॥ ७६ ॥

दोनोंके नाशका उपाय बताया जाता है—

संस्कारके प्रणाशसे उनका नाश होता है ॥ ८० ॥

वस्तुतः समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डके सम्बन्धसे जो कर्मबीजसंस्कारद्वारा फलोत्पत्ति होती है, सो चित्ताकाश और चिदाकाश इन दोनोंमें ही उन बीजोंका संग्रह रहता है। क्योंकि महाकाश तो विश्रान्ति और लयस्थान है। इस कारण इन दोनोंके नाशके विषयमें स्वतःही प्रश्न हो सकता है; सो कहा जाता है कि यदि किसी कारणसे संस्कारोंका सम्पूर्णरूपसे नाश कर दिया जाय तो इन दोनों आकाशोंका भी नाश हो सकता है। कर्मराज्यका आदि और अन्त समझनेके लिये कर्मबीजका आश्रयरूप चित्ताकाश और चिदाकाशका आदि अन्त अवश्य ही समझना उचित है। जैसे गाँठके बाँधनेमें और गाँठके खोलनेमें भी हाथकी क्रिया एकसी ही होती है, परन्तु एक क्रियासे गाँठ बँध जाता है और एकसे खुल जाता है उसीप्रकार कर्मको सुकौशलसे रहित होकर करनेसे जीव बन्धन-दशाको प्राप्त होता रहता है और कर्मको सुकौशल पूर्ण क्रियाके साथ सुसम्पन्न करनेसे बन्धनसे मुक्त हो सकता है। अतः जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंके द्वारा कर्मबीज संस्कारका नाश हो सकता है, उन्हींके द्वारा इन दोनों आकाशोंका भी हान हो सकता है। जब वासना-नाश और तत्त्वज्ञानादि प्राप्त करनेके उपयोगी साधन-समूहकी सहायतासे साधक संस्कारका हान कर लेता है तो उस मुक्तात्मासे सम्बन्धयुक्त इन दोनों आकाशोंका भी विलय हो जाता है। कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डके साधनोंकी सहायतासे साधक जब आत्मज्ञान-लाभ करके निःसङ्ग और निष्क्रिय हो जाता है, उस समय वासनामय, मनोनाश और आत्मज्ञानके द्वारा उस पिण्डका जैवकेन्द्र नष्ट हो जाता है; जब जैवकेन्द्र नष्ट होता है तो उसके द्वारा आकृष्ट क्रियमाण और सञ्चित कर्मबीजसंस्कार-समूह उस केन्द्रसे स्वतःही अलग होकर ब्रह्मप्रकृति जो सबका लयस्थान है, उसको आश्रय करते हैं। ऐसा होनेपर उस जैवकेन्द्रके सम्बन्धसे जो चित्ताकाश और चिदाकाशका स्वरूप बना हुआ था, यह स्वतः ही हानको प्राप्त हो जाता है ॥ ८० ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

संस्कारके अन्तमें क्रियाका अवसान होनेसे ॥ ८१ ॥

जब संस्कार कर्मका बीज है तो संस्कारके नाशसे कर्मका नाश होना स्वतःसिद्ध है। जिसप्रकार किसी वृक्षविशेषके बीजका यदि पृथ्वीभरसे नाश कर दिया जाय और ऐसा उपाय किया जाय कि, पुनः बीजसंग्रह ही न होने पावे तो ऐसी दशामें संसार-भरसे उस जातिके वृक्षका हान हो जायगा। इसी

संस्कारप्रणाशात्तन्नाशः ॥ ८० ॥ तदन्ते क्रियावसानात् ॥ ८१ ॥

उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि, किसी सुकौशलपूर्ण साधनद्वारा यदि कर्मबीज संस्कारोंका नाश कर दिया जाय, तो कर्मका नाश स्वतः हो जायगा ॥ ८१ ॥

प्रसङ्गतः जीव किससे सम्बद्ध है, सो कहा जाता है—

शरीरत्रय सम्बद्ध जीव होता है ॥ ८२ ॥

कर्माधीन जीव तीन शरीरोंके साथ सम्बन्धयुक्त रहता है। उन शरीरोंका नाम कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर है। जीवसृष्टिकी पूर्व्वावस्थामें जो प्रथम चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होती है, वही कारणशरीर है। चौबीस तत्त्वोंमेंसे स्थूल पञ्चभूतोंके अतिरिक्त अन्य तत्त्वोंका बना हुआ सूक्ष्मशरीर कहाता है। ये दोनों शरीर आवागमनचक्रमें जन्मान्तर प्राप्त होते रहते हैं और स्थूलशरीर जो मृत्युके समय यहाँ पड़ा रहता है, वह पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे बनता है और उसमें उन तत्त्वोंकी वैसी ही शृंखला रहती है, जैसा कि, जिस लोकमें रहना चाहिये। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, प्रेतलोकका स्थूलशरीर वायुतत्त्वप्रधान होता है, स्वर्गलोकका स्थूलशरीर अग्नितत्त्वप्रधान होता है, मृत्युलोकका स्थूलशरीर पृथ्वीतत्त्व-प्रधान होता है इत्यादि। इस शरीरविज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, पञ्चकोषोंमेंसे आनन्दमयकोषको कारणशरीर, विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमयकोषको सूक्ष्मशरीर और अन्नमयकोषको स्थूलशरीर कहा जा सकता है। इन्हीं तीनों शरीरोंसे सम्बद्धित होकर जीव सृष्टिप्रवाहमें कर्मके वेगसे प्रवाहित रहता है ॥ ८२ ॥

अब तीनों शरीर किससे सम्बन्धयुक्त हैं सो कहा जाता है—

इसकारण वह त्रिभावसे सम्बन्धयुक्त है ॥ ८३ ॥

पूर्वकथित तीनों शरीर सृष्टिके तीनों भावोंसे यथाक्रम सम्बद्ध हैं। जिसप्रकार सृष्टिके सब पदार्थ त्रिभावात्मक हैं, उसी नैसर्गिक नियमके अनुसार ये तीनों शरीरका भी त्रिभावात्मक होना स्वतःसिद्ध है। शरीर तीन हैं। इसकारण कारणशरीर अध्यात्म, सूक्ष्मशरीर अधिदैव और स्थूलशरीरका अधिभूत होना सिद्ध होता है। स्थूलशरीर जीवके लोकान्तरित होते समय जहाँका तहाँ रह जाता है, इसकारण भौतिकसम्बन्धकी विशेषताके हेतु उसका आधिभौतिक होना निश्चित है। सूक्ष्मशरीरके आश्रयसे दैवकार्य सम्पादित होते हैं, इसकारण उसका अधिदैव होना भी युक्तियुक्त है और कारण-शरीर सबका कारण होनेसे अध्यात्म है ॥ ८३ ॥

कर्मके प्रसङ्गसे सृष्टिका विस्तार कहा जाता है—

कर्मके द्वारा त्रिभावात्मक सृष्टि होती है ॥ ८४ ॥

सृष्टिका कारण कर्म है। उस कर्मके द्वारा सृष्टि त्रिभावात्मक होकर प्रकट होती है। इसीकारण

जीवः शरीरत्रयसम्बद्धः ॥ ८२ ॥ त्रिभावसम्बद्धं तदतः ॥ ८३ ॥ कर्मणा त्रिभावात्मिका सृष्टिः ॥ ८४ ॥

सृष्टिके सब पदार्थ त्रिभावात्मक हैं और सृष्टि आध्यात्मिकी अथवा आधिदैवकी अथवा आधिभौतिकी होती है। पांचभौतिक दृश्यके जिस अंशमें चित्सत्ताकी प्रधानता है, जहाँ प्रकाश और ज्ञानका सम्बन्ध है, वह आध्यात्मिक कहावेगा। जहाँ क्रियाशीलता है, जिसके द्वारा देवतागण अपने कर्तव्यमें तत्पर होते हैं, सृष्टिका वह अंश अधिदैव कहाता है और जहाँ स्थूलत्व, जड़त्व, अज्ञान आदिका सम्बन्ध है, वह अंश अधिभूत कहावेगा ॥ ८४ ॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है—

इसकारण कर्मके द्वारा उसके अधिष्ठाताओंका सम्बर्द्धन होता है ॥ ८५ ॥

कर्महीं दृश्यप्रपञ्चका कारण है। कर्मसे ही सृष्टि, स्थिति और लय होते हैं। अतः कर्मके द्वारा त्रिभावात्मक क्रमोन्नति कैसे सम्भव है सो कहा जाता है। सृष्टिका अध्यात्मविभाग, अधिदैवविभाग और अधिभूत-विभाग इन तीनों विभागोंके चालक यथाक्रम ऋषि, देवता और पितृगण हैं। सगुणब्रह्मरूपी त्रिमूर्तिके प्रतिनिधिरूपसे ऋषिगण अध्यात्मराज्य, देवतागण अधिदैवराज्य और पितृगण स्थूल अधिभूतराज्यका सञ्चालन, संरक्षण और सम्बर्द्धन किया करते हैं। कर्मके द्वारा ये तीनों श्रेणीके देवता प्रसन्न होकर साधकके त्रिविध उन्नति तो करते ही हैं, अधिकन्तु वे सम्बर्धित होकर ब्रह्माण्डके अपने अपने अधिकारमात्रकी उन्नति करते हैं। इसी नियमके अनुसार कर्मका प्रभाव इन अधिदैवोंके सम्बन्धसे जगत्की उन्नतिका कारण बनता है ॥ ८५ ॥

किस किस कर्मके द्वारा कौन कौन तृप्त होता है, सो कहा जाता है—

अपने सम्बन्धके कर्मद्वारा वे तृप्त होते हैं ॥ ८६ ॥

सृष्टिप्रपञ्चके ज्ञानसम्बन्धी विभागके सञ्चालक और व्यवस्थापक ऋषिगण, क्रिया और कर्मफलकी व्यवस्था करनेवाले देवतागण, और स्थूलशरीर आदि विषयोंके व्यवस्थापक पितृगण हैं। इसकारण ज्ञानसम्बन्धीय कर्मद्वारा ऋषिगण, यज्ञादिद्वारा देवतागण और श्राद्धादिद्वारा पितृगण तृप्त होते हैं। इसप्रकारसे तृप्तिलाभ करके अपने अपने अधिकारके अनुसार जगत्की उन्नति करनेमें समर्थ होते हैं। वस्तुतः ज्ञान और विद्या आदिके अभिवर्द्धनके लिये जितने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कार्य्य हैं, वे सबही ऋषिगणके सम्बर्द्धनके कारण ही बनते हैं। उसीप्रकार याग-यज्ञादि और सदाचारसे लेकर वर्णाश्रमधर्मआदि तक जितने साधारण और विशेष धर्मके क्रियासिद्धांश हैं, उनके द्वारा देवतागण सम्बर्धित होते हैं। उसीप्रकार पितृयज्ञ, पितृपूजा, श्राद्धतर्पणादिके द्वारा पितृगण सम्बर्द्धित होते हैं। उनके सम्बर्द्धनसे तत्तत् सम्बन्धीय-भावराज्योंके अधिकारोंकी यथाक्रम उन्नति होती है। अतः साधक यथायोग्य कर्मके अनुष्ठान द्वारा सब प्रकारकी उन्नति करनेमें समर्थ होता है ॥ ८६ ॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है—

तेन तत्तदधिष्ठातृसम्बर्द्धनम् ॥ ८५ ॥

तत्सम्बन्धकर्मणा तत्तुष्टिः ॥ ८६ ॥

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें वे भिन्न भिन्न हैं ॥८७॥

चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड जो नाना पिण्डोंसे समन्वित है, उसके संरक्षण और सञ्चालनके लिये प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक् पृथक् ऋषिगण, पृथक् पृथक् देवतागण और पृथक् पृथक् पितृगण नियुक्त रहते हैं। वस्तुतः ये तीनों श्रेणीके देवता सगुणब्रह्मरूपी त्रिमूर्तिके प्रतिनिधिरूप हैं। वस्तुतः ये तीनों पदाधिकार अलग अलग कर्मके अनुसार ही निश्चित रहते हैं और इनके पदोंमें हेरफेर भी होता है। यथा एक वनके देवता अथवा नदीके देवता हैं, जब तक उस बन या नदीका अस्तित्व बना रहेगा, तब तक उस देवताका नैमित्तिक पदभी बना रहेगा। उसीप्रकार इन्द्र, वरुणादि पद नित्य होनेपर भी उन पदोंके अधिष्ठाताओंकी उन्नति और अवनति होनाभी सम्भव है। पितृगणका सम्बन्ध मनुष्ययोनिसे प्रारम्भ होता है। मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त पितृगण पितृलोक में वास करते हैं। पितृलोक, धर्मराज-यमके अधिकारके अन्तर्गत है। देवलोकके पितृगण ऊपरके लोकों में वास करते हैं। ऋषिगणका अधिकार अनेक प्रकारका है और उनका वास सब सूक्ष्मलोकोंमें है। इस मृत्युलोकमें ऋषि और देवताके अवतार भी होते हैं ॥ ८७ ॥

उनका अधिकार बताया जाता है—

समष्टि और व्यष्टिमें उनका सम्बन्ध है ॥८८॥

देवताओंका सम्बन्ध सर्वत्र विद्यमान है। क्योंकि सूक्ष्म दैवजगत् सबका मूल है और जड़कर्म चेतन-देवताओंके द्वारा चालित होता है। क्या चतुर्विध भूतसङ्घके उद्भिज, स्वेदजादि योनियाँ, क्या नदी, पर्वत, समुद्रादि स्थूलभूत सम्बन्धी विभूति, क्या सुवर्ण लोहादि धातुपुञ्ज, चाहे स्थावर सृष्टि हो चाहे जङ्गमसृष्टि हो, चाहे स्थूल मृत्युलोक हो, चाहे सूक्ष्म दैवलोक हो, वस्तुतः व्यष्टि-पिण्ड और समष्टि ब्रह्माण्ड सर्वत्र ही दैवीशक्तिका सम्बन्ध है। कर्मकी शक्तिसे ही सब चालित और सुरक्षित हैं। कर्म जड़ है, जड़ शक्तिके मूलमें चेतन-शक्तिका रहना निश्चित है। इस कारण कर्मकी सत्ताके सम्बन्धसे देवताओंका अस्तित्व और समष्टि तथा व्यष्टिमें सर्वत्र देवताओंका साक्षात् अथवा परोक्ष सम्बन्ध विद्यमान ही है ॥८८॥

अब कर्मप्रवाहकी विशेष विशेष गतियोंका वर्णन कर रहे हैं—

अनुलोम विलोमभेदसे कर्मप्रवाह द्विविध है ॥ ८९ ॥

कर्मकी गतिको प्रधानतः दो भागोंमें विभक्त कर सकते है। उसमें एकको अनुलोम और दूसरेको प्रतिलोम कह सकते हैं। द्वैतप्रपञ्चमें जो गति आत्माकी ओर चलती रहती है, वह अनुलोम गति है और कर्मकी जो गति आत्मासे नीचे अनात्माकी ओर चलती रहती है, वह गति विलोम कहाती है ॥ ८९ ॥

क्रमशः

प्रति ब्रह्माण्डं भिन्नास्ते ॥ ८७ ॥

समष्टिव्यष्ट्योः सम्बन्धस्तेषाम् ॥८८॥

द्विविधः कर्मप्रवाहोऽनुलोमविलोमभेदात् ॥ ८९ ॥

सती शैव्या

[कहानी]

श्रीमती सुन्दरीदेवी

प्राचीन समयकी बात है, मध्यदेशमें नारायणपुर नामकी अत्यन्त सुन्दर एक नगरी थी। उसमें एक पतिव्रता ब्राह्मणी रहती थी। उसका नाम था शैव्या। उसका पति पूर्वजन्मके पापसे कोढ़ी हो गया था। उसके शरीरमें अनेकों घाव हो गये थे, जो बराबर बहते रहते थे। शैव्या अपने ऐसे पतिकी सेवामें सदा लगी रहती थी। पतिके मनमें जो-जो इच्छा होती, उसे वह अपनी शक्तिके अनुसार अवश्य पूर्ण किया करती थी। प्रतिदिन देवताकी भांति स्वामीकी पूजा करती और दोषबुद्धि त्यागकर उसके प्रति विशेष स्नेह रखती थी। एकदिन उसके पतिने सड़कसे जाती हुई एक परमसुन्दरी वेश्याको देख लिया। उसको देखते ही वह अत्यन्त मोहित हो गया। उसकी बुद्धि मोहित हो गयी और लम्बी लम्बी साँस खींचता रहा और अन्तमें बहुत ही उदास हो गया। उसको उदास देख शैव्या घरसे बाहर आयी और अपने पतिसे पूछने लगी—नाथ! आप इतना उदास क्यों हो गये? आपने लम्बी साँस क्यों खींची? प्रभो! आपको जो प्रिय हो वह कार्य मुझे बताइये। वह करने योग्य हो या न हो मैं आपके प्रिय कार्यको अवश्य पूर्ण करूँगी। एकमात्र आप ही मेरे गुरू हैं, प्रियतम हैं।'

पत्नीके इस प्रकार पूछने पर उसके पतिने कहा—'प्रिये! उस कार्यको न तुम्हीं पूर्ण कर सकती हो, न मैं हीं; अतः व्यर्थ बात करनेसे लाभ ही क्या है। शैव्याने कहा—नाथ! मुझे विश्वास है मैं आपकी इच्छा जानकर उस कार्यको अवश्य सिद्ध कर सकूँगी चाहे वह कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो। आप मुझे आज्ञा दीजिये। जिस किसी उपाय से हो सके मुझे आपका कार्य सिद्ध करना है। यदि आपके दुष्कर कार्यको मैं यत्न करके पूर्ण कर सकूँ तो इस लोक और परलोकमें भी मेरा परम कल्याण होगा।

कोढ़ीने कहा—साध्वी! अभी-अभी इस मार्गसे एक परमसुन्दरी वेश्या जा रही थी। उसका शरीर सब ओरसे सुडौल, सुन्दर तथा मनोहर था। उसे देखकर मेरा हृदय मुग्ध हो रहा है। यदि तुम्हारी कृपासे मैं उस नवयौवनाको प्राप्त कर सकूँ तो मेरा जन्म सफल हो जायगा। देवि! तुम उसे मिलाकर मेरा हित साधन करो।

पतिकी बात सुनकर पतिव्रता शैव्या बोली—प्रभो! आप थोड़ा धैर्य रखिये। मैं यथाशक्ति आपका कार्य सिद्ध करूँगी।

यह कहकर शैव्याने मन-ही-मन विचार किया तो उसे एक उपाय सूझा। उसने निश्चय किया कि उस वेश्याको सेवासे प्रसन्न करके पतिदेवकी इच्छा पूर्ण करूँगी। ऐसा निश्चय करके वह रात्रिके अन्तिम भाग—उषाकालमें उठकर गोबर और झाड़ू ले तुरन्त ही चल पड़ी। जाते समय उसके मनमें बड़ी प्रसन्नता तथा उल्लास था। वेश्याके घर पहुँचकर उसने उसके आँगन और गली-कूचेमें अच्छी तरह झाड़ू लगाई, गोबरसे लीप-पोतकर

लोगोंकी दृष्टि पड़नेके भयसे वह शीघ्रतापूर्वक अपने घर लौट आयी। इस प्रकार लगातार तीनदिनों तक पतिव्रताने वेश्याके घरमें झाड़ देने और लीपनेका काम किया। उधर वह वेश्या अपना आँगन आदि बहुत स्वच्छ साफ सुथरा देखकर बड़ी प्रसन्न हो अपने दास-दासियोंसे पूछने लगी—आज आँगनकी इतनी बढ़िया सफाई किसने की है ? सेवकोंने परस्पर विचार करके वेश्यासे कहा—भद्रे ! घरकी सफाईका यह काम हमलोगोंने तो नहीं किया है। यह सुनकर वेश्याको बड़ा विस्मय हुआ। उसने बहुत देरतक इसके विषयमें विचार किया किन्तु वह कुछ समझ नहीं पायी। तब उसने निश्चय किया स्वयं इसका पता लगाऊँगी। ऐसा निश्चय कर वह रात रहते उठी और देखने लगी तो कुछ ही देर बाद उसकी दृष्टि पतिव्रता शैव्या पर पड़ी। नित्यकी तरह वह पुनः आयी थी। उस परम-साध्वी पतिव्रताको देखकर, 'हाय ! हाय ! आप यह क्या करती हैं ? क्षमा कीजिये, रहने दीजिये'। यह कहती हुई वेश्याने उसके पैरोंपर गिर पड़ी और पुनः कहा—'पतिव्रते ! आप मेरी आयु, शरीर, सम्पत्ति, यश तथा कीर्ति—इन सबका विनाश करनेके लिये ऐसी चेष्टा कर रही हैं ? साध्वी ! आप जो भी वस्तु माँगे उसे निश्चय दूँगी—यह बात मैं दृढ़ निश्चयके साथ कह रही हूँ। सुवर्ण, रत्न, मणि, वस्त्र तथा और भी जिस किसी वस्तुकी आपके मनमें अभिलाषा हो, उसे मांगिये।

तब पतिव्रता शैव्याने वेश्यासे कहा—मुझे धनकी आवश्यकता नहीं है, तुम्हीसे कुछ काम है, यदि करो तो उसे बताऊँ। उस कार्यकी सिद्धि होनेपर ही मेरे हृदयमें सन्तोष होगा और तभी मैं यह समझूँगी कि तुमने इस समय मेरा सारा मनोरथ पूर्ण कर दिया।

वेश्या बोली—'पतिव्रते ! आप जल्दी बताइये। मैं सच सच कहती हूँ, आपका अभीष्ट कार्य अवश्य करूँगी। माताजी ! आप तुरन्त ही अपनी आवश्यकता बतायें और मेरी रक्षा करें।

पतिव्रताने बड़े संकोचसे वह कार्य जिसके लिये, उसका पति अधीर हो रहा था कह सुनाया। उसे सुनकर वेश्या एक क्षणतक अपने कर्तव्य और उसके पतिकी पीड़ापर कुछ विचार करती रही। दुर्गन्धयुक्त कोढ़ी मनुष्यकी बात सोचकर उसके मनमें बड़ा दुःख हुआ। तब भी पतिव्रता शैव्याकी सेवासे उसके अन्तःकरणपर इतना प्रभाव पड़ा था कि अस्वीकार नहीं कर सकी और पतिव्रतासे इस प्रकार बोली—देवि ! यदि आपके पति मेरे घर पर आवें तो मैं एकदिन उनकी इच्छा पूर्ण करूँगी।

पतिव्रताने कहा—सुन्दरी ! मैं आज ही रातमें अपने पतिको लेकर तुम्हारे घरमें आऊँगी और जब वे अपने अभीष्ट वस्तुका उपभोग करके सन्तुष्ट हो जायंगे, तब पुनः उनको अपने घर ले जाऊँगी।

वेश्या बोली—महाभागे ! अब शीघ्र ही अपने घरको पधारो। तुम्हारे पति आज आधी रातके समय मेरे महलमें आवें।

यह सुनकर वह पतिव्रता स्त्री अपने घर चली आई। वहाँ पहुँचकर उसने अपने पतिसे निवेदन किया—प्रभो ! आपका कार्य सफल हो गया। आज रातमें आपको उसके घर जाना है।

कोढ़ी ब्राह्मण बोला—देवि ! मैं कैसे उसके घर जाऊँगा, मुझसे तो चला भी नहीं जाता। फिर किस प्रकार मेरी इच्छा पूर्ण होगी ?

पतिव्रता शैव्या बोली—प्राणनाथ ! मैं आपको अपनी पीठपर बैठाकर उसके घर पहुँचाऊँगी और आपका मनोरथ सिद्ध हो जानेपर फिर उसी मार्गसे लौटा ले आऊँगी।

कोढ़ी ब्राह्मण अपनी अभिलाषा पूर्ण होनेकी आशासे आनन्दोत्फुल्ल हो उठा और अपनी पत्नीसे कहा—कल्याणी ! तुम्हारे करनेमे ही मेरा सब कार्य सिद्ध होगा। इस समय तुमने जो काम किया है, वह दूसरी स्त्रियोंके लिये दुष्कर है।

दैववश उन्हीं दिनोंमें उस नगरमें एक धनीके घरसे चोरोंने बहुतसा धन चुरा लिया। यह बात जब राजाके कानोंमें पड़ी, तब राजाने रातमें घूमनेवाले समस्त अपने गुप्तचरोंको बुलाया और कुपित होकर आज्ञा दी कि—यदि तुम्हें जीवित रहनेकी इच्छा है तो आज चोरोंको पकड़कर मेरे सामने लाओ। राजाकी आज्ञा पाकर सभी गुप्तचर व्याकुल हो उठे और चोरोंको पकड़नेकी इच्छासे सब ओर चल पड़े। उस नगरके पास ही एक घना जङ्गल था, जहाँ एक वृक्षके नीचे महातेजस्वी एक मुनिवर समाधि लगाये बैठे थे। वे महर्षि अपने तपसे अग्निके समान देदीप्यमान हों रहे थे। महान् तेजस्वी उन मुनिकों देखकर दुष्ट गुप्तचरोंने आपसमें कहा—'यही चोर है। यह धूर्त तपस्वीका रूप बनाये इस जङ्गलमें निवास करता है।' यों कहकर उन पापियोंने उन मुनिश्रेष्ठको बाँध लिया। किन्तु उन कठोर स्वभाववाले मनुष्योंसे न तो उन्होंने कुछ कहा और न उनकी ओर दृष्टिपात ही किया। जब गुप्तचर उन्हें बाँधकर राजाके सामने ले गये तो राजाने कहा—आज मुझे चोर मिला है। तुम लोग इसे नगरके निकटवर्ती प्रवेशमार्गके द्वारपर ले जाओ और चोरके लिये जो नियत दण्ड है, वह इसे दो। उन्होंने उन मुनिको वहाँ ले जाकर मार्गमें गड़े हुये शूल पर चढ़ा दिया। वह शूल मुनिके गुदाद्वारसे प्रविष्ट होकर मस्तकके पार होगया। उनका सारा शरीर शूलसे बिंध गया। वे मुनिश्रेष्ठ शूलपर ही समाधिस्थ हो गये, इसी बीचमें आधीरातके घोर अन्धकारमें, जब आकाशमें घटायें घिरी हुई थीं, वह पतिव्रता शैव्या अपने कोढ़ी पतिको पीठपर बैठाकर वेश्याके घर जा रही थी। वह मुनिके निकट होकर निकली, उसे उस घोर अन्धकार रात्रिमें मुनिवर नहीं दिखाई पड़े। अतः उस कोढ़ीका शरीर मुनिके शरीरसे छू गया। कोढ़ीके संसर्गसे उनकी समाधि भङ्ग हो गयी। वे कुपित होकर बोले—"जिसने इस समय मुझे गाढ़ वेदनाका अनुभव करानेवाली कष्टमय अवस्थामें पहुँचा दिया, वह सूर्योदय होते होते भस्म हो जाय"।

उक्त महात्माके इतना कहते ही कोढ़ी पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब पतिव्रताने कहा—आजसे तीन दिनोंतक सूर्यका उदय ही न हो। यह कहकर वह अपने पतिको घर ले गई और सुन्दर शैव्या पर सुला स्वयं उसे थामकर बैठी रही। उधर मुनिश्रेष्ठ उस कोढ़ीको शाप दे अपने अभीष्ट स्थानको चले गये। इधर संसारमें तीन दिनोंसे सूर्यका उदय होना रुक गया। चराचर प्राणियों सहित सम्पूर्ण त्रिलोकी व्यथित हो सब ओर हाहाकार मच गया, तब यह देख समस्त देवता इन्द्रको आगे करके पितामह ब्रह्माजीके पास गये और सूर्योदय न होनेका समाचार निवेदन करते हुये बोले—'भगवन् ! सूर्यके उदय न होनेका क्या कारण है यह हमारी समझमें नहीं आता। इस समय आप जो उचित हो, करें। देवताओं की बात सुनकर भगवान्

ब्रह्माजीने पतिव्रता ब्राह्मणी और उक्त मुनिका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तदनन्तर देवतागण विमानोंपर आरूढ़ हो प्रजापति ब्रह्माको आगे करके शीघ्र ही पृथ्वीपर उस कोढ़ी ब्राह्मणके घरके पास गये। उनके विमानोंकी कान्ति तथा मुनियोंके तेजसे पतिव्रताके घरके भीतर सैकड़ों सूर्योंका-सा प्रकाश छा गया; उस समय हंसके समान तेजस्वी विमानों द्वारा आये हुये देवताओंको पतिव्रताने देखा। वह अपने पतिके समीप बैठी हुई थी। भगवान् ब्रह्माजीने उसे सम्बोधित करके कहा—माता! सम्पूर्ण देवताओं, ब्राह्मणों और गौआदि प्राणियोंकी जिससे मृत्यु होनेकी सम्भावना है—ऐसा कार्य तुम्हें क्योंकर पसन्द आया? सूर्योदयके विरुद्ध जो तुम्हारा क्रोध है, उसे त्याग दो।

पतिव्रता शैव्या बोली—भगवन्! एकमात्र पति ही मेरे गुरु हैं। ये मेरे लिये सम्पूर्ण लोकोंसे बढ़कर हैं। सूर्योदय होते ही मुनिके शापसे उनकी मृत्यु हो जायगी। इसी हेतु मैंने सूर्यको शाप दिया है। क्रोध, मोह, लोभ, मात्सर्य अथवा कामके वशमें होकर मैंने ऐसा नहीं किया है।

भगवान् ब्रह्माने कहा—जब एककी मृत्युसे तीनों लोकोंका हित हो रहा है, ऐसी दशामें तुम्हें बहुत अधिक पुण्य होगा।

पतिव्रता बोली—पतिका त्याग करके मुझे आपका परम कल्याणमय सत्यलोक भी नहीं चाहिये।

ब्रह्माजीने कहा—देवि! सूर्योदय होनेपर जब सारी त्रिलोकी स्वस्थ हो जायेगी, तब तुम्हारे पतिके भस्म हो जानेपर भी मैं तुम्हारा कल्याण साधन करूँगा। हम लोगोंके आशीर्वादसे यह कोढ़ी ब्राह्मण कामदेवके समान सुन्दर हो जायगा।

ब्रह्माजीके यह कहनेपर उस सतीने क्षणभर कुछ विचार किया; उसके बाद 'हाँ' कहकर उसने स्वीकृति दे दी। फिर तो क्या था, तत्काल सूर्य उदय हुआ और मुनिके शापसे अभिशप्त कोढ़ी ब्राह्मण राखका ढेर हो गया। पुनः उस राखके ढेरसे अतीव सुन्दररूप धारण किये हुये वह ब्राह्मण प्रगट हुआ। यह देखकर समस्त पुरवासियोंके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही। देवतागण बड़े प्रसन्न हो गये। देवताओं-सहित भगवान् ब्रह्मा सती शैव्याको मंगलमय आशीर्वाद देकर अपने लोकोंको गये। यह है, पातिव्रत्यका प्रताप! पतिव्रता स्त्री अपने पतिव्रत-रूपी तपके प्रभावसे क्या नहीं कर सकती?

महापरिषद् सम्बाद

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणीमहापरिषद्की प्रबन्ध-समितिकी बैठक ता० २७-७-५० को अपराह्न साढ़े चार बजे धर्मरत्न श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढनढनियाकी अध्यक्षतामें विद्यालयभवनमें हुई, जिसमें मासिक हिसाब स्वीकृत हुआ तथा महापरिषद्के अन्य कार्यविभागोंके प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक महत्त्व-पूर्ण मन्तव्य स्वीकृत हुए।

महापरिषद्की प्रबन्धसमितिकी बैठक पुनः ता० २३-८-५० को श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढनढनियाकी अध्यक्षतामें हुई थी, जिसमें सर्वप्रथम निम्नलिखित शोक प्रस्ताव उपस्थित सब सदस्योंने खड़े होकर स्वीकृत किये।

श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की यह प्रबन्ध समिति भारतके प्रसिद्ध उद्योगपति धर्मप्राण श्रीमान् सेठ मँगनीराम बाँगरके आकस्मिक निधनपर आन्तरिक शोक प्रगट करती है। श्रीमान् सेठजीके निधनसे सनातनधर्मी जगत्की अपूरणीय क्षति हुई है। यह समिति दिवंगत महान् आत्माकी शाश्वत शान्तिके लिये भगवान् विश्वनाथके चरणोंमें प्रार्थना करती हुई उनके शोक-संतप्त परिवारके साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करती है।

श्री आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की यह प्रबन्धसमिति श्रीमान् सेठ छोटेलाल कानोडियाकी साध्वी माताके निधनपर हार्दिक शोक प्रकट करती है और स्वर्गीय आत्माकी चिरशान्तिके लिये सर्व-शक्तिमान् भगवान् विश्वनाथके चरणोंमें प्रार्थना करती हुई उनके शोक संतप्त कुटुम्बके साथ आन्तरिक समवेदना प्रकट करती है। यह भी निश्चय हुआ कि इन प्रस्तावोंकी प्रतिलिपि स्वर्गीय सेठ मँगनीराम बाँगरके सुपुत्र श्रीमान् सेठ गोविन्दराम बाँगर तथा श्रीमान् सेठ छोटेलाल कानोडियाके पास पत्रके साथ भेजी जाय। अनन्तर सभाकी कार्यवाही प्रारम्भ हुई। और गत अधिवेशनकी कार्यवाही स्वीकृत होनेके पश्चात् महापरिषद् तथा महाविद्यालयके मासिक हिसाब उपस्थापित किये गये एवं स्वीकृत किये गये।

प्रिन्सिपलसे विदित हुआ कि विद्यालयकी फोर्ड बस ठीक काम नहीं दे रही है, उससे कन्याओंको आने-जानेमें असुविधा हो रही है, इसपर फोर्ड बस विक्रयकर एक नयी बस क्रय करनेकी स्वीकृति दी गयी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत होनेके पश्चात् सभाकी कार्यवाही समाप्त हुई।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीखतक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिए। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें बिलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक काल के लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापन-दाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, १/२ पृष्ठ	१२)	,,
,, १/४ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

क्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

मुद्रक :—श्री कालाचाँद चैटर्जी, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्‌की सचित्र मासिक मुखपत्रिका

आषाढ़ सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ३. | जून १९५०

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी, एम. ए., बी. टी.

काया हरिके काम न आई।
भाव-भगति जहँ हरि-यश, सुनियो
तहाँ जात अलसाई ॥
लोभातुर ह्वै काम मनोरथ,
तहाँ सुनत उठि धाई।
चरन-कमल सुन्दर जहँ हरिको,
क्यों हूँ न जात नवाहि ॥
जब लगि श्याम अङ्ग नहि परसत,
आखें जोग रमाई।
सूरदास भगवन्त भजन बिन,
विषय परमविष खाई ॥

विषय-सूची

अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूल त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

आसाढ़ सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या ३. ४ | जून १९५०

भज मन चरन संकट हरन ।
सनक संकर ध्यान लावत निगम असरन सरन ।
सेस सारद कहैं नारद सन्त चिन्तत चरन ॥
पद-पराग प्रताप दुरलभ रमाको हितकरन ।
परसि गङ्गा भई पावन तिहूँ पुर उद्धरन ॥
चित्त चेतन करत अन्तःकरन तारन तरन ।
गये तरि लै नाम केते सन्त हरिपुर घरन ॥
जासु पद रज परसि गौतम नारि गति उद्धरन ।
कृष्णपद मकरन्द पावन और नहि सिर परन ॥
"सूर" प्रभु चरनार विन्दुतें मिटैं जनम रू मरन ।
जासु महिमा प्रगट कहत न धोइ पग सिर धरन ॥

सम्पादकीय निवेदन ।

श्रीसैयदुल्लाका सराहनीय निर्णय !

ता० २२ जून आगरेका एक सम्वाद जो स्थानीय दैनिक सन्मार्गके ता० २४ के अङ्कमें प्रकाशित हुआ है, उसके अनुसार वहाँके मजिस्ट्रेट श्री सैयदुल्लाने पाँच व्यक्तियोंको एक अदालती पञ्चायत-द्वारा नीलगायके सार्वजनिक बधके अभियोगमें दिया गया दण्ड कायम रक्खा। मजिस्ट्रेट महोदयने अपने निर्णयमें कहा कि, "यद्यपि उत्तरप्रदेशकी सरकारने नीलगायको गाय माननेसे इन्कार कर दिया है, और उसे नील घोड़ाके नामसे पुकारनेका आदेश दिया है, किंतु शताब्दियोंसे एक बृहत समुदाय इस पशुको पवित्र मानकर उसका सम्मान करता आ रहा है। वह गाय हो, या घोड़ा, उसका सार्वजनिक बध उस सम्प्रदायकी भावनाओंपर आघात पहुँचाये बिना नहीं रह सकता है।" श्री सैयदुल्ला महोदयके इस उदार तथा अनुकरणीय निर्णयका हम हृदयसे सराहना करते हैं। यदि सभी अधिकारीवर्ग इसी दृष्टिकोणको अपना लक्ष्य बनाकर शासन-कार्य एवं न्याय करें, तो साम्प्रदायिकता स्वतः निर्मूल हो सकती है। उत्तरप्रदेशीय सरकारके नीलगाय-सम्बन्धी निर्णयका आड़ लेकर उक्त मजिस्ट्रेट महाशय अनायास ही अदालती पञ्चायतके निर्णयको रद्द कर सकते थे, किन्तु एक बृहत् समुदायकी धर्मभावनाका विचार करके उन्होंने उसे कायम रक्खा। कुशल शासक सम्राट् अकबरने भी इस देशके हिन्दूओंकी धार्मिक भावनाकी रक्षाके लिये गो-बध बन्द किया था। किन्तु आज अपनी कहानेवाली जनतन्त्र सरकार हमारी धार्मिक भावनाओंको अपनी सत्ताके बलपर कुचलकर गोबध जारी रखने तथा हिन्दूकोड-बिल पास करनेपर तुली हुई है। यह बड़े दुःख तथा दुर्भाग्यकी बात है।

नैतिक शिक्षा

यद्यपि केंद्रीय शासनने विधान बनाकर शिक्षा-संस्थाओंसे धर्मशिक्षा सर्वथा उठा देनेका आयोजन किया है, तथापि उत्तरप्रदेशके शिक्षा-विभागने शिक्षा-संस्थाओंमें मारेल एजूकेशन—नैतिकशिक्षाके नामसे किसीभी रूपमें कुछ धार्मिक शिक्षाका अवसर रखा है, यह संतोषका विषय है। अभी अभी बिहारके प्रधानमन्त्रीने एक मुस्लिम हाईस्कूलके पुरस्कार-वितरणोत्सवके उपलक्ष्यमें धार्मिक शिक्षाकी अनिवार्य आवश्यकता बतलायी और यह कहा कि, सायंसकी उन्नतिके साथही हमें अपने धर्मका ज्ञान प्राप्त होना आवश्यक है इत्यादि। यह भी शुभ लक्षण है। वस्तुतः धर्महीन शिक्षासे न शारीरिक विकाश हो सकता है, न मानसिक विकाश हो सकता है, और बुद्धि सत्य-असत्य निर्णय करनेके उपयुक्त बन सकती है। सरकार यदि चाहती है कि, शिक्षा-संस्थाओंमें स्वस्थ, सच्चरित्र, सत्यवक्ता, देशभक्त, कर्तव्यनिष्ठ नागरिक-नागरिका प्रस्तुत हों, तो उनमें किसी न किसी रूपमें धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था करनी ही होगी। अन्यथा शिक्षा-संस्थाओंपर कोटि कोटि रुपया व्यय करके उनमें स्वेच्छाचारी, उच्छृङ्खल, इन्द्रिय-लोलुप स्वार्थी युवक-युवतियाँ तैयार होंगी जो समाजको और भी अधोगतिके गर्तमें पहुँचानेके कारण बनेंगी। और इसका सारा उत्तरदायित्व सरकारपर होगा। सौभाग्यसे अब देश स्वतन्त्र है। आवश्यकता इस बातकी है कि, शिक्षाका साँचा सर्वथा बदल दिया जाय। बालिकाओंकी शिक्षा-शैली बालकोंसे बिल्कुल भिन्न होना चाहिये। शिक्षाका आदर्श केवल पेट-पालन नहीं किन्तु उसके द्वारा शारीरिक विकाश, चरित्रगठन तथा स्वस्थ मन एवं परिमल बुद्धिका विकाश होना

चाहिये। आजकी प्रचलित शिक्षाप्रणालीमें शिक्षाके इन उद्देश्योंकी पूर्तिका कोई साधन नहीं है, क्योंकि उसमें ईश्वर-ज्ञान, धर्म-ज्ञानका कोईभी स्थान नहीं है। समय रहते सावधान होना बुद्धिमत्ताका लक्षण है।

यह लोकतन्त्र या नेहरूशाही ?

मद्रासमें ११ जूनको भारत सरकारके विधान-मन्त्री डा० अम्बेदकरने पत्रकारोंके बीच कहा कि, पार्लियामेंटके आगामी अधिवेशनमें हिन्दूकोडबिल पास हो जायेगा। अस्तु, इस हिन्दूकोडबिलका जितना विरोध हुआ या हो रहा है, इतना कभी किसी बिलका नहीं हुआ। इसके विरोधमें हजारों सभायें हो चुकीं, देशके सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंने इसका घोर विरोध किया; लाखों तार एवं विरोध-पत्र नेहरूसरकारको भेजे जा चुके। गत दिसम्बरमें जब संसद्में इसपर विचार चल रहा था, हजारोंकी संख्यामें स्त्री-पुरुषोंने इसके विरोधमें उग्र प्रदर्शन कर अपना विरोध प्रकट किया। उनपर लाठी-वर्षा की गयी। उस समय पं० नेहरूने अपनी सरकारके पदत्यागकी धमकी देकर इस काले कानूनपर विचारार्थ सदस्योंका बहुमत प्राप्त किया। जब नेहरूजीके इस धमकीकी भी कड़ी आलोचना हुई, तब नेहरूजीने इस सम्बन्धमें कान्फरेन्स बुलानेकी घोषणाकर उस समय क्षुब्ध हिन्दूजनताको शान्त किया। कान्फरेन्सका नाटक जैसा डा० अम्बेदकरने किया, वह इसी अंकमें अन्यत्र प्रकाशित है। उसे पढ़नेसे पाठकपाठिकागण उक्त कान्फरेन्सका सच्चा स्वरूप अनायास समझ सकते हैं। अब डा० अम्बेदकर महोदय अपने निश्चयके साथ कहते हैं कि, यह बिल संसद्के आगामी अधिवेशनमें स्वीकृत हो जायेगा। सुनते हैं कि, संसद्का अधिवेशन आगामी अगस्त या सितम्बरमें होनेवाला है। डा० अम्बेदकरका ऐसा निश्चय स्वाभाविक ही है; क्योंकि प्रधान मंत्री पं० नेहरूका सबल समर्थन उनको प्राप्त है। उनको अपनी चिरवाञ्छित अभिलाषा पूर्ण करनेका ऐसा स्वर्ण सुयोग और कब प्राप्त होगा ? अगला निर्वाचन सन्निकट है, सम्भव है कि, अगले मंत्रिमण्डलमें डा० अम्बेदकर विधान-मन्त्री नहीं रहें तो उनकी यह मनकी साध मनमें ही रह जायगी। इस कारण डा० अम्बेदकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर इस बिलको पास कराकर ही दम लेंगे। हिंदूजनताने अपने जीवन, धन सम्मान सब कुछ बलिदान देकर कांग्रेस आन्दोलनको इस योग्य बनाया कि, आज वह शासनके सिंहासनपर आसीन हो सका, उसीका पुरस्कार यह हिन्दूकोडबिल कांग्रेस सरकार-द्वारा हिन्दूजनताको दिया जा रहा है, जिससे हिन्दुओंका सर्वस्व नाश हो जाय। डा० अम्बेदकर हिन्दूजाति तथा हिन्दूधर्मके कट्टर द्रोही हैं, यह उनकी अबतककी कृतियों एवं उनके गत मई मासमें बुद्ध-जयन्तीके उपलक्ष्यमें आयोजित दिल्लीकी एक सभामें हिन्दूधर्मके सम्बंधमें जो उन्होने विष उगला है, उसीसे स्पष्ट है। ऐसे हिंदूधर्मद्रोहीको विधानमंत्री बनाकर उसके हाथमें केवल हिंदूओंके लिये हिन्दूकोडबिल बनानेका अधिकार सौपना क्या हिन्दूजनताका घोर तिरस्कार एवं अपमान नहीं है ? उक्त सभामें जिस तरह हिन्दूधर्मकी कुत्सित निंदा डा० अम्बेदकरने की, उसीप्रकार यदि मुसलमान धर्मकी की होती, तो क्या उनको विधानमंत्री बना रखनेका यही साहस नेहरू सरकार दिखा सकती थी ? इसका निर्विवाद सर्वसम्मत उत्तर यही होगा कि "नहीं"। हिन्दू जनताने उचित मांग की, कि डा० अम्बेदकरको विधानमंत्री पदसे पृथक् किया जाय, किंतु नेहरूसरकारमें इसकी कुछ सुनवाई नहीं हुई। यह लोकतन्त्र या नेहरूशाही है ?

स्त्री-शिक्षाके विषयमें पूर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानोंके मत

लेखक—श्रीमती सुन्दरीबाई, एम० ए० बी० टी०

इधर सैकड़ों वर्षोंकी पराधीनतासे हमारे देशमें अज्ञानता तथा निरक्षरताका एक बहुत घना बादल-सा छा गया था। उसका स्त्री-शिक्षापर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा और कुछ लोगोंकी तो ऐसी सम्मति हो गयी कि, कन्याओंको पढ़ाना ही बड़ा भारी पाप है। कुछ लोग जो उनसे कुछ आगे बढ़े थे, उनके विचारमें कन्याओंको इतनी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे वे चिट्ठीपत्र लिख सकें तथा रामायणआदि पढ़ सकें। इन दोनों श्रेणीके लोग यह बिलकुल भूल गये कि, इस देशकी नारियाँ कितनी विदुषियाँ हो चुकी हैं, उन्होंने वेदका मन्त्र देखा है, ऋषि हुई हैं, बड़ी योग्यतासे राज्यशासन किया है, धर्मरक्षाके लिये युद्ध किया है और पुरुषोंके प्रत्येक कार्यमें बड़ी योग्यतासे अपना हाथ बटाया है। इसके प्रमाणमें वेद, पुराण तथा इतिहासके पृष्ठ भड़े पड़े हैं। तब भी किस आधारपर लोगोंने यह राय बनायी, यह तो वे ही लोग जानें। जब बृटिश शासन आया, तो उन्होंने शिक्षाकी अपनी शैली अपने स्वार्थसिद्धिके लिये चलायी। उनके अनुकरणमें अंगरेजी शिक्षित-लोग कन्याओंकी शिक्षाकी ओर अग्रसर हुए। फलस्वरूप अब स्त्री-शिक्षाकी अच्छी प्रगति दिखाई देती है। हजारों कन्याएँ विद्यालयोंमें पढ़ने लगी हैं और कुछ कालेजकी उच्च डिग्रियाँभी प्राप्त करने लगी हैं। यह आधुनिक शिक्षा कन्याओंके लिये कितना हितकर है, इसका उनके व्यक्तिगत जीवनपर क्या असर होगा एवं समाजपर क्या परिणाम होगा और इस आधुनिक शिक्षाका असर उन देशोंकी स्त्रियोंपर, जिनकी यहाँ नकल की जा रही है, क्या हुआ है, इस विषयमें पश्चिमी विज्ञजनोंकी सम्मति विचारणीय है। इङ्गलैंडके प्रसिद्ध डा० बूथ लिखते हैं :—

Socially life's wastage among millions :—a large army of young men and of young women eager to satisfy sex craving, but unwilling to bear the responsibilities of family life and parentage—net result bemoaned by Dr. Booth :—"What is happening to the domestic life of the Anglo-Saxon race? It is the same tale wherever the English tongue is spoken :- more hotels, fewer homes; more divorces fewer children." Physically—the growing unfitness of the Anglo-Saxon girl for maternity on account of her increased physical exercises and outdoor sports. Say experts like Dr. Stanley Hall, author of Adolescence, Dr. Arabella Keneally authoress Feminism aud Extinction and others :—"It does not at all follow that because a girl plays hockey well or because she develops a heavy muscular system she will for this reason be really healthy. Some of the worst cases of hysteria and other serious nervous disorders occur among physically powerful, sport-loving girls." According to Dr. Englemann "women who develop their muscular system highly suffer in children birth." According to a recent Vienna calculation the birth-rate amongst women predominant in athletic life in Austria was less than one-fifth of the rate amongst others of the same class who were not notably athletic. On these evidences Dr. Booth rightly warns :—

"Let those who believe that the athletic activities of our young women are going to give us a higher race, ponder these facts carefully and also ponder the useful tale told by the figures that from 1922 to 1928 the birth-rate in England has gone down by 16 per cent"

डा० बूथ साहबकी सम्मतिमें "नवीन शिक्षाके द्वारा वहाँके सामाजिक जीवनकी बड़ी अवनति हुई। वहाँपर दलके दल ऐसे स्त्री-पुरुष देखनेमें आ रहे हैं, जो काम-सम्बन्धके लिये सदा लालायित रहते हैं, किन्तु सन्तान उत्पन्न कर गृहस्थाश्रम करना नहीं चाहते। जहाँ जहाँ अंग्रेजी विद्या पढ़ाई जाती है वहाँ पर सर्वत्र ही यह कथा है। होटलोंकी संख्या बढ़ रही है और गृहस्थोंके घरकी संख्या घट रही है, विवाह-विच्छेद बढ़ रहा है और सन्तानोंकी संख्या घट रही है"। सामाजिक हानिके साथही साथ शारीरिक हानि भी यथेष्ट हो रही है। जो स्त्रियाँ शिक्षाके नवीन आदर्शके अनुसार पुरुषोंकी तरह व्यायाम, खेल आदि करती हैं, उनमें 'माँ' बननेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। डाक्टर स्टैनले हाल, अरविल कनैली आदिकी सम्मति है कि—"किसी स्त्रीने पुरुषकी तरह व्यायाम करके अपनी मांसपेशी या मज्जाको मजबूत कर लिया है अथवा किसी स्त्रीको हाकी खेलना बहुत अच्छा आता है, इसके द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि, उसके स्वास्थ्यकी यथार्थ उन्नति हो गई। क्योंकि अपस्मार (हिस्टिरिया) तथा अन्यान्य कई एक स्नायुदौर्बल्यसम्बन्धी कठिन रोग ऐसी ही स्त्रियोंमें ही देखनेमें आते हैं जो पुरुषोंकी तरह फुटबाल, हाकी, टेनिस आदि खेलोंको खेलती रहती हैं।" डाक्टर एकलमैनकी सम्मति यह है कि ऐसी स्त्रियोंको प्रसवके समय भी बड़ा कष्ट होता है। आस्ट्रियाके अन्तर्गत वियेना नगरमें देखा गया है, कि ऐसी स्थूल व्यायामवाली स्त्रियोंकी सन्तान संख्या अन्य स्त्रियोंकी सन्तानसंख्याका पञ्चमांश भी नहीं है। इन्हीं प्रमाणोंपर डाक्टर बूथ चेतावनी देते हैं कि, जो लोग यह समझते हैं कि, नवीन शिक्षानुकूल युवतियोंके व्यायामद्वारा हमारी जाति उन्नत हो जायगी, उन्हें सावधान होकर उन विषयोंपर सोचना चाहिये और यहभी दुःखद विषय सोचना चाहिये कि सन् १६२२ से १६२८ के भीतर इङ्गलैंडमें सोलह प्रतिसैकड़ा सन्तान-उत्पत्ति कम हो गई है।" इन्हीं बातोंपर विचार कर लेडी इरविन साहेबाने अखिलभारतीय स्त्री कान्फरेंस, देहलीके व्याख्यानमें कहा था :—

In one respect, India is favoured as she comes to close quarters with a problem of which other countries have been pioneers and have made mistakes by which India, if she is wise, may profit.

"They have been slow to recognise the necessity for differentiating between the education of the boys and girls. It is of course true that they both have to live in the same world, that they both have to share it between them, but their functions in it are largely different. In many countries to-day see girls' education developing on lines which are a slavish imitation of boys' education.

"We must, therefore, do all in our power to set a different standard and to create desire in the public mind and in the girls themselves, for an education which will allow girls to develop in other lines.

"What I feel, we should aim to give them, is a practical knowledge of domestic subjects and the laws of health which will enable them to fulfil one side of their duties as wives and mothers, reinforced by the study of those subjects which will help most to widen interests and outlook."

"स्त्रीशिक्षाके विषयमें भारतवासियोंको अच्छा मौका मिला है, कि अन्य देशके लोग इसमें गलती कर रहे हैं, उससे फायदा उठावें। अन्य देशके लोग स्त्री और पुरुषकी शिक्षामें क्या क्या भेद होना चाहिये, अभीतक इसको ठीक तरहसे मान नहीं सके हैं। यह बात सत्य है कि, स्त्री और पुरुष दोनों एक ही संसारके समान दायित्वके साथ निवास करते हैं, किन्तु इसमें दोनोंका कार्य बिलकुल एक दूसरेसे भिन्न है। बहुतसे देशोंमें स्त्रीशिक्षाको केवल पुरुषशिक्षाकी नकल बनाई गई है, यह ठीक नहीं है। अतः हमें प्रयत्न करना चाहिये कि, स्त्री-जातिके लिये उसकी प्रकृतिके अनुसार पृथक् आदर्श कायम किया जाय, जिससे वह अपने ही ढंगपर पूर्ण शिक्षिता बन सके। इसमें मेरा अनुभव यह है कि, उन्हें अच्छी स्त्री और अच्छी माता बनने लायक कर्त्तव्योंकी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिये, जिससे पारिवारिक समस्त विषय और गार्हस्थ्य स्वास्थ्य-रक्षामूलक सब विषय उन्हें आयत्त हो सकें और साथ ही साथ ऐसे विषयोंको भी उन्हें पढ़ाना चाहिये जिससे उनका दृष्टिकोण उदार बन जाय और सामाजिक जीवनके प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति प्रकट हो सके।" अतः निश्चय हुआ कि 'माँ' को 'माँ' बनाने लायक शिक्षा ही आदर्श शिक्षा है। उसको पिता बनानेके लिये यत्न करना उन्मत्तता तथा अधर्म है। इससे फलसिद्धि न होकर "इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः" हो जायेगा; क्योंकि स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेका यही विषमय फल होगा कि, प्रकृतिविरुद्ध होनेसे वह पुरुषभावको कभी नहीं प्राप्त कर सकेगी, अधिकन्तु कुशिक्षाके कारण स्त्रीभावको भी खो देगी, जिससे उसके और संसारके लिये बहुत ही हानि होगी। पतिभावमें तन्मयता ही स्त्रीकी पूर्णोन्नति होनेके कारण, पुरुषके अधीन होकर ही स्त्री उन्नति कर सकती है, स्वतन्त्र होकर नहीं कर सकती है और ऐसा करना भी स्त्रीप्रकृतिसे विरुद्ध है। इसलिये मनुजीने कहा है कि :—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

(९म अ०)

पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि, स्त्रियोंको सदा ही अधीन रक्खें। उन्हें स्वतन्त्रता न देवें। गृहकार्यमें प्रवृत्त करके अपने वशमें रक्खें। स्त्री कन्यावस्थामें पिता-के अधीन रहती है, यौवनकालमें पतिके अधीन रहती है और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन रहती है। कभी स्वतन्त्र करनेयोग्य स्त्रीजाति नहीं है। किन्तु इसके द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि, आर्यशास्त्रमें स्त्री-जातिको, हर तरहसे जञ्जीरमें जकड़ रखनेको ही धर्म कहा गया है, जैसा कि आजकल स्वतन्त्रतावादिगण हिन्दूसभ्यतापर दोष लगाया करते हैं।

सत्यदर्शी पश्चिमी विद्वानोंने भी इस बातकी पुष्टि की है। यथा :—

At no age should a woman be allowed to govern herself as she pleases.

(Harace Maun)

To obey is the best grace of women.

(Lewis Morris)

The superficial observer who applies his own standard to the customs of all

nations, laments with an affected philanthropy the degraded condition of the Hindu female. He particularly laments her want of liberty and call her seclusion imprisonment. From the knowledge I possess of the freedom, the respect, the happiness which Rajput women enjoy, I am by no means inclined to deplore their state as one of captivity.

(Colonel Tod)

Their state is not one of slaves to their husbands ; they have as much influence in their families as, I imagine, the women have in this country.

(Sir Thomas Munro)

The woman of the East are not so much in evidence as those of Europe, but their influence within the legitimate circle of their domestic relation is quite as great, their manners are as good and their morality is as high. Those who know most of the results of this freedom of women in the West may well doubt whether the accidental or fair the oriental method of treating the sex is more in accord with practical wisdom.

(Sir Lepel Griffin)

In no nation of antiquity were women held in so much esteem as amongst the Hindus.

(Prof. H. H. Wilson)

"स्त्रियोंको स्वेच्छानुसार अपनेको चलने देना कदापि उचित नहीं है।" (हरेश मैन)। "पुरुषोंकी वशम्बदा होनेमें ही स्त्रियोंकी सर्वोत्तम शोभा है।" (लिविस् मरिस)। "स्थूलदर्शी पुरुष, जो कि अपने ही आदर्शसे सब जातिकी सामाजिक रीतियोंपर विचार करते हैं, प्रायः हिंदूजातिपर कपट दया दिखलाते हुये उनकी स्त्रियोंकी हीनदशाको रोते हैं, कि उन्हें स्वतन्त्रता नहीं दी जाती और जेलखानेकी तरह उन्हें परदेमें रख दिया जाता है। किंतु राजपूत स्त्रियोंकी स्वतंत्रता, सम्मान तथा गार्हस्थ्यसुखके विषयमें मुझे जो कुछ ज्ञान है, उससे मुझे तो कभी अफसोस नहीं होता है, कि जेलखानेकी तरह बन्धनमें रक्खी जाती हैं।" (कर्नल टॉड)। "जैसा कि प्रायः कहा जाता है, हिंदूस्त्रियाँ प्रायः पराधीनकी तरह नहीं रहती हैं, क्योंकि अपने घरमें उनकी स्वतन्त्रता और प्रभुता पूरी ही है जैसा इस देशमें है।" (सर टोमस मुनरो)। "पूर्व देशकी स्त्रियाँ यूरोपकी स्त्रियोंकी तरह जहाँतहाँ घूमती नहीं किंतु अपने परिवारकी मर्यादायुक्त सीमामें उनका बहुत ही प्रभाव रहता है और इसी प्रकार उनका आचरण तथा नैतिक जीवन बहुत ही उत्तम होता है। पश्चिमी स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका भीषण परिणाम जिन्हें मालूम है वे लोग संदेह करने लगे हैं कि, वह रीति अच्छी है या पूर्वी रीति यथार्थ विचारसम्मत है।" (सर लेपेल ग्रिफिन)। "हिंदुओंमें स्त्रियोंको जितना सम्मान दिया जाता है, इतना संसारकी और किसी जातिमें नहीं दिया जाता।" (एच० एच० विलसन)।

इस प्रकार शिक्षादर्शकी प्रशंसा पश्चिमी विद्वानोंने भी की है, यथा :—

Mr. Arthur Mayhew in his 'Education of India'.

"Woman as she presents herself to Hindu imagination is the priestess of the home, watering the sacred plant

keeping the sacred fire, guarding sacrament by the purity of the food by her ablution and prayers. Her household service is an act of Bhakti (personal devotion); she goes abroad only for pilgrimage. But within the house, she is the centre of all activity not shut off in any way from the males of varying ages and generations but influencing vitally their home talk, thought and action.

"She has never been regarded as unfit for arts and accomplishments. Sanskrit literature has many examples of learned ladies and there are women poets. Does not a Sanskrit educationist draw up a list of sixty-four arts for young ladies? Did not Sankara design to argue with a woman Pandit? Sita and Droupadi, Savitry and Damayanti know how to retain love by other arts than those of the toilet and were real companions, as is the Hindu wife of to-day."

"सर आर्थर मोहीऊकी सम्मति है कि, हिंदू आदर्शके अनुसार स्त्री गृहदेवी है, वह घरके तुलसी आदि पवित्र वृक्षोंको प्रेमसे सींचती है, अग्निहोत्रकी अग्निको जलाये रखती है, स्नानसे शुद्ध होकर अन्नको भी शुद्ध रखती है, गृहकार्य उनके लिये पतिभक्तिका विलासमात्र है और बाहर उनका भ्रमण केवल तीर्थयात्राके लिये है। घरके समस्त व्यापारोंकी वह केंद्ररूपिणी है और भिन्न-भिन्न देशकालके पुरुषोंसे अलग न रहकर वह उनकी चिन्ता तथा क्रियाओंपर प्रभाव विस्तार किया करती है।"

खेदका विषय है, पश्चिमी देशोंके विचारशील विद्वान्गण यहाँकी प्राचीन स्त्रीशिक्षाशैलीका इस प्रकार मुक्त कण्ठसे प्रशंसा करते हैं और अंगरेजी शिक्षित हमारे देशवासी बन्धु स्त्रियोंको पाश्चात्य ढंगकी शिक्षा देकर स्त्रीजाति तथा समाजका सर्वनाश करने जा रहे हैं।

भक्तकन्याका आदर्श

[कहानी]

बुंदेलखण्डमें बलभद्रपुर नामकी एक रियासत थी। वहाँ एक राजकुमारी पैदा हुई थी जिसका नाम था, विमलाकुमारी। विमलाको एक गुरुजी संस्कृत तथा हिन्दी पढ़ाते थे। दोपहरीको जब गुरुजी स्नान करके ठाकुरजीकी पूजा किया करते थे, तब विमला एकटक ठाकुरजीको देखा करती थी। एकदिन विमलाने कहा—

विमला—गुरुजी! ये ठाकुरजी मुझे दे दीजिये।

गुरु—तुम क्या करोगी?

विमला—पूजन किया करूँगी, बातें किया करूँगी।

गुरु—तुम अभी कन्या हो। गुड्डेगुड्डीका ब्याह खेला करोगी। फिर बड़ी हो जाओगी, तब तुम

अपनी ससुराल चली जाओगी ; ठाकुरजीकी पूजाका अवसर तुमको कभी न मिलेगा।

विमला—क्या कन्याका यही आदर्श है, गुरुजी ?

गुरु—नहीं, कन्याका आदर्श तो दूसरा ही है।

विमला—वह कौनसा ?

गुरु—माता, पिता और भ्रातासे सद्व्यवहार रखना कन्याका प्रथम आदर्श है। गुरु तथा ईश्वरकी भक्ति रखना कन्याका दूसरा आदर्श है। पति तथा पुत्रकी सेवा करना उसका अन्तिम आदर्श है।

विमला—सबसे बड़ा आदर्श कन्याके लिये कौन-सा है ?

गुरु—सबसे बड़ा आदर्श तो माता-पिता, भ्राता, गुरु-शिष्य, पति-पुत्र-पत्नी—सबके लिये एक ही है और वह है श्रीठाकुरजीकी भक्ति सीखना।

विमला—क्यों ?

गुरु—ठाकुरजी ही संसारके स्वामी हैं। हर-एक जीव उनका नौकर है। जो नौकर अपने स्वामीकी सेवा नहीं करेगा, वह मेवा नहीं पायेगा। उसे कान पकड़कर निकाल दिया जायेगा।

विमला—तो ठाकुरजीकी सेवा करना सबका प्रधान आदर्श है ?

गुरु—हाँ, बेटी ! यही सबका प्रधान आदर्श है। यदि तुम ईश्वरकी भक्त बनोगी तो तुम्हारे आचरण स्वयं धार्मिक रहेंगे। ईश्वरकी छबिकी छटाका नाम धर्म है। धर्म यानी कर्त्तव्य।

विमला—तब तो गुरुजी ! मैं इसी सबसे बड़े आदर्शको मानूँगी ; बस, ये ठाकुरजी मुझे दे दो।

गुरु—नहीं। ये तो मेरे ठाकुर जी हैं।

विमला—और मेरे ठाकुरजी ?

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजी कल आ जायेंगे।

विमला—कैसे ?

गुरु—कल सुबह मेरे साथ नर्मदाजी स्नान करने चलना। पाताल फोड़कर, नदीके द्वारा तुम्हारे ठाकुरजी आयेंगे।

गुरुजीने सोचा था कि नर्वदामें गोल-गोल पत्थर के टुकड़े पड़े रहते हैं, उन्हींमें से एक उठाकर दे दूँगा।

अपने ठाकुरजीकी प्रतीक्षामें विमलाको अपार आनन्द हुआ। प्रातः दोनों हाथीपर चढ़कर नर्वदास्नानके लिये गये। गुरुजीने जो डुबकी मारी तो एक श्वेतपत्थरकी गोलमूर्ति उनके हाथमें थी।

राजकुमारी चिल्लाई। 'हमारे ठाकुरजी आ गये।'

गुरुजीने बाहर निकलकर ठाकुरजी दे दिये।

विमलाने अपने ठाकुरजीके लिये सोनेकी संदूकची बनवाई, रेशमी कपड़े बनवाये और जवाहराती जेवर बनवाये रोज फूल और धूप-दीपके साथ पूजा करने लगी।

राजा और रानीने विमलाके उत्साहमें और भी योग दे दिया। जो-जो उससे माँगा, राजा रानी प्रसन्नतापूर्वक देने लगे। आजकलके मूढ़ माता-पिताकी तरह उन्होंने कन्याका भक्ति-विलास रोका नहीं। पुत्र हो या पुत्री हरिभक्तिसे किसीको रोकना नहीं चाहिये। इससे बढ़कर कोई पाप ही नहीं है। रामप्रेम रोकना ही महापाप है। कन्या तो जीव है, पशु-पक्षीतक रामसे प्रेम करते हैं।

× × ×

विमला—गुरुजी ! ठाकुरजी तो आपकी कृपासे मिल गये ; परन्तु इनका नाम क्या है ?

गुरुजीने देखा कि कन्या बहुत सीधी है। सीधेको 'सिलबिल्ला' कहते हैं ग्रामीण भाषामें।

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजीका नाम है सिलबिल्ले ठाकुर।

विमला—सिलबिल्ले ठाकुर ?

गुरु—यह तो फारसी भाषा हो गयी। सिल-बिल्ले कहो ?

विमला—सिलबिल्ले ठाकुरजी !

× × ×

एकदिन विमलाका विवाह हो गया। वह बारातके साथ ससुरालको चली। मार्गमें बारातने दोपहरी देखकर पड़ाव डाल दिया। राजकुमारीका पति पालकीके पास आया। राजकुमारीको अत्यन्त रूपवती देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

राजकुमार—इस सोनेकी सन्दूकचीमें क्या है ?

राजकुमारी—ठाकुरजी।

राजकुमार—देखूँ।

राजकुमारीने चाबी लेकर ताला खोला। रेशमी कपड़ोंमें फूलोंकी गद्दीपर पत्थरकी एक गोल बटरिया रक्खी थी। राजकुमार हँसा। उसे नयी दुनियाँकी हैवानी हवा लगा था। ईश्वर कहाँ है और यदि है भी तो वह अजर-अमर सच्चिदानन्द व्यापक होगा और यह है नर्मदाकी बटिया। राजकुमारने कहा—'तुम बहुत सरल हो राजकुमारी।'

इतना कहकर उसने ठाकुरजी उठा लिये। वहां एक कुआँ था। हँसकर राजकुमारने उस ठाकुरजीको कुयेंमें डाल दिया और चला गया।

× × ×

ससुराल पहुँचकर राजकुमारीने भोजन करना छोड़ दिया। केवल जल पाकर रहने लगी। हरदम ठाकुरजीका ध्यान। 'हाय ! हमारे सिलबिल्ले ठाकुरजी कब मिलेंगे ?' यही चिन्ता। ससुराल वालोंने सोचा कि घरकी यादसे बहू भोजन त्याग बैठी है। एक रातको वह खिड़कीके द्वारा महलसे बाहर हो गई। भागती हुई उसी कुयेंके पास जा पहुँची, जिसमें ठाकुरजी पड़े थे।

राजकुमारी रोने लगी। उसने पुकारा—'सिलबिल्ले !' आवश्यकतासे अधिक सीधे व्यक्तिको 'सिलबिल्ला' कहा जाता है देहाती भाषामें। बहुत सम्भव है कि ईश्वर भी आवश्यकतासे अधिक सीधा व्यक्तित्व रखते हों। लिहाजा कुएँमेंसे जवाब आया—'वाह ! मुझे यहाँ छोड़ तुम कहाँ चली गयी थीं ?'

राजकुमारी—बाहर आ जाओ।

आवाज—तुम्ही यहाँ आ जाओ।

राजकुमारी कुएँमें कूद पड़ी।

× × ×

विमलाने देखा कि कुएँमें पानीकी जगह फूल-ही-फूल भरे पड़े हैं और बजाय पत्थरके साक्षात् ठाकुरजी विराजमान हैं। पीताम्बर वनमाला, मोहनमुरली, मधुर मुस्कान !

विमला—सिलबिल्ले !

ठाकुरजी—कहो सिलबिल्ली।

विमला—मैं उस ठाकुरजीके विरोधी घरमें अब न जाऊँगी।

ठाकुरजी—तो ठाकुरजीके माननेवाले घरमें चलोगी ?

विमला—नहीं, मैं तो अब तुम्हारे ही साथ रहूँगी। तुम्ही मेरे सब कुछ हो।

श्रीकृष्ण—विमले ! तुम राधारानीकी 'सरलता' से उत्पन्न हो। संसारकी समस्त स्त्रियाँ शक्तिके विविध अंगोंसे उत्पन्न हैं। आजकलके भयानक कलियुगमें तुम-सी सरलकी गुजर नहीं हो सकती। सरलको लोग बेवकूफ समझते हैं, मजा यह कि, हैं खुद बेवकूफ।

विमला—तुम्हारा घर कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—गोलोकमें।

विमला—वह कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—पृथ्वीके ऊपर चन्द्र, चन्द्रसे दूर सूर्य, सूर्यसे ज्योति, ज्योतिके बाद गोलोक है।

विमला—बहुत दूर है ?

श्रीकृष्ण—क्षणभरमें पहुँच चलेंगे।

इतना कहकर भगवान्ने विमलाके सिरपर

हाथ फेरा। हाथके साथही उसकी आत्मा निकल आयी।

दोनों आकाशमार्गसे चले। यहाँ अपनी एक कहानी छोड़ गये।

जिन्हके रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

[कल्याणसे]

कसक

मेरे जीकी कसक न पूछो
योंही उसे छिपी रहने दो।
अपने रोम रोमकी पीड़ा
मुझे शिला बनकर सहने दो॥
तनिक हवा तक मत लगने दो
धधक उठेगी आग हृदय की।
अपनी धीमी मधुर आह में
मुझे तड़पने दो—दहने दो॥

प्यास

विषके प्याले पी पीकर मैं
बुझा रहा हूँ जी की प्यास।
अनख जगाकर नाच रहे हैं
दायें-बायें नाश विनाश॥
निकट न आना झुलस उठोगे
लगा चुका हूँ घरमें आग।
मृत्युञ्जय होकर जीवन से
करता हूँ अब तो उपहास॥

मोहन वैरागी

कर्ममीमांसादर्शन।

[पूर्वसंख्याके ३२ पृष्ठके बाद]

लोकप्रसिद्ध है। दूसरी ओर अवतारोंमें जो दैवी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिका प्राकट्य होता है सो तो स्वतःसिद्ध है; क्योंकि अलौकिक दैवकार्य्य सम्पादनके लिये ही अवतारोंका आविर्भाव हुआ करता है ॥४०॥

अब तीनोंमेंसे पहलेकी स्वाभाविक गतिका वर्णन कर रहे हैं—

सहज ऊदूर्ध्वगामी है ॥ ४१ ॥

सहजकर्म ब्रह्मप्रकृतिके स्व-स्वभावसे सम्बन्ध रखकर प्रकट होता है इस कारण उसकी गति सदा ऊदूर्ध्वमुखिनी रहती है। ब्रह्मप्रकृति अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था और पुनः व्यक्तावस्थासे अव्यक्तावस्थाको प्राप्त होती है जैसा कि श्रीभगवान्ने निजमुखसे गीतोपनिषद्में कहा है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

ब्रह्माका दिन होनेपर अव्यक्तसे सृष्टिका उदय होता है और रातको उसीमें सबका प्रलय हो जाता है। समस्त चराचर जीवोंका समुदाय इसी प्रकार बार बार दिनको प्रकट होता है और रातको लयप्राप्त होता है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे समझ सकते हैं, कि प्रकृति ब्रह्मसे पृथक् होकर त्रिगुणके कारण विकारको प्राप्त होती है और पुनः प्रकृतिस्थ होकर ब्रह्ममें लय हो जाती है; अर्थात् परमपुरुषके भोगके लिये प्रकृति परमपुरुषसे पृथक् होकर संसारकी सृष्टि करती है और आनन्दविलासको उत्पन्न करती है और दूसरे क्षणमें उन सब दृश्यप्रपञ्चको अपनेमें लय करती हुई स्वयं ब्रह्ममें लीन हो जाती है। प्रकृतिके इस स्वभावके अनुसार सहजकर्मका भी स्वभाव बनता है; क्योंकि सहजकर्म प्रकृतिका सहजात है। सहजकर्म भूतभावोद्भवकर विसर्गसे जीवोत्पत्ति करता है, तब वह चिज्जड़ग्रन्थिसम्भूत जीव सहजकर्मके बलसे क्रमशः नियमितरूपसे अभ्युदयको प्राप्त होता रहता है; क्योंकि सहजकर्म प्रकृति-सहजात होनेके कारण प्रकृतिके साथही साथ व्यक्त होकर पुनः प्रकृतिको ब्रह्ममें मिलानेका कारण बनता है और प्रकृति ब्रह्मसे व्यक्त होकर पुनः ब्रह्ममें ही अव्यक्तभाव प्राप्त होनेके लिये स्वरूपकी ओर ही अग्रसर होती रहती है और अन्तमें पुनः ब्रह्ममें ही लीन हो जाती है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार सहजकर्म अपने आपही प्रकृतिसे उत्पन्न होकर स्वाभाविक रूपसे प्रकृतिसम्भूत भूतादिको अग्रसर करता हुआ प्रकृतिमें ही मिल जाता है इस कारण सहजकर्मकी गति सदा ऊर्ध्वमुखिनी रहती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चार श्रेणीके पिण्डोंमें तो सहजकर्मकी ऊर्ध्वमुखिनी नियमित स्वाभाविक गति स्पष्टही प्रतीयमान होती है। क्योंकि इन योनियोंमें जीव बिना बाधाके उन्नत कर्मकी ओर अग्रसर होता ही रहता है। पुनः अनार्यत्व, चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रमत्व, मनुष्यत्व, और देवत्वादिमें जो बिना बाधाके उन्नतिशील गति है सो सहज कर्मके प्रभावसे होती रहती है। सहजकर्म प्रकृति-सहजात होनेसे उसकी स्थिति सर्वत्र वर्तमान है। उसीको अवलम्बन करके जीवन्मुक्तपद मनुष्यको मिलती है और उसीको अवलम्बन करके धर्माचार्योंने कर्मकाण्डमें निष्कामयज्ञ, उपासनाकाण्डमें पराभक्ति और ज्ञानकाण्डमें ब्रह्मसद्भावका अधिकार निर्णय किया है ॥४१॥

अब दूसरेकी स्वाभाविक गतिका वर्णन कर रहे हैं—

सहजमूदूर्ध्वगम् ॥ ४१ ॥

जैवकर्म अधोगामी है ॥ ४२ ॥

सहजकर्म जिस प्रकार ऊँचे ही ऊँचे ले जाता है, क्योंकि सहजप्रकृति सहजात है, जैवकर्म वैसा नहीं है। मनुष्ययोनिमें जीव पिण्डका ईश्वर बन जानेसे उसकी प्रकृति विकृति हो जाती है। इस कारण विकृतिसे उत्पन्न कर्म इन्द्रिय-सम्बन्धसे निम्नगामी बन जाता है। प्रस्तुतः सहजकर्म प्रकृतिसहजात है और जैवकर्म विकृतिसहजात है, ऐसा कह सकते हैं। यही कारण है कि, सहजकर्म स्व-स्वरूपकी ओर नियमितरूपसे ले जाता है; परन्तु जैवकर्म जीवको फँसाये रहता है और आवागमन-चक्रमें घुमाया करता है। सहजकर्मकी गति सहज है और जैवकर्मकी गति कुटिल है। इस कारण जैवकर्म निरन्तर जटिलता प्राप्त कराता है और जीवको आसक्तिके फन्देमें डालकर गिराता रहता है ॥ ४२ ॥

प्रकृत विज्ञानके सम्बन्धमें वर्णाश्रमकी आवश्यकता दिखाई जाती है—

उसकी निवृत्तिके लिये वर्णाश्रमकी अपेक्षा है ॥ ४३ ॥

जीव सहजकर्मकी क्रमोन्नति-प्रदायिनी शक्तिके अनुसार मनुष्ययोनितक तो विना बाधाके पहुँच जाता है। मनुष्ययोनिमें पाप-पुण्यका अधिकारी बनकर जैवकर्मकी अधोगामिनी कुटिल गतिका अधिकारी होता है; तब पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्य अपने पिण्डका अधीश्वर बनकर इन्द्रियासक्तिमें फँसता हुआ अपनी ऊर्द्ध्वगतिसे च्युत होकर नीचेकी ओर गिरता रहता है। सुतरां ऐसी दशामें उसको कोई असाधारण सहायता न मिले तो उसकी क्रमोन्नति चिरकालके लिये रुक जाती है। इस निम्नप्रवण गतिको रोककर यथायोग्यरूपसे उसकी ऊर्द्ध्वमुखीन गतिको पुनः नियोजित करनेके लिये वर्णाश्रमधर्मकी सुव्यवस्था बाँधी गई है। वस्तुतः वर्णाश्रम-पालनके द्वारा आर्य्यजातिमें मनुष्य वारंवार जन्मग्रहण करके अपने उस ऊर्द्ध्वगामी स्रोतको स्थायी रख सकता है और जैवकर्मके द्वारा जो जटिलता हो जाती है उसको दूर कर सकता है। शास्त्रोंमें इस विज्ञानके अनुमोदनार्थ जो एक औपनिषदिक दृश्यका वर्णन श्रीभगवान् शम्भुने निजमुखसे किया है सो नीचे प्रकाशित किया जाता है—

श्यामायाः प्रकृतेर्मे स्तो द्वे रूपे परमाद्भुते।
यतः सैव जड़ा जीवभूता चैतन्यमय्यपि ॥
अज्ञानपूर्णरूपेण जड़रूपं धरन्त्यसौ।
सृष्टिं प्रकाशयेच्छश्वन्नात्र कश्चन संशयः ॥
असौ चैतन्यपूर्णा च भूत्वा स्रोतस्विनी मम।
स्वस्वरूपात्मके नित्यं पारावारे विशत्यहो ॥
सरिन्निर्गत्य चिद्रूपा सा महाद्रेर्जड़ात्मकात्।
उद्भिज्जे स्वेदजे चैवमण्डजे च जरायुजे ॥
सलीलं खातरूपेऽलं प्रवहन्ती स्वधाभुजः।
मर्त्यलोकाधित्यकायां निर्बाधं व्रजति स्वयम् ॥
तस्या अधित्यकाया हि निम्नस्थाश्चैकपार्श्वतः।
उपत्यका महत्यश्च विद्यन्ते गह्वरादयः ॥
यत्र तस्याः पवित्रायास्तरङ्गिण्या जलं स्वतः।
स्थाने स्थाने वहन्नित्यं निर्गच्छति स्वभावतः ॥
अव्याहतञ्च नीरन्ध्रमविच्छिन्नं निरापदम्।
स्रोतस्तन्नितरां कृत्वा नदीधारां धरातले ॥
विधातुं सरलां सौम्यामष्टबन्धाः स्वधाभुजः।
धर्मा वर्णाश्रमा एव निर्मिता नात्र संशयः ॥
त्रिलोकपावनी दिव्या सा नदी सुगमं हितम्।
पन्थानमवलम्ब्यैव परमानन्दलब्धये ॥
मयि नित्यं प्रकुर्वाणा प्रवेशं राजतेतराम्।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ॥
रिनानिखिलास्तस्या नद्यपूर्वकम्।

जैवमधोगम् ॥ ४२ ॥ वर्णाश्रममपेक्ष्यं तन्निवृत्तये ॥ ४३ ॥

सर्वदैवावगाहन्ते लभन्तेऽभ्युदयञ्च ते ॥
उभयोस्तटयोः तस्याः समासीना महर्षयः ।
ब्रह्मध्याने सदा मग्ना यान्ति निःश्रेयसं पदम् ॥
यूयं दाढर्याय बन्धानां तेषाञ्चैव निरन्तरम् ।
रक्षितुं तान् प्रवर्त्तन्ते पार्श्वमेषामुपस्थिताः ॥
भवतामत्र कार्ये च विश्वमङ्गलकारके ।
सदाचारिद्विजाः सन्ति सत्यो नार्य्यः सहायिकाः ॥

मेरी प्रकृति श्यामाके दो रूप हैं, वही जड़रूपा है और वही जीवभूता चेतनमयी हैं। वही अज्ञान-पूर्ण रूपधारण करके सदा सृष्टिको प्रकट करती हैं और चेतनमयी स्रोतस्विनी होकर मेरे स्व-स्वरूप पारावारमें प्रवेश करती हैं। वह चिन्मयी नदी जड़मय महापर्वतसे निकलकर प्रथम उद्भिज्ज, तदनन्तर स्वेदज, तदनन्तर अण्डज, तदनन्तर जरायुजनामधारी खादमें सरलतासे बहती हुई मनुष्यलोकरूपी अधित्यकामें पहुँचती है। उस अधित्यकाके नीचे महती उपत्यकाएँ और गह्वर आदि विद्यमान हैं, जिनमें उस पवित्र तरङ्गिणीका जल स्थान स्थानपर स्वतः ही बह जाया करता है। हे पितृगण ! उस स्रोतको अप्रतिहत नीरन्ध्र और अविच्छिन्न रखकर नदीकी धारा धरातलपर सरल रखनेके लिये वर्ण और आश्रमके आठ बन्ध रक्खे गये हैं। इसी कारण वह अलौकिक त्रिलोक-पावनी नदी सरल पथको अवलम्बन करके मुझमें परमानन्द-प्राप्तिके हेतु प्रवेश करती है। हे पितृगण ! इसमें आपलोग विस्मित न होवें। देवतागण उस नदीमें आनन्दपूर्वक अवगाहन करके अभ्युदयको प्राप्त होते हैं और ऋषिगण उस नदीके दोनों तटों-पर समासीन तथा ब्रह्मध्यानमें मग्न होकर निःश्रेयस पदको प्राप्त होते हैं। आप लोग निरन्तर उन बन्धोंको सुदृढ़ रखनेके लिये उनके पास रहकर उनकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त हों और आपके इस जगन्मङ्गलकर शुभ कार्य्यमें सदाचारी ब्राह्मणगण और सती नारियाँ सहायिका हैं ॥ ४३ ॥

अब वर्णाश्रम-शृंखलाकी भित्ति कह रहे हैं—

सतीत्व उसका मूल है ॥ ४४ ॥

वर्णाश्रम-शृङ्खलाकी भित्ति और उसका विज्ञान हृदयङ्गम करानेके अभिप्रायसे सबसे प्रथम पूज्य-पाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, यदि विचारके देखा जाय, तो यही सिद्ध होगा कि, वर्णाश्रम शृङ्खलाका मूल नारीजातिका सतीत्व है। आश्रमधर्म-का मूल वर्णधर्म है और वर्णधर्मका मूल रजोवीर्य्य-की शुद्धि है, रजोवीर्य्य शुद्धिका मूल नारीजातिमें त्रिलोकपवित्रकारी सतीत्वधर्म है। गृहस्थगण चाहे कितना ही सदाचारसे रहें, पुरुषगण चाहे कितने ही संयमी हों, यदि नारीजाति अपने तपोधर्मकी रक्षा न करे तो वर्णकी शुद्धि और आश्रमकी शुद्धि दोनों नष्ट हो जायगी और दोनोंकी शृङ्खला बिगड़ जायगी। दूसरी ओर विचारनेयोग्य विषय यह है कि, पुरुषका कदाचार उसके व्यक्तित्वतक ही पहुँचता है और स्त्रीका कदाचार उसके व्यक्तित्व, उसकी सन्तति, उसका कुल, उसकी जाति और यावत् वर्णाश्रम-शृङ्खलाको भ्रष्ट कर देता है। जाति की शुद्धि के लिये तो क्षेत्रकी शुद्धि ही प्रधान है और सन्ततिकी संस्कार-शुद्धि माताकी संस्कारशुद्धि-पर ही निर्भर करती है। इस कारण यह सिद्ध कि, वर्णाश्रमका मूल नारीजातिका सतीत्व है ॥ ४४ ॥

और भी कह रहे हैं—

शुद्धि इसका स्कन्ध है ॥ ४५ ॥

यदि वर्णाश्रम-व्यवस्थाको एक वृक्षके रूपकमें सजाया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि, नारी-जातिका सतीत्व जैसे उसका मूल है, वैसे ही रजो-वीर्य्यकी शुद्धि उसका स्कन्धरूप है। वृक्षका स्कन्ध जिसप्रकार उसको थाम्हे रहता है, उसीप्रकार

सतीत्वमूलं तत् ॥ ४४ ॥ शुद्धिः स्कन्धः ॥ ४५ ॥

पितरोंसे प्राप्त शुद्ध वंशपरम्परागत जो वीर्य्यकी शुद्धि है और पवित्र क्षेत्ररूपसे माताके द्वारा प्राप्त जो रजकी शुद्धि है, ये ही दोनों वर्णाश्रमरूपी कल्पवृक्षके स्कन्धरूप हैं। संस्कारपादमें यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि, रज और वीर्य्यके द्वारा उभयविध संस्कारका आकर्षण होता है। इसप्रकार-से उभयविध शुद्ध संस्कारोंका परम्परासे क्रमप्राप्त आकर्षण सृष्टिकालके आदिसे होते रहनेसे वर्णा-श्रम शृङ्खलामयी आर्य्यजाति इस नाशवान् संसारमें चिरजीवी बनी रहती है, इसी कारण शुद्धि उसका स्कन्ध है ॥ ४५ ॥

और भी कहते हैं—

शृङ्खला उसकी शाखा है ॥ ४६ ॥

वर्णधर्म और आश्रमधर्म निभानेके लिये पूज्य-पाद महर्षियोंने जो नाना दार्शनिक युक्तियोंसे दृढ़ शृङ्खला बाँधी है, वही इस वृक्षकी शाखायें हैं। वृक्ष-का विस्तार और उस विस्तारका अस्तित्व जिस प्रकार शाखाओंके द्वारा सुरक्षित होता है, उसी प्रकार नाना प्रकारकी वर्णाश्रम-शृङ्खलाओंके द्वारा वर्णाश्रमका महत्त्व सुरक्षित होता है। समाज-दण्ड, राजदण्ड, शास्त्रविचार, धर्माधर्मविचार नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर भी यही शृङ्खला वर्णाश्रमकी रक्षा करती है ॥ ४६ ॥

और भी कहते हैं—

सदाचार पत्ते हैं ॥ ४७ ॥

उस कल्पद्रुमके पत्रसमूह सदाचार हैं। जैसे पत्तोंके द्वारा वृक्षका परिचय मिलता है, जैसे वृक्षके पत्तोंके द्वारा वृक्षका वृक्षत्व पूर्णताको प्राप्त होता है, उसीप्रकार वर्णोचित और आश्रमोचित सदाचार-पालनके द्वारा ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण और गार्ह-स्थ्यादि आश्रम पहचाने जाते हैं और उनकी मर्य्यादा अक्षुण्ण रहती है ॥ ४७ ॥

और भी कहते हैं—

अभ्युदय पुष्प है ॥ ४८ ॥

वृक्षोंका पुष्प जिसप्रकार फलोत्पत्तिका कारण होता है, उसी प्रकार निःश्रेयसरूपी मुक्तिफलकी प्राप्ति करानेके लिये वर्णाश्रमधर्म जीवको नियमित-रूपसे अभ्युदय देकर मुक्तिपदमें पहुँचा देता है। अभ्युदय दो प्रकारका होता है, एक लौकिक अभ्यु-दय, दूसरा पारलौकिक अभ्युदय। वर्णाश्रमधर्मके आचरणद्वारा वे दोनों अभ्युदय जीवको स्वतः प्राप्त होते जाते हैं। वर्णाश्रमशृङ्खला और वर्णाश्रम सदाचार ऐसे सुकौशलपूर्ण रीतिपर बनें हैं कि, जिनके यथाक्रम पालन करनेसे क्रमाभ्युदयका प्राप्त करना निश्चित है। दूसरी ओर पुष्पकी शोभा और सुगन्धद्वारा जैसे सर्वजनका प्रसन्नता और पुष्पनिः-सृत मधुद्वारा मनुष्यलोकसे लेकर देवलोकतककी तृप्ति होती है, उसी प्रकार वर्णाश्रमकी व्यवस्थाद्वारा ऋषि, देवता और पितरोंकी किसप्रकार प्रसन्नता होती है, सो पहले कहा गया है; इस कारण पुष्प और अभ्युदयका दृष्टान्त युक्तियुक्त है ॥ ४८ ॥

और भी कह रहे हैं—

कैवल्य फल है ॥ ४९ ॥

वर्णाश्रमधर्मके पालनसे कैवल्यरूपी फलकी प्राप्ति स्वतःही होती है। जिसप्रकार वृक्षके पुष्पसे ही फलोत्पत्ति होती है, उसीप्रकार वर्णाश्रमधर्मके पालनद्वारा अपने आपही जीवको अभ्युदय प्राप्त होते-होते अन्तमें कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है। जन्म-जन्मान्तरमें वर्णाश्रमधर्मके द्वारा क्रमाभ्युदय होना निश्चय है। चारों वर्णमें क्रमशः काम, अर्थ,

---

शृङ्खला शाखा ॥ ४६ ॥ सदाचारः पत्रम् ॥ ४७ ॥ पुष्पमभ्युदयः ॥ ४८ ॥ कैवल्यं फलम् ॥ ४९ ॥

धर्म और मोक्षकी चरितार्थता करनेकी सुकौशल-पूर्ण क्रिया रक्खी गयी है। उसीप्रकार चारों आश्रमोंमेंसे प्रथम दोमें प्रवृत्ति और अंतिम दोमें निवृत्तिकी चरितार्थताकी शृङ्खला बाँधी गयी है। इसप्रकारसे जीव वर्णाश्रमधर्मका पालन करता हुआ अपने आपही अन्तमें अवश्य ही कैवल्यभूमिमें पहुँच जाता है। मुक्तिके लिये उसको स्वतन्त्र उद्योग करनेकी आवश्यकता नहीं होती है ॥ ४६ ॥

अब वर्णाश्रम-शृङ्खलाका दिग्दर्शन करा रहे हैं—

असवर्ण विवाह अधिभूतशुद्धिका नाशक है ॥ ५० ॥

वर्णाश्रम-शृंखलाकी भित्तिका विस्तारित स्वरूप वर्णन करके अब उसकी शृङ्खलाका विरूप दिखा रहे हैं। वर्णाश्रम-शृङ्खलामें स्ववर्णमें विवाह करना ही उसकी रक्षाका कारण होता है और असवर्ण विवाह करनेसे उसकी शुद्धि नष्ट हो जाती है। वर्णाश्रम-शृङ्खलाका प्रथम सिद्धान्त यह है कि, असवर्ण विवाह न किया जाय और स्ववर्ण विवाह किया जाय। इस संसारमें स्त्रीजातिका आकर्षण सबसे अधिक है। उस मोहमय आकर्षणके वशीभूत होकर जातिको शुद्ध रखनेवाली शृङ्खला नष्ट न होने पावे और अशुद्धताका द्वार बन्द हो जाय, जिससे आर्य्यजाति चिरजीवी हो सके। इस कारण इस सूत्रका आविर्भाव किया गया है ॥ ५० ॥

और भी कहा जाता है—

गुणपरिपन्थी भी है ॥ ५१ ॥

असवर्णविवाह दूसरे वर्णके साथ सङ्करता उत्पन्न करके वर्णकी शुद्धिका तो नाश करता ही है; परन्तु गुणोंमें भी बाधक है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतोपनिषद्में कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

भगवान्ने जो चारों वर्णोंकी अलग-अलग सृष्टि की है, उनमें गुणविभागभी एक कारण है। सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, सत्त्वरजःप्रधान क्षत्रिय, रजस्तमःप्रधान वैश्य और तमोगुणप्रधान शूद्र माने गये हैं। इन तीनों गुणोंका आकर्षण रजोवीर्यके द्वारा होता है। शरीर त्रिगुणका आधार है, इस कारण रजोवीर्यकी शुद्धिके बिना त्रिगुणका तारतम्य ठीक-ठीक आकर्षित होकर स्थापित नहीं हो सकता है; अतः मानना ही पड़ेगा कि, असवर्ण विवाह गुणसंग्रहका भी बाधक है ॥ ५१ ॥

अब शृङ्खलाका दूसरा सिद्धान्त कह रहे हैं—

कौन विवाह वर्णाश्रम शृखलाका घातक होता है, यह बतलाते हैं—

विलोमविवाह वर्णाश्रम-शृङ्खलाका घातक है ॥ ५२ ॥

वर्णाश्रमशृंखलामें अपने वर्णमें वर-कन्याका विवाह सबसे श्रेष्ठ माना गया है। यदि कारणवश अनुलोम विवाह हो जाय, अर्थात् उच्चवर्णका पुरुष अपनेसे निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह करले, तो वह अनुलोम विवाह कहलाता है। ऐसे विवाहकी सम्मति शास्त्रकार देते हैं; परन्तु विलोम-विवाह अर्थात् निम्नवर्णका पुरुष उच्चवर्णकी कन्यासे विवाह करे, तो वह वर्णाश्रम शृङ्खलाका घातक होगा। निम्नवर्णकी स्त्रीका रज उच्चवर्णके पुरुषके वीर्यको अपवित्र नहीं कर सकता; परन्तु यदि उच्च वर्णकी स्त्रीका रज हो और निम्नवर्णके पुरुषका वीर्य हो, तो प्रजातन्तुमें आध्यात्मिक स्थितिकी हानि हो जाती है। इस कारण विलोम-सृष्टि पापवृद्धिका कारण हो जाती है। इससे पवित्र सृष्टि-शृङ्खला बिगड़ जाती है ॥ ५२ ॥

अधिभूतशुद्धिनाशकोऽसवर्णोद्वाहः ॥ ५० ॥ गुणपरिपन्थी च ॥ ५१ ॥ तत्र वर्णाश्रमशृङ्खलाविघाती विलोमः ॥ ५२ ॥

अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये और भी कह रहे हैं—

वैसा अनुलोम विवाह नहीं होता ॥ ५३ ॥

अनुलोम विवाहमें रज निम्नवर्णकी स्त्रीका होनेसे और उच्चवर्णके पुरुषका वीर्य होनेसे पुरुषका वीर्य अपवित्र न होनेके कारण वर्णाश्रमशृंखलामें विशेष बाधा नहीं होती ॥ ५३ ॥

ऐसे विवाहसे जो गौणता हो जाती है वह कहते हैं—

उनकी सृष्टि माताकी जातिकी होती है ॥ ५४ ॥

यद्यपि अनुलोम विवाहकी सृष्टि अधर्मज नहीं कही जा सकती, तथापि उसमें जो गौणता आ जाती है, वह यह है कि, ऐसे विवाहसे उत्पन्न हुई सन्तान माताकी जातिकी मानी जाती है। विलोमज सृष्टि पापजनक है। यद्यपि अनुलोमजसृष्टि पापजनक नहीं है, क्योंकि उसमें वर्णाश्रमशृंखला नहीं बिगड़ती, ऐसी सृष्टि रज-वीर्यको घातक न होनेसे वह वर्णाश्रम-शृङ्खलाका नाशकारी नहीं है, तथापि रजोवीर्यकी समानता न होनेके कारण वह सृष्टि माताकी जातिकी हो जाती है ॥ ५४ ॥

अब शृंखलाका दूसरा सिद्धान्त कह रहे हैं—

स्वगोत्रविवाह कुलका नाशक है ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार वर्णाश्रमशृंखलाका प्रथम सिद्धान्त असवर्णविवाह न करना है, वैसे ही दूसरा सिद्धान्त स्वगोत्र विवाह न करना है। महर्षि सूत्रकार दूसरा सिद्धान्त कह रहे हैं कि, स्वगोत्र-विवाह करनेसे कुलका नाश होता है। जिस मनुष्यजाति अथवा जिस वंशमें स्वगोत्रविवाह प्रचलित है, न वह मनुष्यजाति चिरजीवी हो सकती है और न वह वंश चिरजीवी रह सकता है। स्वगोत्रमें विवाहके द्वारा कुल नष्ट हो जाता है और ऐसा शुद्धकुल नष्ट हो जानेसे शुद्धजाति नष्ट हो जाती है। लौकिक इतिहास इसका साक्षी देता है कि, जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रमशृंखला नहीं है, पृथिवीमें ऐसी कोई भी मनुष्यजाति चिरजीवी नहीं है। इस नाशवान संसारमें अनेक मनुष्यजातियाँ कराल कालके गालमें पतित हो लुप्त हो गयी हैं; एकमात्र वर्णाश्रमधर्मी आर्यजाति ही चिरजीवी है। एकही गोत्रके रज और एकही गोत्रके वीर्यका संमिश्रण होना वीर्य्यके दुर्बलताका कारण है। ऐसे ही होते-होते वीर्य अपनी मौलिकता खो देगी इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें कहा गया है कि, स्वगोत्रागमन मातृगमनके समान है ॥ ५५ ॥

और भी कह रहे हैं—

पितृकोपकर भी है ॥ ५६ ॥

स्वगोत्रविवाह केवल कुलनाशक ही नहीं है, पितरोंके कोपका भी कारण है। अर्य्यमा, अग्निष्वात्ता आदि जो नित्यपितृगण हैं, जिनका सृष्टि-कार्य्यकी रक्षामें बड़ा भारी अधिकार है, ऐसे पितृगणका भी कोप स्वगोत्रविवाह करनेसे होता है। नित्यपितृगण एक श्रेणीके देवता हैं और वे आधिभौतिक जगत्‌की सुरक्षामें नियुक्त रहते हैं। स्थूलशरीर-निर्माण, स्थूलशरीरकी रक्षा उनका कार्य्य है। पितृगणके कार्य्यके भी स्वतन्त्र-स्वतन्त्र नियम हैं। उन नियमोंमें बाधा होनेसे स्वगोत्रविवाह-द्वारा पितृकोपकी प्राप्ति होती है ॥ ५६ ॥

नानुलोमस्तथा ॥ ५३ ॥ तज्जःसर्गो मातृजातीयः ॥ ५४ ॥ कुलोच्छेदी स्वगोत्रायः ॥ ५५ ॥

पितृकोपकरश्च ॥ ५६ ॥

अब शृंखलाका अन्य सिद्धांत कहा जाता है—

वयोधिकासे शक्तिक्षय होता है ॥ ५७ ॥

वरसे यदि कन्याकी आयु अधिक हो, तो ऐसे विवाहके द्वारा पुरुषकी शक्तिका क्षय होता है। इस कारण शास्त्रमें वयोधिका कन्यासे विवाह करना निषिद्ध है। यह पहले ही कहा गया है कि, पुरुष बीजरूप है और स्त्री भूमिरूपा है। जिस प्रकार कीटादिसम्पर्कसे खेतमें बोये जानेवाले बीजकी शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार वयोधिका कन्यासे विवाह होनेसे पुरुषकी शक्तिका नाश हो जाता है। सृष्टिके उत्पन्नकारक बीजमें त्रिविध शक्ति रहती है, यथा—अधिभूतशक्ति, अधिदैवशक्ति और अध्यात्मशक्ति। यद्यपि तीनों शक्तिका नाश होना एकदम प्रतीत नहीं होता, परन्तु त्रिकालदर्शी महर्षियोंने यह सिद्धान्त किया है कि, इन तीनों शक्तियोंमें न्यूनता समय पाकर अवश्यही देश-काल-पात्रके अनुसार होती है। जिस कुलमें इस प्रकारका विवाह होगा, उस कुलमें अथवा उस व्यक्तिमें क्रमशः यथादेश-काल-पात्र शरीर-सम्पत्ति, संकल्प बल और आत्मबल घट जायगा ॥ ५७ ॥

अब अन्य कहा जाता है—

रजस्वलासे त्रिविध शुद्धिकी हानि होती है ॥ ५८ ॥

कन्यामे रजोदर्शन होते ही उसकी कन्यकावस्थाका नाश होकर स्त्री अवस्था प्राप्त होती है। यह प्रकृतिका स्वभाव है कि, युवकको स्त्रीकी और युवतीको पुरुषकी इच्छा होती है। यह भी प्रकृतिजन्य स्वभावसिद्ध है कि, ऋतुके समय वह इच्छा स्त्रीमें प्रबल होती है। पशु-पक्षी तकमें यह नियम देखा जाता है। सुतरां रजोदर्शन होते ही कन्यावस्थाका नाश होकर स्त्रीको युवती-अवस्था प्राप्त होती है, तो स्त्री चाहे कितनी ही संयमा हो, उसके शरीर, उसके मन और उसकी बुद्धिमें कुछ-न-कुछ परिणाम होना अवश्य सम्भव है। परिणाम चाहे थोड़ा ही हो, पर होना निश्चित है। इस कारण उस परिणामके साथ-ही-साथ त्रिविधशुद्धिकी यथायोग्य हानि होना भी सम्भव है। जब क्षेत्रमें त्रिविधशुद्धिकी हानि होगी तो, सृष्टिमें भी उसका प्रभाव पड़ना निश्चित है ॥ ५८ ॥

और भी कहा जाता है—

प्रातिभाव्यके कारण सर्वत्र सुरक्षाका आदेश है ॥ ५९ ॥

सृष्टिक्रियामें नारीजातिकी जिम्मेवरी सबसे अधिक होनेक कारण सर्वत्र और सब देशकालमें उसकी सुरक्षा करनेका आदेश है। वर्णधर्मके सम्बन्धमें रजोवीर्य्यकी शुद्धिकी रक्षा करना एकमात्र नारीजातिके ऊपर ही निर्भर है। आश्रमधर्मके सम्बन्धमें अन्य तीन आश्रमोका आश्रय एकमात्र गृहस्थाश्रमको माना गया है, इस कारण गृहस्थाश्रम सबका ज्येष्ठाश्रम कहलाता है। ऐसे गृहस्थाश्रमका एकमात्र आश्रय नारीजाति है। उसी प्रकार प्रवृत्तिधर्मके लिये साक्षात्‌रूपसे और निवृत्तिधर्मके लिये परोक्षरूपसे नारीजाति आश्रयरूपा है। दूसरी ओर विना अभ्युदयके निःश्रेयस नहीं हो सकता और विना नारीजातिकी सहायताके अभ्युदयका मार्ग सरल होना असम्भव है। इन्हीं सब कारणोंसे मानना ही पड़ेगा कि, सृष्टिके सामञ्जस्यमें और अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी चरितार्थतामें नारी-जातिका प्रातिभाव्य सबसे अधिक है। यही कारण है कि, वर्णाश्रम-शृंखलामें सब देश, काल

शक्तिक्षयो वयोऽधिकाया ॥ ५७ ॥ त्रिविधशुद्धिहन्ता रजस्वलायाः ॥ ५८ ॥ प्रातिभाव्यात् सुरक्षादेशः ॥ ५९ ॥

और पात्रमें नारीजातिकी रक्षाका आदेश है, यथा शास्त्रमें—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥५९॥

अब अन्य शृंखलाका दिग्दर्शन कराया जाता है—

इसी तरह आर्य्यपिण्डकी विशेषता है ॥६०॥

वर्णाश्रमशृंखलाके साथ नारीजाति-सम्बन्धीय विज्ञानका दिग्दर्शन कराकर अब महर्षि सूत्रकार अन्य प्रकारकी शृङ्खलाका दिग्दर्शन करा रहे हैं और कह रहे हैं कि, जैसे वर्णाश्रम-शृङ्खलाके लिये नारीजातिका प्राधान्य है, वैसेही आर्य्यपिण्डमात्रकी विशेषता है। यद्यपि आर्य्यपिण्ड और अनार्यपिण्ड दोनों ही मानवपिण्ड हैं, परन्तु सृष्टिके आदिकालसे आर्य्यपिण्डरूपी वर्णाश्रमधर्मी मनुष्यजातिके शरीरकी विशेषता प्रसिद्ध है। क्या सभ्यताके विचारसे, क्या आचारके विचारसे, क्या सामाजिक व्यवस्थाके विचारसे, क्या धर्मज्ञानके विचारसे, क्या आध्यात्मिक लक्ष्यके विचारसे और क्या स्थायी जीवनिकाशक्तिके विचारसे, यह मानना ही पड़ेगा कि, आर्यपिण्डकी विशेषता है ॥६०॥

इसका विज्ञान कह रहे हैं—

आदिसे सुसंस्कृत होनेसे ॥६१॥

सृष्टिके आदिकालसे आर्य्यपिण्ड वैदिक संस्कारोंसे सुसंस्कृत होनेसे सृष्टिमें उसकी विशेषता मानी गयी है और वह संस्कार वर्णाश्रम शृंखला और आचारमूलक है ॥६१॥

अब अन्य शृङ्खलाका दिग्दर्शन कराया जाता है—

इसलिये सुसंस्कारका केन्द्र है ॥६२॥

आर्यपिण्ड आदिसे सुसंस्कृत होनेके कारण पूर्णावयव है। पूर्णावयव होनेके कारण अभ्युदय और निःश्रेयसके संस्कारोंको पूर्णतया ग्रहण करनेका केन्द्र बनता है। अन्तःकरण ही जीवका प्रधान यन्त्र है। जब जीव पूर्णावयव हो जाता है, तो उसका प्रधान यन्त्र भी पूर्णावयव हो जाता है। जब अन्तःकरण पूर्णावयव हो जाता है, तो अन्तःकरणके जो चार अवयव—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं, वे भी पूर्णावयव हो जाते हैं। जब चारों पूर्णावयव हो जाते हैं, तो आर्यपिण्डमें सुसंस्कारग्राहक चित्तके पूर्ण हो जानेके कारण उसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंके सम्बन्धके संस्कार-ग्रहणकी शक्ति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। सृष्टिके आदिमें पूर्णावयव मनुष्य उत्पन्न होते हैं, इस कारण भगवान् ब्रह्माकी प्रथम सृष्टि परमहंसोंकी होती है। उसके बादकी सृष्टिको सुसंस्कृत रखनेके लिये वर्णाश्रम-शृंखला बाँधी जाती है। उसी समयसे सस्कृत सस्कारसमूह आर्यपिण्डमें अंकित रह जाते हैं और रज-वीर्यके द्वारा वे क्रमानुगत आकृष्ट होते रहते हैं जैसा कि, संस्कारपादमें कहा गया है ॥६२॥ [क्रमशः]

आर्यपिण्डविशेषत्वं तद्वत् ॥ ६० ॥ आदितः सुसंस्कृतत्वात् ॥ ६१ ॥ तस्मात् सुसंस्कारकेन्द्रम् ॥ ६२ ॥

दरिद्रा कहाँ रहती है ?

प्राचीन समयकी बात है, भगवान विष्णुने जब लक्ष्मीजीसे विवाह करना चाहा और अपनी इच्छा लक्ष्मीजीके सामने प्रकट की, तब भगवानकी बात सुनकर लक्ष्मीजीने कहा कि, मेरी बड़ी बहिन दरिद्रा अभी क्वारी है, जबतक मेरी बड़ी बहिनका विवाह न हो जाय, तबतक मैं कैसे विवाह कर सकती हूँ ? इसलिये पहले मेरी बड़ी बहिन दरिद्राके विवाहका प्रबन्ध आप करें तो मैं आपके साथ विवाह करूँगी ? बात बड़ी उपयुक्त थी। भगवान् विष्णुने लक्ष्मीजीकी बात मान ली, और वे स्वयं दरिद्राके योग्य वर ढूँढ़ने निकले। त्रिलोकीमें सब जगह वे ढूढ़ आये परन्तु दरिद्राके योग्य वर नहीं मिला या दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि दरिद्राको अपनी गृहिणी बनानेको कोई तैयार नहीं हुआ। भगवान् विष्णु बड़े असमञ्जसमें पड़े सोच ही रहे थे कि क्या करना चाहिये, इतनेमें महर्षि दुर्वासा भगवान्के दर्शनार्थ आ पहुँचे। भगवान् विष्णुने कहा, महर्षे ! आप दरिद्रासे विवाह कर लें। इसपर महर्षि अङ्गिराने कहा कि भगवन् ! विवाहकी इच्छा तो नहीं है, मैं विरक्त हूँ, परन्तु जब आपकी आज्ञा है, तो वह मुझे सहर्ष शिरोधार्य है। इसप्रकार भगवान् विष्णुकी इच्छासे महर्षि दुर्वासा दरिद्राके साथ विवाह करनेको प्रस्तुत हो गये और दरिद्राके साथ महर्षि दुर्वासाका विवाह सम्पन्न हो गया। विवाहके पश्चात् महर्षि अपनी गृहिणी दरिद्राको साथ लेकर अपने आश्रमकी ओर चले। महर्षिके पीछे-पीछे दरिद्रा चलीं। महर्षि दुर्वासाका आश्रम समीप आ गया। महर्षिने अपने आश्रमके भीतर प्रवेश किया, परन्तु दरिद्रा बाहर ही खड़ी हो गयीं। यह देख महर्षि दुर्वासाने बड़े प्रेमसे दरिद्राको सम्बोधन करके कहा—देवि ! यही आपका आश्रम है, आप भीतर पदार्पण करें' यह सुनकर दरिद्राने कहा—महर्षे ! यह घर तो मेरे उपयुक्त नहीं है, अत मैं इसमें प्रवेश नहीं कर सकती। महर्षिको यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे स्तम्भितसे रह गये। पुनः उन्होंने दरिद्राको सम्बोधन करके पूछा, देवि ! इस घरमें क्या कमी है ? आपके रहनेके लिये कैसा घर होना चाहिये ? दरिद्राने उत्तर दिया—भगवन् ! जो घर झाड़-बुहारकर प्रतिदिन गायके गोबरसे लीपा-पोता जाता है, उसमें मैं नहीं प्रवेश कर सकती हूँ, जहाँ प्रतिदिन वेदघोष होता है, उस घरमें मैं नहीं प्रवेश कर सकती हूँ, जहाँ प्रतिदिन ऋषि-देवता-पितरोंका पूजन होता है, उस घरमें मैं कभी नहीं रह सकती हूँ, जहाँ पुत्र-कन्या पितृ-मातृ भक्त एवं पिता-माताके आज्ञाकारी होते हैं, उस घरमें मेरा निवास नहीं हो सकता है। जिस घरमें पतिव्रता स्त्री रहती है, जहाँ एकपत्नी-व्रत पुरुष रहते हैं, जिस घरमें सती साध्वी स्त्रीका उचित आदर-सम्मान होता है, ऐसे घरोंसे मैं कोशों दूर रहती हूँ। जिस घरमें अतिथी-अभ्यागतका उचित आदर-सत्कार होता है, जहाँके लोग परस्पर प्रेमसे रहते हैं, ऐसे घरोंमें मेरा कदापि निवास नहीं होता। जिस घरमें लोग सूर्योदयतक सोये रहते हैं, जहाँ दिन उठेतक जूठे बर्तन पड़े रहते हैं, और उनपर मक्खियाँ भिन-भिनाया करती हैं, जहाँ कभी भी वेदघोष नहीं होता, जो घर कभी गायके गोबरसे लीपा नहीं जाता, ऐसे घरोंमें मैं बड़ी प्रसन्नतासे निवास करती हूँ। जहाँ ब्राह्मण तथा अतिथि-अभ्यागतका आदर-सत्कार नहीं होता है, ऐसे घरोंमें मेरा निरन्तर निवास होता है। जहाँ स्त्रियाँ दोनों हाथोंसे अपना शिर खुजलाया करती हैं, घरके दरवाजेके चौखट पर बैठती हैं, आपसमें निरन्तर कलह किया करती हैं, उस घरमें मेरा सदा निवास होता है। इत्यादि।

गृहदेवियों ! यदि आप चाहती हैं कि, आपके घरमें लक्ष्मीका वास हो, आपका घर सुख-शांति-समृद्धिपूर्ण हो, तो अपनेको तथा अपने बहु-बेटियोंको

और पति पुत्रोंको ऐसा बनाइये, जिससे आपके घरोंमें दरिद्रा नहीं आ सकें। जहाँ दरिद्राका वास होगा, वहाँसे लक्ष्मीजी स्वत: कोशों दूर रहती हैं। आजकल प्राय: गृह देवियोंके घरोंकी ऐसो ही दशा होती जा रही है, जिनमें दरिद्राका साम्राज्य बढ़ता जाता है। अत: दरिद्राके वास योग्य लक्षणोंसे अपनेको दूर रखें और जिससे आपके घरोंमें लक्ष्मोका निवास हो, उन लक्षणोंको अपनावें।

वातावरणका प्रभाव

लेखक—श्यामसुन्दर शर्मा "श्याम"

मनुष्यजीवनमें वातावरणका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। वातावरण जैसा होता है, वैसी ही प्रकृति उस वातावरणमें रहनेवाले व्यक्तिकी हो जाती है। यह एक ऐसा मार्ग है कि, जिसपर चलकर बुरेसे बुरा व्यक्ति योग्य तथा अच्छा और अच्छेसे अच्छा व्यक्ति बुरा बन जाता है। इससे लाभ उठानेके लिये मनुष्यको बाल्यावस्था ही से अपने बालक बालिकाओंको योग्य एवं सुन्दर वातावरणमें रखना [illegible]

वंशानुक्रम स्वभाव

बालककी प्रतिभाके विकासमें वंशानुक्रमका भी बड़ा प्रभाव होता है। जन्मजात स्वभाव बहुधा पैतृक सम्पत्तिपर निर्भर रहता है। इसोको वंशानुक्रम कहते हैं। बालकको अपनी शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएँ अपने मातापितासे मिलती है। प्राय: देखा जाता है कि, रूप, रंग शरीरकी बनावट एवं ऊँचाई आदिमें सन्तान अपने मातापिताके ही तुल्य होती है। बुद्धि, रुचि आदतें तथा चरित्र भी वंशानुक्रम से ही बहुधा अच्छे होते हैं। सदाचारी, सम्पन्न एवं बुद्धिमान् घरोंके बालक योग्य एवं सदाचारी होते हैं तथा दुराचारी एवं मन्दबुद्धिवाले मातापिताकी संतानें अकर्मण्य देखी जाती हैं।

यह विशेषरूपसे पाया जाता है कि, मातापिताके अनुभवोंका लाभ संतानको अवश्य होता है। जिस कार्यको मातापिता बड़ी कठिनाईके साथ सीखते हैं, उसीको उनकी संन्तानें सुगमतासे सीख सकती हैं। ब्राह्मणके बालकोंमें पढ़ने-लिखने एवं पूजापाठको स्वभावत: रुचि देखी जाती है। इसी प्रकार क्षत्रियोंके बालक लड़ने भिड़नेमें कुशल देखे जाते हैं और वैश्यके बालक वाणिज्यमें कुशल होते है। इसलिये प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य होना चाहिये कि, वे अनेक प्रकारकी योग्यताओंको प्राप्त करें। यदि उन्हे इस योग्यताका लाभ न भी हुआ तो उनकी सन्तानों को अवश्य होगा।

अत: किसीभी बालककी शिक्षापर विचार करते समय यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि बालकको उसीप्रकारकी शिक्षा दी जाय जो उसके स्वभाव और योग्यताके अनुकूल हो। वंशानुक्रमका प्रभाव इन दोनों बातोंपर विशेषत: पड़ता है।

वंशानुक्रम और वातावरण

जिन बालकोंको शिक्षा नही दी जाती, वे जन्मसे कितना ही प्रतिभाशाली क्यो न हों, समाजोपयोगी या प्रभावशाली व्यक्ति कदापि नहीं बन सकते। अत: यदि बालकोंको शिक्षा दी जाय तो वे उन गुणोंको प्रदर्शित करेंगे, जिनका उनके मातापितामें अभाव देखा गया हो।

यदि मातापिता अपने परिश्रमसे किसी प्रकारकी योग्यता प्राप्त कर लेते है, तो वह उनके बालकोंमें विना शिक्षाके उत्पन्न नही हो सकती, अतएव

प्रत्येक व्यक्तिको बाल्यावस्थामें ही शिक्षा पानेकी बड़ी आवश्यकता है। पैदा होनेके समय सभ्य और असभ्य दोनों ही समाजोंके बालक एकसे होते हैं किन्तु इन्हें शिक्षासे ही सुधारा जा सकता है। साथ ही वातावरणके द्वारा भी मातापिताके दुर्गुण वंशानुक्रमकी गतिके अनुसार, उसके सन्तानोंसे दूर किये जा सकते हैं। यदि दुराचारी पिताका पुत्र अच्छे वातावरणमें रखकर सदाचारी बनाया जा सकता है तो इसीप्रकार जिन बालकोंका जन्म योग्य और अच्छे कुलमें होता है किन्तु यदि वे अच्छे एवं योग्य वातावरणमें नहीं रखे जाते और उन्हें शिक्षा नहीं दी जाती तो वे कदापि योग्य एवं प्रतिभाशाली नहीं हो सकते।

अतः मातापिताकी अयोग्यताका भी ज्ञान हो जानेपर बालकोंपर शिक्षाका प्रभाव शिथिल नहीं करना चाहिये। क्योंकि अयोग्यसे अयोग्य माता-पिताका बालक अच्छे वातावरणसे सुयोग्य बनाया जा सकता है।

वातावरणका महत्त्व

बालकके स्वभाव एवं प्रतिभाके विकासमें विशेष महत्त्व वातावरणका है। जिस बालकका लालन-पालन जिसप्रकारके वातावरणमें होता है, जैसी शिक्षा उसको दी जाती है, वैसेही उसके मानसिक संस्कार बन जाते हैं। अतएव बालककी मानसिक उन्नतिमें शिक्षा एवं वातावरणका प्रमुख स्थान है। बालक जिस परिस्थितिमें जन्मसे रहता है, जिस प्रकारकी शिक्षा-दीक्षा उसे दी जाती है, उसके सम्पर्कमें आनेवाले लोग उससे जिसप्रकारका व्यवहार करते हैं, इन सबका समावेश वातावरणके अन्तर्गत है। बहुधा यह भी देखा जाता है कि बुरे से बुरे घरके बालक योग्य और सुन्दर वातावरणमें पड़कर अपनी प्रतिभाको पूर्णरूपसे प्रकाशित कर पाते हैं। इसीप्रकार सदाचारी घरके बालक कुसंगति पाकर दुराचारी बन जाते हैं।

वंशानुक्रमके नियमानुसार अपने पूर्वजोंसे जितने गुण मिलते हैं, उतने ही गुण उसे सामाजिक सम्पत्तिके रूपमें अपने सम्पर्कमें रहनेवाले व्यक्तियों-से मिलते हैं। बालकका लालनपालन जन्मसे जैसे वातावरणमें होता है वैसा ही उसका स्वभाव भी बन जाता है। यह स्वभाव बालकके जन्मजात स्वभावसे इतना अभिन्न होता है कि, पीछे यह कहना कठिन हो जाता है कि, बालकके व्यक्तित्वमें कहाँतक वंशानुक्रमका प्रभाव है और कहाँतक उसकी पैतृक या सामाजिक परम्पराका। वास्तवमें बालककी सामाजिक सम्पत्ति एक प्रकार का वातावरण ही है। इसे शिक्षाके ही द्वारा बालकों को दिया जा सकता है।

अतः जिन बालक बालिकओंका जन्म सुयोग्य वातावरणमें होता है वे बड़े ही भाग्यशाली हैं, क्योंकि उनकी बहुतसी बहुमूल्य सामाजिक सम्पत्तियाँ सरलतासे मिल जाती हैं। वातावरण वह क्षेत्र है जिसमें प्रत्येक बालक सामाजिक सम्पत्तिका लाभ उठा सकता है और अपने आप भी समाजको स्थायी सम्पत्ति देनेयोग्य हो सकता है। अतएव यदि बालक बालिकाओंको भलीभाँति शिक्षा दी जाय और उन्हें सुयोग्य एवं अच्छे वातावरणमें रखा जाय तो इसप्रकार धीरे धीरे प्रत्येक समाजके सम्पूर्ण दोष दूर हो सकते हैं।

महापरिषद् सम्बाद ।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की प्रबंध-समितिकी बैठक ता० ८-६-५० को महापरिषद्के कार्यालयमें श्रीमान् बाबू रामेश्वरलाल पोद्दारकी अध्यक्षतामें हुई। इसमें महापरिषद्का मासिक हिसाब तथा सन् १६५० का आय-व्ययका अनुमान-पत्र उपस्थापित हुआ और स्वीकृत हुआ। आर्य-महिला महाविद्यालयके रिक्त स्थानोंकी नियुक्तिके सम्बन्धमें उपसमितिके विवरणके अनुसार अध्यापक अध्यापिकाओंकी नियुक्तियाँ स्वीकृत की गयी। तत्पश्चात् हिन्दूकोड कान्फरेन्स-सम्बन्धी श्रीमती विद्यादेवीजीकी निम्नलिखित रिपोर्ट उपस्थापित हुई।

श्रीमान् सभापति महाशय !

डा० भीमराव रामजी अम्बेदकर कानून-मन्त्री भारतसरकारके ता० ८-४-५० के आमन्त्रणपत्र पर मैं श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्की ओरसे अनियमित हिन्दूकोड कान्फरेन्स जो ता० २१, २२, २३ अप्रैल १६५० को दिल्लीमें हुआ सम्मिलित हुई थी, इस सम्मेलनमें जितने प्रतिनिधि बुलाये गये थे, उनमें प्रायः पार्लियामेन्टके वे ही सदस्य थे, जो उक्त बिलके समर्थक हैं और जो अनेकबार इसका समर्थन कर चुके हैं, पार्लियामेन्ट-के जो सदस्य उक्त बिलके विरोधी थे, उनको नहीं बुलाया था, इनके अतिरिक्त कुछ संस्थाओंके प्रति-निधि थे, जिनमें दो को छोड़कर शेष उक्त बिलके समर्थक ही थे। उक्त दो व्यक्तियोंमें एक अखिल भारतीय हिन्दूकोडविरोधी समितिके प्रतिनिधि श्रीमान् महामहोपदेशक शास्त्रार्थ-महारथि पं० माधवाचार्यजी, दूसरे काशी विद्वत्परिषद्के प्रति-निधि श्रीमान् महामहोपदेशक पं० देवनायकाचार्य जी थे। आमन्त्रणपत्रमें किसी विचारणीय विषयका उल्लेख नहीं था, अतः यह पहलेसे निश्चय नहीं किया जा सका कि, हिन्दूकोडबिलके किस अंशपर उक्त सम्मेलनमें विचार किया जायगा। सभाभवनमें पहुँचनेपर सभाकी कार्यवाहीको प्रारम्भ करते हुए डा० अम्बेदकर ने कहा कि, इस सभामें केवल छः विषयोंपर बोलनेकी स्वतन्त्रता है, वे विषय ये हैं, एकपत्नीविवाह, विवाह, विवाहविच्छेद, स्त्रीधन, पिताकी सम्पत्तिमें पुत्रकी तरह कन्याका भी अधिकार और सयुक्त कुटुम्ब, इन विषयोंपर बिलके समर्थक सज्जनोंको ही बोलनेका भरपूर समय दिया गया। विरोधियोंको अन्तमें बहुत कम समय दिया गया। और मेरे साथ तो डा० अम्बेदकरने, जो इस सम्मेलनके सभापति बन बैठे थे, बहुत ही अशिष्टता तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया। प्रथमदिन एकपत्नी विवाह पर मेरा भाषण हुआ। उस दिन मैंने अपने भाषणमें कहा कि, भारतीय संस्कृति तथा धर्ममें एकपत्नीव्रत ही आदर्श तथा प्रशस्त माना गया है। इसी कारण भगवान् रामचन्द्र आदर्श माने जाते हैं। उनके राज्यमें एक धोबीके विरोध को गुप्तचरद्वारा सुनकर उन्होंने अपनी प्राणप्यारी सम्राज्ञी सीताका परित्याग कर दिया था। इस तरह रामराज्यमें राजतन्त्रके भीतर प्रजातंत्रकी चरितार्थता थी, आजका प्रजातन्त्र या डिमक्रेसी यह है कि, हमलोग वर्षोंसे चिल्ला रहे हैं कि, हिन्दू-कोडबिल हमें नहीं चाहिये, फिर भी जनतन्त्र सरकार उसे पास करने पर तुली हुई है। अस्तु, भगवान् रामचन्द्रने अपने प्रजारंजनरूप आदर्श राजधर्मकी रक्षाके लिये सीताका परित्याग कर दिया, परंतु दूसरे विवाहकी उन्होंने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की, यद्यपि उनके पिता महाराज दशरथकी तीन रानियाँ थीं। यज्ञादि जो धर्म-कार्य बिना धर्मपत्नीके नहीं सम्पन्न हो सकते थे, उनके लिये उन्होंने सीताकी स्वर्णमयी प्रतिमा बनवाली। अतः पतिके आदर्श तो भगवान् रामचन्द्र ही हैं। परंतु शास्त्रकारोंने किसी किसी

विशेष परिस्थितिमें जैसे वंशनाशसे पिण्डआदि लुप्त होनेकी अवस्थामें पुरुषके लिये दूसरे विवाह-का विधान किया है, यही मर्यादा सुरक्षित रहनी चाहिये और यदि ऐसा क़ानून बनाना ही सरकार को अभीष्ट है, तो केवल हिन्दुओंके लिये ही क्यों, मुसलमानोंके लिये ऐसा क़ानून क्यों नहीं बनाया जाता इत्यादि। दूसरे दिन विवाह तथा विवाह-विच्छेदपर मेरा भाषण हुआ। मैंने प्रारम्भमें ही कहा कि :—

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
> [भगवद्गीता, अध्याय १६ श्लो० २३]

भारतके सातलाख गाँवोंमें बसनेवाली कोटि-कोटि हिन्दू-महिलाएँ धर्म तथा शास्त्रका परित्याग करके कोई इन्द्रियसुखकी इच्छा नहीं करतीं। हिन्दुओंमें विवाह एक पवित्रसंस्कार है और गृहस्थाश्रमका सबसे बड़ा तथा महत्वपूर्ण संस्कार है। विशेषतः स्त्रियोंके लिये वह एक ही वैदिक संस्कार है। कर्मके बीजको संस्कार कहते हैं। जैसा संस्कार होता है, वैसा ही कर्म बनता है, जैसा कर्म होता है, वैसा ही फल उत्पन्न होता है। विवाहसंस्कारके द्वारा पति-पत्नी एकमन एकप्राण होकर अपनी उच्छृङ्खल भोगप्रवृत्तियोंको एक दूसरेमें केन्द्रीभूत करते हुए अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते हैं और गृहस्थके कर्तव्योंका सुचारुरूपसे निर्वाह करते हैं। इस पवित्र विवाहसंस्कारके द्वारा लाखों लाखों वर्षोंसे हिन्दूसमाज सुख-शान्ति-पूर्वक जीवित रहा आया है। सिविल मैरेजद्वारा शास्त्रीय विवाहकी यह पवित्रता सर्वथा नष्ट हो जायगी। इसके द्वारा प्रथम संस्कार विवाह-विच्छेदका ही पड़ेगा। जैसा संस्कार वैसा ही कर्म होगा। इमली या नीमके बीजसे आमका वृक्ष उत्पन्न नहीं किया जा सकता, न इमली या नीमके वृक्षमें आमका फल ही लगता है। अस्तु, वैदिक विवाह जो धर्मविवाह है, उसमें विवाहविच्छेदका कोई स्थान ही नहीं है। क्योंकि हिन्दूशास्त्रीय विवाह विषयभोग एवं इन्द्रियतृप्तिके लिये नहीं किन्तु आत्मसंयम के लिये है। दूसरी ओर कोटि-कोटि हिन्दूनारियाँ प्रतिदिन जप, तप, दान, व्रत, उपवास, यज्ञ, याग, देवपूजन करके केवल यही मनाया करती हैं कि, 'मैं पतिके सामने उनके चरणोंमें मरूँ।' पतिके वियोगकी कल्पना भी उनको दुःसह होती है। भारतीय स्त्रियोंने अपने इस पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे अलौकिक तथा अतुलनीय जिस महान् पद तथा गौरवको प्राप्त किया था, वे किसी भी मूल्यपर अपने उस गौरव को खोना नहीं चाहती हैं। भारतीय महानताका मापदण्ड त्याग है। सबसे अधिक त्यागी सबसे बड़ा गिना जाता है। इसी कारण यहाँ संन्यासी सबका पूज्य होता है। महात्मा गान्धी, पं० जवाहरलाल नेहरू तथा सरदार वल्लभभाई पटेल आदिको जनता इसलिये आदर सम्मान देती हैं कि, उन्होने देशकी स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिये कठिन तपस्या तथा त्याग किया है। हमारे यहाँ माता-की महिमा पितासे भी अधिक है, क्योंकि माता जो त्याग अपनी सन्तानके लिये करती है, वह पिता कभी कर ही नहीं सकता है, इत्यादि। यहाँपर डा० अम्बेदकरने पूछा कि, जिन जातियोंमे विवाह-विच्छेद प्रचलित है, उनके सम्बन्धमें आपकी क्या सम्मति है। उत्तर :—जिन छोटी जातियोंमें विवाह विच्छेदकी प्रथा प्रचलित है, वे अपनी सामाजिक रीतिके अनुसार बड़ी सरलतासे इसे कर लेती हैं। यह क़ानून बनने पर उन्हें इस कार्यके लिये न्यायालयकी शरण लेनी होगी, वकीलकी सहायता लेनी होगी, धन खर्च करना होगा और महीनों न्यायालय तथा वकीलोंके यहाँ दौड़धूप करनी होगी। इस तरह उनके जो अधिकार अबतक वे काममें लाते हैं, वे भी छिन जायँगे और उनके सहज कार्यमें कष्ट तथा असुविधायें उत्पन्न हो जायँगी। अतः यह कानून उनके लिये भी वाञ्छनीय नहीं है। श्रीमती दुर्गाबाईने पूछा—यदि किसी स्त्रीका पति

मुसलमान हो जाय, तो क्या वह स्त्री भी मुसलमान हो जाय ? उत्तर—नहीं, यदि पति इस प्रकार पतित हो जाय तो स्त्रीको उसका अनुवर्तन करनेका शास्त्रीय विधान नहीं है, जैसा कहा भी है :—

'अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्'

(श्रीमद्भागवत् स्क० ७, ११, २८)

अर्थात् साध्वी स्त्री सावधान, पवित्र और प्रेममयी होकर अपने अपतित पतिकी सेवा करे। अतः ऐसी स्थितिमें स्त्रीको आत्मसंयमसे जीवन बिताना चाहिये, क्योंकि विवाह एक पवित्र संस्कार है और उसका एक उद्देश्य इन्द्रिय-संयम भी है, यह पहले ही कह चुकी हूँ। श्रीमती दुर्गाबाई-के इस आक्षेप कि मैं सीताका आदर्श मानना चाहती हूँ, द्रौपदीका नहीं, के उत्तरमें मैंने कहा कि, यह बड़े हर्षका विषय है कि, आप सीताका आदर्श मानना चाहती हैं, वस्तुतः सीता ही आदर्श हैं भी, किन्तु आपके स्मरण रखनेकी बात है कि, राम-रावण युद्धके पश्चात् जब सीता सबके सामने रामचन्द्रके पास लायी गयीं, तब रामचन्द्रने कितना निष्ठुर शब्दोंमें क्रुद्ध होकर कहा कि 'तुम इतने दिन रावणके घरमें रह चुकी हो, अतः अपने सतीत्वकी परीक्षा दो, तभी तुमको स्वीकार करूँगा।' आप लोगोंकी भाषाके अनुसार रामके इस अति-निष्ठुरतापूर्ण व्यवहारसे सीताको विवाह-विच्छेद करना चाहिये था, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत सीताने लक्ष्मणको चिता तैयार करनेकी आज्ञा दी। लक्ष्मणने आज्ञा मिलते ही चिता तैयार कर दिया। भगवती सीताने इन शब्दोंमें शपथ करके धधकती चितामें प्रवेश किया :

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नसंगे।
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि॥
तदिह दह ममाङ्गं पावक ! पावनेदं।
सुकृतदुरितभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी॥

इसका फलस्वरूप भगवती सीताको अग्निदेव नहीं जला सके, सीताको लेकर वे चितासे बाहर निकले, सो सभी जानते हैं। दूसरी बार जब एक धोबीके कहनेसे रामचन्द्रने गर्भिणी सीताका परित्याग कर दिया था, उसके बाद जब पुनः परीक्षा देनेकी बात रामने कही, तब भी भगवती सीताने इसी तरहकी शपथ ली और पृथ्वीमें प्रवेश किया। पृथ्वी माताने उन्हें अपने अंकमें ले लिया। महा-भागा सती सीताने रामके इतना निष्ठुर व्यवहार करनेपर भी आपकी तरह विवाह-विच्छेदकी कभो स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की, इत्यादि। इस दिनके भाषणमें श्रीमती दुर्गाबाई तथा श्रीमती रेणुका रायके अन्यान्य आक्षेपोंका भी ऐसा युक्तियुक्त उत्तर दिया गया कि, वे निरुत्तर हो गयीं। शायद इसी कारण तीसरे दिन, जो कान्फरेन्सका अन्तिम दिन था, ता० २३-४-५० को हमें बोलनेका समय ही नहीं दिया गया। इस दिनके विचारणीय विषय "पिता-की सम्पत्तिमें पुत्रके समान कन्याका भी अधिकार स्त्रीधन तथा संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा" आदि थे। इस दिन प्रतिदिनकी अपेक्षा एक घण्टा पहले ही अर्थात् प्रातःकाल नौ बजेसे ही कान्फरेन्सकी कार्यवाही प्रारम्भ हुई। प्रारम्भसे लेकर मध्याह्न बारह बजे-तक बिलके समर्थक लोगोंको ही भाषण करने दिया गया, इनके भाषण पहले दिन भी इन विषयोंपर हो चुके थे। बारह बजनेके पश्चात् उक्त दोनों पण्डित महोदयोंको थोड़ा थोड़ा समय दिया गया।

जब एक बजनेमें केवल कुछ मिनट ही बचे थे, तब सभापति डा० अम्बेदकरने बड़ी रुखाई तथा दुःशीलताके साथ उक्त तीनों महत्वपूर्ण गम्भीर विषयोंपर मुझे केवल 'हाँ' या 'ना' कहकर सम्मति देनेको कहा। इस अन्यायपूर्ण अवैध व्यवहारपर मैंने आपत्ति की, परन्तु सभापतिने वही बात पुनः दुहरायी कि, आप हाँ या ना कह दीजिये। तब पण्डितवर श्री माधवाचार्यजीने मेरा समर्थन किया और सभापतिसे मुझे समय देनेको प्रार्थना की, किन्तु उसका भी कोई असर नहीं हुआ। सभापतिने उनकी प्रार्थना भी अस्वीकृत कर दी। सभापति डा० अम्बेदकरके इस अनुचित, अन्यायपूर्ण तथा अवैध व्यवहारके विरोधमें पण्डित माधवाचार्यने सभाका त्याग कर दिया, साथही इसी विरोधमें मैंने भी सभा का त्याग किया। पं० देवनायकाचार्यजीने भी हमारा साथ दिया। इस प्रकार इन्कारमल हिन्दूकोडबिल कान्फरेंस जो कान्फरेन्स नहीं किन्तु कान्फरेन्सका अभिनयमात्र था, समाप्त हुआ। प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरूकी कोडबिलसम्बन्धी अन्तिम घोषणा जिसके अनुसार यह कान्फरेन्स बुलायी गयी थी, उसमें कहा गया था, कि इस बिलको पास करनेमें शीघ्रता नहीं की जायगी, अनुकूल तथा प्रतिकूल मतवालोंकी कान्फरेन्स बुलायी जायगी और अधिकसे अधिक सहमति प्राप्त करनेके बाद बिल पास होगा। इस घोषणाके अनुसार विरुद्ध मतवालोंको अधिक बुलाना चाहिये था, परन्तु इस कान्फरेन्समें बिलके समर्थक लोगोंको ही यथेष्ट संख्यामें बुलाया गया। विरोधी मतवालोंको बुलाया ही नहीं गया। दो तीन जिनको बुलाया गया, उनको अपने विचार प्रकट करनेका पर्याप्त समय ही नहीं दिया गया; और जितना भी उन्होंने अपना पक्ष रखा, उनके विरोधका कोई समाधान नहीं किया गया, न उनके तर्कों एवं युक्तियोंका कोई उत्तर दिया गया, न समझौतेका कोई भी प्रयत्न किया गया। इस तरह डा० अम्बेदकरद्वारा आयोजित हिन्दूकोड कान्फरेन्स सर्वथा असफल रहा; साथ ही पं० नेहरूजीको घोषणा असफल हुई।

विद्यादेवी
ता० १०-५-५०

तत्पश्चात् सर्वसम्मतिसे निम्नलिखित मन्तव्य स्वीकृत हुआ—

श्रीमती विद्यादेवीजी महोदयाद्वारा प्रस्तुत हिंदूकोड कान्फरेंस सम्बन्धी विवरण पढ़ा गया। सर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ कि, हिंदूसंस्कृतिके रक्षार्थ श्रीदेवीजीके इस शुभ प्रयत्नके लिये उन्हें धन्यवाद दिया जाय। यह समिति भारत सरकारके कानूनी सदस्य श्रीभीमराव रामजी अम्बेदकरके अन्यायपूर्ण और अनियमित व्यवहारके लिये तीव्र निंदा करती है और ऐसे कानूनी मेम्बरमें अपना घोर अविश्वास प्रकट करती है।

श्री आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की यह प्रबंध समिति डा० अम्बेदकरके उस भाषणपर जो उन्होंने गत वैशाखकी पूर्णिमाको बुद्धजयंतीके अवसरपर दिल्लीको एक आयोजित सभामें दिया था और जिसमें हिंदूधर्मकी खिल्ली उड़ाई थी अपना अत्यंत क्षोभ और रोष प्रकट करती है। इस समितिको असह्य वेदना है कि, वे भारत सरकारके धर्मनिरपेक्ष राज्यमें हिंदूधर्मके विरुद्ध

इसप्रकार विष वमन करते हैं, जिससे साम्प्रदायिकताको प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिलता है। अतः यह समिति भारतसरकारसे साग्रह सादर अनुरोध करती है कि, ऐसे व्यक्तिको शीघ्रातिशीघ्र पदच्युत कर दिया जाये।

यह भी निश्चय हुआ कि, उक्त दोनों प्रस्तावोंकी प्रतिलिपियाँ डा० राजेन्द्रप्रसाद सभापति, प्रधान-मंत्री, पं० जवाहरलाल नेहरू, उप-प्रधानमंत्री, सरदार वल्लभभाई पटेलके पास भेजी जाय तथा प्रकाशनार्थ समाचार-पत्रोंमें भी भेजी जाय।

सभापतिको धन्यवादके अनंतर आजकी सभा-कार्यवाही समाप्त हुई।

काशीमहिला-संघ
का
कार्य-विवरण

काशीमहिला-संघकी स्थापना चैत्र कृष्ण द्वितीया सं० २००६ में हुई थी जो अखिलभारतीय महिला-संघकी काशीमें स्थापित एक शाखा है।

भारतके गौरवमय अतीतकी सीता और सावित्रीके आदर्शपर स्त्री-समाजका पुनः संगठन करना उनके अन्दर उन्हें अपने दायित्वका बोध कराना—उन्हें आदर्श गृहिणी बनाना—उनकी मानसिक नैतिक तथा शारीरिक उन्नति करना इस संघके बहुतसे उपयोगी उद्देश्योंमें कुछ एक हैं।

काशीमहिलासंघके उद्देश्यों और नियमोंको माननेवाली स्त्रीमात्र इसकी सदस्या हो सकती हैं। इस तरह एक वर्षमें इसकी ७४२ सदस्यायें हुईं जिनमें ७३२ साधारण तथा १० संरक्षक सदस्यायें हैं।

साधारण सदस्यताका शुल्क १) तथा संरक्षक सदस्याका १००) निश्चित किया गया और इस तरह १६२६) रु० साधारण सदस्याओंसे तथा ८०५) रु० संरक्षक सदस्याओंसे अर्थात संघको इस मध्य से कुल आय २४३१) रु० हुई। आय और व्यय का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

संक्षिप्त वार्षिक हिसाब

सं० २००६

आय

चन्दा संकलित हुआ	२४३१—०—०
चन्दादाताओंके नाम समयपर न प्राप्त होनेसे हिसाब तलबमें जमा	४७५—०—०
(जून १, १९५० को विवरण मिल जानेसे हिसाब बराबर होगया)	
कुलआय	२४३१—०—०
हिसाब तलबमें	४७५—०—०
	२९०६—०—०

मदनमोहन मेहरोत्रा
हिसाब लेखक

व्यय

डाकखर्चमें जिसमें साधारण पत्रोंके अतिरिक्त हिन्दूकोड बिलके विरोधमें २००० पोस्ट-कार्ड डाकद्वारा श्री जवाहर-लाल नेहरूको भेजे गये।	७६—१४—०
हिसाबकिताब तथा कार्यालयका काम सँभालने वालेको	७०—०—०
फुटकर खर्च संघके लिये चटाई आदि तथा रिक्शा भाड़ा	३६—१४—०
सहायता परिषद्के अन्नसत्र विभागमें	५१—०—०
महावीरदलको महिलासंघके अधिवेशन खर्च मध्ये	१००—०—०
स्टेशनरी तथा छपाई नियमावली फार्म चिट्ठोका कागज पोस्टकार्ड आदि	१७३—१५—६
कुलखर्च	५१४—११—६
शेष सेंट्रलबैंकमें जमा	२३१०—०—०
रोकड़ बाकी कोषाध्यक्षके पास	८१—४—६
	२९०६—०—०

कृष्णाबाई
महामंत्रिणी

महिलासंघकी साधारण सभा प्रत्येक सप्ताह बुधवारको वर्षभरमें प्रायः ५० बार हुई। स्त्रियोंमें स्वत्वज्ञान तथा संगठनका भाव जाग्रत किया गया और इस प्रकार संघकी उत्तरोत्तर उन्नति हुई जिसका श्रेय श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की एक-मात्र संचालिका श्रीमती विद्यादेवीजीको है।

काशीमहिला-संघका वार्षिक चुनाव ।

काशीमहिला-संघका एक विशेष अधिवेशन पूर्व सूचनाके अनुसार ता० २१ जून १९५० को तारकेश्वरके मन्दिरमें सन्ध्या पाँच बजे हुआ। सङ्घकी प्राय: सभी सदस्याएँ उपस्थित थीं। भगवन्नाम-कीर्तन तथा मंगलाचरणसे कार्य प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भमें उपाध्यक्षा श्रीमती सुन्दरीबाई एम. ए. बी. टी. ने सङ्घकी गतवर्षकी संक्षिप्त कार्यविवरणी पढ़कर सुनाया। अनन्तर अध्यक्षाने अपने प्रारम्भिक भाषणमें नये विधानके अनुसार महिलाओंका अधिकार, मतदाताओंका उत्तरदायित्व तथा मतों (वोट्स) के महत्त्व उपस्थित महिलाओंको समझाया तथा भारतके भाग्यविधान एवं भावी निर्माणमें स्त्रीसमाजके महान् उत्तरदायित्वपर प्रकाश डाला। इसके अनन्तर निर्वाचन-कार्य सम्पन्न हुआ। आगामी वर्षके लिये निम्नलिखित पदाधिकारिणियों तथा प्रबन्ध-समिति की सदस्याओंका निर्वाचन हुआ।

अध्यक्षा—श्रीमती विद्यादेवीजी

उपाध्यक्षायें—श्रीमती सुन्दरीबाई, श्रीमती तारादेवी,
श्रीमती गणपतबाई, श्रीमती अनारदेवी

महामन्त्रिणी—श्रीमती कृष्णाबाई

मन्त्रिणी—श्रीमती छोटीबाई

कोषाध्यक्षा—श्रीमती गोविन्दीबाई

सदस्याएँ :—

श्रीमती भगवानीबाई
श्रीमती चम्पाबाई
श्रीमती नानीबाई
श्रीमती रुक्मिणीबाई
श्रीमती गणपतिबाई अग्रवाल
श्रीमती बासन्तीबाई
श्रीमती आनन्दीबाई
श्रीमती फागीबाई
श्रीमती सोवाबाई

अन्तमें भगवन्नाम संकीर्तनके पश्चात् सभाकी कार्यवाही समाप्त हुई।

श्री आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्-

द्वारा संस्थापित तथा सञ्चालित

श्री आर्यमहिला-महाविद्यालय, इन्टरकालेज

प्राचीनकालसे काशी समग्र भारतकी विद्याका केन्द्र रही है और अब भी वह उत्तर प्रदेशमें शिक्षाके क्षेत्रमें सभी नगरोंसे आगे बढ़ी हुई है। ऐसे पुनीत स्थानमें नैतिकशिक्षा एवं अन्य व्यवहारिक शिक्षाके द्वारा कन्याओंको उत्तम गृहिणीत्व एवं मातृत्वकी शिक्षा देनेवाले एक भी विद्यालयका न होना हमारा एक राष्ट्रीय अभाव था। इसी अभावकी पूर्तिके उद्देश्यसे एक दाताके द्वारा ट्रस्ट बनाकर दान किये हुए एक विशाल उद्यान भवनमें महापरिषद्द्वारा आर्यमहिलामहाविद्यालयका संचालन होता है। इसका सम्पूर्ण प्रबन्ध प्रतिष्ठित महिलाओंके द्वारा ही हो रहा है और होगा। प्रत्येक कक्षामें पाठ्यक्रमके साथ स्त्री-उपयोगी कलाओंकी उत्तम शिक्षा दी जाती है। निर्धन श्रमशील छात्राओंको छात्री-सहायता-कोषसे यथायोग्य सहायता दी जाती है, शहरमें रहनेवाली लड़कियोंको घरसे लानेके लिये लारीका भी प्रबन्ध है। इस वर्षका परीक्षाफल हाईस्कूल तथा इन्टरमिडियटका ८० प्रतिशत हुआ। लड़कियोंके लिये छात्रावासमें रहनेका भी उत्तम प्रबन्ध है।

ग्रीष्मावकाशके बाद विद्यालय ८ जुलाईको खुल गया। जिन लड़कियोंको भरती होना हो, उन्हें प्रार्थना-पत्र मुख्य अध्यापिकाके नाम भेजना चाहिये। विद्यालयमें गान, वाद्यविद्या, सिलाई, गृहकार्य, भोजनआदि बनानेमें निपुणता, स्त्रियोपयोगी विषयोंकी शिक्षा आदिपर विशेष ध्यान दिया जाता है। बोर्डिङ्गमें धर्म-शिक्षा और धर्म-साधनका नियमित प्रबन्ध रक्खा गया है।

संचालिका-श्रीआर्यमहिला-महाविद्यालय, पिशाचमोचनतीर्थ, बनारस शहर।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इनका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते है। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीखतक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिये। अनुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायेगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापनदाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्नभाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	३५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, १/२ पृष्ठ	१२)	,,
,, १/४ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

मुद्रक :—श्री कालाचाँद चटर्जी, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्की सचित्र मासिक मुखपत्रिका

श्रावण सं २००७ | वर्ष ३२ संख्या ४ | जुलाई १९५०

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी. एम. ए., बी. टी.

कर मन प्रभुसे प्रीति ।

ऐसो समय बहुरि नहिं पैहो जैहैं अवसर बीत ।

तन सुन्दर छवि देख न भूलो यह बालूकी भीत ।

सुख-सम्पति सपनेकी बतियाँ जैसे तृणपर शीत ।

जाही करम परमपद पावे, सोई करम कर मीत ।

शरण आये सो सबहीं उबारे यही प्रभुकी रीति ।

कहैं कबीर सुनो भाई साधो चलिहौ भयदल जीत ।

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

श्रावण सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या [illegible] | जुलाई १९५०

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।

जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो निमक हरामी ॥

भरि भरि उदर विषय को धावौ जैसे सूकर ग्रामी ।

हरि-जन छाड़ि हरी विमुखन की निसि दिन करत गुलामी ॥

पापी कौन बड़ो है मो ते सब पतितन में नामी ।

'सूर' पतित को ठौर कहाँ है सुनिये श्रीपति स्वामी ॥

आत्मनिवेदन

लज्जास्पद कौन ?

हमारे सामने भारतीय महिला सम्मेलनकी मुख पत्रिका जूनमासकी "रोशनी" है, इसमें श्री उर्मिला "नारी का दुर्बलता या दुर्भाग्य !" शीर्षक लेखमें लिखती है—"हिन्दूनारीकी दुर्बलता कहिये या दुर्भाग्य—परन्तु ऐसी कोई चीज उसके साथ अवश्य जोड़ दी गयी है, जिसके कारण नारीके कीना जीवन हो गया है, वह कितनी ही सुन्दर हो, कितनी ही सुशील हो तथा सेवामयी हो ; फिर भी उसकी दासता अमर रही है।" तभी तो माँ और बेटी, सास-बहूतक परस्पर एक दूसरे की राय बनी हुई है और भरसक उक्त कानूनके विरोधमें प्रदर्शन करनेसे नहीं चुकती। यहाँकी असेम्बली भवनके सामने तो सत्याग्रह करने पहुँच गयी और भी अनेक प्रकारके अप्रिय और लज्जाजनक व्यवहार ऐसे कर डाले, जिनका उल्लेख करनेमें लज्जा आती है।" आगे चलकर और भी अनेक बातें उन्होंने लिख डाली हैं। जिसको पाण्डुरोग हो जाता है, उसे सबकुछ पीला-पीला ही दिखायी देता है, उसी प्रकार पाश्चात्य रंगमें रंगी श्री उर्मिला मेहताकी दशा हो रही है। इसी कारण अपनी जातीयता, अपनी प्राचीन पवित्र संस्कृति, अपना गौरव अपने पवित्र पातिव्रत्यधर्म और आत्मसम्मानकी रक्षाके लिये असेम्बली भवनके सामने हिन्दूकोडबिलके विरुद्ध प्रदर्शन करनेवाली आर्यदेवियोंके व्यवहारपर उनको लज्जा आती है। कैसी हास्यास्पद बात है ? वे पवित्र भारतभूमिमें हिन्दूपरिवारमें जन्म लेकर अपनी पवित्र संस्कृति और परम्पराकी तिलाञ्जली दे अनार्य असंस्कृत पाश्चात्योंका उच्छिष्ट खाने एवं अन्धानुकरण कर हिन्दूकोडबिलके द्वारा तलाक विधवा-विवाह असवर्ण-विवाहकी माँग करती हैं, तब भी उनको अपने आपसे लज्जा नहीं आती, यह देख किस विचारशील व्यक्तिको आश्चर्य नहीं होगा ? भारतीय आर्यदेवियोंके सामने तो सती सीता, सावित्री, दमयन्ती, अनसूया, लोपामुद्राआदि महाभागाओंका उज्ज्वल आदर्श है, जिन्होंने अपने तप-त्याग, आत्मसंयम और पातिव्रत्यके प्रभावसे कालको भी अपने अधीन किया था, सबके शासक यमको भी अपने वशमें किया था। इनको अपना आदर्श माननेवाली हिन्दूदेवियाँ हिन्दूकोडबिलका समर्थन क्यों कर कर सकती हैं ? श्रीमती उर्मिला मेहता-के सामने तो धनके लिये कुमारी कन्याओंसे वेश्यावृत्ति करानेवाली, नित्य नये नये पतियोंको वरण करने-वाली एवं केवल आर्थिक अधिकारके लिये पुरुषोंके साथ स्पर्धा करनेवाली पश्चिमी स्त्रियोंका आदर्श है। उनको अपनी भारतीय संस्कृतिका जो, संसारमें सबसे महान् तथा बेजोड़ है, उसका न ज्ञान है, न आत्मसम्मान है, न आत्मगौरव है, वे जिन स्त्रियोंका अन्धानुकरणमें ही अपना परम गौरव मानती हैं, उन्हीं देशोंके विद्वानोंने हिन्दूस्त्रियोंका निम्नलिखित चित्र चित्रण किया है—

"The person of a Hindu woman is sacred. She can not be touched in

public by a man even with the ends of the fingers. How abject soever may be her condition, she is never addressed by anybody, not excepting the persons of the highest rank, but under the respectful name of Mother."

(Father Abbe Dubois.)

हिन्दूजाति अपनी स्त्रियोंके शरीरको पवित्र मानती है। प्रकाश्य स्थानमें अङ्गुलियोंके अग्रभागसे भी कोई उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता। कितनी ही हीन दशा उनकी क्यों न हो, बड़े बड़े आदमी भी उन्हें 'माता' कहकर ही सम्बोधन करते हैं।

(फादर अब्बे ड्यूबो)

"The ideal which the wife makes for herself, the manner in which she understands duty and life, contains the fate of the community. Her faith becomes the star of the conjugalship and her love the animating principle that fashions the future of all belonging to her. Woman is the salvation or destruction of the family. She carries the destinies in the folds of her mantle"

(Amiel)

स्त्री और माता अपने लिये जिसप्रकार आदर्शको रखती हैं, जिस तरहसे वे अपने जीवन और कर्त्तव्यको समझती हैं, उससे समग्र जातिका भाग्य निर्णय होता है। उनका विश्वास दाम्पत्यप्रेमका उज्ज्वल तारा है, उनका प्रेम उनके आत्मीयजनोंके जीवनमें प्राणशक्तिका सञ्चारक है। स्त्री ही गृहस्थ जीवनमें उद्धार या नाशका कारण है। गृहस्थके समग्र भाग्यको मानो वह अपने उत्तरीय वसनमें (ओढ़नीमें) बाँधे ही फिरती है। (एमियेल)

"Perfect daughters, wives and mothers, after the severely disciplined, self-sacrificing Hindu ideal, remaining modestly at home, as the proper share of their duties, unknown beyond their families, and seeking in the happiness of their husbands the amaranthene crown of a woman's truest glory."

(Sir George Birdwood in the Asiatic Quarterly Review)

त्यागमय, संयमपूर्ण हिन्दू आदर्शके अनुसार उनकी स्त्रियाँ आदर्श कन्या, आदर्श सती और आदर्श माता होती हैं। वे मर्यादा और शीलताके साथ गृहकार्यको करती हुई उसी अन्तःपुरमें प्रच्छन्न रहा करती हैं, सन्तानोंके सुखमें ही उनका सर्वोत्तम सुख है और पतिके प्रति पूजा तथा श्रद्धाभाव-प्रदर्शनमें ही उनकी चिर अमर महिमा है।

(सर जार्ज बर्डउड)

अब श्री उर्मिला स्वयं ही शान्ति एवं धैर्यसे सोचें कि, लज्जास्पद कौन है ?

अपने सम्राज्ञी पदको कदापि नहीं छोड़ें।

हिन्दूकोडबिलके समर्थक स्त्रियाँ तथा पुरुष स्त्रियोंके साथ बड़ी दया एवं सहानुभूति दिखाते हुए कहते हैं कि, हिन्दू स्त्रियोंपर बड़ा अत्याचार है, उनको पैरोंकी जूती बनाकर रखा जाता है, कन्याओंको दूधकी मक्खीकी तरह घरसे निकाल दिया जाता है,

विधवाओंको दासी बनाकर रखा जाता है, वे भरण-पोषणके लिये परतन्त्र रहती हैं इत्यादि। ऐसा कहने वालोंको या तो हिन्दूसंस्कृतिका ज्ञान नहीं है, या वे पश्चिमी सभ्यताके चाक-चिक्यमें ऐसे आत्म-विस्मृत हो गये हैं कि, उनको हिन्दूसंस्कृतिकी अमूल्य निधियाँ दिखायी नहीं देती हैं। वस्तुतः हिन्दूनारी हिन्दूपरिवारकी सम्राज्ञी है, जैसा श्रुति कहती है—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव।
सम्राज्ञी श्वश्रवां भव॥
ननान्दरि सम्राज्ञी भव।
सम्राज्ञी अधि-देवृषु॥

यह मन्त्र विवाहके अनन्तर पढ़ा जाता है और वधूको आशीर्वाद दिया जाता है कि, "तुम अपने श्वशुर, सास, ननद, देवरआदि सबकी सम्राज्ञी बनो।" इसप्रकार विवाह कर कन्या अपने पतिगृहकी सम्राज्ञी बनाकर भेजी जाती है। अपनी प्रियपुत्रीको ऐसे घरमें दें, जहाँ वह सम्राज्ञी बन सके, पिता, माता, भाई अपनी शक्ति एवं धन ही केवल खर्च नहीं देते, अधिकन्तु ऋण लेकर भी व्यय कर देते हैं। आज भी ऐसे उदाहरण कम नहीं देखनेमें आते हैं।

सत्य तो यह है कि, भारतीय हिन्दूसंस्कृतिमें नारीका जो उच्चतम स्थान है, वह संसारमें अन्यत्र कहीं भी नहीं है। यहाँतो प्रत्येक अवस्थामें स्त्रीकी पूजा होती है। अब भी नवरात्रोंमें कुमारिओंकी विधिवत पूजा होती देखी जाती है। विशेष अवसरों-पर सौभाग्यवती नारियोंकी दुर्गारूपमें पूजाकी जाती है। हिन्दूविधवाओंको संन्यासिओंकी तरह पूज्या समझनेकी रीति है। भगवान् मनुने तो यहाँतक कहा है कि—

प्रजनार्थां महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥

अर्थात् सन्तानप्रसव करनेके कारण महाभाग्यवती पूजाके योग्य एवं गृहको उज्ज्वल करनेवाली स्त्री एवं लक्ष्मीमें कोई भी भेद नहीं है।

दक्षसंहितामें भी कहा है—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियम्वदा।
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी॥

जो स्त्री पतिके अनुकूल चलती है, कटुवचन नहीं बोलती, गृहकार्योंमें दक्षा है, पतिपरायणा तथा मधुरभाषिणी है, वह मानवी नहीं देवी है।

स्मरण रखना चाहिये कि, आर्यनारियोंके अलौकिक त्याग-तप, आत्मसंयम, पवित्रता सेवा-परायणता, कार्यकुशलता, मधुरताआदि स्वर्गीय गुणावलियोंके लिये ही वे सम्राज्ञी आदि महान् पद-पर प्रतिष्ठित हुई थी। वे अपने प्रेम, तप-त्याग तथा सेवा-परायणतामे सबकी सम्राज्ञी बन सकती है। अनार्यजुष्ट हिन्दूकोडबिलका समर्थन करनेवाली स्त्रियाँ ता कहींकी भी नहीं है। इस कारण आर्य-देवियाँ इनके बहकावेमें आकर अपने सम्राज्ञी पद-को कदापि न छोड़े।

———

आर्यसंस्कृतिमें गुरुपूजा

(लेखिका—श्रीमती विद्यादेवीजी)

भारतीय संस्कृतिमें गुरुका एक अलौकिक अद्वितीय स्थान है और गुरुदेवकी बड़ी महिमा है। आध्यात्मिक जगत्में गुरुका पद सबसे बड़ा एवं महान् माना गया है। इस समय उसका प्रचलित-रूप चाहे जैसा भी हो किन्तु उसका शास्त्रीय स्वरूप कुछ और ही है। इस समय तो समयके प्रभावसे सभी वस्तुका स्वरूप विकृत होकर कुछका कुछ हो गया है।

व्यवहारमें देखा जाता है, कि किसी लौकिक सामान्य विषयका ज्ञानभी विना किसी जाननेवाले-की सहायतासे नहीं होता है। उदाहरणार्थ एक छोटे बालकको लीजिये। छोटा बालक जबसे बोलना सीखता है, तभीसे जो कुछ वह देखता-सुनता है, उसके सम्बन्धमें उसको जाननेकी इच्छा जाग्रत होती है। जितना अधिक बुद्धिमान् बालक होता है, उसकी जिज्ञासा भी उतनी तीव्र तथा सूक्ष्म हुआ करती है। अपनी माता, पिता, भ्राता तथा अन्य सम्बन्धियोंसे जो कुछ वह देखता-सुनता है, उसके सम्बन्धमें यह क्या है, वह ऐसा क्यों है, यह ऐसा कैसे होता है, इत्यादि नानाप्रकारके प्रश्न किया करता है और उन प्रश्नोंके उत्तरसे उसे सभी लौकिक विषयोंका क्रमशः ज्ञान प्राप्त होता जाता है। जब उसे विद्याध्ययनकी अवस्था प्राप्त होती है, तब उसे शिक्षककी आवश्यकता होती है। शिक्षककी सहायतासे ही उसको अक्षर ज्ञानसे लेकर नाना प्रकारके विषयोंका ज्ञान प्राप्त होता है। इसी नियमसे मनुष्यको सभी लौकिक विषयोंका प्रथम ज्ञान प्राप्त होता है। पीछे अनुभवद्वारा उसका प्रत्यक्षभी किया जाता है। जब लौकिक स्थूल जगत्की जानकारीके लिये शिक्षककी अपेक्षा होती है; तब अन्तर्जगत् एवं आत्मा-अनात्मा जैसे सूक्ष्म विषय जो इन्द्रियोंके गोचर ही नहीं हैं, उनको जाननेके लिये उन विषयोंके विशेषज्ञ पथदर्शककी आवश्यकता सर्ववादि-सम्मत और स्वाभाविक ही है।

अनेक जन्मोंके पुण्यकर्मोंसे अन्तःकरण जितना जितना परिमार्जित होकर शुद्ध होता है, उतना-उतना उसमें अन्तर्जगत् और आत्मा-अनात्माके विषयमें जाननेकी इच्छा जाग्रत होती है। वस्तुतः मनुष्यजीवनका सबसे बड़ा लाभ आत्मलाभ है, उसको न जानना सबसे बड़ी हानि है, यथा श्रुति—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। केनोपनिषद्।

अर्थात् यदि इस मानवशरीरमें ब्रह्मको जान लिया जाय तो सब प्रकार कल्याण है, यदि नहीं जाना जाय तो महान विनाश है, इत्यादि। अतः जो मनुष्य दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर आत्माको प्राप्तिके लिये यत्नवान् नहीं होता, उसको शास्त्रोंने आत्मघाती कहा है। श्रीभगवान् भागवतमें कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं,
सर्वं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मायानुकूलेन नभस्वतेरितं,
पुमान् भवाब्धिं न तरेत स आत्महा ॥

अर्थात् यह मनुष्यशरीर अत्यन्त दुर्लभ है, संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह सुदृढ़ नौका है, गुरु इसके कर्णधार हैं, तथा अनुकूल वायुरूप मेरेद्वारा प्रेरित होकर यह नौका पार लग जाती है। ऐसा मनुष्य शरीर पाकर जो संसार-समुद्रसे पार नहीं होता, वह आत्मघाती है। और भी भागवतमें—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते,
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत् न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

अर्थात यह मनुष्य-शरीर अनित्य होनेपर भी बहुजन्मोंके बाद मिलता है, अतः इस दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर बुद्धिमानको चाहिये, कि जबतक मृत्यु इसे न घेर ले, तबतक शीघ्र ही अपने निः-श्रेयसप्राप्तिका उपाय कर ले, विषय तो सब योनियोंमें ही प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ज्ञान और सुखेच्छा ये तीनों गुणोंकी स्वाभाविक छः वृत्तियाँ मनुष्य तथा मनुष्येतर सभी जीवोंमें समान हैं। मनुष्य तथा मनुष्येतर पशु, पक्षी तीर्यक् सभी योनियोंके जीवोंमें इन छः वृत्तियों-की क्रिया देखी जाती है। मनुष्य भोजन करता है, अन्य सभी देहधारी भोजन करते हैं, मनुष्य सोता है, अन्य सभी प्राणी सोते हैं। मनुष्यको भय लगता है, अन्य सभी देहधारियोंको भी अपने प्राणों तथा क्लेशका भय होता है। मनुष्य संतान उत्पन्न करता है, अन्य सभी शरीरधारी प्राणी संतान उत्पन्न करते ही हैं। अपने सुखदुःखका ज्ञान जैसा मनुष्योंको होता है, मनुष्येतर सब जीवोंको भी इस प्रकारका ज्ञान होता है। मनुष्यमें सुखकी चाह जैसी होती है, दूसरे प्राणियोंमें भी वैसी ही है; दुःख कोई भी नहीं चाहता है। इस प्रकार विचार कर देखा जाय तो इन चेष्टाओंमें मनुष्य एवं पशुआदि अन्य जीवोंमें कोई भी भेद नहीं है। अन्तर इतना अवश्य है कि, मनुष्ययोनिके पहलेकी योनियोंके जीव पूर्णावयव नहीं है, अतः वे अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करते हैं, जैसे पशुओंमें व्याघ्र तथा सिंह मांसाहारी है, उसे घास खिलाया जाय तो कभी नहीं खायेगा। इसी प्रकार गाय बकरी आदि मांसाहारी नहीं हैं; इनको घासकी जगह मांस दिया जाय तो कभी नहीं खायेंगे। पशुआदि जीव केवल ऋतुके समय अपनी प्रकृतिके अनुसार केवल सृष्टि-विस्तारके लिये कामचेष्टा करते हैं, अन्य समय नहीं। इस कारण वे पापभागी नहीं होते हैं, न उनकी अवनति ही होती है। वे तो प्राकृतिक नियमके अनुसार उत्तरोत्तर ऊपरकी योनियोंमें उन्नति करते रहते हैं। इसप्रकार बिना रोक-टोक वे मनुष्ययोनिमें पहुँच जाते हैं। मनुष्ययोनिमें आते ही उनकी यह अबाधगति रुक जाती है, क्योंकि यहाँ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों कोशोंका पूर्णविकाश हो जानेसे मनुष्य पूर्णावयव प्राणी बन जाता है। अतः वह अपने इन्द्रियोंसे मनमाना आहार-विहार करने लगता है, अपनी प्रकृतिपर बलात्कार कर अनियमित

असंयमित विषय सेवन करना प्रारम्भ कर देता है और इसप्रकार पापका सञ्चय करता है। फलतः प्रकृति उसे नीचे गिरा देती है। इसी प्राकृतिक नियमसे मनुष्य शुभकर्मोंके सञ्चयसे ऊपरके उच्च लोकोंमें भी जाता है और पापोंके कारण मनुष्य तथा देवयोनिसे भी पशु-पक्षी स्थावर तथा तिर्यक्-योनिमें भी चला जाता है। इसके अनेक उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं; जैसे कुबेरके पुत्र नलकुबर तथा मणिग्रीवका नारदके शापसे यमलार्जुनका वृक्ष बन जाना, जिसका उद्धार भगवान् कृष्णद्वारा हुआ था। राजा नहुषका ऋषियोंके शापसे सर्प बन जाना, इत्यादि। अतएव मानव शरीर पाकर यदि प्राणी केवल विषय-विषके सेवन तथा इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही अपने जीवनकी सार्थकता समझें तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं, कि वह पशुआदिसे भी निकृष्ट है। इसी कारण भगवान् आदि शंकराचार्यने भी कहा है—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तथापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः
स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद् ग्रहात्॥

अर्थात् किसीप्रकार दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर उसमें भी पुरुष होकर एवं वेदादिशास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर भी जो आत्माकी मुक्तिके लिये यत्नवान् नहीं होता है, वह स्वयं अपनी हत्या करता है, अतः आत्मघाती है।

अतः मनुष्य जीवनका सबसे बड़ा महान् लाभ आत्मलाभ ही है, जैसा भगवान् कृष्णने भगवद्-गीतामें कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

अर्थात् जिसको पाकर दूसरे किसी लाभको उससे अधिक नहीं समझता है और जिसमें प्रतिष्ठित हो जानेपर अतिगुरुतर दुःखमें भी विचलित नहीं होता है। अतः ऐसा लाभ जिसे पाकर कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रहे, सब कुछ पा लिया जाय और जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, वियोग, भयआदि सारे दुःखोंकी सदाके लिये समाप्ति हो जाय, ऐसा अद्भुत परमलाभ आत्म-लाभ, जिन आत्मदर्शी ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषके द्वारा हो, उन्हींको शास्त्रोंने गुरु कहा है। बिना गुरुके उस परमतत्त्व आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता है। श्री भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थात् बारम्बार प्रणाम, प्रश्न एवं सेवाके द्वारा उसको जानो। प्रणाम एवं सेवासे प्रसन्न होकर तत्त्वदर्शी महापुरुष तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे। श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्ने निज मुखसे कहा है—

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत॥
तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावान् अनसूयकः।
यावद् ब्रह्म विजानीत मामेव गुरुमादृतः॥

अर्थात् जिस धीर पुरुषको दुःखबहुल कामादि भोगोंसे वैराग्य हो गया हो, और मेरे धर्ममें जिज्ञासा नहीं हुई हो, वह किसी मुनिश्रेष्ठका गुरुरूपसे शरण ले और उन गुरुदेवको मेरा ही

स्वरूप समझकर बड़ी श्रद्धाभक्तिसे उनकी तबतक सेवा करता रहे, जबतक ब्रह्मको न जान ले।

और भी श्रुति कहती है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

मुण्डकोपनिषद्

अर्थात् कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी परीक्षा-कर ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त हो जाय। किये जाने-वाले सकाम कार्योंसे कर्मसे अतीत परमात्मा नहीं प्राप्त हो सकते हैं। अतः उसको जाननेके लिये वह हाथोंमें समिधा लेकर नम्रताके साथ गुरुके पास ही जाय। तात्पर्य यह है कि गुरुके सिवाय उसको जाननेका अन्य कोई उपाय नहीं है।

सांसारिक जितने प्रकारके सम्बन्ध हैं, उन सब-में माता-पिताका सम्बन्ध सबसे महान् है और उनकी महिमा सर्वोपरि है, परन्तु गुरुका स्थान तो इनसे भी महत्तम और इनकी महिमा लोकोत्तर है। इसका कारण स्पष्ट ही है, कि पिता-माता जन्म देते हैं, पालनपोषण एवं रक्षा करते हैं, सब प्रकार-के लौकिक सुखोंको देते हैं; परन्तु गुरुदेवकी कृपासे ऐसी वस्तु मिलती हैं, जिसको पा लेनेसे बारबार जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, ताप सारी दुःख-दरिद्रता सदाके लिये शांत हो जाती है। मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है और उसको कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता, उसका कोई कर्तव्य ही अवशिष्ट रहता है। इसी कारण गुरुदेवकी इतनी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है। यहाँतक कि गुरु और भगवान्में कोई भी भेद नहीं है; गुरु साक्षात् परमात्मा ही हैं। गुरुमें मनुष्यबुद्धि रखनेवाला नरकगामी होता है। श्रीभगवान्ने भागवतमें स्वयं कहा है—

"मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्"
"आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्"

अर्थात् गुरुको मेरा ही स्वरूप समझकर उपा-सना करे। आचार्य अर्थात् गुरुको मेरा ही रूप समझे, और कदापि उनकी अवज्ञा नहीं करे।

श्रुति भी कहती है—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात् जिसकी भगवान्में परमभक्ति है, और जैसी भगवान्में है, वैसी ही भक्ति गुरुमें भी है, उसी महात्मामें उपनिषद्कथित तत्त्व प्रकाशित होते हैं।

इस प्रकार देखा जाता है, कि आर्यसंस्कृतिमें साक्षात् परमात्माके स्वरूपमें गुरुकी पूजा होती है एवं गुरुपूजाका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है।

हिन्दू कोडबिल और कांग्रेससरकार

(कुछदिन पूर्व डा० अम्बेदकरने मद्रासमें कहा था कि, पार्लामेन्टके अगले अधिवेशनमें हिन्दूकोड-बिल कानून बन जायगा। इस सम्बन्धसे अमृत-बाजारपत्रिकाके अनुभवी सम्पादकने ता० १५ जूनकी उक्त पत्रिकाके अग्रलेखमें जो अपना गम्भीर विचार प्रकट किया है, उससे हिन्दूकोड एवं नेहरू-सरकारके अनेक विषयोंपर प्रकाश पड़ता है, अतः उसका हिन्दी अनुवाद हम अपने पाठक-पाठिकाओं-के अध्ययनार्थ यहाँ ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करती हैं —सम्पादिका)।

डा० अम्बेदकरने मद्रासमें कहा है कि हिन्दू-कोडबिल पार्लामेण्टके अगले अधिवेशन में कानून बन जायगा। जो इस बिलके विरोधी हैं जिनकी संख्या असंख्य है—ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानसे इसप्रकारकी घोषणा सुनकर अवाक् हो जायेंगे क्योंकि उन सबोंने अपनेको इस विश्वासमें भुला रक्खा था कि नेहरूसरकारको सद्बुद्धि आ जायगी और बिल सदाके लिये समाप्त कर दिया जायगा। अभी हालहीमें प्रधानमन्त्रीने अपने कुछ भाषणोंमें सम्मिलित उत्तरदायित्वकी चर्चा की है और कांग्रेस-के प्रति अपना विशेष उत्तरदायित्व बतलाया है। इण्डोनेशिया जानेके पूर्व ट्रिवेनड्रमकी एक सार्वजनिक सभामें उन्होंने कहा कि मैं सरकारमें इस मौलिक सिद्धान्तपर हूँ कि कांग्रेस संगठनने मुझे वहाँ बिठाया है। यदि कांग्रेसकी कार्यकारिणी अथवा अखिलभारतीय कांग्रेसकमेटी मुझसे कल बाहर चले आनेको कहे तो मुझे उसी समय बाहर आ गया समझिये। किंतु पं० नेहरूसे कांग्रेस-कार्यकारिणी अथवा अखिलभारतीय-कांग्रेस कमेटी कोई भी सरकारसे बाहर आनेको कहे इसकी लेश संभावना नहीं है। किन्तु अत्यन्त नम्रताके साथ यह पूछा जा सकता है कि कांग्रेसकी कार्य-कारिणी अथवा अखिलभारतीय कांग्रेसकमेटीने क्या हिन्दूकोडबिलका कभी भी समर्थन किया, अथवा पं० नेहरूको उसे आगे बढ़ानेका अधिकार सौंपा है?

क्या कांग्रेस हिन्दूकोडबिलपर चुनाव लड़नेमें तैयार है? कांग्रेसके सभापति श्री डा० पट्टाभी-सीतारमैय्या बिलके घोर विरोधी विख्यात हैं। श्री डा० राजेन्द्रप्रसादने जो इस समय भारतीय जनतन्त्रके सभापतिके महान् पदको शोभित कर रहे हैं, कहा है कि हिन्दूकोडबिलने जनसाधारणकी उस परिमाणमें स्वीकारोक्ति नहीं प्राप्ति की है जो सर-कारको उसे आगे बढ़ानेमें अधिकृत करे। श्रीराज-गोपालाचारी जिनकी बिलपर प्रदान की हुई सम्मति जनताका हरएक वर्ग सम्मानित करेगा अर्थपूर्ण ढङ्गसे विमौन हैं। कांग्रेसक्षेत्रमें भी हम बिलके सम्बन्धमें कोई प्रोत्साहन नहीं दृष्टिगत कर सके।

प्रत्युत पं० नेहरूकी इस घोषणाने कि, वे हिन्दू-कोडबिलको सरकारपर विश्वासका विषय बनायेंगे, कांग्रेससंसदोंमें आश्चर्य और किंकर्तव्यविमूढ़ताका भाव पैदा किया क्योंकि वे जानते हैं कि यदि बिल कानून बन गया तो ६ महीने बाद जब उनका निर्वाचकोंसे सामना होगा उन्हें बहुत कुछ उसकी

कैफियत देनी पड़ेगी। डा० राजेन्द्रप्रसादभी बिलकुल ठीक कहते हैं। बिलने जनसाधारणकी स्वीकृति नहीं प्राप्ति की है। लाखों मनुष्योंने तो इस बिलके सम्बन्धमें कुछ सुना तक नहीं, यद्यपि अपेक्षाकृत उनका जीवन इससे कम प्रभावित न होगा। समाचारपत्रोंके पत्रस्तंभोंपर एक दृष्टि डालनेसे यह प्रकट हो जायगा कि बिलके एक समर्थकके विरुद्ध इसके दस विरोधी हैं।

किन्तु प्रधानमंत्री तो इसपर जी-जानसे लगे हैं और डा० अम्बेदकर जो हिन्दूधर्म और संस्कृतिके अटल शत्रु हैं इस बिलको एक अमोघ अस्त्र समझते हैं जिसके द्वारा हिन्दू रीति और परम्परा पर जिसमे हिन्दूसंस्कृति बनी है घातक प्रहार किया जा सके। इन दोनोंको किसी प्रकार रास्तेपर नहीं लाया जा सकता। डा० अम्बेदकर तो हिन्दू-समाजसे अलग हो गये हैं। फिरभी वे हिन्दू-विचारोंको चैनसे नहीं रहने देते।

जैसा हम इन स्तम्भोंमें पहलेही प्रकट कर चुके हैं कि असाधारण सभामें हुये विवादके फलस्वरूप बिलमें कोई विशेष संशोधन नहीं हुआ।

बिलकी सबसे अधिक विवादग्रस्त धारा उत्तराधिकारसे सम्बन्ध रखती है।

ऐसा सुना गया है कि, एक सदस्यने उक्तअनियमित हिंदूकोड सभामें यह प्रस्ताव रक्खा कि कुमारी अपने पिताके परिवारमें हिस्सेदार हो किन्तु विवाहित कन्याको उसमें कुछभी न मिले प्रत्युत वह अपने पतिके परिवारमें पत्नीके नाते पूर्णरूपसे हिस्सेदार हो और वही भाग प्राप्त करे जो उसका पति या पुत्र पानेका अधिकारी है। हमें यह भी मालूम हुआ कि उक्त प्रस्ताव नितान्त अव्यवहारिक जान पड़ा क्योंकि उससे कानूनमें बहुत बड़ी उलझन उत्पन्न हो जायेगी। किन्तु क्या पुत्रीका (कुमारी या विवाहित) पिताकी सम्पत्तिमें अधिकारिणी होना कानूनमें उलझन नहीं उत्पन्न कर देगी अथवा क्या हिन्दू परिवारमें असीम कटुता नहीं पैदा करेगी ?

ऐसा जान पड़ता है कि अनियमित सभाने उत्तराधिकार सम्बन्धी धाराओंको बिलकुल अछूता ही छोड़ रक्खा। हमें यह भी मालूम हुआ है कि असाधारण सभामें घोर कट्टरपंथियोंके अतिरिक्त एक विवाहकी प्रथाके चालू करनेके पक्षमें बहुमत था। यदि एकविवाह-प्रथा हिन्दुओंके लिये हितकर है तो हमें पूर्ण विश्वास है कि वह मुसलमानोंके लिये भी कल्याण-जनक होगी। फिर वह सरकार जो अपनेको उच्चस्वरसे धर्मनिरपेक्ष घोषित करती है, एकविवाह-प्रथाको लादनेके लिये केवल एकही सम्प्रदाय क्यों चुना है ? हमारे प्रधानमंत्री इण्डोनेशियामें भी धर्म-निरपेक्ष शासनका ढोलशाला कर रहे हैं। हिन्दूकोड-बिल हमारी सम्मतिमें धर्मनिरपेक्ष शासनकी जड़ पर सीधे कुठाराघात करता है।

होचियों सरकारने अभी हालमें अपने ६ निर्णय प्रचारित किये हैं जो बुद्ध, ईसाई और मुसलमान सम्प्रदायोंपर बराबर लागू हैं। चीनकी कम्यूनिस्ट सरकारने बहुपत्नी-प्रथा तथा वेश्यागमनका एक आज्ञा प्रचारित करके अवरोध किया है जो सभी सम्प्रदायों पर एकसी लागू है। हमारी सरकार धर्मनिरपेक्षताकी बातें तो बड़े ऊँचे स्वरसे

करती है किंतु सामाजिक सुधारके अपने मनचाहे विचार केवल एकही सम्प्रदायके लिये सुरक्षित रखली है। यदि नेहरू सरकारमें एकविवाह-प्रथा समस्त सम्प्रदायोंपर चालू करनेका साहस न हो तो उन्हें हिन्दूकोडबिलका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। धर्मनिरपेक्षिता तथा धार्मिक पक्ष-पात एक साथ नहीं चल सकते।

दरद

फिर न जगाओ सिहर उठेगा
पका हुआ है हृदय घावसे।
सूख गया सब स्रोत सरस हा
घड़ी घड़ी के अश्रु-श्रावसे॥
भरते भरते आह निरन्तर
नरम कलेजा मया चटक-सा।
दरद बिचारा कहीं सिमटकर
सोता है अब अलस भावसे॥

पंखुड़ियाँ

छू मत देना बिखर जायेंगी
ये सूखी पंखुड़ियाँ।
जब तब उनमें लख लेता हूँ
अपनी ओझल घड़ियाँ॥
कितने पैने शूलोंसे हा
बिंध बिंध इनका जीवन।
रूप-गन्ध-रस हीन हुआ अब
टूटी सब मृदु कड़ियाँ॥

मोहन वैरागी

कर्ममीमांसादर्शन ।

[गताङ्कसे आगे]

और भी कहा जाता है—

इस कारण तीनों आकाशके साथ उसका सम्बन्ध है ॥६३॥

पिण्डके आकाशको चित्ताकाश, ब्रह्माण्डके आकाशको चिदाकाश और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके आधारभूत आकाशको महाकाश कहते हैं। जीव जब पञ्चकोषकी पूर्णतासे पूर्णावयव हो जाता है और उसमें सुसंस्कार-संग्रहका पूर्ण अधिकार हो जाता है, तो स्वतः ही त्रिविध आकाशसे उसका सम्बन्ध हो जाता है। यही कारण है कि, योग-युक्त अन्तःकरण व्यापकताको धारण करता है और यही कारण है कि, एक पिण्डसे दूसरे पिण्डका हाल और एक लोकसे लोकान्तरका हाल जान सकता है। योगिराजकी तो बात ही क्या, समाहित अन्तःकरण-की सहायतासे श्राद्ध-क्रियाद्वारा लोकान्तरमें जीवकी तृप्ति होती है और उपासक अपने उपासनालोकमें अपने इष्टदेवके साथ सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। उसी प्रकार योगयुक्त ज्योतिष-शास्त्रवेत्ताओंने अपने ब्रह्माण्डसे अतिरिक्त अनेक नक्षत्र और राशिआदिका पता लगाकर उसका आविष्कार किया था, ये सब त्रिविध आकाशके साथ सम्बन्ध-स्थापनके साधारण उदाहरण हैं ॥६३॥

और भी कहा जाता है—

इस कारण शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शका अधिकारी है ॥ ६४ ॥

मनुष्यके पूर्णावयव होकर विशेष अधिकार प्राप्त करनेका उदाहरण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार दे रहे हैं। मनुष्यपिण्ड जब पञ्चकोषकी पूर्णतासे पूर्णावयव हो जाता है, उसी पूर्णावयव होनेके कारण पञ्चकोषके विभिन्न-विभिन्न अधिकारोंके साथ उसमें शुद्धिप्राप्ति और अशुद्धिप्राप्ति एवं स्पर्शास्पर्शसे शुभाशुभप्राप्तिका अधिकार हो जाता है। इन पाँचों कोषोंमें शुद्धाशुद्ध और स्पर्शा-स्पर्शका अच्छा और बुरा परिणाम हुआ करता है। अन्नमयकोषके बुरे परिणामको दर्शनशास्त्रमें मल कहते हैं। प्राणमयकोषके बुरे परिणामको विकार कहते हैं। मनोमयकोषके बुरे परिणामको विक्षेप कहते हैं। विज्ञानमयकोषके बुरे परिणामको आवरण कहते हैं और आनन्दमय-कोषके बुरे परिणामको अस्मिता कहते हैं। जब जीवमें पूर्णता होती है, तो पाँचों कोषमें अच्छा और बुरा परिणाम होने लगता है। शुद्धिसे अच्छा परिणाम होता है और अशुद्धिसे बुरा परिणाम होता है। इस जीव-की पूर्णावयवकी दशामें स्वाभाविक रूपसे उसमें जड़ताकी कमी होने और चेतनताका अधिकार बढ़ जानेसे उसके पाँचों कोषही विशेष शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं। तब नानाप्रकारसे पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्य स्पर्शके दोष-गुण और शुद्धाशुद्धके अधिकार अलग-अलग रूपसे पञ्चकोषोंके द्वारा संग्रह करनेमें समर्थ होता है। यही कारण है कि, पूर्णज्ञानमय वेद और वेदसम्मत शास्त्रसमूह शुद्धा-शुद्ध विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेककी आज्ञा हाथ उठाकर देते हैं ॥ ६४ ॥

त्रिविधाऽऽकाशसम्बन्धश्च ॥६३॥ शुद्धाशुद्धस्पर्शास्पर्शाधिकारि ॥ ६४ ॥

प्रथम प्रमाण देते हैं—

विष्ठादिसे प्रथम ॥६५॥

शुद्धाशुद्ध-विचार और स्पर्शास्पर्श-विचार अन्नमयकोषकी प्रधानतासे कैसे हो सकता है, उसके लिये एक उदाहरणसे औदाहरणका रहस्य समझाया जाता है। विष्ठा-मूत्रादिके सम्बन्धसे स्थूलशरीरका अशुद्ध होना और स्थूल शरीरमें स्पर्श-दोषका पहुँचना जैसे सम्भव है, वैसे जल-मृत्तिका आदि द्वारा उस स्पर्शदोष और अशुद्धताका नाश होना भी सिद्ध है। इस प्रकारसे अन्नमयकोषके स्पर्शास्पर्श और शुद्धाशुद्धका रहस्य समझना उचित है। वेद और शास्त्रोंमें शुद्धाशुद्ध विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेकका जो बहुधा वर्णन है, वह सभी अन्नमयकोष अर्थात् स्थूलशरीरके सम्बन्धसे नहीं है। जिन जिन शुद्ध पदार्थोंका इसप्रकारका सम्बन्ध स्थूलशरीरके सम्बन्धसे हो सकता है, उसके विज्ञानका दिग्दर्शन इस उदाहरणसे कराया गया है। मल अन्नमयकोषके बुरे परिणामको कहते हैं, यह दार्शनिक शब्द मल उस बुरी शक्तिको कहते हैं जो शरीरमें जड़ता और तमोगुणको बढ़ाती है। अशुद्ध पदार्थोंके छूने और लग जानेसे शरीरमें मलशक्ति बढ़ जाती है और शुद्धिसे मलशक्ति घट जाती है। इसी प्रसंगमें इतना कहना आवश्यकीय है कि, शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें जितना विचार किया है, उसके मूलमें त्रिगुणविचार और अधिदैवविचारका बड़ा सम्बन्ध रक्खा गया है। अधिदैवविचारका उदाहरण गङ्गाजल आदि समझना उचित है और गुणविचारका उदाहरण मधु, पलाण्डु, गोमूत्र, गोमय आदि समझने योग्य है। मधु हिंसासे प्राप्त होनेपर भी सत्त्वगुण वर्धक होनेसे पवित्र माना गया है। उसीप्रकार पलाण्डु मूल होनेपर भी तमोगुणवर्धक होनेसे अपवित्र माना गया है। इसीप्रकार गोमय आदि गौका मलमूत्र होनेपर भी उसके सत्त्वगुणके प्रभवासे वह सर्वथा पवित्र माना गया है। इस प्रकारसे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणने दैवराज्यके सम्बन्धको देखकर और सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणोंको देखकर दार्शनिक दृष्टिसे शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेकका मौलिकसिद्धान्त निश्चय किया है। वह सिद्धान्तसमूह काल्पनिक नहीं है, गम्भीर दार्शनिक भित्तिपर स्थित है ॥ ६५ ॥

दूसरा प्रमाण दिया जाता है—

शवादिस्पर्शसे द्वितीय ॥ ६६ ॥

शवआदि स्पर्शके द्वारा जो स्पर्शदोष और अशुद्धता शास्त्रोंमें कही गयी है, वह साक्षात्रूपसे प्राणमयकोषके सम्बन्धसे कही गयी है। उसीप्रकार शवादिस्पर्शके अनन्तर धातु और अग्निस्पर्श द्वारा उस दोषका हान कहा गया है, सो भी उसी प्राणमयकोषके सम्बन्धसे निर्णीत हुआ है। जीव जब लोकान्तरको जाता है, तो प्राणमयकोष ही अन्य कोषोंको लेकर निकल जाता है। उस अवस्थामें शवमेंसे प्राणशक्तिका एकबारही अभाव हो जाता है। इस कारण प्राणरहित शव दूसरे व्यक्तिके प्राणमयकोषकी शक्ति-विशेषको खैंच लेनेका यथा देश-काल-पात्र-सामर्थ्य प्राप्त करता है। ऐसी दशामें शवके स्पर्श-

विण्मूत्रादिभिः प्रथमः ॥ ६५ ॥

शवादिभिर्द्वितीयः ॥ ६६ ॥

कारी व्यक्तिकी रूपान्तरसे प्राणशक्तिके लयकी सम्भावना हो सकती है। उसीके बचावके लिये शास्त्रोंमें शवके स्पर्श करनेसे स्पर्शदोष और अशुद्धताका उल्लेख है। इसी कारणसे स्वजातिद्वारा शव-वहनकी विधि है और इसीकारण शव-स्पर्शके अनन्तर नानाप्रकारसे पवित्र होनेकी विधि है। प्राणमयकोषके सम्बन्धका ही कारण है कि, राजरोगीके शवको प्रायश्चित्तादि द्वारा संस्कृत करके वहन करनेकी विधि भी पाई जाती है। पुराणोंमें इसका ज्वलन्त उदाहरण है कि महाशक्तिशाली पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणहीन विग्रहको स्पर्श करते ही भक्त अर्जुनकी सब शक्ति उस शवमें खिंच गयी थी। इसी उदाहरणसे औदाहरण समझना उचित है कि, बहुतसे शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक प्रधानतः प्राणमयकोषके सम्बन्धसे निश्चित किये गये हैं। दूसरी ओर बहुतसे शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेक अवस्थान्तर होनेसे कई कोषोंके साथ साक्षात्सम्बन्धयुक्त हो जाते हैं। विज्ञानको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। अन्नादि खाद्यपदार्थका शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक अवस्थान्तरसे मनोमयकोष और विज्ञानमयकोषसे भी सम्बन्धयुक्त माने जाते हैं; परन्तु प्राणमयकोषके साथ भी उसका सम्बन्ध है। सुवर्ण, रौप्य, कांसा, मृत्तिका आदिका शुद्धाशुद्ध विवेक भी इसी प्राणविज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। म्लेच्छादि और अन्त्यजादिके स्पर्शसे दूषित अन्न अपना फल प्राणमयकोषमें प्रथम प्रारम्भ करता है। स्पर्शकारीके प्राणकी आकर्षण-विकर्षण शक्ति अन्नको दूषित कर देती है और वह अन्न उदरस्थ होनेपर वही शक्ति ग्रहणकारीके प्राणको दूषित करती है। वही अन्न यदि पापीका हो तो मनोमयकोषको दूषित करके वीर्यमें पहुँचकर शुद्धसृष्टिका बाधक होता है; क्योंकि मन, वायु और वीर्य, तीनोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसी अन्नदोषके विषयमें पितामह भीष्मने प्रमाण करके दिखाया था कि, आसुरी सम्पत्तिके व्यक्तिका अन्नग्रहण करनेसे विज्ञानमयकोष तक मलिन हो जाता है। यही कारण था कि पौत्रवधूको सभामें घृणितरूपसे लाञ्छित होते देखकर भी वे मौन रहे। इससे स्पष्ट हुआ कि, अन्नदोषसे विज्ञानमयकोषतक मलिन होकर बुद्धितकमें विकार उत्पन्न हो सकता है। प्राणमयकोषके सम्बन्धसे शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श विवेककी व्यवस्था अधिक व्यापक है। उपासनाके दिव्यदेशसमूहमें उपासना-पीठके सम्बन्धसे जो स्पर्शास्पर्श और शुद्धाशुद्ध-विचार वर्णाश्रमशृङ्खलामें माना गया है, वह सब प्राणमयकोषके सम्बन्धसे ही माना गया है। सब देवमन्दिरोंमें आर्य्य, अनार्य्य उन्नत और अवनत वर्णके मनुष्यके समानरूपसे प्रवेश नहीं करनेका जो सिद्धान्त है, वह भी प्राणमयकोषके सम्बन्धसे ही है। शूद्र-प्रतिष्ठित दिव्य देवमूर्त्ति आदिको ब्राह्मणके लिये प्रणाम करनेका जो निषेध है, सन्यासीके लिये प्रत्येक पीठको केवल स्पर्श करनेकी जो विधि पाई जाती है, उसका कारण भी यही विज्ञान है। शूद्रद्वारा प्रतिष्ठित देवविग्रह पीठादिमें शूद्रसंस्कार-शक्ति अवश्य निहित रहती है। प्रत्येक देवस्थानमें प्रस्तरादि निर्मित मूर्त्तिकी पूजा नहीं होती, उसमें प्राणमयकोषद्वारा स्थापित देवपीठकी पूजा होती है। वह देवपीठ शूद्र अन्तःकरणके संस्कारसे संस्कृत हो

तो उसको यदि शुद्ध ब्राह्मण प्रणाम करे, तो ब्राह्मण की क्षति नहीं है, उस देवपीठकी प्राणशक्तिकी क्षति होगी। इसी उदाहरणसे अन्य औदाहरणसमूह समझना उचित है। यही कारण है कि, भगवान्‌की पूजामें सबका अधिकार होनेपर भी देवमन्दिर-प्रवेश आदिमें ब्राह्मणादि जातिभेद, उपासना-सम्प्रदाय-भेद और स्पर्शास्पर्श-विचारभेद माना गया है। जब किसी पीठमें प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, तो देवताको उपासक पहले अपने शरीरमें लाकर तब पीठमें उनका स्थापन करता है। इस कारणसे भी पीठमें स्थापनकर्त्ताका संस्कार आदि विद्यमान रहता है। अतः जिस पीठमें स्पर्शास्पर्शकी जैसी मर्यादा है उसमें हानि पहुँचनेसे उस पीठकी शक्तिमें हानि हो जाती है। यही कारण है कि देवमन्दिरोंमें स्पर्शास्पर्शविवेक अधिक रखा गया है। इस प्रकारसे वर्णाश्रमशृङ्खला-मूलक शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेकका अधिकार और उसका विज्ञान अति गम्भीररहस्यपूर्ण है ॥ ६६ ॥

अब तीसरा प्रमाण दिया जाता है।

अशौचादिसे तृतीय ॥ ६७ ॥

ग्रहणाशौच, जननाशौच, मरणाशौच आदि तथा उसका शुद्धिविचार सब मनोमयकोषसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाले हैं, जिसके विज्ञानका मनन करने पर मनोमयकोषके साथ सम्बन्ध रखनेवाला शुद्धाशुद्ध-विज्ञान सरल हो जाता है। सूर्य्यके साथ पृथ्वीका और चन्द्रके साथ पृथ्वीका जो आकर्षण-विकर्षण-शक्तिका सम्बन्ध है, उनसे ज्योतिः तथा प्राणशक्ति आदिका जो सम्बन्ध है, उसको जड़पदार्थवादी भी स्वीकार करते हैं। और दैवीशक्तिको माननेवाले आस्तिक जन तो बहुत कुछ मानते हैं। सूर्य्य-ग्रहणके समय चन्द्रमाके बीचमें आ जानेसे और चन्द्रग्रहणके समय पृथ्वीके मध्यमें आ जानेसे उस स्वाभाविक शक्तिके आने-जानेमें उस समयके लिये पूर्ण बाधा आ जाती है। ऐसे दैवदुर्विपाकके समय इसलोकवासियोंके अन्तःकरणमें बड़ा भारी परिणाम होना स्वभावसिद्ध है। इस परिणामके द्वारा स्पर्शास्पर्श-विवेक और शुद्धाशुद्धिविवेकका शास्त्रानुसार विचार भी विज्ञानानुमोदित है। उसीप्रकार जननाशौच और मरणाशौचका विज्ञान भी अतिरहस्यपूर्ण है। वर्णाश्रमशृङ्खलाके अनुसार जिस कुलका रजोवीर्य शुद्ध है, उसकी तो बात ही क्या है, क्योंकि उसके साथ नित्यपितरोंका बहुत कुछ प्रतिभाव्य स्थापित हो जाता है; साधारण कुलोंमें भी उस कुलकी परलोकगामी आत्माएँ और उस कुलमें आनेवाली आत्माएँ वासना-जालसे उस कुलके साथ विजड़ित रहती हैं। उस वासना-जालके कारण और मोह-सम्बन्धसे आकर्षण और विकर्षणशक्तिके कारण नित्यपितरोंकी प्रेरणासे उस कुलके सब व्यक्तियोंके चित्तपर संयोग-वियोगका प्रभाव पड़ता है। इसमें अधिदैव कारण रहनेसे यह प्रभाव अलक्षित-रूपसे ही पड़ता है। इसी प्रभावके विचारसे जननाशौच और मरणाशौचका शुद्धाशुद्धि-विवेक निर्णीत हुआ है। इन शुद्धाशुद्धि और स्पर्शास्पर्श-विवेकोंके साथ जप-दानादि विधि और ब्रह्मचर्यव्रत आदिका जो सम्बन्ध रक्खा गया है, उसका भी यही कारण है ॥ ६७ ॥

अशौचादिभिस्तृतीयः ॥ ६७ ॥

अब चौथा प्रमाण दिया जाता है—

संसर्गादिसे चतुर्थ ॥ ६८ ॥

संसर्गसे जो सत् असत् प्रभाव पड़ता है, वह साक्षात्‌रूपसे विज्ञानमयकोषपर पड़ता है। इसी कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें संसर्गसम्बन्धीय स्पर्शास्पर्श और शुद्धाशुद्ध-विवेक इसी विज्ञानपर निश्चित किया है। ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकके गृहमें नहीं जाना, उसका संसर्ग नहीं करना, आचारहीन अनार्य मनुष्य और इन्द्रिय-सेवा-परायण म्लेच्छादि तथा दुराचारी और वेश्या आदिके ससर्गका निषेध जो शास्त्रोंमें कहा है और उनका प्रायश्चित्तादिका जो विधान किया है, उसी-प्रकार तीर्थ-दर्शन, देव-दर्शन, साधु-दर्शन और शद्ध तथा पुण्यात्मा-संसर्ग आदिकी जो महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है, सो इसी विज्ञानसे अनुमोदित है। इस प्रकारके अशुभ और शुभ संसर्गके द्वारा एकाधारमें प्राणमयकोष, मनोमयकोष और विज्ञानमयकोष प्रभावित हो जाता है। उनके निकटस्थ वातावरण-से और उस वातावरणकी आकर्षण-विकर्षणशक्तिसे प्राणमयकोष प्रभावित होता है। उनके हाव-भाव, आचार-विचारादिका प्रभाव मनोमयकोषपर पड़ता है और उनके कथनोपकथन और भाव आदिका प्रभाव विज्ञानमयकोषको प्रभावित करता है। इसी कारण संसर्गदोष और संसर्गगुणजनित शुद्धाशुद्धि और स्पर्शास्पर्श-विवेककी आज्ञा और उसका प्रायश्चित्तादि शास्त्रोंमें वर्णित है। इसी प्रकारसे इसी गम्भीर दार्शनिक युक्तिको अवलम्बन करके ईश्वरनिन्दक व्यक्तियोंके स्थानमें और इन्द्रिय-परायण म्लेच्छ आदिकी वासभूमिमें जानेका निषेध शास्त्रमें किया गया है। इसप्रकारसे वर्णाश्रम-शृंखलाके अनुसार अनेक शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक विज्ञानमयकोषमें कार्यकारी होनेसे माने गये हैं। वेद और शास्त्रोंमें शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-निर्णयके विवेक-सिद्धांत जो आर्य्यजातिके अभ्युदय और निःश्रेयसके लक्ष्यसे किये गये हैं, वे सब इसीप्रकार पञ्चकोषपर पड़ने-वाली सूक्ष्मशक्तियोंको योगदृष्टिसे अलौकिक प्रत्यक्ष करके पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने निर्णय किये हैं। वे सब सिद्धान्त गभीर विज्ञानानुमोदित हैं और लौकिक बुद्धिसे समझे न जानेपर भी उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं॥ ६८ ॥

अब पाँचवाँ प्रमाण दिया जाता है—

सदसत्‌के द्वारा पाँचवाँ ॥ ६९ ॥

शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेक वर्णाश्रम-शृङ्खलाका मौलिक सिद्धान्त है। जीवका अभ्युदय और निःश्रेयस उसका लक्ष्य है और मनुष्यमें अस्वाभाविक संस्कारका ह्रास करके स्वाभाविक संस्कारका अधिकारवृद्धि करना उसका रहस्य है। पहले पादोंमें यह सिद्ध हो चुका है कि जीव धर्म-साधन द्वारा पहली अवस्थामें अभ्युदय और अन्तिम अवस्थामें निःश्रेयस प्राप्त करके कृतकृत्य होता है। पहले यह भी सिद्ध हो चुका है कि, वर्णाश्रमधर्मके आचारोंके पालन द्वारा आर्यजातिमें स्वतःही प्रवृत्तिका निरोध और निवृत्तिका पोषण

होता हुआ जितना ही उसमें जीव-बन्धनकारी अस्वाभाविक संस्कारका ह्रास और एक अद्वितीय स्वाभाविक संस्कारकी अभिवृद्धि होती जाती है, उतना ही वह मुक्तिकी ओर अग्रसर होता जाता है। मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयसके मार्गको सरल रखनेके लिये शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेक एक अत्युत्तम शृङ्खला है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि, किस प्रकार पञ्चकोषोंकी शुद्धिकी रक्षा द्वारा यथाक्रम मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता ये पाँचों बढ़ने नहीं पाते हैं। जिन-जिन क्रियाओंसे अशुद्धता होकर आत्माका आवरण बढ़ता जाता हो, जिनके स्पर्शद्वारा वह आवरण घनीभूत हो वह क्रिया सर्वथा विचारपूर्वक अभ्युदय और निःश्रेयस प्रार्थीके लिये त्याज्य है। यह क्रिया स्थूलशरीरसे लेकर सूक्ष्मशरीर और कारणशरीरपर्य्यन्त प्रभाव उत्पन्न करती है। अतः शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकका रहस्य यही है कि, पूर्वकथित मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता बढ़ने न पावे। शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेककी शुद्ध और अशुद्ध क्रिया पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्यके अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष और विज्ञानमयकोषपर कैसा प्रभाव उत्पन्न करती है, उसका सामान्य दिग्दर्शन पहले सूत्रोंमें आ चुका है। अब इस सूत्रमें आनन्दमयकोषपर साक्षात्‌रूपसे कैसी क्रियाओंका प्रभाव पड़ता है, सो कहा जाता है। सत् ब्रह्म और असत् माया है, सत् आत्मा और असत् अनात्मा है, सत् शरीरस्थ कूटस्थ और असत् इन्द्रिय एवं उसके विषय हैं। सत् जगदात्मा जगदीश्वर और असत् दृष्ट तथा अदृष्ट भोग्यपदार्थ हैं। सत् उपास्य इष्टदेव और असत् जगत् है। सत्‌का राज्य प्रत्याहारसे लेकर समाधिपर्य्यन्त है और असत्‌का राज्य द्रष्टा-दृश्यसम्बन्ध करनेवाली त्रिपुटिका सभी विषय है। अतः जिन-जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्रियाओंके द्वारा पूर्वलिखित सत्‌का सङ्ग होता है, उसके द्वारा आनन्दमयकोष निर्मल होता है और उसमें अस्मिता बढ़ने नहीं पाती है और पूर्वकथित असत् विषयोंके सङ्गद्वारा आनन्दमयकोष क्रमशः मलिनताको प्राप्त होता रहता है। इस गहन विषयको समझनेके लिये और दार्शनिक मतभेद निराकरणके लिये यह समझा जाय कि सत् अनुगामी और सत्‌से युक्त सब क्रियाएँ सत् कहाती हैं और ऐसी क्रियाओंसे पञ्चकोष पवित्र हो जाते हैं। मुनिगण इस प्रकार उन्नत शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक द्वारा आनन्दमयकोषको पवित्र रखते हैं और असत्‌से अपवित्रता आ जाने पर सत्‌को स्पर्श करके पवित्र होते हैं ॥ ६९ ॥

प्रसङ्गसे पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया जाता है—

परस्पर सम्बन्धयुक्त भी हैं ॥ ७० ॥

वर्णाश्रम-शृंखला और सदाचारका लक्ष्य जीवका अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्ति करना है। नियमितरूपसे सत्त्वगुण-वृद्धि करते रहना और आत्माको आवरण-करनेवाले पाँचों कोषोंको क्रमशः शुद्ध रखते हुए आत्मज्ञानका उदय करना उसका उद्देश्य है। पाँचोंकोषोंमें मलिनता न बढ़ने पावे, यही शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकका मौलिक रहस्य है। यद्यपि कुछ शुद्धाशुद्धविवेक और

अन्योऽन्यसम्बद्धाश्च ॥ ७० ॥

स्पर्शास्पर्शविवेक आनन्दमयकोषके विचारसे, कुछ विज्ञानमयकोषके विचारसे, कुछ मनोमयकोषके विचारसे, कुछ प्राणमयकोषके विचारसे और कुछ अन्नमयकोषके विचारसे निर्णीत हुए हैं, परन्तु वेद और शास्त्रोंमें उनका अलग-अलग अधिकार नहीं दिखाया गया। इसका प्रधान कारण यह है कि, ये पाँचोंकोष परस्परमें दृढ़रूपसे गुम्फित रहनेके कारण एककी शुद्धि और मालिन्यका प्रभाव थोड़ा-बहुत सबपर पड़ा करता है। एक शरीरको अथवा प्राणको मलिन करनेवाला अशुद्ध पदार्थ अथवा अस्पृश्य विषय तत् तत्कोषको अशुद्ध करता हुआ न्यूनाधिकरूपसे सब कोषोंमें अपना प्रभाव डालता रहता है। एक कोषसे वह शुद्ध अथवा अशुद्धकारिणी क्रिया प्रारम्भ होनेपर भी सब कोषोंको न्यूनाधिक रूपसे प्रभावित करती है; क्योंकि सब कोष परस्पर-सम्बन्धयुक्त हैं ॥७०॥

और भी कहते हैं—

सब त्रिविध भी है ॥ ७१ ॥

शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेकके विषयमें विचारभेद तथा अधिकार-भेद पाया जाता है। देश-भेदके अनुसार भी इन दोनोंका अनेक पार्थक्य देखनेमें आता है। वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, स्त्री-पुरुषभेद, बालक-वृद्धादिभेदसे भी स्पर्शास्पर्श-विवेककी व्यवस्था शास्त्रोंमें पायी जाती है। आचार्योंके मतमें भी अनेक भेद देखनेमें आते हैं। सम्प्रदाय आदिके भेदसे भी भेद-प्रतीति होती है। इसकारण जिज्ञासुओंके शंका समाधानके अर्थ कहा जाता है कि, त्रिगुणभेदके अनुसार विभिन्न अधिकार-भेदके कारण शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेक तथा प्रायश्चित्तादिके विषयमें मतभेद पाया जाता है; परन्तु यह निश्चित सिद्धान्त है कि, अशुद्धता और स्पर्शदोषका प्रभाव जिस कोषसे प्रारम्भ होता है, उसी कोषकी शक्तिको लक्ष्यमें रखकर शुद्धिके निमित्त प्रायश्चित्तका विधान सर्वथा उपादेय समझा जायगा। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि अधिदैव शक्तियुक्त गोदान और गंगा-स्नानादि पुण्यकार्य सर्ववादि-सम्मत माने जानेका कारण भी यही है कि, उनमें अधिदैव-शक्तिकी प्रधानताके कारण त्रिगुण-भेदसे सब अधिकारियोंके लिये वह समानरूपसे हितकर हैं। ये पञ्चकोषके अधिकार परस्परमें गुम्फित रहनेके कारण वर्णाश्रमशृङ्खलाके शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकमें बहुत विचित्रता आ जाती है। यही कारण है कि अन्नकोषका प्रभाव प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय-कोषतकको प्रभावित करता है। इसीविचारसे प्रायश्चित्तका भी निर्णय होना चाहिये। इसमें देश काल-पात्रका विचार अवश्य ही रहेगा, जैसे कि, जितना अन्तःकरण परिमार्जित होगा उतना ही प्रभाव अधिक होगा और दूसरी ओर यह भी है कि यदि व्यक्ति आत्मज्ञानी हो तो उस प्रभावको वह ज्ञानके द्वारा भस्मीभूत भी कर सकता है। प्रायश्चित्तनिर्णयके विषयमें इसी विज्ञानका अनुसरण करना उचित है कि, जिस कोषके साथ जिस दोषका प्राधान्य है, उसीको सम्मुख रखकर व्यवस्था देनी उचित है। इस प्रकारसे वर्णाश्रमशृङ्खलाका सहायक शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक अति दृढ़ दार्शनिक भित्तिपर स्थित होनेसे उसकी

त्रिविधाश्च ॥ ७१ ॥

व्यवस्था परम मंगलकर है और उसके अनुसार आचारका पालन करनेसे तथा विचारके द्वारा प्रायश्चित्तादिकी व्यवस्था रखनेसे आर्य्यजाति और आर्य्यपिण्डके अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग सरल बना रहता है ॥ ७१ ॥

उसी सम्बन्धमे दूसरी आवश्यकता दिखाई जाती है

अधिकारभेदकी आवश्यकता है ॥ ७२ ॥

जिसप्रकार जैवकर्मके अधोगामी स्रोतको रोकनेके लिये वर्ण और आश्रमधर्मकी अत्यन्त उपकारिता इस दर्शनशास्त्रके पूर्वसूत्रोंके विज्ञानमे सिद्ध हुई है, उसीप्रकार जैवकर्मके अधोगामी स्रोतसे जीवको बचाकर उसकी क्रमोन्नतिका मार्ग निश्चित करनेके लिये अधिकारभेदकी भी परमावश्यकता है। मनुष्य अपने पिण्डका अधीश्वर होकर निरङ्कुश हो जाता है। पूर्णावयव होनेसे वह इन्द्रियसम्बन्धमें अत्याचारी तथा प्राकृतिक नियमके विरुद्धाचरण करनेमें समर्थ होकर अपनी प्रकृतिको नीचेकी ओर गिराता रहता है इसी कारण उसको आवागमनचक्रमें बारबार घूमना पड़ता है। उस समय वह अवश्य फल देने योग्य धर्मका आश्रय बिना लिये अपनी क्रमोन्नतिकी सुरक्षा कदापि नहीं कर सकता है। अतः ऐसी दशामें जो जीव जैसा अधिकारी है, उसको उसी अधिकारके अनुसार धर्मसाधन बताया जाय, तभी उसकी उन्नतिका नियम रहना निश्चत होता है। अन्यथा नियमित उन्नति नहीं होती है। अत्यन्त विषयासक्त, कर्मसङ्गी और मलसे ग्रसित व्यक्तिको सकाम कर्मकाण्डका उपदेश हितकर होगा और उससे उसकी उन्नतिका होना निश्चित हो सकता है; उसीप्रकार विषयवैराग्यसम्पन्न, शास्त्रचर्चामें रुचि-रखनेवाला परन्तु आवरणदोषसे दूषित व्यक्तिके लिये ज्ञानकाण्ड नियमित उन्नतिकर हो सकता है। ऐसे ही अन्य उदाहरण समझे जायँ कि, नारीको तपोमूलक धर्माचरण और पुरुषको यज्ञमूलक धर्माचरणका उपदेश देनेसे उभयकी उन्नतिका मार्ग सरल रहेगा, अन्यथा जटिल हो जायगा। गृहस्थको प्रवृत्तिधर्मका उपदेश देनेसे और संन्यासीको निवृत्तिधर्मका उपदेश देनेसे तब क्रमोन्नतिका मार्ग सरल रहेगा अन्यथा जटिल हो जायगा। इसप्रकारके उदाहरणसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, विभिन्न विभिन्न प्रकारके अधिकारियोंको उनके यथायोग्य अधिकारके अनुसार उपदेश बिना दिये जीवकी क्रमोन्नतिका मार्ग कदापि सरल नहीं हो सकता है। अधिकन्तु बुद्धिभेद होनेसे हानि हो सकती है, यथा—अज्ञानीको यदि राजयोगका उपदेश दिया जाय और साधनचतुष्टयसे रहित व्यक्तिको यदि वेदान्तका मनन और निदिध्यासन बताया जाय. इसीप्रकार तत्त्वज्ञानी शिष्यका यदि बहिःपूजा और मन्त्रयोगके साधनोंमें ही फँसाकर रखनेका यत्न किया जाय, तो दोनों प्रकारके शिष्योंकी नियमित क्रमोन्नतिमें ही बाधा नहीं होगी किन्तु उनकी अवनति होना सम्भव है। संसारमें जितने धर्ममार्ग प्रचलित हैं, उनमें अधिकार भेदका क्रम न होनेसे ही वे असम्पूर्ण समझे जाते हैं और सनातन आर्यधर्ममें अधिकारभेदको शृंखला पूर्णरूपसे विद्यमान रहनेसे ही यह नित्यसिद्ध वैदिकधर्म सब अङ्गोंसे पूर्ण माना जाता है। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि जैवकर्ममें यदि अधिकारभेदका विचार रक्खा जायगा तभी साधककी क्रमोन्नति होना निश्चित रह सकता है ॥ ७२ ॥ क्रमशः

अधिकारभेदः ॥ ७२ ॥

'प्रेम-परिणय' या गन्धर्व-विवाह।

लें० श्री पं० किशोरीदास वाजपेयी।

'आर्य-महिला'के पिछले अङ्कमें श्री गोविन्द शास्त्री दुगवेकरका एक लेख विवाह-सम्बन्धी छपा है, बहुत अच्छा, तर्कपूर्ण और अनुभव-उपोद्वेलित। उस लेखके प्रत्येक अंशका समर्थन हम करते हैं। परन्तु वैसे विवाह पाश्चात्य देशोंकी नकलपर इस देशमें नहीं आये हैं। इस देशमें बहुत पहले, वैसे विवाह प्रचलित थे। मनुजीने भी इसका निर्देश किया है; पर ऐसे विवाहोंको अत्यन्त हीनकोटिका बताया है।

शकुन्तलोपाख्यान।

ऐसा जान पड़ता है कि इस तरहके विवाहोंका कटु फल अत्यन्त बीभत्सरूपमें देखकर ही समाजकी आँखें खुली होंगी और तब आर्यविवाहकी पद्धति सबने स्वीकार की होगी। वैसे विवाहोंका ही चित्र शकुन्तलोपाख्यानमें उतारा गया है। दुर्वासा ऋषिके शापकी बात तो कवि-कल्पनाभर है। बहुत दिन बाद शापकी कल्पना की गयी। असली बात तो यह है कि दुष्यन्तने अकेलेमें शकुन्तलाको धोखा दिया और सब्जबाग दिखाये कि तुझे सब रानियोंके ऊपर स्थान मिलेगा, इत्यादि। उसने अपनी कामुकताको प्रेमका नाम दिया और ऐसी चाटुकारिता की, जैसी कि शोहदे लोग ऐसे समय किया करते हैं। अनुभवहीन शकुन्तला बहकावेमें आ गयी। उसने कण्वके आगमनकी भी प्रतीक्षा न की। गन्धर्व-विवाहमें लग्न-मुहूर्त आदि कुछ होती ही नहीं है, न विधि-विधान! बस, एकान्तमें विवाह हो गया। इसका पता कण्वको तब चला, जब प्रकृतिने बताया। तब औषध आदिके द्वारा अपराध गोपनकी चाल न थी। तब ऋषिने शकुन्तलाको दुष्यन्तके पास भेजा; किन्तु वहाँ वह तिरस्कृत हुई। दुष्यन्त जैसे धूर्त इधर-उधर मुँह काला करके भी समाजमें अपना मुख उज्ज्वल रखते हैं। सो शकुन्तलाके पहुँचनेपर उसने फटकार दिया—"निकाल बाहर करो इसे! न जाने कहाँसे कुलटा आ गयी! पता नहीं कौन है और कहाँसे पाप-पङ्कमें डूब आयी है। चली है मेरे सिर थोपने। रानी बनना चाहती है चुड़ैल! धक्का देकर बाहर निकालो बदमाशको!

निकाल दी गयी। चारा भी क्या था? कौन गवाह था कि ब्याह हुआ है कि नहीं! बेचारी रोती-कलपती वापस आयी। अपने कर्मोंका फल पाया। मनुष्य कभी अपनी गलती पर सोचता भी है। बहुत दिन बाद दुष्यन्तने शकुन्तलाको स्वीकार कर लिया, सो भी पुत्र भरतकी तेजस्विता पर मुग्ध होकर!

यद्यपि आजकलके गन्धर्व-विवाहोंमें गवाह, बरातियों-घरातियोंके रूपमें नहीं होते; पर अदालतमें सब कार्रवाई पक्की हो जाती है। किन्तु इससे क्या? जिसे तोड़ना ही है, वह तोड़ेगा ही। जहाँ ऐसे प्रेम-परिणाम या गन्धर्व-विवाह होते हैं, वहाँ तलाकोंका कितना जोर है, आप पढ़ते रहते हैं। यह भी दाम्पत्य-जीवन है क्या? जो सम्बन्ध एकमात्र काम-वासनाको लेकर ही हुआ है, जहाँ धर्म-भावनाका एकान्त अभाव है, वहाँ और हो भी क्या सकता है?

हमारे देशने यही सब छीछालेदर देखकर गन्धर्व-विवाहकी पद्धति उड़ा दी थी। अब भी कोई विचारवान् उसका समर्थक नहीं। मनचले लोगोंकी बात दूसरी है; सो ऐसे लोग कम ज्यादा सभी समाजोंमें सदा रहते हैं और रहेंगे ही। फिर वे पछताते भी हैं।

बहिनका आदर्श

[कहानी कल्याण से]

मेरठमें दो भाई रहते थे। बड़े भाईका नाम था रामनारायण और छोटेका नाम था जयनारायण। एक बहिन थी—नाम था प्रेमा। रामनारायण जमींदारीका काम करते थे। माता-पिता मर चुके थे। जयनारायणको उन्होंने पढ़ा-लिखाकर एम० ए०, एल-एल० बी० करा दिया। वे वकालत करने लगे।

सबसे छोटी बहिन प्रेमा जब विवाह योग्य हुई तो दोनों भाई उसके लिये वरकी खोज करने लगे। रामनारायण थे पुराने विचारोंके सनातनधर्मी, वे प्रेमाके लिये सनातनधर्मी घर-वर खोजने लगे। जयनारायणको नयी दुनियाँ की हवा लगी थी। वे तलाश करने लगे सुधारक घर और वर। इसी बातको लेकर दोनों भाइयोंमें अनबन हो गयी। जयनारायणने वह घर छोड़ दिया। अपनी स्त्रीको लेकर दूसरे मुहालमें रहने लगे। रामनारायणने प्रेमाका विवाह एक सनातनधर्मी युवकके साथ कर दिया। जयनारायण न तो विवाहमें शामिल हुये और न उन्होंने एक पैसा खर्च किया। दोनो भाइयोंमें बोल चाल तक बन्द हो गयी थी।

× × ×

सावनके दिन थे। प्रेमा अपने ससुरालसे वापस आगई थी। एक दिन शामके समय प्रेमा एक नीमके वृक्षपर झूला झूल रही थी। किसी कार्यवश उधरसे जयनारायणबाबू जा रहे थे। जयनारायणकी तरफ प्रेमाकी पीठ थी। उन्होंने बहिनको देख लिया, परन्तु प्रेमाने उनको नहीं देखा था। वकील बाबूने सुना—प्रेमा सावन गा रही थी—

चन्दनकी पटुली, रेशमकी डोरी,
कदमकी शाखा पातली !
श्रीजयनारायण हैं मेरे भैया,
जिनकी बहिन मैं लाड़ली !

वकील बाबूने सोचा—'हैं! जिस बहिनको मैं भूल गया था, वह मुझे याद किये है। जिसके नामसे मुझे घृणा थी, वह मेरे नामको प्रेमसे स्मरण कर रही है।'

यह सुन-सी बात जयनारायण बाबूको खटकने लगी। उनकी सारी शत्रुता हवा हो गयी। बहिन और भाईके लिये वे तड़पने लगे। हर समय चिन्तामें रहने लगे। खाना-पीना छूट-सा गया। एक दिन जुकाम बिगड़ गया और चारपाई पर पड़ रहे।

एक सप्ताह बाद प्रेमाने सुना कि जयनारायण बहुत बीमार हैं। वह डरते-डरते बड़े भाईके कमरेमें गई और बोली—

प्रेमा—बड़े भैया! छोटे भैया बहुत बीमार हैं।

राम०—सुना तो मैंने भी है।

प्रेमा—आप देखने नहीं गये?

राम०—नहीं।

प्रेमा—क्यों? जिनको आपने पुत्रसमान मानकर खिलाया-पिलाया और सिखाया-पढ़ाया, उनको देखनेभी नहीं गये।

राम०—वह बुलाता तो चला जाता।

प्रेमा—यदि न बुलायें?

राम०—तो नहीं जाऊँगा।

प्रेमा—मैं चली जाऊँ—देख आऊँ?

राम०—जिसने तुम्हारे विवाहमें कदम नहीं मारा, तुम बिना बुलाये उसके घर कदम रखने जाओगी? मान-अपमानका भी विचार नहीं है?

प्रेमा—मान-अपमान बार-बार आया-जाया करता है। भैया बार-बार नहीं मिलता।

प्रेमा रोने लगी।

राम०—रोती क्यों हो? मैं मना नहीं करता। परन्तु मैं खुद नहीं जाऊँगा। लो, अभी गाड़ी मँगाये देता हूँ।

नौकर गया और एक घोड़ागाड़ी किराये कर लाया। प्रेमा बैठ गयी। कोचवान आगे बढ़ा। वह वकील साहबका घर जानता था।

कमरेमें पहुँचकर प्रेमाने देखा कि पलंगपर छोटे भाई बेहोश पड़े हैं। एक तरफ उनकी स्त्री खड़ी है और दूसरी तरफ एक डाक्टर खड़ा है।

डाक्टर—केस होपलेस! मगर घबड़ाना नहीं चाहिये।

वकील बाबूकी स्त्रीका नाम था-रमा। वह बोली—

रमा—होपलेस? फिर भी न घबड़ाऊँ? इसके क्या मानी?

डाक्टर—एक उपाय भी है।

रमा—वह क्या?

डाक्टर—इनके शरीरका खून सूख गया है।

रमा—जी हाँ! शरीरका ढाँचामात्र रह गया है।

डाक्टर—नसें खुलकर दिखाई दे रही हैं।

रमा—खाते-पीते कुछ नहीं। कभी थोड़ी-सी चाय लेते हैं।

डाक्टर—क्या कभी कुछ कहते भी हैं?

रमा—कुछ नहीं। कभी कभी कह उठते हैं— 'जिनकी मैं लाड़लो!'

डाक्टर—इसका क्या मतलब?

रमा—मैं नहीं जानती।

डाक्टर—'भाई सी' यही सन्निपातका लक्षण है।

रमा—कौन सा उपाय बतला रहे थे, डाक्टर साहब! मेरे पास जो कुछ है—सब ले लीजिये; परन्तु इनके प्राण बचा लीजिये।

डाक्टर—प्राण बचाना परमात्माका काम है! डाक्टरका काम है कोशिश करना। वकील साहब खुद मेरे दोस्त हैं। मैं आपसे कुछ भी लेना नहीं चाहता।

रमा—उपाय बतलाइये ।

डाक्टर—उपाय कठिन है । बहुत कठिन है ।

रमा—कठिनसे कठिन उपाय भी सरल हो जाता है ।

डाक्टर—एक छटाँक शुद्ध खून चाहिये ।

रमा—क्या कीजियेगा ?

डाक्टर—वकीलसाहबके शरीरमें प्रवेश करा दूँगा । बस, फिर ठीक हो जायेगा ।

रमा—मेरे शरीरसे रक्त निकाल लीजिये ।

डाक्टर—आप पहले तो गर्भवती हैं और दूसरे आप कृश हैं । गर्भवतीका खून लेना ठीक नहीं । कहीं आप भी बीमार पड़ गयीं, तो और भी परेशानी होगी ।

'मैं मोटी हूँ—मेरा खून लीजिये !' प्रेमाने आगे बढ़कर डाक्टरसे कहा ।

डाक्टर—तुम कौन हो ?

प्रेमा—वकीलसाहबकी छोटी बहिन ।

डाक्टर—आप मोटी हैं । बहिन हैं इसलिये खूनमें सजातीयता भी है । और खून साफ, शुद्ध तथा लाभप्रद भी है ।

रमा—आप रहने दीजिये ।

प्रेमा—क्यों भावज ?

रमा—आपके विवाहमें हमलोग शामिल नहीं हुये थे ।

प्रेमा—सो क्या हुआ ?

रमा—आपको हमलोगोंसे घृणा नहीं है ?

प्रेमा—नहीं ।

रमा—क्यों ?

प्रेमा—बहिनका आदर्श यह नहीं है कि वह किसी भूलके कारण अपने भाईसे घृणा करे । भाई चाहे कैसा ही हो—वह भाईही है ।

रमा—वास्तवमें हमलोगोंसे भूल हो गयी ।

प्रेमा—भूल तो फिर दुरुस्त हो सकती है । भाई कहाँ मिलेगा ? वह भाई जिसके लिये भगवान् रामतक रोये थे ।

'मिलई न जगत सहोदर भ्राता !'

भाईसाहब बने रहेंगे तो मुझे मान भी दे सकते हैं, धन भी दे सकते हैं । या कुछ भी न दें—फिर भी वे मेरे भाई हैं । देना-लेना दूसरी चीज, प्रेम दूसरी चीज ।

डाक्टर—आप खुशीसे अपना खून दे रही है ?

प्रेमा—निःस्वार्थ तथा हार्दिक प्रसन्नताके साथ ।

डाक्टर—एक छटाँक खून ?

प्रेमा—एक छटाँक—एक पाव—या जितने खूनसे भाईको आराम हो जाये ।

डाक्टर—शाबाश ! बहिन हो तो ऐसी !

प्रेमा—किस जगहका खून लीजियेगा ?

डाक्टर—हाथों का खून अच्छा होता है । लेकिन शायद आपको हाथोंके खूनसे तकलीफ हो । इसलिये पैरोंका खून डाल दिया जायेगा ।

प्रेमा—पैरका खून ! भाईके शरीरमें !

डाक्टर—तो फिर ?

प्रेमा—मेरे कलेजेका खून लेकर मेरे भाईके कलेजेमें डाल दो, डाक्टर साहब !

डाक्टर—शाबाश ! बलिहारी है इस त्यागकी !

प्रेमा—देर मत कीजिये ।

डाक्टर—आपकी दोनों बाहोंकी नससे खून लिया जायेगा ।

प्रेमा—चाहे जिस अंगको काट डालिये ।

डाक्टरने दोनों बाहोंसे एक छटाँक खून

निकाला। प्रेमाने 'उफ' तक न किया। वकील-साहबके शरीरमें वह खून प्रवेश करा दिया गया।

× × ×

एक सप्ताहमें ही जयनारायणबाबू स्वस्थ हो गये। वे रामनारायणके कमरेमें आये। प्रेमा भी वहीं बैठी थी।

जयनारायणने आकर रामनारायणके चरणों-पर अपना सिर रख दिया और रोने लगे। रामनारायणने उनको उठाया और छातीसे लगा लिया। रामनारायणकी आँखें भी बरस रहीं थीं।

जय०—भाई साहब! मेरी भूल क्षमा कीजिये। मैंने सुधारके भूतको विदा कर दिया है।

राम०—क्षमा किया।

जय०—मुझे फिर अपने घरमें रहनेकी आज्ञा दीजिये।

राम०—आज्ञा क्या देना, मकान तुम्हारा है। तुम्हीं चले गये थे। मैंने कब कहा था कि मकानसे निकल जाओ।

जय०—नहीं, आपने नहीं कहा था। आप पिताजीके समान हैं। आपने मुझे लिखाया-पढ़ाया और योग्य बनाया है।

राम०—आज ही आ जाओ।

जय०—प्रेमा बहिन!

प्रेमा—भैया।

जय०—मेरी हिम्मत नहीं पड़ती जो तुम्हारी नजरसे अपनी नजर मिलाऊँ।

'सम्मुख होइ न सकत मन मोरा!'

प्रेमा—क्यों?

जय०—मैं भाईका आदर्श भूल गया, परन्तु तुम बहिनका नहीं भूली।

प्रेमा—हिन्दू संस्कृतिके अनुसार बहिनका जो आदर्श है, उसीका पालन मैंने किया है। अपना कर्त्तव्य पालन किया है। इसमें यदि कोई तारीफ है तो मेरी नहीं—हिन्दू-संस्कृतिकी तारीफ है।

× × ×

दूसरे दिन जयनारायणबाबू इसी घरमें आ गये। तीन महीने बाद प्रेमाका द्विरागमन हुआ। वकीलसाहबने रुपये खर्च किये। बहिनको जेवर और कपड़े अलग दिये। बहनोईके चरण स्पर्श किये। घंटेभर उनसे बातचीत करके उनके दिलका मैल भी धो डाला।

सच है—बहिनके प्रेमकी थाह नहीं है।

महात्मा कौन?

स्वयं अमानी होकर दूसरोंको मान देता है, वह महात्मा है, जो जीवमात्रका अकारण हितकारी है, कभी किसीकी हिंसा नहीं करता है, वह महात्मा है, जो दूसरोंके बड़ेसे बड़ा अपराधको क्षमा कर सकता है, वह महात्मा है। जिसकी इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि अपने अधीन है, वह महात्मा है। परोपकार जिसका स्वभाव है, जो विरोधीसे भी प्रेम तथा स्नेह करता है, वह महात्मा है। इन्द्रियोंके उत्तम भोग उपस्थित रहनेपर भी जिसका मन विकृत नहीं होता है, वह महात्मा है। जिसके लिये सारा संसार अपना कुटुम्ब है, वह महात्मा है।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिका है। भारतीय संस्कृतिका प्रचार, महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इनका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीखतक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिये। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५ किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६ सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस. कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९ क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१० लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायेगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापनदाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्नभाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
„ „ तीसरा पृष्ठ	२५)	„
„ „ चौथा पृष्ठ	३०)	„
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	„
„ १/२ पृष्ठ	१२)	„
„ १/४ पृष्ठ	८)	„

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

क्रोड़पत्र

क्रोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

प्रकाशक—श्री मदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारस कैंट।

मुद्रक :—श्री कालाचाँद चटर्जी, कमला प्रेस, गोदौलिया, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्की सचित्र मासिक मुखपत्रिका

फाल्गुन-चैत्र २००६ ❀ वर्ष—२१, संख्या ११-१२ ❀ फरवरी-मार्च १९५०

प्रधान सम्पादिका :—

श्रीमती सुन्दरी देवी, एम. ए., बी. टी.

कम्बु कुन्देन्दु कर्पूर गौरं शिवं,

सुकर सच्चिदानन्द कन्दं।

सिद्ध सनकादि योगीन्द्र वृन्दारका,

विष्णु-विधि-वन्द्य चरणारविन्दं॥

ब्रह्मकुल वल्लभं सुलभमति दुर्लभं,

विकट वेशं विभुं वेद पारं।

नौमि करुणाकरं गरल गंगाधरं

निर्मलं निर्गुणं निर्विकारं॥

विषय-सूची

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥

फाल्गुन-चैत्र, सं० २००७ | वर्ष ३१, संख्या ११-१२ | फरवरी-मार्च, १९५०

लोकनाथं शोक - शूल - निर्मूलिनं,

शूलिनं मोह - तम - भूरि भानुम्।

काल - कालं कलातीतमजरं हरं,

कठिन - कलिकाल - कानन - कृशानुम्॥

तमसमज्ञान - पाथोधि - घट - संभवं,

सर्वगं सर्व - सौभाग्य - मूलम्।

प्रचुर - भव - भंजनं प्रणत - जन - रंजनं,

दास 'तुलसी' शरण - सानुकूलम्॥

हिन्दू-संस्कृतिमें विवाहका आदर्श।

(ले० श्रीमती विद्यादेवीजी महोदया)

पृथ्वीकी अन्य सब जातियोंसे हिन्दू जातिकी अपनी कुछ विशेषता है। इस विशेषताकी आधार-शिला इसकी आध्यात्मिकतामें निहित है। हमारे त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने मनुष्यके वैयक्तिक और सामुहिक जीवनका सच्चा सुख, सच्ची शान्ति और सच्चे आनन्दका तत्त्व अपनी दिव्य दृष्टिसे देख लिया था, इस कारण उन्होंने हिन्दू-जातिके प्रत्येक क्रिया-कलाप, आचार-व्यवहार, एवं प्रत्येक चेष्टाओंको आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे कुछ नियमोंद्वारा नियन्त्रित कर दिया था। इसी कारण हिन्दूजातिकी सामान्यसे सामान्य क्रिया-में भी धर्माधर्मका सम्बन्ध बान्धा गया है। हमारा सोना, उठना, स्नान-भोजन करना, हँसना-बोलना, मल-मूत्रत्याग करनाआदि सभी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक चेष्टाओंको धर्मद्वारा इस प्रकारसे नियन्त्रित किया गया है कि, इनको करते हुए हम जिस दशामें हैं, उससे नीचे न गिरें और ऐहलौकिक स्वास्थ्य, सुख-शान्ति और दीर्घायु प्राप्त करते हुए पारलौकिक अभ्युदय तथा सुख शान्तिको भी प्राप्त कर सकें, एवं अन्तमे अपनी आध्यात्मिक उन्नतिद्वारा पूर्णता प्राप्त कर जीवोंके परम प्रिय सखा सुहृद् भगवान्‌के मङ्गलमय चरणोंका भी दर्शन कर कृतकृत्य हो सकें। हमारे सब वेद, पुराण और धर्मशास्त्रोंका सारा प्रयास मनुष्य जीवनके इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये हैं। हिन्दूजाति इन्हीं शास्त्रीय नियमोंसे नियन्त्रित परम्परागत संस्कार-जनित संस्कृतिसे करोड़ों-अरबों वर्षोंसे जीवित चली आ रही है। समय समयके अनेक उथल-पुथलके झंझावात एवं विदेशीय आक्रमण उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके, आज भी वह अपने स्वरूपमें विद्यमान है। यों तो जैसे मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें उत्थान-पतन, विपत्ति-सम्पत्ति आया-जाया करती है, उसी प्रकार जातीय तथा राष्ट्रीय जीवनमें उत्थान-पतन प्राकृतिक नियमसे स्वतः हुआ करता है। क्योंकि संसारकी कोई वस्तु सदा एकसी नहीं रहती न रह ही सकती है। इसी नियमसे किसी समय हिन्दूजाति समस्त पृथ्वीका शासन करती थी, इधर सैकड़ों वर्षोंसे पराधीन रही, अब पुनः भगवान्‌की कृपासे उसकी बाहरी परतन्त्रताकी जंजीर तो टूट गयी है, परन्तु अभी उसकी मानसिक तथा बौद्धिक परतन्त्रता दूर नहीं हुई, क्योंकि हिन्दूओंका एक समूह विदेशीय भाषा, विदेशीय रहन-सहन एवं विदेशीय तथा विजातीय आदर्शका स्वप्न देखता है। उसका हृदय विदेशी है। अस्तु, जिसका आधार ही असत्य है, वह वस्तु कभी स्थायी नहीं हो सकती, जैसा भगवान्‌ने गीतामें कहा ही है—

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् असत्‌का भाव नहीं होता और सत्का कभी अभाव नहीं होता। इसी सिद्धान्तके अनुसार पृथ्वीको सबसे प्राचीन हिन्दूजाति आज भी विद्यमान है, क्योंकि हिन्दूसंस्कृति सत्यपर अवलम्बित है, जहाँ अन्य कितनी ही जातियाँ काल-कवलित हो चुकीं, उनका पृथ्वीपर नाम-निशान भी नहीं रहा।

हिन्दूसंस्कृतिमें विवाह प्रवृत्तिका एक सबसे बड़ा संस्कार है; और उसका कुछ विशेष लक्ष्य भी है। पृथ्वीकी अन्यान्य जातियोंमें विवाह केवल इन्द्रियोंकी तृप्ति और भोगका साधन मात्र है क्योंकि उनके जीवनका लक्ष्य केवल Eat drink

and be marry खाओ, पीओ, मौज करो" है। उनकी संस्कृति उनको यही सीखाती है। हमारी हिन्दूसंस्कृतिमें विवाहका क्या लक्ष्य या आदर्श है, यही यहां विचारणीय विषय है।

मीमांसा-शास्त्रसे सिद्ध है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्रीधारा एवं पुरुषधारा ये दो स्वतन्त्र धाराएँ चलीं यथा कर्ममीमांसा दर्शनमें—

"द्वे धारे स्वयन्त्र रूपत्वात्" धर्मपाद सूत्र ५५

भगवान् मनुने भी कहा है—

द्विधा कृत्वाऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषो भवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें परमात्माने अपनेको दो भागोंमें विभिक्त किया, आधेमें पुरुष और आधेमें नारी हो गये।

भगवानने भगवद्गीतामें भी कहा है।

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धयनादी उभावपि।

अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जानो।

इन दोनोंमें कौन भाग पुरुष और कौनसा भाग स्त्री बना, इस विषयमें भी देवीभागवतमें कहा है, यथा—

स्वेच्छामयः स्वेच्छया द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः॥

स्वेच्छामय भगवान् स्वेच्छासे दो रूप हो गये, वामभागके अंशसे स्त्री और दक्षिण भागके अंशसे पुरुष बने।

इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि, सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्री तथा पुरुषधारा, ये दो धाराएँ पृथक-पृथक चलीं। वे ही दोनों उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजयोनियोंमें स्त्री एवं पुरुषके रूपमें आगे बढ़ती बढ़ती मनुष्य योनिमें पहुंचती हैं। इन दोनोंके सहयोगसे ही सृष्टिका विस्तार होता आया। इसी कारण सृष्टिके प्रत्येक स्तरमें स्त्री और पुरुष-शक्ति विद्यमान है। स्वेदज, अण्डज तथा जरायुजयोनियोंमें स्त्री-पुरुष-धारा प्रत्यक्ष ही है, उद्भिज्ज अर्थात् वृक्षादिमें भी ये दोनों धाराएँ हैं। किसी-किसी उद्भिज्जमें दोनों अलग अलग है; किसी-किसीमें एक ही वृक्षमें वे दोनों शक्तियाँ है। इनके स्त्री-पराग एवं पुंपरागका सम्मिलन भ्रमरोंद्वारा या वायुद्वारा होकर इनकी सृष्टि आगे बढ़ती है। ये ही दोनों शक्तियाँ जड़ राज्यमें भी देखी जाती हैं, जैसे विद्युत शक्तिमें आकर्षणशक्ति Nagative और विकर्षण शक्ति Pasitive ये दोनों विद्यमान हैं, ये दोनों शक्तियाँ अलग अलग रहनेसे कार्यकारिणी नहीं होतीं किन्तु दोनोंको मिला देनेसे पंखे चलते हैं, बत्ती जलती है तथा और अनेक अद्भुत कार्य सम्पन्न होते हैं। मीमांसाशास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि, ये दोनों धाराएँ जबसे प्रारम्भ हुई मनुष्य-योनितक बराबर अलग अलग चली आयी हैं। मनुष्ययोनिमें आनेपर भी साधारण क्रममें ऐसा नहीं होता कि, स्त्री पुरुष हो जाय, अथवा पुरुष स्त्री बन जाय। साथ ही यह भी विज्ञान-सिद्ध और प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि, बिना दोनोंके सहयोगके सृष्टिका कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता है। दोनों अलग अलग रहकर कुछ भी नहीं कर पाते। जैसा मूलमें देखा जाता है कि, परम पुरुष परमात्मा विना अपनी शक्तिके निष्क्रिय बन जाते हैं। उनका सारा ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य उनकी शक्ति प्रकृतिके कारण ही है। विना शक्तिके वे कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ हैं। गीतामें भगवान्ने इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है यथा—

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।"
"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।"

इसी प्रकार उनकी शक्ति भी विना भगवान्के सान्निध्यके जड़ हो जाती है। वह जो कुछ संसारका सृजन करती है, वह परमपुरुष परमात्माकी अध्यक्षतामें उन्हींके लिये करती हैं यथा भगवान्ने कहा ही है—

"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्॥"

अर्थात् "मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्‌को उत्पन्न करती है।" इस प्रकार यही देखा जाता है कि, परम पुरुष परमात्मा विना अपनी प्रकृतिके निष्क्रिय 'शव' बन जाते हैं और उनकी शक्तिरूपिणी प्रकृति भी विना उनके अधिष्ठानके कार्यकारिणी नहीं होती, क्योंकि वह जड़ है, अतः ईश्वरकी ईश्वरता उनकी शक्तिपर अवलम्बित है और शक्तिकी तो सत्ता ही शक्तिमान्‌पर अवलम्बित है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि, दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। दर्शन-शास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि, स्त्री-धारा पुरुषधारामयी होकर ही कैवल्यकी अधिकारिणी होती है यथा—

"स्त्री धारा पुंधारामयी कैवल्याधिकारिणी।"

(कर्ममीमांसा दर्शन धर्मपाद सूत्र ५६)

मनुष्ययोनिमें आनेतक ये दोनों धाराएं नियमितरूपसे प्राकृतिक नियमसे क्रमशः आगे बढ़ती रहती हैं, क्योंकि मनुष्य-योनिके पहलेके योनियोंके जीव अपने शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक असम्पूर्णताके कारण असमर्थ रहते हैं, अतः वे प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन नहीं कर पाते हैं, इस कारण उनकी क्रमोन्नति अबाधितरूपसे होती रहती है; उसी क्रमोन्नतिके क्रमसे वे मनुष्ययोनिमें पहुंच जाते है। मनुष्ययोनिमें पहुंच कर दोनों पूर्णावयव स्त्री तथा पुरुष बन जाते है। यहां उनके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोषोंका पूर्ण विकास हो जाता है, साथ ही उनको प्राकृतिक नियमोंपर बलात्कार करनेकी शक्ति भी आ जाती है; अतः यहां प्रकृतिके नियमोंका उल्लङ्घन कर अनर्गल अनियन्त्रितरूपसे विषयोंका भोग और मनमाना आहार-विहार करनेसे इनकी अधोगति होने लगती है। विवाहका प्रथम उद्देश्य स्त्रीधाराको पुरुषधारामें मिलाकर उसे मुक्तिकी अधिकारिणी बनाना, तथा दोनोंकी अनर्गल अनियन्त्रित पशु-प्रवृत्तियों नियन्त्रित कर दोनोंकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐहलौकिक, पारलौकिक, तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनोंके मधुर समन्वयसे दोनोंकी पूर्णता एवं सांसारिक सुख-शान्ति प्राप्त कराना है। इस विवाह-संस्कारके द्वारा स्त्री और पुरुष दोनों अपनी-अपनी अनर्गल भोग-प्रवृत्तियोंको एक दूसरेमें केन्द्रीभूत एवं नियन्त्रित कर आत्मसंयम और आत्मत्यागके अभ्यासद्वारा परस्परके आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक बनते हैं। इसीलिये स्त्रीके लिये एक पातिव्रत्य और पुरुषके लिये भी एक-पत्नी व्रतधर्म ही प्रशस्त एवं आदर्श है।

विवाहका दूसरा प्रधान उद्देश्य उत्तम धार्मिक सन्तानकी उत्पत्तिद्वारा पितृऋणसे उऋण होना तथा प्रजातन्तुकी रक्षा करना है। यह केवल पुरुष-जातिके लिये है। पुरुष-जातिके ऊपर देवऋण, ऋषिऋण, तथा पितृऋण, ये तीन ऋण हैं, यथा भगवान् मनुजीने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्"

अर्थात् तीनों ऋणोंको शोध कर मनको मोक्षमें लगाना चाहिये।

अधीत्य विविधान् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

अर्थात् वेद-वेदाङ्गोंके स्वाध्यायसे ऋषिऋण, यज्ञोंके अनुष्ठानसे देवऋण और धर्मानुकूल पुत्रोंत्पादनद्वारा पितृऋणसे उऋण होकर मोक्षमें मन लगावे। इन्हीं उद्देश्योंसे भगवती श्रुति भी कहती है—प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। अर्थात् प्रजातन्तु विच्छिन्न मत करो। इत्यादि।

विवाहका तीसरा उद्देश्य स्त्री एवं पुरुषके मधुर पवित्र समन्वय तथा सामञ्जस्यद्वारा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवनकी सुव्यवस्था एवं सुख-स्वास्थ्य-शान्तिकी रक्षा करना है। विवाहके इन तीनों प्रधान उद्देश्योंमें प्रथम

उद्देश्य दोनोंके लिये समान है; दूसरा केवल पुरुष-के लिये है और तीसरा व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र तीनोंके लिये है।

जैसा कि, ऊपर कहा गया है, स्त्री एवं पुरुष-जातिमें मौलिक भेद होनेसे दोनोंकी प्रकृति और प्रवृत्तिमें भी मौलिक भेद है। जैसे मूल प्रकृति परम पुरुषके अधीन है, उसी प्रकार उसकी अंशभूता स्त्री-जातिका पुरुष-जातिके अधीन रहनेका स्वभाव है, वह कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकती। इसी कारण स्त्रीजातिके लिये पातिव्रत्यधर्मका विधान है, जो उसकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल भी है, और यही स्त्री-जातिके लिये सीधा सरल सुरक्षित उन्नतिका मार्ग है। इसी कारण भगवान् मनुने स्त्री-जातिकी स्वतन्त्रताका निषेध किया है। लोक-व्यवहारमें भी देखा जाता है कि, जो स्त्रियाँ उच्छृङ्खल होकर अपने पिता, भ्राता, पति, पुत्रआदि स्वजनोंका संरक्षण नहीं मानतीं, या जिनका ऐसा कोई संरक्षक नहीं है, वे अनुचित-रूपसे किसी अन्य पुरुषका नियन्त्रण मानती ही है और विपथगामिनी हो जाया करती है, क्योंकि स्वतन्त्र रहना उसका स्वभाव ही नहीं है। हजारोंमें कोई एक स्त्री ऐसी होती है, जो स्वतन्त्र रहकर भी अच्छी तरह अपना जीवन निर्वाह करती है, प्राचीन कालमें भी कुछ देवियाँ ऐसी हुई है, परन्तु यह साधारण नियम नहीं, अपवाद मात्र है। विवाहरूपी पवित्र संस्कारके द्वारा स्त्री अपनी स्वाभाविक प्रकृति, प्रवृत्ति और अधिकारके अनुकूल पति-तन्मयताद्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति करती है और पुरुष अपनी उच्छृङ्खल पशु-प्रवृत्तिओंको धर्मानुकूल नियोजित कर देव-ऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋकसे मुक्त होकर अन्तमें निःश्रेयसका अधिकारी बन जाता है। विवाह-संस्कारके समय कन्या जिन प्रतिज्ञाओंके साथ वरको आत्मसमर्पण करती है और वर उसे स्वीकार करता है, उनसे भी इन्हीं सिद्धान्तोंकी पुष्टि होती है, यथा—

तीर्थव्रतोद्यापनयज्ञदानं
मया सह त्वं यदि किन्नु कुर्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥
हव्यप्रदानैरमरान्पितॄंश्च
कव्यप्रदानैर्यदि पूजयेथाः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं द्वितीयम्॥
कुटुम्बरक्षाभरणे यदि त्वं
कुर्याः पशूनां परिपालनञ्च।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं तृतीयम्॥
आयव्ययौ धान्यधनादिकानां
पृष्ट्वा निवेशं च गृहे निदध्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं चतुर्थम्॥
देवालयारामतडागकूप-
वापी विदध्या यदि पूजयेथाः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं च पञ्चमम्॥
देशान्तरे वा स्वपुरान्तरे वा
यदा विदध्याः क्रयविक्रयौ त्वम्।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं च षष्ठम्॥
न सेवनीया परपारकीया
त्वया भवोद्भाविनी कामिनीति।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं
जगाद कन्या वचनं च सप्तमम्॥

अर्थात् तीर्थ, व्रतोद्यापन, यज्ञ, दान, हव्यदान-

द्वारा देवताओंका पूजन, कव्यदानद्वारा पितरोंका पूजन, कुटुम्बकी रक्षा एवं पालन, पशु-पालन, आय-व्ययआदिकी व्यवस्था, देवालय, बाग, तड़ाग, कूप, वापी आदि बनवाना, स्वदेश या परदेशमें क्रय-विक्रय जो कुछ तुम करोगे, सबमें मैं तुम्हारी सदा वामाङ्गिनी रहूंगी। तुम कभी परकीया स्त्रीका सेवन नहीं करोगे। इत्यादि और भी—

धनं धान्यं च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद् गृहे।
मदधीनं च कर्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत्॥
कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद् वचः॥
पतिभक्ति रता नित्यं क्रीडिष्यामि त्वया सह।
त्वदन्यं न नरं मंस्ये तृतीये साऽब्रवीदियम्॥
लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत्॥
आर्ते आर्ता भविष्यामि सुख-दुःख विभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत्॥
यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥
अत्रांशे साक्षिणो देवा मनोभाव प्रबोधिनः।
वञ्चनं न करिष्यामि सप्तमे सा पदे वदेत्॥

वधू कहती है कि, धन-धान्य-मिष्टान्नआदि जो कुछ घरमें है, सब मेरे अधीन रहेगा। मैं सदा मधुरभाषिणि, कुटुम्बकी रक्षाकरनेवाली, दुःखमें धीर और सुखमें प्रसन्न रहूंगी। पतिपरायणा होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूंगी, तुम्हारे सिवाय अन्य किसी पुरुषको पुरुष ही नहीं समझूंगी। गन्ध, माला, लेपन, भूषणआदिसे तुम्हें प्रसन्न करूंगी। मैं सदा तुम्हारे दुःखमे दुःखिनी सुखमे सुखिनी हो तुम्हारी आज्ञाका पालन करूंगी। यज्ञ, दान, होम तथा अन्य सभी धर्म, अर्थ, कामके साधक कार्योंमें सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। मेरी इन प्रतिज्ञाओंमें अन्तर्यामी देवतागण साक्षी रहें, मैं कभी तुम्हारी वञ्चना नहीं करूँगी। इत्यादि प्रतिज्ञाएँ सप्तपदी गमनके समय वधू करती है, अनन्तर वर उनको इन शब्दोंमें स्वीकार करता है—

ओं ममव्रते ते हृदयं दधामि
ममचित्तमनु चित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
प्रजापतिष्ट्वा वियुनक्तु मह्यम्॥
मदीयचित्तानुगतं च चित्तं
सदा ममाज्ञा परिपालनं च।
पतिव्रता धर्मपरायणा त्वं
कुर्याः सदा सर्वमिमं प्रयत्नम्॥

अर्थात् अपना हृदय मेरे काममें लगाओ अपना चित्त मेरे चित्तके अनुरूप करो. मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनकी सेवा करो। प्रजापति तुम्हें मुझे प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त करें। तुम पतिव्रता, धर्मपरायणा सदा मद्गतचित्ता, मेरी आज्ञाकारिणी और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कार्य करनेमें तत्पर रहो।

इस प्रकार विवाहरूपी पवित्र संस्कार-सूत्रमें वर-वधूको आबद्ध कर दोनोके उच्छृङ्खल अनर्गल भोग-प्रवृत्तियोंको संयमित और नियन्त्रित किया जाता है तथा दोनोंको धर्मानुकूल काम-अर्थका सेवन तथा धर्मार्जनमें प्रवृत्त किया जाता है। वस्तुतः पति-पत्नीमें पवित्र प्रेम तथा एकात्मतासे ही गार्हस्थ्य जीवनकी सुख-शान्ति, उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति और दोनोंकी आध्यात्मिक उन्नति होती है। पति-पत्नीमें अटूट प्रेम दोनोंकी प्रकृति-प्रवृत्तियोंके मेलसे ही सम्भव है; इसी कारण हमारे धर्माचार्योंने विवाहके पहले वर-वधूके लक्षण, कुल, शील, वय, जाति तथा जन्मपत्र मिलाना आदि अनेक विषयोंपर विचार करनेका विधान किया है। इन्हीं कारणोंसे हमारे यहां असवर्ण विवाह, स्वगोत्र विवाह वरसे अधिक वयवाली

कन्यासे विवाह आदि धर्म-विरुद्ध होनेसे वर्जित है यथा महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

अविलुप्तब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥

अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थ होनेके लिये अपने अनुरूप अपनेसे भिन्नगोत्रीया अपनेसे अल्पवयस्का तथा जिसका पहले किसीके साथ विवाह न हुआ हो, ऐसी कन्याके साथ विवाह करे। स्मृतिशास्त्रोंमें आठ प्रकारके विवाहोंका वर्णन पाया जाता है, यथा मनुस्मृतिमें —

ब्राह्मो दैवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाऽष्टमोऽधमः ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और पैशाच, ये आठ प्रकारके विवाह होते हैं। इनके लक्षणोंके विषयमें मनुजीने कहा है कि, कन्याको वस्त्र-अलङ्कारादिसे सुसज्जित कर विद्वान् शीलवान् वरको बुला कर कन्या-दान करनेका नाम ब्राह्मविवाह है। यज्ञमें यज्ञकर्ता ऋत्विक्को वस्त्र-अलङ्कारादिसे सुसज्जित कन्याका दान करना दैव-विवाह है। यज्ञादि धर्मकार्यके लिये वरसे एक या एक जोड़ा बैल या गौ लेकर विधिपूर्वक कन्यादान करनेको आर्षविवाह कहते है। "तुम दोनों मिलकर गृहस्थधर्मका आचरण करना" ऐसा कहकर विधिवत् वरकी पूजा करके कन्या-दान करना प्राजापत्य विवाह कहाता है। अपनी इच्छासे कन्याके कुटुम्बियोंको या कन्याको धन देकर जो कन्यासे विवाह किया जाता है. उसका नाम आसुर विवाह है। कन्या और वरके परस्पर अनुरागसे जो संयोग होता है, उसको गान्धर्व विवाह कहते हैं। कन्याके सम्बन्धियोंको मार-काट कर उनका घर तोड़ कर रोती हुई और किसी रक्षकको पुकारती हुई कन्याको बलपूर्वक हरण कर विवाह करना राक्षस विवाह है और निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला अथवा किसी अन्य तरहसे उन्मत्ता स्त्रीके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करके जो विवाह किया जाता है, उसको पैशाच विवाह कहा जाता है। इन आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे केवल प्रथम चार प्रकारके विवाहोंको प्रशस्त कहा गया है। शेष चारकी निन्दा की गयी है, यथा—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवाऽनुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥
इतरेषु च शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥

अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, इन चार प्रकारके विवाहोंसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, वे ब्रह्मतेजसे युक्त और शिष्टप्रिय होती है। ऐसी सन्तान सुन्दर, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी पर्याप्तभोग-सम्पन्न, धार्मिक होती है और सौ वर्षतक जीवित रहती है। शेष चार प्रकारके विवाहोंसे क्रूर, मिथ्यावादी, धर्म और वेदके द्वेषी पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्रीविवाहसे अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्री-विवाहसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है। अतः निन्दित विवाहोंका त्याग करना चाहिये।

इन उपर लिखित आठ प्रकारके विवाहोंमेंसे ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य केवल इन चार प्रकारके विवाहोंद्वारा विवाहके जो तीन उद्देश्य या लक्ष्य है, उनकी सिद्धि होती है, शेष गान्धर्व आसुर, राक्षस और पैशाचविवाहोंके द्वारा उच्छृङ्खल, पाशव प्रवृत्तियोंकी ही वृद्धि होती है। उनसे उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती, न उनसे कौटुम्बिक, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवनके सुख-स्वास्थ्य एवं शान्तिकी रक्षा होती है। अतः वे

निन्दनीय तथा त्याज्य कहे गये हैं। यही हिन्दू संस्कृतिमें विवाहका आदर्श है।

यहांतक हिन्दूसंस्कृतिके अनुसार विवाहका आदर्श एवं उसका शास्त्रीय स्वरूपपर विचार किया गया, जिससे विवाहका लक्ष्य एवं आदर्श स्पष्ट हो जाता है। अब प्रसङ्गसे कुछ शङ्काएं सामने आती हैं, जैसे भगवान् कृष्णने रुक्मिनीका हरण कर विवाह किया था, अर्जुनने भी सुभद्राका हरण करके विवाह किया था। सीताका विवाह स्वयम्वरसे हुआ था। ये सब विहित विवाहोंमें नहीं हैं। इसका समाधान यह है कि, प्राचीन कालमें बड़े क्षत्रिय राजाओंमें स्वयंवरकी प्रथा पचलित थी, उसमें कन्या स्वयं अपना वर चुन लिया करती थी; अथवा कन्याका पिता उत्तम वरके चुनावके लिये वरके बल वीर्य और पौरुषकी परीक्षाके लिये ऐसा कुछ अद्भुत् कार्य रखता था, जिसे साधारण मनुष्य नहीं कर पाता था। जो उस अद्भुत कार्यको कर सकता था, उसको वह अपनी कन्याका विधिवत दान किया करता था, जैसा सीताके पिता महाराज जनकने तथा द्रौपदीके पिता महाराज द्रुपदने किया था। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितिवश बलवान् क्षत्रियोंमें गान्धर्व आसुर या राक्षसादि विवाह होनेपर भी पुनः घर लाकर कन्याके साथ विधिवत् प्रशंसनीय विवाहोंकी विधियाँ भी की जाती थी।

आजकल विवाहका जैसा ढङ्ग चलने लगा है, उससे विवाहकी पवित्रता पहले ही समाप्त हो जाती है। २५-३० वर्षकी अवस्थातक लड़कियोंको अविवाहित रखनेसे उनका हृदय पातिव्रत्य-संस्कारके उपयुक्त नहीं रह जाता है। हमारे शास्त्रोंमें विवाहका काल ऋतु-दर्शनके पहले है। इस विषयमें सभी स्मृतिकार एकमत हैं कि, कन्याका विवाह रजोदर्शनसे पहले हो जाना चाहिये। इसका कारण थोड़ा ही विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है। ऋतु होना कन्याके स्त्रीत्वकी पूर्णताका सूचक है। स्त्रीत्वकी पूर्णता होते ही कन्याकी दृष्टि पुरुषकी ओर जाना स्वाभाविक और प्रकृतिके नियमके अनुकूल ही है। अतः कन्या अपनेको स्त्रीरूपमें अनुभव करते ही पुरुषरूपमें अपने पतिको ही देखे, अन्य पुरुषपर उसकी भोग-बुद्धि उत्पन्न ही न होने पावे, इस आदर्श सतीत्वकी रक्षाके लिये रजोदर्शनसे पूर्व कन्याका विवाह कर देनेकी आज्ञा सब महर्षियोंने दी है। कन्या-कालमें कन्याका विवाह संस्कार होनेसे ही आदर्श सतीत्वकी रक्षा होनी सम्भव है, अन्यथा नहीं। विदेशीय अनुकरणसे शिक्षित समाजमें युवती विवाहकी प्रथा चलने लगी है, उससे न तो सतीत्व धर्मकी पूरी रक्षा हो सकती है, न पति-पत्नीमें वैसा आदर्श प्रेम हो सकता है और न पारिवारिक तथा सामाजिक सुख-शान्तिकी रक्षा होना सम्भव है। इसका स्वरूप कुछ-कुछ सामने आने भी लगा है।

कुछ थोड़े विदेशी तथा विजातीय सभ्यता-संस्कृतिके पक्षपाती लोगोंको छोड़कर शेष करोड़ो मनुष्य जो भारतीय संस्कृतिके पक्षपाती हैं और अपने ऋषि-मुनियोंकी आज्ञाओंका अनुसरण करनेवाले हैं, उनको भी कानून बना कर विवश किया जारहा है कि, कन्याओंको युवती बनाकर विवाह करे। अतः इस अवस्थामें संस्कारकी रक्षाके लिये कन्याओंके वाग्दानकी प्राचीन प्रथा दृढ़ करनी चाहिये। अब भी देशके किसी-किसी भागमें वाग्दानकी प्रथा प्रचलित है। इस समय आपत्कालके अनुसार कन्यावस्थामें अथवा रजोदर्शनसे पूर्व यदि कन्याका विवाह न किया जा सके तो कन्याका वाग्दान करके इस पवित्र संस्कार एवं प्राचीन मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये।

इति शम्

—:o:—

प्राचीन भारतके सामाजिक जीवनमें स्त्रियोंका स्थान।

(ले०—श्रीमती प्रियम्वदा माथुर बी० ए० सरस्वती)

[प्रस्तुत प्रबन्धकी लेखिकाने इसमें प्राचीन भारतीय समाजमें स्त्रियोंके स्थानका मनोहर एवं स्वाभाविक चित्र चित्रित किया है। इसमें दिखाया गया है कि प्राचीन भारतमें यहांकी देवियोंने जो अति गौरवान्वित महत्त्व तथा आदरका स्थान प्राप्त किया था, वह अधिकारकी लड़ाईका मोर्चा बनाकर अथवा सर्वस्व नाशकारी हिन्दूकोड बिल जैसे बिलोंकी मांग करके नहीं किन्तु अपने लोकोत्तर त्याग, तप, आत्मसंयम तथा सेवाके द्वारा प्राप्त किया था; जिन पवित्र गुणों को अपनानेसे अधिकार ठुकराने पर भी स्वतः लालायित होकर अपने पास आजाता है। अतः हम आर्यमहिला के पाठिकाओंके लिये यहां इसे 'कल्याण' मे उद्धृत करते हैं] सम्पादिका।

पाश्चात्य शिक्षा एवं प्रचारके प्रभावसे भारतमें भी आज नारीके अधिकारका आन्दोलन चल पड़ा है, पर वस्तुतः नारीका अधिकार मांगने और देनेके प्रश्नसे बहुत ऊपर है। भारतीय नारीका प्राचीन इतिहास इस विषयके लिये एक प्रोज्ज्वल प्रतीक बनकर आज भी हमारे समक्ष उपस्थित है। हम उसे किस प्रकाशमें देखते हैं, यह हमारे अपने दृष्टिकोणपर निर्भर हैं, परन्तु जीवन की सरलतायुक्त ज्ञानगम्यता कोमलतायुक्त दृढ़ता और त्यागमयी उपभोगप्रियता आदि गुण नारीका एक सर्वाङ्गसम्पूर्ण सुधा सुन्दर सरस-चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो सर्वांशमें पूर्ण है, जिसे संसारसे कुछ लेना नहीं है। वह हमारी देवी अन्नपूर्णा है—देना ही जानती है, लेनेकी आकाङ्क्षा उसे नहीं।

वह सेवाको अपना अधिकार समझती है, इसलिये देवी है; वह त्याग करना जानती है, इसलिये साम्राज्ञी है; विश्व उसके वात्सल्यमय अञ्चलमें स्थान पा सकता है, इसलिये जगन्माता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, संसारसभीको अपना-अपना भाग मिलता है नारीसे, फिर वह सर्वस्व दान देनेवाली महिमामयी नारी सदा अपने सामने हाथ पसारे खड़े हुए इन भूलोक-वासियोंसे क्या माँगे और क्यों मांगे? प्राचीन भारतकी नारी समाजमें अपना स्थान माँगने नहीं गयी थी, मञ्चपर खड़े होकर अपने अभावोंकी माँग पेश करनेकी आवश्यकता उसे कभी प्रतीत ही नहीं हुई और न विविध संस्थाएँ स्थापित करके उसमें नारीके अधिकारोंपर वाद-विवाद करनेका उसे अवसर ही मिला। उसने अपने महत्त्वपूर्ण क्षेत्रको पहचान लिया था, जहां खड़ी होकर वह सम्पूर्ण संसारको अपनी निःस्वार्थ सेवा और त्यागके सुधा-प्रवाहसे आप्लावित कर सकी थी। नारीकी सरलता और मातृत्वका गौरव लेकर वह निर्द्वन्द्व भावसे अपने कर्तव्य लीन रहती थी। समाजमें उसका एक अलौकिक स्थान था। आजकी नारी उपभोगकी वासना लेकर समाजके समक्ष आती है अपना अधिकार माँगने विवाह-विच्छेदके नियम बनते हैं, सम्पत्तिमें नारीको अधिकार मिलता है। परन्तु समाजके लिये नारीका यह रूप अभिनन्दनीय नहीं है। उसे आज समाजमें स्थान अवश्य मिला हैं, पर वह मिला है वासनाओंकी मोहावृत प्रतिमूर्तिके रूपमें, पूजनीया स्वर्गादपि गरीयसी माताके रूपमें नहीं। और इसीके फलस्वरूप आजकी सामाजिक संस्थाएँ हैं—क्लब, कालेज तथा अन्य विविध सोसायटियाँ। अवश्य ही युगपरिवर्तनके साथ हमारे आचार-विचारमें और हमारे अभावआवश्यकताओंमें परिवर्तन होना

अनिवार्य है; परन्तु जीवनके मौलिक सिद्धान्तोंमें विभेद होना कदापि इष्ट नहीं, स्रष्टाकी रचनामें नारी और पुरुष दोनोंका ही महत्त्व है। वे एक दूसरेके पूरक हैं और इसी रूपमें उनके जीवनकी सार्थकता भी है। यदि नारी अपने क्षेत्रको तिलाञ्जलि देकर पुरुषके क्षेत्रमें अधिकार माँगने जायगी तो असफलता निश्चित ही है। यदि उस सर्वद्रष्टा यन्त्रीको नारी और पुरुषके क्षेत्रमें विभिन्नता नहीं रखनी होती तो बूढ़े ब्रह्मदेवको नारी-पुरुषकी शरीर-रचनामें इतने प्राकृतिक विभेद रखनेकी कौन सी आवश्यकता थी। नारीकी कोमलता और पुरुषका ओज गुण विशिष्टतामें समान होते हुए भी समान धर्म नहीं कहे जा सकते।

हमारी प्राचीन हिन्दू संस्कृतिमें गृहस्थ जीवनको एक यज्ञका स्वरूप दिया गया था और उस यज्ञमें स्त्री अर्धाङ्गिनीके रूपमें पुरुषको सहयोग प्रदान करती थी, जिसका अत्यन्त सौम्य रूप हमें कवि-कुलगुरू महाकवि कालिदासके शब्दोंमें यों मिलता है—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्॥
(रघुवंश १।५६)

निर्जन बनस्थलीमें ऋषिराज वसिष्ठ अपनी भार्या अरुन्धतीके साथ सायंकालकी होमक्रिया सम्पन्न कर रहे हैं। नारीशिक्षाका कैसा देदीप्यमान उदाहरण है? अशिक्षित नारी क्या इस प्रकार सहयोग प्रदान करनेमें समर्थ हो सकती थी? यह यज्ञका स्थूल स्वरूप था। परन्तु जब इसी यज्ञकी भावना अन्तर्मुख होजाती है, तब नारीका समस्त जीवन ही यज्ञमय होकर एक पवित्र साधनाका रूप धारण कर लेता है। भगवान् श्रीरामने यदि व्रत धारण किया था पितृ-वचन-पालनका तो सती सीताने उस यज्ञको पूर्ण करनेके लिये उनका अनुगमन किया और अन्तमें सीता-वन-वास भी क्या सीताके पक्षमें यज्ञ ही नहीं था? प्रजापालक राम क्या सीताकी त्याग-भावनाके अभावमें रामराज्यका ऐसा सुन्दर चित्र समुपस्थित करनेमें समर्थ होते? वह उनके जीवन यज्ञकी अर्धाङ्गिनी थी। त्यागमें ही उसका गौरव था और अपने प्राप्यको कठिन तपस्या करके ही पाया था; राज्याधिकारियोंके फरियाद करके नहीं।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय नारीके जीवनकी सफलताका रहस्य त्यागमें—तपश्चर्यामें है, उपभोगमें नहीं। जगन्माता पार्वतीकी अलौकिक साधना तपस्याकी साकार प्रतिमा बनकर नारीके आदर्शका मानो यथार्थ चित्र उपस्थित कर रही है—

सुनि बोली मुसुकाइ भवानी।
उचित कहेउ मुनिवर विज्ञानी॥
तुम्हरे जान कामु अब जारा।
अब लगि संभु रहे सविकारा॥
हमरें जान सदा सिव जोगी।
अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
(रामा० बा०)

उस पवित्र त्यागमय जीवनकी पवित्रताका अनुमान भी क्या आजके वातावरणमें लगाया जासकता - जहां माता पार्वती पतिकी अनुकूलतामें वासनाओंकी तृप्ति नहीं वरन् उनसे लोक हितकारी राम-कथा सुननेकी अभिलाषा रखती हैं।

पति हियँ हेतु अधिक अनुमानी।
बिहँसि उमा बोली प्रिय बानी॥
कथा जो सकल लोक हितकारी।
सोइ पूँछन चह सैल कुमारी॥
(रामचरितमानस)

काम उनके जीवनकी सौम्यताका विनाश करनेमें समर्थ नहीं था। उसने उनके जीवनमें यज्ञका रूप धारण किया था और फलस्वरूप

महात्मा कार्तिकेय और आदिवन्द्य गणपतिका जन्म हुआ, जिनकी गौरव-गरिमा आजतक अक्षुण्ण बनी हुई है। यही था मदन-मर्दनका रहस्य और यही थी उस अज अनवद्य महादेवकी विभूति, जिसके समक्ष अद्रिसुता अनेक जन्मोंकी तपस्याको भी यथेष्ट नहीं मानती—

जनम कोटि लगि रगर हमारी।
बरौं संभु नत रहौं कुआरी॥

यह था प्राचीन हिन्दू संस्कृतिमें नारीका पत्नीरूप जिसमें कोई प्रतिद्वन्द्विता, कोई संघर्ष नहीं है। एक अनुगामित्व धर्म है, जो मानो विश्वचक्रकी पूर्तिके निमित्त नारीद्वारा सहज स्वाभाविक रूपसे अपना लिया गया था। पतिमें प्रभुकी मूर्ति प्रतिष्ठित करके वह अपनत्वका समर्पण कर देती थी और वह आत्मनिवेदन इतना पूर्ण, इतना गंभीर, इतना व्यवस्थित होता था कि कोई परिस्थिति, कोई संकट, कोई विपद् उसे उसकी स्वात्मस्थितिसे च्युत करनेमें समर्थ नहीं थी। यही उनके जीवनकी साधना थी, और इसी साधनका आश्रय लेकर जब वह इस क्षुद्र अहंकी सीमाको लाँघ जाती थी, तब प्रकृति उसके आगे शीश झुकाती थी; ब्रह्माण्डकी समस्त शक्तियां उसके अलौकिक तेजके समक्ष व्यर्थ, निष्प्रभ हो जाती थी। सृष्टि उनके इङ्गित पर नाचती थी। ऐसी स्थितिमें यदि कुष्ठरोग-पीड़ित पतिकी साध्वी स्त्री शाण्डिली सूर्यकी गति रोक दे तथा उसके प्रभावसे वह महासामर्थ्यवान् भगवान् भास्कर एक ही स्थान पर अचल हो जायँ अथवा साक्षात् यमराज यदि वचन-बद्ध होकर सावित्रीके स्वामीके जीवनको लौटा दें, तो इसमें विस्मय ही क्या?

आधुनिक युग आपत्ति कर सकता है कि ये सब सत्युगकी बातें हैं, कलियुगमें इनकी सम्भावना नहीं, राजपूतानेका स्वर्ण इतिहास आज भी विलुप्त नहीं हुआ है। चूड़ावत सरदारकी नवोढ़ा पत्नीका अपूर्व बलिदान आज भी कनकाक्षरोंमें जगमगा रहा है। नारीका सहयोग पुरुषको बन्धन नहीं मुक्तिके रूपमें मिलना चाहिये। सौंदर्यकी मूर्ति और कोमलताकी प्रतिमा वह सरदार पत्नी अपने जीवनकी इस महत्ताको मधुरतम क्षणोंमें भी विस्मृत नहीं कर सकी थी। क्षणिक सौंदर्यका क्या मूल्य है और उसका सदुपयोग किस तरह किया जा सकता है इसे वह जानती थी और फलस्वरूप मुण्डमाल सरदारके जीवनकी प्रेरणा बनकर उसे देशके प्रति अपना कर्तव्य निष्पन्न करनेमें समर्थ कर सकी। कितनी दृढ़ता थी उस कोमल हृदयमें। परन्तु ये देवियाँ देह और प्राणकी सङ्कुचित सीमाओंसे ऊपर उठी हुई थीं। इन्होंने अपने पतिसे अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया था एक ऐसे धरातल पर जहाँ वियोगकी सम्भावना नहीं, जहां स्थूल शरीरका विच्छेद उनकी अभेद-स्थितिमें बाधक नहीं बन सकता। ऐसे कितने ही उदाहरण हमें राजपुतानेके इतिहासमें उपलब्ध हो सकते हैं और वहांके जौहर-यज्ञने तो मानों नारीकी पवित्रताको अग्निमें तपाकर एक अत्युज्ज्वल स्थायी प्रभा प्रदान कर दी।

हां, राजपूताने के इतिहासको भी शताब्दियाँ बीत चुकी हैं, परन्तु प्रातः स्मरणीया मां शारदा और कस्तूरबा तो आधुनिक युगकी ज्योतिष्मती देवियाँ थीं। वे अशिक्षिता थीं, विद्यालयकी कोई उपाधि उनके पास नहीं थी, परन्तु अपने राजनीति अनुराग-सुधासे विश्वको आप्लावित करके वे माताएँ आजभी मानो भारतीय नारी आदर्शकी संरक्षा कर रही हैं। वे माताएँ समाजमें अपना स्थान खोजने नहीं गयी थीं, पर समाज ही उनके वात्सल्यका भिखारी होकर उनके आंचलकी छायामें अभयदान माँगने जाता था। वासना और उसकी तृप्तिका उनके जीवनमें कोई स्थान नहीं था। महात्मागान्धी स्वीकार करते हैं कि, उनके "महात्मापन" का श्रेय उन्हें नहीं, कस्तूरबाको है। अस्तु

नारीका पत्नीरूपसे भी अधिक महत्वपूर्ण

और गौरवशाली स्वरूप है उसके मातृत्वमे। मातृत्वमें मानो पत्नीत्व पूर्णत्वको प्राप्त हो जाता था; परन्तु वह मातृत्व मोहका बन्धन बन कर सन्तानकी वास्तविक प्रगतिमें बाधक नहीं बनता था। माता कौसल्याका वात्सल्यमय कोमल हृदय यद्यपि राम-वियोगकी आशङ्कासे शतधा विदीर्ण हो रहा था, तथापि उनका मातृत्व उन सभी कोमल भावनाओंसे ऊपर रामको आदेश दे रहा था—

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौं जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेहु बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥

और माता सुमित्रा—

पुत्रवती युवती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी।
राम बिमुख सुत तेहित जानी॥
(रामचरितमानस)

अपने तरुण, नव-विवाहित पुत्र लक्ष्मणको अग्रजानुगामी बनाकर वन-वासकी अनुमति प्रदान करती है। लक्ष्मणका त्याग सराहनीय है; परन्तु इसका श्रेय लक्ष्मणको नहीं उनकी माता सुमित्राको है, उनकी नवोढ़ा पत्नी उर्मिलाको है, जिन्होंने अनुरागकी वेलामे विरागको, संयोगके स्वर्णक्षणमें दीर्घ वियोगको अपना सौभाग्य समझ कर प्रसन्नतासे वरण कर लिया था।

हमारी पुरातन माताएँ अपनी सन्तानोंको निर्माण करती थीं, उन्हें आदर्शके साँचेमें ढालती थीं और तब उन्हींमें आदर्श यथार्थ सम्भाव्यतामे मुखरित हो उठता था। कुन्ती माताने अपने पुत्रोंको प्रेरित किया था क्षत्रिय नारीके स्तन-पानको संग्राम-भूमिमे सार्थक बनानेके लिये। माता मदालसाका वह राग—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि,
संसार माया परिवर्जितोऽसि।

उसके पुत्रोंके लिये एक स्थायी प्रेरणा बन गया और इस संसारकी वास्तविकताको पहचानकर वे जीवनमुक्तकी अवस्थाको प्राप्त हुए। मदालसाका मातृत्व सफल होगया। ऐसे अनेक उदाहरण हमें हिन्दूसंस्कृतिके प्राचीन इतिहासमें मिलेंगे। वीर शिवाजीकी माता जीजाबाई और समर्थ गुरु रामदासकी पूजनीया माताके उपदेश विस्मृत नहीं किये जा सकते। क्या आजकी माता कोईभी निश्चित आदर्श लेकर अपनी सन्तानका पालन करनेमें प्रवृत्त होती है? आज भारतवर्ष दरिद्र है,—इसलिये नहीं कि उसके पास धन अथवा शस्त्रकी कमी है, वरं उस पवित्र पत्नीत्व और मातृत्वका अभाव हो गया है, जिसकी दिव्यतापर प्राचीन भारतकी समृद्ध शान्त और प्रोन्नत अवस्था आश्रित थी। आजकी भारतीय नारीमें उस आध्यात्मिक तत्वका अभाव है, जिसके एकमात्र धरातलपर जगत्की यावत् सफलताएँ निर्भर करती हैं।

पत्नीत्व और मातृत्व—यह नारीका प्रकृति-प्रदत्त क्षेत्र था, जिसमें रहकर वह एक सुदृढ़ और सुसंगठित राष्ट्रका निर्माण करती थी। समय पड़नेपर बाह्यक्षेत्रमें भी उनकी योग्यताके अपूर्व चमत्कार हमे प्राचीन इतिहासमें देखनेको मिलते हैं। महारानी दुर्गावती और लक्ष्मीबाईको जगत् विख्यात वृत्त उदाहरणके लिये उपस्थित किये जा सके हैं, और राजपूतानेके इतिहासमें तो वीराङ्गनाओंके व्यवस्थित राज्य-सञ्चालन और अपूर्वरण कौशलकी अगणित गाथाएँ छिपी पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त गार्गी जैसी विदुषी महिलाएँ भी भारतके पुण्यक्षेत्रमें प्रादुर्भूत हुई थीं; जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर शास्त्रोंके पठन-पाठन और ब्रह्मानुभवमें जीवन व्यतीत कर दिया। कुछ भी हो, प्राचीन भारतीय नारीके सभी

स्वरूपोंमें एक प्रकारकी सात्विकता थी, एक सौम्यता थी, एक दिव्यत्व था, जो समाजके शिरोभागको विभूषित करता था, इस स्थानको प्राप्त करनेके लिये उसे कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता था, वरन् अपने प्राकृतिक गुणोंकी सहज अभिव्यक्तिमें स्वभावसे ही उसे वह पुण्यपद प्राप्त था। दुःख है कि, आजकी कृत्रिम सभ्यतामें नारीके तपःपूत स्वभावको उसे माया मोहित करके बुरी तरहसे छीन लिया है। अथवा यों कहें, नारीने बाह्य संसारकी चकाचौंधसे प्रभावित होकर उसे स्वयं ही खो दिया है। अन्यथा भारतीय समाजमें नारीके स्थानके विषयमें तो दीर्घ कालीन युगोंके पहले ही महाराज मनु व्यवस्था कर गये हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
(मनु ३।५६)

—

मनोव्यथा

शक्ति नहीं गानेकी मुझमे
गा कर तुझे रिझाऊँ।
रुद्ध कंठसे मनो व्यथाको
कैसे हाय सुनाऊँ॥
जीवनके दुर्द्धष व्यूहमें
फँसा हुआ मैं बन्दी।
कालचक्रमे नाच रहा हूँ
कैसे तुझको पाऊँ॥

मोहन वैरागी

जीवन पथ

मृत्यु लिये जाती है मुझको
जीवन-पथकी ओर।
मिलता है न विराम घड़ीभर
पथका ओर न छोर॥
नित्य नये आते है सम्मुख
जटिल चढ़ाव-उतार।
पड़ती कितनी रात राहमे
होते कितने भोर॥

मोहन वैरागी

हिन्दू संस्कृति और हिन्दू कोडबिल।

(लेखिका—श्रीमती निर्मला देवी श्रीवास्तव्य)

असन्तोषका विषय है कि इस समय धारा-सभामें 'हिन्दू कोडबिल' स्वतंत्र रूपसे पास होने जारहा है; भारतकी वैदिक संस्कृति की मर्य्यादाको मिटानेवाला यह 'कोडबिल' गृहदेवियोंको बाहर निकलनेके लिये बाध्य कर रहा है कि वह इस बिलका विरोध करें जिससे केन्द्रीय सरकार इसको पास न कर सके। राष्ट्रके निर्माणमें जितना महत्वपूर्ण स्थान नारीका है उतना पुरुष वर्गका नहीं! भारतकी नारी वीराङ्गनाओंमें गिनी जा चुकी है और इतिहास इसके लिये साक्षी है! भारतकी ही नारी समय पड़ने पर विनाशिनी दुर्गा बनकर दुष्टोंका दमन करनेकी क्षमता रखती हैं; रानी दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, अनसूया आदि जो शक्ति कर्म भूमिमें दर्शा चुकी है, वह आश्चर्यान्वित करने वाली है! उन सबमे उनकी चेतना शक्ति; पातिव्रत्य एवं आदर्शवादिता की ही विकसित भारतीय संस्कृति है। अत: ऐसे आदर्शवादी देशके लिये 'हिन्दू कोडबिल' शोभा नहीं देता, जहाँ एक पति पर ही जीवन सर्वस्व निछावर कर देना कमनीयता एवं भारतीयता की जाग्रत विभूति है।

सामाजिक तथा आर्थिक जीवनमें उथल-पुथल मचानेवाला यह 'हिन्दू कोडबिल' नारी जगत्मे घातक कानून बनकर कुचक्र चलानेको प्रस्तुत होनेवाला है। इससे पारिवारिक सामाजिक एवं धार्मिक जीवनमें प्रतिशोधकी भावना आविर्भूत होगी। जिस शासनके सूत्रधार श्रद्धेय पंडित नेहरूजी हैं। ऐसा कानून निर्धारित करना कदापि उचित नहीं है। आज हिन्दू-संस्कृतिके उदार भावनाओंसे ही मनुष्योंको सच्चे सुखका मार्ग और सच्ची शान्ति मिल रही है। पंडितजीको हिन्दू संस्कृतिको सड़ी हुई न कहकर आदर्श संस्कृति समझना चाहिये। पाश्चात्य देशोंकी तरह विवाह विच्छेद (Divorce) कानून पास कर हिन्दूओंकी सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात न करें। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि रूस, इंगलैंड, अमेरिका आदि देशोंमे तलाक बिलकी प्रथा प्रचलित है। जिसके कारण वहाँके न्यायालय हजारों नये जोड़ोंसे सुशोभित दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही व्यभिचार और वासनासे नर-नारी सब कर्त्तव्यहीन हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त उनके समाजमें असन्तोषकी भावना जाग्रत हो चुकी है। जगत्में भारतवर्ष सदासे आदर्शवादिताकी ओर आकर्षित रहा; पुरुषवर्ग मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की तरह चरित्रवान् बननेका लक्ष्य रखता था। स्त्रियां सती-सावित्री, अनसूयाकी तरह आर्यललना बननेमें अपनी मर्य्यादा समझती रहीं। भारतीय महिलायें सदासे पतिदेवको अपना आराध्यदेव मानकर पूजन करती रहीं। उसने विदेशी नारियोंकी तरह स्वावलम्बी बनना न जाना। नारीका क्षेत्र सीमित है। उसको पग-पग पर पुरुषके सहयोगकी आवश्यकता है। अत: तलाक बिल-आर्यललनाओंके लिये उपयुक्त नहीं है।

अत: हिन्दू पुरुष एवं नारी दोनोंको राम एवं सीताके आदर्शको अपनाना ही कल्याणकर है। इसीमें हमारी जातिका गौरव तथा विश्वका कल्याण है। अत: हम सबको मिलकर ऐसा प्रचण्ड विरोध करना चाहिये कि हिन्दू कोडबिल कभी पास न हो।

हिन्दू संस्कृति।

(श्रीमती कौशल्यादेवी वर्मा शान्ति)

आज हमारा भारतवर्ष स्वतन्त्र है। चिरकालसे परतन्त्रताके बन्धनोंमें जकड़ा हुआ आर्यावर्त स्वतन्त्र हुआ है, अतः प्रत्येक हिन्दूके हृदयमें प्राचीन संस्कृतिको पुनः विकसित देखनेका उल्लास है। इस अवसर पर प्राचीन संस्कृति पर एक दृष्टि डालना उचितही नहीं अपितु आवश्यक भी प्रतीत होता है।

यों तो बहुतसे ऐसे प्राचीन ग्रंथ है जिनसे प्राचीन भारतीय संस्कृतिपर प्रकाश पड़ता है, किन्तु इसका पूर्ण चित्र रामायण ही देता है। रामायण हमें बतलाता है कि प्राचीन भारतमें स्त्रियोंका कितना महत्व पूर्ण स्थान था। मर्यादा पालनके प्रति कितना विशेष ध्यान दिया जाता था और पारस्परिक स्नेह कितना विशुद्ध और उत्कृष्ट था। शिक्षाभी कितनी बढ़ी चढ़ी थी।

माताका स्थान पितासे ऊँचा है और विमाताका स्थान मातासे भी ऊँचा माना गया है। इस मर्यादाका अतिक्रमण न करनेके विचारसे ही माता कौशल्याने प्राणोंसे भी प्यारे अपने एक मात्र पुत्र रामको वन जानेसे नहीं रोका। कौशल्याजी कहती हैं—

"जो केवल पितु आयसु ताता।
तो जनि जाहु जानि बड़ी माता॥
पितु मात कहेउ बन जाना।
तो कानन सत अवध समाना॥"

कर्तव्य निष्ठा भी उस समय कितनी प्रौढ़ थी। अपने वचनका पालन करना परम कर्त्तव्य माना जाता था। दशरथजीने अपने प्राण दे दिये किन्तु रामचन्द्रजीके बन गमनको रोकना उचित न समझा।

भाई भाईका प्रेम भी आदर्श था। क्या दुनियाँ में कहीं और भी भरत और लक्ष्मण सदृश भाई मिल सकते हैं?

कन्याओंको विवाहके समय जो शिक्षा दी जाती थी उसका वह आजन्म पालन करती थीं। यही कारण था कि घर घर में सुख और शान्तिका निवास था। उन्हें यह शिक्षा दी जाती थी कि वह किसीसे भी अभिमान न करें। घरके सब लोगों और दास दासियोंसे भी उचित वर्ताव करें। पतिकी आज्ञा मानें और उसकी इच्छानुकूल अपना जीवन व्यतीत करें। गुरुजनोंकी सेवा करें और उनको हर तरह से प्रसन्न रखें। घरके सभी कार्योंको स्वयं करें।

यह सब बातें एकांगी न थी। पुरुषोंको भी शिक्षा दी जाती थी कि वह अपनी स्त्रीका आदर सम्मान करे और उसकी सलाहसे गृहस्थी चलावें।

सास पतोहू का सम्बन्ध कितना सुखद तथा वात्सल्य पूर्ण था। आज कल की तरह कलह कहीं देखनेको भी नहीं मिलता था।

हमारी आज कलकी बहुत सी शिक्षित बहनें तितलियोंकी तरह सज्जित होकर केवल विनोदमय जीवन व्यतीत करना ही अपना अधिकार समझती हैं और घरके काम काजसे बिल्कुल दूर रहती हैं।

प्राचीन संस्कृति इसके सर्वथा विपरीत थी। स्त्रियाँ काम करनेमें अपनेको पुरुषोंसे कम नहीं समझती थी और न सुकुमारताका आश्रय लेती थी। भगवान् रामचन्द्रके यह कहने पर कि "हंस गमनि तुम नहीं बन योगू" जानकीने तत्काल उत्तर दिया—

"मैं सुकुमारि नाथ बन योगू।
तुमहि उचित तप मो कह भोगू॥"

आदर्श पातिव्रत्य भी हमें उस समयमें मिलता है। इस धर्मके कारण ही घर स्वर्ग सा सुखमय था।

अब हम अपनी दृष्टि हिन्दू कोडबिल पर डालें। हिन्दू संस्कृति पर कितना कठोर आघात है। कहाँ तो पातिव्रत्यका इतना ऊँचा आदर्श और कहाँ मनमाना तलाक। पति और पत्नीके बीच कोई बन्धन ही नहीं। क्या स्वतन्त्रताका यही स्वरूप है?

पहेली

प्रभु आते हम यहां जगत्‌में
रोनेको या हँसनेको।
मुक्ति बन्धनोंसे पानेको
या जालों में फँसनेको॥
सारा जीवन बूझा करते
निष्फल यह जटिल पहेली।
पैदा होते हम वसुधा पर
मिटनेको या बसनेको॥

—मोहन बैरागी

स्मरणी।

१—वेद और शास्त्र।

हिन्दुमात्रको सबसे पहले यह स्मरण रखना उचित है कि, उनके वेद अपौरुषेय हैं, किसीके बनाये हुए नहीं हैं। वे ब्रह्मलोकमें नित्यरूपसे रहते हैं और प्रत्येक सत्ययुगके आरम्भमें पूज्यपाद महर्षियोंको ज्योंकेत्यों सुनायी देते हैं। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार रेडियो यन्त्रके द्वारा हजारों कोसोंकी बातें घर बैठे सुनायी देती हैं, उसी प्रकार महर्षियोंके सिद्ध अन्तःकरण रूपी रेडियो द्वारा सत्ययुगके आरम्भमें उनको वेद ज्योंकेत्यों सुनायी देते हैं; क्योंकि उनका अन्तःकरण विश्वव्यापक हो जाता है। हमारे यहां जो पांच प्रकारकी पुस्तकें मानी गयी हैं, उनमेंसे नाद पुस्तक ही वेद हैं। शेष सब पुस्तकें भावके द्वारा नित्य कही गयी हैं। अर्थात् वेद पुस्तक ही ऐसी है, जो जैसेकेतैसे शब्दोंमें प्रकट हुई है। शेष पुस्तकें ऋषियों, सिद्धपुरुषों अथवा देवताओंके अन्तःकरणोंमें भावरूपसे प्रकट होकर उनके अपने शब्दोंमें प्रकाशित हुई हैं। इस कारण पुराणादि शास्त्रोंको भी 'स्मृति' शब्दसे अभिहित किया गया है।

२—शिखा और सूत्र।

हिन्दुमात्रको यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, उनका स्थूल शरीर संस्कारके द्वारा देवमन्दिरके रूपमें परिणत हुआ है। हिन्दुओंकी शिखा उस मन्दिरका शिखर है, उसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी स्थापना की जाती है। इस कारण जगत्की अन्यान्य जातियोंसे हिन्दुजाति कुछ विलक्षणता रखती है, सृष्टिके आदिसे अबतक ज्योंकीत्यों बनी हुई है तथा उसमें रजो-वीर्यकी शुद्धिका महत्व विद्यमान है। हिन्दुजातिमें जो द्विज है जिनका संस्कारके द्वारा पुनर्जन्म होता है, वे यज्ञोपवीत धारण करते हैं। यज्ञोपवीतमें तीन लड़ें होती हैं, वे अधिभूतशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और आध्यात्मिकशुद्धिका द्योतक हैं। इसी त्रिविध शुद्धिकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञाके रूपमें यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। शिखा-सूत्रकी मर्यादाको हिन्दुमात्रको सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

३—गोत्र और गायत्री।

यह सदा स्मरण रखने योग्य है कि, सृष्टिके आरम्भमें जो महर्षि हुए, उन्हींके नामसे गोत्र चले हैं। आर्यजाति उन्हींकी सन्तान है। उन गोत्रोंमें जो जो महापुरुष हुए, उनके नामसे प्रवर चलते हैं। अतः प्रत्येक हिन्दुको अभिमान होना चाहिये कि, हम अमुक महर्षिकी सन्तान हैं। गोत्र-प्रवरोंकी एक पुस्तक भी महामण्डलकी ओरसे प्रकाशित हुई है। उसकी प्रतियाँ जबतक विद्यमान हैं, तबतक वे ग्रामपंचायतों, पाठशालाओं और महामण्डलकी शाखासभाओं और धार्मिक-आध्यात्मिक-संस्कृत विश्वविद्यालयके केन्द्रोंको विना मूल्य दी जायगीं। जब सब प्रतियां वितरित हो जायंगी तब उसे महामण्डलकी आज्ञासे कोई भी संस्था छपवा सकती है। यह भी हिन्दुमात्रको ध्यानमें रखना चाहिये कि, संसारके जितने धर्मावलम्बी हैं, वे भगवान्से रोटी, कपड़ा और भौतिक वैभवकी याचना करते हैं; परन्तु एक हिन्दुजाति ही ऐसी है, जो भगवानसे बुद्धिकी प्रेरणा चाहती है। इसी प्रार्थनाको गायत्री कहते हैं। गायत्री-मंत्रव्याख्या नामकी एक पुस्तिका महामण्डलने प्रकाशित की है, जो विना मूल्य दी जाती है। यदि कोई सज्जन या उपर्युक्त संस्थाएं चाहें, तो उसे छपवा कर विना मूल्य बांट सकती हैं। वेद और शास्त्रोंके अनुसार मनुष्यमें अन्तःकरण ही प्रधान वस्तु है। अन्तःकरण चार वस्तुओंसे गठित होता

है। यथा—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। मन इन्द्रियोंका राजा है। जिस इन्द्रियका वह साथ देता है, वही इन्द्रिय काम करने लगती है। अहंकार जीवके जीवत्वको सिद्ध करता है। चित्तका धर्म स्मृति है और बुद्धि निश्चय करती है। बुद्धिका अधिकार सर्वोपरि है। यह श्रीभगवान्के चरण-कमलोंतक जीवको पहुंचा देती है। इसीसे आर्य लोग गायत्री उपासनाके द्वारा भगवान्से बुद्धिकी प्रेरणाकी प्रार्थना करते है।

४—देश और काल।

श्रीभगवान्की तरह देश और काल भी अनादि अनन्त और नित्य है। इसीसे प्रत्येक हिन्दु अपने दैनिक संकल्पमें देश और कालका उल्लेख करता है। महामण्डलके द्वारा इस विषयकी भी 'महासंकल्प' नामक पुस्तक छपी है, जो विनामूल्य दी जाती है। उसको कोई भी छपवा कर विना मूल्य वितरित कर सकता है। यद्यपि देश और काल अनादि-अनन्त हैं, तथापि उपासकगण उपासनाके लिये उनको ससीम बनाकर उपयोग करते हैं। असीम देशको उपासकगण चतुर्दश भुवनों (लोकों) में ससीम कर लेते हैं। ऊपरके सात लोक ये हैं,—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। इसी तरह नीचेके सात लोक ये है—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। ऊपरके सात लोकोंमें देवता और नीचेके सात लोकोंमें असुर निवास करते है। असुर भी एक प्रकारकी देवयोनि ही हैं। इनकी आपसकी लड़ाई अन्तर्जगतमें होती है और मनुष्य-लोक तथा मनुष्य-शरीरमें भी होती रहती है। इनके अवतार भी हुआ करते हैं। जैसे दुर्योधन, रावण-आदि असुरोंके और पाण्डवआदि देवताओंके अवतार थे। चौदह भुवनोंमें ऊपरके लोकोंमें भूर्लोक और भुवर्लोकको भौमस्वर्ग कहते हैं। इन्हींके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र और ग्रह-नक्षत्रादि विद्यमान है। इसीकी सीमामें भुवर्लोक है, जिसे रात्रिके समय उत्तर दिशामें हर एक मनुष्य देख सकता है। हमारा भारतवर्ष अर्थात् हमारा मृत्युलोक भी भौमस्वर्ग ही है। इस भौमस्वर्गमें नौ वर्ष हैं। उनमें हमारा भारतवर्ष ही मृत्युलोक है, जहाँ माताके गर्भसे जीव उत्पन्न होते हैं। शेष आठ वर्ष देवलोक के अन्तर्गत है। जिसे हम पृथ्वी कहते है, वही भारतवर्ष है। उसमें यह हिन्दुस्थान भारत या भारतद्वीप या भरतखण्ड कहाता है। शेष उत्तर कुरुवर्ष, केतुमालवर्ष, हिरण्मयवर्ष किम्पुरुषवर्ष आदि वर्ष देवलोकके अन्तर्गत है। जो बात देशकी है, वही कालकी भी है। वेदों और गीताआदि शास्त्रोंने देशकी तरह कालके भी इसी प्रकार विभाग किये हैं। चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका एक कलियुग होता है। उससे दुगना द्वापरयुग, उससे दुगना त्रेतायुग और उससे दुगना सत्ययुग होता है। इन चारोंका समष्टिका महायुग कहाता है। सत्रह महायुगोंका एक मन्वन्तर और चौदह मन्वन्तरोंका एक कल्प होता है। एक कल्पके कालमें ब्रह्माका एक दिन और उतनी ही उनकी एक रात्रि होती है। इसी हिसाबसे सौ वर्षकी ब्रह्माकी आयु होती है। उनके ब्रह्मस्वरूप हो जानेपर उनके पदपर दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशके अतिरिक्त सब देवपदधारी बदल जाते और उनके स्थानमें नये देवपदधारी आ जाते हैं। ये ही दैवी जगतके पदधारीगण हमारे इस मृत्युलोकके प्रबन्धमें सहायक होते हैं। सब लोग इस बातको समझ नहीं सकते, परन्तु अन्तर्दृष्टिसम्पन्न महात्मा इसको जानते हैं।

५—कर्मकाण्डकी महत्ता।

वेदके तीन काण्ड हैं,—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। परन्तु खेदका विषय है कि, इस कल्पके वेदकी ११८० शाखाओंमेंसे केवल सात शाखाएं ही इस समय मिलती हैं। अन्य सब शाखाएं उपलब्ध नहीं हैं। अतः पुराणआदि

शास्त्रोंसे ही तीनों काण्डोंका विषय अधिकतर जाना जा सकता है। हमारे पूर्वज महर्षियोंने धर्माधर्मके सम्बन्धमें विचार करके निश्चय किया है कि, उक्त तीनों काण्डोंमेंसे कर्मकाण्डका विस्तार बहुत है। इतना न उपासनाकाण्डका है, न ज्ञानकाण्डका इसी कारण वेदकी इतनी अधिक शाखाएँ हैं। ऋषियोंका स्मृतिशास्त्र देखें, तन्त्रशास्त्र देखें, उसमें कर्मकाण्डका ही विस्तार अधिक है। धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको सदाचार कहते हैं। प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातमें सोनेतकके जो व्यापार हैं, वे सदाचारके अन्तर्गत होनेके कारण यह सब कर्मकाण्डका ही विषय है। चमत्कार यह है कि, आर्योंकी आचार-प्रणाली और कर्म-उपासना-ज्ञानकी सब क्रियाएँ अध्यात्ममूलक हैं। कोई देखना चाहे, तो बृहदारण्यकोपनिषद् देखे उससे ज्ञात होगा कि, कर्मकाण्डकी सब क्रियाओंके साथ आध्यात्मिक उन्नतिका कैसा सम्बन्ध है इस कारण कर्मकाण्डकी कोई छोटी या बड़ी क्रिया हो, उसके साथ आध्यात्मिक उन्नतिका सम्बन्ध है, यह समझकर कर्मकाण्डको स्वयं करना चाहिये, और दूसरोंसे भी कराना चाहिये। इस समय कर्मकाण्डका प्रायः लोप हो गया है और यही हिन्दुजाति, हिन्दुधर्म और हिन्दुसंस्कृतिके पतनका कारण है। कर्मकाण्डका सिलसिला बराबर जारी रहे और गृहस्थ सज्जन, पुरोहितवर्ग और ग्रामोंके मुखियाओंको इसका दिग्दर्शन करा दिया जाय, इसी लिये यह पुस्तिका प्रकाशित की गयी है।

६—विवाह और गर्भाधान।

पहले यह कहा गया है कि, आर्यजातिकी जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब अध्यात्म-लक्ष्य-मूलक हैं। पृथ्वीकी सभी जातियोंमें विवाह अथवा स्त्री-पुरुष सम्बन्ध केवल इन्द्रियसुखभोगके लक्ष्यसे ही किया जाता है, परन्तु आर्योंका विवाह-संस्कार आध्यात्मिकलक्ष्यसे ही होता है, जिससे सन्तति उत्कृष्ट हो और आर्यजाति और संस्कृतिकी परम्परा बराबर बनी रहे। इसके लिये विवाहके उपरान्त वधूका जब रजोदर्शन हो जाय, तब गर्भाधानसंस्कार करनेकी विधि है। इस विधिमें देवता, ऋषि और पितरोंकी पूजा कर तब स्त्री-पुरुषका संयोग करनेकी रीति है। आजकलका पुरोहितवर्ग कर्मकाण्ड और शास्त्रादिका अध्ययन नहीं करता और यजमानवर्ग भी इसकी उपेक्षा करते हैं। इसीसे आजकलकी प्रजा धर्मविमुख, उच्छृङ्खल और कदाचारी हो रही है। संस्कारशुद्धि सर्वप्रथम आवश्यक है। संस्कारोंके लोपका प्रधान कारण यजमानोंकी उपेक्षा ही है। यदि वे चाहते हैं कि, हमारे कुलका गौरव अखण्ड बना रहे, तो उन्हें संस्कारोंकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये और योग्य पुरोहितोंको पुरस्कारद्वारा सम्मानित तथा अयोग्य पुरोहितोंको तिरस्कारके द्वारा तिरस्कृत कर संस्कारोंकी प्रणाली सुरक्षित रखनी चाहिये। धर्मशास्त्र और आयुर्वेदादि शारीरशास्त्रके सिद्धान्तानुसार पत्नीके रजोदर्शनसे पहिले उससे सम्भोग करना निषिद्ध है। यद्यपि आजकल संस्कारोंकी प्रणाली उठ गयी है और अधिकांश अविधिपूर्वक ही गर्भाधान किया जाता है, तथापि नव-दम्पतिको इसका अवश्य विचार रखना चाहिये कि, जिनको गर्भाधान-संस्कार करनेका सुभीता नहीं हुआ है, वे पत्नीके रजस्वला होनेके उपरान्त प्रथम सयोगके समय देवता, ऋषि और पितरोंकी कृपाप्राप्तिके लिये उनकी अभ्यर्थना कर फिर संभोग करें। गर्भाधानके समय देवताओं, ऋषियों और अर्यमादि नित्य-पितरोंकी कृपा इसलिये प्रयोजनीय होती है कि, देवताओंकी कृपासे सब प्रकारके उत्कर्षमे सन्तानको सहायता मिलती है, ऋषियोंकी कृपासे वह ज्ञान सम्पन्न होती है और नित्य-पितरोंकी कृपासे जो एक श्रेणीके देवता ही हैं—श्रेष्ठ गुणशाली और दीर्घायु होती है। यह तो प्रत्यक्ष देखा गया है कि, जिस दम्पतिको सन्तान नहीं, उसने काशीमें पिशाचमोचन तीर्थ और

गयामें पिण्डदान किया और उसे सन्तति हो गयी। यह दैवी कृपाका ही प्रभाव है। आजकल विवाहविधि ठीक तरहसे नहीं होती। पुरोहितोंका अज्ञान ही इसका कारण है। परन्तु आर्य गृहस्थ-मात्र इसका ध्यान रक्खें कि सर्वप्रथम देवताओंकी कृपा प्राप्तिके अभिप्रायसे माङ्गलिक नान्दीश्राद्ध करें। सप्तपदीकी परस्पर प्रतिज्ञाएँ करें, लाजाहोमके द्वारा गृहिणी और गृहस्थ त्रिविध वल प्राप्त करें। दृषदारोहणके द्वारा एक दूसरके प्रति दृढ़-सौहृद हों और ध्रुवदर्शनके द्वारा दोनों अटल रहें। हमारे शास्त्रकारोंने विवाह-सम्बन्ध एक जन्मके लिये ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर के लिये भी स्थिर माना है। वह मनुष्यकृत कानूनोंसे तोड़ा नहीं जा सकता। गृहस्थ इसका विचार रक्खें. तो पुरोहित-गण आपही रास्तेपर आ जायंगे।

७—पुरोहितोंका महत्त्व।

आर्यसंस्कृतिमे पुरोहितोका कितना महत्व है, इसका प्रमाण रामायणमें सूर्यवंशी नृपतियोके पुरोहित महर्षि वशिष्ठजीके उदाहरणसे मिलता है। यजमानके कल्याणका पहलेसे ही जो विचार करे, उसे पुरोहित कहते हैं। पुरोहितोके कई प्रकार होते है। जैसे—कुलपुरोहित, ग्रामपुरोहित, तीर्थ-पुरोहित आदि। सब सद्गृहस्थोंको इसका ध्यान रखना चाहिये कि, उनके पुरोहित कर्मकाण्ड तथा धर्मशास्त्रके ज्ञाता है या नहीं। यदि न हों, तो उनको सुयोग्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। इस विषयमे सहायताकी आवश्यकता हो, तो श्री-भारतधर्ममहामण्डलसे परामर्श करना चाहिये। महामण्डलसे ऐसी छोटी छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं, जो इस विषयमें सहायक हो सकती हैं। उनमें संक्षेपमें सरलतासे बड़े बड़े विषयोंका विवेचन किया गया है। जैसे—हिन्दु धर्मका स्वरूप, तीर्थ-देवपूजना प्रश्नोत्तरी, धर्माधर्म-प्रश्नोत्तरी, गायत्रीमंत्रकी टोका, स्मरणी आदि।

८—संस्कारोंका महत्त्व।

शास्त्रोंमें कहा गया है कि, प्रकृतिके स्पन्दनको क्रिया कहते हैं। यह क्रिया चाहे शारीरिक हो, मानसिक हो या बौद्धिक हो, कर्म ही कहाती है। कर्मकी जो छाप अन्तःकरणपर पड़ जाती है, उसीको संस्कार कहते हैं। शास्त्रोंका सिद्धान्त है, कि घटाकाश (घड़ेके भीतरका आकाश), मठाकाश (घरके भीतरका आकाश) और महाकाश (सर्वत्र देख पड़नेवाला आकाश) एक ही है। मनुष्यचाहे सत् हो या असत्—जो कुछ कर्म करता है, उसकी छाप अन्तःकरणपर पड़ ही जाती है और अन्तःकरण सर्वव्यापक होनेसे उस पर पड़े हुए संस्कार महाकाशकी तरह यम धर्मराजके कार्यालयमें अंकित हो जाते हैं। यम-धर्मराजके दो पदाधिकारी हैं, चित्रगुप्त और विचित्रगुप्त जो मनुष्योंके पाप-पुण्यका लेखा रखते है। उस लेखेके अनुसार ही यम धर्मराज न्याय-दान करते हैं। सत् कर्म पुण्यजनक और असत् कर्म पाप-जनक होते हैं। पुण्यसे सुख और पापसे दुःखकी प्राप्ति होती है। पुण्यवानोंको स्वर्गादि लोकोंकी और पापियोंको नरकादि लोकोंकी प्राप्ति होती है। वैदिक दर्शनशास्त्रने यह सिद्ध किया है कि, सब जीवोके किये हुए कर्मोंके संस्कार भगवान् यम-धर्मराजके कार्यालयमे अवश्य अंकित हो जाते हैं। जैसे शब्दसमूह रेडियोयन्त्रके द्वारा सर्वत्र पहुँच जाते है वैसे जीवोंके कर्म-संस्कार भी यम-धर्मराजके कार्यालयमें पहुँच जाते हैं।

आर्यशास्त्रोंमे वैदिक संस्कारोंकी संख्या ४२ कही गयी है और कर्मकाण्डमें उनकी पद्धतियाँ दी गयी हैं। परंतु कालप्रभावसे ४२ संस्कारोंका होना असंभव-सा हो जानेके कारण सौकर्यके विचारसे उनमेंसे प्रधान १६ आवश्यक संस्कार पूज्यपाद महर्षियोंने चुन लिये हैं। उनमेंसे गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण अन्नप्राशन, चूड़ाकरण और उपनयन ये आठ प्रवृत्तिमूलक और ब्रह्मव्रत, देवव्रत, समावर्तन,

उद्वाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत और संन्यास ये आठ निवृत्तिमूलक हैं। अन्यान्य वैदिक, स्मार्त, पौराणिक और तान्त्रिक संस्कार इन्हीं १६ संस्कारोंके अन्तर्भुक्त हैं।

९—भक्ति और उपासना।

भगवान्‌के प्रति प्रेमको भक्ति कहते हैं और भगवान्‌की सान्निध्यप्राप्ति उपासना कहाती है। भक्तिके विषयमें वेदके उपासनाकाण्डके दर्शन दैवीमीमांसाशास्त्रका सिद्धान्त है कि, अपनेसे छोटोंमें जो प्रीति होती है, उसको स्नेह कहते है। अपने बाराबरी वालोंमें जो प्रीति होती है, उसका प्रेम कहा है और अपनेसे बड़े लोगोके प्रति जो प्रीति होती है, वह श्रद्धा कहाती है परन्तु इन तीनोंका मोहसे सम्बन्ध है। मोहको त्यागकर श्रीभगवान्‌के प्रति जो प्रीति होती है, उसीका नाम भक्ति है। भक्ति ही उपासनाका प्राण और अष्टाङ्ग योग उसका शरीर है। दोनोंका साधन एक साथ चले, तब उपासनाकी सिद्धि होती है। एक हिन्दु धर्म ही ऐसा है कि, जिसमें निम्न स्तरसे लेकर सर्वोच्च स्तरतकके उपासकोंके अधिकार देख पड़ते है। अन्य धर्मोंमें एक ही ढङ्गकी उपासना सबके लिये बतायी गयी है। हिन्दुधर्ममें मंत्रयोगके अनुसार मूर्तिध्यान करनेकी विधि है। जैसे—गुरु ध्यान, शिव, विष्णु, जगदम्बा, सूर्य और गणेश इन पंचदेवोंके ध्यान, ओंकारका ध्यान, रामकृष्ण आदि अवतारोंके ध्यान इत्यादि। हठयोगके अनुसार ज्योतिका ध्यान किया जाता है। लययोगके अनुसार बिन्दुध्यान है और राजयोगके अनुसार निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करनेका अधिकार प्राप्त होता है। हिन्दूधर्ममें भूत-प्रेतादि क्षुद्र देवताओंकी उपासना, ऋषि, देवता और पितरोंकी उपासना, शिवोपासना विष्णु-उपासना आदिके अनेक भेद पाये जाते हैं और शक्ति उपासनाका तो बड़ा विस्तार है। निर्गुण ब्रह्मकी उपासना, जो बुद्धितत्वकी सहायतासे की जाती है, वह राजयोगके अनुसार है। इस प्रकार सब तरहके अधिकारोंके उपासकोंके लिये उपासनाके अनेक भेद हैं। वैदिक दर्शनोंमेंसे योगदर्शनने तो भगवान्‌के साक्षात् दर्शन करानेका बीड़ा उठाया है। सबके मूलमें गुरु हैं और इन सब शास्त्रोंके जो ज्ञाता हैं, वे ही गुरु कहानेयोग्य हैं। गुरु बिन कौन बतावे बाट? गुरुके बिना ज्ञानप्राप्ति नहीं हो सकती; परन्तु आजकल गुरुपरम्परा उच्छिन्न हो गयी है और योग्य गुरुओंका अभाव हो रहा है। अतः योग्य पुरुषोंका समादर कर जिससे योग्य गुरुओंकी प्राप्ति हो सके, ऐसा उद्योग करना चाहिये। पञ्च उपासनामें वर्तमान समयमें सूर्यकी उपासना सबके लिये उपयोगी और सरल है। सूर्य भगवान् प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं और इनकी उपासनासे आरोग्यकी प्राप्ति और बुद्धिकी अभिवृद्धि होती है। शारीरिक और मानसिक उन्नतिके लिये सूर्योपासनासे सुगम कोई उपासना नहीं है। यह प्रत्यक्ष फल देनेवाली है। गायत्री मन्त्रोंके द्वारा जो ब्रह्मतेजकी प्रार्थना की जाती है, वह तेज सूर्य भगवान्‌में विद्यमान है। ब्रह्मा, विष्णु और महेशका ध्यान सूर्यमण्डलमें किया जाता है। भगवान्‌का ध्यान सूर्यमण्डलमें करना सुलभ भी है; क्योंकि वे प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। इसीसे द्विजमात्रको सूर्यार्घ्यदान करनेकी शास्त्राज्ञा है और शूद्र भी और यहांतक कि, अन्त्यज भी नित्य अमंत्रक सूर्यार्घ्यदान कर सकते हैं सूर्योपासनामें सूर्यध्यान सूर्यगायत्री और द्वादशनामोच्चारपूर्वक सूर्यनमस्कार प्रधान हैं। इसकी जिन्हें आवश्यकता हो, श्रीमहामण्डल प्रधान कार्यालयमें लिखनेसे उन्हें भेज दी जा सकती है।

१०—गुरु और दीक्षा।

यों तो सब व्यावहारिक बातोंमें गुरुकी आवश्यकता होती है; परन्तु आध्यात्मराज्यमें प्रवेश करनेके लिये गुरुदेवके बिना काम ही नहीं चल सकता। जो सत्पुरुष शिष्यके समस्त अज्ञानका

नाश करे और उसका हित चाहे, वही गुरु कहा सकता है। गुरुतत्त्वको अच्छी तरह समझनेके लिये श्रीभारतधर्म-महामण्डलसे 'गुरुगीता' नामक पुस्तिका मँगाकर पढ़नी चाहिये। जो सज्जन अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हों, उनके लिये गुरुमन्त्र लेना अनिवार्य है। गुरुके द्वारा मन्त्र-ग्रहण करनेसे ही वह फलता है, अन्यथा पुस्तकसे पढ़कर मन्त्र जप करनेसे कोई फल नहीं होता। गुरु जब शिष्यको मन्त्र देता है तब श्रीसदाशिव अथवा श्रीविष्णुदेवसे प्राप्त की हुई अपनी शक्ति भी देता है, जिससे मन्त्र जाग उठता है। बिना गुरुमन्त्र ग्रहण किये मनुष्यकी सद्गति नहीं होती शिव अथवा विष्णुके रूपमें अथवा गुरुकी प्रत्यक्ष मूर्तिमें श्रीगुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। गुरु ध्यान इसलिये किया जाता है कि, उनसे विष्णु अथवा शिवकी शक्ति प्राप्त होती है। विष्णुरूपमें अथवा शिवरूपमें उनका ध्यान इस कारण करना चाहिये कि, विष्णु भगवान् सब प्रकारका वैभव और सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति देते हैं तथा श्रीशिवजी संहारके कर्ता होनेसे निर्वाण मुक्ति प्रदान करते है। अतः अपनी आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवाले सज्जनोंको गुरुकी शरणमें जाकर उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये।

११—वेद और शास्त्रोंका भाषाज्ञान।

वेदका तथा शास्त्रोंका यथार्थ ज्ञान लाभ करनेके लिये जिन बातोंकी विशेष आवश्यकता होती है, वे इस प्रकार हैं:—

अनादि और अपौरुषेय वेद और उसके भाष्यरूप स्मृति पुराणादि शास्त्रोंका यथार्थ ज्ञान-लाभ पंडितगण तभी कर सकते हैं, जब वे निम्नलिखित चार बातोंको यथार्थ रूपसे हृदयंगम कर सकें। यथा—प्रथम भाषाज्ञान, दूसरा त्रिगुणके अनुसार अधिकारज्ञान, तीसरा भावका ज्ञान और चौथा देश, काल और कर्मके रहस्यका ज्ञान। वेद और शास्त्रोंमें तीन प्रकारकी भाषाएँ काममें आती हैं। यथा—समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीय-भाषा। समाधिबुद्धिसे समझनेयोग्य जो भाषा है उसको समाधिभाषा कहते हैं। जैसी कि श्रीमद्भगवद्गीता समाधिभाषासे प्रायः पूर्ण है। लौकिकभाषा उसको कहते हैं कि, जो भाषा समाधिभाषाको समझानेके लिये रूपान्तरसे विस्तारपूर्वक कही जाय। जैसा कि, लिंगपुराणमें चिन्मय लिंगकी महिमा, विष्णुभागवत और देवीभागवतमें महारासका वर्णन आदि। परकीय-भाषा उसको कहते हैं कि, जो गाथारूपसे प्रकाशित हो और जिसका समाधिभाषा और लौकिकभाषाके ज्ञानको दृढ़ करनेके लिये इतिहास-रूपसे वर्णन किया जाय। श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंमें त्रिगुणके लक्षण और उसके अनुसार तीन अलग-अलग अधिकार तथा अधिकारियोंका बहुत कुछ वर्णन है। उन्हीं तीन गुणोंके अनुसार तीन तरहके अधिकारी कैसे होते हैं, इसका ज्ञान शास्त्रके वक्ताओंको होना चाहिये। वेद और शास्त्रोंमें तीन तरहके भाव कहे गये हैं। यथा,—आध्यात्मभाव, अधिदैवभाव और अधिभूतभाव। इस विज्ञानके अनुसार हिन्दूशास्त्रोंमें एक एक पदार्थको तीन-तीन रूपोंमें देखनेका वर्णन पाया जाता है। जैसा कि, चक्षु इन्द्रियका अध्यात्म रूपतन्मात्रा है, उसके अधिदैव सूर्य देव हैं और उसका अधिभूत चक्षुगोलक है। इस प्रकारसे तीन भावोंका रहस्य जो शास्त्रवक्ता जानता है, वही आचार्य कहा सकता है। अनादि अनन्त देश कैसा है हमारे ब्रह्मांडका मानचित्र कैसा है, जैसे मनुष्य-शरीरके अवयव हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डके शरीरके अवयव कैसे है, उसमें चतुर्दश भुवनोंकी स्थिति कैसी है, यह सब जाननेसे तब देशका ज्ञान होता है, केवल भूगोल-विद्यासे देश ज्ञान नहीं हो सकता। अनादि अनन्त काल क्या है, उसमें चारों युग, महायुग, मन्वन्तर, कल्प और कल्पा-न्तर कैसे विभाग किये जाते हैं इत्यादिका ज्ञान

होनेसे काल-ज्ञान होता है और कर्म क्या वस्तु है, कर्मकी उत्पत्ति कब होती है, कर्म प्रकृतिका कैसे सहजात है कर्मका लय कैसे और कहाँ होता है, कर्मके साधारण और विशेष भेद क्या-क्या हैं, इन सब बातोंको दार्शनिक ज्ञानकी सहायताद्वारा हृदयङ्गम कर लेनेसे कर्ममें शास्त्रका वक्ता प्रवेश करके लोक शिक्षाके उपयोगी बन सकता है। आजकलके शास्त्रवक्ता इन सब बातोंपर ध्यान नहीं देते, इस कारण उन सबके उपदेश पूर्णतया सफल नहीं होवे।

१२—लिंग और योनि पूजारहस्य।

आर्य-जातिमें लिंग और योनि-पीठको देखकर इसके रहस्यसे अनभिज्ञ और अश्रद्धालु स्वदेशी और विदेशी विद्वान् नानाप्रकारके कुत्सित आक्षेप करते हैं। उनके निवारणके लिये लिंग योनि पीठकी पूजाका रहस्य समझने योग्य है। इसके लिये सबसे पहले सनातन धर्मियोंकी संस्कृति और दार्शनिक दृष्टिका रहस्य समझ लेना आवश्यक है। भारतद्वीपकी संस्कृति तथा अन्य देशवासियोंकी संस्कृतिमें महान् अन्तर है। सनातनधर्मियोंकी संस्कृति आध्यात्मिक प्रधानतामूलक और अन्यदेशवासियोंकी संस्कृति आधिभौतिक लक्ष्यमूलक है भारतद्वीपकी संस्कृति अन्तःशुद्धिमूलक है। अन्य देशवासियोंकी संस्कृतिके साथ अन्तः शुद्धिका सम्बन्ध नहीं रहता, केवल ऊपरके दिखावेका सम्बन्ध रहता है। सनातनधर्मियोंकी संस्कृतिमें दैवीराज्यकी प्रधानता और अन्तर दृष्टिका सम्बन्ध रखा गया है; अन्य देशवासियोंकी संस्कृतिमें दैवी-राज्यका कुछ भी सम्बन्ध न मानकर केवल बाहरी दिखावेका सम्बन्ध माना गया है। दोनों संस्कृतियोंमें दिन और रातके समान प्रभेद होनेके कारण परस्परके समझनेमें बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। यही कारण है कि, सनातनधर्मी परस्त्रीका स्पर्श करना अनुचित समझते हैं और पश्चिमीगण मद्यपान करके परस्त्रीके साथ आलिंगित होकर नृत्य करना तथा परस्परका मुखचुम्बन करना अनुचित नहीं समझते हैं। इसी विरुद्ध संस्कृतिके वशवर्ती होकर अन्य देशवासी विद्वान् अथवा वर्तमान भारतके अंग्रेजी शिक्षित व्यक्ति जगत्के मूल कारण पुरुषत्व तथा नारीत्वके प्रधान चिन्होंका नाम लेते ही अपने चित्तके कलुषित संस्कारके अनुसार विचलित होकर निन्दा करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः वे बिना समझे ऐसी उपासनाको लज्जाजनक समझते हैं और इस सम्बन्धसे अनेक ऐतिहासिक मिथ्या जल्पना कल्पना किया करते हैं। सनातनधर्मी स्थूल पदार्थकी उपासना नहीं करते हैं, वे सर्वव्यापक दैवी सत्ताको एक पीठविशेषमें केन्द्रीभूत करके उस पीठके अवलम्बनमे उपासना किया करते हैं। दैवी पीठ उत्पन्न करनेके शास्त्रोंमें अनेक भेद हैं और इनके अतिरिक्त स्वाभाविक पीठ भी अनेक हैं। जल, अग्नि, देवमूर्त्ति, स्थण्डिल आदि नवीन दैवीपीठ उत्पन्न करनेके उपयुक्त पदार्थोंके उदाहरण हैं। प्राचीन नित्य पीठोंके नाम शास्त्रोंमें अनेक पाए जाते है। यथा, —१०८ पीठ और नाना प्राचीन तीर्थ आदि। दार्शनिक युक्तिसे यह सिद्ध है कि, जैसे स्त्री वैद्युतिकशक्ति और पुरुष वैद्युतिकशक्ति दोनों वैद्युतिक शक्तियोंके संगमके बिना कोई वैद्युतिक क्रिया सम्पादित नहीं होती है, उसी प्रकार प्राणमयकोषकी आकर्षण और विकर्षण क्रियाके समन्वयसे दैवी पीठका आधार बनता है। दूसरी ओर यह सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि, ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति जब ये दोनों अलग-अलग प्रतीत होते हैं, उसी अवस्थाका नाम सगुण ब्रह्म है। इसी ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिके परस्पर आलिंगित अवस्थाको ही शास्त्रोंने सर्वशक्तिमान् सगुण ईश्वर कहा है। उपनिषदोंकी साररूपी श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने इस विज्ञानको कई प्रकारसे वर्णन किया है। भगवान् कहते हैं कि, मैं पुरुष हूँ और योनिरूपिणी प्रकृतिमें गर्भाधान करता हूं, जिससे

सृष्टि उत्पन्न होती है। इस वैज्ञानिक विषयको हृदयङ्गम करनेके लिये पुरुषशब्द, प्रकृति शब्द, योनि शब्द, गर्भाधान शब्द आदिसे अधिक और उपयुक्त शब्द मिल ही नहीं सकते हैं और इसी प्रकार प्रकृति-पुरुषात्मक सगुण ब्रह्मकी वैज्ञानिक मूर्त्तिको उपासकके नेत्रोंके सामने लानेके लिये भग-लिंगका चिन्ह अत्यन्त उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण योनिपीठ सहित लिंगोपासना द्वारा साधक भगवान् शिवके सान्निध्यको प्राप्त करता है और इसी कारण शिवलिंगोपासना सबके लिये समान रीतिसे हितकारी बताई गई है। कर्मकाण्डमें भी जो वैदिक कुण्ड बनाया जाता है, उसमें भी ये ही दो चिन्ह विद्यमान रहते हैं। अतः इस सगुण ब्रह्मके चिन्हका उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डके साथ यथास्थानमें सम्बन्धयुक्त रहना स्वाभाविक है। यह उपासना चिरकालसे प्रसिद्ध है, आधुनिक नहीं है। योनिपीठके साथ त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति और चिन्मय लिंगके साथ पुरुषोत्तम रूपका सम्बन्ध है। अतः लौकिक स्त्री-पुरुष-सहयोगके साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। स्त्रीपुरुष सहयोग सृष्टिसे सम्बन्ध रखता है और सगुण ब्रह्मरूपी शिवलिंगोपासना लय अर्थात् मुक्तिका विषय है। इस लिंगोपासनासे प्रकृति-पुरुषात्मक धारणाकी सिद्धि होती है। धारणासिद्धिके बाद सगुण ब्रह्मके ध्यानकी सिद्धि साधकको प्राप्त होती है और तत्पश्चात् चिन्मय लिंगके भावके अवलम्बनसे साधक महाभाव समाधिको प्राप्त कर समाधि-भूमिमें विचरण करता है। उमा महेशकी लीलाओंका जो वर्णन पुराणोंमें है, वह अतिविचित्र है इसमें सन्देह नहीं; परन्तु वे सब वर्णन समाधि-भाषाके हैं या लौकिक भाषाके हैं अथवा वे सब वर्णन आध्यात्मिक जगत्के या आधिदैविक जगत्के हैं इसका पूरा ध्यान रखते पर ही उन चमत्कार-लीलाओंके पारावारमें साधक उन्मज्जन-निमज्जन कर सकता है। शास्त्रोंमें रहस्योंको गोपन करनेकी जो आज्ञा है वह अधिकारभेद होनेसे है। अतः वह विचारका विषय है; परन्तु यह उपासना और आचारका विषय है। इसके रहस्यसमूह अवश्य गोपनीय हैं; परन्तु जिस पीठमें उनकी उपासना होती है, वह तो स्थूल अवलम्बन है। इस कारण उसके साथ गोपनका सम्बन्ध नहीं रह सकता है। वह विषय और है और यह विषय और है। वे जगद्गुरु है, वे ज्ञानरूपी नेत्रसे कामदेवको दहन करनवाले हैं, वे सृष्टिके लयकर्त्ता होनेसे मुक्ति विधाता हैं, वे अलिंगी अर्थात् रूपरहित हैं और वे दैवीजगत्में सबके पूज्य और बड़े होनेसे महादेव कहाते हैं। यही कारण है कि, सगुण ब्रह्मके ऐसे स्पष्ट चिन्ह द्वारा उनकी पूजाकी विधि बताई गई है। बाणलिंग मन्त्रशास्त्रके अनुसार नित्ययन्त्र है। शालिग्रामशिलाके समान बाणलिंगमें पीठका आवाहन विसर्जन नहीं होता है। इस कारण बाणलिंग भी नित्यपीठ कहलाता है। नित्यपीठ वह होता है, जिसमें पीठशक्ति सदा विद्यमान रहती है। इस कारण बाणलिंगके साथ पीठका चिन्ह रखा जाय या न रखा जाय, दोनों अवस्थामें ही उसमें पूजा हो सकती है।

लिंगपुराणमें लिखा है कि, शिवलिंग चिन्मय है। उसपर अनेककोटि ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। इसका पता भगवान् ब्रह्मा और भगवान् विष्णु भी नहीं लगा सके थे। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं। एक ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु, महेश साक्षात् परमात्माके प्रतिनिधि होनेपर भी दूसरे ब्रह्माण्डका पता नहीं लगा सकते। इसी प्रकार पीठविज्ञान भी चमत्कारपूर्ण है। योनि और पीठ पर्यायवाची शब्द हैं। तंत्रोंमें, मन्त्रशास्त्रमें और पुराणादि-शास्त्रोंमें पीठका नाना प्रकारका वर्णन है, जैसा पहले कहा गया है। हिन्दु-जातिमें पति-पत्नीका गंठबन्धन किया जाता है। यह पीठस्थापनाका ही प्रकार है। इस प्रकार पीठ स्थापन होनेपर ही दम्पति कर्मकाण्ड करनेके अधिकारी होते हैं।

१३—हिन्दुओंका हिन्दुस्थान।

आर्यजातिका पुरातन और पुनीत भारतखण्ड (हिन्दुस्थान) भारतवर्ष (पृथ्वी) का उत्तमाङ्ग है। सब प्रकारकी भूमियोंकी पूर्णता, पवित्र नद-नदी और महाशक्तिशाली पर्वतों तथा सब प्रकारके चतुर्विध भूतसंघों और सब ऋतुओंका आविर्भाव होने से हिन्दुस्थानकी प्राकृतिक पूर्णता सिद्ध है। इसीसे यहांकी आदिभाषा संस्कृत सर्वाङ्गपूर्ण है। सृष्टिकी प्रथमावस्थामें ही मनुष्यको सभ्यताके उपयोगी सब शिल्प, सब विज्ञान और सब दर्शन आदि शास्त्र यहीं प्रकट हुए और उनके द्वारा हिन्दुस्थानका महत्त्व जगत्‌में स्थापित हुआ और अबतक वह महत्त्व घोषित हो रहा है। वेद और शास्त्रोंसे प्रमाणित है कि, पूर्णावयव मनुष्यसृष्टि पहले पहल काश्मीर प्रान्तकी देविका नदीके तटपर इस पवित्रभूमिमें ही हुई थी। चारों युगोंमें श्रीभगवान्‌के अवतार इसी पवित्र भूमिमें होते आये हैं और होते रहेंगे। भारतखण्डका ऐसा कोई प्रान्त नहीं है, जहां दैवी जगत्‌के पीठरूपी पवित्र तीर्थस्थान न हों। इन्हीं सब कारणोंसे हिन्दुओंका ही हिन्दुस्थान है और यही उनकी परमपवित्र धर्मभूमि और अखण्ड शक्तिसे युक्त मातृभूमि है। देशकालके प्रभावसे कभी इसके विपरीत भी हो, तो फिर समय पाकर वह अखण्ड हो जायगी, यही शास्त्रकी आज्ञा है। भगवान् श्रीव्यासदेव-रचित भागवत तीन हैं। विष्णुभागवत, देवी भागवत और अणुभागवत। हिन्दुमात्रको इनको पढ़ना चाहिये। उनमेंसे अणुभागवतमें स्पष्ट लिखा है कि, कलिके अन्तमें जब कल्कि अवतार प्रकट होगा, तब फिर सत्ययुग उपस्थित हो जायगा और उस समय, भूमि, मनुष्य, समाज-रचना आदि सब बातें दैवी प्रेरणासे बदल जायंगी।

ध्यानमें रखने की बात यह है कि, लोग हिन्दुस्थानको ही भारतवर्ष माने बैठे हैं; परन्तु यह भ्रान्त धारणा है। वास्तवमें जम्बुद्वीपमें हिरण्मयवर्ष, उत्तर कुरुवर्ष, केतुमालवर्ष आदि नौ वर्ष हैं, उनमेंसे एक भारतवर्ष है, जो दुनियां या पृथ्वी कहाता है। यहीं मातृगर्भसे जीव उत्पन्न होते हैं। अन्य आठ दैवीवर्ष अर्थात् दैवीलोक हैं। पुराणोंमें उनकी कथा भी अलौकिक है। शास्त्रोंमें हमारी इस मातृभूमिके नाम भारत, भारतखण्ड और भारतद्वीप पाये जाते हैं। यही अखण्ड हिन्दुस्थान है।

१४—सेवाभाव।

हिन्दुधर्ममें भावतत्त्वको अन्तिम तत्त्व माना है। दर्शनशास्त्रमें जितने तत्त्व माने गये हैं, उनमें भावतत्त्व सबसे उन्नत है। भावतत्त्वके परिवर्तनसे दुःख सुखमें और असत्य सत्यमें परिणत हो जाता है। पापका पुण्यमें परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, मृत्युसे बढ़कर कोई दुःख नहीं; परन्तु धर्मभावसे अनुप्राणित होकर जो प्राणत्याग करता है, उसका वह दुःख ही सुखमय हो जाता है। किसी व्यक्तिकी प्राणरक्षाके लिये या जगत्‌के हितके लिये सची धारणासे जो असद्व्यवहार करता है, उसका वह असत्य भी सत्यमें परिणत हो जाता है। इसी प्रकार माता, भगिनी, कन्या, अपनी स्त्री, परायी स्त्री, सभी स्त्रीजाति ही है। परन्तु भावभेदसे ही उनका अधिकार निर्णीत होता है। वेद और शास्त्रोंने यह सिद्ध कर दिया है कि, श्रीभगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, वे सत्, चित् और आनन्द भावसे युक्त हैं। अतः भावतत्त्व सर्वोन्नत है।

सेवाकार्य साधारणकार्य है। यह कार्य यदि परोपकार बुद्धिसे किया जाय, तो वही सेवाकार्य महान् फलदायक हो जाता है। रोगीकी सेवा, शिष्यके लिये गुरुसेवा, सद्गृहस्थोंके लिये जनसेवा, देशसेवा, अतिथिसेवा, पत्नीके लिये पतिसेवा, भक्तोंके लिये भगवत्सेवा आदि सद्भावके बलसे स्वर्गकी तो बात ही क्या, मुक्ति तकको

प्राप्त करा देती है। केवल भाव सच्चा और शुद्ध होना चाहिये। भगवान्‌ने स्वयं निजी मुखसे गीतामें कहा है कि, मुझे कुछ अपेक्षा नहीं मुझे कुछ पाना नहीं, मेरा कोई अभीष्ट नहीं; तथापि लोककल्याणके लिये मैं कर्म करता ही रहता हूँ। यह जगत्प्रसिद्ध है कि, महाभारतकालमें धर्मराजके राजसूय-यज्ञमें श्रीभगवान्‌ने ब्राह्मणोंके पैर धोनेका काम अपने ऊपर लिया था।

१५—धर्मके सोलह अंग।

धर्मका स्वरूप बड़ा व्यापक है। एक परमाणुसे लेकर समस्त विश्वब्रह्माण्डको जो धारण करता है, उसको धर्म कहते हैं। परन्तु उस व्यापक आर्य-धर्मको हमारे पूर्वज महर्षियोंने सोलह अङ्गोंमें विभक्त किया है। उनका विवरण निम्नलिखित है। १—सदाचार धर्म। धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार-को आचार कहते हैं। महापुरुषोंके आचरण और शास्त्रोंका आचार सदाचार कहलाते हैं। २—सद्विचार धर्म। आध्यात्मिक उन्नति करानेवाला उदूर्ध्वगामी विचार ही सद्विचार है। यही विचार अभ्युदय और मोक्ष देनेवाला है। इसी धर्मकी रक्षाके लिये आर्य लोग शिखा-सूत्र धारण करते हैं। ३—वर्णधर्म। अर्थात् जन्मसे जाति मानना। इसी धर्मके आश्रयसे आर्यजाति चिरजीवी हो सकी है, क्योंकि इसमें रजोवीर्यशुद्धिकी प्रधानता है। ४—सतीधर्म। आर्य नारियोंमें सतीत्व धर्मके महत्त्वकी विशेषता है। क्योंकि इसी धर्मके पालनसे वे त्रिलोकपवित्रकारिणी और त्रिलोकवन्दिता हैं। इस प्रकारकी विशेषता जगत्‌की किसी जातिकी स्त्रियोंमें नहीं पायी जाती है। ५—आश्रमधर्म। आश्रमधर्मका महत्त्व उसकी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी पूर्णताके कारण है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति सिखायी जाती है, गृहस्थाश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है, वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती है और संन्यासाश्रममें निवृत्तिकी पूर्णता हो जाती है। आश्रमधर्मके पालनसे जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। ६—दैवजगत्‌की शरण लेना। इस धर्मका अवलम्बन करती है, इसीसे आर्यजाति आस्तिक है। यह शास्त्रसिद्ध है कि, इस स्थूल-जगत्‌का चालक और रक्षक दैवजगत् है। दैव-जगत्‌के नाना पदधारियों पर विश्वास करना आस्तिकताका मूल है। इसीसे आर्यजाति पर ऋषिसंघ, देवसंघ और पितृसंघकी कृपा बनी रहती है। ७—अवतारतत्त्वमें निष्ठा। अवतार भगवान्‌के होते हैं, देवताओंके होते हैं और असुरों-के भी। भगवान्‌के अवतार अधर्मको नष्ट करके धर्मकी स्थापनाके लिये हुआ करते हैं। देवताओंके अवतार सामयिक संकट दूर कर धर्मसामञ्जस्यके लिये होते हैं और असुरोंके अवतार अधर्मको बढ़ानेके लिये ही होते हैं। भारतखण्ड भगवान् और देवताओंके आविर्भावकी भूमि है। ८—सर्वाङ्गपूर्ण उपासनापद्धति। आर्योंकी उपासना-प्रणाली योग और भक्तिसे परिपूर्ण है। चार प्रकारकी योगप्रणाली और भक्तिप्रणालीके सब अंगोंका इसमें समावेश हो जानेसे यह सर्वाङ्गपूर्ण है। इसीके अङ्ग और उपाङ्ग पृथ्वीके सब धर्मोंके सहायक हुए हैं और यह सर्वजीवहितकारी है। इसीसे मनुष्यमात्रके लिये यह अनुकरणीय है। ९—पीठपूजा। आर्यजातिका विश्वास है कि, सर्व-व्यापक प्राणमयकोशमें पीठकी स्थापना होती है; क्योंकि भगवान्‌की शक्ति भी सर्वव्यापक है। दैवी शक्ति द्वारा पीठका आविर्भाव होता है, इसीसे आर्यजातिमें मूर्ति आदि पीठोंकी उपासनाप्रणाली प्रचलित है। १०—शुद्धि-अशुद्धि-स्पर्शास्पर्शविवेक। आर्यजाति पञ्चकोशोंके सम्बन्धका विचार करने-वाली है। आत्मा पञ्चकोशोंसे आच्छन्न होनेके कारण उनकी शुद्धिके लिये दैवराज्यसे सम्बन्ध स्थापन करनेके विचारसे आर्यजाति शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शका विवेक करती है। इसीसे उसपर भगवान्‌का अनुग्रह हुआ करता है। ११—यज्ञ और महायज्ञ साधन। यज्ञके द्वारा देवता और मनुष्योंमें परस्पर सम्बन्ध स्थापन होता है। जिस

धर्माङ्गके साधनसे दैवी राज्यका संवर्द्धन होता है, उसको यज्ञ कहते हैं। यज्ञका धर्मकार्य यदि किसी व्यक्तिके लिये किया जाय, तो वह यज्ञ है और यदि जाति या जगत्‌के हितके लिये किया जाय तो वह महायज्ञ कहाता है। आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिका जीवन यज्ञमय होनेसे ही वह धर्मप्राण है। १२—वेद और शास्त्रपर विश्वास। आर्यजाति वेद और शास्त्रको नित्य मानती है। प्रत्येक कल्पारम्भमें वेद महर्षियोंको ज्योंकेत्यों शब्दरूपमें सुनाई देते और शास्त्र उनके अन्तःकरणोंमें भावरूपसे प्रकट होते हैं। वेद शास्त्रोंमें ही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान निहित है। १३—संस्कार और कर्मपर श्रद्धा। संस्कार और कर्म, बीज और अंकुरके समान है। संस्कारसे कर्मकी उत्पत्ति होती है और कर्मके अनुसार ही पुनः संस्कार बनते हैं। इसी श्रद्धासे आर्यजातिको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होती है। १४—आवागमन और जन्मान्तरवादमें विश्वास। विवाह, दायभाग, श्राद्ध और तर्पण, इस चार प्रकारकी किलेबन्दीसे आर्यजातिका जन्म मृत्यु और परलोकगमनरूपी आवागमनचक्र सुरक्षित रहता है। आवागमनचक्रमें भटकनेवाले जीवकी सहायताके लिये श्राद्ध, तर्पण, विवाह और दायभागव्यवस्था सर्वथा परिपालनीय है। इसीसे जीवका निरन्तर अभ्युदय होता है। १५—निर्गुण और सगुण उपासनाकी व्यवस्था। श्रीभगवान् जब सर्वशक्तिमान् हैं, तब वे निर्गुण और निराकार होनेपर भी भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण अर्थात् साकाररूप भी धारण कर सकते हैं। अधिकारिभेदसे ऐसा मानना सर्वहितकारी भी है। क्योंकि सभी उपासक निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापक भगवद्भावकी धारणा नहीं कर सकते। अतः यह मानना ही पड़ता है कि, भगवान् निर्गुण हैं और सगुण भी,—निराकार हैं और साकार भी। १६—मुक्तिप्राप्ति। आर्यधर्म सर्वाङ्गपूर्ण होनेके कारण वह मुक्तिका प्राप्ति-स्वीकार करता है। अर्थात् जीव शास्त्रोक्त साधनके द्वारा जीवनमरणके चक्रसे छूट भी सकता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो सकता है।

इसप्रकार आर्योंका धर्म सोलह कलाओंसे पूर्ण होनेके कारण आर्यजाति जगद्‌गुरु है। संसारकी सब सभ्यजातियोंके विद्वानोंने भी एकमतसे यह स्वीकार भी किया है कि, प्राचीन आर्यलोग ही जगत्‌के गुरु थे।

१६—भूतप्रेतविचार।

मनुष्य पूर्णावयव जीव है। इसलिये कर्म करनेमें उसे बहुत कुछ स्वतंत्रता है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज पशुओंको वह स्वतंत्रता नहीं है; क्योंकि वे पूर्णावयव नहीं हैं। पूर्णावयव जीव होनेसे मनुष्य जब स्थूलशरीर छोड़कर लोकान्तरमें जाता है, तब यदि वह सावधान रहे, तो उसे प्रेतलोकमें नहीं जाना पड़ता है। असावधान मनुष्य अवश्य जाता है। प्रायः देहान्तके समय मनुष्य असावधान हो ही जाता है। इसलिये हिन्दुधर्ममें मृतमनुष्यका एक वर्ष तक प्रेत-श्राद्ध करनेकी विधि है। श्राद्धादि धर्मकार्यसे मृतात्माको सहायता मिलती है और वह प्रेतयोनिसे छुटकारा पाजाता है। प्रेतकी अवस्थामें, स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध अपने पूर्वसंस्कारके अनुसार कभी कभी तीव्र वासनासे युक्त होकर उसी तरहका शरीर धारण कर लेते हैं। यदि प्रबल प्रेतात्मा हो, तो जैसा चाहे वैसा शरीर धारण कर सकते हैं; परन्तु वह शरीर क्षणिक होता है। मनुष्य मरते समय प्राणमय कोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनन्दमय कोशको लेकर लोकान्तरमें चला जाता है, केवल अन्नमयकोश अर्थात् स्थूलशरीर यहां पड़ा रहता है। संस्कार उसके साथ रहते हैं, उनके अनुसार यदि उसकी प्रबल वासना हो, तो पञ्चमहाभूतोंके उपादानसे उसका शरीर गठित हो सकता है और सब अवस्थामें वायुके आधारपर वह अपने प्रेतशरीरके साथ रहता है। क्योंकि

प्रेतत्व अवस्थामें प्राणमयकोशही उसका एकमात्र आश्रय रहता है। इस कारण दुष्टप्रेत किसीको मार नहीं सकता; परन्तु डरा सकता है और वायुकी सहायतासे किसीको धक्का भी दे सकता है। यदि तीव्र वासना हो और शक्तिमान् प्रेत हो, तो वह शरीर-धारण कर दृष्टिगोचर हो सकता है, पास आ सकता है, बात भी कर सकता है। कभी कभी देखा जाता है कि, कितने ही स्त्री-पुरुष प्रेतसे पछाड़े जानेके कारण बड़ा कष्ट पाते है, प्रेत इस प्रकारका आक्रमण उन्हीं नर-नारियों पर करता है, जिनकी आत्मा दुर्बल होती हैं। उनके अन्तःकरणमें वह प्रवेश कर जाता है और अपनी इच्छाके अनुसार उनसे कार्य कराता है। इसीको प्रेतावेश कहते हैं। प्रेतयोनि दुःखयोनि है। उसमें इच्छाएँ बनी रहती हैं; परन्तु उनकी पूर्ति नहीं कर सकता, इस कारण दुःख पाता है।

हिन्दुधर्ममें प्रेतत्वसे निवृत्ति पाने, प्रेतका निवारण करने, प्रेतसे रक्षा पानेके अनेक उपाय बताये गये हैं। बलवान् आत्मावाले व्यक्तिको प्रेत कष्ट नहीं दे सकता। अब अमेरिका और युरोपमें भी प्रेततत्वके सम्बन्धमें विशेष चर्चा होरही है। प्लंचेटसे लिखवाना, सर्कल बनाना, टेबल रेपिंगके द्वारा संकेतसे बात करना इत्यादि जो बातें वहां प्रचलित होरही हैं, वे सब इसी प्रेतलोकसे सम्बन्ध रखती हैं। प्रेतत्वकी प्राप्ति ही न हो, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भगवान्की शरणमें जाना चाहिये और प्रेतसे भय न हो, इसलिये भगवान्का नाम स्मरण करना चाहिये। भगवन्नामके उच्चारणमात्रसे प्रेत भाग जाता है।

१७—महात्माके लक्षण।

आजकल 'महात्मा' शब्द चाहे जिस पुरुषके लिये व्यवहृत होने लगा है; परन्तु मनुष्य किन लक्षणोंसे युक्त होने पर महात्मा कहला सकता है, यह जान लेना आवश्यक है। साधारण मनुष्य महात्मा हो नहीं सकता। जिस महान् व्यक्तिमें कर्मयोगके विशेष लक्षण, भक्तियोगके विशेष लक्षण और ज्ञानयोगके विशेष लक्षण स्वभावतः प्रकाशित हुए हों, वही महापुरुष 'महात्मा' पद-वाच्य हो सकता है। कर्मयोगके लक्षणोंमें परोप-कारकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, परमोपकार अर्थात् मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नति करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और अहंकार तथा स्वार्थ छोड़कर, जगत्को भगवान्का स्वरूप मानकर सेवाबुद्धिसे निष्काम कर्म करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो और जिस महापुरुषमें ये लक्षण स्वभावतः प्रकाशित हों, वही कर्मयोगी कहाता है। इसीप्रकार श्रीभगवान्के चरणोंमें जिसकी ऐकान्तिकी भक्ति हो, जो भगवान्ही सब कुछ हैं ऐसी धारणा करता हो, जो भक्तिमान् योगी निरन्तर दास्यासक्ति, सख्या-सक्ति, वात्सल्यासक्ति आदि रसोंका आस्वादन करता हुआ श्रीभगवान्का गुण गान करने और उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेकी दृढ़ निष्ठा रखता हो, वही भक्तियोगका अधिकारी है। इसी प्रकार जिस महापुरुषमें तत्वज्ञानका उदय होकर निम्नलिखित श्रीभगवद्गीतोक्त ज्ञानीके लक्षण स्वभावसे ही प्रकाशित हुए हों, वही ज्ञानयोगी कहा जा सकता है। वे लक्षण इस प्रकार हैं:—

अमानित्व अर्थात् अपनेको श्लाघनीय नहीं समझना, दम्भहीनता अर्थात् मैं बड़ा धार्मिक हूं, ऐसा नहीं समझना, अहिंसा अर्थात् जीवमात्रकी हत्या नहीं करना, और न किसीको दुःख या उद्वेग पहुँचाना, क्षमावान् होना, आर्जव अर्थात् सरलता बाहर-भीतरसे एक समान होना, आचार्य उपासना अर्थात् श्रीगुरुदेवकी सेवा, शौच अर्थात् अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धि, स्थैर्य अर्थात् शारीरिक चाञ्चल्यका त्याग, आत्मविनिग्रह अर्थात् मनका संयम, इन्द्रियोंके विषयोंसे स्वाभाविक वैराग्य, अहंकार न होना, जन्म-मृत्यु-जरा-रोग आदिमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखोंको स्वभावतः अनुभव करना स्त्री-पुत्र-गृह-ऐश्वर्य आदि विषयोंमें आसक्ति न होना, इष्ट

और अनिष्टमें चित्तका समभाव होना, श्रीभगवान्‌में अनन्य अटल भक्ति होना, एकान्तसेवी होना, जनसमूहमें जानेसे स्वाभाविक अरुचि होना, आत्मज्ञानमें स्थिरनिष्ठा और तत्त्वज्ञानकी आलोचना ये सब ज्ञानके लक्षण हैं। जिस महापुरुषमें ज्ञानकी पूर्णता होगी, उसमें ये ज्ञानके लक्षण स्वाभाविकरूपसे प्रकाशित होंगे। इसप्रकार जिस भगवत्कृपाप्राप्त महापुरुषमें पूर्वोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके लक्षण स्वभावतः प्रकाशित हुए हों, वही महात्मा कहाने योग्य है।

१८—भ्रातृभाव।

पृथ्वीके सब धर्ममार्ग और सब देशके अधिवासियोंमें भ्रातृभाव स्थापनकी चरितार्थता जैसी वर्णाश्रमधर्मी हिन्दुओंमें वेद और शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार दिखाई पड़ती है वैसी और किसी धर्ममतमें अथवा अन्यदेशवासियोंमें न दिखाई पड़ती है और न सम्भावना है। हिन्दूशास्त्र कहता है कि उदारचरित मनुष्य वही है कि जो सारे संसारको अपना कुटुम्ब माने और किसी धर्म अथवा किसी धर्मी अथवा किसी देशवासीके लिये परायापन चित्तमें आने न दे। हिन्दूधर्मके पूज्यपाद महर्षियोंने बार बार यह कहा है कि जो धर्म अन्य किसी धर्मको बाधा दे वह सद्धर्म नहीं है, जो सब धर्मोंका अविरोधी हो वही सद्धर्म है। वेद और शास्त्रोंमें यह दृढ़ आज्ञा है कि घरमें आया हुआ अतिथि चाहे स्वधर्मी हो चाहे विधर्मी, चाहे सभ्य हो चाहे असभ्य, चाहे राजा हो चाहे दरिद्र, चाहे आर्य हो चाहे अनार्य, चाहे किसी जाति, किसी धर्म और चाहे किसी अधिकारका मनुष्य हो उसको साक्षात् ईश्वरका प्रतिनिधि समझकर उसकी ईश्वरवत् पूजा करनी चाहिये। और अतिथि-सेवाके अनन्तर जो अन्न बचे उसे पवित्र अन्न मानकर ग्रहण करना चाहिये। इन सब बातोंसे यही सिद्ध होता है कि विभिन्न धर्मियों और विभिन्न मनुष्य-जातियोंमें सच्चा भ्रातृभाव स्थापन हिन्दू जाति ही कर सकती है। हिन्दूजातिकी प्राचीन संस्कृतिके अनुसार सब वर्णाश्रमधर्म माननेवाले, सनातन-धर्मके सिद्धान्तपर चलनेवाले सब सम्प्रदायके लोग हिन्दुस्तानके सब मुसलमानधर्मी, इसाईधर्मी, पारसीधर्मी, बौद्धधर्मी आदि सभी भाई भाई हैं। सनातनधर्मकी उदार शिक्षा प्रणाली और वर्णाश्रमधर्मकी पंचमहायज्ञ आदि साधनकी दीक्षा-प्रणाली जितनी अच्छी तरहसे प्रचलित होगी उतना ही सार्वजनिक भ्रातृभाव बद्धमूल होता रहेगा। हिन्दुस्तान सदासे भ्रातृभाव स्थापनका देश है। ऐसे हिन्दुस्तानमें सब धर्म और सब श्रेणीके मनुष्योंमें भ्रातृभाव नष्ट करनेके लिये जो व्यक्ति अथवा जो राजनैतिक शक्ति अथवा संस्था प्रयत्न करेगी वह स्वयं विपन्न होकर नष्ट हो जायगी; क्योंकि भ्रातृभावकी संस्कृति हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियोंमें स्वाभाविक है। स्वाभाविक प्रगति ईश्वरइच्छाके अनुकूल होती है। अतः ईश्वरइच्छाके विरुद्ध जो काम करेगा वह अन्तमें अवश्य गिरेगा। भ्रातृभाव भाव-राज्यका विषय है। भाव-राज्यका सम्बन्ध अन्तःकरणसे है। अन्तःकरण यदि शुद्ध पवित्र भावोंसे भावित हो, तभी वह जाति या व्यक्ति भगवान्‌को सबका परम पिता मानकर भगवद्भक्तिके बलसे प्रभावित होकर उदार अन्तर्दृष्टिको प्राप्त होता है और तभी सच्चे हृदयसे वह जगतको अपना कुटुम्ब मानकर मनुष्यमात्रमे भ्रातृभाव स्थापन करके अपने जीवनको धन्य कर सकता है।

१९—शुद्धाशुद्ध विवेक।

प्रायः नवशिक्षित लोग शंका किया करते हैं कि, अत्यन्त उदार मानी जानेवाली हिन्दु संस्कृतिमें पक्षपात क्यों दिखाई पड़ता है? ऐसी शंका वही कर सकते हैं जो सनातनधर्म और वर्णाश्रमधर्मके वैज्ञानिक रहस्योंको अच्छी तरह समझते नहीं हैं। वर्णाश्रमधर्मी हिन्दुओंमें और उसके सदाचारोंमें

शुद्धाशुद्ध-विवेककी व्यवस्था भी स्वाभाविक है। और दूसरी ओर हिन्दुओंका शुद्धाशुद्ध-विवेक सायन्स और दर्शनशास्त्र दोनोंके द्वारा अनुमोदित है। हिन्दुओंकी प्राचीन संस्कृति और उसके धार्मिक सदाचार यह बताते हैं कि हिन्दुओंका शुद्धाशुद्ध-विवेक उनकी प्राचीन संस्कृतिके साथ ऐसा ओतप्रोत है कि उनका शुद्धाशुद्ध विवेक जैसा कि आजकलके अविवेकी राजनैतिक लोग चाहते हैं वैसा उनमेंसे अलग हो ही नहीं सकता है। हिन्दू जातिकी माता, भगिनी, कन्या आदि प्रति-मास चार दिनके लिये अशुद्ध और अछूत हो जाती है। जो धर्मशास्त्र ही नहीं मेडिकल सायन्स आदि द्वारा भी प्रमाणित किया गया है। हिन्दू जातिके शरीरमें ही नाभीके ऊपरका अंश शुद्ध और नाभी-के नीचेका अंश अशुद्ध समझा जाता है। इस कारण उनका धर्मशास्त्र आज्ञा देता है कि अगाछेसे जब नाभीके नीचेका अंश पोछा जाय तो उसी अंगोछेसे बिना उसको जलसे धोये ऊपरका अंश नहीं पोछना चाहिये। यह विषय भी काल्पनिक नहीं है बल्कि वैदिक दर्शनशास्त्रके सात्त्विक और तामसिक दोनों विभागके अनुसार धर्म और अधर्ममूलक वैदिक विज्ञानसे सिद्ध है। हिन्दुओंकी प्राचीन संस्कृति और धर्मशास्त्रके अनुसार सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणके समय मनुष्यका शरीर ही अशुद्ध नहीं होता है बल्कि घरके खानपानके पक्क द्रव्य तक अशुद्ध हो जाते हैं। यह विषय ज्योतिषविज्ञान, राहुग्रस्त चन्द्र और सूर्यके शक्तिविज्ञानसे अच्छी तरह प्रमाणित है। इन थोड़ेसे उदाहरणोंसे दूरदर्शी विद्वान्मात्र ही समझ सकेंगे कि हिन्दुओंका स्पर्शास्पर्श-विवेक और शुद्धाशुद्धविवेक-विज्ञान उनकी अतिप्राचीन और अतिमंगलकर संस्कृतिके अनुसार स्वाभाविक है। इस कारण इन बातोंको हिन्दुस्तानके हिन्दुओं-की संस्कृतिसे निकालनेका प्रयत्न जो करते हैं वे दार्शनिक विद्वानोंके निकट हास्यास्पद होते हैं। दूसरी ओर हिन्दुओंका शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शा-स्पर्श विवेक मनुष्यजगत्में भ्रातृभाव स्थापनका विरोधी नहीं हो सकता। आज दिन संसार भरमें संसारके नाशकारी जो सब ओर घोर युद्ध हो रहे हैं इस युद्धमें दोनों पक्षके लोग शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेकके माननेवाले नहीं है; यदि शुद्धाशुद्धविवेक ही भ्रातृभाव स्थापनका बाधक होता तो एक दूसरेको नष्ट करनेवाली रणदेवीका घोर नृत्य आज दिखाई नहीं पड़ना चाहिये था। हिन्दुस्तानके आचारवान् हिन्दू सद्गृहस्थमें जन्म लिये हुए पाश्चात्य सभ्यताके पक्षपाती सज्जनमात्र ही अपने घरकी संस्कृति पर विचार कर सकते हैं। वे देखेंगे कि हिन्दू-आचारवान् सद्गृहस्थोंमें हिन्दू सती पत्नी पतिके साथ नहीं खाती है वह पतिका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करना अपने धर्मानुकूल समझती है। दूसरी ओर पत्नीका उच्छिष्ट पति नहीं खाता है। हर महीनेमें पति कुछ समयके लिये अपनी स्त्रीको स्पर्श करना पाप समझता है; तो क्या पति पत्नीमें प्रेमका मधुर और पवित्र दृश्य हिन्दुस्तानके हिन्दू गृहस्थोंमें दिखाई नहीं पड़ता है? इस प्रकारसे शुद्धाशुद्ध विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक हिन्दुओंकी प्राचीन संस्कृति और सदाचारमें कपड़ेमें धागाकी तरह ओतप्रोत है। ऐसा होनेपर भी पतिप्रेममें मग्न सीता सावित्री आदि, भ्रातृप्रेममें मग्न भरत, लक्ष्मण आदि प्रेमिका और प्रेमिकोंके अनेक उदा-हरण हिन्दू इतिहासमें पाये जायँगे। अतः हिन्दुओंका शुद्ध शुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक जगतमें भ्रातृभाव स्थापन करनेके विरोधी नहीं है और न हो सकता है।

२०—ब्राह्मणकी रक्षासे सबकी रक्षा।

परमपूज्यपाद भगवान् व्यासदेवजी ने कहा है कि सृष्टिके आदिकालमें कश्मीर प्रदेशके देविकानदीके तटपर प्रथम ब्राह्मणजाति की सृष्टि हुई थी। वैदिक विज्ञानके अनुसार प्रथम सृष्टिपूर्ण होती है। इस कारण देवलोकमें सनक

सनन्दन आदि परमहंसोंकी सृष्टि पहले हुई थी और मनुष्यलोकमें भी पहले ब्राह्मणोंकी सृष्टि हुई थी। ब्राह्मण ही पूर्णावयव और आध्यात्मिक अधिकारसे युक्त मनुष्य हैं। इसी कारण मनुसंहितामें लिखा है कि इस देशके ब्राह्मणोंके द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य-जगतको ज्ञानकी प्राप्ति होगी। ब्राह्मण ही मनुष्यके आदिगुरु हैं। मनुष्यकी सभ्यताके लिए जिन विद्याओंकी और जिन शास्त्रोंकी आवश्यकता है उन सबको अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने प्रकाशित किया था। इसी कारण शास्त्रों में कहा है कि चारों वर्णों और चारों आश्रमोंकी रक्षा ब्राह्मणोंके द्वाराही होती है। जिस देशमें ब्राह्मण नहीं रहते हैं या जाते हैं वह देशवासी कालान्तरमें अनार्य हो जाते हैं और अन्तमें वर्बर तथा असभ्य होकर नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। इस कारण ब्राह्मणकी रक्षा पर ही सब कुछ निर्भर है।

ब्रह्मचिन्तन जिनका स्वभाव है, तप जिनका धन और ऐश्वर्य है, शास्त्रविचार और शास्त्रप्रचार करना जिनका नित्यकर्म है, उञ्छवृत्ति और अजगरीवृत्ति आदि द्वारा जो अपना निर्वाह करते हैं, बनवासी होकर पर्णकुटीरमें निवास करते हुए जगतका हितचिन्तन करना जो अपना कर्त्तव्य समझते हैं; ऐसे महापुरुषगण ही जगद्गुरुपदके अधिकारी हो सकते हैं। इस समय ऐसी ब्राह्मणजाति की कैसी अधः पतित दशा है वह सबके सामने प्रत्यक्ष है। ब्राह्मणजाति के पतनसे ही अन्यवर्णों और चारों आश्रमों का पतन हुआ है। जब तक ब्राह्मण-जातिकी उन्नतिका उपाय नहीं सोचा जायगा तब तक हिन्दू जातिका मंगल होना असम्भव है। कलियुगमें संघशक्तिके द्वारा सब बड़े बड़े कार्य हो सकते हैं। अतः पंचायती संघशक्तिकी प्राप्ति करने के लिये प्रबल उद्योग होना चाहिये, परन्तु यह सबको स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणजातिको उठानेका प्रयत्न किए बिना हिन्दू-जातिकी उन्नति असम्भव है। अतः इस समय सबसे पहले ब्राह्मणजाति की उन्नतिकी ओर हिन्दू राजा, हिन्दू धर्माचार्य तथा हिन्दू समाज-पतियों और नेताओंको सबसे पहले ध्यान देना उचित है।

आज दिन विद्यादानके जितने प्रतिष्ठान हैं उन सबमें धर्मशिक्षा देने का कोई भी आयोजन नहीं है। संस्कृतविद्यालयों में भी केवल भाषाज्ञान कराया जाता है. उनमें भी धार्मिकशिक्षा देनेका कोई नियम नहीं रखा गया है। कमसे कम संस्कृतपाठशालाओं महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंमें जिनमें ब्राह्मणके बालक ही अधिक संख्या में विद्याभ्यास करते हों, उनको कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड की साधारण योग्यता प्राप्त करनेकी व्यवस्था अवश्य रहनी चाहिये। ग्रामोंमें पौरोहित्यके व्यवसाय करनेवाले ब्राह्मणोंको कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड के छोटे छोटे ग्रन्थ अनुवाद सहित छपवा कर वितरण करना चाहिये और जो ऐसे ग्रन्थ न पढ़ते हों ऐसे ब्राह्मणोंसे पौरोहित्य कार्य नहीं लेना चाहिए। हिन्दू समाजपति और हिन्दू धर्माचार्य, तथा नेतृवृन्दोंसे निवेदन कर अयोग्य व्यक्तियोंको तिरस्कृत और योग्य व्यक्तियोंको पुरस्कृत कराकर हिन्दूसमाजका धर्मके सम्बन्धसे; सुव्यवस्थित बनानेका यत्न होना चाहिये। जो ब्राह्मण कमसे कम गायत्री न जानता हो और नियमित जप न करता हो उसके साथ शूद्रवत् वर्त्ताव करना चाहिये, चाहे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रजातियोंमे ऐसी दृढ़ व्यवस्था न हो सके; परन्तु ब्राह्मणजातिमें एक सदाचारी विद्वान् और अनुष्ठानशील ब्राह्मणश्रेणीका सम्प्रदाय अलग सुरक्षित रहना चाहिये।

शास्त्रोंमें कहा है कि कलियुगमें पंचायती रूपी संघशक्तिके द्वारा ही सब बड़े-बड़े कार्य सुसिद्ध होंगे। आजकलको पृथ्वीके सब देशोंकी मनुष्यजातिमें संघशक्ति से ही सब कार्य सम्पादित होते हैं। राजाविरहित पंचायती राजशासन प्रणालीका प्रचार जो सब देशोंमें देखने आ रहा हैं; वह पूज्यपाद महर्षियोंकी भविष्य-वाणीका यह ज्वलन्त दृष्टान्त है। हिन्दुस्तानमें तथा हिन्दूजातिमें नाना-

श्रेणियोंकी सभाओं की सृष्टि होकर अनेक प्रकार के कार्य सुसम्पन्न हो रहे हैं; इसी संघशक्तिके सिद्धान्तके अनुसार भारतसरकार भी प्रान्तीय-मंत्रिमण्डल और भारत केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की स्थापना कर रही है। इस सन्धिमें आत्मरक्षा करने के लिये हिन्दू-प्रजा और अहिन्दूप्रजा संघ-शक्तिके विभिन्न मार्ग निकाल रही है। जिस प्रकार व्यक्तिगत रागद्वेषसे लाभ और हानिकी सम्भावना होती है; वैसे ही पंचायतीदलसे भी समझना चाहिये। जैसे द्वेषकरनेवाला व्यक्ति शत्रुता करके क्लेश दे सकता है; वैसे ही एक पंचायती दलसे भी भयकी सम्भावना रहती है। इस पंचायतीशक्तिके आक्रमणसे आत्मरक्षा करनेके लिये वर्णाश्रमी हिन्दू जातिको भी एक विशेषदल बनाकर अपनेमें संघशक्तिकी उत्पत्ति अवश्य करनी चाहिये। हिन्दूजाति संघशक्तिके अभावसे ही जनसंख्या में सबसे अधिक होने पर भी सबसे दुर्बल दिखाई पड़ती है। अतः हिन्दू जातिमें संघ-शक्ति प्राप्त करनेका प्रबल उद्योग होना चाहिये। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दूजातिके अभ्युदयके लिये सबसे पहले ब्राह्मणजातिका अभ्युदय करानेका प्रबल प्रयत्न सब ओरसे होना चाहिये।

परिवर्तन

(कहानी)

(विश्वनाथप्रसाद जायसवाल)

अट्टालिकाके मध्य एक सजे हुए कमरेमें बैठी हुई शीला उत्सुकता पूर्वक प्रतिक्षा कर रही थी अपने मामाकी ·· वह उत्सुक थी हृदयके द्वन्द्वका साम्राज्य था वह सोच रही थी कब हाई स्कूलका परीक्षा फल निकलेगा और कब वह अपने परिश्रमके फलका रसास्वादन कर सकेगी। समय अत्यधिक व्यतीत हो चला था वह प्रतिक्षण अपने कलाई पर बंधी हुई घड़ीको देखती और पुनः प्रतीक्षा करने लगती अपने मामाकी ·····रात्रि समाप्त हो चुकी थी ट्रेनका समय भी व्यतीत हो रहा था पर मामाका कहीं भी पता न था। शीला एका एक उठी और चल पड़ी स्टेशनकी ओर। ट्रेन घण्टे भर लेट थी शीला लौट पड़ी पुनः अपने घर और प्रतीक्षा करने लगी अपने मामाके आगमनका। रात्रिके अन्तिम प्रहर भी उसे अपनेको निन्द्रा देवीको समर्पित करना पड़ा, और वह सो गई।

× × ×

शीला शीला आवाज़ सुनते ही शीला उठ खड़ी हुई वह अव्यवस्थित थी, अलसाई हुई आँखें भी कुछ देखनेकी उत्सुकतामें इधर उधर व्यस्त थी शीलाको मामाकी यह चुप्पी असह्य मालूम पड़ रही थी आखिरी अपने धैर्यकी सीमाको छोड़कर शीला बोल पड़ी 'मामा" बताओ भी क्या' विनोदी मामा पूछ बैठे।

'परीक्षा फल' शीलाने उत्सुकता मिश्रित स्वरमें कहा। 'ओह'। यह तो मैं भूल ही गया था। तुम प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हो शीला और मामाने कहा। अपने सूटकेससे एक पत्रिका की फाईल उसे दे दी। शीलाके नाजुक हाथ पत्रोंके उलटनेमें व्यस्त हो गए। ३४२१७ प्रथम श्रेणी (S Rumari) पत्रिकामें अपने फलको देखकर शीला प्रसन्न हो उठी और गिर पड़ी मामाके पैरों पर। शीलाको अपने वे दिन याद आ गए जब वह गाँवमें थी और उसके मामा उसे यहाँ पढ़ानेके लिए लाए थे। वह सोच रही

थी जब कि उसके मामाने कहा था 'बेटी' मैं तुम्हें ले तो चल रहा हूँ, पर मेरी लाज रखना और अच्छी तरह पढ़ना। वह इसी तरहसे न जाने क्या क्या सोचती रहती यदि उसके मामा उसे पैरोंसे उठा न लेते। वृद्ध मामाके भी नेत्रोंमें आनन्दाश्रु छलक आये और वे बोल उठे " सुखी रहो बेटी"। शीला प्रसन्न थी उसे आज चारों तरफ नवीनता मालूम पड़ रही थी वह उत्सुक थी अपने पितासे मिलनेको ....तारद्वारा उसने इस शुभ समाचारको पिताके पास भेज दिया और लिखा कि "मैं जल्दीसे आरही हूँ" भोजन समाप्त हो चुका था। मामा हाथ धो रहे थे। शीलाने कहा "मामा मैं घर जाऊँगी"।

'जरूर बेटी' मामाने कहा—तुम दो वर्षों से घर नहीं गई अवश्य जाओ और शीला तैयारी करने लगी घर जानेकी।

× × ×

'बाबूजी' तार? डाकियेने तारका लिफाफा शंकरलालजीके हाथमे दे दिया। तारको पाकर शंकरलालके हृदयमें तरह तरहकी भावनायें जागृत हो उठीं और संशकित हृदयसे उन्होंने लिफाफा खोला। तारमे शीलाकी उत्तीर्णताका समाचार था। शंकरलाल प्रसन्न हो उठे और समाचारको शिलाके माँको सुनानेके लिये चल पड़े।

आंगनमें शीलाकी माँ खड़ी थी हाथमें भगवान्‌की पूजाके लिए पुष्प लिए वह मन्दिरकी ओर जा रही थी, तभी शंकरलाल उसकी पुत्रीकी सफलताका समाचार सुनाने पहुँचे।

'सुना तुमने' शंकरलालने अपनी पत्नीसे कहा! 'क्या'

शीला पास हो गयी।

माँकी प्रसन्नताका पारावार न रहा वह पुलकित हो उठी, पर उसके हृदयमें एक विषादकी छाया थी और उस छायाके पड़नेसे उसका प्रसन्न मन कुछ खिन्न हो उठा। वह अपने पतिसे बोल उठी "जानते हो शीला सयानी हो गई उसके विवाहकी भी चिन्ता होनी चाहिए।" इस बातको सुनकर शंकरलालका भी हृदय व्यथित हो उठा। बेटीके विवाहकी चिन्ता उन्हे सताने लगी। अपनी गरीबीका दृश्य उनके सामने नाच उठा केवल सौ रूपयेकी क्लर्कीसे बेटीके दहेज़का कैसे प्रबन्ध हो सकता है। यह तो पारिवारिक खर्चमें ही समाप्त हो जाता है। प्रसन्नताका स्थान विषादने ग्रहण कर लिया और वे इस समस्याके समाधानका साधन ढूढ़ने लगे और पत्नी चली गई मन्दिरकी ओर शायद इस समस्याके हलके लिए भगवान्‌से प्रार्थना करने।

× × ×

शीला मामाके यहाँसे घरपर आ चुकी थी। शंकरलाल बेटीको देखकर और भी वरोंके खोजमें तत्पर हो गये पर उन्हें योग्यवर नहीं मिला। जहाँ कहीं भी जाते, केवल रूपयेकी समस्या उनके समक्ष उपस्थित हो जाती और वे उलटे पैर लौट आते उस स्थानसे।

इसी प्रकार कई मास व्यतीत हो गए। शंकरलालकी गरीबीने उन्हें योग्यवरकी आशासे वंचित कर दिया और सुन्दर सी शीलाका जीवन-सूत्र वे किसी अयोग्यके हाथ देना नहीं चाहते थे। समस्या और चिन्ताने शंकरलालके स्वास्थ्यको आधा कर दिया, पर फिर भी वे तत्पर थे दृढ़ थे योग्यवरके अन्वेषणमें।

कई मास और व्यतीत हो गये, पाँच हजार के तिलकको तय कर एक दिन शंकरलाल अपने घर आये। शरीर थका था, मस्तिष्क चिन्ता ग्रस्त था। पत्नीके साथमें अपनी टोपी देते हुए बोल उठे "तय हो गया" पत्नीके मुखपर प्रसन्नताकी एक रेखा खिंच गई और वह पूछ बैठी "कितना तिलक देना होगा"

'पाँच हजार' शंकरलालने अपने थके शरीरको आराम कुर्सीपर रखते हुए कहा।

'इतना अधिक' कहाँसे देगें। पत्नीने दबेस्वरसे पूछा। घर-खेती बेचकर। आखिर लड़कीका व्याह तो करना ही होगा वह कुवांरी तो रहेगी नहीं। शंकरलालके स्वरमें क्रोध था। पत्नी पतिको क्रोधित देख चली गई और शंकरलाल अपने बेटीके भाग्यका विचार करनेमें निमग्न हो गये।

× × ×

शीलाका व्याह सेठ हीरालालके एक मात्र सुपुत्र श्यामसे हो गया था। शीला अपने निर्धन माता पिताके घरसे बिदा होकर वैभव शाली पतिके घरमे आगई थी. पर उसे चिन्ता थी अपने पिताकी। वह प्रसन्न न थी क्योंकि वह जानती थी कि, उसके पिता और माता अब कर्जके बोझसे बोझिल होकर चिन्तित रहेगें। वह भी सभ्य तथा शिक्षित गृहणी थी, पर पति एक बेपरवाह कामुक! शीला चिन्तित थी अपने पतिकी अवस्थासे वह संतुष्ट नहीं थी। वह उसमें परिवर्तन चाहती थी। पर लाचार थी वह सब कुछ देखनेपर चुप रह जाती पर आखिर वह भी मनुष्य थी। उसमें भी ज्ञान था, उसका भी अधिकार था, वह भी पत्नी बन कर इस घरमे आयी थी, उसे भी गृहलक्ष्मी कहलानेका सौभाग्य था, और अपने पतिको अच्छा रखना उसका कर्तव्य था। उससे अब अपने पतिका यह व्यवहार असह्य हो उठा और एक दिन

चली जाओ अपने घर।

आप यह ठीक नहीं कर रहे हैं।

तुम मेरे बीचमे बोलनेवाली कौन हो? श्यामके स्वरने उसके शरीरमें आग लगा दी। शराबके नशेमें वह अपने व्यक्तित्वको भूल चुका था। मानवताकी जगह दानवताका साम्राज्य उसके हृदयमें व्याप्त था। सभ्यता शिष्टता, लोक-लज्जा उससे दूर हो चुकी थी और वह बकता जा रहा था। पतिकी ऐसी अवस्था देखकर शीला चुप हो चुकी थी। उसने संपूर्ण स्थिति समझ ली और कमरेसे चली गई। शीलाका कमरेसे इस प्रकारसे जाना श्यामको अच्छा न लगा क्योंकि वह उससे झगड़ा करना चाहता था। पर अपने क्रोधको मनमे ही रख वह सोने चल पड़ा।

दिन इसी प्रकार बीतते जा रहे थे। श्यामकी अवस्था दिन प्रतिदिन बिगड़ती गयी वह अब शराब और वेश्याओंके पैरोंकी झनकार सुननेमे व्यस्त था। न उसे घरकी परवाह थी न बाहरकी। सेठ हीरालाल बेचैन थे पुत्रके इस व्यवहारसे। शिलाका तो सौभाग्यही समाप्त हो रहा था। वह दिन-रात रोती रहती थी उसे कोई भी इस समस्याका समाधान नहीं मिल रहा था। वह चिन्तित थी अपने पतिके इस व्यवहारसे और एक दिन वह पूछ बैठी, आप ऐसे क्यों रहते हैं।

श्याम इस प्रश्नको सुननेकी आशा न रखता था और अचानक इस प्रश्नको सुनकर वह उत्तर देनेमें असमर्थ हो गया। उसने देखा सामने शीला खड़ी है पर·· उसमें परिवर्तन था। वह पहलेवाली शीला न थी लज्जाके स्थान पर शेखी थी गालोंपर पाउडर था, ओठोंमे लाली थी कानोंमें आईरन और गलेमे लेकलेश था। हाथमें घड़ी थी और सादी साड़ीके स्थानपर शरेमी साड़ीको धारण किया था। श्याम शीलाके इस स्वरूपको देखकर ठकसा हो गया। साक्षात् सौन्दर्यमयी प्रतिमाको अपने समक्ष देखकर वह भूल गया अपनेको और शीलाके सौन्दर्यको निरखने लगा।

आप मेरी तरफ क्या देख रहे है शीलाने श्यामका ध्यान भंग कर दिया। वह लज्जित हो गया। कुछ भी नहीं। कहो क्या कहना है। एक ही साँसमे श्यामने कहा।

आप मुझसे नीचे नीचे क्यों रहते हैं ?

मैं !

जी हाँ आप। शीलाने बीच ही में कहा।

श्यामके पास कोई उत्तर न था वह मुग्ध था शीलाके इस सौन्दर्यपर।

वह हँस पड़ा और शीलाका हाथ पकड़ कर उसे अपनी ओर खींच लिया और बोल उठा--इतना क्रोध क्यों शीला! मानवसे ही भूल होती है मैं भी गुनाह पथिक था, पर तुम्हारे परिवर्तनने मुझे बता दिया कि तुम भी........।

× × ×

महापरिषद् सम्वाद

विश्वस्त सूत्रसे ज्ञात हुआ है कि, प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरुकी घोषणाके अनुसार कानून मन्त्री डाक्टर अम्बेदर हिन्दू-कोडके विषयमें विचार-विमर्श करनेके लिये एक कन्फरेन्स शीघ्र ही बुलानेवाले हैं। महापरिषद्की चीफ सेक्रेटरी श्रीमती कृष्णा माथुरने कानून मन्त्रीको पत्र लिखकर अनुरोध किया है कि, महापरिषद्के प्रतिनिधि भी उक्त कन्फरेन्समें बुलाये जायँ जिससे उक्त कन्फरेन्सके सामने देशकी कोटि-कोटि महिलाओंकी प्रतिनिधित्व करनेवाली एकमात्र अखिल भारतीय संस्था श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्के विचार उचित रीतिसे रखे जा सकें। क्योंकि हिन्दूकोडका विरोध करनेवाली यह अखिल भारतीय एक मात्र महिलाओंकी संस्था है, जिसने गत तीस वर्षोंसे स्त्री जाति की ठोस सेवाकी है, और भारतीय हिन्दू महिलाओंका ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करती है। आशा है कि, कानून मन्त्री हमारी चीफ सेक्रेटरीके पत्रपर ध्यान देंगे और महापरिषद्के प्रतिनिधि उक्त कन्फरेन्समें अवश्य सम्मिलित किये जायंगे।

× × ×

महापरिषद्की प्रबन्ध समितिकी बैठक फाल्गुन शुक्ल ५।२००६ मंगलवार तदनुसार ता० २१।२।५० अपराह्न पांच बजे श्रीसेठ बाबूलाल ढनढनियाकी अध्यक्षतामें विद्यालय भवनमें हुई जिसमें विद्यालय तथा महापरिषद्के अन्यान्य कार्य-विभागोंके प्रबन्धके सम्बन्धमें कई महत्वपूर्ण मन्तव्य स्वीकृत हुए।

× × ×

पूर्वी बंगालके उत्पीड़ित भाई-बहिनोंकी करुण दशासे उद्विग्न होकर महापरिषद्ने १०१) की सहायता अमृतबाज़ार पत्रिकाके द्वारा भेजी, एवं आर्यमहिला महाविद्यालयकी अध्यापिकाओं तथा छात्राओंद्वारा संगृहीत ८९४।-)॥ आठ सौ चौरानबे रुपया साढ़े पांच आना राष्ट्रीय स्वयं सेवक-संघके पूर्वी बंगाल सहायता कोषमें सौ० श्रीमती सुशीला नरेन्द्र जीतसिंहके द्वारा भेजा। महापरिषद्की प्रेरणासे काशी महिलासङ्घकी सदस्याओंने परस्परमें २३०) रुपया संग्रह किया, यह २३०) रुपया अमृतबाजार पत्रिकाके पूर्वी बंगाल उत्पीड़ित सहायताकोषमें महापरिषद्द्वारा भेजा गया। इस प्रकार महापरिषद्ने पूर्वी बंगालके उत्पीड़ितोंकी सहायताके लिये कुल १२२५।-)॥ भेजा।

अपनी बात।

माँ दुर्गे !

जब देवलोकमें देवता असुरोंका भीषण संग्राम हुआ, देवतागण पराजित हुए, उनको प्रबल पराक्रमी असुरोंने अपने राज्यसे निर्वासित कर दिया; देवगण राज्य-श्री-शक्तिसे हीन होकर इधर-उधर भटकने लगे, कोई अवलम्बन नहीं रहा, तब सब ओरसे हताश-निराश होकर उन्होंने तुम्हारे अभय चरणोंकी शरण ली, तुम्हें प्राणभर कर पुकारा, तब भक्तवत्सला तुम उन्हींके तेजोंसे आविर्भूत हुई, तुमने महिषासुरको मार कर देवताओंको अभय-दान दिया, अपने प्रिय सन्तानोंकी रक्षा की। पुनः शुम्भ-निशुम्भ जब प्रबल होकर देवताओंको त्रस्त करने लगा, देवताओंको पराजित कर उन प्रचण्ड पराक्रमी असुर-बन्धुओंने देवलोक पर आधिपत्य कर लिया, तब भी देवताओंने सरल हृदय एवं भक्तिभावसे तुम्हारी ही शरण ली, कातर हृदयोंसे एकचित्त एकप्राण होकर तुम्हें बुलाया, तुमने भक्तोंकी आर्तनाद सुनते ही उनके त्राणके लिये, कौषिकी, वैष्णवी, माहेश्वरी, ब्रह्माणी चामुण्डा, शिवदूति आदि नाना रूपोंमें आविर्भूत हुई, संग्राममें अन्यायी दुराग्रही असुरोंका संहार किया देवताओंकी रक्षा की और धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की। इस प्रकार देवलोकसे विताड़ित असुरोंने जब पृथिवीपर आकर नाना प्रकारके उत्पातोंसे सज्जनोंका उत्पीडन करना प्रारम्भ किया, प्रजा उद्विग्न हो उठी, धर्मका लोप होने लगा, रावणका साम्राज्य पृथिवीपर छा गया, तब भगवान् रामने उसे मारनेके लिये महाशक्तिरूपिणी तुम्हारी आराधना की, तुम तत्काल उनके सामने आविर्भूत होगयीं, रामको विजयका वरदान दिया। रावण मारा गया, रामराज्य स्थापित हुआ, मनुष्य-समाजने शान्ति-सुखकी श्वांस ली।

पुनः कालान्तरमें जब पृथ्वीपर दानव-दलका बल बढ़ा, मानवता त्रस्त हो उठी, सब ओर ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी" की बोलबाला थी, धर्मक्षेत्ररूप कुरु क्षेत्रके रणाङ्गनमें कौरव एवं पाण्डव दोनों पक्षकी सेनाएँ शस्त्रसज्ज होकर खड़ी होगयीं, अब शस्त्र-प्रहार होना ही चाहता था, इसी समय भगवान् कृष्णने अर्जुनको आदेश दिया, वीरवर! तुम युद्ध-प्रारम्भके पहले विजय-प्राप्तिके निमित्त परम कल्याणमयी जगद्धात्री रणरङ्गनी दुर्गाकी शरण जाओ और उनकी स्तुति करो। भक्त अर्जुनने यह आदेश पाते ही रथसे उतर कर अति श्रद्धा-भक्तिसे तुम्हारी स्तुति की, तुम प्रसन्न होकर वहीं आविर्भूत हुई। शरणागत भक्त अर्जुनको विजयका आश्वासन दिया। उस महासमरमें धर्मध्वंसी असुर-पक्षका संहार हुआ, देवपक्षकी विजय हुई और पुनः धर्मराज्य स्थापित हुआ; साथ-साथ जीवजगत्का दुःख दूर हुआ।

दयामयी करुणामयी अम्बे! आज हमारी दुर्दशा तू क्यों नहीं देखती! केवल एक स्त्री द्रौपदीके अपमानके लिये महाभारत जैसा समर हुआ था, आज लाखों स्त्रियोंकी लज्जा लूटी जा रही है, धर्म संकटमें है, फिर भी तू नहीं आती! मां अब तो दया कर। मेरी तो प्रतिज्ञा ही है।

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि संक्षयम्॥

कैसी हृदय हीनता !

काशीमें "बुढ़वा मंगल" नामका एक मेला बहुत वर्षोंसे होता आरहा है। इसकी विशेषता यह है कि, यह गंगाजीमें नावोंपर ही होता है। लोग नावोंको खूब सजाते हैं एवं उसमें खाने-पीने,

नाचने-गानेआदि सभी प्रकारके आमोद-प्रमोद तथा मनोरञ्जनके साधन रहते हैं। इन सजे हुए नावोंमें लोग रात्रिमें रहते हैं और मनमाना आनन्द उपभोग करते हैं। इनमें वेश्याओंके नृत्य, वाद्य एवं मद्यकी भी कमी नहीं रहती। कुछ वर्ष पहले कुछ लोगोंने इसका विरोध भी किया था, किन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। यद्यपि मनोरञ्जन मनुष्यके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्यके लिये एक आवश्यक विषय है, जहांतक वह धर्म एवं नैतिकताकी सीमाका पार न कर जाय एवं उपयुक्त अवसरपर भी हो। यदि एक प्रतिवेशी बन्धुके घरमें आग लग रही हो, और दूसरा प्रतिवेशी पासहीके घरमें अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ नृत्य-गानके आनन्दमें विभोर हो, तो क्या उस मनुष्यको मनुष्य कहलाने अधिकार हो सकता है? किन्तु बड़े दुःख एवं लज्जाका विषय है कि, ऐसे मनुष्योंकी भी आजदिन समाजमें कमी नहीं है। तभी तो आज देशकी यह दयनीय दशा है। जिन दिनों पूर्वी बंगालमें सैकड़ों निरीह प्राणियोंकी निर्मम हत्याके हृदय द्रावक समाचार प्रतिदिन आरहे थे, सैकड़ों स्त्रियोंका सतीत्व बलात् नष्ट किया जा रहा था और लाखों हमारे भाई-बहिन अपने प्रिय प्राणोंको हथेलीपर रखकर अपने घर-द्वार छोड़ निराश्रय होकर भागे आ रहे थे, उन्हीं दिनों काशीमें "बुढ़वा मंगल" का मेला हो रहा था, जिन मनचले मनुष्योंने इस मेलेमें आनन्द मनाया, एवं ऐसे समयमें आमोद-प्रमोदसे मनोरञ्जन किया उनको क्या कहा जाय? क्या इस हृदय-हीनता की कोई सीमा है?

सरकार धर्मनिरपेक्षता वापस ले या हिन्दूकोडविल वापस ले।

कांग्रेस सरकारने अधिकारमें आते ही अपनेको धर्मनिरपेक्ष राज्य Secular State घोषित किया। पुनः नवनिर्मित विधानमें भी इसीको दुहराया गया। यह धर्मनिरपेक्ष राज्य हिन्दूकोडविल जो हिन्दूधर्मपर प्रत्यक्ष प्रहार है, क्यों-कर अपने सत्ताके बलपर हिन्दूओंपर लादनेपर तुला हुआ है, यह समझमें नहीं आता है। धर्मनिरपेक्ष राज्यको किसी जातिके धर्ममें कानून बनाकर हस्ताक्षेप करनेका नैतिक अधिकार कैसे हो सकता है? यदि सरकार कानूनद्वारा किसी जाति या वर्गविशेषके धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारोंमें उथल-पुथल करनेका अपना अधिकार समझती है तो उसकी धर्मनिरपेक्षता क्योंकर रह सकती है? ऐसी स्थितिमें धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करनेकी आवश्यकता ही क्या पड़ी थी? धर्मनिरपेक्ष शासन केवल हिन्दूओंके लिये हिन्दूकोडविल कैसे बना सकता है? इस प्रसङ्गमें हमें बंगाली भाषाकी "सोनार पाथर बाटी" की कहावत स्मरण आती है। हमारी सरकारकी हिन्दूकोड-सम्बन्धी नीतिमें इस कहावतकी ठीक चरितार्थता होती है। तात्पर्य यह है कि, बाटी यानी कटोरी या तो पत्थरकी या सोनेकी किसी एककी हो सकती है सोना एवं पत्थर दोनोंकी एक ही कटोरी नहीं हो सकती अतः जैसे यह असम्भव है, वैसे ही सेकुलर राज्यके लिये हिन्दूधर्म-सम्बन्धी हिन्दूकोडविल बनाना नैतिक दृष्टिकोणसे सर्वथा असम्बद्ध तथा असम्भव है। अतः सरकारके सामने न्यायतः उचित दो ही मार्ग है; वह यह कि या तो सरकार हिन्दूकोड-बिल वापस लेकर अपनी घोषित धर्मनिरपेक्षताकी नीतिकी रक्षा करे, यदि नहीं तो अपनी धर्म-निरपेक्षताकी नीति वापस ले और अपनेको हिन्दूराज्य घोषित करे। यद्यपि हिन्दू समाजने धार्मिक कानून बनानेका अधिकार कभी भी शासन सत्ताको नहीं दिया था, परन्तु हिन्दुराज्य घोषित होनेपर उसे किसी रूपमें वैधानिक अधिकार हो भी सकता है। तीसरा मार्ग जो अवशेष रहता है, वह है औरंगजेबशाही या हिटलरशाही, जिसे मनमाना शासन कहना चाहिये। परन्तु हमारी सरकार तो यह भी स्वीकार नहीं करती; वह तो इसके विपरीत जनतन्त्र भी कहती है। अतएव जनतन्त्र

सरकारके लिये भी करोड़ों हिन्दू जनताकी इच्छाके प्रतिकूल अपने सत्ताके बलसे हिन्दूकोडबिल उस पर लादना सरकारके जनतन्त्र सिद्धान्तके भी सर्वथा विपरीत है। अतः सरकारके लिये वैधानिक एवं शोभनीनय एक ही मार्ग बच रहता है, वह यही कि, वह हिन्दूकोडबिल वापस ले, या धर्म-निरपेक्षताकी नीति वापस ले।

राजा कालस्य कारणम्।

यद्यपि किसी धर्मको मानना सभ्यताका लक्षण माना जाता है, क्योंकि धर्मको छोड़ देनेपर मनुष्यमें तथा मनुष्यके अतिरिक्त अन्य प्राणियोंमें आकृतिकी भिन्नताके सिवाय कोई भी भेद नहीं रह जाता है। खाना, सोना, डरना, रमना, अपने अपने सुख-सुविधाका ध्यान रखना, और सुखको चाहना, ये छ व्यौहार जैसे मनुष्य करते हैं, वैसे ही दूसरे सब प्राणी भी करते हैं। अतः यदि मनुष्य भी केवल इन्हीं वृत्तियोंकी सेवा कर जीवन व्यतीत करता है, तो मनुष्य तथा मनुष्येतर पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गआदि जीवोंमें कोई भी अन्तर नहीं। इसी कारण मनुष्य-समाजमें किसी रूपमें किसी भी धर्मका पालन सभ्यताका लक्षण समझा जाता है। अतः संसारकी सभी सभ्य मनुष्य-जातियोंमें कोई न कोई धर्म माननेकी प्रथा प्रचलित है; और उन-उन देशोंके मनुष्य उसका पालन भी करते हैं। पोप, पैगम्बर, पादरी, जोरेस्टर आदि आदि विविध नामोंसे धर्मगुरुओंका आदर-सम्मान भी सभी देशोंमें है ही। और भारत देश तो इस दिशामें सबसे आगे रहता आया है, इसी कारण अतीतमें उसने जगद्गुरुत्वका पद प्राप्त किया था। भारतीय संस्कृतिका आत्मा धर्म है। अथवा धर्म एवं संस्कृति पर्याय-वाचक शब्द हैं, ऐसा भी कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। यहांका वैदिक धर्म इतना महान्, उदार और सर्वव्यापक है कि, पृथिवीके समस्त धर्म इसके प्रशस्त अङ्कमें आश्रित एवं सुरक्षित थे और हैं। किसी धर्मका विरोध उसमें स्थान नहीं पाता। हिन्दुओंके जीवनकी प्रत्येक चेष्टा एवं क्रिया-कलापके साथ धर्मका अटूट सम्बन्ध बँधा हुआ है। इसमें धर्म-विरहित विषय-भोगका कोई स्थान नहीं, वह तो केवल पशुतामात्र कहा गया है। परन्तु इस समय परिस्थिति सर्वथा विपरीत देखी जारही है। आज तो अपनेको शिक्षित एवं सभ्य समझनेवाला समुदाय धर्मके नामसे घृणा करता है। धर्म तो एक प्रकारका ढकोसला तथा अनपढ़ एवं असभ्य मूर्खोंका लक्षण समझा जाता है। मनमानी आहार-विहार या स्वेच्छाचार तथा किसी भी धर्मको न मानना entightend होनेका श्रेष्ठ लक्षण है। आज दिन-प्रतिदिन द्रुतगतिसे धार्मिकताका लोप होने लगा है। सैकड़ों वर्षोंके मुगल शासनमें भी धर्मका ऐसा ह्रास नहीं हुआ था, जैसा इस समय देखनेमें आरहा है। उस समय अपने धर्मके लिये मर-मिटनेमें हिन्दू लोग गौरव अनुभव करते थे, इसलिये धर्मकी रक्षाके लिये उन्होंने बड़ासे बड़ा त्याग एवं बलिदान भी किया था। इसके अनन्तर अंगरेजोंका शासन आया। ये लोग कूटनीतिमें कुशल थे अतः हिन्दूधर्मके शत्रु होनेपर भी उन्होंने सीधे धर्मपर प्रहार नहीं किया, किन्तु धर्मके विषयोंमें उदासीन रहनेकी अपनी बाह्य नीति अपनायी, एवं भीतरसे अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ऐसी शिक्षा-पद्धतिका निर्माण किया, जिसमें हिन्दुओंको अपने धर्मसे, अपनी संस्कृतिसे घृणा उत्पन्न हो जाय, एवं वे स्वयं ही अपने धर्मके शत्रु बन जायँ, खान, पान, रहन-सहनमें अंगरेजोंके पूरे शिष्य बन जायँ। जैसा उन्होंने चाहा था, फल भी वैसा ही हुआ। केवल डेढ़सौ वर्षोंके शासनकालमें ही उन्होंने शिक्षित समाजको अपने साँचेमें ढाल लिया। शिक्षित समुदायको अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपनी वेष-भूषा रहन-सहन सबसे घृणा उत्पन्न होगयी है। यहांतक कि बहुतसे लोग अपनेको हिन्दू कहनेमें भी हीनता एवं लज्जाका

अनुभव करते हैं। सूट, बूट, सिगरेट, शराब सभ्य होनेके लक्षण हैं। ईश्वर-कृपासे अब देश स्वतन्त्र हुआ, अँगरेजी शासनका अन्त हुआ परन्तु जिन व्यक्तियोंके हाथों शासन-सूत्र आया, वे, उसी अँगरेजी सभ्यता एवं शिक्षामें सभ्य एवं शिक्षित होनेके कारण अँगरेजोंसे भी आगे निकले। शासनारूढ़ होते ही उन्होंने Secular State घोषित किया, जिसका सीधा-सीधा अर्थ धर्महीन राज्य है। हमारे प्रधान मन्त्री ईश्वरका कभी भूलसे भी नाम नहीं लेते हैं। धर्मका नाम लेना उनके राज्यमें साम्प्रदायिकता है। फल भी साथ-साथ दिखायी देरहा है। इधर कुछ वर्षों में जितना अनाचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार चोरी, डकैती हत्या लूटने जितना विकट रूप धारण किया हैं, उतना इससे पहले नहीं था; यह तो सबके सामने ही है। इतनी जल्दी इतना घोर परिवर्तन एवं नैतिक पतन जनताका क्यों होरहा है, इस रहस्यमय प्रश्नका एक ही उत्तर है, जो हमारे त्रिकाल-दर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने हजारों वर्ष पहले लिख रखा है कि "राजा कालस्य कारणम्" अर्थात् राजा कालका कारण है। तब धर्महीन राज्यकी प्रजा धर्महीन होगी ही।

मुद्रक व प्रकाशक—श्रीमदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगंज, बनारसने हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशीमें छपवाकर प्रकाशित किया।

विषय-सूची

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

वैशाख, ज्येष्ठ सं० २००७ | वर्ष ३२, संख्या १, २ | अप्रैल, मई १९५०

रे मन मूरख जनम गँवायो ।
करि अभिमान विषय रस चाख्यो, श्याम शरण नहिं आयो ।
यह संसार फूल सेमर को सुन्दर देखि भुलायो ।
चाखन लाग्यो रुई उड़ि गई हाथ कछू नहिं आयो ।
कहां भयो अब के मन सोचे पहिले नाहिं कमायो ।
कहत सूर भगवन्त भजन बिन सिर धुनि धुनि पछतायो ॥

संत सूरदास ।

हिन्दू-विवाह और परदा प्रथा

(आलोचनात्मक निबन्ध)

[लेखक—गोविन्द शास्त्री दुगवेकर]

विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महापुरुषके लेखके प्रतिवादमें लेखनी उठाना "छोटे मुँह बड़ी बात" कही जा सकती है, परन्तु गुरुजनके प्रति भी विनयपूर्वक सात्त्विक मतभेद प्रकट करना व्यवहार-शास्त्रके अनुसार कोई अपराध नहीं है। कविवरने १४ वर्ष पूर्व 'भारतवर्षीय विवाह' शीर्षक एक लेख बंगलाके सुप्रसिद्ध 'प्रवासी' मासिक पत्रमें लिखा है। प्रवासीकी पुरानी फाइलें उलटते-पुलटते वह लेख दृष्टि-गोचर हुआ और उसको पढ़नेपर चित्तमें बड़ा खेद हुआ। जिस भारतीय तत्त्वज्ञानके अवलम्बनसे कविवर विश्वविख्यात हुए, उसी तत्त्वज्ञानके आधारपर आधारित भारतीय विवाह प्रणालीको आधुनिक विदेशी विवाह-प्रणालीकी तुलनामें वे हेय समझते हैं, यह धर्मप्राण हिन्दुओंके हृदयोंमें ठेस लगने योग्य बात है।

कविवर यह तो स्वीकार करते हैं कि—"प्राचीन कालमें हिन्दूलोग व्यक्तिगत सुखके लिये विवाह नहीं करते थे; किन्तु उन्होंने एक सामाजिक कर्तव्यरूपसे विवाहकी व्यवस्था की थी। यद्यपि गान्धर्व, राक्षस, आसुर, पैशाच आदि विवाहोंको भी धर्मशास्त्र ने विवाह ही माना है; परन्तु इन विवाहोंकी निन्दा कर ब्राह्मविवाहकी ही प्रशंसा की है। ब्राह्मविवाहके अतिरिक्त अन्य प्रकारके विवाहोंमें मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इच्छाकी प्रबलताके कारण कर्तव्याकर्तव्य-विचारको भुला देता है। ब्राह्मविवाह आधुनिक विज्ञान (Eugenics) सम्मत है। इस विवाहके फलस्वरूप उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न होनेकी सम्भावना अधिक रहती है। परस्पर प्रेम हो जानेपर हिन्दुओंका विवाह नहीं होता, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वह प्रेमहीन होता है। सच्चा और चिरस्थायी प्रेम पाश्चात्य प्रणालीके विवाहोंमें भी सुलभ नहीं होता। अधिक अवस्था हो जानेपर स्त्री-पुरुषोंकी इच्छा प्रबल हो जाती है, इस कारण पहले अल्प-वयसमें ही विवाह कर दिया जाता था। हिन्दू लोग विवाहको गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य कहते हैं सही, किन्तु विवाह करके गृहधर्मका पालन करना ही जीवनका अन्तिम उद्देश्य नहीं मानते। मुक्तिकी खोजमें गृहको त्याग देना ही उनका आदर्श था।"

यहाँतक तो ठीक है; किन्तु आगे चलकर आप कहते हैं,—"हिन्दुओंके विवाह और गार्हस्थ्य-धर्मका आदर्श प्राचीन कालके उपयोगी भले ही हो, किन्तु वर्तमान कालके उपयोगी नहीं है। क्योंकि आजकल नयी शिक्षा और नये नये मत चल पड़े हैं और अर्थाभावके कारण प्रत्येक घरकी सामाजिक परिधि संकीर्ण हो गयी है।" कविवरकी यह बात हमें ठीक नहीं जँचती। हमारी समझमें हिन्दुओंके विवाह और गार्हस्थ्य-धर्मका आदर्श चिरन्तन सत्यके आधारपर प्रतिष्ठित है। वह प्राचीन कालके जितना उपयोगी था, उतना वर्तमान कालके भी उपयोगी है। उदाहरणार्थ, वर-कन्याके अपनी इच्छाके अनुसार स्वयं चुनाव करनेकी अपेक्षा माता-पिता या अभिभावकोंके द्वारा चुने जानेकी व्यवस्था अधिक उत्कृष्ट है। इसीसे शास्त्रोंमें भी ब्राह्मविवाहकी विशेष प्रशंसा की है। यौवन-कालमें युवक-युवतियोंकी

प्रवृत्तियाँ अत्यन्त बलवती हुआ करती हैं। जो अच्छा लगता है, वही करनेका उनका आग्रह रहता है, कौन-सा मार्ग विशेष कल्याणकारक हो सकता है, इसकी विवेचना करनेकी उनको इच्छा ही नहीं होती। यौवन-कालमें संसारका अनुभव भी उनको बहुत कम होता है। युवक-युवतियाँ अपना संगी चुनते समय शारीरिक सौन्दर्य, संगीत, काव्य और सरस वार्तालाप करनेकी क्षमताको ही अधिक मूल्यवान् समझते हैं। वंशावलीके गुण-दोषोंका विचार ही नहीं करते। इससे उनके चुनावमें बहुधा भ्रम-प्रमाद हो जाया करता है। माता-पिता या अभिभावक स्वाभाविक रूपसे ही पुत्र-कन्याओंके हिताकांक्षी हुआ करते हैं। उनको संसारकी अभिज्ञता भी अधिक रहती है। यौवनोचित प्रवृत्तियाँ भी उनके कर्तव्य-निर्णयमें बाधा नहीं कर सकतीं। शारीरिक सौन्दर्यका भी वे यथोचित समादर करते हैं; परन्तु वंशावली-के गुण-दोषोंपर उनका अधिक ध्यान रहता है। इस सावधानताके कारण नव-दम्पतिको उत्तम सन्तति होने की सम्भावना अधिक रहती है। यह नहीं कहा जा सकता कि, उनसे कभी भूल होती ही नहीं; परन्तु युवक-युवतियोंके स्वयं चुनाव करनेसे जितनी भूल होगी, अभिभावकोंके चुनावसे उससे कम भूल होगी। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि, हिन्दुओंके विवाह और गार्हस्थ्य-धर्मका आदर्श प्राचीन-कालके उपयोगी था और वर्तमान कालके उपयोगी नहीं है।

"पहलेके हिन्दू वृद्धावस्थामें मोक्षप्राप्तिके लिये गृहत्यागकर देते थे, गृहस्थीकी झंझटसे छुट्टी पा जाते थे, इस कारण उनके विवाह और गार्हस्थ्य का आदर्श ठीक था। यद्यपि अब भी कितने ही सेवा-निवृत्त (पेन्शनर) लोग वृद्धावस्था में किसी तीर्थस्थानमें जाकर रहने लगते हैं; परन्तु गार्हस्थ्य त्याग कर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करनेकी व्यवस्था उठ जाने से वर्तमान बदली हुई परिस्थितिमें गृहस्थाश्रमकी गम्भीरता बहुत बढ़ गयी है। गृहस्थी उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। आजकल किसी बड़ी तपस्यामें लग जाना हो, तो गृह-त्याग किये बिना अन्य कोई उपाय नहीं है। आजकल की गृहस्थीने एक दलदलका रूप धारण कर लिया है।" कविवरकी इन उक्तियोंसे स्पष्ट है कि, प्राचीन लोगोंका आदर्श उन्हें पसन्द है, जो अब मलीन हो गया है। तब हमारी समझमें यह बात नहीं आ रही है कि, उसी आदर्शको अधिक उज्वल बनानेकी चेष्टा करनेके बदले हमारे विवाहके आदर्शको वे क्यों बदलना चाहते हैं। यदि हमारा आदर्श ज्यों का त्यों बना रहे, तो वर्तमान गृहस्थी की गम्भीरतासे डरनेका प्रयोजन ही नहीं रहेगा। कविवरने उस गम्भीरताका स्वरूप नहीं बतलाया है। हमें गृहस्थोंमें अब भी दाम्पत्य प्रेम, सन्तान-वात्सल्य, मातृ-पितृभक्ति आदि उत्तम गुण देख पड़ते हैं और वे उन्हें प्राचीन आदर्शसे ही प्राप्त हुए हैं। आजकल किसी महत्कार्यके सम्पादनके लिये जो गृहत्याग करते हैं, प्राचीन कालके गृहत्यागियोंकी संख्या उनसे अधिक थी। उनका आदर्श ही सर्वसाधारणसे भिन्न था। बुद्धदेव, महावीर, शङ्कराचार्य, रामानुज, चैतन्यदेव, रूप, सनातन, दयानन्द आदि महापुरुष इसी श्रेणीके थे। वर्तमान कालमें भी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द आदिने गृहत्याग किया था; परन्तु वह त्याग वर्तमान कालीन गार्हस्थ्यकी अनुपयोगिता देखकर उन्होंने नहीं किया था। वे प्राचीन कालमें होते, तो भी घर त्याग देते। अरविन्द तो राजनीतिक कारणसे गृहत्याग करनेको बाध्य हुए हैं। विज्ञानमें निरत होने के कारण आचार्य प्रफुल्लचन्द्र ने विवाह ही नहीं किया—ऐसे उदाहरण पश्चिमी देशों में भी देख पड़ते हैं। इसके लिए हमारे विवाह का आदर्श दायी नहीं है। ऐसे भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन्होंने महत्कार्य के लिए गृहत्याग करने की आवश्यकता नहीं समझी। जैसे,—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, बाल

गंगाधर तिलक, चित्तरंजन दास, गांधीजी, जगदीश चन्द्र बसु, भण्डारकर, रानाडे, गोखले, सुरेन्द्रनाथ, लाजपत राय, मालवीयजी, स्वयं कविवर आदि। वास्तवमें देखा जाय, तो हमारे विवाह और गार्हस्थ्यका आदर्श किसी बड़ी साधनाके लिये अन्तराय नहीं, किन्तु अनुकूल ही है। इस आदर्शमें जो तितिक्षा है, वह संसारके किसी विवाहके आदर्शमें नहीं देख पड़ती।

मान लीजिये कि आजकलके हिन्दूलोग अपने विवाह और गार्हस्थ्यका आदर्श बदलनेके लिये प्रस्तुत हो जायँ, कविवर उनके सामने कौन-सा नया आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं? आप फरमाते हैं,—"अब ऐसा समय आ गया है कि, हम अपने जीवन-क्रमपर नये सिरेसे विचार करें, विज्ञानको सहायता करें और विश्वके लोगोंकी चिन्ताओं और अभिज्ञताओंके साथ अपनी चिन्ताओं और अभिज्ञताओंका मेल बैठावें।" इसका तात्पर्य यह निकलता है कि, हम अपने प्राचीन आदर्शोंपर—उनके निर्दोष होनेपर भी तिलाञ्जलि दे दें, हम अपने जीवनको बिना सोचे विचारे विश्वके लोगोंके अनुकरणपर नये सांचे में ढाल दें, स्वाभाविक रहन सहनको त्यागकर तथाकथित विज्ञानकी कृत्रिम पद्धतिको अपनावें और सहस्रों वर्षोंसे सत्यकी कसौटीपर खरी उतरती आई हुई अपनी चिन्ताओं और अभिज्ञताओंको उन लोगोंकी चिन्ताओं और अभिज्ञताओंके साथ मिला दें, जिनकी चिन्ताएँ और अभिज्ञताएँ अभी प्रयोगावस्थामें—बाल्यावस्था में—हैं। अर्थात् हम अपने जीवन के उच्चस्तर से नीचे उतर आवें। कविवरके इस उपदेशको हम क्या कहें? उपदेश या विनोदी कविता? उदाहरण सहित इसपर कुछ विस्तारके साथ विचार करना उचित होगा।

पश्चिमी देशोंमें कोर्टशिप, विफल प्रणय और अवैध प्रणयोंका दौर-दौरा है। इस प्रवृत्तिसे जैसी वहाँ समाजकी हानि हुई और हो रही है, वैसी हमारे देशमें कभी नहीं हुई। आजकल जीवन संग्राम तीव्रतर हो जानेसे छोटी अवस्थामें विवाह कर देनेसे युवावस्थामें अनेक पुत्र-कन्याओं की पालन कष्टकर हो जाती है, यह सही है; किन्तु दूसरी ओर इस परिस्थितिसे पुरुषार्थको उत्तेजना भी मिलती है और फल शुभ होता है। विवाहकी वयोमर्यादा बढ़ा देनेसे उक्त कष्ट कुछ कम हो जाता है सही, किन्तु अनेक नयी असुविधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। आजकलके जीवन-संग्रामकी तीव्रता सभी जानते हैं; परन्तु काम सब चल रहे हैं, कोई काम रुके नहीं हैं। यदि समाजमें स्त्री-पुरुषोंके विवाहकी वयोमर्यादा अनिर्दिष्ट रूपसे बढ़ा दी जायगी और विवाह करना एक धार्मिक कर्तव्य न मानकर व्यक्तिगत इच्छापर निर्भर कर दिया जायगा तो अनेक पुरुष विवाह-बन्धन में फँस जाना स्वीकार नहीं करेंगे। विवाहमें एक ओर सुख है, दूसरी ओर एक विशेष दायित्व भी है। वर्तमान आर्थिक असुविधाओंके दिनोंमें वह दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। प्राचीन काल की ब्रह्मचर्य-साधनाके आदर्शको अब लोग भूल गये हैं। आधुनिक शिक्षाके फलस्वरूप उक्त कष्ट-कर दायित्वको स्वीकार न कर लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर सुख संग्रहकी चेष्टा अधिकतर देख पड़ती है। अन्ततः पुरुषोंमें विवाह करनेकी अनिच्छा बढ़ जानेसे एक ओर समाजमें दुर्नीति की वृद्धि होगी और दूसरी ओर अविवाहिता युवती कन्याओंकी संख्या बहुत बढ़ जायगी। ऐसी कन्याओंके भरण-पोषणका भार उनके माता-पिताओं पर पड़ेगा जो उन्हें अधिक संकटमें डाल देगा। यदि माता-पिता या कोई अभिभावक न रहे, तो उन कन्याओंको जीविकाके लिये विपद्-ग्रस्त होना पड़ेगा। पढ़ी-लिखी कन्याएँ अवश्य ही नौकरी कर सकेंगी; परन्तु वर्तमान आर्थिक संकट-के दिनोंमें सबको नौकरी कहाँ मिलेगी? उन्हें चाकरीके लिये दूसरोंके दरवाजे खटखटाने पर आत्मसम्मान और स्वधर्म की रक्षा करना कठिन

हो जायगा। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंके लिये यह अधिक लज्जाजनक बात होगी। इसके अतिरिक्त यह भी आशङ्का रहेगी कि, नौकरीके लिये उमेदवार होनेपर युवती स्त्रियाँ अनेक प्रकारके प्रलोभनों में भी फँस सकती हैं। इससे तो प्राचीन आदर्शके अनुसार स्त्री-पुरुषोंका यथासमय विवाह हो जाना ही समाजके लिये कल्याणकर होगा। जबकि, कविवर यह स्वीकार करते हैं,—जैसा कि, आरम्भ में कहा गया है—कि, हिन्दुओंकी विवाह-प्रणाली विज्ञान-सम्मत है और हिन्दूविवाहका लक्ष्य सुसन्तानोत्पादन है, तो अब उस विज्ञान-सम्मत लक्ष्य या प्रथाको बदलनेका प्रयोजन ही क्या है?

हिन्दु समाजमें विवाह-बन्धनसे आबद्ध होनेपर ही स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे मिलते हैं। स्वच्छन्दतापूर्वक स्त्री-पुरुषोंका बे-रोकटोक मिलना हिन्दू प्रथाके विरुद्ध है। यह प्रथा सुसंतान उत्पन्न करनेके अनुकूल नहीं, किंतु व्यक्तिगत सुख, पारिवारिक शांति और आध्यात्मिक उन्नति की भी सहायक है। विश्वके लोगोंकी चिन्ताओं और अभिज्ञताओं (अनुभवों) से लाभ उठानेमें हिदुओंको कोई आपत्ति नहीं। पाश्चात्य देशोंमें स्वाधीन प्रणय के द्वारा विवाह होते हैं। परन्तु इस प्रथाका परिणाम देखकर इसका अनुकरण करना हिन्दूलोग पसन्द नहीं कर सकते। स्वाधोन प्रणय और स्त्री-पुरुषके स्वच्छंद मिलने-जुलनेसे वहाँ विवाह-बंधन अत्यन्त शिथिल हो गया है और विवाह-विच्छेदकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। अमेरिकाके संयुक्तराष्ट्रके विवाह विच्छेद के आंकड़े देखने से ज्ञात होता है कि, प्रतिसाल विवाहोंमें एक विवाह विच्छिन्न हो जाता है। स्त्री-पुरुष फिर नये जोड़ेकी खोजमें लग जाते हैं। भारतीय सभ्यताकी तुलना में पाश्चात्य सभ्यता अभी बहुत ही नवीन है। थोड़े ही दिनोंमें वहाँकी विवाह-पद्धतिका कुफल स्पष्ट देख पड़ने लगा है और दाम्पत्य अशांतिके विषसे वहाँके समाजका शरीर जर्जरित हो गया है। परन्तु हिन्दुओं की विवाह-पद्धति सहस्रों वर्षों से चली आ रही है, तथापि अबतक ऐसा कोई उसका कुफल देख नहीं पड़ा। फिर कविवर ही हिन्दुओंकी गृहस्थीके भवनमें बड़ी बड़ी नौकाएँ डूबती हुई क्यों देख रहे हैं?

हिन्दु-विवाह प्रथापर इस प्रकार गहरा हाथ फेरकर कविवर हिन्दुओंकी परदा प्रथापर बे-तरह घबरा पड़े हैं। आप लिखते हैं,—"हिन्दूसमाजमें स्त्री-पुरुषोंको बे-रोकटोक मिलने जुलने नहीं दिया जाता, इसीसे हिन्दू समाज निर्जीव हो गया है। वीरोंकी वीरता, कर्मयोगियोंका कर्मोद्यम, कलाकारोंकी कला-कृति आदि सभ्यताकी बड़ी-बड़ी चेष्टाओंके पीछे नारी प्रकृतिकी गूढ़ प्रेरणा का गहरा हाथ रहा आया है।" अन्य देशोंके लिये यह सिद्धांत भले ही लागू होता हो भारतका इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। प्राचीन कालके भारतीयोंने नारी जातिके गौरवकी रक्षा करनेमें असाधारण वीरता प्रकट की है। इसके उदाहरणों से राजपूतों का इतिहास समुज्वल हो रहा है। उस समय भी परदा-प्रथा विद्यमान थी; स्त्री-पुरुष स्वच्छंद होकर मिलते जुलते नहीं थे, परन्तु वीरों के वीरता प्रकट करनेमें कहीं नारीप्रकृतिकी गूढ़ प्रेरणाका हाथ नहीं देख पड़ता। सामने आकर स्त्रियाँ जबतक पुरुषकी वीरताकी प्रशंसा न करें, तब तक उनमें वीरताकी स्फूर्ति ही नहीं हो सकती, यह भ्रांत धारणा है। मुसलमानों में तो परदा प्रथा हिन्दुओं से भी अधिक कठोर है; किंतु उनके इतिहासमें भी वीरोंके उदाहरणों की कमी नहीं है। पास आकर स्त्रियोंके प्रशंसा करनेसे पुरुषके चित्तमें जिस प्रकार वीरताका सञ्चार होना सम्भव है, उसी प्रकार रूप-लालसाका उद्रेक होने की भी आशंका है। गत महायुद्धके अन्तमें इङ्गलैण्डमें जो विजयोत्सव मनाया गया था, उसमें स्त्रियोंने सैनिकोंकी अत्यंत अतिरंजित प्रशंसा की थी। उसे देख-सुनकर कितने ही विदेशी अतिथियों ने लज्जासे सिर नीचे कर लिया था।

यह बात सत्य है कि, वहाँ के सुप्रसिद्ध कवि

बायरनको अच्छी कविताएँ लिखनेमें रमणियोंके द्वारा विशेष उत्साह मिला था; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है, जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि, उस उत्साहके खरीदनेमें समाजको अतिरिक्त मूल्य चुकाना पड़ा था। यूरोपीय कवि समाजमें आध्यात्मिक कवि होनेके नाते गेटेकी बड़ी सुख्याति है। परंतु उसका जीवन-चरित्र पढ़नेसे पाश्चात्य समाजमें स्त्री-पुरुषके स्वच्छंद मिलने देनेकी प्रथाका कैसा कुफल होता है, उसका खाका मनश्चक्षुओंके सामने आ जाता है। वास्तविक बात यह है कि, देवभाव और पशुभाव दोनोंके मेलसे मानव प्रकृति गठित हुई है। प्रायः सभी लोगोंके अन्तरमें पशुभाव विद्यमान है। किसीमें कम, किसीमें अधिक; किसीमें स्पष्ट, किसीमें प्रसुप्त या छिपा हुआ। जो सुन्दर युवक अच्छी कविता कर सकता है या मधुर गान गा सकता है, वह यदि धर्मज्ञानसे विहीन हो, तो स्त्रियोंके साथ स्वच्छन्द होकर मिलने जुलनेका सुअवसर पाने पर उसका दुरुपयोग कर समाजका यथेष्ट सर्वनाश कर सकता है और करता भी है। अनेक युवती कुमारियाँ मन ही मन सोचने लगती हैं कि, यह सचमुच मुझसे प्रेम करता है और अवश्य मुझे व्याह लेगा। मुग्धा रमणियाँ यह भी सोच सकती हैं कि, प्रेमका अत्याचार और असहिष्णुता कुछ तो सहनी ही पड़ेगी। इसी विचार-परम्परासे आगे बढ़कर कितनी ही भोली भाली स्त्रियाँ अनीति की दलदल में फँस जाती हैं। इससे अधिक दुःखकी बात यह है कि, ऐसे क्षेत्र के पुरुष यह भी सोचा करते हैं कि, वे सौन्दर्य की चर्चा कर रहे हैं या युवतियोंके हृदयोंके मनस्तत्वका विश्लेषण करनेका सुयोग पा गये हैं। उनको इसका भी पता नहीं रहता कि, वे दूसरोंका सर्वनाश करने जाकर स्वयं आत्म-प्रवञ्चना कर रहे हैं। ऐसे लोग कला (fine arts) या सौंदर्य-चर्चाकी दोहाई देकर तथाकथित सभ्य-समाजमें केवल इन्द्रिय-जन्य निकृष्ट सुख और रूप-लालसाका आश्रय दिये जाते हैं। रूस के महात्मा टालस्टाय ने भी स्पष्ट शब्दोंमें बहुत ही ठीक कहा है कि,—"यूरोप के कवि, अभिनेता और चित्रकार आदि कलाकारोंने स्त्रियोंके साथ स्वच्छंद मिलने जुलनेका सुअवसर पाकर उसका पर्याप्त दुरुपयोग किया है। शिक्षित सुन्दरी स्त्रियाँ उनकी प्रतिभाका उनके आगे समादर करने लगीं, इसीसे ऐसा आचरण करनेमें वे समर्थ हो सके। समाजमें जिनसे दुर्नीतिकी वृद्धि होती हो, घरकी पवित्रता, सुख और शांति विनष्ट होती हो, उन काव्यों, नाटकों और चित्रोंको लेकर हम क्या करेंगे।

परन्तु क्या यह बात यथार्थ है कि, शिल्पकलाकी चर्चा करनेसे समाजमें दुर्नीतिका प्रचार होना अनिवार्य है? भारतके प्राचीन इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे हमें तो यह बात सत्य नहीं जान पड़ती। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण आदि ग्रन्थोंके प्रचारसे हिन्दू समाजमें धर्मभावकी गम्भीरता और विशालता बहुत बढ़ गयी थी। छत्रपति शिवाजीको तो हिन्दुपद पातशाही स्थापन करनेकी प्रेरणा महाभारतसे ही मिली थी। जैसी साधना, वैसी ही सिद्धि मिलती है। प्राचीन भारतमें काव्य, चित्रकारी, मूर्ति-निर्माण-आदिका उद्देश्य था, शिल्पकलाका प्रलोभन दिखाकर लोगोंका ईश्वराभिमुख करना। फलभी वैसा ही हुआ। पश्चिमी देशोंमें भौतिक सुखके लिये ही शिल्पकलाकी चर्चा होती है। इसी से वहाँ प्रायः धर्म और नीतिका पराभव कर शिल्पकला अपनी विजय-पताका फहरा देने में समर्थ होती है।

रामायण-महाभारत कालमें ही नहीं, उसके सहस्रों वर्ष पश्चात् भी भारतीय शिल्पकलामें धर्म-भाव का आदर्श अक्षुण्ण बना रहा। उसका परिणाम है कि, भारतमें आसेतुहिमाचल करोड़ों रुपयोंकी लागतसे बने हुए बेजोड़ सुन्दर देवमंदिर शोभा पा रहे हैं। कालिदास भवभूति आदि कवियोंने अपने काव्योंमें आसन-पर्यो

ईश्वरको नायक-नायिकाओंके रूपमें सजाया और धर्मको ही श्रेष्ठ आसन दिया। कामको उन्होंने धर्मके नीचे स्थान दिया और निर्देश भी कर दिया कि, वह काम भी धर्मानुगत होना चाहिये। उनके समयमें भी स्त्री-पुरुष बे-रोकटोक मिलते-जुलते नहीं थे। फिर भी असंख्य उत्कृष्ट काव्य रचे गये और विविध शिल्पोंमें पराकाष्ठा की उन्नति हुई। कविवरकी सभ्यताका आदर्श चाहे जो हो, भारतीय सभ्यता की वस्तुएँ हैं,—उपनिषद्, दर्शन, गीता, भागवत आदि। इनमें हमें नारीप्रकृतिकी गूढ़ प्रवर्तना कहीं नहीं देख पड़ती। वर्तमान युगमें नवद्वीपसे वैष्णवधर्म का जो तरंग उठा था, उसने बंगाल, आसाम, उड़ीसाको तो साबित कर ही दिया था, किंतु सुदूर वृन्दावनमें युगान्तर उपस्थित कर दिया था और काव्य संगीत तथा स्थापत्य शिल्पको लयलूट कर दी थी। उसमें भी हमारी समझमें नारी-प्रकृति को कोई गूढ़ प्रवर्तना नहीं थी। भारतीय भाषा साहित्योंमें तुलसीकृत रामायण एक श्रेष्ठ सम्पत्ति मानी जाती है। इसमें अवश्य ही नारी प्रकृतिकी प्रवर्तना पायी जाती है; किन्तु वह कविवर जिस अर्थमें कहते हैं, उससे ठीक विपरीत अर्थ में थी। रमणियोंके चित्त लुभाने, उनका मनोरञ्जन करनेके लिये तुलसीदासने रामायणकी रचना नहीं की; किन्तु उनकी सहधर्मिणीने उनके ज्ञान-नेत्र खोल दिये थे और दिखा दिया था कि संसारमें सुन्दरी स्त्रियोंका प्रेम एक अत्यन्त असार वस्तु है इसी वास्तविकताके कारण भारतको ऐसे महारत्नका लाभ हुआ था। उस दिन दक्षिणेश्वर के एक निरक्षर ब्राह्मणने जो भक्तिका प्रदीप जला दिया था, उसके आलोकसे अपने हृदयमें ज्ञान की प्रभा ग्रहण कर विवेकानंदने भारतको ही नहीं, समस्त पश्चिमी जगत्को चकित कर दिया था। उसके पीछे भी नारी प्रकृतिकी कोई गूढ़ प्रवर्तना नहीं थी। संसारके सर्वप्रधान धर्मान्दोलन क्या सभ्यताकी बड़ी बड़ी चेष्टाओंमें नहीं आ जाते? बुद्ध, महावीर, ईसा, मूसा, शंकराचार्य, रामानुज आदि पुरुषोंकी चेष्टाओंके पीछे नारी प्रकृतिकी गूढ़ प्रवर्तनका हाथ हमें कहीं नहीं देख पड़ता। कवि-वरको देख पड़ता हो तो बात और है।

परदा प्रथाकी भरपेट निंदा कर कविवर आगे लिखते हैं,—'हमारे देशमें कामिनी-काञ्चनको द्वन्द्व-समासके सूत्रमें गूथकर प्रकारान्तरसे नारी जातिका अपमान करनेमें पुरुष कुण्ठित नहीं होते। वे नहीं जानते कि, नारी त्याग करनेका उपदेश देकर पुरुषों-को आत्महत्याके लिये प्रोत्साहन दे रहे हैं।" वस्तुतः नारी जातिका अपमान तो वे करते हैं, जो नारीको पशुप्रवृत्तिको चरितार्थ करने का एक साधन समझते हैं और चित्र अंकित कर या कविता रचकर पुरुषकी पाशवृत्तिमें इन्धन दिया करते हैं। जो आँखोंमें अञ्जन देकर यह बता देते हैं कि, तुम इस पशु-प्रवृत्तिका त्याग करो और नारीको मातृरूपमें देखने-की चेष्टा करो, वे कभी नारी जातिका अपमान कर नहीं सकते। वे तो नारीको संसारके पङ्किल आसन-से उठाकर देवीके आसन पर बैठाते हैं। काञ्चनके साथ कामिनीका उल्लेख करनेका कारण यह है कि, कामिनी-काञ्चनके प्रति अन्याय्य आसक्ति पुरुषकी आध्यात्मिक उन्नतिमें प्रबलतम अन्तराय स्वरूप है। ऐसी आसक्तिका त्याग करनेके उपदेशमें 'प्रकारांतर' क्या है? यह कटाक्ष कविवर कदाचित् रामकृष्ण परमहंसके प्रति कर रहे हैं। जो सर्व-त्यागी महापुरुष जगत्की सभी नारियोंमें प्रत्यक्ष जगन्माताकी मूर्ति निहारता हो, वह प्रकारांतरसे नारी जातिका कैसे अपमान कर सकता है? बुद्ध-देवने गोपाका, चैतन्यदेवने विष्णुप्रियाका और परमहंसदेवने शारदा देवीका त्याग कर आत्महत्या नहीं की; किंतु वे अमर हो गये। यही नहीं; जिनका उन्होंने त्याग किया, उनको भी अमर कर दिया। वे देवी भावको प्राप्त हो गयीं। गोपाके शेष जीवनमें उसका धर्मभाव पराकाष्ठाको पहुँच गया था। विष्णुप्रियाके कठोर धर्मसाधनाकी कथा पढ़कर आँखोंमें आँसू आ जाते हैं और शारदा

देवीकी पुण्य कहानी सुनकर जाना जाता है कि, अध्यात्म जगत्‌के कितने ऊँचे स्तर पर वे पहुँच गयी थीं। उन्हें जगन्मातृभावकी यथार्थ उपलब्धि हो गयी थी। मनुष्य जिस भावमें हृदयसे भावित होता है, वह वही हो जाता है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'। वहाँ प्रकारांतर या अपमानकी गुञ्जाइश ही कहाँ है ?

कविवरने अपने निबंधके उत्तर भागमें तो कमाल कर दिया है। आपकी सरस मुक्तावलीका नमूना इस प्रकार है :—"सभी समाजोंमें विवाह प्रथा तबसे चल पड़ी है, जबसे मानव जीवनके पार्लियामेण्टमें निरंतर 'प्राकृतिक अधिकार'के नामसे अपना कर्तृत्व जतानेकी चेष्टा करने लगा। मनुष्यकी सबसे बड़ी दुःख-दुर्गति, कठोर अपमान और असहनीय ग्लानिकी बात यदि कोई हो, तो वह स्त्री-पुरुषोंके विवाह सम्बंधकी प्रथा ही है। परंतु जो आध्यात्मिकता पर विश्वास करते हैं, वे विवाह सम्बंधको पाशविक बलके अत्याचारसे मुक्त कर प्रेमकी शक्तिको यथार्थ रूपसे जगा देने के उपायका ही अन्वेषण करेंगे। अबभी संसारकी सब विवाह प्रथाओंमें—अभ्यास और कानून के कारण—यही देख पड़ता है कि, अभी हम बर्बर युगमें ही विद्यमान हैं।" कविवरकी आध्यात्मिकताकी बलिहारी है। पाश्चात्य देशोंमें भी आजकल जो लेखक बहुत उन्नत, उदार और अग्रसर कहे जाते हैं, उनमें से कुछ लेखकोंका मत है कि, "विवाह प्रथाको उठा देना ही उचित है। क्योंकि स्त्री-पुरुषोंमें एक बार प्रेम हो जाने पर वह चिरकाल तक स्थायी रहेगा। इसका कोई भरोसा नहीं। जब परस्पर प्रेम ही नहीं, तब विवाह-बंधन बड़ा ही अनिष्टकर हो जाता है।" इसका सारांश यह हुआ कि, जिस समय जो कोई स्त्री-पुरुष एक दूसरे से प्रेम करने लगें, उसी समय उनको मिलने देना चाहिए। उनके मिलनमें किसी प्रकारकी बाधा डालने का समाजको कोई अधिकार नहीं है। सम्भवतः कविवरके विचारों पर इन्हीं लेखकोंके मतोंकी छाप पड़ी है, जिससे वे स्वाधीन प्रेम के पक्षपाती हो गये हैं और फिर भी आध्यात्मिकता की दोहाई देते हैं। 'किमाश्चर्यमतःपरम् ?' यदि पशुभावकी अभिवृद्धि हो कविवरकी आध्यात्मिकता है, तो उस आध्यात्मिकतासे बचे रहनेमें ही कुशल है। कविवरके ऐसे अनर्गल प्रलापोंको पढ़कर हृदयमें दुःख होता है, पर क्या किया जाय ? वे बड़े हैं, विश्वने उनका सम्मान किया है, उनकी प्रतिभासे भारत गौरवान्वित हुआ है, उनका व्यक्तित्व असाधारण था ; परंतु सर्वसाधारण लोगोंको भी भगवान्‌ने बुद्धि दी है। बड़ोंकी सभी बातें अनुकरणीय नहीं होती ; बुद्धिमान् पुरुष अपनी बुद्धिको उनके हाथ बेच नहीं सकते। उनको बुद्धिकी शरणमें जाकर शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिये।

जिज्ञासा

[१]

ऊपर सुदूर फैला नीला असीम नभ है।
नीचे अनन्त पृथ्वी छाया तले पड़ी है॥
आधार किन्तु किसका है मध्यमें उभय के।
ब्रह्माण्ड और नभ किस संकेतसे थमे हैं॥

[२]

किसकी प्रकाश छया-सी यह उषा सुनहली।
अस्पष्ट-सी झलकती नित व्योमके अजिरमें॥
किस दिव्य लोकका यह आलोक सूर्यमें है।
जो शुभ्र कान्त सुन्दर होती प्रभात वेला॥

[३]

आते समीरके ये झोंके मधुर कहाँसे।
बहते निकुञ्जमें हैं जो मन्द-मन्द गतिसे॥
किसका सँदेश जाकर कहते प्रसूनसे हैं।
खिल-खिल सुगन्धिसे जो ये फूल फूल उठते॥

[४]

प्यासे मिलिन्द आते मकरन्द पान करते।
होकर प्रमत्त फिर वे जब तान छेड़ते हैं॥
अथवा कहीं पिकी जब करती कुहू कुहू है;
तब अर्थ कौन है उस सङ्गीतका समझता॥

[५]

आलोक शेष अपना जब छोड़कर जगत्में।
दिनके थके दिवाकर जाते चले प्रतीची॥
भरकर सुहागका तब सिन्दूर कौन सिरमें।
है भेजता भुवनमें सन्ध्या सुहागिनीको॥

[६]

क्यों श्याम-सी करुण-सी आकृति निशीथकी है।
उसके विशाल उरमें वह वेदना छिपी क्या ॥
होकर गभीर वदना निज केश पाश खोले।
बैठी सघन द्रुमोंके नीचे बिचारती क्या ॥

[७]

अविराम एक गतसे ये झागभरे झरने।
करते निनाद झरझर होते प्रपात कबसे ॥
किस हर्षसे तरङ्गित होकर उछाल भरती।
आकुल सवेग सरिता वह जा रही कहाँको ॥

[८]

कल्लोल लोल ऊँचे लेता समुद्र जो ये।
उद्गार निज हृदयका किसको सुना रहा है ॥
गम्भीर मौन ऊँची वे शैल श्रेणियाँ क्यों।
चिरकालसे खड़ी हैं किसकी उन्हें प्रतीक्षा ॥

[९]

संसारकी सभी ये लीला विचित्र क्यों है।
किसकी अपार माया सर्वत्र व्याप्त-सी है ॥
शृङ्गार प्रकृति रचकर प्रति पल नवीन अपना।
किसको रिझा रही है वह कौन-सा रसिक है ॥

मोहन वैरागी

हिन्दू कोडबिलद्वारा हिन्दूधर्मको जड़मूलसे समाप्त करनेका षडयंत्र

हिन्दुओं ! सावधान

(लेखक—भक्त रामशरण दास जी पिलखुवा')

आज हिन्दूजाति, हिन्दूधर्म, हिन्दू सभ्यता, हिन्दू संस्कृतिपर चारों ओरसे आक्रमणपर आक्रमण हो रहे हैं, लाखों हिन्दू ललनायें मुसलमान गुण्डोंके घरोंमें पड़ी खूनके आँसू बहा रही हैं, हिन्दूकी माता भारतमाताके खण्ड खण्ड, टुकड़े टुकड़े हो गये हैं, लाखों करोड़ों हिन्दू मारेमारे डोल रहे हैं, लाखों मठ-मंदिर ढाहकर धूलमें मिलाये जा चुके हैं, हिन्दू हिन्दू न कहलाकर गैर मुसलिम कहा जा रहा है, हिन्दी भाषाकी जगह हिन्दुस्तानी भाषाके राग अलापे जा रहे हैं, यह देखकर एक सच्चा हिन्दू रोये बिना नहीं रह सकता। यदि सर्वस्व लुटा दिखकर हिन्दू भी न रोयेगा तो और कौन रोयेगा ! आज हिन्दुओंके हृदयमें गहरे घाव हो गये हैं। उसके आँखोंके सामने मठ-मंदिर ढाहे गये हैं, बहिनें उड़ाई गईं, बच्चे काटे गये, भारतमाताके खण्ड खण्ड हुये, आज उसका कोई रक्षक नहीं, सभी भक्षक बनते जा रहे हैं। आज जिन्हें मूर्खतावश हिन्दुओंने अपना हितैषी माना, जिन्हें करोड़ोंकी थैलियाँ भेंट की, जिनके कहनेपर लाखोंको फाँसीके तखतोंपर चढ़ाया, जेलोंमें सड़ाया, गोलियोंका शिकार बनाया, अण्डमानमें हड्डियाँ गलाने भेजा और जिनकी दिनरात जय बोली और धर्म-कर्मको भूला सबका जूठा खाया-पिया, आज वही कांग्रेसी नेता हिन्दूकोडबिल तलाकबिलद्वारा हिन्दुओंके गहरे घावपर नमक छिड़कने, छूरी मारनेका कार्य कर रहे हैं और इन बिलोंकेद्वारा हिन्दूधर्मको जड़मूलसे समाप्त करने जा रहे हैं। करोड़ों हिन्दू गला फाड़ फाड़कर इन काले बिलोंका घोर विरोध कर रहे हैं, लाखों तार-चिट्ठियाँ भेजी जा चुकी हैं, हजारों विरोधमें सभायें हो चुकी हैं, पचासों डेपुटेशन मिल चुके हैं, लाखों रुपया खर्च हो चुका है, हजारों जेलोंमें जाचुके हैं परन्तु दुःख है कि इन कुम्भकर्णोंको भी मात करनेवाले नेताओं-के कानोंपर जूँ नहीं रेंगी है। हिन्दूकोडबिल तलाकबिलका विरोध बड़े २ धर्माचार्य, चारों मठों-के शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य कर चुके हैं। स्त्रियोंने विरोध किया, पुरुषोंने विरोध किया, विद्वानोंने विरोध किया, साधुओंने विरोध किया, राजाओंने विरोध किया, रानियोंने विरोध किया, गरीबोंने विरोध किया, अमीरोंने विरोध किया, सनातन-धर्मियोंने विरोध किया, आर्यसमाजियोंने विरोध किया, जैनियोंने विरोध किया, सिक्खोंने विरोध किया, कई कांग्रेस नेताओंतकने विरोध किया परन्तु इन काले अंग्रेजोंको इसकी अभीतक परवाह नहीं; इन्हें तो अपनी राज्यशक्तिके बलपर इन्हें पास कर हिन्दूजातिको जड़मूलसे समाप्त करनेकी धुन सवार है। वह हिन्दूजातिके लिये सबसे बढ़कर मनहूस दिन था जिस दिन हिन्दूकी माता भारतमाताके पाकिस्तान स्वीकार कर खण्ड खण्ड किये गये थे और वह दिन भी सबसे बढ़कर मन-हूस दिन होगा, कि जिस दिन हिन्दूकोडबिल नेताओंके दिमागमें आया और यह बिल पास होगा। हिन्दूसभ्यता संस्कृतिको

जड़मूलसे समाप्त करनेके लिये यह बिल बनें और फिर भी हिन्दू बैठे बैठे देखते रहें, हिन्दुओंका खून न खौले, राणा शिवाका हिन्दू गर्जकर मैदानमें न आये इससे बढ़कर हिन्दुओंका और क्या पतन होगा ? वह हिन्दू एक दिन समस्त पृथ्वीपर जिसका राज्य था, वह हिन्दू जिसने अपने धर्मकी रक्षाके लिये राक्षस-राज रावण, कंस, हिरण्यकशिपु, वेनका डटकर मुकाबला किया और पापियोंको धूलीमें मिलाया, वह हिन्दू जिसने करोड़ों बौद्धोंसे टक्कर ले सनातनधर्मकी पताका फहराई, वह हिन्दू जिसने ७०० वर्ष तक मुसलमान गुण्डोंसे लोहा लिया, वह हिन्दू जिसके धर्मकी रक्षाके लिये महाराणाने घासकी रोटियाँ खाईं, जिसके शिवाने जंगलोंकी खाक छानी, नन्दाका मास नोचवाया गया, दुधमुँहे बच्चोंको दीवारों में चुनवाया गया वह हिन्दू जिसके श्रीहरिसिंह नलुवाने अफगानिस्तानतकमें धावा बोल हिन्दू पताका फहराई, वह हिन्दू जिसमें पृथ्वीराज चौहान हुए हाय ! आज वही हिन्दू अपनी कुम्भकर्णी निद्रामें मग्न हो हिन्दूकोड बिलद्वारा अपने प्राणप्यारे हिन्दूधर्मको अपने आपही जड़-मूलसे समाप्त करने जा रहा है। उससे बढ़कर मनहूस दिन और कौनसा होगा कि, जिस दिन भारतमें पतिव्रता हिन्दू-ललनायें जो परपुरुषको स्वप्नमें भी देखना पाप समझती हैं, किसी दूसरे पुरुषका हाथ न लग जाय, इसलिये लाखों क्षत्राणियाँ अपने स्वर्ण जैसे शरीरको धधकती अग्निमें झोंक चुकी हैं, आज हिन्दूकोडबिलद्वारा पतियोंको तलाक दे देकर वेश्याओंकी तरह मारी मारी फिरेंगी। वह दिन वही प्रलय होगा, कि जिस दिन स्वगोत्र विवाहद्वारा बहिन-भाईमें शादी होगी और दुनियाँ हिन्दुओंके इस घोर पतनको देखकर हँसेगी और स्वर्गमें बैठे राणा, शिवा, श्रीगुरुगोविन्द सिंह, नन्दावीर आदि हमारे पूर्वज, सती सीता, सावित्री, दमयन्ती, अनसूया, गाँधारी, पार्वती, शाण्डिली आदि पतिव्रता मातायें नौ नौ धार आँसू बहा रही होंगी। पितर रो रहे होंगे, देवियाँ वर्णसंकर सन्तानोंसे अपना सम्बन्ध तोड़ मुख मोड़ इन पर थूकेंगी। पता नहीं उस दिन पृथ्वी फटेगी भी या नहीं, जिस दिन हिन्दूकोडबिलद्वारा बहिन-भाईका झगड़ा होगा और बहिन अपने प्राणप्यारे नयनोंके तारे भाईको शत्रु मान उसके मकानको नीलाम करायेगी और जायदादमें हिस्सा बटायेगी और घरके बरतन भाण्डे सबपर हाथ साफ करनेकी चेष्टा करेगी। जिस दिन हिन्दू पतिव्रता ललनायें पातिव्रत-धर्मको त्याग तलाक बिलद्वारा परपुरुषोंके हाथमें हाथ डाल गोभक्षक मुसलमान, ईसाई, पारसी चाहे जिसको पति मान बाजारोंके पत्ते चाटती और सिनेमाओंकी खाक छानती हुई घूमेंगी, स्वगोत्र विवाह बिलद्वारा कुत्ते कुत्तियोंकी तरह भाई-बहिनमें शादी कर व्यभिचार होंगे, हिन्दूकोडबिलद्वारा बहिन-भाईका सदासे चला आया प्रेम नष्ट होकर दिनरात मुकदमे-बाजियाँ होंगी, उस दिन मुसलमान ईसाई और यह अपने धर्मद्रोही हिन्दुस्तानी कांग्रेसी हीं हीं करके हँस रहे होंगे और राणा शिवाका हिन्दू पृथ्वी फट जाय, आकाश गिर जाय यह प्रतीक्षा कर रहा होगा। हाय ! यदि अब भी हिन्दुओंने अपनी आँखें नहीं खोलीं और शत्रु मित्रकी पहिचान नहीं की और इसी प्रकार इन धर्मद्रोहियोंको ही अपना हितैषी मानते रहे तो ऐसे बुरे दिन हिन्दुओंको देखने होंगे कि, जो उसने कभी आजतक रावण, कंस, औरङ्गजेबके समयमें भी नहीं देखे थे। हिन्दूकी माता बहिनें किसी गुण्डेके गलेमें हाथ डाले होटलोंमें पड़ी होंगी, बच्चे किसके हैं, किसीको पता नहीं होगा, बहिन भाईमें क्या फर्क है इसका ज्ञान नहीं होगा, बहिन भाईमें प्रेम कैसा होता है इसका ध्यान नहीं होगा। पति घरमें पड़ा सड़ रहा है और स्त्री अपने गोभक्षक यारके साथ बाजारोंके पत्ते चाट रही है। स्त्री बीमार है, पति नई नवेलीके साथ सैर कर रहा है। बस, होटलोंमें खायेंगे, अस्पतालोंमें मरेंगे, जो चाहे बकेंगे, बहिन भाई भी

लड़ेंगे, स्त्री पुरुषको और पुरुष स्त्रीको छोड़ छोड़ कर भागेंगे, चाहे जिसकी स्त्रीको ले भगेंगे, तलाक देंगे, नई करेंगे, हिन्दूकोडबिलद्वारा यह घोर नारकीय दृश्य उपस्थित होगें।

न छेड़ो हमें हम सताये हुए हैं।

ऐ हमारे देशके नेताओं! हमारी प्रार्थनापर ध्यान दो और हमें रुलाना, सताना, छेड़ना छोड़ दो। हमने तुम्हारे कहनेपर अपने लाखों लालोंको जेलोंमें सड़ाया है, गोलियोंका शिकार बनाया है, फाँसीके तख्तोंपर चढ़ाया है, अण्डमानमें हड्डियाँ गलाने भेजा है, दर-दरका भिखारी बनाया है, भूखे रह कर करोड़ोंकी थैलियाँ भेंट की हैं, आपके जयकारे लगाते गले सुखाये हैं, घरोंसे बहिनोंको निकाल बेइज्जत कराई है, हरिजन-फंड, देसाई फंड कस्तूरबा-फंड—सभीमें दिल खोल कर रुपया दिया है और आज भी एक एक लाख रुपया हवाई जहाज, कारें, कोठियाँ यह सब हमारी गाढ़ी कमाई आप ले रहे हैं। आपने इनके बदलेमें हमारे विरोध करनेपर भी हमारी भारतमाताके टुकड़े २ कराये जिसके कारण लाखों बहिनें उड़ाई गईं, मठ-मंदिर ढाहे गये, करोड़ों हिन्दू मारे-काटे गये। हिन्दू ललनाओंकी छातियाँ काट नंगी कर जुलूस निकाले गये, बच्चोंके पकोड़े बनाये गये, अरबोंकी सम्पत्तियाँ छीनीं गईं। यह सब कुछ हुआ परन्तु इतने पर भी आपको संतोष नहीं है। हमें कानूनके बलपर हिन्दू नहीं कहने दिया जा रहा है। गोवध बराबर हो रहा है। अब आपसे हमारा यही कहना है कि, बस, अब 'न छेड़ो हमें हम सताये हुए हैं'; अब हिन्दूकोडबिलद्वारा हमारे गहरे घावोंपर छुरी मत चलाओ। बाज़ आवो अपनी इन बेजा हरकतोंसे याद रक्खो—

तुलसी आह गरीबकी कभी न खाली जाय

अत्याचारकीभी कोई हद होती है। अब हम पर ज्यादा अत्याचार न करो और हमारे धर्मपर ज्यादा हाथ साफ न करो। यह ध्यान रहे यदि आपने हमारी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया और हिन्दूकोडद्वारा हिन्दूधर्मको समाप्त करनेकी छेड़छाड़ करते रहे, तो फल भयानक होगा। अब आपसे यही हमारी प्रार्थना है कि, यह हमारा प्राणप्यारा हिन्दूधर्म आप कोडद्वारा समाप्त न करें, आशा है आप हमारी प्रार्थनापर अवश्य ही ध्यान देंगे।

हिन्दूकोड कान्फरेंसका नाटक

(लेखक—गोविन्दशास्त्री दुगवेकर)

वर्तमान समयकी भारतीय राजनीति कुछ विचित्र-सी हो गयी है। भारत सरकारकी विधान-परिषद् वास्तवमें विशुद्ध राजनीतिक संस्था होनी चाहिये और अंग्रेजी राज्यमें सामाजिक और धार्मिक विषयोंमें जैसा हस्तक्षेप किया जाने लगा था, उसे रोककर केवल राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयोंपर ही उसमें विचार होना चाहता था; परन्तु उसने 'अव्यापारेषु व्यापार' करना आरम्भ किया है और सामाजिक तथा धार्मिक विषयोंमें हस्तक्षेप कर बलपूर्वक हिन्दूधर्मपर आघात करनेके लिये कमर कस ली है। उदाहरण हिन्दूकोड-बिल है। यह विषय समाजके नेताओं तथा अखिल भारतवर्षीय सनातन धर्मावलम्बियोंकी विराट् सभा श्री भारतधर्म महामण्डल जैसी संस्थाओंके विचार करनेयोग्य है। धर्मका निर्णय करनेका किसी राजनीतिक संस्थाको न अधिकार है, न हो सकता है। परन्तु परिस्थिति इससे ठीक विपरीत है। भारतीय सनातनी हिन्दुओंकी संख्या सब हिन्दुओंमें सैकड़ा ९५ है, जो अपने धर्ममें किसीका हस्तक्षेप करना सहन नहीं कर सकते। उनकी मनोभावनाओंकी अवहेलना कर वर्तमान सरकारने विधान-परिषद्में हिन्दूकोडबिल उपस्थित होने दिया और प्रधान मंत्री पं० नेहरू जीने यह धमकी दी कि, यदि यह बिल पास नहीं होगा, तो हमारा मंत्रिमण्डल इस्तीफा दे देगा। इसपर धर्मप्राण हिन्दुओंमें बड़ी खलबली मची और विरोधको आवाज चारों ओरसे आने लगी। तब प्रधान मन्त्री महोदयने यह घोषणा की कि, बिलके पास करनेमें शीघ्रता नहीं की जायगी। उभय पक्षकी सम्मतियाँ ली जायँगी और बीचका ऐसा रास्ता ढूँढ़ निकाला जायगा, जिससे दोनों पक्षोंमें समझौता हो सके। तदनुसार डा० अम्बेदकरके नेतृत्वमें दिल्लीमें इन्फार्मल हिन्दूकोडबिल कान्फरेन्स गत अप्रेलकी ता० २० को बुलाई गयी और उसमें २८ व्यक्ति निमंत्रित किये गये, जिनमेंसे २१ उपस्थित हुए थे। उनमें भी सनातन धर्मावलम्बियोंके तीन ही प्रतिनिधि थे, जो बिलके विरोधी थे, शेष सब बिलके पक्षमें थे। इस प्रकार पहलेसे किलेबन्दी कर कान्फरेन्सका कैसा नाटक खेला गया, उसका संक्षेप विवरण नीचे दिया जाता है।

कान्फरेंस जैसी इनफारमल थी, उसकी कार्यवाही भी वैसी ही अव्यवस्थित हुई। प्रतिनिधियोंको २० ता० से कान्फरेंसमें भाग लेनेके लिये निमंत्रण दिया गया था; परन्तु कान्फरेंस ता० २१ से आरम्भ हुई। सभापति स्वयं डा० अम्बेदकर थे। वास्तवमें इस कान्फरेंसका सभापति ऐसा होना चाहता था, जो दोनों पक्षोंकी बातें अच्छी तरह समझता हो और निष्पक्ष होकर निर्णय कर सके। डा० अम्बेदकर अन्य विषयमें भले ही विद्वान् हों, उनको समाजशास्त्र और धर्मशास्त्रके विशेषज्ञ माननेके लिये सनातनी हिन्दूजनता कदापि तैयार नहीं हो सकती। एक तो हिन्दू धर्मशास्त्रके विज्ञान तथा रहस्यसे वे अपरिचित हैं; दूसरे हिन्दूधर्म तथा हिन्दू जातिसे उनको विशेष विद्वेष है, जैसा कि उनके ता० २ मईके नयी दिल्लीमें बुद्धजयन्तीके भाषणसे स्पष्ट है। अब वे धर्मांतर कर बौद्धधर्मकी दीक्षा ग्रहण कर चुके हैं। ऐसे व्यक्तिके हाथमें हिन्दुओंके धर्मनिर्णयका भार सौंप देना नादानी ही नहीं, जान बूझकर हिन्दूधर्ममें ठेंच लगाकर हिन्दूजातिको अपना शत्रु बना लेना है। डाक्टर

साहबने अपने स्वभाव और सभ्यताके अनुसार ही सभापतिका कार्य सम्पन्न किया।

उपस्थित प्रतिनिधियोंको नियमानुसार पहलेसे विचारणीय विषयोंकी सूची नहीं दी गयी थी, जिससे उन विषयोंपर वे अपने विचार प्रकट कर सकें। यह भी एक पेशबन्दी थी। कान्फरेन्सका उद्‌घाटन करते हुए प्रारम्भिक भाषणमें आपने बताया कि, इस कान्फरेन्समें निम्नलिखित विषयोंपर विचार किया जा सकेगा :—(१) रजिस्टर्ड या धार्मिक विधिसहित विवाह, (२) विवाह-विच्छेद, (३) एक पत्नी रहते कोई पुरुष दूसरा विवाह न करे, (४) उत्तराधिकार और स्त्री धन, (५) पिताकी सम्पत्तिमें कन्याका भाग और (६) संयुक्त कुटुम्ब पद्धति। तदनुसार ता० २१ को १० बजे कान्फरेंसके आरम्भ होनेपर बिलके समर्थकोंके ही भाषण होते रहे। सनातनधर्मावलम्बियोंकी ओरसे बिलका विरोध करने वाले तीन ही प्रतिनिधि थे :—

१—अखिल भारतवर्षीय आर्यमहिला हित-कारिणी महापरिषद्‌की ओर से—श्रीमती विद्यादेवी जी।

२—काशी विद्वत्परिषद्‌की ओरसे महामहोप-देशक श्री पं० देवनायकाचार्य जी।

३—अखिल भारतीय हिन्दूकोड विरोधी समितिकी ओरसे महामहोपदेशक शास्त्रार्थमहारथि श्री पं० माधवाचार्य जी।

श्रीमती विद्यादेवीजीका भाषण बड़ाही ओजस्वी और परिणाम कारक हुआ। बिलके पक्षवालोंकी सब युक्तियों और तर्कोंका उत्तर देते हुए आपने कहा,—हिन्दू समाजके आदर्श स्वरूप मर्यादा पुरु-षोत्तम भगवान् रामचन्द्र हैं। वैसा एक पत्नीव्रती महापुरुष संसारके इतिहासमें दुर्लभ है। वनवासी होने और सीताहरण होनेपर तो अन्य स्त्रीका उन्होंने स्वप्नमें भी विचार नहीं किया, किन्तु सीता माताको त्याग देनेपर भी दूसरा विवाह न कर जानकीकी स्वर्णप्रतिमा साथ रख कर यज्ञ सम्पादित किया। हिन्दूलोग आपही बहुविवाहको पसन्द नहीं करते; किन्तु विशेष अवसरपर हिन्दू शास्त्रने दूसरा विवाह करनेकी आज्ञा दी है। जैसे,—यदि वंशके नाशका भय हो या अग्निहोत्रका उच्छेद होता हो तो आर्य पुरुष धर्मकार्यके लिये और वंशरक्षाके लिये दूसरा विवाह कर सकता है। ऐसी अवस्थामें इस बिलकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यदि बलपूर्वक हिन्दुओंपर यह बिल लादा जायगा तो उनके साथ घोर अन्याय किया जायगा। यह बिल हिन्दुओंके लिये अवांछनीय है।

दूसरे दिन अर्थात् ता० २२ को भी श्री देवीजी-को भाषणके लिये समय देनेकी उदारता दिखायी गयी। आजका श्रीदेवीजीका भाषण बड़ा ही प्रभावशाली हुआ। विषय था विवाह तथा विवाह विच्छेद। आपने श्री भगवान्‌की इस आज्ञाका—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

उल्लेख करते हुए कहा कि, हिन्दुओंमें विवाह एक वैदिक धार्मिक संस्कार माना जाता है। इसका महत्त्व बहुत बड़ा है। केवल विषय वासनाको चरितार्थ करना ही हिन्दू विवाहका लक्ष्य नहीं है। विवाह सस्कारके द्वारा आवद्ध होकर हिन्दू स्त्री पुरुष प्रवृत्ति-मार्गकी पूर्णता प्राप्त करते हैं और उनका सम्बन्ध जन्म-जन्मांतरतक बना रहता है। तब विवाह-विच्छेदका हिन्दूधर्ममें प्रश्न ही नहीं उप-स्थित होगा। हिन्दूविवाह कोई ठीका या कंट्रेक्ट नहीं, जो चाहे जब जोड़ दिया जाय और चाहे जब तोड़ दिया जाय। हिन्दुओंके लिये यह बिल अनावश्यक ही नहीं, घातक भी है। स्वेच्छा-चारिताके लिये कानून की आवश्यकता नहीं हुआ करती। अतः यह कदापि पास नहीं होना चाहिये।

आपके भाषणसे निरुत्तर हो जानेसे श्रीमती रेणुका राय और दुर्गाबाई भी असन्तुष्ट हो गयीं। वे चाहती थीं कि, श्री देवीजी व्यवहारतः नहीं, तो सिद्धान्ततः विवाह-विच्छेदको स्वीकार कर लें। यह पूछनेपर कि, हिन्दुओंकी जिन उपजातियोंमें

विवाह-विच्छेद होता है, क्या उसमें आप सहमत हैं? श्री देवीजीने स्पष्ट अस्वीकार किया और कहा, जब उनके यहाँ विवाह विच्छेद होता ही है और वह सरलतासे हो जाता है उसमें इस बिलद्वारा अनेक असुविधा एवं उलझन उत्पन्न हो जायगी अतः उनके लिये भी यह वाञ्छनीय नहीं है। इस प्रकार श्री देवीजीके दोनों दिनोंके भाषण हिन्दूहृदयोंका पूर्ण प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

दो दिनोंके विरोध-पक्षके भाषणसे डाक्टर साहबका नशा उतर गया। कोई उपाय न देखकर तीसरे दिन 'शेषं कोपेन पूरयेत्' इस न्यायके अनुसार उक्त सनातनी महिलाओंकी एकमात्र प्रतिनिधि श्रीमती विद्यादेवीको बोलनेका अवसर ही नहीं दिया गया। देवीजीसे उन्मत्त भावके साथ डा० अम्बेद्करने कहा, आप केवल हाँ या 'ना' कह सकती हैं। श्री देवीजी भला यह क्यों स्वीकार करने लगीं। उन्होंने इसपर आपत्ति की, विद्वद्वर माधवाचार्यजीने भी देवीजीका समर्थन किया और उनको समय देनेको कहा, पर उनके कहनेका भी कोई असर नहीं हुआ, अतः इस अन्याय और समस्त सनातनी महिलाओंके अपमानके विरोधमें उन्होंने सभागृहसे प्रस्थान किया। श्रीदेवीजी और पं० देवनायकाचार्यजीने भी इसी विरोधमें सभाका त्याग किया।

इस निर्लज्जता और उद्दततापूर्ण नाटकका यहीं ड्रापसीन हो जाता है। इससे बिल बनाने और उसे पास कराने वालोंकी नीयतका पता चल जाता है कि, उनमें कहाँतक सचाई है और कहाँतक उनमें निष्पक्षताका भाव है। यदि उनमें कुछ भी सचाई होती, तो समझौतेका कोई मार्ग निकल आना असम्भव नहीं था। किसी सिद्धांतके विरोधमें यदि एक ही व्यक्ति प्रतिकूल हो, तो वह सिद्धान्त ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रजारंजक रामचन्द्रने त्रिकालज्ञ महर्षि वशिष्ठ, वामदेव, सुमंत जैसे गुरुजनके यह कहनेपर भी कि, सीता देवी निर्दोष हैं, एक रजक प्रजाके मतभेदके कारण प्राणप्रिया जानकीका त्याग कर दिया था। वह आदर्श हमारी सरकारके सामने है कहाँ? इस नाटकसे एकबार एक बात और सिद्ध हो गयी कि, बहुसंख्यक हिन्दूजाति इस बिलके साथ नहीं है।

सतीधर्म

पतिकी सेवा करना, उसके अनुकूल रहना, पतिके सम्बन्धियोंका अनुवर्तन करना तथा पतिके नियमोंका पालन करना, ये पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म हैं। सती स्त्री झाड़ बुहार कर, लीप-पोत तथा चौका पूर कर घरको स्वच्छ तथा सुसज्जित रखे वस्त्राभूषणसे अपनेको अलंकृत रखे। पतिकी सब इच्छाओंको यथासमय पूरी करे तथा नम्रता, इन्द्रियसंयम, सत्य एवं प्रिय वचनोंद्वारा प्रेमसे पतिकी सेवा करे। पतिद्वारा जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट, भोगमें अनासक्त, कार्य-कुशल, धर्मको जाननेवाली, सत्य एवं प्रिय बोलनेवाली सावधान, पवित्र एवं प्रेममयी होकर अपने अपतित पतिकी सेवा करे।

भागवत ७।११।२५—२८।

मनुष्यके लिये कर्म ही सबकुछ है। क्योंकि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल उसको प्राप्त होता है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परमात्मा कर्मके नियमद्वारा अपने इस अनादि अनन्त सृष्टि-साम्राज्यका शासन करते हैं। इस विश्व-ब्रह्माण्डमें किसीको ऐसी शक्ति नहीं, जो स्रष्टाके इस कर्म-विधानमें कोईभी परिवर्तन कर सके। 'कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' सर्वेश्वर स्वयं भी साधारणतः अपने बनाये हुए इस कर्मके नियममें परिवर्तन नहीं करते हैं। उस महेश्वरकी सृष्टिमें देव-दानव-मानव-स्थावर-जंगम सभी प्राणीको नाथे हुए बैलकी तरह इसी कर्मके विधानके अनुसार विवश होकर चलना ही पड़ता है। उस कर्मका अकाट्य अलंघ्य सिद्धान्त है कि, जैसा करो वैसा भोगो। यह कर्म कैसे कहाँ उत्पन्न होता है, कैसे उसका विस्तार होता है, कैसे फलकी उत्पत्ति होती है, इसका विश्लेषण करनेवाला कर्ममीमांसादर्शन है। उसका क्रिया-पाद विशेषतः इस विषयका विवेचन करता है, जो प्रत्येक मनुष्यको अवश्य जानना चाहिये। अतः आर्यमहिलाके पाठक-पाठिकाओंके लिये यहाँ क्रमशः उसे प्रकाशित किया जायगा। हमारे विज्ञपाठक इससे लाभ उठावेंगे ऐसी आशा है।

विद्यादेवी

कर्ममीमांसादर्शन।

क्रियापाद।

—:❀:—

प्राकृतिक कम्पनको क्रिया कहते हैं ॥ १ ॥

प्रकृति त्रिगुणमयी है। रजोगुणके कारण प्रकृतिका परिणाम सदा होता रहता है, वह परिणाम कभी सत्त्वसे तमकी ओर और कभी तमसे सत्त्वकी ओर स्वभावसे होता है। जैसे प्रकृतिमें त्रिगुणका होना स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार यह परिणाम भी स्वभावसिद्ध है। इसी स्वभावसिद्ध-स्पन्दनको क्रिया कहते हैं। इस विषयमें स्मृति-शास्त्रमें कहा है—

विबुधाः ! साम्प्रतं वच्मि कर्मत्रैविध्यगोचरम्।
वैज्ञानिकं स्वरूपं वः सावधानैर्निशम्यताम् ॥
स्वभावात् प्रकृतिर्मे हि स्पन्दते परिणामिनी।
स एव स्पन्दहिल्लोलः स्वभावोत्पादितो मुहुः।
सदैवास्ते भवन् देवाः ! स्वरूपे प्रतिबिम्बितः।
तस्मान्मम प्राकृतानां गुणानां परिणामतः ॥
अविद्याऽऽविर्भवेन्नूनं तरङ्गैस्तामसोन्मुखैः।
सत्त्वोन्मुखैश्च तैर्देवाः ! विद्याऽऽविर्भावमेति च ॥
तदाऽविद्याप्रभावेण तरङ्गाणां मुहुर्मुहुः।
आघातप्रतिघाताभ्यां जलैः पूर्णे जलाशये ॥

प्राकृतिकः स्पन्दः क्रिया ॥ १ ॥

अगण्यवीचिसंघेषु नैकवैधवबिम्बवत् ।
चिज्जडग्रन्थिभिर्देवाः ! स्वत उत्पद्य भूरिशः ॥
जीवप्रवाहपुञ्जोऽयमनाद्यन्तो वितन्यते ।
तदैवोत्पद्य संस्कारो नूनं स्वाभाविको मम ॥
कर्मणा सहजेनैव विश्वविस्तारकारिणा ।
आविर्भावयते सृष्टिं जङ्गमस्थावरात्मिकाम् ॥

हे देवतागण ! अब मैं आपको त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप बताती हूँ, सावधान होकर सुनो। मेरी प्रकृति स्वभावसे ही परिणामिनी होकर स्पन्दित होती है। हे देवगण ! वही स्वभाव-जनित स्पन्दनका हिल्लोल सदा ही स्वरूपमें वारम्वार प्रतिफलित होने लगता है; अतः मेरी प्रकृतिके गुण-परिणामके कारण तमकी ओरके तरङ्गसे अविद्या और सत्त्वकी ओरके तरङ्गसे विद्या प्रकट अवश्य होती है। उस समय अविद्याके प्रभावसे वारम्वार तरङ्गोंके घात-प्रतिघातद्वारा जलपूर्ण जलाशयके अगणित तरंगोंमें अनेक चन्द्रबिम्बके प्रकाशके समान हे देवगण ! स्वतः ही अनेक चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न होकर अनादि अनन्त जीव-प्रवाहको विस्तार करती है। इसी समय मेरा स्वाभाविक संस्कार अवश्य उत्पन्न होकर संसार-विस्तारकारी सहज कर्मसे ही स्थावरजंगमात्मक सृष्टि प्रकट करता है ॥ १ ॥

क्रियाका नैसर्गिक हेतु क्या है सो कहा जाता है :—

शृङ्गार उसका स्वाभाविक हेतु है ॥ २ ॥

जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सकती है कि, संसारमें अहैतुक पदार्थ कुछ भी नहीं हो सकता; इस कारण स्पन्दन-जनित कर्मका हेतु क्या है ? कर्मका बीज संस्कार है, अतः स्वाभाविक संस्कारका हेतु क्या है ? यह शंका भी इसीके अन्तर्गत हो सकती है। स्वाभाविक स्पंदन ही यदि संस्कार और कर्म दोनोंका हेतु माना जाय, तो इन दोनोंके मौलिक हेतुके विषयमें अवश्य शंका होगी। दूसरी और संस्कार और कर्म-जनित जो दृश्यप्रपंचरूपी संसार प्रकट होता है, उसका प्रधान हेतु क्या है ? संसार क्यों उत्पन्न होता है ? सृष्टिका मौलिक कारण क्या है ? इत्यादि नाना शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। इन सब शंकाओंका समाधान एक ही है कि, प्रकृति-पुरुषात्मक शृंगार इन सबोंका कारण है। यह ब्रह्मशक्ति-प्रकृति जब परमपुरुष परमात्मामें अद्वैत दशामें लीन रहती है, वही सृष्टि-संस्कार-रहित और कर्म-रहित अवस्था है। सच्चिदानन्दरूप परमपुरुष परमात्माके अद्वैत स्व-स्वरूपमें गुप्त शक्तिके समान प्रकृति उनमें लीन रहती है तथा उसकी स्वतंत्र सत्ता रहती ही नहीं। जब पराप्रकृति उनसे अलग होकर अपनी स्वतंत्रसत्ता धारण करती हुई परमपुरुषको आलिङ्गित करती है और पुरुषके इक्षणके लिये परिणामिनी होतीहै, प्रकृति-पुरुषात्मक शृंगारकी यह अवस्था ही इन सबोंका कारण है।

यथा स्मृतिमें—

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह ।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ॥
दृष्ट्वा तां तु तया सार्द्धं रासेशो रासमण्डले ।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह ॥
नानाप्रकारशृङ्गारं शृङ्गारो मूर्तिमानिव ।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम् ॥

इच्छामय भगवान्‌ने अपने शरीरको दो रूपोंमें विभक्त किया। वाम भागसे स्त्री और दक्षिण भागसे पुरुष उत्पन्न हुए। उस स्त्रीरूपी मायाको देखकर रासेश्वर सुरसिक भगवान्‌ने उसके साथ रासलीला की। मूर्तिमान् शृङ्गारकी तरह अनेक शृङ्गारसे युक्त हो प्रकृतिके साथ सम्भोग किया। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, सत्, चित्, आनन्द इन तीनों ब्रह्मके भावोंमेंसे अस्ति और भातिके विचारसे सत् और चित् स्वयं

नैसर्गिको हेतुरस्याः शृङ्गारः ॥ २ ॥

वेदनीय हैं, परन्तु आनन्दभाव विना इन दोनोंकी सहायताके वेदनीय नहीं हो सकता है; क्योंकि विना सत्की सहायताके चित्में और चित्की सहायताके सत्में आनन्दभाव प्रकट नहीं हो सकता है। इस कारण आनन्द-विलासके लिये प्रकृति-पुरुषात्मक शृङ्गारकी आवश्यकता है। यही सृष्टि प्रपञ्चका मौलिक कारण है। तात्पर्य यह है कि, आनन्दका स्वतन्त्र अनुभव चित् और सत्की सहायतासे होनेके लिये प्रकृति और पुरुषकी स्वतन्त्र सत्ता आविर्भूत होती है। उसी अवस्थासे प्रकृति विकारको प्राप्त होकर अपनी साम्यावस्था छोड़ती हुई वैषम्यावस्था प्राप्त करके त्रिगुण-परिणामको धारण करती है। यही अवस्था संस्कार और कर्म दोनोंका मौलिक हेतु है ॥ २ ॥

उसके विस्तारका कारण कहा जाता है :—

द्वन्द्व-शक्तिके द्वारा उसका विस्तार होता है ॥३॥

अब जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सकती है कि कर्म, स्वाभाविक होनेपर भी उसका विस्तार अनन्तशाखाओंसे पूर्ण देखनेमें आता है, इसका रहस्य क्या है? इस श्रेणीकी जिज्ञासाका समाधान यह है कि, प्रथम कर्म प्रकृति पुरुषात्मक शृङ्गारसे स्वतः ही उत्पन्न होता है। उसके अनन्तर द्वन्द्व शक्तिकी सहायता होनेपर वह बहु शाखामें विस्तृत होने लगता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, द्वन्द्वशक्ति बहिर्जगत्में रजोमूलक आकर्षण और तमोमूलक विकर्षण है और अन्तर्जगत्में वही शक्ति रजोमूलक राग और तमोमूलक द्वेष है। इन शक्तियोंके घात-प्रतिघातसे कर्मका चक्र अनिवार्यरूपसे चलता ही रहता है। स्थूल जगत्में ग्रह-उपग्रह आदिकी गति, जैव जगत्में आवागमन चक्रकी गति और मनुष्यके अन्तःकरणमें कर्मकी उत्पत्तिका अविराम प्रस्रवण इत्यादि ये सब द्वन्द्वमूलक कर्मके विस्तार-रहस्यके ही उदाहरण हैं ॥३॥

उसके विकासका रहस्य कहा जाता है :—

उसका विकास मेघोत्पत्तिकी तरह होता है। ॥४॥

मेघशून्य निर्मल आकाशमें सर्वत्र मेघोत्पत्ति हो सकती है। मेघोत्पत्ति होनेपर वही मेघ आकाशको ढक भी लेता है। उस समय आकाश न दिखाई देकर मेघ ही सर्वत्र दिखाई देता है। उसी प्रकार द्वन्द्वशक्तिका विकास स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें सर्वत्र स्वतः ही होता है। प्राकृतिक तरंगका घात-प्रतिघात ही इसका कारण है ॥४॥

और भी कहा जाता है :—

रूप और शब्दके द्वारा उसका प्राकट्य होता है ॥५॥

जहाँ सृष्टि है, वहाँ रूप और शब्दका होना भी निश्चित है। चाहे सृष्टिकी स्थूल अवस्था हो, चाहे सूक्ष्म अवस्था अर्थात् जहाँतक दृश्य प्रपञ्च हैं, वहाँतक रूप और शब्दका सम्बन्ध है इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध तो रूपसे ही सिद्ध होता है और रूपके होनेसे नामका होना भी सिद्ध ही है, जैसा कि श्रुतिमें कहा है :—

"नामरूपे व्याकरवाणि"

मैं नामरूपसे प्रकट होता हूँ। और भी—

"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरा
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते।"

जो ब्रह्म नाम और रूपके द्वारा प्रकट होकर संसारमें रहता है।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता।"

परमात्मा नाम और रूपके द्वारा प्रकट होता है ॥५॥

कर्मका साक्षात् फल कहा जाता है :—

द्वन्द्वशक्त्या वितानम् ॥ ३ ॥ अस्या विकासो मेघवत् ॥ ४ ॥ रूपशब्दाभ्यामसौ ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्ड और पिण्डमें सृष्टि-स्थिति-लय उसके द्वारा होते हैं ॥ ६ ॥

ब्रह्माण्डसृष्टि और पिण्डसृष्टि कर्म ही के अधीन है। एक ब्रह्माण्ड जब प्रलयके गर्भमें लय होता है, उस समय उस ब्रह्माण्डके समष्टि कर्मबीज संस्कार-राशि प्रकृतिके साथ ब्रह्ममें लीन हो जाती है। उसके अनन्तर जब उस ब्रह्माण्डकी पुनः सृष्टि होती है, तो श्रीभगवान् "यथापूर्वमकल्पयत्" इस श्रुतिवचनके अनुसार उक्त ब्रह्माण्डके पूर्व संस्कारोंमेंसे अङ्कुरित होनेयोग्य संस्कारोंको स्मरण करके उक्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि, कर्मही ब्रह्माण्ड-सृष्टिका कारण है। जैसे बीज और वृक्षमें अभेद है, वैसे संस्कार और कर्ममें अभेद है। इन दोनोंमें कर्म-अवस्थाका प्राधान्य है, क्योंकि कर्ममें स्वाधीनता है और संस्कार केवल कर्मके अनुसार ही बनता है। इस कारण ब्रह्माण्ड-सृष्टिमें कर्मको ही मूल कारण मानेंगे। दूसरी ओर पिण्डसृष्टि तो कर्मके अधीन है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। "कर्माधीनं जगत् सर्वम्" इस वचनद्वारा भी इस विज्ञानकी पुष्टि होती है। यह तो पहले ही भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि, प्रत्येक मनुष्यके कर्मबीज संस्कारसमूह किस प्रकारसे सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्धरूपमें परिणत होते हैं और उन तीनोंमें से प्रारब्धकर्म किस प्रकारसे पिण्डको उत्पन्न करता है। सुतरां मनुष्य-पिण्ड और देवपिण्ड ये दोनों प्रारब्धकर्मसे ही उत्पन्न होते हैं। रहा सहज-पिण्ड, वह भी किस प्रकारसे स्वाभाविक संस्कार और सहज कर्मके अधीन है, सो भी संस्कार-पादमें भलीभाँति सिद्ध हो चुका है। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंकी उत्पत्ति सर्वथा कर्माधीन है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६ ॥

और भी कहा जाता है :—

आकर्षण और विकर्षण भी ॥७॥

कर्मके साक्षात् फलका एक दूसरा उदाहरण दे रहे हैं कि, परमाणुसे लेकर ग्रह-उपग्रहादिमें और पिण्डसे लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जो आकर्षण और विकर्षण-शक्ति देखी जाती है, वह भी कर्मका साक्षात् फल है। परमाणु-पुञ्ज जब परस्पर मिलते हैं तो आकर्षण शक्तिके बलसे ही मिलते हैं; वे ही परमाणु-पुञ्ज जब पृथक् हो जाते हैं, तब विकर्षण शक्तिके बलसे ही होते हैं। सृष्टिके समय परमाणु-पुञ्ज मिलते हैं और प्रलयके समय वे एक दूसरेसे पृथक् हो जाते हैं। प्रस्तर काष्ठादि साधारण पदार्थोंसे लेकर पृथिव्यादिलोकोंमें सर्वत्र यही क्रिया विद्यमान है और इस क्रियाके मूलमें कर्म विद्यमान है। इसी प्रकार अन्तर्जगत्में रागात्मिका आकर्षण-शक्ति और विद्वेषात्मिका विकर्षण-शक्तियाँ उत्पन्न होकर जो अन्तःकरणको सदा तरङ्गायित करती रहती है, ये सब क्रियायें कर्मकी असाधारण शक्तिपर ही निर्भर करती हैं। प्रस्तरादि स्थावर पदार्थोंमें सहज कर्म, ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सृष्टिक्रियामें एवं अन्तःकरणकी वृत्तियोंके विषयमें जैव कर्मकी शक्ति ही कार्यकारिणी होती है ॥७॥

इस सम्बन्धसे क्रियाका भेद कह रहे हैं :—

ऊर्द्ध्वगामिनी और अधोगामिनी है ॥८॥

अनन्तरूपधारी कर्मसाम्राज्यकी क्रियाके साधारण दो भेद हैं, एक ऊर्द्ध्वगामिनी क्रिया और दूसरी अधोगामिनी क्रिया है। पाप और पुण्य इन दोनों कर्म-शक्ति-जनित क्रियाओंमें पुण्यकी क्रिया ऊर्द्ध्वगामिनी और पापकी क्रिया अधोगामिनी होती है। जन्मान्तर-गतिकी क्रियामेंसे भुवः, स्वः, जनआदि ऊर्द्ध्वलोकोंमें जो गमनकी गति है, वह ऊर्द्ध्वगामिनी और नरक और प्रेतलोकोंकी गति

तथा सर्गस्थितिप्रलयवहारा ब्रह्माण्डपिण्डयोः ॥ ६ ॥ आकर्षणविकर्षणे च ॥ ७ ॥ ऊर्द्ध्वगाऽधोगा च ॥ ८ ॥

अधोगामिनी समझना उचित है। सूर्यकी उदय-गतिको ऊर्ध्वगामिनी और अस्तगतिको अधोगामिनी समझना उचित है। उसी प्रकार जीवपिण्डकी कौमार और यौवन अवस्थाको ऊर्ध्वगतिशील और वार्द्धक्यको अधोगतिशील मान सकते हैं। अन्तरराज्यमें भी अक्लिष्ट वृत्तियोंको ऊर्ध्वगतिशील और क्लिष्ट वृत्तियोंको अधोगतिशील मानेंगे। उसी प्रकार रजकी सत्त्वोन्मुख क्रियाको ऊर्ध्वगतिशील और तमोन्मुख क्रियाको अधोगतिशील स्वीकार करेंगे ॥ ८ ॥

प्रसंगसे शंका समाधान कर रहे हैं :—

कर्म-संस्कारजन्य सृष्टि स्वाभाविक है ॥ ९ ॥

सृष्टि क्रियाको कर्मजन्य भी कह सकते हैं, संस्कारजन्य भी कह सकते हैं, क्योंकि संस्कार कर्मका बीज है और कर्म संस्काररूपी बीजका वृक्ष है। इस कारण सृष्टिको उभयजन्य कहनेमें दोष नहीं होगा। दूसरा ओर जब त्रिगुणात्मिका होना प्रकृतिका स्वभाव है, जब कर्म स्वभावतः प्रकृति-हिल्लोलसे उत्पन्न होता है और जब स्वाभाविक संस्कार स्वतः उत्पन्न होता है जैसा कि, पूर्व अध्यायमें सिद्ध हो चुका है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि, सृष्टिक्रिया जो कर्मसंस्कारजन्य है, वह भी प्रवाहरूपसे होनेसे स्वाभाविक है ॥ ९ ॥

प्रकृत विज्ञानको उदाहरणसे पुष्ट किया जाता है :—

वह मकड़ीके समान और केश-लोमके समान है ॥ १० ॥

उदाहरण दिया जाता है कि, जिस प्रकार मकड़ी स्वप्रकृतिके वश स्वतः ही जाला बनाकर बड़ा प्रपञ्च रच लेती है और जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें स्वतः ही केश और लोम प्रकट होते हैं, उसी प्रकार कर्मजन्य सृष्टि-प्रपञ्च स्वतः ही प्रकट होता है ॥ १० ॥

प्रसंगसे कर्मके साथ शक्तिका सम्बन्ध दिखाया जाता है :—

हिमालयके ऐश्वर्यके समान शक्ति कर्मके अधीन है ॥ ११ ॥

जगत्प्रसिद्ध हिमालय पर्वत सब प्रकारके ऐश्वर्योंको खान है। प्रसिद्ध और पुनीत नद-नदियाँ हिमालयसे निकली हैं, सब प्रकारके रत्नराशि, सब प्रकारके सुवर्णादि धातु तथा अन्यान्य सब खनिज पदार्थ हिमालयके गर्भमें सुगमतासे प्राप्त हैं। सब प्रकारकी वनौषधियाँ हिमालयके सुविशाल वक्षःस्थलपर उत्पन्न होती हैं। ऐसा कोई वन्य पशु नहीं है, ऐसा कोई पक्षी नहीं और ऐसा कोई उद्भिज्ज नहीं है जो हिमालयके आश्रयसे जीवित न रह सके। इस सामान्य दिग्दर्शनसे यह सिद्ध होता है कि, हिमालय सब ऐश्वर्योंकी खानि है और यह पर्वतराज प्राकृतिक शोभाका तो आकर ही है। ठीक इसी उदाहरणसे समझना उचित है कि, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, सभी शक्तियाँ कर्मके आश्रयसे ही उत्पन्न होती हैं। चाहे यावत् मानवी-शक्ति हो, चाहे दैवीशक्ति हो, चाहे शारीरिक शक्ति हो, चाहे मानसिक शक्ति हो, चाहे लौकिक शक्ति हो, चाहे आत्मिक शक्ति हो, चाहे ब्राह्मण-शक्ति हो, चाहे क्षत्रिय-शक्ति हो, चाहे विद्या-शक्ति हो, चाहे धन-शक्ति हो, चाहे युद्ध-शक्ति हो और चाहे बुद्धि-शक्ति हो, सब ही कर्मसे प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

कर्मोत्पत्तिके हेतु विज्ञानको पुष्ट कर रहे हैं :—

सत् और चित्की ओर गमनागमनसे कर्म उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

आनन्द-अनुभवके अर्थ चित्से सत् और सत्से चित्की ओर जो भावतरङ्गकी गति है, वही कर्मो-

---

नैसर्गिकी कर्म-संस्कारजा सृष्टिः ॥९॥ ऊर्णनाभवत् केशलोमवच्च ॥१०॥ शक्तिः कर्मायत्ता हिमालयैश्वर्यवत् ॥११॥ सच्चितोर्गमागमतः कर्म ॥१२॥

त्पत्तिका कारण है, और उसीको सृष्टिका हेतु कह सकते हैं। यद्यपि कर्मोत्पत्ति तथा सृष्टिका विज्ञान पहले अच्छी तरह समझाया गया है, तथापि कर्मकी महिमाको दृढ़ करनेके अर्थ पुनः कहा जाता है कि, आनन्द बिना सत् और चित् उभयकी सहायता के अनुभव नहीं हो सकता ; इस कारण आनन्दानुभवके निमित्त सत्से चित्की और चित्से सत्की ओरके अनुभवके सम्बन्धसे जो विविध भावका स्वतन्त्र स्वतन्त्र अनुभव है, उसको कर्मकी उत्पत्तिका मौलिक कारण कह सकते हैं। समाधिस्थ योगी इस विज्ञानको समझ सकते हैं कि, प्रकृतिकी लयावस्थामें जब अद्वैतरूपमें ब्रह्मसद्भावकी दशा रहती है, उस समय सत्, चित् और आनन्द, इन तीनोंकी अद्वैत सत्ता होती है ; इस स्वरूपावस्थामें इन तीनों भावोंका पृथक् पृथक् अनुभव असम्भव है। परन्तु जब इन तीनोंका पृथक् पृथक् अनुभव होता है, उस समय चिद्भावका अनुभव और सद्भावका अनुभव अलग अलग पहले होता है। अस्ति और भाति सत् और चित्की अनुभूतिका कारण होता है। इसी दशामें अव्यक्तावस्थाको छोड़ कर ब्रह्म-प्रकृति सूक्ष्मावस्थाको धारण करती है और यही अवस्था कर्मोत्पत्तिका कारण बनती है। यद्यपि प्रकृतिके त्रिगुणके स्पष्ट विकासकी अवस्थामें ही कर्मकी यथार्थ उत्पत्ति होती है, परन्तु इस पूर्वावस्थाको मौलिक कारण मान सकते हैं॥ १२॥

प्रसंगतः कर्मका विशेष महत्त्व कह रहे हैं :—

समष्टि कर्म नदीके प्रवाहके समान जगत्के सामञ्जस्यकी रक्षा करता है॥ १३॥

नदीप्रवाह जिस प्रकार नदीमें प्रवाहित जलको नियमित समुद्रमें पहुँचाता हुआ जलके सामञ्जस्यकी रक्षा करता है, नदीप्रवाह जिस प्रकार वर्षाऋतुमें देशको जलप्लावनसे बचाता है और नदीप्रवाह जिस प्रकार जहाँ जितने जलकी आवश्यकता है, देता हुआ अधिक जलको समुद्रमें पहुँचा देता है ; उसी प्रकार ब्रह्माण्डका समष्टिकर्म सदा ब्रह्माण्डके सामञ्जस्य रक्षा करनेमें प्रवृत्त रहता है। चाहे ऋतुओंकी उत्पत्ति-स्थितिपर लक्ष्य किया जाय, चाहे सूर्यकी गति और शक्तिपर लक्ष्य किया जाय, चाहे मेघराशिकी उत्पत्ति, वाष्पराशिका आकाशमें उठना और जल बरसाना आदि क्रियापर विचार किया जाय, चाहे महामारी महायुद्धादि दैवीक्रियाओंका मूल अनुसंधान किया जाय, यही मानना पड़ेगा कि, सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षा करनेके लिये ये सब समष्टि क्रियाएँ हुआ करती हैं॥ १३॥

विज्ञानको स्पष्ट करनेके लिये सबका मूल कह रहे हैं :—

त्रिगुणात्मिका प्रकृति सबका कारण है॥ १४॥

कितना ही सूक्ष्म विचार किया जाय, परन्तु यही कहना पड़ेगा कि, त्रिगुणात्मिका प्रकृति सबका मूल कारण है। अद्वैतभावापन्न ब्रह्मके स्वरूपावस्थासे द्वैत अवस्थाका जो कुछ परिणाम होता है, सबका कारण प्रकृति है और वह त्रिगुणात्मिका है। यद्यपि लयावस्थामें उसमें गुणका विकास नहीं रहता है, यद्यपि परवर्ती अवस्थामें वह प्रकृति त्रिगुणप्रभावसे तरङ्गायित हो जाती है, और वही प्रकृति कभी तुरीयावस्था, कभी कारणावस्था, कभी सूक्ष्मावस्था और कभी स्थूलावस्थाको प्राप्त होकर स्थूलसूक्ष्मात्मक जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयक्रिया सम्पादन करती रहती है, परन्तु यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, कि द्वैतावस्थाका जो कुछ कार्य है, वह सब प्रकृतिके द्वारा होता है॥ १४॥

उनके स्वरूपका विशेष परिचय दे रहे हैं :—

कर्मसमष्टिर्विश्वसामञ्जस्यकृन्नदीप्रवाहवत् ॥१३॥ त्रैगुण्यमयी सर्वमूलम् ॥१४॥

वह विद्या और अविद्यारूपिणी है ॥ १५ ॥

ब्रह्म-प्रकृति जब ब्रह्मसे अलग होकर द्वैत-प्रपञ्चकी सृष्टि करती है, उस समय अवस्था-भेदसे उसके स्वरूपके दो भेद माने जाते हैं। उन दोनोंका नाम विद्या और अविद्या है, ज्ञान-जननीको विद्या कहते हैं और अज्ञान-जननीको अविद्या कहते हैं। इस विषयमें ऐसा वर्णन स्मृतिशास्त्रमें है :—

विद्याऽविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव ।
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बध्यतेऽविद्यया पुनः ॥

हे राजन्! विद्या और अविद्या-भेदसे उसका द्विविध रूप जानो। विद्याके द्वारा जीव मुक्ति लाभ करता है और अविद्याके द्वारा बन्धनको प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

दोनोंके अधिष्ठानका रहस्य कहा जाता है :—

सत्त्व और तममें उन दोनोंका अधिष्ठान है ॥ १६ ॥

यद्यपि स्थावर और जङ्गम, जड़ और चेतन सबमें त्रिगुणकी क्रिया समानरूपसे देखनेमें आती है, परन्तु विद्या और अविद्याका राज्य केवल जीव-अन्तःकरणमें माना जाता है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञानके साथ ही इन दोनोंके अधिष्ठानका सम्बन्ध है। जीव-अन्तःकरणमें कहा जाय अथवा सहजपिण्ड, मानवपिण्ड अथवा देवपिण्डमें कहा जाय, जहाँ आत्म-आवरणकारी अज्ञान है, वहाँ अविद्याका अधिष्ठान है और जहाँ आत्म-प्रकाशक ज्ञान है, वहाँ विद्याके अधिष्ठानका सम्बन्ध है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इस विज्ञानको समझनेके अर्थ निम्नलिखित अज्ञान-भूमि और ज्ञान-भूमि-सम्बन्धीय भगवद्वचन विचारणीय है—

सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत्।
सन्न्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात् पञ्चमो सत्पदा स्मृता ।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
यावज्जीवैरतिक्रांता न सप्ताऽज्ञानभूमयः ।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाऽऽप्यते ॥
उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका ।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
तृतीयाऽण्डजजातेश्चाऽज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता ।
जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ ॥
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वाधिकारिष्वेव वै नृषु ।
सन्ति शेषा अधिकृतास्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः ॥
तिस्रस्ता एव कथ्यन्ते उत्तमाधममध्यमाः ।

सातों ज्ञानभूमियोंमेंसे प्रथमा ज्ञानदा, द्वितीया सन्न्यासदा, तृतीया योगदा, चतुर्थी लीलोन्मुक्ति, पञ्चमी सत्पदा, षष्ठी आनन्दपदा और सप्तमी परात्परा है। जबतक जीवोंने सप्त अज्ञानभूमियोंका अतिक्रमण नहीं किया है, तबतक प्रथम ज्ञानभूमि ज्ञानदाकी प्राप्ति नहीं होती है। उद्भिज्जोंके चिदाकाशमें प्रथम अज्ञान-भूमि है, स्वेदजोंके चिदाकाशमें द्वितीय अज्ञान-भूमि कही गई है, अण्डजोंके चिदाकाशमें तृतीय अज्ञानभूमि है और जरायुज पशुओंके चिदाकाशमें चतुर्थ अज्ञानभूमि है; परन्तु पांचकोषकी पूर्णताकी अधिकारिणी मनुष्ययोनिमें ही शेष तीनों अज्ञानभूमियोंका अधिकार है। वे ही तीनों उत्तम, मध्यम और अधम अज्ञान-भूमियाँ कहाती हैं ॥ १६ ॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

गुणोंमें अन्योऽन्याश्रयत्व है ॥ १७ ॥

त्रिगुणसे क्रिया उत्पन्न होनेका जो अतिदुर्ज्ञेय तथा समाधिगम्य रहस्य है, उसको यथासम्भव समझानेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण गुणमयी प्रकृतिके स्वाभाविक होनेपरभी इन तीनों गुणोंके परस्परमें

सा विद्याऽविद्यारूपा ॥ १५ ॥ तयोरधिष्ठाने सत्त्वतमसी ॥ १६ ॥ अन्योऽन्याश्रयत्वं गुणानाम् ॥ १७ ॥

अन्योन्याश्रयत्व है। जैसे उष्णत्व और प्रकाश ये दोनों गुण अग्निके होनेपरभी और दोनोंकी अलग अलग क्रिया देखनेसेभी यह मानना ही पड़ेगा कि, उन दोनोंकी स्वतंत्रता भी है और अन्योऽन्याश्रयत्व भी है। बिना उष्णत्वके अग्निका प्रकाश जिस प्रकार नहीं रह सकता, उसी प्रकार बिना प्रकाशके अग्निका उष्णत्व भी नहीं रह सकता है। इसी उदाहरणसे समझ सकते हैं कि, प्रकृतिके तीनों गुण एक दूसरेका आश्रय लेकर रहते हैं। यथा— स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

तमोरजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते।
अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योऽन्यानुजीविनः॥
अन्योऽन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योऽन्यानुवर्तिनः।
अन्योऽन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः॥

तम, रज और सत्त्व, ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। ये परस्पर मिले रहते हैं और परस्पर अनुजीवी हैं। अर्थात् एकके बिना एक नहीं रह सकता। ये गुण-त्रय परस्पर अन्योन्याश्रय हैं अर्थात् जैसे एक दण्ड दूसरेके सहारे अधिक भार लेनेमें समर्थ होता है इसी प्रकार परस्पराश्रय हैं और अन्योन्यानुवर्ती तथा परस्पर व्यतिषक्त है। इस प्रकारसे तीनों गुणोंके परस्पर सम्बन्ध पाये जाते हैं।

गीतोपनिषद्में श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥

हे भारत! कभी रजोगुण और तमोगुणको पराजय करके सत्त्वगुण प्रबल होता है, कभी सत्त्व और तमको पराभूत करके रजोगुण प्रबल होता है और कभी सत्त्व और रजको पराभूत करके तमो-गुण प्रबल होता है। इसमे यही तात्पर्य है कि, एक गुणके उदयके समय अवश्य अन्य दो गुण गौणरूप-से सहायक बने रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो त्रिगुणका नियमित परिणाम असम्भव होता ॥१७॥

और भी कहते :—

परस्पर मिथुनत्व भी है ॥ १८ ॥

जैसे एक गुण गौण रहकर मुख्य गुणके दब जानेपर स्वयं मुख्य होकर क्रिया उत्पन्न करता है, जैसा पहले सूत्रमें कहा गया है, उसी प्रकार दो गुण परस्परमें मिलकर भी कार्य करते हैं। जैसे ब्राह्मणजातिके गुण सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्षत्रियजातिमें रजःसत्त्वकी प्रधानता रहती है और वैश्यजातिमें रज और तम मिलकर कार्य करते हैं। इसी प्रकारसे तीनों गुण परस्परमें मिथुनत्व प्राप्त होकर अनन्तरूप धारण करते हुए कर्मराज्यको अग्रसर करते हैं। अतः ये तीनों गुण कहीं परस्परमें दो मिलकर कहीं परस्परमें तीन मिलकर स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्में अपने वैभवको फैलाते रहते हैं ॥ १८ ॥

और भी कहा जाता है :—

एक अन्य दोनोंको प्रसव करता है ॥ १९ ॥

जब तीनों गुण परस्परमें मिल मिलकर भी कार्य करते हैं और तीनों परस्परमें मिले हुए भी रहते हैं; दूसरी ओर एक गुणका उदय-अस्त भी होता रहता है और एककी गौणता होनेसे दूसरेकी मुख्यता हो जाती है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, एक प्रधान गुण जब गौण होने लगता है, तो वह क्रमशः अन्य दोनों गुणोंका प्रसव करनेवाला बन जाता है और यही कारण है कि, त्रिगुण परिणामसे

मिथो मैथुन्यञ्च ॥ १८ ॥ एकमितरयोः क्षेत्रम् ॥ १९ ॥

नियमितरूपसे सृष्टि, स्थिति और लय-क्रिया तथा दृश्य-प्रपञ्चके अनन्त स्वरूप अपने आप ही बनते रहते हैं। इस विज्ञानको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये यह कहा जा सकता है कि, एक गुण जब अपने पूर्ण स्वरूपमें प्रकट रहता है, तो प्रकृतिके परिवर्तनशील नियमके अनुसार उस गुणके उदय-दशाके साथ उसकी अस्तमित दशाका भी होना निश्चित है। जिस प्रकार प्रातःकाल और सायंकालकी संधिमें एकमें सूर्यका उदय और तारकाराजिका अस्त होना तथा दूसरेमें सूर्यका अस्त होना और तारागणका उदय देखनेमें आता है उसी उदाहरणके अनुसार औदाहरण यह है कि, एक गुणको उदय करके दूसरे गुण अस्तमित हो जाते हैं यही इस सूत्रका तात्पर्य है ॥ १९ ॥

गुण सम्बन्धसे कर्मका स्वरूप कहा जा रहा है :—

त्रिगुणजन्य कर्म स्वाभाविक हैं ॥ २० ॥

जब पूर्व कथित विज्ञानके अनुसार यह भलीभाँति सिद्ध हुआ कि प्रकृतिके तीनों गुण परस्पर आश्रय करते हुये और परस्पर साथ रहते हुये मुख्य और गौण होकर एक दूसरेको प्रसव करते रहते हैं, तो यह सिद्ध हुआ कि त्रिगुणके कारण प्रकृति सदा परिणामिनी बनी रहती है। जहाँ परिणाम है, वहाँ क्रिया है और जहाँ क्रिया है, वहीं कर्मराज्यका प्राकट्य है, सुतरां त्रिगुणविकारके कारण कर्मका होते रहना स्वभावसिद्ध है ॥ २० ॥

कर्मकी नैसर्गिक गतिके विज्ञानको और भी पुष्ट कर रहे हैं :—

संस्कार और क्रिया बीजाङ्कुरवत् है ॥ २१ ॥

जैसे बीजके साथ वृक्षका सम्बन्ध है, वैसे ही संस्कारके साथ कर्मका सम्बन्ध है, इसको पहले भलीभाँति सिद्ध कर चुके हैं। इस कारण जैसे धान्यबीज और धान्यका अंकुर एक दूसरेसे उत्पन्न होते हुये धान्यसृष्टिकी अनन्तसत्ताको स्थायी रखते हैं उसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि संस्काररूपी बीज एवं पिण्ड और ब्रह्माण्डरूपी वृक्ष एक दूसरेको उत्पन्न करते हुये सृष्टिकी अनन्तधाराको स्थायी रखते हैं ॥ २१ ॥

प्रसङ्गतः कर्मका फल कह रहे हैं :—

कर्मसे सृष्टिका अस्तित्व है ॥ २२ ॥

कर्मका साक्षात् फल सृष्टि है। जहाँ क्रिया है, वहाँ प्रतिक्रिया अवश्य होगी, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। कर्मसे संस्कार अवश्य ही उत्पन्न होता है और संस्कारसे पुनः कर्मका उत्पन्न होना निश्चित है। इस कारण कर्म ही ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक सृष्टिका मूल कारण है। जिस प्रकार जीव अपने पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ही अपने पिण्डरूपी स्थूलशरीरको प्राप्त करता है, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डका पूर्व-समष्टि कर्म जैसा होता है, उसीके अनुसार संस्कार उत्पन्न होकर भगवान् ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें वैसी ही सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा होती है। सुतरां, ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सृष्टि कर्म पर ही निर्भर करती है ॥ २२ ॥

कर्मका प्राकट्य कहाँसे होता है, उसका रहस्य कहा जाता है—

ब्रह्मके स्वभावसे कर्मका प्राकट्य होता है ॥ २३ ॥

कर्मका समाधिगम्य रहस्य समझानेके लिये श्रीभगवानने निजमुखसे गीतोपनिषद्में कहा है कि—

त्रिगुणजं कर्म नैसर्गिकम् ॥ २० ॥ संस्कारक्रिये बीजांकुरवत् ॥ २१ ॥ कर्मणा सर्गसत्ता ॥ २२ ॥
कर्मणः प्राकट्यं ब्रह्मस्वभावात् ॥ २३ ॥

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

तात्पर्य्य यह है कि जो निर्विकार, अद्वैतसत्तासे युक्त, कर्मातीत, भावातीत, बुद्धि-अतीत पद है, वही अक्षरब्रह्म कहाता है। और उसका जो प्रकृतिरूप स्वभाव है, वही अध्यात्म कहाता है वस्तुतः ब्रह्म प्रकृति ही अध्यात्म है और वही स्व-स्वभावरूपा है। उसी स्व-स्वभावसे कर्मका साक्षात् सम्बन्ध होनेसे कर्म ब्रह्मरूप है। जैसे कहनेमें आता है कि अमुक व्यक्तिकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव ऐसा है। इस उदाहरणसे औदाहरण यह समझने योग्य है कि, ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिमें जो सम्बन्ध है, ब्रह्मप्रकृति और कर्ममें वही सम्बन्ध है। श्रीभगवान्ने कहा है कि—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

निर्विकार स्व-स्वरूप ब्रह्मपदसे ब्रह्मप्रकृति प्रकट होती है और उस प्रकृतिरूपी ब्रह्मसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। इस कारण सर्वगत ब्रह्म कर्मरूपी यज्ञमें सदा प्रतिष्ठित रहते हैं। यह कर्मरूपी ब्रह्मका वैज्ञानिक रहस्य है ॥ २३ ॥

फलतः—

इस कारण कर्म नित्य है ॥ २४ ॥

जब ब्रह्म तथा ब्रह्मस्वभाव प्रकृति दोनों नित्य हैं, तो ब्रह्मप्रकृतिसे स्वतः उत्पन्न होनेवाला कर्म भी नित्य है। चाहे समष्टिकर्म हो चाहे व्यष्टिकर्म हो, अर्थात् चाहे ब्रह्माण्डसे सम्बन्धयुक्त कर्म हो, चाहे पिण्डसे सम्बन्धयुक्त कर्म हो प्रकृतिके सहजात होने के कारण प्रवाहरूपसे कर्म नित्य है यह स्वतः ही सिद्ध है। जैसे सृष्टिप्रवाहके विचारसे यही मानना पड़ेगा कि बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज इन दोनोंको प्रवाह सम्बन्धसे अनादि ही मानेंगे। उसी प्रकार अध्यात्म सृष्टिप्रवाह और कर्म दोनों ही अनादि हैं ऐसा माननाही पड़ेगा ॥ २४ ॥

कर्मका नित्यत्व विज्ञान और भी पुष्ट किया जाता है—

भूतभावोद्भवकर विसर्गके कारण भी ॥ २५ ॥

भूतभावोद्भवकर विसर्ग जिससे जीवोत्पत्ति होती है उसको वेद और शास्त्रोंमें कर्म कहा है, इस कारणसे भी कर्मका नित्यत्व सिद्ध होता है। श्रीभगवान्ने गीतोपनिषद्में कहा है—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्मकी स्वभावरूपी प्रकृति तब ही तक अपने प्रकृतित्वकी रक्षा करती है, जबतक वह विकारको प्राप्त नहीं होती है। सर्वभूतमें तथा सर्व अवस्थामें जो उस प्रकृतिकी एकरस रहनेवाली अवस्था है, वही उसके स्वभावके स्थायित्वका रक्षक है और प्रकृतिसे विरुद्ध जो उसकी दूसरी अवस्था है वह विकृति कहाती है। अतः भूतभावको उत्पन्न करनेवाली तथा उसके प्रकृति-भावके त्याग अर्थात् स्व-स्वभाव त्याग करते हुए जो भूतसृष्टिकारी अवस्था है, वह अवस्था ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है। वस्तुतः इसी अवस्थामें कर्म उत्पन्न होकर जगत्का सृष्टि, स्थिति, प्रलय कराता है। इस विज्ञानको अन्यप्रकारसे भी समझ सकते हैं। सत् चित् और आनन्द इन तीनों भावोंको एकतत्त्वमयी धारामें दिखानेवाली अवस्था ही विद्यादेवीकी कृपाजनित है और ये ही अध्यात्म अवस्था है। जब इस एकतत्त्व दशासे सत् चित् और आनन्द तीनोंकी पृथक् सत्ताका अनुभव होता है जिसके विषयमें पहले कहा गया है वही अवस्था

कर्मातोऽनित्यम् ॥ २४ ॥ भूतभावकृद्विसर्गाच्च ॥ २५ ॥

सृष्टिका कारण है और वही अवस्था ब्रह्मके स्व-स्वभावकी विसर्ग अवस्था है। उसी अवस्थासे कर्मकी उत्पत्ति होती है और तभी अविद्याका प्रभाव प्रकट होता है। इस अतिगहन विषयको अन्यतरहसे भी समझ सकते हैं। स्वभाव और प्रकृति, ये पर्य्यायवाचक शब्द हैं। लोकमेंभी ऐसा देखा जाता है कि, 'अमुकका स्वभाव' कहनेसे जो भाव हृदयमें आता है, "अमुककी प्रकृति" कहनेसे भी वही भाव हृदयमें आता है। अतः यहाँ प्रकृति शब्दवाच्य ब्रह्मस्वभाव ही है। तात्पर्य्य यह है कि सच्चिदानन्दमय अद्वैतसत्ताका प्रकट होना या प्रकट करना यही स्वभाव और यही अध्यात्म है। जब उस अद्वैत-सत्तामें द्वैतभाव उत्पन्न हुआ, जब साम्यावस्थासे प्रकृति वैषम्यावस्थाको प्राप्त हुई, जब त्रिगुण विकारसे प्रकृति तरङ्गायित होने लगी, वही भूतभावोद्भवकर अवस्था है। इसी अवस्थामें कर्मकी उत्पत्ति होती है॥ २५॥

कर्म कितने प्रकारके हैं सो कहा जाता है—

वह सहज, ऐश और जैवभेदसे त्रिविध होता है ॥२६॥

दृश्यप्रपञ्चका उत्पादक कर्म तीन प्रकारका होता है। यथा सहजकर्म, ऐशकर्म और जैवकर्म। जिस प्रकार विकार-भावापन्न प्रकृतिका स्वरूप अनन्तरूपमय हो जाता है, उसी प्रकार कर्म भी अनन्तरूपधारी है। जैसे प्रकृतिकी विकृत अवस्थाको त्रिगुणके अनुसार तीन प्रकारके नामसे विभक्त कर सकते हैं, उसी प्रकार अनन्तरूपधारी कर्मकोभी ऊपरलिखित तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। विकारके साथ ही साथ रहने वाला सहजकर्म, सूक्ष्म दैवजगत्से सम्बन्ध रखनेवाला ऐशकर्म और जीवको बन्धन-दशामें रखनेवाला कर्म जैवकर्म कहाता है। इस विषयमें शास्त्रोंमें भी कहा है—

जैवैशसहजाख्याभिस्त्रिधा कर्म्म विभिद्यते ॥
आश्रित्य सहजं कर्म्म भुवनानि चतुर्दश।
जायते च विराट्सृष्टिर्जङ्गमस्थावरात्मिका ॥
देवासुराधिकारेण द्विविधेन समन्वितम्।
सञ्जुष्टं नैकवैचित्र्यैर्भूतसङ्घैश्चतुर्विधैः ॥
सहजाख्यञ्च कर्म्मैव ब्रह्माण्डं सृजते सुराः।
कर्म्मभूमर्त्यलोकं हि जैवं कर्म्म दिवौकसः ॥
विविधानधिकारांश्च मानवानां यथायथम्।
स्वर्नरकादिकान् भोगलोकांश्च सृजते पुनः ॥
मन्निघ्नं सहजं कर्म्म जैवं जानीत जीवसात्।
जीवाः सन्ति पराधीनाः सहजे कर्म्मणि स्वतः ॥
जैवे स्वाधीनतां यान्ति जीवाः कर्म्मणि निर्ज्जराः।
सन्त्यतो मानवाः सर्वे पुण्यपापाधिकारिणः ॥
आभ्यां विचित्रमेवेदमैशं कर्म्म किमप्यहो।
साह्याय्यमुभयोरेव कर्म्मैतत् कुरुते किल ॥

कर्म साधारणतः जैव, ऐश और सहजरूपसे तीन भेदोंमें विभक्त है। चतुर्दश भुवन और उनमें स्थावर-जङ्गमात्मक विराट्सृष्टिका प्रकट होना सहज कर्मके अधीन है। सहजकर्म्म ही चतुर्विध भूतसंघ और देवासुररूपी द्विविध अधिकार सहित अनन्त वैचित्र्यपूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि करता है। पुनः हे देवगण! जैवकर्म्मद्वारा ही कर्म्मभूमि मनुष्य-लोक, मनुष्योंके यथायोग्य विविध अधिकार और स्वर्ग-नरकादि भोगलोककी सृष्टि हुआ करती है। सहजकर्म मेरे अधीन और जैवकर्म्म जीवों के अधीन हैं, सो जानो। सहजकर्म्ममें जीव स्वतः पराधीन हैं और हे देवगण! जैवकर्म्ममें जीव स्वाधीन हैं इस कारण सब मनुष्य पापपुण्य भोगनेके अधिकारी होते हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त ऐशकर्म्म कुछ विचित्र ही है। ऐशकर्म्म उभय सहायक है और वह कर्म्म केवल मेरे अवतारोंमें ही प्रकट होता है॥ २६॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं—

तत् त्रिविधं सहजैशजैवभेदात् ॥ २६ ॥

गुण और भावके समान ॥ २७ ॥

जिस प्रकार त्रिगुणके विकार अनेक प्रकारके होनेपर भी उन सबोंको सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन भागोंमें विभक्त करते हैं, जिस प्रकार अन्तःकरणका भावराज्य अनन्तरूप धारण करनेवाला होनेपर भी जब उन सब भावोंका श्रेणीविभाग करेंगे तब आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इस प्रकार तीन प्रकारसे विभक्त करेंगे। इसी प्रकार कर्मराज्य अनन्त होनेपर भी जब उसको शृङ्खलाबद्ध करेंगे तब उसको सहज, ऐश और जैवरूपमें विभक्त करेंगे और ऐसा करना पूर्वदृष्टांतके अनुसार युक्तियुक्त है ॥२७॥

अब प्रथमका स्वरूप समझा रहे हैं—

सहजकर्म चतुर्दश भुवनका कारण है ॥ २८ ॥

परिणामिनी प्रकृतिका सहजात सहजकर्म प्रथम ही चतुर्दश भुवनको उत्पन्न करता है। सहजकर्म बिना किसी जैव संस्कारके स्वतः ही प्रकृतिके स्पन्दनके साथ साथ प्रकट होता है। सृष्टिके आदिमें इसी सहजकर्मके द्वारा अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डमय विराट्के विशालदेहमें देशावच्छिन्न विशेषता उत्पन्न होती है, इसी कारण प्रत्येक ब्रह्माण्डके अङ्गरूपसे चतुर्दश भुवन और उसके अंग-प्रत्यंगरूपी अनेक लोक और ग्रह-उपग्रह आदि रूपी जीवके वासके उपयोगी स्थूलसमूह स्वतः ही इसीके बलसे बन जाते हैं। जैसे स्वाभाविक संस्कार स्वतः ही प्रकट होता है, उसी प्रकार सहजकर्म स्वतः ही प्रकट होता है। जैसे प्रकृति परिणामिनी होकर स्वतः ही त्रिगुणके कार्य्य प्रसव करती है, वैसे ही सहजकर्म अपने आपही चतुर्दश-भुवनको निर्माण कर देता है। इस विज्ञानको समझनेके लिये सृष्टिप्रकरणका कुछ रहस्य समझने-योग्य है। सृष्टिके चार स्तर हैं। यथा—प्रकृतिकी लोकमयी सृष्टि, भगवान् ब्रह्माकी आद्योसृष्टि, ऋषियोंकी मानससृष्टि और जीवोंकी मैथुनीसृष्टि। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिमूर्तियोंके प्रकट होनेके पूर्व सगुणब्रह्मकी प्रकृतिकी स्वाभाविक चेष्टासे जो ब्रह्माण्ड अण्डप्रसवकारी सृष्टि प्रथम होती है वही प्रथम सृष्टि है। इसीका स्वाभाविक सम्बन्ध सहज कर्मके साथ है। स्मृतिशास्त्रमें इन चारों श्रेणोकी सृष्टिका प्रमाण है। यथा—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥
तस्मिन्नण्डे स भगवान् उषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥
ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिं च निममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम् ॥

इस प्रकारसे अपनेही भीतरमे विविध जीव-सृष्टि करनेकी इच्छा जब परमात्मामें हुई तो प्रथम उन्होंने जल अर्थात् अव्याकृत प्रकृति उत्पन्न की। उस प्रकृतिमें परमात्माने अपने चित् शक्तिरूपी बीजको डाला। जड़प्रकृतिमे इसप्रकार चेतन बीजके संयोग होनेसे अव्यक्त प्रकृति सुवर्ण-निर्मित अण्डकी तरह चमकने लगी, तब उसमें भगवान् ब्रह्माजी प्रकट हुए। उस सुवर्ण अण्डमें भगवान् ब्रह्माजी रहकर अपने ही आप उस अण्डको दो खण्ड कर देते हैं। उन दोनों खण्डोंसे स्वर्ग और पृथिवीकी सृष्टि वे करते है। अण्डके मध्यांशसे आकाश और आठ दिशायें उत्पन्न करते हैं।

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवाऽसृजत् प्रभुः।
तथैव देवानृषयः तपसा प्रतिपेदिरे ॥
आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

गुणभाववत् ॥ २७ ॥ चतुर्दशभुवननिदानमाद्यम् ॥ २८ ॥

ब्रह्माने समस्त जीवों तथा देवताओंकी सृष्टि मनसेही की थी और महर्षियोंने भी आदिकालमें तपस्याके द्वारा मानसी सृष्टि की थी। आदिदेव ब्रह्मासे जो अक्षय, अव्यय, वेदमूलक धर्मतन्त्र-परायण सृष्टि हुई थी जो सनक, सनन्दन आदि सिद्ध, मरीचि अत्रि आदि प्रजापति तथा उनसे उत्पन्न ब्राह्मणगण थे। ये सब सृष्टि ब्रह्माकी मानसिक सृष्टि थी ॥ २८ ॥

उसकी और भी क्रिया कह रहे हैं—

यह पञ्चकोषको उत्पन्न करता है ॥ २९ ॥

जैसे ब्रह्माण्डमें चतुर्दश भुवनकी उत्पत्ति सहज कर्मद्वारा होती है, वैसेही पिण्डमें पञ्चकोषकी उत्पत्ति सहजकर्म द्वारा अपने-आप होती है। सृष्टिके आदिमें सगुणब्रह्ममें मैं एकसे बहुत होऊँ ऐसी इच्छा होती है, तो उसी समय सहजकर्म के द्वारा जैसे चतुर्दश भुवनादि जीवके वास-उपयोगी लोक बन जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जब चिज्जड़ ग्रन्थिरूपी जीवभाव प्रकट होता है, तो उसीके साथही साथ सहजकर्म द्वारा जीवके भोगस्थल-रूपी पञ्चकोष अपने आपही प्रकट हो जाते हैं। यदि माना जाय कि, मनुष्य और देवता आदिको तो देह अपने अपने कर्मके अनुसार मिलता है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यसे निम्नकोटिके उद्भिज्जादि योनियोंमें तो ऐसे पूर्व कर्मकी सम्भावना है ही नहीं; इस कारण यह स्वतः सिद्ध है कि, अहेतुक सहजकर्मही जीवपिण्डमें पञ्चकोषोंका उत्पादक है। दूसरी ओर यह विचारने योग्य विषय है कि, मनुष्य और देवता आदिमें केवल स्थूलशरीररूपी अन्नमयकोषका परिवर्तन होता है, अन्य चारों कोष जैसेके तैसे बने रहते हैं और क्रमशः उन्नतिको प्राप्त करते रहते हैं, इस विज्ञानके अनुसार भी स्वसिद्धान्तकी पुष्टि होती है ॥२९॥

और भी कह रहे हैं—

त्रिविध शरीरका भी हेतु है ॥ ३० ॥

जब सहजकर्म पञ्चकोषका हेतु है, तो त्रिविध शरीरका भी हेतु हुआ। पञ्चकोषही रूपान्तरसे तीनों शरीर बन जाते हैं; यथा अन्नमयकोषही स्थूलशरीर है, प्राणमयकोष, मनोमयकोष और विज्ञानमयकोषको ही सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर कह सकते हैं और आनन्दमयकोषके साथही कारणशरीरका सम्बन्ध मिला सकते हैं। अतः यही सहजकर्म ही जीवके तीनों शरीरोंका निर्माता है ऐसा मानना ही पड़ेगा ॥३०॥

सहजकर्मकी स्थूलक्रियाका दिग्दर्शन कराकर अब उसकी सूक्ष्म क्रियाओंका दिग्दर्शन करा रहे हैं—

स्त्रीशरीर में उसका प्रकाश सतीत्व के द्वारा होता है ॥ ३१ ॥

जैसे एक ब्रह्माण्डके चतुर्दश भुवनोंकी उत्पत्ति अथवा स्वेदज अण्डज आदि मनुष्योंकी नीचेकी सब योनियों की प्राप्ति अहेतुक और सहजकर्मसे स्वाभाविक है; उसी प्रकार नारीशरीर में सहज-कर्मका प्रकाश सतीत्वधर्मके द्वारा हुआ करता है; क्योंकि नारीशरीरके लिये अभ्युदय और निःश्रेयसकी स्वाभाविक रूप से प्राप्ति सतीत्व-धर्म द्वारा हुआ करती है। नारीके साथ मूलप्रकृति-का स्वभावसिद्ध साधर्म्य विद्यमान है। मूलप्रकृति जिसप्रकार पराधीन, परमपुरुष-मुखापेक्षी और परमपुरुषकी शक्तिरूपिणी है, उन्हीं सब धर्मोंकी छाया नारीमें रहना अवश्यम्भावी है, क्योंकि परमपुरुष और मूलप्रकृतिकी छायारूपसेही पुरुष-धारा और नारीधारा सृष्टिमें विद्यमान रहती है। नारीजातिका स्वाभाविक साधर्म्य अस्वतन्त्रता तथा पतिनिर्भरता-मूलक सतीत्व धर्मही है। इस

पञ्चकोषजननम् ॥ २९ ॥ शरीरत्रयहेतुश्च ॥ ३० ॥ तत्प्रकाशः स्त्रीशरीरे सतीत्वतः ॥ ३१ ॥

कारण नारीजातिमें सतीत्वधर्मके क्रमविकाश-द्वारा सहजकर्मका विकाश होता रहता है ॥ ३१ ॥

इसका साक्षात् फल कह रहे हैं :—

उससे पुरुषभाव लाभ होता है ॥३२॥

नारीधाराके लिये पुरुषधाराकी प्राप्तिही मुक्ति-पथकी प्राप्ति है। जिस प्रकार सृष्टि होते समय ब्रह्मप्रकृति ब्रह्मसे पृथक् होकर सृष्टि, स्थिति, लय करती हुई महाप्रलय अवस्थामें पुनः ब्रह्ममें लीन होकर अद्वैत स्व-स्वरूपको प्रतिष्ठित करती है, उसी आदर्शपर नारीधारा पुरुषधारामें प्रथम मिलती है और उसके अनन्तर पुरुषधारा ब्रह्मसमुद्रमें जाकर अद्वैतभावको धारण करती है। नारीशरीरमें सहजसतीत्वधर्मके प्रभावसे जन्मान्तरमें नारी पुरुष बन जाती है और पुरुषधर्मको प्राप्त होकर ज्ञानयज्ञके प्रभावसे स्व-स्वरूपरूपी मुक्ति-पदकी प्राप्ति जीव कर लेता है। इसमें सहजकर्मका ही महत्त्व है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

सत्प्रेम्णैव सती नारी यथा ब्रह्मण्यं तथा।
पत्यौ तन्मयतामेत्य पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥

जिसप्रकार ब्रह्मशक्ति ब्रह्ममें अभेद भावसे लीन रहती है, उसीप्रकार सती स्त्री उत्तम प्रेमके द्वारा पतिमें तन्मयता प्राप्त होकर पुरुषत्वको प्राप्त करती है ॥ ३२ ॥

दूसरा साक्षात् फल कहा जाता है—

वह पुरुषमें अद्वैत ज्ञानोत्पादक है ॥ ३३ ॥

स्त्री जिसप्रकारसे सहजकर्मप्रदायी सतीत्वधर्मसे पुरुषत्व लाभ करके स्त्रीयोनिसे मुक्त हो जाती है, उसीप्रकार जो सहजकर्म जीवको उन्नत करता हुआ मनुष्य-योनितक पहुँचा देता है, वही सहज-कर्म पुनः तत्त्वज्ञानी पुरुषमें अद्वैतज्ञान उत्पन्न करता हुआ पुरुषको मुक्तिभूमिमें पहुँचाता है। जिस-प्रकार नारीशरीरमें सतीत्वधर्मके बलसे अपने आप-ही जटिल अवस्थाका अतिक्रमण होकर सहजकर्म-का उदय होता हुआ मुक्तिका पथ सरल होता है, ठीक उसीप्रकार पुरुषशरीरमें अद्वैतज्ञानका जब उदय होता है, तब कर्मका जटिलत्व दूर होकर मुक्तिमार्ग सरल हो जाता है। पुरुष धृति, क्षमादि साधारणधर्म और वर्णाश्रमधर्मादि विशेषधर्मोंका साधन करते करते क्रमशः जन्म-जन्मान्तरमें शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण ; पुनः कर्मी, उपासक, ज्ञानी, वेदज्ञ, तत्त्वज्ञ इसी प्रकारसे अग्र-सर होकर अद्वैतज्ञानकी प्रतिष्ठाद्वारा सहजकर्मकी पराकाष्ठासे जीवन्मुक्तपदवीको प्राप्त कर लेता है ॥ ३३ ॥

विज्ञानको और भी सरल किया जाता है—

वह जीवभावको उत्पन्न करनेवाला और कैवल्यका कारण है ॥ ३४ ॥

सहजकर्म ही प्रकृतिके स्वाभाविक हिल्लोलके साथही साथ चिज्जड़ग्रन्थिरूपी जीवत्व उत्पन्न करता है और क्रमशः जीवको अग्रसर करता हुआ मनुष्ययोनिमें पहुँचाता है और पुनः जीवन्मुक्तमें उसका उदय होकर वह जीवको मुक्तभी करता है, दूसरी ओर जैसा कि पहले कहा गया है, स्त्रीधाराको पुरुषधारामें परिणत कर देता है और पुरुषधाराको ब्रह्मसमुद्रमें जाकर मिला देता है। सहज कर्मकी विचित्रता यह है कि, वह जीवभाव उत्पन्न करता है, दूसरी अवस्थामें जीवकी क्रमोन्नतिका मार्ग सरल करता है, और अन्तिम अवस्थामें जीवको जीवन्मुक्ति पदवी देकर बन्धन-दशासे मुक्त कर देता है ॥ ३४ ॥

तस्मात् पुरुषभावलाभः ॥ ३२ ॥　अद्वैतज्ञानकृत् पुरुषे ॥ ३३ ॥　जीवभावभावकं कैवल्यकारणञ्च ॥ ३४ ॥

अब दूसरे कर्म-विभागका स्वरूप समझाया जाता है—

मनुष्य धर्माधर्मका अधिकारी होनेसे जैवकर्म मनुष्यशरीरसे उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

अब नीचेकी योनियोंसे आगे बढ़कर जीव मनुष्ययोनिमें आकर स्वाधीन होता है, उस समय पाप-पुण्यप्रसवकारी जैवकर्म प्रकट होता है और वही आवागमन-चक्रका कारण बनता है। जैवकर्म अस्वाभाविक है। इस कारण जब जीव स्वाभाविक गतिको छोड़कर मनुष्ययोनिमें आवागमनचक्र उत्पन्नकारी तथा पापपुण्य प्रकटकारी अस्वाभाविक, कृत्रिम गतिको प्राप्त करता है, उस समय जैवकर्म-का उदय होता है। जैवकर्मके द्वारा ही जीव निरन्तर आवागमनचक्रमें घूमता रहता है ॥ ३५ ॥

अब तीसरे कर्मविभागका स्वरूप वर्णन किया जाता है—

ऐश उभय सहायक है ॥ ३६ ॥

स्थूल प्रपञ्चका चालक दैवराज्य है। ऐश कर्मका विशेष सम्बन्ध दैवराज्यसे है, इस कारण वह उभय सहायक है। चाहे चतुर्विध भूतसङ्घ हो, चाहे आर्य या अनार्य मनुष्यसङ्घ हो, चाहे स्थावर-प्रपञ्च हो, जङ्गम-प्रपञ्च हो, सबके मूलमें रक्षक और चालकरूपसे सूक्ष्म दैवराज्य उपस्थित है और प्रधानतः जिस कर्मश्रेणी द्वारा दैवराज्य चालित होता है, उसको ऐशकर्म कहते हैं, अतः दैवराज्यसे सम्बन्धयुक्त ऐशकर्म उभयसहायक है। उसके द्वारा सहजकर्मकी व्यवस्थामें सहायता मिलती है जैवकर्मकी व्यवस्थामें भी सहायता मिलती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, सहजकर्मसे सम्बन्धयुक्त उद्भिज्ज स्वेदजादि योनियोंके रक्षक और चालक यदि देवता न हों तो सुव्यवस्था रह ही न सके, उसीप्रकार जैवकर्मसे सम्बन्धयुक्त मनुष्यादिकी आवागमन-गतिकी व्यवस्था और कर्म परिपाकादिकी व्यवस्थामें यदि देवता सहायक न हो तो वह चल ही नहीं सकता है, अतः ऐशकर्मके उभय सहायक होनेमें कोई शंका ही नहीं है ॥ ३६ ॥

उसकी विशेषता कह रहे हैं—

वह समष्टि व्यष्टि और मिश्र है ॥ ३७ ॥

ऐशकर्मकी विशेषता यह है कि, वह ब्रह्माण्ड-सहायक होनेसे समष्टि-भावयुक्त है, पिण्डसहायक होनेसे वह व्यष्टिभावयुक्त है और उभय सहायक होनेसे उभयभावयुक्त होता है यह विस्तारित अधिकार उसकी विशेषता-प्रतिपादक है। उदाहरण-से समझ सकते हैं कि, जब देवताओंके द्वारा साक्षात् रूपसे ऐसे शुभ अथवा अशुभ फलयुक्त कार्य होते हैं, जिसके द्वारा केवल ब्रह्माण्डका शुभ अथवा अशुभ हो, तब वह समष्टिभावयुक्त कहा जा सकता है। जब ऐसी शुभ अथवा अशुभ फलोत्-पादक दैवीक्रिया प्रकट हो, जिससे केवल किसी पिण्डविशेषको शुभ-अशुभ-भोगकी प्राप्ति हो, तब समझना उचित है कि, वह व्यष्टिभावयुक्त है। इसीप्रकार जिस फलविशेषका प्रभाव ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंके प्रति पड़ता हो, उसको मिश्र कह सकते हैं ॥ ३७ ॥

और भी कह रहे हैं—

इस कारण इसका वैचित्र्य है ॥ ३८ ॥

सहजकर्मका साक्षात् सम्बन्ध केवल प्रकृतिके स्वाभाविक तरंगके साथ है, उसीप्रकार जैव कर्म-का साक्षात् सम्बन्ध केवल मनुष्यके स्वकीय संस्कार के साथ है; परन्तु ऐशकर्मका सम्बन्ध इन दोनोंके

मनुष्यवर्ष्मजं जैवमधिकारित्वाद्धर्माधर्मयोः ॥ ३५ ॥ ऐशमुभयसहायकम् ॥ ३६ ॥ तत् समष्टिव्यष्टी मिश्रञ्च ॥ ३७ ॥ अतो वैचित्र्यमस्य ॥ ३८ ॥

साथ भी परोक्षरूपसे है। अतः पूर्वसूत्रके अनुसार समष्टि व्यष्टि और उभय सहायक हैं, यही ऐशकर्मका वैचित्र्य है। इसका प्रधान कारण यह है कि, स्थूल प्रपञ्चका चालक सूक्ष्म दैवजगत् है और सब प्रकारके कर्मोंके फलके मूलमें देवताओंकी सहायता विद्यमान है। कर्म जड़ होनेसे विभिन्न विभिन्न देवतागण कर्मकी फलोत्पत्ति करनेमें प्रधान सहायक बने रहते हैं; नहीं तो जड़कर्म बिना चेतन देवताओंकी सहायताके फलोत्पादनमें असमर्थ है ॥३८॥

अब ऐशकर्मके विस्तारका प्रमाण दिया जाता है—

मनुष्यसे देवता भी होते हैं ॥ ३९ ॥

ऐशकर्मकी शक्ति और ऐशकर्मका सम्बन्ध बहुतही विस्तृत है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि मनुष्यसे देवता बनते हैं। जो मनुष्य अपने कर्मोंको उन्नत करके देवाधिकारके उपयोगी बन जाता है, वह मनुष्यत्वको छोड़कर देवत्वकी प्राप्ति कर लेता है। वस्तुतः जो जीव देवलोकमें जाकर बड़े बड़े देवपदोंको प्राप्त करते हैं, वे भूतकालमें मनुष्य ही थे। मनुष्ययोनि जिस प्रकार पहलेकी मनुष्येतर निम्न योनियोंकी चरम उन्नतिका स्थान है, उसी प्रकार देवयोनि प्राप्तिकी भी भित्ति है। बिना मनुष्यत्वप्राप्तिके जीव देवत्वप्राप्त नहीं कर सकता है। सुतरां ऐश कर्म अपना सम्बन्ध जैव कर्मसे बाँधकर मनुष्यको देवता बना देता है। यह ऐशकर्मके विस्तार और शक्तिका एक बड़ा प्रमाण है। स्मृतिशास्त्रमें राजा सुरथका मनुष्ययोनिके अनन्तर मनुपदरूपी देवपदको प्राप्त होना, इसी प्रकार नन्दीका मनुष्यसे ही देवपद प्राप्त करना, राजा नहुषका इन्द्रपद प्राप्त करना, गण्डकी नाम्नी मानवी वेश्याका गण्डकी नदी नामसे अधिदैवरूपसे देवपद प्राप्त करना इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। इस सूत्रमें 'अपि' शब्द ऐशकर्मके सम्बन्धसे मनुष्यके देवत्व-प्राप्तिके वैलक्षण्यका प्रतिपादक है ॥ ३९ ॥

और भी कहा जाता है—

अवतार और जीवन्मुक्तमें उसका प्राकट्य होता है ॥ ४० ॥

ऐशकर्मके स्वरूपको और भी स्पष्ट करनेके लिये और मनुष्ययोनिमें उसका सम्बन्ध किस प्रकारसे होता है इसको सरल रूपसे दिखानेके लिये कहा जाता है कि मनुष्य जब उन्नत होता हुआ जन्म-जन्मान्तरके उन्नत शुभ कर्म द्वारा अवतारत्व प्राप्त करता है, अर्थात् उसका पिण्ड अवतारकी शक्तिको धारण करने योग्य बन जाता है अथवा जीवन्मुक्तत्व प्राप्त करता है, तब उस पिण्डमें आपही ऐशकर्मके साथ सम्बन्ध स्थापन हो जाता है। जीवन्मुक्त आत्माओंमें जब लोकोपकारकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह ऐशकर्मसे सम्बन्ध युक्त है ऐसा जानना चाहिये। वस्तुतः ऋषि, देवता और पितृगण ही जीवन्मुक्त महात्माओंके द्वारा अपनी क्रियाशक्तिका सञ्चालन करते हैं और अपनी इच्छाशक्तिके द्वारा अपना अपना प्रतिनिधि बनाकर अपना कार्य करा लेते हैं। जीवन्मुक्त पराशरमें दैवी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिके प्रयोग द्वारा ही श्रीभगवान् व्यासदेव जैसे पिण्डकी उत्पत्ति पितरोंने करवा ली थी इसी कारण व्यास-भगवान्का जन्म ऐसा लोकोत्तरभावोंसे पूर्ण है। जीवन्मुक्त दुर्वासाके द्वारा देवताओंका अशुभ कार्य्य कराना पौराणिक युगमें और आधुनिक युगमें जीवन्मुक्त शंकराचार्य्यके द्वारा अनेक दैव शुभ कार्य्य कराना देवताओंकी प्रेरणाके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं और नित्य ऋषियोंकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिका प्रयोग तो इस संसारमें पतञ्जलि,

[क्रमशः]

मानवाद् देवोपि ॥ ३९ ॥

तत्प्रकाशो मुक्तावतारेषु ॥ ४० ॥

डाक्टर अम्बेदकर अपने सच्चे रंगमें।

(भारत-सरकारके विधानमन्त्री डा० भीमराव रामजी अम्बेदकरने गत वैशाख पूर्णिमाके दिन बुद्धजयन्तीके उपलक्षमें आयोजित दिल्लीकी एक सभामें हिन्दूधर्मके विषयमें जो अपना कुत्सित विचार प्रकट किया है, वह अमृतबाजार पत्रिकाके ता० ६ मईके अङ्कमें प्रकाशित हुआ था, उसपर उक्त पत्रिकाके सुयोग्य सम्पादक महाशयने जो अपना विचार उसी अंकमें प्रकट किया है और जिसका अविकल अनुवाद स्थानीय हिन्दी दैनिक सन्मार्गमें ता० ८ मईको प्रकाशित हुआ था, उसको आर्यमहिलाके पाठक-पाठिकाओंके अवलोकनार्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है। इससे पाठक-पाठिकाओंके सामने अम्बेदकरमहोदयका वास्तविक रूप सामने आ जाएगा।—सम्पादिका)

"संसदमें उपस्थित हिंदूकोडबिलके विधायक वर्तमान कानूनमन्त्री डाक्टर अम्बेदकर हैं। इस बिलमें उनकी दिलचस्पी देखते हुए करोड़ों हिंदूजन सशङ्क हो गये हैं। पाकिस्तानके स्थापक मियाँ महम्मदअली जिना हिंदुओंसे घृणा करते थे। डाक्टर अम्बेदकर हिंदुओं और हिन्दूधर्मसे घृणा करते हैं। हिंदुओंके प्रति मियाँ जिनाका घृणाभाव राजनीतिक कारणोंसे था। हिंदू और हिंदूधर्मके प्रति डाक्टर अम्बेदकरका घृणाभाव जिनाकी अपेक्षा अधिक बद्धमूल है। केन्द्रमें मन्त्रीपदपर अधिष्ठित होनेके बावजूद उनकी घृणाभावनामें न्यूनता नहीं दृष्टिगोचर होती। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, तबतक वे चैन नहीं लेंगे जबतक हिंदूधर्म और समाजको मर्माघात पहुँचाकर उसे विशृंखल न कर देंगे। हिन्दूकोडबिल इस लक्ष्यकी प्राप्तिका उनका महान् अस्त्र है जिसके द्वारा वे हिन्दूसमाजका नाम-निशान मिटानेको उद्यत हुये हैं।

"डाक्टर अम्बेदकरने हिन्दूधर्मका परित्याग कर बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया है। धर्मपरिवर्तनके बावजूद यह न समझना चाहिये कि, वे हिन्दूधर्मको यौंही छोड़ देंगे। अम्बेदकर-पन्थियोंद्वारा नयी दिल्लीमें आयोजित बुद्धजयन्ती समारोहमें आपने अपने भाषणमें सवर्ण हिन्दूओंसे यह जिज्ञासा की कि 'शूद्र हिन्दू धर्म क्यों मानें? हिन्दूधर्ममें शूद्रोंका पीड़न और पददलन ही विहित रखा गया है, अतः वह ऐसे धर्ममें श्रद्धा क्यों करें?' 'टाइम्स आफ इण्डिया' में प्रकाशित उनके उक्त भाषणका अंश यहाँ इस दृष्टिसे देना आवश्यक है कि जिससे उनके मनोभाव और तर्क भलीभाँति समझमें आ सके।

"डाक्टर अम्बेदकरने कहा कि मैं हिन्दूधर्मकी अपेक्षा बौद्धधर्मको इसलिये अधिक पसन्द करता हूँ कि, बौद्धधर्ममें सभी प्राणी समान बताए गये हैं और सहिष्णुतापूर्वक व्यवहार करनेका भी उसमें स्पष्ट निर्देश किया गया है। यद्यपि हिन्दूधर्म अत्यन्त प्राचीन बताया जाता है, पर उसमें कोई तत्त्वकी बात नहीं। जब सरकारको ध्वजपर अंकित करनेके लिये चिह्न और राजमुद्रा निश्चित करनेका प्रसंग आया, तब ब्राह्मण-संस्कृतिमें ऐसा एक भी चिह्न उपलब्ध न हुआ जो स्वीकारयोग्य हो। केवल बौद्ध संस्कृतिमें ही ऐसा चिन्ह प्राप्त हो सका. जो हमारी दुसह समस्याको निबटा सका।" डाक्टर अम्बेदकरने अपने श्रोताओंसे यह समझनेका अनुरोध किया कि हिन्दूधर्मके अन्यतम कर्णधार राम और कृष्ण किसीभी सूरतमें भगवान् बुद्धसे उत्कृष्ट नहीं थे। आपने कहा कि 'यद्यपि अनुयायियोंके अभावमें भारतसे बौद्धधर्म लुप्त हो गया, पर तज्जनित संस्कृति ब्राह्मण-संस्कृतिकी अपेक्षा सहस्राधिक अच्छी है।"

यह स्मरण रखना चाहिये कि, प्रत्येक हिन्दूको भगवान् बुद्ध और उनके द्वारा संस्थापित धर्मके प्रति आदरका भाव विद्यमान है। उत्तेजित कानून-मन्त्रीको बौद्ध और हिन्दूधर्म अथवा राम-कृष्ण

और बुद्धमें तुलनाकी आवश्यकता क्या थी ? वस्तुतः यह तुलना ही बेतुकी है। एक महापुरुषकी निन्दा द्वारा ही अन्यकी प्रशंसा करना केवल क्षुद्र लोग ही करते हैं। बुद्धधर्म भारतसे लुप्त भले ही हुआ पर संस्कृतिके रूपमें उसको उदात्त देन भारतीय जीवन और संस्कृतिके ढाँचेका समृद्ध और दृढ़ बनानेमें सफल हुई। अम्बेदकरका यह कहना कि 'हिन्दूधर्म तत्त्वहीन है' उनके घृणाभाव और एकतरफा दृष्टिकोण ही प्रकट करता है। अमेरिका और यूरोपके विचारमनीषी इस जमानेमें भी वेदों और उपनिषदोंसे प्रेरणा लेते हैं।

यह निर्विवाद बात है कि, विश्वमें हिन्दुओंकीसी सहिष्णुता अन्यधर्मावलम्बियोंमें नहीं पायी जाती। उनके धर्मपर अम्बेदकरने जो घृणित कीचड़ उछाला है, उसपर रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। हिन्दूजन नेहरू-सरकारसे यह पूछ सकता है कि, 'हिन्दू धर्मके जाने हुए द्रोहीको परम्परागत नियमों और सदाचारोंमें परिवर्तन करनेका भार क्यों दिया गया ?' हालहीमें अम्बेदकरने दिल्लीमें हिन्दू-कोडपर विचार करनेके निमित्त एक अनौपचारिक सम्मेलन बुलाया था, जिसमें विभिन्न वर्गोंके ऐसे ही लोग बुलाये गये थे, जो उनकी हाँमें हाँ मिलाने-वाले थे। हम नहीं समझते कि, कानूनमन्त्रीने विभिन्न दृष्टिकोणोंके सामञ्जस्यके लिये जिन व्यक्तियोंको बुलाया था, उसमें कितने लोगोंने उसे स्वीकार किया। ऐसे सम्मेलनोंसे कोई लाभ सम्भव ही नहीं। बात यह है कि, अम्बेदकरकी विचारधारा अवरुद्ध है और वे घोर विरोधके बावजूद हिन्दूकोडको किसी न किसी प्रकारसे पास करनेपर तुले हुए हैं।

हिन्दूकोडपर राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसादके विचार सर्वज्ञात है। उनका कथन है कि, कोडबिल-को जनताका उस हदतक समर्थन प्राप्त नहीं कि जिससे सरकारको क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन करनेकी आवश्यकता हो। कांग्रेस अध्यक्ष डाक्टर पट्टाभिने भी इस सम्बन्धमें अपना विलविरोधी मन्तव्य गुप्त नहीं रखा है। इतना होनेपर भी उसे रद्द नहीं किया गया। यदि अम्बेदकर कोड-बिल पास करानेमें सफल हुए तो उनके जीवनका मनोरथ पूरा हो जायगा। एकदशकतक मिस्टर जिना भारत-विभाजनके लिये सतत क्रियाशील रहे। अम्बेदकरने हिन्दूसमाज और धर्मको ध्वस अपना लक्ष्य बना लिया है। यह खेदकी बात है कि, इस नीचतापूर्ण कार्यमें उनको हिन्दुओं के एक वर्गकी भी सहायता मिल रही है। यह एक समस्या है कि, कोडबिलको विश्वासका प्रश्न बनाकर नेहरू-सरकार धर्मनिरपेक्षतासे कैसे सामञ्जस्य करनेमें समर्थ होगी।

चीनकी कम्युनिष्ट सरकारने हालहीमें एक आदेशद्वारा चीनमें एक विवाह और उपपत्नी निषेध किया है। उक्त आज्ञामें बौद्ध, मुसलिम या अन्य धर्मावलम्बियोंके लिये भेदभाव नहीं रखा गया। यह आदेश समूचो चीनी जनताके लिये है। जो बात हिन्दुओंके कल्याणकी है वही मुसलमानोंके लिए भी अच्छा होगा। क्या नेहरू-सरकार भारतीय मुसलमानोंपर एक विवाह आदेश लागू करनेका साहस दिखा सकती है ? यदि नहीं, तो उसकी धर्मनिरपेक्षता केवल ढकोसला और जहन्नुममें भेजनेयोग्य है। उक्त बिलकी उत्तरा-धिकारविषयक धाराएँ हिन्दू-परम्पराके विरुद्ध हैं। इनमें स्त्रियोंके हितपर ध्यान नहीं रखा गया है। पिताकी सम्पत्तिपर पुत्रीको अधिकारी बनानेसे उसका 'पुत्री और पत्नीपद' नष्ट हो जायगा। पर अम्बेदकरतो किसीकी बात सुनते नहीं, उनको क्या समझाया जाय ? वे हिन्दूधर्मके मूलपर ही आघात करनेको उद्यत हैं अतः वे तर्क और विचार क्यों सुनने लगे ?

भ्राताका आदर्श।

[कहानी]

केवलपुरमें केवल एक घर ठाकुरोंका है। बड़े भाईका नाम श्यामसिंह और छोटे भाईका नाम रामसिंह। दोनोंमें अपार स्नेह। माता-पिता स्वर्ग चले गये थे। विवाह दोनों भाइयोंके हो चुके थे। छोटे भाईकी स्त्री मालती घरमें आयी तो अलग चूल्हा बनानेकी बात सोचने लगी। एकबार रातमें मालतीने अपने पतिसे कहा—

मालती—तुम्हारे बड़े भाईसाहब केवल पूजा-पाठ किया करते हैं और खेतीका सारा काम तुम करते हो।

रामसिंह—पूजा-पाठका काम हिन्दू-संस्कृतिमें प्रधान काम है। खेतीका काम दूसरे दरजेका काम है।

मालती—पूजा-पाठसे क्या होता है ?

राम०—देवतालोग प्रसन्न रहते हैं।

मालती—देवता क्या करते हैं ?

राम०—खेतीके काममें सहायता देते हैं।

मालती—हल तुम चलाते हो, खाद तुम डालते हो, बीज तुम बोते हो और सिंचाई तुम करते हो—देवता क्या करते हैं ?

राम०—खेतीके काममें देवतालोग सहायता न करें तो एक दाना भी पैदा न हो।

मालती—कैसे ?

राम०—धरती माता, सूर्यदेव, पवनदेव तथा इन्द्रदेवकी सहायतासे खेती होती है। ये लोग विरोधी हो जायँ तो अच्छी खाद, अच्छी जुताई एक तरफ रक्खी रहेगी।

मालती—इसलिये दिनभर देवताओंकी पूजा करना ही बड़े भाईसाहबका काम हो गया है ?

राम०—पूजा-पाठके अलावा वे औरभी काम करते हैं।

मालती—सो क्या ?

राम०—मुकदमोंका काम वही करते हैं।

मालती—मुकदमें सालमें दो एक आते हैं, सो तुमभी कर सकते हो। मिडिल पास किया है। कायदा-कानून जानते हो !

राम०—घरका सारा इन्तजाम बतलाते हैं।

मालती—घरका इन्तजाम मैं बतला दिया करूँगी।

राम०—उन्नतिके विचार बतलाते हैं।

मालती—विचार करना भी कोई काम है ?

राम०—विचार ही तो काम है। इस संसार-का राजा विचार ही तो है। प्रत्येक बातमें विचार है। विचारमें त्रुटि आयी कि सत्यानाश हुआ।

मालती—मेरा विचार है कि, मैं अलग चूल्हा बनाऊँ। तुम अपनी जमीन बँटा लो। रुपया पैसा और जेवर बड़ी बहूके पास है, उसेभी आधा आधा कर लो !

राम—क्यों ?

मालती—यों कि कल बाल-बच्चे होंगे और परसों उनका व्याह होगा ; हमारी गुजर साथमें नहीं हो सकती।

राम०—हिन्दू-संस्कृतिका यह आदर्श नहीं है।

मालती—क्या आदर्श है ?

राम०—बड़ा भाई पिता समान, वही घरका मालिक। बड़ी भावज माता समान, वही घरकी मालकिन।

मालती—और तुम ?

राम०—सेवक, अनुचर, नौकर, दास !

मालती—और मैं ?

राम०—सेविका, अनुचरी, नौकरानी और दासी।

मालती—कहाँ लिखा है ?

राम०—रामायणमें।

मालती—आग लगे रमाइनमें और धुँआ उठे पराइनमें।

राम०—हैं, हैं—।

मालती—(क्रोधमें भरकर) कैसी हैं,—हैं ? मैं दासी हूँ ? जोरावरसिंहकी लड़कीको दासी लिखा है—रमाइनमें ! मैं घरमें 'रमाइन' रखूँगी ही नहीं। कल सुबह उसे उठाकर तालमें फेंक दूँगी।

राम०—(हँसकर) अगर तुम रामायण नहीं मानोगी तो तुम हिन्दू नहीं मानी जाओगी।

मालती—तो कौन मानी जाऊंगी ?

राम०—कुछभी नहीं। कोई जाति नहीं।

मालती—कोई जाति नहीं ? मेरी जाति है ठाकुर ! मैं ठाकुरकी लड़की हूँ। असल क्षत्री—चौहान-वंश ! और तुम कहते हो कि, मेरी जाति ही नहीं ?

राम०—मालूम होता है कि, तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है।

मालती—और तुम्हारा ?

राम०—मेरा दिमाग खराब होनेका कोई कारण नहीं।

मालती—मेरे खराब दिमागका कोई कारण है ?

राम०—कारण प्रत्यक्ष है, नहीं तो तुम ऐसे विचार ही क्यों करती ?

मालती—मेरे विचार ठीक नहीं—अच्छी बात है। कल मैं अपना विचार दिखलाऊँगी।

राम०—क्या करोगी ?

मालती—अब क्या ! अब तो मेरा दिमाग खराब ही है। जो जीमें आयेगा, वही करूँगी। क्योंकि मेरा दिमाग खराब है। अगर मेरा दिमाग खराब था तो मैंने दर्जा ४ कैसे पास किया था ?

राम०—दर्जा ४ तो कोई चीज नहीं; यदि कोई संस्कृतमें एम० ए० भी पास कर ले तो क्या होगा ! जिसके ऐसे विचार हैं, उसका दिमाग खराब ही माना जायगा।

× × ×

प्रातः हल लेकर रामसिंह खेत जोतने चले गये। मालतीने जिठानीसे कहा—

मालती—मेरा विचार अलग रहनेका है। इस घरमें चार कमरे हैं। दो तुम ले लो और दो हम।

जिठानीका नाम था माधवी। वह कलेऊ पकाकर बोली—देवरजीकी राय ले ली है ?

मालती—उनकी रायसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। वे मेरा दिमाग खराब बतलाते हैं। जोरावरसिंहकी लड़कीका दिमाग खराब है, यह उनकी किताबमें लिखा है।

माधवी—मेरी समझमें तुम्हारी बात आई नहीं, देवरानी !

मालती—आ जायेगी। घबराओ मत। बर्तन कितने हैं ?

माधवी—कभी गिने नहीं।

मालती—लाओ, मैं गिनती हूँ। चार थाली, चार लोटे और चार कटोरे। दो-दो हो गये। यह लो अपने हिस्सेके बर्तन।

माधवी—हिस्सा बाँट हम-तुम नहीं कर सकतीं।

मालती—और कौन करेगा ?

माधवी—मर्दलोग।

मालती—मर्द जायँ भाड़में। मर्दकी नजरमें औरत पागल, तो औरतकी नजरमें मर्द पागल। जब पागलपनका प्रस्ताव पास किया गया, तब पागलपन ही सही। मैं भागकर इस घरमें नहीं आयी हूँ। मेरा विवाह होकर आया है। मेरा हिस्सा है।

माधवी—मैं मानती हूँ कि तुम्हारा हिस्सा है।

मालती—तो फिर बहस किस बातकी ? उन दो कमरोंमें तुम रहो। इन दो कमरोंमें मैं रहूँगी।

माधवी—अच्छी बात है।

मालती—आधे बर्तन ले जाओ।

माधवी—ले जाऊँगी।

मालती—ले कब जाओगी ? अभी उठाओ। अनाज कितने बोरे हैं ?

माधवी—सात बोरा।

मालती—आधा-आधा कर लो। रुपया-पैसा और जेवरभी निकालो।

माधवी—जरा गम खाओ। मैं पूजावाली कोठरीमें जाकर तुम्हारे जेठजीसे राय ले आऊँ।

मालती—यह भी कह देना कि, मैं वह देवरानी नहीं हूँ, जो जेठजीके सामने डेढ़ हाथका घूँघट निकालकर कोठरीमें भाग जाती है। अगर जेठजी-ने इन्साफ न किया तो झाड़ू लेकर बात करूँगी।

× × ×

मकानके बाहर पूजाकी कोठरी थी ; जो बैठक-के बगलमें बनी थी। माधवीने जाकर देखा कि, उसके स्वामी महादेवजी पर बेलपत्री चढ़ाते जाते हैं और 'नमः शिवाय' कहते जाते हैं।

माधवी—आप यहाँ पूजा कर रहे हैं और घरमें देवरानी हिस्सा बाँट कर रही है।

श्यामसिंह—क्या बात है ?

माधवीने सारा किस्सा कह सुनाया।

श्यामसिंह—बहूसे कह दो कि आजसे वही मालकिन है। सारा रुपया-पैसा और जेवर उसे सौंप दो। वह पढ़ी-लिखी, होशियार है। तुमसे अच्छा प्रबन्ध करेगी।

माधवी भीतर गई। रुपये-पैसे तथा जेवर-वाला बक्स मालतीके सामने रख दिया।

मालती—जेठने क्या कहा ?

माधवी—यह कहा कि बहू पढ़ी-लिखी है। आजसे वही घरकी मालकिन है। सारा माल-खजाना, घर-बार—सब उसीको सौंप दो। यह लो घरकी चाबियोंका गुच्छा। ये बक्स तुम्हारे सामने हैं। मुझसे जो कहो, सो करूँ।

मालती—धन-दौलतमें आधा हिस्सा तुम ले लो।

माधवी—मैं एक पैसा नहीं लूँगी।

मालती—क्यों ?

माधवी—स्वामीकी आज्ञा नहीं है।

मालती—स्वामीकी आज्ञासे अपना हिस्सा छोड़ दोगी ?

माधवी—अवश्य छोड़ दूँगी ;

मालती—इस घरके सबलोग पागल दिखाई पड़ते हैं। जेठजी 'स्वाहा स्वाहा' करने लगे। जिठानीभी लीकपर लीक चलाने लगीं। यानो जो बात मैं कहूँगी उसे कोई नहीं मानेगा—अपनी अपनी बात मेरे सिरपर थोपनेके लिये सभी तैयार हैं। मैं न तो दूसरेका हिस्सा लूँगी, न अपना हिस्सा दूँगी।

माधवी—ऐसा ही कर लेना। जल्दी क्या है ! आज अलग रोटी बना लो। कल हिस्सा बाँटकर लेना। कल देवरकोभी खेतपर न जाने दूँगी। चारों आदमी मिलकर हिस्सा कर लेना।

यह बात मालतीकी समझमें आ गई। उसने अलग एक चूल्हा बनाया। उरदकी दाल बनाई। रोटी बनाई। दोपहरको रामसिंह घरपर आये। श्यामसिंह भोजन करके कमरेमें लेटे हुए 'कल्याण' पढ़ रहे थे। रामसिंह स्नान करके भोजन करने जो घरमें गये तो दो चूल्हे दिखाई पड़े। मालतीने उनको अपने चौके में बुलाया, परन्तु वे भावजके चौकेमें चले गये और बोले—'आज क्या बनाया है, भौजी ?'

माधवी—खिचड़ी बनाई है।

राम०—लाओ, परोसो।

माधवी—बहूने सुन्दर उरदकी धोई हुई दाल बनाई है। हींगसे छौंकी है। रोटी बनायी है—तिरवेनीकी। गेहूँ, जौ और चनेका आटा मिलाकर तिरवेनी रोटी बनायी है। वहीं जाकर खाओ।

राम०—अलग रोटी क्यों बनायी ?

माधवी—कहती है कि अलग रहूँगी।

राम०—रहेगी तो रहे अलग। परोसो मुझे खिचड़ी।

माधवी—उसे बुरा लगेगा।

राम०—मैं उससे बात तक न करूँगा।

माधवीने खिचड़ी परोस दी। रामसिंह खा-पीकर बाहर चले गये। मालतीने गुस्सेमें आकर रोटियाँ कुत्तेको डाल दीं। बेचारी 'एकादशी' हो गयी।

× × ×

रातको जब दोनों इकट्ठे हुये, तब यों बात-चीत हुई—

मालती—तुमने मेरे चौकेमें रोटी नहीं खायी और भावजके चौकेमें खिचड़ी खायी।

राम०—कहो एकबार कहूँ, कहो लाखबार और कहो तो पत्थरपर लिख दूँ।

मालती—क्या?

राम०—मैं अपनी स्त्रीको छोड़ सकता हूँ परन्तु अपने भाईको नहीं छोड़ सकता।

मालती—क्यों?

राम०- हिन्दू-संस्कृतिका आदर्श ही ऐसा है। श्रीलक्ष्मणजीने भाईके लिये पत्नीको चौदह वर्ष त्याग दिया था।

मालती—अच्छा बात है। तब मैं ही अपना हठ छोड़े देती हूँ। सुबह होते ही अपना चूल्हा फोड़ डालूँगी। सारे घरसे अलग रहकर मैं कौन-सा सुख पालूँगी।

राम०—अब तुम्हारा पागलपन दूर हो गया।

तबसे आजीवन मालतीने हिस्सा-बाँटका नाम न लिया। माधवी कोई काम मालतीके सलाह बिना न करती थी। चाबियाँभी बहूके पास ही रहती थीं।

(कल्याणसे)

महापरिषद्-सम्वाद।

श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की प्रबन्ध-समितिकी बैठक ता० १६-५-५० मङ्गलवार अपराह्न ५ बजे महापरिषद्के कार्यालयमें हुई।

सर्वसम्मतिसे आजकी सभाके सभापति श्रीमान् पण्डित नन्हकूप्रसाद तिवारी निर्वाचित हुए थे।

गत बैठककी कार्यवाही पढ़ी गई और स्वीकृत हुई।

आर्यमहिला-महाविद्यालय इन्टर कालेजका मासिक हिसाब उपस्थापित हुआ और स्वीकृत हुआ।

आर्यमहिला-महाविद्यालयका सन् १९५०-१९५१ का आय-व्ययका अनुमान-पत्र (बजट) उपस्थापित हुआ और स्वीकृत हुआ।

आर्यमहिला-महाविद्यालयके रिक्त स्थानोंके लिये अध्यापक तथा अध्यापिकाओंकी नियुक्तिके लिये निम्नलिखित सदस्योंकी उपसमिति बनाई गई और उसको अधिकार दिया गया कि, प्रार्थी तथा प्रार्थिनियोंसे मिलकर उनकी योग्यता देखकर नियुक्ति करें तथा इस सम्बन्धको अपनो रिपोर्ट प्रबंध-समितिमें उपस्थापित करें।

उपसमितिके सदस्य

१—श्रीमती विद्यादेवी (संचालिका),

२—श्रीमती सुंदरी देवी (प्रिंसपल, आर्यमहिला-महाविद्यालय),

३—श्रीमान् बाबू देवीनारायणजी, एडवोकेट (मंत्री)।

प्रधानाध्यापिका महाविद्यालयकी रिपोर्टके अनुसार श्रीमान् पण्डित शिवनाथ उपाध्याय तथा श्रीमती मृणालिनी श्रीवास्तवकी स्थायी नियुक्ति की गयी।

श्रीमती ज्ञानवती चंद्राका ता० १०-५-५० का प्रार्थना-पत्र उपस्थापित हुआ, प्रधानाध्यापिकाकी रिपोर्टके अनुसार विशेष अवस्थामें १२ मार्चसे ७ जुलाई तकका आधे वेतनका अवकाश (प्रिवीलेज लीव) स्वीकृत हुआ।

एक प्रस्तावद्वारा यह निश्चय हुआ कि आर्य-महिला-महाविद्यालय इंटरकालेजको हाईस्कूल तथा इंटरमीडियट परीक्षाका केंद्र बनाया जाय और इसके लिये उचित कार्यवाही करनेका अधिकार प्रिंसपल महोदयाको दिया गया।

सभापति महोदयको धन्यवाद देनेके अनंतर आजकी कार्यवाही समाप्त हुई।

आत्म-निवेदन।

नववर्ष

परमकल्याणमयी सर्वशक्तिमयी महामहिमामयी महामायाकी असीम अनुकम्पासे आर्यमहिला अपने जीवनके एकतीसवें वर्षको निर्विघ्न समाप्त कर इस अङ्कद्वारा बत्तीसवें वर्षमें पदार्पण कर रही है। अपने जीवनके इतने सुदीर्घ समयमें आर्यमहिला महिला-समाज, हिन्दूसंस्कृति, हिन्दूजाति तथा हिन्दीभाषाकी सेवामें कितनी सफल हो सकी; इसके निर्णयका भार तो हम इसके प्रेमीपाठक-पाठिकावृन्दपर ही छोड़ते हैं। हम तो केवल इतना ही निवेदन कर सकते हैं कि, इसके इतने सुदीर्घ कालव्यापी जीवनमें धनाभाव, सच्चे कार्यकर्त्ताओंका अभाव, उपकरणोंका अभाव तथा नानाप्रकारकी बाधा-विपत्तियों एवं कठिनाइओंकी सामना करती हुई भी आर्यमहिला अपने पवित्र कर्त्तव्यमें दृढ़तासे डटी रही है। हमारे विचारशील पाठक-पाठिकागण स्वयं समझ सकते हैं कि, इस विपरीत समयमें इतना भी सहजसाध्य नहीं है। आर्यमहिलाके जीवनमें इस दीर्घकालमें कितनी पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं और काल-कवलित हो गयीं, परन्तु आपकी आर्यमहिला सब प्रतिकूल परिस्थितियोंसे संघर्ष करती हुई हिन्दू-संस्कृति, आर्यजाति राष्ट्रभाषा-हिन्दीकी और आर्यमहिलाओंकी सेवामें संलग्न रही, यह कम संतोषकी बात नहीं।

इधर जबसे विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ, तबसे युद्ध-जनित कठिनाइओंके कारण उसके आकार-प्रकारमें अन्तर आ गया है। अनेक चेष्टा करनेपरभी प्रेसकी कठिनाईके कारण आर्यमहिलाका प्रकाशन-भी पूर्ववत् नहीं हो पाता। यद्यपि युद्ध समाप्त हुए भी कई वर्ष हो चुके हैं, परन्तु युद्ध-जनित परिस्थितियोंमें कोई भी सुधार नहीं हुआ है। अबतक कन्ट्रोलका कटार शिरपर सवार ही है। Art paper उपलब्ध नहीं है, अतः चित्रआदिभी पूर्ववत् नहीं दिया जा सकता। ये सभी हमारी विशेष विवशताएँ हैं, जिसका हमें हार्दिक खेद है; परन्तु हमें पूर्ण आशा है कि, इन कठिनाइयोंके दूर होते ही आर्यमहिला पुनः अपने पूर्वरूपमें पाठक-पाठिकाओंके सामने उपस्थित होनेमें समर्थ होगी। हमें आशा ही नहीं—दृढ़ विश्वास है कि, इसके उदार सहायक, शुभचिन्तक, ग्राहक, अनुग्राहक एवं लेखक महोदयगण अपनी सहानुभूति तथा सहयोग इसीप्रकार बनाये रहेंगे; जिससे आर्य-महिला अपने कर्तव्यपथमें अधिक तत्परताके साथ

अग्रसर होती रहेगी और पूर्ववत् आर्यमहिलाओंकी हित-रक्षा एवं हिन्दूसंस्कृति, हिन्दूधर्म तथा हिन्दी-भाषाकी सेवामें सतत प्रयत्नशील बनी रहेगी। इस नववर्षके शुभ अवसरपर सर्वशक्तिमान् मंगलमय भगवान्के राजीवचरणोंमें हमारी हार्दिक प्रार्थना है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

जीवमात्र सुखी हों, सब प्राणी नीरोग हों, सभी कल्याणका दर्शन करें, कोईभी दुःखका भागी नहीं हो।

डा० अम्बेदकरका दुःसाहस।

गत ता० २ मई वैशाखपूर्णिमा बुद्ध-जयन्तीके अवसरपर आयोजित दिल्लीकी एक सभामें हमारी धर्मनिरपेक्ष सरकारके विधानमंत्री डा० भीमराव रामजी अम्बेदकरने अपने भाषणमें हिन्दुओंके अपौरुषेय महान् वैदिक धर्मपर जो कुत्सित आक्षेप किये हैं, और हिन्दुओंके आराध्यदेव तथा अवतार भगवान् राम और कृष्णकी निन्दा की है; उससे कोटि कोटि हिन्दुओंके हृदयोंमें गहरी चोट पहुँची है। विशेषतया हिन्दू-महिलाओंके हृदयोंपर तो इससे अत्यन्त आघात पहुँचा है, क्योंकि महिलाएँ स्वभावतः पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक भावुक तथा धर्मनिष्ठ हुआ करती हैं। डा० अम्बेदकर हिन्दूधर्मके कट्टर द्रोही हैं, वे पहलेभी हिन्दूधर्मकी अनेकबार निंदा कर चुके हैं; मनुस्मृतिको, जो हिन्दूधर्मका प्रधान ग्रन्थ है, जलाया है और अपने अनुयायिओंको मुसलमान बन जानेकी सलाह दी है। अब वे स्वयं बौद्ध हो गये हैं, और अपने अनुयायिओंको बौद्ध बननेकी सलाह दी है। डा० अम्बेदकरने उक्त भाषणमें हिन्दूधर्मको संकीर्ण तत्वहीन तथा असहिष्णुतापूर्ण कहा है। क्या डा० अम्बेदकर बतला सकते हैं कि, हिन्दूधर्मके समान उदार और सहिष्णु संसारमें कौन-सा अन्य धर्म है जो घोषणा करता है कि,—

श्रेयान् स्वधर्मो निगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(भगवान् कृष्ण)

अर्थात् दूसरेके उत्तमरूपसे अनुष्ठित धर्मसे अपना सदोष धर्मभी अच्छा है, अपने अपने धर्ममें मर जाना अच्छा है, किन्तु दूसरेका धर्म भयावह है।

अयं निजपरो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(भगवान् व्यास)।

अर्थात् लघुचेता मनुष्य ही 'यह अपना' यह पराया ऐसा सोचता है, उदारचरित्रवालोंके लिये तो वसुधा ही कुटुम्ब है।

धर्मं यो बाधते धर्मः न स धर्म कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव॥

(भगवान् याज्ञवल्क्य)।

अर्थात् जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा देता है, वह धर्म नहीं कुधर्म है; जो धर्म अविरोधी है, वही धर्म है। पृथिवीके अन्य धर्मोंमें तो धर्मपरिवर्तनको प्रोत्साहन दिया जाता है और बलात् धर्मपरिवर्तन कराया भी जाता है, एकमात्र वैदिक सनातनधर्म ही ऐसा है, जो अपने-अपने धर्ममें रहकर मरनेको श्रेष्ठ कहता है। यहाँ धर्मपरिवर्तनका कोई भी आदर तथा स्थान नहीं है। यह ही वैदिक हिन्दूधर्मकी सबसे बड़ी महत्ता, विशेषता तथा उदारता है। अस्तु, डा० अम्बेदकर अपने अनुयायिओं सहित भले ही मुसलमान, ईसाई या

बौद्ध हो जायँ, इसके लिये वे स्वतन्त्र हैं, परन्तु धर्मनिरपेक्ष कहलानेवाली सरकारके विधानमन्त्री जैसे एक महान् उत्तरदायी पदपर आसीन होकर हिंदूधर्म तथा हिन्दुओंके परमाराध्य अवतारोंपर ऐसा घृणित तथा निंदनीय आक्षेप कर उन्होंने हिंदूओंका गुरुतर अपराध करनेका दुःसाहस किया है। दूसरी ओर हिंदूओं तथा हिंदूधमका ऐसा द्रोही विधान-मंत्री रखना और उसके हाथमें हिंदूधर्म तथा हिंदूजातिके समूल विनाशके लिये हिंदूकोडबिलका शस्त्र सौंप देना धर्मनिरपेक्ष सरकारके लिये घोर लाञ्छन तथा कलंक है। अतः हिंदूजनता धर्मनिरपेक्ष भारत सरकारसे साग्रह यह मॉग करती है कि, डा० अम्बेदकरका विधानमन्त्री-पदसे शीघ्रातिशीघ्र पृथक् करके कोटि-कोटि हिंदुओंके क्षुब्ध हृदयोंको शांत करें और अपने धर्मनिरपेक्षता तथा न्यायप्रियताका परिचय दें।

हिन्दूकोड कान्फरेन्स विफल।

हिन्दकोडबिलके सम्बन्धमें प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरूकी अन्तिम घोषणा थी कि, इस बिलको पास करनेमें शीघ्रता नहीं की जायगी और ऐसा एक कान्फरेन्स जिसमें पार्लियामेंटके सदस्योंके अतिरिक्त बाहरके विरोधी पक्षके लोग भी भाग ले सकें, बुलायी जायगी एवं अधिकसे अधिक सहमति प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जायगा। उसीके अनुसार विधानमन्त्री डा० अम्बेदकरने इन्फारमल हिंदूकोड कान्फरेंसके नामसे ता० २१, २२, २३ अप्रैलको एक कान्फरेंस बुलायी थी। उसमें आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्‌को प्रतिनिधि रूपसे महापरिषद्‌की प्रधानमन्त्रिणी श्रीमती विद्यादेवीजीको आमन्त्रित किया गया था। तदनुसार वे उस कान्फरेन्समें सम्मिलित हुई थीं। प्रधानमन्त्रिणी महोदयासे जो उक्त कान्फरेन्सकी कार्यप्रणालीका विवरण प्राप्त हुआ है, जो अन्यत्र प्रकाशित है, उससे विदित होता है कि, इसमें डा० अम्बेदकरके 'हाँ' में 'हाँ' मिलानेवाले सज्जनोंको ही बहुत अधिक संख्यामें बुलाया गया था। दो तीन संस्थाओंके प्रतिनिधि जो बिलके विरोधी उक्त कान्फरेन्समें बुलाये गये, उनको अपने विचार प्रकट करनेका भरपूर समय नहीं दिया गया, न उनके युक्तियों एवं तर्कोंका कोई सन्तोषजनक उत्तर दिया गया, न समझौतेकी कोई चेष्टा की गयी जैसा कि, प्रधानमन्त्रीने कहा था। विशेषतः धर्मप्राण कोटि-कोटि महिलाओंका एकमात्र प्रतिनिधित्व करनेवाली श्रीमती विद्यादेवीजीके साथ डा० अम्बेदकर जो उक्त कान्फरेन्सके सभापति स्वयं बन बैठे थे, व्यवहार बहुत ही अवैध, अनुचित तथा असन्तोषजनक हुआ। उनको तीसरे दिन उत्तराधिकार, स्त्रीधन, कन्याका पिताका सम्पत्तिमें पुत्रकी तरह भाग तथा सयुक्त कुटुम्ब आदि महान् विवादास्पद विषयोंपर केवल 'हां' या 'ना' कहकर सम्मति प्रकट करनेका अनुचित आदेश सभापतिने दिया। इसके विरोधमें उन्होंने सभाका त्याग किया। डा० अम्बेदकरसे इससे अधिक और आशा ही क्या की जा सकती है? वे हिन्दूधर्मके कितने बड़े शत्रु हैं, यह उनके ता० २ मईके दिल्लीमें दिये हुए भाषणसे स्पष्ट हो गया है। अतः हिन्दूकोड कान्फरेन्स नहीं हुआ किन्तु उसका एक अभिनय मात्र किया गया, जो सर्वथा असफल रहा। वस्तुस्थिति सर्वसाधारण जनताके सामने न आ जाय, इसलिये उक्त कान्फरेंसमें पत्र प्रतिनिधियोंको आनेकी अनुमति नहीं दी गयी थी। अतएव हिन्दूजनता उक्त कान्फरेंसके अभिनयसे अनभिज्ञ ही रही। अब सरकारके लिये उचित यही है कि, हिंदूकोडबिल वापस ले तथा इस दीर्घकालव्यापी विवादको सदाके लिये समाप्त कर दे। सरकारके ऐसा करनेसे हिंदू जनताका इस सम्बन्धका क्षोभ दूर होगा और सरकारके प्रति विश्वासकी भी वृद्धि होगा।

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला' श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिका है। महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श, सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—यह प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अंक दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीखतक प्रतीक्षा करनेके बाद तत्काल कार्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे दरियाफ्त करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिये। समुचित समयपर सूचना न मिलनेसे बादको कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना नाम, पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखना चाहिये अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका जिम्मेदार न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये अन्यथा यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र 'मैनेजर आर्य्यमहिला' जगतगञ्ज बनारस कैंटके पतेसे आना चाहिये।

७—लेख कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिये पर्याप्त जगह छोड़ देना चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताके प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने-बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख अधूरे नहीं आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चि आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिये टिकट भेजा जायेगा।

विज्ञापनदाताओंके लिये

विज्ञापनदाताओंके लिये काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्नभाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
„ „ तीसरा पृष्ठ	२५)	„
„ „ चौथा पृष्ठ	३०)	„
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	„
„ १/२ पृष्ठ	१२)	„
„ १/४ पृष्ठ	८)	„

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापन-दाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेजतक विज्ञापन छापनेवालोंको "आर्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास ५०) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

गोरक्षा।

मंगला चरण।

❀ सर्वदेवमयी माता ❀

भविष्यपुराण-गोमाहात्म्य (अ० २) में लिखा है कि, गोमाता सर्वदेवमयी है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवता विराजमान हैं। यथाः— उसके पृष्ठमें ब्रह्मा हैं, गलेमें विष्णु हैं और मुखमें रुद्र विराजते हैं। बीचके भागमें देवगण और लोमकूपमें महर्षि-गण हैं। भालमें तीर्थ राज हैं, कानमें नन्दिनी और मनु हैं। सींगोंमें रुद्र और यम धर्मराज हैं। नासिकाके रन्ध्रोंमें गणेशजी और कार्तिकेय तथा नेत्रोंमें चन्द्र सूर्य हैं। गलेके ऊपर सरस्वती और आगेके धड़में नवग्रह हैं। ब्रह्माके निकट ही उदरमें अग्निदेव हैं। नवग्रहोंके नीचे भैरव और उन्हींके पास पेटके नीचे पृथ्वी देवी हैं। उनके ऊपर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार तथा नारदजी हैं। पुट्ठोंमें दशावतार और सप्तर्षि हैं। स्तनोंमें सुरभिमाता तथा सप्तसागर हैं। मूत्र स्थानमें सब सरिताओं समेत गङ्गा देवी और मल स्थानमें लक्ष्मी देवी है। पुच्छमें शेषनाग हैं और पैरोंमें हनूमानजी तथा गन्धमादन, द्रोणाचल आदि पर्वत हैं। इस प्रकार गोमाताका सब शरीर देवताओंका आश्रय स्थान है, जो संसारमें अनुलनीय है। गोमाताके जिस-जिस अङ्गमें देवताओंका निवास कहा गया है, वे सब उन देवताओंके पीठ हैं, ऐसा जानना चाहिये।

वर्तमान आवश्यकता।

वर्तमान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनके समयमें परमपावनी, सर्व देवमयी, सर्वजीव हितकारिणी गोमाताकी रक्षाके सम्बन्धमें सर्वसाधारण जनता, समाज-नेता और सरकारका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट होना चाहिये। यद्यपि भारत के सब प्रान्तों में गोरक्षाका न्यूनाधिक परिमाणमें प्रयत्न हो रहा है, तथापि गोरक्षाकी सब संस्थाएँ एक सूत्रमें संघटित रूपसे आबद्ध नहीं हैं। भगवान् वेदव्यासकी आज्ञा है कि कलियुगमें संघ-बद्ध होनेमें ही शक्तिका विकास होता है। अतः इस गोरक्षा क्षेत्रकी सब शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो जायँ, तो एक महाशक्ति उत्पन्न होगी और उसके द्वारा गोरक्षाका कार्य सुगम हो जायगा। बम्बई, कलकत्ता, मथुरा, नागपुर आदि नगरोंकी गोरक्षिणी सभाएँ बहुत बड़ी हैं और उनके द्वारा यथा शक्ति कार्य भी हो रहा है। परन्तु वे केन्द्रीकृत न होनेसे एकके कार्यमें दूसरी संस्थाका सहयोग प्राप्त नहीं होता। अतः गोभक्तों और गोरक्षकों के विशेष अनुरोध और प्रार्थनाओंके अनुसार यह निश्चय किया जा रहा है कि, ऐसा गोरक्षा केन्द्र श्री काशी पुरीमें ही स्थापित किया जाय। क्योंकि यह चिरकाल से विद्या केन्द्र और धर्म-केन्द्र रही आयी है। इसमें गोरक्षा केन्द्र भी स्थापित हो जाना उचित ही है और यहां इसके साधन भी उपलब्ध हैं।

काशीका गोरक्षा-प्रतिष्ठान।

यहाँ बहुत वर्षों से "काशी जीवदयाविस्तारिणी गोशाला और पशुशाला" नामक संस्था कार्य कर रही है और उसके पास साधन भी यथेष्ट हैं। इसके सभापति धर्मरत्न श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढण्ढनिया महाशय हैं, जो बड़े धार्मिक और बुद्धिमान सज्जन हैं। उन्होंने भी इस प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार किया है।

उक्त सभाके द्वारा काशीपुरीमें यह पुण्यमय केन्द्रीय शृंखलाका कार्य प्रारम्भ किया गया है। यह केन्द्रीय प्रतिष्ठान भारतद्वीपकी सब छोटी बड़ी गोरक्षा हितकारिणी सभाओंसे पत्राचार द्वारा सम्बन्ध स्थापन करेगा। "गोरक्षा" नामक सामयिक पत्र इस पुण्यजनक कार्य का मुखपत्र रहेगा और जो गोरक्षाकी संस्थाएँ चाहेंगी, उनके पास भेजा जायगा। उनके गोरक्षा सम्बन्धी आवश्यक विज्ञापन इस पत्र में सहर्ष प्रकाशित होंगे। भारत के नगरों और ग्रामोंमें गोरक्षा संबंधी जो संस्थाएँ हैं, उनकी विस्तृत सूची काशी कार्यालय में रखने का प्रयत्न किया जायगा और इन शुभ उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये और जो जो कार्य आवश्यक समझे जाएँगे, काशीके केन्द्रीय कार्यालय द्वारा वे सब किये जाएँगे।

श्रीमहामण्डलके मन्तव्य।

पूर्वोक्त "काशी जीवदया विस्तारिणी गोशाला और पशुशाला" संस्थाकी रजिस्ट्री ता० २६ फरवरी सन् १९३५ को ऐक्ट नं० २१ सन् १८६० नं० ७० सन् १९३४-३५ के अनुसार करायी गयी है। रजिस्ट्रीके कागजमें निम्नलिखित सज्जनोंने भाग लिया था, जिनके शुभनाम दस्तावेजमें हैं। श्री चाँदमल कानोडियाजी, श्री बनारसी दास लीइल्लाजी, श्री जैदयाल सर्राफजी, श्री हरीबकसजी, श्रीपरमानन्दजी खत्री, श्री मोतीलाल सरावगीजी, श्री सागरमलजी और श्रीमदनगोपाल केडियाजी। इस संस्थाका प्रधान कार्यालय काशीकी मध्य बस्तीमें टाउनहालके पास बहुत ही अच्छे स्थानमें स्थित है। इसके शाखा कार्यालय दो हैं। "रामेश्वर गोशाला" नामक एक तो पञ्चक्रोशीके मार्गमें है और दूसरा "बावन बीघा गोशाला" नामक आजमगढ़ रोडपर है। दोनों संस्थाएँ प्रधान संस्थाकी पोषक हैं। इनमें गौओंके लिये चारा उपजाया जाता है और गायें पाली जाती हैं। इस संस्थाके वर्तमान सभापति श्रीमान् धर्मरत्न सेठ बाबूलाल ढण्ढनियांजी काशीके एक माननीय प्रतिष्ठित व्यवसायी है, बुद्धिमान हैं, धर्मपरायण हैं और अत्यन्त लोकप्रिय हैं। अखिल भारतीय श्री भारतधर्म महामण्डलके सदस्य हैं और आप इसके धर्म कार्योंमें भाग लिया करते हे श्री आर्य महिला-हितकारिणी महापरिषद्की मन्त्रि सभाके सभापति भी हैं। आप चाहते हैं कि महामण्डल और आर्यमहिला महापरिषदके सहयोगसे इस गोशालाकी पूर्ण उन्नति हो और गोसेवा का अखण्ड कार्य होता रहे। इसी शुभ लक्षणको सम्मुख रखकर श्रीमान् सेठसाहब की इच्छाके अनुसार श्रीमहामण्डल मन्त्रि-सभा द्वारा ता० २७-१०-४६ गुरुवारको जो मन्तव्य स्वीकृत हुआ है, वह इस प्रकार है:—

१—भारतकी स्वाधीनताकी शुभ सन्धिमें गोजातिकी सेवा और गोजातिकी रक्षा परम आवश्यक है। इस शुभ कार्यमें काशी जैसे धर्मप्रधान और विद्याप्रधान केन्द्रको अगुआ बनना चाहिये। अतः निश्चय हुआ कि, धर्मप्राण श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढंढनिया महाशय जो

इन संस्थाओंसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं और काशी गोशालाके सभापति हैं, उन से काशी गोशालाकी उन्नति, श्री और शक्तिकी अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करनेका अनुरोध किया जाय। इस धर्मोन्नति कारी कार्यकी रूप-रेखा निम्नलिखित प्रकारसे हो, तो अच्छा है।

(क) काशी गोशालाका प्रधान केन्द्र काशीमें रहे। बाहर भी गोशालाके कई केन्द्र हैं। अतः काशी का केन्द्र इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय, जिसमें दर्शकोंका चित्त आकर्षित हो। इस केन्द्रसे और बाहरके केन्द्रोंसे दूध, मक्खन आदि मेम्बरोंको प्राप्त हो।

(ख) काशीमें एक अच्छी जातिका साँड़ रखा जाय जिससे शुल्क लेकर गौएं भराई जा सकें।

(ग) कोई ऐसा नियम बनाया जाय कि काशीमें जो लोग गोसेवा करें या गौएँ रखें अथवा जो गोसेवाके पुण्य कार्यमें सहायक बनना चाहें, उनसे कुछ मासिक सहायता लीजाय।

(घ) काशी कार्यालयमें एक विस्तारित रजिस्टर रखने का स्थायी प्रबन्ध रहे। उस रजिस्टरमें हिन्दुस्तान भरकी गोशालाओं, पिंजरापोलों, जीव-विस्तारिणी सभाओं आदिके नाम, यथा-संभव कार्य-कर्ताओंके नाम तथा गौओंकी संख्याका विवरण रहे। ऐसा प्रबन्ध रहे कि उन सबके पास एक स्थानीय समाचार पत्र प्रत्येक केन्द्रमें साल भर में एक-दो बार पहुँचा करे, जिसमें उनसे सम्बन्ध बना रहनेमें सहायता हो।

(ङ) चन्दा-दाता मेम्बरोंसे बछिया, बछवा और गौओं के लेने और देने के भी सुगम नियम बनाये जायँ।

(च) गोशालाकी शहरके बाहरकी जमीनोंमें यथेष्ट चारा तैयार करानेकी व्यवस्थाकी जाय। काशी शहरके मेम्बरोंको गोसेवाके लिये सुगम रीतिसे चारा देनेका प्रबन्ध रहे।

(छ) यदि इस प्रकारके नियम सुविधाजनक मालूम हों, तो श्रीभारतधर्म महामण्डल अपनी विस्तृत सम्मति देनेको और मेम्बर बननेको तैयार है।

इस मन्तव्यकी नकल श्री सेठ साहबके पास भेजी गयी है और उन्होंने श्रीमहामण्डलके सुझावोंको सहर्ष स्वीकार किया है।

गोरक्षा प्रेमियोंको सुअवसर।

जो सज्जन काशीवास करते हुए गोसेवाका यह महान पुण्य-कार्य करना चाहें, उनके लिये यह बड़ा ही अच्छा सुअवसर प्राप्त हुआ है। गोसेवाके कार्यमें प्रचार-कार्य दफ्तरमें लिखने-पढ़नेका कार्य, डिपोका कार्य, कथावाचनका कार्य, प्रबन्ध कार्य आदि शामिल हैं। इनमेंसे अपनी रुचिके अनुसार कोई कार्य अपने लिये चुन लें और आर्थिक लक्ष्यकी अपेक्षा धर्मका ही प्रधान लक्ष्य रक्खें, तो पुण्य-पुरुषार्थ दोनों सध सकते हैं और वे अपने जीवन को सफल बना सकते हैं। जो धर्म-प्रेमी इस धर्म-कार्यमें योगदान करना चहें, वे टाउनहालके पासकी गोशालाके दफ्तरसे या सभापति धर्मरत्न श्रीमान् सेठ बाबूलाल ढण्ढनियांजीसे या श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालयके इंचार्ज दफ्तरसे अथवा पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, नं० ७४ सी० जंगमबाड़ीसे मिलनेकी कृपा करें, तो सेवा सम्बन्धी सब बातें विदित हो जायँगी।

—:o:—

पीट-विज्ञान

ऊपर यह लिखा गया है कि गोमाताके शरीरमें किस प्रकार सब देवताओंका निवास है। हिन्दू लोग पत्थर, मिट्टी आदिकी पूजा नहीं करते, किन्तु दैवीपीठमें पूजा करते हैं। गोमाताका शरीर एक दैवीपीठ कैसे है, इसका कुछ विचार करना उचित होगा।

सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक श्री भगवान् अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि-लीलामें सवत्र विराजमान हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में उनके प्रतिनिधि रूपसे सृष्टि-कर्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थिति-कर्ता भगवान् विष्णु और प्रलय-कर्ता भगवान् शिव अलग-अलग विराजमान रहते हैं। इसी प्रकार उनके अंशरूपसे अपने-अपने ब्रह्माण्डमें अपने-अपने अलग काम करनेके लिये अनेक देव-देवियाँ विद्यमान रहती हैं और वे यथा-योग्य स्थानमें, यदि योग्य पीठ बने, तो वहीं आविर्भूत हो जाती हैं। इन सब दैवी कार्योंकी निष्पत्तिके लिये ऋषिसंघ, देवसंघ और पितृसंघ, अर्थात् अर्यमा आदि नित्य पितृगण, जो एकप्रकारके देवताही हैं, कर्मके नियन्ता और जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका लेखा रखकर तदनुसार फल देनेवाले भगवान् यम धर्मराज, जगतमे ज्योति फैलाने वाले भगवान् सूर्यदेव आदि सब देवपदधारी जहां उनका पीठ बनजाय, वहाँ आविर्भूत हुआ करते हैं।

इस सृष्टिलीला में दो शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं, एक आकर्षण शक्ति और दूसरी विकर्षण शक्ति। दोनों शक्तियोंका जहाँ समन्वय होता है, वहीं पीठ बनजाता है।

इसके समझनेके लिये उदाहरण रूपसे कहा जा सकता है कि, दो लड़कियाँ एक दूसरी का हाथ पकड़कर जब गोल घुमरी खेलती हैं, तब उनके चक्करमें एक केन्द्र बन जाता है और वे गिरती नहीं; परन्तु यदि उनका हाथ छूट जाय, तो वे इधर उधर जा गिरेंगी और उनके हाथ पैर टूट जायँगे। इसी तरह आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंका जहाँ समन्वय होता है, वहीं पीठ बन जाता है और उस पीठमें दैवी शक्तिका आविर्भाव हो जाता है। ग्रह नक्षत्रादि भी इन्हीं शक्तियोंके कारण अपनी अपनी कक्षाओंमें रहकर घूमा करते हैं। टेबलरेपिंग और सर्किल जैसी क्रियाओंमें भी इस प्रकारका पीठ बन जाता है, इसको तो भौतिक परलोक-विज्ञान वेत्ता भी स्वीकार करने लगे हैं। ऐसी क्रियाओंमें जब पीठ बन जाता है, तब जड़ पदार्थ भी चेतन पदार्थकी तरह कार्य करने लग जाते हैं। यह पीठ कहीं कहीं स्वाभाविक बना रहता है। जैसे, शालिग्राम शिला, बाण शिवलिंग, अपराजिता पुष्प जैसे पदार्थोंमें आप ही आप पीठ बना रहता है। जब चाहे, तब उनमें पूजा की जा सकती है। इनमें आवाहन विसर्जनकी आवश्यकता नहीं होती। इस दैवी नियमके अनुसार गोमाताके शरीरमें ऊपर लिखे देवताओंका पीठ नित्य बना रहता है। यही शास्त्रों का तात्पर्य है।

—:०:—

विषय-सूची

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला', श्री आर्य्यमहिलाहित-कारिणी-महापरिषद्‌की मुखपत्रिका है। महिलाओंमें धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश है।

२—महापरिषद्‌के सभी श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—पत्रिका प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अङ्क दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके पश्चात् तत्काल कार्य्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे जाँच करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिये। समुचित समयपर सूचना न मिलनेपर कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना पूर्ण पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखनी चाहिये, अन्यथा यदि पत्रोत्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका उत्तरदायी न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये, यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना कार्यालयमें देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र 'व्यवस्थापक आर्यमहिला,' जगतगंज, बनारस (सिटी)के पतेसे आना चाहिये।

७—लेखादि कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिए पर्याप्त जगह छोड़ देनी चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताको प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने, बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख पूरे आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वे ही लौटाये जायँगे, जिनके लिए टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिए

विज्ञापनदाताओंके लिए काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, ½ पृष्ठ	१६)	,,
,, ¼ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्धारित है। विज्ञापनदाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेज तक विज्ञापन छपानेवालोंको "आर्य्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

क्रोड़पत्र

क्रोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास २५) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

क्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

पौष, सं० २००६ | वर्ष ३१, संख्या ८ | दिसम्बर, १९४९

कबहिं देखाइहो हरि चरन ।
समन सकल कलेश कलिमल सकल मंगल करन ॥
सरद-भव सुन्दर तरुनतर अरुन-वारिज-बरन ।
लच्छि-लालित ललित करतल छवि अनूप धरन ॥
गंग-जनक अनंग-अरि-प्रिय कपट वटु बलि-छरन ।
बिप्रतिय नृग बधिकके दुःख-दोस दारुन दरन ॥
सिद्ध-सुर मुनि-बृन्द-बंदित सुखद सब कहँ सरन ।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन तरन ॥
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन ।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥

शिक्षाका लक्ष्य क्या हो ?

स्वराज्यमें सबसे पहले शिक्षाका प्रश्न उठता है और वह इस समय भारतमें उठा भी है। सभी मनीषी इस विषयमें एक मत हैं कि वर्तमान शिक्षा प्रणालीका आमूलाग्र परिवर्तन होना चाहिये। परन्तु शिक्षाका लक्ष्य स्थिर किये बिना वैसा परिवर्तन हो नहीं सकता। अँग्रेजोंको नौकरोंकी आवश्यकता थी। अच्छे नौकर निर्माण करना ही उनकी शिक्षाका लक्ष्य था और तदनुसार ही उन्होंने यहाँकी शिक्षा प्रणाली चलाई थी। अब हमें अपने लक्ष्य की सिद्धिके अनुरूप शिक्षा प्रणाली निश्चित करनी होगी। हमारे पूर्वज महर्षियोंने शिक्षाकी व्याख्या इस प्रकारकी है—"जिस शिक्षा प्रणालीमें परमात्मा की ओर अग्रसर होनेका अवसर प्राप्त हो और जिसके द्वारा धर्म-ज्ञानकी वृद्धि होकर शान्ति मिले तथा ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय हो, वही सच्ची शिक्षा है"। हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणालीका यही लक्ष्य होना चाहिये।

इस समय ईश्वर ज्ञान विहीन केवल पदार्थ विज्ञानकी ही शिक्षाको जगत भरमें प्रधानता दी गई है। आध्यात्मिकताको कहीं स्थान नहीं है। जड़पदार्थविज्ञानके अनुशीलनमे अनेक अद्भुत चमत्कार भी देखनेमें आते है; परन्तु उनसे चेतन राज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता और जबतक विद्यार्थीका चेतन राज्यमें प्रवेश नहीं होता तबतक उसे विद्यानन्दकी यथार्थ उपलब्धि भी नहीं हो सकती। वह उपलब्धि दर्शन शास्त्रके अध्ययनसे ही हो सकती है। अतः इस देशकी शिक्षा-प्रणालीमें दर्शन शास्त्रको ही प्रधानता दी जानी चाहिए।

शिल्प (आर्ट) के द्वारा जड़ प्रकृति राज्यकी नकलकी जाती हैं। पदार्थ विज्ञान (साइन्स) के द्वारा उस राज्य पर आधिपत्य स्थापित किया जाता है। दार्शनिक विज्ञान इन दोनोंसे नितांत भिन्न है। अन्तर जगतमें प्रवेश करनेवाला, जड़ राज्यसे परे चेतन राज्यमें पहुँचानेवाला और अन्तमें आनन्दमय भगवत् साक्षात्कार करानेवाला दार्शनिक विज्ञान ही है। इसकी शिक्षा लौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंकी देनेवाली है।

यों समझिये कि स्थूल जगत्प्रपञ्च और सूक्ष्म जगत्प्रपञ्च रूपी महा समुद्रके जड़ और चेतन ये दो तट है। एकमें इन्द्रियोंकी और दूसरेमें परम मंगलमय अद्वितीय चिद्रूपकी प्रधानता है। जड़ात्मक तटसे चेतनात्मक तटकी ओर जीवको उन्मुख करने और उसे त्रितापोंसे मुक्त कर निर्भय परमानन्द रसके आस्वादनका अधिकारी बनानेके लिए एक मात्र दर्शन शास्त्र ही समर्थ है। जीवके अन्तःकरणमें व्याप्त चिन्मयी धाराकी सहायतासे परमानन्दका पथ दिखानेके लिए दर्शन शास्त्र ही दर्शक इन्द्रियोंके स्थानापन्न हों। इसीसे इस शास्त्रका नाम 'दर्शन' है।

दर्शन संबन्धी राज्यके दो भेद हैं-(१) ज्ञान जननी विद्या सेवित राज्य और (२) अज्ञान जननी अविद्या सेवित राज्य। जीव उद्भिज विराड् से आगे बढ़कर क्रमशः स्वेदज, अण्डज और जरायुज पशु योनियोंमें पहुँच जाता है। तदनन्तर पूर्णावयव मनुष्य बनता है। पहलेके चार विराड् असम्पूर्ण होनेके कारण उनमें अविद्या सेवित चार श्रेणीकी अज्ञान भूमियोंके अधिकार यथाक्रम आपही पाये जाते हैं। मानव पिण्डमें पहुंच कर जीवको तीन श्रेणियोंके अविद्यासेवित अज्ञान प्रसूत तीन दर्शनोंका अधिकार यथाक्रम प्राप्त होता है। उन तीन दर्शनोंकी भूमियां इस प्रकार हैः—१-देहात्मवाद २-देहातिरिक्त आत्मवाद और ३-आत्मातिरिक्त शक्तिवाद। पहलीमें देहको ही आत्मा माना है, दूसरीमें देहसे भिन्न आत्मा माना है और तीसरीमें यह माना गया है कि आत्मासे भिन्न ऐसी कोई शक्ति है जो इस संसार

को चलाती है। इन्हीं तीन अज्ञात भूमियोंके अन्तर्गत प्रायः सभी पाश्चात्य दर्शनोंके अधिकार देखनेमें आते हैं। इन तीन नास्तिक अज्ञान भूमियोंको पार कर लेने पर उन्नत मानव सप्तज्ञान भूमियोंके अधिकार प्राप्त करता है। उन सात ज्ञान भूमियोंके सात दर्शन इस प्रकार है:—१-महर्षि गौतमका न्याय दर्शन २-महर्षि कणादका वैशेषिक दर्शन ३-महर्षि पतञ्जलिका योग दर्शन ४-महर्षि कपिलका सांख्य दर्शन ५-महर्षि भरद्वाजका कर्म मिमांसा दर्शन (पूर्व भाग) महर्षि जैमिनीका कर्म मीमांसा दर्शन (उत्तर भाग) ६-महर्षि अङ्गिराका दैवी मीमांसा दर्शन और ७-महर्षि व्यासका ब्रह्ममीमांसा दर्शन।

न्याय दर्शन का सिद्धान्त है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास छल, जाति और निग्रह-स्थान इन सोलह पदार्थोंका ज्ञान हो जानेसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। वैशेषिक दर्शन धर्म की इस प्रकार व्याख्या करता है कि जिसके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका अभ्युदय होकर अन्तमे निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है वही धर्म है। योग दर्शनका मत है कि चित्त वृत्तियोंके निरोधको योग कहते है। वृत्तियोंका निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। सांख्य दर्शन कहता कि आदिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखोंसे आत्यन्तिक छुटकारा पा जाना ही परम पुरुषार्थ (कैवल्यकी प्राप्ति) है। भरद्वाज कर्म मीमांसा कहती है कि संसारको सुव्यवस्थित चलानेवाला धर्म है और वही यथार्थ वस्तु है। जैमिनीय कर्म मीमांसा दर्शन वेदकी प्रेरणा (आज्ञा) को धर्म मानता है। दैवी मीमांसा कहती है कि मनुष्यको सरल पद्धतिसे भवसागरसे पार कराने वाली भक्ति है। इस रूप परमात्मा है और जड़ रूप कही जाती है। ब्रह्म मीमांसा दर्शनका सिद्धान्त है कि नित्य वस्तुकी प्राप्तिके लिए शम, दम, उपरति और तितिक्षा इस साधन चतुष्टयसे सम्पन्न साधकको ही ब्रह्मकी जिज्ञासा होती है जिससे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म है। वही शास्त्रका भी कारण है। जो कहीं परस्पर विरोध देख पड़ता है, उसका परिहार समन्वयके द्वारा हो जाता है। इन दर्शनोंके श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे साधकके अन्तःकरणमे प्रत्येक ज्ञान भूमिके यथायोग्य ज्ञानका प्रकाश हो जाता है। और वह आत्म-साक्षात्कार लाभ कर जीवन-मुक्त दशाको प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

हम यह नहीं चाहते कि हमारे विद्यार्थी निरे दार्शनिक पण्डित ही बने रहें और व्यवहारमे बुद्धू रहें। उन्हें व्यक्ति, समाज राष्ट्र तथा जगतके उत्कर्षके उपयोगी व्यावहारिक विभिन्न विषयोंकी शिक्षा अवश्य दी जाय; परन्तु शिक्षाका लक्ष्य आध्यात्मिक ही रहना चाहिये। भारत भूमि धर्म प्रधान भूमि है। इसमें धर्म ज्ञान विहीन, ईश्वर ज्ञान विहीन शिक्षाका पौधा पनप नहीं सकता। जिस भूमिमे संसारके सब धर्मोंका उद्भव हुआ, जो सकल धर्मोंकी जननी है, उसमें धार्मिक लक्ष्य पूर्ण शिक्षा ही फूल-फल सकती है और उसीसे जगतका मंगल साधन हो सकता है। मनु भगवानने ठीक ही कहा है कि —

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरितं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके समस्त मानवोंको अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब हमारी शिक्षाका लक्ष्य लोकोत्तर हो।

सङ्गीत

[संगीत शीर्षक कवितामें कविने सात स्वरोंके नाम, ध्वनियोंकी समता तथा प्रधान राग और रागिनियां और संगीतकी अन्य विशेषताओंका उल्लेख किया है, और बड़ी ही उत्तमतासे यह प्रमाणित किया है कि संसारमें जितनी भी ध्वनियां हैं सबमें संगीतका तारतम्य है यहां तक कि अखिल विश्वही संगीतमय है। —संपादक]

जिसकी मधु झङ्कार व्याप्त है आहा अखिल भुवनमें।
मनोहारिणी लय जिसकी मृदु छाई जड़-चेतन में॥
कर देता आनन्द-विमुग्ध जिसका कल स्वर मतवाला।
धन्य अहा सङ्गीतनाद स्वर्गीय पुनीत निराला॥ १॥

वीणाका निक्वाण मधुर मुरलीकी तान सुरीली।
डिमडिम डमरूनाद विपञ्चीकी मृदु झनक रसीली॥
धिकधिड धिकधिड मधुर मुरजकी स्वरमय थिरकन प्यारी।
अहा किङ्किणी-कङ्कणकी रुनझुन रुनझुन मनहारी॥ २॥

कुञ्जर नाद निषाद ऋषभ निस्वान अहा गोकुलका।
छागीका गांधार मृदुल स्वर षड्ज शिखावल कुलका॥
कङ्कगिराध्वनि स्वर मध्यम रव धैवत वाजी दलका।
मृदुल मधुर रसभरी कुहू पञ्चम विराव कोयलका॥ ३॥*

मालकोश हिंडोल मेघ भैरव दीपक रागश्री।†
रूपमञ्जरी रुचिर अहा कोमल श्रुतिमधुर जयश्री॥
जै जैवंती मृदु विहागकी ललित रागिनी प्यारी।
प्रातकालकी मधुर भैरवी ध्वनि गौरीकी न्यारी॥ ४॥‡

कान्ताका संलाप सांत्व मृदु मधुर गिरा शैशवकी।
विकल विकम्पित करुण तान कल कोमल कंठारवकी॥
अहो चढ़ाव-उतार स्वरोंका तार-मन्द्र ध्वनि गतिसे।
लय होना फिर विपुल शून्यमें घुल-घुल सूक्ष्म प्रगतिसे॥ ५॥

चातककी आकुल पी-पी गुनगुन कलरव भ्रमरोंका।
पर्णोंकी मधु मर्मर ध्वनि कोलाहल गगनचरोंका॥
निर्झरका झरझर विराव कलकल आराव सरित्का
सागरका कल्लोलनाद स्वर हहर हहर मारुतका॥ ६॥

शब्दमात्रमें भरा हुआ आहा सङ्गीत मधुर है।
स्वयम् विश्व उस महानादकी एक तान सुन्दर है॥
सदा बरसता भूपर जिसका पावन मञ्जुल कण है।
अन्तरिक्ष उत्थान मध्य सम पृथ्वी अवरोहण है॥ ७॥

—मोहन वैरागी

---

* सात स्वर † ६ राग ‡ ६ रागिनी

एकाकार अप्राकृतिक है

(लेखक—गोविन्द शास्त्री दुगवेकर)

यह एक मानी हुई है कि, विजित जाति विजेत्री जातिका सब प्रकारसे अनुकरण करने लगती है। शरीर और भौतिक वैभवके साथ साथ उसका अन्तःकरणभी पराधीन हो जाता है। उसका अपना कुछ नहीं रह जाता। संसारको वह विजेताओंकी ही दृष्टिसे देखने लगती है। उनका महत्त्व उसके हृदयमें छा जाता है और अपना सब कुछ बुरा लगने लगता है। वह परिवर्तन चाहने लगती है। भारत जबसे पराधीन हुआ, तबसे भारतवासियोंकी ऐसी ही प्रवृत्ति देख पड़ने लगती हैं और स्वाधीन हो जाने पर भी पराधीनताके पुराने संस्कारोंसे उनका पिण्ड नहीं छूटा है।

आजकल संसारके उन्नत कहानेवाले अधिकांश देशोंमें एकाकार करनेकी आँधी चल पड़ी है और उसका एक झोंका भारतमें भी आगया है। समाजवाद, साम्यवाद, एकतावाद, नाम कुछ भी हो, सबके मूलमें एकाकारका बीज विद्यमान है। भारतकी मनोभूमि इसके अनुकूल नहीं है—क्योंकि एकाकार अप्राकृतिक है। युरोप आदि देशोंकी नकल कर यदि यहाँ चला जायगा, तो जगद्गुरु माने जानेवाले भारतके पतनका वह कारण होजायगा।

प्राणिमात्रमें समबुद्धि रखना भारतको भी मान्य है; परन्तु शास्त्रीय दृष्टिसे। जैसे—

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अथवा—

आत्मवत्सर्वभूतेषु वीक्ष्यन्ते धर्मबुद्धयः।

अर्थात् विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डालको भी विद्वान् लोग एकसा ही देखते हैं अथवा धर्मात्मा लोग प्राणिमात्रको अपने हो समान समझते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि, गायके खानेका चारा ब्राह्मणके आगे खानेको रखते है और ब्राह्मणके लिये पकाया हुआ अन्न कुत्तेको खिलाते हैं। उनकी समदर्शितामें मनुष्यताका नाश करनेवाली एकाकारताका बीज नहीं है। वह उच्चतम आध्यात्मिक दृष्टिकोण है।

हिन्दू दर्शनशास्त्रका सिद्धान्त है कि, इस जड़ चेतनात्मक संसारमें चिन्मय आत्मा एक ही है। वह ज्ञानस्वरूप हैं और एक अद्वितीय रूप सात्विक ज्ञानसे ही जाना जा सकता है। प्रकृति जड़ है। वह अज्ञानका विलास है। इस कारण प्रकृतिके रूप अनन्त हैं। प्राकृतिक स्थूल, सूक्ष्म कोई रूप क्यों न हों—उनको एकाकारमें परिणत कर देना मनुष्यकी शक्तिसे बाहर है। वह असम्भव है। स्थूल दृष्टिसे देखने पर भी ज्ञात होगा कि, संसारकी प्रत्येक वस्तु एक दूसरीसे भिन्न होती है। इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न हैं, उनके विषय भिन्न भिन्न है और उनकी अनुभूति भी भिन्न भिन्न होती है। गोस्वामीजीने इसी बातको बड़े अच्छे ढंगसे समझाया है। वे कहते हैं—

गिरा अनयन नयन बिनु बाणी

अर्थात् जिसने भगवानका स्वरूप अपने नेत्रोंसे देखा है, उसका वर्णन वह कैसे करे? क्योंकि वर्णन करनेवाली वाणीके नेत्र नहीं, उसने उसे देखा नहीं है और नेत्र भी उसका वर्णन कैसे करें? उनके वाणी नहीं है। नेत्र और वाणीका जैसे एकाकार नहीं किया जा सकता, वैसे ही प्राकृतिक अनेक वस्तुओंका एकाकार करना असम्भव है।

सभी वृक्ष यद्यपि एक ही उद्भिज्ज जातिके हैं, तथापि पीपल वट नहीं होगा और न आम ही बबूर होगा। प्रत्येकका भिन्न अस्तित्व रहेगा और

हर एकका गुणधर्म भी भिन्न होगा। यही नहीं, एक ही वृक्षकी लाखों पत्तियाँ एक दूसरीसे भिन्न होंगी। सब पशु जातिके जीव भी भिन्न होते हैं, पक्षी भी भिन्न होते हैं। गाय और बाघ एक नहीं होंगे, न मोर और कौए ही एक हो सकेंगे। यही बात मनुष्य जातिकी है। सब मनुष्य एकसे नहीं हो सकते।

हिन्दु शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति, संस्कार, जाति, आयु और भोग इन सातोंके बीजको लेकर जीव जन्म ग्रहण करता है। इसीसे जन्मना जाति मानी गयी है। कर्मणा जाति मानने पर भी एकाकार असम्भव है क्योंकि प्रत्येककी प्रकृति, प्रवृत्ति आदि भिन्न होनेसे प्रत्येककी एक जाति बनकर अनन्त जातियाँ हो जायँगी, उनका वर्गीकरण भी नहीं किया जा सकेगा। एक विद्वान् और टहलुआ एक नहीं होगा, क्योंकि दोनोंकी मनोभूमि भिन्न है। तप, त्याग, स्वाध्याय आदि सात्विक गुणोंके कारण किसी समय ब्राह्मणोंका जैसा सम्मान होता था, वैसा किसी राजाका भी नहीं होता था। इसका कारण यह कि, ब्राह्मण स्वाभाविक रूपसे ही आध्यात्मिकतामें समुन्नत होते थे। उनमें आत्माका विकास अधिक होता था। उनकी तमोगुणी डाकुओंसे समानता कैसे हो सकती है? एक कांस्टेबल गवर्नर जनरल नहीं बनाया जा सकता, न एक गवर्नर जनरलसे कांस्टेबलका ही काम लिया जा सकता है। प्रत्येक देशके लोगोंकी मूल प्रकृति भी भिन्न होती है। वे सब कभी एक नहीं हो सकेंगे।

हिन्दूशास्त्र अनेकतामें एकता देखना भी जानते हैं; परन्तु आत्माके सम्बन्धसे। क्योंकि उनके विचारसे आत्मा एक है और प्रकृतिके वैभव अनेक हैं। अन्ततः प्रत्येकका स्वतन्त्र अस्तित्व है और स्वतन्त्र अधिकार है। इस अधिकार भेदको न जान कर जो एकाकारमें प्रवृत्त होते हैं, वे अपने आपको धोखा दे रहे हैं। जिन कुछ अदूरदर्शी उन्मादग्रस्त देशोंने कानून बनाकर स्त्री पुरुषोंका भेद मिटाना चाहा, वे अब अपने किये पर पछता रहे हैं। क्योंकि स्त्री पुरुषभेद ईश्वरीय है, उसके मिटानेमें मनुष्य असमर्थ है। कोई स्त्री बीजदात्री नहीं होगी और कोई पुरुष गर्भधारण नहीं कर सकेगा। इसी तरह सब मनुष्योंका रूप, रंग, आवाज, ऊँचाई, नाटापन एक नहीं किया जा सकता यदि ऐसा हास्यास्पद प्रयत्न किया जायगा, तो ऊँचे आदमियोंके पैर काटने होंगे और नाटे आदमियोंके पैरोंमें लकड़ी जोड़नी होगी। दुर्बल मनुष्योंके शरीरों पर वैसी मट्टी थोपनी होगी, जैसी बाँस पर मट्टी थोप कर मृण्मयी मूर्ति बनायी जाती है और मालदार तुन्दिल तनु लोगोंकी तोंदें छाटनी होंगी। एकही नापका कोट सबको नहीं पहनाया जा सकता। कानून बनाकर एकाकारमें प्रवृत्त होना अस्वाभाविक है। कानूनसे ईश्वरीय नियमोंका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। गीताशास्त्र—जो वेद और समस्त शास्त्रोंका निचोड़ है—उसमें और सप्तशतीगीता—जो साधनाका अपूर्व ग्रन्थ है—उसमें दैवी और आसुरी सम्पत्तिका उत्तम विवेचन किया गया है। उससे सिद्ध होता है कि, एकाकार चल नहीं सकता। वह अनैसर्गिक है।

स्वतन्त्र भारतमें अब नयी शासन प्रणाली स्थापित हो रही है। उसको नये ढङ्गसे प्रचलित करते समय अधिकारभेदका ध्यान रखना परम आवश्यक है। यदि इसका ध्यान नहीं रक्खा जायगा, तो वह भारतको ऊँचा उठानेके बदले नीचे गिरा देगा। उदाहरणार्थ यह कहा जाता है कि स्त्री पुरुषोंकी समान शिक्षाका जो आयोजन किया जा रहा है, वह पशुभावको बढ़ानेका कारण बनेगा। समस्त स्त्री जाति एक होने पर भी माता, पत्नी, भगिनी कन्या आदिके अधिकार प्रत्येकके भिन्न हैं। स्त्री पुरुषोंके अधिकारमें तो जमीन आसमानका अन्तर है। नव भारतमें तो दोनोंकी शिक्षाका ऐसा उपक्रम होना चाहिये, जिससे स्त्री

पूर्ण स्त्री हो और पुरुष पूर्ण पुरुष बन सके। अन्यथा पशुभाव की ही वृद्धि होगी।

युरोपके एकाकारमें प्रवृत्त होनेसे वह कितने शीघ्र गिरा और कहाँका कहाँ पहुँच गया। परन्तु अधिकारभेदको माननेवाला भारत अब तक अपने स्वरूपमें विद्यमान है। वर्तमान एका-कारकी उद्दामताका संयम एकमात्र हिन्दूधर्म ही कर सकता है। अन्ततः नयी योजनामें जो कुछ सुधार किये जायँ, उनमें अधिकारभेदका विचार रखना ही होगा; तभी सफलता प्राप्त होगी। अन्यथा गणेशजीकी मूर्ति बनाते हुए बन्दर बना देंगे—

विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास बानरम्।

क्योंकि एककार अप्राकृतिक है॥

—:o:—

सिद्ध महात्मा बाबा श्री लोचनदास जी महाराज

(लेखक—भक्त रामशरणदास पिलखुवा)

आज हम अनन्त हर्षके साथ लेखनी उठाकर पाठकोंके सन्मुख भारतके सुप्रसिद्ध सिद्ध महात्मा पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय बाबा श्री लोचनदासजी महाराजका संक्षिप्त जीवन परिचय रख रहे हैं। इसमें हमें बहुतसी बातें रियासत ग्वालियरके एक संतसे मालूम हुई हैं एतदर्थ हम उनके श्री चरणोंके अत्यधिक आभारी हैं। आशा है पाठक इसे ध्यानसे पढ़नेकी कृपा करेंगे और इसमें जो गलती रह गई हो उसे क्षमा करेंगे।

बाबाका जन्म, जाति और स्थान

श्री लोचनदासजी महाराज एक प्रसिद्ध महात्मा थे। लोचनदासजी महाराज जातिके शायद क्षत्रिय थे। आपका जन्म ग्वालियर राज्यकी लालजीतकेपुरे नामक ग्राममें हुआ था। बचपनमे तो आप विद्याध्ययन करते रहे और बादमें महाराजा बाजीराव सिन्धिया (वर्तमान ग्वालियर नरेशके बाबा) के समयमें वे ग्वालियर राज्यकी सेनामें भरती होगये। आपका स्वास्थ्य बहुत ही सुन्दर था, शरीर ऊँचा, ललाट चौड़ा, सीना उभड़ा हुआ, भुजायें लम्बी और बलिष्ठ थीं। आपको श्री प्रभु भक्तिका चस्का बाल्यकालसे ही लगा हुवा था। आप हर समय प्रभुप्रेममें निमग्न रहते थे तो भी फौजीके कर्त्तव्य और ग्रहस्थकी चिन्ता इन्हें पूरा संत बनानेमें विघ्न डालते रहते थे। आप लाख काम होने पर और सैनिक होने पर भी प्रभु भक्तिको समय निकाल ही लेते थे। सिपाही लोचनदासजी श्री महाबीरजी महाराजको अपना इष्टदेव माना करते थे। और श्री महाबीरजीको प्रसन्न करनेके लिये नित्य श्री महावीरजीको आमन्त्रित कर इन्हें बड़े प्रेमसे गद्-गद् होकर श्री तुलसीकृत रामायणका पाठ सुनाया करते थे। श्री रामायणजीका श्री महावीरजीको पाठ सुनाते २ इतने तन्मय हो जाते थे कि अपने शरीरकी भी सुध-बुध भूल जाते थे। यह आनंद ही ऐसा है कि जिसे प्राप्त कर फिर और किसी चीजकी तरफ आँख उठा कर भी देखनेकी इच्छा नहीं रहती।

एक अद्भुत घटना

आप एक सैनिक थे फिर उच्चकोटिके परम-सिद्ध महात्मा बाबा श्री लोचनदासजी कैसे बन गये? यह आपके जीवनकी एक अद्भुत घटना इस

प्रकार है। एक दिनकी बात है कि नित्यकी भाँति आप श्री महावीरजी महाराजको आमन्त्रित कर आप बड़े प्रेमसे श्री रामायणजीका पाठ सुना रहे थे। श्री महावीरजीकी कृपा तो आप पर पहिले ही से थी परन्तु आज आप पाठ सुनाते २ इतने प्रेममें डूब गये कि अपने शरीरतकका भी भान न रहा और समाधिस्थसे होगये। प्रेममें डूबने पर आपको यह पता कहाँ कि मेरी ड्यूटीका समय है और मुझे जाना चाहिये। सब कुछ एक दम भूल गये। आप उस श्री भगवद् प्रेमके अपार समुद्रमें गद्गद् हो आनंदमग्न होरहे थे और उधर पहरेका समय था। इस प्रभुप्रेमकी अद्भुत मस्तीमें आपको पर्याप्त समय बीत चुका था। यद्यपि सैनिक लोचनदासजीको ड्यूटीकी सुध नहीं थी परन्तु परम कृपालु भगवान श्री महावीरजी महाराज तो बेसुध नहीं थे। उन्हें आज अपने परमभक्तकी रक्षा की चिन्ता सवार हुई और अनुपस्थितिके कारण मेरे प्राणप्रिय भक्तपर कोई आपत्ति न आजावे ऐसा सोचकर स्वयं श्री महावीरजी महाराज भक्तके वशीभूत हो श्री लोचनदासजीका वेष बना और फौजी वस्त्र धारण करके उनकी ड्यूटी पर आ खड़े हुवे। धन्य है श्री मरुति नंदन श्री हनुमानजी महाराजको जो भक्तके कारण सैनिक बन पहरा देने लगे। तभी तो भक्त लोग गाया करते हैं—

भगवान भक्तके बसमें होते आये।
जब जब भीड़ पड़ी भक्तोंपर नंगे पांवो धाये ॥भ०॥

श्री हनुमानजी महाराजने खूब अच्छी तरह ड्यूटी दी। उधर ड्यूटीका समय व्यतीत हुआ और इधर श्री लोचनदासजीको सुध आई और अपनी ड्यूटीका ध्यान आया फिर क्या था चिन्ता सवार हुई और एक दम भागे २ गये और पहुँचे ड्यूटी पर। वहाँ पर आकर देखा कि ड्यूटीपर आगेकी ड्यूटी वाला सिपाही खड़ा है। आपके यह देख कर होश उड़गये और सिपाहीके पास गिड़ गिड़ा कर बोले 'भाई' आज मुझसे बड़ी भूल हुई है मैं न आसका यहाँ किसी बड़े अफसरका गश्त तो नहीं हुवा? उस सिपाहीने समझा कि यह पागल तो नहीं हो गया है। अब तो खड़ा पहरा देही रहा था फिर भी कहता है कि मैं आ नहीं सका मुझे देरी हो गई? उसने कहा कैसी देरी और कैसी भूल? क्या कह रहे हो? लोचनदासजीने कहा यही कि मैं आज ड्यूटी नहीं दे सका। सिपाहीने कहा अरेभाई आज तुम पागल तो नहीं हो गये हो? क्या कह रहे हो? अरे अभी तो तुम यहाँसे गये हो और तुम्हारे सामने ही सेनापति भी आये थे देखो यह उनका इन्सपेक्शननोट। आपने मन ही मन कहा कि यह सिपाही पागल तो नहीं है, या मेरी हँसी तो नहीं उड़ा रहा है? आपको उसका विश्वास नहीं हुआ फिर भी जब आपने इन्सपेक्शननोट देखा तो देख कर दंग रह गये। कुछ मन ही मन सोचा और लगे उछलने कूदने।

सैनिकसे संत

आप इस असली रहस्यको समझगये कि मेरे कारण श्री महावीरजीने सैनिक बन कर पहरा दिया है। आप भागे २ अब घर गये और झटसे जाते ही सैनिकपदसे त्याग पत्र लिख भेजा। और मनमें निश्चय कर लिया कि जिसने मेरे कारण इतना कष्ट उठाया और पहरा दिया क्या मुझे अब उसके लिये कुछ नहीं करना चाहिये? बस यही निश्चय कर धनधाम, घर नार सबको लात मार सर्वस्वत्याग आप गेरुवाँ वस्त्र पहिन, बन गये सैनिक लोचनदाससे संत लोचनदास। अबतो आपका सारा समय ही श्री महावीरजीकी भक्तिमें व्यतीत होने लगा और हर समय उनके प्रेममें ही गद्-गद् रहने लगे। उस समय आपकी भक्ति ही विचित्र अद्भुत दशा थी।

एक भक्त वकील साहब पर प्रसन्न

राज्यमें एक परमभक्त आस्तिक वकीलसाहेब रहते थे। उन्होंने पूज्यपादबाबा श्री लोचनदासजी महाराजका दर्शन किया और आपकी भक्तिको देख कर उनमें बड़ी श्रद्धा होगई। वकीलसाहबने बाबासे बड़े विनीत स्वरमें करबद्ध प्रार्थनाकी कि श्री महाराजजी कृपाकर आप मेरे यहाँ नित्य भोजन कर लिया करो बाबाने उन्हें सुपात्र समझा और उनकी प्रार्थना स्वीकार करली। बाबाकी प्रसन्नताको जान वकीलसाहब गद् गद् होगये।

मरे लड़केको जीवित करना।

वकीलसाहब बहुत दिनतक नित्य प्रति बड़ी श्रद्धा भक्तिपूर्वक आपको अपने यहाँ भोजन कराते रहे। दैवयोगसे एक बार आपका एक पुत्र बीमार होगया। उसका बहुत इलाज कराया गया परन्तु वह अच्छा नहीं हुवा। और अन्तमें वह स्वर्गधाम पधार गया। वकीलसाहबके घरमें रोना पीटना शुरू हो गया। पुत्रका शोक सबसे बड़ा शोक गिना जाता है। इधर बाबा श्रीलोचनदासजी महाराजकी भिक्षा करनेका समय आगया। वकील साहबने दूरसे ही बाबाको आते हुये देखा और झटसे दौड़े हुए घरमें गये और अपनी धर्मपत्नीसे जाकर बोले कि 'बाबा आरहे हैं अगर आज आप इस समय रोती रहो तो बाबा भोजन नहीं करेंगे और भोजनका जो नित्यका नियम है वह आज भंग हो जायेगा। कोई भी न रोये और आप भी शान्त होकर बैठ जावो। धन्य हैं वकील साहब और उनकी सतीसाध्वी धर्मपत्नी जो पुत्र घरमें मरा पड़ा है परन्तु साधुसेवाके आगे सब शोकको भूल जाते हैं। न स्वयं रोये न औरोंको रोने दिया और मरे लड़केको अन्दर कोठरीमें रख दिया। बाबा नित्य जब आते थे तो आवाज देते कुछ कहते सुनते, बड़ बड़ाते जो जीमें आता कहते सुनते आते थे इसी प्रकार आज भी आये। और बोले क्या रोटी तयार होगई? वकील साहबने बड़े प्रेमसे नित्यकी भाँती कहा कि हाँ महाराज तैयार है। बाबा अन्दर गये और बोले आज तीन आसन यहाँ पर बिछावो और तीन थालीमें भोजन परोस कर लावो।

वकीलसाहब—बाबा आज तीन थाली किस लिये चाहिये?

बाबा—हम कह रहे हैं तीन आसन बिछावो और तीन थालीमें भोजन परोस कर लावो।

वकीलसाहब—क्या और कोई भी भोजन करेंगे?

बाबा—एकमें हम और दूसरीमें तुम और तीसरीमें छोरा भोजन करेगा।

वकीलसाहब—बाबा आप भोजन कर लीजिये छोरा यहाँ पर नहीं है।

बाबा—छोरा कहाँ गया है?

वकीलसाहब—कहीं बाहर खेलने चला गया होगा पीछे भोजन कर लेगा।

बाबा—नहीं बुला कर लावो।

वकीलसाहब—बाबा छोरा अन्दर सोरहा है।

बाबा—जगाकर लावो।

वकीलसाहब—अच्छा महाराज बाबा त्रिकालज्ञ थे और सब जान गये थे कि लड़का मर गया है परन्तु आज तो उन्हें अद्भुत चमत्कार दिखाना था इसीसे ऐसी लीला कर रहे थे। वकीलसाहब अन्दर आये और आकर बोले—

वकीलसाहब—बाबा हमसे नहीं जागता आप जगालो।

बाबा—अच्छा हम ही चलते हैं और हम ही जगाते हैं।

बाबा अन्दर गये और मुर्दे लड़केका हाथ पकड़कर कहा कि उठ बहुत सो लिया चल भोजन कर। पूज्यपाद बाबाका ऐसा कहना था कि लड़का जैसे सो कर जागा हो एक दम खड़ा हो गया और बाबाके साथ साथ चल दिया और भोजन करने लगा यह अद्भुत चमत्कार देख कर सभी प्रसन्न होगये। आश्चर्यका ठिकाना न रहा। चारों

ओर बाबाकी ख्याति फैल गई और हल्ला मच गया।

बाबाका यहाँसे भागना।

अब तो जिसे देखो वही बाबाके पास भागा आरहा है और कोई पुत्र मांगता है तो कोई स्त्री और कोई धन तो कोई मुकद्दमेमें जीत, कोई रोग दूर होनेका आशीर्वाद। बाबाने सबकी इच्छा जो थी अपने आशीर्वादसे पूरी की। परन्तु करते भी कहाँ तक दिन पर दिन भीड़ बढ़ने लगी और बाबा तंग हो गये। और अन्तमें एक दिन यहाँसे भाग खड़े हुये और फिर पता नहीं एक दम कहाँ चले गये?

बाबा लालजीतके पुरेमें

कुछ समय बाबा लालजीतके पुरेमें आये और एक तेलीके मकानके पास एक छोटी सी झोपड़ी डाल कर रहने लगे। उससमय किसीको पता नहीं था कि यह वही वकीलसाहबके लड़केको जिलानेवाले महात्मा हैं। धीरे धीरे बात फैलने लगी कि यह वही बाबा श्री श्रीलोचनदासजी महाराज हैं कि जो फौजमें थे और श्रीहनुमानजीने जिनके बदले पहरा दिया था और इन्होंने ही वकीलसाहबके लड़केको जिला दिया था। फिर क्या था नहीं फिर नहीं भीड़की भीड़ इकट्ठी होने लगी। हजारों मनुष्य भारतके कोने कोनेसे आने लगे। लंगड़े लूले, अंधे, कोढ़िये, मुकदमेबाज, पुत्रकी इच्छावाले आदि २ की हर समय भीड़ रहने लगी। हजारों तो कोढ़ियोंका कोढ़ दूर हो गया, अंधे समाके होगये, बहुतोंके पुत्र होगये। सबकी इच्छायें बाबाके आशीर्वादसे पूरी होने लगी और जो जिनको कह दिया वही होगया।

अद्भुत दशा

बाबा सब पर कृपा करते थे परन्तु सब दिन-रात इन्हें घेरे रहते थे और तंग करते थे। इसलिये कुछ दिखावटी क्रोध सा करने लगे और किसीके ईंट मारने लगे तो किसीके पत्थर ही मारने लगे और आप एक अपने पास बबूलका डंडा रक्खा करते थे किसीके उसे भी जड़ देते थे। किसीको बकने लगते किसीको बुरी भली कहने लगते यह आपकी पागलोंकी सी दशा बहुत दिनों तक रही।

रहन-सहन खान, पान

आप यूँ ही मस्त पड़े रहा करते थे। गर्मी, सर्दी, सुख, दुःख इसकी आपको तनिक भी तो परवाह नहीं थी। खान-पानका आपका ऐसा नियम था कि जो भी भोजन ले आया सभीको भोजन कर लिया। चाहे जितना भोजन आ जाये सभी कर लेते थे। और भोजन करते ही कहते जाते थे 'भाई तुम क्यों ले आये तुम्हारी माता मना करती थी' किसीसे कहते कि तुम क्यों ले आये तुम्हारी स्त्री मना करती थी। सबकी बातें बैठे बताते जाते थे और भोजन करते जाते थे। शौच कभी जाते ही नहीं थे। पासमें खप्पड़ रक्खे रहा करते थे बम खा कर उन्हींमे मुखसे निकाल दिया करते थे और पासमे ही जो बहुतसे कुत्ते रहा करते थे। वह खाते रहते थे। ऐसा आपका नित्यका ही नियम था आप पैरोंके और हाथोंके नाखून भी इस बे रहमीसे काटते थे कि खून बहने लगते थे और घाव हो जाते थे। नाखून अभी आया भी नहीं फिर भी काट रहे हैं औरों को तो यह देखकर दुःख होता था परन्तु बाबाको तो दुःख सुखका कुछ पता ही नहीं था और शरीर का भाव ही नहीं था। बहुतोंने आपसे प्रार्थना और बहुत आग्रह किया कि आपके लिये पक्की कुटिया बनवादें परन्तु आपने कभी इसे स्वीकार ही नहीं किया। अच्छा बुरा जैसा आ गया और जितना आ गया सबको खा लिया और खप्पड़में उगल दिया और मस्त पड़े रहे और अपने आशीर्वादसे सबका भला करते रहे यही आपका काम था। आपके जीवनकी हजारों आश्चर्यजनक घटनायें हैं जिन्हें यहाँ पर असम्भव है तो भी दो चार घटनायें हम यहाँ पर दे रहे हैं।

मोटर चलना बंद

एकबार आपके पास भीड़ लगी हुई थी। एकाएक आपने जोरसे कहा 'सुसरी वहीं पर रहे सुसरी वहीं पर रहे, सुसरी यहाँ पर मत आ खबरदार जो यहाँ पर आई। यह सब देखकर आश्चर्यमें पड़ गये कि क्या बात है बाबा किसे कह रहे हैं? कुछ मनुष्य बाबाके पाससे उठकर कुछ दूर गये कि देखे कोई आ तो नहीं रहा है और बाबा किसे कह रहे हैं। कुछ दूरी पर जा कर देखा कि एक कार मोटर है जिसमें एक रानी बैठी है और मोटर चलना बंद है। बहुत कोशिश-की गई पर मोटर चल कर ही नहीं दी। सबने रानीसे कहा कि मोटर नहीं चल सकती बाबाकी आज्ञासे बंद हो गई है। अंतमें रानी पैदल चल ही आई और बड़ी श्रद्धासे प्रणाम कर बैठ गई। और बाबासे आपने करबद्धप्रार्थना कर कहा कि बाबा यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके लिये एक सुन्दर पक्की कुटिया बनवादूं। बाबाने कहा हमें क्या करनी है तेरी कुटिया अरी बावली तू बनवा देगी कुछ दिन बाद कुटिया ढह जायेगी इसलिये क्यों बनवाये? आपने लाख प्रार्थना करने पर भी स्वीकार नहीं किया। अंतमें रानीने अपने पुत्र हो इसकी प्रार्थना की। आपने पहिले तो कहा जा भाग हमारे यहाँ तेरे लिये पुत्र कहाँसे आये? अंतमें प्रसन्न होकर पुत्र होनेका आशीर्वाद दिया। रानी प्रसन्न होकर चलदी और जो कार पहिले लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं चली थी अब ~~चलती~~ बार फौरन चलने लगी। बाबाकी यह अद्भुत चमत्कारिक घटनाको देख सब दंग रह गये। बादमें कुछ दिन बाद ही रानीके भी लड़का हुआ जिसे लेकर यह बाबाके पास फिर दुबारा आई थी।

चिड़ियाको मारना और फिर उसे जीवित करना

एक बार जहाँ पर आप रहते थे अपने पास ही एक मिट्टी का घड़ा जो पानी से भरा हुआ था रक्खा हुआ था। न जाने वह घड़ा कैसे उंध गया और उसका पानी सब जगह फैल गया। पास में कुछ गड्ढेसे थे उनमें भी पानी भर गया। पानीको देखकर कितनी ही चिड़िया आकर पानी पीने लगी। कुछ बच्चे भी आपके पास ही खेल रहे थे। बच्चोंने कहा बाबा चिड़िया तुम्हारा पानी पी रही है। बाबाने धड़ामसे चिड़ियोंकी तरफ हाथ मारा। सबकी सब चिड़िया तो उड़ गई परन्तु एक चिड़ियाके ऐसा हाथ लगा कि मर गई। बालकोंने चिड़ियाको मरी देख हँसना शुरू किया और एक बालक बोला 'बाबा तुम चिड़ी मार हो? बाबाने उस मरी चिड़ियाको अपने हाथमें उठाकर अपनी हाथकी हथेली पर रक्खा और तीन बार यह कहकर कि 'सुसरी उड़ नहीं तों मुझे सब चिड़ीमार कहेंगे हाथ मारा और तीसरी बार सबने देखा कि वह मरी हुई चिड़िया फुर्र ऐसी जीवित होकर आकाशमें उड़ गई। यह सब देखकर दंग रह गये। बहुतसे सनातनधर्म विरोधी नास्तिकोंकी बोलती बंद हो गई।

बहुत बड़े विशाल वृक्षको छूते ही गिरा देना।

जहाँ पूज्यपाद बाबाजी महाराज बैठा करते थे वहीं पर पासमें ही एक बहुत बड़ा विशाल वृक्ष था। बाबाके जीमें आया कि इसे उखाड़ डालें। आपने अपने पासके एक साधुसे कहा कि इसे उखाड़ दे। बाबा यह बड़ा मजबूत हरा भरा वृक्ष है इसे पचास आदमी भी मिलकर नहीं उखाड़ सकते। आपने कहा नहीं हाथ लगा गिर पड़ेगा। साधुने कहा बाबा नहीं गिरेगा। आपने कहा अरे तू हाथ तो लगा। उसने बाबाकी आज्ञा-नुसार हाथ लगाया परन्तु वृक्ष नहीं गिरा। परन्तु जब आपने उस वृक्षके हाथ लगा दिया तो विशाल वृक्ष धड़ामसे जड़सहित उखल कर पृथ्वीपर गिर पड़ा। सभी इस घटनाको देखकर आश्चर्यमें डूब गये।

नास्तिकोंकी बोलती बंद।

जो बड़े बड़े नास्तिक हैं और सनातनधर्म वेद शास्त्र पुराण साधु ब्राह्मण किसीको भी नहीं मानते वह भी बाबाके पास आकर और उनके अद्भुत चमत्कार देख देख कर नास्तिकसे आस्तिक होते देखे गये थे। बाबाके पास आकर बड़े नास्तिकोंका, चोर डाकुओंका भी सुधार हो गया था। हमारे पूज्य पिता (ला० नरायनदास जी) जो साधु संतों में विश्वास नहीं रखते एक बार ग्वालियरराज्यमें भी शनिश्चरादेवी पर गये थे तो बाबाकी किसीसे प्रशंसा सुन बाबाके पास भी गये और बाबाके आशीर्वादसे उन्होंने अपने काममें सफलता पाई और हार कर श्रद्धा करनी पड़ी। एक नहीं हजारों बड़े बड़े साधु विरोधियोंको बाबाके पास जाकर श्रद्धालु बनना पड़ता था।

बाबाका साकेतवास।

जीवित कालमें बहुतसे मनुष्य आपको पागल समझते रहे परन्तु अब बादमें सर धुन धुन कर रोते है। बाबा पूरे सिद्ध थे, त्रिकालज्ञ थे, घट घट की जाननेवाले थे, पूरे सिद्ध थे जो चाहे सो कर सकते थे, प्रभुका साक्षात्कार किये हुये थे और पूर्ण योगी थे। हजारों नास्तिकोंको आस्तिक बनाए हुए सबका दुख दूर करते हुये, आप लगभग १४-१५ वर्ष हुये साकेतवासको प्राप्त हो गये। बाबाके जीवनकी अनेकों अद्भुत घटनायें स्थानाभावके कारण यहीं पर समाप्त किया जाता है। इसमें जो गलती रहगई हो पाठकगण क्षमा करो ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

बोलो संत और उनके भगवानकी जय।

—:o:—

परमपूज्या श्री श्री आनंदमयी माँके वचनामृत

(लेखक—भक्त रामशरणदास पिलखुवा)

प्रश्न—मा कृपाकर बतलाइये कि श्री श्रीभगवत्प्राप्तिका सरलसे सरल साधन क्या है?

उत्तर—श्री भगवतप्राप्तिका साधन जो गुरु बतावे वही साधन है। वह साधन गुरुकी पूर्ण कृपाका फल है।

प्रश्न—मा क्या गुरुके बिना काम नहीं बन सकता? क्या गुरु करना बहुत ही जरूरी है?

उत्तर—देखो बेटा जब भगवान् कल्याण करते है तो वह गुरुरूप बनके कल्याण करते है उनका यह स्वभाव है। ज्ञान है इसे बिना गुरुसे कौन दे सकता है? अगर अपन आप बिना गुरुके ही काम बन जाता तो फिर गुरुकी क्या जरूरत थी?

प्रश्न—गुरुकी पहिचान क्या है?

उत्तर—गुरु ही कृपा करके अपनी पहिचान कराय तभी गुरुकी पहिचान हो सकती है। गुरु कृपा करके अपनी पहिचान देता है। गुरु कृपाके बिना पहिचान नहीं हो सकती। जिस प्रकार बिना प्रोफेसरके विद्यार्थी विद्या नहीं सीख सकता उसी प्रकार गुरू कृपाके बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

प्रश्न—गुरू कृपा कैसे हो?

उत्तर—गुरू कृपाकर स्वयं प्रकाश देता है।

प्रश्न—जो श्रीहरि है उन्हें गाकर भी पुकार सकते है। जो सबका दुःख हरण करते हैं वही श्रीहरि हैं।

उत्तर—मौन तो रहे पर भगवत्स्मरणकीर्तन नहीं करे तो इससे तो वह भगवद्स्मरण कीर्तन करनेवाला ही अच्छा है। भगवन्नाम कीर्तन करनेवाला भी एक प्रकारसे मौन ही है। भगवन्नामके सिवाय और कुछ न बोलना ही मौन है।

माँबोली—अच्छा बेटा जी और फिर पूँछना।

—:o:—

अभिनन्दनपत्र

यो विश्वं निखिलं बिभर्ति कुरुते सृष्टेर्व्यवस्थाश्च यस्तं धर्मं परिरक्षितुं प्रयतते यो विश्वसन्धारकम्।
तं धर्मप्रतिपालकं नरवरं धर्मः स्वयं शाश्वतः शश्वद्रक्षति रक्षितस्त्रिभुवने धर्माय तस्मै नमः॥

विविध-विरुदावली-विराजमान भारतीय संस्कृति-संरक्षक श्रीमन्महाराजाधिराज द्विराज
काशिनरेश श्रीविभूतिनारायणसिंह राजेन्द्रकी सेवामें—

माननीय महाराज !

श्रीकाशीपुरी जो आर्यजातिका प्रधान विद्यापीठ और धर्मकेन्द्र है और साथ ही साथ तीर्थस्थानोंमें एक सर्वमान्य तीर्थस्थान है उसकी महिमा-कीर्तन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है। सृष्टिके प्रथम समय जबसे महर्षि भृगु आदि प्रजापतियोंका आविर्भाव हुआ था और जबसे उनके पवित्र गोत्रप्रवर आदिकी शृंखलाकी प्रतिष्ठा हुई थी, तबसे पूज्यपाद महर्षियोंके समयसे भारतके ब्राह्मणगण मनुष्यजातिके आदिगुरु माने गये है और वे समस्त देशके बुधजन द्वारा आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यगणके सर्वमान्य पथप्रदर्शक स्वीकृत किये गये हैं। अबभी इस घोर कलियुगमे परम शोभनीय काशीपुरीमें पुण्यसलिला भागीरथी स्थिररूपसे हैं और जहाँ मोक्षाभिलाषी संन्यासीगण तथा ज्ञान-प्रदाता सब श्रेणीके विद्वज्जन इसकी महिमाको घोषित कर रहे हैं। जिस पवित्र काशीके दर्शनके लिये भारतवर्ष अर्थात् पृथिवीके सब धनी मानी ज्ञानीजन बड़े उत्साहसे आया करते हैं और यहाँसे ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा रखते हैं। ऐसे अतिपवित्र महान् प्रभावशाली जनपदके महाराजा होनेसे श्रीमान् भारतखण्ड अर्थात् हिन्दुस्तानके समस्त राजन्यवर्गके माननीय महाराजाधिराज हैं। देश-कालके और सामयिक राजनीतिके प्रभावसे चाहे कितना ही परिवर्तन क्यों न हो; परन्तु आपका सम्मान और पदगौरव सदा एक समान रहेगा।

सनातनधर्म और आर्यसंस्कृति स्वाभाविक और चिरस्थायी है। आर्यजातिको चिरजीवी एवं विजयी बनानेके लिये उसकी वर्णाश्रमशृंखला अभेद्य दुर्ग है। कलियुगके अन्तपर्यन्त इस जातिकी सुरक्षा कैसे होगी, इसका वर्णन देवीभागवत, विष्णुभागवत और अणुभागवत, जैसे शास्त्रोंमें अच्छी तरहसे मिलता है। इस जातिकी सुरक्षाके विषयमें शास्त्रोंमें स्त्रीजातिका प्राधान्य सिद्ध किया गया है। जबतक आर्यजातिमें आर्यमहिलाओंकी पवित्रता बनी रहेगी तबतक संसारकी कोई शक्ति इसको हानि नहीं पहुँचा सकेगी। इन्हीं शास्त्रोक्त सिद्धान्तोंको लक्ष्यमे रखकर अखिल भारतीय श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की स्थापना सन् १९१९ में हुई है। तबसे यह संस्था भारतीय आर्यमहिलाके गौरवमय प्राचीन आदर्शकी रक्षा और प्रचारके लिये "आर्यमहिला" पत्रिका विभाग, असहाय वृद्धा स्त्रियोंकी सहायताके लिये आर्यमहिला-अन्नसत्रविभाग, गृहदेवियोंमें धार्मिक शिक्षाप्रचारके लिये धर्मसेविका विद्यापीठ उपाधि-परीक्षाविभाग, आर्यजाति विशेषतः आर्यमहिलाओंकी प्राचीनसंस्कृति और मर्यादा-रक्षाके लिए रक्षाविभाग, सत्शिक्षा-विस्तारके लिए पुस्तक-प्रणयन तथा प्रकाशनविभाग, और कन्याओंमें

उचित आधुनिक शिक्षाके साथ साथ उनके जीवनके उपयोगी उत्तमशिक्षा-विस्तारके लिये आर्यमहिला-महाविद्यालय इन्टर कालेजविभाग, इन छः कार्यविभागों द्वारा सतत प्रयत्न करती आरही है। सन् १९२५ में श्रीमान्‌के प्रतापी पुण्यवान् पितृ-देवके करकमल द्वारा इसके आर्यमहिला अन्नसत्रका उद्घाटन हुआ था, और पुनः सन् १९३८ में उनके शुभागमनसे यह आपका आर्यमहिला-महाविद्यालय गौरवान्वित हो चुका है, सो श्रीमान् जानते ही हैं। श्रीमान् कृपाकर आज इस संस्थामें पधारे हैं। हम श्रीमान्‌का इस शुभ अवसरपर हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि स्त्रियोंकी प्राचीन संस्कृतिरक्षाके समुद्योगमें तत्परा इस एकमात्र संस्थापर श्रीमान्‌की कृपादृष्टि सदा बनी रहेगी।

करुणावरुणालय भगवान् श्रीविश्वनाथके चरणोंमें हमारी आन्तरिक प्रार्थना है कि श्रीमान् जैसे सनातनधर्म एवं आर्यसंस्कृतिके समुज्ज्वल-प्रतीक, धर्मपरायण, सदाचारी नरपति दीर्घायु हों और श्रीमान्‌का सुयश भारतमें सर्वत्र व्याप्त हो।

विनीत—

अखिल भारतीय श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्‌के पदाधिकारी तथा सदस्य एवं सदस्याएँ।

—❧—

अभिनन्दनपत्र

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

परम माननीय श्रीमान् हिज एक्सलेन्सी सर होमी मोदी महोदय, गवर्नर संयुक्तप्रान्तकी सेवामें—

महामान्य महोदय,

सैकड़ों वर्षोंकी पराधीनताके कष्टोंको सहकर अब भारत पूर्ण स्वाधीन हो गया है, इसके लिये सबसे पहले उस परम मङ्गलमयी जगदम्बाको श्रद्धा और भक्तिभावसे धन्यवाद देना हम अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। उन्हींकी कृपासे हिन्दू-जातिके लिये अत्यन्त महत्वके इस संयुक्त प्रान्तके आप जैसे शान्तिप्रिय, बहुदर्शी अर्थशास्त्रके मर्मज्ञ, शिक्षानुरागी, समदर्शी नारीजातिका उत्कर्ष चाहनेवाले महापुरुष सुयोग्य प्रधान शासक हैं, यह हमारे बड़े आनन्दका विषय है। आज आपका हार्दिक स्वागत और अभिनन्दन करते हुए हम प्रसन्नतासे फूले नहीं समा रहे हैं। परम करुणामयी ब्रह्ममयी जगन्माताके चरणोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि, आप दोनों दीर्घायु हों, दीर्घकाल तक इस पदपर प्रतिष्ठित रहें और आर्यमहिलाओंके कल्याणकार्यमें सहयोग देते रहें।

कोई जाति जब पराधीन हो जाती है, तब वह आँखें मूँदकर विजेताओंका अनुकरण करने लगती है। वह यह नहीं देखती कि वह अनुकरण हमारे देशकी परम्परा, जलवायु और प्रकृतिके अनुकूल है या नहीं। शिक्षाक्षेत्रमें हमारी भी यही स्थिति है। हमारे पूर्वज महर्षियोंने शिक्षाके सम्बन्धमें बहुत गम्भीर विचार किया है और उसमें वे सफल भी हुए हैं। उनका सिद्धान्त है कि जिस जाति और जिस व्यक्तिमें जिस विशेषताका बीज विद्यमान हो उसके अनुसार उसकी शिक्षाकी व्यवस्था होनेसे उस जाति तथा व्यक्तिका कल्याण हो सकता है। संसारकी सब जातिकी शिक्षा-प्रणाली किसी एक ही साँचेमें ढाली नहीं जा सकती। प्रकृति (नेचर) की नकल करना आर्ट है और उसपर प्रभुत्व स्थापन करना साइन्स कहाता है। आज इसीका बोलबाला है, क्योंकि इसमें असाधारण चमत्कार देख पड़ते हैं, चाहे वे सत् हों या असत्, जीवरक्षक हों या जीवनाशक। हमारे पूर्वजोंका ध्यान उस शिक्षाकी ओर रहा है, जिससे अन्तर्जगत् अर्थात् प्रकृतिसे परेकी बातें जानी जा सकें और अन्तमें श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंमें पहुँचा दे। दार्शनिकशिक्षासे ही यह कार्य हो सकता है और इस समय इसीकी आवश्यकता है। अब समय आगया है और इसी शिक्षासे जगत्‌का मंगल हो सकता है।

काशी हिन्दुधर्मावलम्बियोंका विद्या और धर्मसम्बन्धी सबसे बड़ा केन्द्र रहा है और अब भी है। यहाँ सन् १९१९ में आपकी अखिल भारतीय श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्‌की स्थापना इस उद्देश्यसे हुई थी कि, इसकेद्वारा भारतीय देवियोंके प्राचीन गौरवमय आदर्शकी रक्षा और प्रचारके साथ-साथ विधवाओंकी रक्षा एवं कन्याओंमें उत्तम गृहिणी तथा आदर्श माता बननेके उपयोगी शिक्षाका प्रचार हो सके। क्योंकि आजकी कन्याएँ ही भविष्यकी गृहिणी तथा

माताएँ बनेगीं । महापरिषद् गत तीस वर्षोंसे अनाथ असहाय महिलाओंकी सहायताके लिये आर्यमहिला-अन्नसत्रविभाग, उपरोक्त सिद्धान्तोंके प्रचारके लिये "आर्यमहिला" मासिकपत्रिका-विभाग, गृहस्थ महिलाओंमें धार्मिक शिक्षाप्रचारके लिये धर्मसेविका विद्यापीठ उपाधि-परीक्षाविभाग, आर्यजाति विशेषतः आर्यमहिलाओंकी प्राचीन संस्कृति एवं गौरवरक्षाके लिये रक्षाविभाग, सत्-शिक्षाविस्तारके लिये पुस्तक-प्रणयन तथा प्रकाशन-विभाग और कन्याओंमें आधुनिक उपयोगी शिक्षाके साथ-साथ स्त्री-उपयोगी उत्तम शिक्षा-विस्तारके लिये आर्यमहिला-महाविद्यालय इन्टर-कालेज विभाग, इन छ कार्यविभागों द्वारा स्त्री-समाजकी यथाशक्ति सेवा करती आरही हैं।

श्रीमान्‌ने इस संस्थामें पधारकर संस्थाको गौरवान्वित किया और हमारे उत्साहको बढ़ाया है, इसके लिये हम विनम्र होकर कृतज्ञता प्रकट करते हैं, और आशा ही नहीं, विश्वासभी रखते हैं कि, आप दोनों इसकी ओर अपनी कृपादृष्टि बनाये रहेंगे और भारतव्यापी सुयश तथा दैवजगत्‌की कृपा प्राप्त करते रहेंगे।

विनीत—

अखिल भारतीय श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद्‌के पदाधिकारी सदस्य एवं सदस्यायें

—❧—

हिन्दूकोड बिलके विरोधमें आर्यमहिलाओंकी ललकार

विगत २६ नवम्बरको आजादपार्कमें अखिल-भारतीय-महिला—संघकी अध्यक्षा राजकुमारी प्रभावती राजेने हिंदूकोडका विरोध करतेहुए अपने ओजस्वी भाषणमें बतलाया कि चरित्रवान्, मनुष्यत्वको बचानेवाला और राष्ट्रका भूषण है। जिस प्रकार हजारों काक और बगुलोंसे तड़ाग शोभा नहीं पाता, उसी प्रकार हजारों दुश्चरित्र व्यक्तियोंसे देशका गौरव नहीं बढ़ता। किन्तु जैसे एक ही राजहंस सरोवरकी अद्भुत शोभा बढ़ानेमें कारण बनता है वैसे एक सच्चरित्र और सदाचारी व्यक्ति राष्ट्रके मस्तकको ऊँचा कर सकता है। भारतीय ललनाएँ सीता और सावित्रीके परमपवित्र चरित्रको अपना आदर्श मानती हैं। परन्तु दुःखके साथ कहना पड़ता है कि सरकार कोड बिल बनाकर उस आदर्शको, उस पुनीत चरित्रको खतम करने जा रही है। मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि अपने चरित्र एवं आदर्शकी रक्षा करना हमारा अधिकार है, इसलिए हम हर तरहसे उसकी रक्षा करेंगी। जो कानून हमारे विवेक-विज्ञानपर परदा डालनेवाला तथा धर्म और चरित्रको भ्रष्ट करनेवाला है उसे हम मिटाकर छोड़ेंगी। किसीकी ताकत नहीं कि वह काले कानूनों द्वारा हमारी इज्जतको बिगाड़े। ब्रिटिश एवं मुगलोंके शासनकालमें भी जो अत्याचार न हुआ वह आज हमपर नारकीय हिन्दू कोड जैसा काला कानून बनाकर किया जा रहा है। इस बिलसे दुखी महिलाओंका दुख और दुराचारियोंका दुराचार घटेगा नहीं, प्रत्युत उसमें और भी वृद्धि होगी। सरकार बलपूर्वक हिन्दू कोड पास करके हमारे धर्म, सदाचार और प्रेमकी होली न जलाये।

अबला कही जानेवाली नारियाँ परम सबला हैं। उन्होंने अपने पातिव्रत्य धर्मके प्रभावसे सूर्य और चन्द्रके अद्भुत तेजको भी मात किया है। उनके ही दूधसे पले हुए राणाप्रताप तथा शिवाजी आदिने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है। हम सरकारसे नम्रनिवेदन करती हैं कि वह हिंदूकोड बिलको रद्द करदे अन्यथा हमें विवशहोकर सत्याग्रह करना पड़ेगा। राजकुमारीजीने देशवासियोंसे अपील करते हुए यह कहा कि अस्पतालमें पड़े-पड़े मर जानेसे धर्मकी रक्षाके लिए युद्धमें मर जाना कहीं लाखगुना अच्छा है और स्वर्गमें जानेका सरल मार्ग है। इसलिए अगर सरकारने इस काले कानूनको पास किया तो सभी देशवासियोंको प्राणपणसे इसका विरोध करना चाहिये।

श्रीमती कृष्णादेवीने अपने भाषणमें बतलाया कि कोडबिल द्वारा हमारे सनातन धर्मपर प्रहार किया जा रहा है। कुछ अँग्रेजी पढी लिखी स्त्रियां जो वस्तुतः न घरकी हैं न घाटकी, वही इस बिलका समर्थन कर रहीं हैं, बाकी समस्त भारतीय महिलाएँ कोडबिलका जोरदार विरोध कर रहीं है। जहां पाकिस्तानी आक्रमणका भय और काश्मीरकी उलझन देशके सामने है. वहां हिंदूकोड जैसे विवादग्रस्त मामलेको उठाकर सरकार व्यर्थ पचड़ेमें पड़ रही है। विदेशी शिक्षामें पले हुए जो लोग हमपर हिंदू कोड लादना चाहते हैं, उन्हें हम सावधान कर देना चाहती हैं कि आज भी हमें जौहरका व्रत भूला नहीं है, हम अपने पवित्रयशको कभी भी कलंकित न होने देंगी। अगर कोडबिल पास हुआ तो हम एक हाथमें कफन और दूसरे हाथमें धर्म-ध्वज लेकर अपने सतीत्वकी रक्षाके लिए मैदानमें कूदेंगी और एक बार पुनः यह दिखलायेंगी कि नारियोंकी पवित्र शक्तिके सामने सारी शक्तियां किस प्रकार कुण्ठित हो जाती हैं।

कुमारी लीला पुष्करणीने अपने ओजस्वी भाषणमें कहा कि सरकार हिंदूकोड बिल पास करके हमपर विपत्तियोंका पहाड़ न लादे। जो लोग मनमाने कानूनोंको बनाकर हमारे सतीत्वका अपहरण करना चाहते हैं, वे कान खोलकर सुन लें कि भारतकी देवियां किसीको छेड़ती नहीं और जो उन्हें छेड़ना है उन्हें छोड़ती नहीं। हमने दोनों हाथमें नंगी तलवारोंको लेकर मुगलोंके दांत खट्टे किए हैं और अंग्रेजोंके छक्के छुड़ाये हैं। अगर दुष्टता पूर्वक हमपर कोडबिल लादा गया तो एक बार-हम फिर चंडीका रूप धारण करेंगी।

श्रीस्वामी करपात्रीमहाराजका माननीय प्रधान मन्त्री पं० नेहरूजीको पत्र

स्वस्ति श्री प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरूजी, नारायण स्मरण।

केन्द्रीय धारा-सभामें गत २८ नवम्बरका हिन्दूकोड सम्बन्धी आपका वक्तव्य मैंने गम्भीर वेदना और खेदके साथ पढ़ा। इसमें आपने घोषणाकीथी कि यह बिल सरकारके बने रहने अथवा पदच्युत होनेका प्रश्न है', आपने यह भी कहा था कि 'इसे यथासम्भव अधिकतम बहुमतसे स्वीकृत कराये जानेका यत्न किया जायेगा, पर यदि ऐसा न हो सका तो सरकार इसे इसी रूपमें कार्यान्वित करेगी।' क्रमशः प्रत्येक प्रश्न पर निम्नलिखित विचार उपस्थित करता हूं।

वर्त्तमान धारा-सभाने हिन्दूकोड बनानेके लिये मतदाताओंका संकेत कभी नहीं प्राप्त किया। ऐसी स्थितिमें किसी जातिके सामाजिक कानूनको, जिस पर मतदाताओंको अपनी सम्मति प्रकट करनेका अवसर न मिला हो, सरकारके प्रति विश्वास या अविश्वासका आधार मान लेना वैधानिक अत्याचार है।

किसीभी शासनारूढ़ सरकारको अपने संकेत पर नाचनेवाले अनुगामी सदा मिल ही जाते हैं, किन्तु उनकी स्वीकृति कभी सार्वजनिक स्वीकृति नहीं हो सकती और ऐसे सन्दिग्ध उपायोंका आश्रय लेना नीतिमत्ता नहीं। आपकी यह धमकी है कि 'सर्व-सम्मत समझौता न होनेपर सरकार इसे इसी रूपमें पास कर देगी', पर यह दबाव हार्दिक सार्वजनिक स्वीकृतिको असम्भव बना देता है। हिन्दूकोड हिन्दूधर्म, संस्कृति और समाज-रचनाके मूलपर कुठाराघात है। इसने देशमें तीव्र विरोध जागृत कर दिया है। अमीर, गरीब, नर, नारी आदि सभी वर्गोंने इसकी घोर निन्दाकी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सनातनी, आर्यसमाजी, सिख, जैन आदि सभी सम्प्रदायोंके व्यक्तियोंने इसका संघटित विरोध किया है।

सरकारकी हिन्दुओंके प्रति सहानुभूति-शून्य नीतिसे देश भरमें अत्यधिक क्षोभ है। स्वतन्त्र भारतकी राष्ट्रीय सरकारका सर्वप्रथम कर्त्तव्य गो-वधको रोकना था। गौओंकी हत्या हिन्दूओंके हार्दिक भावोंको गहरी चोट पहुँचाती है। इन भावोंकी अवहेलना कर सरकारने न केवल गो-वध जारी रखा प्रत्युत बम्बईके पास वह एक नया बूचड़खाना खोलनेका आयोजन कर रही है। आप यह जानते ही होंगे कि सरकारके इन और ऐसे ही कर्त्तव्य-शून्य और कर्त्तव्य-विरुद्ध कृत्योंसे जिनमें काश्मीर समस्या, शरणार्थी समस्या, तथा आर्थिक समस्या मुख्य हैं, जनमत अत्यन्त क्षुब्ध है। आपको यह भी स्मरण होगा कि अप्रैल १९४७ में एक शान्तिपूर्ण आन्दोलन धर्म युद्धके

नामसे चला था जिसके उद्देश्य—गोवध बन्दी, भारत-विभाजनका विरोध, और उसकी अखण्डता स्थापनका अनुरोध तथा धार्मिक विषयोंमें सरकारी हस्तक्षेप न करना, मुख्य थे। मथुरा म्युनिसिपैलिटी द्वारा गोवध बन्दीका प्रस्ताव स्वीकृत किये जाने एवं विशेषतया देश विभाजन-जन्य अपनी नवजात स्वतन्त्रताकी शिशु-सरकारकी कठिनाइयोंका ध्यान रखकर उस समय वह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया था। तभीसे सरकारके हाथ दृढ़ करने और गोवध बन्दी तथा हिन्दूकोड बिल विरोधकी मांग वैधानिक रूपसे सरकारके आगे रखनेके लिये जनता को मैं प्रेरित करता रहा।

वैधानिक मार्गानुसरण केवल इसी विश्वास पर किया गया था कि सरकार इस प्रकार उपस्थित मांगों पर अवश्य ध्यान देगी और साथ ही मैंने सरकारद्वारा हिन्दूकोड, गोहत्या बन्द किये जाने पर अपने आपको कांग्रेस प्रचारार्थ गांव गांव घूमनेके लिये प्रस्तुत किया। किन्तु सरकारकी वज्र तुल्य नीतिने, जिसे धारा-सभाके वक्तव्यने प्रकट कर दिया, मेरे विश्वासको तीव्र धक्का लगाया है। यदि सरकार वैधानिकताका मूल्य न समझे तो क्या वैधानिक आंदोलनसे कोई लाभ है, विशेषतया जब कि धर्मनिरपेक्ष कही जाने वाली सरकार जनताके सबसे बड़े भागके धार्मिक विषयोंमें कानून बनाना अपना अधिकार मान ले?

अतः मैं व्यक्तिगत रूपसे निवेदन करता हूं कि जनताकी मांगको मानकर हिन्दूकोड बिल लौटा लें और गोवध शीघ्र ही सर्वथा बन्द कर दें। मैं उन लोगों की करुण पुकार आपके कानों तक पहुँचा रहा हूं जिन्होंने आपको इतने ऊंचे पद पर बैठाया है। मैं हृदयसे चाहता हूँ कि आप इस पुकार पर ध्यान दें और शीघ्र उचित कार्यवाही करें। यदि दुर्भाग्यवश आपने कुछ न किया तो मैं हृदयमें गम्भीर निराशा रखकर जनताको शान्ति पूर्ण अहिंसात्मक आन्दोलन करनेका आदेश देनेके लिये बाध्य हो जाऊंगा, जिससे लोकतन्त्र विरुद्ध, धर्म निरपेक्षता-रहित और उत्तरदायित्व-शून्य सरकारके हृदयको जनताके कष्ट और तपस्यासे पिघलाया जा सके।

यह पत्र मैं अपने देश, अपनी सरकार और समस्त विश्व पर मण्डराने वाली विपत्तियोंके निवारण और सबके कल्याणकी भावनासे प्रेरित हो आपको भेज रहा हूँ।

अखिल भारतीय धर्म संघ,
निगमबोध घाट,
दिल्ली।
ता० १५-१२-४९

भवदीय—
करपात्री स्वामी

महापरिषद् संवाद।

आर्यमहिला—महाविद्यालयका १७ वाँ वार्षिकोत्सव

जगत्पावनी ब्रह्ममयी महामाया श्रीसरस्वती देवीकी अपार करुणासे स्थानीय श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद् द्वारा संस्थापित और संचालित श्रीआर्यमहिला महाविद्यालय (इन्टर कालेज) का सत्रहवाँ वार्षिकोत्सव आर्यमहिला महाविद्यालयके विस्तीर्ण और रमणीय भवनमे ता० ५, ६ और ७ नवम्बरको बड़े उत्साह और सफलताके साथ मनाया गया। नगरके अनेक प्रतिष्ठित पुरुष और महिलाएँ उपस्थित थीं। सभा भवन और उद्यान बन्दनवार, तोरण तथा ध्वजाओंसे सजाया गयाथा। दर्शकोंसे भवन भर गया था। दूसरी ओर विद्यालयकी छात्राएँ और

अध्यापिकाएँ बैठी थीं। सब प्रबन्ध प्रशंसनीय था।

ता० ५ को युक्त प्रान्तके गवर्नर महामान्य सरहोमी मोदी अपनी पत्नीसहित ठीक ४ बजे विद्यालयमें पधार गये थे। छात्राओंकी हस्तकला प्रदर्शिनीका अवलोकन करते हुए उन्होंने ४-१५ बजे सभाभवनमे प्रवेश कर सभापतिके आसनको अलंकृतकिया। छात्राओंने प्राथनाके अनन्तर स्वागत-गान गाकर श्रीहोमी तथा लेडी होमीको गोटेकी सुन्दर मालाएँ पहनायीं। अनंतर संस्थाकी संस्थापिका तथा संचालिका श्रीमती विद्यादेवीजीने एक अभिनन्दनपत्र पढ़कर उनको अर्पण किया, जो अन्यत्र प्रकाशित हुआ है। फिर विद्यालयकी प्रधानाध्यापिका (प्रिंसिपाल) श्रीमती सुन्दरीदेवीने संस्थाको गत १७ वर्षको संक्षिप्त कार्य विवरण में बताया कि, इस विद्यालय-से सात सौसे अधिक आर्य बालाएँ लाभ उठा रही हैं। साधारण व्यावहारिक शिक्षाके साथ ही साथ धार्मिक शिक्षाका इस विद्यालयमें विशेष रूपसे प्रबन्ध किया गया है, यही इस विद्यालयकी विशेषता है।

विद्यालयके अनेक उपयुक्त विभाग हैं, जिनमें नार्मल विभाग बहुत ही महत्वका था। शिक्षा विभागके नियमानुसार दो वर्ष अध्यापन कलाकी शिक्षा प्राप्तकर छा त्राएँ एच० टी० सी० की परीक्षामें सम्मिलित होतीथीं। अबतक इस विभागके द्वारा डेढ़सौसे अधिक अध्यापिकाएँ तैयार हुईं, जो प्रान्तके विभिन्न भागोंमें सफलता-पूर्वक अध्यापनका कार्य कर रही हैं। परन्तु खेद का विषय है, सरकारी सहायता बहुत कम मिलनेसे इस वर्षसे इस विभागको बन्द करना पड़ रहा है।

विद्यालयके साथ एक छात्रा-निवासभी है, जिसमें प्रत्येक छात्रा प्रतिशुक्रवारको अन्न-पूर्णा प्रतिमा और तुलसी पूजन किया करती हैं। विद्या-लयके अन्नपूर्णा मन्दिरमें आरतीके समय प्रतिदिन छात्राएँ नियमित रूपसे स्तुति तथा प्रार्थनामें सम्मिलित होती हैं। प्रयत्न यह किया जाता है कि, छात्रावास और विद्यालयका वातावरण पूर्ण धार्मिक बना रहे तथा यहांसे उत्तीर्ण छात्राएँ उत्तम गृहिणी और आदर्श माताएँ हों। छात्राओंकी संख्या बढ़ जानेसे छात्रा—निवासके बढ़ानेकी नितान्त आवश्यकता है।

छात्राओंका स्वास्थ्य सुधारनेके लिये विद्यालय-के क्रीडाङ्गणमें छात्राओंके खेलने-कूदनेकी व्यवस्था भी की गयी है। एक पुस्तकालय भी है, जिसमें कई हिन्दी-अंग्रेजीके समाचार पत्र आया करते हैं। छात्राओंके आने जानेके लिये मोटर बसका प्रबन्ध है। एक छात्रा सहायक कोष स्थापित किया गया है, जिसके द्वारा बुद्धिमती निर्धन ८० छात्राओंको सहायता दी जाती है। एक छात्रा परिषद् छात्राओंने ही बनायी है जो नारीसमाज-की सेवाके लिये सन्नद्ध रहती है और वादविवाद, अन्त्याक्षरी, धार्मिक विषयोंकी आलोचना, अभि-नय आदि मनोरंजक कार्यक्रम किया करती है।

विद्यालय और छात्रा—निवासके भवन बढ़ाने तथा अन्य आवश्यक सामग्रीके जुटानेके लिये आर्थिक अड़चन बहुत अखर रही है। आजकी परिस्थितिमें चन्देसे धन एकत्र करना कठिन हो गया है और सरकार आंख कान बन्द किये हैं। नयी सहायता देना दूर रहा, जो सहायता सरकार देती है, उसमेंसे भी बहुत सा रुपया बकाया पड़ा है। इस एकमात्र और उपयुक्त संस्थाकी उपेक्षा करना सरकारी शिक्षा विभागके कर्णधारोंको शोभा नहीं देता। विवरण पढ़ाजानेके उपरान्त संगीत वर्गकी कुछ बालिकाओंने भूपकल्यान राग-का ध्रुवपद गाकर सुनाया।

तत्पश्चात् श्रीमोदीजीने छोटासा भाषण किया, जिसमें संस्थाके प्रति उन्होंने पूर्ण सहानुभूति प्रकटकी। आपने कहा:—"मैं जिस प्रान्तमें रहता हूं, वहाँ जिस भाषामें आपने मुझे आमन्त्रण दिया है, वह हिन्दी भाषा नहीं बोली जाती। मुझे खेद है कि, मैं हिन्दीमें नहीं बोल सकता।

हिन्दी राष्ट्रभाषा होनेजा रही है, अतः मैं उसको सीख लेनेका प्रयत्न करता हूं। इस प्रान्तमें जहाँभी मैं गया वहांकी निर्धनताकी परिस्थिति देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ; परन्तु जब ऐसी संस्था देखताहूं, जहाँकी सुव्यवस्था प्रशंसनीय है। प्रसन्नताभी होती है। मुझे इन प्रसन्न और साफ़ सुथरी बालिकाओंको देखकर बड़ा आह्लाद हो रहा है। बड़ी कठिनाईसे हमें स्वतन्त्रता मिली है और देशोन्नतिके लिये हमें आगेभी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा बालिकाओंको हस्त कौशल और पदार्थ विज्ञानकी भी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे आगे चलकर वे आदर्श गृहिणी और माताएँ बन सकें तथा अपना और अपने बच्चोंका जीवन सुखमय बना सकें आपने मेरा स्वागत किया, इसके लिये मैं कृतज्ञ हूं। इस संस्थाके साथ मेरी सदा सनानुभूति बनी रहेगी' ''।

अन्तमें परिषद्के मन्त्रीने संस्थाका संक्षिप्त इतिहास निवेदन करते हुए श्रीमोदीजीको धन्यवाद दिया और बालिकाओंके 'वन्देमारम्'के साथ पहले दिनका कार्य समाप्त हुआ।

दूसरा दिन

दूसरे दिन ता० ६ को दिनके २ बजेसे निश्चित कार्यक्रम आरंभ हुआ। मनोनीत सभापति हिजहाईनेस श्रीमान् काशीनरेश महाराज विभूतिनारायणसिंहजी बहादुर ठीक २ बजे महाविद्यालयमें पधारे, जिनका विद्यालयके द्वारपर सञ्चालकोंने बड़े प्रेमसे स्वागत किया महाराजने आगे बढ़कर विद्यालयकी छात्राओंके हस्त कौशलकी प्रदर्शनीका निरीक्षण किया और सभाभवनमें पधार कर सभापतिका आसन सुशोभित किया। कलसे भी आज दर्शकोंकी संख्या अधिक होनेसे उत्सवमें बड़ी शोभा आगयी थी। वातावरण शान्त और प्रसन्न था। आरम्भमें मङ्गलाचरण स्वागत गान होने पर संस्थाकी सञ्चालिका श्रीमती विद्यादेवीजीने एक अभिनन्दन-पत्र पढ़ा, जो अन्यत्र प्रकाशित किया गया है। तदनन्तर विद्यालयकी प्रधानाध्यापिका श्रीमती सुन्दरीदेवी एम. ए. ने विद्यालयका कार्य विवरण पढ़ सुनाया और श्रीमान् महाराजबहादुरने अपनेहाथोंसे सुयोग्य छात्राओंको पुरस्कार देकर उनका उत्साहवर्धन किया तदनन्तर बालियोंका संस्कृतमें कथोपकथन हुआ। विवाद का विषय था, 'हिन्दूकोडबिल'। आर्य बालाओं और सुधार वाली बालाओंमें वाद-विवाद होनेपर दोनोंपक्ष इस बात पर एक मत हो गये कि, सर्व साधारणसे प्रार्थनाकीजाय कि, हिन्दू कोडबिल रद् कराके आर्यमहिलाओंको इस संकटसे बचाया जाय। श्रोताओंको इस वाद—विवादमें बड़ा आनन्द आया। छोटी छोटी बालिकाओंने 'यदि आज मैं कलेक्टर होता!' इस विषयपर बड़ा ही सरस और व्यंग पूर्ण कविता पाठ किया। ध्रुव पद-गान और भजन गाये जानेके पश्चात् एक अंग्रेजी और एक हिन्दी लघु अभिनय दिखाया गया। अंगरेजी अभिनयका विषय था; मेवाडकी कृष्णकुमारीका विषपान। उसने आर्यमर्यादाकी रक्षामें विष पी लिया, किन्तु यवनोंसे सम्बन्ध कर अपने पवित्र कुलको कलङ्क नहीं लगने दिया। हिन्दीमें पन्नादाईका अभिनय किया गया उस स्वामिभक्त सेविकाने राजकुमारकी रक्षामें अपने पेटके बच्चेका बलिदान करदिया दोनों अभिनय बड़े ही प्रभावोत्पादक थे। बालिकाओंका सम्मिलित वाद्यवादन (आर्केस्ट्रा) और गर्बानृत्यभी अत्यन्त आकर्षक और प्रशंसनीय हुआ। तदुपरान्त श्रीमान् काशी नरेशका सुश्राव्य और मननीय भाषण हुआ।

अन्तमें श्रीमान् काशी नरेशको धन्यवाद दिया गया तथा सम्मिलित बालिकाओंके नृत्य और 'वन्देमातरम्' गीत गाया जानेपर उत्सवके द्वितीयदिनका कार्य सानन्द समाप्त हुआ।

तीसरादिन

तृतीय दिवस केवल महिलाओंके लिये था

उत्सव मनानेवाली विद्यालय की छात्राएँ, अध्यापिकाएँ और कार्य सञ्चालिकाएँ तो थीं ही, दर्शिकाओंमें पर नगरकी एक हजारसे भी अधिक महिलाएँ बहुत उत्साहसे सम्मिलित हुई थीं। इन देवियोंकी उपस्थितिसे सभाभवन लक्ष्मीविलास जैसा प्रतीत होता था। अपनी जाति (नारी जाति) की सर्वांगीण उन्नतिके लिये जो संस्था स्थापित हुई और कार्यकर रही हो, उसके उत्सवमें प्रतिष्ठित गृहदेवियोका सोत्साह भागलेना उनके लिये भूषणकी बात थी और यह स्वाभाविक भी था।

सभानेत्रीका आसन सुप्रसिद्ध सेठ श्रीमान् गोविन्ददास जौहरीजीकी धर्मपत्नीने ग्रहण किया था। ठीक दो बजे आपका स्वागत किया गया और आपने बड़ीयोग्यताके साथ सभाका कार्य सञ्चालित किया। मङ्गलाचरण और स्वागतगानके पश्चात् सभामें श्रीमती विद्यादेवीजीने यह प्रस्ताव उपस्थित किया:—"काशीकी आर्यमहिलाओंकी यह महासभा विधानपरिषदमें विचाराधीन हिन्दुकोडबिलका तीव्र प्रतिवाद करती है। सभाकी सम्मतिमें यह बिल पास होजाने पर हमारी प्राचीन संस्कृति, हमारा अतुलनीय पातिव्रत्य धर्म, हमारा गौरव और हमारी प्राचीन परम्परा नष्ट होजायगी। अतः यह सभा केन्द्रीय सरकारसे अनुरोध करती है कि, वह इस कालेकानूनको तत्काल रद्द करदे। प्रस्तावका श्रीमती सुन्दरी देवीने समर्थन किया और श्रीमती स्वदेश कुमारी गोकुलदास जौहरी, श्रीमती गोविन्दी बाई और श्रीमती तारा देवीके अनुमोदन करने पर सर्व सम्मतिसे प्रस्ताव पास हो गया।

तदुपरान्त विद्यालयकी बालिकाओंने 'मीराबाई' का सुन्दर अभिनय किया। एक तो मीराबाईका चरित्र ही अलौकिक है, दूसरे उनका अभिनय, बालिकाओंने किया, इससे अभिनयका सौन्दर्य बहुत बढ़ गया। अभिनयकी शिक्षा सुचारु रूपसे होनेके कारण सब अभिनेत्रियोंके काम प्रशंसनीय हुए। कुछ अभिनेत्रियोंको प्रतिष्ठित महिलाओंने पुरस्कारसे पुरस्कृत भी किया। अन्तमें सभानेत्रीको धन्यवाद, गर्वानृत्य और 'वन्देमातरम्' गीत गाया जानेके अनन्तर आजका उत्सव कार्य समाप्त हुआ, इस प्रकार आर्य महिला महाविद्यालयका १७ वाँ वार्षिक-उत्सव बड़े समारोह, उल्लास और सफलताके साथ सम्पन्न हुआ। इसे सफल बनानेमें प्रिन्सिपाल सुन्दरी देवी और उनकी सहकारिणियोंने बहुत परिश्रम किया, जिसके लिये वे प्रशंसाकी पात्र हैं।

—*—

अपनी बात

भावी कर्तव्य

गत २८ नवम्बरको केन्द्रीय धारासभामे श्रीमान् पं० जवाहर लाल नेहरूजीने हिन्दूकोड बिलके सम्बन्धमे जो अपना वक्तव्य दिया था, उसके द्वारा उन्होने उक्त बिलको पास करानेके लिये अपनी सरकारकी बाजी लगादी थी। उन्होंने कहा था कि, यदि यह बिल स्वीकार नहीं किया गया तो उनकी सरकार पद त्याग करेगी। नेहरूजीके इस पदत्यागकी धमकीसे ही यह निःसन्देह सिद्ध होता है कि, उनको धारासभाके सदस्योंमें भी इस बिलके सम्बन्धमें बहुमत पानेमे सन्देह था। फल वही हुआ जो नेहरूजी चाहते थे और धारासभामें बहुमतसे हिन्दूकोड बिलपर विचार करना स्वीकृत हो गया। पद त्यागके पिस्तौलसे नेहरूजीने बाजी जीत ली। बिलके समर्थनमें मत देने वाले सदस्योंने अपने कोटि-कोटि देशवासियोंका मत तो नहीं दिया, किन्तु अपना व्यक्तिगत मत दिया। और करोड़ों देशवासी बन्धुओंके साथ विश्वासघात किया। कौन्सिल भवनके सामने शान्ति पूर्णभावसे अपना विरोध-प्रदर्शनके लिये एकत्रित एक बहुत बड़ी भीड़ पर जिसमें अपने छोटे-छोटे शिशुओंको गोद लिये बड़ी संख्यामें महिलाएं भी थीं, पुलिस द्वारा लाठी प्रहार कैसा

निन्दनीय कृत्य भी कराया गया इस तरह जनतन्त्र सरकार द्वारा सशस्त्र पुलिसके सख्त पहरेके भीतर जनतन्त्रताका यह अभिनय समाप्त हुआ। अब हिन्दूसमाजको सोचना है कि, अपने धर्म और संस्कृति रक्षाके लिये आगे उसका क्या कर्तव्य है।

सामयिक सलाह

देशवासियोंकी इच्छाके विरुद्ध नेहरूजीने देशका विभाजन कराया, उसके परिणाम स्वरूप लाखों स्त्रियोंका सतीत्व लूटा गया, लाखोंने अपनी लज्जा तथा सतीत्व बचानेके लिये अग्नि तथा जलमें अपने प्रिय प्राणोंकी बलि दी, हजारों आज भी मुसलमानोंके घरमें सड़ रही है। लाखों-लाखों मनुष्योंको जीवनसे हाथ धोना पड़ा और लाखों अपना सर्वस्व खो कर शरणार्थी बन गये। विभाजनके कारण यह जो जीवन, धन, धर्म, और सन्मानकी क्षति हुई, उसको क्या नेहरू सरकार कभी भी पूरा करनेकी क्षमता रखती है? देशके विभाजनके इस भयङ्कर परिणामकी विभाजनके पहले नेहरूजी तथा उनके समर्थकोंने कभी कल्पना भी नहीं की होगी, परन्तु अपने हितैषियोंकी सलाहको न मान कर यह जो अक्षमाजनीय भूल की गयी और उसका जो परिणाम हुआ, उसे देखनेके पश्चात् नेहरूजीने अपने भाषणमें कहा था कि देशके विभाजनके पहले इस विषयमें जनताका मत लिया गया होता तो अच्छा होता। नेहरूजीकी ऐसी उक्तिसे अनुमान होता है कि, अब वे उस भूलके लिये पछताते हैं। परन्तु अब पछतानेसे क्या होता है। सर्वनाश जो होना था, वह तो हो चुका। हिन्दूकोड बिलके सम्बन्धमे भी नेहरूजी तथा नेहरू सरकार इससे भी भयङ्कर भूल करने जा रही है। नेहरूजी अपनी व्यक्तिगत लोक—प्रियता तथा अपनी सरकारकी सारी शक्ति लगाकर हिन्दूकोडबिल पास करनेपर तुले हुए हैं, जैसा कि उनके ता० २८ नवम्बरके संघधारासभामें दिये हुए वक्तव्यसे स्पष्ट है। इस समय वे अपने हितैषियोंकी सलाह सुननेको भी तैयार नहीं हैं, परन्तु जब हिन्दूकोड बिल कानून बन कर हिन्दू जनतापर लागू हो जायगा और उसका जो भयङ्कर परिणाम होगा, उसका सारा उत्तर दायित्व नेहरूजी और उनकी सरकारपर होगा। सम्भव है, तब नेहरूजीको इसके लिये भी पश्चाताप हो, किन्तु इस बिलके द्वारा हिन्दूसमाजका जो सर्वनाश होगा, नेहरूजीके पछतानेसे उसकी पूर्ति क्या कभी हो सकेगी? आज नेहरू सरकार अपनी सारी शक्ति लगाकर भी विभाजनसे हुई क्षतिकी आंशिक पूर्ति करनेमें भी सक्षम हो सकी है? यदि नहीं, तो हमारा नेहरूजी तथा उनकी सरकारसे सविनय सादर साग्रह अनुरोध है कि ऐसी भूल फिर न दुहरावें और अब भी अपना अनुचित-हठ छोड़कर हिन्दूकोड जैसा धर्मघाती तथा हिन्दू जातिका मूलोच्छेद करनेवाला बिल वापस ले लेवें। इससे नेहरूजीकी मान-हानि नहीं होगी अपितु उनके देशबन्धुओंके हृदयमे उनका सन्मान और भी बढ़ेगा। नेहरूजी महात्मा गान्धीके उत्तराधिकारी कहे जाते हैं, और प्रायः अपने भाषणोंमें जनताको गान्धीजीके पथ पर चलनेके लिये परामर्श भी दिया करते हैं अतः उन्हें स्वयं गान्धीजीके पथका अनुसरण करना चाहिये। गान्धीजीमें सबसे बड़ी महत्ता और महात्मापन यह था कि वे अपनी भूल स्वीकार करनेमें कभी भी हिचकते नहीं थे। कई बार उन्होंने अपनी भूलें स्वीकार भी की। क्या नेहरूजी इसका अनुसरण करेंगे? आज सब श्रेणीकी जनतामे सरकारके प्रति क्षोभ और असंतोष छाया हुआ है, सरकारके सामने बड़ी बड़ी विकट समस्याएं भी हैं, ऐसे समयमें अनावश्यक अयाचित हिन्दूकोड बिल जिसका देशके कोने-कोनेसे व्यापक तथा प्रबल विरोध हुआ तथा होता रहा है, पास करना न तो नीतिज्ञता, न धर्मनिरपेक्षता, न लोकतन्त्रता और न न्याय ही है।

सतीका तेज

एक ओर हिन्दु संस्कृति और धर्म मिटानेके लिए हिन्दूकोड बिल बनाया जारहा है और समानाधिकारके लिए स्त्री समाजको भरपूर बहकाया जारहा है। दूसरी ओर भारतीय देवियां अपना अद्भुत चमत्कार दिखाकर लोगोंको आश्चर्यमें डालती रहती हैं। अभी तारीख २२ दिसम्बरका समाचार है कि महोली (सीतापुर) में पण्डित सरयूप्रसादके दामादकी मृत्यु होजानेपर उनकी नवविवाहिता पत्नीने सती होनेकी इच्छा प्रगट की। लोगोंके समझाने तथा पुलिस अधिकारियों द्वारा अग्नि देनेसे रोकने पर भी वह देवी अपने मृत पतिका सिर गोदमें लेकर चितामें बैठ गई। कुछ ही क्षणोंमें सभी उपस्थित जनताके देखते-देखते अग्निदेव स्वतः प्रगट हो गए और पति सहित सतीको आत्मसात करलिया। यह घटना सतीके ससुराल चमखरमें हुई। यह घटना अमृत बाजार पत्रिका तथा सन्मार्गके तारीख २४ दिसम्बरके अंकमें प्रकाशित हुई थी। धन्य है ऐसी देवियोंको जिन्होंने भारतका मस्तक आजतक जगतमें सबसे ऊंचा रखा है।

महापरिषद्का समयोचित सुझाव

श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की प्रबन्ध समितिकी ता० १७।१।५० की बैठक में निम्नलिखित मन्तव्य स्वीकृत हुआ है—

"सर्वशक्तिमान् भगवान्की असीम अनुकम्पासे हमारा भारतदेश ता० २६।१।५० को स्वतन्त्र जनतन्त्र राष्ट्र होने जा रहा है। भारतके भावी इतिहासमें यह बड़े सौभाग्य, गौरव तथा आनन्दका दिन होगा। इस शुभ अवसरपर श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की यह कार्य कारिणी समिति माननीय पं० जवाहरलाल नेहरू तथा नेहरूसरकारसे साग्रह प्रार्थना करती है कि, इस अद्वितीय आनन्दोत्सवके उपलक्षमें हिन्दूकोड-बिल जो हिन्दू जाति तथा हिन्दूधर्मका घातक है और नेहरू-सरकारकी धर्म-निरपेक्षतानीतिके सर्वथा विपरीत है, उसे वापस लेकर हिन्दूजनतामें व्याप्त घोर असंतोष तथा क्षोभको दूर करें।"

क्या हम आशा करें कि, जनतन्त्र नेहरूसरकार जनताकी भावनाओंका सम्मान करेगी और इस आनन्दोल्लासके अवसरपर हिन्दूकोड बिल वापस लेकर जनतन्त्रताका परिचय देगी?

❀ चिन्ता-नाशक चारु-चतुष्टय ❀

धर्म-तत्त्व

ऐसे स्कूल, कालेज और पाठशालाएँ जिनमें कि, धार्मिक शिक्षा देनेका नियम है, इस धर्म-ग्रन्थसे बहुत बड़ा लाभ उठा सकते हैं। यह धर्मग्रन्थ स्त्री, पुरुष, छात्र, छात्रा सभी वर्गके लिये समान हितकारी है। हिन्दू गृहस्थोंके घर-घरमें धर्मज्ञानकी ज्योति जगानेके लिये यह सर्वाङ्ग सुन्दर ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। इसके अध्ययन करनेसे आपको अपने धर्मका सुन्दर ज्ञान और गौरव प्राप्त होगा। मूल्य १=)

सती-सदाचार

(द्वितीय संस्करण)

दाम्पत्य जीवनको यदि सुन्दर, सरल एवं आदर्श बनाना है, तो आज ही इसकी एक प्रति आप अपने पास अवश्य रख लें। अधिक प्रशंसा व्यर्थ है। पुस्तक ही इसका पूर्ण परिचय आपको देवेगी। मूल्य लागत मात्र, केवल ।।।) आना।

सत् साहित्यका अध्ययन ही शान्ति प्राप्त करनेका एकमात्र साधन है

परलोक-तत्त्व

परलोक सम्बन्धी बातोंके जाननेकी किसे चिन्ता नहीं होती? किन्तु हिन्दीमें अबतक कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी, जिससे इस गूढ़ विषयपर अच्छा प्रकाश पड़े और सर्वसाधारणकी परलोक सम्बन्धी जिज्ञासा और कौतूहल मिट सके। इस पुस्तकने इस बड़ी भारी कमीको दूर किया है। इसे लीजिये और मृत्युके उपरान्त होनेवाली आश्चर्यमयी घटनाओंको पढ़कर अपने हृदयकी चिन्ताको दूर कीजिये। विशेष क्या— हिन्दीमें इस विषयकी कोई दूसरी पुस्तक अन्य नहीं। मूल्य ।।।=)

भारतधर्म-समन्वय

सनातनधर्म पृथ्वीके सब धर्ममार्गोंका सुहृद् है। सनातनधर्म किसी भी धर्मका विरोधी नहीं। इसके सिद्धान्त किसी न किसी रूपमें सब धर्म-मार्गोंके सहायक हैं। इस कारण परधर्म-विद्वेष दूर करके सनातनधर्मके उदार स्वरूपको सबके समक्ष रखनेके लिये इस ग्रन्थका प्रकाशन किया गया है। इसमें धर्मका सार्वभौमत्व, धर्मकी दार्शनिक व्याख्या, साधारण धर्म, विशेष धर्म-समन्वय आदि स्तम्भोंको पढ़कर आपका हृदय सनातनधर्मकी महत्तापर मुग्ध हो जायगा। यह ग्रन्थ केवल सब श्रेणीके विद्यार्थियोंका पाठ्य पुस्तक ही नहीं हो सकता है, अपितु सब श्रेणीके धर्म-प्रेमी विद्वानोंके लिए भी परमोपयोगी सिद्ध होगा। मूल्य १=)

मुद्रक व प्रकाशक—श्रीमदनमोहन मेहरोत्रा, आर्यमहिला कार्यालय, जगतगञ्ज, बनारससे
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशीमें छपवाकर प्रकाशित किया।

श्री आर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्‌की सचित्र मासिक मुखपत्रिका

आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष २००६ ❁ वर्ष—३१, संख्या १, २, ३ ❁ सितम्बर-नवम्बर १९४९

प्रधान सम्पादिका :—
श्रीमती सुन्दरी देवी, एम. ए., बी. टी.

जय जय गिरिबरराज किसोरी।
जय महेस मुख चन्द चकोरी॥
जय गजबदन षडानन माता।
जगत जननि दामिनि दुति गाता॥
नहिं तव आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाउ बेद नहिं जाना॥
भव भव विभव पराभव कारिनि।
बिस्व बिमोहनि स्ववस बिहारिनि॥
सेवत तोहि सुलभ फल चारी।
बरदायिनी पुरारि पिआरी॥

,गे,

धा रखी

अतिमास

"

विषय-सूची

आर्यमहिलाके नियम

१—'आर्य्यमहिला', श्री आर्य्यमहिलाहित-कारिणी-महापरिषद्‌की मुखपत्रिका है। महिलाओं-में धार्मिक शिक्षा, उनकी उचित सुरक्षा, आदर्श सतीत्व एवं आदर्श मातृत्व आदिका प्रचार करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।

२—महापरिषद्‌के सभी श्रेणीके सदस्योंको पत्रिका बिना मूल्य भेजी जाती है। साधारण सदस्यताका चन्दा पाँच रुपया वार्षिक है, जो अग्रिम मनीआर्डरद्वारा कार्यालयमें आ जाना चाहिये।

३—पत्रिका प्रतिमासके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होती है। इसका नववर्ष वैशाखसे प्रारम्भ होता है। सदस्य बननेवालोंको उस वर्षके पूरे अङ्क दिये जाते हैं। यदि कोई संख्या किसीके पास न पहुँचे तो १५ तारीख तक प्रतीक्षा करनेके पश्चात् तत्काल कार्य्यालयको सूचना देनी चाहिये और अपने डाकखानेसे जाँच करके वहाँका मिला हुआ उत्तर भी साथ ही भेजना चाहिये। समुचित समयपर सूचना न मिलनेपर कार्यालय दूसरी प्रति भेजनेमें असमर्थ होगा।

४—सदस्योंको अपना पूर्ण पता और सदस्य-संख्या स्पष्ट लिखनी चाहिये, अन्यथा यदि पत्रो-त्तरमें विलम्ब होगा तो कार्यालय उसका उत्तरदायी न होगा।

५—किसी सदस्यको यदि एक या दो मासके लिये पता बदलवाना हो तो डाकखानेसे उसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये, यदि सदा अथवा अधिक कालके लिये बदलवाना हो तो उसकी सूचना कार्यालयमें देनी चाहिये।

६—सदस्यताका चन्दा तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र 'व्यवस्थापक आर्यमहिला,' जगतगञ्ज, बनारस (कैण्ट)के पतेसे आना चाहिये।

७—लेखादि कागजपर एक ही ओर स्पष्ट रोशनाईसे लिखा जाना चाहिये। कागजके दोनों ओर संशोधनके लिए पर्याप्त जगह छोड़ देनी चाहिये।

८—किसी लेख अथवा कविताको प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने, बढ़ाने तथा लौटाने या न लौटानेका सारा अधिकार सम्पादकको है।

९—क्रमशः प्रकाशित होनेवाले लेख पूरे आने चाहिये। ऐसे लेख जबतक पूरे प्राप्त नहीं होंगे, प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

१०—लेख, कविता, पुस्तक तथा चित्र आदिकी समालोचनाके लिये दो-दो प्रतियाँ आनी चाहिये।

११—अस्वीकृत लेख वही लौटाये जायँगे, जिनके लिए टिकट भेजा जायगा।

विज्ञापनदाताओंके लिए

विज्ञापनदाताओंके लिए काफी सुविधा रखी गयी है। विवरण निम्न भाँति है।

कवर पेजका दूसरा पृष्ठ	२५)	प्रतिमास
,, ,, तीसरा पृष्ठ	२५)	,,
,, ,, चौथा पृष्ठ	३०)	,,
साधारण पूरा पृष्ठ	२०)	,,
,, ½ पृष्ठ	१६)	,,
,, ¼ पृष्ठ	८)	,,

उपरोक्त दर केवल स्थायी विज्ञापन-दाताओंके लिये निर्द्धारित है। विज्ञापनदाताओंको छपाईका मूल्य अग्रिम भेजना होगा।

चौथाई पेज तक विज्ञापन छपानेवालोंको "आर्य्य-महिला" बिना मूल्य मिलती है।

कोड़पत्र

कोड़पत्रकी बँटाई प्रतिमास २५) रुपया है। परन्तु विज्ञापन चार पृष्ठोंसे अधिक नहीं होना चाहिये। अधिकका चार्ज अलग होगा।

स्त्रियोपयोगी विज्ञापनोंमें विशेष सुविधा दी जाती है। अश्लील विज्ञापन नहीं छापे जाते।

अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥

भाद्रपद, सं० २००६ | वर्ष ३१, संख्या ६ | सितम्बर, १९४९

कौन जतन विनती करिये ।
निज आचरन विचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ।
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन सो हठि परिहरिये ॥
जाते बिपति-जाल निसिदिन दुख तेहि पथ अनुसरिये ।
जानत हूँ मन वचन करम परहित कीन्हे तरिये ॥
सो विपरीत देखि परसुख बिनु कारन ही जरिये ।
श्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये ॥
निज अभिमान मोह ईर्षा बस तिनहि न आदरिये ।
सन्तत सोइ प्रिय मोहि सदा जाते भवनिधि परिये ॥
कहौ अब नाथ ! कौन बलते संसार-सोक हरिये ।
जब कब निज करुना सुभाव ते द्रवहु तो निस्तरिये ॥
तुलसिदास विस्वास आन नहि कत पचि पचि मरिये ।

गीता और सनातनधर्म

एक महात्माद्वारा

इस समय संसारभरमें क्रान्तिकी लहर उठ रही है। संसारका स्वरूप ही बदल रहा है। उस क्रान्तिकी एक हिलोर भारतद्वीप (हिन्दुस्थान) में भी आगयी है और यहाँ भी राजनीतिक, धार्मिक, समाजिक, साहित्यिकआदि सभी क्षेत्रोंमें क्रान्तिके लक्षण दिखायी देरहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप चारों ओर दुःख ही दुःख छा रहा है। ऐसी अवस्थामें मानवजातिको शान्ति सुखका मार्ग दिखानेवाला यदि कोई ग्रन्थ है, तो वह श्रीमद्भगवद्गीता है। यह एक ही ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है, जिसमें मनुष्य-जीवनको सफल बनानेवाले सब विषय सन्निविष्ट हैं। इसके सम्बन्धमें किसीका मतभेद नहीं है और सब प्रकारके अधिकारियोंका चित्त यह अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। सनातनधर्म—जो नित्य और जीवमात्रका कल्याणकारी धर्म है, उसके तो सब अङ्गोंका बीज इसमें निहित है। सन्तोषका विषय है कि, भारतके वर्तमान प्रधानमंत्री पं० नेहरूजीने स्वीकार किया है कि, वे गीताके सिद्धान्तोंको मानते और गीताका आदर करते हैं। जब, वे गीताको मानते हैं, तब उन्हें सनातन धर्मके सिद्धान्तोंको मानना ही होगा। क्योंकि सनातनधर्मकी सब बातें गीतामें ग्रथित हैं। यह कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी कि, संसारमें जो कुछ तत्त्वज्ञान है, वह सब गीतामें विद्यमान है और जो गीतामें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। भारतके वर्तमान गवर्नर जनरल श्रीचक्रवर्तीजी भी ब्राह्मण हैं, आस्तिक हैं और गीताके प्रेमी हैं। इस समय क्रान्तिकी लहरसे जो सब क्षेत्रोंमें उलझनें पड़गयी हैं, उनके सुलझानेमें गीता परम सहायक हो सकती है। अतः इसका सर्वत्र जोरोंसे प्रचार होना आवश्यक है। यह कार्य पुस्तकप्रकाशन और व्याख्यानोंद्वारा किया जासकता है, परन्तु यदि स्कूल-कालेजोंमें अनिवार्यरूपसे पाठ्य-पुस्तकोंमें गीताको स्थान दिया जाय, तो उसका प्रभाव स्थायी रहेगा और भावी पीढ़ी अपने लक्ष्यपर डटी रहेगी, लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होगी। गीतामें सनातनधर्मके सब विषय किस प्रकार आगये हैं, इसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ कर देना उचित जान पड़ता है।

गीताका सर्वप्रधान सिद्धान्त है, ईश्वर और परलोकमें विश्वास। जो ईश्वर और परलोकको माने, वही आस्तिक है। जो गीताको मानते हैं, उन्हें ईश्वर और परलोकको मानना ही होगा। जो इन दो बातोंको मानेगा, वह पाप-पुण्य, जन्मान्तर, त्रिगुण, त्रिभाव, वर्णाश्रमआदि सनातनधर्मके मौलिक अङ्गोंको भी मानेगा क्योंकि विश्वव्यापक धर्मका प्रतीक है गीता।

मनुष्यके सबसे पहले जाननेयोग्य यदि कोई तत्त्व है, तो वह ईश्वरतत्त्व है। श्रुतिका भी यही सिद्धान्त है कि, इसके जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जासकता है। ईश्वरतत्त्वको गीताने जैसा समझाया है, वैसा अन्य कहीं देखनेमें नहीं आता। गीतोपनिषद्में श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं:—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

जो परम अक्षर है, अर्थात् जिसका कभी क्षय नहीं होता वही ब्रह्म है और इनका स्वभाव सच्चिदानन्दमय है। यह श्रुति-स्मृति सबकेद्वारा सिद्ध है। सच्चिदानन्दमय स्वभावका भूतोंकी उत्पत्तिके-लिये जो त्याग कराता है, वही कर्म कहाता है।

अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर॥

"जो क्षर (परिवर्तनशील और नाश होनेवाला) भाव है, वह अधिभूत है और पुरुष अधिदैव है। देहधारी जीवोंके देहोंमें मैं ही अधियज्ञरूपसे प्रतिष्ठित हूं।" श्रीभगवान्के इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि, सच्चिदानन्दस्वभाव, निर्गुण निराकार, सदा-सर्वदा एकरस रहनेवाला भगवान्का जोअक्षर भाव है, वही ब्रह्मभाव कहाता है। उनकी त्रिगुणमयी प्रकृति जब कर्मके द्वारा परिणामिनी होकर पिण्ड-ब्रह्माण्डरूपी सृष्टि प्रकट करती है, तब उस परिणामशील विराट् मूर्तिधारीको अधिभूत कहते हैं और द्रष्टा-दृश्यात्मक जो भगवान्का सगुणभाव है, वह अधिदैवभाव है। इसी अधिदैवभावका नाम सगुण ब्रह्म है। वे ही सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्ता विष्णु और संहारकर्ता शिवकेरूपमें प्रत्येक-ब्रह्माण्डका सृष्टि-स्थिति-लयकार्य किया करते हैं। श्रीभगवान्के ही अंशरूपसे पुरुषभावापन्न वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, कर्मके नियन्ता यम धर्मराज-आदि सब देवपदधारी परमपुरुष सगुण रूपके अङ्गभूत होकर अपने अपने कार्यक्षेत्रमें पुरुष कहाते हैं। इसीसे सांख्य दर्शनने बहु पुरुष माना है। इस पुरुषभावका यहाँतक विस्तार है कि, वह भाव सब पिण्डोंके द्रष्टासे सम्बन्ध रखता है। यदि मनुष्य अपने पिण्डका द्रष्टा है, तो वह पुरुष है और चतुर्विध भूतसंघोंके रक्षक और संचालक जो अलग अलग देवता हैं, वे भी पुरुष कहाते हैं क्योंकि वे जीव असम्पूर्ण हैं। विना रक्षक देवताओंके उनका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यही सब पुरुषोत्तमरूपी भगवानके पुरुषभावका विस्तार है। मनुष्यपिण्डमें जो सच्चिदानन्दरूपी उनकी चेतनसत्ता ओतप्रोतरूपसे विद्यमान है, वही भगवान्का अधियज्ञरूप है। जिस ज्ञानवान् मनुष्यकी कुछ भी दार्शनिक बुद्धि होगी, वह भगवान्के अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञ भावको जानकर कृतकृत्य हो जायगा। इस प्रकारका सूक्ष्म विवेचन गीताको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। धर्मके सब अङ्गोंका विवेचन करनेवाले और भगवान्के स्वरूपका निर्देशक गीता शास्त्रको जो हृदयङ्गम करेगा, उसकेलिये नास्तिकताका अवकाश ही नहीं रह जायगा।

हिन्दू-संस्कृतिमें परलोकवादका रहस्य बहुत ही विस्तारसे पाया जाता है। हमारे वेद पुराण और तन्त्रादिशास्त्र एकवाक्य होकर यह सिद्ध करते हैं कि, हमारा यह स्थूल मृत्युलोक सूक्ष्म दैवीराज्यकी सहायतासे ही स्थायी है। और उसके सब कार्योंकी निष्पति होती है। समष्टि और व्यक्ति अर्थात् ब्रह्माण्ड और पिण्डका सब सृष्टि-स्थिति-लय कार्य दैवी सहायतासे ही हुआ करता है। जैसे एक साम्राज्यके चलानेकेलिये नाना प्रकारके महकमे और उनके अफसर होते हैं, वैसे ही दैवीराज्यके भी अनेक महकमें और पदधारी देवता हैं। ज्ञानराज्यरूपी अध्यात्म राज्यके संचालक ऋषिगण है। कर्मरूपी अधिदैव राज्यके संचालक नाना श्रेणीके देवता हैं, और स्थूल शरीररूपी अधिभूत राज्यके संचालक नित्य पितर होते हैं, जो एक प्रकारके देवता हैं। इस दैवी शृङ्खलाका पूरा प्रमाण गीतामें मिलता है। विभूतियोग अध्यायमें लिखा है कि, "वसूनां पावकश्चास्मि" अर्थात् वसुओंमें मैं पावक हूँ। प्रधान वसु आठ हैं। इनके नाम वेद और शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। उन आठोंमें पावककी प्रधानता मानी जाती हैं। उनके मृत्युलोकमें अवतार भी हुआ करते हैं। जैसा महाभारतमें लिखा है कि, भीष्मपितामह अष्टवसुओंमेंसे ही एकके अवतार थे। इसी अध्यायमें लिखा है कि, एकादश रुद्रोंमें मैं शङ्कर हूँ। द्वादश आदित्योंमें मैं विष्णु हूं। यथा—'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि', 'आदित्यानामहं विष्णुः'। इसी प्रकार कर्मके नियन्ताओंमें मैं यम हूँ नित्य पितरोंमें अर्यमा हूं। यथा—'पितॄणामर्यमाचास्मि यमः सयमतामहम्'। सब जलके अधिष्ठातृ-देवताओंमें मैं वरुण हूँ। 'वरुणो यादसामहम्' देवर्षियोंमें मैं नारद हूँ और गन्धर्व श्रेणीके देवताओंमें मैं चित्ररथ हूँ। 'देवर्षीणाञ्च नारदः'

'गन्धर्वाणां चित्ररथः'। महर्षियोंमें मैं भृगु हूँ। "महर्षीणां भृगुरहम्"। यक्ष-राक्षसोंकी देव योनियोंमें मैं कुवेर हूँ। 'वित्तेशोयक्षरक्षसाम्'। देवोंके सेनानियोंमें मैं स्कन्द हूँ। 'सेनानीनामहं स्कन्दः'। वेगवान् पदार्थोंमें वायुका अधिष्ठातृ देवताओंके रूपमें मैं वायुदेव हूं। 'पवनः पवतामस्मि' इन वचनोंसे दैवी राज्यके उच्चपदधारी जो देवता हैं, उनकी अच्छीतरहसे सिद्धि होती है और साथ ही साथ दैवीशृङ्खला (आर्गनिजेशन) की भी अच्छीतरहसे सिद्धि होती है।

वर्णाश्रम-शृङ्खला माननेवाली सनातनधर्मी प्रजाका धर्म सोलह अङ्गोंमें विभक्त है। उन सोलह अङ्गोंका बीज श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है। रजोवीर्यकी शुद्धि रखनेवाले वर्णधर्मका मूल स्त्रियोंका सतीत्वधर्म है। उस सतीत्वधर्मके विषयमें, जातिधर्मके विषयमें, कुलधर्मके विषयमें श्राद्ध-पिण्डदान आदिके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक प्रमाण हैं। यथा:—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।

अ० ३ श्लो० २४,

अधर्माभिभवात्कृष्ण! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः,
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसंकरः।
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्यच।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः
उत्सान्द्यते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वता।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन!
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।

अ० १ श्लो० ४० ४३

इन श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि, श्री भगवान् आज्ञा करते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सब लोक उच्छिन्न हो जायेंगे, मैं संकरका कर्ता बनूंगा और इस सारी प्रजाका नाश कर डालूंगा अर्थात् स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षाकेलिये श्रीभगवान्‌को भी कर्म करना पड़ता है। सतीत्वके नष्ट होनेसे संकर सृष्टि होती है और संकर सृष्टि होनेसे कैसा अनर्थ होता है, इस विषयमें गीता कहती है—अधर्मके बढ़ जानेसे कुलस्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं, दूषित हो जाती हैं। स्त्रियोंके सतीत्वसे भ्रष्ट हो जानेसे वर्णसंकर सृष्टि होती है। यह संकर सृष्टि कुल और कुलघातक दोनोंको नरकमें लेजाती है, पिण्ड और पानीके न मिलनेसे उनके पितरोंका पतन होता है। शाश्वत (सनातन) जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और मनुष्योंके जब कुलधर्म ही नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हें चिरकाल तक नरकमें पचना पड़ता है।

जन्मान्तरवादके विषयमें श्रीगीताके दूसरे अध्यायमें बहुत कुछ स्पष्ट वर्णन है। इस स्थूल शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर लोकान्तरमें चला जाता है। स्थूल शरीर यहीं पड़ा रहता है, जिसको मृत देह कहते हैं। उस समयके सूक्ष्म शरीरकी अवस्थाको लेकर चार प्रकारकी गतिका वर्णन मीमांसा-शास्त्रने किया है। १-देवयान, २-पितृयान ३-ऐशगति, ४-सहजगति। पहले देवयान अर्थात् शुक्लगति उसको कहते हैं, जिसमें मुक्त आत्मा सूर्यमण्डल-भेदन करके आगे बढ़ कर मुक्त हो जाते हैं। दूसरे पितृयान अर्थात् कृष्णगति जिसमें साधारण अधिकारके जीव चन्द्रलोकतक जाते हैं और फिर लौट कर इसी मृत्युलोकमें आ जाते हैं। तीसरी ऐशगति, जिसके द्वारा उन्नत देवता होनेयोग्य उन्नत आत्माएँ देवलोककी देवताएँ बन जाती हैं और देवलोकके नियमानुसार आगे बढ़ती हैं। जैसे नन्दिकेश्वर, बलि, हनुमान्, इत्यादि। चौथी सहजगति, इसमें जीवन्मुक्त महात्मा यहीं शरीर छोड़ते समय ब्रह्मपदमें विलीन हो जाते हैं। इन चार प्रकारकी गतियोंमेंसे दो गतियोंका गीताशास्त्रमें अच्छीतरहसे वर्णन किया है। यथा गीताके

आठवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकसे छब्बिसवें श्लोक तकमें वर्णन है कि, कृष्ण-शुक्ल गतियोंमें जीव किस प्रकार आगे बढ़ता है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्लकृष्णे गतीह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

अ० ८ श्लो० २४-२६

महान् कालके विषयमें, जिसका वर्णन आर्य-गण अपने नित्यके पूजा-सन्ध्यादिके सङ्कल्पमें उल्लेख करते हैं, भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस प्रकार वर्णन किया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदोजनाः॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

अध्याय ८ श्लो० १७-१८

अर्थात् एक सहस्र चौकड़ी युगका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनीकी हीं रात्रि होती है। दिन होनेपर अव्यक्तसे सब कुछ व्यक्त हो जाता है और रात्रिमें सब व्यक्त फिर अव्यक्तमें लीन हो जाता है। यह कालका जो माप कहा गया है, वह देवताओंके हिसाबसे है। ज्योतिष और पुराणशास्त्र-के अनुसार दैवीकाल और मनुष्यकालका अन्तर निकालनेपर इस प्रकार होता है। ४३२००० मनुष्योंके वर्षोंका एक कलियुग होता है, इससे दूने वर्षोंका द्वापर, तिगुने मानव वर्षोंका त्रेता और चौगुने मानव वर्षोंका सत्युग होता है। इन चारों युगोंको एक साथ जोड़नेसे ४३२०००० वर्ष होते हैं। उसको महायुग कहते हैं। ऐसे ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है अर्थात् ३०६७२०००० मानव वर्षोंका एक *मन्वन्तर होता* है। प्रत्येक मन्वन्तरके सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्ता भगवान् विष्णु और संहारकर्ता भगवान् शिवके अतिरिक्त देवलोकके संचालक सब देवपदधारी बदल जाते हैं। जैसे मृत्युलोकमें जब राजा या राष्ट्रपतिका परिवर्तन होता है, तब उसीके साथ सब बड़े पदधारी बदल जाते हैं, वैसे ही प्रत्येक मन्वन्तरमें सब देवसङ्घ, ऋषिसङ्घ और पितृसंघ बदल जाते हैं। हमारे पूज्य प्राचीन महर्षि त्रिकालज्ञ थे। सृष्टिके आरंभसे अबतक जितने मन्वन्तर हो गये हैं और भविष्यमें जितने होंगे, उनका उन्होंने मनुस्मृति और मार्कण्डेयआदि पुराणोंमें विस्तारसे उल्लेख कर दिया है। इस कारण पुराणादिमें भूतकालका तो विवरण है ही किन्तु भविष्यका भी विवरण पाया जाता है। ऐसे चौदह मन्वन्तर हो जानेपर अर्थात् १४ मनु बदल जानेपर जो समय होता है, उसे कल्प कहते हैं और ऐसा एक कल्प ब्रह्माका एक दिन माना गया है। हिन्दूजातिके ज्योतिष तथा वेद-शास्त्रोंमें जो गणना पायी जाती है, उसके अनुसार सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्मा अपने वर्षके अनुसार १०० वर्षको आयु बीत जानेपर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं, और उनके स्थानमें दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। हमारे शास्त्रोंका यह चमत्कार है कि, प्रत्येक आर्य-व्यक्ति अपने नित्यके सङ्कल्पमें जिस विशाल ब्रह्माण्डका स्वरूप और कालको आखोंके सामने रखकर सङ्कल्पमन्त्र पढ़ते हैं; परन्तु खेद है कि, काल-प्रभावसे इस ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती। ऐसे विशाल दैवीजगत् और विशाल कालका वर्णन बीजरूप-से श्रीभगवद्गीतामें पाया जाता है।

वर्ण और आश्रमधर्म, जो हिन्दू धर्मके प्रधान अङ्ग हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन गीतामें कई स्थानोंमें आया है। यथा:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

अ० ४ श्लो० १३

अर्थात् गुण-कर्मके विभागानुसार मैंने चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की है। अकर्ता और अव्यय मुझे ही इसका कर्ता समझो और श्रीमद्भगवद्गीतामें आरम्भसे लेकर अन्ततक गुणशब्दसे त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तमोगुणको माना है। ये ब्रह्म प्रकृतिके तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों और पृथक् पृथक् कर्मोंके अनुसार श्रीभगवान् कहते हैं कि, मैंने चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की है। जब मेरी प्रकृति ही यह कार्य करती है, तो इस विचारसे मैं चातुर्वर्ण्यका कर्ता हूँ और जब मै प्रकृतिका द्रष्टामात्र हूँ, तब मैं अव्यय अकर्ताभी हूँ। तीनों गुणोंके अनुसार सत्त्वप्रधान, सत्त्वरजः प्रधान, रजस्तमःप्रधान और तमः प्रधान. इस प्रकार चार वर्णोंकी प्रकृतिके अनुसार गीतामें चारों वर्णोंके लक्षण कहे गये हैं. जो अ० १८, श्लो० ४१ से ४५ में देखने योग्य हैं। इस प्रकार वर्णधर्म और आश्रम धर्मके अनेक मौलिक सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीतामें स्थान स्थानपर मिलते हैं और संन्यासाश्रमके सम्बन्धमें तो बहुत विस्तारके साथ गीतामें वर्णन आया है। वास्तवमें संन्यास क्या है, कर्मयोग और संन्यासयोगमें क्या अन्तर है, सांख्य और कर्मयोगका कैसा समन्वय किया है। इनका पृथक् पृथक् लक्षण संन्यासके सिद्धान्तको समझनेके लिये ही भगवान्ने बहुत कुछ बताया है।

यज्ञ और महायज्ञरूपी धर्म हिन्दूधर्मके सोलह प्रधान अङ्गोंमेंसे एक है। इसका भी वर्णन गीतामें विस्तारके साथ आया है। मीमांसादर्शनमें वर्णन है कि, जो धर्मकार्य एकसाथ श्रीभगवान्की प्रसन्नता-सम्पादन करके देवपदधारियोंके अभ्युदयका कारण होता है, वही यज्ञ कहाता है। जो व्यष्टि (व्यक्ति विशेष) के मंगलके लिये कर्म किया जाता है, वह यज्ञ है और समष्टि समुदायके मङ्गलके लिये किया जाता है वह महायज्ञ है। जैसा, अग्निष्टोम, राजसूय आदि व्यक्तिके कल्याणके लिये किये जानेवाले यज्ञ हैं और ऋषियोंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला ब्रह्मयज्ञ, देवताओंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला देवयज्ञ, पितरोंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला पितृयज्ञ, जीवमात्रके संवर्धनके लिये किया जानेवाला भूतयज्ञ और मनुष्यजातिके संवर्धनके लिये किया जानेवाला नृयज्ञ ये पञ्च महायज्ञ कहाते हैं। समष्टिके लिये मंगल कारक होनेसे ये महायज्ञ हैं। यज्ञका अपूर्व और अलौकिक विज्ञान श्रीभगवान्ने गीता अ० ३ श्लो० १० – १६ तक विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। उससे यज्ञकी व्यापकता और महत्ता विदित हो जाती है। इसी तरह गीता अ० ४ श्लो० २३-३२ तक यज्ञके भेद और व्यापकता बताये हैं। फिर अन्तमें गीता अ० १८ श्लो० ११-१३ तक सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञके लक्षण बताये हैं। इस कारण गीतामें यज्ञ और महायज्ञके मौलिक विज्ञान और विस्तारका अच्छी तरह प्रमाण मिलता है।

अवतार-विज्ञानका महत्त्व और अवतारके आविर्भाव-तिरोभावका जैसा सुन्दर विज्ञान गीता शास्त्रमें पाया जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। सर्वशक्तिमान भगवानके पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान्ने निजमुखसे कहा है--

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगेयुगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

अ० ४ श्लोक ५-९

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेक

जन्म हो चुके हैं उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते, यद्यपि मैं जन्म-रहित हूँ, अविनाशी हूँ और सब भूतोंका ईश्वर हूं, तथापि अपनी प्रकृतिका आश्रय कर अपनी मायासे जन्म ग्रहण किया करता हूँ। जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युदय होता है, तब तब मैं आविर्भूत होता हूँ। साधु सज्जनोंकी रक्षा और दुराचारियोंका नाश करने तथा धर्मकी संस्थापनाके लिये मैं युग-युगमें अवतीर्ण हुआ करता हूँ। इस प्रकार मेरे दिव्य जन्म और कर्मको यथार्थरूपसे जो जानते हैं, देहान्तके पश्चात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है, वे मुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं।

मीमांसाशास्त्रमें दार्शनिक युक्तिसे यह सिद्ध किया गया है कि, साधारण व्यक्तियोंको और विभूतियोंको जैसा शरीर धारण करना पड़ता है, वैसा अवतारोंको भी धारण करना पड़ता है, कर्म और जन्मके इस रहस्यको सब नहीं समझ सकते, भगवान्‌के अवतार ही समझते हैं। विशेषत्वके कारण अवतारोंमें अध्यात्मशक्तिरूपी ज्ञान दैवीशक्तिरूपी कर्मोंके चमत्कार और आधिभौतिक शक्तिरूपी उनके कर्मोंका अलौकिकत्व विशेषरूपसे बना रहता है। गीता जैसे उपनिषद्‌सारका प्रकाशन भगवदवतार श्रीकृष्णकी आध्यात्मिक अलौकिकता का जाज्वल्यमान प्रबल प्रमाण है। उनकी व्रज-लीला, द्वारकाकी लीला श्रीभगवान्‌की आधिदैविक शक्तिका और बिना शस्त्रधारण किये महाभारतके महायुद्धमें उनकी लीला उनकी अलौकिक आधिभौतिक शक्तिका परिचायक है। श्री विष्णु भगवान्‌के श्रीकृष्ण तो पूर्णावतार ही थे, किन्तु उनके अनेक अन्य प्रकारके अवतार हुआ करते हैं। समय विशेष और कार्यविशेषमें भगवानके जो अवतार और कलावतार भी होते हैं. वे उस समय उस कार्यको सम्पन्न कर अन्तर्हित हो जाते हैं। जैसे रामावतारके होनेपर परशुरामजीका अवतारत्व समाप्त हो गया। वे मनुष्यके अतिरिक्त अन्य शरीर भी धारण कर लेते हैं। जैसे—मत्स्यावतार, कच्छपावतार, वाराहावतार, नरसिंह अवतार इत्यादि। अंशावतार या कला अवताररूपसे ऋषिगण और देवगणभी आविर्भूत होते हैं। महाभारतमें कहा है कि युधिष्ठिर और विदुर धर्मके और अर्जुन इन्द्रके अवतार थे। हनुमान और दक्षिणामूर्त्ति शिवके अवतार थे। देवगण कर्मरूपी अधिदैव राज्यके संचालनके लिये और ऋषिगण ज्ञानराज्यरूप अध्यात्म राज्यके संचालनके लिये अवतार धारण करते हैं।

आर्यशास्त्रमें उपासनाका जैसा विस्तार है, वैसा और कहीं नहीं है। उपासनामें उपास्य उपासक सम्बन्धसे निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्च देवोपासना, अवतारोपासना, ऋषि-देवता और पितरोंकी उपासना यहाँतक कि क्षुद्र शक्ति भूतप्रेतोपासनातकका वर्णन पाया जाता है। राजयोगके अनुसार निर्गुण ध्यान लययोगके अनुसार बिन्दु-ध्यान हठयोगके अनुसार कल्पित ज्योतिर्ध्यान और मन्त्रयोगके अनुसार कल्पित देवदेवियोंके ध्यान इस प्रकारसे उपासनाके अनेक भेद पूर्णावयव सनातन धर्ममें पाये जाते हैं और वे इतने विस्तृत हैं कि, पृथ्वीके सब उपासकवृन्द उससे लाभ उठा सकते हैं, इस उपासनायोगका वर्णन श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें बहुत कुछ पाया जाता है। यथा:—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

अर्थात् सात्विक बुद्धिके लोग देवताओंकी, राजसिक बुद्धिके लोग यक्ष-राक्षसोंकी और तामसिक बुद्धिके लोग भूत-प्रेतोंकी उपासना करते हैं। देवोंके उपासक देवोंको, पितरोंके उपासक पितरोंको, भूतप्रेतोंके उपासक भूतप्रेतोंको और मेरे उपासक मुझको प्राप्त होते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ जो कोई भक्तिपूर्वक मुझे अर्पण करता है, उस उपासकका अर्पण किया हुआ वह सब कुछ मैं स्वीकार करता हूँ। जो अनन्य चित्त होकर मेरी उपासना करते हैं, मुझमें संलग्न उन उपासकोंका योग क्षेम मैं चलाता हूं। अन्य देवताओंके जो भक्त श्रद्धा-पूर्वक उनकी उपासना करते हैं, वे अविधिसे मेरी ही उपासना करते हैं। जो जो भक्त श्रद्धा-पूर्वक जिस जिस विग्रहकी उपासना करते हैं, उनकी अचल श्रद्धा उसी विग्रहमें दृढ़ कर देता हूँ। कोई कितना ही दुराचारी क्यों न हो, यदि वह मुझमें अनन्य भक्ति करता है, तो वह साधु ही समझा जायगा। वह उत्तम उपासक ही है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और चिर शान्तिको प्राप्त करता है। हे अर्जुन! मेरा भक्त कभी नाशको नहीं प्राप्त होता है। यह तुम निश्चय ही जानो। देह और इन्द्रियोंके सब धर्मोंको त्याग कर अनन्य होकर मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा। तुम चिन्ता न करो।"

कर्मविज्ञानसे तो श्रीमद्भगवद्गीता परिपूर्ण है। कर्मका अद्भुत रहस्य जो मीमांसाशास्त्रमें नहीं पाया जाता, उससे कहीं बढ़कर गीताशास्त्रमें पाया जाता है। इसका मूल और अर्थ ऊपर दे चुके हैं कि, ब्रह्मका जो सच्चिदानन्दभाव है, उसका भूतभावकी उत्पत्तिके लिये जो त्याग कराता है, उसको कर्म कहते हैं। कर्ममीमांसा इसी बातको अन्य प्रकारसे कहती है कि, प्रकृतिके स्पन्दनसे ही कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्म क्या है अकर्म क्या है, विकर्म क्या है, कौनसे कर्म बन्धन कारक है और कौनसे कर्म बन्धनकारक नहीं होते इत्यादि सब बातोंका गीतामें विस्तृत वर्णन है। निम्नलिखित भगवद् वचनोंसे इसका दिग्दर्शन किया जाता है। यथाः—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥
ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥
नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

हे महाबाहो अर्जुन ! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये तत्त्वज्ञान-प्रतिपादक वेदान्त शास्त्रमें पाँच कारण बताये गये हैं, उसे सुनो। १-अधिष्ठान (शरीर), २-कर्ता (अहङ्कार विशिष्ट जीव), ३-नाना प्रकारके करण (चक्षुरादि इन्द्रिय) ४-भिन्न भिन्न प्रकारकी चेष्टाएं और ५-दैव। ज्ञान, ज्ञेय (जाननेकी वस्तु) और परिज्ञाता (जाननेवाला) और तीन प्रकारके कर्मको प्रवृत्तिके कारण करण, कर्म और कर्ता इस प्रकार त्रिविध कर्म संग्रह होता है। निष्कामभावसे सङ्ग (अभिनिवेश) से रहित और राग-द्वेषको छोड़कर जो कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक कहाता है। फलकी आकाङ्क्षा रखकर अहङ्कारके साथ बहुत आयासयुक्त जो कर्म किया जाता है वह राजसिक है। परिणामका विचार न कर तथा क्षय (नाश) हिंसा और अपनी शक्तिकी उपेक्षा कर मोहसे जो कर्म किया जाता है, वह तामसिक है। कर्मका अनुष्ठान न करनेसे निष्कर्म (ज्ञान) की सिद्धि नहीं होती है और केवल संन्यासका अवलम्बन करनेसे भी सिद्धि लाभ नहीं होता। बिना कर्म किये क्षणभर भी कोई नहीं रह सकता। राग-द्वेषादि प्रकृतिके गुण मनुष्यको विवश करके उससे कर्म करा ही लेते हैं। शास्त्रके द्वारा निर्दिष्ट कर्मोंका अनुष्ठान किया करो। कर्म न करनेसे कर्म करना कहीं अच्छा है। यदि तुम सब प्रकारके कर्मोंको त्याग कर दोगे, तो तुम्हारी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकेगी। यज्ञके लिये जो कर्म किया जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धनके कारण होते हैं। अतः हे अर्जुन, निष्कामभावसे यज्ञके लिये ही नियत कर्म किया करो। आसक्तिहीन होकर सर्वदा कर्तव्यरूपसे विहित कार्योंका अनुष्ठान किया करो। क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्यको मुक्ति प्राप्त होती है। जनकादि महात्माओंने कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। लोकसंग्रह (लोगोंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करने) के लिये भी तुम्हें कर्म करना चाहिये। श्रेष्ठ लोग जो कुछ कर्म करते हैं, साधारण लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं श्रेष्ठ लोग जिसको प्रमाण मानते हैं, अन्य लोग भी उसीको प्रमाण मानने लगते हैं। हे पार्थ, मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं बच जाता है। त्रिभुवनमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मुझे प्राप्त न हुई हो, या मेरे पाने योग्य हो, फिर भी मैं नियत कर्म करता ही रहता हूँ।

सनातनधर्मके अनुसार वेद और शास्त्र अपौरुषेय हैं। वेद शब्दरूपसे और शास्त्र भाव रूपसे अपौरुषेय हैं। इसके लिये पूर्णावतार भगवान्ने स्पष्ट रूपसे कहा है:—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

अर्थात् जो व्यक्ति शास्त्रविधिका त्यागकर स्वेच्छा-प्रवृत्त होकर कर्म करता है, उसको सिद्धि, सुख और परमगति प्राप्त नहीं होती। अतः कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है। तुम शास्त्र विधानके अनुसार अपने कर्मको जानकर उसीका आचरण किया करो। इससे यह सिद्ध हुआ कि गीता-शास्त्रमें वेद और शास्त्रकी कैसी महिमा वर्णन की गयी है। सनातन धर्मके जो सोलह अङ्ग हैं, उनमेंसे वेद शास्त्रोंपर

विश्वास एक प्रधान अंग है।

शौच और सदाचारके विषयमें संक्षेपरूपसे श्रीमद् भगवद् गीतामें कई जगह वर्णन आया है यथाः—

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि, आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्ममें निवृत्ति नहीं जानते हैं अर्थात् वे धर्माधर्मविचारशून्य होते हैं। इसका कारण वे शौच (शुद्धाशुद्ध विवेक) आचार (धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार) को नहीं जानते हैं अर्थात् वे शौच और आचारसे भ्रष्ट रहते हैं और सत्यहीन होते हैं अर्थात् सत्यका पालन नहीं करते हैं। दूसरी ओर गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंमें श्रीभगवान्ने शौचको स्पष्ट रूपसे कहा है। अतः शौचरूपी शुद्धाशुद्ध विवेक और सदाचार-पालनका मूल श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्टरूपसे पाया जाता है। आजकलके नेतृ-वृन्दोंको गीता-कथित दैवी-प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंको अवश्य ध्यानमें रखकर विचार करके तब कार्य करना चाहिये। श्रीभगवान्के सगुण रूप और निर्गुण-रूपका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके बहुत स्थानोंमें आया है। भगवान् जब सर्वशक्तिमान् हैं, तो भक्तके कल्याणार्थ उनको सगुण रूप धारण करनेमें बाधा ही क्या हो सकती है, तथापि व्यक्त (सगुणरूप) अव्यक्त (निराकार उनके निर्गुण भाव दोनोंके विषयमें रूपान्तरसे वर्णन गीताशास्त्रमें अनेक स्थानोंमें आया है। श्रीमद्भगवद्गीता जो वेदके शिरोभाग उपनिषद्का साररूप है, उसमें तो मुक्तिका विषय परिपूर्ण है। कर्मके साथ मुक्तिका सम्बन्ध, उपासनाके साथ मुक्तिका सम्बन्ध और ज्ञानके साथ मुक्तिका सम्बन्ध—वेदके ये तीनों काण्ड मुक्तिको कैसे प्रतिपादन करते हैं, मुक्तात्माओंके लक्षण क्या हैं, इत्यादि गंभीर विचारोंसे तो गीता परिपूर्ण है।

को देशः कानि मित्राणि कः कालः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

देश कौन है, मित्र कौन है, समय कौनसा है, कितनी आय और कितना व्यय है, मैं कौन हूँ; और मेरी शक्ति कितनी है, इन बातोंका बार-बार विचार करना चाहिये।

प्रेम

शिशुकी सरल हासरेखा करदेती हर्षित जिसे अपार।
सस्मित-सा उसका भोला मुख जिसके जीवनका आधार॥
सीमारहित अनन्त अयाचित निश्चल मुक्त गभीर उदार।
धन्य अहा बालकके प्रति वह निरुद्देश माताका प्यार॥ १॥

एक अपरचितके हाथोंमें विना किये कुछभी अनुमान।
लज्जासे अञ्चलको दाबे लेकर अपना हृदय महान॥
निस्शङ्कित चितसे करती है जब नव वधू आत्म उत्सर्ग।
आहा धन्य प्रेम नारीका लाता खींच मही पर स्वर्ग॥ २॥

तीव्र यातनाके सन्मुखभी होने देता जो न अधीर।
हँसते हुये निछावर करते जिसके लिये प्राणतक वीर॥
रोमाञ्चित कर देती है हाँ जिसका मतवाली झङ्कार।
धन्य अहो आवेगपूर्ण वह अपनी जन्मभूमिका प्यार॥ ३॥

ऊँच नीचका भेद मिटाकर रखता है सब पर समदृष्टि।
अखिल विश्वको बन्धु मानकर करता सदा स्नेहकी सृष्टि॥
देवतुल्य करता मानव को जिसका वह मधु पावन स्पर्श।
धन्य विराट् प्रेम वसुधाका धन्य उच्च उसका आदर्श॥ ४॥

नित् जिसका नवीन रहता है मधुर मुग्धकर भाव अनूप।
जगतीको शृङ्खलित किये हैं जिसका रुचिर मनोहर रूप॥
रुद्ध कठिन कर्तव्यमार्गको करता है जो सरल सुगम्य।
धन्य प्रेम वह कर देता जो मानस मरुस्थलीको रम्य॥ ५॥

परिमित है उच्चता शैलकी और शून्य है व्योमविशाल।
दिखती तमोनिशायें उज्वल बिखरी हुई तारकामाल॥
रत्नाकरके अतुल रत्न वे केवल चमकीले पाषाण।
अहो प्रेम तू निरुपमेय है प्रभुकी जड रचनाका प्राण॥ ६॥

—मोहन बैरागी

तलाक और हिन्दू समाज

(ले०—श्री कुमारी पार्वती अग्रवाल प्रभाकर)

समाचार पत्रोंके सम्पर्कमें आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति 'हिन्दू कोड बिल' से परिचित होगा। इस बिलके अन्तगत कई विषय हैं। जिनमें 'उत्तराधिकार' और 'तलाक' प्रमुख है वाद-विवाद, विरोध-समर्थन भी इन्हीं दो विषयोंको लेकर चल रहा है। 'उत्तराधिकार' पर पिछले दिनों मेरा एक लेख 'अग्रवाल' में प्रकाशित हो चुका है। अब मैं यहाँ कुछ तलाकपर ही लिखना चाहती हूँ। जहाँतक मेरी बुद्धिका प्रसार है मैं समझती हूँ 'तलाक' शब्द मुसलमानोंके आक्रमणके साथ ही भारतवर्ष में प्रविष्ट हुआ। मुसलमान स्त्री-पुरुषोंको तलाकका अधिकार बहुत दिनोंसे प्राप्त है। यद्यपि कुछ निम्न कोटिकी हिन्दूजातियोंमें भी तलाककी प्रथा प्रचलित है किन्तु वह इतनी अल्प है कि सरलतासे उंगलियोंपर भी गिनी जा सकती हैं। लेकिन अब जो तलाकका प्रश्न प्रस्तुत हो रहा है, वह तो समस्त हिन्दूसमाजके विवाह-विच्छेदका प्रश्न है। वर्तमान भारतवर्षमें हिन्दुओंकी संख्या अधिक होनेसे विवाह-विच्छेद-प्रश्न भी केवल हिन्दुओंका ही नहीं रह गया, प्रत्युत समस्त भारतवर्ष एवं राष्ट्रका प्रश्न बन गया है। राष्ट्रकी सुख, शान्ति, उत्कर्ष इसी प्रश्नपर निर्भर है। तलाकका प्रश्न अत्यन्त व्यापक और गम्भीर है।

पाश्चात्य देशोंमें तलाकका साम्राज्यप्रसार विस्तृत है। रूस, इंगलैंड, अमेरिका इत्यादि सभी देशोंमें पुरुष स्त्रीको तलाक दे सकते हैं और स्त्रियाँ पुरुषोंको तलाक दे सकती है। नित्य प्रति ही हजारोंकी संख्यामे जोड़े वहाँकी अदालतोंमें खड़े दिखाई पड़ते हैं। अमेरिकामें श्री जाजेफ सैथ जो तलाकोंके 'चैम्पन जज' के नामसे विख्यात हैं। अभी हालहीमे इनका एक लेख 'दौर्दामें' प्रकाशित हुआ है जिसमे इन्होने लिखा है:—"मेरे नगर शिकागोमें ही हर रोज ५० बसे घर उजड़ रहे हैं और तलाककी गति विवाहोंकी संख्या भी एक तिहाईके हिसाबसे चल रही है अचरज नहीं कि अंधेर आ जाये" लेकिन क्या इसपर भी वहाँ स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे तृप्त और संन्तुष्ट है? उत्तर होगा 'नहीं'।

प्रस्तावित बिलके पास हो जानेपर भारतमें भी स्त्रियाँ पुरुषोंको तलाक दे सकेंगी और पुरुष स्त्रियोंको तलाक दे सकेंगे।

विवाहके पूर्वके जीवनमें और विवाहके बादके जीवनमें जमीन आस्मानका अन्तर है। एक ओर सुखद कल्पनायें हैं तो दूसरी ओर दुःखद परिस्थितियोंमे पूर्ण कठोर कर्त्तव्यमय जीवन है। त्यागकी भावनायें और सहन शक्ति लुप्त होती जा रही है। वासना एवं स्वार्थमय प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक पति-पत्नीका जीवन विषमताओं और संघर्षोंसे युक्त है। प्रत्येक गृहकी सुख, शान्तिका कलह और प्रतिद्वंद्विता छिन्न भिन्न कर रही है. विवाहके बादके आरम्भिक दिनोंमें ही पति-पत्नीके जीवनमे असन्तोष व्याप्त हो जाता है और वे तभीसे एक दूसरेसे पृथक् होनेका स्वप्न देखने लगते हैं। बेचारी निरीह नारी अपनेको प्रत्येक क्षेत्रमे पराधीन और अधिकार शून्य पाकर तथा अपने जीवनको पतितक ही केन्द्रित देखकर असहाय और निराश हो अपनी समस्त कामनाओं सहित पतिके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर देती है। लेकिन पुरुष निरंकुश होनेके कारण समाजमें खुल कर खेलता है। उसके लिये वेश्यालय भी दूर नहीं। व्यभिचार भी पाप नहीं। शराब पीना भी सदाचार और सभ्यताका चिन्ह है। एक पत्नीके जीवित रहते दूसरा विवाह कर लेना भी न्याय

संगत है। पुरुषकी इन्हीं अनीति पूर्ण व्यवहारोंने आजकी शिक्षित नारी-हृदयमें विद्रोहकी चिनगारी सुलगा दी। कहीं कहीं पति पत्नीके मध्य संघर्ष इतना प्रबल हो गया जिसने दोनोंको एक साथ रहना असम्भव कर दिया। तभी एक ऐसे विधान की आवश्यकता अनुभव हुई जो दोनोंको फिर विलग कर सके और वे दोनों अपना नवीन जीवन साथी चुनकर पुनः जीवन निर्माण कर सकें। इसी आवश्यकताका पूरक तलाक बिल है। प्रायः इन्हीं तर्कोंको लेकर इस बिलका समर्थन भी किया जा रहा है।

तलाकका समर्थन करना तो सरल है, किन्तु इससे उत्पन्न समस्याओंपर विचार करना भी आवश्यक है। इस बिलका समाजपर क्या प्रभाव पड़ेगा और किसके लिये कहाँतक उपयोगी रहेगा? इत्यादि प्रश्न विचारणीय हैं।

इस बिलके मुख्यतः दो पक्ष किये जा सकते हैं- पुरुष-पक्ष और दूसरा नारी-पक्ष। समाजका कर्ता-धर्ता पुरुष है। नारीकी अपेक्षा पुरुष वासना प्रिय और विलासी भी अधिक है। तलाकबिल पुरुषोंकी इसी मनोवृत्तिकी पूर्तिके लिये सहायक सिद्ध होगा। बिल पास होते ही पुरुष इससे लाभ उठाना आरम्भ कर देंगे। मैं ऐसे कितने ही पुरुषों को जानती हूँ जो अपनी पत्नीसे तो घृणा करते हैं और अन्य स्त्रियोंके साथ ....। किन्तु इतना अवश्य है कि, वे उसको तलाक देकर दूसरा विवाह नहीं कर सकते, यद्यपि कुछ लोग दिलेरीमें आकर दूसरी शादी कर लेते हैं। एक श्रीमती 'क' है। ये खत्री परिवारकी वैभव सम्पन्नपिताकी पुत्री हैं। इनके पतिदेव सौन्दर्य-प्रेमी हैं। उन्होंने एक रूपवती स्त्रीके साथ दूसरा विवाह कर लिया है। ये बेचारी अपने मैकेमें ही रहती हैं। दुःख और चिन्ताओंसे शरीर जर्जर हो गया है। तलाक बिलके पास होनेपर तो इस प्रकार परित्यक्ता की हुई स्त्रियोंकी संख्या विशालकाय रूप धारण कर लेगी। इन स्त्रियोंका भविष्य क्या रहेगा? भारत-की नारियाँ अभी इतनी शिक्षित और स्वावलम्बी भी नहीं हैं, जो जीविका कमा कर अपना स्वतन्त्र जीवन-निर्वाह कर सकें। नारीका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, उसे तो पग-पगपर पुरुषके सहयोगकी आवश्यकता है। एक दोकी संख्या नहीं, यह तो हजारोंकी समस्या उठ खड़ी होगी। दूसरा शादी-के अतिरिक्त इनके पास कोई मार्ग ही न रहेगा। फिर क्या यह निश्चित् है कि दूसरा पति इन्हें जीवनभर साथ रखेगा? यदि उस दूसरेने भी तलाक दे दिया तब क्या तीसरी शादी होगी? और तीसरीके बाद क्या चौथी? इस प्रकार बार बार शादी होना वेश्या बननेके समान नहीं तो क्या है?

हमारी कुछ बहनें इस बिलका समर्थन कर रहीं है। उनका कथन है कि पति यदि दुराचारी है तो उसे छोड़ कर दूसरा विवाह करनेका पत्नी-को अधिकार मिलना ही चाहिये। ठीक है, मिलना चाहिये! लेकिन क्या यह निश्चित है कि, दूसरा पति जिससे वह शादी करेगी उसके विचारोंके अनुकूल होगा और उससे एकाकी प्रेम कर जीवनभर उसका साथ दे सकेगा। सम्भव है दूसरा पति पहले पतिसे भी अधिक बुरा और निकम्मा निकले। और फिर पुरुषोंसे सदाचारी और पत्नीव्रती होनेकी आशा करना ही दुराशा मात्र है। जबकि ८०-९० प्रतिशत पुरुष बुरे होते हैं, तब पहलेको छोड़कर दूसरेके साथ यह आशा लेकर विवाह करना कि यह मेरे अनुरूप होगा—अपनेको धोखा देना है। यदि आप अच्छा पति ही चाहतीं हैं तो आवश्यकता इस बातकी है कि अपने संगठित प्रयत्नोंद्वारा पुरुषसमाजका सुधार करनेकी चेष्टा करें। मनुष्यकी प्रवृत्ति सदैव एक सी नहीं रहती है। जो आज भला है कल बुरा भी हो सकता है। कितने ही उदाहरण ऐसे विद्यमान है। एक मिस्टर 'ख' हैं। इनमें और इनकी पत्नीमें इतना वैमनस्य बढ़ गया था कि

दोनोंको एक दूसरेकी शकलसे घृणा हो गई थी। इन्होंने अपनी पत्नीका मुंह न देखनेकी कसम खाली थी। दो वर्षतक पत्नी मैकेमें रही। पत्नी भी इनको पूरा जल्लाद समझती थी। समयका प्रवाह आया और फिर दोनों एक हो गये। आज इनमें परस्पर ऐसा ही प्रेम है, जैसा किसी नव विवाहित पति-पत्नीमें होता है।

पत्नी बीमार हो जाती है तो पति उसे यथा साध्य अच्छा करनेका प्रयत्न करता है बड़ेसे बड़े डाक्टर वैद्यको दिखानेमें रुपयेका मुंह नहीं देखता। पत्नी भी पतिको अस्वस्थ देख कर उसकी परिचर्या में अपने खाने, पीने, सोनेकी सुध बुध खो बैठती है। क्योंकि वे जानते हैं कि, वे एक दूसरेके ऐसे जीवन-साथी हैं, जिनका कभी सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता। किन्तु इस बिलके पास हो जानेसे कौन किसकी सेवा करेगा? और क्यों करेगा? स्वार्थमय संसार है। इस प्रकार कितने संकटापन्न हो जायेंगे। एक दूसरेके प्रति दया-भाव न रहनेसे मनुष्यमें मनुष्यत्व लोप हो जायेगा।

एक नहीं चाहे हजार कानून पास हो जावें किन्तु समाज कभी नहीं सहन करेगा कि एक स्त्री अपने जीवित पति छोड़के दूसरा विवाह करे। आज भारतमें जब कि नारियाँ न तो शिक्षित हैं और न स्वावलम्बी ही तब उनमें कितनी ऐसी साहसी होंगी जो अपने पतिको तलाक देकर समाजका विरोध करते हुये दूसरी शादी करनेमें सफल हो सकेंगी? विधवा-विवाहका कितना प्रचार हुआ! आर्यसमाजने इसके लिये तन, मन, धनसे सेवायें अर्पितकी किन्तु पूर्ण सफलता प्राप्त न हो सकी। कितनी ही विधवायें अपने मृत पतिकी यादमें निर्जीव स्मारक बनी आंसुओंका हार पिरो रही हैं। कुमार तो क्या विधुर जिसकी चार-चार पत्नियाँ स्वर्गको सिधार चुकी हैं किसी कन्यासे ही विवाह करनेकी अभिलाषा रखेगा! कन्याके विवाहमें ही माता-पिताको एड़ी-चोटीका पसीना लगाना पड़ता है तब कहीं विवाह होता है। फिर भला इन स्त्रियोंके साथ जिनके पति अभी जीवित हैं कौन विवाह करना चाहेगा मैं तो समझती हूं कि, जबतक स्त्रीसमाज आत्मनिर्भर नहीं बनता, तबतक यह तलाकबिल स्त्रियोंके लिये हर तरहसे हानिकारक है।

बच्चोंकी समस्या उठ खड़ी होगी। बच्चे पिताके साथ रहेंगे या माताके साथ? यदि पिताके साथ रहेंगे तब क्या मां अपने ममत्वको भुला सकेगी। मां बच्चोंकी मोहब्बतमें अपनी जानपर भी खेल जाती है। यदि बच्चे मांके साथ रहेंगे तब क्या उनका दूसरा बाप उन्हें अपने साथ रखनेको राजी होगा और उनके साथ पिता जैसा स्नेह कर सकेगा? जब एक मां अपनी सौतके बच्चोंके साथ समान व्यवहार नहीं कर सकती तब पितासे ऐसी आशा करना व्यर्थ है। इस मां-बापके परितनमें बच्चे जो कि भावी राष्ट्रके निर्माता हैं अनाथ हो जायेंगे। उनकी शिक्षा स्वास्थ्य, रक्षाकी किसीको चिंता न रहेगी। देश व समाजका कितना बड़ा अहित होगा?

इस बिलके पास हो जानेपर समाज छिन्न भिन्न, विश्रृङ्खल तथा मर्यादाहीन हो जायेगा पुरुष स्वयं तो विलासिताके अंध कूपमें गिरेगा ही साथ नारीको भी ले डूबेगा। अपने सतत प्रयासों द्वारा नारी जो आज उन्नतिके पथपर अग्रसर होती दिखला रही है, पतनके महागर्तमें जा गिरेगी। जहाँसे निकलना असम्भव हो जायेगा।

हमारे देशमें प्रत्येक स्त्री-पुरुषको राम और सीताकी तरह आदर्श पति-पत्नी बननेका प्रयास करना चाहिये। सीता जैसी पतिव्रता जिसके धर्मको रावणके हजार प्रलोभन भी न डिगा सके और राम जैसे पत्नीव्रती जिन्होंने वशिष्ठजीके आग्रहपर भी दूसरा विवाह न किया और यज्ञके लिए सीताकी स्वर्ण प्रतिमा बनी। यद्यपि राजाओंको अनेक विवाह करनेका अधिकार सदैवसे

प्राप्त था। यदि सभी पति-पत्नी ऐसे हो जायें तो भारत, भारत न रह कर स्वर्गलोक बन जाये। जैसा कहा गया है कि, किसी समय देवता भी यहाँ जन्म लेनेको लालायित रहते थे—वैसा ही समय फिर आ जाय। यदि तलाकबिलके अतिरिक्त कोई ऐसा विधान बनाया जाये जिससे भारतके स्त्री-पुरुष एक पतिव्रता और एक पत्नी व्रती बन सकें तो मैं उन बिलका हृदयसे स्वागत करूंगी और अपनी अन्य बहिनोंको भी उनके स्वागतके लिए आमंत्रित करूंगी।

नालन्द-विद्यापीठ

लेo—लीलाधर शर्मा पाण्डेय

ईसासे पूर्व ५०० वर्षसे लेकर इसके पश्चात् ५०० वर्षोंतक—एक सहस्र वर्ष कालका—भारतका स्वर्णयुग कहा जाता है। यह युग सम्राट् चन्द्रगुप्त (प्रथम) से लेकर सम्राट् हर्षवर्द्धनके काल तकका है। इस मध्यकालमें भारत सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, शिक्षा, कला, शासनआदि सभी विषयोंमें पूर्ण उन्नति कर चुका था। इस उन्नतिका प्रारम्भ मौर्य-कालमें हुआ, गुप्तकाल इसकी यौवनावस्थाका कहा जा सकता है। और हर्षवर्द्धन-कालसे इसकी अवनति प्रारम्भ हुई, जिसका अन्तिम परिणाम मुहम्मद गोरीका आक्रमण तथा भारतपर यवन-राज्य-स्थापनाके रूपमें हुआ।

यहाँ हम तत्कालीन इतिहासका लम्बा-चौड़ा विषय न लेकर केवल गुप्तकालीन एक विद्यापीठका और तत्कालीन शिक्षण शैलीका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे जो भारतीय-विद्यापीठ नहीं, प्रत्युत समस्त विश्वका एक अद्वितीय था और जहाँसे समस्त एशियाखण्डमें भारतीय ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता और संस्कृतिका प्रकाश फैला था। इसका नाम नालन्दा विश्वविद्यालय था, जिसका भग्नावशेष आज भी पटनाके समीप राजगृहके आसपास 'नाऊन्दा' नामसे प्राप्त होता है।

यद्यपि गुप्तकालमें काशी, उज्जैन, वलभी काञ्ची आदि अनेक नगर विद्याके केन्द्र थे परन्तु उन सबोंमें नालन्दाका विद्यापीठ सर्वोच्च और सर्व प्रधान था। इसका महत्ता, उदारता, अध्यापक संख्या एवं स्थानिको देखते हुए देशकी सभी शिक्षण-संस्थाएँ तुच्छ थीं। नालन्दाका ही विश्वविद्यालय वास्तवमें विश्वविद्यालय था, इसके ही स्नातकोंका देश विदेशके प्रत्येक भागमें समादर होता था। 'नालन्दा' नाम ही तत्कालीन सर्वोच्च विद्याकेन्द्र और उसके गुणोंका द्योतक या पर्यायवाची समझा जाता था। नालन्दा विश्वविद्यालयकी स्थापनाकी निश्चित तिथि संशयग्रस्त है. इसका संक्षिप्त विवरण सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूशुग (ह्वेन सांग) के यात्रा-विवरणसे प्राप्त होता है। जिस समय वह इस विद्या-प्रतिष्ठानमें आचार्य शीलभद्रके चरणोंमें रहकर भारतीय बौद्ध दर्शनशास्त्रोंका अध्ययन कर रहा था, उस समय यह विद्यापीठ केवल छः मठोंका समूह था, जिन्हें छ क्रमागत राजाओंने अपने-अपने समयमें बनवाया था। इन छः मठोंमें पहला मठ शक्रादित्यका बनवाया था, जो बौद्ध धर्मके भिक्षुओंमें अनन्त श्रद्धा रखता था। शक्रादित्यके पुत्र बुद्धगुप्तने अपने पिताकी परम्पराका अनुसरण करते हुए दूसरा मठ बनवाया था। इसी बुद्धगुप्तका उल्लेख सारनाथके शिलालेखों तथा ताम्र पत्रोंमें मिलता है। इसने ४७७ ई० से ४९६ ई०

तक शासन किया। तीसरा मठ इसके उत्तराधिकारी तथागत गुप्तने और चौथा मठ उसके उत्तराधिकारी बालादित्यने बनवाया था (यह प्रथम बालादित्य था)।

हूणोंके राजा मिहिरकुलके भारत आक्रमणके समय यह विद्यापीठ उसके द्वारा ध्वस्त कर दिया गया था किन्तु उसके विविध भवनोंका पुनर्निर्माण बालादित्य (द्वितीय) ने किया। इसके अतिरिक्त उसने ३०० फीट ऊँचा एक नवीन विहार भी बनवाया, जिसका प्रमाण नालन्दा-लेखक छठा श्लोक इस प्रकार देता है :—

आसत्यातिपराक्रम-प्रणयिना
जित्वा बलाद् विद्विषो-
बालादित्यमहानृपेण सकलं
भुक्त्वा च भू-मण्डलम्।
प्रासादः सुमहानयं
भगवतः शौद्धोदनेरद्भुतः।
कैलाशाभिभवेच्छयेव
धवलो मध्ये समुत्थापितः॥

सम्भवतः हूणोंकी विजय-स्मृतिमें बालादित्यने इसकी स्थापनाकी होगी। यह धार्मिक राजा वृद्धावस्थामें स्वयं बौद्धभिक्षुके रूपमें अपने बनवाये विहारमें रहने लगा था।

बालादित्यके पुत्र वज्रने इस विहारके पश्चिम ओर एक संघाराम बनवाया। इसके पश्चात् मध्य-भारतके एक राजाने एक बृहत् मठ बनवाया। ये सभी मठ एक दूसरेके समीप-समीपमें ही बने थे और एक ऊँचे प्राचारसे घिरे थे, जिसमें केवल एक ही फाटक था। महाराज हर्षने एक पीतलका विहार बनवाया था जो लगभग १०० फीटसे ऊँचा था। इन मठोंके अतिरिक्त अनेक स्तूप और विहार थे, जिनमें बुद्ध और बोधिसत्वकी मूर्तियाँ स्थापित थीं। इन सभी इमारतोंका एक प्राचारवेष्टित समूह था—जिसका नाम था नालन्दा विश्वविद्यालय?

इसका क्षेत्रफल अवश्य अतिविस्तृत रहा होगा। भारत सरकारके पुरातत्व विभाग द्वारा उसकी जो खोदाई हुयी है उससे यह बात प्रमाणित होती है। ह्वेन सांगके समकालीन भारतके प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकवि बाणभट्टने कादम्बरीमें चन्द्रापीड़के लिये निर्माण किये गये जिस काल्पनिक विशाल विश्वविद्यालयका वर्णन किया है उसमें उसका क्षेत्रफल अर्धकोश (एक मील) लिखा है। बाणभट्टकी विद्यामन्दिर कल्पनाका आधार अवश्य ही नालन्दा विश्वविद्यालय था।

ह्वेन सांगके जीवन चरित्र—लेखक ह्वीलीने सम्पूर्ण नालन्दाकी रमणीयताका विशद वर्णन इस प्रकार किया है—

"सम्पूर्ण नालन्दा ईंटोंकी दीवारसे घिरा हुआ है, जोकि सारे मठोंको बाहरसे घेरती है। एक फाटक विद्यापीठकी ओर है जिससे कि आठ अन्य 'हाल' जो संघारामके बीचमें स्थित हैं अलग किए गए हैं। सुअलङ्कृत मीनार और परी सदृश गुंबज पर्वतकी नोकदार चोटियोंकी भाँति एक साथ हिले-मिलेसे खड़े हैं, मान मान्दिर प्रातःकाल धूम्रमें विलीन हुए से प्रतीत होते हैं और ऊपरी कमरे बादलोंके भी ऊपर विराजमान हैं। खिड़कियोंसे कोई भी देख सकता है कि हवा और बादल किस प्रकार नया रूप बनाते हैं। ऊँचा-ऊँची ओलतियोंके ऊपर सूर्य और चन्द्रकान्ति देखी जाती है। बाहरकी सभी परिवेष्टित कक्षाएँ जिनमें श्रमणोंके रहनेके कमरे बने हैं—चार-चार भूमियों (मंजिलों) की थीं। उनके मकराकृति बाजें, रंगीन ओलतियाँ, मोतीके समान लाल खम्भे—जो सजावटोंसे परिपूर्ण थे और जिनपर सुन्दर-चित्र खिंचे थे—समलङ्कृत छोटे-छोटे स्तम्भ, खड़ोंसे आच्छादित छतें जो सूर्यके प्रकाशको हजारों रूपोंमें प्रतिबिम्बित करती हैं—ये सभी उसकी शोभा बढ़ाते थे।"

इस प्रकार ईसाकी चौथी शताब्दीके प्रथम

भागमें स्थापित यह विश्वविद्यालय अत्यन्त विशाल भव्य और रमणीय था। सातवीं शताब्दीमें यह अतिशय सम्मुन्नत अवस्थामें था। इसी विश्वविद्यालयका एक महान् पुस्तकालय भी था जो धर्मगञ्ज नामक प्रदेशमें स्थित था। इस पुस्तकालयकी तीन बड़ी-बड़ी इमारतें थीं एक इमारतका नाम 'रत्नोदधि' था जो ९ मंजिल ऊँचा था जिसकी प्रत्येक मंजिल पुस्तकोंकी अलमारियोंसे भरा हुआ था। दूसरी इमारत 'रत्नसागर' और तीसरी 'रत्नरंजक' थी, जो ६-६ मंजिलोंकी ऊँची थी। इन तीनों इमारतों और उनकी मजिलोंमें कितनी पुस्तकें रही होंगी इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

नालन्दा विश्वविद्यालयमें सुदूर देश चीन और मंगोलियासे भी छात्र अध्ययन तथा ज्ञानवृद्धिके लिये आते थे। नालन्दा आर्यसंघके पुरोहितों एवं बाहरसे आए हुए विदेशी छात्रोंकी संख्या ह्वेनसांग के समय दस हजारसे कम न थी इस विद्यापीठमें विदेशियोंके साथ अत्यन्त शिष्टतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। ह्वेनसांग, जो यहाँ १९ मासतक ठहरा था—बालादित्य राजाके मठमें राजाकी भाँति रहता था। धर्मात्मा राजाओंने विश्वविद्यालयको प्रचुर सम्पत्ति प्रदान कर रखी थी, जिसका कुछ वर्णन ह्वेनसांगकी जीवनीका लेख करता है:—

"देशके राजा सम्राट् हर्ष पुरोहितोंका आदर करते थे। उन्होंने १०० गाँवोंकी मालगुजारी विहारोंको दान कर रखी थी। इन गाँवोंके २०० गृहस्थ प्रतिदिन कई सौ पिकल (१ पिकल= १३३½ पौंड) साधारण चावल और कई सौ कट्टी (१ कट्टी=१६० पौंड) घी और मक्खन दिया करते थे। अतः यहाँके छात्रोंको ये सब वस्तुएं इतनी प्रचुर मात्रामें मिल जाती थीं कि इन्हें माँगनेकी आवश्यकता न पड़ती थी और न कहीं जाना पड़ता था। उनके विद्याध्ययनकी पूर्णताका यही साधन है।"

इस प्रसिद्ध विश्वविद्यालयमें विविध विषयोंकी उच्च शिक्षा दी जाती थी, पाठ्य विषयोंमें महायानमत तथा बौद्धधर्मोंमें अष्टादश सम्प्रदायोंके ग्रन्थ सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, योगशास्त्र, चिकित्साशास्त्र सांख्यदर्शन तथा तान्त्रिक ग्रन्थोंका अध्ययनाध्यापन होता था। शिक्षा व्याख्यानों द्वारा दी जाती थी, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वान् विभिन्न विषयोंपर व्याख्यान देते थे और ऐसे व्याख्यान सैकड़ों प्रतिदिन हुआ करते थे। प्रत्येक विद्यार्थी इन व्याख्यानोंको सुननेके लिये चाहे एक ही मिनटके लिये हो उपस्थित अवश्य होता था।

व्याख्यान-मण्डलों द्वारा दी जानेवाली शिक्षा के अतिरिक्त एक और भी शिक्षा क्रम था, जिसे औपाध्यायिक-शिक्षा कहा गया है। नवागन्तुक व्यक्ति जो संघका सदस्य बनता था, सर्वप्रथम एक अध्यापकको अर्पण किया जाता था। वह अध्यापककी सेवा किया करता और अध्यापक उसे अपने ज्येष्ठ पुत्रके समान मानता था। उसे त्रिपिटक या किसी अन्य ग्रन्थका पाठ देता था। छात्र द्वारा की गयी सेवाके बदले अध्यापक शिष्यको समुचित शिक्षा ही नहीं; प्रत्युत उसके चरित्र निर्माण नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भी अपनेको उत्तरदायी समझता था।

नालन्दा विश्वविद्यालयके व्याख्यान मण्डलोंका प्रवेशनियम सचमुच अतिकठिन था। शिक्षाका मान इतना ऊँचा था कि जो विश्वविद्यालयमें प्रविष्ट होकर वाद-विवादमें भाग लेनेकी इच्छा रखते थे, उन्हें पहले द्वारपण्डितके साथ विवाद करना पड़ता था, वह ऐसे कठिन और जटिल प्रश्न पूछता था कि प्रतिशत ६० विद्यार्थी उसमें उत्तीर्ण होकर प्रवेशाधिकारी होते थे। इसी नियमसे इस विश्वविद्यालयने विद्वानोंका एक ऐसा दल उत्पन्न कर दिया था जो संसारमें अपने-अपने विषयोंके अजेय पण्डित समझे जाते थे—और थे। नालन्दा विश्वविद्यालय वास्तवमें एक

अद्‌भुत और अद्वितीय विश्वविद्यालय था और उसमें सैकड़ोंकी संख्यामें प्रौढ़ पाण्डित्य-पूर्ण विद्वान् प्रतिवर्ष निकलते थे। एक हजार व्यक्ति उसमें ऐसे थे, जो सूत्रों और शास्त्रोंके बीच संग्रहोंका अर्थ समझा सकते थे। पाँच सौ विद्वान् ऐसे थे जो ३० संग्रहोंकी व्याख्या कर सकते थे और धर्माचार्यको लेकर दस विद्वान् ऐसे थे जो ५० संग्रहोंकी व्याख्या कर सकते थे। विद्यापीठके प्रधान आचार्य शीलभद्र ही एक ऐसे अद्भुत विद्वान् थे जिन्होंने इन सभी ग्रन्थोंको भली भाँति पढ़ा और समझा था।

इसवी सन् ६३५ में जब ह्वेनसांग इस विद्यापीठमें पहुँचा था तो उस समय शीलभद्र नालन्दा-विश्व-विद्यालयके अध्यक्ष थे। उनके पूर्व पदपर उनके गुरु धर्मपाल प्रतिष्ठित थे। धर्मपाल भर्तृहरिके समकालीन थे। शीलभद्र समतटके राजकीय वंशके एक ब्राह्मण थे, वे बाल्यावस्थासे ही विद्या-प्रेमी और तत्त्व-जिज्ञासु थे। राजमहल, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, आनन्द-विलास आदिके प्रलोभनोंमें न फँसकर वे सच्चे गुरुकी गवेषणामें निकल पड़े थे और दूर-दूर देशोंमें भ्रमणके अनन्तर उन्हें आचर्य धर्मपालको प्राप्तकर सन्तोष हुआ। और उनसे दीक्षा लेकर वे उनके शिष्य हो गये। ३० वर्षकी अवस्थामें वे धर्मपालके शिष्योंमें सर्व प्रधान हो गये।

शीलभद्र एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे, बौद्ध-दर्शन विशेषतः योगाचार सम्प्रदायपर उन्होंने व्याख्यात्मक टीकाएं की हैं। शीलभद्रकी ख्याति विदेशोंमें भी पहुँच चुकी थी। ह्वेनसांग कई महीनोंतक उनके चरणोंमें रहकर योग-दर्शनके गूढ़ तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करता रहा।

नालन्दा विश्व-विद्यालयके अन्य प्रसिद्ध आचार्योंमें—धर्मपाल और शीलभद्रके अतिरिक्त चन्द्रपाल, गुणमति तथा स्थिरमति थे, जिनकी तत्कालीन विद्वानोंमें अत्यधिक ख्याति थी। इनके अतिरिक्त प्रभामित्र—जिनके तर्क तीक्ष्ण और स्पष्ट होते थे, जिनमित्र—जिनकी सम्भाषण-शैली अत्यन्त सुमधुर और आकर्षक थी, ज्ञानचन्द्र जिनका चरित्र आदर्श और मति प्रत्युत्पन्न थी—इस विश्वविद्यालयके उज्ज्वल रत्न थे।

इतने ही नहीं; अन्यान्य देशप्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान् इस विश्वविद्यालयकी शोभा और कीर्तिका विस्तार करते थे, यही कारण था कि विदेशोंसे भी सहस्रों विद्यार्थी अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करनेके लिये उनके चरणोंमें आश्रय प्राप्त करते थे, नालन्दा-विश्वविद्यालयने भारतको विश्वके समुन्नत देशोंके सम्मुख इतना ऊँचा बना दिया कि जिससे वह आज भी विश्वके तत्त्वान्वेषियोंके लिये एक महान् तीर्थ रूप है।

क्या हम आशा करें कि आजका स्वतन्त्र भारत ऐसे महान् और आदर्श विश्वविद्यालयोंकी स्थापना द्वारा आधुनिक सभ्य-संसारमें भारतीय संस्कृति, सभ्यता और तत्त्वज्ञानका प्रचारकर, पुनः जगद्‌गुरुत्वको प्राप्तकर संसारको मानवताका उद्देश्य बताते हुए उसे शाश्वतशान्तिका साधन कर सकेगा?

—❀—

एक विचित्र घटना

[यह इक्कीसवीं सदीके कलियुगका ही प्रभाव है कि आजका मानव अपने पुनर्जन्मके सम्बन्धमें सर्वथा नास्तिक होने लगा है, जन्मान्तरको मानना और न मानना ही आस्तिक और नास्तिकता है। आएदिन हमारे यहां इस प्रकारकी अनेक घटनाएं हुआ करती हैं जो आज भी—इस कलिकालमें भी हमारे शास्त्र-वर्णित जन्मान्तरके ज्वलन्त प्रमाण हैं और नास्तिक संसारके सन्मुख एक आदर्श हैं। यहाँ हम एक आश्चर्यजनक सत्य और निकट-भूतकी घटनाका उल्लेख कर रहे हैं —सम्पादक।]

अगस्त १५, १९४९ को बिसौली गाँव, जिला बदायूँसे प्रमोद नामका एक बालक जब मुरादाबाद आकर अपने पूर्वजन्मकी घटनाओंका वर्णन करने लगा—जनतामें एक अपूर्व उत्तेजना फैल गई।

हजारोंकी संख्यामें स्त्री और पुरुष जिनमें नगरके कतिपय प्रतिष्ठितजन भी थे इस बालकसे मिले और अन्तमें यह ध्रुव सत्य सिद्ध होगया कि हमारे शास्त्रवर्णित पुनर्जन्मका सिद्धान्त ऋषियोंकी कल्पनामात्र नहीं है।

साढ़े पाँच वर्षके बालकने यह बतलाया कि वह मोहन ब्रदर्स फर्मके स्वामी श्रीमोहनलालका पूर्वजन्ममें अनुज था और उसका नाम परमानन्द था।

मई ९, १९४३ को पेटमें भयंकर शूलके कारण सहारनपुरमें उसकी मृत्यु हो गई। मृत्युके ठीक नौ महीने छः दिनके बाद मार्च १५, १९४४ को बिसौली गाँवमें इंटर कालेजके प्रोफेसर श्री बाँकेलाल शर्मा शास्त्री M. A. के घरमें उसका पुनर्जन्म हुआ।

कुछही दिनोंमें जैसे ही वह बोलने लगा तो वह कभी मोहन मुरादाबाद, कभी सहारनपुर और कभी मोहन ब्रदर्स कहने लगा।

जब कभी वह बालक अपने स्वजनोंको बिस्कुट और मक्खन खरीदते देखता वह तुरत कह उठता कि मुरादाबादमें उसकी बड़ी बिस्कुट फैक्टरी थी और इस प्रकार कभी कभी वह अपने माता पितासे आग्रह करता कि वे उसे मुरादाबाद ले चलें। और भी विचित्रता देखिये कि बालकका नाम उसकी जन्म-कुंडलीमें पंडितों द्वारा इस जन्ममें भी परमानन्द ही रक्खा गया जिसे वह अपने पूर्वजन्मका नाम बतलाता था। किन्तु उसके बड़े भाईका नाम वरमोद होनेके कारण इसे घरवाले प्रमोद कहने लगे।

किन्तु बालक सदा यही आग्रह करता कि वह परमानन्द है और उसके सम्बन्धी भाई, लड़के लड़की और स्त्री मुरादाबादमें हैं। अन्ततः यह समाचार धीरे-धीरे इस वर्ष बालकके पूर्वजन्म-सम्बन्धित स्वजनोंको मुरादाबादमें मालूम हुआ और उसके पूर्वजन्मके भाई श्री मोहनलाल गाँवमें एक दिन उस विचित्र बालकको देखनेके लिये गत जुलाई मासमें आये। किन्तु घटनावश बालक उस समय अपने किसी स्वजनके यहां बिसौली गाँवसे दूर चला गया था। अतएव उसके प्रोफेसर पितासे बालकको मुरादाबाद लेकर आनेका अनुरोध करके श्रीमोहनलाल वापस चले आये। स्वातन्त्र्य दिवस गत १५ अगस्तको वह बालक अपने पिताके साथ मुरादाबाद आया। गाड़ीसे उतरते ही उसने अपने भाईको पहचान लिया और गलेसे लगा लिया। स्टेशनसे घर आते समय उस बालकने टाउनहालको पहचाना और कहा कि उसकी दूकान अब पास ही है। जब टाँगा उस दूकानके पास होकर निकल रहा था तो मोहन ब्रदर्सके दूकानके सामने उसे रोकनेको कहा। जब वह साढे पाँच वर्षका बालक अपने पूर्वजन्मके एक कमरेमें घुसा जहां परमानन्द अपने पूजनकी सामग्री आदि रखते थे, तो उसने सिर झुकाकर प्रणाम किया तथा अपने पूर्वजन्मकी पत्नी एवं अन्य सम्बन्धियोंको पहचान लिया। उसने और भी अनेक पूर्वजन्मसम्बन्धी घटनाओंका वर्णन किया जिससे सब बड़े प्रभावित हुए और सबने स्वीकार किया वे घटनाएं सत्य हैं। केवल उसने

अपने पूर्वजन्मके बड़े पुत्रको नहीं पहचाना, जो उसकी मृत्युके समय १३ वर्षका था और अब १७ वर्षका है और जब उसने पूर्व जन्मकी याद दिलायी कि सब भाई एक साथ बैठकर लेमन आदि पिया करते थे, तब तो सभी भाई तथा अन्य सम्बन्धी जो वहां वर्त्तमान थे रो पड़े।

इसके पश्चात् उस बालकने अपनी दूकानपर जानेकी इच्छा प्रकट की। वहां दूकानमें जाते ही वह सोडा मशीनके पास गया, और उसके बनानेकी विधियाँ बतलायीं जो उसने अपने इस जीवनमें कभी नहीं देखा था। जब मशीन नहीं चली, तब उसी समय उसने कहा कि इसका वाटर कनेक्शन बन्द किया गया है। जो वस्तुतः उसकी परीक्षाके लिये किया गया था। फिर उसने विक्टरी होटल जानेकी इच्छा प्रकट की जो श्रीकरमचन्द परमानन्दके चचेरे भाईका है। उसने उस मकानका मार्ग बतलाया और ऊपरके मंजिलपर जाकर बतलाया कि जो कमरे ऊपर बने हैं, वे पहले नहीं थे। मुरादाबादके प्रमुख नागरिक श्रीसाहु नन्दलालशरण उस बालकको अपनी कारमें मेस्टन पार्क ले गये, वहां उन्होंने बालकको वह स्थान बतलानेको कहा जहां उसकी सिविल लाइन्सकी ब्रांच पहले थी। बालक उनको गुजराती बिल्डिंगमें ले गया, जो श्रीसाहु नन्दलालशरणकी है, वहां उसने वह दूकान बतलायी, जहां पहले एक समय मोहन ब्रदर्सकी दूकान थी। मेस्टन पार्क जाते समय बालकने इलाहाबादबैंक, वाटरवर्क्स जिला जेल आदि सब पहचान लिये।

अगस्त १६ को आर्यसमाजकी एक सर्वसाधारण सभामें उसके प्रोफेसर पिताने उस बालककी मेधाशक्तिके विकासका वर्णन किया और अत्यन्त कठिनाईसे उसको निद्रित अवस्थामें उसे घर वापस लाये। पूरे एक जन्मकी ममता उसे खींच रही थी।

यह अनहोनी घटना जिसकी पुनरावृत्ति जब तब हो जाया करती है अपना एक गहरा प्रभाव मुरादाबादकी जनता पर छोड़ गई है।

आस्तिक और नास्तिक दोनों ही इस सम्बन्धमें मूकसे हैं। एकको कुछ समझानेकी आवश्यकता नहीं है और दूसरेको कुछ समझाया नहीं जा सकता।

(अमृतबाजार पत्रिका, अगस्त २८, १९४९ से)

सुख मिला कहाँ किसने देखा।

जिसको देखा अभिलाष लिए, अन्तस्तल में अभिशाप लिए,
फिरते जगती का भार लिए, झोली में भरे विलाप लिए,
सपनों में सुख सबने देखा, मिला कहाँ सुख किसने देखा !

× × ×

निशि-वासर कोई सोच रहा, सुख है उन ऊँचे महलोंमें,
महलों वालों से जा पूछा, वे बोले—पर्ण-कुटीरोंमें,
धोखा खाते सबको देखा, मिला कहाँ सुख किसने देखा !

× × ×

षड् - रस - व्यंजन - भोगी देखे, कन्था - धारी योगी देखे,
सूखी रोटी खाने वाले, मधुर गान नित गाने वाले,
सबको हमने रोते देखा, मिला कहाँ सुख किसने देखा !

—प्रताप

अपनी बात

सरकार दुराग्रह छोड़े।

हिन्दूकोडबिल पुनः धारासभामें उपस्थापित किया जारहा है। चार पांच वर्षोंसे इसपर विवाद चल रहा है। सब श्रेणीके विशिष्ट विद्वान इसपर अपना विरुद्ध मत प्रकट कर चुके हैं। लाखों करोड़ोंकी संख्यामें विरोधपत्र तथा तार सरकारके पास अबतक हिन्दू जनताकी ओरसे भेजे जाचुके हैं; परन्तु ऐसा देखा जारहा है. कि जब-जब यह बिल. विचारार्थ धारासभाके सामने आता है, तब-तब जनताकी ओरसे इसका तीव्र प्रतिवाद होनेसे उस समयके लिये किसी ब्याजसे इसे स्थगित कर दिया जाता है, जब पुनः जनताका प्रतिवाद शिथिल पड़ता है, तब यह बिल फिर धारासभामें उपस्थापित किया जाता है। यह बड़े ही दुःखका विषय है कि, जनतन्त्र Democracy का डंका पीटने वाली और अपनी कहलानेवाली सरकार भोली-भाली हिन्दूजनताको धोखेमें डालकर उसके पारिवारिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवनमें उथल-पुथल मचानेवाला और उसका सर्वनाश करनेवाला हिन्दूकोड जैसा घातक कानून पास करनेका कुचक्र चला रही है। जिस शासनके सर्वोच्च सूत्रधार पं० जवाहरलाल नेहरु और सरदार बल्लभभाई पटेल जैसे लोकप्रिय, जनताके विश्वास-भाजन तथा Democracy के समर्थक महान् पुरुष हों, उसके द्वारा इस प्रकार लोकमतका अनादर तथा अवहेलना अत्यन्त अशोभनीय है। जबसे इस बिलका सूत्रपात हुआ, इस सम्बन्धमें लोकमत जाननेके लिये राव-कमिटीने प्रायः देशके सभी भागोंमें दौरा किया, तबसे जनताद्वारा इसका प्रबल विरोध होता आरहा है। यहांतक कि, जो गृहदेवियाँ कभी घरसे बाहर नहीं आयी थीं, वे भी अपनी उस मर्यादाको छोड़ इस बिलके विरोधमें गवाहियां देनेके लिये राव-कमिटीके सामने आयी। अवश्य कुछ मनचले विदेशी रङ्गमें रङ्गे स्त्री-पुरुषोंने इसका समर्थनभी किया, परन्तु इनकी संख्या करोड़ों विरोधियोंकी तुलनामें नगण्य ही है। तबभी सरकार हिन्दू समाजपर अपनी सत्ताके बलसे हिन्दूकोड बिलको जबरदस्ती लादना चाह रही है, और उसे पास करानेपर कटिबद्ध है। सरकारको जान लेना चाहिये कि, इस पवित्र भारत-भूमिपर हिन्दूओंका वैदिक सनातनधर्मका नाश करनेवाला शासन टिक नहीं सकता। बौद्धोंका उज्वल उदाहरण सामने है। भगवान् बुद्ध हमारे अवतार माने जाते हैं, परन्तु जब बौद्धोंने ईश्वर और ईश्वरीय वैदिकधर्मका नाश कराना चाहा, तब एक तपस्वी ब्राह्मण कुमारिल भट्टने इस पवित्र भूमिसे उनको निर्वासित ही कर डाला। और बौद्धोको चीन-जापानमें शरण लेनी पड़ी। यद्यपि राजा-प्रजा सबके सब बौद्ध हो जानेसे भट्टपाद कुमारिलको केवल एक राज्य-कन्याको छोड़ किसीका सहयोग नहीं प्राप्त हुआ था। अनन्तर भगवान् आदि शंकराचार्य आये और उनके द्वारा पुनः वैदिक सनातनधर्मकी प्रतिष्ठा हुई। अतः सरकारसे हमारा साग्रह अनुरोध है कि, वह अपना दुराग्रह छोड़े और लोकमतका आदर कर इस हिन्दूकोडबिलको वापस लेले। इसीमें शासन और शासित दोनोंका हित है।

हिन्दूसंस्कृति और नेहरुजी।

गत तीन सितम्बरको प्रयाग विश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने भाषण करते हुए श्री पं० जवाहर लाल नेहरुजीने कहा था कि, हिन्दू-संस्कृति सड़ गयी है। उसके बाद अपनी अमेरिका यात्राके अवसरपर उन्होंने अपने एक भाषणके प्रसङ्गमें कहा कि, वे जो कुछ हैं, वह उन्हीं देशोंके स्कूलों तथा युनिवरसिटियोंकी देन हैं। उनके इस कथनसे यह स्पष्ट होजाता है, कि नेहरूजी हिन्दू-संस्कृतिके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते हैं। क्योंकि उनकी जो कुछ शिक्षा-दीक्षा हुई है, वह पाश्चात्य देशोंमें ही हुई हैं; अतः स्वभावतः ही उनकी सब विचार-धाराएं भी पश्चिमी सभ्यता-संस्कृतिपर बनी हुई हैं। दुर्भाग्यवश वे हिन्दू संस्कृतिके विषयमें सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अतः जबतक वे हिन्दू संस्कृतिको उसके विशेषोंसे अच्छी तरह अध्ययन न करलें, तबतक श्रीनेहरुजी जैसे महान् उत्तरदायित्वपूर्ण पदपर आसीन महान् पुरुषके लिये ऐसा कहना कदापि उचित नहीं है। इस सम्बन्धमें हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि, हिन्दू संस्कृतिका एक छोटासा ग्रन्थ भगवद्गीता जो महाभारत जैसे बृहत् ग्रन्थका एक अल्प अंश है, उसके बने हुए पांच हजार वर्षसे अधिक होगये हैं, तब पुरानी होनेके कारण क्या कभी भी वह किसी विचार-शील व्यक्तिकी सम्मतिमें सड़ी कही जासकती है? अबतक पृथिवीके सैकड़ों भाषाओंमें उसका अनुवाद और प्रकाशन हो चुका है एवं पृथिवीके करोड़ों मनुष्योंको वह सची शान्ति एवं सच्चे सुखका मार्ग दिखा रही है। हिन्दू संस्कृतिके उदार पवित्र सिद्धान्तोंका यह एक सामान्य उदाहरण है। ऐसी पवित्र हिन्दूसंस्कृतिको सड़ी हुई कहकर नेहरूजीने जो कोटि-कोट हिन्दुओंके हृदयोंपर गहरी चोट पहुँचायी है, उसके लिये उन्हें क्षमा याचना करनी चाहिये।

राष्ट्रभाषा हिन्दी।

संतोषका विषय है कि, अनेक वाद-विवाद-के अनन्तर अन्ततः विधानपरिषद्ने देवनागरी लिपिमें लिखी जानेवाली हिन्दीको राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया। इसके लिये आर्यावर्तके लौह-पुरुष श्रीपुरुषोत्तमदास टंडनजीको हम हार्दिक बधाई देते है। उन्हींके अनवरत-अथक उद्योग-द्वारा हिन्दीको यह न्यायोचित स्थान प्राप्त हुआ है। साथ ही हमें यह देख कर आश्चर्य और दुःख भी होता है कि, हमारे राष्ट्रके स्वातन्त्र्य-संग्रामके सेनानी, जो अंग्रेजी शासनको यहांसे खदेड़नेके लिये इतने उतावले थे कि, उन्होंने देश-का विभाजन कराकर हमारी मातृभूमिको छिन्न-भिन्नतक कर डाला, वे ही अंगरेजी भाषाको अभी अगामी पन्द्रह वर्षोंतक और बनाये रखना चाहते हैं। इसका क्या यह अर्थ नहीं कि, बाहरी गुलामीसे मुक्त होनेपरभी उनकी मानसिक गुलामी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है?

श्रीआर्य महिलाहितकारिणी महापरिषद्की अखिल भारतीय मण्डली तथा पदाधिकारियोंका निर्वाचन आगामी दिसम्बर मासमें होगा। अतः महापरिषद्के सब श्रेणीके सदस्य महानुभावोंसे प्रार्थना है, कि प्रत्येक सदस्य किसी एक सदस्यके लिये अपना मत मन्त्रीके पास शीघ्र भेजनेकी कृपा करें। सदस्योंकी नामावली नीचे प्रकाशित की जाती है।

—मन्त्री

संरक्षक नामावली

१ भारतेन्दु श्रीमान् सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास K.B.E., Kt., J.P., C.I.E., M.B.E., बम्बई।

२ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराजा कृष्णकुमार महोदय भावनगर,—काठियावाड़।

३ श्रीमान् सर चुन्नीलाल वी. मेहता K.C.S.I., बम्बई।

४ विद्यारत्न एतमादुद्दौला श्रीमान् सर एस. एम. वापना रायबहादुर Kt., C.I.E., इन्दौर।

५ श्रीमान् रामकृष्णजी डालमिया, नई दिल्ली।

६ श्रीमान् सेठ कुड्डीलाल सेकसेरिया, बम्बई।

७ श्रीमान् राजाबहादुर पन्नालाल वंशीलाल, हैदराबाद।

८ श्रीमान् सेठ गदाधरजी सोमानी, बम्बई।

९ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराजा यशवन्तराव होलकर, इन्दौर।

१० श्रीमान् हरिशंकर बागला, कानपुर।

११ श्रीमान् सेठ धरमसी मूलराज खटाऊ, बम्बई

१२ श्रीमान् कैलाशपत सिंहानिया, कानपुर।

१३ श्रीमान् गोविन्दराम बाँगर, कलकत्ता।

१४ श्रीमान् माल्हीराम सोंथलिया, कलकत्ता।

१५ श्रीमान् रामसहायमल मोर, कलकत्ता।

१६ श्रीमान् छोटेलाल कानोडिया, कलकत्ता।

१७ श्रीमान् नन्दलाल भुवालका, कलकत्ता।

१८ श्रीमान् रूपचन्द झुनझुनवाला, कलकत्ता।

१९ श्रीमान् शिवनाथसिंह महोदय, कलकत्ता।

२० श्रीमान् एन. सी. चटर्जी महोदय, कलकत्ता।

२१ श्रीमान् राधाकृष्ण चमड़िया कलकत्ता।

२२ श्रीमान् प्रयागदास गिरधरदास महोदय, कलकत्ता।

२३ श्रीमान् विश्वेश्वरदयाल मित्तल महोदय, बम्बई।

२४ श्रीमान् मेघराज भुवालका महोदय, बनारस।

२५ श्रीमान् सोहनलाल जाजोडिया, कलकत्ता।

२६ श्रीमान् रामदास किलाचन्द, बम्बई।

२७ श्रीमान् रणजीतसिंह एम. ए. ओ. बी ई., लखनऊ।

२८ श्रीमान् लक्ष्मीनिवास बिड़ला, कलकत्ता।

२९ श्रीमान् बाबूलाल ढनढनिया, बनारस।

उप-संरक्षक नामावली

१ हिज हाईनेस हिंदू-सूर्य महाराजाधिराज महाराणा सर भूपालसिंह महोदय, उदयपुर मेवाड़।

२ श्रीमती सुव्रतादेवी रामनारायण रुइया, बम्बई।

३ श्रीमान सेठ नन्दलाल कपूर, बम्बई।

४ रायबहादुर श्रीमान् मँगतूलाल तापड़िया, कलकत्ता।

५ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, धारस्टेट।

६ श्रीमान् लाला रामचन्द्रजी, कानपुर।

७ श्रीमान् लाला रामरतनजी गुप्त, कानपुर।

८ श्रीमान् जी. एम. पाइन, कलकत्ता।

९ श्रीमान् सम्पतकुमार चाँदरतन, कलकत्ता।

१० श्रीमान् चम्पा लाल जटिया, कलकत्ता।

११ श्रीमान् एस. के. दत्त, कलकत्ता।

१२ श्रीमान् मुन्नालाल भालोटिया, कलकत्ता।

१३ श्रीमान् सूरजरतन मोहता, कलकत्ता।

१४ श्रीमान् दयाराम पोद्दार, कलकत्ता।

१५ श्रीमान् सेठ रामदेव आनन्दीलाल पोद्दार, बम्बई।

१६ श्रीमान् कन्हैयालाल जटिया, कलकत्ता।

१७ श्रीमान् हीरालाल सोमानी, कलकत्ता ।
१८ श्रीमान् रामकुमार सोमानी कलकत्ता ।
१९ श्रीमान् गणपत राम कैंया, कलकत्ता ।
२० श्रीमान् रामकृष्ण धानुका, कलकत्ता ।
२१ श्रीमान् सेठ जगमोहन जयन्तीलाल, कलकत्ता।
२२ श्रीमान् सोहनलाल पचीसिया, कलकत्ता ।
२३ श्रीमान् नन्दकिशोर भाभरिया, कलकत्ता ।
२४ श्रीमान् करमचन्द थापर, कलकत्ता ।
२५ श्रीमान् सेठ रामदयाल सोमानी, बम्बई ।
२६ श्रीमान् सेठ धीरजलाल जीवनलाल, बम्बई ।
२७ श्रीमान् सेठ मोतीलाल तापड़िया, बम्बई ।
२८ श्रीमान् सेठ रामकुमार शिवचन्द्रराय, बम्बई।
२९ श्रीमान् सेठ वंशीधर गोपाल दास, बम्बई ।
३० श्रीमान् सेठ आनन्दराम मँगतुराम, बम्बई ।
३१ श्रीमान् सेठ दुर्गादत्त, बम्बई ।
३२ श्रीमान् रामरिखदास परशुरामपुरिया, बम्बई।
३३ श्रीमान् सेठ मुल्तानी हसानन्द ठाकुरदास, बम्बई ।
३४ श्रीमान् शिवकुमार भुवालका, बम्बई ।
३५ श्रीमान् वल्लभदास करशनदास नाथा, बम्बई ।
३६ श्रीमान् पूरनमल बुबना, बम्बई ।
३७ श्रीमान् सेठ गोवर्धनदास यादवजी, बम्बई ।
३८ रायबहादुर लाला गुरुशरणलाल सी. आई. ई. कलकत्ता ।
३९ श्रीमान् सेठ भोगीलाल लहरचन्द, बम्बई ।
४० श्रीमान् बा० ज्योति भूषण गुप्त, बनारस ।
४१ श्रीमान् सेठ भगवानलाल पन्नालाल, बम्बई ।

आजीवन सदस्य नामावली

१ लेडी ताराबाई चुन्नीलाल मेहता, बम्बई ।
२ श्रीमान् सर मथुरादास विसनजी, बम्बई ।
३ श्रीमान् सेठ रमणलाल भोगीलाल चिनाई, बम्बई ।
४ श्रीमती शिवदेवी जी, जयपुर ।
५ श्रीमान् गिरधरदास भार्गव बी० ए० एल-एल० बी०, कानपुर ।
६ श्रीमान् ए.पी.पट्टनी, भावनगर—काठियावाड़।
७ श्रीमती तरलाबाई, अहमदाबाद ।
८ हिज़ हाइनेस श्रीमान् जामसाहब सर दिग्विजय सिंह बहादुर, जामनगर ।
९ श्रीमती धर्मपत्नी द्वारका प्रसाद सिंह, कानपुर ।
१० श्रीमती लेडी कुसुम एच. कनिया, नयी दिल्ली ।
११ श्रीमान् सेक्रेटरी सीड्स ट्रेडर्स एसोशियेशन, बम्बई ।
१२ श्रीमती लक्ष्मीबाई महोदय, बम्बई ।
१३ श्रीमान् सेठ लक्ष्मीदास देवीदास ठाकरसी, बम्बई ।
१४ श्रीमान् सर ईश्वरदास लक्ष्मीदास Kt., बम्बई ।
१५ श्रीमान् युगलकिशोर जी बिड़ला, कलकत्ता ।
१६ श्रीमान् युगतरामजी वैद्य, बम्बई ।
१७ श्रीमान् रतनसी प्रयागजी, बम्बई ।
१८ श्रीमान् सेठ खीमजी पूञ्जा, बम्बई ।
१९ श्रीमान् विशनजी मोरारजी, बम्बई ।
२० श्रीमान् सेठ सुखदयाल रामविलास, बम्बई ।
२१ श्रीमान् एल० हरजीवन एंड कम्पनी बम्बई ।
२२ श्रीमान् शान्तीलाल चुन्नीलाल एंड कम्पनी, बम्बई ।
२३ श्रीमान् सेठ ओकवलाल गोपालदास बम्बई ।
२४ श्रीमान् सेठ धनराजमल चेतनदास, बम्बई ।
२५ श्रीमान् सेठ कानजी द्वारकादास, बम्बई ।
२६ श्रीमान् सेठ मूलचन्द बुलाकीदास, बम्बई ।
२७ श्रीमान् सेठ प्रवीणचन्द गोपालजी जवेरी, बम्बई ।
२८ श्रीमान् सेठ यमुनादास रामदास डोसा बम्बई ।
२९ श्रीधनराज मिल्स लिमिटेड, बम्बई ।
३० श्रीमान् सेठ वीरचन्द मेघजी थोभन बम्बई ।
३१ श्रीमान् सेठ रतनलाल बुबना, बम्बई ।
३२ श्रीमान् सेठ तेजभानदास उद्धवदास बम्बई ।
३३ श्रीमूलचन्द बिमलचन्द एंड कम्पनी बम्बई ।
३४ श्रीमान् सेठ वाडीलाल दौलतराम, बम्बई ।

३५ श्रीमान् सेठ वल्लभदास द्वारकादास, बम्बई ।
३६ श्रीमान् सेठ वीरामल परसुराम, बम्बई ।
३७ श्रीमान् वी० आर. कम्पनी, बम्बई ।
३८ श्रीमान् सेठ घेलादयाल, बम्बई ।
३९ श्री मुरारजी वेलजी एण्ड सन्स, बम्बई ।
४० श्रीमान् सेठ मथुरादास द्वारकादास, बम्बई ।
४१ श्रीमती शान्तीदेवी राजा गोविन्दलाल पित्ती, बम्बई ।
४२ श्रीमान् सेठ आशाराम ठाकुरदास, बम्बई ।
४३ श्रीमान् सेठ भगवानदास के. ब्रदर्स, बम्बई ।
४४ श्रीमान् कान्तीलाल ईश्वरलाल, बम्बई ।
४५ श्रीमान् द्वारकादास सेकसरिया, बम्बई ।
४६ श्रीमान् सेठ रतनसी मूलजी, बम्बई ।
४७ हिज हाइनेस महाराजा साहब बहादुर, जोधपुर ।
४८ श्रीमान् सेठ रामेश्वरदास बिडला, बम्बई ।
४९ श्रीमान् जगन्नाथ प्रसाद, बनारस ।
५० श्रीमती राजकुमारी देवी राजा मुकुन्दलाल पित्ती, बम्बई ।
५१ हर हाइनेस श्रीमती राजमाता महारानी, छतरपुर ।
५२ श्रीमान् सेठ गोरधनदास पी. सोनावाला, बम्बई ।
५३ श्रीमान सेठ जैसिंह भाई उजमसी भाई, अहमदाबाद ।
५४ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराजा साहब, ध्रांगध्रा ।
५५ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराजा साहब, पालीटाना ।
५६ श्रीमान् निर्मल कुमार जैन, आरा ।
५७ श्रीमान् सेठ कस्तूरभाई लालभाई, अहमदाबाद ।
५८ श्रीमान् लक्ष्मीनारायण गिरधारीलाल, कानपुर ।
५९ राय बहादुर श्रीमान् किशनलाल गुप्त कानपुर ।
६० श्रीमान् सेक्रेटरी नेटिव मर्चेन्ट्स एसोसियेसन, बम्बई ।
६१ श्रीमान् सेक्रेटरी मारवाड़ी चैम्बर्स लि०, बम्बई ।
६२ श्रीमान् एच. घोष, एलाहाबाद ।
६३ श्रीमान् सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, बम्बई ।
६४ श्रीमान् सेठ हरनन्दराय घनश्यामदास, बम्बई ।
६५ श्रीमान् रावराजा कल्याण सिंह, जयपुर ।
६६ श्रीमान् रावराजा सरदार सिंह, जयपुर ।
६७ हर हाइनेस श्रीमती महरानी, सैलाना ।
६८ हिज होलीनेस श्रीगोस्वामी वल्लभाचार्य, भरतपुर ।
६९ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराजा साहेब, नैपाल ।
७० श्रीमान् जयन्तीलाल शराफ, बम्बई ।
७१ श्रीमान् सर गिरजाप्रसाद जी बेरोनेट, अहमदाबाद ।
७२ श्रीमान् सेठ हरकिशनदास लक्ष्मीदास, बम्बई ।
७३ श्रीमती इन्दुकुमारी देवी, बम्बई ।
७४ श्रीमान् सेठ मुरलीधर निरंजनलाल, बम्बई ।
७५ श्रीमान् सेठ पुरुषोत्तमदास लक्ष्मीदास, बम्बई ।
७६ श्रीमान् सेठ रामचन्द्र ताराचन्द्र, बम्बई ।
७७ श्रीमान् सेठ मँगतूराम जैपुरिया, कानपुर ।
७८ श्रीमान् देवशर्माजी, कानपुर ।
७९ श्रीमान् सर हरगोविन्द मिश्र Kt. कानपुर ।
८० श्रीमान् गोपालदास टंडन, कानपुर ।
८१ रायबहादुर श्रीमान् मोहनसिंह, कलकत्ता ।
८२ श्रीमान् जयन्तीलाल ओझा, कलकत्ता ।
८३ श्रीमान् भागीरथ कानोडिया, कलकत्ता ।
८४ श्रीमान् रामकुमार भुवालका, कलकत्ता ।
८५ श्रीमान् गोविन्ददास भद्दर, कलकत्ता ।
८६ श्रीमान् सीताराम रामरिख महोदय, कलकत्ता ।
८७ श्री कोटक कम्पनी, बम्बई ।
८८ श्रीमान् सेठ हंसराज जीवनदास, बम्बई ।
८९ श्रीमान् सेठ जीवराज मोतीराम एन्ड कम्पनी, बम्बई ।

९० श्रीमान् सेठ चिमनलाल मानचन्दजी ज्वेलर। बम्बई ।
९१ श्रीमान् सेठ वसनजी खीमजी, बम्बई ।
९२ श्रीमान् सेठ नरसी नागसी एन्ड कम्पनी, बम्बई ।
९३ श्रीमान् सेठ मोहनलाल कपूर, बम्बई ।
९४ श्रीमान् मोहनलाल मगनलाल खादू, बम्बई ।
९५ श्रीमान् सेठ आनन्दीलाल हेमराज बम्बई ।
९६ श्रीमान् सेठ बनारसीदास सेकसेरिया, बम्बई ।
९७ श्रीमान् सेठ वाडीलाल काशीदास, बम्बई ।
९८ श्रीमान् सेठ दामोदरदास हरगोबिंददास, बम्बई ।
९९ श्रीमान् सेठ भाईदास करशनदास, बम्बई ।
१०० श्रीमान् सेठ नानजी कालिदास पोरबन्दर, काठियावाड ।
१०१ श्रीमान् सेठ विश्वंभरलाल महेश्वरी, बम्बई ।
१०२ श्रीमान् सेठ चिरंजीलाल लोयलका, बम्बई ।
१०३ श्रीमान् सेठ शाकरचंद जी शाह, बम्बई ।
१०४ श्रीमान् सेठ गोविन्दजी शामजी, बम्बई ।
१०५ श्रीमान जोखीराम रामचन्द्र, बम्बई ।
१०६ श्रीमान् सेठ रामनाथजी डागा, बम्बई ।
२०७ श्रीमान् सेठ घनश्यामदास सीताराम पोद्दार, बम्बई ।
१०८ श्रीमान् सेठ भवानजी अर्जुन खीमजी, बम्बई ।
१०९ श्रीमान् एम० सी० चिनाई, बम्बई ।
११० श्रीमान् झरीराम भदानी, बम्बई ।
१११ श्रीमान् गौरीशंकरजी गोयनका, बनारस ।
११२ श्रीमान् सेठ चतुर्भुज पीरामल, बम्बई ।
११३ श्रीमती सरस्वती देवी, बनारस ।
११४ श्रीमान् केदारनाथ अग्रवाल, कलकत्ता ।
११५ हर हाइनेस श्रीमती महारानी राजमाता देवेन्द्र कुमारी देवी डूंगरपुर, राजपुताना ।
११६ श्रीमती सुशीला बिरला महोदया, कलकत्ता ।
११७ प्रोप्राइटर सूरत काटन स्पिनिङ्ग डाइंग मिल्स, बम्बई ।
११८ श्रीमती ज्ञानवती बाई, बम्बई ।
११९ श्रीमान् बालादीन महोदय, बनारस ।
१२० श्रीमान् डा. किशोरी रमण प्रसाद, बनारस ।
१२१ श्रीमती धर्मपत्नी सेठ लक्ष्मी निवासजी, हैदराबाद ।
१२२ श्रीमती मुक्ताबाई, हैदराबाद ।
१२३ सर श्रीराम महोदय, नयी दिल्ली ।
१२४ धर्म विनोद रावल संग्राम सिंहजी सामोद, जैपुर ।
१२५ हिज हाइनेस महाराजा० साहब पोरबन्दर काठियवाड ।
१२६ श्रीमान् सेठ कन्हैयालाल भन्डारी, इन्दौर ।
१२७ श्रीमान् सत्येन्द्रजीत सिंह, कलकत्ता ।
१२८ श्रीमती सूरजमल नेमानी, बम्बई ।

साधारण सदस्य नामावली

१ हिज हाइनेस श्रीमान महरावलजी बाँसवाडा, (राजपुताना) ।
२ श्रीमान् महाराजा श्रीदिलीपसिंह सी. आई. ई, सैलाना ।
३ श्रीमती धर्मपत्नी हरिश्चन्द्रजी साहब आई. सी. एस. एलाहाबाद ।
४ हर हाइनेस श्रीमती महारानी, टेहरी ।
५ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराजा बहादुर श्रीरामसिंह, सीतामऊ ।
६ श्रीमान् महेन्द्र महाराजा श्रीनरेन्द्रशाह बहादुर के. सी. आई. ई, टेहरी ।
७ श्रीमान् यशवन्तसिंह साहब बिदवल, (धार स्टेट) ।
८ हिज हाइनेस श्रीमान् महाराज कामेश्वर सिंह के. सी. आई. ई, एल-एल. बी. डी. लिट्, दरभङ्गा ।
९ श्रीमान् ठा० लौटूसिंह गौतम, काशी ।
१० हर हाइनेस श्रीमती महारानी टेहरी, टेहरी ।

११ हर हाइनेस श्रीमती गुलाब कुँअर साहबा जामनगर।
१२ हर हाइनेस श्रीमती महरानी साहबा, दतिया।
१३ श्रीमान् सेठ राधाकृष्णजी मुच्छाल एम एल सी, इन्दौर।
१४ रायबहादुर सेठ हीरालालजी, इन्दौर।
१५ श्रीमती धर्मपत्नी बा० रणजीतसिंह एम. ए. ओ. बी. ई. लखनऊ।
१६ श्रीमती धर्मपत्नी सर बद्रीदास गोयनका, कलकत्ता।
१७ श्रीमान् सेठ चरणदास मेघजी, बम्बई।
१८ मंत्री सत्यनारायण लाइब्रेरी, डिडवन।
१९ श्रीमान् सेठ शिवदानमल गंगाराम, बम्बई।
२० श्रीमान् प्राणलाल देवकरन, बम्बई।
२१ श्रीमान् सेठ किशोरीलाल भगवानदास, बम्बई।
२२ श्रीमान् डा० एच. एस. चतुर्वेदी, इन्दौर।
२३ मेसर्स दृधा एन्ड कम्पनी, मद्रास।
२४ श्रीमान् सेठ भगवानलाल पन्नालाल बम्बई।
२५ श्रीमान् सेठ सूरजमल लल्लूभाई मद्रास।
२६ श्रीमान् डब्ल्यू. आर. पौराणिक, कलकत्ता।
२७ श्रीमान् सेठ सूरजमल नागरमल, कलकत्ता।
२८ श्रीमान् रामेश्वरलाल नैपानी, कलकत्ता।
२९ श्रीमान् इन्द्रचन्द्रजी केजरीवाल, कलकत्ता।
३० श्रीमान् सेठ केदारनाथ पोद्दार, कलकत्ता।
३१ श्रीमान् कुँवर रामसरण सिंह, नाहन (पंजाब)
३२ श्रीमती आर. पी. बागला, कानपुर।
३३ श्रीकुमारी विष्णुकान्ता मालपानी, रतलाम।
३४ श्रीमान् नरेन्द्रजीत सिंह बैरिस्टर, कानपुर।
३५ श्रीमान् नटवरलाल मानिकलाल सुर्ती, भावनगर।
३६ श्रीमान् कमाण्डिंग जनरल मोहन शमशेर जंग बहादुर, नेपाल।
३७ श्रीमान् सेठ देवचन्द खरमसी सेठिया, बम्बई।
३८ श्रीमान् कल्याणजी मावजी, कलकत्ता।
३९ श्रीमती अनुसूयादेवी पशुपतिनाथ करोरिया, बम्बई।
४० श्रीमती अनुसूयादेवी रामप्रसाद गुप्ता, कानपुर।
४१ श्रीमती इन्दिरा रामचन्द्र कपूर, बनारस।
४२ श्रीमती गौरीदेवी मेहरा बनारस।
४३ श्रीमान् बालकृष्णदास गघेलाल, बनारस।
४४ श्रीमान् रघुनाथप्रसाद सत्यनारायणप्रसाद, बनारस।
४५ श्रीमान् मन्नीलाल ज्वाला प्रसाद, बनारस।
४६ श्रीमान् रामेश्वर लाल पोद्दार, बनारस।
४७ श्रीमान् हीरालाल चौधरी, बनारस।
४८ श्रीमान् राधाकृष्ण चमड़िया, बनारस।
४९ श्रीमान् नरसिंहदास कोठारी, कलकत्ता।
५० श्रीमान् बाबू घनश्यामदास, कलकत्ता।
५१ श्रीमान् रामनिवास झुनझुनवाला, कलकत्ता।
५२ श्रीमान् रामेश्वर प्रसाद शर्मा, फैजाबाद।
५३ श्रीमान् धन्वन्तर प्रसाद शुक्ल, खीरी।
५४ श्रीमान् जे. प्रकाशसिंह, सीतापुर।
५५ श्रीमान् के. सी. महेश्वरी, कलकत्ता।
५६ श्रीमती लीलाभान, काश्मीर।
५७ श्रीमती वुद्धादेवी मुन्नीलाल मेहरा, बनारस।
५८ श्रीमान् शिवदत्तराय नाथामल चौधरी, मोतीहारी।
५९ श्रीमान् बा. बनवारीलाल, मोतीहारी।
६० श्रीमान् पं० रामावतार पाण्डेय, बनारस।
६१ श्रीमान् पं० देवनायकजी आचार्य, बनारस।
६२ श्रीमान् पं० ननकु प्रसाद तिवारी, बनारस।
६३ श्रीमान् पं० रामशङ्करजी वैद्य, बनारस।
६४ श्रीमती अनुसुया देवी महोदया, कलकत्ता।
६५ श्रीमती धर्मपत्नी जी० डी० माथुर, बनारस।
६६ श्रीमान् पं० कमलापति द्विवेदी, बनारस।
६७ श्रीमान् बा० देवी नारायणजी, बनारस।
६८ श्रीमान् प० रघुनन्दनलाल दर, बनारस।

महापरिषद् सम्वाद

श्रीमान् पंडित जवाहरलाल नेहरूजीने २८-११-१९४९ को सघधारा सभामें जो हिन्दू कोड बिलके सम्बन्धमें वक्तव्य दिया है उससे हिन्दूजनताको बहुत ही शोक और असन्तोष हुआ है, क्योंकि हिन्दू कोड बिल हिन्दूजनताके लिए जीवन मरणका प्रश्न है। पंडितजीके वक्तव्यपर अखिल भारतीय श्री आर्य-महिला हितकारिणी परिषद्की कार्यकारिणी समितिके ताः १-१२-४९ की बैठकमें जो प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुआ है उसको हम ज्यों का त्यों यहां उद्धृत कर रहे हैं:—

सम्पादक

मन्तव्य

"अखिल भारतीय श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की प्रबन्ध-कारिणी समिति माननीय पण्डित जवाहरलाल नेहरूजीके ता० २८।११।४९ को धारा सभामें दिये हुए हिन्दू कोड बिल सम्बन्धी वक्तव्यपर हार्दिक क्षोभ तथा असंतोष प्रकट करती है। नेहरूजीके इस वक्तव्यसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि, वे हिन्दूजनतापर अपने आधिकारके बलसे इस बिलको अवश्य लादना चाहते हैं। नेहरूजीका यह कार्य लोकतन्त्र सिद्धान्तके विरुद्ध है। इसलिये यह समिति, नेहरू सरकारसे सविनय साग्रह अनुरोध करती है कि वह अपने इस बिलको वापस लेकर हिन्दू समाजका विश्वास-भाजन बने और उत्तमोत्तम प्राचीन आर्य संस्कृति और न्यायकी मर्यादाको जीवित रखकर सुयशके भागी बनें।"

(गताङ्कसे आगे)

त्रिभुवन-विभव-हेतवेऽप्यकुण्ठ
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा—
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा—
नखमणि-चन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥ ५४ ॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा—
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥ ५५ ॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश-
स्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥

त्रिभुवनकी सम्पदके लिये भी जिसका भगवच्चिन्तन छूट नहीं सकता, भगवान्‌मे मग्न देवता आदि भी जिन्हें ढूंढते रहते है, भगवच्चरणकमलोंसे जो आधेक्षण और आधे पलके लिये भी अलग नहीं होता वह भगवान्‌के भक्तोंमें आगे गिनेजाने योग्य है ॥ ५३ ॥ विष्णु भगवान्‌के पराक्रमी चरणोंकी अंगुलियोंके नाखून रूपी शीतल मणियोंकी कान्तिसे जिसका काम आदि ताप शान्त हो गया फिर शरणागत पुरुषोंके हृदयमें किस प्रकार वह ताप हो सकता है ? जैसे चन्द्रमाके उदय हो जानेपर सूर्यका ताप नहीं रह सकता ॥ ५४ ॥ जो (.भगवान्) विवशतावश नामोच्चारण किये जानेपर भी समस्त-पाप-राशिका नाश कर देते हैं, वे ही (भक्त द्वारा) प्रेम-पाशसे चरणकमलोंके बँध जानेके जिसके हृदयको नहीं छोड़ते वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा गया है ॥ ५५ ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण एकादशवें स्कन्धका
दूसरा अध्याय समाप्त ।

तृतीयोऽध्यायः ।

राजोवाच

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामि भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥१॥
नानुतृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥२॥

अन्तरिक्ष उवाच—

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥३॥
एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधात्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ॥४॥
गुणैर्गुणान्स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥५॥

राजा निमि बोले—हे प्रभो ! मैं बड़े से बड़े मायाविओंको भी मोहित कर देनेवाली श्रीविष्णु भगवान्‌की मायाको जानना चाहता हूँ ; कृपया आप लोग उसका रहस्य मुझे बतला दीजिये ॥१॥ मैं संसारके तापोसे संतप्त एक मनुष्य हूँ, अतः आपके मुखपद्मसे निकलनी हुई तापोंकी औषधिरूप जो हरिकथामृत है उसे सुनते हुए मुझे तृप्ति ही नहीं होती ॥२॥ अन्तरिक्षने कहा—हे आजानुबाहुवाले आदिदेव ! नारायण ने निज स्वरूप हो जीवोंके भोगादिके लिये निर्मित पञ्चभूतोसे ही विविध प्रकार उत्कृष्ट और निकृष्ट भूतोंकी सृष्टि की है ॥ ३ ॥ इस प्रकार पञ्चमहाभूतों द्वारा रचित उन प्राणिमात्र में स्वतःही जीवात्मारूपसे प्रविष्ट हो (एकमन और दस कर्मेंद्रियों) एकविध और दसविधसे विभक्त उनके गुण अर्थात् विषयोंका उपयोग करता है ॥ ४ ॥ तत्तत् इन्द्रियोंसे विषयोंका उपभोग करता हुआ तथा इस शरीर आदिको ही आत्मरूप समझता हुआ इसमें तन्मय हो जाता है ॥ ५ ॥ फिर वह

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्स निमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥
धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥८॥
शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति ॥९॥
पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः ॥१०॥
संवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥११॥

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥१२॥
वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तदुधृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥१३॥
हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥१४॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५॥
एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्त-कारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः भूयः किं श्रोतुमिच्छसि॥१६॥

शरीरधारी अपने शरीरद्वारा वासनात्मक कर्म करता हुआ तथा इन्द्रियोंके सुख और दुःखोंको भोगता हुआ संसारमें भ्रमण करता रहता है ॥६॥ इस प्रकारके कर्मोंके फलोंसे नाना प्रकारके दुःखों को भोगता हुआ महाप्रलय पर्यन्त लाचार होकर जन्ममरणके चक्रमें घूमता रहता है ॥ ७ ॥ इसके पश्चात् उन पञ्चमहाभूतोंका प्रलयकाल उपस्थित होनेपर अनादि और अनन्तकालरूप इस द्रव्य-गुणात्मक संसारको अव्यक्तकी ओर आकर्षित करता है ॥८॥ इस प्रलयकालमें सौ वर्षोंतक पृथ्वी-में घोर अनावृष्टि होगी और सूर्य भगवान् अति उष्णताके साथ तीनों लोकोंको तपाने लगेंगे ॥९॥ शेषनाग मुखसे आग उगलेगा प्रलयकालीन वायुसे प्रेरित हो पाताललोकसे आरम्भ कर सबको जलाता हुआ ऊँची-ऊँची ज्वालाओं के साथ बढ़ता जाता है ॥ १० ॥ संवर्तक नामकी मेघगण हाथीके सूँड़ोंके समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्षोंतक निरन्तर बरसते रहते हैं, जिनसे समस्त ब्रह्माण्ड डूब जाता है ॥ ११ ॥

इसके पश्चात् हे राजन् ! विराट् पुरुष अपने ब्रह्माण्डरूपी शरीरको छोड़कर बन्धनरहित अग्निके समान सूक्ष्मरूप 'अव्यक्त'में प्रवेश करता है ॥१२॥ पृथ्वीकी गन्ध वायुद्वारा खींच लिये जाने पर पृथ्वी सलिलरूप हो जाती है और जिस सलिलसे वायुद्वारा ही रस खींच लिया जाता है वह अग्निरूप हो जाती है ॥ १३ ॥ अन्धकार द्वारा रूपहीन अग्नि वायुमें और अवकाश द्वारा स्पर्श-हीन वायु आकाशमें लीन हो जाता है ॥ १४ ॥ जब कालके प्रभावसे अपने गुणशब्दसे रहित होकर आकाश तामस-अहङ्कारमें, इन्द्रियाँ राजस अहङ्कारमें और इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृदेवोंके साथ मन और बुद्धि सात्विक अहङ्कारमें लीन होते हैं और अहङ्कार अपने गुणों सहित महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है ॥ १५ ॥ हमने यह जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयकारिणी भगवान्‌की त्रिगुणात्मक मायाका वर्णन किया है, अब और क्या सुननेकी इच्छा है ॥ १६ ॥

राजोवाच—

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥१७॥

प्रबुद्ध उवाच -

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥१८॥
नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥१९॥
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥
तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥२१॥
तत्र भगवतान्धर्माञ्छिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥२२॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥२३॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥२४॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥२५॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।

राजा निमिने कहा—हे महात्मन् ! चित्तको वशमें न कर सकनेवाले और स्थूलबुद्धिके लोगोंके लिये अतिकठिन इस ईश्वरीय मायाको समझ सकें—ऐसा उपदेश कीजिए ॥ १७ ॥ प्रबुद्धने कहा—स्त्री पुरुष सम्बन्धसे एक होकर दुःखनाश और सुख प्राप्तिके लिये कर्मानुष्ठान करने वाले पुरुषोंको जो विपरीत ही फल मिलता है उसे देखना चाहिये ॥१८॥ नित्य दुःख-दायी, अतिदुर्लभ और आत्माके लिये साक्षात् मृत्युरूप इस धनसे अनित्य गृह, सन्तान, कुटुम्ब और पशु आदि प्राप्तिसे क्या सुख मिलता है ॥१९॥ मनुष्योंको इहलोक और परलोक दोनोंको कर्मजन्य और नाशवान् समझना चाहिये। इसमें सामन्त नरेशोंकी प्रतिस्पर्द्धा, उत्कृष्टके प्रतिद्वेष एवं स्वयं उत्कृष्ट होनेपर पतनका भय लगा ही रहता है ॥२०॥ अतएव अपना श्रेय चाहनेवाले जिज्ञासुको चाहिये कि शाब्दब्रह्म और परब्रह्ममें नीष्णात शान्तचित्त वाले गुरुकी शरणमें जाय ॥ २१ ॥ अनन्तर उन गुरुदेवको ही आत्मा तथा इष्टदेव समझता हुआ प्रेमपूर्वक भागवत धर्मोंको सीखे, जिनसे शुद्ध आत्मा द्वारा आचरण किये जानेपर स्वयं अपनेको (भक्तके) अर्पण कर देने वाले भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥ सर्वप्रथम एकान्त-चित्त, पुनः साधु-सत्सङ्ग, तब सभीके प्रति दया-भाव, मैत्रीभाव यथायोग्य करना चाहिये ॥२३॥ शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा तथा सुख-दुःख आदि द्वन्द्वमें समानता रखनी चाहिये ॥ २४॥ भगवान्को सभी जगह आत्मस्वरूप देखना, एकान्तवास, ममत्वरहित होना, शुद्धवस्त्र परिधान करना, प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रहना चाहिये ॥ २५ ॥ भगवान्का वर्णन करनेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा रखना, शास्त्रान्तरोंकी निन्दा न करना, मन, वचन और कर्ममें संयम रखना, सत्यभाषण तथा शम दम आदिसे युक्त होना चाहिये ॥२६॥ अद्भुत लीला करनेवाले श्रीहरिके जन्म कर्म और गुणोंका क्रमशः श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना, अपनी सभी चेष्टाएँ उन्हींके लिये करना चाहिये ॥ २७ ॥ यज्ञ, दान, तप, जप, आचार, स्त्री, पुत्र, गृह, और

दारान्सुतान्गृहान्प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्॥२८॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टि निर्वृत्तिर्मिथ आत्मनः॥३०॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥३१
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
गायन्ति नृत्यन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥३२॥
इति भागवतान्धर्मान्छिक्षन्भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥३३॥

राजोवाच—

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवादिनः॥३४॥

पिप्पलायन उवाच—

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥३५॥
नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥३६॥

प्राण—जो भी अपनेको प्रिय हो—सब भगवान्को अर्पण कर देना चाहिये ॥ २८ ॥ इसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रमें जिनके आत्मा और वे ही जिनके नाथ ऐसे पुरुषोंसे प्रेम करना। दोनों प्रकार स्थावरों और जंगमों तथा महात्माओं और साधुओंकी सेवा करना, भगवानके पवित्र यशका परस्पर कथोपकथन करना और जिसे परस्परमें प्रेम सन्तोष तथा शान्ति बढ़े ऐसे कार्य करना ॥ २९-३० ॥ इसी प्रकार पापोंके समूहको नाश करनेवाले भगवान् हरिका स्मरण स्वयं करते तथा औरों द्वारा कराते हुए महात्मालोग भक्तिसे ही भक्तिके उत्पन्न हो जानेपर पुलकित या पुलकायमान हो जाते हैं ॥३१॥ इसके अनन्तर वे कभी भगवान्का ध्यान करके रोते, कभी हँसते, कभी आनन्द मग्न रहते और कभी अनर्गल शब्दोंको कहते हैं और कभी नाचते कभी प्रभुका गुणगान करते, कभी अजन्मा भगवान्की लीलाओंका ध्यान करते हैं फिर ऊपरसे प्राप्तकर अन्तमें सबतरहसे शान्त हो मौन हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ इसी प्रकार भागवत धर्मोंका अभ्यास पूर्वक आचरण करते करते उनसे उत्पन्न भक्तिद्वारा नारायणरूप होकर भक्त इस दुस्तर मायाको सरलतापूर्वक पार कर लेता है ॥ ३३ ॥

राजा निमिने कहा—आपलोग ब्रह्म-स्वरूपका निरूपण करते हैं, इसलिये आप नारायण नामके परब्रह्म स्वरूपका उपदेश हमें कीजिये ॥३४॥

पिप्पलायनने कहा—जो इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण होते हुए भी कारण रहित हैं और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें भीतर और बाहर भी है जिनसे संचालित होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा हृदय अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त हुआ करते हैं उन्हें ही तुम एकमात्र नारायण स्वरूप समझो ॥ ३५ ॥ चिनगारियाँ जिस प्रकार ज्वालाको प्रकाशित नहीं कर सकतीं उसी प्रकार इस आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेमें मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि किसीकी गति नहीं है और शब्द केवल निषेधात्मक वृत्तिके द्वारा निषेधविधिरूपसे ही उसे अर्थापत्तिद्वारा लक्षित करता है। क्योंकि निषेधकी अवधिके न होनेसे निषेधकी सिद्धि ही नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥३७॥
नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥
अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहनि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥
यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि ।
तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामल दृशोः सवितुः प्रकाशः ॥४०॥

राजोवाच

कर्म योगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।
विधूय स्वानि कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥४१॥
एवं प्रश्नमृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।
नाब्रुवन्ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥४२॥

आविर्होत्र उवाच—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥

आदिमें एक ही ब्रह्म था जो सत्त्व, रज और तम के द्वारा 'त्रिवृत्' कहा गया उसे ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और फलरूपात्मक होनेसे महत्तत्त्व, सूत्र और अहंकार कहते हैं। फिर वही ब्रह्म ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और . अर्थात्मकरूपसे भासमान होता है, इसी प्रकार सत्, असत् और उसके भी परे सर्वत्र ब्रह्म ही है ॥ ३७ ॥ परमात्माने न कभी जन्म लिया, न कभी मरेगा ब्रह्म बढ़ता है न घटता, कारण—वह सर्वव्यापक, नित्य, अच्युत एवं ज्ञानरूप तथा सभी परिवर्तित होने वाले विकारोंका साक्षी है। एक ही प्राण जैसे इन्द्रियोंके स्थानभेदसे विविध रूपोंको प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार प्राण, अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज योनियोंमें यत्र-तत्र जीवानुसरण करता है उसी प्रकार सुषुप्तिअवस्थामें इन्द्रियोंके निश्चेष्ट और अहङ्कारमें लीन हो जानेके उपरान्त कूटस्थ आत्माके अतिरिक्त उस अवस्थाकी स्मृति कोई भी नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥ कमल नाभिवाले विष्णु भगवान्‌के चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये बढ़ी हुई तीव्र भक्तिरूपी अग्निके द्वारा जब जीव अपने चित्तके गुण-कर्मोंके अनुसार उत्पन्न हुए पापोंको दग्ध कर देता है तो शुद्ध हो जानेपर आत्मतत्त्व उसी प्रकार स्पष्ट भासित होने लगता है जिस प्रकार निर्मल नेत्रोंमें सूर्यका तेज ॥४०॥ राजानिमिने कहा—हे मुनिवृन्द ! आप लोग अब मनुष्य अपने कर्मोंका त्याग करके परम-नैष्कर्म्यको प्राप्त हो जाता है ॥ ४१ ॥ पहले भी—एक बार मैंने यही प्रश्न पिता (इक्ष्वाकु) के सामने ब्रह्माके पुत्र (सनकादि) ऋषियोंसे पूछा था, लेकिन उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया, इसका क्या कारण था ? यहभी मुझे समझाइये ॥ ४२ ॥

आविर्होत्रजी बोले—कर्म, अकर्म और विकर्म आदि जो विषय वेदोंसे ही जाना जा सकता है वे लौकिक पदार्थों द्वारा ज्ञानका विषय नहीं है। वेद भगवद्रूप है, उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ जिस प्रकार बालकको बहकाया जाता है उसी प्रकार वेद परोक्ष वाद है, कह कर कर्मस्वरूप रोगको हटानेकेलिये ही

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥४६॥
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥४७॥
लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥४८॥
शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥४९॥
अर्चादौ हृदये चापि
यथालब्धोपचारकैः ।

कर्मरूपी औषधका नियम बनाया गया है ॥ ४४ ॥ इन्द्रियोंको वशमें न कर सकनेवाला और अज्ञानी जो पुरुष वेदोक्त विधानका आचरण नहीं करता वह वेद-विहित-कर्म न करनेके पापसे बारंबार जन्म और मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥ वेदोक्त कर्मोंको ही निःसङ्गभाव होकर ईश्वरको अर्पण करता हुआ नैष्कर्म्यरूपी सिद्धिको पा जाता है वेदमें जो फलश्रुति है वह केवल कर्मकी ओर प्रवृत्ति करनेकेलिये ही है ॥ ४६ ॥ पररूप आत्मा-की हृदयग्रंथिको जो शीघ्र ही खोलना चाहें, उसे चाहिये कि वह वेदविहित और तन्त्रविहित विधिसे नियमतः भगवान् केशवकी अर्चना करे ॥ ४७ ॥ अपने आचार्य (गुरु) की कृपा द्वारा निर्दिष्ट विधिसे अभीप्सितमूर्तिकेद्वारा महापुरुष नारायण भगवान्का पूजन करे ॥ ४८ ॥ सर्व-प्रथम शरीर और अन्तःकरणसे शुद्ध हो प्रतिमाके सन्मुख बैठ प्राण-संयमन (प्राणायाम) आदिके द्वारा नाडीको शुद्धकर फिर अङ्गन्यासकेद्वारा देह कीरक्षा करके भगवान्की पूजा करे ॥ ४९ ॥ वाह्य प्रतिमा अथवा हृदयस्थ प्रतिमा जिसका भी पूजन

द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि
निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥ ५० ॥
पाद्यादीनुपकल्याथ सन्निधाप्य समाहितः ।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥५१॥
साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥५२॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भि-
र्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत्
स्तवैस्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥ ५३ ॥
आत्मानं तन्मयं ध्यायन्मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसा स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥५४॥

करना हो उसकी उपलब्ध पूजा सामग्री, पूजास्थान तथा शरीर आदिको प्रथम शुद्ध करे तदनन्तर आसनपर जल छिड़ककर उसे शुद्ध करे ॥ ५० ॥ तदनन्तर पूजा-पात्र, अर्घ्यपाद्य आदिपात्रोंको यथास्थान रखकर एकाग्रचित्त हो अङ्गन्यास आदि के पश्चात् मूलमन्त्रोंसे मूर्तिका पूजन करे ॥ ५१ अपने-अपने उपास्यदेवकी साङ्गोपाङ्ग और पार्षदोंसे युक्त मूर्तिकी उसके मूलमन्त्र द्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, विविध वस्त्र और आभूषण, गन्ध, माला, अक्षत, पुष्पमाला धूप, दीप तथा नैवेद्य आदिसे विधिपूर्वक पूजन करे, तत्पश्चात् स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति करके भगवान् हरिको प्रणाम करे ॥ ५२-५३ ॥ इस प्रकार अपने आत्मामें भगवद्रूपको समझता हुआ भगवान्की प्रतिमा का पूजन करे, फिर निर्माल्यको अपने मस्तक पर रखकर पूजी हुई भगवान्की प्रतिमाको निश्चल स्थान पर रख दे ॥ ५४ ॥

एवमग्न्यर्कतोयाद्यावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥५५॥

श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन ।

राजोवाच—

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥१॥

द्रुमिल उवाच—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चि-
त्कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥ २ ॥

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥४॥

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।

इसी प्रकार जो अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और अपने हृदयमें भगवान्‌का पूजन करता है बहुत शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धका
तृतीय अध्याय ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्याय ।

राजानिमिने कहा इस लोकमें श्रीभगवान्‌ने स्वेच्छासे धारण किये हुए अपने जिन-जिन अवतारोंसे जो जो लीलाएँ की हैं, कर रहे हैं अथवा करेंगे, उन सबको हमसे कहिये ॥ १ ॥

द्रुमिलने कहा—हे राजन् ! जो पुरुष भगवान्‌के अनन्त अगणित गुणोंकी गिनती करना चाहता है, वह मन्दबुद्धि है । यह सम्भव है, कि पृथिवीके बालुका-कणोंको किसी प्रकार किसी समय कोई गिन भी ले, परन्तु सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के अगणित गुणोंका कभी कोई पार नहीं पा सकता ॥ २ ॥ अपने बनाए हुए पञ्चभूतोंके द्वारा ब्रह्माण्डरूप पुरकी रचना करके जब भगवान् आदिदेव नारायणने अपने अंश जीवके रूपसे उसमें प्रवेश किया तब उनका 'पुरुष' नाम हुआ ॥ ३ ॥ जिनके विराट शरीरमें इस समस्त त्रिभुवनका समावेश है, जिनकी इन्द्रियोंसे देहधारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, स्वरूपसे स्वतःसिद्ध ज्ञान, श्वास प्रश्वाससे बल ओज और क्रियाशक्ति तथा सत्त्वादि गुणोंसे स्थिति, उद्भव और लय होते है; वे ही आदिकर्ता नारायण हैं ॥ ४ ॥ प्रारम्भमें जगत्‌की उत्पत्तिके लिये उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा हुए, फिर वे आदिपुरुष ही संसारकी स्थितिके लिये धर्म और ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले यज्ञपति विष्णु तथा तमोगुणके अंशसे संसार संहारक रुद्र हुए । इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे

रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥५॥
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः॥६॥
इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७ ॥
विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।
मा भैष्ट भो मदनमारुतदेववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥८॥
इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।
नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥
त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन्ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥१०॥

प्रजाकी उत्पत्ति, पालन और संहार होते रहते हैं ॥५॥ धर्मकी पत्नी दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे भगवान्‌ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायणके रूपमें अवतार लिया, उन्होंने आत्मतत्त्वको लक्षित करानेवाला कर्मत्यागरूप कर्मज्ञाननिष्ठाका उपदेश किया और स्वयं भी उसीका आचरण किया। वे, जिनके चरणोंकी सेवा मुनिश्रेष्ठ करते हैं, आजकलभी विराजमान हैं ॥ ६ ॥ ये अपने घोर तपस्या द्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं'—ऐसी आशङ्का कर इन्द्रने (उन्हें तपसे भ्रष्ट करनेके लिये) कामदेवको उसके दल-बल सहित भेजा और उनकी महिमाको न जाननेके कारण वह बदरिकाश्रममें जाकर अप्सरागण, वसन्त, मन्द सुगन्ध वायु और स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे उन्हें बींधनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ७ ॥

इन्द्रकी इस कुचालको जानकर कुछ विस्मय न कर आदिदेव नारायणने भयसे काँपते हुए उन कामादिसे हँस कर कहा—"हे मदन ! हे मन्दमलय मारुत ! हे देवाङ्गनाओं ! तुम लोग डरो मत; हमारा आतिथ्य स्वीकार करो; आतिथ्य ग्रहण किये बिना वापस जाकर हमारा आश्रम सूना न करो" ॥ ८ ॥ हे राजन् ! अभयदायक दयालु भगवान् नारायणके यह मधुर बचन सुन लज्जासे सिर झुकाये हुए देवगणने करुणस्वरसे इस प्रकार कहा—"हे विभो ! आप मायातीत और निर्विकार हैं, आत्माराम, धीर पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं; अतः आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है जो स्वयं निर्विकार रह कर हमारे समान अपराधियोंपर भी इतनी कृपा कर रहे हैं ॥ ९ ॥

जो आपकी ही सेवा करते हैं, उनके मार्गमें देवगण अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं, क्योंकि वे उनके धामको लाँघ कर आपके परमपदको प्राप्त होते हैं। उनके अतिरिक्त जो केवल कर्मकाण्डमें लगे रह कर यज्ञादिके द्वारा देवताओंको उनका भाग देते रहते हैं, उन्हें कोई विघ्न नहीं होता, तथापि यदि आप उनकी रक्षा करने लगते हैं तो वे भक्तगण समस्त विघ्नोंके सिर पर पैर रख देते हैं, अर्थात् अपने लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं ॥ १० ॥

❀ श्री [illegible] नमः ❀

श्री धर्मसेविका विद्यापीठ, काशी।

द्विजातिकी बाल-विधवाओंके लिये अभूतपूर्व अवसर

हमारे देशमें अल्पवयस्का विधवाओंका जीवन एक प्रकारसे भार समझा जाता है, पर अब ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं। श्रीआर्यमहिला हितकारिणी-महापरिषद्ने जो अखिल भारतीय सनातनधर्मावलम्बिनी महिलाओंकी एकमात्र संस्था है, ऐसी विधवाओंके लिये काशीमें "धर्मसेविका विद्यापीठ" नामक एक विभागकी स्थापना सन् १९४१ में की। यह विद्यापीठ विधवा बालिकाओंको हिन्दी, संस्कृत तथा शास्त्रीय विषयोंमें पूर्ण दक्ष और चतुर बनाकर उन्हें देश-सेविका एवं धर्मसेविकाके रूपमें प्रस्तुत कर रहा है। शिक्षाका समय चार वर्षका है। सुयोग्य छात्राओंके भरण-पोषणका सब व्यय संस्था देती है। भर्ती होनेवाली छात्राओंको हिन्दीका अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है। यह संस्था अपने ढङ्गकी बिलकुल अद्वितीय और अभूतपूर्व है। पढ़ाई तथा रहने आदिकी भी बड़ी ही उत्तम व्यवस्था है। शिक्षा समाप्तिके पश्चात् धर्मसेवा करते समय धर्मसेविकाओंको २०) से ५०) मासिक तक आजीवन पुरस्कार दिया जायगा। विशेष विवरण जाननेके लिए नीचे लिखे पतेपर पत्र व्यवहार कीजिये।

उपाधि-परीक्षा-विभाग

विद्यापीठका यह विभाग देशके महिलाओं एवं कन्याओंमें धर्मशिक्षा प्रचारके लिये स्थापित किया गया है। जो स्त्रियाँ घरके बाहर जाकर धर्मशिक्षा प्राप्त करने अथवा परीक्षा देकर उपाधि प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिये यह विभाग स्वर्ण सुयोग प्रदान करनेवाला है। वे इस विभागद्वारा निर्धारित कुछ धर्म-पुस्तकोंको पढ़कर अपने घर बैठी ही परीक्षा देकर 'धर्मदीपिका', 'धर्म कोविदा' तथा धर्मशारदा' आदिकी उपाधियाँ प्राप्त कर अपने जीवनको बहुमूल्य बना सकती हैं।

इसके केन्द्र सर्वत्र खोले जा रहे हैं। स्त्री-शिक्षा-संस्थाओंको इस विभागका परीक्षा-केन्द्र अपने यहाँ खोलकर धर्म-शिक्षाके प्रचारद्वारा शिक्षा-सम्बन्धी असम्पूर्णता दूर करना चाहिये।

विशेष जानकारीके लिये नियमावली मँगिये—

संचालिका—
श्रीधर्मसेविका विद्यापीठ,
श्री आर्यमहिला-कार्यालय,
जगतगंज, बनारस कैंट।

सम्पादक, मुद्रक व प्रकाशक—श्रीमदनमोहन [illegible], आर्यमहिला कार्यालय, जगतगंज, बनारस [illegible] [illegible] प्रेस, रामघाट, [illegible] प्रकाशित किया।

Cromwell had thought of it and it could hardly be postponed, for English settlers crossed the border in such numbers that the Dutch had an English secretary to deal with them, nor was it possible to enforce the Navigation Act while the Dutch, separating New England from Virginia, distributed their goods through the best harbour on the coast. So came about in 1664 the grant of this territory to the King's brother, an easy conquest of New Amsterdam, and its renaming as New York. After a brief Dutch reoccupation in the war of 1673, this cosmopolitan Colony was fitted into the English frame; strategically it was of vast importance since the Hudson river system took its rise in the Iroquois country and almost touched the Canadian lakes.

Out of the New York hinterland, or its borders, three later Colonies were carved New Jersey, running south-west to the Delaware, was made over by York to courtiers, who resold it to a Quaker syndicate headed by Penn, who by yet another transaction got a tract on that river which in 1702 became the government of Delaware. But his largest acquisition was in 1681, of the great section west of Delaware and north of Maryland, which Charles II named Pennsylvania Here, with his extraordinary gifts of propaganda, and after spending two years on the spot himself, he founded a mixed colony of Quakers, Swedes, Germans, and Swiss, who prospered in full religious liberty and soon asserted their self-government against his own fanciful loftiness.

So were sketched in outline, save for Georgia which was added under George II, the coastal Colonies of our old American dominion, whose population rose from some 63,000 in 1660 to 350,000 by 1713 Another 200,000 in the West Indies, of whom two-thirds were negroes, completed this Atlantic empire.

Yet 'Empire' is hardly the word, for the system broke down whenever it was defined. Its ingredients, such as they were, were first pulled together by the legislation of 1650–73. These represented the current ideas that a favourable balance of trade was the index of national power; that trade rested on sea-power; that plantations should be so used as to increase shipping and a seafaring population, and so regulated as to supply what the mother-country lacked and swell the customs revenue. The Navigation Act of 1660, developing the Commonwealth's ordinance of 1651, provided (1) that no goods might be carried to, or from, the Colonies except in English or colonial ships, the crews of which must be three-quarters English; (2) that certain 'enumerated' products of the Colonies — sugar, tobacco, indigo, cotton-wool, dye-woods — might only be exported direct to England or other English Colonies A third principle was added by the 'staple' Act of 1663, whereby products of Europe bound for the Colonies must first be landed in England and thence reshipped. Finally, in order to equalize rates in England and the Colonies, and to make unprofitable any illegal shipment, an Act of

1673 enforced a plantation duty on exports, and the taking of bonds that the law would be observed.

Later the 'enumerated' list was much extended, as for instance to the rice of Carolina, yet it would be wrong to suppose that, as yet, the Colonies suffered unduly Only tobacco much affected their producers; New England's fish and lumber could be exported freely. Again, these enumerated goods were given a monopoly of the home market, tobacco-growing in England, for example, being forcibly put down for their benefit, while our customs rates gave a large preference to Colonial products, notably on West Indian sugar, which paid only a third of the duty levied on the foreigner. It is, of course, true that the mother-country held the balance in her own interest; her favoured children were the tropical Colonies which did not drain away white labour, and whose products could not compete with English goods. But, in addition to our expenditure on their defence, there were many mitigations to this apparently rigid scheme — the salt needed for their fisheries, for example, being allowed to pass direct to America. It was recognized that the northern Colonies performed a vital function in feeding the West Indies, and when in face of short supply from the Baltic the all-important naval stores of masts, hemp, and tar were 'enumerated' in 1705, they were subsidized by a bounty; many a New England tree was marked by His Majesty's broad arrow. From its primary point of view, the 'encouragement of the navigation of this nation' which, said the Commonwealth Act, was 'under the good providence of God' its principal safety, the system was justified Under the two last Stuart kings our tonnage was doubled, by 1700 the American trade made one-seventh of all our commerce, about 80 per cent of it being with the sugar and tobacco Colonies.

In New England particularly, however, there was a wholesale breaking of the acts of trade, and at home there were signs of a desire to tighten up this ramshackle empire. The lords of trade multiplied their instructions to governors, aiming especially at fixed revenues, so that salaries and establishments might be independent of the assemblies' grants. In Virginia they enforced payment of quit-rents, they tried, and failed, to subject Jamaica to a sort of Poynings' Act; while customs officers appointed from England, and Admiralty cutters, fought the smuggling that flourished in the creeks of Chesapeake Bay and the Carolinas, or the running of negroes and sugar between the French islands and British Colonies. But the arch-offender was Massachusetts, where juries refused to convict offenders, and whose charter, after ample warning, was forfeited in 1684 And since there was other good reason for a stronger administration, to adjust frontiers and to resist the Indians, James II placed New England, New Jersey, and New York under a governor-general who, with red-coats and a surpliced clergy, set about him with a high hand.

But James fell and his projected ' Dominion of New England ' with him, there was clamour in America against Popish and French plots, and armed risings against royal officers. A period of national war followed in which British and American interests coincided. The French opened continuous attacks on New England, there was fierce fighting in Hudson's Bay, twice the Massachusetts militia captured Port Royal in Acadia, twice British expeditions unsuccessfully penetrated the St. Lawrence. Ultimately, Marlborough and British sea-power saved the Americans in Europe; at the Utrecht peace of 1713 Britain received Nova Scotia, Newfoundland, and Hudson's Bay, while the Iroquois were recognized as British subjects Yet France still held Canada, Cape Breton, and fishing rights in Newfoundland, and while that was so, the Americans must cling to the mother-country.

Our own revolution of 1688 implied a Colonial reaction against the Stuart system. Rhode Island and Connecticut recovered their original liberties, and though by a new charter of 1691 Massachusetts had to accept a royal governor and a wider franchise, it was allowed to absorb Plymouth and control Maine. Maryland and Pennsylvania continued under proprietary government, but these were the only exceptions to a new uniformity, by which New Hampshire, New York, and New Jersey all became Crown Colonies before 1702, as the Carolinas did under George I. But many fundamental reasons left British-American relations in a difficult stage

A new epoch had opened in both countries. A sovereign Parliament might mean a harder master than a sovereign King, and already industrial interests at Westminster excluded New England woollens from the home market. Assembly government was well-grounded in America but the executive was of British appointment, both William and Anne freely vetoed American bills, and Parliament's right to legislate for America, as it did, for example, by establishing an Imperial system of posts, was unquestioned This dual government would feel any period of strain, more especially since America had grown very unlike the home they had left. Virginian revolt against their planter aristocracy, movement in Maryland against their absentee proprietor, a great increase of Germans and other non-British stocks, were all symptoms of a new society. It must change all the faster as pioneers worked further west into the Indian wilderness, where new soil and debts and murderous war made their background, and where memories vanished of the ' dear England ' of the Pilgrim Fathers.

At the same time mercantile interests at home were aggressive and alert. In 1696 a new salaried Board of Trade came into existence, which lasted as the advisory and initiating body to the end of the old Empire, the same year a new Navigation Act increased the power of the British customs service, and ordained British registry for American

shipping. Within a few years twelve courts of Admiralty, from Massachusetts to Barbados, were condemning violations of the trade laws, often without a jury. Efforts to suppress the few remaining charter-Colonies, and a clash with the Colonial courts, were ominous evidence of an official view that the Colonies were not parliamentary governments but subordinate bodies, no freer than an English municipality, subject to the sovereignty both of the Imperial Parliament and the King in Council.

For the West Indies also the peace of Utrecht marked a stabilizing of the map, with a closing of some ancient history. The only addition of territory was the French share of St. Kitts, but the treaty transferred to Britain the 'Assiento', the coveted contract for supplying the Spanish colonies with negroes, which Portuguese syndicates and then the French Guinea Company had held before; with it went the right to send one ship annually to the Porto Bello fair. The age of anarchy was closing, which had made the Caribbean a sink of iniquity. The buccaneers' golden age was in its prime when Henry Morgan sacked Panama in 1671 and then rose to govern Jamaica, but many picturesque ruffians still sailed the seas during William III's wars, like 'Blackbeard' whose base was Carolina, or Captain Kidd who first made his name in New England.

West Indian prosperity was great, though changing in character, and linked to Britain in a different relation from that between Britain and America Without British capital and sea-power they could not survive. They had struggled through early days, against misgovernment by proprietors' officials, French and Spanish hostility, and dangerous native Caribs; much was due to two successive gallant Lords Willoughby of Parham, and much to an admirable governor of the Leewards, Sir William Stapleton. But, as the war of 1666–7 showed, one hostile squadron in command of the sea could ruin them, and they could only be rich by living dangerously Barbados' early prosperity was feverish and accidental, every inch of its black volcanic soil was cultivated, but the island was no larger than the Isle of Wight, and its surplus inhabitants must migrate when sugar prices fell. Planters, and the planter-governors whom they preferred, blamed the acts of Trade which confined them to the home market, though over-production, soil exhaustion, and competition from the rich French islands were equally responsible. By the early eighteenth century its white population was stationary, its original type of small planter squeezed out by large estates with many mills, and its labour supply was now less usually the white servants hired under indenture than masses of negro slaves.

Jamaica, half the size of Wales, had larger resources It was not so dependent on the single crop of sugar, while it was also an ideal centre for privateering, for the log-wood trade with Honduras, or

illegal shipping to the Spanish Main. The little Leewards (St. Kitts, Antigua, Nevis, and Montserrat) went their own way, with mixed crops and trade to the Americans; for a brief space Stapleton got them to elect a federal assembly, which did not survive their local jealousies. But their fate, like that of all the West Indies, lay in metropolitan and European events, in the London committee of planters, the power of their 'nabobs' in the Commons, and British relations with France. It was, however, their market which kept alive the settlements on the Gambia and Gold Coast. Many ventures rose and fell; finally, the Royal African Company was chartered in 1672. But interlopers broke in on the slave trade from the first, in 1697 it was thrown open, and though the Company lasted till the trade was abolished, only parliamentary grants and the royal Navy maintained any hold on West Africa.

When Queen Anne died, the East India Company hardly ruled a foot of Indian soil, but its factories were already the germs of the future presidencies; Surat (1612) and Bombay (1668), Madras (1639), and Calcutta (1686). This development on the mainland, however, was pursued only when their first objective had failed, which had been a share in the spice trade of Java and the Moluccas, there the Dutch had a good start, their ships were better, their Company was almost a department of State, and their methods were brutal In 1623 a massacre of our merchants at Amboyna marked the end of English fortunes in the islands, and as the Dutch also ousted all other Europeans from the Far East, the English Company turned to easier prey, to force a trade in India, where the Portuguese were breaking down. As part of this process Charles II negotiated for the inclusion of Bombay in his queen's dowry, which he could not afford to defend himself but transferred to the Company. Even here Dutch competition harried them, the rival factories fighting each other on both Indian coasts until their feud swelled into the wars of Cromwell and the Restoration.

Two facts long delayed the Company's growth as a territorial power. Though the Mogul Empire was decaying and the Bombay factory already had to defend its life against the rising Mahrattas, till the death of the last mighty Mogul Aurangzeb, in 1707, India did not fall into the chaos upon which Britain and France later raised their strength. Nor, again, could the Company prosper till its basis was secured at home

Though the capital invested was great for that age — just on half a million being subscribed for the voyages from 1601 to 1612—and though profits on pepper, indigo, and the rest might average 20 per cent, the Company had at first no assured continuity. Each voyage was a closed joint-stock venture, separately wound up, the Crown accepted money from 'interlopers', or rival syndicates, there was an outcry against the

Company's export of bullion, or its calico imports which menaced the cloth trade The Protector saved it from extinction in 1657 by enforcing its monopoly, broadening its shareholder basis, and making its joint-stock a permanent holding. A second crisis began late in the reign of Charles II when, under its masterful chairman Josiah Child, the Company went into politics on the side of the Court, and political clamour assisted the Whig merchants' anger at its monopoly. After a contest of bribes, parliamentary faction, and erection of a rival body, at last Godolphin brought about an amalgamation in 1708 in a United Company.

Its monopoly was now secured until 1733, and it exported annually over half a million in goods and specie, yet its Indian future was uncertain and nothing much yet distinguished it from many settlements which had perished. Indian warfare and the extortion of Indian officials forced it to use its legal power of raising troops and fortifying factories But Fort William at Calcutta, Fort St. George at Madras, and Bombay were isolated from each other — each leading, within its locked gates, its separate small edition of English life, with its church, municipality, and magistrates. The profit-making motive ruled their lives, and the Company's greatest difficulty was to keep within bounds private trading by their servants.

Yet in several ways it was already more gravely involved than in the mere volume of its imports to England. of piece-goods, dyes, silks, indigoes, or saltpetre from Bengal. Sea-power alone had secured it; not only because it could cut the Mogul trade with the Persian Gulf, or its pilgrim traffic to Arabia, but because it found in the Indian coasting trade, and in shipments further afield, means of payment for its Indian purchases and of doubling its homeward cargoes Mocha coffee and China tea were two large items in this roundabout trading. Its wealth had brought it into the arena of Parliament, which had remodelled its charter and borrowed its funds, and though, except in Ceylon, Dutch overseas possessions were declining, French factories at Pondicherry and Chandernagore warned Leadenhall Street that the sinews of war might be severed in the Orient.

CHAPTER VII

HANOVERIAN AND WHIG SUPREMACY
1714–1724

AFTER nearly a century of fever the political temperature fell in the forty years after Anne's death to normal, or even below it; though not before the patient had lost some blood. Nothing perhaps could have avoided a rising of the Highlands, but for the rebellion of 1715 in general the rigour of the new government was largely responsible.

In British eyes the Hanoverians had little to recommend them, except that they embodied the Protestant succession. George I was now a man of fifty-four, hard-set in the mentality of a German soldier and the egoism of a German prince. Like all his line he had courage, proved in the Empire's wars since the great siege of Vienna but, except for a shrewd instinct against a knave, he had no qualification as a British king. He had not troubled to learn English, arguing with his ministers in French or dog-Latin, while a very casual weekly service showed his lack of interest in the Church. The centre of life and government had always been the Court, but now in effect Court there was none. George lived meanly in a few rooms at St. James'; his wife Sophia Dorothea had been held prisoner the past twenty years in Hanover on suspicion of adultery, and remained prisoner till death, and in her place the King brought to England two mistresses, one of whom played some part in politics as Duchess of Kendal. His political confidence went foremost to foreigners — his confidential secretary the Huguenot Robethon, Bernsdorff the sour veteran of his Electoral ministers, and Bothmar who had been his liaison officer with London before — and both ministers and mistresses were accused of selling their influence. This foreign dynasty made probable a new foreign policy. It seemed as if war between Sweden and Hanover would involve Britain, and the Tory cry that a new Junto would bring new wars was justified by Stanhope's effort to refurbish the alliance against France.

Though this was unpopular, what made rebellion inevitable was the clear intention to have no truck with half the nation. From top to bottom, from Ormonde the commander-in-chief or Mar the Scottish secretary, down to local excisemen, government applied the spoils system to turn out every Tory. The Commons set up a packed committee of secrecy, on whose report they impeached Oxford, Bolingbroke, Ormonde,

and Strafford, for their share in making the peace; though they had not found out the full facts, and on those before them the charges were unprovable. One effect was that in March 1715 Bolingbroke escaped to France in disguise, afraid for his head, and frightened away by messages from Marlborough, but Oxford stood his ground and was sent to the Tower. Foreign ambassadors agreed that the country had become more Jacobite within six months than in all the last reign, there were incessant riots in London and along the Welsh Marches, demonstrations for Ormonde as against the unpopular Marlborough, mob attacks on Dissenting chapels. It was now that it was found necessary to pass the Riot Act, making assembly by over twelve persons punishable by death, on a refusal to disperse How unsafe the throne was thought can best be measured by a single fact, that Marlborough and Shrewsbury once more transmitted their courtly messages to St. Germain.

Jacobite hopes must depend most upon France, which was stultifying its treaty obligations by work on a naval base at Mardyke and allowing Jacobites to raise arms. But when in September 1715 Louis XIV died, the regent Orleans would look to Britain to maintain his position against Philip of Spain and other princes of the blood. In any case the Jacobite cause was conducted badly Hopes of an English rising disappeared when in July Ormonde fled to France, Bolingbroke, now the Pretender's Secretary of State, was convinced no Scottish movement could conquer England and would have put his master ' at the head of the Tories ', to win England over by pledges to respect the Church and constitutional liberties. But the Prince, he tells us, had 'the spirit of a Capuchin'; all secrets were betrayed, Ormonde reconnoitred Torbay and found no response, Wyndham and five other members of Parliament were arrested. Finally, without waiting to see what England would do and without Bolingbroke's knowledge, the Pretender allowed the Scottish rising to begin.

Mar, who raised the standard at Braemar in August, had been a chief agent of the Union but, rejected and despairing, reverted to conspiracy in the usual style of the Scottish nobility. ' Bobbing John ', as he came to be called, had no quality of decision, while against him was the jealousy of a greater Highland potentate, Atholl His dilemma was the old one which had ruined both Montrose and Dundee: to raise a Highland army and yet defy the Campbell power in Argyll; to cross the Forth and master Edinburgh in the face of Lowland Presbyterian feeling and English sea-power; and to make speedy contact with the English plotters who, under the Northumberland squire Forster and Lord Derwentwater, were up on the Border. A large array of nobles joined him; not Atholl and Gordon themselves but their elder sons, the Earl Marischal, Drummonds and Ogilvies, along with those from the north, Mackintosh, Invercauld, Grants, and Camerons. By October he held

Perth, entered Fife, seized the east-coast ports, and threw a vanguard forward to occupy Leith. There was a chance that Argyll, with the small royal army at Stirling, might be taken in a net.

But many things prevented even that problematic victory. The rebels had no artillery, and every town held out against them Having failed to surprise Edinburgh Castle, they dared not assault the city from Leith, Dumfries defied the Lowland group, and Fort William resisted the Highlanders, whose rush on Argyll's Inveraray was also beaten off. For a whole month Mar hesitated, hoping for the Pretender's arrival, and not even assured that a hostile north would not rise behind him, for Sutherland was loyalist and Lovat took some of the Frasers into the government camp. So the rebellion broke into two distinct campaigns

Three contingents met in October at Kelso; Highlanders from over the Forth, a Lowland force led by Kenmure, and that of the Northumberland gentry, in all only some two thousand men Disregarding Mar's advice, the English decided to cross the Border and, though some Highlanders deserted, made by Penrith to Kendal, and so on to Lancashire by the old route of 1648 Except for a few local Catholics not a man joined them, and at Preston they were driven to surrender on the 13th November.

That same day Mar met his separate fate After much waste of time he had marched to seize Dunblane, as a first move to the Forth, but Argyll outstripped him by taking the high ground at Sheriff Muir north of the town, and after a rambling fight Mar retreated. This check and news of Preston sent many Highlanders homewards, and all was already lost when James Edward in January 1716 landed and joined Mar at Perth, for Cadogan simultaneously reached Scotland with the Dutch troops, guaranteed by treaty for the Protestant succession The Scots found their Prince 'heavy', noting he was never seen to smile; nor had he much cause to, since his advisers insisted on retreat over the frozen Tay to Dundee, and Mar declared the game was up. Within a month he sailed for France and the Highland army scattered, pursued in a trail of destruction by the Dutch

Such punishment as was inflicted could not be called excessive. Of the leaders impeached, only Kenmure and Derwentwater were executed, together with less than thirty of the rank and file, though several hundred more were transported to the Indies In Scotland there was a bitterness left behind, in which Argyll himself shared; and since juries would not convict, or Scots profit by confiscation, many forfeited estates passed to English speculators But, except that foreign powers occasionally encouraged the Pretender, politically Jacobitism was dead. And the more so since, under Catholic counsels, the Pretender dismissed Bolingbroke, who swore his arm should rot before he raised it for the cause again, and promptly approached the British government, urging

his friends like Wyndham to drop a doomed dynasty. Torn between English and Irish, Catholic and Protestant advisers, Jacobitism degenerated into the squalid factions of exile, while under British pressure James Edward was driven out of France to Avignon, and then to Italy. Only the fierce Atterbury headed a knot of conspirators at home, though when Oxford was released from the Tower he began dabbling in his old, empty promises.

Rebellion had this other important effect that, rather than face an election within two years, in 1716 the government passed the Septennial Act, which by a great stretch of parliamentary sovereignty prolonged the life, not of future Parliaments only but of the existing one, from three to seven years. At the same time the dismissal of Nottingham, on account of his open sympathy with the prisoners, cleared the ministry of its solitary Tory. Yet, before this year ended, the Cabinet was broken up.

One reason for this was to colour, in various forms, the whole Hanoverian age, — the feud between the King and his eldest son. The Prince of Wales had fought bravely at Oudenarde, and had more human spirit than his father, while his witty clear-sighted wife, Caroline of Ansbach, was the one living figure in this drear Court. He had championed his mother, he was accessible to Englishmen, and the Tories had hopes of him. Again, the quarrel between Marlborough and the Junto Whigs had revived, though the great Duke was himself an aged invalid, and Halifax and Wharton just dead. But his Duchess lived on, venomous as ever, and together with his son-in-law Sunderland, his favourite general Cadogan, and his old agents the self-made Craggs, father and son, besides some Tory recruits like Carteret, made the nucleus of a party. The immediate reason for a break came, however, from a clash between British and Hanoverian interests.

Foreign affairs were in the hands, — under the King, — of Stanhope, whose long Spanish experience had made him 'Austrian', so much so that in 1714 he advocated renewing war to revise the terms of Utrecht. Yet, though like all Whigs he dreamed of reviving the 'old system', he soon discovered that Oxford and Bolingbroke had their justification: that the Dutch were opening their jaws for the whole Barrier of 1709; that to make a compromise between them and Austria would mean forceful mediation, that Charles VI would not admit the title of Philip of Spain, and that British commerce depended, as of old, on peace within the wide Spanish area. Moreover, the Regent's need of support in France provided us with a balance, as Bolingbroke had designed, against Austrian pride and Spanish fury.

Stanhope's work in 1715–16, a good deal done by his personal missions abroad, steadied the peace, but not by any wholesale revival of the Junto system. Thus the third Barrier treaty took away from the Dutch some important fortresses, though they were left in control of

the Scheldt, and in November 1716, after negotiation with the Abbé Dubois, Britain and France signed a treaty, which the Dutch joined the January after, so making a triple alliance. This confirmed the successions to the British and French thrones, as settled at Utrecht, providing also that the fortifications of Dunkirk and Mardyke should be really destroyed, and that the Pretender should be forced over the Alps. On this central balance peace was to poise for a whole generation.

But George I had hurried this treaty on for the sake of Hanover. When Sweden had collapsed in the northern war, he had taken his share of the spoils as Elector, in Bremen and Verden, while Russia, Prussia, Poland, and Denmark were scrambling for pickings from the Swedish Empire. In 1714 Charles XII returned from his Turkish exile to fight and, though Britain was at peace, each year a British squadron sailed to the Baltic to defend the interests of Hanover. Though Sweden responded by Jacobite intrigue, in fact Hanover's nominal ally Russia was much more formidable, and hence the urgency to get France on our side. The negotiation was put through in 1716 during a long stay of the King at Hanover — the clause of the Act of Settlement, forbidding the sovereign's absence abroad, being this year repealed — whither Stanhope accompanied him, and it represented a triumph for the Hanoverian councillor Bernsdorff.

The brothers-in-law Townshend and Walpole protested against this long absence and this use of British ships, mortally offending the King by asking that he should delegate larger powers to the Prince of Wales; Sunderland took the opportunity to join the circle at Hanover, and work against them. Early in 1717 Townshend was dismissed, Walpole resigned with other Whig ministers like Pulteney, leaving Stanhope, Sunderland, and Craggs to carry on a much weakened administration.

This was demonstrated when they attempted to pursue a Whig policy. As usual, the party feud was most fiercely expressed in the quarrel of the Churches, Oxford University was a nest of Jacobites, and nonjuror literature kept alive the principles of divine right. On the other side, a mass of secular writing, from Addison's kindly moralism in the *Spectator* to outright attacks on Christ's divinity, the doctrine of the Trinity, and miracles, announced the advent of an undogmatic age, of the Deists who made Christianity little more than a supplement to natural philosophy, and revelation an unimportant sequel to reason. Naturally the royal appointments went to liberal Churchmen; Wake, the new archbishop, had used his great learning to champion the State's authority against Atterbury and Convocation, and Gibson of London, later called 'Walpole's Pope', was a determined Whig. But the angriest clamour was roused by Hoadley, once Sacheverell's opponent and now bishop of Bangor, who by a notorious sermon plunged the Church into the acid 'Bangorian' controversy. The Church, he taught,

was not of this world, not a visible society resting on the apostolic succession and authorized to maintain its authority by tests, but merely a collection of individual believers. When Convocation in 1717 censured him, the government stopped its sitting — not, as it proved, to allow it again for over a hundred years

In this heated atmosphere government pressed on to redeem their pledges to the Dissenters. They got a Toleration Act passed in Ireland for Protestants and made perpetual another of William III, allowing Quakers to ' affirm ' in the law courts instead of taking an oath, Stanhope was preparing to repeal the Test and Corporation Acts But he found Parliament, with the Walpole group in opposition, determined to uphold the tests, so that all they could do, and that with difficulty, was to repeal in 1719 the Occasional Conformity and Schism Acts of the last reign.

Though weakened at home, Stanhope's ministry won some more solid success in Europe. Since the Triple Alliance could never be stable till the hatchet was buried between Austria and Spain, he planned a whole programme of treaty revision. Charles VI must renounce all title to Spain, but to round off his hold on Naples he should be given Sicily, Savoy being compensated by receiving Sardinia from him. Spain, in turn, would renounce all its lost territories but in lieu of them a son of the all-powerful Spanish Queen, Elizabeth Farnese, should be admitted as successor to her ancestral Duchy of Parma, and also to Tuscany, whenever those two small States fell vacant, as might soon be expected. All this with infinite patience he completed in the ' Quadruple ' alliance of 1718, though actually Holland never joined Britain, Austria, and France in full acceptance.

But his difficulties were enormous. The Dutch were anxious not to lose their Spanish trade. The Emperor hoped to evade giving up the Italian duchies to a Bourbon. Only British support upheld Dubois in the Regent's favour as against a strong pro-Spanish party, reinforced by the remarkable Scot John Law, who was reforming French finance, and who through his Mississippi Company was bent on challenging British expansion. In Spain itself an outstanding man, Cardinal Alberoni, a native of Parma like the Queen, had brought about a national revival, which he would use to recover the Italian provinces

Sooner than he deemed wise, Philip and Elizabeth persuaded him to action. In 1717 the Spaniards seized Sardinia; in July 1718 they attacked Sicily, and a visit of Stanhope to Madrid, even a promise to restore Gibraltar, could not stop war. In August our squadron under Byng destroyed the Spanish fleet off Cape Passaro, in south-east Sicily; simultaneously our mediation brought about the peace of Passarowitz that closed a Turkish war in triumph for Austria, while through Stanhope's insistence a French army crossed the Pyrenees. Alberoni's

diplomatic web was broken. A Spanish conspiracy to overthrow the French Regent was foiled, Russia and Sweden could not work in agreement, and Charles XII's death ended the project for a Swedish-Jacobite invasion of England Though the Pretender reached Madrid, a storm wrecked the fleet carrying Ormonde's army, and only a few hundred Spaniards under the Earl Marischal reached the Isle of Lewis and crossed to Kintail in August 1719 Very few Highlanders joined them, and they were soon rounded up in the valley of Glenshiel.

This universal failure, and a conviction that France would get them honourable terms, induced the Spanish sovereigns to make Alberoni their scapegoat In December he was dismissed, and in February 1720 Spain accepted the terms of the Quadruple Alliance. Another stage in pacification had been passed, mostly through Stanhope's resolution and British sea-power, but the war was most unpopular, nor did the rifts in the alliance heal

In the north, after Charles XII's death, it was Stanhope's object to get agreed terms among the enemies of Sweden, which might safeguard the Baltic against Russian supremacy Here he had to contend with George I's jealous hatred of his son-in-law of Prussia, and to prevent Bernsdorff's Hanoverian policy imperilling a peace that was vital to British trade; he must struggle also against the traditional French plan of using Sweden as her lever within the German Empire. Over the Hanoverian councillors he prevailed. A new treaty with Prussia, an energetic mission of Carteret to Stockholm, and a British fleet settled by 1720 the concessions that Sweden must make, giving Bremen and Verden to Hanover, Stettin to Prussia, and something for Denmark But Russia still stood out, and neither Turkey nor any other would listen to Stanhope's wild inducements to open a new war against her. Hence our pledges to Sweden were dishonoured, and in 1721 the peace of Nystad transferred Esthonia and other Swedish conquests in the eastern Baltic to Russia, who henceforth held the dominance of that sea through the ports of Riga, Reval, and Narva.

Domestic politics in these years were vindictive and debased. The feud in the royal family was scandalous: the Prince and Princess were driven from the palace to set up their own Court at Leicester House, and separated from their children; the King even thought of passing a statute to separate Britain from Hanover, and left a will, which George II later suppressed, to the same effect. Party principle disappeared in this faction Walpole joined forces with the Prince's friend Argyll, even with Oxford and Tory Churchmen, while the Stanhope group thought of enlisting Bolingbroke. Stanhope and Sunderland schemed unscrupulous measures to perpetuate their power. They discussed a visitation of the universities, vesting all appointments to fellowships in

the Crown, and only their colleagues' protest stopped an amazing proposal to prolong the life of this Parliament beyond seven years But their Peerage bill was enough exposure Plausibly dwelling on the objections taken in 1712 to the creation of the twelve 'Utrecht' peers, their real motive was to deprive their enemy, the Prince, of this prerogative when he became King. The bill provided that the sovereign should not be able to add more than six to the existing number of English lords, while Scotland would exchange her elected sixteen for twenty-five hereditary peerages. Little was heard of the modern argument, that removing the safety-valve of new creations made certain, sooner or later, an explosion between Lords and Commons. But though the Lords, responding to an appeal to their caste, carried the bill, even there Oxford and Cowper criticized this limitation of the prerogative; outside, Steele led a press attack on a closed aristocracy, and Walpole brought out the vital change in the constitution and this insolent closing of the door. The Commons' rejection of the bill was chiefly due to his oratory.

A series of such defeats, threats to their foreign policy, and Bernsdorff's intrigues, at last convinced ministers that they could not survive without reconciliation with Walpole and the Prince. This was accomplished half-way through 1720, Walpole and Townshend re-entering the government. And only just in time, for the South Sea Bubble was about to break.

British public finance being still in its infancy, the method of paying for the wars since 1689 had been casual and extravagant. The 'tallies' issued, an early equivalent of Treasury bills, were at a heavy discount; loans were devised on an annuity system and at a high rate of interest; much was borrowed from the Bank and other corporations. At the end of the war the public debt of £54 millions was thought alarming, especially as a good deal of it was irredeemable, held at varying rates up to 9 per cent Walpole made a beginning by getting Parliament to accept a sinking fund and to fix 5 per cent as the rate for new loans, though Stanhope took additional borrowings from the Bank and the South Sea Company

This last corporation had been founded by Harley in 1711 to clear a large unfunded debt, and was assigned a monopoly of our trade with Spanish America. This trade, however, never materialized, the Company was over-capitalized from the start, and in 1719, influenced by the apparently successful speculations of Law, it put forward a scheme to retrieve its fortunes This was nothing less than to take over £31 millions of the national debt. Government were tempted by the interest offered and hopes of converting a mass of long-dated annuities, and tempted too by the company's bid of £7½ millions, cash down. But bribery also played a large part, in the allotment of fictitious stock to

Craggs the elder, his son the Secretary of State, the King's mistresses, and Aislabie, Chancellor of the Exchequer.

Rejecting, against Walpole's protest, a better assured scheme from the Bank, the Commons accepted that of the Company, the success of which would entirely depend on keeping the price of their stock high. To achieve that, the directors used every fraudulent device. The stock rose from 130 in February 1720 to a maximum of 1050 in June, the nation went mad with gambling, in one week of August there were lodged 36,000 transfers. A swarm of bubble companies buzzed into life, including one for 'importing jackasses from Spain', in which millions were pledged. But the directors overplayed their hand. It was impossible for ever to 'peg' the price of a stock not covered by assets, they overloaded the market, and struck the first blow at their own safety by getting government to proclaim as illegal some eighty rival companies. A rush to realize those worthless shares spread the panic to South Sea stock also, which tumbled between July and September from 1000 to 400, and in November was back at 135.

The crash destroyed the ministry, but made Walpole. Hounded on by a secret committee, the Commons sent Aislabie to the Tower and confiscated the directors' estates. Only a party vote acquitted Sunderland, the elder Craggs killed himself, the younger was fortunate to die of smallpox; early in 1721 Stanhope died of apoplexy. Townshend replaced him as Secretary of State, Carteret succeeded Craggs, and Walpole, now first Lord of the Treasury, began to salve the wreckage. Preserving the one solid thing done by the Company, the conversion of irredeemable stock, he induced the Bank to take part over, and enforced a settlement which, at a cost to the holders averaging about 30 per cent, at least saved the State from repudiation.

He had many rough passages before his power was put above question, but good fortune and unscrupulous resolution carried him through. The death of Sunderland and Marlborough in 1722 relieved him on one flank. Carteret, too, was one of Stanhope's dynasty, ready to work with Hanoverian mistresses and ministers, or to angle for Tory support, and his removal to govern Ireland in 1724 was perhaps Walpole's greatest single victory. In his place came in the rich young Duke of Newcastle, together with his brother Henry Pelham, both loyal followers of the minister. From the Tories he had little to fear. In the election of 1722 Tories and Jacobites often fought each other; in that year too the arrest and exile of Atterbury for conspiracy enabled Walpole to brand all Tories as Jacobites, while a special new tax of 5s. in the pound crushed the Catholics and non-jurors. Yielding to the King's pressure — for the Duchess of Kendal had been bribed — he took steps for the pardon of Bolingbroke and release of his estates, but refused

restoration of his peerage, which would have freed that dangerous voice in the Lords.

His greatest moment of danger came in 1727 when the King died at Osnabruck, on his way to Hanover, for George II could not begin by liking his father's servants. But the new Queen had more sense, the transparent incompetence of the King's choice, Sir Spencer Compton, drove him back on Walpole, and a handsome increase in the royal civil list settled the question. After six years of struggle, Walpole was seated in power for fifteen years to come.

CONTEMPORARY DATES

1715 A third Barrier treaty signed
Pope's *Iliad*
–1774 Reign of Louis XV
1716 The Turks finally expelled fom Hungary.
1717 John Law, Minister of Finance in France.
The Bangorian controversy
1718 Peace of Passarowitz.
Battle of Cape Passaro
Death of Charles XII of Sweden
1719 Dismissal of Alberoni in Spain
Defoe's *Robinson Crusoe*
1721 Treaty of Nystad.
The Czar appoints the Holy Synod.
1722 Formation of the Moravian brotherhood.
Bach's Fugues
1723 Fleury begins to dominate French politics
Voltaire's *Henriade*
Death of Christopher Wren
1724 Birth of Kant
Burnet, *History of His Own Time*.

CHAPTER VIII

WALPOLE AND THE PELHAMS, 1724-1754

THIRTY years passed of Whig rule, broken towards their close by rebellion and war, but outwardly years in the main of content and prosperity. In truth, however, matter was being heaped up for explosion. An industrial revolution was proceeding, the realm was weakened by social injustice. Methodism began to perturb the apathy of religion. Ireland and the American Colonies were both possessed by a passion for self-government, Scotland sorely needed reform, our foreign policy bought peace only by putting off the day of settlement. We may measure the scale of such dangers by considering the nature and working of this Whig government.

Its power must not be exaggerated, for it was an accident, which time would correct, that temporarily Jacobitism had put the Tories out of court and the Crown had no alternative. Nor was Walpole a Prime Minister in our modern sense. His predominance ebbed away after the death of the Queen, and with the entry of the Prince of Wales into opposition. Constitutional government had not yet arrived, some of George II's ministers were selected by his own choice, and twice, in 1744 and 1757, he endeavoured to form a whole Cabinet of his own. Royal influence was paramount in Church appointments, army commands, and Court patronage, and doubly so in foreign affairs, since the King was also a foreign sovereign. In forty-six years George I and George II paid eighteen visits to Hanover, most of which proved prejudicial to British interests.

Government was therefore a partnership, in the sense that royal influence and a mass of heterogeneous patronage were used to mould and hold together a government 'interest' out of the country gentlemen in the Commons. It was this which kept a party in existence, much more than any independent life in either Whig or Tory which, as memories of the Revolution faded, steadily lost their original meaning. The so-called 'Tory' opposition to Walpole and the Pelhams was much what opposition had been to William III, or even to Charles II, a struggle of the 'country' against the 'court', and its programme was much the same. In this age it turned on protests against standing armies and high taxes, executive action like the suspension of habeas corpus, pensioners and placemen and excisemen, against the 'Hanover rats' who took good English money, Dissent, and the moneyed men

of the City. It was this blend of conservative obstruction and constitutional notions that descended to the first Radicals. Such 'Toryism' flourished most in the seats that government could hardly hope to shake, in the large constituencies of the counties or the little boroughs that went on from father to son, sometimes unbroken for two hundred years. This was true especially of the broad belt stretching back from the Bristol Channel, through Staffordshire to the Scottish Border.

The new holders of the Crown were better people, or at least better for England, than the last. George II was vain, avaricious, a domestic tyrant, and fonder of Hanoverian guards and pleasures than things English. But he was brave as a lion, he could speak English, and knew the country before he was too old to learn, and though prejudice often directed his choice of men, when he gave his confidence he gave it honestly. The Queen's word was often decisive with him, and it was a misfortune for both the King and Walpole when she died.

Sir Robert had, however, come to the top before this reign began by eminent powers of his own which made him Prime Minister for twenty-one years, a longer span than any before or after He was a cruder type than his Eton schoolfellow Bolingbroke, but a stronger man, even a more upright one. If that is a curious word for a minister who talked bawdy down to his audience and married his mistress, and lowered public life by cynical acceptance of corruption, it is true of a policy which was always loyal to a few principles the Protestant succession, coupled with the Whigs, and British native interests in preference to Europe. There was, too, a finer side to his dexterity, in a hatred of bloodshed and a wholesome view that what is doubtfully wise is best left alone 'Tranquilla non movere', that was his answer to Dissenters who begged him to repeal the Test Act, or to officials who advised laying taxes on America. He evaded these ugly questions. From 1727 onwards annual bills were passed to indemnify Dissenters who had 'forgotten' to take the Anglican sacrament before accepting office, while no serious attempt was made to check the Americans' defiance of the Navigation Act. But his positive qualities were very real. He was the best debater of his generation. His Cabinet supremacy was in its way unerring, and often ruthless. Personality and circumstance together made him the founder of our modern government, being the first minister who built power purely on party, and the first who treated the Commons as the dominant partner With the tastes of a rich Norfolk squire of old family, for field sports, building, and the bottle, he combined an understanding of an increasingly business age

On this, the source of his early reputation, his lasting fame must depend, yet even here he was eminently the politician. Though he maintained the principle of a sinking fund to reduce the debt, he

regularly raided it when hard pressed for revenue. As a contented country gentry was politically desirable, he cut down the land tax from its war-time level of 4s. to 1s., preferring to retain a salt excise that burdened the poor, nor did he tackle any comprehensive scheme of debt reduction. For trade he did much more. Mercantilism was still the national policy, measuring prosperity by a favourable balance of exports, and the virtue of any particular trade by its effect on the volume of industry. Walpole at least applied these doctrines with some attempt at consistency. For the first time since the Restoration the customs rates were thoroughly revised. In 1721 alone he freed more than a hundred classes of goods from export duty, while he reduced import charges on raw materials, relaxing also the 'enumeration' rules that confined Colonial exports to Britain. Looking for more revenue, he found his best instrument in developing the excise, borrowed by the Commonwealth from the Dutch and since then much extended; by taking duty on exit, not from the port but the warehouse, he might hope to curb the smuggling which filled all the coasts with riot and corruption, help the carrying-trade, and adjust taxation to consumption. Measured by the figures available for this small population of six millions in England and Wales, trade moved sharply upwards, exports rising by about one-third between 1720–40.

But he did nothing to protect the wage-earner, shirked dealing with the grievances of the Colonies, and surrendered to any powerful interest, as he did in his Molasses Act of 1733 which, to please the West India planters, clamped high sugar prices on both Britain and America. Standing for vested, though solid, interests he would not probe into corruption, or consider minorities, so gradually accumulating an opposition not to be despised, coming from many angles.

In Parliament the Tories were divided between a small Jacobite wing, led by an honest wooden man, William Shippen, and the larger body under Sir William Wyndham, whose stately presence and eloquent patriotism made him the type in which the Commons took delight. But unaided they could not hope for a majority, and it was Bolingbroke's aim to make a coalition with the opposition Whigs, in alliance with whose leader, the witty but inefficient Pulteney, he founded the 'Craftsman' as their organ in the press. Here first appeared his 'Dissertations on Party' and the germs of his 'Patriot King', in which he repolished for a younger age what he had learned from Harley. Totally repudiating divine right, he attempted to rebuild Toryism on acceptance of the Revolution; Jacobitism being dead and the pretexts for Whig against Tory removed, all should unite under a King who would rule above party, in restoring the constitution to its first principles. They should recover liberty by putting down Walpole's corruption, septennial Parliaments, and standing armies, and make the Commons a mirror of

the nation by a wider franchise and the suppression of rotten boroughs.

But few Tories would listen to one whom they regarded as a 'Judas', nor was it easy to keep in one lobby Tory Churchmen and City Whigs. As for Pulteney, whose motive was disappointed ambition, he was really a Whig unsympathetic to the Tory programme, which tilted at the very essentials of eighteenth-century government, septennial Parliaments, and placemen Opposition, therefore, could not profit by the chance with which Walpole presented them in 1733, in a bill to extend the Excise to wines and tobacco, uniting all who disliked inquisitorial methods with the City vested interests and the smugglers. After riotous demonstration, with cries of 'no wooden shoes', fears of disaffection in the army, and a mob assault on the Prime Minister, the bill was withdrawn.

Though his majority held good in the election of 1734, he added some influential names to Opposition by the dismissal of mutineers against Excise. One was Chesterfield, an aristocrat of high ability and husband of a natural daughter of George I, whose fame as a letter-writer has obscured his power as a political journalist and his grasp of foreign affairs. Another was Cobham, one of Marlborough's generals, who led a group of young kinsmen christened the 'Patriots' or the 'Boys', including his nephews the Grenvilles, George Lyttelton, and William Pitt. Firmly Whig and Protestant, they were ambitious and high-minded, jealous for themselves and for British good fame, contemptuous of Hanover and foes to corruption. A third notable element was a group of Scots, headed by Argyll and Stair, partly antagonized by Walpole's packing the election of Scottish peers. And how hated English government was in Scotland was proved again in 1736, when an Edinburgh mob lynched Porteous, captain of the city guard, which had fired on and killed some would-be rescuers of a popular smuggler Finally, and broadly speaking, not only was the City anti-Walpolean, led by its particularly able member Sir John Barnard, but the whole world of wit and fashion. There were survivors from the brilliant society of the Augustans, the Hyde Duchess of Queensberry or John Gay the poet, whose *Beggar's Opera* was filled with sarcasms against government, together with a younger generation in Henry Fielding and Samuel Johnson. The Prime Minister took steps, besides his own paid organs in the press, to put down this literary opposition, one result being the Act of 1737, from which dates the Lord Chamberlain's censorship over the stage

But in the conditions of that day the most dangerous fact for Walpole was that Opposition found a figurehead in the Prince of Wales, for however weak and ridiculous in himself, the heir-apparent had a high political value and could at least acquit the Tories of Jacobitism In fact, Frederick had some real grievances, for he had been isolated in Hanover,

kept short of money, and disappointed in a marriage on which his heart was set. Having taken the wife his father chose for him, Augusta of Saxe-Gotha, he turned to Opposition to get more generous allowances; in 1737, rather than have his child born under his father's roof, he hurriedly removed his wife, to her great danger, and was forbidden the Court, and set up his own establishments at Kew and Leicester House. In November the Queen died, which removed Walpole's best shield, and the more so since his foreign policy had divided the Cabinet.

Ten years passed from Stanhope's death in 1721 without any real European settlement, years which the Whig Lord Hervey described as 'broken peace and undeclared war' The death of the Regent Orleans and his adviser Dubois removed the personal motives keeping France loyal to Britain, shifting her back towards her natural affinity with Spain, so that she supported the Spanish charge that George I had promised to surrender Gibraltar, while a Spanish Infanta was sent to France as destined bride for Louis XV. His teacher Cardinal Fleury, now the leading minister, was a wise, determined statesman, who preferred peace to war, yet would never lose sight of French objectives and would strive to shake off British control. Meantime Elizabeth Farnese was bent, furiously as ever, on Italian lands for her sons, and the Emperor Charles as obstinately set against it. But he had a sore grudge against Britain and Holland for trying to suppress his Ostend Company, established to develop trade with the East, and another grudge against Hanover for interference in the Baltic, championship of Protestant causes, and approaches to Prussia. Peter the Great was dead, but Russia was an incalculable force; terrifying Prussia like a thundercloud on its flank, and nourishing schemes, not without attraction for Austria, of partitioning Poland.

Townshend, who directed foreign policy, had Stanhope's hot temper and Hanoverian leaning without his magnetism, besides some insular contempt for foreigners, especially Austrians. In 1725 Spain and Austria agreed to sink their feud in an amalgamation of their grievances, a decision clinched by the French insultingly discarding the Infanta and marrying Louis XV to a Polish princess. Austria promised to work for restoration of Gibraltar and Minorca to Spain, who, in turn, would give Austria commercial privileges, the arrangements were believed to contemplate a restoration of the Stuarts, while Ripperda, the Dutch adventurer now advising Elizabeth Farnese, schemed Hapsburg-Bourbon marriages to shape the future of Italy

Against Walpole's instinct, Townshend set about constructing a rival system. By the treaty of Hanover of 1725 Britain, France, and Prussia made a defensive alliance; money was poured out to subsidize small States, Townshend spoke of partitioning Belgium. But though the Spaniards began a siege of Gibraltar, the great war was fended

off again. A British squadron under Hosier blockaded Porto Bello on the Main, though he had orders to avoid battle and, with most of his crews, perished of disease, while the Emperor was powerless against our sea-power in the Mediterranean. While Walpole was anxious to avert war, the real maker of the peace was Fleury, who would have no war that could only serve British interests, and skilfully disjointed the temporary entente between Austria and Spain. By the treaty of Seville of 1729, France and Britain agreed that Spanish garrisons should occupy Parma and Tuscany, Spain silently waiving the matter of Gibraltar, and it was now a question of enforcing these terms on Austria, as Walpole insisted, without a war. In this he fought and defeated Townshend, who in 1730 resigned. In 1731, by the treaty of Vienna, the Emperor accepted them, giving up his Ostend Company in return for a British guarantee of the Pragmatic Sanction, which he designed to ensure the succession of his daughter, Maria Theresa, to the Empire.

Though on paper the Stanhope system seemed to be restored, it was not so in fact None of the deeper questions, the future of Italy and the Empire, were settled; Holland, now on the downgrade and deeply pacifist, had really dropped out of the alliance, France had acted unwillingly at every stage, and a growing school at Paris looked on Britain as the enemy. Indeed, even putting aside Colonial rivalries, there was a fallacy in a British policy which expected France to sit still, while Austria and Russia were carving out spheres of influence in the Balkans and Mediterranean.

So the next years proved. While Walpole was immersed in domestic opposition, the French rebuilt their influence at Madrid, and in those other capitals — Stockholm, Warsaw, and Constantinople — which they had always employed to curb the Hapsburgs In 1733 the war of the Polish succession tested this new position. While Austrians and Russians backed a Saxon vassal of their own, France championed their King's father-in-law Stanislaus; though for him or Poland they cared little, their aim being to thrust forward Spain and Sardinia against the Austrians Having detached the timid Dutch by promising no attack on Belgium, and having in the first Family Compact undertaken to restore Gibraltar to Spain, they were rewarded by Walpole repudiating our guarantee to Austria When this war closed in 1738, Spain had recovered Naples and Sicily, and France had won Lorraine, whose duke Francis, husband of Maria Theresa, was transferred to Tuscany Against the wish of the King and some ministers like Newcastle, Walpole had insisted on non-intervention, war, he contended, must finally mean a French invasion and Jacobite revolt It is true that a war postponed may be a war averted, — 'I never heard it was a crime', he said, 'to hope for the best'. But a policy which aban-

doned diplomatic initiative to France, threw Austria over, and aggrandized both the Bourbons, was taking great risks, if and when real cause arose for war.

So far as Britain was concerned, such causes were sure to be economic and connected with markets overseas. In Walpole's last years our exports were depressed, not least by French competition, but the immediate difficulty was that one most vital market, Spanish America, was only kept open by force; by our monopoly of the Assiento for supplying slaves, and the South Sea Company's privilege of sending one ship each year. Older quarrels lingered on, too, in the West Indies. British contrabandists carried on a huge illegal trade; British settlers staked out a claim to Honduras by cutting log-wood on the coast; our colony of Georgia clashed with Spanish Florida. Both sides practised fraud or violence. The British abused the 'annual' ship by refilling it from so-called supply vessels, while the Spanish *guarda-costas* arrested many traders, innocent or guilty. In 1738 Opposition swept Parliament into protest against this right of search, producing evidence which inflamed all England, especially one Captain Jenkins who showed the ear torn off by the Spaniards with words that became a battle-cry, that he committed 'his soul to God and his cause to his country' Under fear of reprisals the Spaniards in 1739 agreed to the Convention of the Pardo which, balancing the respective claims for damage, assigned to Britain the minute sum of £27,000, leaving the right of search to future discussion

In both countries public opinion had outrun their governments' endeavours for peace, and in the Cabinet a war-party was led by Newcastle, who reasoned that the showing of our fleet would bring Spain to heel Since Spain would not negotiate under threats, war was declared in October 1739

It was made against Walpole's will, and it was the end of him. He wished to resign but this the King would not allow, and he continued, only to obstruct a divided Cabinet His fall did not come about from the Tories, for the Bolingbroke-Pulteney partnership became less and less cordial, their natural leader Wyndham died, nor did they wish to replace Sir Robert by another Whig By the time the next election came in 1741, our policy had turned to disaster. There was a gleam of victory in 1739 when Vernon captured Porto Bello, but the admiral was a Tory, neither ships nor men to man them were ready after the rust of peace, and the expeditions sent out in 1741 failed ingloriously, both on the Main and against Cuba. More serious was the attitude of France, who warned us against aggression in the Indies and won a diplomatic triumph by negotiating an Eastern peace, that robbed Austria of her gains from the two last Turkish wars. At the end of 1740 the Emperor died, and his Pragmatic Sanction with him Throwing pledges to the

winds, the young king of Prussia, the great Frederick, invaded Silesia, a war-party bore away Fleury, and in 1741 France and Spain joined hands with Prussia to partition Hapsburg lands and to raise the Bavarian Elector to the Imperial throne. Before that year closed, Maria Theresa was driven into Hungary, one French army occupied Prague, a second on the Rhine frightened George II into declaring Hanover neutral, while an unresisting British fleet saw the Spanish invade northern Italy.

In such dark days took place the election in which, partly by the Prince's exertions, Walpole's majority was whittled away, so that when Parliament met it disappeared. Avowing that his resignation was necessary to save both the party and the throne, his colleagues the Pelhams and Hardwicke the Chancellor came to terms with the Opposition Whigs, on the understanding that they would check any persecution of Walpole. In February 1742 he resigned, becoming Earl of Orford. While his old rival Spencer Compton, now Lord Wilmington, was nominal First Lord of the Treasury, Pulteney came into Cabinet as Lord Bath, Carteret became a Secretary of State, while the Prince was bought by some money for himself and a few places for his friends.

Though driven out as the scapegoat, till his death three years later Walpole's advice to the King decided the balance among his successors. The 'deserters' Pulteney and Carteret threw overboard the deck furniture of their 'patriot' days, — place and pension and triennial bills, — suppressed the secret committee that was searching for evidence against Walpole, and made no serious effort to get Tories or 'patriots' into place In short, the new government was split between irreconcilable temperaments and policies. Pulteney, indeed, soon effaced himself in his peerage, his nerves, and his wealth, leaving the future between Carteret and the Pelhams The first was a man of great gifts, classical scholar, diplomatist, and boon-companion, whose knowledge of German commended him to the King, and who 'in the upper departments of government', the great Pitt said later, 'had not his equal'. But he was a natural dictator, believing royal favour could defy party and Cabinet, while his liking to 'knock the heads of the Kings of Europe together', and his bold schemings, meant risks and expense that terrified his colleagues This was not the way to keep an eighteenth-century party together, and when in 1743 the dim Wilmington died, Walpole advised that the lead should go to Henry Pelham.

The new Prime Minister was a much reduced Walpole, composed of economy and pessimism and human kindness. He was a pacifist, a creditable financier and party manager, but without a spark of fire Actually his power was less than that of his brother Newcastle, for whom the King had always supreme contempt, but who for all that held office almost on end for thirty years. Personally the Duke was a petty creature, as much afraid of a damp bed as of the barest demonstration

by a mob, insanely jealous of power, ridiculous in his tearful embraces and gabbling ejaculations. Yet, as 300 volumes of his correspondence testify, he lavished his wealth and industry on the patronage, rotten boroughs, and lobbying which kept his party in being, and, though nothing ever proved him a statesman, long experience had taught him something of Europe.

Thrusting themselves into this cleft, late in 1744 all wings of Opposition joined with the Pelhams to overthrow Carteret's power behind the throne. Chesterfield took office; so did the Duke of Bedford, who represented by connection and type the more martial and Marlborough school of Whigs, together with his follower Sandwich; of the Tories, Gower, head of a famous once-Jacobite house, of the 'Patriots', Cobham with two of his 'boys', George Grenville and Lyttelton, and with hopes for a third, the rising orator William Pitt This 'broad-bottom' ministry, which ended the party of the old Tories and prolonged the Whigs in a sort of evaporation for another decade, came about through the war, Carteret's policy, and the last Jacobite rebellion.

For what began as a Colonial war with Spain enlarged into a war in Europe, aimed at France To abandon Austria a second time was out of the question, though to help her was difficult, and not least through the King's Hanoverian selfishness His declared neutrality for his electorate made it impossible to press Maria Theresa to make concessions, while his hatred of Prussia encouraged Frederick to seek an ally in France Nothing could galvanize the Dutch, who were bent on neutrality, while our obvious ally Sardinia could only find expansion in Austrian Lombardy.

For a year Carteret's energy overcame some of these enmities. At least he persuaded George to let Hanover fight as an auxiliary to Austria — though Britain was to pay for Hanoverian troops —, while in the Netherlands he got on foot a cosmopolitan 'pragmatic' army. Our Navy kept the Bourbons of Naples passive; most of all, by the Breslau treaty of July 1742 he induced the Austrians to eliminate their worst enemy by yielding Silesia to the Prussians The tide of war turned Early in 1743 the last French troops straggled out of Bohemia; by June the Austrians held Munich and the Bavarian Emperor was a fugitive. The pragmatic army was at last got on the march to cut the French retreat from Bavaria, but George II halted on the Main and under harassing attack it retired northwards. So came about on 16th June the collision at Dettingen, the last battle in which a King of England took the field in person. And lucky indeed he was to win it, only just escaping encirclement through hard fighting of his English troops and bad mistakes by the French command.

Actually he fought as Elector, wearing the yellow Hanoverian scarf,

since officially France and Britain were not at war, but now it was Carteret's purpose to turn the war into a great anti-French coalition. His plans included a reconciliation between the Emperor and Maria Theresa, who should find her compensation in Alsace and the spoils of France, while in Italy he negotiated the treaty of Worms, whereby Austria should grant some Milanese territory to Sardinia.

This spirited diplomacy, criticized in Britain as 'Hanoverian', was very expensive, involving subsidies in all directions, which the Cabinet refused. A first effect was to drive the Bourbons closer together in a second Family Compact, which included a project to restore the Pretender. And a second was to infuriate Frederick II, who feared that in a reconstruction controlled by Austria and Hanover he might be robbed of Silesia. In 1744 France declared war on us. Though a storm dispersed a convoy destined to carry an army into the Thames, their brilliant general Maurice of Saxe entered Flanders and took Ypres; Frederick once again invaded Bohemia; fumbling action under elderly admirals and insubordination discredited our Mediterranean fleet; in Italy there was a military stalemate.

So, to the King's indignation, Carteret was forced out of power, denounced by Pitt as the 'Hanoverian troop-minister', who had made England 'a province to a despicable electorate'. But his successors found that without Hanoverian troops and subsidies to Hanover they would be powerless, when in 1745, on the Emperor's death, the storm of war passed from Germany to Britain.

In the Netherlands the British commander was now the King's favourite son Cumberland, a dogged but inexperienced soldier of twenty-four, the Dutch were unwilling to fight, and in April Saxe laid siege to Tournai. On the 30th, at Fontenoy, five miles away, Cumberland dashed his force against entrenched positions, and though the British infantry did wonders, had to retreat with severe loss. Ghent, Oudenarde, and Ostend fell. Half Piedmont and the whole Milanese were overrun by Bourbon armies. In June Charles Edward sailed from Nantes, rounded the Lizard, and reached the Macdonald country at Moidart with seven companions.

There is no more severe condemnation of Whig Britain and George II's government than the '45, in which the Young Pretender was able to keep the field for a year, and with a few thousand Highlanders to reach the Midlands. In itself Jacobitism was nearly dead. 'James III' lived in Papal Rome, devout, dreary, and discredited by domestic bickering, only a trickle of English money occasionally reaching him from loyalists like the Duke of Beaufort, and now, but for a few Lancashire Catholics, not an Englishman moved. Only French arms could make invasion succeed, but France had made her effort the year before, and less than 1000 French troops came late in the day to help Charles

Edward Yet in Britain there was almost universal incompetence and panic The King behaved disgracefully, insisted on going to Hanover, and tried to revive a Carteret government. Early in 1746 the Pelhams resigned in a body and in forty-eight hours compelled him to surrender, one condition being a minor office for Pitt. On the 'black Friday' that Charles Edward left Derby, there was a run on the London banks and, except in a few individuals like the archbishop of York, energy seemed dead

A better government could have made the Lowlands impregnable, for Union had deepened the gulf between them and the Highlands. Covenanting feeling against England was much diminished, while government grants to the linen industry and a share in Colonial trade brought some new prosperity. Glasgow was solidly loyalist, no Lowland town willingly surrendered, Edinburgh and Stirling castles defied the Pretender throughout; nor could his pledges of tolerance do away with the Kirk's hatred of Rome. On the other hand, there was a good deal of cool indifference, for the Porteous affair and English taxation rankled with the burgesses, and government manipulation of elections with the political class, while its supporters were divided by jealousies between the Argyll interest and their rivals. Little, too, had been done since the '15 to change the Highlands General Wade had constructed about 250 miles of military roads, a few clansmen like the nucleus of the Black Watch had been enrolled in the army, a few more Presbyterian ministers had found a foothold. But cattle-lifting and blackmail went on as of old, while a nominal disarmament only meant that the loyal gave up arms and the disloyal hid them. For some years a group of Highland gentlemen had been in close touch with Paris and Rome

Yet even the 3000 recruits garrisoning Scotland could have held up rebellion, if General Cope had shown ordinary sense or the troops any spirit. As it was, instead of holding Stirling and the Forth, Cope dashed into the Highlands where, finding the Prince stronger than he liked, he took shelter in Inverness, and thence shipped his force to Dunbar, only to find Charles in occupation of Edinburgh.

It was, in fact, Charles' personal triumph, and little more. He had sailed from France against his father's wish and the best advice, and only his own qualities bore down the objections of the Highland chiefs. In his youth he was the first Stuart since Charles II who bore himself like a king, always wearing the kilt and marching on foot with the ranks, winning all women's hearts, ever ready for a fight or a reel He was already drinking too much brandy and, like all his house, listened to flatterers, his tutor Sheridan and other Irish whom the Highlanders despised. But when he came among them as their guest, their loyalty responded, his first success sweeping all doubts away Young Lochiel and the Clanranald Macdonalds were first out when he raised his red

standard at Glenfinnan, but when he reached Perth some of the clans, and some of the very men, who had been out in the '15, joined him; the Catholic duke of Perth, Stewart of Appin, Glengarry, and Macdonalds of Glencoe, with the Lowland peers Kilmarnock and Nithsdale. Unhappily his two ablest men hated each other; his secretary Murray of Broughton, who was to be the Judas, and the Atholl soldier Lord George Murray, to whom Charles owed his military success but to whom he never gave his trust.

Levying money on the towns as he passed, he crossed the Forth near Stirling unopposed, and so by Linlithgow to the outskirts of Edinburgh. A few shots routed the royal dragoons in the 'canter of Coltbridge', after which he entered the city and slept in Holyrood. Then he issued out to meet Cope, advancing from Dunbar, which he did some nine miles east at Prestonpans, where on 21st September the clansmen broke through the morning mist on the stubble fields and cut the enemy infantry to pieces, Cope flying with the horse to Berwick-on-Tweed. Now the real decision must be made.

Charles himself urged immediate advance into England, for only an English rising would bring the French help on which he counted, but for a month the Highland chiefs resisted him, by which time the aged Wade with 18,000 men was at Newcastle and Cumberland brought home reinforcements from Flanders Delay made desperate what was in any case a hard venture, and the odds had turned against him when in November he made for the western route, to reach the Jacobites reputed to swarm in Lancashire and Wales Many Highlanders having now deserted, it was with less than 5000 men that he forced the surrender of Carlisle and so, through ill-omened Preston, moved to the bells and bonfires at Manchester Derby was reached on 4th December, when his officers refused to go further. Not a man of weight had joined them; Cumberland's army from Lichfield and Wade's from the north were closing the jaws of the trap; they turned and, beating off Cumberland's advance guard, on Christmas day entered hostile Glasgow. Unless the French came in force, all was lost, for all the conditions were present which a century earlier had doomed Montrose. Being without money, Charles had to pay his men in meal; lack of artillery paralysed the assaults on Stirling and Fort William. Influenced by the wise loyalist Duncan Forbes, some important chiefs like Macleod wavered, in the north Seaforth and Sutherland, Mackays and Grants, held to the Crown, while the Navy cut off all but a few Frenchmen Yet one more success kept the rebel army together a little longer. Joined by new levies of the Gordons, on the 17th January 1746, in twilight and rain, the Prince routed General Hawley at Falkirk.

Before the month ended, however, Cumberland reached Edinburgh, and once more his council forced Charles to retreat, through Perthshire

to Inverness With the fleet on his right Cumberland followed, passed Aberdeen in February, and in April prepared to cross the Spey. The Highland army was now so short of food that it scattered to get supply or sow for the harvest, but against George Murray's advice to seek the hills Charles determined to accept battle, north of Inverness. on the plain of Culloden. His night attack having failed, on 16th April his hungry army was attacked by Cumberland, shot through by immensely superior artillery, encircled by cavalry, and destroyed. Having lost 1000 killed, including the chiefs Maclachlan and Macdonald of Keppoch, they dispersed For six months Charles disappeared in the Western Isles, guided by the loyal like Flora Macdonald and never betrayed, though £30,000 was on his head, until in September with Lochiel he escaped to France. Some eighty of the rank and file were executed, and of the peers Balmerino, Kilmarnock, and the treacherous Lovat, who was himself betrayed by Murray of Broughton. A host of Scottish leaders went into exile, while disgrace draggled the last romance of the white rose Young Glengarry turned spy for the government; Charles Edward steadily drank away his character, though his strong body lasted out till 1788

Rejecting the plea of Duncan Forbes for lenience, Cumberland earned his name of 'Butcher' by a savage suppression, harrying cottages, shooting suspects, burning crops While a few large estates were confiscated, two statutes of 1747 cut at the root, one abolishing the chiefs' jurisdictions, and another substituting money rents for their vassals' military service. A stringent disarming Act forbade the wearing of the tartan and kilt, save by soldiers of the Crown.

In the chronicle of the Pelham ministry, however, the '45 made only one item in the mounting ruin of war. On the whole, the British effort assisted very selfish allies to victory, though totally unsuccessful in her own area In December 1745 Frederick, by the treaty of Dresden, finally retired from the war, Maria Theresa sullenly accepting the loss of Silesia. This released Austrian forces for Italy, and with the Sardinians they cleared the north, when in 1746 Elizabeth Farnese lost power on her husband's death. But they hated each other too keenly to co-operate, as the British asked, in invading France; their failure against Genoa leaving the Bourbons an invaluable base Nearer home our military objectives seemed unobtainable. Saxe swept on in 1746 to take Brussels, Antwerp, and Liége. In 1747 he invaded Holland and, at the other extreme, pressed up the Meuse to defeat Cumberland at Lauffeldt, in front of Maestricht. Holland was near collapse and ardent for peace; the Austrians were little interested.

Against this picture could be set other events which tokened the future and which, well-used, might have been turned to advantage. In 1745 Massachusetts despatched an army which, with a few British ships,

took Louisburg on Cape Breton Island, the key of the St. Lawrence; but the vantage was not driven home. Anson, the hero of a voyage round the world, restored some vigour to the Admiralty, and both he and Hawke did great damage to French fleets and commerce. This sea-war reached the East. In 1746 La Bourdonnais captured Madras; in 1748 the great Dupleix beat off Boscawen from the French Indian capital, Pondicherry.

Though Maria Theresa would fight for ever at other people's expense, France was hard hit and weary of burning her fingers for Spain. Holland was entreating peace, pessimism dogged half the British Cabinet. 'Dear brother, we are conquered' Newcastle heard in a letter from Pelham, whose economic soul shivered at a debt risen to £78 millions; Chesterfield had resigned in protest, Cumberland advised that the Netherlands could not be saved.

So came about in October 1748 the peace of Aix-la-Chapelle, arranged by Britain and Holland in concert with France, for whom it was a marked triumph, and then forced upon Austria and Sardinia. Frederick received international guarantees for Silesia, Sardinia won part of the Milanese as promised her at Worms, and Philip the young Spanish-Farnese prince obtained Parma. Elsewhere it was an ominous truce. Britain restored Louisburg as against Madras. Nothing was said about frontiers in America; war between rival East India companies still proceeded; the weak Dutch rule was restored in the Barrier. There was silence on the original pretext of war, — the right of search, — while the British Assiento privilege was given up within two years. We had lost the Austrian alliance Burning to recover Silesia, Maria Theresa had already turned towards France, while eastward she looked for help to the new might of Russia. It was in vain that in the next few years Newcastle, following the King about Germany like a clucking hen, multiplied subsidies to German electors who were to buttress the 'old system', for its mainstay, the Austrians, had secretly sold the pass.

Divided, weak, and well-intentioned, the Pelham government went on its twilight way. Patiently Pelham protested against his brother's costly policy, cut down the Navy to 8000 men, and halved the land tax. He did a good stroke in scaling down interest on the debt to 3 per cent, besides passing some useful legislation Hardwicke's Marriage Act did away with the scandal of Fleet marriages and the abduction of heiresses, setting up our triple 'calling of the banns'. By reforming the calendar, British dating was brought into line with the Gregorian style long used abroad, eleven days of September 1752 being omitted, to the alarm and fury of ignorant voters. Money was found to establish the British Museum. On the suggestion of London magistrates, especially the novelist Fielding, the Bow Street runners became the germ of a much-needed metropolitan police. Another act at last checked what

magistrates, doctors, and clergy agreed in calling the worst evil of the age, the drinking of gin, which alternate licence and severity had hitherto failed to reduce. London was said to have 17,000 gin shops, while 6 million people consumed 11 million gallons of spirits every year.

In matters of greater weight there was neither vision nor courage. Severe acts stopped working-men's combinations to improve their wages, and suppressed New England manufactures which competed with the home market. A conflict had begun over the right of the Irish Parliament to appropriate its taxes. In 1753 a bill passed to make easier naturalization for foreign Jews, but was repealed the same year under clamour from the mob. Principle in politics, or real party, was almost non-existent. Much damaged by the '45, the Tories lingered on as a collection of squires, proclaiming their independence against Hanover, placemen, and courtiers, championing the militia against the army, or the Church against Dissent Bolingbroke died in 1751, all his influence gone, and half his followers like Gower had joined the Pelhams. What, in fact, divided politics now was not party, but personal jealousies and rival courts Newcastle's thirst for monopolizing power drove out the Bedford group in 1751, and the same year died Frederick Prince of Wales, whose last acts had been, in jealousy of Cumberland, to attack the peace and Hanover and to collect round him a faction of office-seekers like the notorious Bubb Dodington, a few Tories, and some disgruntled Whigs

The 'court' he had thus begun was continued by his widow, who wished to protect her son against the King and Cumberland. While Bedford and his ablest follower Henry Fox followed the Duke, the Pelhams tried to keep on terms with the Princess and Bute, her intimate adviser For the King was old, and there might be a contest for the regency of a new reign. In the background the greatest man in England, William Pitt, now paymaster, was kept out of important office by the unrelenting malice of the King against the man who had helped to overthrow Walpole, had ejected Carteret, and held up Hanover to ridicule.

While Pitt, thus eating his heart out, watched Fox aspiring to the lead, in April 1754 Henry Pelham died The Whig grandees, fearing Fox as Cumberland's man, and that the choice of Pitt would offend the King, put the lead of the Commons in the hands of a nonentity, the decent diplomat Sir Thomas Robinson, while recommending Newcastle to the King as chief minister Such a system could not long live under the contempt of the King, Pitt, and Fox Much less when news was coming in, that meant a new war, of rival sepoy armies in India under French and British officers, and of a reverse, at French hands, on the Ohio to the Virginian militia, under command of Colonel George Washington.

CONTEMPORARY DATES

1725 Death of Peter the Great.
Vico's *Scienza Nuova*
Foundation of Guy's Hospital.
1726 Fall of Ripperda in Spain
Swift, *Gulliver's Travels.*
1727 Siege of Gibraltar
Gay's *Beggar's Opera.*
1729 Treaty of Seville.
The Wesleys begin meetings at Oxford.
Birth of Burke
1732 Pope's *Essay on Man.*
1733 War of the Polish Succession
1734 Don Carlos in Italy
1736 Butler's *Analogy of Religion.*
1737 End of the house of Medici at Florence
1739 Nadir Shah of Persia sacks Delhi
Hume's *Treatise of Human Nature*
1740 Death of the Emperor Charles VI, war of the Austrian Succession begins
Thomson's *Rule, Britannia*
–1786 Frederick the Great rules Prussia
1741 Dupleix begins his government of French India.
Handel's *Messiah*
Russians under Behring open up Alaska
1742 Pope completes the *Dunciad*
1743 Voltaire visits Frederick the Great
1745 American troops take Louisburg
Death of Swift
1746 Diderot's *Pensées philosophiques*
1747 Ahmed Shah Durani founds the Afghan throne.
1748 Montesquieu's *Esprit des lois*
1749 Kaunitz becomes chief minister in Austria.
Fielding's *Tom Jones*
1750 Pombal in power in Portugal
Johnson edits the *Rambler.*
1751 Mason and Dixon drawing frontiers in America
The Encyclopaedia edited by Diderot and d'Alembert
Linnaeus, *Philosophia Botanica*
1752 Great Britain adopts the Gregorian calendar.
1753 Duquesne on the Ohio and Mississippi
Horace Walpole building Strawberry Hill.
Richardson's *Sir Charles Grandison*
1754 Wall becomes principal minister in Spain.
Rousseau's discourse on 'Inequality'.

CHAPTER IX

THE ELDER PITT AND THE SEVEN YEARS' WAR, 1754–1763

A NEW British Empire, revolution in Ireland, and new British parties were the fruits of the epoch from 1754 to 1783, of which the central figures were William Pitt, later Lord Chatham, and George III. And the minister was supreme before the accession of the King.

He was of that order of political genius which transcends all rules. There was a fluency in the Pitt blood, shown in his fierce grandfather Governor Pitt of Madras, who had used in pocket boroughs the money raised by selling the great diamond he brought back from India, and in some cases this temper turned to madness. His grandson, strained physically by gout and nervous lassitude, had a scornfulness and pride which made him almost impossible in Cabinet; Achilles must lead the host, or he would take to his tent. Seeing himself as actor on a tragic stage, he was theatrical even at his greatest, making 'properties' out of his crutches and black velvet, and dramatized life even in his most private letters. Of money he had no sense at all, squandering it on building or estates From vaulting ambition he was not free, as he showed during weary years when George II kept him down, in manœuvring with several party camps or the rival favourites, Lady Yarmouth and Lord Bute.

Bred a soldier, he was not a law-giver but a man of action, who by a rare combination was also the greatest British orator of perhaps any age. His eye was compared to a hawk's, he seems to have scorched up opponents in debate as if by fire, his speeches blazing up in sudden inspiration, as when he saw death riding on the white horse, the badge of Hanover, or pointed the Lords to the Armada tapestries. His sympathy went out to men of his own type, Frederick the Great or Clive, and young commanders of his choice, Wolfe, Murray, Keppel, Amherst, Howe, were the heroes of the war In policy he united audacious strokes, being ready, for instance, to exchange Gibraltar against Minorca, with sweeping strategical conceptions, whether a threefold invasion of Canada, or an extended use of sea-power, and both of these again with painstaking mastery of detail in troop movements and supply.

Often impatient, prejudiced, even ignorant, within he was a man wishing for affection, high-minded, and religious, who, much unlike

Fox, refused to take the immense profits open to the paymaster. The ideas which inspired both England and America were few and simple; that the Whigs could only survive if they stood for the people, that France was the enemy, that the liberties of Magna Carta belonged to all Englishmen and all Americans, that Protestantism was the faith for men who loved liberty. Appealing to motives that are deepest in a people's heart, he raised magnificent fighting-men from the lately rebel Highlands, and behind the regular army built, in effect for the first time, a second line of defence by his Militia Act of 1757 Never afraid of publicity before Britons who forced George II to put him at the head of the State, or Americans who raised statues to him, he pronounced broad policies to which he penetrated rather by instinct than thought, contempt for placemen, dislike of Hanover, or the inseparateness of taxation and representation

Spending his life in denouncing faction and calling for ' measures, not men ', he did at least as much as George III to disintegrate parties His marriage to Hester Grenville cemented a strong clan who had attacked Walpole's corruption and the Hanoverianism of Carteret, and despised the feminine nerves of Newcastle He was a Whig, in that he was a stout anti-Jacobite Protestant, a quality which he used to suppress one possible rival, the brilliant ' silver-tongued ' William Murray, of a Scottish Jacobite family, who as Lord Mansfield was a power later in George III's counsels. But he was poles apart from the place-hunting aristocracy; whose veteran enemies, Bolingbroke whom he knew well, and the old Duchess of Marlborough who left him a legacy, fixed on him as their hope. He had links with more radical persons, Beckford and other City merchants, and the adventurous John Wilkes, member for Aylesbury, and also found much to attract him in the Tory independents, not merely their ' independency ' or dislike of Hanover, but the belief he also shared in a strong Crown This explains his temporary alliance with the young Prince George's court. Many patriotic men, indeed, found their best hope in this partnership between Pitt and Bute; especially when in 1755 Newcastle, in deference to the old King, took into his Cabinet Henry Fox, the special representative of the King's beloved Cumberland, whose joint influence hastened the outbreak of an inevitable war

Strained financially by the war of the Austrian succession, dislocated by internal quarrels, and with a necessity of rebuilding her navy, France had little wish for a new struggle But two sets of causes were making the origins of two wars, which turned into one. The first was the rancour of Austria against her late Allies and a resolve to recapture Silesia, in which she could count on help from Frederick's neighbours, Russia and Saxony. George II was ready to connive, if only Hanover were safe, but even Newcastle's wish to keep the old alliance could not

BRITISH NORTH A
1763
English Miles
0 100 200 300
English Settlements to
Limits of French contr
Limits of Spanish cont
Western boundary of
by England by Trea
Ft Oswego English forts underlin
Crown Point French forts underline
Arctic Circle
KEEWATIN
Hudson's Bay
Churchill
Nelson
York Factory
RUPERT'S LAND
James Bay
Ft Charles
East Main
Albany
Ft Albany
Lake Winnipeg
Ft St Charles
Nipigon
L Superior
UNGAVA
LABRADOR
Anticosti
St Lawrence
Tadoussac
ALGONKINS
Quebec
Three Rivers
Montreal
Ft Richelieu
Ottawa
L Nipissing
Ft Mackinac
Michillimackinac
OJIBWAYS
L Michigan
L Huron
Ft Frontenac
Crown Point
Champlain
Ft Oswego
Saratoga
YORK
Albany
MASS
Boston
CONN
RHOD
New York
PENNSYLVANIA
Philadelphia
Baltimore
VIRGINIA
Richmond
Yorktown
MARYLAND
NORTH CAROLINA
SOUTH CAROLINA
GEORGIA
Ft Miami
Cahokia
Kaskaskia
Vincennes
Missouri
Mississippi
Tennessee
CREEKS
CHOCTAWS
Orleans
Mobile
FLORIDA
LOUISIANA
ACADIA
Pr Edward
C Breton
Louisbou
NOVA SCOTIA
Halifax
Port Royal
(MASS)
West from 80 Greenwich
100
90
80
70
60
50
40
30

persuade Parliament to support another war of Carteret's sort, which would involve expensive subsidies and, perhaps, a partition of Prussia. Late in 1755, protesting against an 'inundation of subsidies and German measures', Pitt was dismissed, and George Grenville with him. Before that, a second set of causes pointed to war with France; yet Britain saw Austria unsympathetic and Holland decided on neutrality. Casting about for allies, they found Frederick II in alarm at the threat from Russia. Hence came in January 1756 the Convention of Westminster, providing mutual guarantees for Prussia and Hanover. This, in turn, impelled France to the famous 'reversal of alliances', long dangled before her by the Austrian minister Kaunitz; the first treaty of Versailles in May arranging for Austrian neutrality in an English-French war, and mutual assistance against attack from Prussia. So far already was English diplomacy driven, by need of security, towards a break with France.

That war rose, however, from causes long accumulating, beyond the desire of either government. In India fighting had never ceased since 1748, little wars in which rival companies supported rival rajahs, in return for grant of a fortress or trade concession. The scene was the east coast in the Carnatic and Hyderabad, and the chief actor the brilliant governor of Pondicherry, Dupleix, who thought expansion of territory indispensable for commerce and, assisted by Bussy, a soldier-diplomat of genius in dealing with Orientals, raised sepoy armies under French command. Further south, however, two remarkable Britons, Stringer Lawrence and Robert Clive, stemmed the tide. In 1751 Clive first made his name by seizing the Carnatic capital Arcot, and holding it triumphantly. Dispersal of forces over this huge area and broken finances crippled the French; Dupleix was recalled in 1754 and, though India was left an unsolved problem, it was not the occasion of war.

This came from America where, whatever their immediate acts of aggression, essentially the French were on the defensive, for their people in Canada numbered only some fifty-five thousand against nearly two million Americans. Nothing could have kept the map as it stood. The peace of Utrecht gave Britain the outer bastions of Canada, in Newfoundland, Nova Scotia, and Hudson's Bay, but with no clear-cut frontiers. To seaward of Nova Scotia the French held Cape Breton Island, on which they fortified a powerful base at Louisburg, and when it was restored to them in 1748, the British planted a military colony opposite it at Halifax. Nothing reconciled to British rule the French Acadians, who were kept in turmoil by Catholic missions.

These losses in the north inclined the French to develop communications with an outlet, far south, which the great La Salle had found in the bay of Mexico. There a new province arose, Louisiana, with New Orleans its capital at the Mississippi mouth, and to make contact

between this and Canada, hitherto merely linked up by fur traders or missionaries, now became a fixed purpose. From their Canadian capital at Montreal their trading-posts radiated in three directions. Westwards a line by Detroit reached out to untraversed lakes and prairies. South and south-east they pushed down the Richelieu river to Lake Champlain, on whose shore they built forts at Crown Point and Ticonderoga, so reaching the territory of New York Between these two prongs they passed round Lake Ontario to the Niagara peninsula, that links it with Erie, where they were within fifty miles of the Alleghany, and thence, all the way by water, made for the Ohio and so, by its junction with the Mississippi, to their distant goal If their plan were completed, it would throttle American expansion westwards and pin our Colonies to the sea; at each stage they clashed with pioneers from New York, Virginians who were pushing an Ohio land company, or Carolina traders A clash was the more certain because this debatable land was the area of the 'six nations', the Iroquois Indians, who at Utrecht were declared to be British subjects, but were indignant at American land-grabbing and skilfully excited by French agents. Under their inscrutable eyes rose rival French and British forts, while trappers and surveyors cut into the wilderness.

There was a third conflict, vital to America, over the West Indies, whose products made an essential exchange for American food-stuffs, and whose harbours could shelter rival navies. Here the French in Martinique and Guadeloupe were prospering more than the British, who had exhausted their best plantations and over-concentrated on sugar. Moreover, the possession of St. Lucia and three other islands was still in dispute

The collision came in 1753-4, when the Virginians decided to make a fort where the Alleghany joins the Ohio, only to find the French already there building Fort Duquesne, and Colonel Washington was driven back on the mountains In 1755 the British took two decisive steps, by deporting the French inhabitants of Nova Scotia into New England and sending royal troops under Braddock to help the Americans In June Boscawen's fleet failed to intercept French reinforcements entering the St Lawrence; in July the gallant, old-fashioned Braddock was ambushed near Fort Duquesne and perished with half his army War flared up all over America and in reprisals at sea, though Newcastle still hoped it might be kept out of Europe; a hope that failed in 1756, when in April the French attacked Minorca, and in September Frederick the Great, anticipating his enemies, occupied Saxony and called on Britain for aid

War broke up the government of Newcastle, whom Pitt compared to 'a child driving a go-cart on the edge of a precipice'. In that divided Cabinet Hardwicke headed a peace-party against Cumberland. The

regular army was hardly 20,000 strong, yet government rejected a militia bill and brought in German mercenaries Panic of invasion delayed the sending of assistance to Minorca, and its loss showed up our spineless command. The island had an insufficient garrison, the Gibraltar forces refused to help, a relieving squadron was weakened by dispersal in convoys, while Admiral Byng was inexperienced in war. After one indecisive action he abandoned efforts to harass the French or cut their communication with Toulon, though even so Minorca held out another month. While politicians strove to lay all responsibility on the Admiral, national fury demanded a scapegoat; there was loathing of the foreign mercenaries, corn was rising to a starvation price, the French under Montcalm captured the forts of Ontario. The Cabinet fell to pieces, Fox resigned, the timid Murray took refuge in the chief justiceship as Lord Mansfield. By refusing to serve with Newcastle on any terms Pitt drove him into retirement, and in November with his followers came into office, under the nominal lead of the Duke of Devonshire.

Another year went by, in chaos at home and disaster abroad. After trial by court-martial Byng was shot, King and people being equally decided, though Pitt attempted to save him. With difficulty a Militia bill was passed to raise a tiny force of 32,000 men, and much rioting was caused by the first levies. True, some assistance was voted to Frederick, foreign mercenaries were sent away, but the Cabinet could not survive the royal hostility. In April 1757, on the demand of Cumberland, the King dismissed them and, in the teeth of public opinion and the spirit of the constitution, spent eleven precious weeks in trying to instal Fox and Cumberland with a ministry of his own choice

Fortunately national opinion and the calculations of the political groups coincided. While cities showered their freedom on Pitt, the Leicester House men dreaded the supremacy of Cumberland, and the Newcastle Whigs reckoned they had better close with a young prince than an old king In part by Bute's agency a coalition was at last formed: Newcastle and Hardwicke representing the old Whig 'corps'; Pitt, Secretary of State and leader of the Commons, with his brothers-in-law Temple and Grenville, Cumberland's followers like Bedford relapsed into minor places, while Fox ended his career by taking the paymastership in hope of riches.

Its first prospects in 1757 were black indeed. One effort to take Louisburg failed miserably, Montcalm came down beyond Lake Champlain News reached England also that in the previous summer the new Nawab of Bengal had captured Calcutta, many of whose garrison had perished in 'the Black Hole' After some first successes Frederick was defeated by the Austrians at Kolin, and evacuated Bohemia

One French army invaded Saxony; in July, a second beat Cumberland at Hastenbeck and drove him out of Hanover, and in September he signed the convention of Klosterseven, interning or disbanding half his force. The same month our attack on Rochefort, near La Rochelle, collapsed; even Pitt declared 'the Mediterranean lost, and America itself precarious'. Neutrals grumbled at our rough use of sea-power and our extension of international law by two famous doctrines: the 'rule of 1756' which forbade, for example, Dutch ships to perform a carrying-service for France which would not normally be done in time of peace, and the doctrine of 'continuous voyage', which would prevent neutrals carrying French colonial goods to France from a neutral port.

But in November the dauntless Prussian king turned the tide. Though compelled by the Russians to abandon East Prussia and threatened by the Swedes in Pomerania, and though an Austrian force temporarily held Berlin, he crushed the undisciplined French at Rossbach in Saxony and then, striking eastwards for Silesia, in December annihilated an Austrian army at Leuthen.

From 1758 onwards the war became a blaze of victory. This was made possible because, in effect, Pitt was sole war minister, often, for instance, issuing fleet orders without recourse to the Admiralty, and again because his system of war fully realized the meaning of sea-power. This it was which dried up French reinforcements for Canada and saved British India; drove first the French, and then the Spanish, navy from the seas; won an Empire and bargaining values which could be used in making peace; and so waged war that both exports and tonnage actually increased. Seen in this light, Germany became a secondary theatre; though the Klosterseven convention was repudiated, though money and men were sent to Frederick and diversion attacks made on the French coast, all were designed to contain the enemy while the mortal stroke was delivered overseas. Cumberland's successor in command, Ferdinand of Brunswick, was a good soldier but under this system Frederick bore the brunt; Swedes, Austrians, and hordes of Russians beat in on his State, he lost Saxony, Silesia, and Pomerania, more than once he thought of suicide. Only the death of his bitter enemy the Czarina Elizabeth in 1762 saved him, for it brought Russian neutrality.

Pitt lifted our war effort to a new scale British troops alone rose to nearly 150,000, and the fleet to over 400 ships. Ten millions were voted in 1758, the budget of 1760 climbed to fifteen, while over a million was paid to the American Colonies Even more, Pitt's breadth of vision, and power of raising men to united effort, made this the first Imperial war. His appeals wrung considerable taxes out of unwilling Colonies, his recognition of American commissioned officers and choice of some for high command called out a loyalty unknown before.

In Europe during 1759 our sea-power warded off serious dangers, for a great French minister had attained power in Choiseul and their ports were full of troops for invading England. But, reinforced through the port of Emden with superbly fighting British infantry, in August Ferdinand of Brunswick saved Germany by a great victory at Minden; marred only by the failure of the British cavalry under Lord George Sackville, a Leicester House favourite, who for this matter was dismissed the army. That same month the Toulon squadron, passing Gibraltar to join that at Brest, was destroyed by Boscawen off Lagos in Portugal; in November the Brest fleet broke out to convoy transports from the Loire, but Hawke pursued it in a storm into the shoals of Quiberon in Brittany, destroyed many ships, and left the rest crippled.

While the centre was thus firmly held, on all the circumference France was obliterated. Some British successes had, no doubt, little immediate bearing on the war. Among these was the seizure of French West Africa, and the same might even be said of India, weighted though that struggle was with future destiny Having retaken Calcutta, in 1757 Clive and Admiral Watson seized the French settlements in Bengal and in June scattered Siraj-ud-Daulah's forces at Plassey. In 1758 the fiery Lally reached Pondicherry, took Fort St. David to the south, and then turned north to besiege Madras Our sea-power forced him in 1759 to raise the siege, while one of Clive's best lieutenants, Forde, expelled the French from the northern Circars. In 1760 Eyre Coote beat Lally at Wandewash, between Madras and Arcot, pinning down the French squadron far off at Mauritius, by command of the sea we could bring the reinforcements which in 1761 forced Pondicherry to surrender.

By that date decision had been reached on the American scene. The campaign of 1758 did not achieve all that was hoped, for though the fleet helped Amherst to take Louisburg, it came late in the year to attempt Quebec. On the mainland two blows were struck at Canadian contacts with the Ohio, by the capture of Fort Duquesne and destruction of Fort Frontenac on the north shore of Ontario, but the main force was repulsed by Montcalm at Ticonderoga. Much had been learned, Pitt made drastic changes in the command, but even the glories of 1759 did not fulfil his objectives To the west, indeed, one striking force reached Niagara and swept the French off the lakes, but Amherst's move on Montreal was delayed by resistance on Lake Champlain, and the army of the St. Lawrence had therefore to fight its campaign unaided

This strong force of some 9000 regular troops and a powerful fleet was fortunate in its leaders. Saunders, one of Anson's best captains, by magnificent navigation brought ships of the line through the rocky narrows, and at every stage the fleet alone made victory possible General James Wolfe, though he had fought at Dettingen, was still

only thirty-three years old, but he had made a name at Louisburg, was renowned for training of troops, and though frail in body and temperament had an iron will for victory. The subordinates on whose appointment they insisted were a memorable team — the soldiers Murray, Monckton, Townshend, and Carleton, James Cook the navigator, and Jervis, the future St. Vincent. Their task was arduous, working as they must to a time-limit set by the date when the river would freeze, while they found the element of surprise was lost and Montcalm prepared.

Quebec stands where the St Lawrence is hardly a thousand yards in breadth, at the strong angle where it is joined from the north by the St. Charles; a few miles further east the Montmorency made an outer defence. Montcalm turned this area into a fortified camp; though various in quality, his troops were numerically superior, and he hoped to wear the British down. Seizing the Isle of Orleans just below, and Point Levis opposite the city, Wolfe first pursued the idea of forcing the French left on the Montmorency, combined with a frontal landing near the St. Charles. But one attack was a dismal failure, Wolfe fell ill, and time was getting short.

The solution, which did not come till the end of August, was the product of several minds and new circumstance. With great daring Saunders passed some ships upstream under the batteries and his landing-parties threatened Montcalm's connection with Montreal, so that he began to string out his garrison; Wolfe's brigadiers, in agreement with the sailors, convinced him that somewhere above Quebec was the best hope. But he himself insisted on the exact spot — not, as they proposed, eight miles upstream but at a precipitous cove, the Anse du Foulon, leading direct to the heights of Abraham, only a mile north of the city.

Premonition that the path of glory leads to the grave held Wolfe as he drifted downstream on the night of 12th September, when he quoted to his officers from the Gray's *Elegy* which his betrothed had given him before he sailed. But whatever doubt haunted his mind, his inspiring ability carried through a great feat of arms By dawn on the 13th he had placed 4500 men on the heights, mounting single file up the steep path. He had completely surprised Montcalm, yet if he was not to be caught between the Quebec garrison and troops upstream, he must win an instant action. Fortunately Montcalm gave it to him; at eight o'clock the battle began, by eleven all was over, a victory won by the discipline of the infantry and the tactical skill of his brigadiers It ended in a hand-to-hand clash, Wolfe was twice hit, and then by a third in the lungs mortally wounded. But so was Montcalm, who lived till next day, long enough to agree that the city must surrender, and demoralized French soldiers fled towards Montreal. Winter was

coming, the fleet had to go, and Murray was left to hold Quebec

So the final fall of Canada was left over till 1760, although it was certain; for France could not reinforce Levis, commander at Montreal, and many Canadians were disloyal. Yet Quebec, with a garrison halved by winter and disease, was nearly lost again, and Levis was besieging Murray when in May our fleet returned By August Murray had worked up the river to the outskirts of Montreal, where he was joined by a second force from Lake Champlain and then, from the west, by Amherst, who had sailed over Ontario and descended the St. Lawrence rapids. On the 8th September Montreal surrendered.

Sea-power was simultaneously expelling France from the West Indies, where Guadeloupe, Dominica, Martinique, and St. Lucia all fell by 1762; it even struck France herself, when the British occupied Belle Isle in the Bay of Biscay. For five years Pitt made Britain accustomed to victory, to see bells of Cherbourg or colours from Louisburg in Hyde Park, and to hear of continents won by generals in their thirties. But now a new scene dawned, which within ten years reduced this victorious kingdom to a second-class Power.

It opened with the death of the old king in October 1760 George III, as yet a boy of twenty-two, was during sixty years to show that he had private virtues which served the country well. Yet all were so twisted by his weak mind, and unhappy circumstance, that they became public disasters Extremely immature for his years, in this first stage he simply echoed his mother and Bute, who had brought him up in a persecution-complex, taught him never to forgive the Whigs who had suppressed his father, to distrust his uncle Cumberland and his 'black-hearted' followers like Fox, with a prejudice against 'German' measures and wars, which they used to inflame the insular Tory squires Proud of their own motives, the King's advisers encouraged him to push the Crown forward, as the barrier against a corrupt aristocracy who had kept the Crown in chains. Yet they had no deep design of remodelling the constitution, or refounding the Tories All they claimed was what the first Georges had tried and William III had achieved — the King's unquestioned right to choose his ministers, to have the last word in policy, and to use those means by which government could influence Parliament, in the interest not of a faction but the whole realm.

It was a conception with much justification at the time, and a strength which was proved well into the nineteenth century, but the choice of Bute as its first instrument was enough to destroy it. Beginning with the unpopularity of a Scotsman, he was a courtier without political experience, full too of theatrical notions and self-righteousness which he imparted to the King. Pitt obstructed their first intention that Bute should become principal minister, but Pitt's predominance

depended on war. They therefore decided to work for peace, the making of which could be used to drive a wedge between Pitt and Newcastle. Many signs showed the new tendency. With difficulty Pitt stopped a denunciation in the King's first speech in Council of a ' bloody and expensive war ', though a declaration to Parliament that he ' gloried in the name of Britain ' was enough to show he would abandon Hanoverianism. Encouraged by the old politicians long out of power, by Pulteney (Lord Bath), Dodington, and Egmont, a press campaign praised Bolingbroke's principle of a government above party, while Tories were made welcome at Court or placed in the household. Early in 1761 Bute became Pitt's colleague as Secretary of State.

Peace had now been under discussion for a year. The Newcastle group thought ruin stared us in the face, for war had doubled the debt, raising it to £150 millions. Even Pitt recognized the danger of prolonging it, especially from the attitude of Spain, where in 1759 Charles III came to the throne, formerly King of Naples and an old enemy, determined to resist our supremacy at sea. But Pitt was resolved that peace must be won sword in hand; Frederick must be supported to the end, not for loyalty's sake only, but because a ruined Prussia would have to be resurrected by bargaining away our conquests. There were innumerable arguments over what to keep and what to part with, measuring the wealth of Guadeloupe or Martinique against the fact that they competed with our own sugar islands or, again, reckoning the markets of America against the belief that only if Canada were French would America be loyal. Finally Pitt decided to keep all Canada, including the Newfoundland fisheries which, together with some of the West Indies, would permanently cripple France at sea.

Negotiations in 1761 showed a gulf it would be difficult to bridge. Choiseul would not give up the fisheries or the Mississippi line, nor commit Austria to restore her German conquests; most provocative of all, he dragged in the grievances of Spain. The Cabinet majority compelled Pitt to make concessions, but in September the break came, for Choiseul had signed a third Bourbon family compact. It was from his reading of intercepted despatches, giving the substance of this agreement, that Pitt proposed an instant attack on Spain. Except for his brother-in-law Temple, the whole Cabinet was against him — even Anson and the soldiers who argued we could not fight France and Spain combined. In October Pitt and Temple resigned.

If his popularity was momentarily dimmed by accepting a pension and peerage for his wife, his policy was instantly justified. Spain refused all approaches, Britain declared war, and Pitt's plans proved triumphant, not only in completing conquest of the West Indies but by the swift surprise of Cuba with its treasure at Havana, and the seizure of the Philippines. Moreover, freed now from the Russian menace,

Frederick made progress and British troops occupied Cassel Bute, however, was not the man to make use of victory, and by this time the peace-making had become part and parcel of his supremacy. Of the older ministers Bedford, whose hot temper found Pitt intolerable, thought our ruin came only from 'the obstinacy and insolence of one man', whose aim to drive France off the sea was 'fighting against nature'. But Newcastle and Hardwicke resigned when our subsidies to Prussia were cut off, and the two brothers-in-law with whom Bute patched up his Cabinet, George Grenville and Egremont, were trying to prevent his yielding even more to France.

To suspend the Prussian subsidy was abrupt, though perhaps defensible, but Bute also allowed Austria and Russia to see he meant to force peace on Frederick, who therefore became his mortal enemy. His secret negotiation through the Sardinian envoy and notorious weakness in Cabinet exposed him to pressure from Choiseul, who inch by inch extracted concessions. Revolt in the Cabinet, the City, and the streets threatened Bute with ruin; since the Newcastle Whigs refused to come back in subordinate office, he persuaded the King to replace the more warlike Grenville in the Commons' leadership by Fox, who for a peerage undertook to carry the peace terms. Some secret-service money was employed, though the pacific feelings of most country gentlemen needed little persuasion, and drastic steps were taken to crush the old Whigs, who were now in the royal eyes 'an audacious faction'. Devonshire was struck off the Council, Newcastle and Rockingham dismissed from lord-lieutenancies, many lesser men from the customs-service and other departments. By these combined measures the peace of Paris went triumphantly through Parliament and was signed in February 1763.

Apart from its method of making, it was open to just criticism. Canada and Cape Breton became British, with the territory to the Mississippi line, though this was diverted to exclude New Orleans in Louisiana, which was now transferred to Spain. France kept her fishing-rights both in Newfoundland and the St. Lawrence, with the islands of St. Pierre and Miquelon. To Spain we surrendered Cuba in exchange for the inferior province of Florida, and the Philippines without compensation, though our rights of log-cutting in Honduras were recognized. In the West Indies Britain kept only St. Vincent, Tobago, Dominica, and Grenada, restoring to France the much richer Guadeloupe and Martinique together with the strategical base of St. Lucia Minorca returned to Britain in exchange for Belle Isle. In India the French recovered their settlements, though without the right of fortification in Bengal; in Africa Britain kept Senegal, but restored Goree. Except for some vague clauses, Frederick was left to make his own settlement.

This peace was no sooner made than the nerve of its authors gave way. Fox went off with his peerage, and the money of the paymastership. Bute was in ill-health and could not face a people's hatred, mobs were attacking his carriage or hanging him in effigy; the press poured out libels and ballads on the Scot favourite and the Princess-mother; he felt he was endangering his master. At Easter 1763 he retired; the new Prime Minister was Grenville, assisted by his brother-in-law Egremont, by the followers of Bedford, and a few of those who, like Halifax, had served under the Pelhams. For a few years more Bute lingered in the wings of the stage but, though he lived long, seems never to have seen the King alone after 1765. The episode of the favourite was over, though not its effects

CONTEMPORARY DATES

1755 Paoli frees Corsica from the Genoese.
Johnson's Dictionary
1756 Opening of the Seven Years' War
Siraj-ud-Daulah takes Calcutta
1757 The Reversal of Alliances
Battles of Kolin, Rossbach, and Leuthen
Thomas Gray's *Odes*
1758 Choiseul becomes Foreign Minister in France.
Quesnay leads the school of physiocrats
1759 Battles of Minden, Lagos, Quiberon, and Quebec
Expulsion of the Jesuits from Portugal
1760 Macpherson's poems of Ossian
First part of Sterne's *Tristram Shandy*
1761 The third Family Compact
Defeat of Hindu India at Panipat
Gainsborough's first exhibition of paintings.
1762 Rousseau, *Contrat social* and *Émile*
Calas broken on the wheel
-1796 Reign of Catherine the Great of Russia.
1763 Peace of Paris.

BOOK VI

INDUSTRY AND EMPIRE

1760–1852

CHAPTER I

FRAMEWORK OF A NEW AGE

THE old mechanism faltered, sagging more heavily under each new overseas acquisition or economic crisis at home. Many had lost faith in the institutions which had carried the nation over the Reformation and two revolutions. There was a meaninglessness about party, a decline of religious ideal, a scepticism whether anything was worth while except peace and comfort And overseas trade had brought an economic scale which was dissolving the old society of squire, village, and market-town In short, if Britain was to become a great State, a revolution there would have to be . new government, new faith, and new social arrangements Whether that came about by peaceful reform or in catastrophe, or in time to bequeath the inheritance without loss, lay in the hands of Providence, or at the hazard of events. If the long reign of George III accomplished a part of the changes required, the clues will be found before 1788 — after which date his personal government lost its grasp — in the conditions which surrounded that government and transformed it.

This parliamentary monarchy was destined to pass into the sovereignty of the middle class, who rose on the effects of industrial revolution. Judged by outward evidence, Georgian England was very rich. It was the age of Vanbrugh's palaces at Blenheim and Castle Howard, with innumerable other palatial houses; of Chippendale and the Adams decoration; of the Woods, father and son, who built Bath for the delight of the ruling class; of 'Capability Brown' and a host of amateur landscape gardeners and planters of woodlands; of an aristocracy who, like Henry Fox, ransacked Italy and France for marbles and pictures, or like his son Charles gambled away thousands at a sitting — an aristocracy whose interests were landowning, horse-flesh, and politics, whose painters were Reynolds and Gainsborough, whose God was reason, and whose spiritual homes were modern Paris or ancient Rome. It was an age also of new-rich men, Indian nabobs such as Clive, who bought up half the boroughs of Shropshire, or West Indian nabobs like Alderman Beckford, who built Fonthill and whose City influence assisted the elder Pitt to power

Yet in the half-century before George III's accession the national advance was slow and uneven. The population of England and Wales, estimated at 5¼ millions in 1689, had risen only to about 6¾ millions in

1760, the 675,000 souls of London in 1700 barely increased in the next generation, while neither Glasgow nor Liverpool surpassed 30,000. Shipping cleared at the ports did not exceed 800,000 tons; exports roughly doubled in value between 1700 and 1770, but the latest total was only about £15 millions in value, while the Acts of trade had driven a third of our commerce into the single channel of the Colonies. Even in 1789, the last pre-revolutionary year, a minute revenue of some £15 millions showed the petty scale of the British State.

This limited progress was much due to the fact that the whole mechanism of life was antiquated. Internal trade was crippled by primitive communications. For though on main thoroughfares the turnpike roads were rapidly growing, taking tolls which trustees applied to their upkeep, others were left to the Tudor laws which bade parishes maintain highways by compulsory labour; with the result that scores of roads were simply mud tracks, in winter becoming torrents or bogs in which carts were stranded and coaches broke their axles. Many a time only the sound of church bells saved John Wesley from being lost on his journeys. A great mass of trade, even grain and coal, was therefore carried by pack-horse, while the fastest coach was three days travelling from Manchester to London.

As to government, it was not merely outmoded, but the central machine had almost ceased to function Having revolted against the planning of the Tudor-Stuart monarchy, Parliament had done little or nothing to supply the void. Whig political thought from the time of Locke onwards, the best economists after the Restoration like Petty and Davenant, and the business men so strong in the Commons, all agreed in basing liberty on private property and sincerely objected to State interference. Not only did the State not contribute a penny to police, health, or education, but it let fall several functions it had once performed The Elizabethan assessment of wages was dropped, save in a few special cases such as the silk industry, Acts of Walpole and the Pelhams forbade workmen to combine in unions to raise wages. Except in the case of parish pauper children, apprenticeship was now rarely enforced Ancient machinery for fixing prices, such as the assize of bread, had lapsed, and though 5 per cent was the maximum legal rate of interest, it was freely evaded. Most serious of all, administration was left to the mercy of justices of the peace and municipalities.

This local government, devised by the Plantagenets and overloaded by the Tudors, collapsed when it was asked to meet modern problems. Manor courts were still managing husbandry for open-field villages, which themselves deserved to die. Outside London there was no paid police; no officials except the county clerk of the peace and overseers of the poor. Parish self-government, never broadly based, had usually sunk to some 'select vestry', of the squire with the parson and a few

farmers; Tudor and Stuart charters had narrowed government in most boroughs, whose small corporations and hereditary freemen plundered them for private profit There were some good magistrates, not least among the clergy, but in general they were harsh against poachers and Methodists, and quite unalive to economic change; at their worst they were infamous, as with the 'trading justices' in the London suburbs, who set up a caucus of mercenary underlings in dealing with ale-houses, building, and the poor. The very instruments of law and order themselves corrupted the national character. Since barracks were thought 'Cromwellian' or despotic, soldiers were freely billeted in ale-houses and, being scandalously underpaid and brutalized by flogging, demoralized every area where they were quartered. The most innocent passer-by might be forcibly pressed for the Navy, Charles II's Militia Act was a farce, an annual promenade for the squires and their tenants. Capital punishment for over 160 offences, many recently added, showed the panic of the 'haves' or the deterioration of the 'have-nots', while perpetual rioting, over Jews or turnpike tolls or shortage of bread, exposed an increasing lawlessness, a State that had no weapon but soldiers, and a people whose heroes were smugglers and highwaymen.

As yet, our ancient economic scheme stood almost unaltered. In 1700 cloth still made up half the exports, in the clothiers' interests the export of wool being totally prohibited From the same motive import of Indian silks and calicoes was discouraged; not until 1736 was Manchester allowed to manufacture printed linens and mixed cottons. In spite of economists and Walpole's relaxations, protection continued all-powerful, of which a strong instance was the virtual prohibition of trade with France. Bounties encouraged a few exports such as sail-cloth, and import of some colonial products, those for the Navy especially, like tar and masts Agriculture was protected by law also, though hitherto there was no serious competition from abroad and Britain exported grain on a considerable scale. The law of 1689, which provided a bounty of 5s per quarter exported, long stabilized prices, wheat averaging only 34s. 11d in the fifty years ending with 1764. But they had to feed a growing population, and in 1773 Lord North repealed the export bounty and allowed import on a nominal duty when the price touched 48s

Agriculture perhaps best showed both the improvements and limitations of this age. Never had landownership been politically more powerful, or economically more rewarding. The enclosures made in the Stuart age by mutual agreement had continued, strengthened after 1700 by many private Acts of Parliament, how the process was hastening was shown by the increase of those Acts, from some 280 between 1702 and 1760 to over 4000 in the next twenty years. Though it was

estimated 2 million acres had been taken into cultivation, the effect hitherto was cumulative rather than revolutionary. In some areas, especially in the north, where it took the form of enclosure of commons or waste, small landowners actually increased. But on balance, above all in the heart of the open-field system, the midland and middle-east belt from Yorkshire to Dorset, there is little doubt that they diminished—some by reabsorption as tenants, some by departure into industry, some unable to face the cost of enclosure or to stand up to a capitalized agriculture. Fashion and profit both brought money to the soil, and it was the large owners who made possible the expansion of the food supply, which was to carry a much larger population through war and revolution These improvers, indeed, created modern agriculture. Landlords like Townshend and the Bedfords advanced the use of turnips, clover, and sainfoin, which set up a new rotation and avoided the waste of mediaeval fallows, kept alive cattle which had previously been killed in winter, and enriched the soil by their manure. Robert Bakewell of Leicestershire began scientific breeding of cattle and sheep, for meat and not for wool or hides. The Berkshire man Jethro Tull was the pioneer of farm machinery, introducing the horse-hoe and the drill which made possible systematic sowing and cleaning of the soil. As in France, a philosophy sprang up in praise of the land as the mother of virtue and prosperity, and in 1768 Arthur Young, a reformer of extraordinary energy, published the first of a series of notes on tours through England, in which for thirty years he preached enclosure and big farming against the ‘ Goths and Vandals ’ of open fields.

The ally of this new farming was the industrial revolution In its largest sense no less time-limit can be given than the three centuries from about 1500, but in its concentration, the triumph of machinery, transport, and power, some such date as 1760 marks its birth In a continuous process which took so long the speed was sometimes swift, but more often slow, and even to the middle of Victoria's reign we meet the co-existence of old and new. All we can say is that by a given date certain trends are becoming victorious, we have already seen that by 1660 capitalists controlled many industries and most export trades, that gilds and small masters were being replaced by companies, domestic production, and wage-earners, and that new industries and invention were redistributing the population

In the stage now before us these movements proceeded at a faster pace; capable of endless expansion, but only if they broke through the old social frame. Unlike the Elizabethans, Englishmen now believed their country was under-populated, and a more generous immigration policy reaped a rich harvest; much, for instance, was due to the 30,000 Huguenots who fled from Louis XIV. Facing the severe competition of France, one invention after another transformed the textile industries.

At Norwich in 1718 the Lombe brothers borrowed from Italy silk-making machinery, which was to make the future of Macclesfield and the Derwent valley In the cotton trade the Lancashire man John Kay in 1733 invented the fly-shuttle, which doubled the speed of weaving, the Huguenot Louis Paul patented a carding machine, which the first Robert Peel took into Lancashire calicoes But weaving could not expand far without improvements in spinning to provide it with yarn. Working on the inventions of Paul and others, Arkwright of Preston, a man of audacious ability, in 1769 patented his water-frame, a spinning machine driven by power, next year, Hargreaves of Blackburn patented the spinning-jenny, while by 1799 Samuel Crompton had combined Arkwright's and Hargreaves' principles to make his 'mule'.

The year 1785, when Arkwright's patent expired, so that his frame could be freely used, and when the first steam spinning-machine was erected, may be taken as our present limit in the history of cotton. Each invention had made a technical advance: Arkwright's for a stronger warp, so that pure cotton goods could be made successfully, as indeed by the Act of 1774 they were first allowed by law; Crompton's, for a finer thread, by which was created the muslin industry Taken together, their social effects marked a transition, for while Arkwright's engines had to be concentrated in workshops, both the jenny and mule began as home industries, and since power was not successfully applied to weaving till after 1790, textiles had struck a balance as between men and machines. This pause before the power-looms conquered was the first cotton age of Lancashire, when there was a rush to install jennies in every cottage, when weavers walked on pay days with five-pound notes in their hat-bands and their wives drank tea out of Staffordshire china, and thousands of the best yeoman stock flocked into the towns to make a fortune.

Cotton, which called out most of this inventiveness, symbolized the first stage of our industrial revolution. Though the process was brought in by Dutch refugees before the Civil War, it long remained a struggling industry. Unlike cloth, its raw material of cotton-wool had to be imported from Levant and West Indies, while for the linen yarn mixed with many of its products it depended most on Hamburg or Ireland Its first dangerous rival was the Indian industry, its best export market lay among the negroes of Africa and American plantations Steadily it ousted cloth because it was cheaper, East India goods opened British eyes to these gayer cleaner materials, and the range of goods which Lancashire had invented or copied before Queen Anne died — fustians, calicoes, printed linens, checks, velveteens, muslins — covered every need and every class, from aprons and smock frocks to the luxury of the Bath Assembly Room. Its structure also made part of a new age, for from the first it demanded capitalist management, coming at a time when

domestic producers had beaten the closed gilds, and growing up in an area exceptionally free from such restrictions. Once Manchester was made free by law and troubles in India damaged its old competitor, the progress was rapid. Imports of cotton-wool rose from £3 millions in 1750 to near £28 millions in 1791, while exports in the same period increased tenfold

This inventive concentration affected other industries and areas. Birmingham, in law only an open village and therefore welcoming all comers, was never troubled by apprenticeship or the law of settlement, and all its region, close to coal and iron and with the Severn for its exit, was full of invention in metal industries which, like pin-making or buttons, carried division of labour to extremes. Since the sixteenth century the Midlands hosiery trades had also had their frames, now usually leased out by big employers. There, and even more in Lancashire, domestic industry had weakened; though cottage hand-looms and spinning, small forges, and nail shops abounded, this population was increasingly giving up their plots of land, and modern forces diminished Yorkshire weavers of the old school, who took the piece the family had made into Halifax, brewed their own ale, and farmed a hillside holding Silk mills, jennies working a hundred spindles, and water-frames were concentrating more and more industry under supervision.

Even so, the real industrial age had not arrived It was not merely that technical progress was only partial, that woollen textiles, for instance, lagged behind cotton. For though the structure was almost entirely capitalist, in that the big man owned the raw material and very often the tools as well, most of it had not yet attained a factory system, work being put out by middlemen to domestic workers and collected in comparatively small shops It had not as yet created an urban civilization. If the population of Lancashire and the West Riding doubled between 1700 and 1770, at the last date Manchester had still under 30,000 people and Leeds under 20,000 Paul's first spinning-machine had two donkeys as its means of power, while the fly-shuttle was unknown in west-country industry till after 1790. Not only was movement thus provincial, but it had been dictated rather by commerce than industry Liverpool and Glasgow reached their wealth before Manchester or Lanarkshire were industrialized; so far, both the capital that fed industry, and changes in the structure, came rather from merchants than industrialists, from investment which could be spared from the slave trade or the Indies, and from marketing for export Industry pure and simple could not expand without larger means of transport and power.

Till the middle of the century, iron and coal were backward industries. In the south particularly, mining remained a country occupa-

tion, as in the Forest of Dean, where 90 small surface pits averaged 20 tons a week. Even on the Tyne and Wear, where shafts had been sunk 600 feet, there was no proper pumping machinery, no science against damp and gas, and everywhere the instruments were elementary — children watching ventilating doors, women carrying coal in baskets up long ladders, wooden rails on an inclined plane to run the loads away Except by sea, transport was ruinously expensive, while in winter the state of the roads stopped internal movement. But if these were some reasons for the minute production, — 2½ million tons in 1700 and not over 6 million in 1770, — a greater obstacle still lay in the iron trade

As practised since Roman days in the Sussex Weald or Gloucestershire, iron-working depended on timber for its charcoal furnaces, to convert the ore into pig-iron and the pig into bars But the timber supply was practically exhausted, by 1720 the country produced a bare 20,000 tons of pig a year, and forges depended for two-thirds of their bar-iron on foreign, mainly Swedish, imports

Several generations failed to overcome the objection to coal for smelting, that its fumes made the metal brittle, but this was achieved after 1709 by the coke furnaces of Abraham Darby, at Coalbrookdale. Almost simultaneously Newcomen, a Devonshire blacksmith, perfected a fire-engine, which was at first used to pump mines, and then to turn water-wheels for a stronger blast; in 1740 a Yorkshire clockmaker, Huntsman, discovered the crucible method, to blend iron and carbon into the hardness of steel. From this time forward iron and coal, with their products steam and steel, helped each other in invention, supply, and demand. By 1788 production of pig-iron had risen to 68,000 tons, though full expansion waited on further inventions which allowed refining into wrought iron by a process cheap in fuel and large in volume. It was an Admiralty servant, Henry Cort, who in 1784 patented the process of puddling, using pit coal as his fuel, and a rolling-mill which multiplied many times the speed of hammering and variety of shape The neighbourhood of coal and water transport made possible Josiah Wedgwood's extension of the Potteries from 1739 onwards into a great industry, while it was to be near iron and water-power that the Carron works in 1760 opened on the Forth.

A whole generation of ironmasters, by applying science to industry, revolutionized it · the third Darby, who made iron rails and threw an iron bridge over the Severn, Roebuck of the Carron works who quadrupled output by air blast, Bacon and Crawshay who founded Dowlais and Merthyr Tydvil, or Wilkinson of Broseley who controlled collieries and tin mines, launched iron barges, cast the water-pipes of Paris, and was buried in an iron coffin. It was he who made possible Watt's triumph by boring his cylinders and using steam for hammer and lathe

For steam was the final achievement of this first industrial period. Fire-engines made by Newcomen and his successors were wasteful in fuel and heat, being little better than pumping-engines, and the true steam age began with the genius of the Greenock man James Watt, and the business ability of his partner Boulton, head of the Soho works at Birmingham. In 1769 Watt patented his invention, economizing heat by separating cylinder and condenser, and by making steam and not atmospheric pressure drive his piston, and for thirteen years with his assistants went on experimenting, till they perfected engines for every purpose Collieries, Cornish tin mines, the New River Company, and rolling-mills, all used them, in 1782 the Wedgwoods, and three years later the first steam spinning-mill.

Steam began the end of the stage of water-power, which provided transport for the new industry. Though business men of the north had long been anxious to improve their rivers, the real step forward again came through the coal trade In 1759 the Duke of Bridgewater engaged the engineer Brindley to make a canal to carry his Worsley coal to Manchester, the Liverpool-Manchester canal halved transport costs between those cities, by 1777 the Trent-Mersey canal made a through traffic from the north to the Irish Sea, a third creation of Brindley's linked the Black Country with the Severn. This network brought coal to new areas, halving its price at Birmingham, and enabled the Potteries to get china clay from Cornwall It was in canal workings that a new race of engineers, disciples of Watt and Smeaton, tested their material and invention, which after 1790 Telford and Rennie poured forth on high-roads, aqueducts, and bridges. Even before this, 450 turnpike Acts in George III's first ten years, with the labours of self-taught engineers, like blind John Metcalfe who transformed the West Riding, had doubled the speed of road traffic.

Such were some elements in this incomplete revolution; incomplete, because mills and machinery only covered part of the field, and steam was in its infancy. Nor was there any centralized economic plan. Though local merchant houses, like the Birmingham ironmasters the Lloyds, had begun banking business, so far the Bank of England had a legal monopoly of joint-stock operations, and though the Stock Exchange opened official headquarters in 1773, ever since the 'Bubble' Act of 1720 the law had discouraged speculation. Even so, this revolution had already immense consequences, though hard to measure exactly before the first census of 1801. The population of England and Wales, which had been roughly 6 millions in 1700 and only 6½ millions in 1750, in 1801 nearly touched 9 millions. As compared with 1700, Middlesex kept its place in the five most populous counties, London having grown from about 675,000 to 900,000 people, but Somerset, Gloucester, Wilts, and Northampton had been replaced by Lancashire, Yorkshire, Stafford,

and Warwick This migration had not risen to its high tide, and was still an overflow of country people into neighbouring towns. Yet, accompanying it and the breakdown of old regulation, came evils which made the age of George III revolutionary, evils so great that it is the hardest thing in the world to remember one outstanding fact . that the century was one of social progress, not social decline. Of this there is weighty evidence, in the stability of prices, a slight increase of wage-rates, a larger consumption of wheaten bread and tea, and one even more decisive sign — that, if the birth-rate rose slightly up to 1790 and then began to pause, the death-rate declined much more, and more continuously. If one generation suffered more than another, it was probably those who were young between 1720 and 1750, but throughout this age sections of the people suffered cruelly from preventable causes

In London, indeed, the existence of the poor could hardly be considered life. Until 1750, burials stood to baptisms as 3 to 2; the same year St. Margaret's, Westminster, found that 83 of 106 individuals in its workhouse had died; from 1730 to 1749 London infantile mortality averaged 74 per cent This was the age of cheap gin, to be bought from any grocer or off any fruiterer's barrow, and though great progress was made before 1790, typhus and gaol fever swept the City. Part of this mortality was due to antique regulations and short leases, which drove the population into cellars and single rooms , much to lack of sanitation, old graveyards heaped-up and overflowing, night soil dumped on the streets, and contaminated cess-pits ; something, again, to the window tax, barbarous laws of imprisonment for debt, and immigrant Irish who lowered wage-rates

It must also be said that the amount of sheer evil in eighteenth-century England was high. Its records are full of cruelty, of apprentices beaten and murdered, children taught to rob, or sold to the Indies, and of mobs whose favourite festival was a hanging-day at Tyburn. They are steeped in drink parish officers celebrated when they fixed the poor rate , wages were paid in public-houses ; trade unions had their houses of call. As in other classes, working men's amusements were brutal too, such as the three days' cock-fighting advertised between Oldham collieries and Manchester weavers. What a mob meant was evidenced by ' kicking ' matches in Lancashire, pitched battles between sailors and coal-heavers on the Thames, the stones which rained on Wesleyan preachers, repeated riots over food prices (as in 1740 when miners sacked Newcastle gild-hall), or attacks on machinery (which destroyed Arkwright's mills) Elementary education had not advanced since Stuart times, being almost restricted to charity schools inspired by religious societies, or to that provided in large parishes by the workhouse

Yet the age was one of growing philanthropy. Private citizens of

London and Bristol inaugurated the workhouse. Thomas Coram set up the Foundling Hospital in 1745 General Oglethorpe led Parliament in exposing the iniquities of the prisons, and emigrated poor debtors to the colony he directed in Georgia. From 1773 onwards John Howard, a Dissenting Bedfordshire gentleman, carried this much further, persuaded Parliament to abolish gaolers' fees, and brought before the country a mass of information gleaned by visits to the prisons and many European journeys Jonas Hanway saved thousands of lives by inspiring the Act of 1767, which insisted that London parish children be sent to the country with proper allowance for their board. Many new hospitals were added to the Catholic or Tudor survivals — the Westminster, Guy's, St Thomas's, the Middlesex, the Lying-in hospital, and Queen Charlotte's, all between 1719 and 1752 — and after that a movement began to establish dispensaries But this enlightened humanity needed time for its effects, which could never have materialized in an outworn frame.

For the century had inherited the Elizabethan scheme, built on paternal control, a country of small rural parishes and family industry, but the first of these conditions had lapsed, leaving the others ill-suited to an age of large-scale mobility. When assessments by the magistrates broke down, wages were left to the mercy of competitive markets. And though monopoly or special skill kept some, like the Northumberland hewers', at a decent level, wages in domestic industries would collapse when their by-occupations went with loss of their land, while urban domestic work, especially in London, became sweated labour. Agricultural wages varied immensely, being assisted by piece-work and many pickings, but the basic rate about 1770 was from 1s. 2d. to 10d. a day, which left little margin. A Leeds weaver, or a London labourer at 10s a week, might manage if his family helped, but the Lancashire woman spinner at 5d or 6d. a day pointed to the evil of this new capitalism, that its cheap labour meant labour by women and children; in which there was nothing new. In the north, children had long been made useful in woollens and cotton, as the infant Crompton was first set to tread out cotton-wool steeping in water, while women had always worked in the Scottish mines, though rarely in the south. The worst days came when water-power was set up in more distant valleys, and the children's homework changed to a ten- or fourteen-hour day in the mill But life was brutal enough, in any event, for boys who began at the age of seven in Northumberland pits or at six as London chimney-sweeps, London tailors expected by Parliament to work from 6 A.M. till 8 at night, or families living in cellars at 1s rent a week.

In addition, the state of the Poor Law was a monstrous evil In a time of growing trade men watched with puzzled exasperation the rise of the poor rate from about £695,000 in 1695 to £1½ millions in 1756,

and we see them in two minds, resulting in a conflict of systems The doctrine which had triumphed in the Civil War and 1688 was individualist: that a man must save himself by his own exertions, and that unfettered trade would bring prosperity if the poor were virtuous and made to work But the governing fact was this: that, having eliminated Tudor State control, they retained the Tudor parish unit. Uncontrolled from above, the magistrates practically let the parish overseers do as they pleased, and they, often unpaid, usually degenerated into corruption, sometimes into tyranny, and always into a parish-pump outlook Their ruling passion was to economize on the rates, for which purpose they would often farm out their poor to a contractor, who could use them as he liked.

Their most abused power descended from the mediaeval principle of settlement, that relief must be given in the recipient's home; which meant that, in a new age calling out for fluidity, the Act of Settlement of 1662 with its later amendments empowered the overseers to remove those who were not 'natives', or had not acquired a 'settlement' by a tenement worth £10 a year, apprenticeship, or employment for a year Every parish desired to stop new-comers acquiring a claim to relief, proceeding to evade the law by short terms of employment, to pull down cottages, and turn out women with child as if they were cattle. Thousands of public money went in transporting paupers and litigation. Poor areas were kept poor, for it was safer to beg in your own parish than to risk a whipping or being turned back; marriage was discouraged, so was housing, and bastardy flourished. The worst effect was to distort the purpose of the Elizabethan rule that poor children should be bound as apprentices, designed to educate and make decent citizens, it became a weapon to lower the rates. To get responsibility off the parish, children were hired to any who would take them, any small weaver or chimney-sweep tempted by the £5 premium, they were poured into the worst sweated industries (Spitalfields silks or Midlands hosiery), or carried off by the hundred to northern mills. An Act of 1778 divided premium payments into two periods, which might give a little protection, but the records abound with runaway, starved, and oppressed apprentices.

Relief of the aged and sick, apprenticeship for the young, work for the able-bodied, were the three parts of Elizabeth's code, and in country parishes the first two still sometimes operated with success. Small pensions, house rent, coal, or money allowances to make up wages could be watched and given without ill effect in the small units for which they had been meant. But in large towns and industrial areas opinion was swinging towards a greater discipline, and after many experiments the workhouse became the usual panacea to cure idleness and restore employment. Many were set up by private Acts, and others under the

Act of 1723, which provided that those who refused to enter the house should not be entitled to relief In some cases rates were sharply brought down, but at its best the workhouse test demands detailed administration, in the absence of which the eighteenth-century workhouse became a byword. The Act was only permissive, and few parishes united with others, as it allowed, to build a union house for an economic area. In most of them old and young, gin-sodden and virtuous, vagrant and unemployed, were huddled into a promiscuity of long hours of spinning or oakum-picking, vice, dirt, and corruption Pauper labour was never made self-supporting, outdoor relief necessarily continued wherever there was no workhouse or the house was too small, while decent feeling condemned the breaking up of families and the suffering of the sick and innocent.

Amid this changing atmosphere, an age of swelling industrialism and rising prices, in 1782 a reforming member, Thomas Gilbert, carried the Act called by his name, which restricted the workhouse to the aged, the sick, and orphan children, and required the parish to find work for its able-bodied outside the house, paying allowances if necessary to bring wages up to a decent level.

Those who grew up amid these changes describe the miners or mill hands as almost a savage race , indeed, English Christianity was almost at its lowest ebb between 1720 and 1750, and if the industrial poor did not turn revolutionary, it was not due to the Church. It had, indeed, lost both the ability or wish to persecute, and though Test and Corporation Acts nominally excluded Dissenters from office, annual indemnity bills in fact protected those elected, while excellent Dissenting academies largely made up for exclusion from the universities. But two principal causes made the Church weaker for good under the first two Georges than ever before. In an age of expanding demand it was encumbered with inherited evils, which the Reformation had, if anything, increased, and to the reproach of the laity, the great mass of clergy were miserably poor, some 6000 livings being valued at £50 a year or less. The result of such poverty was pluralism, and of pluralism, absenteeism, so that hundreds of livings had no resident priest, while the building of churches was neglected in the growing towns. Nothing had been done to increase the number of bishops or equalize their incomes, so that Lincoln still contained over 1300 parishes, and while Durham was paid £6000 a year, Oxford received £500.

The political element in Anglicanism was at its height. Whig governments counted on the twenty-six bishops' votes as they did on the Scottish peers, with the result that most bishops were out of their dioceses half the year, and some never there at all, so bishop Hoadley never saw Bangor and Hereford in eight years. The Duke of Newcastle carried this patronage to a feverish art, his correspondence being stacked

with promotions to royal chaplaincies, translation of bishops and deans, the use of the clergy in elections Since these were the qualifications wanted, Whig principles or a tutorship in a great family or a comely edition of some Greek classic dictated the choice; kinsmen of the great houses were planted in the best places, a North or a Keppel or a Cornwallis, and after Wake's death a line of respectable mediocrities ruled at Canterbury

As the Catholic teaching of the Caroline divines was rejected, together with their political doctrine, the latitudinarianism taught by William III's bishops and the philosophy of Locke captured the mind of the Church It ceased to think of itself as a divinely-founded society, set apart by an apostolic succession, built on revelation and unbroken tradition. The new generation stressed the 'reasonableness' of Christianity, for they wished to conciliate it with modern thinking; it was, as Tindal's book said, 'as old as the creation', simply the vessel of a 'natural' religion. Pope's friend Warburton, the most powerful man on the bench when George III succeeded, taught that the Church was the moral police of the State, and though here and there a few high-churchmen or nonjuring clergy carried on an older ideal, generally speaking, sermons and lectures seem to have lost all notion of redemption and sacramental faith. Their denunciation was not of sin but of vice, their philosophy was common sense, and their theology almost limited to apologies for the miraculous, Butler's *Analogy of Religion* (1736), the outstanding Anglican book of the age, making a theory of probability and induction from nature the best evidence of Christian belief. This watering-down of faith and distrust of enthusiasm showed itself even in outward arrangement—in the whitewashed walls and unlighted altar, heavy private pews, neglect of daily services—and there was little difference between an average sermon and a charge to the grand jury at quarter-sessions.

At the same time, it seems, the older Dissenting sects had gone down in numbers. Calvinist faith, the original fire of Puritanism, had grown cold, while the effect of Deist teaching, with its emphasis on nature as God's only revelation, was to leave many of them Unitarians. Christian faith in political leaders was almost extinct. The materialist Walpole rebuffed the ideals of bishop Berkeley for a Christian college in Bermuda, his son Horace had no beliefs, Bolingbroke was a Deist. David Hume, the most acute British mind of the century, demolished the Supreme Being whom the graceful thought of Locke and Addison had left intact, and reduced philosophy to scepticism.

After 1730 an Evangelical movement began to sweep into these placid valleys and intellectual coteries Since religious revival defies any order of time, earnest Christianity had, of course, never ceased and issued in many new activities. Societies for the 'reformation of

manners' were set up in most big towns, to attack irreligion and drunkenness; while from the Society for the Preservation of Christian Knowledge (1696) rose both the charity school movement and the Society for Propagating the Gospel in foreign parts. This Christian life was not limited to any one school of thought. No religious book, perhaps, so influenced the age as the *Serious Call to a Devout and Holy Life* (1728) of the nonjuror William Law, whose hermitage in Northamptonshire recalled the example of the friars, no single life, perhaps, so strongly assisted the continuance of all that was best in the seventeenth-century as that of bishop Wilson of Sodor and Man (1698–1755), a leader of austere and sensible discipline, whose prayers were some of the most beautiful in the language. More immediately powerful effects came, perhaps, from the other side, in this age, for instance, the Dissenting minister Isaac Watts published some of the greatest of English hymns (including 'O God, our Help in Ages Past', and 'When I Survey the Wondrous Cross'). Arising both in and beyond the establishment, this revival broke down the frontiers. Before the Wesleys began work, the parson Griffith Jones' preaching and founding of schools set Wales on a religious course that swept most of her people from the Church, the layman Howell Harris and the curate Daniel Rowlands, catching their motive from him, founded Welsh Calvinist Methodism

The Wesleys also rose within the Church, of which indeed they professed themselves members to their death, and out of its right wing, their father Samuel, rector of Epworth in Lincolnshire, having come from a Nonconformist upbringing to be a high-churchman. Both famous brothers got their learning at Oxford where both were fellows of colleges, both were ordained priests, and owed much of their inspiration to Thomas à Kempis and William Law The younger brother Charles collected round him the first 'Methodists', a few young Oxford men determined to make a new method of what they thought the oldest Christian duties, to pray and read together, visit prisoners in gaol, fast, and make regular confession; his brother John (1702–91) came back from a curacy to lead the movement, which was soon joined by George Whitefield. There was a diversity of gifts among them. Charles, more conservative as regards the Church, was the greatest of English hymn-writers but, though heroic in action, no man of business Whitefield, a more robust type, was the pioneer of field preaching and apparently the greatest orator of them all; always defying the division between Church and Dissent, his greatest triumphs perhaps were won in America, where the more fastidious Wesleys failed. But that Methodism became a strong permanent community was due to the sheer greatness and organizing power of John Wesley

Like all his family he had a tumultuous temper and a strong colour

of superstition, while there were whole tracts of human nature — women's nature especially — which he did not handle wisely. Curious streaks crossed his soul — a belief in Mary Queen of Scots, a view that only 'rigorous discipline' could save Ireland, a conservatism which made him the King's ally against American rebels or French radicals. But he had the greatness of an invincible spirit, certainty of his calling, and ruthless decision. Even to older and illustrious men he could be rough and pugnacious, his annihilating pen could tell the quietest of his sisters that she ought to view herself, 'whores and murderers not excepted, the very chief of sinners'. It was his unbending will which, in a revival that brought out backsliders and false prophets, purged the movement by drastic measures and built it on individual salvation. To the left was Calvinism, which easily became antinomian, an over-confidence in those who conceived themselves as the elect, to the right were mystic beliefs and quietism, which might end in spiritual indulgence and a scorn for order. On this last ground he quarrelled with the German Moravian brethren, with whose teachers he had first begun in London And over predestination of the elect he broke, though never in affection, with Whitefield and the Welsh leaders, so that Methodism split into Calvinist and non-Calvinist branches.

In 1739, following Whitefield's example, he began open-air preaching and the foundation of chapels, with Finsbury, Bristol, and Newcastle as his first centres, and rapidly developed his essential machinery edicts that implied discipline, division into bands which became the class meeting, individual investigation, and visiting the sick. For his followers he provided not only libraries of theology but medical care, loans, and ministers' pensions. His first general conference of 1744 resolved against separation from the Church, whose sacraments he urged his followers to attend. But as few clergy would let Methodists use their pulpits and fewer still joined his ranks, practical reasons, as well as his own resolution that, come what may, he would preach the Gospel, drove him towards the schism he deplored His lay preachers began to celebrate the sacrament; he was himself obliged to ordain clergy, especially for America. The scorn and hostility of early days were much diminished, but if the Church could not expand its organization, a struggle there must be, and the law could hardly recognize a body which was neither Church nor Dissent.

That a break must come was proved by the evangelical movement, which spread from Methodism into the Church established. Some of his most famous followers held Church livings, such as Fletcher, vicar of Madeley in Shropshire, whom a rich patroness, Lady Huntingdon, made head of the training college she founded at Trevecca in Brecon. But she divided herself from Wesley on the Calvinist quarrel; the chapels built for her connection collided with the law, so that most

evangelical clergy preferred to stay within the establishment. By 1770 their influence was very great, even on politics; devoted ministers like the Venns, and business men like the Thorntons, led the group long called the Clapham sect, which was to cut deep into the history of religion and philanthropy.

When Wesley died in 1791 as a national figure, he left behind 75 circuits in England and Wales and over 70,000 followers, he had preached 40,000 sermons and ridden a quarter of a million miles. Wherever life was most squalid or resistance most dangerous, he and his preachers had done most — among miners of the Mendips and the Tyne, Plymouth dockyard-hands, or Cornish wreckers. To these ignorant, abandoned people he had preached in all seasons and places, whether from his father's tombstone at Epworth, in storms of lightning on the moors, or among crowds hurling stones. And always in substance from the same text, 'Why will ye die, O House of Israel?', always that the 'lover of God and man' might count some day on 'assurance' coming, perhaps in the 'twinkling of an eye', a perfection of moral happiness which at any moment might make heaven in the soul. In its early days the movement was full of rhapsody and almost mania, of groaning men struck by 'the arrows of the Lord', shouts and fainting and screams, and there was natural resentment when, without authority, lay preachers held demonstrations in churchyards or gathered love-feasts at night. Yet whatever the temporary extravagance of emotion, the work done was memorable and immense. For in what Wesley, preaching before his university for the last time, called 'a generation of triflers', he half-recreated a sense of the burning need and majesty of righteousness, which he planted most deeply in those classes and areas oppressed by industrial revolution and present neglect.

Though his was not a democratic movement — indeed he made political arrangements a minor matter, and preached obedience as the Christian's duty — it did powerfully assist to make a new order, ardent for justice and filled with self-respect, in industrial and middle-class England. This brings us to a fact of the first importance: that Wesleyanism made one facet of a broad-based movement flowing towards reform, which had existed a full generation before the French Revolution. In part it came down with the old 'Country party' agitation against the Court, which Bolingbroke continued in his writings, a clamour against placemen and pensions, and a demand for parliamentary reform. It was assisted by philanthropy, or criticism of the poor law, and multiplied by the press; for daily papers existed now in most large towns, and were used, for instance, by Lancashire working men to state their grievances. Organization was growing fast in the working class, in their friendly societies and, among the aristocracy of labour, in trade unions. True political principle was reappearing in increasing conflict

with the Irish Parliament and American assemblies. In short, from manifold causes, to the left of the Whig party there appeared the Radicals.

Into such an uneasy frame had now to be fitted the outward responsibilities of Britain, and the evolution of political groups.

CHAPTER II

THE GOVERNMENT OF GEORGE III
1763–1782

GEORGE III's personal government covered the years from 1763 to 1782, some of the most ignominious in our history. With his marriage, at first a happy one, to Charlotte of Mecklenburg he fast matured, both his virtues and shortcomings developed, his indolence was replaced by feverish exercise and tireless activity in politics. Watching votes like a party whip, he perfected the system begun under Charles II, and since much grown, of using the Crown's influence — patronage in the Church, the Colonies, and Ireland, military promotion, pensions and local jobs, or frowns at a levée — to induce country gentlemen to follow his ministers

With all his sense of duty and morality, respect for learning, and interest in agriculture, George proved a disastrous king He took personal vendettas into public life, which made him capable of protesting against a State funeral for Chatham as 'offensive to me personally', and undermined Cabinets by encouraging disloyalty. If he had decision, he almost always decided wrong His mind, which was weak, became excitable under stress, until at last it toppled over; his conservatism was blindly complacent, so that in Radicalism, industrial strife, or American rebellion he saw nothing but wanton attack on the most perfect of governments.

The Parliament elected in 1761 by the pains of Newcastle was directed, before it dissolved, by four different ministries. Bute's from 1761 to 1763, Grenville's 1763 to 1765, Rockingham's 1765 to 1766, and then Chatham's. These years of what North called 'choppings and changes' were by no means only due to the King Party in its old sense was stone dead There were no Jacobites left, Church against Dissent was no longer a serious question, no social conflict divided this rich self-chosen aristocracy Even if real controversies did arise, they must pierce through a layer of pocket boroughs, with a few dozen voters, till they arrived at a House of Commons which allowed no printing of debates

In such conditions the genuine 'Tories' now consisted of about a hundred members, holding half the most independent seats in counties and large towns In fact, 'independence' was their only surviving principle, a boasted independence of ministers and placemen They differed, therefore, by a whole world from the followers of Bute and

Grenville, whom the Whigs abused as 'Tories', for these 'sunshine gentlemen', as Burke called them, were not Tories at all but the last logic of the Whigs.

In truth, the old Whig party had perished as a result of its triumph. Jacobitism having made the Tories impossible, the 'Revolution families' monopolized power, so that till 1770 everyone in office was a 'Whig', not merely Newcastle, or his rivals Pitt and Grenville, but Bute and his secretary Jenkinson, chief organizer of the 'King's friends', and North who first took office under Newcastle. Whig principles having become universal, the party dissolved into groups which they called 'interests' or 'connexions', based on the rivalry of a few noblemen, and carefully cemented by government patronage Nor could anything be more contemptible than the last years of the Newcastle group, or further removed from the future Whig party. After obstinately resisting Pitt's war policy, they could not stomach Bute throwing over the German alliances to which Hanover had accustomed them, and, when they connived at his elimination of Pitt, were caught in a trap set by themselves. When George III defeated them, they called his ministers 'Tory', though his agents were old colleagues of their own like Fox, while his means were precisely those they had induced George II to use in their own interest. So the officials turned out after the Peace of 1763 were old clients of Walpole and the Pelhams, and George III spent no more in bribes, made no more use of placemen and Scottish members, than the Whigs before him.

Out of office, they had no notion of keeping a party together Elder statesmen like Hardwicke could not approve 'a formed Opposition', while to confront the King with a list of ministers or a fixed programme was called, in the jargon of the day, 'storming the Closet'. It was, therefore, not money or patronage only which accounted for the numbers supporting the King's government; in the absence of organized party, their constitutional ideals and their 'independence' alike prompted this deference to the executive. But that outlook was prolonged by some temporary circumstance, and the influence of one great man.

Apart from the fact that, for the first time under this dynasty, there was no Prince of Wales of full age, and hence no rival Court, a genuine reaction had risen against the exclusive incompetence of Newcastle's system Jacobite families and Tory independents cherished new hope, nor were those who followed Bute entirely servile courtiers. They included the remarkably able young Shelburne, high-minded Scots such as Gilbert Elliot founder of the Mintos, and some of the best brains of a civil-service sort in politics, notably Jenkinson and Dyson, clerk of the Commons. What direction such men would take depended on the answer to another question — was collaboration possible between the King and Pitt?

No one was more the champion of monarchy than the great Commoner, who promised 'the breaking of parties' as ardently as the King denounced 'banding together'. Some of his strongest support had always been among the old Tories and, though he attacked Bute in 1761–2, within a year or two he was ready to use Bute's influence to make a coalition. He would never serve again under Newcastle, indignation against the Peace divided him from Bedford as one of its principal makers, while he had no patience with the younger Whigs led by Rockingham — having scorn for their rigid view of party, a greater respect for the Crown, and an infinitely more democratic mind. Genius that he was, he was winning disciples on either side — Shelburne and young Grafton — but his inability to work with the Whig body was the fundamental reason for the chaos of these years. Yet out of them came a hardening and reshaping of both Whig and Tory.

Grenville soon disappointed the royal hope that he would be a figurehead for a concealed Bute, for with all his verbosity, woodenness, and family pride, he was not a mean figure. His passion for the House of Commons and his zeal for economy and peace commended him to conservatives; Treasury and Board of Trade admired his zest for organization; he was the last man to bow to an irresponsible favourite. The King made a first effort to get rid of this mulish lecturing minister when Egremont died, late in 1763; but as Bute dared not bring back Pitt and the Whigs clung together, Grenville returned, strengthened by Bedford himself taking office, with Sandwich his follower. This last had good ability and long experience, but his bad private character damaged the government. Bedford linked Grenville closer with the right-wing Whigs, for as an old follower of Cumberland and head of the greatest 'Revolution family' he detested Bute, and hoped for Whig reunion.

As soon as he could, the King would overthrow such ministers, though already two questions were raised which in the long run were to make Bedford and Grenville his allies. The first centred round John Wilkes, member for Aylesbury and a former associate of Pitt against Newcastle, who had also distinguished himself with Sandwich and others in some blasphemous orgies at Medenham Abbey; for all this, an adventurer of wit, courage, and charm. Of late, with his friend the debauched but brilliant poet Churchill, he had shone as leader of a press campaign against Bute, the cider-tax which laid a heavy excise on the most Tory counties, and the abandonment of Prussia, and in 1763, in No. 45 of his *North Briton*, denounced the 'ministerial effrontery' which put praise of the Peace in the mouth of the King. Instigated by their master, ministers arrested Wilkes with nearly fifty others on a 'general warrant', an order, that is, issued by a Secretary of State and specifying no names, and lodged him in the Tower, charged

with seditious libel. With Temple's assistance Wilkes demanded a *habeas corpus*, carefully selecting a sympathetic judge in Chief Justice Pratt, who declared the arrest illegal because privilege of Parliament covered all offences save treason, felony, and breach of the peace, and that general warrants were against law. Wilkes was freed amid riotous rejoicing, juries also awarding damages against the Secretary's office and the police to others of the accused.

In the winter of 1763–4 ministers tried to retrieve in Parliament this rebuff by the law courts. The Whigs were divided, for to Pitt's indignation Hardwicke and his son Charles Yorke, the Attorney-General, defended the arrest. Their privileges, the Commons voted, did not cover libel, while the Lords demanded the prosecution of Wilkes for blasphemy in *An Essay on Woman*, privately printed and seized among his papers. Dogged by spies and bullies, wounded in a duel by one of Bute's clients, Wilkes went to France; in his absence he was outlawed and expelled the House

'Wilkes and liberty' was the first battle-cry of Radicalism Though hatred of the royal system was most concentrated in London, from the Corporation down to the mobs who burned jack-boots and petticoats in ridicule of the favourite and the Princess, the popularity of Pratt testified to a more dangerous matter: a gulf between the nation and its representatives, who had taken on themselves to define libel and voted away their privilege to please the Crown. Only intense Court pressure, however, kept the Commons on their fatal course. A bare majority of fourteen rejected a resolution (February 1764) that general warrants were illegal, the mercenary members from Wales and Scotland outweighing the solid country gentlemen; by the King's order, those of the minority who held military appointments were dismissed, including Shelburne and the popular Whig Conway

While the Whigs quarrelled among themselves, Grenville took up another question which permanent officials had long been pressing Experience had proved the American Colonies incapable of uniting for mutual defence, an experience repeated in 1763 when the Indian rising of Pontiac threatened all the forts from Detroit to the Ohio To meet this danger, and another from the Spaniards in Florida, it was agreed during Bute's ministry that America should be garrisoned by 10,000 royal troops, and pay part of the cost, seeing that the British national debt had been doubled by a war to save America, and that the land-tax still stood at 4s. in the pound. War had exposed another ancient weakness in systematic defiance of the Acts of trade: Massachusetts, in particular, lived by trading with the enemy, while an army of officials, often absentee, cost a good deal more than the revenue produced.

Grenville agreed with his colleague Halifax, who after long administration of the Colonies urged that all this must be stopped. The

measures brought forward in 1764, on the ground that an increased revenue from America was 'just and necessary', included a lowering of the sugar duties, a tightening-up of machinery for collection, an Act for quartering troops, and another taking power to levy stamp duties in America and the West Indies. He postponed action on this last bill while he consulted the Colonies on a possible alternative; none being forthcoming, the Stamp Act passed in 1765, with no protest except from a few merchants. In America there were fierce resolutions in the assemblies, boycott of British goods, burning of the stamps, but before details could reach England the Cabinet fell in August, on a different question.

Furious at Grenville's economies on the new Buckingham Palace, Bedford's blunt charges of bad faith, and their joint campaign against Bute, the King asked help of his once-hated uncle Cumberland. He was ill this year and his ministers' handling of a Regency bill finally decided him, for they deliberately attempted to exclude his mother from the list of possible regents. A first effort to restore Bute broke down on Pitt's firmness, but the ministers' insistence against the favourite drove the King on; moreover there was an industrial crisis in London, and as Bedford was attacked by the mob for opposing a bill to protect the Spitalfields weavers, the King saw a prospect of popular support. In a second negotiation he made some concessions over Wilkes and America, but Temple, on whom Pitt counted to lead the Lords, had reconciled himself with his brother George Grenville, and without him Pitt would not proceed. Only then, as a last desperate expedient, did the King turn to the Whigs.

So came in the first Rockingham government, built on the Whig aristocracy, not so much old Newcastle as the rising men in Grafton, Portland, John Cavendish, and Conway. It was doubly weak, because it represented not the King's choice but his necessity, and because Pitt repeatedly refused to join. While this kept away his followers like Shelburne, ambitious politicians such as Charles Townshend would not anchor themselves to a doomed system, so that Rockingham could not dispense with the King's friends, the Chancellor Northington and the able, bitter, Egmont.

Yet though Rockingham was dumb in debate and inexperienced, and though his ministry lasted less than a year, with this decent plain man began the Whig party of Fox and Grey. If it had the defects of a narrow aristocracy, only aristocracy could in those days resist the Crown and, spurred on by the pen and power of Rockingham's secretary Edmund Burke, the Whigs gave a new meaning to party. Loyal to each other, they declared for measures on which they would stand or fall, looking for support rather to the people than the Crown.

Their actions satisfied many popular desires. Pratt became a peer as Lord Camden, one Act made general warrants illegal, another pro-

tected the Spitalfields weavers, the cider-tax was repealed. On the other hand, Cumberland's death removed their friend at Court, the King's men obstructed them in Cabinet, Grafton threatened resignation unless Pitt came in — which he would not do, except in supreme command, particularly since, over America, the Rockinghams rejected his advice.

Early in 1766 they framed a compromise, to end American defiance without destroying legal authority. The King and several ministers wished to amend the Stamp Act but, carried away by Pitt's eloquent speeches and pressure from the merchants, the majority agreed on total repeal, they coupled it, however, with a declaratory Act, safeguarding in rather vague terms Parliament's right to tax America. A strong right wing had resisted repeal, recruited from the followers of Grenville, Temple, Bedford, Bute, and the King's friends

Sniped at from right and left, the Cabinet lost heart, and Grafton resigned. Pitt now declaring himself ready to act independently of Temple and any party, in July the Rockinghams were dismissed, and he took office, with Grafton as titular head of a ministry which Burke compared to a mosaic pavement. For now it was seen how Pitt and the King between them had splintered the political groups.

He dealt his own influence a deadly blow by going to the Lords as Earl of Chatham; a second, and mortal one, was delivered by destiny. In December 1766 he buried himself from the world, not to reappear until July 1769; gout, Bright's disease, and bad medical advice had for the time unhinged him. He dreaded the human voice, sat in darkness, lavished thousands in rebuilding one house at Hampstead, and thousands more in rebuying the house he had sold at Hayes. In his absence the Cabinet dissolved into the chaos which was always possible from its composition.

Indeed, his attitude to party was obsolete. Northington was the only King's friend in the Cabinet, but Chatham and his group, Grafton, Camden, and Shelburne, were flanked by the Whigs Conway, Granby, and Townshend, while each section he excluded put pressure on their friends inside. Irritated by his ban on Rockingham and Burke, Portland and the Cavendish group threw up their places, Chatham vetoed the Bedfords as a body, and when he tried to detach some individually, their loyalty resisted, which drove him to fill up the lower rungs with courtiers. So matters stood at the time of his illness, though his name was so indispensable that the King humoured his moods, for Grafton, his deputy, made a deplorable leader, often abandoning his duties to race at Newmarket, or to love in a cottage.

Before 1767 was out, the large policies in which Chatham had his heart were ruined. Led by Grenville, the Opposition cut the budget to ribbons. Choiseul was rebuilding French armaments, but Frederick

the Great had not forgotten Bute's desertion and, like Russia, was more concerned with destroying Poland than with building an anti-Bourbon league. To deal with the scandals and conquests in India, Chatham wished a rigid enquiry and perhaps a transfer of the Company's powers to the Crown, but one section in the Cabinet cut down reform to a restriction of dividends. It was led by Charles Townshend, whose fame is inexplicable to posterity, and whose ambitions lay in bringing together the Whig houses. The last serious act of this light man, in defiance of the Cabinet, was to persuade the Commons to lay more taxes on America. Chatham had always distinguished between direct taxation like the Stamp Act and tariffs to unify Imperial trade, and so far the Americans had accepted the distinction; Townshend took them at their word. His Act of 1767 set up a new customs-board and levied new duties, in particular one on tea, which were to pay for the civil list and garrison; in September, leaving this legacy, he died.

To end this futility one of two things was required, either a reunion of the Opposition groups to force a change of government, or the junction of some one group with Grafton. Though there was much common ground between the Bedfords and the conservative Rockinghams as to the East India Company or sovereignty in America, the hardening of party divided them. If the Bedfords no longer stood by the unpopular Grenville, they would not accept Rockingham's demand for a totally reconstructed ministry, and turned to Grafton. They found him accommodating, for he was not ready to surrender Chatham's position, and the reconstruction kept a fair balance of the groups. To Townshend at the Exchequer succeeded Lord North, who came of a Tory courtier family but had been offered a place by Rockingham; a Shelburne man in the lawyer Dunning, and a Rockingham Whig in 'Tommy' Townshend, were matched with four 'Bedfords'—Gower and Weymouth in the Cabinet, Sandwich and Rigby outside it.

In 1768 came the general election, in preparation for which the Cabinet delivered a blow at Portland, one of the Whig leaders. As a borough-owner on the Border he was the chief rival of Bute's son-in-law Lowther, for which reason the law-officers now discovered a convenient flaw in the title to his estates. This stroke was answered by the Opposition's 'Nullum Tempus' bill, giving protection after sixty years' possession against Crown claims—which was only just defeated now, and carried the next year. Like most eighteenth-century elections, this, though involving huge expense, hardly altered the strength of factions. Yet the choice of 164 new members, the death of Newcastle, and the fact that only half of the House had sat before 1761, testified to the beginning of a new stage. One old member, however, John Wilkes, returned from exile and was elected for Middlesex, and he it was who put the match to the fire which consumed the government.

There was universal discontent. Chatham, the national hero, had vanished His successors, men said, were truckling to France, which was scheming to conquer Corsica, then in revolt against their masters of Genoa. American disorder was producing unemployment, trade had never recovered from the last war, bad harvests and high prices were stimulating a series of strikes Lancashire was bad but London much worse—full of disbanded soldiers, Irish immigrants, discharged apprentices and weavers. These made the lower strata of those who elected Wilkes, forced every house to illuminate, and chalked 'Wilkes and liberty' on every door.

If the demagogue was insolent, the conduct of government was imbecile and illegal Wilkes was vindictively sentenced for his old offences, and in a clash outside his prison in St. George's Fields the hated Scots Guards fired, killing or wounding some twenty persons, soon all London was rioting — sailors and Irish coal-heavers, tailors on strike, weavers breaking looms Coroners brought in verdicts of murder; mutiny was feared in the army; at a bye-election the second Middlesex seat went to Wilkes' lawyer. The King demanded his expulsion from the House as a step 'whereon almost my crown depends', and after months of hesitation the Cabinet agreed. Early in 1769 the Commons expelled Wilkes by a majority (half composed of Scot and Welsh members) of 219 to 137 Two of the charges were old, 'No. 45' and the *Essay on Woman*, while the third turned on his attack on Weymouth, Secretary of State, who had told magistrates not to hesitate to ask for troops Though none were offences against themselves, the Commons thus punished what had been punished before, and took on themselves to define libel To expel was their legal right; but not so their resolution, when Wilkes was re-elected, that expulsion created an incapacity to serve. In April, after a third re-election, they vitiated the very essence of Parliament by declaring the Court candidate Luttrell, though in an enormous minority, duly elected.

While the people's favourite, loaded with gifts, lay in prison, law and order disappeared, the Whigs renewed contact with the nation, and Radicalism was born Rioters fought with the Guards outside St. James' Palace, Bedford was savagely assaulted in Devon The City made the King listen to petitions against a 'secret and malign influence', chose Chatham's friend Beckford as mayor and Wilkes himself as sheriff. In their slower stately way the Whigs, energized by Burke and Sir George Savile, a pattern Yorkshire member, organized county meetings for reform. In this revival of party the Dissenting leaders were prominent, while the best head among the Radicals was Horne Tooke, the Brentford parson who inflamed Middlesex. A new society of 'Supporters of the Bill of Rights' directed a campaign for a broader franchise and shorter parliaments, and a scurrilous cheap press dragged

every grievance to light. For three years from November 1768 the dreaded pen of 'Junius' held up the King, Grafton, and the Bedfords to popular hatred, though his anonymity was half his power, it may be taken for granted the author was Philip Francis, at this time a War Office clerk. He wrote without any democratic feeling, rather in an icy contempt for inefficiency and disregard of law and, most of all, with a malign pleasure in hurting his victims.

While Parliament was dumb, seven daily London papers — by 1777 they were seventeen — rose to defend free opinion, which yet had no security if government could define libel as it pleased. Not only was it the law officers' custom to lay 'informations' against the press, which would dispense with a grand jury; following his predecessors, Chief Justice Mansfield declared it no part of a petty jury's duty to determine libel, but simply the facts as to publication. In consequence, the hatred of government was extended to the judges, and no London jury would convict for libel.

In 1771 the Commons collided with the press and thereby, again, with the City and the common law. They sent their own messengers to arrest printers of debates—those messengers were themselves arrested for violating the City privileges; fearing to touch Wilkes, they then sent to the Tower other City members, and arbitrarily quashed the ruling of the City court. Ungovernable mobs swarmed round the palace of Westminster, once nearly lynching North, and nothing could stop the printing of debates

Troops sailing for America and more troops lining London streets, to this had come the King's system; 'a pretty system', as Chatham said, '— jurors who may not judge, electors who may not elect, and suffering subjects who ought not to petition'.

Meantime Grafton's Cabinet had fallen. The Bedfords' entry and differences about America quickly brought the dismissal of Shelburne (October 1768), 'the Jesuit of Berkeley Square' as they called him, with whom no one ever wished to work twice, in spite of his shining ability. His master Chatham resigned at the same time, but late in 1769 reappeared in public, frail in body but with nerves restored. That winter his speeches demolished the government. This 'novice' Grafton had betrayed him, the Middlesex election was 'laying the axe to the root of the tree of liberty', the Lords must stop 'the arbitrary power of a House of Commons'. Influence, 'something behind the throne', had made the King 'a stranger in England', but some portent would yet tear back his curtains like old Priam's and tell him 'half his Troy was burned'.

Under these reproaches the timid Camden resigned, followed by the brave soldier Granby Through the King's merciless pressure the Whig Charles Yorke accepted the Chancellorship, the dream of his life,

but within a week took his own life, unable to bear his friends' indignation. George Grenville and Chatham made their peace after a ten years' quarrel, and joined all those, from the Rockinghams to Junius, who were attacking government; in January 1770 Grafton resigned. Yet when this storm had passed, it left North in power for twelve years and the King's system seemingly strong as ever.

One reason for this was the choice of North, a shrewd, lovable, humorous man, and a capital debater. In sheer conservatism and love of economy he stood near to Grenville but disapproved of party, taking the view that ministers were individually responsible to the Crown. Yielding more and more to the royal firmness — and it was a bad transaction that the King paid some £20,000 of his private debts — under stress he bent like a reed in the wind and let each department go its own way. He was much directed by the Treasury secretary, John Robinson, who worked closely with the King's agent Jenkinson.

As Radicalism and the American question grew pressing, the Cabinet moved towards the right. On Grenville's death in November 1770 his mediocre follower Suffolk joined it, then Grafton (though he resigned again over America later), but the Bedfords were the strongest group, though the old Duke himself had died Among them Gower was sensible and popular, Weymouth an able rake, Sandwich an experienced head of the Admiralty but a partisan who split the Navy into factions. The worst appointment was George Germaine (formerly Sackville), already damaged by his record at Minden and in Ireland, who as a supposed man of action replaced North's religious step-brother Dartmouth as American secretary. The ablest men, and the most self-seeking, were holding office outside the Cabinet, the 'Bedfords' Thurlow and Henry Dundas, the 'Grenville' Wedderburn, and the King's man Eden.

These ministers profited by a genuine reaction, sickened of mobs and a base press. None were more bitter against the Radicals than the Rockingham Whigs, both from their cast of mind and their borough interest, they viewed Wilkes as a firebrand, and stoutly resisted shorter parliaments or a wider suffrage. Taking party as the weapon of an aristocracy, who alone could successfully defy the Crown, their aim was to crush the King's resources by what they styled 'economical reform'. His civil list revenue was £800,000 and, as his family were large and costly, Parliament twice paid off his debts Then there was the parliamentary influence of government contractors, and that wielded in the constituencies by excisemen and revenue officials. Placemen, pensions, and government money at elections were much the same as under the Pelhams, though boroughs cost more now in competition with 'Nabobs' and new money. To root out this influence would make possible a real party government, but at any more fundamental change the Rocking-

hams would stop, stiffly rejecting the alliance of the Radicals On the other flank, their co-operation with Chatham ended after Grafton's fall He would have outweighed 'the rotten part of the constitution' by adding county seats and was a convert to triennial Parliaments; he wished also a declaratory Act to repudiate Mansfield's rulings on libel. In India the Whigs defended the Company, while he desired control by the Crown. In Ireland many of them were rich absentee landlords, he championed the rights of the Irish Parliament. They were aristocrats, using party as their weapon, he a nationalist, believing in a strong Crown. While he derided the moderation of these 'warblers of the grove', their prophet Burke attacked the 'cant' of 'measures, not men', calling Chatham an 'artificer of fraud', a stalking-horse for the King's designs.

North was therefore resisting a divided Opposition, and a Radical movement which easily turned to mob rule. Besides, neither he nor the two Parliaments between 1770 and 1780 were mere reactionaries. Their conservatism was more liberal in religious questions than the old Tories, for 'church and king' had lost its power until the French Revolution revived it. A broad-church group petitioned in 1772 for relieving the clergy from subscribing the thirty-nine Articles and, though this was defeated, in 1779 North carried an Act allowing the same relief to Dissenters His Cabinet were equally liberal to the Catholics Overcoming Chatham's unworthy cry of 'no Popery', they established the Catholic Church in Quebec, and in 1778 assisted to pass Savile's Act which repealed some of the persecuting code in Britain, allowing Catholics, for instance, to own land or keep a school.

Nor were these Parliaments entirely blind to the ills of society, as the Spitalfields Act, a statutory wage for weavers, a more liberal corn law in 1773, and the poor law of 1782 all testified. Both the Regulating Act for India of 1773 and the Quebec Act of 1774, each carried against Whig opposition, were constructive measures And the storm ridden by Wilkes and Junius had changed the relation of Parliament to the public Grenville's last deed was to carry in 1770 an Act to reform the trial of election petitions, transferring decision to a committee chosen by ballot instead of a partisan majority, other measures reduced the much-abused immunity of members from judicial actions, and the freedom of their servants from arrest. The press won its triumph in reporting debates, and in 1774 Wilkes took his seat without challenge.

Nor again could the royal influence, of which Opposition made so much, drive Parliament against its will How many independent members existed was seen in the measures described above, or again in the passing of the Royal Marriage Act of 1772, which was brought forward on the King's command in consequence of secret marriages between his brothers, Cumberland and Gloucester, and commoners. The veto

it gave the King in such cases, and the German notion of a royal caste, were most offensive to English feeling, and it was carried after angry debate and narrow divisions. In short, the position of the King succeeded only so long as it did not antagonize the majority, of which an outstanding proof was the American war.

From the beginning there had been a dilemma in American government, the same as in England before and in Canada after, between representative assemblies and the central executive. Though forms varied greatly, from Pennsylvania's proprietary government to the almost republican charter of Rhode Island, in general a royal governor with a Council assisting him as executive, second chamber, and sometimes as supreme court, confronted an elected assembly. In this struggle the assembly held the winning hand, the power of the purse, on which depended the public revenue and official salaries. Charters, custom, and the governor's instructions did, indeed, check the assemblies' progress The Imperial Parliament also freely legislated for America, to decide terms of naturalization, deport convicts, or commandeer timber for the Navy and, outside the trade laws, asserted its right to tax, setting up, for instance, an Imperial post-office system and a tax in aid of Greenwich Hospital. Colonial laws had to pass the governor's veto and, if they survived that, could be 'disallowed' by the Crown, or checked if, on appeal to an Imperial court, they were found repugnant to statute or common law. By many evasions, however, the assemblies had usually got their way, and this strained relationship had lately reached breaking-point.

For one thing, America was now much less British, its population having risen to over two millions, many of whom were of foreign stock. French Huguenots were strong, especially in the south, Germans were dominant in Pennsylvania: while of those coming from Britain many had endured great suffering, whether Welsh Quakers, or Highlanders after the rebellions, or Irishmen ruined by British law This rapid migration created a revolution within a revolution. Though the older coast Colonies, and the aristocracies ruling them, had many increasing quarrels with Britain, and above all New England which held one-third of the whole population, a high proportion of them were to be Loyalist in the coming war. Very different was the pioneer fringe to the West, hostile to both the old world and older Americans, asking for rapid land settlement, radical laws, and paper money to scale down their debts, and always encroaching upon the Indians whom Imperial agents protected

This frontier problem took on a new urgency after 1763, a year marked by an Imperial proclamation drawing a line at the Appalachian mountains, beyond which it forbade private acquisition of Indian land. This conflicted with several colonial charters and barred off some land-

speculation companies. But 'inland' Colonies offended against the ideal of the trade laws; while champions of the Indians were joined by the fur interests of Montreal, as well as by Carleton and other soldiers who would extend Canada southwards for reasons of defence. This policy was realized in the Quebec Act, which brought Canadian boundaries to the Mississippi and Ohio.

This restriction on American expansion was the more galling, because any favour to Canadian Catholics roused the old fervour of New England. Their ministers, more fanatical than any branch of Dissent, were irritated also by discussions proceeding for appointment of bishops over the many episcopalians in the middle and southern States But it was not religion which caused rebellion, the root of which was a growing incompatibility between two societies

Granted two assumptions, that the Acts of trade kept the Empire together and that America should contribute to its own defence, there were four possible alternatives. One was to continue the old appeals to thirteen separate assemblies, which produced neither enough money nor enough men. At the opposite pole was an ideal put forward by some governors and approved by a few British thinkers, including Adam Smith, for American representation at Westminster. But this no American desired and, as Burke declared, nature herself was against it A third scheme, often suggested in earlier days, was repeated in 1754 at the Albany Congress by the ablest living American, the Pennsylvanian scientist Benjamin Franklin, for an inter-colonial union for defence · but not a Colony would have it. So there remained only the fourth expedient, of taxation through the Imperial Parliament.

Broadly speaking, despite sharp differences of tone, the basis of British action remained the same under all governments, for repeal of the Stamp Act left the fundamentals unchanged. That basis was to conciliate by lowering duties but to demand a revenue through the Acts of trade, to insist that those Acts be really enforced, to apply the resulting revenue to purely American objects, and to maintain an army by Acts for billeting In 1770 the North Cabinet made a further gesture; they silently dropped the quartering Acts, repealed the Townshend duties except one on tea, which was maintained to assert the legal principle, and informed the Colonies that no more taxes for revenue would be imposed But the question had passed from grievances to principle.

Economic grievances were real enough. Though the trade laws had been lightened by more bounties and a freer permission to export direct to southern Europe, they plainly checked American manufactures, as by the Act of 1750, which encouraged export of raw iron but forbade the Colonies to keep rolling-mills. Restricted to Britain as their chief market, they found it hard to pay for their imports, being indebted often on long credits and hit by an unfavourable exchange. On the top of a

depression following the war came Grenville's Acts, threatening the triangular commerce with the West Indies, by which New England got specie to pay for their British imports and to finance the African slave trade. Another irritant was an Act of 1765, forbidding them to issue paper money.

Yet the material burden was light, tea, for example, being half the price it was in England, and America revolted not so much against the revenue Acts as against accumulating signs of what they considered a ' new sovereignty '. Their leaders protested they would gladly obey laws passed in the interest of Imperial trade, but now the admitted object was revenue, and a revenue which was actually collected. A central board of British customs officials, the use of naval officers for revenue purposes, trial of such cases without a jury, a standing army, an establishment making judges and officials financially independent of the assemblies, ' writs of assistance ' to search private houses — these they denounced as inconsistent with their ancient liberties.

Their notions of liberty came down from their seventeenth-century fathers, and in particular from John Locke. They appealed first to their charters but, increasingly, to broader ideas which, like the Puritans, they read into the constitution : that the common law summed up ' fundamentals ' and the ' law of nature '. They had inherited, said Pennsylvania, a ' free ' government; Virginia declared the Stamp Act ' destructive of the constitution '; James Otis of Massachusetts, leading the case against writs of assistance, said ' an act against the constitution is void '. Standing on these principles, they could not agree that their legislatures were subordinate corporations. Step by step they began to deny the supremacy of the British Parliament or any idea of ' empire ', until they finally pictured a loose federal bond in which American and Irish legislatures, though obeying a common king, in their own territory would be supreme. Their origins made them unable to accept the view that British subjects, whether directly represented or not, must obey Parliament. For by ' representation ' they envisaged what by painful effort their townships and counties had achieved in a wilderness, a democratic system whereby every landholder had a vote and a true local representative. Even the Englishmen warmest for conciliation, Chatham and Burke, would never surrender parliamentary sovereignty, or take ' representation ' in this sense.

Though from 1765 there was a small group, at least in New England, working for independence, the general symptom was rather a growing disorder, a strain which any emergency would snap. ' Sons of liberty ' hanging officials in effigy or tarring and feathering tax-collectors, a boycott of British goods, Boston ladies refusing to drink tea — such signs degenerated into mob rule. Massachusetts would not pay compensation for the Stamp Act riots, New York refused to quarter troops, crowds at

Boston goaded the soldiers to fire. Committees of correspondence testified to a new unity between the Colonies, while in 1768–9 many assemblies were dissolved for joining the Massachusetts protest against the trade laws.

Except for some attacks on revenue cutters there was a lull between 1770–72, for non-importation broke down after the part-repeal of Townshend's Act, and sober merchants, heavy losers already, feared disorder. But, badly advised as ever, in 1773 North tried to rescue the East India Company from bankruptcy, by a temporary monopoly of selling tea in America, which offended the usual dealers and undersold the smugglers. Universal resistance turned back the tea ships, Boston citizens disguised as Indians tilted the cargo into the sea — a small act of violence which proved the occasion of a great war. Weary of lawlessness and informed that the mob was in command, the government decided to punish Massachusetts. Acts of 1774 not only closed Boston harbour till compensation was paid but remodelled the charter, to make both the governor's council and juries mere official nominees, and to take away the right of public meetings. By a coincidence the Quebec Act passed at the same time, which in American eyes encircled them with a 'Popish' military government.

British policy was based on the belief that Massachusetts could be isolated; the reply was the Continental Congress at Philadelphia in September. In the name of 'the immutable laws of nature and the principles of the English constitution', it demanded repeal of the Boston Acts, the Quebec Act, and all revenue measures of this reign, asking too the control of the judges and disposal of the army in time of peace by the assemblies. On each side of the ocean the extremer feelings gained ground, anti-Americanism was loud in the British general election, while New England terrorists expelled the loyal and brought the law courts to a stop. On each side men believed that pressure would make the other give way, America counting on trade stoppage or Chatham's influence, Englishmen on American disunity, or arguing that an American army would be contemptible. As to conciliation, Burke's famous speech would have repealed all revenue Acts and appealed, as of old, to the separate assemblies, Chatham, going more to the root, wished to recognize Congress as the taxing authority. North's majority, decisively rejecting both, in 1775 unwillingly accepted his offer to relieve from taxation any Colony that provided for defence and the civil list. This came too late, for in April General Gage, blockaded in Boston, sent out a force to seize munitions, and first blood was shed at Lexington. The Americans seized the Canadian frontier posts, in June the British at Boston occupied the dominating height of Bunker's Hill, but at the cost of a thousand casualties. So broke out the war which destroyed North's ministry, the King's full influence, and the old Empire.

For another year the moderates held to avoidance of a final break, but their desperate need of foreign help reinforced the arguments expressed by the English Radical Thomas Paine in his *Common Sense*, and on the 4th July 1776 Congress passed the Declaration of Independence.

In its first stages this was a civil war. A majority of upper-class Americans, especially in the middle States, were Loyalist, fourteen regiments of them fought for the Crown, many thousands preferred exile to surrender. On the other side, some British officers would not fight against America, Radicals were loud in American sympathies, and such a war of principle instantly revived British party. While North's men attacked 'the American faction', Chatham praised 'this glorious spirit of Whiggism', and the Whigs, now led by Charles James Fox, borrowed from the American buff and blue uniform their party colours.

For two years, or more, most opinion supported the King, not only churchmen and squires but many Dissenters under the lead of Wesley, and many merchants, since the industrial revolution was opening other markets than America. Military success prolonged this attitude. Though Montreal was temporarily lost, Carleton recovered it and held Canada secure, both French-Canadians and Indians leaning mostly to the British side; Boston was wisely evacuated, and in 1776 our new commander, Howe, occupied New York. But then a year of disaster forcibly converted British feeling.

No war was ever worse handled in British military history. In men and munitions there was an absolute unpreparedness. In a civil war, moreover, it was a base thing to employ German mercenaries; much worse, whatever the provocation from the American side, to use the scalping redskins, or to raise negroes in the south. As to our commanders, Burgoyne was able but factious, Howe missed many chances by his dilatoriness, North's weakness dissolved the Cabinet to atoms. The service chiefs argued that our true policy was a naval blockade, yet we scattered armies from Montreal to Florida and the Indies. Germaine attempted to dictate strategy from Whitehall, while one admiral after another refused to serve under Sandwich.

The military problem was, of course, most difficult, for nothing final was gained by occupying large cities, or by extended lines in a country of vast spaces, where self-supporting settlements could take to the forests and renew resistance immediately a British column had passed. Meantime, all along an immense deeply indented coast, one of the hardiest of seafaring races poured forth as privateers. On the other hand, local liberties and jealousy made Washington's one of the most undependable of armies, ill-paid and short of arms, raised on short enlistment and riddled by desertion. So that Britain might hope to achieve decisive

success on two conditions: that New England could be isolated, and that we kept command of the sea.

Howe's sloth allowed Washington to escape from New York, and though he followed him south to the Delaware, 1776 ended with a smart British reverse at Trenton The scheme for 1777 was for a move from Canada by Burgoyne, down the Lake Champlain route to Albany, there to join hands with a striking-force from New York. But Germaine approved an eleventh-hour change of plan, whereby Howe, leaving Clinton in New York, went off in July with his main army to Pennsylvania. That month Burgoyne took Ticonderoga and got within forty miles of Albany, but his supply broke down, New England raised large forces, and Clinton failed to break the circle.

In October Burgoyne surrendered at Saratoga, and this was final; even though Howe had gone into Chesapeake Bay, beaten Washington at Brandywine, and retaken Philadelphia. For it decided the French to intervene, which meant that ships and reinforcements were diverted from America to other theatres. Howe having resigned, Clinton evacuated Philadelphia in July 1778 and retreated overland on New York, another army still held Rhode Island, a third began a promising campaign in Georgia. More than one leading American soldier, above all Benedict Arnold, a hero of Canada and Saratoga, lost hope, and plotted with the British. But from the next new year a factor began to operate, fatal whenever it has appeared in British history — the loss of command of the sea.

Chatham's old rival Choiseul had re-established French sea-power to wage a war of revenge, his successor Vergennes saw that America had brought the opportunity, with hopes of recovering the St. Lawrence fisheries and the West Indies, and he found an ardent ally in Charles III of Spain In 1778 the two Powers menaced the Channel, and Keppel could only fight an indecisive action off Ushant; in 1779 the Spanish fleet reinforced the French, threatened invasion, and blockaded Gibraltar

Swiftly the effects passed across the Atlantic. While troops were retained in England, French fleets convoyed armies to help Washington and locked up our West Indian garrisons; Dominica, St. Vincent, and Grenada fell, and then the harbourage of Rhode Island Fears of French superiority in 1780 broke off Clinton's southern offensive, and he left Cornwallis to master the Carolinas. New enemies assaulted our sinking cause. War was declared against Holland who, as of old in Stuart days, refused to admit our practice of searching neutral ships, while the same causes brought together Russia and the Scandinavian States in an 'armed neutrality'

In 1781, while Rodney watched over his last conquest, the rich Dutch island of St. Eustatius, a French fleet under de Grasse eluded

him, and in August landed troops in the Chesapeake. This decided Washington to strike, not at New York but at Cornwallis's force, which, leaving dispersed garrisons and struggling north into Virginia, was entrenched at Yorktown on Chesapeake Bay. There, after six weeks of inaction and ill-supported from the sea, he was surrounded by double his numbers, and in October capitulated

Yet Clinton had 30,000 men in New York, while when de Grasse sailed away the Americans were weak as ever, and it was not at Yorktown, but on the high seas, that America was lost. The French retook St. Eustatius, adding also Tobago and St. Kitts; one Spanish force mastered West Florida, another in 1782 compelled Minorca to surrender. Gibraltar, held with glorious courage by General Elliott, was enduring a third year of siege French squadrons covered assistance to Hyder Ali and the huge coalition threatening to uproot Britain from India Always outnumbered and short of stores, our fleets could not prevent loss of convoys, and hardly averted invasion; rotten timber sent to the bottom Kempenfeldt and his flagship the *Royal George*. The enemy had taken 3000 British merchantmen; £100 millions had been added to the national debt; the industrial north and Liverpool with its slave trade were ruined; Wesley described the people as 'exasperated to madness'. Stripped of British troops, Ireland was boycotting our trade and, under cover of a volunteer movement, claimed self-government; 'a voice from America', said one of her orators, 'had shouted to liberty'.

To such peril had obstinacy and soft weakness reduced an empire lately so mighty In 1778 North offered terms, a repeal of all laws passed since 1763, but infinitely too late, as the American-French alliance was in being But the prolongation of war was mainly the doing of the King. When the whole nation cried out for Chatham, he refused to make 'that perfidious man' his minister, and in 1778 Chatham fell in a seizure as he spoke to the Lords against 'the dismemberment of this ancient and most noble monarchy', to die that May. When North spoke of resignation, the King reproached him with desertion, would not drop Germaine and Sandwich, would abdicate rather than give up 'my person, my principles, and my dominions'.

In 1779 Gower, by resigning together with Weymouth, really destroyed the Cabinet, declaring there was 'no discipline in the State, the army, or the navy', and that he saw 'impending ruin'. Telling the King he agreed with Gower, the wretched North patched up with a few placemen, and reeled on. His majority was crumbling, clamour for reform became a torrent. County meetings and bills in the Commons asked action to root out placemen and contractors. Wyvill, a Yorkshire squire, organized mass petitions, the reformers founded county associations, Radicals got up societies for universal suffrage, and a new line began of leaders of public opinion; men like the Unitarian

philosopher Priestley of Birmingham, or the ex-naval officer John Cartwright, who was to live for a long age as father of reform. A majority of independent members helped Shelburne's follower Dunning to carry his resolution in 1780, that the Crown's influence ' has increased, is increasing, and ought to be diminished '.

Three reasons, however, enabled North to survive the election of that year A patriotic people, fired against the old enemy of France, would not willingly endure the loss of empire Opposition was divided as ever, Rockinghams against both the Radicals and the Chatham Whigs led by Shelburne. But what helped him most was the disorder of the Gordon riots.

Anti-Popery, a national instinct and always an easy pretext for trouble, had burst out again at the recent concessions to the Catholics and, after much violence in Scotland, in 1780 reached London, which was infected by hatred of government and economic misery. The demand was for repeal of the Act of 1778; the leader, Lord George Gordon, was beneath contempt. In June thousands of the mob, decked in blue cockades, besieged Parliament and attacked obnoxious members, pillaged Catholic chapels, burned private houses, demolished Newgate and freed the prisoners, tried also to storm the Bank. Allowed to go their way by timid City magistrates, they were easily suppressed when ministers, acting on the courageous initiative of the King, nerved themselves to use the soldiers But when the cavalry had charged up Downing Street and London looked like a city put to fire and sword, the government profited by a natural reaction

Neither this, however, nor election expenditure could keep their majority when the seas were lost and Yorktown fell. Fox was now member for Westminster, Chatham's son William Pitt was in Parliament too and denouncing the ' diabolical ' American war, while new men like Sheridan and Wilberforce reinforced those on the fringe of the Cabinet, in particular Dundas, who were determined that war must end and North must go. Rockingham declined to take office without guarantees for American independence and economic reform, Shelburne refused to be separated from him, and in March 1782 a revolt of independent members drove North to resign After much stiff resistance the King had to face ' the fatal day '. Thurlow the cynical Chancellor, who had ever despised North, was the one minister whom he was able to retain and, using Shelburne as his intermediary, he accepted the second Rockingham administration.

CONTEMPORARY DATES

1764 America rises against the projected Stamp Act.
Death of Madame de Pompadour
Wincklemann's history of Ancient Art
1765 Clive's second administration in India
Blackstone's *Commentaries on the Laws of England*
-1790. Reign of the Emperor Joseph II
1766 France acquires Lorraine
Goldsmith's *Vicar of Wakefield*
Lessing's *Laocoon*.
1768 France acquires Corsica
Captain Cook visits Botany Bay
Foundation of the Royal Academy
1769 Birth of Napoleon Bonaparte
Letters of Junius
1770 Marriage of the Dauphin to Marie Antoinette
Birth of Wordsworth
1772 First Partition of Poland
Warren Hastings made governor of Bengal
1774 Turgot becomes controller-general
Peace of Kutchuk-Kainardji
Goethe, *Sorrows of Werther*
1775 Battle of Bunker's Hill
Sheridan, *The Rivals*
1776 Turgot replaced by Necker
Adam Smith, *The Wealth of Nations*
Gibbon, first volumes of *The Decline and Fall*
1778 Death of Chatham, Rousseau, and Voltaire
1779 The peace of Teschen
Johnson, *Lives of the Poets*
1780 Galvani's discoveries in electricity
Hyder Ali overruns the Carnatic
Bentham, *Principles of Morals*
1781 Dismissal of Necker
Kant, *Critique of Pure Reason*
1782 Treaty of Salbai, and death of Hyder Ali
Mrs Siddons appears in London.

CHAPTER III

RECONSTRUCTION, 1782–1792

GEORGE III's reign was not half over but his power was much diminished after the fall of North. At last a beginning was made in disposing of the problems so long neglected — peace with America, a settlement with Ireland, economic reform to meet the ruin of the Navigation system, reconstruction in India, and at home measures to check the Court and satisfy a new industrial community.

There were not yet two clear parties, which would emerge only in the solving of these problems, and what confronted the King in 1782 was a loose coalition. Rockingham and Fox controlled half the Cabinet, Shelburne and Camden the other half, Thurlow and Dundas, originally Bedford Whigs, continued respectively as Chancellor and Lord Advocate, while the leader of that group, Gower, gave his benevolent support. The younger Pitt, who called himself 'an independent Whig', refused anything below Cabinet rank, to which the Rockinghams would not admit him.

Two considerable steps were speedily taken. England accepted *en bloc* the Irish demands, as put forward by Grattan. That part of Poynings' Act which subjected Ireland to the British Privy Council was repealed, together with the Act of 1719 maintaining the British Parliament's sovereignty and the appellate jurisdiction of the Lords; other measures gave Ireland a mutiny Act and repealed more of the anti-Catholic code Furthermore, a great part of the economic reforms for which Fox and Burke had moved became law, in statutes which forbade government contractors to sit in Parliament, disfranchised thousands of excise men and revenue officers, abolished forty places in the King's gift, and cut down the pension list and secret-service money.

In July, however, Rockingham's death opened the long-threatened rift. His followers always viewed Shelburne as the King's minister, while Fox continued a special hereditary feud. Their wish was to have a party man in every important place, — to replace Hastings in India, for example, by the malignant Philip Francis, — Burke, in particular, being a pure partisan, jobbing his Irish kinsmen into office Claiming that not the King but the Cabinet majority should appoint the Prime Minister, Fox's group refused to serve under anyone but the insignificant Portland, which would mean a Fox supremacy. This the King

would resist to the end, not least because Fox was as thick as gambling and debauchery could make him with the Prince of Wales, who was just now embarking on the familiar Opposition rôle of an heir-apparent. Shelburne therefore received the office of Prime Minister, which he had waived in Rockingham's favour four months earlier, Pitt became Chancellor of the Exchequer, his cousins Temple and William Grenville had office also, while the Whig leaders Fox, Burke, Portland, Cavendish, and Sheridan resigned.

Shelburne was that rare type in politics, the intellectual aristocrat. The founder of his family fortunes, William Petty, economic adviser both of the Commonwealth and Restoration governments and one of the clearest minds of his age, married his heiress into the Irish Fitz-Maurices, and if Shelburne was perhaps the most distinguished, he was also the least English mind among Hanoverian ministers In administrative discernment he was above all his rivals; experience of the Board of Trade, discipleship under Chatham, friendship with Priestley, Bentham the founder of the Utilitarians, Franklin, and the best brains in Europe had given him knowledge, principle, and liberalism. Unlike the Fox Whigs he despised party and distrusted aristocracy, believing in the Crown, if purged of corruption, as the necessary executive. He proposed to reform not the Crown's influence only but every government department, which would be much less congenial to the Whig aristocracy. Already Pitt had brought in one bill for parliamentary reform, only to be beaten by a coalition of the Burke Whigs with North's following, and Shelburne was ready to give this move another chance In statesmanship he outshone, wherever he differed from, the Fox group. On Ireland, he was urgent that some bond of union must follow on destruction of the old system He would grant America independence if he must, but keep it in hand to bargain for what he hoped was still possible, a federal link or at least a close commercial treaty. Unlike the curiously conservative Fox, he hoped for good relations with France, having no confidence in Prussia, Russia, and the other possible members of an anti-French alliance

In the peace, which was made the pretext for his fall but on which his rivals could not improve, he achieved much more than could have been expected. He was much assisted by Rodney's victory off the Saintes islands near Dominica (April 1782), when he destroyed De Grasse's fleet, and in September again by a brilliant success at Gibraltar, where Eliott beat off a last attack and Howe brought in a relieving convoy. For our sea-power was now restored, and the national fighting spirit. But Shelburne's best good fortune was to discover and exploit the divisions among the enemy. The Americans justly distrusted their allies. France meant to exclude them from the fisheries, and, with Spain, to keep a hold on the Mississippi, while French

finances and diplomatic sense both forbade a prolongation of war simply to win Gibraltar for Spain. Shelburne would have accepted some large compensation for the Rock but sharply resisted the enemy's larger demands—the Americans' for the whole of Canada or the French for a complete restoration in India—and in November won a diplomatic triumph in a separate signature of terms with America. So the truce of January 1783 was to become in September the final peace of Versailles.

The Americans won thereby their independence and the country assigned to Canada in 1774 that lay between Ohio and Mississippi They received liberty to fish in the St. Lawrence Gulf and on the Newfoundland Banks, while a compromise was hammered out for their northern boundary, from the Bay of Fundy and by the high lands north of the St. Lawrence, westward through the great Lakes On the bitter controversy over the Loyalists, Britain could get nothing but an empty promise of an endeavour for fair treatment by the several States

The French received nothing additional in the West Indies except Tobago, slightly enlarged their fishing rights in Newfoundland, keeping also the isles of Miquelon and St Pierre, in Africa they recovered Senegal which they had lost in 1763; and in India their forts and factories, as they had stood in that same year Spain recovered Minorca, she also won all Florida, but British rights were at last recognized in Honduras. The terms with the Dutch showed their isolation and our revival of strength; they were forced to surrender Negapatam, the best harbour on the south-east coast of India, and to admit, what for two centuries they had disputed, our right to trade in the East Indies.

But the makers of peace were thrown out of office in February 1783, when the Commons by sixteen votes condemned these preliminaries. Shelburne's masterfulness and secrecy offended his Cabinet, his reforming programme alarmed conservatives, his favour with the King affronted the Whigs, while the concessions to France, and, above all, the hardships of the American Loyalists made the terms most unpopular. With no clear majority of his own, only some sort of coalition could save him; but on this point his colleagues were divided, for while Dundas and the King's friend Jenkinson advised alliance with North, Pitt and Grafton tried to regain Fox Fox, however, would not serve with Shelburne again and was ready for that combination with North to which he had leaned some years before, North for his part was alarmed at the threat of a dissolution, or of a Pitt-Fox coalition demanding reform and punishment of the man who had lost America.

In this manner Fox made the coalition with North, whom he had threatened to impeach, pushed on from both sides, both by Burke and by North's underlings, Eden and Wedderburn—an alliance of King's friends and King's enemies, of those for conciliation with America and

those who would have fought America to the end It came about because Pitt resisted the King's pressure to take office, being determined to have no truck with North, and its chance of survival was never great. The terms of their union, for Cabinet government instead of royal control and for dropping both economic and parliamentary reform, alienated alike the King and the reformers, while public opinion was severe against them. The new Prime Minister, Portland, was a worthy nonentity; Burke turned out a hysterical and partisan minister. The new majority threw out bills moved by Pitt for parliamentary reform and against administrative abuses, and only the King defeated their monstrous proposal to give the Prince of Wales a parliamentary income of £100,000.

His chance came in the autumn when ministers took up the problem of India, which they could not escape. For British India had been engaged in a fight for life against Mysore and the Mahrattas, the feud between Hastings and his councillors had crippled government, and the ill-gotten wealth of the 'nabobs' infuriated Englishmen at home. Unhappily, Indian patronage and control of the East India House had become bound up with party. A clear assertion of parliamentary supremacy was necessary, but Fox's India bill was drawn up by Burke in concert with Francis, the defeated rival of Hastings, and would have replaced the Company's control by a party machine, naming seven commissioners, who could be members of Parliament and to whom both government and patronage were given for four years, all seven being followers of Fox or North. Though the Commons carried the bill by 102, Company and City roused a campaign in defence of chartered rights; the King's advisers Thurlow and Temple told him that the Lords could be won over to reject it; Pitt and Dundas were ready to make a Cabinet. In December the King authorized Temple to tell the peers that he would not view as a friend anyone who voted for this 'unparliamentary and subversive' bill, the India House and Gower used their influence, many North peers deserted Fox, and the Lords rejected it by 19 votes.

The weapons used were those of the day, or of Walpole's time; for if Pitt's cousin Temple spurred on the King, Fox brought the Prince of Wales to vote But the crisis decided the future of politics for half a century. Pitt's first step, an offer of collaboration with Fox if he would drop North and modify the bill, was instantly refused. His second was equally unsuccessful, since his father's followers Grafton and Camden declined to serve. Temple lost his nerve and resigned In this desperate pass Pitt therefore formed an emergency Cabinet, consisting of two Bedford Whigs, Thurlow and Gower, who had abandoned North, the sailor Howe, the radical Duke of Richmond, and a few young friends of his own. Dundas and himself were the only commoners of ability,

and with this weak team he defied a hostile majority through the winter of 1783–4

Though this crisis made a long stride forward, constitutional conditions were far removed from democracy. The Commons' majority, Fox claimed, were sovereign and could name ministers, but few agreed with him, and Fox himself rejected the logical conclusion of an appeal to the electors. A dissolution in this sense was unprecedented since the exceptional year 1715; Fox's object, rather, was to deny the King's right to dissolve and to force Pitt to resign. He thus played into the enemy's hands, for what had happened between 1761 and 1763 or 1768 and 1770 now happened again, as the Commons' majority steadily shifted towards the ministers in power. North's old election expert, John Robinson, advised Pitt that, given some time and a good deal of money, eighty seats could be won.

Many addresses of thanks showed the swing-over of opinion. Independent members were angry at the Whig refusal to consider coalition between Fox and Pitt, and their constitutional ideals argued that the King's ministers should be given a chance. When, therefore, in March 1784 Pitt at last dissolved Parliament, popular favour certainly accounted for his victory more than royal money; seventy of Fox's group lost their seats, including many leaders such as Eden and Coke of Norfolk. By universal admission there was a dead-set against Fox and the 'seven kings' of India and a delirium for the name of Pitt, two elements being especially marked — the business world and the reformers of Yorkshire and Middlesex. But if royal influence and public opinion had coincided, how long could they march together?

The first Pitt government lasted seventeen years, his contest with Fox until they both died in 1806, and it was Britain's felicity to find two such men to found the modern parties. Their rivalry has coloured history to our own day Reason might argue that their destiny was to work together, for each execrated the American war, each believed in parliamentary reform and in conciliating the Irish Catholics, each abominated the slave trade. But apart from the fact that a reformer in opposition is not the same as a reformer in power, — a distinction which divided them throughout the strains of French Revolution, — temperamentally and by their gifts they were entirely opposed. Their fathers, also rivals both in politics and character, had brought up their best-loved sons on different models. Fox, to have all he wanted so long as he loved, to run through his own fortune and others', to drink and to gamble; Pitt, to have a lofty and self-conscious sentiment of virtue, to be proud of his character and 'independence', to scorn delights and live laborious days. The soul of gaiety with the few he loved, Pitt unbent only to a few idealists like Wilberforce, to close colleagues such as Dundas or his kinsmen the Grenvilles, or to young disciples like

Canning; Fox, with the Prince of Wales and Sheridan, innumerable women, and hosts of friends. While Pitt laboured and hoped and trusted, Fox loved and hated and despaired in turn, and if humour, vitality, and lovableness were enough to make a leader, he had infinitely more winning power. The one was always 'Charles' but the other 'Mr. Pitt', and what Grattan called Fox's 'negligent grandeur' won more hearts than Pitt's frozen Grenville air.

The eloquence of each was extraordinary, Pitt never failing in the art and sometimes inspired to marvellous heights, but more often, as years passed, over-exhausted into a monotonous, mechanical, competence, Fox, supreme and sinewy in debate, often unwise but always fertile. More than accident decided his long exclusion from office. His mistakes, as in the coalition with North or his zeal to make the Prince unfettered Regent in 1788, were on the same large scale as his virtues He could be monstrously partisan, his power was to see clearly and stoutly defend a scheme of dear British liberties, but sometimes he seemed to see nothing else, and the patriotic feeling, which he once offended by joy at American victories, he wounded again by sorrowing over French defeats Of the economic talent, in which Pitt abounded, he was entirely devoid; indeed, in some important ways he was the reactionary and Pitt the progressive.

In judging these men it must not be forgotten that they did not possess the organized mandatory power of a modern minister. Burke's reforms and the competition of new wealth had much reduced royal influence, so that placemen in the Commons in 1800 did not number half those of 1760, but the King was not a figurehead and far less the aristocracy Of this truth one instance is enough in 1788, when Pitt's secretary analysed the Commons' majority into 52 Pittites, 15 East Indians, 10 Scots, 9 following Shelburne and 9 Lonsdale, 108 independents, and 185 as 'the party of the Crown'. It was these last who in 1801 followed the King against Pitt in refusing to emancipate the Catholics.

Thus, although the Revolution made Pitt the founder of a second Tory party, he was not a party man and never a Tory. He soon brought old Camden into his government, tried to bring back Grafton and to find office for Cornwallis, the honest Whig administrator in turn of India and Ireland; and twice in his last years strove to induce the King to allow a coalition with Fox. So that the party he founded was never a unit, being always divided between Liberals of his own sort, like Canning, and Conservatives like the King's friends or the right-wing Whigs, and finally broke in two in 1827.

With all its limitations, however, Pitt's was the first modern ministry. It was not merely that with him ended the worst corruption; that, for instance, he refused the £3000 a year clerkship of the Pells,

which his successor Addington took for his own son, or that he put government loans out to tender instead of placing them with political friends If any one man did so, he created the rôle of Prime Minister. The King's activity declined after his first serious attack of insanity; moreover, Pitt was his only bulwark against Fox and the Prince, and the Cabinet, therefore, steadily concentrated round its leader, though not on party lines His loyal brother Chatham took over the Admiralty. Dundas was his right hand in the Commons, being manager for Scotland, treasurer of the Navy, effectual ruler of India, and finally Home Secretary when Pitt's cousin Grenville received the Foreign Office in succession to Leeds and became leader in the Lords in 1792. This last step was associated with the ejection of the Chancellor Thurlow, Pitt terminating his long disloyalty by an ultimatum to the King His other appointments seemed to turn not on party, but on personal or practical considerations His friend Wellesley went, viâ the Treasury, as governor-general to India At the head of a reconstructed Board of Trade Pitt put the King's friend Jenkinson, later first Lord Liverpool, whose economic gifts were considerable, and employed Eden, later Lord Auckland, originally a follower of North and a self-seeking talented man, in negotiating commercial treaties.

He centred his power in the Commons, for to the indignation of the aristocracy he made 95 new British peers during his first ministry in addition to 77 peers of Ireland; some of whom, like the banker Robert Smith, came from the business circles where he found his best support. Till the outbreak of war this newer England of reform, business, and philanthropy voted Pittite, including the 'Saints' led by his friends Wilberforce and Bankes, and the evangelicals represented by the Thorntons of Clapham.

From Pitt, again, may be said to proceed modern administration which, through the young men he promoted, Canning and Huskisson and the second Jenkinson, passed on to Peel and to Peel's disciple Gladstone. Following Shelburne's example, he set up commissions of enquiry into every department of State, substituting salaries for fees and reducing the endless sinecure jobs which had made life pleasant for Whig politicians To him and his officials, Jenkinson or George Rose, are due much of the modern State's activity, whether the London magistrates, the friendly societies, or the Board of Agriculture Most of all, he introduced eighteen successive budgets which revolutionized public finance

What he inherited was a funded debt of £238 millions, nearly all in 3 per cent Consols, the price of which had sunk to 54, and the interest on which swallowed three-quarters of the revenue, trade ruined by loss of America, an antiquated tariff, so complex that one class of goods might pay on ten different scales, and so choked by high duties (that on

tea averaging 119 per cent) that smuggling was a powerful, armed, profession; an administrative chaos of ear-marked taxes, and a separate treasury for each main service. Before revolution and war interrupted his work he had restored Consols to 90, raised the revenue by one-third, paid off £11 millions of debt although he had rebuilt the fleet, and laid the foundation of all future reform.

He admitted his debt to Adam Smith, the wise Glasgow professor, whose *Wealth of Nations* found in freedom the way to prosperity He made smuggling unprofitable by reductions of duty and by extending the excise, as Walpole had intended, to wines, tobacco, and many other articles. What this modernizing the tariff involved may be judged from one fact, that in the single year of 1789 he moved on this question over 2500 resolutions. Since no government yet contemplated anything so inquisitorial as an income tax, for direct taxation he depended on the land-tax and certain taxes on spending, — servants, carriages, horses, and so forth, — which he brought under one control as 'assessed taxes'; many a blocked-up window still testifies to efforts to bring them down to less than seven, at which a house escaped window-tax He devised the scheme of a modern budget by creating the Consolidated Fund, into which all permanent taxes were paid, and from which issued payment for all permanent charges, such as the debt interest or civil list. A beginning also was made in the full audit of accounts, which later was put under the comptroller-and-auditor-general, a high independent official.

For the restoration of confidence public opinion demanded a reduction of debt, and in 1786 Pitt established a sinking fund, with ample safeguards against the raids which Walpole had practised. An independent body of commissioners were each year to apply £1 million, voted by Parliament, to the purchase of government stock, and hold it till the reinvested interest brought their income up to £4 millions; after which date all debt purchased would be cancelled Though this optimism as to the results of compound interest was undermined by the heavy borrowing necessitated by war, it would be wrong to write off Pitt's sinking fund as a mere delusion The principle itself was a contribution to credit, and £238 millions of debt were cancelled in 1813.

First of a new school of finance ministers, he aimed to restore prosperity by freer markets. As Shelburne's Chancellor of the Exchequer he had brought in a bill giving the Americans almost all the privileges they had held while British Colonies, but shipping interests protested, the Portland government excluded American ships from Canada and the Indies, and British-American relations were long poisoned by other disputes, American obstruction in regard to the Loyalists or British debts being answered by a British refusal to

evacuate the forts south of the Lakes, and by Canadian incitement of the Indians. It was only under pressure of the French war that the British decided to make a settlement with America, which after all was one of our best customers, taking 90 per cent of their imports from Britain. So came about the treaty of 1794, negotiated with Grenville by Chief Justice Jay, by whose name it is usually called. In America it was highly unpopular; though the British at last gave up Detroit and other disputed forts, and frontiers were more clearly demarcated by joint commissions, the treaty still excluded American shipping from the Indies and Canada. A still larger question, of neutral rights at sea, was left over to the politics of war.

Strong vested interests, goaded on by the Fox party, broke several of Pitt's fiscal measures. His Corn law of 1791, which in effect prohibited import when the price fell below 50s a quarter, was criticized by the Whigs as not giving enough protection. Again, he imposed a legacy duty, but the country gentry would not allow it to be applied to land; big business leaders, Wedgwood for the Black Country, Boulton the iron-master, and the cotton firms, combined to defeat his proposed low-tariff treaty between Britain and Ireland His one great success in international trade was the treaty of 1786 with France, negotiated by Eden. Business men were confident they could beat the French on the equal terms of much-reduced duties of 10 per cent or 12 per cent, which woollens and cottons, cutlery, and pottery would henceforth pay on either side And if French wines were now to pay duties no greater than those imposed on Portugal, French silks were still prohibited. Such solid advantages, and this large market to compensate for the loss of America, drowned Fox's beating of the drum against France as an ancient enemy. But French industrialists rebelled, and in 1793 the revolutionary government denounced the treaty.

In yet another immense problem Pitt devised a long-term settlement: by his India Act of 1784, which survived as the basis till the Mutiny. But here it is necessary to recall how India entered British politics.

Nothing could be more false than to suppose that Britain or its East India Company set out to conquer territory; ' the perilous and wonderful paths ', as Warren Hastings called them, were not of our making. From 1707, on the death of the last great Mogul, India became a land without a master. Hindu reaction against Moslem cruelty had, long before Aurungzebe died, begun with Sivaji, founder of the Mahratta power. His dynasty continued as rajahs of Satara in the Deccan, though lately overshadowed by mayors of the palace styled Peishwahs, whose influence centred at Poona, other chieftains of this warrior people, the Gaekwar, Scindia in Gwalior, and Holkar in Indore, spread out fanwise until Mahratta States ranged from the west coast across central

India. From the Punjab a more austere Hindu revival, of the Sikhs, threatened Delhi on another side. Meanwhile Moslem lieutenants of the empire turned their official position into hereditary thrones—the Nizam of Hyderabad, the Nawab of Oudh, and the Nabob of Bengal—and Moslem soldiers forced their rule on Hindu populations, notably in Mysore, where from the Seven Years' War onwards Hyder Ali, a master of amoral ability, raised a power which threatened Bombay and overhung Madras like a cloud. Lastly, as always happens in a weakened India, the gates of the north-west passes opened before new conquerors. Rohilla Afghans settled down north of the Ganges, Nadir Shah the Persian looted and massacred in 1739, the Afghan Ahmad Shah annexed the Punjab and in 1761, in his fourth invasion, obliterated the Mahratta armies in battle at Panipat, outside Delhi.

It was in this scene of force and iniquity that European traders were compelled to arm in self-defence, that ambitious governors intervened in Indian war to bargain for fortresses or markets, and that clerks and merchants found unlimited opportunities of wealth. French possessions were scattered from Mauritius in the Indian Ocean to Chandernagore above Calcutta, but their headquarters was Pondicherry, south of Madras, from which during the Austrian Succession war Dupleix set out to make French influence all-powerful. Peace came in Europe but in India war continued, with native thrones being put up and down, until it passed again into the Seven Years' War. The English triumphed through the incompetence of the French company and its friction with its great servants, Dupleix, Bussy who long held Hyderabad, and Lally, defender of Pondicherry; even more, however, through their superior sea-power and the fact that they controlled the Ganges, main artery of India, so that Bombay and Madras could be saved by armies sailing from Bengal. Lastly, they found a genius for action in Robert Clive, a writer in the Company's service at Madras, who was under thirty when he first won fame by the defence of Arcot in 1751

A transformation of the Company to a political State was thus almost inevitable, and the hour struck when in 1756 a young Nabob succeeded to Bengal, Siraj-ud-Daulah. A slave to passions and fear, he quarrelled both with Hindu financiers and Mohammedan soldiers and, suspicious of European aggression, in June attacked Calcutta. Its defences were worthless, most of the English councillors were chicken-hearted, and in four days they surrendered. Nearly 150 prisoners were shut up for the night in the ' black hole ', a prison room in the Fort, less than twenty feet square, and only 23 survived.

Though faced by the certainty of a French threat to themselves, the Madras Council despatched Clive and Admiral Watson to the rescue.

In January 1757 they recovered Calcutta, then seized Chandernagore, and in June, convinced of the Nabob's intrigues with the French and aware of his subjects' hatred of him, set out to depose him in favour of his kinsman Mir Jaffar. On the 23rd, with 800 Europeans and only 3000 men in all, Clive routed the Nabob's 50,000 at Plassey; Siraj-ud-Daulah was betrayed and murdered. This revolution carried with it recognition of British sovereignty in Calcutta, and of their 'zemindari', or land revenue rights, in a large tract outside, before Clive left India he also suppressed Dutch power in Bengal and sent an expedition to seize the Northern Circars, the coastal area which linked land communication between Bengal and Madras. Few Englishmen as yet had so trained Indian sepoys to fight, and his courage and decision never failed. But he did not shrink from any weapons, even forgery of treaties, while his greed set off the new Bengal on a torrent of corruption.

The conquest was carried further by Coote's victory over Lally at Wandewash in 1760, the fall of Pondicherry, and the peace of 1763. Revolution, massacre, and corruption in Bengal brought about war with the Mogul emperor and Oudh, and in 1764 Hector Munro won another decisive victory at Buxar. Once again Clive was sent out to restore order, and though his success was limited his measures were vital. Ceding some more territories in full sovereignty, the Mogul emperor also granted to the Company the 'Diwanni' of all Bengal, that is, the right to collect and administer the revenue; henceforth, under a puppet Nabob and through the agency of Indian officials, the British were in fact sovereign.

From Clive's final departure in 1767 the problem took on dimensions which no British government could ignore: his enormous wealth, struggles by political groups to win control at the India House, great wars won by a merchant company, and the fortunes displayed by returning 'nabobs'—all this aroused public indignation and private enmity. English servants of the Madras presidency, lending money at an enormous interest to the Nabob of the Carnatic, became involved in his feuds with Hyderabad, the Mahrattas, and Mysore. Mahrattas, making the Moguls at Delhi their tool, pressed upon the Rohillas and then on Oudh, the outer bulwark of Bengal; dynastic strife of the Peishwah's family encouraged the Bombay government to intervene in hopes of winning more trading-posts. Parliament shirked the larger issue in 1767, merely taking a tribute from the Company. But in 1770 a ghastly famine slew a third of the people of Bengal, India stock fell like a stone, all three presidencies were on the verge of war, and the Company begged Parliament for a loan.

One result was the Regulating Act of 1773, the first large vindication of parliamentary sovereignty. It compelled the Company to lay its accounts and correspondence before parliamentary ministers, named

INDIA
1765
English Miles
0 100 200 300 400
British Territory in 1765
AFGHAN SUPREMACY
Kabul
Lahore
Multan
Sulaiman Mts
Jhelum
Chenab
Ravi
Sutlej
Indus
Himalaya
ROHILKHAND
Panipat
Delhi
Jumna
Ganges
Agra
OUDH
NEPAL
Mountains
Tsanpo
RAJPUTANA
Jaipur
Jodhpur
SIND
Luni
Udaipur
Chambal
HOLKAR
SINDHIA
Benares
Patna
Buxar
BIHAR
Brahmaputra
Murshidabad
Plassey
Dacca
MARATHA
BENGAL
Chandernagore (Fr)
Calcutta
GAIKWAR
Indore
Kathiawar
Narbada
Tapti
CONFEDERACY
ORISSA
Balasore
Surat
Nagpur
Mahanadi
Diu (Port)
Cuttack
Bassein
Bombay
PEISHWA
Godavari
Poona
NIZAM'S DOMINIONS
NORTHERN CIRCARS
Kistna
Hyderabad
ARABIAN SEA
Gheriah
Kolhapur
Masulipatan
BAY OF BENGAL
Goa (Port)
Mangalore
MYSORE
Bangalore
Palar
Madras
Arcot
Wandiwash
Seringapatam
Pondicherry (Fr)
Mahe (Fr)
Cauvery
Tanjore
TRAVANCORE
CARNATIC
Cochin (Dutch)
CEYLON
Trincomalee
CEYLON
on the same scale
Dutch
Kandy
Colombo
AFGHA
Kandal
BALUCHISTAN
Karach
AR
CE
on the
80
85
90
75
70
30
25
20
15
10
Copyright Edward Stanford, Ltd

a governor-general with a council of four in Bengal who were in ordinary cases to control the foreign relations of Madras and Bombay, and set up a supreme court in Bengal over 'His Majesty's subjects'. The governor-general appointed was Warren Hastings, the Company's governor in Bengal since the previous year.

British India was, indeed, created between that date and his final home-coming in 1785. What he inherited was simply an anarchy of force, no system, and universal corruption. He it was who by experience arrived at the fundamentals: that India could not exist without a paramount power, and that, in the absence of another, Great Britain must take that place; that British India must be an Oriental Power, ruling through Indian means and Indian law, and doing justice to the tillers of the soil; that this government in India must be one, and saved from fluctuating faction at home Measures innumerable besides his chief governmental acts — codification of Indian law, famine relief, encouragement of map-makers, exploration of Tibet, foundation of the Asiatic Society and of a Mohammedan college at Calcutta — show his extraordinary range and the nature of his ideals. He almost alone saved the British Empire and character during the ignominy of Lord North, his achievements were so great, and so bitter his sufferings, that he may be forgiven his own conclusion, 'I gave you all, and you have rewarded me with confiscation, disgrace, and a life of impeachment'.

Sent to India as a boy, Hastings went through the worst days with clean hands but not without effects which later exposed him to attack. Like all his contemporaries he speculated, spent money recklessly, and acquired the Oriental view of what in England would be called a bribe. Bitter opposition, and ingratitude in his employers, made him inflexible and ruthless, with the autocrat's leaning to take short cuts towards great ends

In the two years before the Regulating Act reached India, he did much of lasting importance On the directors' orders he swept away Clive's double government; the Nabob became a pensioned figurehead, Calcutta became the capital, English collectors controlled local revenue and justice under a revenue board and courts of appeal. Pending enquiry into the tangle of old systems, the land revenue, which was the mainstay of Mogul power, was fixed for five years, though unhappily at too high a level, and functions of government were separated from management of trade Finding the Emperor was simply the tool of the Mahrattas, he repudiated Clive's treaty, refused further tribute, and made Oudh the buttress of Bengal by increasing its territory and putting a British force in its pay. These arrangements led directly to the war of 1774 when Oudh asked for help to suppress the Rohillas, who would neither keep the Mahrattas off his frontier nor act effectively against them, and Rohilkhand was annexed to Oudh by British aid. But while

Hastings was experimenting in every branch of government, at the end of this year his work was cut short, by the Regulating Act, the futility of the home government, blunders in Bombay and Madras, and, finally, an enormous war. The Act itself made openings for great mischief, if the ill-will were there. It gave the governor-general no overriding power but only a casting vote. It gave Bengal no initiative but only a vague veto over Bombay and Madras, which they could overrule on a claim of emergency. It left obscure the relation of the supreme court to the council, the law it would apply, and who were subject to its jurisdiction.

Spurred on by various influences, North's hope to win votes, Clive's bias against Company rule, many directors' dislike of wars of conquest, and some honest zeal, three new councillors from England arrived with minds fixed against Hastings and all his work, outvoted him, and paralysed government. Two were mediocre self-seeking soldiers, the third was self-seeking on a giant scale but a man of ideas —Philip Francis. The rancour and arrogance he had shown in the *Letters of Junius* he now applied to India, of which he was bent on being governor-general, and which he deemed he had been sent to save. This evil man stuck at nothing to destroy Hastings and to achieve his own ambition, encouraged natives to libel the governor-general, worked on a party at the India House, and convinced Burke, hitherto a Company champion, that its corruption was infinite and that Hastings was the oppressor of innocent millions. His own ideas were in part derived from Clive, and partly from his own ignorance. He would establish direct English sovereignty in Bengal, but merely as a tribute-receiving power. Our contacts should be limited to the zemindars, the revenue-collectors of the Mogul system, whom Francis would recognize as an hereditary aristocracy, fixing their revenue liability on a permanent settlement; we should divest ourselves of responsibility for justice or protecting the peasants, while the Company should fall back to the rôle of merchants Sovereign in this sense of Bengal, we should not interfere in the rest of India, leaving friend and foe to fight it out Such was the ignominious part which Francis thought possible and impressed on British politicians by years of industry and hatred.

Hastings was not the man to abdicate, and war to the knife disgraced Calcutta. Among the charges encouraged by the majority against him were some of bribery, brought forward by a Brahmin official Nuncumar, who had been for twenty years a byword, the resuscitation of a charge of forgery against Nuncumar, the verdict of the supreme court against him and his execution, though all in themselves defensible, came so opportunely to save Hastings that they roused a dark suspicion. The majority removed his officials, and undid his settlement with Oudh, once they claimed he had resigned and seized

the Calcutta fort. Death swept away Francis' associates but not death could take away his revenge, and in 1780, at the height of the great war, the governor-general engaged in a duel with his senior councillor Scandalous contentions broke out between council and supreme court, terminated by an arrangement which had some sense in it but could be represented as more scandalous still, whereby the court's chief justice, Elijah Impey, was to be head of the Company's ordinary courts also Here, murmured Hasting's enemies, was Impey's reward for hanging Nuncumar and saving Hastings from ruin.

Never was British control more weak and squalid While North and his secretaries encouraged the Francis group and the Company proprietors refused to recall Hastings, envoys from home thrust their oar into Mahratta politics; creditors of the Carnatic Nabob had representatives in Parliament and were strong enough to arrest a governor of Madras. Exploiting this weakness and contradictory orders from home, the two smaller presidencies plunged into war. In 1778 the Bombay government sent an army to put up its candidate at Poona, which was ignominiously defeated. By temporizing with the Mahrattas Madras offended Hyder, while by its favouritism to the Carnatic Nabob and encroachment on the Circars it affronted both him and Hyderabad. Even before war broke out with France in 1778, both the Nizam and Mahrattas had French officers drilling their troops, a great confederacy threatened Madras, and in 1780 Hyder drove back our armies.

In these years Hastings saved India He sent one force under Goddard across India from Bengal to the west coast, another under Popham stormed Scindia's fortress at Gwalior; Pondicherry was taken. He stopped the Company's home investment and suspended the government of Madras, sending Eyre Coote to save that presidency. His diplomacy gradually detached the Mahrattas, who in 1782 signed the treaty of Salbai, and recovered the friendship of Hyderabad; Mysore was isolated, Hyder died the same year, the peace of Versailles rescued us in the nick of time from the French admiral Suffrein, and in 1784 Hyder's son Tippu was brought to terms.

While Hastings laboured and while forgotten regimental officers fought heroically, the presidencies bickered, the aged Coote and most commanding officers proved their incompetence, and even after Francis left India the inner councils were full of faction Amid these storms Hastings took steps which were to bring on his head some grave charges Desperate for funds and suspicious of treachery, he demanded large sums from Chait Sing, Rajah of Benares, whom he regarded as a vassal, and on his recalcitrance arrested him in person, at the cost of a rebellion in which he nearly lost his own life. A new arrangement for subsidy from Oudh led to harsh demands on the Nabob's relations, the Begums, suspected of intrigue with Chait Sing and owners of much treasure, and

the peace settlements of 1783–4 involved Hastings in a fierce quarrel with Macartney, governor of Madras.

Such were the facts, great and small, good and bad, which were before parliamentary committees from 1782. The Commons called for the recall of Hastings; the Company proprietors defied them. Opinion was fairly general that there must be drastic reform and a new council, but what the Dundas school would have made a compromise and peace with honour was turned by Francis' influence on Burke into a party fight, and a campaign against Hastings as a 'cruel and desperate man'.

Pitt's India bill of 1784 differed from Fox's in two essentials; that it was composed in agreement with the Company, and that it left to the Company their patronage and appointments. It made the State predominant, however, by setting up the Board of Control, two of whom must be Cabinet ministers; they would approve all political despatches, and could issue orders through a secret committee of the directors. Government in India was relieved from the weakness under which Hastings had suffered, for Bengal was made supreme over the other presidencies, and a subsequent Act of 1786 empowered the governor-general to override his council and to be commander-in-chief. So the State and the Company entered into partnership, to work together with fair harmony for the next seventy years.

But the Act declared conquest and extension of dominion 'repugnant to the wish, the honour, and policy of this nation', it forbade intervention between native States until a war threatening British rights had actually begun, and expressly declared for the zemindars and the revenue policy which Francis had championed. Seeing in this his own condemnation, Hastings resigned, came home in 1785, and challenged the impeachment for which Francis and Burke were working, and which hostile votes from Pitt and Dundas on the Benares and Oudh charges made certain. From 1788 to 1795 his trial intermittently dragged on, becoming at every stage more of a party vendetta, until the Lords finally acquitted him on every point—broken in fortune by costs of £70,000, but justified in his major policy by all intervening Indian history, and vindicated before his death in 1818 by a later House of Commons. Yet all was not the malice of Francis; what Burke had honestly felt, though monstrously exaggerated, and what Pitt found himself unable to clear, were acts which might be pardoned in one great man in imminent peril but not made the standard of British rule.

Canada also owed to Pitt's government the first stride in its modern history. The peace of 1783 transformed the problem by the migration of the American Loyalists, for some 35,000 crossed the line into Nova Scotia, whose demands brought about the creation of another Colony in New Brunswick, while 20,000 more entered Canada itself. These New Yorkers, western pioneers, and Highlanders, reinforcing the

British traders at Montreal, insisted on a larger self-government than the French of Quebec had received, or desired After long consultations with the veteran governor Carleton, now Lord Dorchester, Pitt and Grenville decided to divide Canada into an Upper or British, and a Lower or French province, each with an elected assembly. As a transition measure and to avoid racial dispute, this scheme had advantages, but it left in Quebec a discontented British minority and awkward economic rivalry between the provinces Yet the logic of self-government would work itself out, proceeding from Pitt's express wish to bring Canadian government 'as near as the nature and situation of it would admit to the British constitution'

Several failures to keep his parliamentary majority, as over the Irish Commercial Treaty or a scheme to fortify some big ports, and strong resistance about India, warn us that Pitt was by no means omnipotent, and on two great questions he had to retreat. Disappointed reformers called him an apostate but the true explanation seems clear: this lack of power, coupled with that mercurial side of his character, and due perhaps to his weak health, which made Dundas grumble he was always 'in a garret or a cellar'. In 1785 he redeemed his pledge on parliamentary reform in a bill for which he canvassed widely and got the King's promise of neutrality. Disclaiming 'unlimited notions', he merely proposed to enfranchise the small class of copyholders, to buy out thirty-six rotten boroughs and allot their members to London and some counties, and to form a fund for the future compensation of boroughs, whose representation should be extinguished with their own consent Half his Cabinet voted against him and more than half his party, besides North's following and Burke and conservative Whigs, so that he was defeated by a majority of seventy-four In fact there was no popular demand, and till that was changed he would not again court the charge of 'innovation'.

Abolition of the slave trade was likewise caught up in considerations of party and fear of revolution. Since the Asiento treaty of 1713 British ships had transported several million Africans, even after the loss of America carrying nearly 40,000 slaves in an average year, and the trade was a powerful interest — a mainspring of the wealth of Liverpool and Bristol. Until the age of Chatham hardly a protesting voice was raised save that of the Quakers, but condemnation from John Wesley, a new spirit of philanthropy, and the Evangelical movement brought about a change. In 1772 Mansfield's judgment in Somerset's case laid down that a slave became free on British soil, while in the 1780's Thomas Clarkson and Granville Sharp began their propaganda, founding the Abolitionist Society with mainly Quaker support. Wilberforce, who joined them after his own independent enquiries, was one of Pitt's nearest friends, and in concert with

him Pitt in 1788 brought the question before Parliament. Opposition was obstinate, from the King, many of the Cabinet, West India and shipping interests, anti-reformers, and from those who pointed to refusal from France and Spain to take simultaneous action Only Pitt's threat of resignation carried through a small bill to improve the foul conditions of the slave ships, while before the main enquiry was completed the Revolution spread ideas of equality to the Indies, which brought about slave insurrection. In 1792, resisting both Pitt and Fox, Parliament accepted a resolution of Dundas for gradual abolition, and when in 1794 the Whigs of the right wing made their coalition with Pitt, he deferred to their wish for no immediate move. Opposition from colonial legislatures and the conquest of slave colonies during the war swelled the party for postponement, and abolition was set down as 'Jacobinical'.

One episode above all showed how uncertain was the power of this powerful minister. The Prince of Wales' feud with his father had deepened, his character seemed incorrigible, and he owed half a million pounds. Rumours were current, of what was indeed a fact, that in 1785 he had married Mrs. Fitzherbert, a widow of high character, in defiance both of the Royal Marriage Act and the Act of Settlement, which forbade the succession of a prince married to a Roman Catholic Fox in all innocence denied the rumour, but when later, knowing the truth, Grey and Sheridan denied it once more, it had become part of a larger crisis.

From November 1788 to February 1789 George III was out of his mind, a violent maniac. Yet the doctors agreed that his recovery was probable, on which view Pitt's Cabinet framed their bill: a Regency regulated by Parliament, limited in powers of making peers or creating offices and in its control of the Household, so that if the King recovered he would be restored to all his means of influencing government. If in logic and law their steps were curious, — that is, the passage of a bill under the great seal by a commission which itself was created by the two Houses, — they seemed to the mass of the people nearer to the spirit of the constitution than the extraordinary attitude of Opposition, whose whole behaviour was a series of error. For they declared that the King was legally dead, that the Prince had of right stepped into the full power of sovereignty, and that Parliament had nothing to say but to fix the date of the transfer Armed with many proofs of popular favour, Pitt swore he would 'un-Whig them for ever' and carried his scheme of limitations for three years. But many deserted him. Thurlow intrigued with the Prince, lists of new ministers and new peers were bandied about, and the Irish Parliament adopted Fox's view Burke's language was so violent that he seemed out of his mind, the Prince's callousness outraged decent feeling, all seemed to be over, and Pitt was

preparing to return to the Bar Then the King recovered, and the election of 1790 showed the ministry more powerfully entrenched than ever.

Its work of reconstruction demanded peace, but Europe was full of rumours of war. Two pillars of experienced wisdom, Frederick the Great and the French minister Vergennes had died in 1786-7, leaving most inadequate successors. Of the other Continental powers, Russia was ruled by the calculating Catherine the Great, and the Empire by the rash doctrinaire Joseph II, who had lately reached agreement on a programme to give Russia Constantinople and push deeper the partition of Poland begun in 1772. Joseph had been defeated by German resistance in his project of getting Bavaria in exchange for Belgium, but his schemes of centralization unsettled the proud Hungarians and threatened the old liberty of Flanders, while on the ground of 'natural rights' he swept away the Barrier treaties and challenged Dutch control of the Scheldt

When Pitt first attained power, Great Britain was isolated. France, with Spain in tow, had new colonial and economic objectives, and through her other ally, Austria, made contact with St. Petersburg. During the American war Russia was offended by the claims of our sea-power, while her Oriental ambitions threatened our Mediterranean trade and might reach to India The old Whig scheme against France seemed irrevocably gone, with Austria in the enemy camp, while in Holland, torn as ever between an Orange and an Amsterdam party, the predominant group leaned to France, looking for protection against Joseph

Though peace was Pitt's primary object, all the more while he restored the finances and rebuilt the fleet, and though the Middle East was not a direct British interest, his government felt bound to oppose any change in the Low Countries, with the further possibilities of joint French-Dutch action against India or of France bargaining with the Eastern despots to attack Turkey with Egypt as her reward A first chance of resistance came when Frederick William II succeeded to the Prussian throne, for he resented French supremacy in Holland and the insults inflicted on his sister, the Princess of Orange; and in 1787 Turkey's declaration of war upon Russia meant that France would have to fight her Netherlands battle alone. Prussian troops entered Holland, and in 1788 Prussia, Great Britain, and Holland signed a defensive triple alliance This diplomatic defeat for France, which was greatly owing to her crumbling finances, was followed the next year by the Revolution, which seemed to destroy her for the time being as a great Power.

But this combination drew Pitt into deep waters Gustavus III of Sweden, despotic and mercenary and capricious, flung into the strife

to recapture the lands long lost to Russia, so that Britain had to damp down a Baltic war. It was more serious that Prussia tried to convert a defensive alliance into a scheme for changes of territory, which in effect meant that, at Turkey's ultimate expense, Poland would give Danzig and some more to Prussia But, security being Pitt's sole object, he had no wish to make an enemy of Russia, nor to profit by the Belgian revolution which Joseph's reforms caused in 1789; for a triumphant Belgian democracy might join Paris, and if defeated might cause a general war.

Early in 1790 he secured an ally for his aim of restoring the *status quo* when Joseph was succeeded by his more sensible brother, Leopold II. Their joint pressure was strong enough to make the Prussians hesitate, while a firm British stand induced Leopold to give the Belgian rebels decent terms One other event of this year raised British prestige. True to their old maxims of monopoly, the Spaniards had arrested British ships harbouring in Nootka Sound, Vancouver Island; both sides armed, and Spain appealed to the French National Assembly. The vigour of our armaments, and perhaps bribes in Paris, carried the day, Spain for the first time admitting our right of navigating the Pacific.

In 1791, however, British policy was seriously rebuffed. Suvoroff, Russia's general of genius, won decisive victories over the Turk. Prussia had backed us loyally over Nootka Sound, so that Pitt now supported their claim to Danzig, but the Poles would not hear of any concession, Prussia was therefore ready to sell Turkey, if Russia would support her Polish scheme. Moreover, Revolution was affecting all Europe Gustavus III made peace with Russia, preparatory to a crusade for monarchy, revolutionary decrees touching Imperial rights in Alsace, an army of French *émigrés* on the German frontier, appeals from his sister Marie Antoinette, all stimulated the Emperor to intervene; he could bury his ill-relations with Prussia and rid himself of Russian pressure by a pact for another partition of Poland.

When, therefore, advised by our over-sanguine ambassadors abroad, Pitt demanded that Russia should restore all conquests except the Crimea, and notably the fortress of Oczakoff between the Dniester and Bug, he found allies who protested, his Cabinet divided, and Parliament alarmed Opposition were particularly virulent, a visit from Fox's friend Adair convincing Catherine that England could not move, and Pitt had to retreat, losing Leeds his Foreign Minister in the process, whose successor Grenville was firm for neutrality. This retreat meant the doom of Poland, and perhaps a despotic alliance against France.

CONTEMPORARY DATES

1783	Peace of Versailles
	Russia seizes the Crimea
1784	Joseph II demands the opening of the Scheldt
1785	Mozart, *Marriage of Figaro*
	Paley, *Moral Philosophy*
1786	Death of Frederick the Great
	Burns' *Poems*
1787	Meeting of the Notables in France
	Impeachment of Hastings begins
1788	Triple alliance between Britain, Prussia, and Holland.
	Godoy's supremacy in Spain
	Russo-Austrian invasion of Turkey
	John Walter founds *The Times*
1789	Meeting of the Estates-General
	Rebellion in the Austrian Netherlands
	Washington President of the United States
	Blake, *Songs of Innocence*
1790	Joseph II succeeded by Leopold II
	Burke, *Reflections on the Revolution in France.*
	Goethe, *Faust*
1791	Death of Mirabeau, meeting of Legislative Assembly
	Declaration of Pillnitz
	Paine, *Rights of Man*
1792	France repulses the Allies, meeting of the Convention.
	Birth of Shelley

CHAPTER IV

REVOLUTION AND WAR, 1792–1801

EARLY in 1792 Pitt reduced taxes and cut down armaments, saying that Europe never had more reason to expect fifteen years of peace. He protested against the threat to Poland but, having burned his fingers once, felt no call to intervene, while for France he wished nothing better than liberal reform on the English model. So wrong was the judgment of Europe, and its ablest statesmen.

For the French revolutionary fires inflamed every neighbouring country, embroiled Britain in a twenty years' war, cut short Pitt's peaceful liberalism, and divided the country into two camps. By the time that war ended, Britain had scarcely avoided internal revolution, civil war in Ireland had compelled a Union at the expense of the Catholics, the speed of industrial revolution was redoubled, sufferings and passion raised a new democracy and made every institution tremble.

When the Bastille fell in July 1789, most Englishmen felt something of Fox's enthusiasm for this ' greatest and best event that has happened in the world ', and when the National Assembly went on to sweep away feudal rights, disestablish the Church, and put democracy in power, and made these changes in the name of the rights of man, all that was young and progressive rejoiced in this appeal to principles. Here seemed to be coming to life everything that reformers had dreamed of; these were ' golden hours ' in which the young poets, Wordsworth and Coleridge and Southey, found it ' bliss to be alive ', seeing rainbow visions of a new age which would restore righteousness to the earth. Older political societies, fresh from the centenary of 1688, blossomed again, while in every seat of liberal opinion and industry, London and Sheffield and Manchester, new clubs sprang up to demand reform and to acclaim France. But the bloody-minded Paris mobs, the looting of the châteaux, persecution of the Church, and arrival of penniless refugees alarmed conservative and religious England, causing in 1790 a decisive rejection of bills for parliamentary reform and repeal of Tests. This division in the nation involved the breaking of the Whig party, driven on by the very man who had remade it, Edmund Burke.

His life (1729–97) covered the changes which marked the difference between the eighteenth century and modern times and, having the largest mind ever given to politics in these islands, more than any other single man he produced and expounded them. His character was so

far below his genius that many thought him an adventurer, or a madman It was lamentable that he depended on borrowing to buy estates that he could not afford; or that, when he was legislating for India, he would be surrounded by kinsmen deep in Indian speculation, while it would have been better for the champion of America not to have been a paid agent of New York State. He swallowed whole Francis' malignant version of Warren Hastings, and both on that impeachment and in the Regency crisis his speeches were insanely violent. Towards the end, when his face, it is said, 'wore the look of one pursued by murderers', he became unable to escape from the image of his fears. Yet speeches, acts, and correspondence proclaim him the most informed monument of wisdom, the most benevolent of men Coming from Ireland to seek his fortune, he went on from journalism to be Rockingham's secretary and the brain of the revived Whig party; he died the high priest of resistance to revolution, the inspiration of a second party of Tories

Despite that contrast, however, he held a continuously consistent faith, that of the conservative moralist. His first discourse defended civil society against those who rhapsodized about a state of nature. His *Present Discontents* (1770) attacked the Bute system and glorified 1688 and British liberties, for the first time justifying party as an agency of freedom. His economic reforms of 1778–82 would amend the old fabric without touching its essence, for he steadfastly refused to hear of parliamentary reform, equal suffrage, or the right of electors to impose a mandate Just as his solution for America was local self-government, a return to the liberties which Englishmen had won for themselves, so he saw in Catholic emancipation the best hope of raising an Irish conservative aristocracy. In the first half of his career he defended the vested interest of the East India Company against what he viewed as State confiscation; in the second, against a corrupted Company, he conceived he was defending native rights and venerable religions, and if he was often feverish or misled, the needle of his mind pointed always to the same truths.

He found divine right in something larger than had the seventeenth century: in the whole order of nature, as disposed by God The State was not a material partnership of existing individuals, but 'a partnership in all perfection' between the living and the dead. Men had their liberties, but all liberties were inherited; politics were a moral art, not dealing with abstract rights on formulas deduced from experience or reason; not deriving right from mere human will but from more venerable, consecrated forces The 'little platoons' in which men really live, their village or church or shire; the affections of the hearth, the physical bonds of parent and child, husband and wife, which turn into spiritual ties; the prejudices which clothe the bare bones of reason, — property and aristocracy and all the organization in which

men prove their unequal diversity; all that time had sanctioned, everything that made for enjoyment, 'a liberty connected with order',— here was the God-sent scheme of things, a mysterious incorporation of the race, to be amended only with prudential care. 'Never did nature say one thing and wisdom say another'; no man, no revolution, had the right wantonly to tear to pieces this long-tested texture of society.

In this spirit Burke instantly denounced in his famous *Reflections* (1790) all the work of the Revolution, and in his *Appeal from the New to the Old Whigs* (1791) broke with its English defenders 'Fly from the French constitution', he cried to the Commons; yes, 'there is loss of friends', was his reply to Fox's tears. With much exaggerated praise of the old régime, much inaccuracy in detail, he nevertheless taught a doctrine with prophetic fire. It was 'a civil war' of principles, there could be no compromise with 'this strange nameless wild enthusiastic thing' at Paris, the Catholic peasants resisting in La Vendée were 'the Christian army' So till his death he preached a new crusade, spending his dying strength for the *émigrés*

Radical England replied to his attack on 'the swinish multitude' in scores of pamphlets, but soon adopted as its text-book Thomas Paine's *Rights of Man*, which sold in a cheap form by tens of thousands. As his American career had shown and his later life was to show again, Paine had not a rudiment of English feeling, nor was he a thinker But he dealt in good plain English some hard blows at Burke who, he said, had praised the French Court, ignored the people, pitied the plumage but forgot the dying bird, government was for the living and not the dead, and each generation had a right to alter it. In a second part of his book he declared for a republic, alliance with the democracies of France and America, and penal taxation of the rich

In 1791 this controversy passed into riots, at Birmingham the mob attacked a reform banquet, wrecked Dissenting chapels, and hunted the Radical philosopher Priestley out of the city. The Society for Constitutional Information, a survivor of the radicalism of 1780, was revived and, with the London Revolution Society, began to correspond with clubs in every part of France, early in 1792 the shoemaker Thomas Hardy founded the London Corresponding Society, on a subscription of a penny a week, embracing several thousand members in provincial branches, with a programme of universal suffrage Through these and through working-men's clubs, as at Sheffield, Norwich, and Dundee, Paine's writings and French propaganda descended to cottagers, weavers, and miners

This passion was brought to a height by the approach of war When Louis XVI in July 1791 fled from Paris to Varennes and was brought back a prisoner, the Girondins determined on war to save themselves,

and to end a monarchy accused of intrigue with foreign states After long hesitation the Emperor Leopold, just before he died in March 1792, took up their challenge; Prussia was ardent, and Russia anxious to divert her rivals from Poland. In April France declared war on the Empire

Invasion doomed the French King, volunteers flocked to save democracy, the mob was inflamed by Danton, and in September the Terror began with a massacre in the Paris prisons A Convention was summoned to make the republic, the French held the invader at Valmy (20th September) in the Argonne, and were welcomed by German revolutionaries into Mainz The Belgian revolution, suppressed by Leopold, flared up again and in November French troops, breaking the Austrians at Jemappes, entered Brussels Savoy and Nice were declared annexed, together with the Papal fief of Avignon.

This triumphant revolution and British radicalism joined hands Bonfires and tricolours in Britain greeted French victories, British addresses and deputies assured the French that Britain would never allow her armies to be used against them, Paine and Priestley were elected members of the Convention. Some reformers were prepared to follow the French model, and a Scottish Convention, after hearing an address from the newly founded society of ' United Irishmen ', took an oath to ' live free or die '.

Until November nothing budged Pitt, Grenville, and Dundas from their resolve to be neutral, which made them decline approaches from both France and her enemies. Declaring that England would remain the same ' till the day of judgement ', this very year Pitt helped Fox in the passage of his Libel Act, which would empower a jury to judge on the limits of political discussion. But increasing excitement, riots by both parties, especially in Scotland, and French armies in Belgium, compelled them to take precautions; a proclamation against seditious writings, some prosecutions, especially of Paine (though he had fled to France), an Aliens Act to control the thousands of exiles now in Britain, and a part-embodiment of the militia All these, which were supported by the mass of the Whigs although opposed by Fox, did not involve war, nor was it occasioned by the execution (21st January 1793) of Louis XVI It was decided by the actions of the French government

Their decrees of November and December 1792 offered assistance to all peoples wishing to recover their liberties, announced they would sweep away anti-revolutionary institutions wherever their armies went, and in virtue of the ' laws of nature ' declared open the navigation of the Scheldt and Meuse Such decrees, tearing up half a dozen treaties, would equally justify a seizure of Belgium and Savoy, the French plainly hoped their propaganda would crumple up our ally

Holland and counted on British democrats preventing intervention. Our ministers' warnings were plain; they encouraged no plan of meddling with the form of French government but insisted that France must withdraw her invading troops, ' without insulting other governments, without disturbing their tranquillity, without violating their rights '. France decided otherwise. On the 31st January, flinging down to the kings, in Danton's words, the head of a king as gage of battle, the Convention decreed Belgium united to France, and next day declared war on Britain and Holland.

This war, so unlike older wars, a war as Pitt said against ' armed opinions ', had annihilating effects on British politics Fox detested European kings only less than he did George III; he distrusted Pitt, loved the independence of the Whig party, and believed that France stood for liberty. But as most Whigs loathed French principles and felt with Pitt on the war, negotiations began for a coalition, first Wedderburn (now Lord Loughborough) joined Pitt as Chancellor, and in 1794 Portland, Windham, and Spencer entered the Cabinet, while Fitzwilliam became Lord-Lieutenant of Ireland. All the eloquence of Burke was behind them, most of them were more panic-stricken of revolution, and more anti-French, than the Tories. The lines of party hardened; while one side spoke of the ' rabble ', the other denounced ' tyrants ' and ' pensioners ', and for the first time a class war poisoned politics. In this atmosphere reform became tainted with revolution, and Windham's argument was accepted that we could not mend our house in the hurricane season. So Grey's motion on parliamentary reform was rejected in 1793 by an enormous majority, and despite Wilberforce, Fox, and Pitt, Parliament would not hear of abolishing the slave trade.

This panic was unreasonable, for the great mass of the people were anti-French, testifying to their loyalty in clubs and addresses and volunteer services. Yet the reformers must bear part of the responsibility, some continued to correspond with France after war broke out. If men feared civil war, it was most likely in Scotland, where parliamentary unrepresentation and economic suffering were at their worst The Scottish judges passed harsh sentences of transportation; and yet Muir, one of the victims, had stayed in the enemy capital of Paris and linked the Scottish movement to Irishmen who were planning a republic; his fellow-victim Palmer circulated a pamphlet condemning this war, as waged against the French ' merely because they would be free '. A second Edinburgh Convention was broken up after resolving it would reassemble secretly if Parliament forbade its meeting or suspended habeas corpus, London mass meetings pledged themselves to stop the landing of Hanoverian troops, and declared it right to resist oppressive laws by force. A few wild heads urged the use of arms, and in Sheffield they were making pikes. Such were the grounds which determined

government in 1794 to suspend habeas corpus, and to prosecute Hardy, Horne Tooke, and others for treason; of which the London juries decisively, and rightly, acquitted them. Bad harvests, high prices, conscription under the militia ballot, brought more strain, and in 1795 mobs crying 'bread and no war', 'no royalty, no Pitt', stoned the King. Huge majorities therefore passed the two 'gagging' bills, one against treasonable practices, and the other a seditious meetings Act, by which meetings of over fifty persons could not assemble without the leave and presence of a magistrate. This severe repression, and the social machinery of magistrates, property-owners, and innkeepers, drove the societies underground; though two other factors much assisted their decline. The first was the resistance of the Churches to atheism and the 'reign of reason'; the second was the transformation of the Revolution itself, first into the Terror and, after 1797, into a military despotism over other nations. This it was which sickened idealists of the crimes done in the name of liberty.

All these years it was a grim disastrous struggle in which, organized by the great Carnot and led by soldiers of genius, the French outmatched the Allies The Prussians speedily withdrew most of their forces to Poland, and in April 1795 (treaty of Basel) made peace, abandoning everything west of the Rhine. Before that date the Austrians were thrust out of Alsace and Belgium; the Duke of York's army was first ejected from Dunkirk (1793), then out of Flanders, and finally driven back to the border of Hanover (1794), while the French occupied Holland. British efforts to help the French royalists fared no better Toulon welcomed Hood and a British fleet, but our Bourbon allies Spain and Naples were inefficient, Austrian reinforcements did not materialize, and before 1793 ended the French recaptured the port Another chance of driving a wedge into France was afforded by the anti-revolutionary movement in Brittany and La Vendée, just south of the Loire, which Burke and Windham urged with all their might. But the *émigrés*, princes, and local leaders were bitterly divided, La Vendée was beaten in 1793 before British troops could be collected, and an expedition to Quiberon in 1795 was a fiasco.

Grave faults marked the British conduct of war. As usual, the army had been rashly cut down and was short of equipment; raw recruits were hastily raised, on no adequate system, in a mass of new units, and the liberty to pay for a substitute ruined the militia ballot. York was a hard-working courageous prince, but inexperienced and unintelligent, while Pitt's brother Chatham at the Admiralty had no enterprise A better control began in 1794 with the Coalition Relieved of Home Office work by Portland, Dundas became Secretary for War and the Colonies, while two good administrators, Spencer and Cornwallis, respectively took over Admiralty and Ordnance, and on

Pitt's insistence York was brought home to be commander-in-chief, where his zeal for the soldiers' welfare made him a useful public servant. But changes of personnel could not compensate for mistakes of policy.

There were four fields of war open, — Flanders, western France, the Mediterranean, and a war by sea, — with something to be said for each, but nothing for scattering our forces among them all. The strongest men in the Cabinet disagreed, for while Grenville thought most of the balance of power, Dundas cared passionately about India and colonial power, Pitt also leaning to that side through his interest in trade To fight in Europe by subsidizing our allies had been his father's policy, moreover all of them, convinced that France could not endure a long war, thought much of winning bargaining counters towards making the peace. There were other inducements to concentrate on the sea and colonial side. When Holland fell to France the Prince of Orange took refuge in England, and action must be taken if the Dutch Empire was not to assist the enemy and their intrigues with Tippu in Mysore Hence came about in 1795 the successful expeditions to seize the Cape and Ceylon.

But the chief strain came from the West Indies, where revolutionary propaganda had excited the negroes, especially in Haiti, the French half of San Domingo, whose trade exceeded that of all the British islands rolled together; the West Indies, too, would deprive France of much raw material and were the strategic key to the Atlantic In answer to appeals from the French planters British forces in 1794 occupied the ports of Haiti and soon held all the French islands, except Guadeloupe; on the 'glorious first of June' Howe intercepted a convoy 300 miles west of Brest and destroyed a quarter of its fighting strength.

Yet these ventures drained away the forces which might have brought decision in Europe, a deadly climate and disease costing 40,000 British lives within three years, while refusal to settle the question of slavery spread negro revolt In 1798 Haiti was evacuated, though not before it had contributed to a break with Spain.

This was a serious disaster, when Flanders was abandoned, it was all the more vital to curb France from the Mediterranean with the aid of Spain, Naples, and Sardinia But the Spaniards were irritated by our seizure of Haiti, and of Corsica in 1794, while the favourite Godoy, who ruled its wretched sovereigns, was tempted by French offers of spoils in Portugal. Spanish peace with France in 1795 exposed Sardinia to the hammer-blow with which Bonaparte knocked her out of the war in 1796; his Italian victories brought Spain right over to the French side, together with the British evacuation of the Mediterranean Except for Austria, who was fighting a losing battle in Italy, Britain stood alone On the ocean circumference, it is true, our power was supreme. Pondicherry and French India had fallen, during 1796–7 General Abercromby

captured St Lucia and practically all the remaining West Indies, Spanish Trinidad, and Dutch Demerara But France held all Europe from Holland to Rome.

The years 1797–8, the crisis of the first half of the war, make a point of departure for a change in its character Invasion threatened us from all the harbours of the Low Countries, France, and Spain. Advised by Irish refugees, in December 1796 the French sent off Hoche with 16,000 men, who eluded our fleet, but mercifully a month of storms broke the expedition to fragments, so that the ships which reached Bantry Bay could not land their troops In February 1797 Jervis and Nelson off Cape St. Vincent, near Cadiz, crushed the Spanish fleet, which was to make the second horn of invasion

War subjected the country to terrible strains Bad harvests and the loss of the Baltic market raised wheat to famine rates, 108s a quarter in 1795 and a few years later sometimes 120s, while prices in general had risen by about 100 per cent. Rapid enclosure of land, large migrations into the cotton and iron areas, were dislocating the old small-scale England. Besides minor remedies, such as bounties on imported grain or encouraging the people to eat non-wheaten bread, Parliament passed an important Act, nicknamed from the 'Speenhamland' magistrates in Berkshire who, like others, extended what had long been an occasional practice, of raising wages by payments from the rates. If this measure perhaps averted revolution, it was at the price of doubling the poor rate and debasing the people's morale

By this time Pitt had raised £100 millions in war loans, but invasion scares caused panic, much gold had gone abroad, country banks were breaking, and Bank of England reserves were dangerously low. In 1797 the Bank was consequently authorized to refuse cash payments for sums over £1, and a period of paper money began which was to last till 1819. Various patriotic loans showed there was money to spare, but there was not yet any proper machinery for direct taxes, and a great deal of evasion. The reforms of 1797–8, however, firmly redistributed the burden. Pitt trebled the assessed taxes, made permanent (with an option of redemption) the land-tax at 4s in the £1, and introduced an income-tax, beginning on incomes from £60 upwards and rising to 2s. on those of £200 or more.

Poverty also partly caused the most deadly danger of 1797, the naval mutinies which brought Consols down with a run to 48 and exposed us to the enemy; yet not poverty only, for the treatment of the Navy was a national disgrace. Regularly reducing the crews in peace-time, Parliament recruited them in war by the press-gang, or by emptying the gaols Able seamen's pay of 22s 6d a month had not been increased since Charles II's reign, while even this pittance was withheld until a ship was paid off, leaving wives and children to starve meantime, rations

were bad and fraudulently administered, every ordinary liberty like shore-leave was almost non-existent. As private petitions were ignored, in April the squadron at Spithead put into action a deliberate plan, refused to put to sea, made many officers prisoner, and appointed delegates to negotiate. When their chief demands were met through the agency of their favourite admiral 'black Dick' Howe, this squadron, which behaved with steady moderation, returned to duty.

But the excitement, influenced by some London supporters, carried away the squadron at the Nore, led by an ex-officer and natural rebel in Richard Parker; their manifestos spoke much of the age of reason and notions of fraternity, to which a large Irish element in their ranks probably contributed. This was a fearful danger, for they were joined by nearly the whole North Sea fleet based upon Yarmouth, so that Duncan was left off the Texel with only two ships to resist invasion; it was not improved by Fox and Grey choosing this moment to move for household suffrage and, when heavily beaten, to announce their secession from Parliament. But the redress of grievances, stern measures, the swing of public opinion against them, rallied nine-tenths of the sailors, and in October Duncan led them to crush the Dutch at Camperdown. Only a small remnant, after sinking to pillage and terrorization, fled to France, while Parker and a score of others paid the penalty with their lives.

This almost coincided with the final breakdown of Pitt's efforts for peace, which he had pursued since 1795. After the Thermidorian reaction and the failure of the *émigrés*, there seemed more hope of making terms with a stable French government, which the collapse of Prussia, the enmity of Spain, the defeat of Austria, and the strain on our finances made doubly urgent. The Directory curtly rejected our first proposals, but by 1797 we were prepared to yield more. For Catherine of Russia died and was succeeded by the madman Paul, on whom no dependence could be put, and all our efforts failed to patch up the feud between Prussia and Austria, the last of whom surrendered to Bonaparte in the peace of Campo Formio, sacrificing everything west of the Rhine in return for a share in the spoils of Venice.

This compact, made in defiance of our protest, drove Pitt to open a separate treaty, offering to surrender all conquests except the Cape and Trinidad, and to leave the French in possession of Belgium, Luxembourg, and Savoy. But the ambitions of Bonaparte and the Jacobin lust for power swept away the peace-party in the *coup d'état* of Fructidor (September 1797); our ambassador Malmesbury being ordered out of Lille if we would not yield every single conquest. This was the turning-point, signifying that the Directory meant to despoil Italy and surrender to Bonaparte. In 1798 the French invaded Rome, imprisoned the Pope, and killed a last democratic illusion by extinguishing the freedom of Switzerland, postponing the invasion of England as

impossible without naval supremacy, at midsummer Bonaparte seized Malta and proceeded to Egypt This brought about a vital English decision, to re-enter the Mediterranean After twice missing Bonaparte, on 1st August Nelson blockaded him in Egypt, annihilating his fleet amid the sandbanks at the Battle of the Nile. Under cover of our victory the over-confident King of Naples marched on Rome, while one of our best soldiers, Sir Charles Stuart, skilfully occupied Minorca

So began the war of the second Coalition Austria, repentant and disillusioned, raised new armies with English money, and pushed the French back to the Rhine. The Czar Paul, who looked on the Middle East as his own preserve, did the same and his great soldier Suvoroff swept the enemy out of Italy Driven back once upon Sicily, the Bourbon government soon returned to Naples, Nelson's great name helping to cover its barbarity to rebels. But these hopes swiftly faded Russia, like others, found out the pure selfishness of the Austrians, who let Suvoroff exhaust himself in hard Alpine fighting, while they schemed to outweigh Prussia and seize Piedmont for themselves. All pretence of co-operation broke down, an Anglo-Russian expedition to Holland hopelessly failed, for a supposed Orange revival never arrived, the Duke of York was once more an unhappy commander, and by the Convention of Alkmaar agreed to evacuate our army.

This year of ups and downs of 1799 ended in October with Bonaparte's return from Egypt, in December with the revolution of Brumaire which made him Consul, and with his approach to Britain with an offer of peace. Disbelieving in the duration of his power, seeing one French army locked up in Genoa and another in Egypt, and building on unity with Austria, our Cabinet rejected it, not without reason, but not also without making the mistake of replying that the best guarantee of peace would be a Bourbon restoration To the intrinsic power of Bonaparte and the recovery of French morale our Foreign Office were blind, depending too much on dreams of Royalist risings or on Austria, which cared nothing for our two main points of a strong Belgium and a French restoration Our miscalculations were exposed in the great French victories of 1800; Marengo, where Bonaparte crushed the Italian group of Austrian armies, and Hohenlinden, which opened the road to Vienna By the treaty of Lunéville (February 1801) Austria fell out of the war, leaving Germany to be rearranged by the conqueror, who was further fortified by vassals in the Cisalpine, Ligurian, Helvetian, and Batavian republics Meanwhile the Czar Paul was equally infuriated by Austrian claims in Italy, the fiasco in Holland, and our hesitation on the future of Malta. Drawing nearer to Prussia he prepared to play a waiting game, to explore the possibility of partitioning the East with France, and set up a new League of the North to resist the British blockade of Europe

Through these darkest years Pitt kept the vessel of State head on to the storm. In spite of misfortune and misjudgment his position at home was never greater, reinforced by the election of 1796 and the following of young men, Canning, Castlereagh, Perceval, and Huskisson, who were to succeed him. The monstrous oppression of the Swiss and Italians had converted most British democrats, but a dangerous sediment remained; 'United Englishmen', relics of the Corresponding society, were found in contact with those in France and Ireland who planned an invasion. New measures of 1799 therefore suppressed certain societies by name, and habeas corpus was again suspended, under cover of which democrats were arrested and imprisoned without trial. Political fears as well as economic doctrine brought about the same year an Act against 'combinations' or trade unions. Party took on almost the fierceness of civil war. Pitt accused the Whig Tierney of obstructing the public service and fought him with pistols in a duel near Putney Common; while, for toasting the 'sovereignty of the people' at a public banquet, Fox was struck off the Privy Council.

Now that the Revolution was revealed as merciless to other nations' liberties, anti-revolutionary feeling brushed aside those who, like Wilberforce, aspired to peace. There was a warlike cheap press led by a great journalist in William Cobbett, and in 1798 Canning and his friends began to issue the *Anti-Jacobin*, full of wit and fire and fury against cosmopolitan philanthropists or a defeatist peace, and passionate in defence of Britain, 'this little body with a mighty heart'. Year in, year out Pitt's speeches rang the changes on the peril of reform which might endanger all, on the 'union of liberty and law' in happy Britain 'the temperate zone' of political States, the destructiveness of abstract formulas, or 'the virtues of adversity endured and adversity resisted'.

Of their fortitude they had sore need, for Europe had collapsed. Our military effort during 1800 evaporated in unsuccessful expeditions on the whole sea-front from Brittany to the Riviera, and the Austrians had reason for their complaint that we did nothing from Minorca or Sicily to cut the French communications. The Cabinet was tired and torn, Dundas and Grenville leading rival camps, and its members differed as to the terms of peace, the King and Grenville, Windham and Portland, heading a group for no compromise. Yet extraordinary triumphs showed that in her proper element Britain was invincible. Wellesley broke the power of Mysore, Tippu himself falling in the storm of Seringapatam, and carried British territory from sea to sea; Malta fell to us in August 1800; early in 1801 Ralph Abercromby lost his life but gained the day at Aboukir, which forced a French surrender of Egypt. Exhausted by his frenzies, his own courtiers murdered the Czar Paul, whose son Alexander I leaned to neutrality,

and in April the Northern league, which was becoming a French instrument to destroy the Baltic supplies on which our Navy's very life depended, was wiped out by Nelson's triumph at Copenhagen Threading his way through narrow fortified waters and putting the telescope to his blind eye when his commander-in-chief signalled retreat, he placed the Danish fleet between his own and the shore batteries, and part-forced, part-persuaded, the Danes to capitulate.

Before these successes were complete the Pitt ministry had fallen, mortally wounded in the Achilles heel of British government since the Tudors — Ireland.

The Irish Problem, 1782–1801

Nothing fundamental was changed by the storm of 1778–82, either by the reforms extracted from the North and Rockingham governments, or by Grattan's Parliament which followed True, some of the penal code both in religion and commerce disappeared, the Test Act of 1704 was withdrawn so far as Protestant Dissenters were concerned, while the repeal of Poynings' law, with the acknowledgment that Irish Parliament and courts had a final authority, left Ireland in name a free dominion under the Crown. These changes, however, which left a void in the Anglo-Irish connection, healed neither the recent fever nor the old-standing disease

English rule since 1650 had cruelly restricted Irish prosperity and deprived two-thirds of Irishmen of all reasonable life. The country was forbidden to export her natural products of live cattle, butter, and woollens, and cut off from direct trade with the Colonies. And what economic jealousy began, was fulfilled by religious hatred Such Catholics as had not been evicted, by conquest or plantations, were prevented by law from buying land, holding long leases, or making a will, from becoming freemen of a corporation, owning a horse worth over £5, and bearing arms; they were excluded from the vote, the Bar, the magistracy, the university, and not allowed to keep a school. English law poisoned life at its very source; by providing, for instance, that an eldest son who turned Protestant should inherit the whole estate, by making mixed marriages illegal, and setting up the Charter schools, which would indeed educate children and save them from famine but only on condition they became Protestant and never saw their parents

From this evil proceeded the demoralization of a whole people. With no legal or free outlet in either industry or commerce, Irishmen could not save capital. Catholic landlords let their estates down to pasture as the cheapest way out, lived by exporting meat or a little wool, and cleared off all the inhabitants they could, large absentee

English owners took the better part of a million in rents farmed through middlemen. Driven back upon small plots in the mountains and without any security of tenure, the small farmers and peasants drove up rack-rents by their competition. But they had no motive to make improvements, and no money to grow much except potatoes; when that crop failed, famine caused hundreds of deaths from starvation. Yet since their standard of living was abject, and their religion very real, they multiplied exceedingly, a population of some two million in 1700 having more than doubled a hundred years later.

This community of beggars were crushed by rents, tithe to Anglican parsons and dues to Catholic priests, and every affection inspired them against the law. Their heroes were the minstrels, often blinded by the smoke which never escaped from their hovels, highwaymen and smugglers, the ' wild geese ' or fighting-men in exile who served in the armies of France and Spain, or the masked secret bands of ' White Boys ' and others, who houghed cattle and burned houses in protest against rent, tithe, and enclosure.

Ulster was better off, if only because it was Protestant, and because their coarse linens were encouraged by English law, and their tenant-right permitted improvement of the soil. But they too had bitter grievances, being excluded from all offices and Parliament till 1780 and downtrodden in their civic life, so that evictions, subletting, and trade laws set up a tide of emigration to America.

Though the ' ascendancy ' was, as it had been in the middle ages, a foreign garrison, it was itself subordinate to the supreme command. Not only was the Irish Parliament tied hand and foot, but Ireland had none of the standard British liberties, no habeas corpus and no mutiny Act, judges only held at pleasure and, till the Octennial Act of 1768, Parliament sat for a whole reign. Some two-thirds of the Commons represented small boroughs, absolutely controlled by about a hundred landowners, while a third were placemen or government pensioners. The pension list rose to over £80,000 a year and most of the revenue was fixed in perpetuity, independent of a parliamentary vote; in Britain's interest Ireland paid for an army of 12,000 men. Twenty-two bishops, almost invariably Englishmen, took a great income, though some 800 Anglican clergy, usually very badly paid, ministered in churches, often in ruinous condition, to a mere fraction of the population.

As of old, this alien rule had raised an ' Irish interest ' among both races and all creeds. In 1698 a famous book by Molyneux, member for Dublin University, claimed that Ireland should either be given her old liberties or equal rights in a Union. This agitation of Irish Whigs was brought to a head in 1722 by the greatest of Irish Tories, when Swift in his *Drapier's Letters* pronounced that this ' government with-

out the consent of the governed is the very definition of slavery '. The scandal which he attacked was the flagrant case of ' Wood's halfpence ', a job perpetrated for the royal mistress the Duchess of Kendal, foisting a superfluous copper coinage on Ireland at an extortionate rate. The great dean compelled its withdrawal and from this time on constitutional opposition grew continuously, while the Protestant bias of 1688 had much declined. The aristocracy and ' undertakers ' who controlled so many seats, Boyles, Ponsonbys, or Beresfords, were self-seeking enough, but not ready to follow blindly the English archbishops who usually directed the Castle interest Between 1750–70 it became impossible to stop the Commons agitation for more power over money bills, shorter Parliaments, and more appointments for Irishmen, an agitation in which the later leaders Grattan and Flood served their apprenticeship A greater prosperity, seen in an increase of tillage, fanned this spirit of liberty Magnificent building in Dublin and country houses, an active press, a powerful Irish bar, the many Irishmen of genius like Burke and Goldsmith shining in British life, all testified to a new national spirit.

Nothing, however, so swiftly advanced Irish feeling as the American war; a strain, because loss of markets meant economic distress, — an opportunity, since England had to withdraw her garrison, — and a battle-cry, when Ireland saw America winning only what she asked for herself. Ulster was specially determined, from parliamentary families like that of the young Castlereagh down to Presbyterian yeomen, and as government had no funds to pay a militia, it was impossible to refuse the service of those ready to defend Ireland against French armies and American privateers Under Protestant leaders like Charlemont all Ireland drew together in the volunteer movement, nearly 80,000 in number, who demanded a freer government and freer trade, while the Protestant Grattan called for emancipation of the Catholics This irresistible force and a boycott of British goods drove government, despite angry mercantile opposition, from the petty concessions of 1778 to the great ones of 1780–83, by the end of which time Britain had renounced its legislative supremacy, flung open the colonial trade, and admitted many Irish goods to her market. That this change was brought about so rapidly and in peace was greatly owing to the broad loyalties of Grattan and Shelburne's liberal wisdom

But the problem of six hundred years and the crimes of the last two centuries could not be so lightly liquidated, and great questions remained The American example and the volunteers roused a clamour for parliamentary reform Again, though Catholics had lately been allowed to buy land and to keep schools, and their priests were freed from many restrictions, a cry had risen for full emancipation. Both of these were conditioned by a third problem, the ownership of the land.

Finally, whatever shape Ireland itself might take, no English statesman believed that its legal relation to Britain could be left as it was; some treaty or union must end this dangerous uncertainty, whereby two independent parliaments might take contradictory decisions.

The next stage from 1783–9 was disastrous. We have seen that Pitt, postponing the large questions of union, emancipation, and reform, which must rekindle every passion, tried to unite the two peoples in trade and defence; his commercial propositions of 1785 thus planning a scheme of low tariffs in return for a permanent Irish contribution to the Navy. They were defeated by British industrial interests and Irish indignation against a money tribute, on each of which motives in turn the Whig Opposition played. The same jealousy, and the same evil effect of party, was seen in the Regency crisis of 1788, when the Irish Parliament followed Fox and the Prince of Wales. Indeed, as all history before and after proved, Ireland could not continue half slave and half free, or a sovereign Parliament co-exist with an irresponsible foreign executive The Castle could only get its way by corruption, and successive Lords-Lieutenant taught rival Irish groups to look to rival British parties. Meantime the internal situation went backwards. While agrarian war and riot continued, secret societies began to form on religious lines, Protestant 'Peep-of-day' boys against Catholic 'Defenders'.

Then the French revolution blew every spark into flame; a republican movement swept the north, and, since the rights of property reopened the whole ownership of the soil, the Catholics demanded emancipation. A young Protestant lawyer, Wolfe Tone, sympathizing with their claim and disappointed in his hopes of a career under government, in 1791 founded the Society of United Irishmen; nominally to force through reform of Parliament, but in fact to work for independence. By 1792 it had made contact with British democratic societies and the French Convention, simultaneously an aristocratic Catholic committee, much inspired by Burke, petitioned the Crown

Both Pitt and Dundas were convinced that emancipation could not indefinitely be refused, though they would prefer to postpone it till war was over, and, again, it bore directly on the question of union which they had now decided was essential, if only for security against France. Their Irish officials told them that emancipation could not safely be given in an Irish Parliament, where it would unite the democrats of both religions in favour of reforms which would destroy Castle influence and obstruct union. They therefore played for time, and compromised. They gave Ireland some real benefits, a share in the East India trade and a libel Act on the English model. But the concessions which they forced on the unwilling Irish government in 1793 did not touch the

rotten boroughs, though they reduced the civil list and excluded placemen, and though seats in Parliament and offices were denied, the Catholic forty-shilling freeholders received the vote. In the same way, while they did not proceed with a scheme of State payment to the Catholic priests, they subsidized the foundation of a seminary at Maynooth.

In the throes of a desperate war their burdens were enormous, but the Cabinet procrastinated, because it was divided, and such half-measures only increased their difficulties. Westmorland, their Lord-Lieutenant, assured them that without Protestant supremacy Ireland would be lost, Irish Protestant officials, led by the most resolute of men, the Chancellor Fitzgibbon, later Lord Clare, resisted a reform which would destroy their supremacy. On the other hand, no Catholic would be content with the vote if unaccompanied by seats and office, while the half measure simply made a more corrupt electorate without admitting the conservative Catholic aristocracy to power.

Revolution and war, thus mingling together elements of quite separate origin, wholly demolished the position of loyal Whigs like Grattan The United Irishmen, founded by Protestants, made their first converts almost entirely among the middle class and Dissenters of Dublin and Ulster, who were angered by denial of reform and fervent for the Revolution. Ulster was hot against the war and deeply infected by Paine's teaching, Belfast commemorated the fall of the Bastille, parading portraits of Lafayette and Franklin But this political movement co-existed with something more native and more dangerous. Perennial agrarian war, of a peasantry on the margin of starvation, flared up again from the late 'eighties, Catholic 'Defenders' began to drill by night and seize arms, Protestants armed against them, and from Armagh lawlessness spread southwards. High prices and a driving-up of rents turned these troubles to extremes, and the United Irishmen's principles overspread every local feud of land and religion.

Till 1795 there was a bare chance that England might keep the sympathies of the Catholic Church and aristocracy, the United Irishmen of Dublin were broken up, and Tone, morally weakened by a confession, joined others in exile in America But this chance was destroyed by party politics. The Whigs who joined Pitt in 1794 being bent on alliance with Grattan, their representative the new Lord-Lieutenant Fitzwilliam plunged into a reversal of policy, for within a month of his landing he dismissed the leading Protestant officials and encouraged the introduction of a Catholic emancipation bill. This breach of a Cabinet understanding led to his recall which, for the peace of Ireland, proved a major disaster. Fitzgibbon and his friends in England convinced the King that emancipation would violate his coronation oath, and Pitt's circle decided it would be unsafe apart from a union While disappointed Catholics threw themselves into conspiracy, Protestants

drew together in a solid block, survivors of the volunteer movement and farmers of Armagh founding in 1795 the Orange Order Faced with Irish racialism and a new Catholic electorate, the northern Whigs reverted to their origins, of Protestantism as the bond of union with Britain and the badge of their own supremacy; Ulstermen poured into the newly raised yeomanry, turning it into an instrument of terror, and under their threats several thousand Catholics took flight to the west.

If this Protestant crusade swelled the United Irishmen's ranks, it was a still graver matter that government in self-defence felt bound to endorse what the Orangemen had been doing An indemnity bill covered their stretches of the law, while the insurrection Act of 1796 empowered government to ' proclaim ' certain districts, apply a curfew, search houses by night, and ship the accused, without trial, to serve in the navy. In 1797 martial law and disarming, boycott and house-burning, crowds assembling on the pretext of funerals or potato-planting, orange cockades against green ribbons, marked an anarchy which spread south into civil war. Tone had returned from America to France, to inspire Hoche's unsuccessful expedition, while Lord Edward Fitzgerald and Arthur O'Connor negotiated at Hamburg with French agents.

Early in 1798 the Rebellion at last broke out, forced into the open by the severity of disarming and demoralized by the arrest of its leaders. O'Connor was caught on his way to France, the Leinster committee were taken in one swoop, Fitzgerald was given away by an informer, to die of wounds received in a desperate resistance. In May the rank and file rose, without hope or concert. No French assistance as yet reached them, the scheme to seize Dublin was betrayed, Ulster and Connaught hardly moved, so that rebellion was, in fact, almost limited to Leinster and Wexford. Though the fiercest leaders were often priests, the leading Catholic prelates and gentry were against it, and it was not so much a war of religion as an outburst of fanaticism and despair Many enlisted believing that the Orangemen meant to wipe out all Catholics, many more were goaded on by martial law, burning of their homes, or floggings to force a surrender of arms; and many by hope of loot It soon degenerated into mob-law and massacre by half-armed peasants, whom any good troops could destroy, and in June the centre of resistance in the south was broken at Vinegar Hill. It was only in August that a thousand French troops under Humbert reached Killala Bay in Mayo and, though their bayonet charges routed the militia at Castlebar, within a month they were forced to surrender. A larger French force which sailed into Lough Swilly in October was dispersed, among those captured being Wolfe Tone, who was sentenced to death by court-martial but died of self-inflicted wounds.

At the height of rebellion Cornwallis arrived as Lord-Lieutenant and commander-in-chief, a man proved by his Indian record as one of lenient and judicial mind, his chief secretary was Castlereagh, by origin an Irish reformer of Grattan's school They found a country black with burned houses and ruined towns, and loaded with debt At least 12,000 rebels had been killed in action, and many executed or exiled. Army discipline was almost destroyed, the militia perpetuated hatred, and the ruling class cried out against mercy.

Already the Cabinet had decided that only Union could offer a remedy, or save Ireland from invasion Like Shelburne before him, Pitt had always realized that the settlement of 1782 could not be final, the Regency crisis had driven this lesson home, the war clinched it, and he believed that only English wealth could heal the ills of Ireland. British politicians were emphatic that it was impossible to go on if their policy, even their military arrangements, were subject to Irish Protestant officials, who were not responsible in any real sense to either Parliament Such considerations carried the Union proposals at Westminster with ease, but at Dublin the case was badly prepared, and on a first attempt in 1799 the measure was defeated

The great bulk of Protestant Ireland were now hot against it, for political consciousness had found itself since the American war; Dublin was a capital with a brilliant society; Ulster, fresh from victory in battle, wished to keep its supremacy. But if Protestant Ireland proved unwilling, Union could only be carried by conciliating the Catholics; Pitt and Dundas, as well as Cornwallis and Castlereagh, were convinced that emancipation must make part of the settlement, for the bulk of the Catholic upper class would support Union as the best means to win their own objects. Yet against emancipation the Irish Parliament, and even officials like Clare who, on other grounds, would support Union, would fight to the last, the King's scruples were notorious, and Protestant panic was already heard in Pitt's party It was therefore determined to work at present for Union alone, at the same time assuring the Catholics of government's good intentions; emancipation, Pitt and his advisers were agreed, could only safely be attempted in a united Parliament.

Stunned by suppression and in dire poverty, the masses showed little passion either way, but 45,000 troops were none too many to keep order and at the least rumour of a French fleet the old disorders revived Among the political classes Union slowly made some ground. The Catholic prelates were particularly solid, agreeing with Castlereagh that, if the State paid the priesthood, it might have a veto on the appointment of bishops. Most of Catholic Munster, especially Cork with its hopes for an enlarged trade, was with them, even many United Irishmen preferred Union to their old Parliament Among the Protestants

the Orange order was divided, but the Ulster linen merchants were generally favourable Dublin, however, was irreconcilable, whether the Protestant stronghold of Trinity College or the Catholics in business and the professions, among whom a young Daniel O'Connell now first raised an eloquent voice. The immediate task was to retrieve the first defeat in Parliament, and to this the whole weight of government was turned. There were enemies who argued that Union would mean higher taxation, an increase of absenteeism, a deeper gulf between owners and tenants, and borough-owners who would not part with their power But in this narrow self-elected body a majority could probably be won, by the corruption the Castle had always used.

When Union again came before the Dublin Parliament in February 1800, it was found that government had secured a majority of nearly fifty in the Commons. A new article that the Irish Anglican Church should be established ' for ever ' conciliated one vested interest Two notable concessions won over many politicians ; the number of county seats was not to be reduced, and owners of a two-member borough, if totally disfranchised, would receive a compensation of £15,000. But the majority was made safe by coarser means. A good deal was spent on bribing the press, while in its struggle against the Opposition campaign fund the government triumphed because it was the fountain of honour. Nearly forty creations or promotions being promised in the peerage, many patrons willingly replaced opponents of Union by Union supporters

In August the Act received the royal assent. Making the two kingdoms one in regard to the royal standard, the great seal, and succession to the throne, it provided that Ireland should be represented in the Imperial Parliament by 4 lords spiritual, 28 lords temporal elected for life by their peers, and 100 commoners, of whom two-thirds would sit for counties. The royal prerogative would be restricted, so that the Irish peerage would gradually be reduced to a maximum of 100, though Irish peers could sit in the Commons. The Act also safeguarded Ireland against economic shock during the transition For twenty years the two systems of debt and taxation would be kept separate, Ireland meanwhile contributing to Imperial expenses in the proportion of 2 to 15, free trade was established as the principle, but for a term of years some important Irish industries, woollens and cottons in particular, were to be protected against English competition

Within a month of the Union the Cabinet were discussing a measure to complete it and to fulfil their moral obligations Catholics and other Dissenters should be admitted both to Parliament and office on taking an amended oath of allegiance, their priests and ministers should receive some State aid, and the tithe system should be revised. Loughborough

the Chancellor betrayed this to the King, who fell into his old frenzy about his coronation oath, intriguers for office like Auckland exploited it, the archbishops were busy too, Protestant agitation and the royal wishes swept away Portland, the Jenkinsons, and the weaker men in Cabinet. Pitt was ready to give the King time for reflection, though only if he preserved neutrality in public, and on that condition to stay in office till the question of peace or war were settled; but he demanded 'a full latitude on the principle', and no reduction of his power as 'the minister'. Two criticisms of his action were made at the time, and have often been repeated. Why, it was asked, had he not done more to overcome the King's scruples, of which all were aware? In part, it must be answered, because he was himself on the verge of a breakdown, and again, that till the new year he hoped to carry with him a substantially united Cabinet. But why, Cornwallis then and posterity since have asked, did he offer resignation instead of persisting? For he had with him the strongest men, both Whigs and Tories — Grenville and Dundas, Spencer and Windham, Canning and Castlereagh. Against this must be set the principle, on which all his life he stood firm, that ministers were the King's choice; a growing certainty of opposition and probable defeat in the Lords; his Cabinet divided, and his party too, lastly, at the crisis of the war, the possibility of the King being driven back on the Whigs, and so to an unsatisfactory surrender to France. Whatever the value of this reasoning, its effect made it easy for George III to accept Pitt's resignation and appoint Speaker Addington as Prime Minister.

So ended Pitt's government, and so ended also the last hope of a just settlement in Ireland which was left, as Castlereagh said, to a continuance on the garrison principle. For even now George III had not filled the cup. In February 1801, immediately on the change of government, he again became mad, his death was feared, and rather than cause this or a regency, Pitt impulsively promised not to revive emancipation during the King's lifetime. That being so, many of his followers, Dundas and Canning particularly, urged that he should return to office. But the King had found in Addington a man after his own heart, and a man who enjoyed power, while Pitt would not put pressure on them nor court an accusation that he had betrayed the Catholics.

Addington's Cabinet consisted of the 'Protestants' in the old government, led by Portland, reinforced by a few able men on their promotion, the Chancellor Eldon and Perceval, and some mediocre friends of Addington such as Vansittart. This most weak government had now to decide whether to continue war or make an inconclusive peace, in the face, Grenville wrote, of 'that despicable weakness which drives the powers of the Continent, from motives of fear alone, into the arms of France'.

CONTEMPORARY DATES

1793 Beginning of the great war
Second partition of Poland
Invention of Whitney's cotton-gin
1794 Execution of Danton, and then of Robespierre.
Toussaint l'Ouverture rouses Haiti
1795 Peace of Basel
Third partition of Poland
The Speemhamland Act of Parliament
Birth of Keats and Thomas Carlyle
1796 Bonaparte in Italy
Goya painting in Spain
Jenner introduces vaccination.
1797 Peace of Campo Formio
Death of Burke
1798 Bonaparte in Egypt
Malthus, *Essay on Population*
Wordsworth and Coleridge, *Lyrical Ballads*
1799 Suvoroff and Nelson in Italy
Tippu killed at Mysore
Brumaire
Banks and Davy at the Royal Institution
1800 Battles of Marengo and Hohenlinden
Jefferson President of the United States
Beethoven, First Symphony
1801 Peace of Lunéville.
Concordat between France and the Papacy
The first census in Britain
–1825 Reign of the Czar Alexander I

CHAPTER V

THE STRUGGLE FOR NATIONAL EXISTENCE
1801–1815

When Addington finally settled in office in March 1801, the war had become a deadlock, leaving France mistress of the land and Britain of the sea. Yet though Austria seemed annihilated and Prussia was merely bargaining for compensations, the revolution which swept away the Czar Paul demolished Napoleon's hope of an accomplice in Russia, with which, and with Nelson's victory at Copenhagen, vanished his chance of closing the north to our shipping. At the same time the French surrender hourly expected in Egypt and the loss of Malta shut the avenues that led eastwards. Other objectives, moreover — to establish his position against royalists and republicans, revive French industry, win French conservatism by a concordat with Rome, make solid the striking points he had won from Holland to Italy, and build a fleet capable of fighting Britain — all disposed him to seek an interval of peace.

Britain, on her side, was without an ally. War had added £290 millions to the debt, we had lost hard on 3500 merchant ships, bread was again at famine prices, and Ireland dangerously discontented. On the top of war-weariness and business pressure for peace came one of those gusts of isolationism which have so often turned our policy — Britain would take care of herself and spend no more blood and treasure in saving Europe.

Yet if, as Pitt argued, a breathing-space was necessary, and if it was right to test whether Bonaparte would co-operate in the work of peace, nothing could be weaker than the making of the peace of Amiens by Addington, his Foreign Secretary Hawkesbury,[1] and his plenipotentiary Cornwallis. Their first proposal spoke of keeping Malta and all the Dutch colonies, with a complete restoration in Italy, but by the time the treaty was finally signed, in March 1802, nearly all such safeguards had disappeared. Great Britain's gains were limited to Ceylon and Trinidad, the Cape went back to Holland, West Indian islands to France and Minorca to Spain, and, though Turkey recovered Egypt, Bonaparte would not include her in the treaty. Portugal was nominally restored to freedom, though, in fact, she was forced to close her ports to British ships. Malta was given back to the weak rule of the Knights of St. John.

[1] Later, the second Lord Liverpool

Though the French evacuated southern Italy, there was silence on Sardinia and the north, a vague flourish of indemnity to the Prince of Orange, but silence on the future of Holland and Germany, and silence on what British opinion would value most — a commercial treaty with France

Indeed, over this ill-omened peace lay the shadow of party faction. As in Bute's time, only a peace could save a weak Cabinet of the King's making, but now the case was even worse, for all through 1801 the King's sanity was trembling in the balance, so that Pitt refused to endanger it by overthrowing Addington, or by risking a regency which would give power to Fox, who was rejoicing that the terms were 'glorious for the French'. To the indignation of his nearest followers, he therefore ranged himself in defence of the peace, which was endorsed by great majorities in Parliament.

Fourteen short months were given us before war broke out again, months of threats abroad and faction at home. By his own deeds Pitt had destroyed the party he had made, Catholic emancipation separated him from the King and Protestant feeling, and the election of 1802 showed that Addington was solidly established Grenville might gravely denounce the 'degradation' of the peace terms, Canning might pour out sarcasm against the Prime Minister as 'happy Britain's guardian gander', actually, demobilization of troops and repeal of the income-tax enhanced the popularity of Addington, with whom the country gentlemen felt more at ease than with the imperious Pitt. For the present, Fox supported Addington to prevent a return of Pitt and a renewal of war, his follower Tierney even taking office with 'the Doctor'.

Soon, however, it became evident that Bonaparte's design was to complete by an armed peace what had been left unfinished by war, so fulfilling Grey's prediction that he would 'make us drink the cup of our disgrace to the very dregs' The sending of a force to reconquer St. Domingo and acquisition of Louisiana from Spain threatened our Atlantic colonies. Again, though his treaty with the Emperor promised independence to the small republics, every one of them was violated, French troops garrisoned Holland; to the indignation of British liberals a French army selected a new government for Switzerland, Bonaparte made himself president of the Cisalpine State, and annexed Piedmont and Elba outright Meantime a 'scientific' expedition was exploring Australia, a military mission set out to inflame the Indian princes, French agents traversed Greece, while Bonaparte's official newspaper published a report from his Levant commissioner that Egypt was ready to fall into the arms of France To Prussia he was holding out the bribe of Hanover, to Russia a partition of Turkey; to Britain, he alternated between blustering manifestos that we dare not fight, or hints that France and Britain might together rule the world.

While Addington declared he must wait till Bonaparte so ' heaped wrong on wrong ' that even the greatest peace-lover would be convinced, and Fox protested we had nothing to do with Switzerland or Egypt, Grenville, Dundas, and Canning argued that this weak government must be extinguished and that Pitt must return But the King and party faction between them destroyed any such hope of a national government. A personal feud separated Dundas (now Lord Melville) and Grenville, besides a fundamental political difference, that Melville would resist what Grenville was coming to accept, a coalition with Fox After long negotiations, early in 1803 Addington ungraciously offered to serve under Pitt, but he and his colleagues vetoed the Grenvilles and Windham. Pitt himself, in failing health and torn between the groups, did not share in their vendettas, but the path he staked out was almost as disastrous. As against Addington's weak policy and incompetent finance, he steadily hardened, nor would he accept any post but the highest. Yet he would not ' force ' the King, for that might imperil his reason and bring in a Fox government, while it would make him more obstinate in refusing a comprehensive Cabinet; again, he would not be bound to exclude Grenville, but neither would he proscribe men like Hawkesbury and Castlereagh, or brand all those who had made the peace With Grenville, then, he demanded a total new government and was ready to make the Catholic question an open one. But he demanded a free hand to form the best Cabinet he could, and both from principle and tactics would pay his old deference to the King, true to the ideas of his father and Shelburne.

By this time national feeling had driven the Cabinet to stand against Napoleon's veiled conquests Though even now they evacuated Egypt and the Cape, they repudiated his ruling that Britain had no right to a voice on the Continent and, to balance his aggressions since the peace, insisted that we should occupy Malta for ten years, while the French should evacuate Holland and compensate Sardinia. But Napoleon, who had seen his West Indian army die of fever, and marked the surrender of his western plans by selling Louisiana to the United States, would not further cheapen his prestige by leaving Malta in our hands, or drop his eastern ambitions Denouncing Britain as a violator of treaties, he would enforce a blockade to bring her to her knees.

From the renewal of war in May 1803 Addington's government struggled on another year, while Napoleon seized Hanover, invaded Naples, and prepared to invade Britain. The Grenville group, refusing to wait longer for Pitt, agreed with Fox that Addington must be overturned and a wide government installed, with no ban on Emancipation In April 1804 Addington resigned; the King, assured by Pitt that Emancipation should not be forced upon him, refused to admit Fox, though he was induced to accept the Grenvilles. But as, without Fox,

neither the Whigs nor Grenvilles would co-operate, Pitt was compelled to take the course he had hoped to avoid, of making a narrow government; including Melville, Harrowby, Canning, of his own followers, with Hawkesbury, Eldon, Portland, and Castlereagh from those who had served with Addington This was a weak team, throwing too great a burden on himself in the Commons; half of his old party still looked to Addington, while Fox's tactical sense kept emancipation to the forefront as the means of cementing a party against Pitt and the King. At the new year of 1804–5 Pitt had to humiliate himself by restoring Addington, now raised to be Lord Sidmouth, to the Cabinet, with some places for his friends; this reconstruction, however, collapsed a few months later, for feelings were too sore, and sharp tongues like Canning's were always reopening the wound Moreover Sidmouth knew his own price, and when a commission on the Navy brought home to Melville a grave laxity in administering public money, the Addingtonians declared against him. He resigned and was impeached, but when Sidmouth asked more promotion for his followers, Pitt declined and they left the Ministry. Tarnished by these scandals, Pitt once more tried to make the King take in Grenville and Fox, but again he failed; ground between royal power and party feeling, he had to fight on alone in this year of peril.

In May 1804, when Pitt took office, Napoleon became Emperor of the French, and by kidnapping the Bourbon Duc d'Enghien from Baden, and shooting him, defied Royalist conspiracy and the crowned heads of Europe, next year he annexed Genoa and declared himself King of Italy Against Britain he would use three weapons, separately or in combination — direct invasion, diversion by sea, and closing of the Continental ports. Spain was forced to give him her alliance; he closed the ports of Italy and Portugal, with the whole coast-line from Hamburg to the Scheldt. He began to turn Antwerp into a vast naval base, massed light craft and flat-bottomed boats between Ostend and Étaples, while 160,000 men under Soult and Ney rehearsed embarkation and landing.

For over a year, fighting alone, the British set themselves grimly to defence. Though economies had left only some eighty ships of the line and though the eyes of the fleet, the frigates, were short in number, squadrons were found to sweep in St Lucia, Demerara, and all enemy colonies, as well as to blockade enemy ports; for two years on end Admiral Cornwallis lay before Brest, for twenty-two months Nelson watched Toulon without a night ashore. The country was made ready to receive invasion — in which most of our best sailors and soldiers did not believe. Plans were laid to move the Bank and Woolwich Arsenal to the Midlands, Martello towers and military canals and beacons covered the coasts, Pitt himself as Warden of the Cinque Ports was one

of 350,000 volunteers. The Duke of York had done much to improve army discipline and was organizing the foundations of the Staff College. But the recruiting system was still radically wrong, as volunteers were exempt from the militia ballot, and a regular army, enlisted for life, had to compete against militiamen who were paid higher bounties for a term of years.

This petty force of 175,000 soldiers and militia could not restore the balance in Europe, which nothing could do but another Coalition. But very slowly did this come to pass, for Prussia held timorously back, Austria dared take no risks, the Czar Alexander hankered after Malta, not to speak of Poland and Constantinople Yet in that curious nature, destined so deeply to mark the next age, part made up of Slav racial passion and in part of liberal ideals, there were elements that bitterly resented Napoleon: a sense of mission to arbitrate a new order, a pride of royalty, the great ruler of his country. In discussions with Russia in 1804–5 Pitt laid down the principles, taught by his experience, by following which his disciples were to overthrow the tyrant. Revolution, he argued, had made it unwise to re-establish those petty states whose inability to save themselves had been painfully proved. Holland must be restored but enlarged to include part of Belgium, Prussia expanded westwards to include Luxembourg at least, and Sardinia brought to the forefront in northern Italy, where Austria also must acquire more room. This system of barriers would restrain France more or less within her pre-revolutionary limits, though he would leave France the free choice of her government. The Allies should make no peace except by common consent, and protect peace by their joint guarantee.

On such a basis and sustained by British subsidies, came into being at midsummer 1805 a Coalition between Britain, Russia, and Austria, with Sweden on the flank. But by mid-winter it had perished in fearful disaster. To move the slow Russian machine over marsh and river would take time, nor could it safely advance to help Austria leaving Prussia in its rear, so jealous of Austria, so greedy for spoil, and undecided whether Hanover could be extorted more easily from the Allies or the French. While one British force was wasted in southern Italy, another after dangerous delays was launched in Pomerania to co-operate with Sweden and a supposedly friendly Prussia; to whom Pitt offered large bribes, even Belgium, or anything but Hanover. Meanwhile the Austrians, rashly counting on Bavarian help, struck out for the Danube before Russian reinforcements could reach them; Napoleon, they reckoned, was far off at Boulogne and could not march to the Danube under eighty days. But within sixty days the 'army of England', now turned into the grand army, fell on Mack's forces, and on the 20th October compelled them to surrender at Ulm. The next day Nelson

won Trafalgar, which completed the process that saved Britain from invasion for the duration of the war

Napoleon had long given up the notion that one dark night would be enough, and now asked of his sailors a larger gift — ' make us masters of the Channel for three days and we are masters of the world ' His orders now were that the Toulon, Brest, and Rochefort squadrons should simultaneously break the blockade, rendezvous at Martinique, ravage the West Indies, and on their return, picking up the Spaniards from Ferrol and Cadiz, clear the Channel with their joint force. But he could not collect sailing ships from scattered ports, or move them to a time-table through unmeasured waters, as he moved his army corps on land — least of all in the face of the British Navy as it then stood, inspired by its greatest fighting leader, Horatio Nelson

From a Norfolk rectory Nelson had gone to sea as a boy of twelve and fought through the American war, by the end of which a school of great sailors, Keppel and Jervis, Hood and Howe, had reformed the Navy, improved its gunnery, perfected its signals, and re-created its spirit. As a boy in the Arctic, and as a boy-captain of twenty-one in the West Indies, fortune and his ceaseless courting of responsibility had given him experience in every type of command, boat-training and convoy, expeditions of all arms and blockade His fame was assured during the Mediterranean command of Hood, the leader of his special admiration, his tactical intuition was proved at St Vincent in 1797, and the next year, aged thirty-nine, he hoisted his admiral's flag to win the Nile. His right eye was blind since Corsica in 1794, in 1797 he lost his right arm in a night attack on Tenerife, his physical system threatened to collapse, his unhappy home and liaison with Lady Hamilton robbed him of peace and tarnished his name. Yet Nelson was much more than a master of his craft, for by love of his country and his countrymen, by patience and confidence and courage never dimmed, he was a spiritual force; what every man in arms would wish to be, happiest at the cannon's mouth, but a leader whose captains from Collingwood downwards were a band of brothers — the darling of the nation as Marlborough never was, and Wellington was never to be Raised now to his full strategic insight, he encouraged the initiative which varied with all the conditions of sailing-ship warfare, and had long instilled the action by groups or columns, by which Trafalgar was won. ' Numbers alone can annihilate '; to bring the enemy to battle, to crush them by concentration of his whole on their part if that were possible, but in any case never to lose a chance of decisive action, even at the cost of crippling his own fleet.

While Napoleon's army lay round Boulogne, the time-table of what he called his ' immense design ' went awry. The Rochefort squadron broke out in January 1805 and reached the rendezvous, but, as no

others joined it, returned to France, thus missing the Toulon fleet under Villeneuve, which got away in the last days of March and in May arrived at Martinique. And the Brest fleet was bottled up, till after Trafalgar was lost.

First making sure that Villeneuve had not sailed east towards Egypt, and that Ireland was safe, Nelson gave chase, knowing with the divination of long thought that he would find his quarry in the West Indies. In June he reached Barbados, on hearing which Villeneuve made for home, following Napoleon's latest order to join hands with the Brest fleet, falling back on Cadiz in case of difficulty. Fast on his track, and only missing him through false intelligence, sending his fastest frigate ahead to warn the Admiralty, came Nelson, who in late July touched Gibraltar and drew Cadiz blank, unaware that Villeneuve, brushing off Calder's effort to intercept him, had entered Vigo The first half of August was decisive For while Nelson's squadron joined Cornwallis off Ushant and he himself went on leave, and while Cornwallis rashly divided his fleet, Villeneuve threw away his superior numbers and chance of victory, after one vain endeavour to link up with the Rochefort ships, he abandoned the design of reaching Brest and made himself safe in Cadiz. It was on receiving this news, together with that of Russian mobilization, that Napoleon in the last week of August turned his back on the sea, and prepared to break Austria and win the Middle East.

In Cadiz lay the French and Spanish fleets with Collingwood observing them, from whom in September Nelson came to take over command; for, while the enemy in Brest and Cadiz were intact, Britain could not breathe, nor himself be satisfied. 'May the great God whom I adore', he wrote in his diary on his last night at home, 'enable me to fulfil the expectations of my country' Villeneuve, anxious to justify himself in Napoleon's new design, broke out to pass eastwards through the Straits, and so, on the 21st October, came about the battle of Trafalgar, fought from noon till five o'clock on an almost windless sea Nelson's aim was annihilation, in two columns, himself in *Victory* leading one, and Collingwood in *Royal Sovereign* the other, his twenty-seven ships cut the middle of the allied line, so that their van never effectually came into action. Desperately Villeneuve tried to re-enter Cadiz, but his dispositions were confused, the Spanish contingent very passive, the English gunnery accurate and severe, while the resolute decision of individual officers justified all Nelson's trust Out of thirty-three ships Villeneuve lost eighteen that day, captured or sunk, and four more were taken in the next fortnight That made an end of the striking-force of Napoleon's navy, whatever it did later in raiding commerce, but to Britons the price paid, for a gain the fruits of which they could not yet see, seemed terrible, the log of the *Victory* summing

it up, 'partial firing continued until 4.30, when a victory having been reported to the Right Honourable Lord Viscount Nelson K B. he died of his wounds'. Few places are better known in England than the cockpit of the *Victory*, and few words than his signal before action of what England expects, in the spirit of the last clear word he was heard to say, 'Thank God, I have done my duty'.

On the 2nd December Napoleon forced decision and defeat on the Austro-Russian armies at Austerlitz. The Czar retreated from Germany, Austria was driven to make peace, giving up the Tyrol, Dalmatia, and Venice. The base Prussians made ready to accept Hanover at French hands, vetoed any attack on Holland, and caused the withdrawal of our Baltic forces Under pressure of these calamities Pitt died in January 1806, as much a victim of war from exhaustion at the age of forty-six, as Nelson at forty-seven His immense achievement in constructing the modern British State, obscured by the dark reactions of war, was to be made good by his followers, and he too left behind in his last speech a maxim of salvation: 'England has saved herself by her own exertions, and will, as I trust, save Europe by her example'

The Ministry of 'all the talents', which replaced him, condemned his Coalitions and made an effort to bring about peace. But Fox now discovered that, however just his earlier defence of the Revolution, it could not apply to Napoleonic despotism; though the French dangled before us a restoration of Hanover, he deemed no peace honourable or safe which divided us from Russia, or allowed our Bourbon allies to be robbed of Sicily. Napoleon's mild words were betrayed by his deeds, the proclamation of one brother, Joseph, as King of Naples, of another, Louis, as King of Holland, of a third, Jerome, as King of Westphalia, by the confederation of the Rhine to suffocate Germany, by plain intentions to form a Latin *bloc* which, by mastering the Mediterranean, would 'avenge centuries of English insults' Fox had hardly died in September when Napoleon marched to punish the treacherous Prussians, whom he scattered at Jena in October, issued from Berlin the decrees which declared a blockade of Britain, in February 1807 gripped the Russians in the murderous battle of Eylau, and in June crushed them at Friedland. In July the Czar, obedient to long-cherished dreams and sore at the lack of British assistance, signed at Tilsit memorable treaties, public and secret. Prussia was to become a petty State, losing her Polish lands to make a Grand Duchy of Warsaw, which Napoleon would thrust between the eastern monarchies, and much in the west to make a Westphalian kingdom for Jerome. Secretly it was provided that Joseph should receive Sicily, and France the Ionian Islands, the two emperors should then summon Britain to restore her conquests and amend her maritime law, and if she refused would compel all neutrals to close their ports against her. The

tempter pointed the Czar on to other gains, a share in the Turkish Empire, Finland, and a joint rule of the world From this date till the end of 1810 the Napoleonic Empire was at its height, and though Britain fought on, it was with grievous incompetence, political and military

Pitt's death having completed the demoralization of his party, his colleagues advised the King to call on Grenville The nickname of the new government, 'all the talents', was hardly justified by the admission of Sidmouth, or the Prince of Wales' favourite Moira, and, excepting Grenville, all its principal members were Fox Whigs. Fox himself, Grey, Erskine the Chancellor, Henry Petty (Shelburne's son, later third Lord Lansdowne), and Holland, were reinforced by those Whigs — Spencer, Windham, and Fitzwilliam — who had served with Pitt in the first war, but had left him when he capitulated over Emancipation.

Here then was something like a party, but the loss of Fox took away their one great man, and both parties were full of long-persisting division. The Crown was still powerful enough to make the King's prejudices, or his sanity, very formidable; the Prince did infinite harm to the Whigs by the scandal of his life and by giving confidence to the feckless Sheridan rather than the recognized leaders Radicalism was rising, the advanced Whigs called 'the Mountain' detested Grenville. On the other side, there was a solid block of Tories — Liverpool, Eldon the lawyer, Perceval — who had acted with Addington, some in the centre, Castlereagh for instance, who hoped to reunite the party; over against them were some pure Pittites — Canning above all, his friend Huskisson, and Wellesley now back from his government of India — whose views on the Catholic and economic questions were more advanced, and who believed they could reunite with Grenville and rebuild Pitt's party of progress This confusion would endure until both parties closed their ranks, till Whig and Radical either agreed or separated, or till reabsorption of the Sidmouth, Canning, and Grenville groups of Tories broke their accidental relation with the Whigs.

The 'Talents' had little success either in diplomacy or war Just before Pitt's death General Baird had recaptured the Cape from the Dutch, but Windham at the War Office was as bad as Dundas in allowing dispersal of our effort One foolish expedition captured Buenos Ayres and Montevideo, but only to lose them again, merely antagonizing Spain without helping Spanish colonies to rebel With the dual object of relieving Russia from her Turkish war and Austria from fears of Russian expansion, in February 1807 Admiral Duckworth passed the Dardanelles But he failed through general mismanagement on the spot, leaving France supreme at Constantinople, while yet another expedition to seize Alexandria was unsuccessful In July 1806 the British victory at Maida, the first on land over the French since Minden,

saved Sicily, yet Naples was lost. While the Russians fought from Eylau to Friedland, the Grenville government refused loans, did nothing in the Adriatic, and sent no timely assistance to the Baltic.

At home it was weakened by faction, and the washing of much dirty linen. The squalid quarrel between the Prince and Princess of Wales induced it to appoint the 'delicate investigation', which convicted the Princess of nothing more than vulgar indiscretion, but alienated the Prince and offended the people Meantime the Lords dismissed the impeachment against Melville Fox's death broke Grenville's best link with Canning, whom he was trying to win, and the election of 1806 made no change except in reducing the Addington members

This government was formed on the understanding that Catholic emancipation in its full sense should not be pressed on the King, and Sidmouth for one could not have joined it otherwise. But the younger Whigs were restive, the Lord-Lieutenant warned them that, if nothing were done, he might have to use martial law, and a Catholic petition would split the Cabinet. Early in 1807, therefore, Grey proposed to allow Catholics to hold commissioned rank anywhere in the Empire, to the extent already legalized in Ireland. To this modest reform the King agreed, though stipulating 'not one step further'. When Grey, under Irish pressure, moved on, with a bill opening the highest commands in both army and navy, the King had a right to protest, Grenville withdrew the bill, but reserved their freedom of future action. At this, conceiving that the bargain was broken, and aware that Sidmouth would be on his side, in March the King asked a positive assurance of no further demands, whereupon the government resigned

Before doing so they had carried one important measure, Windham's Act to abolish enlistment for life, a first necessary step to army reform, and all but the last formalities of another infinitely greater, the abolition of the slave trade. In 1792, against all the oratory of Pitt, Wilberforce, and Fox, Dundas had persuaded the Commons to a gradual abolition, 1796 being fixed as the destined year. Since that time, however, opposition in the Lords, mingling of the problem with revolutionary dangers, apathy in the country, had set the clock back; the Portland Whigs would not hear of its being made a Cabinet measure, Addington was hostile, and though Pitt continuously backed up Wilberforce's almost annual effort, when he came back to power he was weary, and harried by enormous dangers. He therefore put this question aside and the Abolition committee suspended its meetings

But from 1800 onwards the ruling conditions changed for the good. That very year the government gave a charter to the company which had been struggling at Sierra Leone, with a settlement for freed slaves, its brave local agent, Zachary Macaulay, being one of the Clapham sect, whose influence over the churches and politics was yearly increas-

ing Perceval, a rising Tory hope, was a deeply sincere Christian; Canning also was an abolitionist, as Grenville always had been, and the trade itself was much divided; some business men were genuinely converted, while others with West Indian interests would stop the trade before it could restock their rivals, the conquered French and Dutch colonies. Irish members after the Union also generally voted with the cause And so at the end of 1805 a first step was taken, in an Order in Council to prohibit the trade to the former Dutch colonies, and the ministry of the Talents took the great decision, having what Pitt's ministry never had, nine out of twelve in the Cabinet for abolition Fox threw his last ounce of strength into the balance and in March 1807, the new Cabinet co-operating with the old, this great and righteous measure became law.

Portland, old, ill, and passive, was the figurehead Prime Minister from 1807 till the end of 1809, but, in fact, power was shared between those who had served with Sidmouth and those who had opposed him, this latter section, led by Canning, refusing to admit Sidmouth himself Sooner or later this balance must be determined. It would tilt either to Perceval, now leader of the Commons, a fighting debater, a high-principled man, but a bigoted 'Protestant'; or to Canning with his insatiable ambition, his devotion to Pitt's memory, his rich eloquence, and his leaning to coalesce with Grenville and Wellesley, or, perhaps, to Liverpool, who might bridge the gulf — as the son of a 'King's friend' but also an old friend of Canning, who had done most to reconcile Pitt and Sidmouth and was a shrewd conciliatory politician

Their first step was the bold one of another dissolution, within a year of the last, which swept the country to the cry of Church and King and 'No Popery'. Canning was at the Foreign Office, Castlereagh minister for war, and their resistance to Napoleon during 1807 was determined and in many respects successful. Piecing together information and intuition in regard to what had happened at Tilsit, in August they anticipated the enemy by demanding from Denmark either alliance or neutrality, on refusal, British ships bombarded Copenhagen, and seized the Danish fleet. Danish Heligoland and the Dutch West Indies were occupied, and a British squadron, outpacing a French army, escorted the regent of Portugal to Brazil

Napoleon's Continental system, inherited from the Directory, was taking final shape, now that he controlled every port in Europe outside the Spanish peninsula. Believing that the bubble of British credit could be burst, his decrees would have made her a commercial leper, destroying the exports by which she lived, and draining away her gold Grenville's government began reprisals, the long series of Orders in Council, which Portland much expanded. Their effect,

taken with our interpretation of prize law, largely at the hands of Eldon's brother Lord Stowell, was to declare France and her allies in a state of blockade, to prevent neutrals taking over the carrying-trade between France and the outside world, and to 'ration' neutral trade in accord with our war-needs Though something was done by licence to attract cargoes to our ports, all neutrals were indignant, and the United States in particular, at loss of markets, submission to our prize courts, and the 'right of search' to discover concealed goods, or take off British deserters This strangulation of trade became a race against time. Which would snap first? The will to war of an island state, to whom neutral trading with France meant destruction? The patience of British exporters, deprived of livelihood by American reprisals and restricted to trade in scanty convoys? Or the patience of the neutrals, at the mercy of two belligerents? The patience of French allies? Of Russia, for instance, robbed of American goods and with her Baltic exports blocked, or the endurance of France herself, deprived of every colonial product from tobacco to cotton, starved by a prohibitive tariff, driven to use beet for sugar and chicory for coffee, painfully smuggling British goods through creeks and crevices, by way of the Channel Islands, Heligoland, or Salonica?

It was the weakness of Napoleon's system that it could only survive if it were made total, which led to his annexation of Tuscany, Corfu, Holland, and the Hanse towns, even in 1808 there were signs that the Czar was discontented, Austria rearming, and Germany catching fire. British effort that year began with another unhappy expedition to buttress Sweden against a Russian invasion of Finland, but in May it was presented with a new opportunity in the national rising of Spain. Exploiting the scandals in the Spanish royal house, Napoleon transferred his brother Joseph from Naples to this greater crown; spontaneous risings flamed out over the whole country, one French army was defeated at Baylen, and the patriots appealed to Britain

In August Arthur Wellesley with a small force landed near Lisbon and beat Junot at Vimiera, but the senile generals who took over command stopped the pursuit, signing the wretched convention of Cintra which allowed the French to evacuate their army. In return for the gift of Finland and the principalities that later made Roumania, the Czar acknowledged Joseph's title and with Napoleon summoned Britain to make peace. Our reply was to send a new force under Sir John Moore, the best trainer of troops in the army, which from Lisbon would act on the left of what was hoped might be a vigorous Spanish front But the Emperor himself with 200,000 veterans broke through like a thunderbolt and in December entered Madrid; disappointed but misinformed, Moore still pressed on, in hope of drawing off the French from southern Spain. Forced to retreat at last, he marched 250 miles in nineteen days to the ships at

Corunna; there on the 16th January 1809 he made his stand, at the cost of his own life, while his shattered army was embarked.

While the French overran the Peninsula, a weak British force held on to Lisbon, whither in April Wellesley returned, having convinced the government that it could be held, and that there, and not from Cadiz, our effort should be made. Having driven Soult out of Oporto northwards, he struck out for Madrid and, though outnumbered, beat Victor at Talavera But a new advance of Soult again forced him south of the Tagus, while the demoralized Spaniards fell back on Andalusia. Fortunately for us, Napoleon ordered Soult to follow them, postponing his main attack on Portugal.

Sea-power, which enabled us to cut this gash in the enemy's side, in 1809 ranged in its captures from Martinique and St. Domingo to Senegal. But the hardest stress, and our greatest missed opportunity, came on land, for Austria had rebelled against France and the first German revolts broke out in Westphalia After two months of discussion the Cabinet decided to strike at the Scheldt with an army of 40,000 men. Lack of transport, however, prevented it sailing till July, secrecy was lost and the French fleet escaped above Antwerp, our commander Chatham was unenterprising, and co-operation with the navy very bad. A prolonged siege of Flushing, on the island of Walcheren, destroyed any hope of surprising Antwerp, the dykes were cut, the troops knee-deep in water, and in September, when a quarter of our strength were sick, the survivors were brought home

Long before that, after desperate fighting, Napoleon crushed the Austrians at Wagram, the peace of Vienna in October assigned her Polish lands to the puppet duchy of Warsaw, and her southern Slav lands, with Trieste, to France The compact was sealed by Napoleon's divorce from Josephine and his marriage to the Archduchess Marie-Louise, at the same time he declared Rome the second city of his Empire, annexed the Papal States, and held the Pope prisoner. Only Wellington's small and so far inferior army, with a Portuguese force being hammered into shape by British officers, and the Spaniards holding out in Cadiz, defied this universal monarchy.

Walcheren destroyed the Portland government, already disintegrating for other reasons. Canning despised his colleagues, his nervous tension could not stand failure and unpopularity, he had objected both to Wellington's appointment and Moore's expedition. He believed the conduct of war could be improved by bringing in Marquis Wellesley, and early in 1809 threatened resignation unless Castlereagh were removed. The King and Portland agreed in principle but asked some delay, other ministers insisted that Castlereagh must at least be allowed to carry out the expedition he had planned, to Castlereagh himself not a word was said And if the convention of Cintra and Moore's defeat

dispirited the country, it was driven to fury by the exposure of the commander-in-chief, the Duke of York, whose cast-off mistress, encouraged by Radical politicians, testified to the sale of commissions through her influence.

Like the breaking of a sluice-gate this scandal released all the waters of reform. Two Radicals, Sir Francis Burdett and the bold sailor Lord Cochrane, held the great Westminster constituency, Grey's brother-in-law Whitbread was advancing bills for a new poor law and popular education, and the York enquiry, coming on top of Melville's impeachment, caused a distrust of public men, revealed the hatred of the royal house, and spread into charges of universal corruption. The Radicals carried a bill to prevent the sale of parliamentary seats; another forbade the grant of offices for life, or in reversion. From Scotland, so long held firmly by the Dundas influence, new forces were emerging; Brougham was leading against the Orders in Council and turning the *Edinburgh Review* into a liberal organ, Horner was working for currency reform. William Cobbett, whose *Political Register* reached classes not touched by Perry's Whig *Morning Chronicle*, had begun as a war Tory, but his Toryism looked back to an older England of yeomen and allowed him to act and write as a Radical.

Amid such discontents fell the fiasco of Walcheren, a final breakdown in Portland's health, Canning's insistence that Castlereagh should go instantly, and his own ambition to be supreme. The Prime Minister, he declared, must be in the Commons, nor would he serve under Perceval. The Cabinet, however, agreed with the King that Perceval, already leader of the House, should have the succession, and as Canning's resignation was followed by that of Castlereagh, now at last aware of the decision against him, and by a duel between them, they looked round for means of recruiting more strength. But Grey and Grenville declined to serve with a no-Popery government, Sidmouth was too unpopular with the Pittites and his followers refused to come in without him, so that the only important change was the substitution of Wellesley for Canning.

With only three commoners in it, the Cabinet was miserably weak — except for Perceval himself and Liverpool at the War Office — living also under sentence of death, for in 1810 the King's madness became permanent and a regency would presumably doom them. Repeated efforts were made to bring back Sidmouth, Castlereagh, or Canning, separately or together, but all collapsed on calculation, pride, or ambition; throughout they had to contend with the sulky pomp of Wellesley, who looked to the Prince, intrigued with Canning, and wished more done for the Catholics. At home an angrier agitation faced them than any since Wilkes' day; press attacks, bills against sinecures, trade-union lawlessness, and breaking of machines. From the cross-benches they were

fired at by Canning and the ' Saints ', Horner and Huskisson inspired the bullion committee's report of 1810, which demanded a return to cash payments. Ireland was almost under arms. Orders in Council and American embargoes on trade to Britain, together with over-speculation, produced unemployment and high prices, poor rates had doubled since the outbreak of war, within the year 1810–11 our exports fell by a third.

Of large or constructive design this Cabinet showed not a glimmer True, in ' no-Popery ' they had a really popular cause, some grounds also for refusing to consider returning to cash payments till the war ended, and agitation for parliamentary reform was confined to the Radicals But discontent they merely answered with repression. A solid majority in the Lords, led by Eldon, turned down Romilly's proposals to reduce the monstrous amount of capital punishment When Burdett raised the question of freedom of printing and publicity of debate, the Commons sent him to the Tower; this straining of their privilege was dragged to light by the lawsuit he brought against the Speaker, the brigade of Guards and artillery had to hold down London. Prosecutions silenced the violent Cobbett and even moderate criticism.

Yet, despite such shortcomings, the Perceval Cabinet founded the Tory dominance that lasted till 1827, by no means, however, merely on their own merits, for Opposition were in evil case Whigs and Radicals hated each other. Grey was out of sorts and out of humour, Lansdowne was too young, Holland too ailing, and as all these were peers, the Whig lead in the Commons went to George Ponsonby, a stopgap imported from Ireland by Grey. For Whitbread was passionate and unpopular, Brougham young and patently insincere, Tierney shifty, Sheridan had lost all character. It was perhaps more important that the Prince had turned Tory since Fox's death; he hated Grey, had weakened on the Catholic question, and would not be accused of making impossible his father's recovery. When therefore in 1811 he became Regent, in the first instance for one year only, he made no change in his ministers

Most of this was the doing of Perceval, who proved a debater of the first order and a leader of boundless courage Almost single-handed he fought through a long tussle to carry the Regency Act, on the same lines as that of 1788, and Tories felt an enthusiasm they had not known since the youth of Pitt Round him assembled the young future leaders in Palmerston and Peel, while the Regency, violence in Ireland, and Canning's eclipse drew the Addingtonians back towards the government fold. Above all, while Grenville, Grey, the *Edinburgh Review*, and most leading Whigs except Holland, despaired of the war, jeering at Wellington as a mere ' sepoy general ' and demanding withdrawal from Spain, Perceval and Liverpool reaped the harvest of cleaving to a cause which roused fervour in the young and raised the national character

Meanwhile the Navy stopped up every exit, seizing every source of raw material and every strategical place of arms. Guadeloupe and Mauritius were won in 1810, Java in 1811; occupation of Sicily and blockade of Corfu kept open our contact with Italy and Austria; Cadiz was made impregnable, and the army in Portugal supplied. If the Peninsular war restored morale to the Army and hope to the country, the prime credit must go to the Cabinet. Economically the cost dismayed them; to get specie to Wellington at times seemed impossible, but they stuck to Liverpool's ideal of 'a steady and continued exertion on a moderate scale'. Avoiding the old fatal dispersion of effort, they were decided that this should be the single military front, never faltering in their principle that while Spain fought for liberty, they would never abandon her.

As Napoleon never returned to Spain, Joseph's flabby civilian nature had to cope with the jealousies of the marshals, Soult, Ney, Marmont, and Masséna. Their superiority in numbers of seasoned troops could neither close a long coast-line against our sea-power nor ensure their communications against Spanish guerrillas. Wellington had rehearsed in India his power of discipline, his incessant capacity for trying, and attention to the transport and supply by which armies live. Given time, he would make his own army superlative and the Portuguese reasonably efficient, and time he first secured by making, north of Lisbon, the fortified zone of Torres Vedras.

This saved him in the campaign of 1810, when Masséna uncovered the entry to Portugal by taking Ciudad Rodrigo and Almeida and, though sharply checked at Busaco, pressed on west to Coimbra, and beyond. In October the British fell back within their triple lines while Masséna, through a countryside made a desert, prowled round all the winter, until in March 1811 with his starving army he beat a retreat. Soult, delayed in taking Badajoz, came north too late to prevent this, and then Graham's sally out of Cadiz and victory at Barossa recalled him to the south. Again Masséna invaded Portugal, only to be beaten at Fuentes de Onoro while, in the bloody fight at Albuera, Beresford or rather the British infantry again stopped Soult's effort to break to the north. Neither of these victories owed much to our high command, almost everything to regimental officers and magnificent courage in the ranks; 'our dead', said Beresford's despatch after Albuera, 'particularly of the fifty-seventh regiment, were lying as they had fought, in ranks, and every wound was in the front'. From midsummer Marmont, superseding Masséna, made his way to the upper Tagus, and the year closed with Wellington in eastern Portugal, Soult still pinned down by Cadiz, but the French hold tolerably intact on north-eastern Spain.

The memorable year 1812 opened at home with the fact that the

Regency became permanent and unrestricted, in anticipation of which, to force on his own schemes, Wellesley resigned. The Regent's invitation to Grenville and Grey, which they declined, broke down like others this year on a plain truth, that party feeling had now so hardened that compromise was impossible, either on the Catholic question or the war. Perceval decided a first step by putting Castlereagh at the Foreign Office and bringing back Sidmouth, but in May, Bellingham, a half-insane and bankrupt merchant, shot him dead in the lobby of the House of Commons.

The survivors resolved to go on under Liverpool as Prime Minister, with Castlereagh leading the Commons but, their invitations to Wellesley and Canning being refused, a Whig and Canningite vote for a stronger and more 'Catholic' government forced them to resign Once more the Regent tried his own solutions Neither Whigs nor Tories, however, would serve under Wellesley or Canning, or the Whigs under Moira, the Prince's personal representative, without the reality of power Hence he fell back again on Liverpool and the Tories. Strengthened by victory abroad, agreeing to make the Catholic question an 'open' one in Cabinet, and to repeal the Orders in Council the new government made one last endeavour to conciliate Canning, who most foolishly declined the offer of the Foreign Office unless Castlereagh also surrendered the lead of the Commons The general election this year was a government triumph, in which several Whig leaders lost their seats, and in 1813 some of Canning's followers took minor office, while he buried his pride in a mission to Lisbon.

During those months of British faction, Napoleon fought his fatal campaign to compel Russia to become a French helot He battled through to Moscow, to find it a desert, in November he was in retreat, having lost half a million men, Prussia took fire and in February 1813 reached agreement with Russia for resolute war

The British contribution to this mighty turn of the wheel was at first indirect, though persistent Lord William Bentinck was sent to end the intolerable Bourbon misgovernment of Sicily, which by strong measures was made something nearer the bulwark of our Mediterranean effort that it should long have been At the other extremity of our military circumference, by accepting his wish to acquire the crown of Norway we pushed Bernadotte, the French marshal who had become Crown Prince of Sweden, towards a break with his master. Pressure was brought to bear on the Adriatic and Balkans by occupying the Ionian Islands and making contact with the stalwart Ali Pasha of Janina, and early in 1812, as the first exploit in a long illustrious life, our envoy Stratford Canning negotiated peace between Russia and Turkey These done, we rejected a hint from Napoleon that we might make peace by deserting Russia and Spain

In the spring of 1812 Wellington, having perfected his transport, stormed the fortress keys of Ciudad Rodrigo and Badajoz, though the last was taken at a bloody cost, and in July proved his tactical precision when he pounced on Marmont's careless manœuvring at Salamanca But, though he entered Madrid, he was soon forced back on Portugal, his advance having drawn Soult to the north. This at least meant the permanent loss of southern Spain to the French, whose young conscripts were being engulfed in the morasses of Russia and Germany.

In that year, and all through 1813, an unreasonable war with the United States threatened to cripple our effort to liberate Europe. Canning had missed one chance of a settlement; the confusion after Perceval's death delayed another. Our public opinion was now set against the Orders in Council, Brougham leading a popular campaign, while our new allies Sweden and Russia would demand relaxation of our blockade But our suspension of the Orders in 1812 crossed an American declaration of war. This, in fact, mostly turned on their domestic politics, in which the presidencies of Jefferson (1801–9) and then of Madison, with Monroe as Secretary of State, installed a southern dynasty, generally hostile to Britain. Though New England and seafaring States were for peace, the south was for war, so too was the west, which was ardent for expansion and in conflict with Indians and frontiersmen who, they claimed, were incited from Canada. Meeting with British stubbornness in the matter of impressment of sailors, and deceived by illusory concessions from Napoleon, in 1811 Madison prohibited trade with Britain, and in 1812 declared war

The Americans' power at sea and their excellent gunnery came as a shock to Britain, bringing the loss of over 1600 merchant ships and also of the great lakes But though they spent much energy in pressing to Detroit and the north-west, they failed in more vital moves on the St. Lawrence and Montreal, if Toronto was burned, Canadians of both races for the first time realized themselves as a nation, and did wonders with their small numbers Fired by a born leader of men, General Isaac Brock, they firmly held the Niagara peninsula. In 1814 veterans from Spain came to their aid, our Navy blockaded the coast and carried a force up the Chesapeake to sack Washington, though at the end of that year Andrew Jackson crushed our assault on the Mississippi at New Orleans

By that time a peace conference had assembled, for American seaborne trade was almost annihilated and the British government, much influenced by Wellington's common sense, decided to end this distraction and withdrew their previous stiff demands With peace in Europe some nominal causes for war, such as impressment, automatically ceased, so that both countries determined to ignore them The treaty of Ghent (December 1814) stated therefore little more than a mutual

restoration of territories, with a reference to joint commissions of other controversies, such as armaments on the lakes, fisheries, and frontiers.

All this had been a petty episode, if measured by the peril in Europe. We welcomed the Russo-Prussian agreement of 1813, and assisted them with subsidies, but for months the probabilities seemed either another jealous coalition or a European settlement without Britain — even against her. Hanover still divided us from Prussia, there was much resentment of our belligerent rights at sea, and most dangerous of all was the attitude of Austria Metternich dreaded the spread of Russia over Poland, and feared German pretensions; was it not better to preserve a counterbalance in France, from whom Austria might acquire a larger share in Italy and a partition of Turkey? Though Austria offered an armed mediation, the Eastern Powers ignored Britain's special objects, such as the independence of Spain, while expecting us to throw all our colonial conquests into the bargaining scales. Even in October, after the allied victory at Leipzig, they offered France her natural frontiers of the Alps and the Rhine.

This serious drift was arrested, and reversed, by Napoleon's juggling and blindness, Wellington's victories, and the resolution of a great minister of foreign affairs in Castlereagh He adhered to the spirit of the State-paper on which Pitt had consulted him in 1805, which in turn ran back to Grenville's proposals of 1798 Only ' large masses ', its argument ran, could restrain France; Prussia therefore must be brought west of the Rhine; Austria must be built up in Italy, Holland must make another strong barrier, and Sardinia also. This point of view made the ' natural frontiers ' too wide, moreover, we must fulfil our pledges to Spain and Portugal, Sicily and Sweden, nor should we surrender conquered colonies until satisfied as to the shape of Europe Finally, he reverted to the conclusion of all Pitt's experience, of no negotiation except in common, and after the peace a defensive guarantee.

Suspicious of Austrian sincerity, alarmed by the Allies' quarrels and our ambassadors' feebleness, in January 1814 the Cabinet sent Castlereagh himself to the scene of action To reduce France to safer limits, to save Antwerp, to redeem our pledges, he had strong weapons in his hand: £5 millions to offer in subsidies, 200 ships of the line and 300 frigates, and Wellington's army.

In Spain the French held the north-east in force, in part because Bentinck had subordinated his duty of attacking from Sicily to his own notions of ' liberalizing ' Italy. But their supply difficulties were immense and, while they painfully chased the guerrillas, Wellington shifted his sea-base north to Santander and in May 1813 moved into Spain with astonishing speed Pushing over the Douro, for ever turning the French right, in June he broke Joseph's army at Vittoria, and was soon investing Saint Sebastian and Pampeluna in the Pyrenees. Despite

Soult's skill in defence, through wild country the British had by November made their way over the Bidassoa and to St. Jean-de-Luz, in March 1814 entering Toulouse.

While these victories buttressed him on the south, and while an Orange revolt gave point to our insistence on freeing Holland, Castlereagh at the congress of Châtillon struggled through the decisive months that ended in Napoleon's abdication. He had to combat Metternich's wish for an armistice, and the Czar's dangerous alternatives of making Bernadotte King of France or summoning a French constituent assembly. To him was due, after Napoleon's last victories on the Seine, the treaty of Chaumont (1st March), by which each of the four Allies would keep 150,000 men in the field, Britain in addition paying £5 millions a year in subsidies, and bound themselves in a defensive alliance for twenty years. At this moment only the fortunes of war could decide the two fundamentals what should be the frontiers of France, and with whom in France terms should be made As to the first, the impetus of military advance and Castlereagh's pressure swept away the Austrian suspicion of their allies, and it was agreed to offer nothing more than the frontiers of 1792. If Napoleon had closed promptly with this offer, Austria certainly and perhaps Britain would have left him on the throne, but he refused to hear of giving up Belgium or the Rhine, and made himself impossible by insincerity Once decided on this, Castlereagh was clear there was no mean between Napoleon and a restoration of the Bourbons, in whose favour British opinion was well in advance of the Cabinet, and some of whose princes had appeared at Bordeaux to raise the white banner of their house. All this, with Talleyrand's stage management in Paris, crumbling in the army, and desertion by some of the marshals, made it possible to say that the Allies were accepting the will of the French people. In April Napoleon abdicated and departed to the gilded cage assigned him in Elba, in May the Allies signed the treaty of Paris with Louis XVIII

British and Russian policy combined to give Bourbon France a generous restoration. The peace asked no indemnities and, though the war had cost Britain £600 millions, her gains were limited to those vital for her life-line east and west, Malta and Mauritius, St. Lucia and Tobago, the Dutch colonies at the Cape and Demerara; for which Holland was to receive £2 millions in compensation As to the 'just equilibrium' so often declared, Holland was to be extended southward at least to the Scheldt, Sardinia would receive Genoa, Austria would get Venetia and part of Lombardy But some most arduous questions, such as the future of Poland and Germany and Murat's kingdom in Naples, were left over to a future congress.

At last the horrors of war seemed gone, Napoleon was planting mulberries at Elba, the House of Commons rose to cheer Castlereagh,

the allied sovereigns were richly feasted in London. Yet when the congress opened at Vienna in September, it was seen that peace was still unborn. It would be made and kept, Castlereagh wrote, not by insurrections but only by 'disciplined force under sovereigns that we can trust', when a million Bonapartist soldiers resented the spectacle of a Bourbon throne, propped on foreign bayonets, and the Allies' concert was endangered by the ambition of the Czar, who claimed all Poland for his own Against this double threat of France and Russia it was Castlereagh's object to construct a central barrier in Austria and Prussia. If Prussia, however, was to lose her share of Poland, she insisted on receiving the whole of Saxony, which would bring her to the edge of Austrian Bohemia. To this, under heavy British pressure, Metternich agreed, on the understanding that Prussia would help her to keep her old Polish frontier, and meet her wishes in the rest of Germany But the King of Prussia went over to the Czar, and at the new year of 1814–15 the Allies were on the verge of war between themselves. Here was the golden chance for Talleyrand to divide his enemies, for the small States of Germany to rally round Metternich, and for the Whig Opposition in Britain to clamour for Polish nationality

When the Prussian military party threatened war and the Cabinet sent instructions he must at all costs avoid it, Castlereagh boldly accepted the greatest responsibility ever taken by a British minister In January he signed a secret treaty with Austria and France, which Bavaria and Holland should be invited to subscribe, for joint action against a Prussian attack This was his clearest triumph. Prussia gave way, receiving only about two-thirds of Saxony but acquiring Thorn from Russia and the left bank of the Rhine; Cracow became a free city, though the bulk of Poland was to be Russian under a pledge of separate institutions Talleyrand also received his price, for it was agreed that Murat should be evicted from Naples.

But Murat had taken precautions to avoid this; on the 1st March 1815, as Castlereagh was travelling back to England, Napoleon landed in the south of France. Within a week most of his marshals and the bulk of the army had come over, while Louis XVIII fled to Ghent This counter-revolution, as Napoleon divined, could only succeed if it rested on the people. He took up again his rôle of 1799, dabbled in constitution-making, and protested his wish to keep the peace, as most Frenchmen certainly desired. Was Britain then, false to her own tradition, to force on France the reactionary Bourbons?

In such a spirit Grey and Grenville, Wellesley and Whitbread, opposed renewal of war, but though the Allies hesitated to pronounce for the Bourbons, on Napoleon they spoke with unanimity. Declaring that he must be given over to public justice, they renewed the treaty of Chaumont and prepared a great converging invasion; Britain, said

Liverpool, could not stand apart, 'without giving up all hopes of ever rallying Europe again'

Powerful reasons, then, decided Napoleon to strike when and where he did Action would anticipate the Allies' cumbrous mobilization, reward the enthusiasm of his soldiers, and silence doubters at Paris, successful action in Belgium would crush the two best-prepared of his enemies, win the sympathy of his old Belgian subjects, and perhaps bring down the Liverpool government.

Disarmament and the American war had weakened the British forces, so that only some 21,000 British were in the 67,000 men under Wellington at Waterloo, and Napoleon found them and the Prussians strung out over 150 miles from Ostend to Liége His masterly move caught them unready and uncertain of his direction when, on the 14th June, he struck at the hinge between their armies at Charleroi, whence ran the road to Brussels Though neither his own energy nor the grasp of his commanders reached their old level, two fierce encounters of the 16th gave him a half success, and at Ligny he badly mauled Blucher's army, driving it north-eastwards. He was robbed, however, of the co-operation he counted on from his left wing under Ney at Quatre Bras, who dallied so long that he became engaged in a full-dress battle. For Wellington, fearful of a move to outflank his right and cut him from the Channel ports, began that day with a bare 7000 men in position, and though by nightfall reinforcements raised that figure to some 30,000, it was a chaotic battle, fought until both sides were exhausted. Retreat Wellington must, to keep touch with the Prussians, but the retreat on the 17th had some bad moments and was only made possible by Ney's incompetence

The Duke now gave Blucher his word he would fight, if he got the help of even one Prussian corps, and had marked down the spot where to make his stand. Before the Charleroi highroad to Brussels passes through the forest of Soignies, in which the village of Waterloo lies, it rises very gently to cross the plateau of Mont-St-Jean From this ridge northwards the ground fell away, affording fair cover, southwards a country road, protected variously by hedges and embankment, crossed the whole front from east to west, forward of that again the stone farm-house of La Haye-Sainte in the centre of the slope and the château and wood of Hougoumont, some thousand yards forward from the British right, made outposts to a strong position. Behind in Soignies and away to the east were woods, but the valleys and the slope were full of corn, though now beaten down by pitiless rain About 1300 yards south of Mont-St-Jean was another ridge, and on it an inn called La Belle Alliance, this was the destined centre of the French line, behind which they bivouacked this night

When Sunday the 18th June broke, dull and showery, neither side

had mustered all their strength Still nervous of a turning movement round his right, Wellington had 17,000 men in reserve ten miles north-west at Hal. But Napoleon made two, much more false, assumptions. He believed that the Prussians were too demoralized to fight again at once and, misled by bad staff work, also believed they had retreated towards Liége and the Meuse; whereas they had rallied at Wavre on the Dyle, only ten miles or so east of the British. Meantime he had detached Grouchy with 30,000 men to follow them north-eastwards, as he did with dilatory literalness for twenty-four fatal hours. On the ground, then, Wellington had some 67,000 men against 74,000, with 184 guns against 246.

It was a desperate battle, — 'the nearest run thing you ever saw in your life', said Wellington next day, — since both armies were fighting against time. The opening artillery began at 11.35, but it was not till 4 30 that Blucher struck on the French right and rear, and not till about 7 that another Prussian corps formed up on the British left Twice the British seemed to be overwhelmed; once just after noon when the French reached the cross-road, only to be swept off it by a massed cavalry charge, and again about 7, when La Haye-Sainte fell, leaving a gap in our centre. But that success came too late.

Never did the French show themselves braver, but neither their high command nor their tactics were worthy of that courage Instead of masking Hougoumont, or shattering it by artillery, they turned what Napoleon had intended as a diversion into a continuous battle, which used up thousands of their infantry. Again, their infantry attacks proved once more the mistake of pitting dense columns against the British deployed firing-line. Finally, Ney prematurely committed nearly all the cavalry, leading four charges packed in the narrow front between La Haye and Hougoumont, against unbroken infantry squares, enfilading fire, and the bayonet Not till these were beaten back, exhausted, did he press forward his infantry again.

When he made the attack that took La Haye at last, the Prussians' arrival made it doubly too late. For Napoleon could not reinforce him, having to use some of the guard in repelling Blucher on his right, while other Prussian columns, reaching the English left, allowed Wellington to move troops to his breaking centre It was against this reinforced front that Ney led the last crowded mass of the guards' infantry. The sun had just set when, at 8.15, the Duke ordered a general advance; by nine the French flight had become a rout. The British losses were nearly 15,000 in killed and wounded, the Prussians' about 6000, the French 25,000 and more thousands taken prisoner

Napoleon having abdicated in favour of his son, the Allies' rapid advance, despair at Paris, and the management of Talleyrand and

Fouché, made a second Bourbon restoration easy; in July Napoleon surrendered to the British ships at Rochefort, and duly departed as a captive to the distant island of St Helena. There still remained the settlement with France in which Britain, with assistance from the Czar, played the great part; though not Britain, indeed, so much as Castlereagh and Wellington. While the Allied troops pillaged, and while the Germans demanded Alsace-Lorraine, the Saar, and every powerful fortress, Wellington pointed to our pledges to the French people and argued that France, if stripped and held under, would turn revolutionary Castlereagh criticized the folly of 'scratching' a great Power, contending that our first object must be to 'bring back the world to peaceful habits', while France could also be made a counterweight to the might of Russia.

Resisting British and Allied sentiment, these two men convinced the Cabinet, and carried through the second peace of Paris By this France received, roughly, the frontiers of 1790, losing Landau, Saarlouis, and small strips in Belgium and Savoy, she paid an indemnity of 700 million francs and restored the artistic treasures looted in the long war. An army of occupation, under Wellington's command, was to hold certain northern fortresses for five years.

One other concession Castlereagh could now wring from Louis XVIII, which meant more to British feeling and the world's future than changes of territory. The national sentiment for universal abolition of the slave trade was ardent and organized, but in 1814 all that he had been able to achieve was an offer from France and all other States, except Spain and Portugal, of abolition within five years Since then, however, Napoleon had ordered instant abolition and this the restored Bourbons accepted, together with our proposal for an international commission to give it effect One or two other matters left over at Vienna had now solved themselves, or were quickly disposed of Murat condemned himself by taking up arms against Austria and perished at the hands of the Neapolitans For lack of a better custodian, and from disagreement between Russia and Austria, Great Britain became protector of the Ionian Islands All the Powers guaranteed the neutrality of Switzerland.

It remained to clinch the peace by that wider guarantee which our ministers had long sought To them the 'Holy Alliance' put forward by the Czar, whereby all the Continental sovereigns pledged themselves to observe Christian principles, seemed meaningless, while they saw danger in Alexander's notion of guaranteeing the form of French government. The quadruple alliance drafted by Castlereagh, and signed in November, was more limited and rational, binding the Allies to maintain the treaty of Paris, to joint measures against a Bonapartist restoration, and to hold conferences at regular intervals

to consider whatever seemed required for 'maintenance of the peace of Europe'.

This was the climax of the settlement of 1815. There were flaws in it, as liberal opinion thought at the time, and as later events were to prove; pledges given during the war which, when translated into fact, proved unpopular or unfitting, like the annexation of Norway to Bernadotte's Sweden, or subjection of Belgium to a Dutch dynasty; while Italy must, one day, so mature in strength and feeling as to throw off the dominance given to Austria. As a whole, it represented too narrowly the fears of a generation to whom popular institutions had come to mean anarchy, nor did the concert of Europe of Castlereagh's making contain the machinery for necessary change But a great evil and a great despotism had been overthrown, and Europe had substantial peace for thirty years. During which Great Britain achieved, without bloodshed but amid turmoil and strain, her own long-postponed revolution.

CONTEMPORARY DATES

1802 The peace of Amiens
Marquis Wellesley makes treaty of Bassein.
Foundation of *Edinburgh Review*
1803 Reopening of war
1804 Napoleon, Emperor of the French
Schiller, *William Tell*
1805 Ulm; Austerlitz, Trafalgar
Walter Scott, *Lay of the Last Minstrel*
1806 End of the Holy Roman Empire
The Sikh Ranjit Singh makes terms with the British
1807 Death of Henry, Cardinal of York
Stein and Scharnhorst at work in Prussia
Fulton's steamboat in the Hudson
1808 Joseph Bonaparte, King of Spain
Beethoven, Fifth Symphony
1809 Aspern and Wagram, Corunna and Talavera
Metternich becomes Austrian Chancellor
Birth of Gladstone, Abraham Lincoln, and Charles Darwin
1810 Republican governments set up in South America.
Madame de Stael, *L'Allemagne*
1811 Battle of Albuera
Jane Austen, *Sense and Sensibility*
1812 Napoleon at Moscow
Badajoz and Salamanca
War with the United States.
Hegel's *Logic*
Byron, *Childe Harold*
1813 Rising of Germany; battle of Leipzig
Elizabeth Fry visits the prisons

1814 Napoleon in Elba
Ferdinand of Spain overthrows constitution of 1812
Treaty of Ghent
Scott, *Waverley*
Wordsworth, *Excursion*
1815 Waterloo; Congress of Vienna, and second peace of Paris
Macadam, surveyor-general of the roads

CHAPTER VI

THE CONSTITUTION IN 1815

THE stages in the evolution of our government, last sketched in detail before the revolution wrought by Henry VIII, have appeared broadly in the unrolling of the two succeeding centuries. We survey it once more as it stood about 1815, before it passed through changes more radical than any since the Angevins

What had been begun by the Tudors was completed as against the Stuarts, and never challenged again. Generation by generation, government was transformed from one of a mediaeval to one of modern type, in the sense that moral notions of custom or fundamental law made way for the legal concept of sovereign power; and this a power not resting in the Crown, but shared between King in Parliament and the common law. This particular solution of sovereignty, so unlike that reached in other countries, was due to the continuous strength in a small, undisturbed, and therefore conservative country of its mediaeval rule, that law and the consent of his people bind the King

We have seen the last decisive clash in the Civil War — or, rather, on its eve in 1641. By the consent of both parties in that year the Star Chamber, High Commission, and Council of the North were swept away, so too were the arbitrary powers and the original jurisdiction (though not its powers on appeal) of the Council itself. Nor after the universal revolt against impositions and ship-money would it be possible to use unparliamentary taxation on a large scale These protests of Parliament and the law triumphed even over the Protectorate and its military necessities. In 1660 we therefore enter a new constitutional epoch, which endured until 1760 at least, and in which the controversy was not whether King in Parliament and common law were supreme but rather the respective shares within that sphere as between the partners

This supremacy carried within it some vital consequences

(1) The life of Parliament became continuous. Between 1603 and 1640, for instance, its total sessions added up to only four years and a half; between 1681 and 1685 it did not meet at all. All this was changed at the Revolution of 1688 and driven home by the creation of credit as the means of financing government, which made regular meetings of the Commons imperative.

(2) Local government was brought within the same arena. The

judges' decision of 1610 that royal proclamations could not make new law, the downfall in 1641 of the Council's means of enforcing obedience; the end of forfeiting borough charters by *Quo Warranto*, by such steps local government was left to the administration of ministers, the rules of common law, and for larger matters to private bills in Parliament.

(3) Within the ambit of Parliament were incorporated, one after another, every new extension of sovereignty This could be illustrated by Henry VIII's Church legislation or his statute of Wales, the Union Act of 1707 with Scotland, the Acts regarding Ireland of 1719 and the Union of 1801, the new charters issued to the Colonies after 1689 by Parliament, no longer by the Crown, or the revised charters given to the East India Company and the Bank of England.

(4) It was now in Parliament, rather than in the Crown, that the State was envisaged as an undying corporation. That was implicit in the Act of 1696, whereby an existing Parliament was to continue six months after the sovereign's death, as well as in the many Regency Acts, such as those of 1706 and 1788.

(5) A very large increase in the Commons' numbers testified much less to royal wish for influence than to a growing demand to be represented There were only 298 members in 1509, but 467 by 1603, and 558 after 1707 From Charles II's time onwards any additions were made by statute, and no longer by prerogative.

(6) Time out of mind, the method of advance had been one of taking over royal prerogatives and absorbing them in the ordinary law Sometimes this had come about by royal cession, as the Tudors brought the Welsh lords' marcherships under statute, sometimes by resistance from the common-law courts, as with their writs of prohibition against High Commission; sometimes, and more commonly in later days, by direct attack through statute Such, for example, were the Bill of Rights' restriction on the royal dispensing power, the triennial and septennial Acts, or the clause in the Act of Settlement which forbade a royal pardon to bar an impeachment One late instance arose over the Army, originally controlled by the royal constable and marshal. The Petition of Right had merely laid down that martial law could not be used in time of peace, but in fact military discipline was necessary, whether in peace or war Since the Bill of Rights, consequently, Parliament has annually renewed its consent to the legal existence of an army and by many Mutiny Acts ratified a code of military law, at the same time providing by other statutes for the government of the militia

(7) Not the powers only, but the structure of government went through the same process Many times over, one part of government after another had gone 'out of court' — Exchequer, Chancery, and Privy Seal, even the Star Chamber in its later days became a public

court, in which common lawyers acted as counsel. After 1689 any serious change or expansion was made by ministers after parliamentary debate; so in 1710 statute established the Postmaster-General, while in 1794 a third secretaryship of State appeared, for War, which in 1801 was given charge of the Colonies also. The Rockingham Whigs and Pitt, again, brought under Parliament the old prerogative organs of the Secretary-at-War and the Board of Trade.

(8) All this meant that the distinction which fourteenth-century reformers aspired to draw between the private and public capacities of the King had at last been determined. Of this a manifest proof lay in the royal civil list · the assignment by Parliament of revenues to the Crown for personal and ceremonial purposes, all other charges being borne by the Exchequer It was fixed at £700,000 for William III, and at rather more for the Hanoverians, but it was not till William IV's day that it was finally relieved of all public payments, such as the salaries of judges and ambassadors.

So prerogative had gone, or been absorbed into parliamentary usage. No sovereign after William III vetoed a major bill, none after Anne any bill (except a bill of a Colonial legislature) at all. The prerogative of dissolving Parliament was used in 1784 at the discretion of the younger Pitt, in 1806 on the request of Grenville, and in 1807, within a year, in order to establish Portland What remained to the King was the 'influence' we have seen wielded by the Georges, a mixed mass of legal powers, patronage, and conventions, subtle and sometimes dangerous, but in the last resort defenceless against a resolute Cabinet or Parliament. All the King's influence could not have waged the American War or resisted Catholic claims without large support in Cabinet and people, while alike in 1757, 1806, and 1812 the Crown failed to form a government to its own liking

Of this absorption of prerogative the supreme case was Cabinet government, a growth brought about by usage and in terms unknown to the law Like all else in our central institutions it had come out of the Council, having descended from the 'foreign committee' to which the old-fashioned privy council of Charles II left its vital or secret business How unpopular this development was the Act of Settlement of 1701 had proved, by its attempt to restore the Privy Council as the working executive, but that clause was repealed in 1705 since experience showed that, whatever it was called, some such small body, amenable to Parliament, was indispensable.

Yet Cabinet government in our sense was unknown in the days of Walpole, and here, as in so many other ways, the decisive period came after 1782, in part from accident like the weakening mentality of the King or the general contempt for the Regent, but still more from the new stirring of party and positive action. Restriction of 'influence' by

the Burke reforms, and the fall of the King's friends, much enhanced the office of Prime Minister; the Cabinet became more coherent, without the old distinction between an inner and an outer group; the ejection of Thurlow in 1792 or of Sidmouth in 1805 illustrated the tighter bonds of discipline Even so, it was very far to go to the modern system Organized party being yet in its infancy, a high proportion of members were independents, totally uncontrolled by ministers or any machine; besides which the old view of the Constitution still prevailed, which made it one of separated powers, each with a proper legal rôle. How powerful was the Crown was yet to be seen in 1820-22, and in Lord Grey's struggle to carry the Reform Bill.

In this supremacy of the King in Parliament the share of the Lords had much dwindled since Tudor days, however great the local influence of individual peers. By a rule the reverse of that applying to the Commons, it had diminished in ratio with an increase of their numbers. There were 60 temporal peers when Elizabeth died, 176 just before the Scottish Union, and in 1806 just on 330. They had thereby come down from their lofty patrician estate to become part of a Prime Minister's patronage, or his route to power. With every wider diffusion of wealth the proportionate weight of the Commons must gain, and their power of the purse grow more decisive. By resolutions of 1670-71 they had refuted the Lords' claim to amend money bills, and though the number of peers in most Cabinets was much greater than it is now, the driving-wheel of every ministry after Walpole's was its majority in the Commons

Such power was easily abused, for they were becoming increasingly unrepresentative, their debates were not printed until after 1770, and their own privileges were stretched out to tyranny. Freedom from arrest was extended to cover their debts, or offences of their game-keepers, freedom of election, to claim that their resolution could determine the validity of an individual's vote or, as in Wilkes' case, to declare a minority candidate legally elected; their power to commit for contempt was scandalously used against alleged 'Papists' during the Plot, and against printers in the eighteenth century. But this danger from a tyrannous House of Commons was arrested by the same force which had curbed a tyrannous King — the common law.

Indeed everything, good and bad, most characteristic of the Constitution in the three hundred years from Henry VIII to George IV must be attributed to a historic fact — that it had grown like a coral reef round this venerable common law. Long before new Councils were devised to give remedies for new problems, its tough strength had decided that law in England is the law applied by a court, and had built up a framework of specific writs and indictment and punishment, within which justices of the peace or any other new legal engine must be fitted From

the fourteenth century onwards, until their triumph in the seventeenth, the courts insisted that there were some things which no royal council or new-fangled tribunal could do, as, for instance, to take away a man's life or freehold, except in the partial instance of Chancery, they defeated every attempt to apply any law but the single common law, added to by statute but interpreting each statutory addition as part of something larger and more venerable

So in many memorable cases, and in ages when everywhere in Europe public liberties were being quenched, English law defended freedom. The Habeas Corpus Act of 1678 cleared of doubt, once for all, the principle of Magna Carta, that a prisoner is entitled to a speedy and public trial by his peers; henceforward to deny that right necessitated a suspension of the Act by Parliament, as happened in days of stress such as 1715 or 1817. Juries might, indeed, be stampeded by sentiment, but the mere existence of trial by jury was enough in 1794 to prevent Pitt's government proceeding to extremes against reformers, and often made the law officers hesitate to prosecute. Many an English family held slaves in Virginia or Jamaica, but if the nabob or planter brought a black boy on to British soil, to stand behind his chair in a silver collar or wave his mistress' fan, the slave became free; as Mansfield majestically laid down in Somerset's case in 1772.

This vindication of liberty was pursued against political majorities in Parliament itself, and that perhaps was the best legal achievement of the eighteenth century Acting not in the name of high-sounding rights of man but by prosaic deduction from habeas corpus or the law of nuisance, the judges consistently protected the subject against ministers and Parliament Thus Holt in the case of Ashby *v* White of 1704 ruled that the Commons' resolution alone could not make law, or deprive a citizen of his franchise So, in the controversies circling round Wilkes, Camden demolished the Secretary of State's supposed power to arrest on a general warrant — declaring, as Coke would surely have declared too, 'with respect to the argument of State necessity or a distinction which has been aimed at between State offences and others, the common law does not understand that kind of reasoning' And so in 1798, even on behalf of the rebel Wolfe Tone, the Irish judges insisted that no such thing as martial law existed in the British realms

As a defensive system, no stronger vehicle for the common good has been known than British law, but it suffered from the very virtue of its origins, that it had grown upward from the soil of vested right and was administered by immemorial self-governing bodies. These rights and bodies, having prevailed in the seventeenth century, had ever since gone their own way, till by 1815 we see plainly that they were wholly unfit to deal with a new age. Such modernization as had been achieved had been done piecemeal, as by Pitt's reforms of some central depart-

ments, by setting up 'improvement commissioners' in large towns to control water or drainage, by some statutory local bodies to deal with the poor, or by giving London a few paid magistrates. But such steps merely added new tiers or wings to an old fabric, antiquated beyond repair For the county franchise had not changed since 1430, distribution of seats had hardly altered since Elizabeth, the commission of the peace kept the powers given in 1590 down to 1875, Stuart charters and Laudian statutes governed Victorian boroughs and universities Every public office was full of mediaeval relics, as the Exchequer preserved the clerk of the pells or the surveyor-general of green wax, every ancient endowment for charity or education was administered, sometimes decently but more often ill, in accord with conditions long passed away.

It was certain that one thing only could close this gulf, or become the pre-condition of all that must be done to harmonize government with the new society, that is, a reform of Parliament itself. As it stood in 1815, the representative body was wholly unrepresentative. The distribution of seats had been notoriously so, even under the Commonwealth. A quarter of the Commons were returned by the five south-western shires, Cornwall alone accounting for 44; whereas the area we now call Greater London returned only 10, and many large towns — Birmingham, Leeds, and Manchester among them — were not represented at all. Of 558 members, 405 sat for English boroughs, but of those 203 boroughs the 23 northern counties held only 74; some three-quarters of the boroughs had electorates of less than 500, and a high proportion of very much less As for the franchise, for the 80 county members in England the voting qualification of a 40s. freehold had not budged since 1434; during which time an extension of leaseholds made a freeholders' monopoly ridiculous. However, by dint of manufacturing freeholds for each occasion and by growth of population, an average county electorate was rather over 4000— reaching 20,000 in Yorkshire — and the boroughs caused the real scandal. Except for a dozen or so with a wide residential vote — Westminster being much the greatest — they were divided into four classes of qualification, each of them mediaeval or out of date, those where freemen of the borough had the vote, those where it went to citizens who paid 'scot and lot' (the equivalent of rates), those where it was restricted to members of the corporation, and those where it was attached to the sites of mediaeval tenements, called 'burgages'. Each type contained its own absurdities. The burgage voters of Old Sarum were only 7, and the wide household voters of Gatton numbered only 6; a pocket borough could be made almost equally safe by multiplying freemen as by bribing a corporation. On the whole, it seems that nearly half the English seats were in the hands of patrons, the Crown included, though such government influence had much diminished since 1782.

Scotland was in much worse case. Its total electorate was barely over 4000; the royal burghs were ruled by small, self-chosen councils; Walpole's and the Pelhams' administrations, and the long career of Henry Dundas, proved that, given time and money, a government could make of Scotland almost one large pocket borough

If all this were not changed, the monarchy could still obstruct ministers who had no mandate behind them; provincial aristocracies, or effete corrupt corporations, would still go their own way, the law would still be exploited to block any change. Much good, no doubt, could be accomplished by a strong minister, even under the old system, as Pitt and Canning had shown, but not the essentials of popular government of a real Cabinet, organized parties, and the dominance of public opinion.

CHAPTER VII

CONDITION OF THE PEOPLE IN 1815

As with their government, so both the outer life and inner thinking of the people continued little changed, to a surprisingly late date Their real revolution, if dates can be applied to ceaseless growth, had not occurred in 1688 but about a century after In early Georgian England we find still existing the fabric of the Cecils and the Protectorate, in masses of open fields, domestic workers and peasant farmers, tiny cottages of wattle and daub, universities more than half given to training a priesthood, and life set within the frame made by Renaissance and Reformation.

How economic pressures broke down that ancient scheme, we have seen in part, and are to see again, but there were other changes proceeding, equally important For though history knows no rigid compartments, and though such terms as 'classical' or 'romantic' mask a hundred degrees and shades, it is possible to give a character of its own to the century following 1660 or 1688. More, indeed, by way of negatives than by positive quality, for it had lost much as well as gained.

Religion in its former sense, as the cement of society and justification of man, had disappeared, and must somehow be reconciled with the triumphant forces of natural philosophy, tolerance, and opinion And we cannot measure their state of mind, as in older days, by illustration from a few great writers, since opinion had descended from the closet of Bacon or Donne to the street, even Grub Street, to the coffee-house, and public debate Individuals may, indeed, outlive their age, and even after Restoration we meet with those — Sir Thomas Browne of the *Religio Medici*, Otway the dramatist, L'Estrange the Tory press censor, a few clerics of Anne's reign — who link us to what has gone before But we have only to read the main body of Dryden, to open the Augustans in Swift, Addison, and Pope, or men whose fame was made under George II like Johnson and Chesterfield, to realize we are breathing a new air.

Its inhabitants over two generations included very great figures: Locke, Newton, Wren, Swift, and Pope; Johnson, Hume, Fielding, Burke, Reynolds, Blackstone, Warren Hastings, Gibbon, and Adam Smith. Men use such terms as 'Augustan' of their literature, 'Palladian' of their building, 'classical' of their view of government; their

achievements embrace St Paul's, the building of Bath and many hundred superb houses, the school of portraiture which went on from Reynolds to Gainsborough, Raeburn, Romney, and Lawrence, the human arts of Hogarth, Fielding, and Goldsmith, the philosophy which assisted America and France into revolution, as well as the energy of inventors and men of commerce Varying infinitely from man to man, these powerful individuals, unregulated by any uniform education, standardized press, or all-absorbing civil service, did nevertheless all partake of a certain fixed outlook. Their philosophy, and often their religion, was one of common sense, the Deist school, and for that matter many divines, had argued away the miraculous or transcendental, they shunned and disliked enthusiasm, and one feels that their heavenly citizens would be clad in broadcloth. Their classical training, the teaching they took freely from France, and their new science, all alike induced them to search for system, their instinct was to take the broad sweep, to plan thought as they planned landscape gardening, to generalize from their reading of experience to the rights and properties of man, his reasonableness, and his benevolence. They were, again, a generation of aristocrats, not by noble blood, much as they admired it, but in spirit, and that was inevitable, considering the dearth of elementary education and the barbarity of an eighteenth-century mob They had, finally, a sense of satisfaction, of complacency, in the civilization of their age and country, as we may judge from the serene portraits of their leaders and the undoubting prejudices of their thought

They were therefore apt to write off the Middle Ages and paint earlier history as 'Gothic', and to dismiss what was obscure or embittered, as Johnson dismissed the seventeenth-century poets; what was original could not make appeal to those who admired the sweet platitudes of Addison, or pruned Shakespeare to fit their rules The vehicle of their thought was an admirable prose, that of Dryden, Tillotson, Swift, and Hume, plain and sinewy and persuasive. They had rationalized everything, Christianity included, even the strongest Christian treatise of the age, Butler's *Analogy of Religion*, defending dogma on the ground that it conformed to the teaching of Nature; from and by Nature's gift to man, of Reason, they deduced the laws of conduct and civic rights In all this they were much swayed by the liberal thought of France, of Voltaire, Condorcet, and the economists, who were sweeping their country clean of all but a few strong dominant ideas.

Nowhere was the change since the passionate seventeenth century better seen than in Scotland, whose intellectual golden age covered the reigns of the second and third Georges Scotsmen, in particular Hartley and Reid and Hutcheson, polished this philosophy of the senses and common sense; a moderate school, under men like Robertson the historian, captured the high places in the Kirk, Adam Smith founded

modern economic thinking. Most dynamic of all was David Hume, who pricked all the bubbles in the once venerated abstract rights and original contract, and by pushing the rule of reason into scepticism put an end to the classic system. For this ' eighteenth century ', whose real dates ran from about 1670 to 1760, ignored or minimized two things which cannot be ignored for long: past history, and the full content of human nature.

From about 1760, but in some earlier symptoms too, we light on those spiritual forces which had by 1815 broken asunder the genial half-truths of the eighteenth century. ' Nature ' is not a creature which submits to be docketed by man, and there are plentiful signs in the early poetry of the century, in Collins for instance, of what was later called the ' romantic ' spirit. In Cowper and in Richardson's long novels we have the sensibility of which the age was full, besides the philanthropy which they were extending to animals; a new quality which we might measure if we compare Gilbert White's *Natural History of Selborne* with the spirituality of a seventeenth-century nature poet like Henry Vaughan. There were marked expressions of a new interest in the Middle Ages, much deeper than the amateur patronizing of Horace Walpole; bishop Percy's *Reliques* of old ballad poetry, the cult of James Macpherson's spurious *Ossian*, or Gray's borrowings from the Welsh bards, indicate a public that would welcome ' romance '. Well before the French Revolution, old springs which had long seemed dry had flowed again. Methodist and Evangelical revival prepared a religious renewal, which would strain the decent political machine of the establishment From the Dissenting academies leaders like Priestley delivered a teaching which would insist on reform. The long public life of Jeremy Bentham had begun, for his *Fragment on Government* appeared in 1779, already inspired by his rule of ' utility '.

Such influences, first reaching the upper air of public life in the circle which Shelburne assembled round him, were visible in Pitt's measures, and about 1809–12 we become conscious that no government can stand which resists reform. Forty years of passion had bequeathed three powerful schools of thought. There were the utilitarian and philosophic Radicals, led behind the scenes by Bentham and James Mill, and most volubly represented in politics by the Edinburgh advocate, Henry Brougham There were the ' revolutionary ' group — though violence was rarely their object; these would include the survivors of the societies which Pitt had repressed, like Major Cartwright, intellectuals of the Left like Godwin and his son-in-law Shelley, or Hazlitt, William Cobbett the Hampshire yeoman — who had begun as a war Tory and looked back to an older England which had not known enclosure, war debts, and poor-law doles — and a little minority in Parliament such as Whitbread, Romilly, and Francis Burdett. Finally, the revolution had

produced by way of reaction those whom religion, or natural conservatism, would incline to detest it; led by the great names of converted revolutionaries in the Lake poets, the long-lived legacy of Burke, and the new fame of Walter Scott. Such men would perhaps only agree with their formal political leaders, Canning and Peel, in one point · in their repudiation of reason, the revolutionary formula, and dependence on quite another set of motives, sentiment and the affections, custom and conscience.

Even during the necessities of war, reform sprayed over the survivals which had become abuses, there was, for example, new legislation against the sale of seats and sinecures, while in 1812 the East India Company's monopoly was removed. There had been reform too at the universities, Oxford and Cambridge both organizing their examination systems soon after 1800. Fundamentally, however, the old educational regime, and its gaps, stood almost unchanged. Except in Scotland, no public money was spent on elementary teaching, most of which was done by charity schools or village dames, or by the Sunday-school movement lately begun by Robert Raikes of Gloucester, or private effort, as by the Tory high-churchwoman Hannah More's village classes in the Mendips Since 1811 it had been taken up by rival Churches, the National Society for Anglicans and the British and Foreign School Society in the interest of Nonconformists

As for higher education, it would be absurd to dismiss lightly all that was taught at the public schools to boys like Canning and Peel, but their teaching was almost restricted to the classics and their life often brutal and undisciplined. Though there were some good grammar schools, a mass of them suffered, as scores of endowed charities and corporations suffered too, from the absence of any central body to see they were honestly administered

In truth, almost every institution had been made for a smaller and different England. The poor law was made for Elizabethan parishes. The Anglican Church in Ireland represented a Tudor monopoly. In England and Wales it had lost much ground to the Wesleyans and neglected newer, populous areas, its structure had not been overhauled since the Reformation; its revenues were unjustly distributed, hundreds of parishes giving their priest a starvation wage. It monopolized the universities, where none but an Anglican could take a degree, while Test and Corporation Acts still legally, though not in fact, excluded Dissenters from office

We have, then, a people fundamentally changed in spirit but enclosed in an ancient governmental frame. Drastic reform there was bound to be, and how much more certain if we consider the effect of the twenty-three years of the great war, and of the industrial revolution which had now entered on a larger stage.

By the first census of 1801 the population of Great Britain was found to be just below 11 millions, but had risen to 16½ by 1831 Its distribution was in course of a vital change, for in those years Lancashire grew by 98 per cent, the West Riding by 74 per cent, and Lanark even more than these Manchester's 40,000 people of 1770 were 187,000 by 1821; Leeds, Sheffield, and Birmingham all doubled in thirty years. Outside these great concentrations the whole face of the country altered. In the century ending in 1821, for all practical purposes, all that had been left of its mediaeval common-fields and commons was enclosed, or some 6 million acres. While our exports before the war ranged in value between £25 and £20 millions, the figure of 1830 was round about £70 millions; iron production and cotton imports had both risen several hundredfold per cent. The national debt, which before the war had been under £250 millions, in 1815 stood at £861 millions

Though each item in this process of revolution and suffering has been controverted, and is still subject to intense examination, in some directions we can limit the controversy. In the first place, this revolution was nothing like complete, and for years to come the scale of industry was petty, if compared with late Victorian days Robert Owen's New Lanark mills, the most famous landmark of George IV's reign, employed only 1600 persons, and both in London and the Birmingham region the common unit was the small workshop Mechanism grew very gradually; even in cotton, which was far ahead of other textiles, as late as 1830 hand-looms were reckoned to outnumber power-looms by four to one. Revolution had also been a lengthy process, though so much was concentrated in the Napoleonic period that contemporaries could hardly see beyond their own agony Investigation seems to show that four-fifths of the smaller landowners had disappeared before 1780, while the clothing trades of the eastern and middle-western shires had long ago lost ground to the north

Nor again is it possible to describe the period from 1780 to 1830 as one of sheer social evil. It is now established that the British birth-rate reached its peak about 1780–90, thereafter slightly falling, in other words, that the increase of population was principally due, not to the birth-rate, but to an astonishing fall in the death-rate, of something like a third between 1780 and 1820. This too had begun earlier, for the middle-eighteenth century saw the first great extension of hospitals and dispensaries; we have also to take into account a greater variety of food, better meat, and drainage, that accompanied agricultural improvement. Moreover, any vision of a population pressed down into deepening poverty is beside the mark. Over the whole period of upheaval from 1790 to 1850, industrial wages as a whole rose by about 40 per cent, which was well above the corresponding rate in the cost of living

It was a matter, rather, of conflict and confusion. As the new system rose, grievous suffering fell on the weakest survivors of the old, notably on the hand-loom weavers of the north and the southern agricultural labourers, and it was a suffering with which the existing machine proved unable to cope. At the same time, most men were ruled by an economic teaching that State interference would do more harm than good.

Let us first look at the land. Whereas the enclosure movement under the Tudors had been carried out in the teeth of government and against many of the best minds of the age, the exact reverse obtained in the eighteenth century It was part of that spirit of improvement which had begun to revolutionize farming, spurred on by Parliament and applauded by experts, and in particular by the active Arthur Young and the Board of Agriculture founded by Pitt Without it, certainly no improvement would have been possible, and much less the feeding of a greater population For open fields kept farming at the pace of the slowest, made good drainage impossible, and forbade crop experiments, while no good stock could be raised on the commons, where every commoner turned out his wretched beasts without stint or selection. So far, the reformers' case was impregnable But this phase of enclosing, as carried out, destroyed any chance of preserving a peasantry at all Unlike the Tudor stage, this was concentrated on the wastes and commons, the loss of which to a poor man meant loss of all that made his holding profitable — of cheap fuel, of keeping a cow or two, or turning out his geese. Enclosing expenses, the fencing involved for instance, were beyond his means, so that even if it were carried out fairly, which it very often was not, his small share became an uneconomic unit. And as simultaneously new industries were swamping the village craftsmen — smiths, saddlers, glove-makers, and weavers — a peasant family was left with a hard battle for existence.

Another considerable item in its downfall was the poor law, which had become the worst abuse of society Import of grain being impossible during the war and no large supply being yet available from America, with any inferior harvest the country was immediately confronted by starvation prices North's government had legislated for wheat prices of less than 50s a quarter, but for the ten years ending with 1814 they averaged 75s , and for the next ten, 93s If the labouring poor were not to starve, there were only two possible remedies The one, to raise their wage to a legal minimum, ran counter to the reigning economic theory, the other was adopted, at first by local magistrates like the Berkshire J.P.'s at Speenhamland, and then by Parliament, to assist wages by cash payments, or some other method, from the rates

In its full evil this system never prevailed in the north, but in the east and south the damage was growing every day. Before the war the

total of poor rates had been rather under two million pounds, at the peace it was near seven, and this increase was hideously concentrated, the county of Sussex thus spending more than all Wales. A minimum subsistence according to a bread scale being fixed and pauper wages brought up to that point, normal agricultural wages naturally sank to that level. Farmers were thus guaranteed getting their work part-done from parish labour, that being so, the only way by which an independent labourer could be sure of keeping employment was by going on the parish. This burden of rate-aid broke down many a small employer. By many devices this pauperized labour-supply was partitioned out, sometimes as 'roundsmen' billeted on each ratepayer in turn, and sometimes auctioned out like animals.

While the south sank in this deadly penalty for a legislation lacking administrative safeguards, the new industrial order was also full of evil. Experience seems to show that the mass of humanity must be protected either by the State or their own organized effort But in this era both methods were ruled out. The paternal system, developed by Tudors and Stuarts from mediaeval precedent, had included fixed wage-scales and defence of labour standards by regulating apprenticeship, but many appeals to fix minimum wages were now rejected, and in 1813–14 the last relics of wage assessment and apprenticeship were swept away. Meantime, the coincidence of the new industrialism with war and revolution doomed the alternative method of defence. Trades unionism, already heavily attacked in the Pelham period, was put outside the law by the Combination Act of 1799; it is true that many unions secretly continued, masked as benefit clubs or friendly societies, but open strike action was illegal and defence could be wrested into conspiracy. Left without any weapon except violence, the poor passed through a phase of sharp suffering. Wage-rates were driven down, in Lancashire in particular, by hordes of Irish immigrants; in fact, the increase of machinery was delayed for the very reason that employers had a cheaper alternative, in the hand-loom weavers who would accept 9s, or less, a week. Hours were monstrously long, the factory bell would clang at dawn, and its doors would not shut for fourteen or sixteen hours. Mills, mines, and factories employed women and children, and parish apprentices from the south; children of seven years old and upwards were bound to the first textile mills until they were twenty-one Barbarities inflicted on chimney-sweeping boys were at least limited by their scanty numbers, but in the new towns many thousands lived in cellars or over cess-pits, to die miserably of ague and fever. Their children ran wild; even in the 1830's over half the Lancashire mill-hands could not write. Into this morass individual charity seemed to be draining, without serious effect.

In this first quarter of the new century the social thinking of the

ruling class was perhaps made up of three dominant strands. There was the anti-revolutionary teaching of Burke, prolonged in the hands of Canning, Liverpool, and other ministers, who had to resist open violence Second, came the very great power of Evangelical religion, within and without the established Church Reaching politics largely through the long devoted life of Wilberforce, it had done and was still doing much good, so that religion and private life were far better things than in the age of Walpole, Wilkes, and Wesley But not only had this Evangelicalism an other-worldly ideal, a certain passivity about the evils of this life on earth, but it made its chief objective the individual's worthiness and salvation. It had absorbed a good deal of that Puritan theology which insisted that the ' elect ' must be left free, to prove their justification, even by their material success. Yet probably neither of these forces was so strong as that of the economists

It must be remembered that the generation for whom Adam Smith wrote, and Bentham soon after, was violently critical and coming out of a tangle of ancient regulation and local ignorance. All their influence, therefore, was directed to making economic life free; or ' natural ', as they put it If things were left alone, they argued — rents, interest, profits, and wages — they would find their true level. Smith's disciples, notably the Jewish banker David Ricardo, worked out the laws of the distribution of wealth; the doctrine of a wage-fund, found in the ratio between the capital available and the number of labourers competing, which could not be increased by ' interference ', and whose distribution could not permanently be altered by combinations of wage-earners

These men lived through the pressures and half-starvation of the great war In 1798 Malthus, a Hertfordshire parson, published the first edition of an *Essay on Population*, perhaps the most influential English book of the next half-century Human numbers, he reasoned, were for ever pressing on the food supply, and unless positive checks of war and famine arrested this pressure, nothing could do so but moral restraint Wages must therefore always tend to hover round about the cost of the wage-earner's subsistence, and could not for long be kept above that rate by any ill-judged, benevolent ' interference ' This bogy of a swarming, improvident, and unprovided population, driving down all wage-standards by competition, coloured the thought of England till half-way through Victoria's reign, affecting alike its currency policy, its zeal for emigration, and its harsh poor law.

Against this fatalistic philosophy many voices had already been raised. Some were those of idealists such as the Lake poets; Wordsworth with his conception of Nature's purer plan, Southey in fierce attacks in the *Quarterly* on mills and factories, Coleridge with his defence of Christianity as the truer political wisdom. There were voices

from the new democracy also, seizing on some half-truth, and often doing as much harm as good. Owen had shown by example in his Lanark mills that a humane environment was compatible with business profit, though now he was wandering off into utopias of small self-sufficing Socialist units. To Thomas Spence, and his followers the Spenceans, nationalization of the soil was the panaçea; others imagined that labour was the sole source of wealth. Most popular of all was William Cobbett, whose remedies ranged from repudiation of the national debt to abolition of the poor law or juggling with a paper currency, whose notions of history were fantastic and his ignorance profound, while he antagonized the Whigs and Radicals by his inconsistent violence. Yet his vitality and popularity were immense, he was a born pamphleteer and publicist, and in 1815 reduced his *Political Register* in price to twopence, which brought its sale to 50,000 copies a week. He put his strong finger on one essential, that the way to improvement was not revolution, but parliamentary reform

Taken all in all, the effect of this momentous age had been to cleave the nation in two. Under the surface of the classic Constitution, with its fixed liberties like trial by jury, its monarchy, established Church, chartered boroughs and privileged universities, was a new, unorganized, part-disinherited, part-conservative, swaying mass, of new craftsmen and dying small industries, landless peasants, followers of 'Captain Lud' breaking machines, and an unrepresented middle class This struggle was at its height when a war of twenty-three years had left government exhausted, reforms long deferred, a vast debt, and prices driven high by a depreciated currency It was too much to hope that men would rein in their aspirations and hungers until, as the economists argued, these jostling forces found their level.

CHAPTER VIII

THE LIVERPOOL GOVERNMENT, 1815-1825

FROM the turning-point of the war in 1812 Britain was conducted to victory, peace, and massive reform by one and the same government until 1827; not without reproach, but at least with a moderation which no other country could match.

In experience and ability it was one of the strongest of Cabinets. Its original core was the proved partnership of Liverpool, Castlereagh, and Bathurst, respectively at Treasury, Foreign Office, and War Office, Canning was brought back in 1816, Wellington joined in 1818, in its lower ranks were Peel, Huskisson, Palmerston, and Aberdeen. Its weak spots were the iron conservatism of Eldon the Chancellor, the depressed rigid ideas of Sidmouth (Addington) who as Home Secretary would have to deal with internal disturbance, and the incompetent Vansittart at the Exchequer. Sometimes it has been argued — Disraeli made it a popular view in his novels — that this government took on a new and liberal life from 1822, when Canning succeeded to Castlereagh, and Peel to Sidmouth Closer investigation suggests that this contrast is strained, and that the real difference lay between the bitter aftermath of war and the slow dawning of peace and prosperity.

They could congratulate themselves on one piece of good fortune, that the Whig opposition was so ineffectual Its allies, the Grenvilles, by 1818 returned to the Tory camp Grey's leadership was idle, and ultimately he retired in favour of Lansdowne, who stood much closer to the right, their leader in the Commons till 1818, Ponsonby, was insignificant, few trusted Tierney, no one trusted Brougham, two of their best men, Whitbread and Romilly, committed suicide, Horner their economist died young. Personal questions apart, there was no hope for them until they had cleared up relations with the Radicals. Riot and violence repelled Whig peers like Fox's nephew Holland and Fitzwilliam, and so long as the Radical leaders, Burdett and Cartwright, ' Orator ' Hunt or Cobbett, spoke of manhood suffrage, Grey could not take up parliamentary reform again without breaking his party.

On the whole, the ministry's greatest embarrassment was the evil condition of the monarchy, which more than any other single cause, perhaps, brought the country near revolution The Regent's private life was notorious, his wife had gone abroad and he already meditated divorce; his demands for money for his comforts were incessant The

Duke of York was childless and tarnished by old scandals; the other brothers were making haste to marry, but Cumberland's character was fearful, Kent and Clarence were weak and absurd. And when the Regent's only child, Princess Charlotte, died in childbirth in 1817, the nation looked with disgust at a prospect of this battered series of roués succeeding to the throne

Government's first duty was to keep the peace of Europe, which was indeed maintained, in so far that major wars were avoided, until 1848. But the prevailing mark of this period was that it formed a truce between two eras of revolution; if nationality had finally triumphed over Napoleon, the French conquests bequeathed ideas which were to divide Europe as with a sword, the revolutionary ideas of the rights of man, anti-clericalism, and self-government. As so often before and since, before Britain lay a choice between isolation and alliances, the first so dangerous and, as Castlereagh rightly argued, so impossible when Europe was still trembling, yet the second involving such hateful possibilities When, therefore, the restored Bourbons and Hapsburgs, the military Prussians and the Czar Alexander, now fast turning a religious mystic, tried to force the clock back and stamp out all liberal movements, an inevitable clash came about between Britain and her Allies of the war.

In all this, it is now clear, the supposed contrast — taken too often from a few bitter lines of Byron and Shelley — between Canning and Castlereagh lacks substantial foundation Their methods were different enough, but not their ruling idea. We find Castlereagh advancing from point to point in resistance to Metternich and Russia, and the Congress system, on which he had depended, swiftly wilting away. Like all British ministers after such wars, he had two necessary pre-occupations: the enemy must not be allowed to revive in strength, yet their overweening power must not merely pass to one of our Allies. In other words, at that time, a British minister must guard both against revival of French imperialism and against a European despotism of Russia, and we deduce from many words of both ministers that Britain was taking up her usual rôle of mediator, refusing to be imprisoned within any ideology. 'We shall be found in our place', said a famous paper of Castlereagh in 1820, 'when actual danger menaces the system of Europe, but this country cannot, and will not, act upon abstract and speculative principles of precaution'

We find him, then, at Aix-la-Chapelle in 1818, the first meeting of the Congress arranged by treaty, concerned to decide the evacuation of France by Allied garrisons, but also to prevent the Alliance becoming an international police, pledged to uphold all existing governments and territories. By the date of the conference of Troppau in 1820, liberal revolt in Spain and Metternich's repression of liberalism in Germany

forced the breach wider; at Laibach a year later, though admitting Austria's special rights in Italy, Castlereagh refused point-blank to allow a general right of intervention. But the division of Europe between liberal and despotic States was that year cut across by new events. in the Greek rising which put Russia and Austria in rival camps, and French intervention in Spain

He did not live to attend the Congress of Verona in 1822, at which our cleavage from the Holy Alliance was made final, but his papers prove that, at his own pace and in his own way, he had reached the conclusion followed by Canning. For he left behind instructions which meant recognition of the South American republics now rebelling against Spain, and an admission that, though our interest was to preserve the Turkish Empire, some scheme must be found for Greek self-government. Carrying these burdens, besides the lead of the Commons and a feud between King and Cabinet on his shoulders, he broke down and killed himself.

Until nearly that date the internal condition of Britain was a much more grievous strain than conflict in Europe. They had to meet the ruin left by war, and the sudden depression brought by peace War had raised the debt from £240 millions to £861 millions, the interest on which absorbed over half the budget expenditure Both corn prices and rents had doubled, the paper currency had depreciated, and peace knocked the bottom out of this flimsy structure Gold prices fell by 50 per cent between 1813 and 1816, Continental demand ceased, iron dropped from £20 to £8 a ton All the new cornlands, often enclosed on borrowed money, threatened to be dead loss the Navy was cut in one year from 100,000 to 33,000 men; demobilized soldiers flocked home, to swell an army of starving weavers.

The Commons' measures show what clashing influences were beating on them, and shed a sad light on the fabric of government Their first instinct being to save the landed interest, the Corn Law of 1815 prohibited entry of foreign corn till the price reached 80s the quarter, with 67s as the corresponding figure for Colonial wheat. Their second, wherein members of both parties joined, was to reduce taxation, clamour rising loudest from the Radicals Brougham and Hume So, against the will of the Cabinet, the income-tax was repealed, which directly led to higher duties on necessaries of life.

Indeed, *laisser-faire* economics had captured the mass of all parties Liverpool himself, and the ministers who under him dealt with finance and commerce, Huskisson and Wallace and Robinson, believed in levelling all barriers, and this many years before the supposed change of 1822. So the East India Company was deprived of its Indian trading monopoly, the bounty on corn export and the apprenticeship laws were removed, and after long Cabinet conflict it was agreed in 1819

to accept the recommendation of a committee, under Peel as chairman, that the Bank should resume cash payments. In time, when world trade revived, such remedies might assist prosperity, but at the moment they meant a grim deflation, a tussle for employment, and distress.

1816–17 and again 1819 were miserable years of bad harvests and high food prices and violent strikes, there was machine-breaking among the peasants of the east Midlands and the hosiery frame-workers of Nottingham and Leicester This strife was conducted, in the main, between two equally hopeless extremes, of a panic in the possessing class, in ministers like Eldon and Sidmouth or even in Canning, and on the other side a leadership ruined by some irresponsible demagogues. Hence the violent meetings held by Orator Hunt, folly like the Lancashire 'blanketeers' marching on London, seizure of arms, a few mob murders, a great deal of cheap sedition and blasphemy in a very base press, red flags and all the insignia of 1789. Secret committees of the Commons, of both parties, reported that schemes existed to overturn the Constitution, habeas corpus was suspended in 1817–18, informers were used to detect points of danger, and yeomanry called out to reinforce the army.

An exposure of the part played by one such informer, Oliver, brought against this alarmed government a charge that *agents provocateurs* were fomenting disturbance with their approval. This was untrue, and even in this period government did not watch distress with entirely folded hands. They found money for public works, as for the Caledonian Canal; paid a million, in this Evangelical age, for building new churches, supported the elder Peel's Factory Act of 1819, which at least stopped employment of children under nine in factories and mills and the sending of pauper apprentices far from home. It is true also that the darkest spot of all, among the hand-loom weavers, was hardly curable by any government.

But though they were bound to keep order, the older men among them seemed to think repression was a cure, nor had they the vision or vitality to see that parliamentary reform had captured the artisan class The Combinations Act had broken down, trade-union action was incessant, but government did not discern that the sting could be taken out of industrial action by meeting democracy on its political side That was illustrated by the events of 1819, when the unrepresented city of Birmingham elected an unofficial 'representative', and when political unions spread over Lancashire. It came to a head in August at 'Peterloo', the famous meeting in St Peter's Fields, Manchester, when something like 80,000 persons marched in to hear Orator Hunt, where the magistrates most culpably used the local yeomanry to arrest him after the crowd had assembled, and, when the yeomanry were resisted and surrounded, employed the regular cavalry. Government then stood on

the worst possible ground, eleven persons had been killed and many score injured, but the magistrates pleaded self-defence, that the crowd had been drilled and bore threatening banners, and that the yeomanry were first attacked. The Cabinet, Canning included, felt their action had been wrong, but that, if they condemned them, no stand for law and order would be possible again; publicly, therefore, they commended them, and introduced the Six Acts.

Of these the aim was conservative, not reactionary, and in part they still stand on the statute-book. One forbade unauthorized drilling of private armies, a second empowered magistrates to search for arms As regards meetings, they left the familiar county and borough meetings untouched and, accepting a Whig amendment, left indoor meetings free also What they were concerned to prevent were mass meetings in the open, embracing persons from wide areas, and these they made subject to the magistrates' licence Their other bugbear was the violence of the cheap press, which they struck at by a stiffer stamp duty and by allowing a court to confiscate the whole issue, if seditious or blasphemous

Such revolutionary violence as existed came to its climax in the Cato Street conspiracy of February 1820, when Thistlewood, leader of the London extremists, organized a gang to murder the Cabinet, and was caught red-handed After that the worst days were over, and though there were fluctuations in the cost of living, it never rose to the terrible peak of 1816–19 The poor-rate sank, exports rose, and trade revival carried off the people's discontents, which were also distracted in other directions

When the old King died at length in 1820, it at once brought to the forefront George IV's determination to get a divorce from his hated Queen, Caroline, and this set up a furore which shook the throne and resulted in a remodelling of the Cabinet To them the divorce scheme was abhorrent; though they believed the Queen guilty, they warned George that this public exposure, resting on the evidence of Italians, would endanger national peace It was their hope that Caroline might be bribed by a large income into a continuance of her life abroad, it was only when she returned, defied all compromise and abandoned Brougham, her previous adviser, for Cobbett and the enthusiasm of the mob that, much against their will, the Cabinet introduced a bill of pains and penalties

After this scandal had dragged on through 1820, they dropped the bill, for their majority in the Lords fell to nine and they could certainly never pass it through the Commons While the Church resented the view that Parliament could declare the marriage annulled, mob demonstrations and deputations to the Queen and threats of mutiny in the army expressed what Liverpool himself and half the Cabinet felt as

well, — that it was unendurable that the monarchy and all government should be strained to please a King who had treated his wife as had George IV. How little the people cared for the Queen personally was soon seen when she accepted a parliamentary income, again when she was kept out of the coronation, and finally in August 1821 when she died

Canning had resigned rather than endorse the penal proceedings, the King was furious with his ministers, Peel was out of office and very ambitious, and Castlereagh's death in 1822, leaving open both the Foreign Office and the lead of the Commons, crowned this mounting crisis Its solution was as important, alike constitutionally and in immediate effect, as any event between the appointment of Pitt in 1783 and Gladstone's return in 1880 Against a persistent campaign by the King, supported by some ministers like Eldon, Liverpool laid down that this ' principle of exclusion ' must stop once for all, and with a threat of his own resignation carried the appointment of Canning

This, together with the elimination of some older men, brought about in 1822–3 a recasting of the Cabinet; Canning replaced Castlereagh, Peel replaced Sidmouth, Robinson succeeded Vansittart at the Exchequer, Canning's follower Huskisson took the Board of Trade; some of Grenville's supporters were brought in also All of which, with the choice of Marquis Wellesley as Lord-Lieutenant, much strengthened the ' Catholic ' element in Cabinet.

Now Liverpool had formed his government on one principle, taught by all experience since Pitt's sad failure, that the Catholic question must be left ' open ', ministers being free to vote as they pleased, moreover, it was a government held together for national purposes, to end the war and ensure the peace Gradually, however, great questions arose in addition to the Catholic matter, which could not indefinitely be held in suspense; questions of the currency, corn, and parliamentary reform, indeed, all the principles of foreign and social policy. Between 1820 and Liverpool's resignation in 1827 we become conscious of one paramount fact, that these new issues were transforming the old parties, that the Tory inheritors of Pitt were irretrievably divided, and that this cleavage was destroying the Cabinet, within which one section was willing to coalesce with moderate Whigs. Liverpool was thus poised between two hostile bodies, the one including Canning, Robinson, and Huskisson, and the other led by Wellington, Eldon, and Peel.

In two particular directions these were years of fundamental reform. The first was especially the work of Liverpool and his subordinates Huskisson, Robinson, and Wallace; to carry further the task which Pitt had begun but which had been interrupted by war, and which Peel and Gladstone were destined to complete, a gigantic task, of remodelling the whole economics of the State Encouraged by Ricardo and other economists, they took action in advance of business

opinion, and in defiance of sullen opposition from their own back-benches The old system of high protection, high prices, and monopoly for British shipping had become out of date when America was independent, when the Spanish colonies became free nations and new States like Prussia competed with British industry, and when we ourselves were part-dependent on imported food.

In principle our ministers were converts to *laisser-faire*, free exchanges, and cheapened costs. Having restored cash payments in 1821 they stood staunchly by it, despite clamours both from agricultural and democratic quarters for a return to inflation, and were rewarded by the cheapness of money which allowed them to convert part of the war debt. Each year Robinson's budgets remitted taxation, yet revenue increased.

One part of their campaign being against internal barriers, they swept away the tariffs separating Britain from Ireland, freed the coal trade from several ancient duties, abolished excise on salt, and repealed the last relic of fixed wages and prices in the Spitalfields silk industry. A second achievement was an immense revision of the tariff. Duties on raw materials were cut low, bounties were cancelled, while on manufactured goods a level of 20 per cent duties was their aim If Britain continued a protectionist State, it was moderate protection, and imposed on some principle, while in structure the consolidating Act of 1825, repealing over a thousand statutes, made the first modern tariff for the United Kingdom

Huskisson's own feeling was more deeply engaged in a third task, the revision of the commercial system of Empire Plainly the Navigation Acts were obsolete By the end of 1825 both Americas were allowed to send their products direct to Britain, in their own ships, goods from Europe might henceforth come, not merely in British ships or those of the country of production, but in ships of the exporting country; our Colonies were allowed to trade direct with foreign States. Government were empowered to make, and freely did make, reciprocity treaties with foreign countries which gave the equality of treatment, as regards port dues and charges, which we offered to them As Huskisson left it, however, it remained an Imperial system Not only our own coastal trade, but all inter-Imperial commerce, was reserved for Imperial ships, non-European goods might not be imported from Europe in foreign vessels, large preferences were given to colonial exports and imports. Many substantial privileges thus protected West Indian sugar, Canadian timber, and the new-found wealth of Australian wool

A commercial crisis in 1825-6 threw light on all this activity, for it was mainly caused by over-speculation in South America and led towards another reform on which Liverpool was decided. This was in the banking system, or rather the lack of one, wherein England lagged much behind the Scots. The Bank of England's privileges were great

but its obligations were few, it held a monopoly of English joint-stock banking, its note-issues and reserves of gold were laxly controlled Beneath it were some sixty private banks in London and some eight hundred in the provinces, going their own way, on whose notes most business outside London turned. Every crisis exposed their weakness, nearly two hundred failed between Waterloo and 1830 On Liverpool's insistence government rejected the panic measures, such as a new suspension of cash payments, for which many called, his Acts of 1826 instead forbade issue of English notes under the value of £5, and authorized the establishment of joint-stock banks in the provinces.

One other economic measure, though not inspired by the Cabinet, was of great future import. This was the repeal, by Acts of 1824–5, of the Combination Act of 1799, so far at least as to make it legal for trade unions, by strike action or otherwise, to combine for improvement of working conditions. This move was, in fact, directed by Francis Place, the remarkable Radical tailor, who had for years been the master behind the scene in the great Westminster constituency. Even so, trade unionists had still to walk delicately along the vague edge of the law of conspiracy.

Meantime, at the Home Office, Peel was conducting a parallel series of reforms, of equal value to national welfare, for, though not himself a man of originating insight, his mind was just and open to reasoned conviction. Of all the heterogeneous subjects under his department, public feeling was offended most by the criminal law. As it stood, there were over two hundred offences for which death could be imposed, including shop-lifting or cutting down a tree; a code so ridiculously barbaric that, for many years, no jury had brought a conviction under two-thirds of its clauses The Whigs Romilly and Mackintosh had first taken this in hand, but had been able to accomplish little against the bigotry of the Lords, led by Eldon No one but Peel, at this time the rising hope of the right-wing Tories, could have overcome that opposition, and his Acts of 1823 abolished the capital sentence for a hundred offences

He proceeded to reform the prison system, though imprisonment for debt lingered on, and hence, among others, the trials of Mr Pickwick; to modify the severe Aliens law which had come down from the war years; to overhaul the much-criticized, dilatory court of Chancery, to give the judges proper salaries instead of ancient perquisites and fees, to examine the evil of transporting convicts, to consolidate the whole criminal law In his earlier office of Irish Secretary he had set on foot the Royal Irish constabulary, and was already busied with enquiry as to organizing a new London police, which came into being in 1829. This was almost his greatest service, for hitherto there had been no medium between decrepit parish watchmen and using the military.

So the government was borne along on a tide of change But change was detestable to a large part of its following and the Cabinet itself broken by divisions which sooner or later must destroy it.

CONTEMPORARY DATES

1816 Chief Justice Marshall interpreting the Constitution of the United States.

1817 Bolivar defeats Spanish troops in Venezuela
Third Mahratta war
Ricardo's *Political Economy*
Coleridge, *Biographia Literaria*

1818 List plans the German Zollverein
The first steamer crosses the Atlantic
Keats, *Endymion*.

1819 The Carlsbad decrees
Shelley, *Prometheus Unbound*
Byron, *Don Juan*

1820 Revolution in Italy and Spain, Congress of Troppau
Slavery in America, the Missouri compromise
Lamb, *Essays of Elia*

1821 Revolution in Piedmont, Greece, and South America
Death of Napoleon
Hegel, *Philosophy of Right*

1822 Turkish invasion of Greece.
Heine, *Poems*

1823 A French army in Spain
The Monroe Doctrine

1824 Mehemet Ali intervenes in Greece
Death of Byron at Missolonghi
-1830 Reign of Charles X in France

1825 First railway runs between Stockton and Darlington
Foundation of University of London
-1855 Reign of Nicolas I in Russia

CHAPTER IX

CANNING, EMANCIPATION, AND REFORM
1825–1832

SEVEN years, ending with the great Reform bill, determined the character of nineteenth-century Britain and its rôle in the world. They were years full of paradox, total uncertainty as to the future of parties, and unpredictable parts played by human beings

They were years of incessant movement, spiritual and mechanical, and of striving for reform, in which all the products of the revolutionary age, long distorted or pent-up, overflowed in a sudden release. During the 'twenties death took away three young men of genius, Byron, Shelley, and Keats, but the first writings of Carlyle, Tennyson, and Macaulay appeared in those years also, the *Christian Year* of John Keble, and the Whig classic of Hallam's *Constitutional History*. Physical movement was being revolutionized by Telford and Macadam on new trunk roads, great works like the Menai Bridge or Caledonian Canal, and George Stephenson's locomotives on the first passenger railways, between Stockton and Darlington, and from Manchester to Liverpool

It was a serious-minded society, whose three most typical forces — evangelical Christians, skilled artisans, and Utilitarian thinkers — clamoured for wider education and a broader highway for the talents. That the State should control a compulsory system would have seemed wholly wrong to an age which believed with all its heart in parental responsibility and the individual's duty to find his own salvation, while in any case such a proposal would have clashed on the friction between Church and Dissent Much, however, was done for higher education, to which was given the most disinterested energy of the ferocious egoist Brougham. He it was who brought to London the work which the Glasgow professor Birkbeck had begun in the north, of mechanics' institutes and working-men's colleges; he founded a society for ' diffusion of useful knowledge ', which set about the publication of text-books; and inspired enquiry into the scandalous waste of old endowments, which later led to the Charity Commission. Under his influence and that of the Radical thinkers, University College, London, was founded in 1827, free from religious tests and with the special purpose of teaching science, economics, and modern subjects; the same year Dr. Arnold was appointed headmaster of Rugby, whose example made a new usefulness for the public schools. Bentham was

now a very old man, but his fame had reached its height and was being extended by his disciples, James Mill at the India House and John Mill, his son,. their group had just founded their own organ in the *Westminster Review*

Closely connected with them were the philosophic Radicals. Ricardo the economist, Grote the historian of liberal Greece, John Austin the teacher of modern law, and the school — Durham, Charles Buller, and Gibbon Wakefield — who would apply Radicalism to home and colonial politics, alike Wilberforce was still alive and, with Fowell Buxton, his successor as leader of 'the Saints', was meditating a last crusade to abolish slavery as they had abolished the slave trade. In the swarming industrial areas of Lancashire and the Midlands an intense energy of mind, as in the young Richard Cobden, demanded manifold changes And though a heavy tax on newspapers, raised to fourpence in 1815, and extended to periodicals like Cobbett's *Register* by the Six Acts, made knowledge dear, the press was more powerful and much more independent of government than before the war. *The Times* in particular, under an editor of high aggressive quality in Thomas Barnes, worked strenuously for reform.

Yet while such elements gathered force there was a curious halt in politics, and that was associated with the condition of parties, which in its turn depended, first and foremost, on the personality of Canning.

He was one of those few remarkable men, dominant in the British party system, who have strained that system beyond endurance, and it is not surprising that the majority of his own party distrusted him deeply Launched first by the Whigs, in whose brilliant society he was happiest, he had been the favourite disciple of Pitt, but had sorely troubled his master's last days by inflaming the quarrel with Addington and the orthodox Tories He had tried to be Premier in lieu of Perceval, wrecked the Portland government by his feud with Castlereagh, and in 1812 destroyed his apparent future by refusing the Foreign Office unless it were coupled with the lead of the Commons Subsequently Liverpool, always loyal to their old Oxford friendship, had brought him back, and in 1822 risked all to give him the second place in his government All this reads like the record of an ambitious self-seeker, and there were leading men on either side, as Wellington and Grey, whose dislike of him was incurable. In fact, however, he was pre-eminently an orator and an intellectual, hypersensitive, contemptuous of second-class brains, and not disposed to sacrifice to party his own future and ideals.

What is it that makes this short space the age of Canning, the idol of earnest families like the Gladstones and of Liberal Europe? He was no Radical and disbelieved in parliamentary reform, adhering always to Burke's teaching that democracy was one form of tyranny and that

liberty implies variety, an inherited society, and private property as the instrument of talent. He had no informed interest in the economic schemes of Huskisson and Peel. He was, rather, an opportunist, intensely insular in the higher sense that he felt the England of his master, Pitt, had saved Europe, and was worthy to be preserved in her historic character. His abilities were especially, those of a parliamentary statesman. His eloquence was magnificently elastic, and he was the first of responsible ministers to use modern publicity, laying before his constituents, or exposing by publication in ringing defiant tone, his quarrel with the despots of the Continent.

He was fortunate in that his epoch of power began when trade revival and reform had removed the heaviest social misery, and when the policy inherited from Castlereagh had come to an open breach with the Holy Alliance. But he it was who opened that breach wider, by his immense skill exploited it to divide the despotic Powers, and by his speech so expressed it as to elevate Britain in the eyes of her own people and all the world. He was hardly one of the rare foreign ministers who harmonize the long-range interests of their own country with others He disclaimed notions of regenerating the world as romantic, dealt with the United States as a counter in his game rather than as a natural partner, and reduced his objective to the interest of England. Yet his nationalism had a high and intelligent content, of a Britain neutral between what he called ' the two conflicting bigotries ' of despotism and democracy, not interfering in other peoples' brand of government, and only intervening, but then ' with commanding force ', when British interests were in peril

Two particular questions tested this flexible ability during his five years at the Foreign Office : revolution in Spain and Portugal, with the connected effects in their overseas Empires, and the rising of Greece In themselves the wretched politics of the Peninsula and the infamies of the Spanish Bourbons could not concern us, but the Czar Alexander spoke of an army to crush revolution, while the French were resolved to save another Bourbon monarchy and to assert their own restored status The French invasion in 1823 did, indeed, destroy the Spanish constitutionalists but there it stopped; for in a published despatch Canning threatened war if they menaced Portugal, or took any Spanish colonies, and poured scorn on the whole gospel of legitimism To go further was not possible in the condition of the Cabinet, and of our defences, while such separate French action was a different thing from action by the Holy Alliance But their invasion led direct to Canning's pressure for recognizing South American independence, to which referred the most famous words in his own justification later, ' I resolved that if France had Spain, it should not be Spain with the Indies; I called the New World into existence to redress the balance of the Old '

This claim is more accurate if applied to his struggle within the Cabinet, rather than to his diplomatic activity. For inside the government the disagreement was furious. Wellington felt himself the representative of the order settled in 1815, and that democracy might upset everything for which he had fought. He and those who naturally sided with him, Eldon and Bathurst included, asked what could underpin peace if the Alliance were removed. The King, obsessed with the threat to all monarchies, took counsel with Metternich, foreign ambassadors like the Russian Lieven and his intriguing wife, and Hanoverian ministers, to whom he and Wellington maligned the baleful advice of Canning. It was, in fact, only the decision of Liverpool and Canning to resign if their policy was beaten which impelled the Cabinet in 1825 to recognize the Argentine, Mexico, and Colombia as independent States.

It was, indeed, inevitable. Those rich countries could not be left in chaos, and British sentiment was as deeply engaged as British wealth. Bolivar, the Colombian liberator, had British officers on his staff; Cochrane, our best leader of light craft and Radical member for Westminster, organized the navy of Chile; thousands of British and Irish adventurers fought over those jungles and mountains. That the Spanish monarchy could ever recover the great spaces between Cape Horn and San Francisco was most unlikely, but whether European Powers would seize parts of them, quite another question. Russia was proclaiming that her Alaska stretched down to Oregon, and Canning feared, rather unduly, that France meant to plant out Bourbon princes. Such causes had contributed to the United States giving recognition to the rebels, more widely than and in advance of Britain, and contributed also to their enunciation, in December 1823, of the Monroe doctrine. While disclaiming all intention of interference with existing Colonies, the President's message declared the American continents 'are henceforth not to be considered as subjects for colonization by any European powers.'

This message was, in fact, the work of a more formidable man, Monroe's Secretary of State, John Quincy Adams, and though the immediate interests of Great Britain and the United States coincided, and in Liberal eyes Canning's fair words about the mother and the daughter seemed to offer a vista of Anglo-Saxondom, actually the objectives of Canning and Adams were far apart. Adams wished to seal off America, to make universal a chain of free republics, of which some day his country must be the presiding force; Canning had no passion for democracy, dreaded a world in which Europe would be lined up against America, and hoped to bring about independence by peaceful arrangement with Spain and Portugal. He was zealous also to get trading advantages, and suspected an American design against Cuba

Yet if all this comes out in his private utterances, what mattered outwardly was that he forced recognition on King and Cabinet, compelled France to repudiate any purpose of interfering, and made it plain that what protected South America was not the Monroe doctrine, but the British fleet.

Much the same story was repeated in the parallel case of Portugal and her dependency, Brazil. Here he stood on stronger ground, for we were pledged to Portugal by ancient treaties, and British ships had brought their government to Brazil out of the French clutches during the war. This virtual independence of Brazil while the seat of government, revolution in Lisbon in 1820, French invasion of Spain in 1823, and dynastic ties between Portugal and Spain, all made it a test case between despotism and liberty Never was better seen Canning's power of conciliation, with force in reserve, than when he showed the sails of our fleet in the Tagus, to reinforce our ambassador against the French Our mediation secured in 1825 both a peaceful acceptance of Brazil's freedom, and its preservation as a monarchy. A year after, Pedro the Emperor became by his father's death king of Portugal also, but made over that kingdom to his young daughter Maria, at the same time granting a more liberal constitution. Canning had not inspired this move, but when Pedro's brother Miguel took up arms against his niece and Portuguese deserters were organizing forays from absolutist Spain, he sent off troops and a fleet in December 1826; not, ran his speech in the House, 'to prescribe constitutions, but to defend and preserve the independence of an ally. We go to plant the standard of England on the well-known heights of Lisbon' While Wellington threatened resignation and Metternich explored the chances of resisting Canning, Liverpool stood staunchly at his side, promising that if Spain declared war, we should not hesitate to 'play the whole game of liberal institutions'. But indeed Canning had made sure of Portugal by dividing the despotic Powers over Greece

As in the West, so in the Middle East the French revolution had revived nationality, and showed up the weakness of cosmopolitan empires. Serbia had half broken away from the Turk, Albania was in arms under Ali of Janina, the principalities which now make up Roumania claimed self-government, and from 1820 it was the turn of Greece This long Eastern question was to trouble Great Britain for a century, stirring many conflicting chords in her policy Pitt and his successors had committed her to the defence of Turkey, guardian of the Straits and barrier against the Russian strides towards Persia and India, but all the sentiment of liberty, all the devotion of English minds to the glory that was ancient Greece, and the zeal of Christian against Moslem, deflected our course to the other side. Here too our commercial interests were engaged, since they must suffer from anarchy, and here again

Castlereagh had held that the Greeks must have some sort of self-government. Meantime ships and money and volunteers were raised for the rebels, Byron threw himself into the cause, and died in 1824 at Missolonghi

Nothing could so instantly divide what was left of the Holy Alliance. The Czar Alexander's horror of revolution was counterbalanced by Russian ardour to save members of the Orthodox Church, and by their aim of controlling the Straits, but when he died in 1825 his brother, Nicholas I, made an end of such balancings Austria must view a Russian advance on the Danube, and far more one to Constantinople, as a mortal danger, while France had vested interests in the Levant which the decay of Turkey might assist. Once again Canning was not determined by sentiment, and not going to fight, he said, for either ' Aristides or St Paul '. His first step was to recognize the Greeks as belligerents, his first hope was to mediate and prevent any great Power using force. That hope vanished in the atrocity of this war, which redoubled when the Turks called to their help the armies of their rebel and ally Mehemet Ali, Pasha of Syria and Egypt, for this made it certain that the Czar would strike, even if alone.

Early in 1826 Canning, then, decided to limit such a war by agreement with Russia, by the protocol of April, Greece was to become self-governing but remain a Turkish dependency, neither Russia nor Britain would seek anything from Turkey, and other Powers should be asked to join in their mediation At midsummer 1827, with the adhesion of France, it was converted into a triple alliance to enforce an armistice

At each stage of this policy Canning had to fight the right wing of his party, and other causes were bringing politics to a crisis Parliamentary reform, indeed, seemed to be shelved. If Liverpool agreed to disfranchise one particularly corrupt borough, Grampound in Cornwall, and add its members to Yorkshire, he would not face the general principle, and Canning agreed with him. As for the Whigs, young John Russell made several attempts, but though Grey privately believed some drastic measure was necessary, involving a hundred seats, he had thrown off his extreme proposals of earlier days and feared reform would break his party; moreover, he was getting old and liked his country happiness, and in 1826 gave up the lead to the more conservative Lansdowne.

The root of division lay rather within the Tory party than between Tories and Whigs, and less in parliamentary reform than other matters. One was corn, in which Liverpool and Huskisson defied the pig-headed squires, telling them that the reason of their trouble was over-production on inferior land, and that they must accommodate themselves to lower prices In 1822 they insisted that prohibition must be replaced by a sliding-scale; in 1825 they admitted Canadian corn at a 5s. duty, and

in the hard year of 1826 took power to import corn by order in Council. The Cabinet agreed to legislate in the next session for a sliding-scale, pivoting round a normal price of 60s a quarter.

Furthermore, the Catholic question, on which they had agreed to differ in 1812, was with them still, and demanding solution From a party point of view this was more serious For on it the Whigs were united, and so were the survivors of Pitt's intimates, in Huskisson, Grenville, and Canning Many narrow divisions, on motions sometimes brought forward by Radicals and sometimes by leading Irishmen, like Plunket and Grattan, had proved that an increasing number, especially of younger members, favoured emancipation, and though Liverpool hesitated and older men in the Cabinet, together with the leading young man in Peel, were against, it became certain that no purely 'Protestant' Cabinet could be formed again.

Yet the intricacies of the question were much greater than in Pitt's day. In part this was due to a hardening religious bitterness. Evangelical England was rigidly anti-Roman, and so at present were the high-church school rising at Oxford, where the University had just elected Peel for their member as against the older claim of the 'Catholic' Canning. But in Ireland a more democratic, ultramontane, element was now dominant, which rejected the guarantees, such as State control over the choice of bishops, which were acceptable to older Irish moderates and English politicians The Catholic aristocracy, on whom both Pitt and Peel depended, had seen influence over their tenantry captured by the eloquent Daniel O'Connell, who was preaching not emancipation only but a repeal of the Union It was in vain that Liverpool had sent over, as Lord-Lieutenant, Wellington's brother, Marquis Wellesley of India, who himself favoured emancipation; religious differences were hopelessly bound up with racial hatred and a land war The population, now growing at the rate of a million each decade, were struggling for existence, paying tithe to the hated Anglican besides dues to their own priest; they were riddled by secret societies, while almost every year the same weary round revolved of eviction, boycott, cattle-maiming, murder, and then coercion Acts, which imposed a curfew, a search for arms, and suspension of trial by jury. A large British garrison could not enforce order, and the Protestant north was organized in Orange Order lodges In short, the uncrowned King of Ireland was O'Connell, who in 1823 founded the Catholic Association, which in effect became a quasi-legislature, levying a 'rent' in every parish.

In 1825, when Cabinet friction was at its height over foreign affairs, the Radical Burdett carried another emancipation bill, in which Canning, the Whig leaders, and O'Connell all had a hand, to disarm opposition it proposed to make some State payment to the Irish priest-

hood and raise the county franchise qualification to £10 The Crown's influence was cast against it, York the heir to the throne fulminating in the Lords, who threw it out A clamour for a prompt anti-Popery election rose from the Tories, led by Wellington, while Canning broke up the 'open question' basis by declaring that he held himself free to initiate the question whenever he pleased

Several years had thus passed in a tacit coalition between the Cabinet's liberal wing and the Whig opposition, to forward liberal notions in corn and currency, the Catholic matter, and foreign affairs It was then natural that the election of 1826 showed in a flash the division of the Tories and the strength of 'No Popery', nor surprising that hard-bitten Tories were convinced of Canning's purpose to make his alliance with the Whigs open and definite In February 1827 the decision arrived when, after years too much forgotten of invaluable service to the State, Liverpool was struck down by paralysis and, after a month's hesitation, George IV invited Canning to form a government

The long-delayed break in Pitt's party came about when seven ministers refused to continue under Canning, Eldon naturally among them but also Wellington and Peel. Their mixed motives embraced the Duke's hatred of Canning's foreign policy, a belief in aristocracy, Peel's pride in his own consistency and his link with the churchmen of Oxford Yet the Cabinet was to continue on Liverpool's lines, with emancipation 'open', nor was there any good ground for the view that Canning had intrigued with the Whigs It was only now, after this rebuff from the right wing, that he definitely worked for coalition. Grey stood aloof, he despised Canning as a *parvenu*, disliked his record, held that his policy had sacrificed liberal Spain, and refused support unless binding pledges were given on emancipation. But very few Whigs followed him Brougham insisted that here was a golden chance to break the Eldon school for ever, Lansdowne, Tierney, William Lamb (later Melbourne), Stanley, all accepted office, while John Russell was willing to support; of the Tories, Canning still had with him Huskisson, Robinson, and Palmerston, brought in the unscrupulous, brilliant Lyndhurst as Chancellor, pleased the throne by giving the Admiralty to the Duke of Clarence, and left the Irish government in 'Catholic' hands So both the old parties seemed to be dissolved

The omens were not propitious, and when, at Wellington's bidding, the Lords mutilated a corn bill, Canning broke out that they were inviting a mortal struggle between 'property and population' But whether he would have moved farther leftwards or induced the King to swallow emancipation, or prevailed over the fury of the Tory peers, all such questionings were silenced in August by his death. The King endeavoured to carry on his system by making Robinson, now Lord

Goderich, Prime Minister, who lingered on till January 1828. How confused party had become may be judged from the fact that Goderich served later both under the Whig Grey and the Conservative Peel, but that very confusion allowed the King to interfere in Cabinet construction in the style of his father. This and party rancour together proved much too hard for this tearful, amiable Goderich, who resigned without ever meeting Parliament, to be succeeded by Wellington, with Peel leading the Commons, at the head of the last Tory government.

Yet, though their master was dead, the scales over the next few years were tilted by the Canningites — Huskisson, Melbourne, and Palmerston — or, rather, by the middle body of opinion on which Canning had played, and which would assuredly demand a forward move. Peel was clear that what he called 'the mere Tory party' had had its day, and Eldon and other veterans were dropped, while to the indignation of Canning's close friends the Duke got Huskisson, Dudley, Palmerston, and Melbourne to enter his government. But this apparent reunion of Liverpool's party did not last long.

Wellington's ministry of 1828–30 was, indeed, a great failure, but then so was nearly all his career in domestic politics. He performed, of course, some services which no other man could have done, standing on such an eminence that he could reduce George IV's folly to order, or curb the influence of Cumberland, most hated of the royal brothers. But he was lonely, easily flattered by second-rate people, and as deaf to public opinion as to party feeling. Moreover he could not help identifying himself, or being identified, with the settlement of 1815. The battle of Navarino in November 1827, when the British, French, and Russian squadrons under Codrington destroyed the Turkish fleet, had horrified him; he was not ready to use force further, and wished to reduce this rebel Greece to the smallest possible frontiers. He also withdrew from Portugal the troops Canning had sent, declining to intervene while Don Miguel worked a merciless reaction. Abroad and at home, he thought first in terms of administration and defending established order, so gradually alienating every ingredient of parliamentary support.

His partnership with the Canningites only continued from January to May 1828, the actual occasion for a break being a confused wrangle over the transfer of the franchise from two rotten boroughs, Penrhyn and East Retford, to large cities. The Canningites felt bitterly the overthrow of Canning's foreign policy, Huskisson spoke openly of freer trade, the Duke replied their attitude was 'mutiny', and seized on the first chance to force their resignation. His new appointments were very weak, including that of Aberdeen to take Dudley's place at the Foreign Office, while one consequence was a bye-election in County Clare, where Vesey Fitzgerald, though an Irishman who approved emancipation, was beaten by O'Connell himself.

Before that happened, skilful Whig manœuvre had forced the question forward, for on Russell's motion the Commons passed, and government were compelled to accept, the repeal of the Test and Corporation Acts, so far as they excluded Protestant Dissenters from office. And if this outflanked the Tory logic — for if religion was not to bar Protestants, why should it bar Catholics? — Wellington himself, caring little for religious differences, was persuaded by the hard facts in Ireland, where the Lord-Lieutenant doubted whether he could safely depend on a partly Catholic army and police. But he could not have faced the storm without Peel, so long the 'Protestant' leader. By mid-summer 1828 Peel had convinced himself that an 'open question' Cabinet was the worst of all things, and that the concession he had condemned in Canning ought to be made, by the new year of 1829, — that it was his duty to help the Duke, on the grounds that nothing else could withstand the opposition of King and bishops, and that Grey could not form an alternative government. In April the bill passed, admitting Catholics to Parliament, and to all offices except those of Lord-Lieutenant and of Chancellor in either country; it was accompanied by another to raise the Irish freehold qualification for a vote from 40s to £10

This made an end of the old Tory party, of whom 173 voted against emancipation, and their undying anger was natural against leaders who for months elaborately tricked them Wellington fought a duel with Lord Winchelsea who charged him with deceit, Oxford University turned Peel out of their seat, while to avenge themselves some 'Ultra' Tories were ready to combine with the Whigs, even if it resulted in parliamentary reform For the next year party confusion was worse than ever. As the Duke had carried out the first plank in the Whig platform, some Whigs joined him in minor office, while Grey himself, in personal relationship and some questions like the Corn laws, stood much nearer to the Duke than the Canningites. Peel's police and law reforms, reduction of taxation, and peace abroad, pleased many Whig critics Blind to the future, Wellington seems to have thought he could ignore party, and continue his course of enlisting individuals. And, indeed, no one in the first months of 1830 could have predicted how that year would end.

It began with many partial strikes, and some revival of cries for parliamentary reform; in Birmingham, for instance, the Tory economist Attwood founded a political union for that purpose, while Cobbett was championing universal suffrage. There was no united Opposition but ceaseless criticism, though one not very well-founded when it demanded economies in the services, coupled with a strong rôle in foreign affairs. But the first stage only amounted to this, that unless the Duke reconstructed his Cabinet, they would oppose him openly.

George IV's death in June advanced the crisis, not merely because it was hailed with relief, or because William IV had some inkling of national feeling, but in that it eliminated the hated Cumberland and removed the late King's veto on the employment of Grey. Moreover, it legally involved a general election. Hardly had this dissolution taken effect when the French rose in arms against Charles X, and in the first week of August drove him into exile; in the last week of that month the Belgians began a revolt against their Dutch rulers, which turned into a demand for separation from Holland. At the same time, through the combined effects of corn laws, poor laws, over-capitalization, and market depression, all agricultural England was troubled, and a labour revolt rose in Kent, which spread north and west as autumn came on. Gangs of labourers moved about, sometimes a thousand strong, calling for no reduction of poor-law doles, or for higher wages and abolition of tithe, breaking up threshing-machines and firing ricks

In the middle of this excitement and embittered feeling the election took place, with damaging results for the government. Reformers swept the county seats, at that date the only constituencies which could truly represent opinion, Brougham came in for Yorkshire on a platform of reform, cheap bread, and abolition of slavery, while the Tories were angrily divided between Peelites and 'Ultras'. Though parties were unorganized and many members would reckon themselves independents, the moral on which all observers agreed was that without drastic changes Wellington was doomed.

In September Huskisson was accidentally killed at the opening of the Liverpool and Manchester railway, and this — for he had not been trusted — made easier a coalition between Whigs, Canningites, and independents like Stanley and James Graham. Though some of them, notably Palmerston, had not the least enthusiasm for reform, they were not blind to the national danger and national desire. Their remaining doubts vanished with the crass folly of the royal speech opening the new Parliament, its praise of the unpopular Dutch government, and the Duke's vow that he would resist any change in our perfect constitution. Amid many revolutionary threats, plans to refuse payment of taxes, and violence against the police, the end came on 15th November, when the various sections in Opposition, Tory 'Ultras' included, defeated Wellington over a vote on the civil list; rather than face a direct debate on reform he resigned, and the King sent for Grey.

The new government of 1830, destined through its Whig-Liberal offspring to direct the country for most of the next fifty years, was formed as a coalition. Grey and his near allies, Holland and Lansdowne, were the political children of Fox; John Russell and Althorp belonged to the historical Whig stock. Grey's son-in-law Durham was

Radical, so too was reckoned Brougham, who fought his way in as Chancellor. But Goderich, Melbourne, Palmerston, and Grant were Canningites, Stanley and Graham were very conservative Whigs, and many of these, besides those ruling Ireland, had served under Liverpool; Richmond represented the temporary alliance with the extreme Tories. Its character, and its fate in the present unreformed House, were undecided until it produced the Reform bill, the one purpose for which they had universal support, and to which Grey wisely bent all his powers.

He was now a man of seventy, on whom the gods had showered gifts of fortune, beauty, and charm, but hitherto his career had been uneven and disappointing. Perhaps even now he could hardly have succeeded without Althorp, the leader in the Commons, a wretched financier and a wooden speaker but a character infinitely sincere and lovable, best type of the country gentleman. Yet Grey's achievement entitles him to perpetual fame. His was the choice of men, on his conciliation and high-mindedness fell the strain of managing the ferocious temper of Durham and the unscrupulous intrigues of Brougham, while only his instinctive wisdom could manage an eccentric and easily frightened King.

It was not any vision of democracy which moved him, as indeed the composition of his Cabinet suggests, and as their extreme severity against popular violence bears out. Melbourne at the Home Office set up a special commission which dealt out heavy sentences of death and transportation against the agricultural rioters; Cobbett and other extreme journalists were prosecuted. Grey held, rather, to the teaching of the earlier Burke and the later Fox; that peoples do not rise without good cause, that arms and force are no remedy, and that liberalism means the timing of just concession. Having decided long before coming to power that any reform must be thorough, he instructed those drafting the bill that he wished for 'an arrangement on which we can stand', a reform, that is, to last a generation, based not on abstract rights of universal suffrage but on property, and the historic divisions of counties and boroughs. For this committee he chose men whom he could trust not to be too moderate, Durham, Russell, Graham, and the party organizer Duncannon.

The first bill, brought forward in March 1831, had been hammered into a compromise in Cabinet, vote by ballot and the shortening of Parliament's life from seven to five years thus being dropped in return for a sharp reduction of the borough franchise. It would make an end of the anomalies and varieties of seat and vote, which had grown up haphazard over four centuries. At one blow it extinguished rotten and nomination boroughs; 60 of which, with less than 2000 population, would by schedule A lose both their members, while another 46, with

a population between 2000 and 4000, would lose one member by schedule B If this was the most popular side of the bill, the franchise changes were quite as revolutionary. For all the varieties of voting in boroughs — some widely democratic, some restricted to the corporation, some to owners of a few tenements — the bill substituted one uniform test, of a vote for every occupant of a house with a rental value not under £10. In the counties the 40s. freeholders would keep their vote, but the franchise would also be given to leaseholders with property worth £50 and to £10 copyholders.

In the largest recorded division of the old Parliament the second reading of this bill was carried by one vote, but it was too strong meat for a House elected under Wellington, and the Tories carried Gascoyne's amendment not to reduce the number of members for England and Wales. Whereupon Grey, in April 1831, induced the King to grant a dissolution; which was decisive. The electors angrily threw out the leading 'Ultras', and Grey came back with an ample majority, which in July carried the second reading of a second bill, by 136. After weeks of debate, with no substantial change except the Tory Chandos' clause to give the county vote to £50 tenants-at-will, in addition to long leaseholders, it went up to the Lords, who in October rejected it by a majority of 41

This winter was the crisis, not for the government only but the whole future. The deadlock between Lords and Commons was complete The King's good will had given way to alarm Though the two most powerful Radicals in the country, Francis Place with the Londoners and Cobbett for the provinces, stood by the bill, they took it as a minimum, more extreme men, like Doherty the Lancashire trade-union leader, despised it as a mean bourgeois thing, to be repudiated. At Birmingham the political union declared against paying taxes if the bill did not pass, some unions were preparing to use force. The wild men who orated at the Blackfriars Rotunda were out of control, there were threats against the monarchy and the supposed influence of poor Queen Adelaide, 'the German frow', and several acts of violence against the bishops, of whom twenty-one had voted against the bill Mobs broke out at Nottingham, where they fired the reactionary Duke of Newcastle's house, and at Bristol, where the weakness of mayor and military allowed them to sack the centre of the city; Radicals were drilling, nervous landowners like Peel were laying in arms.

There were only three possibilities — mob rule, a compromise, or surrender by the Lords, and the last was unlikely unless Grey received from the King a promise to create new peers. But to create the numbers needed, fifty at the lowest, was a revolution which William IV would not yet contemplate, nor as yet would Grey himself, being convinced that it would make as many enemies as it won friends. With

immense patience he pushed along several paths. A new bill, it was announced, would be introduced, ' not less efficient ' than the old. That formula allowed him to meet the wishes of the moderates in his Cabinet, Palmerston and Melbourne and Lansdowne, and to explore whatever reality there might be in offers held out by the Tory group styled ' the Waverers ', led by the Canningite Wharncliffe and by Pitt's last surviving friend, Harrowby. And while a sharp proclamation denounced political unions which set up quasi-military organization, private contacts assured London and Birmingham reformers that, given the keeping of order, ministers would persist with full reform. Much, too, was due to the loyal and constitutional rôle of the King's secretary, Sir Herbert Taylor.

Though the ' Waverers' ' negotiation resulted in no formal agreement, it assisted to obtain some important concessions in the third version of the bill. The number of English members was not to be reduced; not population only, but the amount of taxes and houses were to be reckoned in drawing the line between boroughs keeping and losing members; though fifty-six were still doomed under Schedule A, the number in Schedule B was cut down to thirty; if resident, freemen were to retain their borough vote. Negotiation had the further vital effect of making Grey confident he could manage the Lords. In January 1832 the King gave a rather vaguely worded promise to make what peers might be required, though only when the need was ' certain ', and on that point Grey had to resist a demand from half his Cabinet, Althorp, Brougham, and Durham included, for an immediate creation. How right his judgment was appeared when the Lords passed the second reading in April by a majority of nine, and it was proved right again by the last clash.

All through this story the Tories had been out-debated and out-fought, and in this May crisis their position was chaotic. Peel was well aware that reform was needed and that the Lords' resistance might shake the country, but he would not risk his own fame by a second charge of ' apostasy ', and fatalistically gave way to the Duke's blind resistance. But, now that the ' Waverers ' had so far triumphed that the Lords had accepted the principle of reform, too-clever men like Lyndhurst believed they could wrest reform out of Whig hands, remodel it in committee, and by this manœuvre reunite their party; the Lords therefore carried an amendment to postpone the disfranchising clauses. At once Grey asked the King for power to make not less than fifty peers and, when this was refused, resigned office.

He was only out for five days, and Wellington's abandonment of an attempt to make a Tory government was not so much due to threats of civil war as to the passion of party, the English political sense, and Peel's refusal to join a Tory government committed to ' an extensive

reform'. His own mistake had been grave enough for years past, in declining any reform at all, at least he would not commit another which would destroy all character in politics. And since in this the Whig majority in the Commons and the Tory rank-and-file agreed, the Duke's military notion of saving the King from any creation of peers rapidly expired Radical posters in London — 'to stop the Duke, go for gold' — wilder schemes of barricades and refusal of taxes, tricolours and pikes, were not needed to bring about his retreat

Not to their own pleasure, for Grey and Althorp were ready to support a Tory government which would carry the bill, but on the clear demand of the Commons of both parties, the Cabinet returned to office; receiving from the King the full pledge he had evaded before. But making of peers was not required William IV put pressure on Wellington, bishops, and moderates to abstain, and on the 4th June, to almost empty Tory benches, the Lords passed the bill.

It was the triumph, not of democracy, but of the Commons and the middle class Not the King and Lords but the Cabinet, representing the undoubted will of the Commons, had carried it. To an existing electorate of about 435,000 in England and Wales it added less than 250,000 new voters, and those for the most part on a comparatively high £10 franchise, which actually cut out many who had voted before. It was the plain determination of the middle class which, more than mob violence, impressed Parliament, their huge but orderly meetings, the warnings received through Radical leaders like Place and Attwood, the refusal to act as special constables, resignations from the yeomanry, the overwhelming voice of the press and a firm lead given by *The Times* — these carried more weight than the whirling words of Orator Hunt.

Some of the Tory warnings, indeed, were just, and justified by later events. There could be no finality made in the franchise by drawing a £10 line, and if numbers were to be the test for distribution of seats, this principle must in time swallow up all others. Such were some of the penalties incurred by the Tory refusal, from Pitt's time onwards, to face up to this question But, things having come to this pass, we must think the measure of 1832 both just and inevitable, in any case, it was a first condition for all that was done in Victorian Britain

CONTEMPORARY DATES

1826 War in Portugal between Maria and Miguel
1827 Battle of Navarino
Death of Blake and Beethoven
Dr Arnold becomes headmaster of Rugby School
1828 Russo-Turkish war
Andrew Jackson elected President of the United States

1829 Treaty of Adrianople
1830 Revolution in France, Louis-Philippe elected King
Separation of Belgium and Holland
The French take Algiers
Lyell, *Principles of Geology*
Comte, *Philosophie positive*
1831 Russian suppression of Polish rebellion
Charles Albert becomes King of Savoy.
Victor Hugo, *Notre-Dame*
Stendhal, *Rouge et noir*.
Founding of the British Association for Science
1832 Otto of Bavaria, King of Greece
Mazzini founds 'Young Italy'
Death of Bentham, Goethe, and Walter Scott

CHAPTER X

WHIGS AND CHARTISTS, 1832–1841

THE landowning caste had thus taken into partnership the middle-class manufacturers, tenant farmers, and skilled artisans; the industrial north at last found itself in power, representatives of Birmingham, Manchester, and Leeds balancing uneasily the highly protected landed shires. This new Britain had to adjust itself to its full inheritance in Europe and Empire, Ireland and India, yet its first essential work must be done at home — to complete those changes which Pitt had begun but the war had delayed, which Canning and Huskisson had advanced, but the fulfilment of which could only come through a reformed Parliament And this epoch was a continuous one, for much the same work was done, first by the Whigs, then by the Tories.

With one six-month interval in 1834–5 the Whigs held office till 1841, under Grey till his retirement in 1834 and thereafter under Melbourne In one sense their best days seemed to end with the passage of 'the Bill'. They fell into factions, with Irish and Radicals to either side, their central mass were ill at ease, while in years of deepening depression they never found a minister who gave a lead in finance Economically this was a period of upward progress. Exports had stood at £47 millions in 1827, but were £102 millions in 1840; wheat, which in the decade ending with 1819 sold at an average of 88s. or more, averaged just under 56s a quarter over the 'forties; the cost of living by 1849 was lower than since 1780, and industrial wages in the same span rose as a whole by some 40 per cent. But this progress was interrupted by fluctuations — 1838–41 and 1847 for instance being years of great suffering — and was subject to some terrible exceptions. There were flaws in our economic structure, besides political causes, not all of British making, which held the country in a sort of arrested march.

Intimate papers of Grey, Russell, and Peel inform us how statesmen's minds were still darkened by fear of a 'convulsion', of which the Chartist movement was to give some proof The throne was most unpopular, certainly till after Queen Victoria's marriage, the Church often positively hated, while revolutionary notions of the French pattern had not yet died Looked at on a large scale, the central problem was what would be the national future, whether it could be held by conservative influences to some kind of planned protected society, or whether it

would turn, as all that was liberal in France was turning, to some Socialist scheme. The solution was found elsewhere, in the acceptance, even by the Tories, of *laisser-faire* and the remedies of Liberals and Utilitarians, and the slow absorption of the quasi-revolutionary working-men of the 'thirties into the Radical wing of a Liberal party

A large majority was given to Grey in the election of December 1832, necessitated by the Reform bill. So far as the loose parties of the time allow us to calculate, only about 150 Tories were returned, but the 320 Whigs had to bargain with their allies, some 70 Radicals and the same number of Irish Not that this left-wing thrust was yet immediate By no means all Irish members followed O'Connell over Repeal, nor was Radicalism adequately represented in Parliament, though Cobbett had been elected together with leaders of the 'philosophic' school, in Grote, Molesworth, and Charles Buller. In fact, of the first 'reformed' House of Commons, one-third were the sons of peers or baronets.

It remained, then, till the Reform bill of 1867 an age of aristocracy, though Liberals and Utilitarians desired to make it an aristocracy of talent rather than of property. Yet the change of atmosphere since the 'twenties was decisive. Parties were so much altered as to be almost new, that which Peel was careful to call 'Conservative', instead of 'Tory', being changed out of all recognition.

After as before the Bill, Grey was beset by heavy problems in foreign affairs, his conduct of which, in junction with Palmerston, was strong and successful, as the Belgian settlement showed. He had to deal, too, with an ageing, soft-witted King, and a hostile majority in the Lords His Cabinet was disunited. The fiery Durham, struck down by private griefs and impatient at any compromise, resigned in 1833, while Brougham was ever a brand of discord, but the mortal wound to his government, and again to Peel's in 1835, came from Ireland. O'Connell had given valuable aid in carrying reform, though his claims to office were neglected, but Ireland's essential evils went much deeper than mere law and order, being massed in a poverty-stricken population which swelled from 6¾ millions in 1821 to 8 millions in 1840, and in alien institutions, represented first and foremost by the Church of the Anglican minority If Stanley, the Irish secretary, concentrated less on causes than on symptoms, such as the repeal campaign or the 242 murders of a single year, his transfer to the Colonial Office did not change the fundamentals. In May 1834, rather than allow that Irish Church revenues could be transferred to secular purposes, he resigned with Graham, Goderich, and Richmond — in July, finding that some of his colleagues, including Althorp, were in league with Wellesley the Lord-Lieutenant and O'Connell to obtain a milder coercion Act, Grey himself threw up office. Melbourne, sensibly rejecting the King's wish

for a coalition with Peel, came in with a much weakened Cabinet, which collapsed on the first difficulty when Althorp, on his father's death, was removed to the Lords. Unwilling to see the Commons' lead go to Russell, which would mean an advance of Radicalism, in a weak letter Melbourne gave the King the chance he longed for, of dismissing his ministers, as Radicals put it or, more accurately perhaps, of leaping at their half-proffered resignation.

So came about in November the six months' ministry of Sir Robert Peel. It involved an election, preceded by a manifesto issued to his Tamworth constituents: declaring the Reform Act was irrevocable, and that the 'Conservative' party was ready to reform Church and local government also. The Whig majority was much reduced, though they lost more ground to Radicals than Tories, but not enough to enable Peel to stand, and in April 1835, beaten on that very principle of 'appropriation' of Irish Church endowments which had split Grey's government, he resigned. Melbourne returned to office, though now without Althorp, Brougham, Durham, Graham, or Stanley, and dependent on the so-called 'Lichfield House compact' with the Irish vote.

One parliamentary epoch had ended, for the old Houses of Parliament, which had cradled the constitution and heard each great voice from the Cecils to the Pitts, were burned down on the 16th October 1834; the cause lay in another relic, the fire beginning in a careless burning of the wooden 'tallies' used by mediaeval kings to count their revenue.

These events, when the acid of the Irish question played on British party, did not interrupt the great achievement of this decade, the passing of more vital statutory reforms than any since the Long Parliament. By no means all were due to the initiative of Whig ministers, for sometimes they were inspired by the Radicals, nor could most of them have passed without the support of Peel.

In this atmosphere of reform and a dead-set against privilege or monopoly, the steps were taken which Eldonian Toryism had refused, and which the split in the Tory ranks had further delayed. The campaign to amend the criminal law, begun by Romilly and Peel, was pushed deeper, and thus capital punishment was abolished in 1832 for horse-stealing and house-breaking. Brougham carried part of a great legal programme through a hostile House of Lords, sweeping away sinecures, cutting at the jungle of common-law procedure, and erecting the Judicial Committee of the Privy Council as a court of appeal in ecclesiastical and Admiralty cases. In 1833, when the East India Company's charter was due for revision, its last monopoly of the China trade was thrown open and its famous fleet of East-Indiamen disposed of, the India government now being empowered to legislate for all India, a legal

member was added to the governor-general's council, with Macaulay as the first appointment. In 1834 it was the turn of the Bank of England, and henceforward joint-stock banks were to be allowed within the London region, as well as the provinces; on the other hand, the Bank was set free in determining its rate of interest, and its notes for sums over £5 were made legal tender. In 1836 the newspaper stamp duty was reduced from fourpence to a penny, not only through a democratic agitation organized by the tireless Place, but as part of a Whig campaign to crush the predominance of the Peelite *Times*.

In one special case, fundamental for the transmission of knowledge and the assimilation of a varied society, the government could claim no credit. Our postal system dated from the Commonwealth, the post-master-general's monopoly being worked in practice through contractors, and though Pitt had insisted on fast mail-coaches to hasten delivery and give protection against highwaymen, the service did little to help either the public or the revenue. Its charges were enormous, a London to Edinburgh letter costing 1s. 4d., and the brunt fell on the poor, for through members of either House or officials most of the upper and middle class could get their letters 'franked' free. The result was wholesale evasion, in a smuggling of letters by every coach or travelling bagman. Moreover, postage was painfully calculated, and painfully collected, on delivery of each individual letter.

Government's slow enquiries and their officials' obstruction were stormed by the energy and vision of one man, Rowland Hill. He came from one of many remarkable families of the Birmingham region, trained in the tradition of Priestley and acquainted with the Utilitarian leaders, whose minds turned easily from mechanical invention to educational and social reform. His ruling idea was simple, that postage should be prepaid, at a uniform rate irrespective of distance, and having failed with the government he appealed to the people. After three years' resistance Melbourne bowed to public opinion, and penny postage became law in 1840.

Of all ancient establishments the most unpopular with Radicals was the Church, and Peel was aware that only strenuous reform could save it. Already Grey, after abolishing ten out of twenty-two Irish bishoprics, had warned the English bishops that they too should 'set their house in order', while two Whig measures of 1836 executed the changes which Peel's government had explored. One Act commuted the much-disliked payment of tithe in kind into a fixed charge, calculated on the corn prices of the preceding seven years. A second set up the Ecclesiastical Commission, to redraw the boundaries and redistribute the endowments of dioceses. So the income of Canterbury, for example, was reduced from £30,000 to £15,000; it was made illegal to hold two benefices, if over two miles apart; cathedral chapters and their finances

were brought under a central control. Thus surplus funds were found to amend the stark poverty of many livings, over two thousand of which still had an income of less than £100.

If strong enough to hold out on many points, the Church had to yield some of its ancient ground. London University was incorporated in 1837, to give degrees without those Anglican tests which Oxford and Cambridge retained. After several refusals by the Lords, the Marriage Act of 1836 allowed Dissenters to be married in their own chapels, also legalizing civil marriage before the registrars for births, marriages, and deaths

Meanwhile the Whigs carried out the reform of local government, without which parliamentary reform would remain unreal. Ever since the Union Scotland had politically been in the pocket of every government of the day, the root of the evil lying in the corrupt burghs and their self-chosen councils That was all ended by an Act of 1833, creating councils to be elected by citizens who had a parliamentary vote For England and Wales the Municipal Corporations Act of 1835 was a much more sweeping measure, largely inspired by the Utilitarians; the secretary of the enquiry being an extreme Radical, Joseph Parkes, formerly a driving-force in the Birmingham political union. Its chief provisions were very drastic By a revolutionary invasion of old charters the Act dissolved over 200 corporations, setting up instead 178 municipal boroughs to be governed by elected councils, and this municipal franchise was given to all ratepayers Though the principle was approved by Peel, the Tory Lords added sundry checks and balances, such as the creation of aldermen, designed to curb what they feared would be local democracies The Act had this great importance, that it restored for the first time, broadly speaking, since the fourteenth century a real urban self-government; ending the abuses which had grown up in the intervening ages, whereby petty self-chosen bodies had exploited the money and rights of thousands, or some local peer had flooded a corporation with his tenants. But it was by no means complete, for in many cases the improvement commissioners of the previous century lingered on, together with other special bodies set up to deal with paving, drainage, or light.

Most memorable by far of the Whig reforms, in the breadth of its effect, was the Act of 1833 to abolish slavery. Wilberforce and his friends had never rested content with the abolition of the trade in 1807. For, in the first place, this 'abolition' was not a fact; though this was no fault of Great Britain, whose taxpayers advanced £700,000 to Spain and Portugal to induce them to do the same, and whose foreign ministers from Castlereagh to Palmerston were urgent in the cause It became clear that, so long as slavery existed, large profits could be made in an illegal trade, nor would the United States collaborate by allowing British

warships to search suspect traders. In the 'twenties, therefore, Wilberforce and Fowell Buxton raised the issue of abolishing slavery itself.

The Liverpool Cabinet did their best. In the new Crown Colonies, such as Trinidad, regulations prepared the way for freedom; abolishing use of the whip in the fields or the flogging of women, and preventing the break-up of slave families. But the mass of slaves were held in ancient self-governing colonies like Jamaica, whose legislatures evaded such regulation, and whose planters, feeling themselves outnumbered by ten to one, ruthlessly put down the rebellions which rumours of freedom excited, and persecuted missionaries who championed the negro. By 1830 it was clear that these legislatures would do nothing unless they were forced, and other facts brought that compulsion nearer For the West Indian interest had lost much of its power in the Commons, reforming Britain was on fire for abolition, and James Stephen, son of one of Wilberforce's original helpers and a remarkable character himself, was high in authority at the Colonial Office

The Act of 1833 arose, however, not merely out of this abolitionist pressure but from a Cabinet crisis, Stanley being anxious to make a success at the Colonial Office after his failure in Ireland, and its clauses reflect a good deal of compromise. The West Indians were strong enough to procure compensation for their slaves in a free gift of £20 millions; on the other hand, the slaves' apprenticeship, which was to precede full freedom, was to last for only seven years. As the Act passed, Wilberforce lay dying; a year later, in August 1834, all slaves in the British Empire became free This was an act of enormous faith. The young member for Newark, W. E Gladstone, whose father was a leader of the Liverpool slave interest, was not alone in predicting evil effects, both for the slaves themselves and the very existence of the West Indies

At the height of the Reform bill crisis, cholera reached England from eastern Europe, and 50,000 deaths exposed the squalid lives being dragged out by many thousands, and the limited extent of anything like a social policy. As every Budget proved, this was the heyday of orthodox political economy. The one overpowering clamour from all parties was for retrenchment; the house-tax was repealed under pressure from the new urban vote; the national expenditure of 1839-40, just under £49 millions, was well below that of ten years before, nor would Althorp and his Whig successors at the Exchequer ever reimpose the income-tax, repealed in 1815. One example of their economy was the nothing-done for national education Despite some Radical motions — Roebuck bringing forward a scheme, as Whitbread had done twenty years earlier — the State contributed nothing, except to grant £20,000 in 1833 to the various Church societies In 1839, however, a small wedge of State direction was driven in, when a committee of Privy Council was given

control of educational grants and authorized to appoint inspectors. Much the same sort of tentative compromise held good as regards the police; a prisons commission, with government inspectors, was organized in 1835, but outside London the creation of an adequate police force was left to the whim of local authorities

These ruling dogmas extended much beyond taxation If private savings were thought all-important, if there was a wage-fund dependent on a ratio between the capital available and the number of wage-earners, and if, as Malthus taught, population threatened to outrun the means of subsistence, the approved social policy logically followed. State interference must do more harm than good, while efforts to subsidize wages or reduce working-hours would only diminish the wage-fund or swell the competing population All this was reinforced by the powerful Evangelicals, who believed in the saving of men by their own exertions, and pronounced the Christian duty of charity a higher thing than State compulsion. By the same reasoning, a great majority of Dissenting Radicals vehemently objected to State-controlled education.

There was, indeed, a rival influence, that of the Benthamites, counteracting this policy of *laisser-faire*. Their power in the press and in organizing opinion was at its height, and how great was the energy of Bentham's disciples we could illustrate from the rugged figure of Edwin Chadwick, secretary to the poor-law enquiry and then to the poor-law commissioners till 1847, and later a leader in promoting national health The Utilitarian method was to insist on science and statistics, to lay down principles for administration and enforce them by centralizing power This authoritarian democracy, however, collided not only with individualism and many democratic sentimental forces, but with the ancient aristocracy of justices of the peace. So that the central and local structure of nineteenth-century Britain was the child of compromise

Well before the Reform bill the humanitarian feeling, which was working for slaves and introducing the first laws against cruelty to animals, inspired another agitation, which brought about the factory Acts Of those sponsored by Peel's father, the Lancashire cotton magnate, that of 1802 applied to the pauper apprentices sent up from London and southern workhouses, a process which ceased soon after Waterloo, for steam-power brought the factories from country valleys into the towns, where local child labour was plentiful His second Act, of 1819, touched cotton mills only and, though forbidding night-work and setting up for these children a twelve-hour day, provided no real system of inspectors and was evaded wholesale. When the Whigs took office, adult labourers' hours were still entirely unrestricted, nor was anything serious done for children outside the cotton mills. In 1830 Richard Oastler, a devout Tory churchman, began a crusade in Yorkshire against ' child slavery ' in the woollen and worsted trades, finding allies in the

strong Lancashire spinners' union who were pressing for shorter hours. Their first spokesman in Parliament was Michael Sadler, a Tory and a critic of the fashionable economists, and when he lost his seat the Tory Evangelical Ashley, later Lord Shaftesbury, took up his work

Two separate questions were involved; the one, a movement to protect child labour, but the other, the real aim of most northern trade unionists, to get shorter hours for adults. They concentrated, therefore, on asking a ten-hour day for young persons and women, without whom the mills could not be kept running by the men operatives alone But that the State should fix hours for grown men went against the teaching of Benthamites and economists, it was opposed by manufacturers who feared foreign competition, and the Act of 1833 bitterly disappointed reformers Yet it registered a great advance It covered all textiles except lace, forbade employment of children under nine absolutely and night-work for all under eighteen, enforced a nine-hour day for those below thirteen, a twelve-hour day for those between fourteen and eighteen, and, what mattered most, appointed salaried government inspectors

While factory reform slowly proceeded, a royal commission of 1832 attacked the worst of all evils, the poor law. An earlier enquiry of 1817 had shown how deep set was the disease, how indiscriminate subsidizing of wages from the rates, by several thousand timid parish authorities, had broken the spirit of independence, driven down wages, loaded agriculture with crushing rates, and put a premium on idleness and bastardy. Poor rates, which in 1803 cost England and Wales little over £4 millions, rose to over £7 millions by 1832

The Act of 1834 was the greatest of Benthamite triumphs, carefully prepared by Place and Chadwick and the Mills, and marshalled with skilful publicity. Its principle, the commissioners claimed, was a return to the true purpose of Elizabeth's law, the relief of the impotent and the temporary relief of distress. Its professed aim was a total abolition of outdoor relief to the able-bodied, who could henceforth only expect to receive relief in a workhouse, and that under 'deterrent' conditions, since the pauper's lot ought to be worse than that of an independent labourer. But this Act, too, was a compromise It did not, as some reformers wished, entirely prohibit outdoor relief, nor did it make the poor law a nationalized service, one objection to this, its authors argued, would be the cost, and another, that 'candidates for political power would bid for popularity by promising to be good to the poor'. Over and above its social objective, the Act was an administrative revolution, sweeping away the venerable powers of magistrates, parishes, and overseers, to replace them by elected guardians for wide areas, working under orders of central commissioners. Such centralization was to that age most distasteful, being judged un-English or Prussian, and the

commissioners were appointed, in the first instance, for only five years

Ardently they and their pugnacious secretary Chadwick rearranged 15,000 parishes into some 600 unions, while in enforcing the 'work-house test' they were assisted by some prosperous years and the great rush of railway-making. But in 1836 this prosperity ended, just as they were approaching the stiff problem of the industrial north. No law since the Six Acts had roused such bitter feeling, it was resisted by Tory idealists like the poet Southey, by Disraeli and Walter, chief proprietor of *The Times*, as inhuman and unchristian, and equally denounced by the dying breath of the Radical Cobbett The commissioners' purpose being to make workhouse life disagreeable, their regulations separated husband and wife, cut off comforts like tobacco, and made their workhouses hateful as 'new Bastilles'; 'the house' which, till a much later date, every decent working family abhorred. In the north their problem was quite different; that of an area where the Speenhamland dole system had usually been unknown, but which was now smitten by dire poverty. Was there to be no remedy for the artisan, unemployed by no fault of his own, except this semi-imprisonment in a Bastille? Many thousands swore they would resist the setting up of Union houses by force, and their resistance became part of the Chartist revolution

Chartism, which rose to its peak in 1839 and flared up again in 1848, had in itself a disappointing history, but possesses this double importance · that it linked the reforming movements of Paine and Cartwright with the later Radicalism of Bright and Chamberlain, and that it held up, as it were, a social mirror in which men of good will could see the shortcomings of their country In its political platform there was nothing original, for the six points of the Charter drawn up in 1838 — annual Parliaments, universal male suffrage, equal electoral districts, the ballot, payment of members and no property qualification for them — had been ventilated in the time of North and were revived by the survivor of that early Radicalism, old Major Cartwright, who lived on till 1824 holding, his contemporary Place tells us, over his weak gin-and-water 'a vague and absurd notion of the political arrangements of the Anglo-Saxons'

The fact that all these six points, except annual Parliaments, have since become law, does not mean they could have been carried then, or involve condemnation of the Whig government Much in their social policy did them credit. Not the Factory Acts only, but others, one for instance, not very effectual, to stop the oppression of chimney sweepers' boys; another, to check the very old evil of paying wages in 'truck', usually taking the form of inferior goods at dear prices from an employer. Althorp, that mighty and happy sportsman, carried an Act to reform

the monstrous game laws, which had covered the country with armed gangs of poachers, and from 1831 the killing, sale, and purchase of game were opened to all who could obtain a licence. Unlike their predecessors, the Whigs also respected freedom of opinion. Meetings were rarely interfered with until they became torchlight meetings, calling to arms, while no Chartist paper, however violent, was suppressed. But they inherited the horror from French revolutionary days of a 'convulsion', as was shown by Melbourne's administration at the Home Office and, best known of all, by the case of the 'Tolpuddle martyrs', — the sentence of transportation passed in 1834 on the Dorset labourers, who were found practising secret oaths and ritual, as many early Labour bodies did, to uphold their union. Their fear was not surprising, for violence and some murderous crime dogged the early history of trades unionism, and Chartism covered several possibilities.

Its leaders included men of every type. Oastler was a Tory democrat, whose theme was 'the altar, the throne, and the cottage'; Stephens, who did in the Lancashire Factory Act agitation what Oastler did for Yorkshire, began as a Methodist minister. Some, like William Lovett of the London group, were primarily moral reformers; others were idealists with a streak of the crank, like Thomas Cooper of Leicester. Some were revolutionaries of a traditional sort: as Julius Harney, an intellectual, who thought of a *sans-culotte* night march on London; or Bronterre O'Brien, their best writer, a Jacobin who came to see that violence was useless. Their most powerful leader was also their worst. Feargus O'Connor began with the inherited notions of an Irish rebel family, found in the industrial north an avenue for his eloquence and an opening for his ambition, and from Leeds conducted the *Northern Star*, for which he enlisted the democratic writers. But no one could work long with this vain and unscrupulous man who, after leading thousands to the verge of revolution, perpetually backed down. Having no understanding of economics or industry, in his latter days he reverted to a typically Irish crusade, for an agrarian community of peasant co-operators.

Three other influences had blazed the trail. One was that of Robert Owen, an idealist believer in man's perfectibility, if his environment were improved, who, however, increasingly disliked political action, and disapproved the class war. For him the community life was to be found in a voluntary association of co-operative groups, and by men willing to be educated. Again, there was the economic theory, in part taken from Locke and Ricardo, by the first school of doctrinaire Socialists, such as Hodgskin, the ex-naval lieutenant who held forth at the London mechanics' institution, or the surviving disciples of the Newcastle schoolmaster, Thomas Spence, who preached land nationalization. Their teaching included the notions that Labour, as the sole

maker of values, created the ' surplus ' seized by others in rent, interest, or profit, and that, under a capitalist system and Malthus' doctrine, wage-rates were driven down as by an iron law. Lastly, there were political democrats, particularly strong in Birmingham, represented by men like Attwood and the Quaker Joseph Sturge, who would welcome the alliance of moderate Chartists

Chartist strength and its claim upon history, did not, in fact, consist in its leaders, but rather because it assembled all the protests against monstrous hardships. Against wretched wage-rates and long hours, worst in the case of the hand-loom weavers of Lancashire and the Border, who might earn a penny an hour for a seventy-hour week, or the knitters and stockingers of the Midlands. Against the injustice of an undiscriminating poor law, against cellar-dwellings and child labour; and how miserable was that life we can read not only in Disraeli's *Sybil* or Dickens or Charles Kingsley, but in the toneless figures of official reports. But though the Chartists forced these grievances on the mind of the nation, they did it in some wrong-headed ways, and themselves deservedly failed.

They were ruined by faction among their leaders, and by contradictions which they never solved. Was action to be political or industrial? Was it to be the class war, or a union of middle and lower classes? There could be no solid truce between their extremists and men like Place, who believed in the workhouse test and thought that trade unions would disappear, while the Birmingham Radicals soon fell away, disapproving of physical force Cheaper food was the remedy of the Anti-Corn Law League, but to most Chartists that was suspect as a body of middle-class manufacturers who wished cheaper food, only in order to lower wages. Violent signs of earlier days were present, secret collections of arms, wearing of the tricolour, with plans for a run on the banks and for a Convention to rival Parliament

Chartism was preceded not merely by the Factory Acts and poor-law agitation, but by furious trade-union activity, seen in many strikes against wage-cutting and piece rates, or for all-union shops. From Lancashire James Doherty organized a national union of textile workers, there was a parallel movement in the building trades, and in 1834 Owen founded a ' Grand National Consolidated ' union of all trades, committed to a general strike, not for ' some paltry advance ' of wages, but to ensure to all ' the most advantageous exercise of all their powers '. This was said to have enrolled half a million members, but its huge vagueness was wasted in sectional strikes, and broke on the determination of the masters

Thus reinforced by a backwash of defeated resentful workmen, during 1838 the London moderate group under Lovett prepared the Charter, while schemes matured for a Convention and a national

petition. But meantime O'Connor got to work on the *Northern Star*, violent men overcame the moderates, and early in 1839 the Convention, declaring a right to arm, moved to Birmingham as an easier contact with the north. In July there were heavy riots there, and the Commons refused to hear the petition, there were many arrests of leaders, and the armed rising, from which O'Connor now shrank back, petered out in a hopeless affray between the troops at Newport and the revolutionary miners of the Welsh valleys.

The early 'forties were hard years of depression and savage strikes, but the foreign revolutionaries then studying England, Engels and Karl Marx, found the country much too pacific for a proletarian rising Trade unions in general had veered away from the general strike, the middle class were almost solid against universal suffrage How indeed could true democracy come from a working-class of whom one-third, as statistics show, could not write their names? Self-improvement, both Owen and Lovett argued, must be the first step

Yet, though democracy was not yet fitted to rule, we become conscious that the Whig contribution is nearing exhaustion; of which Melbourne, with his weary, tolerant cynicism, may be taken as symbol. Great forces, expressed in organized bodies, Chartists and Anti-Corn Law League and Irish Repeal association, were outrunning the government They were plagued also by Canadian rebellion, Afghan and China wars, and threats of war with France, in all of which they made mistakes. They were tending to make large matters, like corn laws and vote by ballot, 'open questions' in Cabinet; they carried their Irish Tithe Act, but only by dropping their principle of 'appropriation' They could neither absorb nor come to terms with the Radicals, on whom their future majority must depend, while for fear of losing bye-elections they dared not reconstruct the Cabinet

Dependent on the neutrality of O'Connell, the wish of Wellington to assist government against disorder, and on Peel's unwillingness to take power till assured his forces were disciplined, they went on without vitality till 1841. The accession of a new sovereign had helped them, giving Melbourne a rôle in which he shone, as the disinterested worldly mentor of a young woman, but their weaknesses were cumulative and their sap had ceased to flow.

CONTEMPORARY DATES

1833 Carlist wars open in Spain
Treaty of Unkiar Skelessi
Beginning of the Oxford Movement
The British abolish slavery

1834 The new poor law
Balzac, *Père Goriot*
Death of Coleridge and Lamb
1835 Tocqueville, *Democracy in America*
1836 Texas declares for independence
Palacky's *History of Bohemia*
Dickens, *Pickwick Papers*
1837 Persian forces besiege Herat
Morse perfects the electric telegraph.
Carlyle, *French Revolution*
1838 War against Afghanistan
Louis Napoleon settles in England.
Founding of the anti-Corn-Law League
Début of Rachel and Jenny Lind
1839 War between Turkey and Mehemet Ali
Treaty of London regarding Belgium and Luxemburg
1840 Guizot replaces Thiers
Introduction of penny postage
1841 The Straits Convention
Kossuth leading the nationalists in Hungary.
Beginning of *Punch*

CHAPTER XI

THE QUEEN AND SIR ROBERT PEEL

1837–1850

WHILE the weak Melbourne government laboured with rebellion in Canada and Jamaica, and disgusted their Radical wing by concessions over Ireland to the Lords, their life was prolonged by the death in June 1837 of William IV and the accession, at the age of eighteen, of his niece Victoria Many years were needed to bring out the Queen's qualities, and nothing but the length of her reign could have made it so vital Even so, the immediate effects were momentous. Her youth and innocence set up the monarchy again in the eyes of the people, against the tarnished background of George III's sons. Her dignity, with her decision to stand forth as Queen and relegate her mother and her mother's advisers to obscurity, equally impressed the political class.

On the other hand, until her marriage and sometimes after it, her temper and excitement reminded close observers that she was granddaughter to George III. Lonely and inexperienced, her gratitude for Melbourne's devotion made her see politics through Whig spectacles, while nothing but her sex could have caused the crisis of 1839, and no male sovereign could have escaped from it so lightly. Melbourne's weakness was so great that his resignation might have come on any pretext, and he found one in a combined Tory and Radical resistance to suspending the constitution of Jamaica. When Peel was sent for to form a Cabinet, his reception was frigid, the Queen insisting she could not agree to a dissolution, and when, as a mark of confidence, he asked some change in the phalanx of Whig ladies in her Household, it was refused The ex-ministers' view of their constitutional duty was curious, for when the Queen appealed to their chivalry, they advised her to stand fast, and Melbourne returned to power

Hitherto, the chief rival influence to Melbourne's with the Queen had been that of her Hanoverian governess Baroness Lehzen, but with the Queen's marriage this stage closed Her mother had been a princess of Saxe-Coburg-Gotha, sister to that Leopold who had married George IV's daughter Charlotte and since had become King of the Belgians, and all her early life was coloured by the advice of this wise uncle and his confidant, Baron von Stockmar. This circle put forward as her husband one of themselves, the Queen's first cousin Albert, son of yet

another brother of the Duchess of Kent. They married in February 1840 and, with the birth of the Princess Royal that year and the Prince of Wales the next, began the sequence of a large family.

This new monarchy was very German, and by no means popular. Parliament cut down the financial allowance which the Cabinet proposed for the Prince Consort who, moreover, was not as yet admitted to royal interviews with ministers His laborious intellectuality did not appeal to Englishmen who felt, with some justice, the same dislike of alien influence as they had under William III The Prince, declaring he was the Queen's permanent minister, applied to this country Stockmar's ideas of monarchical government, so that on occasions innumerable — above all over foreign affairs, — the Court's policy clashed with their ministers'. And numerous marriages in the Coburg family, with the royal houses of France, Belgium, and Portugal, built up a powerful diplomatic clan.

On the other hand, the slow recovery of respect for the Crown and the Queen's massive strength in after years both dated from her marriage. The Prince's political instinct was shrewd, his moral standard was austere, both Court and Cabinet changed greatly as compared with the last few reigns The Queen's courage in facing two attempts made on her life, her progresses in Scotland and the disturbed Chartist regions, a decent and economic Court, and small children, began a domestication of monarchy unseen since the few happy years of Charles I. Ministers found a royal pair with firm well-documented views on Europe, an eye and ear for religion, art, and learning, and a punctilious ideal of their duty. Soon this Court found its perfect servant in Sir Robert Peel

Two disastrous years for the Whig Cabinet followed on the 'Bedchamber' crisis of 1839 Except that they made vote by ballot an open Cabinet question, they did little for their Radicals Chartist discontent smouldered on, so did the ten-hour-day agitation, and from 1838 a severe depression darkened the country. Wheat stood round about 70s all the next year, exports, cotton in particular, were stagnant; the Bank's reserve was dangerously low; wage rates were miserably forced down To two unfortunate wars in China and Afghanistan were added, in 1840–41, a European crisis and fear of war with France, while nothing except a poor law on English lines touched Irish grievances over Church and soil When four successive budgets had shown a deficit, in 1841 Russell, perturbed at the progress of the Anti-Corn-Law League, tried to capture the flagging gale with suggestions for a reduced colonial preference on timber and sugar, and a low fixed duty on imported wheat This late-found liberalism did not impress Parliament or people In June Peel carried by one vote a resolution of lack of confidence, Parliament was dissolved, he was returned with (for those days) the ample majority of 90, and at last the Whigs resigned.

His government of 1841–6 was one of the strongest of the century. It included five other past or future Prime Ministers, — Wellington, Stanley, Aberdeen, Gladstone, and poor Goderich, the administrative talent of Sir James Graham; four future Viceroys in Hardinge, Ellenborough, Dalhousie, and Canning This powerful body was emphatically the instrument of Peel himself, who in the capacity of Prime Minister has never been excelled. As the business of State, much increased though it was, was still within the grasp of a man of high ability, his incessant preparation and continuous hold covered all departments, to control foreign affairs through Aberdeen, India through Hardinge, or tariff revision through Gladstone. His nearest counsellor perhaps was Graham, whom in temper he most resembled, in the same fear of revolution or what Graham called 'the grand blow-up', watchfulness for economic symptoms, and comparative disdain for party. Yet however supreme as an administrator, it is arguable whether Peel reached the first rank of statesmen. His powerful mind was rather apprehensive than of ranging imagination, moving also more to the bidding of realized facts than of ideals If high-mindedness in using patronage in Church and State, and a zeal to discover and reward merit, mark the great public servant, and if sagacity and moderation won homage from the Prince Consort, Leopold of Belgium, and Guizot, yet neither in social policy nor in problems of Empire did he seem to look far beyond the compromises which must tide over the next few years.

More than any other man he was the creator of the Conservative party To him was due their reorganization, the new weapon of registration, and the Carlton Club, while for ten years he had kept them on his own restrained course, fending off both Wellington's pessimism and the folly of Tory peers. He was masterful as leader, as many cracks of the party whip showed, and in tactic and debate unrivalled. But he had two serious shortcomings He did not win the heart of his following, and that not just because he ignored some human expectancies, — making, for instance, only six peers in these five years, — but because he was cold or deaf to some high sentiments in Tory tradition, whether religious passion or the vision of paternal government. And being both sensitive and secretive, anxious and proud, he would form ideas of educating his party into his own way of thinking, and try to force decision on men from whom his process of thought was concealed.

This very great politician registered like a weather-glass the change of atmosphere since Eldon, and in himself summed up what early Victorians held in highest regard. The 'spinning jenny', as George IV called him, represented the new wealth of Lancashire and, when one of the richest men in England, still himself kept his household accounts. That origin he had ornamented by the highest academic

honours of Oxford, coming thence religious but anti-Puseyite, an economist in mind but with the social notions of a moderate Tory, a believer in progress yet with a rooted fear of revolution. Now he had reached the full power, sought with such reserved ambition, to make real what he desired, which was to modernize, conciliate, and appease. Other chapters will illustrate parts of his task, — to renew a pacific air in Europe, to dispose of unhappy Whig legacies in Canada and Jamaica, and wars with China, Afghans, and Sikhs, or to fulfil the logic of his own Emancipation Act in Ireland by alliance with moderate Catholicism. His immediate duty at home was to dispel discontent by eliminating the causes of depression, and to set in circulation the capital and energy of the new industries. What was achieved of this by 1850, though not all by Peel, sealed the political effect of the industrial revolution

Deficits totalling £10 millions for the five years ending in 1842, and this on a budget averaging a mere £50 millions, dear bread, riotous strikes, banks breaking, one person in every eleven a pauper, and stationary exports, all testified to the need of what he described as 'permanent and comprehensive action'. The budget of 1842 showed his resolution In the teeth of Whig and Cobdenite criticism he revived the income-tax at 7d in the £, exempting incomes below £150, so as to win a financial margin while he carried out a long overdue tariff revision. Reducing duties on some 750 items, he produced a moderate gradation; cutting duties on raw materials to an average of 5 per cent, protecting wholly manufactured goods by an average of 20 per cent, and increasing the preferences which Huskisson had given the Colonies. He thus, for example, reduced the duty on foreign timber to 25s., but that on Canadian from 9s. to 1s Meat and live animals were to come in at low rates.

His prestige with his party was still great enough to make them swallow much the same principles in regard to corn The working of the sliding-scale of 1828 was spasmodic, inducing speculators to hold up supply for higher prices; he contended that to continue the prices of the last few years would mean social upheaval, and that what agriculture had most to fear was a lack of consuming power in the people. The fixed duty which the Whigs favoured he would not have, since in any scarcity it could not be enforced, preferring to reform the sliding-scale downwards, to a pivotal price of about 56s the quarter of wheat; Canada's would pay only a 1s duty.

Good fortune rewarded his courage, the depression lifted, and credit so much improved that in 1844 he was able to convert £250 millions of debt from 3½ to 3 per cent. The budget of that year tackled sugar, a thorny question with his party because West Indian interests were strong, besides a persistent feeling that they had a right to protection

against slave-grown sugar from foreign colonies In 1845, renewing income-tax for another three years, Peel repealed all duties on another 450 imports, including cotton-wool, dyes, and oils, and all duties whatever on exports, while the tariff on manufactured goods would henceforth range about 10 per cent.

Other economic measures showed his cautious experimental advance. Commissions of enquiry ordered by his predecessors resulted in the Coal Mines Act of 1842, forbidding employment of women underground, and of boys under ten, and providing inspectors to enforce it; other reports on labour conditions revealed in Sheffield, Nottinghamshire, and the Potteries a mass of demoralized children, illiteracy, and immorality. If the Factory Act of 1844 did not meet those who wanted a general ten-hours day, for here Peel was of the same mind as Cobden, at least it fixed a 6½-hour maximum for children under thirteen and a maximum of 12 hours for women, besides the provision for fencing machinery. In social policy Peel stood broadly on the Benthamite maxims. He was firm in extending the poor law for another five years, and then, pushed on by the poor-law administrators, turned to public health Chadwick had used an Act of 1837, setting up registrars of births and deaths, to investigate the causes of mortality; his inspectors, Kay and Southwood Smith, with Farr in the registrar-general's office, were issuing one report after another on the pestilential condition of burial, water supply, and sanitation, on the cesspools underlying most of London, the monthly cleaning of Manchester's mean streets, the four out of five Birmingham houses without water, corpses heaped in crowded churchyards, or the one-brick-thick, jerry-built houses set down on clay. Peel therefore appointed the commission on the state of towns, on whose reports of 1845 all sanitary legislation was to be based

The 'forties were not altogether ' hungry ', as the saying has it, on the contrary, though 1847 was a dire year, with that exception progress was decidedly towards that greater cheapness of living at which Peel aimed Exports were valued at £47 millions in 1842, but at £60 millions in 1845; 5000 live animals were imported in 1842, but 216,000 in 1847, the growth in cotton and iron was portentous, and of coal great, though not so fast The harvest of 1844 was the best for ten years, over the whole 'forties wheat averaged just under 56s. a quarter, and fell to 45s in part of 1845; with the familiar exception of dying trades like hand-loom weavers and hosiery knitters, real wages in industry as a whole had risen perhaps by something between 20 and 30 per cent. When Peel left office, in fact, after two fluctuating and hard-tried generations, the cost of living had been restored to much the same level as before the great war

If Nature, and Nature's recovery when man allows her, had assisted in this, man's invention and Peel's faculty for the minimum of sensible

reform had contributed too. Cheapness, for one thing, was a child of cheaper transportation. After Stephenson's first triumphs at Darlington and Liverpool, ten years passed before railways much advanced: through doubts whether the locomotive had come to stay, or whether horses must not do the haulage on steep gradients, through obstructive landowners, competition and wild speculation and battles over rival gauges At the end of 1838 there were only 500 miles operating, of which the London and Birmingham line accounted for a fifth, and though Bradshaw's 'guide' first appeared the next year, even in 1843 less than 2000 miles were working.[1] Large development came only with Peel, and the cheapness and cheap money for which he worked. When 1848 ended, 5000 miles were working in the United Kingdom, while by amalgamation 200 scattered companies, some serving only a few miles, had sunk to 20 or 30 large units, such as the London and North-Western. This was the age of railway mania, the boom which broke in 1847 and ruined thousands; the age of the railway-king, George Hudson, who began life as a York draper, rose to wealth and Parliament, and died a bankrupt. Stephenson himself lived till 1848; his son Robert, engineer to the North-Western, built the great bridges at Newcastle and the Menai Straits, contractors like Peto had 10,000 men employed at a time in excavating and tunnelling, Thomas Brassey was launching out in the career which was to found the railways of Canada, India, and France. This enormous sprawling of competition brought in the State, for though that age admired competition, practical dangers showed that railways could not be safely used like turnpike roads by private carriers, while only Parliament could adjudicate on the extent of a monopoly, or on rates, fares, and accidents. As President of the Board of Trade, Gladstone carried the Act of 1844, which created the 'parliamentary' passenger train, bound to run at a third-class fare of 1d a mile, with seats duly protected from the weather, and at a speed of not less than 12 miles an hour But his wider proposals for State control were stoutly resisted, among others by Bright and Cobden, and though the State was empowered to buy up a railway when twenty-one years had elapsed since its charter, and a commission was set up to frame regulations, within a very few years such notions disappeared. By 1846 the electric telegraph, beginning as an accompaniment to the railways, was also being developed by private enterprise

Though Peel's own instinct leaned to vested interests, he was no doctrinaire, and in one direction firmly exerted economic control. In every severe depression, not least in 1839–41, the banking system was found precarious, and quite incapable of guiding our much-expanded resources. The Bank of England's gold reserve fluctuated wildly, and was several times at danger-point, uneven harvests and the tariff structure meant sudden drains, expecially from America Some of the

joint-stock banks, permissible in England since 1826, were mismanaged; private banks had fallen in number, but there were still nearly 300 which issued notes. Since his conversion to bullionist views in 1819, Peel had believed that the essential evil lay in this unregulated issue; and his Bank Charter Act of 1844 enforced this definite, though narrow, point of view, to dangers of government monopoly and political money he was keenly alive, conceiving he could get the requisite safeguards without uprooting an existing system. The Act forced on the Bank a greater publicity of accounts, rigidly separated its banking and issue departments, allowed it to issue £14 millions in notes against securities but forbade issue above that figure, except on the basis of £1 in its vaults, in gold or silver, for each £1 note. No bank henceforth founded might issue at all, while those already existing were restricted to the total they issued in 1844 and encouraged to leave issue to the Bank of England. Against this Act much could be said, and was said by bankers at the time; as that its concentration on bank-notes ignored the greater, increasing share of cheques and mercantile bills in affecting credit, or that its effect must be to destroy any chance of expanding credit at the very moment when it was most needed. Indeed, at the first emergency in 1847, as twice in after years, it had to be suspended. But though warned of these possibilities, Peel feared inflation much more, and wrote that men must be trusted to act with sense at a crisis.

His pillars in Cabinet, now that the Duke was ageing so fast, were the pacific Aberdeen, the nervous Graham, and the restless Stanley. He had to contend with many severe ordeals, Ellenborough's unwise viceroyalty in India, aftermath of Afghan war, and preparation for Sikh war; tiresome pin-pricks with France, the Scottish Church disruption, which his political view of religion could ill judge, O'Connell's repeal campaign and his arrest in 1843, rumours of armed revolt from the Young Ireland party; bitterness of Orangemen; obstruction by the Lords to his schemes for Irish land, and by the Irish priesthood to those for education. Not being a man who could throw off his burdens, when attacked he grew autocratic, yet such attack needs must come, since his moderation isolated him between two extremes. Except for the ambition of Russell for power, he had little to fear from the official Whigs, who were discredited by manœuvring, divided by jealousies, and disunited on the corn laws. But to one side lay the Radicals of the Anti-Corn-Law League, and on the other the country gentlemen of the Tories.

Since its foundation in 1839, the League had grown to a giant. Money it was never likely to lack, having behind it the whole cotton interest of Lancashire, eager for cheaper raw material and enlarged markets for their finished goods. Its operations were on a great scale, £90,000 were spent in 1844, £¼ million asked for in 1845, tracts were

distributed by the million; meetings were organized by the hundred in cities, farmers' markets, and villages, and often held in the face of riots, with speeches sometimes from a waggon, sometimes in a church. Though they found their orators in the Radical fervour of the north, and notably in the Quaker John Bright, the soul of the League was Richard Cobden, transplanted from agricultural Sussex to be a calico-printer in Manchester In him were blended an extraordinary persuasiveness of appeal, fiery energy, ardour for the tactics of battle, a passion of sincerity. But his limitations were as marked as his virtues. To the indignation of Gladstone his speeches, and the League press, held up all who defended protection for agriculture as monopolists, intent merely on upholding high rents or their class interest He spoke of the navy as 'idlers', believed that aristocracy encouraged war, and wished to loosen the tie with the Colonies by abolishing preference. Most of the Chartists opposed him fiercely, and not without reason, for his social policy held out little for democracy. He disliked trade unionism and State regulation of adult labour, and though in his own trade there were children of nine working sixteen hours a day, he resisted Ashley's effort to legislate Finally, within forty years every major point in his predictions was refuted. In short, the League triumphed because it had the art, and the single-minded passion, to exploit sentiments with which tariffs had little to do, a feeling of middle-class manufacturers against the landed aristocracy, indignation at the hard lot of agricultural labourers and the lowest scales in industry, the moral feeling of that age against restriction, and a vague half-religious philanthropy, which believed cheapness was the Gospel teaching and a condition of international peace. Its campaign did not shrink from strong deeds any more than wild words, for in quite an eighteenth-century way it set about manufacturing freehold voters on a considerable scale

Peel, who had begun public life as the hope of the highest Tories, ended it in unofficial alliance with Cobden and the progressive Whigs He was not made to be a man of the past, as two Cabinet resignations of high Tories made clear. As early as 1843 he admitted to Gladstone he could no longer stand on agricultural protection as a principle; defending it now on grounds which time might soon wash away, as that it was unjust suddenly to uproot a large investment, or undesirable to become dependent on the foreigner. Graham was an even more convinced convert, and if events had proceeded normally, it seems that Peel would in 1848 have proposed a final settlement, perhaps a low fixed duty And just as every item of his tariffs made the landed interest feel itself abandoned, so his Irish policy, especially his increased subsidy in 1844 to the priests' seminary at Maynooth, alienated the bigoted Tories who had not forgiven the 'apostasy' of 1829

But neither was he a man of the future, and there was a rising Tory school who detested his brand of Conservatism as having no principle except that of making terms with Mammon. Part of that opposition came from sentimentalists of the 'Young England' group who looked to a revived aristocracy, leading a people made happier by social justice Some opposition centred round Ashley and champions of the Factory Acts, many others disagreed with Peel's union with Whigs and Benthamites over the poor law. All alike resented the concealment of his changing views and the strict discipline he enforced, in votes over Maynooth, sugar, or the ten-hour day. Such types of rebel found not a leader — for he was too much the adventurer as yet for that — but a voice of genius in the Jew Benjamin Disraeli, who, after shedding some Radical sympathies, entered the House in 1837 as a Tory, though standing nearer to the Bohemian Lyndhurst than to Peel. In 1841 he asked Peel for office and was refused, but nothing could have kept them long together. Though he sat for an agricultural constituency and believed in the land as the base of society, his speeches on Chartism, Factory Acts, and Ireland preached the same doctrine as his pamphlets and novels, — of which *Coningsby* appeared in 1844, and *Sybil* the year after that a real Conservatism would conserve permanent principles, that these could be found by welding together Throne, Church, aristocracy, and people; that, for the masses, social arrangements far transcended any mere mechanism like the franchise; that first the Whig oligarchy, and now the capitalists of whom Peel was a type, had overthrown the national policy of Elizabeth and the first Stuarts, which Shelburne and Pitt and Canning had striven to revive

Peel had overcome such discontents before in the 'thirties, and in 1845 his prestige might have driven the party forward, but he was worn down by labours, and in the autumn a crisis broke which tested his pride, his tactical sense, and high-strung nerves Reports reached him, and scientists whom he despatched confirmed them, that the Irish potato crop might be a total failure, while in England a fair wheat crop had been thinned by ceaseless rain. Nothing seems more certain than Peel's agonized conviction that this meant famine, that nothing would meet the case except suspension of the corn laws, and that, once suspended, they could never be reimposed without fear of 'convulsion'. Almost equally clear, however, was his wish to carry these measures himself In November, Russell, who since Melbourne's failure of health led the Whigs and had hitherto stood for a fixed duty, came out in his Edinburgh letter for total repeal, which spurred on Peel the faster But he found many in his Cabinet, even of those agreeing, most reluctant, Stanley strong against, and in early December he resigned. Within a fortnight he was back in office, Russell discovered a reason for inability to make a government in the refusal of Lord Grey (the

third Lord) to see Palmerston return to the Foreign Office, though, in fact, the Whigs were beyond measure relieved to leave this ugly problem to the Tories. Peel came back without Stanley but having regained Gladstone, who had lately resigned from scruples over Maynooth, assured of Whig support and of enthusiastic approval at Court, in January 1846 he produced his repeal bill. It provided for a three-year interim, during which foreign wheat would pay a 10s. duty when wheat was under 48s., and thereafter a mere registration 1s. duty. It was not carried through the Lords until the 25th June, and the same night a combined vote of Whigs and Protectionists in the Commons against an Irish Coercion Act drove Peel from office. Nothing could have saved him long, for 231 Tories had opposed his corn bill.

In the capacity of a party leader his action had been hardly pardonable. The arguments by which he defended his change, the effects of his budgets or evidence that wages had not fallen in accord with prices, could have been put to his party before, and it is not surprising that the agriculturalists felt themselves betrayed. Nor can his famous eulogy of Cobden in June easily be reconciled with earlier declarations to the Court that he was striving to avert a Cobden government, or overrule the impression left by Graham's letters that one of their prime motives was to end the agitation of the League. That certainly directed the mind of Wellington, who disapproved repeal, convincing him that as 'the Queen's retained servant' it was his duty to keep out extremists. Apart from this, Stanley had some reason for asking why the corn laws should not be suspended, as they had often been in emergency before, and some ground for doubting whether it was indeed an emergency, of a sort to be mended by repeal. All through the next few years Ireland went on exporting grain and butter, the real stress of famine only arrived in 1847, while if her potato crop failed, how could it help her to expose her grain to foreign competition? On a longer view also Peel's justification is not to be found in his change of the tariff. For all through the 'forties corn averaged just on 56s.; years after repeal it sank only to 53s. 5d. for 1856-61, and it was only after 1878, under totally new circumstances, that immensely lower prices at once scaled down the cost of living and ruined British arable farming.

As it was, Peel parted in bitterness from the Tories, 'thank God', he wrote, 'I am relieved for ever from the trammels of such a party.' Lord George Bentinck and Disraeli organized the Protectionists against him, and Russell took office, politics thus returning to something of the aspect of the late 'thirties, of a Whig government ruling with the assistance of Peel.

He lived till 1850, while the Russell government continued Peelite measures, for the crisis had shattered parties, and even after the 1847 election the Whigs were dependent on Sir Robert's votes. Since

Graham and other Peelite leaders would not join him (and refused Disraeli's approaches also), Russell made a weak government, predominantly of peers, from old Whig material, — like Lansdowne who had served in the 'Talents' of 1806, and a knot of the Grey clan, its best vitality consisting in Palmerston at the Foreign Office and Grey's administration of the Colonies Most of its energies were necessarily given to Ireland and the acute state of Europe after the revolutions of 1848, but it was burdened with a commercial crisis in 1847 and the year after by the last effort of the Chartists: their vast assembly on Kennington Common, the fiasco of their march on Parliament, and the stand of the middle class, who enlisted in thousands as special constables.

In domestic legislation they pursued what the parliamentary situation dictated, or completed what administrative experiment and public opinion asked Bentinck, who lived only till 1848, was not a good leader of Opposition, for his mind was ill-trained and his giant industry unselective, yet he was strong enough to force government to a compromise on sugar, giving the half-ruined Colonies a small preference, to expire in 1854. In 1849, however, government demolished another Imperial interest by a total repeal of the Navigation Acts, with Peel's strong approval; to which pressure from America and Prussia and Colonial resentment at loss of preference both contributed. In 1847 both parties, though Peel and Cobden were still averse, carried the ten hours Factory Act for which Ashley had worked so long, yet it was not till 1850 that the device of work by relay was fully scotched, and a compromise passed which, in fact, assured a day of 10½ hours for factory workers of all sorts, with 7½ on Saturdays. In 1847 too the poor-law commissioners' powers were transferred to a Board under charge of a minister, while in 1848 the strenuous crusade of Chadwick and his school achieved the Public Health Act, establishing a central directory, empowered to create local boards of health on petition.

Peel's death was a heavy blow to the government, removing their shelter from the Tory blast, while Palmerston strained their good relations with the Court, but in any case Russell was not a Prime Minister who could interpret opinion, and was always raising great friction over small issues. His own prejudices were fixed His Church appointments, especially that of Hampden to the see of Hereford, showed how he minimized the Oxford Movement and the change in Anglican temper In 1850 the Vatican set up a territorial episcopate in England, Cardinal Wiseman thus being styled archbishop of Westminster, to which Russell's reply was a quite useless Ecclesiastical Titles Act (duly repealed twenty years after), giving offence both to the Peelites and to Ireland There were other signs that Whiggism had lost the elasticity needed for a liberal age In deference to his Cabinet, though

much against his will, Russell resisted a bill to extend the county franchise, was defeated, and in February 1851 resigned, but since the Peelites would neither join hands with Derby (the former Stanley) owing to protection, nor with the Whigs owing to the religious issue, he returned for another year of crumbling power. In December, under intense royal pressure, he dismissed Palmerston for his open approval of Louis Napoleon's *coup d'état* at Paris, and in February 1852 Palmerston took his 'tit for tat', opposing a militia scheme which government wished to raise on a local basis, but which he rightly would bring under a central authority. Thereupon Russell made way for a weak and minority Tory government, led by Derby.

At that point, with Free Trade in being, the middle class in power, and the clamour for a second Reform Bill rising, with the Crystal Palace just opened to enshrine Cobden's vision of perpetual peace, the Queen on a firm constitutional throne, and Europe working through the effects of a second Revolution, we may leave domestic politics, and their adjustment to the new age since 1815. In Europe, Empire, and Ireland the new Britain had moved, not always happily, on parallel lines.

CONTEMPORARY DATES

1842	Treaty of Nanking
	Disaster in Afghanistan
	A Karageorgevitch wins the Serbian throne
	Browning, *Dramatic Lyrics*
1843	Disruption of the Scottish Church
	The Sonderbund formed in Switzerland
	Macaulay, *Essays*
	Ruskin, *Modern Painters*
1844	Maori war
	Co-operative store at Rochdale
1845	United States and Mexico at war
	Newman joins the Roman Church
	Wagner, *Tannhauser*
1846	Pius IX becomes Pope
	The Spanish Marriages
	Austria annexes Cracow
1847	Gold found in California
	Hampden made bishop of Hereford.
	Marx and Engels, *Communist Manifesto*
	Emily Bronte, *Wuthering Heights*
	Thackeray, *Vanity Fair*
1848	The Second Revolution
	Fall of Metternich and Guizot
	J S. Mill, *Political Economy*
	Formation of Pre-Raphaelite movement.
1849	Mazzini and the Roman Republic
	Kossuth a refugee in Turkey

1849 Macaulay, *History of England*
Gibbon Wakefield, *Art of Colonization*
Death of Chopin

1850 Cardinal Antonelli, Papal Secretary of State
Convention of Olmutz
Cavour becomes minister in Piedmont
Tennyson, *In Memoriam*
Death of Wordsworth and Balzac.

CHAPTER XII

BRITAIN AND EUROPE, 1827–1852

'WE have no eternal allies, and we have no perpetual enemies; our interests are eternal.' So said Palmerston, the Canningite, who more than any other dictated foreign policy for the forty years after Canning's death, during which the old order of 1815 and Metternich passed out of sight Yet even eternal interests change character with changing mankind.

To preserve the sea-power which had been our salvation was made easier by our acquisition, at the peace, of Malta, Mauritius, Heligoland, and the Cape, yet the object of sea-power is commerce and safety of communication, which may be threatened by changes on land. So our Mediterranean communications involved us in the Near Eastern question, as did our Indian connection in finding secure routes farther east, as well as in commercial competition in the far Orient. New bases, Singapore (1819), Malacca (1824), Aden (1838), and Hong Kong (1841), mark steps in this extension As for our second eternal interest, as men of the time would have deemed it, — that is, a balance of power to curb any over-mighty State or armed alliance, — that must always imply the opportunism which moved Palmerston. Even so, on the whole, Britain adjusted itself to change with much regard for principle and fixed objects

That new age of liberalism and nationality, which Canning had championed in America, Spain, or Greece, strode fast forward in the movements of 1830 If the Italian risings were too weak to uproot Austrian and Neapolitan power, at least the accession of Louis Philippe severed France from the circle of legitimist despots, making another middle-class constitutional State with which reformed England might hope to work. An immediate secondary effect was the Belgian rising against their Dutch king, which at first strained Anglo-French relations, but this was surmounted by the patience of Grey and Palmerston, the insight of the aged Talleyrand, now ambassador in London, and Louis Philippe's understanding that his throne could not stand with Britain against him By the end of 1832 this difficult creation of modern Belgium and Holland was made. At times the French put forward their King's son Nemours for the new throne, breathed ideas of partitioning Belgium, or claimed frontier fortresses · all these Palmerston judged were inadmissible; France should not get so much as ' a cabbage garden'.

But to achieve this, to wield the French army as a lever against the Dutch and the Eastern despots without increasing the French hold on Belgium, required rare and determined skill In the end the partition was made along the Scheldt and Meuse, the Belgian Crown was given to Leopold of Coburg, once husband of our Princess Charlotte, and Belgian neutrality guaranteed by the Powers It was not till 1839 that the Dutch swallowed these terms and were allowed to reoccupy Luxemburg, which, though remaining a member of the German federation, was to be ruled by the Orange House.

British interests in the Low Countries had been held vital ever since Edward I, but our efforts for settlement were explained also by the fear of revived war between revolutionary and anti-revolutionary States. This motive, real enough in days of military monarchies and Jacobin memories, in part justified our interference in the dreary vendettas of Portugal and Spain, where triumphant Bonapartism had been followed by the restoration of a repressive Bourbon monarchy. Palmerston was a man of an older age, inclined to think that France burned to avenge Waterloo, or might even seek to overturn the Utrecht treaties, which had separated the two Bourbon lines, and by some marriage make Spain her satellite. The quadruple alliance he brought about in 1834 with Britain, France, Spain, and Portugal, was devised both as a counterblast to the eastern despots and to harness France to Peninsular independence, one part of that object being immediately fulfilled by the pretender Dom Miguel leaving Portugal. Spain was another story. As against the young Queen Isabella, Don Carlos could build on Catholic fanaticism, provincial hatreds, and the wretched character of the queen-mother Christina, so that the Carlist war dragged on till 1839. Our government interpreted its doctrine of 'non-interference' in a strangely strenuous way, allowing Admiral Napier to enrol Portuguese sailors and De Lacy Evans to head a British legion, the Foreign Enlistment Act was suspended, so that many British volunteers found death amid the Spanish mountains, defending what Palmerston proclaimed as the constitutional cause.

While Louis Philippe swung between his need of peace and dynastic ambition or the restlessness of a country brought up in the glories of Bonaparte, a more massive rival overshadowed our Foreign Office. The prestige won by the Czar Alexander I in the peace settlement was fixed on a more solid base by his successor, the towering, rigid Nicholas I. Russia had done most to give life to Greece, her agents encouraged Slav racialism and religion in Serbia and Bulgaria; since the century opened she had advanced by way of Georgia and Armenia beyond the Caspian, outmatched British influence in Persia, flung a screen over Khiva and other khanates on the Oxus, and in the early 'thirties was inciting Persia to attack Afghanistan. Nearer still than this threat to

India, since Canning's death Russia had become supreme at Constantinople. By intervening between the Turks and their dangerous vassal, Mehemet Ali of Egypt, Russian arms saved the Sultan and in 1833 extorted the treaty of Unkiar Skelessi, a secret clause of which arranged that on a Russian request the Dardanelles should be closed to foreign warships.

Though Palmerston exaggerated both the Russians' immediate intentions and Mehemet Ali's scheme to extend Arab dominion from his acquisition of Mecca northward to Iraq, the realities were serious enough, and his achievement very considerable. For in 1839 the Turks and Mehemet Ali went to war again, the rebels advanced from Syria and routed the Turkish Army. Was the future to be settled by Russia, by the old French ambitions for Syria and Egypt, or a combination of the two? His resolution secured a settlement on the lines of his own choice, a conservation of Turkey by a concert of the Powers. He had discerned French encroachment spilling over from their new conquest of Algiers into Morocco and Tunis, and was determined to undo the Russian menace to the Straits.

Diplomacy must deal with the perils of its own day, which in this case were large enough to discount much later criticism; which suggests that, in proposing to save Turkey rather than win the sympathy of Egypt, Palmerston was blind to the future His first aim, after all, was simply to prevent a general war. So came about the four-Power treaty of July 1840 between Britain and the three Eastern monarchies,—Austria being unwilling to see Turkey disintegrated in Russian interests and Russia being glad to see the Liberal Powers divided For, though terms for compromise were put before her, French pride was committed to alliance with Mehemet Ali and a sphere of influence in the Levant and, led by Thiers, spoke violently for war

If Palmerston's diagnosis of motive often erred, his gifts shone out this year as a judge of material forces. Convinced that Mehemet was a man of straw, whose communications could be cut by our sea-power, and that Louis Philippe would plump for peace, he drove forward. Though part of the Cabinet were hostile and Russell vacillating, and though intrigues in the civil service worked hand-in-glove with the press and the oldest of intriguers at Paris, Princess Lieven, he was proved right In October British and Turkish forces mastered Beyrout and Acre, and Thiers made way for the more placable Guizot In July 1841 the peace left Egypt, but not Syria, as a hereditary possession to Mehemet Ali, at the same time obliterating the ill effects of Unkiar Skelessi by reaffirming the 'ancient rule of the Ottoman empire' which closed the Straits to warships in time of peace

That year, in which the Whig government fell, sealed Palmerston's European fame and his enduring popularity with the British masses.

Some of his shortcomings were peculiar to himself, including a habit of insolent language and a coarse-grained lack of sympathy with other nations. Others, on the contrary, were shared by many British public men. There was little to choose between his use of the *Morning Chronicle* to push his views and the godly Aberdeen's manipulation of *The Times*, while in sheer insularity or lack of scruple several ambassadors outdid their chief. To accuse him of lacking humanity is the reverse of truth, for no minister worked harder against the slave trade, while some of his unpopularity with foreign Courts, and with his own, sprang from humane sentiment; as when he publicly applauded the London draymen who rolled the brutal Austrian general, Haynau, in the mud. Nor is it just to depict him as a lover of war. That may be disproved by his record in regard to Belgium, Italy, and the second French republic.

Personal defects apart, what may prevent us from thinking him a great statesman comes, perhaps, from his very length of days and the prejudices that made one side of his virtues. The France he had known when an apprentice, as the source of revolution, was followed by the restored Bourbons, whose ambitions Marlborough and Chatham had fought to curb, while like all his generation he idolized constitutional government, thought little of kings, and despised priests An immense national pride made the counterpart to his force and unwisdom. 'Our duty,' he told the Commons, 'our vocation, is not to enslave but to set free'; 'I may say, without any vainglorious boast,—that we stand at the head of moral, social, and political civilization'.

If there was something magnificent in this, driven home as it always was by homilies to small States and large, bidding them follow the British way of free government, in practice it comprehended strong measures which left a harsh legacy: one early example of which was the first China war of 1840–41. Once again his mistakes allowed enemies to build up a legend that this was just 'an opium war', forced on a benevolent and self-improving Oriental people The profits from opium did, indeed, enter into it, though only as a detail; really, the crux lay in the change of 1833 when the East India Company lost its China trade monopoly, whereby a merchant body, accustomed to the connivance and corruption of eastern trading, was replaced by the British Crown. Even more, in a European sense, China was not a State at all. For to restrict foreign traders to dealing through one gild at Canton, to refuse diplomatic contact, to make life impossible ashore for British agents, were devices which China could not enforce in the nineteenth century, while the clamour against Indian opium was a pretext, seeing that Chinese officials profited by the domestic crop, and that we offered to stop import as part of a settlement. Taking the war as one of reparation for injury, Palmerston asked guarantees for the

future, which were secured by the next Cabinet in the Nanking treaty of 1842, which included the cession of Hong Kong to Britain and the opening of five treaty ports, Shanghai among them, to foreign trade.

His Tory successor at the Foreign Office between 1841–6 was Aberdeen, a disciple of Castlereagh, who had held this post before in 1828–30, and whose original sympathies had been with Metternich and the party of 'order' His high-mindedness was transparent, his love of peace was passionate, but he lacked decision and exposed his hand to busybodies, like Princess Lieven who, in the last phase of a mischievous life, was living with Guizot All the Cabinet desired to restore the good relations with France which the eastern crisis had jarred, but Peel and Wellington increasingly doubted Aberdeen's judgment in trusting the French, and demanded an active programme of national defence.

So the *entente cordiale*, in spite of some ecstatic royal visits and Coburg-Bourbon marriages, and despite Aberdeen's ingenuous admiration for Guizot, wore away. It was strained by evidence of French ambition in the Mediterranean and their contact with Metternich, their resentment over our occupation of New Zealand, their tariffs and their armaments. There was a sharp curve in 1843–4 when they annexed Tahiti and arrested Pritchard, an aggressive Congregational missionary, who had long encouraged the native rulers to take cover under a British Protestant flag. This was duly settled by an indemnity, though the French kept the island But what finally destroyed the *entente* was the matter of the Spanish marriages; the question, that is, of finding suitable husbands for the very youthful Queen Isabella and her sister, the next heir Much harm, no doubt, was done by rival desires in the royal houses of Coburg and Bourbon, vicious Spanish factions, and active intrigue with those factions by foreign envoys, the British not least

Aberdeen conducted policy with his usual good faith but, as Palmerston bitterly said, on 'a sliding scale'; retreating from the principle that Spain should be left with a free choice and always leaving to France the initiative, he first promised not to support a Coburg and finally in 1845 agreed the Queen should wed a Spanish or Neapolitan Bourbon and that, when she had children, a second marriage should follow between her sister and the French King's son, Montpensier If danger really existed of a French prince staking out a claim to the Spanish throne, Aberdeen had clearly not conjured it away and, even before he left office, Guizot was decided to hurry on both marriages. This decision was accelerated by Palmerston's return, his hectoring despatches, and Bulwer's active assistance to one Spanish faction, all of which in 1846 led the French, in violation of pledges, to push on both marriages, of the Queen to her cousin Don Francis and of the Infanta to Montpensier, simultaneously

Fierce and scornful was the wrath of Palmerston and Queen Victoria. Profiting by this disintegration of the *entente*, the Eastern monarchies arranged that Austria should absorb the republic of Cracow, last relic of free Poland, while only Palmerston's obstruction prevented their destroying the Swiss federation in the Sonderbund war of 1847 between Catholic and Protestant cantons. In this also France took the reactionary side But the unctuous, ungrateful Guizot had dug his own grave, and when in 1848 internal revolt shook down the Orleanist throne, both King and minister took refuge in Britain, whose friendship they had cast away.

Severed in sympathy from the despotisms and alienated from France, Britain had to adjust her isolation to the second revolutionary epoch which now convulsed the Continent, leaving behind it, among other things, a second French Empire and a new kingdom of Italy. Those results were only reached after two years of chaos in 1848–9, during which civil war devastated Paris, risings in Vienna and Hungary brought the Metternich system to the ground, the Weimar parliament threatened the Prussian monarchy, Savoy headed Italian revolt against the Austrians, and only the Czardom survived from the Europe set up by the victors of Waterloo. Famous exiles, Mazzini and Louis Napoleon, left their refuge in London to tear up the settlement of 1815, while for a short space it was believed that a Liberal Pope, Pius IX, might reconcile religion and nationality

Fortunately the conduct of foreign affairs during this upheaval was in the hands of the Whigs For the sympathies of the Queen and Prince Consort leaned to Austria and established systems, so did those of Malmesbury, Derby's Foreign Secretary in 1852, though not Disraeli's, Radical and middle-class opinion being overwhelmingly on the other side Palmerston and Russell at least shared one sincere belief which, — in these conditions, though not in all conditions, — made a positive contribution to peace; that liberties of the British sort would restore stability, and that it was our proper rôle to mediate The despatch of Minto's mission in 1847 was thus meant to encourage a reforming Pope, our prompt recognition of the French republic and warnings to Austria were given to protect Liberalism in France and Italy. Palmerston, indeed, believed that Austria would do well to evacuate northern Italy and find compensation in the Balkans On the other hand, as against an all-powerful Russia, he deemed a substantial Austro-Hungary to be indispensable, and consequently, much to democratic indignation, refused to support the Hungarian rising led by the orator Kossuth which, under a popular veneer, in fact aspired to Magyar predominance over oppressed Slav subjects

He held office just long enough to see this storm of revolutionary violence subside. His autocracy in his department, strong gestures and forceful method, had raised a swarm of enemies at home and abroad

He had allowed munitions from Woolwich to be diverted to help Sicilian rebels He infuriated foreign ministers and our own ambassadors by provocative despatches. In 1850 he sent a blockading squadron to enforce payment of debts due from the Greek government to a British subject, Don Pacifico, a Gibraltar Jew, vindicating himself in the famous speech that swung over a hostile House by its keynote of 'Civis Romanus', — of an Imperial flag protecting even its meanest subject. His horn was exalted over his old enemies, Louis Philippe and Guizot, Princess Lieven and Metternich, all now exiles in London suburbs. He won the plaudits of the masses by stout support of Turkey's refusal to surrender Hungarian refugees, and by showing that he approved the popular welcome to Kossuth. In December 1851, in advance of Cabinet decision, he let the French ambassador know his approbation of Louis Napoleon's *coup d'état*; at last the fears and enmities he had aroused saw their opening, and he was dismissed

Innumerable though his mistakes had been, he would not have fallen except for the hostility of the Court, which had worked for this result over three years. He had given just ground for complaint, sometimes taking important decisions of which he left them in ignorance, or sometimes altering despatches from the drafts submitted to the Queen. But there was a deeper difference — of policy and power. Taught by Leopold of Belgium and Stockmar his own tutor, Prince Albert was teaching the Queen that he himself was her 'permanent minister'; 'they labour', said Lord Clarendon, 'under the curious mistake that the Foreign Office is their peculiar department', indeed, when Palmerston fell, the Queen insisted she could veto any nomination of a successor and, against the wish of most of the Cabinet, selected the bland and courtly Granville As for policy, the Court was distressed by the fall of Leopold's kindred, the house of Orleans Victoria could see nothing but brigandage in the Italian war against Austria and secretly worked against her ministers The Prince Consort was set on German unity under the presidency of Prussia, bitterly opposing Palmerston's successful effort to stop a German conquest of Schleswig-Holstein. Yet the minister had triumphed in essence, having done more than any man in Europe to prevent a general war, and to associate Britain with national democracy

Time was to show on what a fragile base our diplomatic structure rested. While immense conscript armies paced the Continent, Palmerston's bold words were backed by an ill-organized regular force of some 130,000 men, of whom less than half were in Europe, and a small fleet slowly changing over from sail to steam Whig financiers argued that Parliament would never stand an increased income-tax, recommendations from the Duke and Palmerston for a strong militia were evaded, while Cobden and the Radicals preached that increased defence was needless panic, and that disarmament was the road to peace.

CHAPTER XIII

THE NEW EMPIRE, 1815-1852

THE first Empire, with which Walpole would not meddle and out of which Chatham had wrought such marvels, was passed away. America was gone, most early Victorians believed Canada would follow, the West Indies were on the down grade. Yet within forty years of Waterloo the foundations of a second Empire were laid.

It must develop in a new body of ruling conditions. One lesson at least had been taken to heart, that government and taxation directly through the Imperial Parliament were out of the question, on the other hand, modern transportation had brought means of contact, the lack of which Burke had declared fatal to any closer unity, and thus in 1839 the Nova Scotian Samuel Cunard launched a first British trans-Atlantic steam service. So that, though in the old Empire too there had been an exchange of men and ideas from the days of George Downing onwards, it was now much multiplied But since such exchanges took place in a new Britain, fast becoming industrialized and evangelical and democratic, the Empire was subjected to new influences which might conceivably be fatal. After 1815, save for Hong Kong and some other bases in the Orient, this was not a period of extending territory, but rather one of consolidating principles; and that not only in our way of ruling communities overseas, but in regard to commerce and Imperial relations with other States.

No vision of Empire had yet stirred the mother country. From 1801-54 one Secretary of State combined 'War and the Colonies', for the department ranked low in the Cabinet and, except for one year of Huskisson, no man of the first order, primarily interested in the Colonies, held it before the third Lord Grey between 1846-54. Only too long these swarmings overseas were treated in an eighteenth-century style — 'the scum of England is poured into the Colonies', wrote one of the ablest Victorian observers. Powerful Benthamite influence was cast against keeping any Colonies at all, while to Cobden and his Manchester school they were offensive as 'Imperialism', or provocation to war, even in conservative and moderate minds the prevailing mood sounded the line of *Marmion*, — 'erring sister, go in peace' Economists grudged the cost of defence, and the price of colonial preference to the home consumer Many times new annexations, as in Tahiti, were rejected, or frontiers, as in Natal, revoked and drawn back. Indeed,

what the last Hanoverians inherited was still what Adam Smith had styled only ' a project of empire ', of scattered petty communities, ill-related to Britain and unrelated to one another ; not 500,000 in Canada, a bare 20,000 in Australia, not 50,000 in Cape Colony, while in each West Indian island a few hundred white men were engulfed among thousands of negroes and half-castes.

Three potent legacies, however, had come down from the old Empire The first was the venerable binding force of English law which, legal maxims taught, Englishmen carried with them as a garment, and in virtue of which elected assemblies, magistrates, and trial by jury had flourished since the first germs of Bermuda or Virginia. A second was the system of the laws of trade, embedded in which was the principle of preference. And a third was the trusteeship of British administrators for native races, seen long ago in the protection of Red Indians against American pioneers, and rewarded, for example, by the Mohawks taking refuge in British Canada But all three, shaken by violent change, had now to be readjusted ; to American independence, Radical politics, new economic units and methods, and humanitarian feeling.

In the sixty years following Waterloo some 7½ million emigrants left the United Kingdom, about half of whom went to the United States, 1½ millions to Canada, and 1 million to Australasia. As of old, in contrast to other empires, self-help was the general British rule. With the exception of a considerable migration to Australia, the mass of those seeking new homes owed little to government assistance, moving fastest in obedience to causes which governments did not control, such as famine in Ireland or gold discoveries in California and Australia, the State doing little else for them except to pass some tardy legislation, to stop overcrowding or lack of doctors in emigrant ships, which had suffered almost as much as the slave ships before them. Thus the life blood of these settlements came from individual or community action, from below and not from above. From the Highland Society, or individual Scots like Lord Selkirk, concerned to remedy hardships due to land eviction, from soldiers, such as Colonel Talbot in Ontario, John Galt's land company in the Huron country ; or Scottish churches and English episcopalians, who respectively set up Dunedin and Christ Church in New Zealand. Indeed, not the Imperial government, but only Gibbon Wakefield and the company of his creation made New Zealand possible at all

This Empire owed everything to families who staked their all for freedom and kept the faith ; to the Maryland loyalists, for instance, who migrated to Nova Scotia, or the children of soldiers and government servants, like the Australian statesman William Wentworth, born in Norfolk Island when his father was surgeon to the convict settlement, or to Caroline Chisholm and her husband, formerly of the Madras

army, who worked at Sydney to give new life and citizenship to convicts. Our Dominions were made, as Anglo-Saxon England had been made, by blood and sweat of forgotten human beings. Wooden sailing ships,—forty days to Canada in 1840 and ninety in the clippers to Australia—timber-framed houses, blackened tree stumps round the new clearing, long journeys by horse or canoe to fetch stores, doctor, or priest, Maoris, Indians, Kaffirs, drought and ice and murrain; from such beginnings and in such trials they raised their small States above ground.

Yet, though this seems the main truth, it would be unjust to see Britain as wholly uninterested, or without any Colonial ideal On the contrary, at least three strong schools of thought may be distinguished, to each of which this Empire owed much administrators, radical reformers, and humanitarian and evangelical Christians who, sometimes blended but more often in conflict, together made a new Imperialism.

Like most other things in modern Britain, the new tone of administration was set by colleagues and disciples of the younger Pitt, and especially by Grenville, Dundas, Bathurst, and Huskisson, men who seem to belong to another planet than their immediate predecessors, whose rigidity had lost America. Never doctrinaire but in fundamentals liberal, they were concerned first to reconstruct a ruined Empire, and then to absorb the gains of war. As the Canada Act of 1791 shows, they meant to give to the Colonies the British constitution as then it stood, which left room for a strong executive. They aimed too, and this the great war forced on more urgently, at readjustment of the laws of trade to the loss of America Results of victory added a third problem, how to absorb bodies coming from foreign systems, whether Trinidad and its Spanish law, the Dutch of Guiana, or the Maltese. In those cases, as well as in Ceylon, they added a new category to Empire, found out by experience and careful enquiry, of a Crown Colony type, the core of which was not in an elected assembly, but rather in the governor in council.

Perhaps their most continuous achievement was the working out of a new commercial system They faced new powerful groups, in the United States, South American republics, and the German Zollverein, with whom bargains must be struck. New conquests, whether Trinidad or Mauritius, clashed with the old monopoly of West Indian sugar. A new supremacy in Britain of cotton and iron demanded cheap material, and was satisfied it could triumph through competition We find therefore a long series of measures, particularly in the day of Huskisson, to relax the prohibitions of the Navigation Act. Thus all the Americas were allowed henceforth to send produce in their own ships to Britain, or again, since without North American

commerce the West Indies could not live, here too after long struggles full freedom was given by 1830. Acts of 1822–5 repealed the rule that goods in foreign ships could come only from the country of origin, allowed the Colonies to export direct to Europe and to import direct also, and provided for reciprocity treaties Trade with India had been opened to other nations for some time past. On the other hand, British and Colonial shipping retained a monopoly of all other inter-Imperial trade, while the whole system turned on the principle of preference; Britain, which gave a large priority to West Indian sugar or Canadian timber and corn, requiring in return a preferential duty for British imports.

Conditions after the peace, trade depression, and the overcrowding of Britain by demobilized unemployed soldiers, revived a zeal for emigration, which since the Restoration had always been discouraged. Five thousand '1820 settlers', to hold the east of Cape Colony, were launched with a parliamentary grant, much the same was done in Upper Canada, and much land granted to companies who undertook to settle Ontario and Western Australia. Reports and enquiries in this period of experiment show a greatly increased competence at the Colonial Office; within whose ranks, and at its head from 1836–47, was one of the strongest men of the day, James Stephen, nephew of Wilberforce, who brought to Colonial administration all the 'Saints'' dedication to the public good. The decisions taken, and the guidance given, were of lasting importance. It was the Colonial Office which, for example, laid down at the Cape the rule of racial equality, irrespective of colour, and by vetoing proposals for Oriental labour ordained the future of a 'White Australia'.

As with the mother country, the year 1830 began a new stage in the Empire, indirectly through the pervading effects of Reform but immediately as being the foundation date of the Colonization Society inspired by Gibbon Wakefield. This remarkable man, belonging to one of the families thrown up by revolutionary England who satisfied their enormous vitality in philanthropy and economics, had some defects of the pure adventurer, yet combined with an understanding and power of decision which went to the root. The title of his book, *The Art of Colonization*, gives a clue to his doctrine. Colonization must be systematized; new Britains could be made by conscious effort. No longer the haphazard product of the workhouse or misfortune, emigrants must be selected as a true cross-section of British society, and financed by an emigration fund formed from the sale of the vast empty lands, which were the inheritance of all the people. Hitherto those lands had been given away without thought, and could be bought for a song, so that no wage-earning class existed in the Colonies which could make possible large capital development. That process he declared could be

arrested by selling lands at a 'sufficient' price, which would compel labour to work for wages until it had some capital saved, and check the dispersal of emigrants in scattered lots.

But Wakefield's theory, often found over-rigid in practice, was less important than his inspiration. His power of persuasiveness and publicity converted Durham and Grey among ministers, and raised up many disciples, notably Charles Buller, whose criticism described the famous, though too dark, picture of 'Mr. Mother Country' and the 'sighing rooms' at the Colonial Office, where aspirations died. From the energies of this group issued the colonization of South Australia and the New Zealand Company, parliamentary committees on lands and transportation, and the Land and Emigration commissioners created in 1840. But their greatest gift by far was something that contemporary statesmen, with hardly an exception, lacked: a faith that an Empire of free communities could survive.

Their crusade often collided with the then mighty force of evangelical religion. From the same body of 'Saints' who had overthrown slavery came the London Missionary Society, the Church Missionary Society, the British and Foreign Bible Society. Stephen at the Colonial Office belonged to their inner circle, so did Glenelg, the Secretary of State at a crucial time, and individual missionaries, Marsden and Williams in the Pacific, or Philip the Congregationalist in South Africa, wielded as much power as any governor Wilberforce's successor Fowell Buxton turned from his victory over slavery in 1833 to form the Aborigines Protection Society, with far-reaching effect Missionary influence, it was even hoped, might evangelize Hindu and Mohammedan civilization, and the government of India was urged to abandon its wisely guarded religious neutrality.

Here, then, was an inherited frame of empire, admitting local liberties, yet defending executive authority and established Churches, ready to relax restrictions but still attempting to direct Imperial trade as a whole; rarely but firmly using old rights of veto, or disallowing Colonial law, striving to protect native races, even against self-governing Britons; pessimistic of final continuance, though not without new rays of hope Its task embraced four elements of the first importance, self-government, emigration and settlement, native races, and economic relations. Each in some degree entered into the history of each principal Colony, though each may here be tested by looking to each principal group in turn.

Canada came out of the American and French revolutions and the war of 1812 as a people neither American nor British, but of a character all its own Since Newfoundland still ran its own course, and the great West lay in the hands of Indians or of the Hudson's Bay Company and its rivals, the core of the country consisted of three divisions between

sea and lakes, — the Maritime provinces, Lower Canada or Quebec, Upper Canada or Ontario As to the first, the original Nova Scotia was divided after the coming of the American Loyalists, in order to set up three additional governments in New Brunswick, Prince Edward Island, and Cape Breton. If the life of the two last was too minute to affect large issues, Prince Edward Island furthermore being almost given over to absentee proprietors, Nova Scotia and New Brunswick together made a stalwart society Here was the sea-link with Britain, Halifax was a vital naval base, from the St. John river the royal Navy got its masts, in Halifax were settled privateersmen and ex-naval officers of the wars Their chief ingredients came of vigorous stock, — soldier colonists, Highlanders of the Isles, and American Loyalists (had not its first bishop been a rector in New York?). Their civic standard was high; Dalhousie University and many grammar schools began life before 1820, and its teeming press produced in Joseph Howe a politician of a high order Economically the Maritimes lived in the orbit of New England, being cut off from Canada proper by almost insuperable barriers of mountain, river, and forest, but their political temper was British and Imperial.

It was far otherwise with the two Canadas, whose differences had brought about their division under Pitt's Act of 1791 That severance had not healed their unkind relations, if only because, in commanding the St Lawrence, Quebec's hold on the customs revenue galled Ontario But behind this was a question immeasurably greater whether political predominance was to be British or French. Every decade after the Loyalists' arrival tilted the scale; Ontario grew from 80,000 people in 1815 to 455,000 in 1841, while British immigrants overflowed into the eastern townships of Quebec. This racial conflict, inflamed by a British minority at Montreal, was reinforced by the French-Canadian passion to uphold a Catholic supremacy And meanwhile each province was wrestling with a third internal strain, as indeed were the Maritimes too, the oldest and most inevitable strain of all · a conflict of elected assemblies with a half-alien, irresponsible executive. As with the lost American Colonies, so now the controversies turned on the powers of governors and their councils, provision of a civil list, control of patronage, the independence of judges, and distribution of the soil. There were glaring abuses Sometimes the governor's council was simultaneously an executive and a legislative upper chamber, office-holders sat for life, Crown dues and quit rents took much revenue out of parliamentary control Sometimes lands were rigidly tied up or, again, profusely alienated to speculators. Broadly speaking, in each province a party of reformers and recent immigrants was up in arms against an oligarchy, part-official and in part of vested interests, which monopolized power Whether that local and social
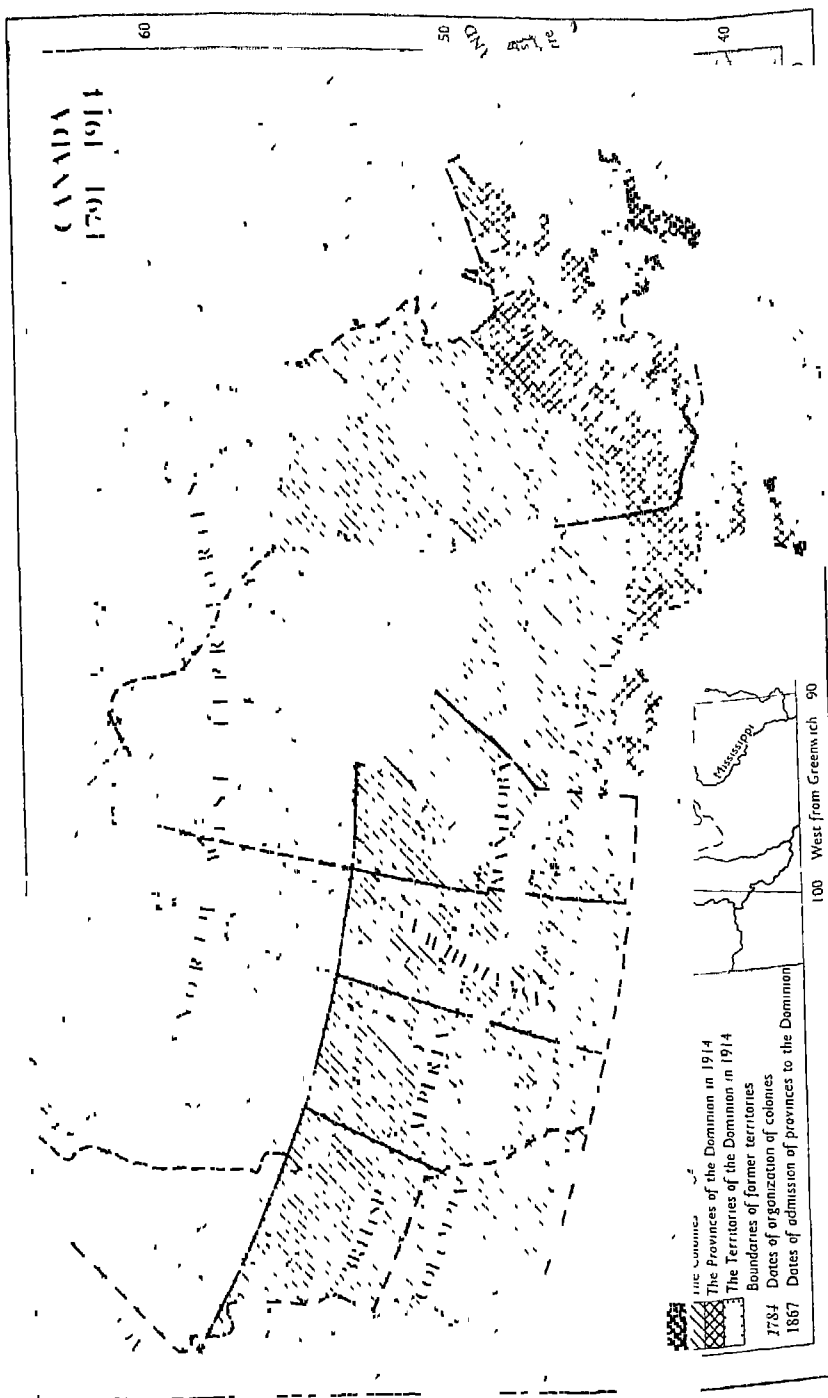
strife would coincide with resistance to British government, even to the British race, would depend on local circumstance.

The darkest outlook was naturally in Quebec, where constitutional opposition melted into a race war. Though French-Canadians had fought bravely in 1812 and the general loyalty of the priesthood was not in doubt, Quebec had passed out of the moderating influence of its landed seigneurs, on whom early governors had pinned their hopes. An illiterate peasantry, granted a democratic franchise, gave their confidence now to lawyers and journalists, finding a tribune of the people in Louis Joseph Papineau, who became Speaker of the Assembly in 1815. From that time till 1837 the party of his making carried every election. His contacts were flung wide with British Radicals and Americans, his models were the new republics, and his case was strong, but he had no constructive mind, while his abuse of impeachment and stoppage of supply must bring government to a standstill. Once the home government thought desperately of reuniting the provinces and suppressing political use of the French language, but under Huskisson and Grey their attitude was more liberal. Asking only a small civil list, they ceded all permanent revenues to the Assembly and excluded the judges from Council Papineau's reply was the 92 resolutions of 1834, which demanded an elective Council, sole financial power for the Assembly, and a special court to deal with impeachments, and in 1837, when Russell declared responsible government tantamount to independence, the Assembly refused supply. Papineau's violence, however, had estranged English-speaking reformers, his anti-clericalism equally offended the Church, and only a few villages took up arms in November to resist the warrant for his arrest. After he had escaped to the United States, a few companies of infantry sufficed to suppress this so-called rebellion.

In Upper Canada we follow the normal sequence of Colonial history, without Quebec's racial hatreds, and in a province of more assured maturity, 80 per cent of whose inhabitants in 1815 were of American origin. Land and religion furnished some real grievances, though only as between Protestant sects of the same major nationality. Nine-tenths of the soil had been alienated, but only a fraction had been actually taken up, and this applied especially to the Clergy reserves; that is, the proportion of one-seventh assigned to the Churches under the Act of 1791, which Strachan, the militant bishop of Toronto, claimed had been meant for Anglicans alone This great abuse, which separated settlements by many miles of uncleared holdings, was one instance only, or so reformers argued, of a universal monopoly; of a 'family compact' made up of officials, old Loyalist families, and rich men, who exploited government and the British connection in their own interest.

In substance and spirit, however, Ontario's progress had been swift

and solid For strategic and economic reasons much had been spent on roads and waterways, as on the Welland, Rideau, and Lachine canals, which together made connection from Lake Erie all the way to Montreal. Rival religious bodies had organized their schools, Upper Canada College was on foot at Toronto, Strachan was pushing on towards a university. In him, and in Beverley Robinson of Virginian origin, the 'Compact' group had leaders of distinction, whatever their prejudices, while another Loyalist, Egerton Ryerson, made the Methodists a nucleus of patriotism and educational zeal. Nor could the province justly complain of lack of response from Britain Crown revenues were handed over, a fairer share allotted of the customs levied at Quebec, and restrictions on American immigrants removed. If some of the soldier-governors were wooden, Colborne (Lord Seaton) was admirably fair-minded, and on the whole the crux lay not so much in the British connection as in the blending with it of a social feud, within provincial society itself.

Opposition to the ruling caste found a voluble leader in the journalist William Lyon MacKenzie, in whose expulsion from the Assembly by a Tory majority they received the gift of a crowning grievance, and the antics of a foolish governor, Sir Francis Head, touched off the spark. In 1837 MacKenzie plunged into treason and after a mere fiasco of rebellion fled to the United States. Sensible men, notably Robert Baldwin, had already told the Colonial Office what they judged the only lasting remedy: that the governor's council should become a true Cabinet, selected from the majority in the Assembly and held responsible to it In struggles over revenue the Nova Scotians had put this point to Downing Street as far back as 1830, while in this very year of rebellion New Brunswick acquired what was in fact, though not by admission, responsible government. Lord Durham's principal recommendation arose, therefore, on a ground well prepared.

His mission, first offered before the rebellion, was pressed on him anew in January 1838; he reached Canada in May, stayed there less than six months, and presented his report in February 1839. Whatever the share of his assistants, Buller and Wakefield, its thrust and final shape were his own, comprehending not merely a new government for the Canadas but schemes for land settlement, municipal planning, parliamentary procedure, and emigration Its effect, perhaps, would not have been so immediate but for the circumstances of his resignation. For, armed with all-embracing powers, he used them to the full, so that enemies at home — Brougham in particular — and honest constitutional scruple seized on the ordinances whereby he banished Papineau and his fellows under pain of death and deported others without trial. When this was cancelled and his powers questioned, he resigned, appealing to Canada in a fiery proclamation over the head of the Imperial government.

There were shortcomings in this classic report. It exaggerated the French disloyalty, it was based on a thin knowledge of Upper Canada, its detail did not maintain its ground. But its logic was resolute and decisive If Canada was not to be swallowed up in America, she must become a nation, and Quebec must become part of an Anglo-Saxon State by merger in a larger unit. Federation he declared against, for it would leave a French majority in Quebec intact, and the larger Union he would have preferred was unwelcome to the Maritimes and would take too long to achieve. He therefore pronounced for uniting Quebec and Ontario, which would involve a British majority. But this new unit must be rid of the root cause of friction. The governor must administer this united Canada through men who commanded a majority in its Assembly; under instructions that he could count on no aid from home in any dispute that did not directly involve relations with the mother country. Those Imperial relations should include amendment of the constitution, foreign affairs, commerce, and public lands, in all of which the home government should have the last word.

While this lofty recommendation exhilarated Canada and was carefully studied by Australians, it took the better part of ten years for its theory to become fact The British Act of 1841 united the two provinces, ordained a fixed civil list, gave Canada control of its own lands, and made English the official language, but Russell, now Colonial Secretary, flatly refused to accept 'what is absurdly called responsible government'; a governor, so ran his rigid dilemma, who implicitly followed the advice of his Cabinet, would be 'an independent sovereign'. Stanley, his Tory successor, and Peel both shared this fear of an Empire dismembered Yet, as by Russell's own instructions officials were in future to hold their places at pleasure, pressure on the spot soon forced an admission that such changes in heads of departments must accord with the majority opinion of the Assembly

At first the problem was masked by the strenuous governor-generalship from 1839 to 1841 of Poulett Thompson, Lord Sydenham, during which great public works, education, municipalities, and county courts were all driven forward. In fact, however, he acted as his own Prime Minister, selecting colleagues from any branch of moderate thinking, and riding off the principle of a party Cabinet. The charm and diplomatic skill of his successor, Canning's friend Charles Bagot, sweetened the atmosphere, and he took reformers of each race, Baldwin and Lafontaine, into his government, but he was followed by Sir Charles Metcalfe (1843–6), an Anglo-Indian administrator of heroic type, yet inelastic and totally inexperienced in parliamentary arts. Conceiving his mission as a last crusade to save 'the connexion' from French, Irish, and Republicans, he insisted that his final responsibility must be

exerted through heads of departments answerable to himself, and won a last election on this confusion of the real issue. His attitude brought admiring adhesion from Peel, Russell, and Gladstone, while James Stephen gloomily declared Canada was ' in everything but name a distinct State '.

Self-government was, indeed, finally achieved by Canadians themselves; by the steady stand of Baldwin and Lafontaine, and the staunchness of Howe in Nova Scotia, whose *Letters to Lord John Russell* laid down a clear strategy · ' we seek for nothing more than British subjects are entitled to, but we will be content with nothing less ' Year in, year out, this battery from the Maritimes broke on the Colonial Office, and was supported by Buller at home. At last the third Lord Grey, Russell's Colonial Secretary, lifted the ban which Russell had imposed, instructing the governor, ' it is neither possible nor desirable to carry on the government of any of the British provinces in North America in opposition to the opinion of the inhabitants '. The first true party government took office in Nova Scotia in February 1848, followed in March by a Baldwin-Lafontaine ministry in Canada

Elgin, the governor-general who thus promptly applied Durham's principle, was Durham's son-in-law, and in his long term, from 1847 to 1854, Canada was made He it was who put life into Durham's ideal, faithfully following out obedience to majority rule, at whatever risk or cost to himself. Pursuing what the kindly Bagot had begun, he set out to win the French, repealing the existing veto on their language for official use, and against British opposition at Montreal carried the Rebellion Losses Act of 1849, to compensate those who had suffered unjustly twelve years before He discerned the depth of the conservative nationalism of Quebec, asking, ' who will venture to say that the last hand which waves the British flag on American ground may not be that of a French Canadian ? ' This faith in permanence induced by freedom he tried to instil in the doubting Whigs at home, whom he bade ' renounce the habit of telling the Colonies that the colonial is a provisional existence '. Besides this grasp of fundamentals, his government pushed on with public works, chartered the Grand Trunk railway, created an unsectarian university at Toronto, secularized the clergy reserves of land, and abolished seigneurial tenures in Quebec.

His most delicate task was one implicit in the triangle that history has made between Britain, Canada, and the United States Intermixture of blood — even the same families — on either side of a long border, a vast immigration of Irish to America which rose to flood-height after the famine of 1847, economic dependence of the Maritimes on New England, the trend of Canadian waterways from the Great Lakes, all such factors offered a rival alternative to the British connection American notions of government affected Papineau, American raiders in Ontario

demonstrated sympathy with the rebels of 1837, and a stiff knot of diplomatic disputes had descended from the past. One, born with the peace of 1783, concerned American fishing rights in Newfoundland and the St. Lawrence. A second of the same date, over the Maine-New Brunswick frontier, was only compromised by the treaty which Lord Ashburton negotiated in 1841. A third opened up the much greater future of the West.

By the settlement of 1818 the frontier ran from the Lake of the Woods along the 49th parallel to the Rockies; beyond, as the parties could not agree on the tangle of Spanish inheritances, fur-trading posts, and sea-captains' discoveries, they had agreed for the time to occupy in common the great space known as 'Oregon', that stretched to the Pacific To push along that parallel to the sea would deprive the British of the Columbia river and their Vancouver settlement, but the thinly stretched-out arm of the Hudson's Bay Company could not resist a tide of American pioneers. The Presidential election of 1844 was won by the Democrat Polk on the cry of '54·40 or fight', — claiming a parallel, that is, reaching to Russian Alaska; heavy negotiation was necessary to bring about the adjustment of 1846, which left Vancouver Island to Britain and made possible British Columbia.

For Elgin's immediate purpose, however, the crux was the commercial system. British preferences had determined the course of Canadian trade, making, for example, the strong lumber interest of New Brunswick, while Huskisson had allowed Canadian wheat to come in at 5s. a quarter, which in 1843 was reduced to 1s. In virtue of this policy Canada developed her waterways, Britain treating American grain ground in Canada as if it were Colonial; powerful American interests, however, worked to draw Canadian exports through New York, by a rival canal system and bonded warehouses. At the same time the United States were taking something like a sixth of all British exports, and a vehement agitation marshalled the British objection to buying Canadian timber dear instead of Baltic timber cheap. Then Peel's repeal of the corn laws jeopardized at a stroke the painfully built fabric of Canadian transportation. Inflamed also by the racial issue, Canadian merchants asked repeal of the Navigation Acts which increased their freight charges, and argued that Canada's future would best be served by annexation to the States. For this economic grievance Elgin sought an economic remedy by the reciprocity treaty of 1854. To open the American market to Canada's fish, lumber, and grain would disperse many discontents, while the Americans, at some cost to Nova Scotia, received free access to the shore fisheries and the St Lawrence waterways

Thus principles and changes within reformed Britain assisted to make a self-governing, self-conscious, Canadian State.

Far otherwise was their effect on the other survivor of our Atlantic Empire, the West Indies. Artificially prolonged in their old prosperity by the wars, the sugar islands even in 1830 counted for much more in our trade than British North America, but they suffered from many grievances and their life was precarious. They had, indeed, an almost monopoly of the home market, yet Navigation Acts and British duties kept prices so high as to keep consumption stationary. They were much afflicted by absentee owners, who left plantations to the mercies of attorneys and overseers Suppression of the slave trade in 1807 imperilled their labour supply, exposing them too to competition from the slave-grown sugar of Cuba and Brazil, and a little later Britain made such competition even more severe by scaling down the duties on sugar from Mauritius and the East.

No part of Empire suffered more directly from the changing impulses, even from the highest motives, of the mother country. Slave emancipation in 1833 was a hard blow. The money compensation given was much less than the value removed, while the intermediate stage of apprenticeship till 1838 was a sorry failure. As wage-labourers the negroes proved — in general — hopeless, unwilling or incompetent to give the continuous labour on which crops must depend. Production fell away sharply, even before the equalization of duties with those on foreign sugar, slave-grown included, by the Whig government of 1846–52.

True, their local conditions varied much; in some small islands like Antigua the relations of masters and negroes were different from the mutual hatreds in Jamaica, while some lately conquered colonies like Trinidad had both a better government and a less exhausted soil. Planters had often themselves to thank for their calamities, owing to generations of absentee or oppressive rule, and they often defied alike the Imperial government, the missionary interest, and humanity itself. Recovery was to come in due course, but only when conditions had changed, by an immigration of Indian labour, alternative crops, and mechanization. For the ensuing twenty years, however, while the white folk fell away steeply in proportion to negroes and coloured people, depression and demoralization descended on the once wealthy, proudly self-governing, West Indian interest.

On a smaller scale, and at a later date, than in Canada, the same problems of emigration, land, native races, and self-government were forced forward in Australasia. Here, however, it was no matter of diplomatic inheritance or rival European systems, but an imposition of British communities on what had, politically, been a void The origin of Australasia was simply the need, when America was lost, to find some alternative area to receive British convicts, on which advice was sought from the scientist Joseph Banks and those who had sailed with Captain

Cook twenty years before. In 1788 Captain Phillip with 700 convicts reached Botany Bay and chose the site of Sydney, being under further orders to anticipate the French by annexing the eastern half of the continent. There for some twenty years this petty settlement went on, hemmed in on the west by what was reckoned an impassable range of mountains, with Van Diemen's Land, or Tasmania, as an outlier for the more desperate prisoners. To a late date the convict population predominated, for of 30,000 adults in New South Wales in 1828 some 23,000 were or had been prisoners, and while this endured representative government could hardly arise. Yet never did the political instinct of the race triumph more signally over a hostile environment.

'Convicts' in those harsh days included men transported for snaring game, or some first slip for which now they would be merely bound over to keep the peace, and covered also many political offenders. Much good was done by the governor from 1809 to 1821, the Highland soldier Macquarie who, with all his pugnacity and limitations, seized on one great truth, that the settlement was meant not to punish but to redeem Against ugly opposition and prejudice he consistently brought 'emancipists', prisoners who had proved their worth, out of the shadow, giving them land grants and making some of them magistrates As such men rose, often to considerable wealth, their first wish was that their status as citizens should be recognized by allowing them to serve on juries.

Still earlier another Highlander, John Macarthur, had founded Australia's first prosperity, when he brought out merino sheep from the royal flock at Kew. By the early 'thirties Australian wool had driven the Spanish off the market and was overhauling the wool of Saxony, and here too Macquarie builded better than he knew For he set on foot the first determined explorations which passed the Blue Mountains on the west and in time reached, west and south and north, unlimited grazing for flocks and herds. For two decades small bands of pioneers with boundless daring discovered passes, forded great rivers, or traversed deserts, — warned by smoke signals or spear-armed natives that man had been there, though never a white man; reckoning their next find of water by the flight of cockatoos or pelicans, sometimes with tall grass to their saddle girths, sometimes bound fast in sand drifts or wilderness of rock and iron-stone, with kites and eagles overhead; experiencing, in dried-up torrents and dead animals, natives with swollen tongues and their own suffering, what drought was to mean in the heart of this Continent So Hume and Hovell discovered Victoria from the north, Allan Cunningham found the rich Darling Downs, Sturt tracked the Darling and its junction with the Murray, and the southward drainage of these rivers to the sea.

From this daring of botanists and geologists, sailors, sheep farmers, and Peninsula soldiers, came the break-out from New South Wales'

narrow confines, and a flood of free emigrants. Defying all regulations the squatters moved ever outwards, taking what land they could; on the back of their sheep was the wealth of their country, once a year to roll in bullock waggons to the seaports. Meantime, the need to disperse convict concentrations, fears of the French, and philanthropy at home, assisted to make new Colonies northwards at Brisbane and in what, after 1826, was to be Queensland, from 1834 the genesis of Victoria round Port Phillip, in 1829 the Swan river settlement out of which came Western Australia, while in 1836, from another of Wakefield's enterprises, rose Adelaide and South Australia. Progress in these last cases was to be painful; in the west a small isolated body were wrestling with hardwood forests and a forbidding hinterland, in the south the rigidities of Wakefield's system and bungling government induced many settlers to try elsewhere.

But the original colony of New South Wales was reaching maturity in great strides. Assisted immigration on a large scale, 48 per cent of it being Irish between 1840 and 50, introduced a different society. Old social barriers passed into new economic division between the acquired interests of settlers and squatters, whether springing from 'emancipists' or not, as against the new arrivals, mechanics and shopkeepers, peasants and wage-earners Every sentiment of this new class must rise against transportation, and so did all the Wakefield school, and save in Tasmania it came to an end in 1840. Once in after years it was reintroduced to save a desperate situation in Western Australia, where it lingered on till 1868, even longer than in Tasmania, but all proposals to bring it back in the east were angrily resisted. From the 'twenties onwards self-government came to New South Wales in the usual gradual steps, the first decided advance being the Act of 1842, which set up a legislative council, two-thirds elected on a property-owning franchise, and made ex-convicts eligible both to vote and to be elected. But with all his liberalism the third Lord Grey was a man of rigidity His measure retained for the Crown the control of a civil list, while a simultaneous Act enforced on all Australia the Wakefield programme for land sales, and kept all that burning question under Imperial direction.

All through the late 'forties Gipps, a very strong governor, was combating a mixed Opposition, of squatter interests fighting against fixed prices and demanding long leases, confused with the wholly separate matter of Australian control of local affairs. Wentworth, the squatters' political leader, was out of touch with the new demands for a broader electorate and an opening of the land to smaller men, and an Imperial Act of 1846 gave the squatters a long respite by assuring them, outside settled areas, long leases and prior rights of purchase Much the same gradualness or compromise was impressed on the form of

government. The Australian Government Act of 1850 enlarged the franchise, created a new State in Victoria, and both there and in Tasmania and South Australia made legislatives mainly elective; on the other hand, lands and land revenue were kept under the Secretary of State. But Grey's most fundamental proposal, of a federal council for all Australia, was abandoned under opposition both in the British and Australian Parliaments.

While old Australia and young, the conservative Wentworth and the radical Robert Lowe, were equally asking clearer definition and more responsible government, in 1851 the finding of gold turned this stream into a torrent. The finds were of immense richness, both at Bathurst in New South Wales and at Bendigo and Ballarat in Victoria, and native-born and new immigrants swarmed to the diggings. 94,000 people entered Victoria alone in 1852, and in the first ten years after discovery Australia's population of 400,000 was trebled. In 1852–3 the Imperial government gave to this changing society all that it asked for; responsible government, control of their lands, and constitutions of their own devising.

While Australia had sprung from a government settlement, New Zealand was a pure product of individual enterprise, almost more so than any other Imperial community since the seventeenth century. Captain Cook had recommended the islands as suitable for colonization after circumnavigating them in 1769–70, but seventy years passed without effect In that interval traders and escaped convicts and whaling seamen broke in, some to live among the Maoris, others just to debauch them with vice, drink, and muskets; French adventurers too, and French warships in the offing. Many missionaries of admirable devotion, Samuel Marsden among them, one of Simeon's Cambridge Evangelicals, and Henry Williams, crossed from Australia to save the Maoris from the white men, while vague land claims among primitive tribes, selling of arms, and violence were laying up a future collision For the Maoris, immigrants long ago from Malaya, were cannibal, warlike, and intelligent. In the 1830's colonization was opposed by the missionary interest at home, and Glenelg and Stephen.

Wakefield's New Zealand Company was therefore at first refused a charter, but early in 1839 took the law into its own hands by sending out a shipload of settlers; a few months later, 'with extreme reluctance', as the Colonial Office put it, government despatched a warship to deal with the Maoris, barely in time to anticipate the French. So came about in February 1840 the treaty of Waitangi, declaring the Queen sovereign, leaving the Maoris in 'full exclusive and undisturbed' possession of their land, but giving the British government a right of pre-emption, if and when the Maoris wished to sell Here was a first and long-remaining dilemma; between the word of the British govern-

ment and the claims, part-recognized by that government, of Wakefield's Company, which suggested that terms signed with ' naked savages ' need not be honoured.

Before the Company was bought out in 1850, infinite harm had been done. The political influence of Wakefield's circle was strong enough to extort government recognition and land grants. But weak governors on the spot could not resist pressure for claims amounting to many million acres, while the great length of the two main islands, and the choice of Auckland as capital in the far north, set up rivalry with the Company's choice of Wellington. Land speculation defeated a fair trial of Wakefield's principles, and the Maoris, after many attacks on white surveyors and justly alarmed that Parliament wished to break the treaty, in 1845 began war.

This was confined to the North Island where the mass of the Maoris were concentrated, and perhaps it was the least of the troubles which confronted the new governor that year, the memorable George Grey. Son of a soldier who fell at Badajoz, he first made a name by exploration in Western Australia, and enhanced it by a resolute governorship of South Australia, where mismanagement had left a chaos. In some forms and circumstances of government this high-minded autocrat, as after-life showed, could not succeed, but in the New Zealand of 1845-53 he was worth much gold. By decision and justice he ended the Maori war. He far advanced the land problem in the South Island by large purchases and, — whether wisely or not, — speeded the growth of pastoral farming by reducing the price of Crown land. The Company's disappearance was for the best, but it had done essential work. It had killed notions of transporting convicts, chosen a good stock of settlers, and by its high-price policy secured in the South Island several prosperous settlements of middle-sized farmers; especially the Otago group coming from the Free Church of Scotland, and the Church of England colony in the Canterbury plains.

Not the least of Grey's services was his refusal to put into operation the elaborate top-heavy constitution issued in 1847, his chief objection being the exclusion of natives from the franchise. His own scheme of beginning with small local councils was continued in the Act of 1852, which created elected bodies for six provinces; above them, with exclusive powers over customs revenue, land, and native races, and with an overriding power over all, was to be a general assembly, the lower house of which would be elected on a low franchise. At its first meeting this assembly asked for responsible government, and this was granted in 1854. So a community of less than 60,000 Europeans, within fifteen years of their migration, were granted the utmost liberty that Victorian Britain had to give.

This growth outwards of self-governing areas had been complicated

in Canada and New Zealand by pre-existing conditions; the fragment of another European race and a native population. In South Africa these conditions meant a more formidable danger

By our second conquest of the Cape in 1807 we had taken over what we, like the Dutch before us, viewed as a half-way house to India and a military base, any idea of colonization only arising later in conditions unforeseen. For, having conquered a struggling settlement of some 15,000 Dutchmen and Huguenots, we found ourselves face to face with rival invaders from the north in the Bantu peoples — Kaffirs, Zulus, Bechuanas, and Basutos — who by the late eighteenth century had either exterminated the Berbers and Hottentots, or driven them toward the sea. Hence came our threefold interconnected problem; government of a British Colony, relations of British and Dutch, and a European contest with the natives. A fourth, or at least a ruling condition, must be added, the influence of the missionary

Even before the Dutch downfall the tide of Christian effort began to flow, with the Moravian brethren and the Independents of the London Missionary Society, to be followed after 1815 by Wesleyans and Presbyterians, the Church Missionary Society, German Lutherans, and French Evangelicals Their radius was immense, far beyond the Colony up to the Vaal, into Basutoland, and among the Kaffirs eastward to Natal, and their power, which matched their devotion, had in some ways a deplorable effect If their standard of justice for men of all colours was admirable, it was upheld with an optimistic dogmatism and an ignoring of some essential facts, while their geese always seemed to be swans, and rival missions championed rival chieftains With the Evangelicals so strong in colonial questions at home their advice was paramount, and in particular that forthcoming from a man of burning feeling and political ability, John Philip of the London Missionary Society

Assisted by the '1820 settlers' in the eastern districts of Albany and Grahamstown, the white population struggled upwards to about 54,000 by 1830, but there was neither scope, nor any united demand, for representative government. Though Roman-Dutch law continued for civil cases, the British set up new courts and magistrates, made English the sole official language, and brought land sales under the reformers' price regulations But the native question was at the root, wherever one looked Were they to be Europeanized, amalgamated, enslaved, or segregated? An ordinance of 1828 gave to Hottentots and all free coloured folk rights of owning land, the colonists' wish for a severe vagrancy law being resisted by the Colonial Office under missionary influence.

This native question, in a land of no frontiers and an age of conquest, was controlled by forces far beyond the Colony The last century's upheavals had left behind five centres of violence. Along and inwards from

the coast, running north-eastward, were the Kaffirs, and beyond them again a half-empty four hundred miles, before reaching the handful of English traders and ivory hunters who were exploiting Natal. West and north of Natal the Zulu despot Chaka, by building up a military machine of disciplined ' impis ', had lately made a desolation, which drove the wreckage of other peoples far and wide. Circling west once more, over the Drakensberg mountains, was the well-covered and fertile Basutoland, disputed by many chieftains, but with predominance going to the watchful, tolerant, and able Moshesh. West of Basutoland and north of the Orange river were several communities of Griquas, a congerie of half-breeds, Bushmen, and broken tribes, which politically were created by the London missionaries. North-east of these stretched unlimited grass lands, of the future Orange and Transvaal States, until at the Limpopo they touched the Matabele power, a Zulu offshoot who had fled from Chaka, lying in rear of the unused waste of Portuguese East Africa.

In 1834 it was first exemplified on a serious scale how the British people's high intentions jarred and twisted these new-spun skeins. When slave emancipation passed, the new governor D'Urban was sent out to enforce it, with instructions to avoid aggression and to make treaties with those whom the home government were pleased to call native ' States '. One such treaty he did make with Waterboer, the Griqua who under missionary guidance ruled the western districts round the Orange river, but on the east a Kaffir war changed his outlook. Kaffir society, he discovered, was not a ' State ' at all, but a disintegrating mass of tribal units, huddled together in panic of the Zulus, and in need of more living room In short, his problem was not political but economic, of settlers and Kaffirs alike hungry for land with space for an economy that depended on cattle ; a matter of cattle-lifting, reprisals, and counter-raids, much like the Scottish Border centuries ago After the experiment of a neutral belt had failed, he annexed the territory up to the river Kei. In 1836, however, the home government disavowed him and the frontier was drawn back, the Commons' committee on aborigines, after hearing Dr. Philip, threw the blame for aggression on the colonists. With that, and in part from that, came the most decisive event in modern South African history, the Great Trek.

In one sense the Boers had long been on trek, for they were pastoral farmers and frontiersmen, whose pioneers pushed out to take land wherever they could find water springs, in all the wide areas not held by natives in force or armed bodies like the Griquas. These Boers of the frontiers had sat very loose even to their own Dutch government, and much more so to the British, whose measures they detested. Some of them owned slaves, and found the compensation paid most

inadequate, or tied up in baffling red tape. All demanded a supply of native labour, nor were they ready to accept orders which would treat Hottentots as equals; they were affronted by the inferiority stamped on their language, the high government price for land, and new demands for taxes or commando service. They wanted large farms, 6000 acres or more, on which a patriarchal family could live, sufficient to itself, but found themselves forbidden to use force against the natives by a government that was incapable of protecting them. Their contempt was deep for an Empire which, as Glenelg's last exploit showed, shilly shallied with men's lives on dangerous frontiers. So in 1836 the trickle of migration broadened to a stream; many hundred waggons crossing the Orange, with wives and children and church ministers and household goods, to seek a promised land where they might live free Among the fighting-men, the Retiefs and Maritz and Potgieters, was a boy of ten, Paul Kruger, with whom this vision was to end. Slowly, perhaps five miles a day, for their sheep and cattle could not be over-driven, the main bodies moved on; to divide in 1837 between some who drove north over the high veldt toward and over the Vaal, and others who descended the steep Drakensberg into Natal.

No more intractable problem was ever set a British government, and few movements have so swiftly deflected history. The map shows how the trekkers sheared right through, or cut behind, the divided Bantu peoples, forcibly collided with the fiercest of them, Zulus and Matabele, spread one tentacle over the missionary road to the Lakes, and another eastward to the Indian Ocean. Chaka's successor Dingaan massacred one section of them, for which they took a bloody revenge and overthrew him; passing through months of extreme strain and horror, — when their waggons were chained together to hold the laager, Zulu assegais wrapped in burning hay lighted the night, and shapes in ambush, looking like cattle, turned out to be the warriors' shields One division thus overran Natal, others menaced the Basutos. In the heart of Africa they rooted this aggressive force, hostile to British dealings and stirring all native races into commotion. Yet in the eye of the law they were British subjects, whose doings threatened British security, though themselves broken into factions, and incompetent to make a stable government.

For fifteen years our policy veered between economy, humanitarianism, and Imperial feeling. Troops were sent to Natal in 1838, withdrawn again, reoccupied it again in 1842 when Boer violence threatened to convulse the Kaffirs, and in 1845 finally annexed it. The bulk of the Natal trekkers having consequently rejoined those on the Orange and the Vaal, much the same story was repeated here. As the home government forbade annexation, the Colony attempted new treaty arrangements to protect Griquas and Basutos, but the root question of the land was

left unsolved, a chaos of titles bought from rival chiefs and with all boundaries vague, and certainly insoluble by a few British agents, who had no military force behind them. Another Kaffir war in 1846 and the arrival of a new governor, the dynamic Harry Smith, hastened the speed of events Once more he annexed Kaffraria up to the Kei, and in 1848 declared royal sovereignty over all between Orange and Vaal, beating off an attack at Boomplaats from the Transvaal Boers under Pretorius. At that date the British might fancy they had overtaken the trekkers, and found a policy on which they could stand.

It was not to be! The line was too thinly held by Europeans, over great distances from the Vaal round to Durban, and a crack in one place would bring all the centre caving in Moshesh the Basuto was antagonized, commandos of the Orange river sovereignty would not back up the British resident, extremists were pulled by sentiment toward their brethren across the Vaal. In 1850 yet another Kaffir war tied down our strength in the east, at a moment when we had intervened, most ingloriously, between Moshesh and his rivals. And the mood of Great Britain had changed. Ardour for native interests had dwindled. Self-government for the Cape was under close discussion, but on the assumption that a self-governing Colony would look after its own affairs, and that Great Britain could not bear the brunt of native wars, stretched ever farther from our base. Colonial reformers and Cobdenites brought pressure to bear on Russell and Grey. In 1852, by the Sand River convention, we admitted the independence of the Transvaal Boers; in 1854 the Bloemfontein convention did the same for the Orange Free State. Some 25,000 Boers in the first, and 15,000 in the second, were thus cut adrift, in the second case assuredly by no very solid wish of their people.

As for Cape Colony, it had over 200,000 European people in the 1850's and economically, largely by the wool trade, had lately prospered; it had organized municipalities, churches, and schools. By the constitution of 1853 it received an elected Council and Assembly, though not responsible government, the Colonial Office also insisting on a franchise low enough to admit men of colour. By 1856 Natal was a Crown Colony, with a part-elected Council.

Here, at least, was nothing more than a project of Empire; a subcontinent ruled on rival principles, divided between half a dozen petty European settlements, many solutions essayed but all cut short, and in the greatest matter of all an abdication. Questions prior to, and more vital than, self-government must be resolved, before South Africa could partake of the life achieved by Canada and Australasia.

CONTEMPORARY DATES

1815–27	Bathurst Secretary for War and the Colonies.
1819	British acquisition of Singapore.
	Spain cedes Florida to the United States
1820	Mehemet Ali conquers the Sudan.
1821	Fusion of Hudson's Bay and North-West Companies.
1823	The Monroe Doctrine.
1827–8	Huskisson at the Colonial Office
1829	Swan River settlement
1834	Abolition of slavery in the British Empire.
1836	James Stephen, Under-Secretary for the Colonies.
1837	Rebellion in Canada
	Height of the Great Trek
1839	Lord Durham's report.
	British occupation of Aden
1840	Treaty of Waitangi.
	P & O steamers run to India
1842	The Ashburton treaty
	British occupation of Hong Kong.
1843	Annexation of Natal.
	The Crown takes over the Gold Coast
	French protectorate in Tahiti
1846–52	The third Lord Grey at the Colonial Office
1848	Mexico cedes Texas and California to the United States
1849	Livingstone's first journey.
	Repeal of the Navigation Act.
1851	Gold found in Australia.
1852	Sand River convention.

CHAPTER XIV

IRELAND, 1815–1848

NEARER home another subdivision of Empire was gripped in these same fundamentals of race and soil, which outstrip the formula of self-government or ask of it a fuller meaning. It has been seen from what causes the emancipation planned by Pitt had been delayed till 1829, how over those thirty years the Irish Catholic upper class had given ground to O'Connell, with the alliance of Church and peasant democracy that he created, and how the final concession was made in face of civil war. Yet it was found that, though emancipation increased Irish power in the British Parliament, it was irrelevant to the real ills of Ireland. After, as before it, the country was riddled with agrarian crime, riot, and murder, so that Castlereagh's coercion, suspension of habeas corpus, curfew and military courts, had often to be repeated by the Grey and Melbourne ministries

Statistics give only the bare bones of the problem. In round figures a population of 5 millions at the Union grew to more than 8 by 1841, with perhaps the heaviest density in Europe, of some 365 to the square mile. Of these nearly 70 per cent depended on the soil for a livelihood, for the temporary protection given by the Union to Irish industries against British competition was withdrawn in 1823, since which date, save for Ulster linen, they had seriously declined Though by British standards Ireland was lightly taxed, paying per head not a quarter of the British figure, there was little or no capital to spare, a high proportion of the soil was owned by absentees and notably by the Whig aristocracy, the squires had usually overspent and mortgaged, and even in 1846 there were hardly 100 miles of railway working. Some 50 per cent of the people could neither read nor write, and of the 8 millions about 6½ were Catholics, the Anglican Church income was about £600,000, though a third of Irish parishes each contained less than fifty Anglicans.

Ireland was, in fact, a standing reproach and an ever-present danger. Every traveller testified how, despite large emigration to America and Australia, it swarmed with beggars; running barefoot, sleeping on straw in mud cabins, living on potatoes and water, still using the wooden plough. Dozens of reports and commissions proved that British institutions had provided no remedy. Crime, murder, and cattle-maiming fill the annals, gangs with darkened faces terrorized witnesses or tenants who replaced those evicted, no dependence could

be put on a jury, the country was garrisoned as if it was an Indian frontier, guns and pikes were found under the wet thatch, and almost annual coercion Acts struggled through Parliament.

Pitt had justified Union not as a war measure only, but as a step towards making British wealth available for Irish poverty, and to meet Irish Catholic grievances in a wider and more tolerant arena. Human nature and political events had ruled otherwise. Emancipation, delayed so long, even in its concession seemed to have made little difference, for the magistrates' bench, constabulary, and corporations continued overwhelmingly in Protestant hands. If Union was to go on, O'Connell said, it must be made something more than this 'parchment union', but to give it such reality would now be harder. He had himself made the Catholic priesthood politically minded, while from their Ulster fortress the Orange order, originally so passionate against Union, clung to it now as the sole means of Protestant ascendancy.

Anglo-Irish relations in the 'thirties and early 'forties make disheartening reading, for which some responsibility attaches to each of three forces, — Tory obstruction, British economic thinking, and O'Connell. The 'liberator' had been educated in the seminaries of Flanders, he was to die on his road to Rome, but he was no political bigot and no revolutionary. Himself one of the feckless 'squireen' class, he had taken no part in the '98 rebellion, disliked agrarian crime, and distrusted trade unions; while the inferiority of some who surrounded him, his tactics, and his compromises, pained the younger idealists. His oratorical triumphs, his hatred of bloodshed, and the sentiment that made him hail the accession of the young Queen, all combined to persuade him that he could restrain the mass emotion which he had set glowing, and repeat his success over emancipation anew over Repeal, by demonstration without using force. Though the coarse violence of his tongue made enemies of Peel and Grey, he was tactician enough to put aside any storming of Repeal and for many years to work by degrees.

Much to the disgust of the Whigs in general, he struck up an alliance with British Dissent and Radicalism, over repeal of tests, emancipation, and reform, continuing it in his unofficial understanding with Russell in 1835 which enabled the Whigs to overturn Peel. Russell's school, who were agreed that the Anglican Church in Ireland could not be defended, in 1832 suppressed 10 out of 22 bishoprics and abolished the Church 'cess', or rate. Their next attempt, the tithe question, cost them five years of humiliation but could not be evaded, for tithe set up a war in every parish; even the peasant's potato plot, already obliged to help his own priest, being tithable for the Anglican parson. Furthermore, it reduced government to absurdity, hardly a month passing without the march of British soldiers to seize some wretched tithable cow from a

mob armed with scythes and stones. The Act finally passed in 1838 meant in one sense a defeat for Russell and the Radical wing, for the Lords' long obstruction forced them to drop an 'appropriation' clause, which would have transferred some of the Church's wealth to purposes of the State. Tithe, however, became a fixed charge on the landowner, not the peasant, and that alone was a step towards local peace; whether the landlord would not recoup himself by way of an increased rent, depended on other circumstances.

On the whole, once they were rid of the irascible Stanley as Irish Secretary, the Whig government of the 'thirties pushed on with some success towards a more liberal administration. In an engineer officer, Thomas Drummond, they found for under-secretary a masterful personality, bent on reconciling Ireland by making British institutions work equitably. Catholics were recruited in large numbers for the constabulary, paid magistrates were appointed to balance the biased local bench. Orangemen were held on the curb, and soldiers and police withdrawn from protecting any scandalous case of eviction. But Drummond's laborious life was cut short, while as regards legislation the Whigs could do little against the Lords, nor had they the insight to look deep. Schemes for State aid to railway development were laid aside, and so were the projects of a strong poor-law commission for housing and emigration. Firmly set in the prevalent economic notions, the Whigs were convinced that 'surplus' population must be cleared off, holdings enlarged, and the peasant become a day labourer. They were content to pass a poor law in 1838 on the English model, in part, no doubt, to relieve England from supporting the impoverished Irish who came to England for work, but chiefly as the means of getting through a time of transition, during which estates should be cleared and relief applied strictly through the workhouse. Their other principal measure was the Municipal Act of 1840, which they passed only with help from Peel, and a grudging Act it was. True, the scandalous co-opted Protestant corporations were ended, yet the Act only established elected councils, on a high franchise, in ten large towns, keeping control of police and magistracy in the hands of government.

British policy thus ignored the crucial evil of the land, which previous history made it almost impossible for British experience to understand. Our legislation before 1782 had destroyed any other opening for Irishmen, while against open British competition very few Irish industries could stand. So in southern Ireland at least the soil was the one way of livelihood, and high corn prices in the war years increased that teeming rural peasantry, an increase all to the advantage of the political landowners after 1793, when the 40s. freeholders received the vote. Whatever their social charm or mental talent, and those were often great, economically this landowning caste was

one of the most disastrous in history. Inheriting large grants in a poverty-stricken country but dependent on Britain for power, and often absentees, many did not differ from the rent-receivers of West Indian plantations. What they leased out was not, as in England, buildings and land improved but the bare soil, and except in Ulster, where a tenant-right custom protected the farmer, at the lease's end all improvements became the landlords', without compensation. Since the peasantry furiously competed for the means to live, rents were forced up to a figure that stripped the tenant of the whole surplus beyond the sum indispensable to existence; and as the landlords commonly acted through middlemen, such rents were loaded with intermediate profits. But the peasant clung to his soil, content if on a minute conacre plot he could get enough potatoes, and eager to subdivide that plot as his family increased, ready to make his rent by walking to Dublin and taking cheap passage to harvest work in England. More often than not, perhaps, he received no money-wage but worked out his rent by field labour, gambling his family's life on a crop often smitten with disease. An added precariousness hit him when Emancipation swept away the 40s. freeholder vote, in consequence of which landlords reduced what tenants they could to annual leases or tenancy at will, or cleared them out to wastes and bog-land. The legal right of eviction was used often without mercy, sometimes merely because the tenant voted for a Catholic Robbed of any motive to improve, the peasants hugged their sense of ownership with the passion of a dispossessed people, thinking any weapon lawful against the injustice of eviction on terms like these. So we get boycott against new tenants, maiming of cattle, and murder, and a hideous severance between Irish morality and the British legal code

As compared with this black background, most of the political detail of the 'forties was of minor importance The King's 'Protestant minister', as George IV liked to call Peel, had come to see that Ireland could not be held longer on a garrison basis, and that force mended nothing. Determined to wean moderate Catholics from Repeal, he much increased the grant Pitt had begun for the priests' seminary at Maynooth, and set on foot the Queen's Colleges at Cork, Dublin, and Belfast Catholics, however, would not make terms with these 'godless' colleges, in which all religions were to be on equal terms, the bishops mostly backed O'Connell, and though Russell would have given some State payment to the priesthood, he found British Protestant feeling invincibly opposed On Peel's return to power O'Connell resurrected the banner of Repeal, raised large sums, and organized a national demonstration. But after his meeting at Clontarf was 'proclaimed' in 1843, he drew back, was arrested and then released on a technicality, and before he died, in 1847, his course was run.

Much the most hopeful step was Peel's appointment, in 1845, of the Devon Commission on land tenures Its leading recommendations cut at the root; that the powers of eviction, or rent-raising without compensation for improvements, extinguished all hope and all justice. But they were themselves extinguished without further ado by the House of Lords, and in the famine of 1846–7 came the downfall, not only of the old land system, but of any tolerable chance of bettering Anglo-Irish relations. After many previous warnings, the potato crop of 1845 partly failed, and that of 1846 almost as a whole, and, even when good crops returned, the weakened people were carried off by dysentery and fever. A population of over 8 millions in 1841 fell in the next ten years to 6½, not less than 700,000 died of starvation or after-effects of half-starvation, while the survivors, crowding emigrant ships with their disease, fled their country at the rate of 200,000 a year. The famine thus increased a political fact of great future importance, — the Irish-Americans, at the same time, it seemed to have done the work of 'clearance' which British economists had called for In the decade ending in 1851, three-quarters of the holdings of an acre or less disappeared, those of under 15 acres were halved in number, and 35,000 orders for eviction were issued in the three years of 1847–9

British private charity did not fail, nor an advance of British public funds, for 700,000 men were employed on public works in 1847. But the major British remedies hardly touched the man on the soil. The repeal of the corn laws went through against many Irish protests, and it seemed a cruel paradox that Irish corn was exported throughout the famine. All the letters between ministers show that their chief concern was to cut down the numbers receiving relief, George Bentinck's scheme for railway development was rejected; and an amended poor law, though allowing outdoor relief, refused it to any one holding over a quarter of an acre Russell himself would have wished legislation to control rents, but Cabinet and Parliament were against him, and the Encumbered Estates Act of 1848, though valuable in breaking up bankrupt properties, had the very opposite effect Within ten years about a third of the soil went to new owners, 80 per cent of whom were Irish, but of a new and harsher class, not prepared to keep poor tenants or swell their own poor-rate, when by eviction they might get rid of them wholesale

The famine years also deepened the inner rifts of politics The organization of 'Young Ireland' was in a very different category from O'Connell, of its leaders, the fierce, tragic John Mitchel was an Ulsterman, the high-minded Thomas Davis and Smith O'Brien were Protestants. Their spirit and method were much nearer akin to the French or Italian movements of their day than to '98, or to O'Connell's Papal tradition, for they wished to make a united nation of all creeds,

even including landlords, and were ardent for Irish history, arts, and language, of which they made much in their paper, the *Nation*. Much resenting the old Liberator's autocracy and even more the ensuing dictatorship of his son John, they equally disliked his clinging to some British connection and the clerical control which would estrange Protestants. Since they concluded that nothing could be got through Parliament, and believing the European revolutions of 1848 were their opportunity, they took to organizing armed resistance; Lalor and Mitchel perceived what could be made of the land by rent strikes and tenants' leagues. Their resources were small, their feuds were bitter, their aims openly declared, and their conspiracy was broken up; Mitchel, Meagher, and O'Brien were transported, all to end in America; McGee in the long run became a Canadian minister, and Gavan Duffy Prime Minister of Victoria. And Ireland, for whose self-government they had been ready to make war, continued for another half-century in the Union, receiving ideas, money, and arms from those whom the land system had driven overseas.

CHAPTER XV

THOUGHT AND RELIGION, 1830–1860

NOT the Whig reformers only, but Peel and his successors too, worked in an arena changed, spiritually, out of all recognition since the reign of George III. Without some suggestion of these new forces, doubly powerful since the advent of a cheaper, more free press and a wider education, the Victorian golden age, or the duel of Gladstone and Disraeli, cannot be understood.

The British were still a religious-minded people, indeed more so, perhaps, in this age than at any date since the Commonwealth, the fate of many governments and composition of many Cabinets being determined by religious causes Older divisions of Whig and Tory had always largely corresponded with the line between Church and Dissent, but now those divisions took on a sectional character, confusing each party within itself. This process could, of course, be traced in part to much wider causes, affecting all Europe, especially the rise of secularism and a new passion for nationality.

Even within Britain, however, the tone and framework of religion had changed fast Wesleyanism, French revolution, Evangelical revival, and industrialism had shaken an old fixed order, forced men to search out their fundamental beliefs, driven some to the left or nearer to Dissent, others to the right or back on Catholic principle. In 1828–9, by the repeal of the Test and Corporation Acts, the Church's political monopoly was broken. They had to meet Radical threats of disestablishment; or again, while a few years back one quarter of the J.P.'s (and many of the best) had been clergy, that social rule could not be maintained. There had been variations of equal importance in the Dissenting bodies. English Presbyterianism had largely turned Unitarian, making centres of great intellectual and economic distinction, as at Birmingham and Norwich. Independency, abandoning one of its first positions, had set up a central authority over its congregations. Wesleyanism had dropped Wesley's hope of reunion with the Church he had come from, and itself became an organized body, rather than a spiritual protest.

Another general mark of the age was the decline of Erastianism, the unified structure of Church and State, originally characteristic of England and refortified by the Tudors. To defend that system on principle became very difficult after the events of 1828–9, for when religious uniformity had gone, it was hard in a reformed Parliament to

insist on a monopoly which compelled every Dissenter to pay church rates, and to be married in an Anglican church. Though there were men of weight like Keble who would continue fighting for the old ideal, and though as late as 1839 Gladstone's book on *Church and State* tried to defend it, they were rowing against the tide, and had to reckon with Peel, political leader of the churchmen's party, who realized what concessions must be made

If the Church were driven back for weapons on its own armoury, it would not find a sword of cutting edge among the Evangelicals. Before 1840 their major figures had died, such as Wilberforce, or Charles Simeon, whose net had been cast so wide from Cambridge, while their present representatives in politics were not of the calibre of Liverpool and Perceval. Besides, great though their holiness was and deep their influence, not least in founding the bodies which evangelized both industrial England and the Empire, — the Religious Tract, Church Missionary, and British and Foreign Bible Societies — their intellectual base was narrow; their essential doctrine of justification by faith and perseverance of the elect leaving little room for the never-extinguished Catholic element in Anglicanism. Religious revival, in response to the infidelity of the past century and the Revolution, had inevitably taken on a conservative and Catholic colouring, making part of the ramifying 'Romantic' movement of the human mind It was a mental habit to which Walter Scott had given humanity, Wordsworth a sense of identity of man's working with nature, and Coleridge a search for ruling principle But religion, though finding new channels, derives from the original stream; Newman himself imbibed the Evangelical thirst after individual righteousness, while two of Wilberforce's sons became Catholics, and a third a high-church bishop.

The Oxford Movement came out of the University's revived life in the first years of the century, which included the making a reality of its examinations, and award of fellowships on intellectual grounds alone. In that reform Oriel College was the pioneer, its members in the 'twenties including the future leaders of all schools — Keble the pure Anglican, Arnold of Rugby and Whateley the broad-churchmen, Newman and Hurrell Froude. A first open cleavage came in 1833, when Arnold put forth proposals for a liberal State Church, in which all Protestants could blend, but Keble, fired by the Whig attack on the Church in Ireland and threats of disestablishment in England, preached that sermon on 'national apostasy', from which history dates the coming of the movement. That autumn Newman issued the first in a long series of *Tracts for the Times*

Though the move began in this small arena, and its early landmarks were small matters of academic appointments, its principles cut to the heart of society. Its leaders proclaimed war against Liberalism as

infidelity; war against notions that heresy was but mistaken thinking, or tolerance a virtue, or that the majority-will could decide what was right, or that the secular State could govern religion Looking for a rock on which to stand, they could not find it either in human intellect or in the individual's sense of salvation, and groped their way back to firmer ground of the seventeenth century. Then the Caroline divines had taught an apostolic succession of bishops as the unbroken chain of the Church, a vision of a divine society, historically extending over all generations since the Apostles, and witnessed to by the discipline of its believers, whether wise or unlearned, in the sacraments. If this was conservatism, it was at least built on principles which were independent of living men, whether Peel or the administrator Blomfield, bishop of London, who had to resist the pressure of numbers and accept compromise.

While the learning of the *Tracts*, the challenge of such principle, and the outstanding quality of Newman and Keble and Pusey the Hebraist, filled the Church with new courage, this movement's course was diverted by external events and individual character. Clamour over the subscription to the thirty-nine Articles, which was enforced on all undergraduates, over Whig appointment of 'unorthodox' liberals, such as Hampden, to chair or office, commemoration of Cranmer and the Protestant martyrs, a curious scheme for a Jerusalem bishopric under joint Anglican and Lutheran auspices, all these before 1839 broke the Church into factions. In front of the leaders skirmished the lighter troops, who asked instant action Hurrell Froude, the historian's brother, died young, but the publication of his *Remains* revealed his equal scorn for compromise and Protestantism, and his place was taken by a Balliol philosopher, W. G. Ward, whose keener edge sharpened every controversy

Five years longer Newman lingered in the Anglican communion. He was shaken within, St. Augustine's sentence, 'securus judicat orbis terrarum', seemed to condemn the *via media* to which he had given his life, while a phrase from one of his early teachers, 'growth is the only evidence of life', made the germ of a doctrine of development, by which he reconciled modern Rome with Christian antiquity. The extreme sensitiveness, pathos, and love for perfection, which made his writing unsurpassed and his preaching memorable, did not equip him to wait, as Pusey's greater learning and selflessness could wait in confidence, or Keble's more normal English temper, while a series of blows struck by the rulers of Oxford, some the natural reaction of timid men but some the fruit of a vendetta, drove in his sense of frustration. In 1841 he was condemned on account of No. 90 of the *Tracts*, in which he argued that the thirty-nine Articles did not conflict with the beliefs of early Catholicism. Pusey was suspended from preaching for his sacramental views, Ward condemned for a provocative challenge. The

method whereby the Tractarians clung to their teaching that the English Church was Catholic, qualifications they inserted into plain statements, their defence of 'reserve' in expounding religion, or of 'economy' in using its terms, exposed them to a common charge that they were not to be trusted. At the end of 1845 Newman was received into the Catholic Church, where many of his disciples followed him, and in 1851 Manning, hitherto an archdeacon most combatant against Rome, went over too. This was directly due to the Privy Council's action in upholding a clergyman, Gorham, against his bishop's ruling on a point of doctrine — meaning that a lay tribunal could determine belief.

Church reform began long before the Tractarians and millions of money were found to build new churches, but when the storm over Romanism and 'Puseyism' had blown over, it was seen how deep a mark the movement had made. Not, indeed, so much by its immediate acts as by its battle-cry and its example, for no movement so clerical and intellectual could be popular in England. But its learning, sanctity, and insistence on all that was Catholic in our heritage, altered the whole religious outlook, raised the standard of worship in every parish church, and undoubtedly assisted both the intensity and extension of religious life In 1852 Convocation was revived, after being kept in silence since 1717; an incessant growth of Colonial bishoprics fortified Anglicanism in the Empire, by asserting its own principles in independence of the State, the Church became more fitted to cope with democracy.

But, whatever the distant value of this revival, in the early Victorian age Liberalism was all-triumphant Macaulay's *History*, beginning to appear in 1849, marked its type, and proudly counted the blessings of Britain in that year of revolution. The historian had little to say in praise of democracy, while his speeches denounced the Chartist claim for universal suffrage as a delusion. What made him a representative mind was the glorification of the Whig platform, a robust Protestantism, an insular pride, and belief in progress through an expanding liberty. Steadily the legislature continued to strike off whatever they judged a fetter to ordered liberty, everywhere we find the creed that conscience must be free. In Scotland a revival of zeal after the Revolution had naturally revived the basic Presbyterian principle of the congregation's freedom and right to approve its ministers. Fired by Andrew Thomson and then by Thomas Chalmers, the reformers challenged the power of private patrons, and when the Church Assembly's act, giving the congregation such a veto, was found illegal by the law courts and the Lords, ministers obeying the State were deposed by the Kirk. After ten years of agitation, in 1843 Chalmers led over 400 ministers out in the 'disruption', to found the Free Church of Scotland.

So one by one the prerogatives of establishments were broken down.

In 1844 Peel much enlarged the subsidy to Maynooth, the Irish seminary for Catholic clergy In 1847 the election of Baron de Rothschild as member for the City challenged the barrier against the Jews, in the oath which every member must take on 'the true faith of a Christian'. But though the Commons wished concession, Disraeli and Gladstone joining hands, the Lords resisted, and it was not till 1858 that a compromise was hammered out, that each House should determine its own qualifications. In 1852, to the indignation of those who stood on chartered rights, the first royal commission on the universities began enquiries. By a long process of legislation their governing bodies were made electoral, fellowships released from many an antique restriction, the professoriate strengthened, and religious tests abolished for degrees. In 1856 the tide engulfed an innermost religious citadel; a new lay court of Probate and Divorce replaced the Church's jurisdiction over marriage and last testaments, divorce was made accessible to men of small means — for hitherto it had required the expense of a private Act of Parliament — and the remarriage of divorced persons was legalized.

Thus Liberalism, in which the Tractarians saw their enemy, overcame them, yet it was not in England a teaching of revolutionary ideas. For a long generation, which we may take as ending with the death of their greatest leader John Stuart Mill in 1873, the most powerful political school of thought were the Utilitarians. 'They aimed low', said Newman, 'but they achieved their aim', and to pick holes in their philosophy is easy. Brushing aside all natural rights, and rejecting conscience or intuition, they looked only to outward experience, from which they deduced the sway of two sovereign masters, pleasure and pain. Making the criterion of action not its moral motive but its external effect, in the world's tangled skein they pursued one guiding thread, 'the greatest happiness of the greatest number'. Their bias was in favour of individual liberty, holding that for each to calculate and follow his own good was the safest way to the happiness of all Like the French liberal thinkers on whom they had drawn, they suspected the State and were opposed to restraints on the individual, whether imposed by a caste or by Socialism, a vested interest or a trade union

It was this common-sense utilitarianism which more than any other force inspired, yet limited, the principal legal changes from the Reform bill to 1870; abolition of usury laws, but a law of limited liability; laws against truck and long hours, but no law to fix wages, reform of legal procedure, and the many steps we have noticed to release energy and opinion.

John Mill's most popular works[1] revealed the Malthusian ideas in which he had been bred. Himself the most spiritual of men, he dreaded the debasement of a people by animalism or a multiplication of the

[1] *Political Economy*, 1848, *Liberty*, 1859, *Representative Government*, 1860

unfit, his chief concern being to champion minorities and personality against convention and the tyranny of majorities Hence his insistence that each man should be free in his 'self-regarding' acts, his earnestness for second chambers, a plural vote based on education, proportional representation, and votes for women On these foundations he did not change, though as time passed he widened the first crude ideas of his school as to what constituted happiness, and grew to allow more good in Socialism than had his father or Ricardo.

There was another body of opinion in existence, by no means yet grown to its full strength, but already a dangerous foe to dogmatic religion. The British Association for the advancement of science was founded in 1831; Lyell's studies in geology raised questions as to the antiquity of man, which the book of Genesis did not answer, all the great Faraday's personal piety could not conceal the truth that the theme he was exploring, of physical forces, magnetism, and matter, involved a world of progressive change Even before 1840 Charles Darwin's voyage in the *Beagle* assembled data for those conclusions on evolution, to which he and others were converging

In the 'fifties this wrestling between dogma and science came into the open, with the interpenetration of British Christianity by liberal influence. A Christian Socialist school, headed by F D. Maurice and Charles Kingsley the novelist, coloured their Anglicanism with the emotion of democracy. Maurice was expelled from his teaching at King's College, London, for unorthodoxy, Oxford was rent by the warfare between Pusey and Liddon for the high-churchmen, Stanley and Jowett for the broad. In 1860 Jowett, Temple, Mark Pattison and others published their doubts in *Essays and Reviews*, and a plea for a less literal interpretation of Scripture, but their work was condemned by Convocation The year before, Darwin's *Origin of Species*, reinforced by the independent enquiries of A. R Wallace, had brought the Christian doctrine of creation into the region of doubt.

At that date, though the lives of Mill, Cobden, and Gladstone had still to reach their full effect, this liberal rationalistic scheme of things held the stricken field Its momentum could be tested in all branches of intellectual activity, in the violent recoil from the Oxford Movement which made Froude's historical writing a glorification of political power; in Tennyson's *In Memoriam*, or in the grave un-Christian philosophy of George Eliot's novels. Only from a few elevated corners came protests of rebellion against the new order In innumerable essays, and in his *Cromwell*, Thomas Carlyle questioned the individualist way of life, or the shallowness of political franchises as a remedy for deeper discontents, while, echoing his condemnation of material pleasure, Ruskin was searching for the spirit which had of old, in Gothic art or mediaeval gilds, made for human fraternity and a common ideal.

BOOK VII

A GREAT POWER

1852–1918

CHAPTER I

CLIMAX OF THE VICTORIAN AGE, 1848–1880

FEW civilizations have left such enduring spiritual monuments, wielded such political power, or expanded in such rapid material progress, as that of Great Britain in the mid-Victorian age

Between 1871 and 1875 our birth-rate reached its highest point, round about 35 per thousand, and the United Kingdom population, which had been 27 millions in 1851, rose in the next thirty years to nearly 35 millions In much the same period they invested over £1000 million overseas, while 2½ million British subjects migrated to British Colonies and the United States. The tonnage cleared in our ports grew from less than 15 millions to nearly 60, almost one-third of the world's sea-going ships were British. In 1850 exports were valued at £197 millions but at £297 millions in 1874, imports rising even more, from £100 millions to £370 millions, while at the last date the total foreign trade of Britain and her Colonies equalled that of France, Germany, Italy, and the United States all rolled together Except for the Crimea, the country was engaged in no major war Much that had been tentative in the Empire of 1850 was made solid, Canada was confederated, Australian self-government determined, in India the Mutiny was suppressed and government transferred to the Crown. Memorable things were done for the life of the mother State Universities were opened and reformed, the modern civil service created, education made universal, the parliamentary electorate doubled, the courts of law modernized, trade unions given their full status, and the position of women revolutionized. As for the achievements of the spirit, in the years between Wordsworth's death in 1850 and Carlyle's in 1881, a great body of immortal British literature and thought was made by Tennyson, Browning, and Ruskin, Dickens, Thackeray, and George Eliot; Newman and Matthew Arnold, Macaulay, Mill, and T H Green, Darwin, Huxley, and Tyndall, Bagehot, Henry Maine, and Herbert Spencer; J. R. Green, Acton and Froude; Meredith, Thomas Hardy, and William Morris, Westcott, Lightfoot, and Martineau; Clerk Maxwell and F H Bradley.

Though no era is self-contained, since perils passed or decline in prospect leave uncertain its fringes, a certain stability defined these thirty years Spaced out by some dates of decision, the Prince Consort's death in 1861 or Palmerston's in 1865, this age appeared to have left

revolution behind. The Crown, which in 1830 had been discredited and which Peel had thought menaced even in the late 'forties, secured an essential rôle in a new Constitution, and a new rôle as well as a new style when in 1879 Disraeli made the Queen Empress of India Threats against lords and bishops died away to mere party mutterings Chartism as a militant force vanished The Utopian or all-embracing Labour movement of Robert Owen's day changed into a regulated moderate trade unionism, recognized by law and employers, accepting the economic teaching of *laisser-faire*, and bent on improvement of practical conditions. Out of the storm of the Oxford Movement the Church passed into a comparative peace.

This was the last pure age of aristocracy, but also the one and only age of an ascendant upper-middle class. The electorate of 500,000, as increased in 1832, hardly exceeded 900,000 when the second Reform Bill passed in 1867, which raised it to nearly 2 millions. Pocket boroughs had not altogether died, for between these two Reform Bills no Tory was ever elected for the Duke of Bedford's close preserve at Tavistock, or the Lansdowne citadel at Calne, indeed, well after this there were many petty townships left with members, as at Woodstock, where a majority of its 873 voters in 1874 duly returned the Blenheim nominee, Randolph Churchill. Both ministry and Parliament accurately reflected this society. The small Gladstone and Disraeli Cabinets of the 'seventies were made up of peers and commoners in pretty equal proportions, and even in 1880 there were 160 members of the Commons who were related to peers. Till the agricultural depression beginning with the cruel harvests of the late 'seventies, the landed interest had rarely been so prosperous, for wars in Europe and America distracted rival grain-growers, and gold discoveries raised prices Landed rents increased by about 28 per cent between 1851 and 1878, while the so-called ' New Domesday ' of 1874 showed that half the soil was owned by less than 8000 persons. On the influence of great landowners, and round their London houses, — Londonderry, Spencer, Devonshire, or Derby — many political manœuvres turned.

This aristocracy, notwithstanding, was much changed from that of the eighteenth century Of its chosen political leaders not the Radicals only, Bright or Chamberlain, but Peel, Gladstone, and Disraeli were all the sons of new industry or raised simply by their own talent, political power now being equally shared between the land and business Industrial revolution, evangelical faith, the Oxford Movement, and Utilitarianism had imported an earnestness into public life unknown in Horace Walpole's letters, or the circle of Fox and Devonshire House, even if all ministers did not move on the moral elevation of Aberdeen or Gladstone. Such a quality of public opinion pointed the power of the *Edinburgh* and *Quarterly Reviews*, when Jeffrey edited the first and

Southey was chief writer for the second, and later the proud independence of *The Times*, remade by two great editors, Barnes and Delane. If a majority of public men were still brought up on the classics and in the confines of Anglicanism, Bright in 1868 being the first Nonconformist in a Cabinet, their horizon had been much enlarged by science, economics, and history. Religion and science and reformed examinations had given new purpose to the universities; while in the twenty years after Dr. Arnold's death many new public schools, Marlborough and Cheltenham, Wellington, Radley, Haileybury and Lancing among them, followed the discipline and broader range of study which Arnold had given to Rugby. From the sons of the upper-middle and professional class trained in them came the human material which, by the opening of the civil service to competitive entry, first in India and then at home, could be turned to the benefit of the State

Though that generation had a zest for improvement, this new mixed aristocracy was well satisfied with the progress made since their fathers' day, and on fundamentals were much agreed. The age was liberal, or liberal-conservative, not so much because Conservative governments filled only ten of these thirty years, as from the prevailing beliefs to which a great majority would subscribe. Liberalism, in the sense of breaking down privilege and equalizing opportunity, never ceased its steady advance. One result of the commission of 1851 on the universities was to open Oxford and Cambridge and their degrees to Dissenters, while the tests Act of 1871 opened their fellowships also. Admission of Jews to Parliament was settled at length in 1858, Gladstone abolished church rates in 1868. In 1871 vote by ballot, so long resisted by Whigs of Palmerston's type as un-English and 'unmanly', gave real freedom to electors; simultaneously the abolition of purchase of commissions in the Army widened the ladder for merit

The minds most representative of the age, or those to whom it most deferred, show the blended influences contributing to its poise. Though the static religion of Church and State had broken down, Christian faith was all-powerful, or at least Christian ideals of conduct never so strong Sabbatarianism was dominant enough to stop bands playing in the London parks, church-going and family prayers were habitual, the young Unitarian Joseph Chamberlain taught in Sunday school, as many Tory politicians did in theirs. Liberalism was led by Gladstone, a mind soaked in Latin Christian teaching and persuaded that politics were a religious vocation, and the Radical and Labour world owed most of its leadership to Dissent and chapel preaching If discoveries like Lyell's in geology, and in biology those of Darwin, Wallace, and Huxley, shook parts of the faith severely, the age hugged a belief that science and religion could be reconciled, in an optimism that human progress made part of a divine plan. In his cloudy way this was the teaching of

Charles Kingsley, and of this Victorian faith no mind was more typical than Tennyson, Wordsworth's successor as poet laureate; awed by Nature's new revelations, yet refusing to discard the older gospel, creating in this world of doubts the figures of a spiritual aristocracy whose Victorian virtues he transferred to King Arthur's Court The minds of artists more powerful and sceptical than his were charged with the same seriousness, as the novels of George Eliot and George Meredith, or the poetry of Matthew Arnold may show, this reasoned agnosticism of the 'seventies being very far removed from the jeers and juvenility of Shelley or Richard Carlile.

Liberal philosophy of that time had its high priests, of admirably pure and persuasive character. In the hands of John Stuart Mill utilitarian teaching had been enlarged and refined; if the note of his *Liberty* and *Representative Government* was increasingly one of democracy, it was democracy guarded against the tyrannies of ignorance and mobs. Before his death in 1873 his school's supremacy was passing to another, the idealists of whom T. H. Green of Oxford was a memorable leader; expounding from the metaphysics of Plato, Rousseau, and Kant the doctrine of a general will and the rule of reason, yet tinctured with an emotionalism which, in other hands, might unstring the fibre of the Utilitarians

For the greater part of this age, however, individualism was still supreme, and more marked individuals this country has never known than Livingstone and the Lawrences, Richard Burton the explorer, Gordon, Herbert Spencer, the Mutiny soldiers, or the business leaders of Lancashire and Birmingham Believing in liberty, not equality, and competition, not regulation, that generation, and no one more than Gladstone and Bright, looked on taxation as an evil and disliked State interference; strong in the core of their religion, that God most helps those who help themselves. This blend of religious purpose with the paternal tradition inherited from aristocracy resulted in a high ideal of public service, as might be illustrated from the founders of the Charity Organization Society in the 'seventies and of women's colleges at the universities

Though their humanity was very real, as increasing legislation showed on behalf of women and children and merchant seamen, the province which they left to the State was minute, if compared with our day. Only £54 millions were raised by taxation in 1852, and in 1881 revenue was still below £70 millions. Any enlargement of public control proceeded slowly, by extension or from commonsense experience, the powers given to the Home Office, for example, in 1856 to inspect county police forces, or the creation in 1871 of the Local Government Board to combine powers over health and poor law. Substantially, health and housing, education and insurance, were all left

to self-help, and rigorous administration ensured that, outside the workhouse, less than 80,000 able-bodied poor should be relieved in 1877 In consequence an immense structure of self-help had arisen in Friendly Societies, savings banks, and co-operators; savings-banks deposits were doubled in these thirty years, societies like the Oddfellows and Foresters had a membership of half a million

If there were still the 'two nations' of which Disraeli's *Sybil* spoke in 1845, the gulf of sheer poverty he had painted was filling up, the deeper cleavages, now lying rather between country and town, or between an aristocracy of labour and those below it. Agriculture was the greatest single industry, employing a quarter of the working male population in 1850, though that proportion was falling with the growth of cotton, iron, and steel Far ahead of other industries in mechanism, the textiles then employed 1 in every 19 persons and made 60 per cent of our exports, cotton alone accounting for nearly 40 per cent even till 1880. Mechanism and engineering made possible too a great growth of coal from deeper workings, its output rising threefold in this period, and the output per miner a year from 264 to 403 tons. Based on cheap coal, the furnaces trebled iron production, turning out more than all the world together That golden age of the Black Country ended in the heavy slump of the middle 'seventies; by 1880 steel had superseded iron on the railways, and increased fivefold with the inventions of Bessemer and Siemens. If iron and steel exports that year are taken together, they make four times the figure of 1850.

Many different tests would show that those who worked with their hands took an increasing share of this new wealth Somehow between them the people of 1880 posted over ten times the number of letters of forty years earlier. Railway mileage meant much for the poor in cheapening living and ease of employment, and the 5000 mileage of 1850 had come to 18,000 in 1880. Money wages as a whole rose by nearly 50 per cent, and real wages not less, for prices fell fast in the 'seventies; even the agricultural labourer's in the most depressed years was 20 per cent more than the rate of 1850 and the best agricultural wage in Europe. In those industries covered by the Factory Acts, which were extended to cover many more than the textiles and mines originally protected, the law had almost established a working week of 56½ hours, with a Saturday half-holiday; trade-union action won a 54-hour week for most engineers and metal workers Trade unionism, indeed, had become a recognized part of the State. Led by men of high ability, Allan of the Amalgamated Engineers, Odgers of the London Compositors, and Applegarth of the Carpenters, they revived their strength by avoiding strikes, and by regulating from the centre their branches' conduct of benefits and contributions. Miners and cotton operatives were first solidly organized late in the 'sixties, the Trades Union

Congress began in 1868, while in 1874 the miners Burt and Macdonald became the first Labour representatives in Parliament.

All this came about by degrees, for many commissions proved the miseries endured by a people of countrymen who were becoming a people of townsmen. Between 1851 and 1881 London's population rose from 2,360,000 to 3,800,000, and some great towns elsewhere by 80 per cent, in rural England and Wales, on the contrary, population positively declined. At the last date 68 per cent of the people lived in areas defined as urban, nearly 100,000 agricultural labourers having left the soil in the last ten years.

With that process a new Radicalism came into our history, yet even so it was moderated by the prevailing temper, resolutions for manhood suffrage being often rejected at the Trades Union Congress Some personal reasons help to explain, no doubt, this stability, as the prolonged lives of Wellington and Palmerston, while party lines had been blurred by the achievement of parliamentary reform and free trade. Since Peel's 'apostasy' had rent Conservatism in two, and religious differences sundered Whigs from Peelites, an era followed of party confusion, weak governments, and a House of Commons disposed to follow not measures but men. Eight different ministries filled sixteen years ending in 1868 Two governments fell in 1852, one defeated by nine votes and the other by nineteen; and the Commons elected that year sat successively under Derby, Aberdeen, and Palmerston. The first essential, a fusion of the able Peelite group with one party or the other, was only part-done by Aberdeen's unhappy coalition, and until the death in 1865 of Palmerston, a Conservative Canningite, Liberalism found no exponent in a Whig government. On the whole such impetus, or obstacles, as existed to party division, came rather from without than from within, — from the reactions of British opinion to Napoleon III or the colossus of Russia, Italian nationality, and American democracy

Though the age ended with a new Conservative and a new Liberal party, the earlier careers of their leaders illustrate these transitions and possibilities. Disraeli began public life as a Radical, Gladstone as a high Tory; once the question of Protection was decided, as Disraeli did decide it in 1852, what was there to prevent a Conservative reunion? We find that Derby, under his inspiration, offered places both to Gladstone and Palmerston in 1852, and again in 1855; that Gladstone, who condemned Palmerston as 'by far the worst minister the country has had during our time', was vehemently pressed to join Derby in 1858 and was voting for him a week before entering the Palmerston government of 1859, that Palmerston was prepared to invite Derby's son Stanley in 1855, and Derby ready to ask the Whig Clarendon in 1866.

When politics are so nicely balanced, decision turns on the personal

factor, or men's native bias. Gladstone long hesitated in which camp he could best serve the causes which he had learned from Peel, but in the last resort was less moved by historical than by moral ideas. Free trade and economy with him partook of an almost religious character; his published letter in 1851 on the persecuting government of Naples, 'the negation of God erected into a system', showed that he stood with Liberalism in Europe; his personal reprobation of Disraeli as an adventurer forbade him to sink the Peelites in Disraeli's party Death in that small Peelite body, of Aberdeen and Herbert and Graham, and the national acceptance of Palmerston, left him no alternative except the Whigs, yet it was not till the old man died and Gladstone lost his Oxford seat that the Whigs passed into Liberalism.

Transition was also prolonged by the Crown, whose strength was very different from what it later became, and exerted in ways often reminding men that Victoria was granddaughter to George III. Her reign, not in her heart only but for history, divided at 1861, when the Prince Consort died at the age of forty-two Since the days of their engagement, when at the Queen's bidding he had worked through Blackstone's *Commentaries*, he had strenuously set himself to elevate the Crown, and morally had done so without doubt, yet under his guidance the royal position was not without danger. Together they attempted to keep the prerogative of dissolving Parliament in their own hand, the Army was taken as a specially royal province and, after Wellington and Hardinge had gone, the Queen in 1856 made commander-in-chief her youthful cousin George, duke of Cambridge, in whose irascible, kindly hands the office remained till 1895 The Prince Consort was a Liberal of a Continental type, though profoundly a German, as his passion for the cause of Holstein against Denmark showed; but he had also a doctrinaire fear of democracy, spoke of Mazzini as 'insane', and always defended the Austrian cause in Italy Drawn by dynastic ties to the Orleanists, the Court at first frowned on Louis Napoleon, and resented the genial British welcome given to Kossuth and Garibaldi These matters brought about a long vendetta against Palmerston, whom they succeeded in ejecting from the Foreign Office in 1851, and kept him out of it during Aberdeen's government The royal prejudices likewise vetoed a privy councillorship for Bright, just as for years they excluded any one deemed a 'Puseyite' from the Household

When her 'dear angel' was taken away and Windsor became 'a living tomb', the Queen's nervous system collapsed, and for some years she became the petulant, exacting recluse of Osborne or Balmoral, who could not be induced to open Parliament or appear in London, and whose ministers had to seek her out by weary journeys What had been her husband's purpose was now a sacred legacy. Germany, she was convinced in 1864, was 'our natural ally' and, even in 1867, 'a

Power from whom no aggression need be feared'. Personal or feminine considerations moved her deeply, as when Disraeli's extravagant courtliness in caring for her comfort contrasted with Gladstone's lengthy memoranda and serious zeal; and she was quite without scruple in using a congenial minister like Granville against her Prime Minister. She continued to claim a chief share in church patronage, of which Tait's appointment as archbishop in 1868 was a strong case, while she incurred a heavy responsibility by excluding the Prince of Wales from important business. On the other hand, her husband had made her a dutiful and laborious public servant; indeed, her developed virtues and limitations were those of the industrious middle class that made the backbone of her people As the Prince's lead in the arts and the great exhibition at the Crystal Palace represented their culture, so her pride of country, or her thought for the Crimean soldiers and her feeling for the afflicted, were worthy of the great Queens, her predecessors, and her own fervently patriotic generation Her military pride during the 'seventies even made her miss the once detested Palmerston; several times her straightforward sense impelled Parliament or ministers towards a necessary solution, as in her instinct of 1867 that some speedy settlement of parliamentary reform was vital, or her recognition that disestablishment of the Irish Church was the national will

In each recorded detail, whether her objection to 'women's rights' or to vivisection, or in defending flogging in the Army, the Queen was intensely conservative. Her sentimentality, undogmatic religion, and fixed moral code, like her simpler preferences in the arts, were all characteristic of this virile, satisfied, and sententious age

CHAPTER II

COALITION; CRIMEA, AND THE TRIUMPH OF PALMERSTON, 1852-1859

DERBY'S first government, of February to December 1852, was a mere interlude, weaker in personnel than any since Goderich's in 1827, and dependent even after the election on the Peelite vote. Doubts whether the minister and his party were sincere converts from protection made Palmerston decline to join, nor would any whole-hearted Peelite serve with Disraeli. Its fall was therefore predestined whenever Whigs and Peelites combined, and an opportunity was promptly taken on Disraeli's budget. True, he ostentatiously dropped tariffs as 'obsolete opinions', but some concessions to the landed interest and an extension downward of income-tax allowed Gladstone, in a fiercely conservative speech, to overwhelm him

Russell having become impossible to his own party and Palmerston being vetoed by the Court, the Queen sent for the venerable Whig Lansdowne and the no less venerable Peelite Aberdeen, appointed the second as her minister, and exerted herself to make a coalition government On paper it was very strong, but never did the vices of coalition appear more clearly than in these thirteen talented men Though the Commons contained only 30 Peelites as against 120 Whigs and about 150 Radicals, the Peelites managed to annex six Cabinet places; Russell conceived he had received a promise that in a short time he should become Prime Minister, a notion stimulated by his ambition and wounded party feeling; Palmerston, who would have preferred a more conservative Lansdowne ministry, was soon brought to the front by the stress of foreign affairs, out of the gilded cage designed for him at the Home Office. This high-mettled team was much too spirited for Aberdeen, who showed no capacity for keeping his Cabinet together on vital questions. Two years brought the Coalition down, and one of the two was passed in the shadow of war.

Whatever memorable they accomplished in the time of peace was done, pre-eminently, by Gladstone His energy and knowledge, with his blend of Liberal and Churchman, pushed through the Universities Act of 1854, meeting half-way the aspirations of those who, like Stanley and Jowett at Oxford, or Henry Sidgwick at Cambridge, had worked for reform from within. For the future of higher education the provisions of this Act were revolutionary · that close fellowships and close

scholarships were abolished; that the universities would henceforth be governed by the resident teachers; that powers were given to open halls for men of poorer means; that the obligation to take Holy Orders was much diminished. Gladstone again was in the forefront of a battle, fought against Russell's obstruction, which led from 1855 to an opening of the home civil service to competitive examination, and its recruitment by an independent commission, instead of by government patronage But it was his first budget, of 1853, which set him in the first rank of ministers.

It was stamped with the hallmark of Peelite finance and the ideals of his age. Restriction must end, the necessaries of life be freed, and revenue be grouped in mass. One hundred and forty duties were abolished and another 150 lowered, the excise on soap and paper, for example, among the first, and in the second the duties on tea and life insurance He had never held Peel's high view of the income-tax, thinking it easily evaded, and that by its ease of collection it encouraged extravagant government. Taking it as a tax to be reserved for emergency, he now put it at 7d., which would gradually taper to extinction within seven years, but for the first time extended it to Ireland. But though for another twenty years he clung to his principles, income-tax was promptly doubled on the outbreak of the Crimean war

Though this war has often been called unnecessary or fruitless, to his death Gladstone viewed it as one fought to vindicate the public law of Europe, while no modern British war was more strongly desired by the people at large. It is, indeed, probable that if Aberdeen had had his way, Britain would have stood aside, and equally possible that, if Palmerston had had his, Russia would have drawn back. But to declare that, because Turkey in the next twenty years failed to amend the grievances of her Slav and Greek subjects, we had ' backed the wrong horse ', is to beg a hundred questions, — whether, for example, some war would not have been fought even had Britain been neutral, and what in that case would have happened to Constantinople, — while it assumes that the Balkan States who achieved their independence in 1913 were capable of winning and maintaining it sixty years earlier

The revolutionary age of 1848–51 had ended in a considerable reaction. Italian movements had collapsed, German Liberalism had broken down; Prussia had thrown away a chance of leading a united nation, the German case in Schleswig-Holstein had failed. The second French Republic was destroyed by its own factions, Louis Napoleon made himself President in 1851 and Emperor in 1852. High above this weakness stood the Czar Nicholas I, who had helped Austria to survive by beating the Hungarians, crushed Polish insurrection, and warned Germany off from attacking his Danish kinsfolk. He was all-powerful

with the Prussian King, had brought pressure to bear both on Persia and Afghanistan, and never lost a chance of patronizing the Christian subjects of the Turk. But Palmerston's triumph of 1841 had arrested his influence there, while in Napoleon he found not only an offence against the sacred order of monarchy but a ruler who would revive French prestige in the Levant

While at Jerusalem, Bethany, and the holy places, angry claims and outrages surged between Catholic priests and Greek monks, in 1853 Nicholas again stirred the view he had put forward in 1844 when Aberdeen was Peel's foreign minister, and with which, the Russians thought, Aberdeen had much agreed. The Turkish bear, he now said, was dying, and they must arrange division of the skin; how would it be if Roumanians, Serbs, and Bulgars became 'independent' under his protection, and Great Britain annexed Crete and Egypt? Like all British governments, Aberdeen's refused to make hypothetical commitments and, like other autocrats, Nicholas made the mistake of deciding that a particular Prime Minister, in this instance a weak and pacific one, could bind Cabinet and people. The Czar's responsibility went far beyond this, though not desiring war, he hoped by a forceful bluff to win the advantages that war would give, and took the first steps, from which retreat is so hard

In February 1853 his envoy Prince Mensikov entered Constantinople with much show of armed might, and charged with severe demands, dismissal of the foreign minister, a new guarantee of the Orthodox Christians' privileges in the Holy Places, and recognition of Russia's right to protect the twelve million Greek Christians within the Turkish State, — all this coupled with an offer of a secret treaty, aimed against France. When these terms were rejected in May, Nicholas ordered his troops to enter the principalities that now make up Roumania But not till October did Turkey declare war, and not till March 1854 did Britain and France follow suit

During that long interval one influence, often in the past made the scapegoat, may be acquitted of inflaming the causes of war, that of Lord Stratford de Redcliffe, our ambassador, who returned in 1853 to Constantinople, where he had served as a junior as far back as 1808 and as chief between 1841–52. His life had been given to the cause of a Turkey saved by internal reform from external attack, believing that the penalty of failure would be a Russian aggression, he now threw his weight into saving peace by insisting on delay, and twice at least put aside the power given him of calling the British fleet into the Straits. Such responsibility as lies on Britain at all must fall, rather, on Cabinet, press, and people. Some falls upon France, whose ministers, more than the Emperor, often asked action outdistancing the British Cabinet, some, again, on the shifty court of Austria which, though

directly concerned to prevent a Russian command of the Danube, would leave the effort to the western Powers. But most by far on Russia and Turkey, in both of which raged a fever for war.

When Russian armies neared the principalities in June 1853, a British fleet was sent to Besika Bay, lying well outside the Straits, though Palmerston and Russell thought it should have gone direct to Constantinople. By September not only had Turkey rejected the Powers' Vienna note, but it had become clear she was justified in doing so, since Russia had not given up schemes for a protectorate; and this swung our foreign minister Clarendon away from the pacific Aberdeen, nearer to those who wished for decided action. In October, refusing an Austrian effort of mediation, the Cabinet sent the fleet through the Narrows, but still refused Palmerston's view that it should forthwith enter the Black Sea. On 22nd October the Turks took the offensive on the Danube, on 30th November the Russians annihilated a light Turkish flotilla at Sinope, upon which British public opinion, calling this a wanton massacre, clamoured for war. We were now committed, six months after Palmerston's original advice, to defend Turkey against aggression, and in December he resigned, nominally because the jealous Russell chose this curious moment to push for a new Reform Bill. He was brought back to office in triumph on a wave of anger in the press; under which pressure, and more from France, late in December the Cabinet moved the fleet into the Black Sea, with instructions to stop Russian ships leaving Sebastopol, pending another endeavour for peace Since Nicholas would not evacuate the principalities under this threat, war began in March 1854.

Whatever our apportionment of responsibility for the war, except for individual heroism it makes an inglorious page of history. Now was fully exposed, since for the first time press correspondents followed the Army, the unpreparedness of our military machine Army administration was distributed between the Secretary of State for War and the Colonies, the Secretary-at-War who directed finance, the commander-in-chief, the Home Office which controlled militia and yeomanry, the Master-General of the Ordnance who managed artillery and engineers, the Treasury, and several other authorities. Parliament and its economists had scandalously neglected the Army. The private soldier's pay of 1s. a day left, after deductions, less than 3d. for himself, while how bad were barracks, sanitation, food, and disease may be judged from a single fact, that the rate of mortality in infantry regiments at home was twice that of civilians' Troops were enlisted either for life or for a term of years, most taking their discharge after fifteen years; their present distribution in round figures being 65,000 at home, 40,000 in the Colonies, and 30,000 in India Shortage of establishment, moreover, meant cruelly long spells of foreign service, so that a

few years earlier fourteen battalions had been in India continuously for fifteen years. Some small steps had of late been taken to better conditions, at least flogging was restricted now to fifty lashes, but the private soldier was still probably the worst treated of all Her Majesty's subjects.

Though the Militia Act of 1852 set up a small reserve, with a mere three weeks' training in the year, and though a new Minie rifle was replacing the old Brown Bess musket, both armament and training were terribly deficient Guns were short in number, musketry neglected, and though the Aldershot area was just being developed, large field exercises were almost unknown. There had been no experience in the field in Europe since Waterloo, while seniority clogged the higher command, Raglan the commander chosen for the Crimea being sixty-six years of age and not having seen active service for forty years. Purchase of officers' commissions chilled professional ambition in cavalry and infantry units; supply — which was largely in the hands of contractors — and army clothing were most disorganized

Some of these evils had damaged the Navy too, but then the Navy was always on part-active service, and Graham had lately overhauled its administration. Parliamentary economy kept too many officers on half-pay without chance of promotion; Charles Napier, who was designated for the Baltic command, was as old as Raglan; and the fleet was in transition from sail to steam. As things turned out, though invaluable in the Crimea, the naval contribution in this war was small, for as it had not enough light craft to go inshore, it could do little in the Baltic against heavily gunned fortifications

Even before the Russians evacuated the principalities, both the French and British governments pressed their unwilling commanders to attack the Crimea, and were warmly supported by the press. It was a risky decision, for from the sea Sebastopol was impregnable, and the armies, thrown ashore against an enemy of unknown strength, would have to race against the Russian winter. Moreover, Raglan's request for a transport corps was refused by the War Office, and his troops during their halt in Bulgaria were weakened by sickness However, having landed in mid-September in the bay of Eupatoria, north of Sebastopol, they struck southwards and on the 20th stormed the heights south of the river Alma The next week was fatal Raglan's instinct to press the attack home at once was resisted by the French, and the Allies marched on to occupy the plateau south of the city. As their base the British were assigned a small inferior harbour, south-east at Balaklava, which threw on them not only the eastern part of the siege operations but the protection of those operations from the Russian field army

Two immediate efforts were made by the Russians to save Sebastopol from investment. On 25th October they surprised the British holding

Balaklava, an onset which had to be held by our cavalry till infantry reinforcements could be sent from the plateau above So came about the famous charges of Scarlett's Heavy and Cardigan's Light Brigade; the first a brilliant success, though left incomplete for lack of support, but the second a consequence of bad temper and misinterpreted orders and in every sense a disaster, except the all-saving sense of immortal courage. This battle left the Russians threatening our communications to the sea, and on 5th November they attacked these lines in great force at their north-east angle near Inkermann. In this murderous, straggling fight in a morning fog the British regimental officers and ranks made up for loose contact between British and French and some tactical mistakes, and beat off the Russian sortie with immense loss. But winter was at hand.

The eight short miles from Balaklava to the front line were soon deeply engraved on British hearts Transport and forage were almost non-existent, metalled roads there were none, fuel ran short, while with no change of clothing, freezing in trench and redoubt, no shelter in the rear but canvas, fed mostly on salt pork and biscuit, the Army was ravaged by dysentery, cholera, and pneumonia. So great was the wastage that casualties were filled by boys of sixteen, sometimes men were in the trenches six days in seven, and government were driven back, as George III's had been, on recruiting German mercenaries Early in 1855 numbers on the sick list exceeded numbers in the line, and how many sick would not die?—without ambulances, drugs, sanitation, or trained orderlies This price we paid for neglect by Parliament, wooden routine in the high command, and the British conviction that war can be improvised

However, long before Sebastopol was taken in September 1855, the worst had been overcome Though much inferior in strength to the French, our combatant numbers were raised to 60,000, and given more hope and opportunity by new roads and a railway, a transport corps, the new Enfield rifle, and commissariat reform. Too late to assist this particular campaign, the Secretary for War was relieved from the Colonies and given the powers hitherto so disastrously divided over finance, militia, and ordnance Florence Nightingale's masterful hand took over the iniquities of the hospitals at Scutari and, in the face of intense obstruction, revealed to the public its responsibility and the nursing profession as a public service.

That winter of failure and horror destroyed the Aberdeen government, eaten into as it already was by Russell's jealousy and the frustration of Palmerston. The choice of this hour to give Aberdeen the Garter showed the Queen's Peelite sympathies, doubly unwise when the Court was under heavy fire from the Radical press, which enlarged on the Prince's Austrian views and even avowed he had been sent to the Tower.

Declaring himself unable to defend their record and Newcastle's administration of the War Office, Russell resigned rather than face the Radical Roebuck's resolution for enquiry, which in January 1855 was duly carried by a majority of 305 to 148. The Queen's first explorations, with Derby and then with Russell, proved that no Cabinet could survive if Palmerston did not lead it, of the Peelites, Gladstone and Herbert and Graham joined him but promptly resigned when he accepted the Roebuck resolution, and he went on, therefore, with a ministry of Whigs, — Clarendon, Granville, and Cornewall Lewis included, — only later diluted by adding the Radical Molesworth.

Palmerston was now the man of the country, which demanded a tougher prosecution of the war With his easy magnanimity he gave Russell office, but Russell destroyed himself anew at midsummer. Britain and France, declaring they sought nothing for themselves, had in concert with Austria drawn up what were called the four Vienna points; which would substitute a European guarantee of Roumania for a Russian protectorate, make international control of Danube navigation, reject Russia's claim to protect Turkish Christians, and restrict her naval power in the Black Sea. The last was the crux, and till his death in March the Czar had refused to hear of it In May, however, Russell as our envoy accepted an Austrian plan for compromise, and it was when this was rejected by France and Britain, and his share was made public, that he was compelled to resign.

An Italian contingent sent by Cavour, alliance with Sweden, the fall of Sebastopol, and our reformed Army offset the Russian capture of Kars and inflamed warlike feeling in England, there was also the displeasing knowledge that the French storming of the Malakoff fort had done most to win Sebastopol, more than our own assault on the Redan. To retrieve that failure and to win lasting terms by more conquests being the prevailing mood, the war was ended against our will by Austrian mediation and war weariness in France. The new Czar Alexander II accepted the four points in January 1856, the crucial clause being enlarged to exclude all ships of war from the Black Sea, and peace was signed at Paris in March Roumania received from Russia enough of Bessarabia to cover the mouths of the Danube, navigation of which would come under a permanent international commission; the two principalities of which it was composed, Moldavia and Wallachia, were to have self-government, like Serbia, under Turkish suzerainty Both Dardanelles and Bosphorus were closed to warships; neither Russia nor Turkey might maintain fleets, or fortresses, in or on the Black Sea. Receiving a promise of reforms to benefit its Christian subjects, the Powers guaranteed the integrity of Turkey, and in accord with Palmerston's wish to draw ' lines of circumvallation ' round the enemy, Russia undertook not to fortify the Aaland Islands off Sweden and

restored Kars to Turkey. The peace conference also made a notable advance in defining the rules of war. Privateering was forbidden, blockades were to be invalid if not effective, except for contraband of war a neutral flag would cover enemy goods, nor would sailing under an enemy flag expose neutral goods to capture

At the cost to Great Britain of 25,000 lives and £50 millions, peace was thus won, on the basis that the future of the Turkish Empire was for Europe, not Russia alone, to decide. As often happens, we ended war on the worst of terms with our greatest ally. France, having borne the brunt of a war fought more in British interests than her own, was militarily predominant and, having designs against Austrian Italy and also having fears of Prussia, was concerned to make Russia a friend. We, on the contrary, were more anxious than ever to maintain a firm anti-Russian front, for the peace was barely signed when we declared war on Persia, and it was only a year old when the Indian Mutiny began, which was unextinguished when Palmerston lost power.

Both his strength and his weakness came from the fact that he led the country and not a party. Radicals must always oppose him whenever the time came for more parliamentary reform, Cobden — whose letters accused 'the military party' — and Bright had throughout resisted the war; Russell and Graham, out of office, were always undermining him, Gladstone, isolated from all parties alike, detested the war's prolongation and the slur cast on the Peelites, and criticized Whig finance. The minister's power really rested, within the present Parliament, on the help or neutrality of the Tories, but Disraeli was confident that Derby had missed a chance in 1855 and the time had come for his party's return to office. But in 1857 it was proved again that the people were solid behind Palmerston

Late in 1856 a second China war began, in fundamentals much like the first; as opium had been the pretext for the first, so the question of the lorcha *Arrow* was the pretext now, — whether this sailing ship was covering piracy under the shadow of the British flag, or whether its Chinese owner at Hong Kong had duly taken out a British registration But once more the realities lay deeper. Plunged in civil war, the Chinese government could not control its agents, anti-foreign agitation resulted in pinpricks and boycott, and if there was no doubt that European consuls connived at many abuses there was also no doubt that the Chinese steadily evaded the foreigners' treaty rights, while our wish for normal diplomatic access to Pekin was repelled. Weeks before the home government could be informed, Bowring the Hong Kong governor took the law into his own hands, with sympathetic support from the representatives of France and the United States. On this score, though against Disraeli's advice, a coalition of all parties in the Commons defeated Palmerston by sixteen votes. He dissolved

Parliament and came back triumphant, Cobden and Bright, besides some Peelite and Radical leaders, losing their seats. Indeed, Bright's pacificism and Cobden's doubts whether India were worth holding, or rightfully held, were hateful to the generation of Crimea and Mutiny.

Palmerston's downfall within a year, in February 1858, in itself proved the strength of Palmerstonianism. For the occasion was made by the bomb hurled at Napoleon III by the Italian Orsini, whose plot and its weapons had both been made in England, thence came furious demands by the French military for measures against this 'nest of assassins', and Palmerston's consequent bill to tighten up the conspiracy law. The Commons' majority, who by nineteen votes drove him to resign, were led by personal opponents in Russell, Graham and Gladstone, and by Kinglake, the historian of the Crimea, who had a personal quarrel with Napoleon; their language accused him, of all men, of 'truckling' to France, and appealed to the national pride he, of all men, had evoked Disraeli pushing forward the reluctant Derby, the Tories took their opening, and were called on to make a government.

To the rule of a man without a party now succeeded something equally unstable, the rule of a party without a majority. Though stronger than in 1852, Derby's second government was a very weak one, no one but Disraeli and the two Stanleys being of the first rank, while it included too many cleverish, fanciful men like the foreign minister Malmesbury, or the novelist Bulwer Lytton Ellenborough, another of the same type, whose querulous arrogance had led to his recall when Viceroy, had soon to resign the India Office now, for an equally arrogant attack on the present viceroy, Canning Three times Gladstone was invited to join but always refused, so did Palmerston and Graham, and if other groups could make up their differences, the government's life would plainly be short. Though Disraeli's grasp on the party had increased, he was unable to convince them of some things he had at heart, such as ministries for education and defence, on the other hand, aided by the Liberal Stanley, he pursued objectives to which a majority of this factious house were committed in principle, a Government of India Act and a new Reform bill On each of them his curious flights of fancy exposed a flank to attack, but by skilfully exposing the differences among Opposition he prolonged this dangerous life for a year

The Reform bill he brought forward in 1859 was meant to satisfy the middle class and superior artisans Leaving the borough franchise at £10, it would lower that in the counties to the same figure, and would have given votes too, by what Bright baptized as 'fancy franchises', to graduates and teachers, solid savings-banks depositors, and others who on similar tests stood out above the general level. Its weak spots were plain. It was liberal enough to displease many Tories, for two ministers resigned, but too conservative to win over the Radicals. Though

Disraeli had wished to go further, all it did for redistribution was to take away 15 members from some small boroughs, while plainly an additional 400,000 voters, chosen on selective principles, did not meet the Radical claim for equal representation. An amendment of Russell, implying a lower borough franchise, being carried against them, government dissolved; their small gains did not give them a majority, and being defeated in June on a vote of no confidence, they resigned

Four ministries had now fallen since 1852. Everything went to show that the electorate liked a sort of conservative Liberalism, that no vital matter divided Palmerston from Derby, and that parliamentary reform was rather a pretext than a passion. Conservatives were still rancorous against Peelites, the Manchester school equally bitter against Whigs, but the political class at large were thinking of other things. This spring Cavour, in concert with Napoleon III, launched the war of Italian liberation which would certainly win more sympathy from Palmerston, Russell, and Gladstone than from Derby and Malmesbury. Perhaps this, together with the conviction that in isolation the Peelites could do nothing of service, was the turning-point in the life of Gladstone, though to the end he had voted with Derby. That his morbid, self-examining conscience finally overcame his aversion to Palmerston, is good proof that Palmerston's personality was the representative or stabilizing point for this generation.

This, indeed, demolished the Queen's effort to escape taking either of the two, pro-Italian, 'terrible old men', by asking the courtly Granville to make a government; her final choice of Palmerston being ruled by public opinion, Russell's proud claim that he must be either first or second, and perhaps the realization that Palmerston would better conciliate Conservatism. Each having agreed to serve under the other, he gave Russell the post he asked for at the Foreign Office, which the Queen had designed for Clarendon; and gave great place to the Peelites by putting Gladstone at the Exchequer, Herbert at the War Office, with other posts for Newcastle and Cardwell. The Radicals were given a pledge of a lower borough franchise, and though Cobden declined office, Milner Gibson went to the Board of Trade.

So at last was made the Liberal Party, compounded out of the Canningites from whom Palmerston long ago had come, the Whig patricians, Peel's followers, and the Radicals. At its head was a man of seventy-five who had lately hunted in his red coat with the Emperor of the French, who still walked miles after partridges, and rode regularly to the House of Commons, who wrote cheerfully of vote by ballot as 'sneaking to the poll', and whose Tiverton speeches conjured up the vision of a manly aristocratic country of free men, ready to teach foreigners their duty about misgovernment or the slave trade Had they not under his auspices already demolished Metternich and Mehemet

Ali, Louis Philippe and the Czar, Indian rebels and Chinese barbarians? Stronger and larger than Russell in moral physique and worldly sense, conservative and middle-class England would follow him while his vital star lasted. The man of destiny in his government was Gladstone, just turned fifty, who had in youth imbibed the Canningite outlook in foreign affairs, and added to it what came from his own intense thought on Christian principle, a persuasion of the moralizing power of liberty. Profoundly he distrusted what he called the 'malignant' genius of Disraeli and the policy of Malmesbury, while since the dissolution he could hope no more for alliance with Derby. Maintaining what the Peelites had long styled 'liberalism' at home and abroad, he believed he could count on Palmerston and Russell, nor would he any longer live the life of a political Ishmael. To this partnership had the industry and liberalizing of Britain brought the Prime Minister, who had first held office under Perceval, and the Chancellor of the Exchequer, whose first speeches had defended the unreformed Parliament.

CONTEMPORARY DATES

1851 *Coup d'état* in Paris
Bismarck at the Frankfurt Diet
The Crystal Palace in Hyde Park
Charles Kingsley, *Yeast*

1852 Napoleon III, Emperor of the French
Treaty of London, regarding Schleswig-Holstein
Thackeray, *Esmond*
Matthew Arnold, *Poems*

1853 Commodore Perry opens Japan to American trade.
Stratford Canning returns to Constantinople

1854 Alma, Balaklava, Inkermann
Civil war in Kansas
F D Maurice and others found a Working Men's college

1855 Italian troops in the Crimea
Tennyson, *Maud*
Death of Charlotte Bronte

1856 Peace of Paris
British fleet bombards Canton
Pasteur teaching at Paris
Bessemer's steel process
Livingstone, Burton, and Speke in Africa

1857 Indian Mutiny
The Dred Scott decision in the United States
Flaubert, *Madame Bovary*

1858 Napoleon meets Cavour at Plombières
Creation of the Roumanian State
The Czar Alexander II frees the serfs

1859 Battles of Magenta and Solferino.
John Brown executed after Harper's Ferry
De Lesseps begins the Suez Canal.
Darwin, *Origin of Species*
Mill, *Liberty*
Meredith, *Ordeal of Richard Feverel*
George Eliot, *Adam Bede*
Death of Hallam, Macaulay, Tocqueville, and Metternich

CHAPTER III

INDIA: FROM WELLESLEY TO THE MUTINY

PALMERSTON'S life almost exactly coincided with the completion and the extinction of British India as the Company and Warren Hastings had made it He was born in the year of Pitt's India Act, he lived to deal with the Mutiny, the fulfilment of Indian prophecy that in the centenary year of Plassey the British Raj would be shaken down, and to transfer India to the Crown. How the British attained their greatest achievement, their policy, prowess, and mistakes, must be traced from 1785 when Hastings came home to face impeachment.

For another generation after that event, and in a sense to the end of its rule, the Company strove to implement Pitt's declaration that schemes of conquest were repugnant to the nation, and to pursue that doctrine of non-interference which Philip Francis had preached against Hastings. It was in vain. Hastings' successor Cornwallis had to meet forces which made such an abdication impossible; a nominal Mogul power, so weak that a Rohilla adventurer could seize Delhi and blind the Emperor; a shadow Peishwah at Poona, dragged hither and thither by rival Mahratta chiefs, of whom Scindia almost controlled central India; at Mysore was Tippu Sahib, inflamed by ambition and Moslem fanaticism, and convinced that the British could be ignored The second Mysore war of 1790–92 proved him mistaken; Cornwallis took up arms to protect the Company's allies and dependants, and the peace terms divided nearly half of Tippu's territories between Hyderabad, Mahrattas, and the Company But resistance in his uplands had been desperate, the Madras government's inefficiency was again exposed, and in 1795 he joined the Mahrattas in attacking Hyderabad, our oldest ally. Now the fruits of 'non-interference' were reaped. Cornwallis' successor, Sir John Shore, a Company servant of eminent merit in revenue policy, rigid, evangelical, and self-distrustful, stood aside The defeated and resentful Nizam tried therefore to rebuild his strength with French soldiers of fortune Tippu made contact with the French Republic, the Mahrattas threw central India into turmoil by aggression and civil war, our protected allies in Oudh and the Carnatic sank ever deeper in their weak corruption.

A turning-point came when Shore was replaced in 1798 by Pitt's

friend Mornington, later Marquess Wellesley, an aristocrat of tireless ambition and outstanding ability, who saw India as one aspect of the war with France. Despising the cautious economy of the India House, he stamped his own notion of Imperialism on India, built a princely new government house at Calcutta, and set up a college to train young civilians on his own model, entrusted armies and diplomacy to his brothers Henry and Arthur, and formed in Malcolm, Munro, Elphinstone, Ochterlony, and Metcalfe, a magnificent dynasty of administrators. His first measures were to make safe the bastions of Bengal in Hyderabad and Oudh, by suppressing French influence and putting their foreign relations in our discretion; that done, in 1799 he turned to punish the proved intrigues of Tippu with France. A campaign from east and west, of two months, prepared with all the Wellesley laborious detail, ended the danger, Seringapatam was stormed, Tippu killed in its ruins, and his State swept away. Leaving a fragment of Mysore to the Hindu dynasty which Hyder Ali had ejected, Wellesley made over some territory to Hyderabad and annexed for the Company the mountain passes and coastal districts, both east and west. Annexation of Tanjore the same year, and in 1801 both of the huge misgoverned Carnatic and parts of Oudh, completed the British hold alike on the sea and the Ganges valley.

These victories brought us face to face with the Mahratta confederacy, whose wandering armies were incompatible with peaceful frontiers. Their factions gave Wellesley his opportunity in 1802 when the Peishwah appealed for help, and the governor-general concluded with him the treaty of Bassein, which obliged the Poona government to maintain a British subsidiary army and to give Britain control of his relations with other States. The inevitable result was the desperate war from 1803 to 1805, waged for their independence by the great Mahratta chiefs, Scindia, Holkar, and Berar. Though Arthur Wellesley defeated Scindia in the hard-won battle of Assaye and overwhelmed Berar, and though Lake entered Delhi and crushed Scindia's northern contingent at Laswari, Holkar continued resistance through 1804–5, and that resistance enlarged the war. For Wellesley meant to assert supremacy over all Bundelkund and Rajputana, and by alliance with their numerous petty States to wall off the Mahrattas from Delhi and Oudh

This extension into the heart of India, some sharp reverses like Lake's failure to storm the Jat stronghold of Bharatpur, and the expenses of war, induced the directors to recall Wellesley in 1805 — with whose costly buildings and designs they had another quarrel — and for a last time to essay 'non-interference'. The aged Cornwallis, a dying man, was sent back to make the surrender, under his successor, Barlow, our southern boundary in Hindustan was declared to be the

Jumna, thus abandoning our Rajput allies and the fortresses of central India to Mahratta oppression. Only a few years, however, were required to convince the most unwilling that the facts could not be fitted into our formula.

For our Indian power, in the first place, must reach defensible frontiers, and our effort to find them involved collision with primitive and warlike peoples Minto, the governor-general from 1807 to 1813, and of old one of Warren Hastings' arch-accusers in Parliament, found that the north-west barrier could not be drawn short of the Himalayas; the settlement which Metcalfe made for him in 1809 with Ranjit Singh, the Sikh conqueror of the Punjab, extended the British sphere of authority to the Sutlej. His successor, Marquis Hastings (1813–23), found that Bengal's northern border lay open to the inroads of the Gurkhas, and two years' hard fighting passed before, in 1816, Ochterlony made up for the incompetence of other commanders and carried that frontier firmly to the foothills Hastings was responsible also for the decision to protect the Company's China trade by occupying Singapore in 1819, though the initiative had come wholly from their agent in Malaya, Stamford Raffles Amherst, who followed him, had to make the north-east safe against the Burmese, who had seized Manipur and Assam In that war neither British administrators nor the sepoy army showed to advantage, but our command of the sea brought in due course the capture of Rangoon and advance up the Irrawaddy, and the treaty of 1826 won for us Assam, Arakan, and the Tenasserim coast.

But the most urgent problem for ' non-interference ' lay in the very heart of India It was not merely that conditions all over Rajputana and Bundelkund were a reproach; that Mahratta armies, supplemented by Pathan adventurers and gangs of Pindaris, broken men of all castes and origins, ravaged and ravished and tortured, or that the political officers of Wellesley's training reported appeals which they dared not answer, and the ruin of royal families we had sworn to defend Since prestige in the East runs across frontiers, outside this area of anarchy currents of conspiracy rose in every neighbouring State Hastings' successful campaigns of 1817–18 against the Pindari freebooters thus led directly to risings of the Mahratta chiefs, and to a permanent settlement. Baji Rao the Peishwah, a monster of iniquity, who had always intrigued against the Bassein treaty, attacked our resident Elphinstone, but was hunted down after stiff fighting; Mahratta sentiment was conciliated by preserving the small State of Satara, whose powers the Peishwahs had filched, but the Peishwahship was abolished and Baji Rao himself relegated, on a vast pension, to a long life outside Cawnpore; the name with which his adopted son, Nana Sahib, stands coupled in history The Bhonsla rajah of Nagpur, having taken the same course, was deprived of his northern Saugor territories, Scindia had to surrender

the strong point of Ajmer in Rajputana, Holkar's territories were cut down. A series of treaties, worked out by Malcolm and others, covered with our protection the Rajput States such as Bundi and Jaipur, and new-modelled others like Bhopal out of areas where the Mahrattas had tyrannized. Not only was the British paramount power thus asserted in all India, south of the Himalayas and east of the Sutlej and lower Indus, but the old entangling veils were torn away; from 1835 the Company's coinage, which for half a century had purported to show our vassal relation to the Mogul Empire, was stamped with the head of the British sovereign

Indeed, though the Company went on, all was changed in its character since Warren Hastings' day Parliament's hold, though indirect, had been made final by the Acts of 1784–6; the Board of Control's orders were issued through, but could not be altered by, the secret committee of the directors And though the Company kept a nominal veto on the appointment of a governor-general, and in 1844 used its legal power to recall Ellenborough, in practice Pitt's compromise worked for the supremacy of the Cabinet, exerted through the President of the Board, who was almost always one of their own members · often, as in the case of Dundas, Castlereagh, Canning, or Sir Charles Wood, a minister in the first rank. At each renewal of the Company's charter something decisive was done to impose on India the will of the British people, and to make its service royal, not mercantile. In 1793 all appointments, except that of members of Council and governors, were restricted to the Company's covenanted servants, so sweeping away the patronage from home which had crippled Warren Hastings. The charter of 1813 took away their monopoly of the India trade, organized an Anglican Church establishment, and explicitly declared the Crown's sovereignty That of 1833 deprived them of all commercial privileges, including the China trade, and laid down that no native of British India should be debarred from any office, ' by reason of his religion, place of birth, descent, or colour '.

From Cornwallis' day onwards, save for the exceptional case of Shore, the unhappy instance of Barlow, and the unique appointment of John Lawrence after the Mutiny, no Company servant was ever appointed to the governor-generalship, which was given either to men of high distinction or on the other grounds that govern Cabinet appointments; generally speaking, though Elphinstone and Munro were glorious exceptions, the same practice was applied to the Presidency governors of Bombay and Madras. The political prestige of this new type of governor-general, and their enhanced powers, allowed them to carry large legislation and reform. Rightly or wrongly, Cornwallis' ' perpetual settlement ' of Bengal land revenue was achieved, through the express will of the Cabinet and the advice of the expert Shore,

taking the zemindars, the revenue-collectors of Mogul days, as being for revenue purposes the owners of the soil More undoubted good was done by Cornwallis' measures to lay the basis for a civil service by payment of proper salaries and stopping that private trade which had enriched two generations of 'nabobs' A long series of experiments up to 1830 created the Bengal district system, each under a British collector with powers both executive and judicial. District judges, regular circuits, enlarged courts of appeal, spread a higher standard of justice, though not without many lapses owing to the Indian zest for litigation, an ill-paid police, and the crudity of Moslem law.

In a sense our administration was balanced, or hovered, between two traditions and schools of statesmanship There were the great 'politicals', of the type of Metcalfe, Munro, and the Lawrences, whose experience and sympathies lay with native India; who came out as boys and took their first leave after twenty or thirty years, and some of whom had Indian wives and children. Their axioms were Wellesley's, of a British supremacy approved by victory, but their spirit was that of Warren Hastings To these men were due the delicate net-work of alliance with innumerable States, at every level of power, which filled up the huge interstices between Delhi and the Presidency capitals, they too were concerned in working out, in the Presidencies outside Bengal and in new-annexed territories, systems of revenue and justice more akin to Indian tradition and better suited to reach the root — the peasant on the soil On the other side was the swelling tide of Anglicization, of European reforming ideals, which rose rapidly under the Whig governor-general of 1828–35, Lord William Bentinck. His first measure was boldly to abolish the burning of Hindu widows, known as *suttee*, he supported William Sleeman in the extinction of the murderous secret society of Thugs In part for reasons of economy, he much increased employment of Indians in office; with Macaulay, the legal member added to his Council by the 1833 charter, and Metcalfe he took the decision to make the English tongue the vehicle, and education in English thought the basis, of progress. There were other instruments of Anglicization Steam navigation between India and Suez became regular from 1843, cut short the length of exile, and brought more Englishwomen to India Again, though missionary influence had been strong even under Warren Hastings with Swartz and the Baptist Carey, Christian influence now developed immensely, evangelical faith was powerful with the Scot and northern Irish Lawrences and Nicholson, and among the greatest of our Indian soldiers, nor was it unknown for colonels of Indian regiments to hold Christian meetings for their men

While the flower of the British race, still sword in hand and far

enough from London to depend on their own initiative, slowly cut the shape of a British dominion, another twist was given to it by the necessities or fears of the Imperial government. Wellesley and Minto had been driven by the Napoleonic war to annex the dependencies and satellites of France in Ceylon, Mauritius, and Java, and when that danger disappeared with peace, we were faced by the greatest of our allies, Russia. This was to be the point, throughout the nineteenth century, at which the Foreign Office and the government of India met or conflicted, and both our Indian government and our policy of upholding Turkey enmeshed us in all Moslem politics and the swaying mass of petty States between the Himalayas and the Caspian. In increased Russian weight with the court of Persia Palmerston saw a potential threat, a fear which he impressed upon Auckland, the agreeable weak man whom the Whig Cabinet chose out of their own ranks as governor-general in 1836. At that date three States controlled most of the warlike peoples which lay between British India and Persia. The pivot of our north-western policy was alliance with the great Sikh Ranjit Singh, ruler of the Punjab and Kashmir. We had another with his southern neighbour, the Amirs of Sind, who controlled the lower Indus and the approach from Bombay to the mountains. Lastly, there was Afghanistan, fallen far from the power which fifty years before had shaken India, having lost Peshawar to the Sikhs and Herat to one of its own princes; for some ten years past its Amir had been Dost Mahommed, with a rule almost confined to northern regions round Kabul and Ghazni. At the end of 1837 the Persians, stimulated by a Russian agent, laid siege to Herat, whence sprang the first disastrous Afghan war.

For this the prime responsibility lay on Auckland and his advisers in India. Against Dost Mohammed personally we had no serious grievance; our agent in the north, Alexander Burnes, believed he could be made a friend, nor did the home government exclude that idea. But Auckland, inspired perhaps mostly by William Macnaughten, precipitately decided on a forward policy to win 'a permanent barrier', this involved entering the Punjab and using the agency of the Sikhs, which must antagonize the Afghans. In this he persisted even after the Persians retired from Herat and, worst of all, chose as his instrument Shah Shuja, who had been dispossessed as Amir as early as 1809, had neither strength nor popularity, and had lately been defeated by Dost Mahommed. What might have been predicted came to pass The Sikhs, suspicious for their own future, induced us to make our main effort across Sind, which meant violation of treaty with its Amirs, while after Ranjit Singh's death in 1839 their obstruction became open hostility That year our main army struggled to Kandahar and thence to Kabul · Shah Shuja was propped up on our bayonets and the

advice of Macnaughten but, though Dost Mahommed surrendered, our puppet's power only reached as far as the British arms By 1841 it was sustained simply at four points, — Kandahar, Ghazni, Kabul, and Jalalabad which led back to the Khyber, — all alike imperilled in communication with India by perpetual rebellion.

Within Kabul itself every conceivable mistake was made in the tragic winter of 1841–2 The beginning of the end came in November when Burnes was murdered, and the next month Macnaughten also, when negotiating for evacuation Though commanding 5000 combatants and 12,000 followers the British generals would not strike a blow, retreated in January under Afghan pledges towards Jalalabad, and in the snow-bound passes, save for a few taken as hostages and one military doctor who reached safety, were wiped out to a man Not since the darkest Madras disgraces of the 1770's had there been such demoralization, and the first proposals of Ellenborough, the newly arrived governor-general, were for total withdrawal without an effort to recover the prisoners. The wretched Shah Shuja had been murdered. In the end honour and sanity were retrieved by the insistence of the generals — Nott who had held on to Kandahar, and Pollock with the northern relief force from Peshawar — together with Henry Lawrence's influence over the Sikhs. Kabul was entered, our prisoners saved, and Dost Mahommed restored.

During this war we had occupied the port of Karachi and decided that, to make the Indus secure, the Amirs of Sind must submit to our suizerainty. Ellenborough found them irritated by our encroachment and exalted by our defeat, he chose in Charles Napier a soldier who was convinced that, though Auckland had acted unjustly, the Amirs' rule, which was only seventy years old, was a vicious tyranny, and that annexation was the best rough justice Fighting against great odds, in February 1843 he routed the Baluchi swordsmen at Miani, near Hyderabad in Sind. There were many in India, not least Napier's predecessor in that province, the heroic Outram, who thought our action unjustifiable, and it was formally condemned by the Directors. But to undo it was a responsibility that Peel's Cabinet would not face, and reluctantly they sanctioned it

In this triangle the third factor, the Sikhs, drew their fate upon themselves. Ranjit Singh left a succession disputed between many incapable heirs and ambitious nobles, but he also bequeathed the pride of his life, an army 80,000 strong, armed with modern weapons and highly trained by European officers. After civil war and murders innumerable the army council of the Khalsa, 'the chosen', accepted as ruler the child Dhuleep Singh, whose vicious mother with her lover attempted to control the State. Afghanistan and Sind perturbed the Sikh soldiers, who had seen our failure but feared our designs, more-

over, many chiefs would not be sorry to see the Sikh army defeated In December 1845 they crossed the Sutlej, with Delhi as their object.

Ellenborough having been recalled by the Company, he was replaced by the Peninsular veteran Hardinge, sane, unprovocative, and assured of Peel's affectionate confidence. He took wise defensive precautions, and victory was rarely better deserved than in this first Sikh war By mid-February 1846 we had fought four battles against superior numbers, Sobraon being the last and gravest, and occupied Lahore; serving as a volunteer, Hardinge was able to counterbalance the recklessness of Hugh Gough, his commander-in-chief, whose impatient courage was apt to hurl troops against entrenched lines without artillery preparation By treaties of this year the Sikhs surrendered all east of the Sutlej and the Jullundur district also, made over the Hazara frontier to us and Kashmir to the Hindu rajah of Jammu, ceding also their forts and final authority to a British agent and army, until their youthful Maharajah came of age

Whether annexation could have been avoided in the long run must remain in doubt. In a bare two years our agent Henry Lawrence did wonders through the men of his choice, — his brother John, Lumsden who raised the Guides, Nicholson and Hodson, Herbert Edwardes who ruled one fierce frontier from Bannu, and James Abbott who ruled another in Hazara That achievement was cut short when in 1848, during his absence on leave, the murder of some British officers grew into a second Sikh war. Whether this could not have been prevented by resolute action, as the Lawrences argued, or whether an opportunity was not seized to press on total annexation, are two of the many questions encircling the name of Hardinge's successor, Dalhousie. Since the Sikhs were given ample time to make ready, our losses at Chilianwala (January 1849) were so heavy that the Cabinet determined to supersede Gough by Napier. In February, however, Gough retrieved himself in the victory of Gujrat, the Sikh armies were broken, their Maharajah was deposed, and Dalhousie, declaring 'an act of necessity', on his own responsibility annexed the Punjab. He committed administration of this great area, which included also what is now the Frontier Province, to a Board of three, of whom Henry and John Lawrence made two

In Dalhousie and his memorable term of office from 1848–56 were gathered up the faults, dangers, and virtues of British India. The young governor-general was a Peelite, marked with all the caste signs of that school, their industry and ideal, their touches of autocracy and self-righteousness. With none of the imaginative sympathy of Elphinstone or Henry Lawrence, and seeing good and bad sharply defined, and good government as better than self-government, he thought the best British standard was one to which India must be

compelled, and brought about an immense, efficient increase in railways and telegraphs, irrigation, public works, and schools. But the machine did not fulfil some of the best purposes of the government of men Illustrious names among the Company's older servants had long predicted danger. 'Our administration', Malcolm wrote in the 'twenties, 'though just, is cold and rigid'; 'all India', the more pessimistic Metcalfe declared in the 'thirties, 'is at all times looking out for our downfall'. One reason, no question, came from the very speed of our growth, and the apparent boundlessness of our ambition.

After Wellesley's and Hastings' annexations there had been some reaction, yet even Bentinck, for all his *laisser-faire* principles, had annexed Coorg and taken over administration of Mysore The higher the standard of government, the more unendurable seemed the effects of our subsidiary treaties, whereby British-controlled contingents garrisoned and upheld native States whose internal rule might be an orgy of incompetence or crime By the 'forties the Company was ready to accept any 'just and honourable accession of territory', and on that basis Dalhousie, though distinguishing between independent and tributary States, would act to the full. His chief device was the doctrine of 'lapse', the rule in Hindu States that, if no proper heir existed, — and in Hindu faith adoption of an heir meant discharge of ceremonial, all-important to the dead — none could be adopted without leave of the suzerain So, sometimes in accord with his Council and sometimes against their advice, he applied 'lapse' to the Mahratta States of Satara, Nagpur, and Jhansi Over and above that, when the old Peishwah died, he cut off payment of pension to Nana Sahib, his heir; abolished the royal title of Nawab of the Carnatic, took from Hyderabad the administration of Berar to ensure proper maintenance of the Hyderabad contingent; annexed from the truculent Burmese the province of Pegu, and, left to himself, would have suppressed the Imperial style of the Moguls at Delhi. Finally, on the eve of his departure, he took the decisive step of annexing Oudh. After two generations of warning, scandalous misgovernment and misery prevailed in that kingdom But the Company's order for total annexation was a drastic measure against the Company's oldest ally, taken against the advice of Henry Lawrence and Sleeman, and pushed beyond what Dalhousie himself desired

All this increased some inevitable enmities; of *talukdars* or landowners forced to drop their oppression, vested interests in palaces, and warlike classes left without occupation. Our revenue settlements from the 'thirties onward involved many resumptions of property and forced sales, Dalhousie's government confiscated many thousand estates wrongfully held, and other Indian interests than the landowners, whom Lawrence thought ill used, were perturbed by what we deemed

was progress. Obliteration of caste distinction through railways, prison rules, and schools, and laws to permit the remarriage of Hindu widows, to stop infanticide, or protect Christian converts, alarmed the priestly order. An opium-tax irritated humbler folk. Afghan and Sikh wars, even if they divided our enemies, showed the British soldier not invincible, and roused Moslem passion For in the historic divisions of Islam the Afghans were Sunnis, but Persia was Shiah, as was Oudh.

All these strains affected the very base of our power, the native army, or more accurately the Bengal army, that made up 60 per cent of the whole. With those of Madras and Bombay there was little trouble, as they were recruited irrespective of caste and part-composed of more placid peoples, the army of Bengal, however, was built on men of high caste, distinguished by legal privilege and good pensions. Since their heroic fighting under the Wellesleys, and in Mahratta wars, they had much degenerated Mutinies had been frequent; on distant service in Afghanistan they grumbled for extra allowances; while to cross the dark sea to Burma would, they said, violate their caste. Rules of seniority brought to the top many too elderly officers, both British and Indian, and centralization had destroyed much of commanding officers' almost paternal prestige

And now a high proportion came from Oudh, which they saw annexed, though not disarmed; while new levies from the north, Punjabis and Sikhs and Gurkhas, threatened to usurp their place of favour They were, further, persuaded that government cared nothing for, and was even bent on undermining, their religion, a suspicion doubled when in 1856 Dalhousie's successor Canning ordered general enlistment for all recruits for service in India and overseas It was roused to fury when they discovered that cartridges for the new Enfield rifle, the end of which must be bitten before loading, had been greased in England with beef fat All the first months of 1857 were marked by refusal to use cartridges, mutiny, and burning of barrack huts, on 10th May three regiments in the Meerut garrison murdered every European they could seize, and marched for Delhi.

So began the Mutiny, in form but not in substance a military rebellion; marking, rather, as it was terribly to deepen, the gulf between Britain and India. It had, indeed, no unity whatever. In Oudh and the north it centred in Moslem fanaticism, bent on Delhi and exploiting the relics of Mogul Empire, the rebels coming to the assault led by priests and under the green flag. Nana Sahib, on the other hand, and the Rani of Jhansi would revive the Hindu Mahratta confederacy, and Brahmans were active on the Ganges from holy Benares to Bengal. One centre and one leader they never found, and its suppression became therefore a series of little campaigns. But countless cases showed

the length of Indian memories, and how a shake to British power roused the instinct to desert a losing cause. A Rohilla, of those dispossessed in the eighteenth century, made himself master of Bareilly in Oudh, though Scindia stood loyal himself, his Gwalior troops fought fiercely against us; so too did the Jats of Bharatpur, and the Hyderabad contingent There were murmurings even in the Bombay presidency, and only rapid, resolute disarming of native regiments saved Lahore and Peshawar in the north.

In the last resort the British people had themselves to thank for the duration of the Mutiny, which was directly due to the small ratio of European troops Dalhousie's repeated urgency that this must be corrected had been ignored, in part because the Company would have to bear the Europeans' higher pay, and when the outbreak came, as against 230,000 Indian soldiers, there were a bare 40,000 European. Of these some were fighting in Persia, others quartered in Burma, and some 13,000 in the Punjab or the Sutlej area. Thus along the thousand miles between the Punjab and Bengal only weak European detachments were strung out, with none at vital points like Allahabad, and none guarding the Delhi arsenal. As the railway only ran a hundred miles up from Calcutta, to send reinforcements meant a slow process of marching, river steamer, or bullock train, and for many months there were none to send, a delay which, John Lawrence wrote, was 'very nigh fatal'.

Many times over it was proved that leadership would conquer any odds The Punjab had not been subdued ten years, but John Lawrence, Edwardes, and their school could move it almost as a solid unit against Delhi; held it, indeed, so strongly that law courts and schools proceeded as in peace. Frontier valleys stood staunch which had heard the legend of Nicholson and his white mare, Bartle Frere's benevolent rule in Sind was so absolute that he could strip the province of European troops; none were more firm than the Sikh States like Patiala. George Lawrence held most of Rajputana safe; the courage of a few soldiers and a few civil servants stamped out what might have destroyed Bengal and Bihar; Henry Lawrence's time in Nepal had not been wasted, and invaluable help came from the Gurkhas Colin Campbell with 4500 men broke into Lucknow, a fortified rambling city held by 60,000 desperate rebels. On the other side, when decision failed, the evil was instant, sometimes as at Meerut through old men in command, or sometimes through a clinging belief that Indians were loyal Canning the viceroy was courageous and confident, yet made some mistakes, — dallying, for instance, in accepting Gurkha help, — which slowed decision down.

In the autumn of 1857 the extremest urgency was removed by the capture of Delhi and the relief of Lucknow. The first was the work of

British forces and civilians from the Punjab. A first advance in June had captured the Ridge, west of and commanding the city, but the assault had to wait long for reinforcements and heavy guns. There in September Nicholson was killed, the Mogul King taken and his sons shot by Hodson, and the backbone broken of Moslem resistance in the north. The suffering of the innocent and the fascination of great characters have made famous some places of less military importance. Mistakes of judgment at Cawnpore are obliterated in the memory of the 400 European combatants who, in the heat of June, endured three weeks' bombardment without cover from an overwhelming enemy force; when they surrendered, Nana Sahib gave them a safe-conduct to go downstream to Allahabad, but massacred them as they reached the boats. In July, hearing that Havelock's relieving army drew near, he had 200 women and children cut to pieces and hurled, live or dead, into a well.

It was only early in 1857 that Henry Lawrence had reached Lucknow as chief commissioner of Oudh, much too late for his prestige to prevent an outbreak, or to undo the hopeless distribution of our garrison. He was soon isolated, an effort at a sortie defeated, and his small force, with not above 1000 Europeans, driven back into the Residency, where in July he was killed. His successors held out until Havelock and Outram forced their way in, in September, and in November the new commander-in-chief, Colin Campbell, evacuated the garrison. But Lucknow itself he could not take until the spring of 1858, so small were his forces, and so serious the threat to his communications from the Cawnpore rebels, and from those in Central India under Nana's general, Tanti Topi, and the Amazon Rani of Jhansi.

In 1858 more troops had come, some diverted from the China war, with Peel's famous naval brigade, and at that year's end we had sixty-eight battalions of British infantry. The war turned to a piecemeal reduction of garrisons, or hunting down those who had put themselves beyond the pale; for the British it was as much a war against great spaces, sunstroke, jungles, and mountains. In this phase the best leader was Sir Hugh Rose, whose small Central India force took the strong keys of Jhansi, Kalpi, and Gwalior, and in sixteen battles within six months beat down resistance.

It had been, too often, a war of atrocity, provoked by murder of British women, prisoners, and children, to which the response was sometimes stark execution and lynch law. The choice between conciliation and punishment divided the Company's best servants, and Canning, nicknamed 'Clemency' in the early stages, later issued a proclamation to Oudh which shocked Outram and much opinion at home. Yet there were many signs that what in British minds was conjured up by 'the Mutiny' was not true of Indians as a whole. Many villagers, and a few landowners, sheltered our unhappy refugees; several hundred sepoys

served faithfully through the siege of Lucknow; it was noted that mutineers often wore their British medals; while Nana could only get his worst work done by butchers and palace servants.

But, whatever its legacy, it was not to be managed by the Company, whose powers had long since been purely formal, and Great Britain, which had borne the shock and caused the emergency, must take up the full burden The Act of 1858 transferred government to the Crown, replacing the Board of Control by a Secretary of State, to be assisted by a Council a majority of whom must have Indian experience The Queen's proclamation, drafted by Derby, promised to respect the territories of Indian princes, — the doctrine of lapse being repudiated, — disclaimed any interference with religious convictions, and promised openings in her service to men of 'whatever race or creed'. Since the Punjab had saved India, John Lawrence was the man of the hour, in 1864 succeeding Elgin as viceroy, and the rising's chief lessons were taken to heart. European troops were increased and Indian diminished, till the ratios stood at about two to five; Sikhs and Gurkhas were enlisted freely, and men also of lower castes. Centralized administration, a better police system, penal and commercial codes, and the new public works department all deepened the uniform weight of government. The Act of 1861, by which some nominated Indian Members joined the Legislative Council, and much educational expenditure, represented another side of British policy.

Yet personal qualities had saved, or in some instances contributed to undo, British India, and for another generation the personal element in the Crown service was to be all in all. It had inherited, as the Company boasted with substantial justice, 'such a body of civil and military officers as the world has never seen before'.

CHAPTER IV

LIBERALISM, AT HOME AND ABROAD

1859–1874

THE first Liberal government, led by Palmerston till 1865 and then by Russell, was rich in many talents, — Whig notables like Argyll and Cornewall Lewis, Gladstone and the flower of the Peelites, with Goschen and Hartington to represent a younger school, both bourgeois and aristocratic. But its unity rested on the genial, flexible Palmerston who enjoyed, beyond his popularity with the middle class, three great advantages. National prosperity was increasing by leaps and bounds; Derby, having no wish for office, was ever ready to help the Prime Minister against the economics or pacificism of Gladstone, and public interest was concentrated on Palmerston's best field, foreign affairs Though his differences with the Court were sharp as ever, they so far agreed with him that they too believed national defence was the most urgent matter before government.

It was then, so far as domestic reform went, an age almost blank; 'we cannot go on legislating for ever' was Palmerston's opinion, and a modest reform bill produced by Russell expired in 1860 in total apathy Cabinet time was taken up by foreign policy, defence, and the finance that these involved

One British war was proceeding when this government took over, the China war originating with the lorcha *Arrow*, from which the Mutiny had diverted troops. Elgin's first mission, by a blockade of Canton and bombardment of forts, had extorted a treaty in 1858, giving us on paper all we asked But when the next year we sent an envoy to ratify, he was fired on, so in 1860 Elgin reappeared, with a mixed British-French army to enforce the treaty and additional compensation. This time the Chinese evasions, their treacherous seizure and torture of an allied mission, led to the forcing of the Peiho as far as Tientsin, entry into Pekin, and burning of the Imperial palace, the final terms ensuring diplomatic access and increased commercial advantages, including a regulated migration of coolie labour to British Colonies. Between his two missions Elgin had visited Japan, with whom a treaty was signed allowing British consuls and traders a few openings.

It was not, however, by this remote scene that British sentiment was gripped but by the outbreak in 1859 of war in Europe, when

Napoleon III fulfilled his pledge to Cavour and invaded Italy to expel the Austrians, a war that well might grow, if Prussia came in to assist the other German Power. It was in part this consideration which in July drove Napoleon, after two costly victories, to make the convention of Villafranca, giving Lombardy to the Sardinians but leaving Venice in Austrian hands Though the Queen and Prince were aggressively 'Austrian', British sympathies in general were wholehearted for Italy, the strongest 'Italians' within the Cabinet being its strongest members, Palmerston, Russell, and Gladstone Over the next two years, when Tuscany and central Italy rose to join Sardinia, when Garibaldi and his thousand sailed to make rebellion in Sicily and crossed to the Neapolitan mainland, and when the Sardinian army marched south to make contact with him but also to head him off from an attack on Papal Rome, the British actions were decisive Russell's despatches preached the doctrine of 1688, that a people had a right to depose a bad ruler, and that, if Garibaldi were a 'filibuster', William of Orange had been another, while our minister at Turin, James Hudson, immensely assisted Cavour Our influence was thus used to keep the ring, to let the central Italian duchies vote themselves into the new kingdom, to cover Garibaldi's crossing to Naples by our fleet, to deprive the Pope of temporal power except for Rome itself, and to prevent a general war by warning the Italians off Venetia.

Our diplomacy had the additional object of obstructing the ambitions of Napoleon Against him were ranged British forces of most diverse character, the Liberal minds of Macaulay and Mill, and the young Radicals who had never forgiven the *coup d'état*, the Germanism of the Court; and Palmerston's conviction that, when the Emperor denounced the treaties of 1815, he meant to revive his great uncle's France. His scheme for a federated Italy was thought to mean an Italy under French control, and our suspicion was deepened when, as part of his bargain with Cavour, he annexed Savoy and Nice to France Herbert at the War Office believed the French planned invasion; their rapid building of armoured ships harassed the Admiralty; while in the beginning of the Suez Canal by the French engineer, de Lesseps, Palmerston saw Egypt and India threatened

From such reasoning came what Cobden called the 'panic' of 1859–60, in which, however, there was this justification, that steam had altered all the conditions of sea-warfare, and that our shortage of trained men in the Crimea had been terrifying. Napier, our naval commander in that war, pointed to the great base building at Cherbourg; a royal commission declared Portsmouth was defenceless and called for large expenditure on fortifications Out of this controversy rose, spontaneously, the origin of the volunteers, who numbered 150,000 by 1861, and the collision of a war and a peace party in the Cabinet.

It was the hope of Cobden and Bright, and by them communicated to Gladstone, that a commercial treaty would contribute alike to free trade and peace, and Cobden volunteered unofficial negotiations In France he found valuable support from the economist Chevalier; and the Emperor, when once converted, bore the brunt against protectionist interests, but in this country no one but Gladstone could have carried it in Cabinet. Convinced that the alternatives were this treaty or a 'high probability' of war, he conceived his budget of 1860 as 'a European operation', and displayed to their utmost his tenacity, ingenuity in finance, social ideal, and that mastery in debate which soothes an unwilling audience into a conclusion that sensible men can do nothing else The treaty terms provided that France would lower duties on iron and all principal British goods to 30 per cent or less; Britain, on the other hand, would reduce hers on wines and brandy, and abolish duty entirely on French manufactured goods. This meant a sacrifice of £1 million of revenue, besides which Gladstone must face, mainly from war costs, a deficit of nearly £10 millions in all. Demonstrating that our taxable income had increased by over 16 per cent in the past seven years, he returned boldly to the method of Peel, as he had himself used it in 1853, to raise new revenue by reducing taxes, and made the French treaty his lever for the final advance to free trade. Such duties as he abolished on French goods he abolished for all nations alike, lowered duty on timber and currants, swept those away on butter, eggs, and various fruits, together with the excise on paper. His changes reduced the number of articles chargeable under our tariff from 419 to 48; for the time being he paid his way by keeping stiff duties on tea and sugar, and income-tax at 10d.

This parliamentary triumph, and his doctrine of a permanent addition to productive power by freeing production, made him the real head of the Liberal party, in part because it brought him into conflict both with Palmerston and the Lords. The national expenditure of £70 millions, small though it was, had grown by 20 per cent since 1853, and that mainly through the army and naval estimates, a process doubly horrible to a man who believed that money 'fructified' best when left in the taxpayer's pocket, and to a Christian who execrated war Though he fought Palmerston's plans for fortifications, several times threatening resignation, the old leader carried his Cabinet most of the way, if Palmerston wrote jauntily to the Queen that it was better to lose Mr. Gladstone than to lose Portsmouth, Gladstone denounced him in private, and in public drew nearer to Cobden and Bright. One bond between them was the fight over the repeal of the paper excise, which the Lords rejected, to Palmerston's pleasure. In 1861 Gladstone extended his revenge far beyond repassing that item, for by combining all the money bills of the year in a single measure he made it

henceforth impossible for the Lords to do anything but accept, or reject, the Budget as a whole

His policy of retrenchment prevailed in the succeeding years. Income-tax fell from 9d. in 1863 to 4d in 1865, when the tea duty was halved also; total expenditure, which was £72 millions in 1860, was back at £66 millions in 1865. Creation of post-office savings-banks, the Exchequer and Audit Act of 1866, the Commons' committee of public accounts, part-exemption of incomes below £200, — by such performance and doctrine Gladstone impressed on the country his own high standard of public finance.

The impetus towards a broader democracy, which this prosperity and his stewardship encouraged, was hastened by the event in which he made his greatest mistake, the American civil war. In this our declared and right policy was to be strictly neutral, recognizing the rights of the South as belligerents but not their independence, claiming for ourselves the rights of a neutral trader but no right to break an actual blockade, forbidding British subjects to help either side Had slavery been the only matter in dispute, practically all Britain would have sympathized with the North, but that was not so until, late in 1862, Lincoln declared for emancipation; as it was, Russell and Gladstone saw in the South a people asking the liberty of self-government, Palmerston rejoiced at the weakening of a Power he disliked, and upper-class sentiment felt at one with Lee and the gentry of the South. To Bright, on the other hand, and the Radicalism he represented, the North meant democracy, where all had a vote and where thousands of their own folk had found a home, while the religious mind of Liberal England cut through any constitutional dispute to the one question, slave or free? That faith was upheld all through 1862, by which time the cutting off of cotton from the South had thrown Lancashire out of employment and half a million people were living on the rates, or private charity.

Diplomacy was finely served by the ambassadors, Charles Francis Adams for America and for Britain the wise Lord Lyons, but some American statesmen, Seward the Secretary of State included, were at times ready for war. That possibility came nearest, perhaps, late in 1861 when two Southern agents, Mason and Slidell, were forcibly removed by a Northern warship from the British mail steamer *Trent*, one of the Prince Consort's last acts being an advice to send a milder protest, which allowed Lincoln to lead an honourable retreat. War was possible again because, intent on stopping the carnage, the British Cabinet often considered offering mediation, on which Napoleon III was even more intent for reasons of his own. For in 1862 he was involved in a military adventure in Mexico, which began in concert with Britain merely to enforce payment of debts but which, after Britain withdrew, developed into a scheme for a Mexican monarchy under a

Habsburg archduke. That year Gladstone went so far as to declare in public that the South had 'made a nation'; but the Southern victories were too costly for their people to endure, Palmerston wisely held his hand, both the Queen and the Opposition were against intervening. Yet another danger was narrowly avoided, arising from the commerce-destroyers, equipped and sometimes built in our ports, which the South used to break the blockade. Of these the most famous was the *Alabama*, which only escaped detention in the Mersey by hours and an unhappy combination of chances; some were stopped or bought by our government, but others got away, — one of them to sail 60,000 miles, untaken. In 1864, however, the victory of the North was assured, Lincoln's great stature was plainly seen, slavery had gone, and this dark possibility disappeared.

If Bright and public opinion saved the government from dire mistakes, in other directions our policy showed some of its frequent shortcomings, in lack of insight into other countries, moral indignation unsupported by moral force, and rank ignorance. What had lately begun was the age of Bismarck, who became chief minister in Prussia in 1862, yet no one in England, unless it were young Robert Morier, weighed the new forces aright. Faithful to her 'dear angel's' vision, the Queen saw in Germany only a peaceful people resisting Napoleon's thirst for territory, Palmerston was much the same and built on our military men's view that the French could 'walk over' the Prussian army. And though the very opposite of being isolationist in the sense of Bright, Palmerston and Russell helped to isolate their country. Their Italian policy antagonized Austria, Russia was still the arch-enemy, and when the Poles revolted in 1861 the Prime Minister told St. Petersburg that it was 'a just punishment of heaven'. Again, if Britain meant to make a stand against the Eastern despots, the one indispensable alliance would be that of France, and that would mean going half-way to help the French objective of a stronger frontier in Luxembourg and on the Rhine. But when Napoleon mooted a congress to eliminate these and other pretexts for war, like Venetia, Russell snubbed him in his loftiest style. To abstain in Europe might be wise; not so, to threaten and lecture and then to abstain.

This was seen at its worst in the weary tangled matter of Schleswig-Holstein, the two duchies part-Dane and part-German, bound to Denmark by the same royal dynasty, to each other by ancient history and, in the case of Holstein, to the German federation by law. After one outbreak in the age of revolution, the Powers had all recognized by the London treaty of 1852 that the succession both to Denmark and the duchies lay in Christian of Glucksburg, who in due course, a few months after his daughter Alexandra married the Prince of Wales, succeeded in 1863. But the Danes had broken their pledge of giving separate

institutions to the duchies, Christian incorporated Schleswig in the Danish monarchy, and early in 1864, dragging a deceived, unwilling Austria with him, Bismarck declared war. Warlike language from Palmerston and the British press encouraged the Danes, but the Queen, Cabinet, and Opposition stoutly resisted the Prime Minister and Foreign Secretary, Derby denounced their ' meddle and muddle ', and we drew back in a cloud of high-sounding words, which did not affect the fact that Prussian troops occupied Schleswig and Kiel

Though Opposition made capital out of this sorry business and the Queen found Palmerston ' extremely impertinent ', when in 1865 Parliament was dissolved in its usual course, the people again returned the old man to power with a comfortable majority He was now over eighty years of age , Gladstone, he said, would ' soon have it all his own way ', and that way had lately been shown not only by an almost open alliance with Bright but by a famous speech, the more impressive because half-musing and unrehearsed, in which he declared that every man was ' morally entitled ' to a vote who was not positively incapacitated by unfitness His constituency of Oxford University, which had cast out his leader Peel, cast him out also in this election, and he found another in industrial Lancashire, to whom he announced that at last he came to them ' unmuzzled ' On 18th October Palmerston died, this, Gladstone wrote to Russell, must be a ' new commencement '

Immediately that could not be, for Russell, veteran and indispensable leader, was seventy-four and now in the Lords, nor could he conciliate diverse men as had Palmerston The Cabinet was weaker through other deaths, of Cornewall Lewis and Herbert, nor did Russell's few changes bridge the gulf between Radicals and Whigs Yet he stood nearer than his predecessor to Gladstone and Bright, and his personal ambition to pass a second Reform bill released part of the long-arrested Liberal flow; on public grounds the case for it was very strong, for leaders in both parties were committed, and since 1851 one attempt after another had broken down. Changes in industry had made the existing distribution of seats ridiculous, Glamorgan returned only one more member than Radnor, and Cornwall as many as London and Middlesex north of Thames, while five out of six grown men had no vote The bill produced in 1866 was modest enough, but badly handled and with the vices of a compromise; to lower the borough franchise to £7 could never satisfy the Radicals, whereas many Whigs cordially disliked a proposed lodger vote Some forty Liberals, led with outstanding eloquence by Robert Lowe, formed themselves into what Bright christened ' the cave of Adullam ' and worked with Opposition, between them they drove Gladstone's feverish leadership from point to point, and in June, on an amendment being carried to make rating and not rental value the basis for a vote, government resigned Dissolution

was avoided, not only on the public ground that the Austro-Prussian war had just begun, but because to dissolve on Reform would split the Liberal party

Derby therefore formed his third ministry which, on his resignation in February 1868, became the first of Disraeli, and may historically be treated throughout as such This was the first Conservative cabinet of any strength since the fall of Peel; having discovered considerable force in Cranborne (soon to be Salisbury), Gathorne Hardy who had beaten Gladstone at Oxford, Carnarvon, and Stafford Northcote. But since once again they were in a numerical minority if all the oppositions could agree, their business was to settle questions which both sides could accept; as they did, for instance, in the Act for the confederation of Canada, in extinguishing compulsory Church rates, and in transferring trials of election petitions to the judges from the heat of party committees

To settle parliamentary reform, on which they had ejected Russell, was indispensable and not only for their party interest. Crowds crying for 'Gladstone and liberty', an angry meeting which demolished the railings of Hyde Park, clamour in the trade-union world against prosecutions, the American example, and the influence of Bright and Mill, such symptoms and the long dallying with the question convinced the Queen and politicians that delay would be dangerous. But how the bill of this Conservative government grew into a measure of advanced Radicalism and split the Cabinet, revolved round the rivalry of Disraeli and Gladstone.

Disraeli quite plainly had framed no plot for an advanced bill, and even wished to stave the question off till it could be made a favourable ground for dissolution. But when convinced that it must be taken speedily, he wished it settled by the government, seizing with great skill the openings given him by Gladstone's difficulties between Whigs and Radicals, and his mistakes both of tactics and temper. As constructed after severe struggles in Cabinet, the bill of 1867 made its principal point the borough vote for every householder who paid rates in person; as a basis more solidly lasting than any attempt to rest on some middle figure between £10 and household suffrage It would avoid the last extreme, for personal payment of rates would cut out the 'compound householders', whose rates were paid by their landlord, and who in some cities, as in Birmingham, were numbered by thousands. There were to be other checks against democracy additional votes for large taxpayers, holders in savings-banks or university graduates, besides a qualification of two years' residence.

Its final shape was changed because, in a House of many 'caves' and a minority government, the House itself took charge, and especially the Conservative members who represented large towns. Faced with

their view that a large simple solution was the safest, and forced by Gladstone's attack to grasp the knot of the 'compound householder', Disraeli persuaded Derby to stand on a household rating vote without financial limit On this matter Cranborne, Carnarvon, and General Peel resigned, a shock which the Cabinet could sustain since the party majority were for a decided measure. So the proposed safeguards of the 'fancy franchises' and plural voting were dropped, and the two years' residence was reduced to one, most of all, by an amendment making compounding for rates no bar to the franchise, the working-class vote was greatly increased.

The second Reform Act thus gave the borough vote to all rate-paying occupiers and to those occupying lodgings of £10 value, and in the counties to those occupying houses rated at £12. Its net effect was to add some 938,000 new voters, in fact almost to double the electorate, while 45 seats were redistributed by taking one member from each borough with a population below 10,000 Such was 'the leap in the dark' of which Derby spoke, or 'shooting Niagara', of which Carlyle and Bagehot wrote with resignation and doubt

A Reform bill involved a dissolution, but before it came both Derby and Russell had given up the lead of their parties. Gladstone's tactical sense, watching the sky for what he called a 'first streak of dawn', pitched on the Irish Church as a rallying-point, and perhaps the way to a majority, even in this Palmerstonian Parliament, and early in 1868 he carried resolutions which would end the union of the Irish State and Church. The ground was well taken, for it divided Conservative feeling, Disraeli himself inclining to the old Pitt scheme of 'levelling up', or endowing the Catholics instead of disendowing the Anglicans, but most Protestant feeling opposed him In any case the Conservative election cry of 'no Popery', and 'Church and State', failed to prevent the return of Gladstone with a strong majority of 112.

This, the first of his governments, lasting till 1874, must be reckoned his greatest. At fifty-nine his own powers were at their zenith; by including Bright, Hartington, and Lowe he united all sections of Liberalism, in Cardwell, Childers, and Goschen he had administrators of a very high order, with a legal statesman of the first rank in the first Lord Selborne, who became Chancellor in 1872 In the new Parliament, one-third of whom were elected for the first time, there were also Liberal recruits who later won fame, including Harcourt, Dilke, and Campbell-Bannerman.

Borne forward on his own portentous energy, their programme was massive and connected. It had, indeed, some sharp limitations, for its foreign policy was vague and its social outlook too set to impress democracy, but its spirit and performance were nineteenth-century Liberalism at its best, and worthy of a country which had high hopes and un-

challenged power. Much can fairly be said in criticism of Gladstone. The future was to show how blind he could be to some deep British sentiments, and how sometimes so obsessed with an immediate objective that he ignored justice. His way of thought was theological, of the old Oxford sort, clouding every conclusion with a qualification or nicety, and sometimes he took short-cuts that were indefensible. For, like other moralists, he was capable of confusing his own mighty voice with the still small voice of Divine command. When all, however, is said, his gifts of mind and character combined were perhaps the greatest in the annals of Parliament, uniting to magnificent oratory and financial genius the best qualities of a ruling class and the devoted sense of a fervent Christian. 'The Almighty seems to sustain and spare me', ran his diary on taking office, 'for some purpose of His own, deeply unworthy as I know myself to be.'

Within a year he passed two vital measures for Ireland, which all parties were agreed could not wait. Revived in America and assisted by experience in the American civil war, Irish racial feeling had shown its renewal in the revolutionary Fenian brotherhood; Fenians had raided Canada, in 1867 an effort to rescue Fenian prisoners at Manchester led to three executions, there were explosions in London, and in Australia an attempt to kill the Queen's second son. Gladstone had little difficulty in carrying his Irish Church Act, for many Conservatives thought that Church was impossible to defend; working closely with the Queen, archbishop Tait recognized that disestablishment was inevitable, and wisely concentrated on saving as much Church property as possible from disendowment. The final compromise in the Lords, against Derby's expiring effort in politics, — he died late in 1869 — was achieved by the resolution of Cairns, Disraeli's favourite lawyer. The Act of that year, repealing what the Act of Union had declared should be perpetual, disestablished the Anglican Church in Ireland, separated it from its English sister, and made it a voluntary society; yet one well endowed, even though it lost about half its revenues, some millions of which over the next decade went to assist education, poverty, and arrears of rent. Yet Disraeli's prediction is worth recording as to the distant result, — 'its tendency is to civil war.'

No Church question, however, could raise in Ireland the same passion as possession of the soil, and after intense study Gladstone came to much the same remedy as the Devon commission had recommended in 1845, which Disraeli's colleagues had prevented him adopting in 1852. This was to extend universally the customs which held good in Ulster, and occasionally elsewhere, that the tenant must be compensated both for his improvements and for disturbance of his tenure. That was the utmost he felt was attainable. We find him wrestling with his Irish secretary Fortescue, who would have gone further; with

Bright, who believed in buying out the landlords and making peasant proprietors, most of all, with Argyll, Lowe, and the typical British group, who would not strain the British notion of property His Land Act of 1870 took therefore a great stride, but did not go to fundamentals All tenants must be paid for their improvements, they would also receive compensation, if evicted for other reasons than non-payment of rent. As regards that vital matter, they would only be compensated — and the landlord restrained — if an increase of rent were proved to be 'exorbitant' Neither fair rent nor fixed tenure, therefore, were guaranteed

Two other measures which Gladstone designed for Ireland broke down, one on the Queen's resistance, for a royal residence in Ireland where the Prince of Wales might live, and another, for a mixed university, on objection from the Catholic bishops Neither could have touched the root of discontent, which was shown by a vicious circle of land riots and coercion acts, in 1870 a Home Rule association began operations, and the question was already searching Gladstone's conscience whether Ireland could ever be reconciled within the ambit of the Imperial Parliament

Meanwhile he had passed for Britain one most fundamental law, which bitterly divided his majority, the Education Act of 1870, not that in any sense it was principally his work, for he was absorbed in Ireland, and indeed not ardent on this matter except as it affected religion Since a State education service would have offended every ideal of the previous generation, the system had been one of grants, administered by a Privy Council committee, whose secretary, Kay Shuttleworth, had pushed strenuously along those lines, sending out inspectors, organizing pupil teachers, and dovetailing public grants with local contributions By 1860 the grant had risen from the £20,000 of 1833 to nearly £1 million, the committee was represented by a vice-president in Parliament, while the Newcastle commission of 1858 had recommended for large areas an elected board with power to levy rates. But they had not recommended compulsion, most children left school at eleven, and some two million did not attend school at all. The need then was sore, and it was Robert Lowe, bitter opponent of Disraeli's Reform bill but once vice-president of the Education committee, who cried 'educate your masters', so echoed all those who were impressed by the northern victory in America, and those who, like Matthew Arnold, one of the committee's inspectors, realized what education had done for Bismarck's Prussia Elementary education, universal and compulsory, non-sectarian and free, was the demand of Radical England, taking shape in 1869 in the National Education league organized by a young Birmingham manufacturer, Joseph Chamberlain.

Gladstone's education minister, William Forster, an admirably

courageous man of Quaker stock, produced an Act radical in its long-range effect, but in Radical eyes intensely conservative. It was not national, because it aimed first at merely supplementing an existing system; Church schools would continue, if they had the financial resources to keep up the standard, the gaps would be filled by new schools, maintained by elected boards with power to levy a rate It was not compulsory, except in so far as a board 'might' compel attendance. It was not free, for parents who could afford it would pay fees It was not secular, for religion was to be taught in all schools, subject to a conscience clause In short, its policy was to get schools built, maintained, and filled by the easiest means, and the easiest parliamentary avenue.

This roused a storm, so that the Act was only carried by Conservative votes saving Gladstone from his Radical Nonconformists, who felt that, in single-school areas especially, they would be taxed for religious instruction of which they disapproved In the end an amendment moved by Cowper-Temple forbade teaching of the catechism, or any denominational dogma, in a rate-aided school, on the other hand, the State grants to Church schools were doubled. Radical anger was long-lived and unforgiving, their candidates attacked government at bye-elections, and in the end helped to bring it down. Yet, after all, rate aid and local control, with the possibilities of compulsion and of remitting school fees, contained in themselves the future, while in time other ways could be found of harmonizing the Church and Dissent

This ministry did a good deal more of value for an educated people Their endowed schools Act of 1869 made a beginning, though not much more, in making good one of the worst shortcomings in secondary education, by creating commissioners to overhaul the grammar schools and endowments lavished by benefactors of old In 1871 religious tests were swept away at the universities, except for degrees in theology and a few professorships, and a commission appointed to examine their finances In 1870 steps were taken to complete the reform which, since 1855, the civil service commission had partially applied, and which Russell and the Queen much disliked, subject to approval by heads of departments, which in fact left the Foreign Office the solitary exception, all posts were thrown open to competitive examination

Two other administrative measures cut deep into history. Our courts of law were in the dead hand of the past Their jurisdictions clashed, they used different procedures, they terminated in different courts of appeal, equity and common law were rival systems Since Benthamite influence had become supreme, one commission after another had nibbled at reform, but only the Judicature Act of 1873, mainly Selborne's work and coincident with the building of the new Law Courts, revolutionized the whole. By this, and as amended in 1876, the venerable courts of Chancery, King's Bench, Common Pleas, Exchequer, and

Admiralty, and the court of probate and divorce, were united to form one Supreme Court, divided into a high court and a court of appeal, distinctions between rules of common law and rules of equity, and of procedure, disappeared, and the age of Bardell *v.* Pickwick, or Jarndyce *v.* Jarndyce thus ended Contrary to Selborne's intention, the House of Lords was retained as the final appeal court for Great Britain.

With that exception this had been an agreed settlement, but not so the forceful measures touching the army, in charge of Cardwell, one of Peel's most capable disciples. Until his day nothing systematic had been done, despite the Crimea, but Sadowa and the Franco-Prussian war roused Parliament to act. Political excitement was concentrated on what was only an important detail, the abolition in 1871 of purchase by officers of commissions and steps in rank, an abuse which Wellington had always championed, and was still defended by the Whig lords Russell and Grey as meaning a non-professional officer class, in whose hands liberty would be safe. Yet plainly it stopped promotion by merit and must strangle any reorganization; had not Lord Cardigan, of the Light Brigade, bought the successive command of two regiments of hussars? Against determined resistance from senior officers, and only supported by a few younger soldiers like the future Wolseley and Cromer, Cardwell drove abolition of purchase through the Commons; when it was obstructed in the Lords, Gladstone forced them to agree by persuading the Queen to cancel the royal warrant of George III that legalized purchase, and to declare it abolished

Much more fundamental was the programme which Cardwell doggedly carried all through the years 1868–73. The prime lesson both of the Crimea and of Prussia's triumph was the necessity for a trained reserve, which must depend upon a short-service Army. He therefore introduced enlistment for six years with the colours, followed by six in the reserve, further improving the reservoir of man-power by bringing home 20,000 men from the Colonies, he assisted recruiting by stopping flogging in time of peace. His second vital measure was to develop recruiting-grounds, and to connect the regular Army with the Militia, by making it territorial; assigning to each historic, numbered, infantry regiment a local depot and a county name. Each regiment would have two linked battalions, one of which would be on foreign service, and would be associated with its county militia and volunteers His third endeavour touched the higher command. An Order in Council at last definitely subordinated the commander-in-chief to the Secretary of State and brought him under the roof of the War Office; beyond this, reorganization of the staff could hardly go, for the Duke of Cambridge, commander-in-chief down to 1895, was a royal and obstinate prince Over and above these came the rearming of the infantry with the Martini-Henry breach-loading rifle, an increased artillery, and

twenty-five more battalions on the home strength, — all without increasing the estimates.

If this brought some strains with the Court and the upper class, the Licensing Act of 1872 made the government highly unpopular with some sections of democracy, as well as with the brewing and drink interests; some severe clauses as to closing hours and a police right of entry being attacked as un-English restrictions on liberty But by that time its general unpopularity was obvious. Having offended the Churches by its Irish legislation, it had roused an angry Radical temper over education Its Act of 1871 failed to satisfy the trade-unions' grievance against the uncertainties in which they were left by the law of 1825 and judges' interpretation, which taken together left their strike action and picketing open to the older view of conspiracy Indeed, in many ways their social policy proved the near horizon of Gladstonian liberalism Though the Local Government Board was created in 1871, it was dominated by the poor-law department with its austere tradition against extravagance. Nothing was done for housing or health, Goschen's plan to replace the magistrates by elected county authorities was dropped While Chamberlain, as mayor of Birmingham, was pushing on a series of municipal controls over water, light, and open spaces, and while Joseph Arch of Warwickshire was helping to advance the agricultural labourers' wretched wage by union action, Gladstone's letters refer to such Radicalism with distaste, Bright's health had broken, and with it the Cabinet's strongest bond with its Left wing. Social advance meant expenditure, which all Gladstone's standards resisted, the last budget of his government, at £77 millions, was not higher than that of 1868, while income-tax had been reduced to 3d. For the first Liberal principle, as Gladstone saw it, was to enfranchise individual energy, as politically he did, for instance, by the Act of 1872 which at last conceded vote by ballot.

Beyond these various interests, thus disturbed or affronted, national sentiment was jarred by the government's record in foreign affairs To offer armed mediation, even if other Powers had co-operated, in the Franco-Prussian war must have been doubtfully wise, for we had no adequate army to send abroad, and British action was confined to persuading both rivals to recognize the neutrality of Belgium. Yet the man in the street felt that a violent change had been made in the balance of power at our expense, and perhaps by our inaction, an impression which was deepened when Russia repudiated that clause of the 1856 treaty barring her naval forces from the Black Sea Then came the long-pressed American claims over reparation for harm done by the *Alabama*, an extension of such claims to cover the whole prolongation of their civil war, and the international arbitration of 1872 which condemned Britain to pay £5 millions in damages

Before that date we find Gladstone dispirited by failure and faction, as well as by the increasing coolness of the Queen; he tried vainly to break down her objection to bringing the Prince of Wales forward in business, and to overcome the shrinking which made her demand more time at Balmoral or Osborne; which in turn contributed to some academic advocacy of a republic by Radicals, like Chamberlain and Dilke In 1873, making an effort to escape, he offered his resignation, but since Disraeli would neither take office in the present Parliament nor rule with a minority until a dissolution, he returned again Bitter dissension between Radicalism and individualist Whigs of Harcourt's type, his party's lack of agreement over Ireland and local government, the land and education, departmental scandals, and continuous loss of bye-elections, led him to think that he could only reunite Liberalism in his own field of finance Taking over the Exchequer himself, he proposed to abolish income-tax entirely and lower the sugar duties, but he could not get his Service ministers, Goschen and Cardwell, to accept the economies that this scheme would require, and early in 1874 dissolved Parliament.

Disraeli meanwhile, having defeated some cabals against his leadership, had reorganized his party machine by setting up a central office and democratic local associations His speeches show his belief that democracy could be rallied to Conservative causes, to the throne as 'the security for every man's rights', to a national profession of religion, since 'the traditions of a nation are part of its existence'; social reform, he had always taught, was the purpose of all political mechanics, 'the first consideration of a minister should be the health of the people' He looked, in an age of international revolution, to the strength of 'an Imperial country', arguing that we should have accompanied our grant of colonial self-government by measures for an Imperial tariff, defence, and councils

From whatever causes, the electors of 1874 returned 350 Conservatives against 245 Liberals, though in Ireland the 46 Conservatives and Liberals combined were outnumbered by 57 Home Rulers. Within a few months Gladstone resigned to Hartington the Liberal leadership, declaring that he could not unite its different sections, and that he craved some interval 'between parliament and the grave'.

CONTEMPORARY DATES

1860 Cavour in Central Italy, Garibaldi in Sicily and Naples
Lincoln elected President of the United States
Burning of the Summer Palace, Pekin
Tolstoi, *War and Peace*

Ruskin, *Unto this Last*

1861 Outbreak of American Civil War.
Death of Cavour
–1888 Reign of William I in Prussia.

1862 Battle of Aspromonte.
Lincoln declares the slaves free.
Bismarck premier in Prussia

1863 Battles of Vicksburg and Gettysburg.
General Gordon in China
Lassalle makes workers' associations in Germany

1864 War over Schleswig-Holstein.
Sherman marches through Georgia
The Geneva Convention for the wounded
Newman's *Apologia*

1865 Lincoln murdered surrender of General Lee
Clerk Maxwell, *Treatise on Electricity*
Manning becomes archbishop of Westminster
Booth creates the Salvation Army

1866 Prussian victory over Austria at Sadowa
Venetia incorporated in Italy
Dostoievsky, *Crime and Punishment*
Swinburne, *Poems and Ballads*, I

1867 Dual constitution arranged for Austria-Hungary
Execution of the Emperor Maximilian in Mexico.
Siemens' process for steel
Karl Marx, *Capital*
Bagehot, *The English Constitution*

1868 Grant elected President of the United States
The Shogunate abolished in Japan.
Wagner, *Meistersinger*
Browning, *The Ring and the Book.*

1869 Opening of the Suez Canal
Foundation of Girton College, Cambridge

1870 Franco-Prussian war
The Vatican Council defines infallibility
Death of Dickens and Dumas

1871 The Commune at Paris
Kulturkamf in Germany
George Eliot, *Middlemarch*
Manet and other Impressionists exhibit at Paris.

1872 Herbert Spencer, *Sociology*
Death of Gautier and Mazzini

1873 Macmahon President in France
Republican rising under Castelar in Spain
Brahms, *Requiem*
Death of Mill, Livingstone, and Napoleon III

1874 Russia enforces conscription
Green, *Short History of England*

CHAPTER V

DISRAELI, 1874–1880

TWO facts beyond his control from the first weakened the Disraelian ministry He achieved power too late, for this year he reached the age of seventy, while his health so rapidly gave way that in 1876 he was forced to retire to the Lords as Earl of Beaconsfield. Again, his taking of office coincided with the beginning of a great economic depression. First it was the turn of commerce with heavy price-falls and deepening unemployment, then followed, after four wet summers, what was more ruinous and permanent, a slump in British agriculture with farmers going bankrupt and wages tumbling, so that the 1881 census showed how in ten years 100,000 labourers had left the soil Against these strains must be set one great advantage that, much unlike Gladstone, he could count on the fervent support of the Queen. Left most lonely by his wife's death he found in serving a woman sovereign, who was as lonely as himself, scope for all he declared that he lived for, — power and affections On the great themes with which he had to deal of war and empire, they thought alike, he lavishly flattered her royal dignity, humoured or wore down her tantrums, and showed himself genuinely sympathetic to the woman's pain And he used her influence without scruple to direct his Cabinet in the way that he intended them to go.

His quarter of a century in drilling his party in the wilderness, his courage, diplomatic craft, and magnanimity had their reward in the formation of a Cabinet very strong in statesmen and administrators; in the Commons, Northcote, Gathorne Hardy, Cross, W. H Smith, and Hicks Beach, in the Lords, Cairns and Derby, and two of those who had left him in 1867, Salisbury and Carnarvon. He was large and wise enough to see in Salisbury, originally so hostile to him, the man of the future, and to make of him his central column His skill in handling this team was immediately shown over what was in itself comparatively unimportant, the Public Worship Act of 1874, for which the bishops asked, to curb ritualism, which was disliked by Salisbury and all high churchmen, fiercely resisted by Gladstone but pressed on by the Queen, whose Protestant prejudice was so strong that she preferred preachers in her chapels to wear a black gown.

In domestic history the government's most decisive work was that social legislation on which from his first days Disraeli had insisted as a

Conservative party's function, and the condition of its survival; here the direct agent was the Home Secretary, the Lancashire banker Richard Cross. Disraeli told the Queen that the most important social laws of her reign were the two Labour Acts of 1875, which only his support enabled Cross to carry in Cabinet; one putting master and man on an equal level as regards breaches of contract, the other sweeping away the older view of conspiracy, allowing peaceful picketing, and permitting trade unions to do whatever would not be criminal if done by an individual The 56-hour week was fixed in a consolidating Factory Act; much the same was done for health by the Public Health Act of 1875, the basis of all our modern legislation, which created a sanitary authority in every area Housing was first seriously tackled by the State in the artisan's dwellings Acts, which gave local authorities power to pull down slums and which, for instance, enabled Chamberlain to do his work at Birmingham. Stirred up in the first instance by the angry humanity of the Radical Samuel Plimsoll, the merchant shipping Act of 1876 attempted regulation of the overloaded, over-insured, 'coffin ships' which endangered seamen's lives An agricultural holdings Act to give tenants compensation for their improvements, a friendly societies Act, a food and drugs Act to stop adulteration, these also were useful first steps. If we add Northcote's new Sinking Fund, by means of which £150 millions of debt were discharged before the century ended; the education Act of 1876, which much advanced compulsory and free education, or the gradual creation of six new bishoprics (St Albans, Truro, Liverpool, Newcastle, Wakefield, and Southwell), it will be seen that this was an active, reforming ministry.

In Disraeli's vision the Crown was to be the warming fire round which would unite the peoples for whose happiness government must toil. For India above all he had, as far back as the Mutiny, thought this all-important, and in India he, first perhaps of British ministers, discerned a mighty lever to raise our position among the nations. Hence, after a visit of the Prince of Wales, came the royal titles bill of 1876, styling the Queen 'Empress of India', which was much opposed as flummery by Gladstone and the Radicals. But then Gladstone also resisted Disraeli's purchase of the Khedive of Egypt's shares in the Suez Canal in 1875 They had been offered to Gladstone's government and rejected, and would have been turned down now but for Disraeli's insistence; who for £4 millions acquired rights which would allow us to lower the Canal tolls on our shipping and assure us a stronghold on another route to the East The purchase money was advanced by the Rothschilds in advance of parliamentary sanction

Part of his success here had come through being on good terms with France, and this because his government had made a stand against Bismarck. The calculation, the enormous diplomatic skill of the iron

Chancellor, dominated Europe in this generation as in the next. Always dreading a French revenge, he had brought about an understanding between the three military empires of Germany, Austria, and Russia and in 1875, it seems, contemplated another war rather than see France rise again Unwillingness in Russia and protests from Great Britain assisted to check this continuing rule of the sword But it was the Eastern question which enabled Disraeli, as it had Canning, to divide the three Emperors' league.

If the Crimean war had arrested Russian supremacy in the Balkans, in another objective the treaty of Paris had altogether failed, for Turkey never reformed, as she had pledged, her way of ruling her Christian subjects In 1875 the chronic rebelliousness of Bosnia and Herzegovina boiled over, in April 1876 the Bulgars revolted and there followed the atrocities, in which some 12,000 were massacred by Turkish irregulars This was not yet known in England when the British government declined to accept the Eastern powers' scheme, known as the Berlin memorandum, when fully divulged in July, at which time Serbia and Montenegro also rose in arms, Gladstone came out of retirement with a pamphlet which called for expulsion of the Turks, 'bag and baggage', from the provinces they had desolated Two years followed which divided British parties, shook the Cabinet, and brought Europe to the edge of a great war

Foreign affairs were nominally in the hands of Derby Always a more democratic Tory than his father, the former Prime Minister, he had been asked before this to enter a Whig government and was destined to join Gladstone's after 1880 In feeling he was strongly pacifist, and as his stepson Salisbury wrote of him as 'irresolute' and 'dawdling', control of policy passed to others Disraeli brought the Cabinet to reject the Berlin memorandum, mainly because it asked us to accept point-blank a scheme arranged by other Powers, and was so far justified that Russia and Austria were found to be discussing a partition of Turkish provinces; he cared for the integrity of Turkey because its disintegration might mean Russia at Constantinople. He argued throughout that a firm tone would have prevented the Crimean war, and that the doctrine of peace at any price had 'occasioned more wars than the most ruthless conquerors' There was a wide gap, surely, between this belief and the Queen's hysterical claim that war should be declared against the 'barbarians' of Russia, or her orders for a letter to be read in Cabinet protesting we were becoming a third-rate power and even breathing her abdication

In fact, however, the British attitude was fortunately determined by neither of these, but rather by the middle section of the Cabinet, notably Salisbury and the Opposition leaders Hartington and Granville, who did not care about Gladstone's crusade Salisbury was as ardent as

Gladstone to protect the Turkish Christians, but without Gladstone's ardour to join hands with Russia against the Turk, and this moderation prevailed in the Constantinople conference of January 1877, to which he went as our representative. This meant that we had brought the question on to a European plane, and asked of Turkey concessions of self-government and territorial gain for her Christian provinces. When the Turks unwisely evaded these terms and Russia declared war in April, we kept our neutrality, but with a warning that we should not stand aside if Constantinople and the Straits, or Egypt and the Canal, were put in danger.

The British feeling of Christian humanity, which brought the Nonconformist north, churchmen, and the greatest men of letters round Gladstone, was counterbalanced, as 1877 wore away, by the gallant Turkish stand at Plevna and the sweeping Russian advance over the Balkans after Plevna fell, until in January 1878 their armies stood at the gates of Constantinople. A British fleet moved up to the Bosphorus; in March Russia imposed on Turkey the peace of San Stefano, which would not only demand a huge indemnity, with the concession to Russia of the keys of Armenia and Bessarabia, but would create a large Bulgaria stretching from the Black Sea almost to Salonica, to be garrisoned for some years by Russian troops, which would command Constantinople and strangle Greece. To stop this lop-sided tyranny and to convince Austria that we meant business, the Cabinet called up army reserves, summoned Indian troops to Malta, and decided to occupy Cyprus to offset the new Russian vantage-points in Asia. These steps brought about the resignation of Derby and Carnarvon.

Salisbury, taking over the Foreign Office, issued a masterful note which, while admitting the necessity of change, appealed to the principle that treaty changes must be made by European concert, and demanded that the San Stefano scheme should be recast He spoke to the converted Not merely was Russia exhausted by war; Austria, assured that we should not object to her control of Bosnia, was alarmed at the Russian triumph, Bismarck's preoccupation was to prevent a war between his two allies and he had always been ready to save the peace by partitioning Turkey, encouraging us moreover to occupy Egypt. Fortified by a secret agreement with Turkey over our acquisition of Cyprus and by Russia's secret acceptance of our broad principles, in June 1878 Beaconsfield and Salisbury went to complete their work at the Congress of Berlin.

The treaty signed there was a heavy diplomatic set-back for Russia. Serbia and Montenegro became independent but were reduced in extent from the San Stefano terms, and were both threatened by the right given to Austria to hold Bosnia and Herzegovina and

to garrison the Sanjak of Novibazar. Bulgaria had to restore Macedonia to the Turk, while the part of it south of the Balkans, to be styled Eastern Rumelia, was to be self-governing but under Turkish sovereignty. If Russia obtained Bessarabia from the Roumanians and Kars in Asia, she promised not to fortify the port of Batum. Great Britain received the right to occupy Cyprus, promising furthermore to guarantee the Turks' Asiatic territories, the Turks in return pledging themselves to reforms

This was the settlement for which Beaconsfield claimed 'peace with honour', and peace between the great Powers did, indeed, endure for thirty-six years to come Nor was the cause of reform in Turkey fairly tested, since the next Gladstone government withdrew the British military officers on whom Salisbury relied. Against the harsh subjection of the Serbs to Austria, racial conflict in Macedonia, and the disappointment of the Greeks, must be set the fact that Constantinople and the Straits were preserved in freedom and a chance of development given to several peoples. As to Gladstone's passionate criticism that Beaconsfield had looked solely to British interests, not the moral law, it was inspired by a belief that Christian civilization would benefit by giving full liberty to all the Balkan States. Whether he was justified in that, future history was to judge.

While its whole attention was being given to the Eastern question, agricultural depression clouded the country, and two other questions embarrassed it of which the full development was yet to come. After ruining his country by maladministration, the Khedive Ismail of Egypt was deposed in 1878 under pressure from France and Britain, who jointly took over control of the finances; the same year Parnell succeeded to the lead of the Irish Parliamentary party and a revolutionary movement of the Land League opened a new chapter of civil war. Meantime, many thousand miles away, in another old volume of empire a new page was turned. Since Dost Mahommed's return after our disasters of 1839–40, and through his shrewd balancings during the Mutiny, our relations with Afghanistan had remained peaceful; in the anarchy which came of the twelve sons left at his death, we recognized Shere Ali, the one amongst them who finally in 1869 made himself Amir. But the question of the Indian frontier had reached a determining phase. To expect stability from Afghanistan was out of the question: ruled only by the sword, dogged on its frontiers by exiled princes of its royal house, defied by wild tribesmen and half-independent nobles like the Khan of Khelat There was, again, its old feud with Persia, and for us to pronounce between them, as for example in regard to the fortress of Herat, must antagonize one or the other. But what had done most to transform this central Asiatic problem was the advance of Russia's armies over the thousand miles separating the

Caspian from the Indian frontier One after another between 1868 and 1875 the keys of Turkestan fell into their hands, — Samarkand, Bokhara, Khiva and Khokand — and though Russia admitted Afghanistan lay outside her sphere, the effect on Afghan-Indian relations was immediate. It brought to a head an old controversy between two schools of Indian administrators, the one represented by John Lawrence who would leave things alone, and a ' forward ' school who thought that the frontier and Afghanistan must somehow be brought under more control.

Shere Ali's repeated request for a binding agreement to protect him was, against the advice of the Indian government, rejected by the Gladstone Cabinet, and British policy throughout seems open to this criticism, that it expected the Amir to maintain a friendly neutrality without offering him any adequate compensation When Lytton was sent by Disraeli as Viceroy in 1876, the Turkish dispute with Russia being in full swing, he was instructed to make the frontier more secure, and to pierce the curtain concealing what was going on in Asia by insisting that a British agent should be resident in Afghanistan But though there was a military school in India who believed that war must come, and had better come soon, this was not the attitude of the Cabinet Nothing could be more damaging either before or after the Congress of Berlin than a war in Asia, Salisbury, first as Secretary for India and then for Foreign Affairs, was sceptical of the Russian danger and begged the country to use ' large maps ' One part of Lytton's task was speedily accomplished by a treaty with Khelat, Baluchistan was brought under our protection, and British troops occupied the invaluable post of Quetta, commanding the roads to Kandahar But, in negotiating for a British resident, Lytton's threatening tone created the very atmosphere which Salisbury had hoped to avoid In 1878 a Russian mission was received at Kabul, which inevitably decided the Cabinet that a British mission must be admitted too Even so, with the exception of Gathorne Hardy, now Lord Cranbrook and Indian Secretary, they thought Lytton precipitate and were only forced into war by a point of prestige, when the mission he insisted on sending through the Khyber Pass was refused entry

The first campaign of 1879 was a brilliant success, three columns, operating by the Khyber, the Kurram, and Quetta, pierced Afghanistan, Shere Ali fled to Turkestan and died, vainly asking Russian aid. A treaty with his successor made over to Britain the control of Afghan foreign affairs and supremacy in the Khyber, and by ceding Kurram, Sibi, and Pishin, gave us two alternative frontier bastions In September, however, the massacre of Cavagnari, our resident at Kabul, and his following threw all again into confusion. General Roberts advanced to Kabul and Donald Stewart to Kandahar; but Afghanistan was without an Amir and Lytton had a wild idea of breaking it up into petty

States. In 1880 a British force was wiped out at Maiwand, and only a wonderful march by Roberts' army saved Kandahar. Two simultaneous events restored the situation, the advent of the Gladstone government, and the emergence from exile of an Afghan prince of ruthless ability, Abdur Rahman. The agreement between them of 1880 to this extent vindicated the forward policy, which Gladstonians had so furiously attacked that it pledged the Amir to follow British advice in his foreign relations, promising him in return our protection and a larger subsidy.

Unhappily for the Beaconsfield government the costly campaigns and reverses in Afghanistan overlapped disastrous years in South Africa. Though the full story must wait for a more decisive stage, enough to say that the two continual factors remained what they had been since the '30's, — Great Britain's refusal to take the position of a paramount Power and the disintegration of native society Here also we meet, as over Afghanistan, two damaging elements in our conduct of Imperial affairs: a dangerous departmentalism in the Cabinet, and action by men on the spot committing the Imperial government.

Since the conventions of the 1850's, by which Britain abdicated control in the Boer republics, it had become clear that Cape Colony and Natal, as they stood, could never feel secure It was not merely that they were separated by immense territories, part-annexed to the Crown after Kaffir wars and part-held by swarming tribes, and not only that our native administration veered between segregating natives in reserves, or downright amalgamation, or making a chequer-board of black and white The Boers' trek had not made a clear break, but had left a wound or contagion Boer families both in the Cape and Natal, religious bonds of the Dutch reformed Church, the dependence of the interior on the commerce of the coast Colonies, all these ran across frontiers, above all, there was the universal colonial view as to white men's relations with the natives There was, indeed, a great difference between the policy of the Natal administrator Shepstone, with ambitious schemes for control by an enlarged Natal, and the crude view of the average backveldt Boer, who would simply make the natives hewers of wood and forcibly apprentice their children But both were united by a common fear.

Already one governor of the Cape, the stalwart George Grey who had federated New Zealand, had insisted on attempting union with the Orange Free State, and was recalled in 1859 for doing so. Since then every year made it more certain that closer union of some sort would come, the one doubt being whether it would be British- or Boer-inspired One school in the Transvaal planned union with the other Boer State, with an exit eastwards at Delagoa Bay. Transvaal society was anarchic, lawless, and oppressive to the natives, it was made

worse in the '60's by the discovery of gold and diamonds, Boer pressure turned westwards on to the Griquas, with whom we had old treaties, and threatened to close the road to the far north. Missionary influence, and Livingstone's, thereupon asked for Imperial action to safeguard the natives. Meanwhile, Boer relations with Basutoland, which touched every South African State, brought about repeated wars, and in 1869 the Cape governor Woodhouse fixed the frontiers and took Basutoland for the Crown. Despite its protestations of standing aside, the Imperial government also intervened to stop chaos in the diamond-fields, overruled the Boer claims, and in 1871 annexed Griqualand West In fact, like many leading men of Afrikans race at the Cape, such as De Villiers or Hofmeyr, the Colonial Office had come round to accept some form of union. But the home government chiefly desired it in order to lighten their own burden, as they showed by cutting down Imperial garrisons and by forcing representative government on a much-divided Cape Parliament.

There was another swelling danger, the Zulu power, which threatened eastern Natal on the Tugela river and northwards constantly clashed with the Transvaal. Succeeding to the milder Panda, Cetewayo 'washed the spears' of his fighting-men in the blood of weaker tribes, but with each British annexation he felt himself more hemmed in, and resented our frontier awards between him and the Boers.

This was the African background when Disraeli gave the Colonial Office to Carnarvon, who in the last Conservative government had completed the federation of Canada It was Carnarvon's misfortune always to be skirmishing ahead of opinion, and to precipitate a crisis by putting himself in the hands of men on the spot For federation there was, indeed, much to be said, — to solve the native question, control of railways, and the whole economic life of South Africa, — but nothing for Carnarvon's way of bringing it about. The speeches of his agent the historian Froude, the adjournment of the conference at Capetown, and its reopening in London, showed that he meant to drive on the question from outside, and the measures he finally took in 1877 were hasty and ill-connected. For while he sent out an eminent Indian administrator, Bartle Frere, as High Commissioner for the express purpose of bringing about a 'South African dominion', unknown to Frere he also despatched Shepstone with orders to discuss federation with the Transvaal and, if he judged fit, to annex it

Boer opinion was much divided, but prompt guarantees for their self-government were needed to overcome the sturdy opposition led by Paul Kruger, which appealed to the Imperial government against this blow to their independence Such guarantees were not forthcoming, and annexation helped to destroy any chance Frere ever had of achieving an agreed federation. He turned therefore to his other

immediate purpose, of averting the danger of a native war. All through 1877 and 1878 he was busied suppressing risings on many frontiers, in the course of which he acquired a conviction that the root of disturbance was the Zulu Cetewayo. Beaconsfield, and Carnarvon's successor at the Colonial Office, Hicks Beach, distrusted his policy and, in unwillingly sending him reinforcements of British troops, instructed him they must be used only for defensive purposes He disregarded them and, on his own responsibility, in December 1878 issued an ultimation which must almost certainly mean war, demanding the disarmament of the Zulu army and the admission of a British resident. On 22nd January 1879, the incompetence of our commander, Chelmsford, led to the annihilation of a British force at Isandhlwana, only the defence of Rorke's Drift by a bare company of the South Wales Borderers redeemed that dreadful day In due course Chelmsford's victory at Ulundi in July, Wolseley's arrival, and the capture of Cetewayo ended the Zulu problem, but too late for the Beaconsfield government. For the year which began with one massacre at Isandhlwana ended with another at Kabul, and we entered upon 1880 beset by these two inglorious wars.

These, coming on the top of Bulgarian atrocities and Cyprus, made the theme of Gladstone's campaign of speeches in Midlothian that winter, binding together Bulgars and Afghans and Boers and Zulus as the victims of Tory reaction, and by the spell of his oratory convincing millions that in this contest was concerned the whole welfare of mankind With this moral weight the pendulum swung hard over, its speed was assisted by economic depression, crime in Ireland, and obstruction by Parnell's group in the Commons; it was carefully watched and accelerated by the much superior organization of the National Liberal Federation, which Chamberlain inspired from Birmingham When in March 1880 Beaconsfield took the dissolution, making his appeal especially on the danger from the 'destructive doctrine' of Home Rule, the electors returned the Liberal party with a clear majority of 100 over the Conservatives, though 60 Home Rulers were returned from Ireland. Hoping against hope that this 'shamefully heterogeneous union' of Whigs, Radicals, and Irish would collapse, the Queen in vain asked both Hartington and Granville to form a government. On their advice she was compelled to summon Gladstone, the clear choice of the electorate

Disraeli, to give him his lasting name, lived only until April 1881 His last government had come too late for his physical powers, and what he had done, or rather what he had foreseen, was to be better justified in the quarter-century that followed his death. 'Above all things', Salisbury said, 'he wished to see England united and powerful and great'; to that end, his insight had lighted on the deep feelings

and real forces which could prolong Conservatism in a democratic State

CONTEMPORARY DATES

1875 Constitutional revision in France
Tisza becomes premier in Hungary
Revolt in Bosnia
1876 Abdul Hamid II reigns in Turkey, till 1908
Graham Bell invents a telephone
1877 The Russians take Plevna and Kars
Diaz becomes President in Mexico
1878 Congress of Berlin
Leo XIII becomes Pope (–1903)
Ellen Terry acts with Irving
1879 Death of the Prince Imperial
Austro-German alliance
Henry George, *Progress and Poverty*
Treitschke, *History of Germany*
Ibsen, *A Doll's House*
1880 Abdur Rahman becomes Amir of Afghanistan
Death of Flaubert and George Eliot.

CHAPTER VI

THE EMPIRE, 1850–1880

ONE of those forces had been the conception of Empire, which so much changed its form and character that, well before Bright and Gladstone disappeared, it was certain that the British world would develop on lines very different from those they approved. Indeed, here in a sense began a dilemma within which the British peoples still move, how far Liberalism and democracy could cope with the necessities of Empire

As yet, the ruling class were dead-set against Imperial expansion. How unwillingly they allowed annexation in South Africa, or how they frowned upon ventures beyond the Indian frontier, has been seen, in the same spirit they made over the Ionian Islands to Greece in 1864, resisted Australian pressure for the annexation of New Guinea, and rejected a golden chance of taking Zanzibar Nevertheless, these thirty years saw and clinched some notable additions to British territory

Of these the most important result was a deepening of the Oriental character of Empire, shifting its strategic centre to Egypt, Capetown, and Colombo. The matter of Egypt, and with it went the annexation of Cyprus, did not rise to its height till later, but long frictions and the opening of the Suez Canal had wide effects before Egypt itself was contested, as for instance in the occupation of Perim in 1857, in order to offset France and control the waters this side of Aden. The full development of British India, completed by the wars of the '40's with the Sikhs and Sind, fear of Russia, and the end of the Company's monopoly, all conduced to further extension, for the nature of Oriental States made security for trade and defence impossible without annexation. Of this one instance was the war into which Dalhousie was forced in 1852 by the barbarian arrogance of Burma, bringing about the capture of the Pegu province which covered the eastern bay of Bengal. On the other side of India, Outram's expedition of 1856 to the Gulf, provoked by a Persian threat to Afghanistan, illustrated the fact that the ruler of Bombay and the Punjab was necessarily concerned with the whole Moslem world, thus the family ruling at Muscat in the Gulf ruled also at Zanzibar, and the commerce of Persia and Arabia flowed to and from the Arabs settled in East Africa

Furthermore, long before we colonized Australasia, the East India Company had made us a Pacific Power, for its China trade and the wild

piracy in Chinese waters made urgent a safe route and good harbourage, while its ancient rivalry with the Dutch was redoubled when, in the revolutionary days, Holland became a French satellite. Out of that rivalry came our acquisition of Penang (1786) and Malacca (1824) in the Malay peninsula, and the astonishing career of Stamford Raffles who, after ruling Java till it was handed back to Holland at the peace, induced the Company in 1819 to occupy the empty island of Singapore He had died in his forties, but his prediction that here was the Malta of the East was fulfilled; assuring us of free trade in the Eastern archipelago and free passage through the straits of Malacca, Singapore grew from a squalid fishing-port to a city of a hundred thousand people before Company rule ended. In 1867 it made the nucleus of a new Crown Colony, the Straits Settlements, and from the '70's the independent Malay States sought British protection

Another footing deeper in the Pacific had been planted by another individual Englishman, James Brooke, once an officer of the Company's army. Sailing for Borneo in a 140-ton schooner, between 1839-42, with no arms but his character, he established himself with the local Sultan's good will as ruler of Sarawak, at the island's north-western corner. And there, after long struggles against head-hunters and pirates, he founded an independent hereditary State. But further into the seas separating Singapore from Australia the British government would not go, leaving the French to annex Tahiti and New Caledonia, and it was not till 1874 that, to stop exploitation of native labour for Queensland's tropical plantations, they finally agreed to take over Fiji.

While trade to India and China thus drew us into the Pacific, occupation of the Cape as a stopping-place for India first made us a Power in Africa, though a set of causes unconnected originally with the Cape were laying wider foundations For there, as once before in India, our traders found themselves plunged in a debris of dying empires, shadowy States, and barbaric warfare, an ancient, demoralized Portuguese dominion on both coasts, fractions of every European race, sheer savagery in native States like Ashanti, Arab and negroid tyrannies scattered by history from the Sahara to Somaliland, and a vast interior of which Europe knew little save that it was given over to man-hunting, disease, and war.

In this anarchy the earliest British point lay in the chain of factories on the west in the Gambia river and the Gold Coast, which had come down from the Stuarts and their African companies, but the day of those monopolies was done, the last inefficient company being dissolved by Parliament in 1821. Many times over there was talk of evacuation, but Britain was kept on that coast through two principal causes: the obstinate resolution of British traders, and a settled national

FRANCE
ITALY
Black Sea
Caspian Sea
TURKEY
PERSIA
ALGERIA 1830
TUNISIA
1881
Cyprus
Malta
Oran
Algiers
Bona
Tripoli
Benghazi
Alexandria
P. Said
Suez
Cairo
TRIPOLI 1912
EGYPT
Ain Salah
Ahaggar
Persian Gulf
Red Sea
Wadi Halfa
Mecca
ARABIA
Tibesti
Dongola
Berber
Suakin
ANGLO-EGYPTIAN SUDAN 1899
Omdurman
Khartoum
Kordofan
Kassala
Asmara
Massawa
ERITREA 1890
Adua
Aden
Socotra
Jibuti 1862
FR SOMALILD
Berbera
BRIT SOMALILD
Harar
Addis Ababa
ABYSSINIA
Fashoda
Darfur
L. Chad
Shari
Bornu
Kano
Sokoto
Air
Niger
DAHOMEY
TOGO
NIGERIA 1914
Adamawa
Lagos 1861
Accra
GOLD COAST
Calabar
KAMERUN 1884
Duala
Fernando Po (Span)
RIO MUNI
Principe (Port)
St Thomas (Port)
Annobon I
Libreville
Gabon
FRENCH EQUATORIAL AFRICA
Congo
Stanleyville
BELGIAN CONGO 1908
Kindu
Kasai
Leopoldville
Cabinda
Boma
Kwango
Kongolo
L. Tanganyika
UGANDA 1890
BRITISH EAST AFRICA 1895
L. Victoria
Nairobi
ITALIAN SOMALILD 1889
Juba
Webi
Mogadishu
GERMAN EAST AFRICA 1890
Ujiji
Tabora
Mombasa
Pemba I.
Zanzibar 1890
Dar es Salaam
Loanda 1576
Benguela 1617
ANGOLA
Katanga
Rovuma
NYASALAND
L. Nyasa
NORTH RHODESIA 1911
Comoro Is
Mozambique
MOZAMBIQUE
MADAGASCAR 1896
Tananarive
Mauritius
Barotse Ld
Zambesi
SOUTH RHODESIA
Mashona Ld
Salisbury
Cubango
Cuando
Beira
Sofala 1505
Bulawayo
Matabele Ld
GERMAN S.W. AFRICA 1884
Swakopmund
Walvis B
Windhoek
BECHUANALAND 1885
Limpopo
Gaza Ld
Tropic of Capricorn
Transvaal
Pretoria
Lourenco Marques
Delagoa B
Mafeking
Johannesburg
Lüderitz B
Orange
UNION OF SOUTH AFRICA 1910
Orange Free State
Kimberley
Ladysmith
St Lucia B
Pietermaritzburg
Durban
Basutoland
Kaffraria
Cape of Good Hope
Cape Town
East London
Port Elizabeth
Helena
1910 Dates of organization of separate colonies

purpose to break slavery. To that end the 'Saints' had set up the company which in 1787 colonized Sierra Leone, and was in 1808 transferred to the Crown. For yet another generation government was pulled in opposite directions, by the dislike of expenditure or new responsibilities and, on the other side, the evangelical passion against slavery; for in Africa abolition of the trade had turned out an empty gesture, the few ships we could spare could not cover those thousands of miles of coast and inlets, and Wilberforce's successor Fowell Buxton showed that the numbers shipped over the Atlantic in 1837 was actually thrice the figure of thirty years before. Harsh experience proved that our cruisers must be supported by measures ashore, treaties with native kings and powers to pursue offenders beyond our own settlements, while the missionary world was learning that the best antidote to the trade was legitimate trading. Prestige added its weight, one Gold Coast governor was killed by the Ashantis, who kept his skull as a royal goblet, there were missions to defend, a growing commerce in palm oils and cotton, French activity to be feared So, with many set-backs and protests, and in most damaging ignorance of local facts, our rule slowly extended. In 1850 the Danish settlements were bought out and in 1872 the Dutch, in 1861 we annexed Lagos so as better to check the slave-trading of Dahomey and Nigeria. Finally, after ten years of humiliation, the Imperial government in 1874 despatched an expedition under Garnet Wolseley, to drive the murderous Ashantis back on Kumasi

These were small things as yet, barely known to the mid-Victorian public, whose enthusiasm about Africa was concentrated on the dark centre and the shining figure of David Livingstone Our exploration had, indeed, begun much earlier, and from many motives; some who had served with Captain Cook supported the voyages of Mungo Park of Selkirk, whose last letter of 1805 declared 'the fixed resolution to discover the termination of the Niger, or perish in the attempt'. He perished in the rapids, as others were to perish in the desert, in efforts to solve the Niger's course, simultaneously explorers of every nation had started from the north, to do the same for the Nile. The British achievement was to attack this Nile problem from the other end. In 1857–8 Richard Burton and the heroic Speke of the Indian army discovered Lake Tanganyika, and Speke reached Victoria Nyanza; in 1862–3 he and Grant entered Uganda, and traced the Nile from its exit out of Victoria Nyanza at the Ripon falls to its passage into Albert Nyanza, where he joined hands with Samuel Baker, coming from the Sudan. But Livingstone, who preceded Speke, also outlived him, and though politics were not his motive, from him derived the first inspiration for one of the major British political triumphs

In character this poor Lanarkshire cotton-spinner was as sheerly

heroic as any Drake or Nicholson, while in his life was signally represented the most continuous purpose of a moral age. Having won a medical degree by study outside his factory hours, he took service with the London Missionary Society in Bechuanaland under one of its greatest leaders, Robert Moffat. There he was astride the road to the north, and from that base moved among the natives, for ever acquiring languages and geology, carpentering or astronomy, every craft and science, armed with which he might work in unknown country, alone. On his first major expedition of 1852–6 he ascended the Zambesi, struck the Congo tributaries, reached the west sea in Portuguese Angola and passed down the Zambesi again, discovering the Victoria Falls on his way. In the year of the Mutiny he was given every honour by the nation and in 1858, now supported by government, set out on a five years' journey From that came the discovery of the Shire highlands, the Murchison Falls, and Lake Nyasa On his last, that of 1866–73, wherein he died of his toils, he was seeking to determine the mystery of the streams which flowed towards Nile and Congo.

Always a solitary and sometimes unaccompanied by any other European, unknowing of fear, invincible through perpetual suffering, Livingstone's first purpose was not so much that of the dogmatic Christian but rather, in its purest essence, that passion for raising humanity which was the highest Victorian attribute. On every page of his books and journals, in speeches to every sort of audience, comes the black portraiture of the slave trade, the Arab and Portuguese half-castes who had made central Africa a hell, their path marked by skeletons, the interminable procession of slaves chained or clenched in wooden yokes, everywhere ruin and death and lust, the tsetse-fly, fever, and leprosy. To prove that white men could purify this abomination by ways of peace was his task, yet thus to open the road was to open what could not be closed. From the movements he inspired, such as the foundation of the Universities' Mission, and the men he trained like John Kirk, who as consul-general became all-powerful at Zanzibar, and the increase of British trade which his trail made possible, proceeded influences which the least expansionist government could not ignore, and which in due course resulted in an empire.

While, haphazard or under protest, such vast unpremeditated beginnings were made, the logic of reformed Britain worked itself out in the chief Colonies of British emigrants They had become substantial communities. By 1880 between 3½ and 4 million Canadians exported goods to the annual value of £30 millions. Australasia cleared 8 million tons of shipping and was swallowing millions of British capital To large and small alike responsible government was granted with lavish hand, to South Australia and New Zealand in the '50's, to Tasmania and Newfoundland. They were given powers to amend their own

constitutions, Canada was allowed to make its legislative council elective, one Australian colony after another introduced manhood suffrage and triennial elections. In 1859 a decisive lead by Canada settled that self-government must include tariff-making, even against the mother country, while in the Australian Customs Act of 1873 Gladstone was unwillingly obliged to permit discrimination in favour of Australian products. This completeness of freedom extended to religion, the privileged position of Anglicanism thus disappearing in Canada with a settlement over the clergy reserves, and in the West Indies with disestablishment Most of the bonds which Pitt's generation would have judged necessary, and nearly all the restrictions which the Durham school of the '30's had in mind, were thus removed

There remained therefore only the powers of the Crown and its representatives the governors, restraints of English law, and the practical problem of Imperial defence. That the governor must be as impartial between parties as the Queen was at home, followed from the new doctrine; that he must check abuses of the constitution by party, equally held good, though this often exposed him to Colonial criticism Local feeling, indeed, inevitably whittled away the governor's 'sovereign' rôle, Canada thus in 1876 obtaining changes in his instructions, so as to reduce his prerogative of pardon and the right to reserve bills for Her Majesty's pleasure. In 1865 the Colonial Laws Validity Act broadly defined the stage reached by the larger communities; those with representative legislatures had henceforth complete powers over their constitutions and courts of law, provided that their laws were not 'repugnant' to Imperial statutes which expressly affected that particular colony. Formally the governor might veto legislation or 'reserve' it, but this was ever more rarely used. But miscarriage of justice might still be corrected by appeal to the Crown, — that is, since 1833, to the judicial committee of the Privy Council.

As finally responsible for war and peace, the Imperial government retained control of the treaty-making power which, for example, touched the Colonies' tariffs or the Australian objection to Chinese immigration, but how in practice this prerogative would be employed was shown in 1871, when the Canadian Prime Minister was included in the British delegation that signed the commercial treaty of Washington. Missionary activity meantime kept well to the forefront the notion of trusteeship for native races, which officials of the best type had never lost, and this ideal successively protected Maoris, Basutos, and Bechuanas

Many of these interconnected matters came together in Imperial defence. Until the '70's at least any such conception seems to have been unknown, for the good reason that common British opinion hardly thought the Empire could endure. We should do our duty in a passive

sense; and so strong reinforcements were sent to Canada during the American Civil War. But not merely Radical politicians like Bright, or intellectuals like Goldwin Smith the historian, declared that separation was certain to come, and was in itself desirable; senior officials responsible for policy at the Colonial Office were equally convinced, at least of the first conclusion In any event economy, strategical thinking, and constitutional outlook would all induce the British government to cut down their commitments. Why, Parliament murmured, should 40,000 Imperial troops be scattered in small detachments, at an annual cost of some £3 millions, largely to deal with native wars over the causes of which Parliament had no control? In the last resort Colonial defence must depend on the Imperial fleet and a concentrated striking-force, while Colonies which demanded responsible government must bear responsibility's burden, and do more to defend themselves By 1871 all Imperial forces were withdrawn from Canada, except for small garrisons at the naval bases, Halifax and Esquimault, and from Australasia also, while only a few remained in the West Indies This matter, in fact, delayed a grant of responsible government in Cape Colony, which could hardly contemplate a withdrawal of Imperial troops in the face of Boers and Zulus, Kaffirs and Griquas

Thanks to good fortune, and the preoccupations of Europe and America till the later '70's, these communities were given time to mature their strength. One section of Empire, however, and one of the oldest, was stationary, if not in decline; the case of the sugar islands was almost desperate. Not so much by loss of their privileged tariffs in Britain, though it was severe and must take time to recoup; the more fundamental cause of collapse seems to have been the sudden emancipation of the slaves, who were not spurred by freedom to work for a good livelihood, but subsided into laziness on their own patches. Broadly speaking, prosperity returned fastest to sugar colonies most distant from the old West Indies and best able to use immigrant Indian labour, as in Trinidad, Mauritius, and British Guiana. But government was affected in these hardly tried islands as much as well-being. Emancipation, poverty, the slow replacement of absentee owners by a more business-like class, and the dwindling proportion of white to coloured population, showed up much incapacity and faction in their assemblies. After years of conflict with their governors, special committees, and clamour, the negro riots of 1865 in Jamaica and their severe repression by Governor Eyre, — nearly six hundred persons being executed by court-martial — led to the Assembly surrendering its powers; within a few years councils with nominated majorities were introduced in many other islands, and only Barbados and Bermuda retained the self-government which had come down from the seventeenth century.

Even in Australia self-government had not, within this period, produced results promising a future of power and progress. Till the early '70's exploration continued of the unknown interior, sometimes with tragedy like the death of Burke and Wills in 1861 in the salt-lake country far north of Adelaide, though more often with profit, as in John Forrest's expedition to link Adelaide with Perth. By such endeavour and painful degrees the true limitations of the country appeared — that roughly 40 per cent was tropical, that the rainfall over half of its area was less than fifteen inches, that white men could hardly work with profit in the northern territories, and that, though flocks and herds could be cropped on salt-bush and desert-feeding with comparative success, drought was a deadly enemy. Absolutely, population increased fast, yet a continent of three million square miles, or forty times the area of Great Britain, carried in 1871 little over a million and a half people, preponderantly massed in the south-east angle, New South Wales and Victoria.

Unmenaced as yet by foreign Powers, this handful of people — in blood the purest British community in the Empire — were economically doing considerable things and striking out many experiments. Their sheep increased sixfold between 1861 and 1881, gold and coal and copper had been found in abundance, South Australia was rich in wheat, tropical Queensland had a substantial sugar trade The telegraph linked Adelaide with the British cable at Port Darwin in the far north; native mechanical invention showed that within reasonable limits arable farming could be made to pay. But politically Australia had not got over its growing pains. Separate in origin and even more in environment, and kept asunder by huge distances, these small States kept themselves still further apart by rival tariffs and different railway gauges. A British suggestion of 1849 for federation had been put aside, and though the strongest leaders both of New South Wales and Victoria, Henry Parkes and Gavan Duffy, favoured it, intense State jealousy stood in the way. Nor did responsible government bring about governments that could speak with authority. In the twenty years ending with 1876 Victoria had eighteen ministries, New South Wales seventeen, and South Australia twenty-nine; in the two first a squatter aristocracy, even in the face of hostile laws, had fought successfully to hold their power, and incessant conflicts between upper and lower chambers coincided with opposing notions of society.

Without doubt the outstanding achievement of Empire in this period was the making of Canada, by its confederation and its absorption of the West, into a great State running from sea to sea. The responsible government framed by Durham and put into practice by Elgin could not, it was found, in itself heal Canada's fundamental division, the united province set up by the Act of 1840 showing

the same fissures as the former Upper and Lower Canada. While that union rested on equal numerical representation of the two provinces, that is, in effect, of British and French, immigration rapidly changed the proportions, so that British Ontario would soon far outnumber French Quebec, and from the Ontario Radicals, or 'grits', led by George Brown, a demand grew loud for representation in accord with population. Moreover, the settlement had in other ways the character of a treaty between two races, for it was argued that a ministry ought to have a double majority, that is, a majority within each province. From Elgin's departure in 1854 responsible government did not result in party ministries of the British type. A great mass of all parties having come to agree in most great policies, such as reciprocity or the clergy reserves, there was little ground left for political principle in a society without class distinctions, and parties were in fact disintegrated into faction by distance, religion, and race No continuous alliance could exist between Ontario Radicals, deeply coloured by Scot and Ulster feeling, and the so-called Liberals of Quebec, who were either influenced by American republicanism or swayed in the last resort by the Catholic Church Yet without the good will of the French no government could be successful

Such conditions gave his opening to a supple, genial, and wary opportunist, John A. Macdonald, who founded a 'Liberal-Conservative' predominance in an understanding with the French moderates, up to Confederation, and beyond it, government was thus normally held by a coalition — between Macdonald and a series of Quebec leaders, Morin, Taché, and Cartier. Out of this balance and inability to agree came about in 1857 the choice of Ottawa as capital, half-way between French Montreal and the rival British claimants at Toronto or Kingston, while perpetual controversy, as over the Catholic demand for separate schools, testified that Durham's hope of racial amalgamation had been a dream.

Since his day the values at stake had risen high. Population had doubled since the rebellions, and at Confederation stood round about 3½ millions, of whom the 1½ millions in Ontario much outstripped the French. Exports and imports together totalled some £24 millions in value, the country had over 2000 miles of railway working, the Canadian Allan line of steamships directly connected Montreal with Liverpool, while the greatest inland waterways of the world led from the St Lawrence to the Lakes Powerful banks and new protectionist tariffs revealed that factories and mechanism had replaced the little shops and looms and saw-mills of the pioneers. Yet by the '60's every principal politician, Macdonald and Brown, Cartier and the financier A. T. Galt, and the Irish ex-rebel Darcy McGee, were agreed that the present regime could not last, however much they differed on the means of

reconstruction, whether a limited federal scheme for the two Canadas, or something greater Hitherto they had received little encouragement in this, financial or otherwise, from the mother country.

Three other problems urgently asked some final solution. The map shows not merely the distances between their settlements, the 400 miles of the St Lawrence up to Quebec or the 500 thence to Lake Ontario, but also how both nature and man seemed in conspiracy to make connections run north and south, rather than east and west. Nothing but transportation could reverse this natural trend, but transportation had not as yet succeeded. American canal systems from Lake Erie, lower costs, and bonding arrangements via New York, drew the bulk of western production away from the St. Lawrence. The Grand Trunk railway, begun in 1852, ran from Lake Huron to east of Quebec, but then a gap of many hundred miles intervened between that terminus and Nova Scotia, and that crying need for an inter-Colonial railway raised another question — the whole future of the Maritime Provinces. The Imperial government had disappointed Joseph Howe's hope of a financial guarantee for such a line, and though the Maritimes felt that their fisheries had been sacrificed in the treaty of 1854 to please the Americans, their American trade had doubled under reciprocity. Their thoughts were turning, not to closer links with Canada, but to closer union with each other, the principle of which was accepted in 1864 by Nova Scotia, New Brunswick, and Prince Edward Island.

Graver yet, for it might have prevented Canada from ever being made, was the future of the West The Hudson's Bay Company, chartered in 1670, had stamped the ruling names of Restoration England in Rupert's Land, York factory, or Fort Churchill and, surviving many wars with the French, in 1821 after some bloodshed absorbed the rival North-West Company, which had been erected after our conquest by British fur-traders of Montreal. Servants of both companies had done prodigies of exploration David Thompson, for instance, over many years before 1812 had surveyed and mapped most of what became Manitoba and Saskatchewan, and crossed the Rockies to the Columbia and Kootenay rivers; Alexander Mackenzie tracked the great stream bearing his name to the Arctic, and later by the Peace and Fraser rivers made his way to the Pacific. Many hardy generations, mostly of Scots, lived in the wilderness, searching for furs as far as the Yukon, among Indians whose chief glory was still in hunting the buffalo, and little settlements of *métis*, the half-breeds more often half-French than British, fringed the now well-used canoe routes from Hudson's Bay or Lake Winnipeg.

The bounds of the Company's grant were undefined, their monopoly was repellent to the leaders of Ontario who saw in westward extension their best hope, nor did those trading in the furs of wild animals wish to encourage closer human settlement. But in any case

the Company could not cope with the scale of events. Though the Oregon treaty of 1846 saved its footing on Vancouver Island, discovery of gold and coal on the mainland brought in new numbers who asked representative government. In 1858 a new Crown Colony was set up of British Columbia, which in 1866 was linked with Vancouver Island. If here was the terminus of Canadian visions, much more urgently immediate must be the intervening space east of the Rockies, for Minnesota and other American States just south of the border were flooding with settlers, and by Lake Superior and the Red river American enterprise might capture the trade of the West. Some London financiers who wished to develop the Grand Trunk had a strong representative in Edward Watkin, who believed in extension to the Pacific also, while late in the '50's the government of Canada, claiming to have inherited the old French rights, challenged the Hudson Bay Company's title.

These different strands were pulled taut by the American Civil War. The Northern States' dislike of Britain was at its height, their Secretary of State Seward was ready for war, Irish Fenians threatened to invade Canada. When the reciprocity treaty ran out in 1864 the Americans let it expire, it was believed, as a lever to compel Canada to join the Republic; there was a resolution in Congress for peaceful annexation, a group on the frontier positively working for it, and in 1867 the Americans' purchase of Russian rights in Alaska closed another Canadian window on to the Pacific. But though needs of defence, and the economy of dealing with larger units, at last moved the British Cabinet from their lofty detachment, Canadian Confederation was mostly due to Canadian effort. In 1864 the fundamentals were accomplished, when George Brown and the Ontario Liberals volunteered to serve with Macdonald for this single purpose and when, by the initiative of McGee and the railway engineer Sandford Fleming, Canada was invited to confer with delegates of the Maritime provinces At the Quebec conference that October agreement was reached on all essentials, Tilley and Charles Tupper from New Brunswick and Nova Scotia negotiating with Macdonald, Brown, Galt, Taché, and Cartier. But another two years passed before Canadian delegates assembled in London, for neither Newfoundland nor Prince Edward Island would come in, while it took all the influence of the Imperial government and Tupper's adroitness to overcome unwillingness in New Brunswick, and fiery obstruction by Joseph Howe. Certainly the last stage could hardly have been achieved except through the assistance of British ministers, and of the Church in Quebec. Its two natural sequels were the transfer of the Hudson Bay Company's rights to Canada in 1869, and in 1871 the admission of British Columbia as a province. In 1873 Prince Edward Island relented also, leaving Newfoundland the only British community outside the Dominion.

By the British North America Act of 1867 a new type of government was added to the Empire, in the federal Dominion of Canada. Though Macdonald had wished for closer union, nothing but a federal bond leaving self-government in local affairs could have reconciled either Quebec or the Maritimes, but warning was taken from the troubles of America to make the Dominion stronger than the Union, and the provinces much weaker than the American States. Certain specific powers were assigned to the provinces, direct taxation for example and public works, but the whole residue of powers went to the Dominion which would, further, appoint the provincial lieutenant-governors and judges and, subject to appeal to the Imperial Privy Council, could disallow provincial laws. If the Senate was organized to protect the provinces by giving equal representation to the three chief groupings, — Ontario, Quebec, and the combined Maritimes — representation in the Commons by population asserted a British racial supremacy. Yet, except for a supreme court of appeal created in 1875, the Dominion was given no federal courts.

In short, its constitution received no strictly federal character but bore rather that of a treaty, and its development has depended less on the letter of the law than on convention and interpretation. The distribution of members, for instance, is fixed by awarding to Quebec a perpetual basic figure of 65; without reference to the Imperial Parliament the Dominion cannot amend the Act of 1867, overlapping powers of Dominion and provinces, each of them sovereign bodies, have only been adjusted through the medium of the Privy Council.

In a country wrestling with sheer emergencies, of bridging rivers, growing food, satisfying settlers, and blasting mountains, politics must often be a rough and ready business, since government has in its hands the making of individual wealth. So that the early records of the Dominion have their darker side, nor was Macdonald the man to make them white The true measure of his stature is that, with one five years' break from 1873, he remained Prime Minister from Confederation until 1891, which must be explained by much more than political arts. He had the statesman's first gift of managing other human beings; Howe himself in the end entered a Macdonald Cabinet. And he had a largeness, both of nature and vision, which his Liberal opponents had not; neither the upright wooden Alexander Mackenzie, the Prime Minister of 1873–8, nor the eloquent, fastidious, but factious Edward Blake. An electorate recognizes this scale and this staunchness, which enabled Macdonald to survive the scandal of 1873, of acceptance of party funds from contractors for the Pacific railway.

One moment of danger revealed how delicate a plant was the young Dominion, the Red river rebellion of 1869–70 led by Louis Riel. Round Winnipeg the French and half-French *métis* not only resented

the transfer of their home to the Dominion, but feared for their land titles and their Catholic faith, and detested the new democratic type of settler. This discontent, being badly handled on the spot, might bring about either an Indian rising or some annexationist move from American pioneers. That it was settled speedily was much due to a few individuals, not least the Hudson's Bay representative Donald Smith, the future Lord Strathcona, but also to Macdonald's resolution in sending a military force under Wolseley, and his conciliatoriness in forming during 1870 a new province of Manitoba, with a due regard for separate Catholic schools. For another generation the rest of the prairies up to the Rockies continued as the North-West Territories, to whom in those early days government's best gift was the establishment of the North-West Mounted Police.

By the letter of the Act, Confederation was coupled with promises of improved transportation, both east and west Helped by an Imperial guarantee, the inter-Colonial railway at length completed connection in 1876 between Halifax and the St. Lawrence A railroad to the Pacific was a much greater proposition, but the commitment of 1867 was renewed as a definite pledge when British Columbia came into the Confederation. Its early years were obstructed by contention and scandal, the engineering difficulties were portentous, and costs gigantic, involving the thorny question of land grants and subsidies to the contracting companies. When Macdonald went down in 1873, the Mackenzie government continued the work but with a doubting spirit and ill-success, and it was not till 1880 that Macdonald came to terms with a new company, of which the ruling spirits were Donald Smith, J. J Hill, and George Stephen, and the engineering minds were Van Horne and Sandford Fleming In 1885 the first trains reached the Pacific, on all-Canadian soil.

By that time Canada's destiny was decided, though not perhaps by any great margin, or very long ago. Neither in East nor West was the annexationist temper extinct, many times over Canadian governments suggested a renewal of reciprocity to Washington, only to be rebuffed. The treaty of 1871, signed under severe pressure from the Gladstone government, convinced Canadians that the mother country would sacrifice their interests to get American good will, ceding, for example, a perpetual right of navigation in the St Lawrence as against a settlement of the *Alabama* claims. Bad harvests and deep depression in the '70's also drove Canada to seek a remedy in herself. Hence came about the ' Canada First ' national movement, and a demand for protection to safeguard Canadian industry, the banner under which Macdonald swept the elections of 1878.

Rising out of such accomplished fact and half-realized ideal, a new spirit about Empire was manifest by 1880 Disraeli, laying weight so

often on 'an Imperial people', had foreseen it and done something to foster it; not least by instilling this vision in the tenacious mind of the Queen. But it hardly had come about through the action of individual statesmen; much more by the amalgam of plain material interest and unconscious affections which made up Colonial sentiment. Self-government had removed any popular wish for separation in the Colonies; at home, a wish to let other Britons have what they desired, a growing cohesion in the face of rival Powers, and the unwavering claim of the middle class that British trade should be protected, combined to build up a defensive Imperialism, simply to hold in peace what they had won. It was not a system, had no high theory, and had grown in a score of different ways. It was seen in the poets and prose-poets of the age, Tennyson and Froude. It was seen in Dilke's Radical welcome for new communities; accepted in the fame of John Lawrence and great Indian administrators, now at the height of their autocracy; and exposed, under another form, in the national enthusiasm for Livingstone and the explorers. It had at least become so strong a thing that any British government which seemed to imperil or repudiate it would have to reckon with a new indignation.

CONTEMPORARY DATES

1850 Australian Governments Act
1853 France takes New Caledonia
1854 Burton and Speke in Somaliland.
1856 Speke on Victoria Nyanza.
Livingstone on the Zambesi.
1857 The Mutiny
French conquest of Algeria
1858 End of the East India Company
1860 War in the Lebanon
British and French enter Pekin
1861 Outbreak of American Civil War
1863 General Gordon in China.
1865 Revolution in Jamaica.
1867 Federation of Canada
The United States buy Alaska.
1868 British army in Abyssinia
1869 Opening of Suez Canal
1871 Livingstone on the Congo
1873 The slave market closed at Zanzibar
Russia conquers Khiva
1874 Britain acquires Fiji
1875 De Brazza extends the French Congo
1877 The Queen proclaimed Empress of India
1879 Formation of the Congo Free State
1880 Roberts at Kandahar
The Transvaal Boers declare their independence.

CHAPTER VII

PERIL AND DECLINE, 1881–1914

In this short quarter of a century fundamental changes, long prepared and in 1914 not fully matured, affected the British State more gravely than in any comparable period of time since the Reformation, leaving on the mind, stamped with the assuredness and stability which had gone before, a foreboding interrogative as to what the future might hold. Forms and powers were all changed, spirit and outlook even more. That Christian and classical culture, in which the English had been nurtured, lost its pride of place. The town at last finally triumphed over the countryside. Democracy, which every generation from Shakespeare to Wordsworth had rejected, made its victory sure An Empire of which Elizabethans had not dreamed and greater than that which Rome had ruled, and the extension of Europe in overseas Imperialism, challenged our political ideas, tested our institutions, and remoulded our policy

These influences, the velocity of which much increased with the century's ending, were masked by the prestige of those who had attained eminence earlier, and their long survival. of Tennyson till 1892, Huxley till 1895, Gladstone till 1898, the Queen till 1901, and Salisbury till 1902. Not economically only, the race seemed to be living on its capital, for equal successors did not replace the giants whose work was done Asquith and Lloyd George instead of Bright and Gladstone, Balfour in lieu of Disraeli and Salisbury, Stevenson for George Eliot, the Fabian Socialists in the room of Mill, — some elevated quality of spirit seemed to have departed.

Those economic tendencies which had been gathering momentum for a hundred years now rapidly advanced. The United Kingdom's population, 31 million strong in 1871, passed 45 millions in 1911, of whom nearly 80 per cent were concentrated in England and Wales, with a density of 600 people to the square mile In those two countries roughly 80 per cent of the total lived in urban districts, often massed in aggregates like the 4½ million of London, or the million apiece of Glasgow and Birmingham. Indeed, in this generation one of the greatest of all revolutions transformed Britain. that rural setting, within which its arts and letters and political spirit had grown up, was broken to pieces, and with it the beauty of country building and country crafts, iron-work and lace-making, weaving and leather The miracle, so long

deferred, of swift transportation came to pass, by sea and land from American prairies, and in import of refrigerated meat from the Argentine and Australia Four million arable acres, £17 millions of landed rents, 150,000 agricultural labourers, disappeared, wheat, which so late as 1878 sold for 45s the quarter, fell till it reached its lowest figure of under 23s. in 1894, and four-fifths of our wheat supply were now imported, together with 60 per cent of the butter consumed and 80 per cent of the cheese. If country wages were better than those of the '70's, they were at a wretched level in the southern counties, whose population was in some cases positively lower than fifty years before.

Though its internal balance had thus collapsed, economic revolution had given great power and riches to the nation. Our foreign trade amounted to £698 millions in 1880 but, allowing for a changed price level, about £1100 millions in 1913, while in the last year coal production, which in Gladstone's youth had ranged about 60 million tons, reached a peak of 287 millions. By 1880 steam had at length overtaken sailing craft, and in 1914 we still possessed 47 per cent of the world's iron and steel tonnage; 60 per cent of all Suez Canal traffic was British, and 65 per cent of India's imports Our overseas investments were reckoned at over £1300 millions in 1885, indeed £226 millions were so spent in the single year 1912.

This great wealth, which increased the average individual income by about a third in this quarter-century, was better distributed, and the general lot had without doubt improved since mid-Victorian days. One proof of that may be found in the falling death-rate, and in particular the decline in infantile mortality. Such bettered health and homes must be connected with some plain economic facts, that working-class taxation had been halved between 1840–80, that real wages were better by 30 per cent at least in 1914 than in 1880, and that the Post Office and savings-banks deposits rose from the £30 millions of 1850 to more than £200 millions Throughout the quarter of a century under discussion the pauperism officially relieved (which is not the same thing as poverty) very rarely reached 3 per cent of the population.

Outwardly society bore much the same aristocratic countenance as of old, to a degree barely credible to those who have witnessed a later change Great Whig salons, Devonshire or Lansdowne House, still dominated society and politics, as they had under Fox and the Regent; the Church and the cadres of military officers were manned by much the same stocks as those who had won Waterloo or figured in Jane Austen's novels; formality of dress and regularity of church-going, the patriarchal village and a life of domestic service for its women, the graduates of the older universities and recruitment for the civil service at home and in India, all these changed little, to outward seeming, in the later Victorian age Those were days when a Prime Minister's prestige

was assisted by his horses winning the Derby, the golden age too of W. G. Grace and intense native patriotism in county cricket. Yet in so far as aristocracy rested on the land, it never in fact recovered from agricultural depression, while many tendencies were breaking the unity and dissolving the character of the propertied class.

Though till 1896 the period as a whole was one of falling prices, there were ever-increasing signs that the Free Trade era had evolved into a system which was both top-heavy and precarious Foreign competition had obliterated our first easy supremacy. In 1880 the populations of the great industrial Powers, Britain, Germany, and the United States, were respectively in round figures, 35, 45, and 50 millions; but by 1911 they stood at 45, 64, and 91 millions. German steel output passed ours in the '90's, and ended twice as great, the growth in American exports was ours multiplied fivefold; the individual British miner produced 100 tons less a year, while the American hewer's product rose Nor was agriculture the only shaky pillar in the British economy Textiles had been nearly 60 per cent of our export values in 1860, by 1914 that was almost halved The palmy days of Black Country iron were over, but the new districts nearer to the sea had not, by 1914, developed their full opportunities in basic steel. Moreover, one of Cobden's assumptions had been falsified, when first France, then Germany, and lastly America — especially by the McKinley tariff of 1890 — laid heavy duties on our goods. Excluded thus from their old primary markets, British manufacturers exploited Asia and Africa, but there too, as the period closed, appeared the beginnings of Japanese competition and the desire of India to protect her own textiles British wealth, based in the first instance on a mass export of manufactured goods, tended henceforth to concentrate on those of higher finish and better quality, or to find its chief reward in investment and shipping services, to depend, that is, more and more on world conditions that were not within its own control. That instability, putting the fortunes of the urban millions in these islands at the mercy of gold production in South Africa, a slump in America, or an Indian famine, was certainly not lessened in a community which was allowing its own agriculture to sink or swim, as best it could.

Great, then, though our progress remained, its pace slackened. Whether considered as cause or as effect, the decline in the birth rate was important, from its highest recorded point of 36 per thousand in 1876, it fell smoothly but without faltering to 23 by 1913. What mattered more, the practice of birth-control that brought it about was most common among the upper and upper-middle classes; and the emigration of those vigorous stocks, and of artisans, reached a high level, rising from the annual average of some 50,000 in the '90's to 235,000 in 1907, — and higher still between 1911–13. There was a lag,

almost a halt, in the growth of the national income after 1900, and a very distinct arrest of real wages, which in 1912 were not above the 1900 level, and in the miners' case probably below it. Housing development was checked too, and there were some dark social patches; nearly half the people of Scotland, for instance, lived in one- or two-room dwellings, and though the artisan had won a working week of 52 or sometimes 48 hours, the law permitted one of 70 and more for shop assistants. Public health could not be approved when a third of Army recruits were medically rejected, and when social investigators after 1900 declared that a third of the nation lived on, or below, a bare level of subsistence.

There were thus dangers of a slowing production, and some evils of a bad distribution, to which several causes were thought to be contributing; among them the conservatism of old-fashioned business, restrictions on work by trade unions, political threats to capital, and hostile tariffs. There was certainly a widening gap between the fabric of the State and the facts and ideals of society.

For though the third Reform Act of 1884 and the County Councils Act of 1888 extended the vote, and replaced the squires' local government by elected bodies, they did not accurately measure the change of social balance Compulsory elementary education since 1870—which in 1891 was also completely freed from school fees—was accompanied by the making of many modern universities, Manchester leading the way in the '80's, followed before 1909 by Wales, Birmingham, Liverpool, Leeds, Sheffield, and Bristol. The space between elementary and university, of technical and secondary education, had been too long neglected, but public money was found in several devious ways, and after the Act of 1902 rapid progress was made. By such avenues, opened up in a new urban life and reinforced by a cheap press, there grew up a new social democracy, which had never warmly accepted the Utilitarian and economists' notions of *laisser faire*. Gladstone once lamented that modern Liberalism favoured 'what they call construction', 'taking into the hands of the State the business of the individual', and the decline that this meant in 'public economy'. Our democracy had taken its views not so much from the German exile Karl Marx, who died in England in 1883, but in part from what Chamberlain had done at Birmingham and in his Radical crusade, in part from the Nonconformist chapels, and in part from Ruskin and William Morris, who taught that the good life, like good art, could not be measured by the volume of wealth, or achieved by a jostling competition.

Though Disraeli's social policies and public education meant higher expenditure, the average Budget of the early '70's of £65 millions hardly rose over £87 millions in the ten years after, and the real momentum came much later, between the £132 millions of 1901 and the £209 millions of 1914. In that increase the costs of defence had

risen by some £20 millions, but the civil estimates still more in proportion, and the State's enhanced power, both in central and local government, was the outstanding fact as the new century began. The Board of Agriculture was created in 1889, the Board of Education in 1899, while the 1911 census showed how the number of public servants had doubled within twenty years Means were found to pay for this new machinery through the rise of the income-tax from 6d. in 1888 to 1s. 2d. in 1909, and the creation of death-duties and surtax; that is, in a transference of the burden from indirect to direct taxation, and in taxing the richer minority for the majority's needs.

While Conservative and Liberal governments slowly extended the State's functions by working piecemeal at each urgent problem, a doctrine of Socialism welled up from below; through Hyndman's Social Democratic Federation, Morris' Socialist League, and the Fabian Society led by Sidney and Beatrice Webb and Bernard Shaw. The book of the American Henry George on *Progress and Poverty* inspired a school who would tax the ' unearned increment ' of property values, and assert national control of the land. Out of the miseries of the East End of London and the dock strike of 1889 came the Salvation Army, Toynbee Hall, and a swarm of philanthropic enterprises, and a passion in many outside the working class to bring about a greater equality Two instruments of working-class effort combined to carry that doctrine into political effect; the trade unions, whose membership rose from 1½ millions in 1892 to some 4 millions in 1914, and the Labour party which, after much earlier striving led by the Scotsman Keir Hardie, came into formal existence in 1900. The election of 53 Labour members to Parliament in 1906 was the first decisive proof of this new power

Another force was running its course, parallel with democracy, and this was Imperialism; indeed, in the hands of Dilke and Chamberlain they were allies. Each took a lofty view of the State, each was bound to clash with *laisser-faire* economics Imperialism owed something to the perception of Disraeli, the writings of historians like Seeley and Froude, and the passionate convictions of Kipling, the Anglo-Indian man of letters, and Cecil Rhodes, the South African adventurer and idealist But it was also bound up with sentiment fired by the Queen's two Jubilees, and bonds between many hundred thousand emigrants and their folk at home, while it was riveted by many clashes in Africa and the threat of German militarism Self-preservation and obvious interest thus built reinforcing walls round what had been, of old, rather a matter of honour or prestige For over a third of British exports, and over 70 per cent of British emigrants, went in 1913 to the Empire and Colonies.

If much had changed materially or in outward aspect since Peel administered and Cobden resisted, the mental change had been greater

still since Newman and Mill had led rival schools of thinking. This quarter-century was full of life but of a life that had lost unity, and perhaps lost some sense of direction. It was a more impersonal life; in which inherited family firms were steadily turning into public companies, administered by experts and financed by a distant anonymous horde of shareholders. Amalgamations and trusts concentrated masses of capital as against large trade unions, each embracing the country as a whole, swift transportation, by steam and electricity and at last the motor-car, dissolved local units, and shuttled millions of human atoms in to work and out to sleep. This teeming loose-seated population was fast outgrowing the spiritual fixities which had persisted since the Reformation. Darwinism and natural science had destroyed the foundations of faith, criticism denied the inspiration of Scripture, and the public teachers of educated Britons, — Matthew Arnold, Huxley, John Morley the editor of the *Fortnightly Review*, Froude, Leslie Stephen, or the Oxford philosopher T H Green — taught a faith in which Christian dogma made no part. The Christian standard of conduct was strong — strong enough to drive both Dilke and Parnell from power — but church going and Sunday observance no longer ruled the mass of the people. Within the national Church the principles of the Oxford Movement may have won a majority of believers, but their effort to harmonize reason and revelation, as for instance in the *Lux Mundi* essays composed by Gore and the ablest High-church minds, recovered little of the ground lost with the laity.

In literature no single mind held the sovereign position of Scott, or even of Macaulay. That historian's assumption of the triumph of Liberalism was no more unquestioned, for his generation's belief in progress and tolerance was shaken in their successors. By the end of the age even the generalizing principles of Darwin's school and the idealist philosophers were both yielding to revolutionary questionings, to discoveries in forces of matter, radioactivity, physics and psychology, which made the destiny of the individual and the nature of his being, even the time and space within which human history was transacted, emerge as more mysterious, puny, and unprotected. One effect of the new conditions was that learning became more specialized and less catholic, and that the arts and letters once unified by national figures, the portrait-painters, Scott and Dickens, Tennyson and Macaulay, were divided into groups and categories.

Between some date like 1890 and Edward VII's death in 1911, we seem to find a culture in doubt, even in decline The moral purpose on which Ruskin had insisted was denied. There was an amorality in some brilliant contributions, a disillusionment about Morley and Thomas Hardy and Samuel Butler; something most unconstructive in the would-be realists Wells and Shaw, and a new cynical and accomplished

drama. The atmosphere of the Edwardian court, some motives in the Imperialism of Rhodes' school, and new wealth easily won in speculation, lowered the code of the mid-Victorians, while there was something sterile in the intellectual circles of the ruling class in the heyday of Balfour and Asquith There was a deeper and more incalculable shifting of values in the changed relation of the sexes Women's emancipation included their competition with men in the professions, relief from the severities of the old law for married women and their property, a rapid growth of divorce, a fierce demand for political equality, all of which must overturn the Victorian family ideal.

More damaging at the moment, more potent in the long run, was the mentality of a democracy, armed with new powers civic and scientific, but only lately given opportunities of full education. Human pity touched them nearly, they were played upon by gusts of emotion, and sensationalism was given them by those who wished to capture their minds. Under the special influence of Alfred Harmsworth, a vast cheap press aimed at circulation before accuracy, and popularity before a standard; a power capable of making a public opinion, but a power for evil if irresponsibly used

By 1914 the paradox of democracy was not yet declared in Britain, whose political forms were not yet totally democratic; the paradox that equality is apt to destroy liberty, and that democratic power tends to coincide with the physical force of numbers and to find expression in dictatorship. It might be that the past history of the nation, something in its inherited character, the balance of its social forces, or the needs of its Empire, might hold this paradox at bay. All that could be said in 1914 was that a moral and material revolution had demolished nearly all the ideals and arts of life of our earlier history

CHAPTER VIII

GLADSTONE AND THE IRISH QUESTION 1880–1886

AFTER many protestations that he must find a quiet space before death to shake off the world's trammels, at the age of seventy-one Gladstone was recalled to power by what he regarded as a divine call. He obeyed this call, indeed, for thirteen years to come.

His second ministry, though powerful in individual names, proved highly divided and unconstructive. Six of its original fourteen members came from his usual nearest counsellors, the Whig peers, who were also perfectly represented in the Commons by Hartington, while the new Radicalism only forced itself in at the bayonet's point, and even so Chamberlain was not reinforced by Dilke till the end of 1882. Bright, a Radical of an older school but now enfeebled, resigned when force was used in Egypt; within two years the Irish crisis drove out Argyll, Forster, and (outside the Cabinet) Lansdowne. Harcourt was a vital politician, a masterful debater, but insular and turbulent. In short, Gladstone alone held the Cabinet together.

Two facts from the first strained and exhausted him The Queen's hostility was unceasing and indecent. She had done her best to keep him out of power, asking her secretaries if this 'half-mad firebrand', who had encouraged Russia to imperil our place in Europe, was fit to lead her Empire? Again, Disraeli had made her his confidant in the interior relations of Cabinet; Gladstone, who felt his very real loyalty ill used, brought her long arguments or Cabinet decisions, but concealed from her all knowledge of the process But old age was confirming the Queen in her every aspect. Jealously she excluded her heir from the inner citadel of politics, fought for her influence over the disposal of the armed forces, and harassed the Prime Minister by letters innumerable, denouncing Chamberlain as 'a most dangerous man' or defending the Lords On the other hand, she several times displayed her insight as to the needs of Empire with a passion for the national prestige which reproached her Cabinet's indecision.

And, secondly, Gladstone had outlived his generation. Granville at the Foreign Office, courteous and dilatory, was terribly outmatched by Bismarck Harcourt, a typical mid-Victorian, detested all notions of Empire. Finally Gladstonian Liberalism resisted, or was blind to, the social armies behind Radicalism who held up Harcourt and the Whigs

as representatives of the propertied wealth that impeded progress. This conflict of two societies cut across the Opposition also, for Randolph Churchill and his small following, christened 'the Fourth Party', defied the lead in the Commons of the excellent uninspired Stafford Northcote, and would answer Chamberlain with a new conception of Tory democracy

Upon the government, thus set between two generations, fell a sequence of harsh ordeals; liquidation of Disraeli's foreign policy, a necessity for decision in South Africa, new burdens in Egypt, contemptuous hostility from Bismarck, Russian aggression, and in Ireland a disorder amounting to civil war. These tested their unity and capacity for action, with dire effect, and it is not surprising that their domestic legislation was so meagre. Urgent schemes for reordering the government of London, counties, and boroughs were crowded out, so too was most of Chamberlain's desired programme at the Board of Trade Months of time went in disputation whether the atheist Charles Bradlaugh should be allowed to take the oath, which the House decided against him; many hours passed in organized obstruction from the Irish, to curb which the government in 1881 upset the Commons' old procedure by creating the closure. So that their sole legislation of substance was a third reform of the franchise and redistribution of seats in 1884, to which all Liberals were pledged, and which no Conservative of Churchill's type would resist. One controversy turned on the point whether the bill should apply to Ireland where, Hartington predicted, it would enthrone a Nationalist party; another, and larger, was bound up with the personality of Chamberlain, who made persistence with the bill the condition of his remaining in the government, attacked owners of inherited wealth as those 'who toil not, neither do they spin', and cried out for popular control of the land When the Whig section gave way, there still was the landed interest in the Lords, obstinately led by Salisbury against this 'Jack Cade', and that, in turn, roused a Radical clamour to 'mend or end' the peers' veto In the long run, thanks both to the Queen and Gladstone, the bill reached an agreed settlement. It would extend to Ireland, but on the other hand the Conservatives had their way in establishing single-member constituencies. By extending the householder vote of 1867 from the towns to the counties, the electorate was raised by about two millions, seventy-nine small towns lost their members, thirty-six others lost one member out of two This advance towards democracy was moderate, by no means satisfying to Radicalism, but it was not on such domestic issues that this government was to be judged and fall.

Forty years had passed since Gladstone had written of 'Ireland, that cloud in the west, that coming storm', and nothing had conjured the storm away. No utterance of his in the '70's committed him,

though some phrases about local government alarmed the Whigs; his intensity was always apt to fix wholly on one matter at a time and, being wrapped up successively in Papal infallibility, finance, and foreign affairs, led him to neglect what might have been for Ireland some useful reforms. But to ignore Ireland became out of the question with the agricultural depression beginning in 1877, for low prices and bad seasons, failure of the potato crop, and a calling-in of debts brought about a renewal of eviction — of 10,000 persons in 1880 alone — and, with eviction, soaring figures of crime. It was an old circle, but now revolving in a changed Ireland.

'Home Rule', as interpreted earlier under the genial lead of the conservative Isaac Butt, amounted to little more than an endeavour to induce the Commons to give Ireland more liberal treatment, with perhaps some federal basis for the conduct of purely Irish affairs. It came into very different hands in 1879 on Butt's death, those of Charles Stewart Parnell, descended from English Protestant landowners in Wicklow with a long anti-Unionist record, son of an American mother, and inspired by a cold hatred of English ascendancy. This singular man, intellectually so uninterested and humanly so remote, judged politics purely in terms of force. If the British had enough resolution, he believed they could coerce Ireland; as it was, he meant to coerce them. He set to work on two fronts; at Westminster, to make Parliament unbearable by obstruction until Ireland's claims were heard, and to bid one British party up against the other; at Dublin, to sap government by breaking the landlords. Hence his alliance with the Land League, founded in 1879 by a lately released Fenian prisoner, Michael Davitt. Eviction and unjust rents were to be stopped by force; the guilty party, whether landlord or new tenant, must be cut off from all human touch, Parnell taught, 'as if he were a leper of old'; which was the device christened from one particular victim, Captain 'Boycott' And beyond the Land League, contact was made with a third circle of conspiracy, inspired and financed in large part by Irish-Americans, and terminating in the secret brotherhoods of Clan-na-Gael and 'Invincibles', whose means were dynamite and assassination. This was the situation inherited by the Gladstone Cabinet; war on the soil, and a breakdown of the jury system and civil government. Parnell had become something like the ruler of a foreign State, who in America was escorted by Irish regiments and invited to address Congress

They were thus involved in a hard dilemma, simultaneously to pass remedial reform and to vindicate law and order. Inevitably it divided the Cabinet, between the Whig elements such as Spencer, Hartington, and Harcourt, and the Radical wing led by Chamberlain and Dilke, who argued that coercion must be abandoned if Ireland was to be conciliated. All Gladstone's own instincts must lean to this second

course, yet all his mental training and his dominance in Cabinet inclined him against the Radicals. From this interior struggle, and from absorption in Egypt and the franchise bill, proceeded the delays, vacillation, and compromises which heaped up fuel for revolution.

The Lords having destroyed a first attempt to compensate victims of eviction, slowly Gladstone during 1881 arrived at the Land Act, built upon the 'three F's' of fair rents, free sale, and fixity of tenure. His masterly parliamentary powers were, for the last time, triumphant. To fix rents for fifteen years by public tribunals, and to protect such tenants from eviction, was to revolutionize the British conception of property. But the Act had large omissions, — as of the 130,000 tenants whose rents were in arrears — and was coupled with a stiff coercion Act, giving to the Lord-Lieutenant most arbitrary powers. Parnell's reply was to use the Land League against the Land Act in order to force better terms, and in October he was arrested and put in Kilmainham jail.

1882 began with strenuous efforts for a settlement; by the 'Kilmainham treaty', inspired notably by Chamberlain, Parnell was set free on an understanding that he would co-operate in checking crime, in return for a wiping out of rent arrears and an end of coercion Rather than accept this, both Cowper the Lord-Lieutenant and Forster, Irish Secretary, resigned; Spencer replacing the first and Hartington's brother, Frederick Cavendish, the second. But within a week of Parnell's release Cavendish, together with Burke the Under-Secretary, was murdered by the 'Invincibles'' knives in Phoenix Park Whence came yet another coercion Act, a ghastly series of murders, cattle-maiming, killing of informers, and on the English side a refusal to hear of more concession. Yet under Spencer's firm government the Land Act bore some fruit. Parnell himself, distracted by his love for Mrs. O'Shea, was not prepared to allow the extremists to wreck his purpose of extorting an Irish Parliament from the rivalry of British parties Vote by ballot, as he had long ago perceived, gave him his weapon, while the franchise Act of 1884 made his hold on Irish seats secure. Having defied the Catholic bishops by exploiting crime to manipulate British legislation, he would now defy the criminals by exploiting British party.

It would be shallow to understate the sincerity of the party leaders. Long before the crisis there were Conservatives of high standing, like W H Smith, who advocated State-aided land purchase to stabilize the peasantry, or who with Hicks-Beach attacked unceasing coercion. Subject to the supremacy of the Imperial Parliament, Churchill in one camp would go as far as Chamberlain in the other to meet the wish for local self-goverment, though both men were ardent tacticians who

discerned one instrument of party victory in the Irish vote. But with the existing government no progress could be made ; the Whig element defeated one such effort in 1880, and early in 1885, against Gladstone and all the commoners in the Cabinet except Hartington, resisted the scheme Chamberlain had negotiated with Parnell for an Irish National Council, to be elected by representative boards and controlling land, education, and public works. The Chamberlain wing were on the eve of resignation when in June, nominally on their Budget but in fact by the Irish vote, government were defeated and resigned, on a division in which seventy-six Liberals abstained.

For the next half-year the situation was even more demoralizing, for Salisbury, the new Prime Minister, could not dissolve till the new register was completed and, pending the election, must manœuvre with his minority. In that memorable phase the decisive actors were Salisbury, Gladstone, and Parnell. Salisbury, like his rival, directed a party deeply divided, but as yet with less than Gladstone's authority, for he had only lately won recognition as leader, his own interests lay in foreign affairs, and with Tory democracy he was always out of tune. Yet his Cabinet's composition represented a considerable triumph for that wing and for Churchill, whose ally Hicks-Beach had the lead of the Commons, Northcote being ' kicked upstairs ' to the Lords. On Ireland Churchill's policy was to offer educational and financial reform, ministers began to criticize Spencer's coercion, and their first measure was the Ashbourne Act, advancing the whole price to peasants who wished to purchase their land

All the evidence goes to suggest that Salisbury would never have agreed to Home Rule ; he was not prepared, he insisted, to repeat the rôle of Peel in 1846, or of Disraeli in 1867. Yet his personal responsibility was great, for the Lord-Lieutenant he appointed was Carnarvon, who had legislated on Canadian federation and attempted it for South Africa, and whom he now permitted not only to speak publicly of reconciliation but, unknown to the Cabinet, to hold a secret meeting with Parnell. On the Irishman the effect was natural, that he now hoped to get much more than Chamberlain's central board, and henceforth his speeches declared for an independent Parliament.

By August 1885 Gladstone had convinced himself that such a demand could not be resisted, above all if, as he expected, the new elections gave Parnell a great majority He was aware of the Carnarvon interview, indignant at the Conservative attacks on Spencer, and his Whig colleagues saw with consternation how his mind was veering; through Mrs. O'Shea he invited Parnell to say what he wanted. Another paramount motive governed his action this year, the future of his party, which open differences between Whigs and Radicals threatened to destroy. To keep it at one through the election, and to deal with

the Irish question, which that election might make of 'commanding Imperial necessity', he would keep a fast hold on the lead.

These two questions were bound together in the personality of Chamberlain, now undisputed leader of the Left wing, for Dilke was this summer caught up in the adultery charge which killed his political future. Gladstone was now seventy-six, but Chamberlain only forty-nine years old, and his election programme was that of a younger Liberalism; the 'unauthorized programme', which held forth taxation for social purposes, manhood suffrage, compulsory acquisition of land for small-holdings, reformed local government, disestablishment, and free education. If some such essentials were not accepted, he would not take office. As for Ireland, he had broken off negotiation with Parnell and repudiated his claim for a separate legislature, the maximum he could contemplate being 'Home Rule all round', by some federal arrangement of subordinate councils under the Imperial Parliament. The youth of Liberalism, a youthful Lloyd George included, were flocking to his banner, which might well destroy Gladstone's leadership.

By mid-December the election results were declared. The agricultural labourer had rallied to Radicalism, the Liberals had a majority of 86 over the Conservatives, but it was not the independent majority for which Gladstone had appealed. For Parnell had given the Tories many boroughs through the Irish vote, and had himself won 86 Home Rule seats in Ireland. At that very moment Gladstone's son Herbert, alarmed lest Chamberlain should dominate the party, allowed the press to publish the so-called 'Hawarden kite', declaring that both his father and Spencer were ready for Home Rule. This was true enough, as Chamberlain had long suspected, but the revelation embarrassed the strategy which Gladstone had adopted, which was to induce Salisbury to legislate on Home Rule, with his support. In actual fact, the Cabinet had already decided to drop contact with Parnell, and to accept Carnarvon's resignation. Gladstone had kept Chamberlain at arm's length, concealing the degree of his own conversion; moreover, when he let it be known that he was pressing Salisbury to act, he strengthened Parnell's power to bargain. He was, in short, uninterested in — even hostile to — Chamberlain's social policy, and wholly possessed by Ireland, while Chamberlain privately denounced his scheme as 'death and damnation'

If Gladstone's secretiveness demoralized his party, in January 1886 he was forced to show his hand, when Carnarvon's resignation and announcement of a coercion bill showed that Salisbury and his party meant to stand by the Union. On the 26th, selecting a small amendment by Chamberlain's follower Jesse Collings on the need for small-holdings — nicknamed 'three acres and a cow' — Opposition ejected the

government by a majority of 79. But 18 Liberals voted with Salisbury, and another 76 abstained.

So Gladstone, forming his third government, had the chance of producing the policy on which, privately, he had been bent almost since he left office seven months before. His reversal of view had destroyed his previous Cabinet, neither Hartington nor Goschen, Bright nor Henry James would serve — Chamberlain and Trevelyan consented only to wait and see what shape his bill would take, and that shape might already be guessed from his choice of a Home Ruler, John Morley, as Irish Secretary. Nothing could conceal the truth that he lay at the mercy of Parnell, with whom and Morley he prepared the bill; refusing Chamberlain the place he wished at the Colonial Office, he treated him as politically suspect. Abandoning any federal basis, the bill proposed to withdraw Irish members from Westminster, and to set up a single-chamber Irish Parliament with full control over all subjects, except those expressly reserved to the Imperial Parliament — foreign affairs and defence, trade and customs; thus leaving to the Irish government powers over the police and appointment of judges and magistrates. In March Chamberlain with Trevelyan resigned, taking as his tactical demand the retention of Irish members at Westminster. But his objections went much further, to the control of law and police, and the forcible subordination of Ulster to a Dublin parliament. He objected, furthermore, to Gladstone's second measure, a bill to buy out the Irish landlords by advancing British credits to a Home Rule government.

Not very justly Gladstone vowed he was appealing from ' the spirit and power of class ' to ' the upright sense of the nation ', but whatever the nobility or even the necessity of his objective, his method is hard to defend, while some grounds against his bill were very real Forsaking equality of treatment between different sections of the kingdom, he had hidden his opinion from colleagues and electorate over many months, and now asked his party to swallow the policy of Parnell, who had spattered them with abuse and lost them many seats. The particular solutions he put forward could hardly have lasted long, Parnell was in active protest against the proportion of Imperial expenditure, of $\frac{1}{15}$, to be met by Ireland, how long, again, would an Irish tenants' Parliament have paid the 4 per cent interest on the credits for land purchase, or accepted taxation from an Imperial Parliament in which they would be unrepresented? and would not Ulster agree with Churchill's slogan, that ' Ulster would fight and Ulster would be right '? In any event, Gladstone's conversion asked a political impossibility of his party and the British peoples, to forget in a trice the Land League and murder and boycott, to obliterate their Protestant bias and his own declaration for a settlement in independence of the

Parnellite vote, and to entrust their Imperial security to forces long hostile and still untried.

That this fateful question was bandied between British parties was deplorable, and that neither party shines in the annals of 1885–6 is clear enough, but his method destroyed his own party; not only the Whigs left him, but Bright's immense influence reinforced Chamberlain's. When in June the bill was beaten by 30 votes in the Commons, 93 Liberals voted against it, when in July Gladstone went to the country, 316 Conservatives and 78 Liberals Unionist were returned, as against 191 Liberals and 85 Irish Nationalists At the end of a year's convulsion the old grouping of parties was thus shattered, and Salisbury was installed, for six years, at the head of an incipient coalition, whose character only events would determine. If the Whig element was destroyed, so too for the present the Radical social programme was paralysed. Rather than accept Gladstonian Home Rule, Chamberlain had sacrificed an almost certainty of becoming the next Liberal Prime Minister, and now, wresting his faithful Birmingham area from the Liberal machine, moved into a desert between the parties.

Simultaneously other causes besides Ireland had wounded Gladstone's fortune and fame

CONTEMPORARY DATES

1881 Murder of the Czar Alexander II.
Gambetta forms a ministry in France
France takes over Tunis
Death of Beaconsfield and Carlyle

1882 Italy enters the Triple Alliance.
Death of Gambetta, Garibaldi, and T H Green

1883 French expansion in Madagascar and Tonkin
Maxim invents his gun
Death of Marx, Turgenev, and Wagner

1884 Congo Conference in Berlin
Russia takes Merv
Founding of the Fabian Society

1885 Russia at Penjdeh
Death of Gordon
Gold found in the Transvaal
Cleveland becomes President of the United States

CHAPTER IX

SOUTH AFRICA, EGYPT, AND THE SUDAN

HAVING divided British democracy by his obsession with Ireland, Gladstone's course also ran counter to the second growing force of the age, British Imperialism. Taken together, his policies excluded his party from power for all but three of the twenty years ending in 1905

The outstanding international event of the late nineteenth century was the partition of Africa between the Powers, a process which, though not fully launched by 1880, was already in use by the diplomatic master at Berlin as one means of dividing his enemies. Though Bismarck was uninterested in colonies as such, to embarrass Britain and to stimulate German trade and prestige he took advantage of our weak Foreign and Colonial Ministers, Granville and Derby; whence resulted in 1884–5 the German protectorate of south-west Africa, the seizure of Togoland and the Cameroons higher up the west coast, and on the east a German company mastering the hinterland of Zanzibar. Within this frame must be painted the chronicle of this government, on which are inscribed two words most injurious to its fame — Majuba and Khartoum.

Carnarvon had set forth his African policies at a bad moment for the Imperial government, which in 1877–8 was entangled in agricultural depression, danger of war with Russia, and a certainty of war in Afghanistan. And no man was more averse than Hicks-Beach, his successor at the Colonial Office, to extension of territory or war expenditure. Though our objects were morally excellent, and proved in the long run indispensable, to bring South Africa under one government and this not least in order to enforce one native policy, our measures were premature, our means ill-chosen, and our resolution faltering. All of which ended in a bad example of a bad thing, a retreat from incurred obligations under the stigma of defeat

Federation had been damaged already by Carnarvon's attempt, via Natal and the Transvaal, to sidetrack the plain unwillingness of the Cape and the Orange Republic, and was killed outright by Shepstone's forcible annexation of the Transvaal in 1877, antagonizing leading Afrikanders at the Cape such as Hofmeyr and de Villiers, President Brand at Bloemfontein, and all the moderate element who hitherto had favoured union. Yet strong reasons for annexation could be found in

the hopeless Transvaal finances and native wars threatening its life, and yet stronger reasons against reversing it, once done. Gladstone's government therefore in 1880 declared it would be maintained. Many Boers were not unwilling, even Kruger himself hesitated longer than others like Joubert, but annexation had been coupled with promises that they should be governed in their own way, and through their own tongue. Nothing of this was done. Shepstone proved a stiffly incompetent ruler of white men, while the military governors who followed him advised against self-government. But practical reasons counted as much in this story as racial sentiment. Generous financial help and a railway policy, which might have accomplished much, were not forthcoming; British troops, a bare 4000 in Africa, were first engaged in Kaffir war and then covered with failure in Zululand

This Zulu war of 1879 was the doing of the High Commissioner Bartle Frere, who put to a most unwilling Cabinet the propositions that annexations up to the Portuguese frontier were inevitable on both coasts, and that the Zulus must be dealt with once for all Assisted by the absence of any direct cable between London and Capetown, he despatched that ultimatum which led to the murderous defeat at Isandlwana, and only the Queen and the Prime Minister stopped his recall there and then As it was, a censure of his measures by Disraeli and his part-supersession by Wolseley were signs of retreat, which outweighed our victory (July 1879) over Cetewayo at Ulundi and, taken with Gladstone's Midlothian speeches, encouraged Kruger's group to hope that the annexation of their country might also be reversed

Another year passed, the reforms promised did not materialize, our military governors so far disbelieved in resistance that they reduced garrisons, and then, late in 1880, taking advantage of the Cape being entangled in a Basuto war, the Boers rose Defeating General Colley once at Laing's Nek, in February 1881 Joubert's marksmen annihilated him and his force at Majuba, and in July the Pretoria Convention handed back their country to the victors. The battle had been fought in the middle of armistice negotiations, and the Cabinet were probably right not to withdraw concessions previously decided. But though the root of evil lay in our inaction during 1879–80, the effect of surrendering, after defeat, what had been denied before it, was deadly. Surrender was indeed wrapped up in the formula of 'suzerainty', with a British claim to rule Boer relations with foreign States, while other clauses purported to satisfy our ideal of protecting the natives; these safeguards, however, and the word 'suzerainty' were dropped in the amending London Convention of 1884. True, in the same year hard facts vindicated some of Frere's maxims, proving that to abdicate intervention in native Africa was impossible, for the Crown took over

Basutoland and South Bechuanaland as protectorates, at the same time checking both Boer and German ambitions by annexing St. Lucia Bay But South African unity, and hence unity in handling the native question, had disappeared; Kruger's republic was entrenched, while the Afrikander Bond party at the Cape set out to get rid of British paramountcy.

While this ancient, perpetually evaded, problem was so left incomplete and inglorious, the Cabinet took responsibility for a portentous addition to the burden of Empire by the occupation of Egypt. Our direct interests there, as the key of our route to India, were multiplied tenfold since Disraeli's acquisition of major control in the Suez Canal, and were forced into the open by the atrocious misgovernment of the Khedive Ismail, bankruptcy, and his deposition in 1878. With that began a period of 'condominium' with France, whose historic stake in the Levant was great, and whose zeal for the bondholders of the Egyptian debt much exceeded our own; yet the only alternatives to this uneasy partnership were, as Salisbury pointed out, either to stand aside, or to take sole control. This foreign sway, insisting on reform before satisfying vested interests but also inclined to think of the European bondholder before the Egyptian taxpayer, necessarily swelled Moslem and Nationalist feeling, which was directed not only against the Europeans, but the Turks and Armenians surrounding the young Khedive, Abbas. Steady, agreed policy, which was indispensable, broke down on the faction of French politics, Gambetta, its initiator, falling from power in 1882 and his successor Freycinet drawing back in fear of Germany. An Egyptian colonel, Arabi Pasha, led the Nationalist movement and demanded a constitution, whose wilder followers murdered many Europeans and trained their guns on the allied fleets. The French declining to intervene, in July the British bombarded Alexandria, from which first step, taken to protect life and property, flowed the long British occupation.

This was a sore matter for a Liberal ministry, since Arabi's crusade could be represented, with part truth, as a basis for self-government. On the other hand, Egypt was vital to the security of the Canal; it was full not only of international wealth but of Christian communities of Greeks, Copts, and Syrians; and in all sincerity our government wished to restore the Khedive's authority and 'Egypt for the Egyptians'. That done, as this and many later Cabinets protested, we should withdraw. A first stage was taken successfully in Wolseley's easy victory in September over Arabi at Tel-el-Kebir, and a second late in 1883 when Sir Evelyn Baring was appointed as British agent. France and Italy both refusing to co-operate, we acted alone, but still admitted Turkish suzerainty and would not declare a protectorate.

To restore a government quite devoid of law, honesty, revenue, or a

disciplined army, must anyhow take much time, but we were also at the mercy of a geographical fact, that Egypt depended for bare life on the Nile, and security in the Nile on peace in the Sudan. That vast area, spreading east to the Red Sea and south to the great Lakes, and only nominally conquered by Egypt in 1819, had under her misgovernment become a model of misery, a market for slave caravans, a hive of Arab fighting men and petty tyrants Out of its fanaticism rose in 1881 the Mahdi, 'the expected one' or Messiah, in one Mohamed Ahmed, who from an island in the White Nile above Khartoum declared that the Prophet himself had bidden him lead a *jehad* against unbelievers; a war in which Egyptians and Turks also should be overthrown, and Mecca return to its old glory. In 1882 his forces overran the province west of the river, Kordofan, and in November 1883 an Egyptian army, under a British commander Hicks, was ambushed and exterminated.

So began an ever-extending responsibility of the British government, which could have stopped this rash expedition by a word. They stood aside and now found themselves forced by clamour at home to save the Egyptian garrisons in the Sudan, and indeed forced to employ a particular instrument, Charles Gordon Never more than in this episode were the demerits of parliamentary government so cruelly exposed.

This colonel of engineers had first made his name in leading an 'ever-victorious' army in Chinese service against rebels; since then he had served Egypt in the Sudan between 1874–80, far to the south of Khartoum; suppressing slavery, building the first elements of a government, never out of danger. His fearlessness, his charmed life, and contempt for the world's honours had made him a man of legend; the more wondered at because, in an age of dwindling faith, he acted and spoke openly as a man moved by one motive, that he was but the tool of a divine worker, 'the dust under His feet', with something of Cromwell's feeling that he had been accepted into grace This mystical hero, guided by impulse and contradictory moods, stood at a far distant pole from Baring, our watchful methodical servant at Cairo, who had demurred to his appointment, accepting it only under the pressure of government and public opinion.

Government policy, and one inevitable in view of British feeling and Egyptian weakness, was the evacuation of the Sudan But having instructed Gordon to concert with Baring, and allowed him to be named governor-general of the Sudan with orders to bring out the garrisons and refugees, when they found that their own vague handling might involve military action, they accused him of departing from instructions. His request, backed by Baring, for the employment of Zebehr Pasha was refused, in deference to the House of Commons, for Zebehr had

been a great slave-trader — though to abandon the Sudan was plainly to abandon it to slavery. Having sent Gordon by the Nile to Khartoum, where in March 1884 he was shut in by the Mahdi's overwhelming numbers, they refused his proposal that the forces at Suakin should be used to force open the eastern route to the Nile at Berber. His arguments that evacuation would mean fighting, and therefore reinforcements, were backed in March by Baring's warning that it was time to prepare a relieving force; Gladstone and Harcourt led a Cabinet section against it, and it was not till August that an ultimatum from Hartington compelled them to decide. They found reasons for their dilatoriness by fastening on Gordon's phrases, such as 'smashing up the Mahdi', or by taking offence at his cry that to abandon the garrisons would be 'indelible disgrace'.

So, disagreeing with Gordon but not recalling him, nothing could be more purblind than Gladstone's bland insistence that Gordon was in no danger, or that war in the Sudan meant war on a people 'rightly struggling to be free'; this, of a fearful whirlwind of torture, death, disease, and lust, which in the next two decades was to obliterate three-quarters of the population; at a moment when Baring had reproached government as 'deaf to humanity and honour', and when Gordon with only two other Englishmen held out in a siege of 317 days. But many eyes at home were fixed rather on the franchise bill than the Nile

At length in October Wolseley's force set out from Wady Halfa, and on 17th January 1885 won a desperate victory at Abu Klea. On the 26th, storming in at an angle which the ebbing Nile waters had made it impossible to refortify, the dervishes entered Khartoum, killed Gordon and massacred all whom they could find. The first British steam-boats arrived two days later.

National indignation was burning, the government's majority falling to fourteen on a vote of censure, and even more lasting the anger of the Queen, who in open telegrams criticized the 'frightful' delay and wrote of 'the stain left upon England'. For a month the Cabinet, returning to Gordon's view, declared for destroying the Mahdi and setting up an orderly government, but then reversed their decision; moved not merely by Baring's preference for a defensive and by Radical discontent, but by a sudden alarm of war. For some years Russia had pushed her advance over Turcoman territory, in 1884 occupied Merv, and in March 1885, moving in force towards a frontier at that moment under discussion, attacked the Afghans at Penjdeh, north of Herat. Gladstone asked large military credits, the Czar finally accepted arbitration, but this crisis enabled Gladstone to get rid of the Sudan. Though we retained a garrison at Suakin, the Egyptian frontier was drawn back to Wady Halfa And though the Mahdi died this year, the Khalifa Abdullah and his slave-drivers ruled the central Sudan — the rest

falling in time to other claimants. the fierce Senussi of the western desert, Menelik the aggressive conqueror of Abyssinia, one strip to the King of the Belgians' evil dominion in the Congo, and the port of Massowah to Italy. It was not till 1891, after several petty campaigns, that the Egyptian frontiers could be considered safe.

Meantime Baring wrestled with two sets of problems: corruption and forced service, the lash and the slave trade, irrigation and finance, all of which must be reformed if the people of Egypt were to be given life and hope, but also with the debt-holders and foreign colonies, and the capitulations and mixed courts that protected them. Every year he worked, the reasoning against speedy evacuation was strengthened Gladstone sent out Northbrook to investigate in 1884 but rejected his advice when it tended to give Great Britain the last word; Salisbury's envoy Drummond Wolff in 1887 signed a convention with Turkey, which spoke of evacuation within three years. But as this was guarded by a clause giving us a right of re-entry in emergency, under the influence of France and Russia the Sultan eventually refused to agree.

Continuance in Egypt had, in fact, become intermixed with our position in Europe and Asia, and a touchstone of our security.

CHAPTER X

THE SALISBURY GOVERNMENT, AND FOREIGN AFFAIRS, 1886–1892

So long as Gladstone adhered to his Irish policy, the new Cabinet could count on the Liberal Unionists, whether Whigs or Radicals. Indeed, since their vote could turn the scale, Salisbury offered to take office under Hartington who, however, declined either to lead or to serve. And as any offer to Chamberlain would have been too sharp a curve, he made a purely party government.

Still keeping some of Disraeli's veteran administrators like Gathorne Hardy and Cross, it gathered strength as it proceeded, and not least, paradoxically, through what might have seemed a mortal blow — the resignation of Randolph Churchill in December. At the age of thirty-seven he was Chancellor of the Exchequer and leader of the House; his wise ally Hicks-Beach had the key position of Irish Secretary, while his aversion Stafford Northcote (now Lord Iddesleigh) held the Foreign Office under Salisbury's supervising eye. But whether his undisciplined egoism could ever have long led, or worked with, the party is questionable, even if he had not blundered, or if his health had not broken down. For his remonstrances to Salisbury and his speeches announced a programme nearer to Chamberlain than to his own party, Salisbury in vain warning him that it depended less on the masses than the classes, who asked 'a lower temperature', or that time would bring what his furious driving would imperil. His Budget proposed to get funds by increasing death- and house-duties, and by economy in armaments, whereby he would be enabled to lower income-tax, tobacco- and tea-duties, and to provide larger grants for a democratic local government. Both service ministers, W. H. Smith and George Hamilton, resisted his economies and, since the European situation was black, Salisbury supported them. Repeating his earlier tactics over the fight to capture the party machine, Churchill offered his resignation which, to his surprise, was accepted with relief.

Once more, in deference to his friends, Hartington declined the opportunity of leading a Coalition, though the gap at the Exchequer was filled by another Liberal Unionist, and a first-rate financier, in Goschen At his instance Iddesleigh was removed from the Foreign Office, which was taken by Salisbury himself, and the shrewd business man W. H Smith took the lead of the Commons. Hicks-Beach's health temporarily

failing, Salisbury's nephew A. J. Balfour became Irish Secretary, in that post revealing the courage and power of debate which, on Smith's death in 1891, gave him the lead of the House. Another first effect of Churchill's fall was a loosening of the government link with Chamberlain and a move, soon proved vain, for Liberal reunion Yet the Tory democracy which Churchill stood for, and which he declared ended by Balfour's elevation, did not, in fact stand still, though he himself fell into a sad isolation and died, still under fifty, in 1893.

Ireland apart, there was much common ground between the parties, and if this government was not inclined to sweeping legislation, some of its measures had a large importance Its method of enquiry by royal commission was to bear fruit later in many directions The Hartington commission of 1890 recommended some vital Army reforms, in particular for an Army council and a general staff; though these were delayed for another generation. Naval reconstruction, urgently called for by new inventions in guns, armour plate, and design, took shape in the Naval Defence Act of 1889, which envisaged a building programme of ten battleships and sixty cruisers within five years. Goschen's finance essentially followed on Churchill's lines, in reducing sinking-fund charges, income-tax and tea-duty; in 1888 he was able to convert £500 millions of 3 per cent Consols to a 2½ per cent basis. Moreover, this Conservative Parliament achieved a good part of Chamberlain's Radical programme Tithe became an obligation on the landowner, and no longer on the tenant A housing Act of 1890 widened the possibility of demolishing or buying-out slum areas A technical instruction Act gave to local authorities some valuable powers, which Goschen furthered by increased Exchequer grants. The Local Government Act of 1888 ended the historic predominance of the country gentlemen by transferring all administration — though not judicial powers — from the J.P.'s to elected councils for counties and county boroughs. A parallel Act created the London County Council, and though its area was constricted and its power curbed by the City corporation and certain boards and vestries, in this arena its progressive majority fought the first battle for a practical Socialism

In general the financial doctrine of Peel and Gladstone still held the field, that money did more good in the taxpayer's pocket than in the Exchequer; Churchill had only budgeted for £94 millions, and Goschen's never rose to £100 millions But this government's life began in a heavy trade depression, unemployment produced several riots, and though trade then improved until 1891, there seemed less resilience in our recovery, and social discontent had much to feed on. The great strike of the dockers in 1889 for 6d. an hour, the publication of Charles Booth's statistics of London poverty, a Shop Act allowing a maximum of 74 hours a week, such illustrations expose it. A new and

more democratic trade unionism, reinforcing the Socialist thinkers, found its opening in the new democratic local government.

As for the Union with Ireland, the cause on which this government was returned to power, the Cabinet went its way with some grave mistakes, yet with resolution and, from a party angle, some unexpected good fortune. The ' plan of campaign ' of 1887, to answer evictions by systematic refusal of rent, divided the extremer men like John Dillon from Parnell; the publication by *The Times* of letters accusing Parnell, and others, of contact with murder made the background for a permanent crimes Act, allowing the chief secretary to ' proclaim ' areas and suspend trial by jury. When Parnell took legal action against *The Times*, government offended constitutional tradition and justice by using a special commission of judges to supersede the ordinary courts, and to launch a political investigation. Damaged by that, they were injured further by Parnell's acquittal and proof that the letters were forgeries, but in 1890 were rescued by Parnell being found guilty in the O'Shea divorce proceedings, a revolt of the British Nonconformist conscience, Gladstone's announcement that Liberals must choose between Parnell and himself, and a resounding split in the Irish party, which was prolonged even after Parnell's death in 1891. Meanwhile Balfour accompanied coercion in Ireland by reform, a scaling-down of judicial rents, extension of land purchase, and the creation of a Congested Districts Board, with subsidies for the fishing, crofters, and village industries of the poverty-stricken west coast It is not in domestic politics, however, that Salisbury's prime interest, and his historic fame, are to be found.

Destined to be the last peer at the head of a Cabinet but to hold that place for thirteen of the last sixteen years of the reign, this remarkable character was far removed from that of an average party leader. Not in the least ardent either for democracy or Imperialism, he deplored the damage done by the first to consistency in public life and steadiness of policy, while he resented the money-making and land-grabbing that accompanied the second. As devoted as his ancestor Burghley to the interest of England, he too was a man of European feeling, insistent that Great Britain must follow a neighbourly policy of understanding for others The inner spring of his conduct was the Christian life, yet he saw Christianity as at incessant war with the heathendom of man, which must be met with human weapons. Though he despised the cries of party and was a radical in his acceptance of new invention and his scientific interests and contempt for muddled compromise, his fixed hostilities sometimes made him act like a partisan. Essentially, perhaps, he approached public life from the angle of loyalty, to the Queen especially, the nation and its institutions, colleagues, family, and Europe. His wisdom, admired by the public from

whom he carefully hid himself, was a compound of several balancing forces; a realist disbelief in man's altruism, a view that evils usually cancel each other out if left alone, and a strategic preference for an uncompromising course. If he never despaired of the State, it was perhaps because it was not in him to hope overmuch.

In its ruling conditions foreign policy had been revolutionized since the death of Palmerston. Bismarck's Germany had replaced a supreme France, behind Germany was a more coherent Austria-Hungary, a kingdom of Italy had come into being, and Russia's ambitions had achieved much success. What mattered more was that every major Power was seeking markets and raw material in Africa and Asia. These factors resulted in an uneasy equilibrium, from the Berlin treaty of 1878 until Salisbury's return to power in 1886.

Towards the end of his life he described our diplomatic isolation as ' a danger in whose existence we have no historical reason for believing ', but though he struggled against commitments to which, he argued, a parliamentary government could not be held, ' magnificent isolation ', which was one of his casual explosive phrases, misrepresents his real attitude. The Gladstone-Granville regime, he thought, had left us without a friend, and with two dangerous enemies. The one was France, whose hatred he called ' incurable ', and who nursed or was manufacturing grievances all over the globe — whether Newfoundland fisheries, Indo-China, or the Congo; who had lately occupied Tunis and Madagascar, schemed annexation in Morocco, and was set on obstructing us in Egypt. Again, her internal instability always encouraged the rise of a war-party. Lord Lyons, whom Salisbury once invited to become Foreign Secretary, during a twenty years' tenure of the Paris embassy dealt with twenty-two foreign ministers; and in 1886–7 a melodramatic war minister, General Boulanger, seemed to be working up his country to take her revenge. Our second potential enemy was Russia, who had not forgiven her humiliation in 1878, had shown her teeth at Pendjeh, and whose tyrannous exploitation of Bulgaria suggested that she had not abandoned hope of Constantinople. In such a world isolation was unsafe, for in certain circumstances, Salisbury wrote, a European coalition might treat our Empire as ' divisible booty '.

Since every addition to Empire exposed a larger surface, our position in Egypt was full of danger. It antagonized Turkey, estranged us from France, and provided Bismarck with a weapon of precision. Till 1890 the German chancellor remained the mightiest figure in Europe, and though he declared Germany a sated Power and his sincere aim was to keep the peace, his manner of doing so was to dominate by the fear, language, and preparations of war. His trampling triumphs had left him with but one horror, of a war on two fronts: from France in revenge for 1870, and from Russia, sore at the defeat of her pan-Slav objectives.

To isolate France and keep Russia content he therefore constructed a close network a secret treaty in 1879 with Austria, for in the last resort Austria must be preserved; the three Emperors' league, to keep touch with Russia; and the Triple Alliance of 1881, to harmonize the jealousies between Austria and Italy. With Great Britain he had no direct quarrel, yet everywhere he crossed our path Indifferent to the future of the Balkans, he was ready to partition those small States into an Austrian and a Russian zone. Italian indignation at the French seizure of Tunis suited his book well, and so even more did the British occupation of Egypt, for with it he could foment French feeling to fever, or blackmail Britain in the Pacific and Africa.

Always distrusting Gladstone's ideals and his sympathy for the Slavs, Bismarck secretly arranged with the other Eastern Empires that the Straits should be closed to our warships, while in the dilatoriness of Gladstone's colleagues he found another opening While Granville and Derby circulated his demands between the Foreign and the Colonial Offices, he protested against 'a Monroe doctrine for Africa', and in 1884 made South-West Africa a German protectorate, annexed Togoland and the Cameroons, and with French support challenged Anglo-Portuguese claims on the Congo. Karl Peters and a German company were probing in the interior behind Zanzibar; simultaneously, to the indignation of Australia, German stakes were being planted in New Guinea and Samoa

To arrest this disintegration, to meet just grievances, and settle the immense question of Africa in peace, were the tasks which Salisbury undertook, and substantially performed. All through 1886–8 the atmosphere was highly charged with the Czar's soreness over a free but ungratefully anti-Russian Bulgaria, Turkish intrigue, and the flamboyance of Boulanger. While Churchill gyrated between advocating the abandonment of Constantinople or a German alliance, Salisbury slowly made sure of what he judged were the minimum requirements. Of Turkey he had never taken the same view as Palmerston or Disraeli, finding in Balkan liberties a better buckler against Russia, but, he told Churchill, 'I draw the line at Constantinople'. He was equally ready to evacuate Egypt, if and when stabilization there was reached, realizing that without this any amity with France was unprocurable But French colonial ambitions and feverishness provoked him. Two pacts of 1887 register his conviction that for the time being our interests lay with the Central Powers, above all with Austria, who might do our Middle Eastern work for us, though he signed them 'with regret', for to some extent they committed us In effect we undertook, in collaboration with Austria and Italy and with German good will, to maintain the *status quo* in the Mediterranean and Black Sea, the Straits and the Balkans

Yet he would not listen either to Italy's request for an outright

alliance against France, or to Bismarck's in 1889 for a public treaty. The German game, of making others pull their chestnuts out of the fire, was very visible, nor did he find in them any assured support against Russia British constitutional tradition in any case forbade such a step, while at the moment British feeling was angry over Bismarck's feud with the dying Emperor Frederick and his English wife and offended by the first gestures of their son, the young Kaiser William II With Bismarck's dismissal in March 1890, however, a new era began, destined to see swiftly realized what he had most striven to prevent, the dual alliance of France and Russia. But some last threads of the earlier age were tied in the Anglo-German treaty of June.

A great age of African exploration had just ended, in which Britons had done mighty deeds from Mungo Park down to Livingstone, our last important exploit being Joseph Thomson's march in 1883 from Mombasa over the Kenya highlands Five forces, or magnetic points, had drawn Britain into the heart of the continent These were our West Coast settlements; our base at the Cape, with its northern projections, the posts set up by Livingstone round the great Lakes; the Sultanate of Zanzibar, connecting with our interests in India and the Persian Gulf, and, finally, the claim of Egypt, lately strengthened by Samuel Baker and Gordon, to control the Nile from end to end Hitherto our economic ventures had been left to fend much for themselves, our outstanding motive having been the suppression of the slave trade, to which end we had annexed Lagos, tightened relations with rulers in the Persian Gulf, and forced abolition of slave-trading on Zanzibar. To maintain this object, and to protect Christian missions, without increasing our territory, had been the Foreign Office doctrine

But the new conditions made it obsolete. Explorer and missionary had been followed by trade, a traffic in fire-arms, gold, and diamond-diggings, and wars had transformed native Africa Stanley's ruthless expeditions from coast to coast cut swathes through its tribal communities, a large Indian settlement at Zanzibar claimed our protection, and the Powers of Europe were using commerce as their spear-head; Leopold II of Belgium founded a Congo Association in 1878, while the French were reaching out arms, both from the west and Algeria, to embrace all north-west Africa in one empire Germany had taken action, as we have seen; Italy was stretching southward from the Red Sea, even Portuguese Africa had stirred from centuries of sleep, putting forward what Salisbury called 'archaeological claims' to an area reaching from Mozambique on the eastern sea to Angola on the west. How jealous were these rivalries we discovered in 1885 in the resentment against a separate Anglo-Portuguese agreement, and in the summons of the Berlin conference, which delimited the Congo State and arranged for navigation and trade in the million square miles of its river system.

With that partial exception, these claims and encroachments pierced a continent still almost unmapped and frontierless, in which a 'treaty' with some savage chief or the hoisting of a flag represented the vanguard of some great Power, and in which some Belgian or French officer from the west might march without resistance to the Nile.

Salisbury inherited this explosive substance when it had been added to the fires of Europe, when Bismarck was pushing on colonies to rivet France against us, and when Gladstone had publicly wished 'God-speed' to Germany as a colonizing Power. What happened on the west in 1884 was the next year repeated in the east, when the German government took under its wing the annexations made by Peters in the hinterland of Zanzibar. Now that they held the capital port of Dar-es-Salaam, a naval squadron and a treaty demolished the ideals of our agent John Kirk for an independent Zanzibar under British guardianship. So far afield had ranged the effects of Majuba and Khartoum, Pendjeh and Ireland

With events moving at this speed, Salisbury's method was to accept the inevitable, to choose his priorities, and to strengthen where we were strong. If France was to be warned off the Nile, she must be allowed to vent her ambition elsewhere · what could not be saved from Germany, might at least be shared. British enterprise, he believed, could regain ground if it were encouraged, and this conviction was marked by charters to the Niger Company in 1886, the East African in 1888, and Rhodes' Chartered Company in 1889. Territorial agreements with France and Portugal were followed by two much more considerable events, in a settlement with Germany and the beginnings of Rhodesia.

By 1890 our bargaining value was much raised. Egypt might, in a military sense, now be considered safe, Russia was getting loans and rifles in Paris, Italy desired our approval for her designs on Tripoli. In Africa itself there was urgent need for settlement, the whole east coast being in an uproar from Mozambique to Somaliland, with Germans and Italians staking claims by force of arms, and Peters invading Uganda to take us in the rear. Hence came about the treaty of July 1890. Heligoland was the price, which we had held since 1807 but which the Admiralty said would be indefensible in modern war, and for it the Kaiser's naval enthusiasm would bid high, since the Kiel Canal was under construction and the island would be its shield Germany in return admitted our protectorate over Zanzibar, ceded her claims on the coast approaching Somaliland, and all east of a line drawn roughly from Mombasa to Victoria Nyanza, recognizing too the upper Nile basin as a British sphere. So was constituted British East Africa, out of which came Kenya and the Uganda Protectorate On its west, German East Africa was barred from our missionary road connecting Lakes Nyasa

and Tanganyika, though northwards its frontier was to meet the Congo State, which would intercept a Cape to Cairo through-line. German South-west was also extended, by the narrow 'Caprivi strip', to reach the Zambesi

These arrangements directly affected the territory which was to become Rhodesia, that immense area which, running north-eastwards, would restrict the Transvaal on both west and north, embraced the Zambesi's main course and the Congo tributaries, and met Germany and Portugal on both sides of the Continent Its origins began when our Bechuanaland protectorate, declared in 1884, made contact with Lobengula, the Matabele king; they went much further in 1888, when he agreed not to cede territory without our leave and granted to a Rhodes syndicate a monopoly of minerals. This last passed to the Chartered Company, whose pioneers in 1890 entered Mashonaland, the northern Matabele territory That in turn brought them into armed collision with the Portuguese, who in Delagoa Bay and Beira held the natural ports both for the Transvaal and Rhodesia, and whom Rhodes would have wished to expel entirely Disclaiming this violence, Salisbury enforced in 1890-91 conventions on both parties, compromising the conflict on the lower Zambesi but admitting our protectorate over Nyasaland and Mashonaland As he had also recognized French claims in Madagascar and in the Sahara between Algiers and Lake Chad, in return for our new position in Zanzibar and admission of our Company's advance inland in Nigeria, for a time at least the partition of Africa might cease to inflame Europe.

There our fundamental rôle did not change before his fall from power in 1892, or indeed during Rosebery's tenure of the Foreign Office until 1895. Austria and Italy being considered as valuable friends, the Triple Alliance was renewed with our good will, we continued to bicker with France, alike over Egypt, Newfoundland fisheries, and her expansion of Indo-China so as to menace Siam. Almost annual visits from the Kaiser, though exasperating his grandmother and her Prime Minister, and even more his unfriendly uncle the Prince of Wales, seemed to proclaim our adhesion to the old system; and events in Africa might be thought to clinch it. For Salisbury left to his successors the project of a Uganda railway, as part of his determination not only to maintain our hold on the Nile but to reconquer the Sudan.

Though the crash of Parnell halted the Liberal swing in bye-elections and though, save for Gladstone and Morley, ardour for Home Rule was now very tepid in the Liberal ranks, the government had lost much ground. Trade was slipping down again into depression, labour discontents were loud, and the Liberals' Newcastle programme of 1891 made large bids for the Radical vote; holding out prospects of Church disestablishment in Wales, triennial parliaments, abolition of plural

voting, local option over licences to sell drink, allotments for labourers, district and parish councils. Salisbury was not the man to outbid such offers, and though his Liberal Unionist alliance remained staunch, Conservatives were slow in welcoming any of Chamberlain's Radical items.

The election results of 1892 promised neither strength nor stability As against 315 Conservatives and Liberal Unionists, making a majority in Great Britain, Gladstone's 273 Liberals drew their strength from Scotland and Wales, but depended for their very existence on 81 Irish Home Rulers

CONTEMPORARY DATES

1886 Boulanger, Minister of War in France
Under Russian pressure, Alexander of Bulgaria abdicates

1887 The Grévy scandals in France.
Beginning of the Kiel Canal
Crispi, Prime Minister in Italy

1888 Accession of Kaiser Wilhelm II
Kipling, *Plain Tales from the Hills*

1889 Menelek makes himself ruler of Ethiopia
British South Africa Company chartered
London dock strike
Bernard Shaw, *Fabian Essays*
Death of Browning and John Bright.

1890 Fall of Bismarck
McKinley tariff in the United States
French troops occupy Timbuctoo
Ibsen, *Hedda Gabler*

1891 Suicide of Boulanger
Franco-Russian alliance
Hardy, *Tess of the d'Urbervilles*.
Death of Parnell

1892 Witte, financial minister in Russia
Zola, *La Débâcle*
Death of Renan and Tennyson

CHAPTER XI

HOME POLITICS AND PARTIES, 1892–1905

THESE thirteen years, the last of the Victorian era, divide into a short Liberal and a long Conservative phase, though formally into four different Cabinets — of Gladstone succeeded by Rosebery, and of Salisbury continued under Balfour. Domestic politics were diverted and their solutions delayed by external events, war in South Africa and a series of international dangers which threw us, substantially for the first time since the seventeenth century, against the German Powers and on the side of France. In the permanent scales these were the decisive weights, yet there were other measures and changes, personal or social or administrative, of lasting importance

Much more than superficially the scene was transformed at the death, in January 1901, of the Queen A sixty-four years' reign had brought her from Wellington and Melbourne to Asquith and Balfour, during which the place of the Crown in the State had been elevated, in part by her sense and virtues, in part by the sheer majesty of time With much acceptance to herself, she had become the symbol and connecting link of a diversified Empire; much against the grain, she lived also into the epoch of democracy. Her sex, her solitude, and the reign's triumphs encircled her with almost legendary reverence, taking final expression in the Diamond Jubilee of 1897, when the greatest sovereigns of Europe, Dominion Prime Ministers, Colonial and Indian soldiers, did homage to the granddaughter of George III Her political qualities were ever the same Strenuously hostile to Gladstone to the bitter end, she raised up Rosebery and vetoed employment of the malignant Radical Labouchere; declaring that the constitution had been 'delivered into her keeping', she protested against any move to reform the Lords, and in 1895 seriously explored her right to order a dissolution of Parliament. She exerted herself to raise her youngest son Arthur, Duke of Connaught, to high Army command; wisely advised by Randall Davidson, dean of Windsor, she argued every episcopal appointment, even against Salisbury. Her sense of duty and fortitude lasted in extreme old age through the darkest days of South Africa and were displayed, too late, in a visit of 1900 to Ireland, for the first time since 1861.

Gladstone's long life and his large blind spots, the Irish matter, and swelling democracy, all cemented Unionism, in the junction not only of

Chamberlain's Radical Imperialist following, but of a majority of the Whig and propertied class, with the Conservatives. The results, both near and far distant, would be grave: that the Lords became a Conservative party body, whose resistance to Liberal bills must invite attack; that parties were massed, as never before, largely on lines of class, and that a class party would arise, prepared to outbid, and in due course to extinguish, Gladstonian Liberalism. Imperialism, the other growing force, had comparable effects, dividing the Liberal party into two bitterly opposed sections and thus giving a decisive weight to Chamberlain, in whose hands Empire took on a new reality.

Gladstone's last government, of 1892–4, was a sad and sorry business. He was now eighty-three, handicapped by deafness and cataract in one eye, raised far aloft by age and fame, indisposed and too infirm to tolerate Cabinet dissension. Though he brought in two excellent administrators in Asquith at the Home Office and Acland for Education, the Liberal Unionist split had diminished the available talent, while the prospect of his retirement brought out every conceivable division. There was one long-continuing difference of principle, between Rosebery, with others like Kimberley, who had imbibed Imperialism, wished to hold Uganda, and refused to pronounce for an early evacuation of Egypt, as against Gladstone, Harcourt, and Morley, with all those holding the view of mid-Victorian Radicalism, that such things meant waste, tyranny, and war. But the personal factor was too much involved. Harcourt, the commoner next in the succession, was irritable and intolerant; Rosebery, a courtier peer who had never sat in the Commons, was moody and hypersensitive; Morley was jealous and thin skinned.

There were two other points of danger. With a fatalism almost magnificent, Gladstone thought of nothing but Ireland, yet Home Rule was unpopular with half his colleagues; Harcourt, for one, would have gladly seen it buried. Again, not a word of Gladstone in the election, except one of opposition to an eight-hour day, betrayed a gleam of interest in the social discontents which were fast rising. All through 1893–4 trade sagged, and wages with it, in 1893 thirty million working days were lost by strikes, a six months' stoppage in the cotton trade being only ended by the Brooklands agreement, which was long to keep textile wages steady. That year also a fierce coal strike brought about the Featherstone riots in Yorkshire, when the troops fired and killed two of those wrecking the collieries, — an important incident for the career of Asquith, and important too for the British doctrine of martial law, which treats soldiers as citizens merely concerned, like other citizens, to preserve the King's peace. It brought about also the first important government intervention in a wage dispute for many generations. In this year moreover, under the inspiration especially of the

Scottish miner member, Keir Hardie, the Independent Labour Party came into existence, pledged to create a working-class Socialist party. The trade-union movement, once the nursery of Radical skilled craftsmen, was beginning, again with the miners in the lead, to organize *en masse* all those employed in each industry. But little of this could have been guessed from the Cabinet programme, or the Liberals' relations with Labour.

With no party enthusiasm behind him, though with unexhausted resource, Gladstone fought for his second Home Rule bill through 1893. Though this time it proposed two Irish chambers instead of one, once again it ignored the objection of Ulster, and once again illustrated the crux in finding any half-way house between Union and separation For, to meet the point raised above all others in 1886, it was now proposed to keep Irish members at Westminster, though they would vote on Imperial questions only; when that was judged impossible in practice, the government decided to keep them at Westminster for all purposes,—able, that is, to vote in English and Scottish business, whereas in Irish affairs neither England nor Scotland would have a say. This bill passed the Commons by a majority of 34 only, or, in other words, would have been beaten save for the Irish vote, and was rejected in the Lords by 419 to 41.

Here ended the political life of Gladstone, by no means as this great warrior would have wished. His government were carrying a local government Act, setting up district and parish councils, the finance of which was restricted by the Lords, who had already mutilated some smaller measures. Was this to be borne, and all hope to die of his re-introducing Home Rule? He proposed a dissolution but his Cabinet would not hear of it, and at the turn of the year 1893-4 he was fighting an almost solitary battle, — as he had long ago against Palmerston — against an increase of naval estimates which Spencer and the Admiralty considered vital. In March he resigned, his last speech to the Commons proclaiming that between them and the Lords there were 'differences of fundamental tendency', — a controversy 'which, once raised, must go forward to an issue'. So the member of 1832 for a Duke of Newcastle's pocket borough ended his sixty years with the battle-cry of the People against the Lords.

His advice on the choice of a successor was not asked by the sovereign; whose own selection was a peer, yet not Spencer whom he would have named, but Rosebery The Queen, indeed, acted as the Cabinet majority wanted, for the sufficient reason that they found unendurable the prospect of Harcourt But the choice was fatal. Rosebery's great accomplishments of speech and writing, his wealth and social outlook, did not commend him to the bulk of his party, a courtier in the sense of Disraeli or Granville, the friend of Randolph Churchill and

Cecil Rhodes, the husband of a Rothschild, on the side of his deeper affections and beliefs he had little in common with Radicalism, and less with Nonconformity. Some felt displeased that he twice won the Derby while Prime Minister, others because he admitted that Home Rule must wait till England, 'the predominant partner', was converted, or because he proclaimed a protectorate in East Africa. And, though allowing the need of Lords' reform, he held a high view of a second chamber.

His government lasted only fifteen months. A Prime Minister in the Lords must depend on close understanding with the leaders in the Commons, but some never gave him the barest loyalty; Harcourt never forgave his own supersession, Morley was indignant at not getting the Foreign Office, Labouchere had desired the Washington embassy. The one solid performance of 1894 was Harcourt's Budget, framed to meet a demand of £3 millions extra for the Navy, and introducing the powerful weapon of a remodelled death-duty, while in another sense it was his triumph against Rosebery, who disliked this onslaught on landowners and the taxation of capital to acquire revenue For the rest, government pursued Harcourt's plan of 'filling up the cup', by bringing forward one item after another of the Newcastle programme of 1891 — Welsh disestablishment, a bill giving power to extinguish liquor licences without compensation, and another to abolish plural voting That the Lords would reject all alike was tolerably certain, and perhaps the intention, not a process inspiring to the electorate, who would have respected a dissolution challenging the peers, and especially when for such bills there was little demand.

In this state of dispute they could not have lasted long; actually they fell in June 1895 on a chance vote, and on a false ground, that one of their best administrators, Campbell-Bannerman, had failed to equip the Army with cordite, or smokeless powder. Without unity or a programme they resigned, Salisbury immediately dissolved, and the electorate returned 340 Conservatives and 71 Liberal Unionists as against 177 Liberals and 82 Irish Nationalists. Both Harcourt and Morley lost their seats, while Rosebery let it be known that he would not serve with Harcourt again.

The Unionist party, installed in such strength, embodied a good deal more than antagonism to Home Rule Though separate Liberal Unionist organization continued, in the Birmingham area indeed until 1919, outwardly the temporary alliance of 1886 had been consolidated. The leaders on either side, Salisbury and Balfour, Devonshire (as Hartington had now become) and Chamberlain, were loyal and conciliatory to each other, Chamberlain's followers thus giving up their crusade against Church schools, while Salisbury recognized that part of

Chamberlain's social pledges must be honoured. The high ability of the Liberal Unionist chiefs gave them Cabinet places, six out of nineteen, much exceeding their numerical ratio and, subject to Salisbury and Balfour leading the two Houses, they took office on their own terms, Chamberlain choosing the Colonial Office and Devonshire refusing the Foreign Office, which Salisbury again combined with the burden of the Premiership Unchanged for the next five years, this Cabinet, though somewhat elderly, assembled many gifts, including besides those mentioned Goschen, James of Hereford, Hicks Beach, Cross, and Lansdowne.

If they came in on a boom which carried our figures of trade to a new record until 1900 and kept unemployment down to minute proportions, their administration was distracted by international crises, and dogged by the origins and process of the South African war. Though these did not strain their unity, for both Imperial sentiment and financial venture overseas were at their height, this Imperialism underlined the fact that Chamberlain shared power on equal terms But it had also the reverse effect, of delaying Chamberlain's social reform The only measures on a large scale were an important workmen's compensation Act of 1897 which put squarely on the employer the liability for accident to life and limb, and a large factory Act of 1901, rounding off the work lately done by Asquith for health and safety Chamberlain had long wished to follow the German example in social insurance, and in particular to do something for old-age pensions, in which the social reformer Charles Booth had given a lead, but the modest proposals of 1899, for 5s. a week to the poor over the age of sixty-five, were extinguished by the war. A London government Act of 1899, though leaving the City corporation intact, replaced old boards and vestries by twenty-eight elected borough councils, and an agricultural rating Act of 1896 proposed to remedy depression by relieving farmers of half their rates

In legislation, as in much else, a new activity came in with the new century that was inaugurated by the so-called 'Khaki' election of 1900, which used war sentiment to confirm the party majority; by the Queen's death in January 1901; peace in South Africa in May 1902, and Salisbury's resignation in July. The old minister had aged much, having already made over the Foreign Office to Lansdowne, nor had he ever sympathized, except in housing questions, with domestic reform; some older men had gone already in Cross, Goschen, and Chaplin, and now Hicks Beach, a Victorian who detested several aspects of Imperialism, went with his leader. Chamberlain's position had risen to new heights He had made the Colonial Office almost the mightiest engine of State, created the Imperial Conference as a

permanent institution, and laid before ministers from every Colony far-reaching schemes for unity, trade, and defence. Imperial soldiers gathering for the Diamond Jubilee and then serving in Africa, the atmosphere of war, and Australian federation, all swelled the tide. From the angle of Empire he struck into the web of foreign affairs and, outstripping Salisbury, forced an African settlement with France and a prolonged exploration of a possible German alliance.

As no Liberal Unionist could yet hope to lead a Conservative majority, Balfour's succession was undisputed, and government continued to rest on the relation between himself and Chamberlain; which, though loyal and co-operative, never had the strength coming from similarity of mind. Nor did Balfour's appointments much reinforce the Cabinet. George Wyndham, his own brother Gerald and his kinsman Selborne, Austen Chamberlain, Ritchie at the Exchequer, and Brodrick at the War Office. In some essentials he was deficient as a democratic leader, seeming to many solid members to lack conviction and having none of that capacity to fire the masses which had elevated Gladstone, Churchill, and Chamberlain. In legislation and administration, however, he achieved things with much more than a party value. Bridging the gulf by his intimacy with the best brains of the younger Liberals, Asquith and Haldane, he had a disinterestedness, a grasp of principle, an intellectual eminence, which in dark days and in the highest issues of government made him a counsellor of stout quality and fibre

One lasting monument to this high character was the Education Act of 1902 Gladstone's measure of 1870, though providing the bare frame of universal elementary education, left its content disputed between elected school boards, financed from the rates and imparting an undenominational teaching, and the older voluntary schools, which were maintained by Anglican and Catholic churches and governed by their own managers. Secondary education it had left alone, though here, as German trade rivalry or Swiss and French models showed, was an urgent need As time passed, while the self-governed public schools and endowed grammar schools catered for the wealthier classes, some uncoordinated steps were taken to provide secondary teaching for the less prosperous, sometimes by active school boards stretching their powers, sometimes by State grants through local authorities, or direct to schools.

Following on Acland's preparation during Gladstone's government, in 1899 the Salisbury Cabinet created the Board of Education, which at least united the means of direction under one minister. But not only was secondary education incoherent and fed by piecemeal finance, financial stress was driving the Church schools down to a lower level of efficiency Yet any remedy would trespass on an awkward ground as between Church and Dissent, and raise indignation in Liberal Unionists.

It was then an act of parliamentary courage in Balfour to push forward a measure of drastic reform, inspired in particular by a civil servant of rare originality, Robert Morant.

In local government alone this was a landmark, in that it reversed the tendencies of the past century and replaced special *ad hoc* bodies by a single authority. Abolishing the school boards, the Act set up one organ for education, both elementary and secondary, in every area, that is, a committee of the county, county borough, or urban district council. These would finance both 'provided' and Church schools from the rates, and manage all secular education; on the other hand, Church schools would control their own religious teaching and appoint their own teachers. Educationally this advance was all-important, in making one channel for secondary education and raising all elementary schools to a uniform level, but politically the Act excited furious anger and a passive disobedience to the law. For Nonconformity saw the Church schools not only armed with Church endowments but also financed by the ratepayers, while in country areas, as in Wales, where no alternative school existed, Nonconformists would be paying for religious teaching to which they objected, and over which they had no control. Whether churchmen had an equal right to resent paying for the undenominational teaching in 'provided' schools, whether the cost of maintenance would not finally crush the Church schools, or whether the interests of parents and children were not more important than these theological disputes; on such questions controversy continued for ten years to come. On Haldane's initiative Balfour also moved in a direction which resulted in making a teaching university in London, and later on in Manchester, Liverpool, and elsewhere.

Since 'beer and the Bible' were said by Radicals to be the props of Conservatism, the Licensing Act of 1904 was another measure that invited attack. Drunkenness in those days was a proved evil. By what means should it be checked? If licences were extinguished, was it to be without compensation, or were they a legitimate form of property? And should licences continue to be given by the venerable licensing sessions of the J P.'s? Legal opinion was divided; the brewing and the temperance interests were both politically powerful. On the whole, Balfour's Act may be reckoned a fair compromise; accepting compensation, save in cases of misconduct, but assessing the compensation fund on the trade itself, and transferring licensing authority to the stronger power of quarter-sessions.

Balfour's quality is best illustrated by his action to improve national security. Deep searchings of heart over our military failure in Africa, — absence of planning, starving of military intelligence, incompetence in the high command, and breakdown both in transportation and supply — led to the appointment in 1903 of a powerful committee headed

by Esher. The Liberal Secretary for War, Campbell-Bannerman, had indeed at length ejected the old Duke of Cambridge, who was succeeded as commander-in-chief by the autocratic and difficult Wolseley. Once again the Esher committee, repeating the advice of the Hartington commission of 1890, recommended that this extreme centralization in one man be brought to an end, and this time with success; the office of commander-in-chief was abolished, and an Army Council set up, much like the Board of Admiralty Nothing, however, was done to create a general staff, and few things damaged this government so much as the successive contradictory paper reorganizations of Brodrick and Arnold-Forster at the War Office, and their almost total absence of result.

Much more positive construction was done for the Navy — and naturally, for the two German Navy Laws of 1898 and 1900 threatened the only power on which under Providence the safety of the realm depended, Gladstone had resigned in 1894 in protest against naval estimates of barely £10 millions, but £31 millions was the figure of 1901 The vital changes were due primarily to a sailor of ruthless genius, Sir John Fisher, backed by two strong First Lords of Balfour's appointment, Selborne and Cawdor. One step which gradually matured was a redistribution, diverting our main force from the Mediterranean to the Atlantic and Channel fleets, and accompanied by the making of a northern battle-base at Rosyth. A second was the building of a new fleet of battleships and battle-cruisers, with *Dreadnought* and *Invincible* as prototypes, armed with big guns that could outrange torpedo attack, with a permanent programme in each class which, if faithfully pursued, would give an ample margin of safety A third was the creation of Dartmouth College and an overhauling of officers' training.

Towards all this enhancement of national preparedness Balfour's most personal contribution was the Committee of Imperial Defence, an organization carried much beyond the earlier defence committee of Cabinet Henceforward its chairman would be the Prime Minister, while its permanent nucleus of service ministers and experts was given flexibility by calling in other advisers at will; finally, unlike the Cabinet at that date, it had both written records and a permanent secretariat

Such work as this, making the best justification of these ten years of Conservative government, was done under stress of one crisis after another; in 1895 the Jameson Raid, a clash with the United States over Venezuela, and Turkish massacre in Armenia; in 1896, German intervention in the Transvaal, in 1897, Greek-Turkish war, in 1898, German and Russian aggression in China, our reconquest of the Sudan, and the collision with France at Fashoda; then three years of war in South Africa, Russian menaces in Persia, Tibet, and China, and behind it all the incessant blackmailing diplomacy of Germany All of which involved, as we are to see, a revolution in our foreign policy

Domestically, however, a deep and by no means wholesome mark was set on politics by the South African war. All the doings of Rhodes and his followers, the Matabele war and the Raid, a parliamentary enquiry with little fruit, war against two small republics, a suspected smear of diamonds and gold and big money over Imperialism, concentration camps for Boer civilians, — all this enlisted against government many honourable, scrupulous minds and fiery democratic feeling. The war had of course one opposite, though temporary, effect; that, coming on top of their own vendettas, it hopelessly divided the Liberal party. By 1898 Rosebery, Harcourt, and Morley had abdicated, and the leader chosen for the Commons, Campbell-Bannerman, divided this division further. For though he held that the war ought to end in annexation of the republics, he denounced Kitchener's burnings and camps as 'methods of barbarism', worked for a peace by way of self-government, and leaned to the section of his party then called 'pro-Boer', of which a young Welsh member, David Lloyd George, was the eloquent voice That meant a break, not with Rosebery only, but with the ablest rising leaders, Asquith, Haldane, and Edward Grey who, if all had not approved the outbreak of war, admired Milner's work, and were decided that the war had become a national cause; in 1902 they joined Rosebery in founding a Liberal League, with a platform of its own. From this state of weakness Liberals were slowly rescued, in part by Campbell-Bannerman himself — who, though not comparable in intellectual distinction to the leaguers, had twice Rosebery's character and would never haul down his flag — but even more by the mistakes of the government. Liberals who were divided over Africa found grounds of reunion in the Education and Licensing Acts, and in others to come.

Though Ireland hardly made one of these, for few Liberal leaders retained Gladstone's fervour, none the less Ireland much injured the Unionists. Since the days when the chief secretary of the '80's, rarely parted from his loaded revolver, had won the name in Ireland of 'bloody Balfour', it might be thought that what Salisbury had advocated, and what Parnell thought possible, had succeeded: twenty years of 'resolute government', and of 'killing Home Rule by kindness'. From 1887 to 1905 three able chief secretaries, Balfour, his brother Gerald, and George Wyndham, pursued this path of order and reform, with at least this outward effect, that at the end of it Ireland was more at peace than for a hundred years past. Their work through the Congested Districts Board was extended by the Agricultural Organization Society, founded by Horace Plunkett, which through co-operation would make of this dairy-farming land another Denmark. An Act of 1898 at last gave to Ireland elected county and district councils, while from the Ashbourne Act of 1885 onwards the plan of buying out the

landlords was pursued down to Wyndham's land purchase Act of 1903 By this last transaction £100 millions of British credit were advanced as a beginning, to make possible the sale of whole estates and the creation of universal peasant ownership, the price to be repaid by annuities spread over sixty-eight years. Before 1909 a quarter of a million such agreements were completed, and in these last years of the Union Ireland was a country materially almost remade, with exports risen from insignificance to over £150 millions a year, nearly all of which went to Britain.

Yet many symptoms suggested a doubt whether this prosperity was exorcising the Irish question, and Wyndham failed, as Gladstone and Parnell had failed, to settle its religious faction over education His fall embittered and deepened that doubt His heated, exuberant vitality made him an imprudent administrator , against Balfour's advice he took as his second-in-command Sir Anthony Macdonell, an Irish Catholic and Home Ruler. When Macdonell became involved with a reform association, promoted by Dunraven and other moderates, Ulster and Unionist suspicion fell heavily on his chief; the immediate objective, to combine the numerous government boards under some part-elective Irish control, might in itself be blameless, but the word 'devolution' and the man in charge raised the bogy of Home Rule. In March 1905 Wyndham was forced to resign. This deprived Balfour of a loyal friend, injured his position as leader, and excited the Irish parliamentary party, whose two wings, Parnellite and anti-Parnellite, had lately been reunited by John Redmond. Furthermore, it exposed that party to its enemies in Ireland. Part-product itself of the order made by Unionism and the self-respect instilled by Plunkett, an Irish national renaissance was in train, and was exalted by centenary celebrations of ''ninety-eight', so that the Gaelic League, the brilliant Irish theatre, and the organization of Sinn Fein ('ourselves alone'), had all come to pass by 1905. But Wyndham's fall followed on another split in the Unionist party, which proved its death blow

Chamberlain, like his first ally Dilke, had never in his most Radical days shared the pacifism of Bright or the Gladstonian dislike of Imperialism, and since then, with perfect consistency, had taken his political life in his hand rather than accept Home Rule Business experience, a self-made career, and temperament all separated him from the outlook of Salisbury and Balfour; his mind was always set on the future, inclined to see politics as a chequer-board of black and white, and coloured by the immediate task. Given at last the keys of power, he was led by international danger and Colonial Office pressures to conclude that our continued isolation meant deadly peril, but that in our Empire we possessed an undeveloped, potential, compensating strength.

Imperial sentiment proved itself at the Diamond Jubilee and in

Colonial contingents for the South African war, but the two Colonial conferences of 1897 and 1902 set some limitations within which he must act. Nothing resembling Imperial parliaments or councils could be hurried on; Colonial contributions to Imperial defence were small, and plainly they meant to keep control in their own hand. It also became clear that his first vision of Imperial free trade was a dream, for Colonial tariffs had come to stay. On the other hand, Canada initiated the device of giving tariff preference to British goods, to facilitate which the mother country denounced her commercial treaties with Germany and Belgium; and the 1902 Conference invited Britain to give such preferential duties in return.

Inevitably this problem worked within the atmosphere of party politics. Chamberlain took a gloomy view, thinking that votes innumerable had been lost over the education Act, but while he openly spoke of free trade ' shibboleths ', at the Exchequer Hicks Beach, grim and formidable, brushed aside the Colonial suggestion. Before he retired, however, ' Black Michael ' had revived for revenue purposes a small corn-registration duty (only dropped in 1869), thereby reviving talk of protection, and in a casual, vague Cabinet of November 1902, just before Chamberlain departed for South Africa, they agreed, or such was Balfour's version, to consider favourably a grant of Colonial preference by this means When Chamberlain returned in March 1903, however, it was to find that Beach's successor Ritchie had repealed the corn-duty In May he took the field at Birmingham, declaring for Imperial preference and for retaliatory duties against foreign tariffs; by October the Cabinet was, in effect, destroyed.

If Chamberlain had been brusquely treated in his absence, his manner of retaliation is hard to defend, that is, to hold a pistol to the head of his colleagues by a direct appeal to the masses Balfour's chief concern was to preserve the party, had they not often agreed to differ before, he asked, as over Catholic emancipation or the Corn Laws? Yet by conviction he was nearer to Chamberlain's way of thinking than to Cobdenism, nor did this split coincide with the division between Conservatives and Liberal Unionists, for the free-trade ranks included the elder statesmen of both camps, like Devonshire, Hicks Beach, and Goschen. In September he dismissed two free-trade ministers, Ritchie and Balfour of Burleigh, but also accepted Chamberlain's resignation; which was followed by that of two more free traders in George Hamilton and Devonshire. His policy was to repudiate a general protection and food duties, but to ask for a free hand to bargain against foreign tariffs, and he reconstructed his Cabinet accordingly; the choice of Austen Chamberlain for the Exchequer giving a guarantee that his father's views would not be neglected

For two more years the party balances protracted this delaying

game, and if public opinion was being 'educated', it was also being annoyed. Balfour wished delay in the hope of party unity, though even more perhaps in the public interest, for he dreaded the coincidence of a Liberal victory with a European war. Chamberlain, with the aid of a tariff-reform league, was fast building an organization, hoping to spread the gospel outwards from faithful Birmingham He pointed, prophetically, to one dark spot after another; silk gone, iron and wool threatened, 'the turn of cotton will come', and bad employment during 1903–4 supported him But in 1905 the trade figures turned unmistakably upwards, it was plain that his original cause of Imperial preference would be impeded both by Colonial tariffs and by the British refusal to hear of taxing food, more and more, consequently, his campaign was reduced to protection for home industry. Unionist free traders were a minority, though including some old pillars of the party and some, like Hugh Cecil and Winston Churchill, of its rising hopes, and they too were divided on tactics. For if some like Churchill predicted 'a gigantic landslide', others who thought a Liberal victory certain were all the more anxious to delay a moment which would involve much more than free trade, in Radicalism and Home Rule. Nor, for that matter, was Campbell-Bannerman ready to bargain away his weapons by alliance with Unionist free traders

Such motives paralysed the Unionists in their twilight, while Balfour wrestled with a fierce Curzon-Kitchener controversy in India over military reform and the Viceroy's powers, and while he and Lansdowne gradually constructed the Japanese alliance, broke with Germany, and made the Anglo-French *entente* In January 1905 his formula seemed to be accepted: for a retaliatory tariff, measures to stop dumping, and a Colonial conference after the election to discuss means for 'closer commercial union'. But Chamberlain's impatience could not be restrained, especially when Balfour made the conference's proposals dependent on a second British election, and in November, with his programme of a general tariff, he captured the party machine. It was too late.

Cabinet breaks and a bitter feud within the party, education and licensing, the fear of 'dear food'—to those some more injuries were added. One commission's report after another darkened the impression of ministers' incompetent handling of the late war, while one aftermath of that war gave the Liberals a new arm, of which they availed themselves to the full, the cry of 'Chinese slavery' The grounds put forward by Milner for importing Chinese coolies to the Rand mines were a desperate economic situation and dire shortage of native labour, and though Chamberlain had opposed this step, his successor Alfred Lyttleton was convinced, and the ordinance of 1904 was duly passed by the Transvaal legislature. But the Rand mine-owners were figures

highly distasteful to British feeling, and though the spectacle of 50,000 coolies, bound by indenture for three years to work at one task and to live in compounds, had earlier parallels in our Colonies, it smelled of slavery; some vice and outrage was inevitable and, when it occurred, was as easily exaggerated. And it affronted the deepest instincts of the British working class, which had grievances of its own

For if trade was rising on the new price boom, industrial wages were almost stationary, and agricultural wages much too low; housing progress was slowing down, and overcrowding not being overtaken Only two members of the Independent Labour party were returned in the election of 1900, but in 1901 two legal decisions seemed to undo the whole position won by trades unionism under Disraeli: by declaring that union funds were liable for damages where wrongs were done by their agencies, that unions could be sued, and that picketing could be ruled to be intimidation. A great increase in the numbers of the Labour party founded in 1900, and some Labour victories at bye-elections, showed that, against supposedly political judgments by the House of Lords acting in its judicial capacity, working men were furbishing their own weapons

In December 1905, forced to act by Chamberlain's open offensive and hopeful of a Liberal split over Home Rule, Balfour at last resigned And great was the fall thereof. At the election of January 1906 only 157 Unionists were returned, Balfour himself and several other ministers losing their seats, as against 377 Liberals, 83 Irish Nationalists, and 53 Labour members. It was now to be tested whether Gladstonian Liberalism could come to terms either with Imperialism or democracy

CONTEMPORARY DATES

1893 French attack on Siam
End of Matabele power and death of Lobengula
Tschaikovsky, *Pathetic Symphony*

1894 First arrest of Dreyfus
Hohenlohe, Chancellor of German Empire
Japan attacks China over Korea
Death of Froude, Pater, and R L Stevenson
–1917. Reign of Czar Nicholas II

1895 Treaty of Shimonoseki in Far East.
Armenian massacres
Siege of Chitral
Marconi invents wireless telegraphy
Death of Huxley and Pasteur

1896 Revolution in Crete
Italian defeat at Adowa
Beginning of the *Daily Mail*
1897 War between Turkey and Greece
Russia occupies Port Arthur.
United States annex Hawaii
1898 American-Spanish war.
Delcassé, Foreign Minister in France.
First German Navy bill
The Curies discover radium
Zeppelin invents an airship
1899 Second trial of Dreyfus.
Peace Conference at the Hague
1900 Bulow, Chancellor in Germany
The Boxer rising in China
1901 Death of Queen Victoria
On murder of McKinley, Theodore Roosevelt becomes President
Yeats, *Poems*
1902 Peace of Vereeniging
Anglo-Japanese treaty.
Death of Acton and Rhodes
1903 Murder of King Alexander of Serbia
Settlement of Alaska frontier
The Wright brothers fly in the air
1904 French-British *entente*
Russo-Japanese war
Hardy, *The Dynasts*
1905 Resignation of Delcassé.
Norway and Sweden separate
Treaty of Portsmouth
Church and State separate in France
Formation of Sinn Fein
H. G. Wells, *Kipps*

CHAPTER XII

SOUTH AFRICA, 1884-1914

'COSTS' of war may be measured by many standards, materially, the war in South Africa lasted for the three years of 1899-1902, at a price to Britain of £200 millions and 20,000 lives. In both origin and result, however, it cut much deeper, for by it British Imperialism was judged, in some respects found wanting, and transformed; while it made part also both of an alteration of balances within Britain and of the causes of the world war.

It has been shown earlier how South Africa called out for unification, not merely as regards dealings with the natives but in adjusting the interests of two European races, which were broken into half a dozen petty communities, separated by great distances, and, in some instances, cut off from the sea. The sting of the first problem had now been drawn. Proclamation of Imperial protectorates over Bechuanaland and Basutoland (1884-5), annexation to Natal of what was left of the Zulu kingdom (1887), and to the Cape of the native fragments between Natal and the Kei river, had eliminated the chief danger of one Colony entangling the rest in a native war. But with each decade the second question grew more calamitous.

Politically it evolved within the Gladstone government's settlement with the Transvaal, by the two Conventions of 1881 and 1884, by the last of which the Boers' wish was gratified in the style of a 'South African Republic', our claim to control their native policy was cancelled, and all mention of 'suzerainty' vanished On the other hand, the Transvaal was tied down to fixed frontiers, and without British consent could make no treaty with any but the Orange Free State, nor with native tribes to east and west; it was pledged also not to lay hostile tariffs on British goods. Furthermore, though the British had not pressed home the matter of the franchise, both Conventions guaranteed civil rights and equal taxation to all Europeans. But even if they had been unambiguous, — which they were not — they operated in an atmosphere wholly changed by Majuba.

Dutch racialism, never absent since the great Trek, rose high during the period of annexation, finding expression in the foundation in 1879 of the Afrikander Bond. The germs of this association were part cultural, an endeavour to save their tongue and literature, and part economic, but after Majuba its political possibilities became pre-

eminent Pride in their victory over the red-coats, indignation at their past treatment and, not least, at the British filching of the diamond fields, moved the Afrikander people which, it is vital to remember, was as strong in Cape Colony as in the Boer republics Now the Cape leaders were as convinced as any Briton that South Africa must be made one and, whatever their far ideals, that at present the British connection was indispensable, and that somehow the two races must rub along together. De Villiers, the admirable chief justice, was ardent for one supreme court and one law; Jan Hofmeyr, distrusting the narrow Transvaal racialism, set out to make the Bond a force which, beginning with the Cape, would create a South Africa for South Africans, bound by federal relations with the British but freed from Imperial interference

It thus became, as it were, a race between rival forces to head off racialism, and here much would depend on the Orange Free State Its President from 1864–88, Brand, was a Cape Afrikander and a man of moderation, while its economic life turned on the Cape ports. Might not a customs union and a common railway policy extinguish these sterile feuds and integrate the whole country? But great obstacles existed in the Cape's jealous hold over the customs, and the parochialism of Natal, others, still greater, were becoming incarnate in two personalities, Kruger and Cecil Rhodes, and the future turned on which of the two captured the middle mass of opinion, British and Dutch alike.

Past history, frontier conditions, and Calvinist religion made the Transvaal a racial spearhead, and Kruger, its President continuously from 1883 to 1902, the point of the spear Of his people he was a strong representative, of their invincible courage, their Old Testament conception of themselves as a people set apart, their ardour for freedom, and tough craft His policy throughout was to whittle away the Conventions and reassert their country as a free State, above all by winning a port, whether Delagoa Bay or some other on the east coast, which would leave them independent of the British and make contact with other Powers He wanted more soil, too, for his farmers and, most of all, to keep intact their character, which he would do by reserving all power to a rural oligarchy, and this made him look on liberal men like Hofmeyr as weaker vessels

In every direction he found the British in his way. Bechuanaland and Basutoland barred extension west and south-east, their Matabele concessions barred the north, their acquisition of St. Lucia Bay took away another good harbour In 1886, moreover, his whole outlook, and African history, was changed at a stroke when gold was found on the Rand in vast quantities, proving at deep levels in effect inexhaustible, so that the poorest State in South Africa suddenly became the richest, and the most individual the most cosmopolitan Kruger's bargaining strength, his dangers, and manner of rule, all were changed Refusing

now to hear of a customs union or Hofmeyr's project of an understanding with the Cape, the President pushed on with his railway schemes for Delagoa Bay and in 1889 made, with Brand's successor Reitz, a close alliance with the Orange Free State, economic and military But if the probabilities of collision with the British were thus redoubled, its timing came to depend on another individual, a Hertfordshire clergyman's son, Cecil Rhodes.

He had come to Natal as a delicate boy in 1870, and soon moved from cotton-growing to try his fortune in the Kimberley diamond fields, though periodically returning to Oxford to work for a degree till 1881, when he entered Cape politics. From whatever source he derived them, whether his reading of Gibbon and Darwin, Oxford, or the open veldt, his ideas were spacious, and he set down, even in the '70's, that 'we are the first race in the world', that he would work for a British settlement of all Africa and reunion with the United States, in the hope of an Anglo-Saxon federal Empire which would mean 'the end of all wars'. By 1890 his achievement and position were immense. With the help of Alfred Beit he had won for the De Beers company the chief diamond supply of the world, he also controlled the goldfields on the Rand He took a leading hand in securing Bechuanaland, which he hoped might come to the Cape. He had founded the British South Africa Company, whose charter set no northward limit to its increase; his pioneers stirred up the diplomacy of 1890-91, through which Salisbury declared Nyasaland and Mashonaland under British protection, by influence with Rosebery he assisted in keeping our hold on Uganda. He was bent on driving the Cape railway system far to the north, on the route to Cairo, through the Transvaal if it agreed but, if not, then round its borders; whereby Britain should constrain the Boer republics to enter a united British South Africa.

Hitherto the outstanding merit of his triumphs had been to win them with the alliance of the Cape Dutch, with whose leaders he, as Prime Minister, formed a Cabinet in 1890 Like his friend Hofmeyr, though from another angle, he disliked the Imperial factor. For his hopes to secure northern Bechuanaland and all north of the Zambesi for his company brought him into conflict both with British statesmen who, like Chamberlain, suspected his finance and the Company's high-handed way with the natives, and with the school of officials who held that all extension should be ruled by the Imperial government He subscribed to Parnell's campaign fund, on condition that Irish members were kept at Westminster, and to those of the Liberal party. Sympathizing with Hofmeyr's notion of economic union, both in South Africa and for the Empire, and the vision of two races uniting to rule, he made advances to the Boers both for agricultural protection and a firmly paternal native policy.

During his premiership of 1890–95, his duel with Kruger came nearer an open clash. In 1893 Kruger was re-elected President by a narrow margin over Joubert, candidate of the more liberal elements, and the same year Jameson and Rhodes' pioneers forced war on the Matabeles, so giving the Company a solid control of the Transvaal's northern frontier. In part because of this, and through Rhodes' growing Napoleonism, his links with the Dutch moderates were weakening. The railway war still raged, for while the Cape system reached Pretoria, Kruger's subsidized line was pointing towards Delagoa Bay, the owner of which, Portugal, was hard driven between Rhodes and a German warning against parting with it to Britain; on the west a Company line, approaching Mafeking, would soon envelop the Transvaal One thrust countermatched another. Kruger's last hope of an eastern port vanished when the Rosebery government annexed Tongaland, on the other hand, German diplomacy in the Congo and with Portugal barred Rhodes off from north and east. Yet it seemed possible that a Transvaal civil war might make the Union, in a different way.

In the last resort the President's power rested on the unchanging Boer farmer, but as his diplomacy and industrialism both developed, he used Hollanders, notably one Dr. Leyds, and Germans to direct his railway, bank, and government monopolies; the hardest knot, however, was the problem of the Uitlanders, 'the aliens' brought to the Rand by the mines, by no means all British but coming besides from other South African States and Europe. His attitude had already produced a remonstrance from the Gladstone ministry, and the facts were plain; that the gold industry paid some five-sixths of the revenue, but were totally unrepresented in Transvaal institutions Immensely rich mine-owners might be little affected, though taxes and dynamite monopoly and corruption bled their profits. Their employees, on the contrary, had substantial grievances. They now outnumbered the Boers by more than two to one, yet Dutch was the sole official language in the law courts and education, and though they had a voice and fair regulation in the mining industry, laws of 1890–94 confined the vote in elections for the Presidency and legislature to those with fourteen years' residence, under a severe oath of allegiance. They had no confidence in judges dependent on the President, or in juries made up of Boer burghers. In 1892 they formed a national union, but their petitions were rejected; our High Commissioner at the Cape, Loch, in 1894 thought revolution certain, and asked for more troops, which the Liberal government refused In 1895 a defiant pro-German utterance by Kruger, his increasing armaments, and laying of prohibitive railway rates on Cape goods, brought war nearer still but, taking his stand on the Conventions, Chamberlain sent an ultimatum before which Kruger gave

way. The Colonial Office being well aware of what might happen on the Rand, it was arranged that in the event of revolution the High Commissioner should intervene, and summon a freely elected convention.

Unhappily the decision was distorted by Rhodes, who turned what might have been a reforming agreement into the scandal of the Raid. He had not got his way with Chamberlain, who refused to make over to the Company the Bechuanaland protectorate, granting it only a strip to carry its railway from Mafeking on towards Rhodesia. But in that strip Jameson assembled a small force who were to move on a signal from Johannesburg, while Rhodes' funds bought arms for the revolutionaries. It was, in fact, their aim so far to compromise the Colonial Office as to compel Imperial intervention.

Nothing could have been more dangerous in 1895 than a war in Africa, for the British government were locked in an angry dispute with the United States, and on the worst of terms with Russia and France, while Germany in warlike tones threatened to resist any change in the African *status quo*. If an Uitlander rising must come, Chamberlain indirectly advised Rhodes, let it either be at once or be indefinitely postponed, and to this extent his responsibility cannot be denied. What he did not foresee, and immediately repudiated, even while its result was in doubt, was Jameson's raid to force the issue For though the ill-organized Johannesburg reformers, being divided on the point whether they would put their State under the British flag, asked for delay, on the 29th December Jameson took action, defying both their last advice and a direct order from the High Commissioner. On 2nd January 1896 he and his 500 were captured by Boer forces.

This unscrupulous bungled plot had fearful effects. The delicately wrought co-operation between British and Afrikander was killed at a blow. Steyn, an extremist, became President of the Orange State. Hofmeyr and the Bond broke with Rhodes, who resigned the Cape premiership; his name was indelibly smirched, even his Company's charter put in danger, and the Matabele took their chance to rebel Chamberlain's denunciation of this 'filibustering' was immediate, but his degree of foreknowledge tied his hand, while his hopes to extort reform in the Transvaal and to induce Kruger to visit England vanished in the Boers' jubilation, and the weakness of the British case Then the Kaiser's telegram of congratulation to Kruger and British indignation turned the sentence of our courts on the raiders, and Rhodes' appearance before the Commons' committee, almost into demonstrations of triumph, leaving racial relations worse than ever That enquiry, in which Campbell-Bannerman and Harcourt took part, was itself unfortunate, for though its report acquitted Chamberlain, the committee did not force Rhodes to produce all the documents, — fearing, it seems,

the effect on foreign opinion, — which left the British government under dark suspicion.

Thus delivered from Rhodes and strengthened against domestic rivals, Kruger was re-elected President and hardened his heart. He hastened on armaments, challenged the Conventions, and made a closer alliance with the Free State. Cape politics were poised between a Bond party, in alliance with those who had rejected Rhodes as a lost soul, like Schreiner and Hofmeyr, and Progressives who were still loyal to him and heated by sore British feeling Rhodes, having lost his Cape basis, was working furiously to develop the north, for Chamberlain had safeguarded the Company charter and publicly vindicated his services; through Rhodesia, Natal, and the Uitlanders, he hoped yet to force the Transvaal into Union

Three questions filled the years, 1896–9, between the Raid and the war. There was the undoubted fact of Kruger's armament. There were his efforts to get an understanding with foreign Powers Most of all, there was the internal condition of the Transvaal. Severe alien laws, suspension of the press, dismissal of judges, extortion, and conflict with a high-handed police, were raising a genuine democratic movement among the Uitlanders, whose petitions were now addressed to the Crown 'To go to war with President Kruger in order to force upon him reforms in the internal affairs of his State', — that, Chamberlain told the Commons, would be immoral and unwise. Yet to that he came For if, as he contended, under the Convention Britain was the paramount Power, it must be able to protect its subjects; moreover, what peaceful way existed of overturning Krugerism except by constitutional reform within the Transvaal? And if Kruger's demands for repeal of the Conventions and for foreign arbitration must be resisted, was there not a hope of assisting moderate Afrikander feeling and the British element?

There were, indeed, some signs of improvement, foreshadowed by Kruger's acceptance of some moderate ministers with a Cape training, such as Reitz and Smuts, and Steyn in the Free State saw the necessity for it; while Leyds himself realized they could not count on help from Europe On the other side, Chamberlain, and even more Salisbury, Balfour, and Hicks-Beach, were determined to avoid war if they could, for none of them wished to be ruled by Rhodes, and the international scene was dark, until the end of 1898 our garrisons in South Africa were diminishing Chamberlain was rejecting advice from our High Commissioner that war was inevitable and perhaps best brought to a head; replying that such 'a civil war' would throw back Union for a generation.

Milner was sent out in 1897 with the good-will of all parties, having made a great name in Egypt and at the Treasury, and being, like

Asquith, a high example of the public men who issued from the teaching of Jowett's Balliol. Pure, selfless, and arduous, he had some of the defects of his virtue and his German education, laboured in speech, in his mind and his state papers he would set things in logical antithesis or anticipate a decision as predestinate, which made him apt to divide sharply the sheep from the goats, and refuse to go half-way with men whose final goal he distrusted. Finding himself in an atmosphere of racial strife, and soon with a Schreiner government at the Cape, he established no real relationship with moderates like De Villiers, and challenged the Cape Dutch to prove their loyalty. As for the Transvaal, he wrote, 'their hearts are black', and by 1898 convinced himself that at least a show of force was required, and that inaction would merely lose our friends.

For over a year Chamberlain resisted him, deprecating a policy of challenge and urging the necessity of not alienating the Cape Dutch. A decided advance came, of course, when in April 1899 the Cabinet took up the Uitlanders' petition, but even so, in the tangled negotiations till September, their line was moderate. They welcomed the Bloemfontein interview of June between Milner and the two Boer Presidents, nor did they boggle at details of the franchise offered to the Uitlanders, accepting, too, the principle of arbitration if it were operated through some Imperial tribunal. There was a moment when Smuts' offer of a five-year residence qualification seemed to remove what Chamberlain thought the root of the evil, the Transvaal's deliberate policy of keeping their British subjects as 'helots'; even so, and even if Kruger had not proceeded to water this offer down, it was accompanied by an impossible demand, that the British government should bind itself never to intervene again. At any price, even by refusing concessions which the moderates begged him to accept, Kruger would keep his people free, if he could not make them a sovereign State. He still reckoned on foreign assistance and believed the Liberal party in Britain would help him. Possibly, if what Milner had asked for, that is, large and early military reinforcements, had been realized, war might have been averted, or possibly a more conciliatory man than Milner might have avoided war entirely. But neither is probable. For the substance in dispute, far exceeding any detail of a franchise, touched, as Chamberlain said, 'our supremacy in South Africa and our existence as a great Power'.

Late in September the British Cabinet was preparing its ultimatum, demanding an assured franchise, a real independence for the law courts, and a negotiation for reduction of armaments. But on 9th October Kruger requested the removal of all troops landed since June, and the stoppage of all reinforcements *en route*. Confident in their superior numbers and the assistance pledged by their brethren in the Free State and the Cape, determined also to anticipate attack and seize

the moment when the rains brought new grass for their horses, the Boers invaded Natal and Cape Colony; Kruger reminding his council of the Psalmist's promise, 'I will divide Shechem and mete out the valley of Succoth'. If in Britain at large there was some vainglorious over-confidence, it was absent in those holding power; it would, Chamberlain told Milner, be the greatest war since the Crimea, 'with no honour to be gained if we are successful'.

That in a military sense it would be a difficult war could be foretold from the map, the large distances badly served by rail, abrupt hills and defensible rivers, and extremes of heat and cold. Initially the Boers' advantage was great in the inner lines of their mountain-fringed republics, while their commando system was suited for a war of movement, and they were well armed and first-rate marksmen; their Krupp and Creusot artillery excelled anything which the British could produce One such advantage, that they could live on the land as they moved, also embraced a political fact, that in northern Natal and northern Cape Colony they would be among fellow-Afrikanders, who might be neutral but would never resist them As Schreiner's ministry hoped to keep out of the war, such conditions were a grave military obstacle to the British.

Reluctance to take the aggressive had made the Cabinet reject Wolseley's advice to speed reinforcements, and when the Boer ultimatum issued we had a bare 14,000 men in the country; a shortage all the harder to fill owing to the right decision not to employ Indian troops. The next few months exposed alarming failings. Lack of a general staff meant lack of any plan of campaign; there was a dire shortcoming in military intelligence; and an inability, from generals down to rank and file, to adapt themselves to strange conditions Fortunately, under the old and cautious Joubert, the Boers threw away their best strategic chance, which was to ignore isolated garrisons and to sweep Cape Colony before British strength matured.

Four months of British failure, at its peak in the 'black week' of late December, formed the first stage of the war. Outlying forces in Natal were driven into Ladysmith, to be locked up in a long siege Our commander-in-chief, the gallant and incompetent Buller, abandoned the scheme of a massed advance into the Free State, instead of which he sent Methuen westward to storm his way in by the Modder river, leaving Gatacre to defend the Colony and himself moving by sea to Natal. In one week, between 10th and 15th December, Gatacre at Stormberg, Methuen at Magersfontein, and Buller on the Tugela, were all heavily defeated Buller advised the surrender of Ladysmith, and in January 1900, when again seeking to relieve it, was beaten in the scandalously mismanaged action of Spion Kop

A second stage opened at the new year with the appointment of

Roberts as commander-in-chief and Kitchener as his chief of staff, the discovery of a cavalry leader in French, who saved the broken flanks between Methuen and Gatacre; a sober realization in Britain that a serious war had to be seen through, a mass of volunteers, and large contingents from Canada and Australasia. Returning to strategical values, Roberts struck out for the Free State; in February his cavalry under French raised the siege of Kimberley, Cronje's force was driven off and after severe fighting brought to surrender at Paardeberg, and White's Ladysmith garrison was relieved. In March Roberts captured Bloemfontein; after a halt to reorganize, to check ravages of disease, and to seek terms of peace, in May he advanced again; in the far north-west Baden-Powell was relieved after a long siege at Mafeking, Johannesburg was taken, Buller penetrated the Transvaal at its Natal angle, and in June our forces reached Pretoria; Kruger entered Portuguese Africa and sailed for Europe. From the first Salisbury had declared for annexation; this done, Roberts made over the command to Kitchener, to stamp out what seemed the dying embers.

But the Queen and Rhodes died, and Salisbury retired, before war ended, and Kitchener's 200,000 men had almost two more years of action against these 60,000 farmers. One overriding difficulty was that the Boers were a plain-clothes army; fading into space or reappearing as peaceful agriculturalists, yet only needing a horse and ammunition to re-emerge as soldiers. Forced to use up whole brigades in securing railways and fixed posts, Kitchener had to evolve a new arm of mounted infantry, together with new devices to concentrate the enemy between block-houses and barbed-wire lines. It is, moreover, vital to remember that this was a civil war, — the hardest of all, as history shows, to end. By information and food, running of ammunition and passive obstruction, any Afrikander might help the enemy; while over the raising of volunteers, disfranchisement of rebels, and courts-martial, Schreiner's government contested obstinately with Milner If 'Krugerism' had been an original cause of war, a passion for liberty prolonged it; the Free Stater Steyn was even more bitter than the Transvaal leaders, and it was De Wet, a Free State commander, who was foremost in this guerrilla stage Finally, on Joubert's death the supreme command fell to a steadfast hero, Louis Botha.

Yet the end, though slow, was certain. Kitchener was not only a great organizing soldier but a diplomat more conciliatory than Milner, whose stiffness for the punishment of rebels broke off one negotiation, and who wished to make victory and reconstruction easier by suspending the Cape constitution. In this he was resisted by Chamberlain and by protests from Canada and Australia, nor was there ever any intention in the Cabinet, however slow their pace, of refusing the Boers self-government. But necessities of war and party cleavages embittered

the last phase. Burning farm-houses as he advanced, Kitchener massed civilians, women, and children, in concentration camps, in which a heavy death roll shocked British feeling. On the other hand Schreiner, who endeavoured to keep a middle path, was turned out of office by the Bond, and the Cape Parliament was prorogued for nearly two years

At length peace came about in May 1902, in part by the influence of Liberal Imperialists against pressing for unconditional surrender, in part by the sheer necessity of retrieving the country from ruin, and directly rather through discussions between Kitchener and Botha than through Milner. Britain annexed the two republics, but with a promise of self-government by stages and a gift of £3 millions for reconstruction; Dutch should be taught in their schools, while until responsible government was reached there would be no decision as to the native vote Rather than accept, the Free Staters Steyn and Reitz went into exile, but before the year ended Chamberlain was in South Africa, Botha and De Wet in London, all from their own angles striving to build a future of peace.

Seven years passed before what Rhodes and Afrikanders alike had wished, a Union of South Africa, was miraculously achieved out of bitterness and distress Much was due to Milner's decision to work for Union, as he rebuilt agriculture and industry. His administrative mastery till his departure in 1905, and the high quality of the men he chose to implement it, were his most enduring service, while a scaffolding for union was set up in a customs system, a central railway control, and consultative machinery for education and native problems; united policy was implied also in an Imperial guaranteed loan of £35 millions Something, too, was due to Jameson, Prime Minister at the Cape from 1905–8, who knew that racial groupings were fatal and who, both in the Cape and Rhodesia, was beset by economic depression Much was unquestionably due to Campbell-Bannerman personally, who promptly suspended the Crown Colony governments which the Unionists had sanctioned, converted his Cabinet, and in 1907 gave fully responsible government.

But the chief impetus came from the hard facts, and the leadership, of Afrikander Africa. Milner had used Chinese labour to get the Rand working again, as the most vital necessity, and though the Liberals cancelled Chinese recruitment, the coolies had done the task As the richest Colony, soon producing one-third of the world's gold output, the present seat of government, and the testing ground of Milner's administrators, the Transvaal took the lead and produced the leaders By 1905 Botha had united his people in the Het Volk party, in 1907 he and Smuts took office as British ministers. Fischer and Hertzog did the same in the Orange Colony, Hofmeyr broadened the Bond into

the South African party, and in 1908 Merriman succeeded Jameson, so that all three powerful communities had Afrikander ministries. War had hardened their sense of nationality, while the British were divided on other lines: between capital and labour on the Rand, or Company and settlers in Rhodesia, while Natal, oppressed by overwhelming native numbers, asked for more soil and a larger trade.

It was thus in concert with the Transvaal leaders that in 1907 Milner's successor Selborne, and Milner's 'young men', took the first step towards Union; the causes driving them forward being many and urgent,—drought and depression, a Zulu war, Chinese labour, Indian immigration, disputes over railways and customs. All the leaders of both races welcomed it; in October 1908 the Convention opened, its proceedings lasted well into 1909, and from this body, presided over by De Villiers with Steyn next him, emerged what so many Britons had sought in vain. Instructed by their proved needs and admirable preparation, under the Transvaal lead the new constitution was made far less federal than Australia's, and even more unitary than that of Canada, despite Hofmeyr's opposition. Natal's desire for federalism was offset by a guaranteed share in railway revenues, neither the equal representation given to each Colony in the Senate nor the establishment of each old Colony as a province with a local council prevented the overruling power of the Union lower House or Assembly. To the central government were given all powers over taxation, police, and civil service; provincial courts became subordinate divisions of the supreme court of South Africa. Equality between English and Dutch was maintained by providing that both should be official languages. As between the Colonies, it was determined that the executive should be seated at Pretoria, the supreme court at Bloemfontein, and Parliament at Capetown, one clause, specially protected against arbitrary amendment, preserved the Cape's non-European vote, others ensured that, if and when the protectorates were made over to the Union, their identity should continue and native lands receive due safeguards. Substantially, however, it may be said that Afrikander notions prevailed. No native might sit in the Union legislature, in the distribution of seats the basis was that of white voters, and the electoral machinery favoured the agricultural constituencies.

In 1910 Botha took office as the first Union Prime Minister, with a Cabinet drawn from his National party, though devised to represent every province and principal group, and including Smuts, Hertzog, Sauer, and Fischer. Racialism found plenty to feed on, not least in controversy over language and education, and within two years Hertzog went into opposition. But Botha's large nature and Smut's high ability, with the very universality of difficulties to be solved,

kept the body of the ministry and the Union together; struggling with the needs of defence, a violent conflict against Gandhi and the Indian immigrants whose political consciousness he had roused, the burning question of the land as between European and native, and angry strikes on the Rand

Out of such matters, transcending race, and out of their new relation to Empire, new political divisions were forming, not coincident with the old cleavage of Briton and Boer But in 1914 that ancient feud received another lease of life, when the Union was entangled in an Imperial war.

CHAPTER XIII

THE LAST OF LIBERALISM, 1905–1914

CONTINUITY of politics and party was broken after 1914 by war and upheaval, which telescoped into five years great changes which in ordinary times might have taken many decades. Cabinet government, Ireland, India, Egypt, and the standard of democratic life were transformed, old lines of division melted away, all making a process in which the party of Russell and Gladstone disappeared Yet not without leaving many legacies to those who took its inheritance

The general election of 1906 put the party in a very strong position, with a majority of eighty-four over Unionists, Labour, and Irish combined, while Campbell-Bannerman had formed one of the most powerful of modern Cabinets. It was not made without a struggle. For though his own claim was not disputed, being welcomed by the mass of the party whose unity he had preserved, and appreciated also by King Edward VII, his health was not good and his ability moderate, and the Liberal Imperialists wished him to take a peerage and leave the real lead to Asquith in the Commons. In this move Grey, Rosebery's heir in foreign affairs, and Haldane were the chief actors, but were overcome by Campbell-Bannerman's resistance, Asquith's influence, and their own sense of public duty Yet, however distributed, statesmanship and administrative talent abounded in a Cabinet which, besides those names, included Lloyd George, Morley, Crewe, and Lewis Harcourt, and had among its junior ministers McKenna, Winston Churchill, Samuel, and Runciman.

They had the profit of an angry reaction against the faction and omissions of Balfour's government, and were carried in on a tide, long held back, of reforming zeal. What use they made of their great majority must determine the Liberal future; whether, as Asquith's outlook inclined, it remained content with the Gladstonian doctrine of peace, retrenchment and reform, or pursued policies more popular with democracy, more Socialistic, and more expensive. This cleavage underlies the two stages in their pre-war history, marked not so much by the resignation and death of Campbell-Bannerman in April 1908 as by Lloyd George's budget of 1909, and its after-effects In Asquith and Lloyd George two types of Liberalism, two possibilities, were strongly expressed, complementary and as yet not rival. Asquith, by eleven years the older man and high in office when Lloyd George was a back bencher,

represented a more traditional type: of Yorkshire professional and Nonconformist stock, polished and indoctrinated in a triumphant career at Jowett's Balliol, and matured by success at the Bar. His intellect was masterful, his lucidity of speech unmatched, he had loyalty and disinterestedness in a rare degree. Yet his performance, especially after becoming Prime Minister, was uneven, and his hold on the country not in proportion to his gifts Moreover, he seemed to age quickly and stumble in delays

David Lloyd George, the product of a Welsh elementary school, and a local solicitor, was much the reverse of all this He had in abundance the endowments of his Celtic people, a voice of music and a delightful oratory, humour and ridicule, besides a passion for causes which he felt as a crusade, — the undeserved hardships of the poor, horror of war, and distrust of empire, together with inherited prejudices against Church, capitalism, and landlords In mind, and even more in character, he was to Asquith as quicksilver to a plainer metal, immeasurably more flexible, both for good and ill, more egoist and less moralized, but also less fixed in party entrenchments. His speed of work, fertility in expedient, persuasiveness in negotiation, not these qualities only but a deeper impulse made him, much more than the professedly Labour man John Burns, the representative in Cabinet of the new democracy

Much, however, was due in the first stage to Campbell-Bannerman himself, who at the age of seventy seemed to expand in sympathy with the youth of his party, and showed a leadership not previously suspected. From him personally came the decision to give immediate responsible government in South Africa, the challenge to the Lords, and the form taken by the trades disputes Act of 1906. This last, though hastened no doubt by the election of over fifty Labour members, proceeded from a general agreement, that the status of trade unions could not be left as it had been by recent legal decisions. Their position had always been anomalous, as corporate bodies and yet not corporations at law, composed of individuals whose actions their executives could not entirely control, having functions mainly economic but also partly political, with funds for distinct purposes and derived from different sources It was not disputed that the Acts of 1871 and 1875–6 had been designed to save their funds from liability for damages, to permit a reasonable use of picketing, and to mould the law of conspiracy and agency in their favour. But, as it was, not only had legal interpretation prejudiced the minor points, but in the dispute arising from a strike on the Taff Vale railway in South Wales, the House of Lords had on appeal cast the railway servants' union in heavy damages, for a strike which it had not authorized and deeds of violence which it had not approved. The Labour

world's passionate demand for a remedy, to restore the immunity which in practice they had long enjoyed, was adopted by candidates of all parties and partly endorsed by a royal commission, though what form the remedy should take turned on highly technical legal argument. In the result Campbell-Bannerman intervened in debate, threw over the safeguards advised by his law-officers and approved by Asquith, and incorporated in the government bill a Labour amendment. The Act of 1906 thus not only lifted from trade unions all liability to action for conspiracy, if done in furtherance of a trade dispute, and authorized peaceful picketing, but forbade any court to entertain any civil action whatever against a trade union.

In 1909 another event carried further these relations between the State and the unions. This was the Osborne case, in which one branch of the railwaymen's union challenged its legal right to take a compulsory political levy for the Labour party, and was upheld by the Lords on appeal The government's first step was to make good the consequent gap in Labour members' livelihood, by carrying in 1911 the old Radical proposal for payment of members, in this case one of £400 a year; their second was an Act of 1913 permitting a political levy, if approved by a ballot and if individual members were at liberty to 'contract out'

This legislation was some index of a greater question, which pursued the whole course of this government As a third party, Labour had not won seats in proportion to its voting strength, indeed, their representation was reduced in the elections of 1910, and their Left wing inclined to turn from political action to industrial strikes, or to revolutionary theories of foreign inspiration; whether of the German Karl Marx or American extremists or the French syndicalists, but all agreeing on a class war, direct action by economic groups which would somehow build up a Socialist State, and methods of violence. The background of their action was an economic fact, that till the end of 1912 this was a period of rising cost of living and a lag in wages, and punctuated by trade disputes. The scale of these became increasingly greater with the increasing centralization in powerful unions, reaching a climax in the national stoppages of 1911-12 by seamen, dockers, railwaymen, and miners In returning to the earlier part of this administration, this perpetual strain must not be forgotten

Made independent of the Irish vote by the elections and not agreed among themselves on any larger solution, they did nothing for Ireland except to propose in 1907 a representative Council to administer the small matters of local government, education, and agriculture, which was disdainfully rejected by an Irish Convention. Their other early measures naturally dealt with the contested questions of the past,— South Africa and Chinese labour, education and free trade Their persistence over education represented, almost for the last time, the

historic rivalry of Church and Dissent. Birrell's bill of 1906, more drastic than many of the Cabinet liked, voiced the intolerance of their majority, the local authority alone was to provide elementary schools, might transfer church schools to its own direction, and would appoint all teachers, whether it gave religious instruction of any sort was left to its pleasure, and if denominational teaching was given in 'transferred schools', it must not be by the teaching staff. This bill was rejected by the Lords. McKenna's of 1908 introduced a new principle of 'contracting out' for church schools, but the most serious effort was made late that year in a scheme agreed on, in substance, by his successor Runciman and Davidson archbishop of Canterbury This would have allowed church schools, if not in single-school areas, to 'contract out', required local authorities to allow denominational teaching in all schools in all areas, and allowed assistant teachers to give it. But this effort broke down on the resistance of the church laity

By that date education made only one part of a total deadlock. In 1906 the Lords threw out Birrell's education bill, a bill to abolish plural voting, and mauled several others, in 1907 rejected two Scottish land bills, and in 1908, against the advice of the King, turned down a licensing bill, Asquith's principal measure of the year. So moved towards a decision the cause on which Gladstone had wished to fight in 1893; plainly, Liberals could never accept as a reasonable second chamber a body which, under Conservative governments, registered an automatic approval but obstructed the most important bills of a decisive Liberal majority. That a purely hereditary chamber was hard to reconcile with a democratic age had long been recognized by men of all sides, and by Rosebery in particular, but proposals for change in its composition always ended in the same dilemma, that an introduction of elected or life-peers might make the Lords too strong Campbell-Bannerman insisted that the essential was to reduce their powers, carrying in 1907 a resolution for the suspensory veto, which Bright had advocated years before, to ensure that 'within the limits of a single parliament' the Commons' will must prevail.

Changes in holders of office, stress in international affairs, and reluctance to embark on a course in which they themselves might disagree, postponed a further advance, and Conservatives believed that they could wear down the government, as they had in 1895. Unemployment was growing, and many discontents; bye-elections showed a turning tide. But in 1909, by a fatal blunder, the Lords played into their enemies' hand.

Asquith's course at the Exchequer had been on the classic Gladstonian lines. He reduced taxation on tea and sugar, cut down expenditure on armaments, and kept his budget below £150 millions; free trade was jealously safeguarded in refusing to hear the Colonies' suggestion for

Imperial preference. His chief innovations were to draw a distinction between 'earned' and 'unearned' incomes, and in 1908 to fulfil what Chamberlain had desired by instituting a non-contributory old age pension of 5s. for those persons over seventy without other income of more than 10s. a week. When he became Prime Minister and made over the Exchequer to Lloyd George, not only was the man very different but the circumstances, for besides falling trade and the new pensions there was also an immediate demand for eight new battleships, the country having decided that the German Navy law was a serious threat. Lloyd George therefore introduced a budget, which was a social and political challenge. A Road Board and a Development fund would cover the new problems of motor transport and do something for natural resources; more revenue from liquor licences and spirits would avenge the Lords' extinction of the licensing bill. Higher death-duties on estates over £5000, an increase of income-tax to 1s. 2d., and a new super-tax on incomes of £5000 and over, would all raise immediate revenue. But what excited most opposition was the expansion held out for the future, which embraced taxes on site-values and leaseholds, undeveloped land and mineral rights, and would involve a valuation of the whole country. This was proclaimed as 'a war budget', a war against poverty, framed on the principle that values due to the community should be returned to the community; it was also accompanied by much oratory about hen-roosts, dukes, and rich men who grew richer while they slept. Holders of property saw confiscation in this doctrine of the 'unearned' increment, while tariff reformers feared the budget would kill their alternative plan for raising revenue. But the temper of Opposition was edged most against the personality of Lloyd George, as it had not been against any individual since Chamberlain, twenty years before.

Once more acting against the earnest advice of the King and their own veterans, St. Aldwyn and Cromer included, the Opposition leaders Balfour and Lansdowne allowed themselves to approve the Lords' rejection of the budget as a whole, which was voted in November by 350 to 75. The Commons' immediate reply was to declare this 'a breach of the Constitution and a usurpation of the rights of the Commons', which was an accurate statement of the facts over the last two centuries. So opened a serious conflict, involving the future of government, the rôle of the Crown, and the balance of society; not to be settled without two elections, and a great shifting of political weights

Looking back, it would seem that both successive holders of the Crown and Asquith as Prime Minister steered their course with wise moderation, in the spirit of the Constitution. The government were manœuvring on an impregnable ground, that the Lords' claim meant in effect the power to dissolve Parliament and overthrow a ministry,

and that remedies must be found to make this impossible. If the Lords resisted and Liberals would not surrender, there was no way out except through the ancient safety valve, which Lord Grey had painfully induced William IV to threaten in 1832, a creation of peers in numbers sufficient (and in this case it would mean perhaps 500) to swamp resistance Edward VII hoped that delay might avert what he viewed as a mortal blow to the Constitution, and perhaps to hereditary monarchy; turning a deaf ear to unwise voices which suggested that he might refuse to create peers, he stipulated that two elections must intervene before he was asked to do so.

The election of January 1910 sharpened the crisis, since the Unionists won back about 100 seats, leaving them at 273 against 274 Liberals, while Labour fell to 41. So the balance turned again on the 82 Irish, who proceeded to bargain, that they would only support the budget, in which they disliked the liquor duties, if assured of a bill to break the Lords' veto, which they would then employ to extort Home Rule. They got their way. In April 1910 Asquith introduced the Parliament Act. whereby (1) bills certified by the Speaker as money bills could not be touched by the Lords, (2) other bills passed by the Commons in three successive sessions, but rejected by the Lords, should, notwithstanding, become law two years after their first introduction, and (3) the duration of a Parliament should be reduced from seven to five years. The preamble of this Act contained a vague formula to satisfy those, like Grey, who wished Lords' reform coupled with restriction of their veto, and declared an intention of remodelling the second chamber on a popular basis. But on 6th May Edward VII died

A general opinion that the new King, George V, should not be unduly pressed led to a conference between the party leaders which met periodically until November and was accompanied by unofficial negotiations of even greater importance These were initiated by Lloyd George, who wrote in after years' 'we were beset by an accumulation of grave issues, — rapidly becoming graver', unemployment, loss of markets, German armament, and Ireland He therefore declared for a coalition to face these questions, including exploration of a tariff and the possibility of national military service But this was too abrupt a curve for either party, and on Ireland, in particular, the Unionists stood firm. The formal conference broke off on their demand that Home Rule should be reckoned in the class of 'constitutional' measures which, whenever the two Houses disagreed, should go to a referendum.

Indeed, apart from the merits or the proper rôle of a second chamber, nothing in the story is so clear as the political inferiority of the Unionists. Some were tariff reformers, some free traders, some would accept Ireland as one unit in a federal kingdom, but still more would yield Ireland nothing at all Jealousies between Conservative and

Liberal Unionist divided the constituencies. Joseph Chamberlain had been stricken down in 1906 by paralysis, but his name was still more dynamic than Balfour's; his son and representative Austen was a high-minded but unsafe counsellor. Unable to agree, they were dabbling in this weak notion of a referendum, which to Chamberlain's horror Balfour proposed to apply to food taxes. Lansdowne was the soul of honour and patriotism but an indecisive leader, and an Irish landlord of a rigid pattern. On the platform they had no speaker comparable to Lloyd George, while they allowed the issue to be diverted from the Lords as a revising chamber to a caricature, of the Lords as defenders of unearned riches. Worst of all, their counsels were heated by those who, after advising rejection of the budget, declared that Asquith was abusing the Crown and urged the Lords to throw out the Parliament Act also.

Unless history yields further revelations, this reproach to Asquith seems groundless. The conference having collapsed, in November 1910, when George V had reigned for six — and the controversy had been before the country for eighteen — months, he asked the King for an understanding that, if another dissolution returned the Liberals, he would allow the creation of peers. To this the King agreed, subject to the condition that, before the dissolution, the Act should be discussed in the Lords. It was not till July 1911 that this commitment was made public, — a secrecy indispensable, indeed, if the sovereign was to be kept out of discussion. But it left the Unionists in the dark, apt to be captured by their extremists' argument that this talk of creating peers was a bluff.

This second election of November 1910 left party numbers almost exactly as they had been in January, for the Lords' alternative of a referendum and reform in their membership seemed little more than a death-bed repentance. In May 1911 the Commons passed the Act by a majority of 121; a group of Conservative peers, christened 'Die-hards', were still bent on rejecting it, led by Halsbury, Milner, and Salisbury, and supported from without by the Chamberlains, Cecils, F. E. Smith, and the Ulster leader Carson. Revelation of the King's pledge, however, decided Balfour and Lansdowne that this would be suicide and in August, with the aid of 29 Unionist and 13 spiritual peers, the Act was carried by a majority of 17.

This two years' debate, a landmark in the evolution of the constitution, may too easily distract us from much else of note in this powerful government. Two sides in a sense it always had: the one, Asquith and his intimate friends Grey and Haldane, with Crewe and McKenna usually in the same camp; the other, with Lloyd George and Churchill leading, representing a younger age and less certain ambitions. Lloyd George in particular sharply departed from Victorian Liberalism. He

was a son of the cottage, a Celt whose Nonconformity aggravated every nerve in English conservatism, and a political genius with great gaps of ignorance, who used every expedient of the platform and cheap press. Unionist detestation rejoiced when in 1912 it was revealed that he had done something which a minister of more delicate feeling would have avoided that, at a time when the British Marconi Company, whose secretary was a brother of Rufus Isaacs the Attorney-general, was given the tender for an Imperial wireless service, Lloyd George and Isaacs acquired shares in the sister company in the United States Not accused of corruption but saved by a party vote on a charge of what Unionists termed 'grave impropriety', the ministry survived this storm; though the departure of Bryce to be ambassador at Washington, of Morley and Haldane to the Lords, and other changes weakened the front bench in the Commons.

Apart from the Parliament Act and foreign policy, their outstanding work was a series of social reforms, which transformed and perhaps destroyed their party In wages, hours, and health the condition of the working class had improved by great strides in the past half-century, yet the age of *laisser-faire* was closing in some disillusionment and decline. In 1909 the report of a poor-law commission reinforced the conclusions of private investigators and government departments. There was an increased, though still manageable, degree of unemployment; under-employment and much casual labour; a mass of lower labourers, both industrial and agricultural, badly paid and worse housed, greater national wealth, yet an increase in pauperism and an increase in its cost; finally, despite much effort, there were areas where one in every six children born died in infancy.

Not only economic but political facts called out for a new treatment of this poverty. Universal education had laid a foundation which ought not to terminate in a hopeless slum, democratically elected bodies now controlled local government, the Education Act of 1902 pointed the way to dealing with other social questions through specialist organs of that self-government, while a whole army of social workers (of whom the Chamberlain family might be taken as one type) were experimenting in wider reform.

It was the function of Asquith's government to put these ideals into action. Its pace was uneven, for Burns at the Local Government Board was not constructive, and since a Conservative majority and a Socialist minority of the commission had disagreed, nothing comprehensive was done for the poor law But from Lloyd George and Churchill especially proceeded an impetus, which translated into law many projects for cutting at the roots of poverty. So came about old-age pensions, and an eight hours' day for miners, in 1908; in 1909, labour exchanges, and trade-boards to fix wages in sweated

industries; other Acts providing meals for school children, school care committees, and medical inspection; the growth of the Borstal reformatory system for young criminals, and the Children Act of 1908, which made wide provision for their good treatment and prohibited imprisonment below the age of fourteen. In housing they made but small progress, for both Lloyd George's land-value duties and high-interest rates restricted building, and the town-planning Act of 1909, though giving more power of destroying unhealthy dwellings, shirked the question of built-up areas, and answered only vaguely to its name But fertile law-making marked this government in almost every other branch. A small-holders' Act and a Scottish Board of Agriculture, a shops Act of 1911, reducing hours and enforcing a half-holiday; or the Act of 1912 to give the miners a minimum wage. This last was one instance only of what was incessantly increasing, a new intervention in industrial disputes by the State, usually represented by the stormy petrel Lloyd George.

Greatest of all, no question, was the National Insurance Act of 1911, borrowed from a German example but adapted to our conditions by civil servants and implemented by Churchill and Lloyd George. Like so much British governance before and since, its method was to harness together State machinery and voluntary action. Under Part I, dealing with health, all manual workers between the ages of sixteen and seventy, and earning less than £160 a year, were to be insured in a compulsory and contributory scheme, by contributions coming from the State, employers, and workers; controlled from above by a National Insurance commission, organized (as education had been) by Robert Morant; its benefits administered either by approved societies, that is, the friendly and assurance societies and trade unions, or by the Post-office, and supervised by local committees So came into being the framework of a national health service: of doctors enlisted in panel work; guaranteed benefits in sickness, disability, and child birth; drugs and sanatoria

Part II dealing with unemployment was more selective and experimental. On the same compulsory, shared, and contributory basis, it provided insurance against unemployment, though for certain trades only in which employment most fluctuated, as in building, engineering and shipbuilding, framed on genuine principles of insurance, not on any doctrine of 'work or maintenance'; with benefits much lower than wage-rates, and restricted to a maximum of fifteen weeks in any one year

While all this was being done to humanize society and extend political equality into economic life, work at least as indispensable was helping to preserve the State's very existence. Here the dominating mind was that of Haldane, trained by Scottish civilization, a German

education, and a philosophic grasp of law to look for quality and principle In a fortunate hour for the country Campbell-Bannerman refused him the Lord Chancellorship and put him in that grave of political reputations, the War Office. He had to work through a party which distrusted militarism and only asked for an army on the cheap, and to work too with an army in fearful need of reform, though he benefited from two of Balfour's measures, the Committee of Imperial Defence and the suggestions for reorganization by Esher's committee. The Army had no central brain. Its organization in peace bore no relation to its needs for war. Its brigades were not formed into divisions. It lacked transport, medical units, and guns. It had a second line, the militia, which could not be used abroad, and a third line of yeomanry and volunteers, formed in many local units, unorganized and half equipped It was Haldane's work to connect defence with the political facts, which clearly meant a striking force, ready to the last button on mobilization, to take its place alongside the French army in resisting Germany and holding the Channel ports Having formed a general staff by army order, he created an expeditionary army, with six infantry and one cavalry divisions. For the infantry he preserved Cardwell's creation of two linked battalions, but converted the militia into a third battalion or special reserve, to make good the wastage of war; he got his second line by amalgamating yeomen and volunteers into a Territorial Force, of fourteen divisions and fourteen cavalry brigades he established officers' training corps at the universities and schools He collected round him on the Army Council, and in high command, men whose ability could make his schemes succeed, — Haig, Nicholson, French, Ewart, and Grierson The Committee of Imperial Defence was systematized into sub-committees to consider every possible phase of emergency, one of which, guided by its secretary Hankey, compiled the War Book for detailed action By 1914, and at a cost less than in 1906, the country was able to mobilize within a few days a force of twenty divisions regular and territorial, ready for despatch abroad

In view of German aggression there was a strong movement, much inspired by Roberts and backed by the Chamberlain influence, and one to which Lloyd George himself was not averse, for some form of compulsory service. But whether the Liberal party could have been won over to the principle, and its cost, remains doubtful; in any case Haldane was convinced that sea-power was our proper rôle and a professional striking force our real military need

Till 1910 the Navy was directed by the masterful Sir John Fisher, whose measures of concentration and creation of the Dreadnought fleet we have seen But his acid ruthlessness divided the Navy into factions and it was only after this time that, in part through Haldane's

pressure, something was done to make a naval staff, while the costs of shipbuilding disturbed ministers like Lloyd George who were ardent for social reform Twice over, First Lords of the Admiralty had to fight hard for the margin of safety which they thought necessary; McKenna over the eight battleships voted in 1907, and Churchill in 1914. But the German threat was too grim to ignore Our first gestures of reducing or delaying warship construction turned into the policy of 'two keels to one', the naval estimates for 1913-14 thus reaching £51 millions, or an increase of £18 millions on those of 1905. Late in 1911, to restore unity of strategy between Army and Navy, Asquith made McKenna at the Admiralty and Churchill at the Home Office exchange their places, under the new First Lord the Navy continued reorganization in every direction, in improvement of sailors' pay, expanding the supply of officers, acceleration of building and the decision to equip new bases at Scapa Flow and Cromarty, and ensuring through the Anglo-Persian Oil Company a safe supply of the new fuel

Never free from this dark shadow and strenuous in their social legislation, the government proceeded within the political frame as it was left by the elections of 1910, and the Parliament Act One result of that controversy was Balfour's resignation in 1911 from the lead of his party, whose factions and the nakedness of the land were proved anew in the choice of his successor Between Austen Chamberlain, nominee of the Liberal Unionists, 'die-hards', and tariff reformers, and Walter Long, an honourable type of Conservative country gentleman, there was a deadlock, which was only resolved by both withdrawing in favour of Bonar Law The new leader was Canadian by birth, a Scot by later domicile, and an iron merchant by profession, he had made his name in the fiscal controversy but had never held Cabinet office, having only entered Parliament in middle life. Time was to prove his sterling worth as a minister and his lovable character, but though a master of his own subjects and a strong debater, he had not the distinction or popular gifts to which the party of Disraeli and Salisbury were accustomed. In most respects a cautious and pessimistic nature, on the Irish question he was a fanatic, being descended from Ulster Presbyterians, and this, coupled with Lansdowne's rigidity and Chamberlain's loyalties, and a reckless element in the ablest rising leader, F. E Smith, inflamed further an angry atmosphere.

For looking retrospectively over the years 1910-14, when Europe was descending into a universal war, we find that faction injured this country with a violence unknown since the 1830's Each limb of it caught contagion from another Conservatives incited first the Lords and then the Crown to stretch their powers, spoke openly of the King

dismissing Asquith or of holding up supply, implied that Ulster would do well to fight, and army officers to refuse obedience rather than coerce Ulster. Syndicalists, among the miners particularly, were teaching that violence was justified against the slow-moving bourgeois, and that by perpetual strike action and sabotage profits could be drained away, might not a triple alliance between miners, railwaymen, and transport force their will on the community? Trade-union membership had increased vastly since 1905, assisted hardly more by its own campaign than by the Liberal government. Their Insurance Act swelled the movement by using the unions as approved societies, their intervention, in railway and mining strikes, compelled the employers to give recognition and negotiate on equal terms with labour executives Official trades unionism, however, was wrestling with a wave of lawlessness, unauthorized strikes often declared on small grounds, and rebel leadership by shop stewards; in short, with all the growing pains of a new democracy, in many cases inadequately paid, and bent on using its power to change the economic facts.

Violent, impatient discontents were found in other areas of society If the high-church clergy had ceased to resist the State's law, it was largely because they had triumphed by doing much as they pleased in ritual observance But the greatest visible change, no doubt, was in the attitude of women, whose emancipation had begun in the reign of Victoria, who thought they should take no part in public life John Stuart Mill had taken up their cause as a crusade, women's suffrage societies began in the '60's, and amendments to give them a vote were put before parliament in 1884 The married women's property Act of 1887 first gave them a legal independence. Colleges for women went back as far as the Christian Socialist movement of the '40's, and before 1880 were opened at Oxford and Cambridge, while London and several provincial universities gave them the degrees which the two ancient foundations refused. From 1894 they could sit on parish and district councils, and an Act of 1907 applied this to county and borough councils also Many hundreds served on education committees, or as guardians of the poor, government employed them as factory inspectors, they did invaluable work in setting up trade-boards And now they pressed for the parliamentary vote, already familiar in Australia and New Zealand, which they argued, as men had argued before, was the necessary lever for improving their conditions and the just symbol of civic equality.

The violence of the new campaign came from the Women's Social and Political Union, founded in 1903, and now dominated by Mrs Pankhurst and her daughter Christabel. This section believed that violence would pay them and compel government to produce a bill, and

they increased their violence every year till the eve of war, by interruption of meetings, attacks on public buildings, assault, bombs, and wholesale arson. Its effect was to antagonize a Parliament which would otherwise have been convinced, for though the question cut across party and in the Cabinet Asquith led a strong opposing section, on the other side were Grey, Haldane, Lloyd George, a solid Labour party, and the fact that a principle already rooted in local government could not be restricted.

Thus emancipation, which Gladstone's life had come to mean, was faithfully pursued by his political dynasty in all directions, carrying them to the verge which brings Liberalism to the danger zone of an enforced equality. In 1912 they produced, but were forced by the entanglement of women's suffrage to drop, a new reform bill, adding 2½ million new voters. Lloyd George was preparing a land campaign, applying to Britain the public control, fixed leases, and rent courts which had changed Ireland Morley had carried reforms in India, to extend election to all councils and introduce Indians into the executive. Cromer's successors were applying the same doctrine to another Oriental people in Egypt. But their heaviest burden of inherited pledges lay in Ireland, which during 1912-14 engulfed and embittered all the feuds of Britain. Here, the Conservatives thought, they might take their revenge for the budget and the Parliament Act, faced with the doubts of northern England, Bonar Law abandoned food taxes as immediate politics and bound his party to the cause of Ulster.

The Irish problem had changed greatly since Gladstone's second defeat. Land purchase had been largely accomplished, peasants had become prosperous farmers. Local government was largely in Irish hands. Redmond, leader of the parliamentary party, had been a Parnellite but was a man of parliamentary traditions, hopeful of winning Liberal opinion and ready to see Ireland take her place in the Empire. With the election of 1910 his chance seemed to have come and his support of the Parliament Act must bring its reward; he could count on open sympathy in the Dominions, besides the old pressure from the United States and its massive Irish vote There were, on the other hand, new elements in Ireland, or old elements given a new life, which menaced this parliamentary school. A continuous tradition of no compromise ran through Irish history, from Wolfe Tone through Young Ireland of the '40's, the Fenians, and Parnell, which would reproach Redmond for any transaction with the ancient enemy An Irish republican brotherhood called for violence and the seizing on any moment of danger to Britain. The Gaelic League was one of many bodies, preaching a national revival. Arthur Griffith, of a Dublin working-family, tenacious and selfless and dedicated, had made his paper, *The United Irishman*, a vehicle of revolt, and

thence came the organization of Sinn Fein, which planned universal passive resistance as the first step to self-government There was, furthermore, a growing industrial population in Dublin, poorly paid and badly housed, who were listening to syndicalist teaching of violence.

Augustine Birrell, the Irish Secretary from 1907 onwards, was ill fitted for resolute administration, it was also a misfortune that land-purchase finance had broken down, bringing sales almost to a stop. In 1907 they made the grave mistake of permitting the Act to lapse which forbade importation and carrying of arms. Their meagre Irish Councils bill of that year, and long delay before they produced a Home Rule bill in 1912, assisted Redmond's enemies. Moreover, their bill evaded the greatest issue, the matter of Ulster, a community of a million Protestants, rich in the rapid prosperity of Belfast, whom it was certain the British people would never compel by force of arms to be ruled from Catholic Dublin Though Asquith was aware he would have to make concessions, for tactical reasons he held them back and introduced his bill as for all Ireland, underlining the importance of relieving the Imperial Parliament, and of Ireland as one unit in a federal Kingdom; as was implied by keeping a number of Irish members at Westminster. This bill was thrown out by the Lords in January 1913, repassed over their heads under the Parliament Act, and became law in September 1914 under very changed conditions

Unionist resistance was always hovering between two schools, an opposition to Home Rule in any shape on the ground that, even if Ulster were satisfied, it was a crime to throw over the Unionists of southern Ireland, and an acceptance of Home Rule provided Ulster was excluded. Ulster's own policy, however, was declared before the bill was produced at all; that is, to prepare a provisional government, ready to defy Home Rule if it became law Early in 1912 the Ulster Volunteers were organized, and in the autumn the Ulster Covenant was signed.

Their political leader was Edward Carson, who had been a law officer in the Balfour government, and now Bonar Law pledged his party to support Ulster to the end. Government would not take legal proceedings against Carson, if only for the good reason that no Ulster jury would convict, and after much negotiation, in which the Crown played a valuable part, early in 1914 they produced a compromise which Redmond accepted, that certain Ulster counties should be able to 'contract out' for a term of years. This time-saving device did not satisfy Ulster, which put forward an alternative for the permanent exclusion of a fixed area, with the option of rejoining United Ireland later, if it so voted In July an all-party conference called by the King failed to agree, and a week later war buried the question.

But it buried it as an explosive mass, for Ireland was repeating its earlier history. Under Birrell's weak governance boycotting, shootings, and cattle-driving revived, and the jury system could not be used. With Home Rule revived, too, the stark division on religious lines. In 1913 James Larkin led a transport strike in Dublin, assisted by a Socialist republican James Connolly, whence sprang up a citizen army The Ulster Volunteers, now 100,000 strong, in April 1914 ran the blockade, landing masses of arms at Larne. Their example inevitably inflamed the South where a body of National Volunteers was launched by Sinn Fein and extremist organizations, which Redmond took under his own wing in order to bring them under control.

Not only were there these illegal armies, but the Irish question had demoralized the British Army too. Ominous naval and military movements gave an impression that Ulster was to be coerced, a strain not easy to put on an army in which men of Irish Protestant birth like Roberts held more than a proportionate power; one of whom, Henry Wilson at the War Office, was in close touch with Ulster resistance In March, through a combination of his intrigues and some blundering by Seely, Haldane's successor at the War Office, and by the general commanding at Dublin, the Curragh incident forced this matter to a head; for, when unwisely confronted with a hypothetical choice between obeying orders to fight Ulster or dismissal, a majority of officers in the garrison preferred to be dismissed. By Asquith's taking over the War Office himself, order was outwardly restored, but infinite harm had been done, alike in British politics, class relations, Ireland, and the watchful mind of the German government.

On 24th July the King's summons to the conference declared 'civil war is on the lips of the most responsible and sober-minded of my people', and two days later the Dublin Volunteers imitated Ulster by disembarking rifles at Howth. But on the 28th Austria declared war on Serbia, and the lamps began to go out in Europe. Neither for British Liberalism nor for British government in Ireland were they, in fact, to be lighted again

CONTEMPORARY DATES

1906 Algeciras Conference
First meeting of the Duma
1907 Edward VII in Paris and Rome.
William James, *Pragmatism*
Synge, *Playboy of the Western World*
1908 Opening of the Hedjaz railway
President Fallières in London.
H G Wells, *The War in the Air.*

1909 Deposition of Sultan Abdul Hamid
Bethmann-Hollweg, Chancellor in Germany.
Blériot flies over the Channel
Death of Meredith and Swinburne.
1910 Accession of King George V
Japan seizes Korea
Arnold Bennett, *Clayhanger*
Death of Tolstoy
1911 Italy seizes Tripoli
The *Panther* at Agadir
Death of Charles Dilke.
1912 Poincaré, Prime Minister in France
China becomes a republic
Woodrow Wilson, President of the United States
1913 Balkan wars
Einstein's theory of relativity
1914 The first World War
Opening of Panama Canal

CHAPTER XIV

FOREIGN AFFAIRS AND THE STEPS TOWARDS WAR, 1895–1914

BEFORE Queen Victoria died, her people, all unwitting, entered on what was to prove one of history's most destructive epochs. After many earlier warnings the map of world politics, as Britain had fought to make it in the twenty years before 1815, was torn to shreds. The long security then won having proved illusory, once more we emerged from isolation and formed a new alliance system, contradicting all our maxims for the previous two hundred years. It was based on an understanding with our old enemies France and Russia, and aimed against Germany, so long our friend.

Mighty forces, transcending the will of any one people or the acts of individual statesmen, directed this change in the international order. The revolutionary principles of 1789 had worked out their logic in spreading the notion of liberty to one people after another, and binding this freedom to the ideal of racial nationality This national passion, denouncing minorities and all else that stood in its way, was spread by the instruments of democracy, the press, and organized opinion, even in the most undemocratic States; massing the pan-Slavism of Holy Russia or the feuds of every Balkan people until it entered Africa through Egypt, and Asia through India and Japan Simultaneously the free-trading epoch ended in the spilling of European capital over every undeveloped continent, in a scramble for colonies, raw material, and markets The very progress of humanity redoubled its danger. For the concentrated power of each State had multiplied many times since the wars of the past, being now built on principles which called forth national unanimity and universal military service, years of peace, in Asia particularly, had accelerated the growth of huge populations which must expand or die; scientific invention, by steam and turbine, submarine and airship and explosive, enhanced the weapons of power. And all this in an age when the restraints of religion were disappearing from the human soul.

As the balance now stood, the weights had changed profoundly. The decadence of the Turkish Empire, so long predicted, seemed really to be nearing the hour of death, for which were watching the Roumanians, Greeks, Bulgars, and Serbs, and which might well give the signal for the break-up of Austria-Hungary also. That loose dynastic

Empire, shaken in 1848, mutilated in 1859, and humiliated in 1866, must dread any change, for a majority of its subjects were Slavs looking, like the Czechs, northward toward Russia or, like the Croats and southern Slavs, fomented from outside by Serbia. Bismarck's Germany was still master of the land mass of Europe but his successors failed to keep his golden rules; the French-Russian alliance of 1893 meant that his dreaded dilemma of two hostile fronts had not been solved, while the Triple Alliance was weakened by Italy's open resolve not to be involved in war against Britain For the time being, however, the French Republic, which was never more corrupt and factious than in the '90's, hovered between two trends, the one of revenge against Germany and the other of an Imperial policy overseas, which must mean collision with Britain; while Russia, beaten off from the Balkans between 1878 and 1890 and held up in her penetration towards India, had turned her eyes to the Far East This world of the '90's was infected, too, by empires in decline, the Turks' misgovernment of the outlying territories of Tripoli and Syria, or Portugal's huge spaces in Africa But it was also shocked by new energies Borrowing models and weapons from western Imperialism, Japan manifested the efficiency of a modern State, between 1890 and 1900 also, the United States so far dropped its old isolation that in Southern America and the Pacific it turned Imperialist.

If here were many possibilities of conflict, yet another clash of principle, well known to Castlereagh and Canning, disturbed the balance, a clash between democracy and personal government. The despots who ruled the eastern empires were more dangerous to peace through their weakness than their strength; through the vain incalculability of the Kaiser William II, the decrepitude of Franz Joseph, and the blind spots in the well-intentioned Czar Nicholas II Such weakness, of listening to Byzantine flattery or dependence on soldiers and secret counsellors, killed many chances of reconciliation

British policy during Salisbury's last ministry adhered to that non-commitment to alliances which we had followed so long, though still putting first on its list of possible enemies the same two Powers as it had since Waterloo. Russia's ambition to pass through the Bosphorus, though dormant, was undisguised, and her intervention in the war between China and Japan threatened our rich Far Eastern trade. As for France, we collided with her all over the world. Rosebery had hardly avoided a war over the boundaries of Indo-China and Burma; we disliked their fortification of Bizerta, the naval base of Tunis; boundary disputes over Niger and Congo were spreading towards the Nile valley, which a notable declaration of 1895 from Rosebery's under-secretary, Edward Grey, announced was a British sphere

Non-commitment, however, though Salisbury preferred it to the

end, was a much more uneasy business since the hardening of the two camps The Concert of Europe was dead This Salisbury first discovered during the Armenian massacres of 1895-6, for Germany stood out as the champion of Turkey, any disturbance of whose territories would set Austria by the ears both with Italy and Russia. He experienced it again during the Cretan rising, and the Greeks' unsuccessful war of 1897 against the Turk. But the peril of our isolation was shown most clearly in the Far East. In 1895 Russia, France, and Germany combined to force on Japan the surrender of what she had just extracted from China by the peace of Shimonoseki. China gave Russia a line across Manchuria, which would link the Siberian railway with Vladivostok, in 1898 Russia took the great harbour of Port Arthur, and Germany the port of Kiao-chau. To keep some balance in Far Eastern waters, Britain replied by acquiring a lease of Wei-hai-wei.

In addition, our differences with France all but ended in war. In 1896 the Abyssinians annihilated the Italian army at Adowa, the Dervish power we had left intact since Gordon's death was aggressive, and we determined to make a beginning of reconquering the Sudan. That year an Anglo-Egyptian force under Kitchener occupied Dongola, in 1897 Berber, and in September 1898 crushed the Khalifa's army at Omdurman and took Khartoum. All this time, under a determined foreign minister Hanotaux, the great French African Empire had been penetrating the hinterland of our West African settlements; it held the Niger at Timbuctoo, reached Lake Chad, touched the Congo watershed, and an expedition under Colonel Marchand was sent out to reach the Nile. He emerged on the White Nile and hoisted the tricolour at Fashoda, just before Kitchener reached Khartoum This challenge to the policy we had laid down was deliberate, but it was not till March 1899 that Hanotaux's successor, Delcassé, gave way before our threat of war, and that a dividing line was drawn between British and French spheres of influence.

From yet another quarter, Salisbury's government received a warning of the change in the scales. Our relations with the United States had never been cordial, either before or after the American Civil War. Canada had been made a pawn in Irish Fenian conspiracy, while her tariff arrangements hesitated between reciprocity with America and preferential duties for the mother country There were old disputes over Newfoundland fisheries, and a new American claim that the Behring Sea and its seal fisheries were a closed American zone Finally in December 1895, on the eve of the Jameson Raid, President Cleveland, perhaps with one eye on the Democratic party's propects, claimed by virtue of the Monroe Doctrine to impose a settlement in an ancient dispute between British Guiana and Venezuela. His message was

violently worded, but British horror of what Chamberlain called a 'fratricidal war' was deep, and this particular danger was conjured away by agreement to arbitrate. Yet the Senate's rejection of a general arbitration treaty left the Anglo-American future uncertain.

Throughout these years our greatest embarrassment by far was the attitude of Germany. The Kaiser's personal influence was at its height and was dangerous. His mind was restless and ill-balanced, as his correspondence with the Czar may show, dwelling on fantastic visions, sometimes of war between Britain and America as inevitable, or very often an obsession that some day Britain meant to 'Copenhagen' the infant German fleet. Foolish language about 'our old Prussian god', the God-bestowed right of kings, or the sharp gleaming sword, irritated and alarmed other peoples. He declared that Russia and Germany must stand together against the yellow peril, and from his own angle shared in the scheme of Holstein, the most dangerous man in his Foreign Office, that the Triple Alliance should be expanded into a European confederacy, which could squeeze better terms out of the complacent and declining British. In detail he was perfectly untrustworthy; while negotiating with Britain, he would privately deplore that France did not fight at Fashoda, and though he was decided to 'nail Russia down in Asia', he would reveal to the Czar what Britain offered. That his personality offended his uncle Edward VII, was embarrassing; that it filled Salisbury with indignation, was more important.

Taking for granted that Germany pursued Bismarck's method, of using Egypt as a nuisance value in order to dispute every frontier in Africa, we come to three matters of first-rate importance. The first was German policy in Turkey, a determined campaign to capture the Turkish railways for a German syndicate, and the Kaiser's loud visit to Palestine in 1898, with its utterance that in him all Moslems would find a friend. The second was the appointment of Von Tirpitz as head of the Admiralty and the passing in 1898 of a first Navy law, to produce twelve battleships and thirty-three cruisers within six years. The third was the scene in South Africa; the German decision that Britain should not control Delagoa Bay, and that the Transvaal should be supported. This came to a crisis during the Jameson Raid round the New Year of 1895-6. Threats to withdraw the German ambassador, and the Kaiser's congratulatory telegram to Kruger, made part of a scheme to land German troops and declare a protectorate, together with enquiries whether Russia and France would not assist to lower British pride.

Henceforth the atmosphere became much worse, for the flames were fed by the press of both countries, while Tirpitz and the Kaiser had reached a fixed view, that Germany's place in the world would never be secure until her Navy was so strong that not even the greatest naval power could defy it without serious risk. Our isolation reached a pitch

of extreme danger by the outbreak of the South African War, together with discussions, initiated from Russia but pursued in Paris and Berlin, whether or not to form a coalition to mediate That this danger passed away peacefully was due not only to the rooted anti-German feeling of France, Russia's weakness, and Italy's uneasiness in the Triple Alliance, but to British measures, — which would later have been called 'appeasement', — to keep Germany quiet. These included a treaty, staking out claims for Germany and Britain in the event of the bankrupt Portuguese Empire coming on the market, and a settlement in 1899 whereby Britain, much against her Australasian Colonies' desire, evacuated Samoa, leaving those islands divided between Germany and the United States.

This long sequence of dangers brought some British ministers to the conclusion that it was time to end isolation and to explore a settlement with Germany. Chamberlain was the leader but Devonshire and Lansdowne supported him, and three times between 1898 and 1901 this negotiation was seriously pressed. By this date the chief German minister was the bland amoral Bulow, who agreed in conclusion with the Kaiser, Holstein, and Tirpitz. Time, they thought, was all that was wanted to get Germany through a danger period, while her Navy was being created, and time, they argued, was telling against Britain. The fear underlying their thought was the immemorial German fear of a giant Russia, and they asked what a British alliance could do except to entangle them in a defence of the Bosphorus or the Indian frontier, or what could the British fleet do to keep the Cossacks out of Prussia? Besides, what alternative remained to the British? Holstein was sure that a British alliance with Russia and France was an impossibility. It would seem unjust to believe that any of them at this stage desired war; they wished to have their hands free, and to mould both groups of Powers in the direction they pleased, above all, to keep a close link with Russia, who in time might bring France into a Continental scheme, which would keep Britain, America, and Japan in order. They therefore received coolly Chamberlain's notions of an opening for Germany in Morocco, or a free hand on a Baghdad railway, or his public appeal for a triple entente between Germany, Britain, and America

As the discussions proceeded, the German methods left relations still worse Bulow played up to his press, and publicly turned down Chamberlain's offer by carrying in 1900 the second Navy law, which would result in a fleet of thirty-four battleships and fifty-two cruisers within sixteen years. In 1899 the first Hague Conference was called by the Czar to consider a limitation of armaments, but the German attitude was purely obstructive. In China the Powers' combination to put down the Boxer rebellion in 1900 added more dissension, while it was soon clear that Germany would do nothing to resist Russian

encroachment in Manchuria. When, therefore, the last negotiation took place in 1901, the two nations were found very far apart The utmost that the British would consider was a defensive treaty, with Germany alone; but the Germans asked all or nothing, — that is, a British adhesion to the Triple Alliance, with a commitment not only to keep Alsace-Lorraine German but to underwrite the position of Austria in the Balkans

Chamberlain had warned the Germans that, if rejected by them, we should turn elsewhere but, if the years 1901–5 were indeed a turning-point, it was not because Great Britain deliberately made a diplomatic revolution. The Anglo-Japanese treaty of 1902, the Anglo-French entente of 1904, and the Anglo-Russian convention of 1907, did not follow logically in one harmonious scheme. They were, rather, separate parts of a defensive diplomacy which, even when completed, did not create one alliance, while in operation they were controlled by an unforeseen event, the crushing defeat of Russia by Japan in 1904–5. Yet, taken together, they meant a trend which every year it would be harder to reverse.

Our great trade in China would disappear if that country disintegrated and if Russian aggression closed the open door, nor could we keep in those waters a fleet strong enough, unaided, to protect our interests; to Japan it was life and death, if not to recover control of Manchuria, at least to keep Russia out of Korea. The treaty of 1902, however, was defensive and carefully guarded, binding each Power to benevolent neutrality if the other were attacked by one enemy, and only to active assistance if attacked by two other Powers It was only in 1905 that a revised treaty provided for assistance in case of attack by any one enemy, and was extended to cover all eastern Asia and India.

In English eyes the original purpose of a settlement with France was similarly limited For twenty years now British and French Imperialism had collided, sometimes over venerable matters like the French fishery claims under the treaty of 1783 and sometimes over new French penetrations, as in Siam, West Africa, and the New Hebrides. At the turn of the century French feeling was savage, humiliated by Fashoda, and distracted by the Dreyfus scandal, which threatened to array conservative and democratic France in rival camps, no less in foreign than in internal affairs. There were two more urgent controversies Egypt divided us, being to the French an unhealed wound, and Cromer was insistent that French obstruction confounded the reforms which were indispensable The second area was Morocco, a tangle of Arabs, Berbers, Jews, and foreigners, misgoverned by a spendthrift Sultan, an uneasy neighbour to the French in Algiers, separating French northern from French west Africa, and by its lawlessness a temptation to any rival Power

If reconciliation was first discussed in 1902 between Chamberlain and Paul Cambon, who as ambassador in London played a great part for twenty years to come, its achievement owed most on the French side to Delcassé, minister of foreign affairs from 1898. In his hands it made a part of several moves to recompense France for the insincerities of Russia and her absorption in the East, which included a skilful wooing of Italy by matching her ambitions in Tripoli against French hopes in Morocco. Lansdowne found him a hard bargainer, but an agreement was signed at last in April 1904. French concessions over Newfoundland and Siam balanced some French frontier gains in Africa, but the core of it lay in the clauses referring to Morocco and Egypt. Subject to a mutual pledge for freedom of commerce, what Britain promised to France in Morocco, the same France conceded to us in Egypt, — a promise of diplomatic support. Secret articles insured a free hand in reforming the foreign colonies' privileges in Egypt, if Morocco disintegrated, the French would be at liberty to act, though Spain should be given a zone of influence and the coast opposite Gibraltar should not be fortified

Germany could make a grievance of thus being ignored, and the crisis of the next two years came from an effort to reassert herself. It was true that Russia went staggering to defeat at the hands of Japan, which must weaken France in Europe; on the other hand, when the Russian fleet in October 1904 nearly caused war by firing on British fishermen, France mediated between her new friend and her old. The Germans therefore pursued a double policy. While they denounced French aggression and sent the Kaiser to visit Tangier, they also stimulated the Czar with hopes of assistance, drafted a treaty whereby Russia should compel France to join their Continental scheme, and by getting President Roosevelt to mediate obtained for Russia better terms than could have been expected from Japan. In short, France was to be intimidated and the Anglo-French *entente* broken.

They were so far successful that in June 1905 they forced the resignation of Delcassé, but in all else they failed. Britain had given France no pledge of armed support, but was ready to fight if France were attacked; Lansdowne authorized conversations between British and French military and naval officers, — an authorization continued by Campbell-Bannerman and Grey in 1906. In all essentials the conference of Algeciras that year was a German defeat, for Austria was tepid, the Italians' understanding with France was plain, and Russia failed them; the mandate of France and Spain in Morocco received international recognition. It was clear enough that the Franco-Russian alliance stood intact and that the Anglo-French *entente* was near to becoming an alliance also, and if the two were interconnected the encirclement of Germany would be complete

Three processes of the first magnitude filled the years 1907–8. These were Anglo-German naval rivalry, the Anglo-Russian *entente*, and a re-emergence of Russia in the Balkans. In the British mind the first was always pre-eminent, so that for us it became the prime cause of war, for the national instinct asked, without ever getting a satisfactory answer, for what purpose the strongest military Power was also building a mighty fleet? And that a fleet not preponderantly of vessels for commerce-protection or defence, but of battleships and battle-cruisers, massed in home waters. It was in vain that this pacific Liberal government reduced Cawdor's programme of 1905, or offered any device which would cut down armaments. A new German Navy law of 1906 answered with a larger programme and provided for widening the Kiel Canal; they rejected our proposals at the second Hague conference as a Machiavellian move, while another law of 1908 laid down construction of four dreadnoughts a year. All our remonstrances were waved aside by the Kaiser as an insult to himself and German self-respect.

Our adoption of the Dreadnought type temporarily reduced our superiority, which consisted in a great number of older ships; we also believed that, by expansion of dockyards and rapid assemblage of guns and armour, the Germans were accelerating building in advance of the official dates. Hence came about the 'scare' of 1908–9 when McKenna, backed by a Board of Admiralty threatening to resign, stood firm on six battleships as a minimum, and the Cabinet were finally compelled by national pressure to lay down eight. This was the intermediate answer to the Germans' two fallacies: their belief that the best means to win our respect was to out-build us, and a conviction that we were ready to make war in jealousy of their trade. Yet our exports to Germany were greater than to the United States, nor was any element in Britain so pacific as the City of London.

German fears were much aggravated by Anglo-Russian conversations in 1907. It had been Salisbury's conviction that a strong Russia was needed for the balance of power, though for a generation Russian hostility had everywhere embarrassed us. Reconciliation would not be easy, least of all for a Liberal government, many of whose supporters hailed with pleasure the Russian revolution of 1905 and resented the Czar's dismissal of the first Duma in 1906; it would also have to safeguard interests vital to India, for which Curzon as Viceroy had been fighting fiercely.

It was then a limited agreement, in making which Grey, and Morley as Secretary of State for India, played the chief part. Keeping benevolent silence as to the future of the Straits and the Persian Gulf, it made a compromise settlement in three dangerous areas. In Tibet the predominance we had won by Younghusband's expedition to Lhasa was,

to Curzon's indignation, put aside and we contented ourselves with mutual pledges against interference The same pledge was exchanged about Afghanistan, though Russia recognized it as outside her sphere The crux was Persia, already deeply penetrated by Russian agents and money, where Grey had to leave the north as a Russian sphere, separated by a neutral belt from the British sphere which was designed to guard India and the Gulf. But Russia's perpetual encroachment here up to 1914 was enough to prevent this understanding becoming cordial

We were, indeed, very far from a close alliance with Russia, where powerful ministers and courtiers inclined the weak Czar towards Germany, and that was proved by the gyrations of Isvolsky, Foreign Minister from 1906 to 1910, between those influences on the right and the pan-Slav pressures which drove him on in the Balkans. Meanwhile the year of 1908-9 marked an increasing danger, that each group of Powers moved at the pace of its least civilized portion. Some murderous band in Macedonia, or some frontier village on the Adriatic, was enough to perturb great capitals, and in this case a general war nearly followed, of which Britain and Germany and France all alike disapproved.

Once more the crisis broke in one of Europe's worse areas, where the Sultan Abdul Hamid still reigned. Macedonia was disputed between war-bands of Bulgars, Turks, Serbs, and Greeks, while an uneasy truce had reigned for ten years between Russia and Austria. The first impetus to war came from Aerenthal, the Austro-Hungarian minister, and that group in his country who saw their greatest danger in the southern Slavs, in particular since the new dynasty, which set itself up in Serbia in 1903, were conspiring with five million Serbs and Croats under Austrian rule. It was accelerated by the Anglo-Russian *entente*, which might agree to enforce reforms in Turkey and by a meeting of the Czar and King Edward in June 1908; it was touched off by the rising of the Young Turk party against the Sultan, a month later. Behind the back of his allies Isvolsky made a bargain with Aehrenthal; that Austria might annex Bosnia and Herzegovina, the two Serbian provinces she had garrisoned since 1878, if Austria in return supported the opening of the Straits to Russian warships.

But the Austrian betrayed his confederate and seized his own part of the spoil; in October Austria annexed the two provinces, at the same time arranging that Ferdinand of Bulgaria should declare his sovereign independence of Turkey.

These transactions would not stop short in this crumbling soil, and Grey's contention was that such breaches of treaty must be dealt with by European conference, — not that we were prepared to fight after Isvolsky's craftiness, or make a one-sided arrangement about the Straits. Germany, too, was outraged by the Austrians' treatment of her Turkish friends, but for them it became a trial of strength, for they

could not abandon Austria, their one firm ally, in face of a warlike Serbia and the indignation of Russia. In the end the crisis passed off in 1909, in part by some financial compensation for Turkey, but even more through a German ultimatum to Russia Not that Germany desired war at this moment, or on this matter, but Conrad, the Austrian chief of staff, pleaded for it, and had war broken out Germany was pledged to stand, as the Kaiser later boasted, behind her ally 'in shining armour'.

What the fall of Delcassé had been to France, this Bosnian humiliation was to Russia, a defeat inflicted by a threat of war. It was the fatality of German policy not only to injure but to insult, and to make it impossible for other States to retreat again.

To what extent, while the Liberal government won the two elections of 1910, was Great Britain committed, as Europe moved towards the abyss? Her destiny, to a degree perhaps unparalleled in the case of any Foreign Secretary since Canning, was directed for ten years by Edward Grey. This rare character had the entire trust of his countrymen, though no one did less to court popular favour. Wholly devoid of personal ambition, borne up in popular life by a sense of duty amid innumerable private sorrows, more radically minded than his nearest friends, he came from the Whig dynasties which had so often controlled our policy, and shared their attitude. Building on what Lansdowne had begun, his aim was peace and his method was to keep in being a Concert of Europe. It may be that his insularity, his almost total non-acquaintance with the countries of Europe and their rulers, blinded him in a measure to the effect of his policy, or exposed him to pressure from less disinterested men. On the other hand, this very detachment allowed him to speak with a voice which imparted a moral nobility to what his country was trying to do.

His rôle in an age of imminent danger was thus to steer a middle course, and to keep the body of British and, as he would have wished, of world opinion, united. On one side he was pushed at by colleagues who detested expenditure on armaments, Liberals and Labour men who hated contact with Czarist Russia, and a large mass of all parties who would resist commitments and distrusted French militarism. On the other, he was girded at by those who were convinced that Germany meant war, and exhorted to turn these *ententes* into clear-cut alliances. This second opinion was strong not only in the services but in the Foreign Office itself, where the powerful figure of Eyre Crowe, Nicolson's devoted purpose, and Hardinge's experience all converged in that direction

It was, however, Grey's argument, as it had been Salisbury's, that the hands of Britain were and must remain free, the military conversations which he and Campbell-Bannerman authorized with the French

were to be non-committal, and when in 1912 they were revealed to the Cabinet, this point was emphasized in an exchange of letters. But it is possible to trace in Grey's papers a settled mournful conviction that Germany meant war, or at the least that their war party was too strong for the Kaiser and his civilian ministers. Always ready to look for ways of giving Germany her place in the sun and well aware of aggressive elements in Russia and France, in the last resort he could not antagonize allies on whom we might have to depend for our very life. He must turn a blind eye to Russian intrigues in Persia, stand behind France in Morocco, and connive at Italian encroachment in Tripoli. To a man of this type there was also another motive, more moral though perhaps more insidious, the motive of honour, that our name would stink in Europe if, having encouraged expectations in our allies, we let them down.

What sacrifices our Liberal policy would make for peace was shown in much besides our repeated efforts to reduce or stabilize naval armaments. It was shown by the discouragement poured on the campaign for conscription, and again by the Naval Prize bill which, following on the Hague Conference, our government put forward in 1911 and which was thrown out by the Lords. For this bill, much against the Admiralty's protest, would have crippled the right of search at sea we had always claimed in war, by exempting neutral ships if under convoy, and by making non-contraband some raw materials, such as cotton and rubber, which were vital for a modern war-machine.

In this, just as in a stand against the atrocious Belgian oppression in the Congo, Grey looked to moral ends, and a reconciliation of British interests with the world's sense of justice. This it was which guided perhaps his greatest achievement, the amendment of our relations with the United States. It had begun earlier in the hands of Lansdowne and Chamberlain, for we had shown our sympathy during the Spanish-American war of 1898, withdrew our previous objection to American control of the Panama Canal, and accepted their contention regarding the frontiers of Alaska. But though much was due to American statesmen, their Secretary of State, John Hay and the two Presidents Theodore Roosevelt and Woodrow Wilson, there were awkward corners during Grey's term of office, which he and Bryce, our ambassador at Washington, did most to turn. One was the naval doctrine of this greatest of neutral Powers, 'the freedom of the seas', which the Declaration of London was designed to meet. A second was our Japanese alliance, which was not agreeable to a Pacific Power with a strong sense of 'colour' and a zeal for the integrity of China. This determined [illegible] we rid ourselves of any [illegible] with whom we had signed an arbitration treaty. For though the Senate in 1912

rejected Grey's first effort, he persisted until he brought about a general arbitration treaty in 1914. For this understanding that America and Britain stood essentially for the same things, he reaped a first reward in Woodrow Wilson's courageous deed in 1914 when he repealed the Panama Act, which had given preferential terms to American shipping

After the Bosnian crisis a certain lull followed, and some important personal changes. Isvolsky left the scene of his humiliation in Russia, to be succeeded by Sazonov, Bulow at Berlin was followed in the Chancellorship by a more upright man in Bethmann-Hollweg; in 1912 Poincaré formed a strong French government, next year becoming President; in 1912 also Aehrenthal died and was replaced by the weaker Berchtold. But the essential forces did not change and the hardening of the lines proceeded Russia still pressed her historic object, the opening of the Straits for her warships, and prepared for a Balkan revenge by nursing the ambitions of Bulgars, Serbs, and Greeks. Italy reinsured herself all round Europe. France steadily used the Act of Algeciras as a means of making a Morocco protectorate

For Britain the barometer of all these moves was the German Navy, and nothing but the removal of that challenge could reassure us. From Bethmann-Hollweg's appointment in 1909 two years of negotiation passed, during which German ministers occasionally breathed the possibility of slowing up their shipbuilding. But the more these conversations were pursued, the clearer it became that the Tirpitz school were in the ascendant, and that as the price of naval concession even moderate Germans would demand a political agreement, which would mean the breaking of the Russian and French *ententes*. They came to an end in Haldane's mission to Berlin of January 1912; though he found the elements of fair bargaining over the Baghdad railway or Africa, even to the extent of our ceding Zanzibar, on the naval question there was a dead stop. When we offered a pledge of non-aggression, the Germans would only accept a binding formula of absolute neutrality if war were ' forced upon ' Germany. And not only so, it was found that the new German Navy law now passing would mean more capital ships, and a third squadron in home waters.

Since our offer of a ' naval holiday ' had no effect, the reply was inevitable. We should keep a 60 per cent superiority in Dreadnought strength and build two keels to one, while there were other momentous political results. The first was an ever-closer association with the Dominions in defence; the second, a far-reaching agreement with France. The reorganization on which our Admiralty insisted, basing the first fleet in home ports and concentrating our Mediterranean force upon Gibraltar, meant that for some years our security there must depend on the French, who transferred their fighting strength to those waters In such a military decision there was involved a political

effect. Such were the barren fruits of Tirpitz's triumph; of an expenditure of £200 millions on their fleet between 1900 and 1914, and a programme for thirty-five ships of Dreadnought type by 1920

Half-way through this conflict came the next crisis of 1911, pivoting on Agadir. Once again, as Grey saw, Germany had a real grievance in which Spain also shared, that French intervention between rival Sultans in Morocco and their expedition to Fez destroyed the settlement of 1906. But once more the German method of negotiation imperilled what might be a proper claim, and set Europe on fire. Their despatch of a gunboat to Agadir, a closed port on the Atlantic, — the precise move already discussed at Berlin some years before, demands on France for great cessions in her Congo colony; a blank silence after our declaration that we must take part in any new settlement; all these brought the British Cabinet into the open with Lloyd George, the supposed leader of the peace party, as their spokesman If, his Mansion House speech said, Britain was to be treated 'as if she were of no account in the Cabinet of nations . . . peace at that price would be a humiliation intolerable for a great country like ours to endure'. Since neither Germany nor the pacific Caillaux government wished a general war, a settlement was reached but only after dangerous recriminations, and the German recognition of a French protectorate in Morocco in return for a rich slice of the Congo plastered but did not heal the wound.

This crisis led direct to those which followed For Italy, ever jealous of France, concluded the hour had struck for what all the Powers had unwillingly agreed must come, and in September 1911 made war on Turkey to seize Tripoli. Long before that war was done, the Balkan races decided to take advantage of Turkey's plight, and overturned the Young Turks who had lately deposed Abdul Hamid. The ambitious Ferdinand of Bulgaria, the new Greek minister Venizelos, and Russian agents, brought about early in 1912 a league of Bulgars, Serbs, and Greeks. Too late, under French criticism, Russia tried to avert the storm she had helped to raise, and in October the league, with Montenegro also, attacked Turkey.

The Balkan wars passed through two phases; a first from their outbreak until May 1913, during which the allies captured every strong point, from Albania to Salonica and Adrianople; and a second, from June to August 1913, in which they fell out among themselves, the Serbs and Greeks, aided by Roumanians and Turks, turning on the Bulgars. The map was thus revolutionized by force, and a peace made which left Bulgaria embittered, and every Balkan State discontented. What mattered much more was how a general war was again barely avoided.

Indirectly, the Slav states' triumph was a triumph for Russia and, therefore, an Austrian defeat, Conrad, their chief of staff, who a year

before had wished to attack Italy, was now arming against the Serbs. But Russia's military preparations were in arrears, France wished for peace, Germany was not ready to be dragged into war at Austria's heels, and a London conference under Grey's presidency in the winter of 1912–13 damped down the flames. Its chief contribution was to create an independent Albania, which would meet the Austrians' wish to prevent Serbia reaching the Adriatic and there joining hands with Montenegro.

Yet the archives now make clear that henceforward the drift was out of control. Dread of it enhanced armaments, which in turn increased its speed; France raised her term of military service from two years to three, there was a capital levy in Germany, and larger armies in Russia. Each group was haunted by a fear that the loosing of one stone would bring its whole system toppling, and each prepared to fight, however rotten the individual stone might be.

Taken in themselves, Anglo-German relations were no worse in 1913–14 than in the last ten years Lichnowsky the German ambassador found, as his predecessor had, no taste for aggression in Britain, the Germans were helpful during the Balkan conference, and Grey persisted in his patient patching up of weak places The German scheme for a Baghdad railway involved numerous objections as regards Russia, Turkish finance, and the Persian Gulf, but all these interests were safeguarded, after arduous negotiation, by an agreement completed in June 1914. In principle, too, agreement was reached on the thorny question of the Portuguese colonies, dividing them into British and German spheres of influence for economic and, if Portugal parted with them, political privileges

But the root of all evil lay elsewhere Twenty years of blundering aggression had stripped Germany of every firm ally except Austria, while a waft of death had gone up against the Austro-Hungarian Empire. Its Slav subjects were deep in conspiracy, Italy was a jealous rival, the Roumanian alliance was lost, thanks to Hungarian oppression of its Roumanian areas. The Balkan War had meant a diplomatic defeat, with the magnifying of Serbia and Greece, and all who counted on Russian support. Gradually the influence of Conrad and the soldiers wore down the hesitations of the heir-apparent Franz Ferdinand, Berchtold the Chancellor, and Tisza the Hungarian minister, with a conviction that the Empire would perish unless Serbia were crushed, either by a diplomatic offensive or by war. All through 1913–14 we find Russia and the German Powers manœuvring for position, to win Bulgaria or Turkey, Greece or Roumania, and in the background the Kaiser's fatal decision, supported by his soldiers, that in the last resort, right or wrong, Austria must be upheld. If a great war of Teuton against Slav must come, and of that they were convinced, then better

sooner than later, before Russian armaments and railways were complete, and before her campaign to reach the Straits matured. On the Russian side, if the army and the pan-Slav press and Isvolsky, now at Paris, worked for war, on the other hand the Czar, Sazonov, and the strongest voices were anxious to postpone it. Yet the dynasty could not safely suffer, nor national pride endure, another such ultimatum as in 1909.

Amid these primeval hatreds and in the throes of the Irish question the British Cabinet moved, its hands still free, on paper, from entangling alliances and giving warning to its partners against aggression. Though not sharing the belief, powerful in some of their official advisers, that Germany unquestionably intended war, we may take it that Asquith and Grey had minimum points on which they would stand to the last; not to suffer an attack on France, the Channel ports, or Belgium. Whether they kept their eyes too intently on Berlin and did not make close enough contact with Vienna and the Balkans, or whether they considered Berlin too much in terms of civilian ministers without taking due account of the soldiers, these are questions less easily disposed of.

The most brutal murder by two Bosnians with Serb connivance on 28th June of Franz Ferdinand and his wife at Sarajevo in Bosnia, the Austrian decision to seize their chance, the Kaiser's promise to support them on 5th July and on 28th July an Austrian ultimatum, so framed that no independent State could have accepted it, — such was the train of events which brought us to the issue of peace and war. The timetable of that fateful week is in itself enough to lay the immediate responsibility elsewhere, while the documents reveal both the double-headed government of Germany and its doubly mistaken diagnosis: to wit, that an Austro-Serbian war could be localized, if only it were quickly disposed of. As against Britain, it may be a real criticism that, as in the Crimea, Cabinet and party divisions let slip a chance of peace. For, it has been argued, if we had promptly declared our intention of fighting alongside France and Russia or, again, declared some days earlier our decision to fight if Belgium were invaded, the Germans would have drawn back.

Once a certain speed was reached in their military machinery's revolution, we may say that the second view became untenable, since the German effort was geared to carry out the Schlieffen plan for a vast envelopment of France through Belgium. And the first criticism, even if more just, is academic, seeing that our ministers' papers make it certain that an earlier declaration would have wrecked the Cabinet and divided the country. If Asquith, Grey, Haldane, and Churchill would think it disaster and dishonour to abandon France, some other ministers (as Morley and Burns proved by resignation) were against

intervention at all. The majority, like the majority probably of the people, would decline to fight in a Balkan quarrel. Asquith and Grey then must move by gradual stages, if the government was to survive and the country to be kept at one.

Though on 29th July a German bid for our neutrality was rejected, in return for their promise not to annex French and Belgian territory in Europe, the Austrian and Russian mobilization and then a German ultimatum to Russia passed before our Cabinet could reach decision. It was not till 2nd August that, fortified by promises of Unionist support, they agreed that the German fleet should not be allowed to enter the Channel; though the Germans had already refused to pledge themselves to respect Belgian neutrality, even so it was not till that evening, when they had invaded Luxemburg and demanded a passage through Belgium, that Lloyd George and the Cabinet majority came round to resistance.

Though Grey, and Asquith with him, would have resigned if we had abandoned France, it was the Belgian issue which united Cabinet and country. Never was a national outlook better expressed than by Grey's speech on the 3rd August, backed not only by Bonar Law for the Unionists but by Redmond for Ireland On the 4th, aware now that German troops were in Belgium, our ultimatum demanding assurances for Belgium's neutrality was sent off, and expired without a reply that night; and the Europe which our statesmen had known since the Tudors expired with it.

It would be easy to spread the responsibilities for this calamity to all mankind, to show that by offensive means Austro-Hungary was fighting a defensive war, or that the Slavs were defending a racial offensive, or to admit that British and French Imperialism often provoked a natural indignation. The chain of crime might be traced much further back in Turkish persecution, the partitions of Poland, or the aggression of Louis XIV. But for Great Britain in 1914 all doubts and questionings were swallowed in a plain instinct, which had driven them to fight Philip of Spain, Louis XIV, and Napoleon; that an overweening military strength threatened the balance of power, the open sea, and the liberty of nations, on which depended alike our safety, livelihood, and ideals.

TIME TABLE, 1914

28 June	The murder at Sarajevo.
5 July	Germany promises Austria her full support.
23 ,,	Austrian ultimatum delivered at Belgrade
25 ,,	Serbia accepts the bulk of it, offering to refer two crucial points to the Powers or to the Hague Tribunal

26 July British fleet on trial mobilization is kept from dispersal. Grey suggests a Four-Power conference (Britain, Germany, France, and Italy)

27 " Germany rejects the conference

28 " Austria declares war on Serbia The Kaiser and Bethmann-Hollweg urge moderation on Vienna

29 " Partial Russian mobilization against Austria Germany bids for British neutrality. Austria begins bombardment of Belgrade

30 " Russia accepts a conference, but orders general mobilization On hearing this, Moltke urges the same on Austria

31 " General Austrian mobilization, they refuse to stop operations in Serbia. German ultimatum to Russia, demanding demobilization within twelve hours, and another to France demanding a pledge of neutrality

1 Aug Germany declares war on Russia General mobilization in France. Germany declines to give Britain a guarantee for Belgian neutrality

2 " The Conservative Opposition urge the Cabinet to support France and Russia Grey gives France a pledge not to allow the German fleet to operate in the Channel or North Sea German ultimatum to Belgium

3 " Mobilization of British Expeditionary Force Belgium asks for our diplomatic support Germany declares war on France

4 " German forces cross the Belgian frontier. Issue of British ultimatum.

CHAPTER XV

THE FIRST WORLD WAR, 1914–1918

By the end of 1914 the Germans had failed in their master plan, which was to break the life of France within six weeks and then, gripping the Channel ports to fend off Britain, turn their strength on Russia and wound that unwieldy bulk in so many vital places that it must collapse On the contrary, the war was to last for fifty-two months. Its prolongation, sufferings, and universality brought about effects unpredictable when it began; the destruction not only of three empires, German and Austro-Hungarian and Turkish, but a total revolution in Russia and violent change within the British Empire itself.

In its first pattern the war, from our point of view, took the same form as those waged against Louis XIV or Napoleon; that is, a struggle against the strongest military Power, holding the interior lines and the land mass of Europe To win victory we counted first, and as it proved justly, on the means which Marlborough and the Pitts had employed before, to use sea-power as our weapon for a relentless siege and hold the enemy armies through the force of our Allies, reinforcing them with whatever military effort we could afford on land, though even more by money and munitions This British method of war, waged from the circumference against the centre, followed much the same sequence as in 1704, or 1805–15 While by blockade and commerce destruction we constricted the central mass from the sea, we sought to win additional allies, or to enforce neutrality, all round the circumference, with the result that, for every alliance gained, we also incurred some new and often conflicting political obligation So the circle widened until a war, begun by a squalid murder in Bosnia, ended with British soldiers fighting in Syria, on the Caspian, at Archangel, in East Africa, the Alps, and the Caucasus.

Beginning, therefore, with an original understanding with France and Russia, which in September we converted into an agreement to make peace only in common, our alliance system extended outwards. Belgium was brought in at once by the German onslaught; Japan, by her wish to avenge and be rid of the obstacles Germany had put in her path. Serbia and her partner Montenegro being necessarily engaged, it was certain that the whole Balkans must sooner or later be engulfed. Nothing could have restrained those defeated in 1912–13, Bulgaria and Turkey, from taking an opportunity of revenge, except a decisive victory

for the Russians or a swift agreement by the victors of 1913 on compromise. But not all the efforts of British diplomacy could induce Serbs and Greeks to loosen their hold on Macedonia. Roumania, it is true, passionately wished to seize Hungarian Transylvania, but they too had taken Bulgarian lands, and until 1916 kept their watchful neutrality A war with Turkey was the last thing desired either by Russia, already in mortal danger, or by Britain, with her millions of Moslem subjects and her dependence on peace in Egypt, and Grey was therefore firm that Venizelos' offer of alliance must be declined, and the Allies promised to guarantee the integrity of Turkey. But the young Turks had long ago decided their course and in August signed a secret treaty with Germany; entering the war in October after the fast German cruisers, *Goeben* and *Breslau*, had escaped from Malta to Constantinople. Out of this Turkish war and its ups and downs came the long hesitation of Bulgaria, terminated by their joining the Germans in September 1915, together with a duel for power in Greece between the Kaiser's brother-in-law, King Constantine, and Venizelos.

Parallel with this haggling in the Balkans there proceeded a long bargaining with Italy. Her refusal to fight on the side of the Triple Alliance had been foreseen, and the question was whether she would fight against them. Her finances were weak, her German connections were very intimate, and a strong party led by Giolitti held out for neutrality; Salandra and Sonnino, however, and the young patriotic zealots voiced by the poet D'Annunzio, saw the chance of realizing every Italian's desire. Her price was enormous, much beyond what the Austrians would pay, and much resented by the Slavs, but at the date of the secret treaty of London in April 1915 the Allies' position was so desperate, that the risk was taken Italy was promised the Trentino and the southern Tyrol, Trieste, Istria, northern Dalmatia, a practical protectorate over Albania, the twelve Aegean islands she had filched from Turkey in 1912, and full possession of Libya, together with a promise of expansion in Asia Minor and Africa if the Allies partitioned Turkey or took the German colonies.

Once again, therefore, as of old, this was a war of a scattered coalition against one central power; for the German staff soon took control of the inefficient Austrians. Between Russia and her western allies there was no direct physical contact, but every chance of misunderstanding; while, as between France and Britain, there was until 1917 no continuous unity of command but, on the contrary, a grievous degree of military jealousy Many times over, the mutual hatreds or special objectives of our allies prohibited some operation of war, or impeded some step to peace

If these were familiar difficulties in British history, this war was also changed and prolonged by new weapons and inventions. No Power

had foreseen the hurricane development of artillery; in one battle the British used more shells than in the whole South African War. The power of the defensive, as the Germans proved, was multiplied by entrenchment, machine-guns, barbed wire, and grenades. Their use of poison gas, first employed near Ypres in 1915, and of Zeppelin airships to strike at industrial populations, imparted a new scientific savagery. Aircraft above the battle-fields eliminated tactical surprise. Possession of a single overwhelming weapon outweighed numbers. Warships firing at 20,000 yards obliterated their enemy without contact. Wireless from the Admiralty issued command, or transmitted intercepted messages, to battle-cruisers off Heligoland or the Dogger Bank. The laying of great mine-fields, and the use of submarines to sink passenger or merchant shipping without warning or rescue, confounded the laws of neutrality and pushed the war zone back to the outer oceans.

Subject to these new perils, British sea-power faithfully fulfilled its old mission. By the end of 1914 every German colony, with some notable exceptions in Africa, was in Allied hands. The expeditionary force was taken to France without loss of man or ship, a Canadian corps was brought to England, and Australian and New Zealand troops to Egypt, while regular troops in India and Territorials from Britain were interchanged Except for a raid to bombard the Yorkshire coast the German High Sea Fleet kept in its protected harbours, only to emerge, indeed, five times in the first two years of war The Channel and North Sea were firmly blockaded, by the Grand Fleet based on the Orkneys, the light craft on Harwich, and the Second Fleet on Sheerness. Strength was found to hunt down every German cruiser in distant waters. The *Emden*, after audacious ventures in the Indian Ocean, was destroyed near Java; in November, von Spee's cruisers overwhelmed Cradock at Coronel off the Chilean coast, but were themselves destroyed at the Falkland Islands in December by Sturdee's much more powerful squadron.

Most vital of all duties was to keep the sea-lanes open for food and munitions, on which our bare life must depend This involved the handling of neutral States and the search of their ships for contraband, which would keep Germany alive, a task made infinitely more hazardous by submarine war. It soon became apparent that the proposals of the Declaration of London were incompatible with a successful blockade, which in these days of torpedoes and mines must be exercised from a distance; we must bring in suspect ships for examination, nor could we afford to let pass some war essentials like rubber and oil It was Grey's achievement to reconcile what was necessary for our existence with the good will of the United States, whose munitions were indispensable, and whose good offices as mediator or, later perhaps, their assistance as ally, might turn the scale. To drive even a minor State like Sweden over to

the German side might be dangerous for Russia, but to antagonize the United States might lose the war. The strains were innumerable and highly dangerous, for at one time, for instance, over a thousand American firms were on our 'black list', as suspect of trading with the enemy. Much, then, was due to the close understanding between Grey and Walter Page, the American ambassador in Britain.

This tightening blockade, pushed outwards until it reached customs-houses in America or the West Indies, implied the keeping of watch and ward in all weathers and all waters, by a multitude of cruisers, mine-sweepers, and trawlers. Under Fisher, whom Churchill brought back as First Sea Lord when war began, a great building programme was launched of vessels large and small, which redoubled our Dreadnought superiority and immensely added to our destroyer and submarine strength.

One other general condition, for good and ill, overruled this new sort of total war. In the democratic States nothing could mass the people's purpose, or fire them to bear years of sacrifice, except public opinion, and the power which formerly descended from the speeches of Pitt and Canning, or Napoleon's bulletins, was now exercised through the press and government propaganda The influence of the popular press, and its proprietors, rose to a degree before unknown, and not invariably for good, to which was due the ungrateful clamour which drove Haldane from office as supposedly pro-German, and the First Sea Lord, Louis of Battenberg, as a man of German blood. It was used also by politicians, rival generals, and even rival government departments. It was responsible later for much which was bad in the terms of peace.

Nothing, on the contrary, was more genuine, or in the long run more decisive, than the feeling we were fighting for causes much larger than our own; the cause of all small nations and all liberties. This flooded the recruiting-stations in 1914, and produced from this unmilitarized nation over three million volunteers. That voluntary sacrifice excited an idealism which helped to bring America to war, set up a contagion in the East, and bequeathed to the world of 1919 a short vision of a better world.

Historically the four years fall into two clear stages, dividing round the months between December 1916 when Lloyd George supplanted Asquith, and the spring of 1917, when revolution wiped out Russia and the United States declared war. But each large stage was subdivided into periods of deadlocks and periods of desperate action

Of these, the first expired with the year 1914 All that Haldane had inspired was now justified in the immediate despatch to France of four infantry divisions and one of cavalry, in their highly trained quality and unsurpassed rifle fire; and in the administration which, by the next May, had expanded this vanguard of 90,000 to 600,000 men. But this army was immediately caught up in military disaster.

Hopelessly miscalculating the German plan, the French hurled themselves north-eastwards in a costly offensive, by the time, 22nd August, that the British took up their place near Mons, seven German armies of 1½ million men were advancing, swinging west in a huge enveloping movement, to drive the Allies back on either side of Paris and roll them up against other German armies in the east. Day by day the British were forced back, barely saved from the closing trap by Smith-Dorrien's 2nd Army standing at Le Cateau, until by 5th September they had retreated over the Marne. French, our commander, was in fact hardly prevented by Kitchener from crossing the Seine and moving his base right back to the Loire.

A final defeat of the French, the loss of Paris and perhaps of the war, were averted through the weak grip of Moltke, the German chief, and the mistakes of his army commanders, which gave Joffre his chance. The battle of the Marne, 6th–13th September, though not a triumph for British generalship, was a decisive battle for the world, for the Germans were driven back to the Aisne and the whole Allied front reformed. They had not, either, been able to seize the Channel ports Assisted by a last stand at Antwerp, where Churchill rightly directed a minute British force, what was left of the Belgian army was brought safely to the Yser, while the British seized the Ypres salient. Here, in October and November, pressed the brunt of overwhelming German numbers; in this first battle of Ypres the British regular Army was half-destroyed, but the Channel ports were saved and the flank could not be turned, for it had reached the sea.

Open warfare raged in the east, for the Russians, in answering the French appeal, were driven out of East Prussia with bloody loss, but swept the Austrians back to the Carpathians In the west a long line of trenches and fortifications ran from the flooded coast of Belgium, through Flanders mud, over the chalk downs of central France, away through the wooded Argonne, through Lorraine and the Alsace hills, until it reached Switzerland; and here, for more than three years, the mass of British strength was held and suffered.

Dour indecisive fighting never ceased on this front through 1915. At Neuve Chapelle in March, the second battle of Ypres in April, Festubert in May, and Loos in September, the British Army in Artois moved in accord with French attacks farther south, and never with success It suffered some 300,000 casualties this year, losing 60,000 at Loos alone, the most unhappy of our battles in its wastage of inexperienced battalions Soon after, French was superseded, and the command given to Sir Douglas Haig.

French, no doubt, lacked the balance required in a commander-in-chief, especially in one commanding what was a small section of an Allied army But the causes of failure went far beyond individuals.

To loosen the German hold on the richest industrial regions of France, to wear them down by attrition, was the strategy of the French soldiers, and often enough we fought against our better judgment, as we did at Loos against Haig's protest. Some responsibility also attached to Kitchener. His appointment as Secretary of State was brought about by popular clamour, his hold on the national imagination was unique, and the service he rendered was immense in impressing the scale of the war. But his eastern training and lonely self-dependence led him to over-centralize, with the result that, in effect, he duplicated the two rôles of Cabinet minister and chief-of-staff; nor was he equipped to understand Cabinet government, nor swift to grasp that only civilian assistance can make possible a total war.

The major cause was a simple one: that we were far behind the enemy in armaments. Our infantry began with only two machine-guns to a battalion, our artillery were armed almost wholly with shrapnel, not with the high explosive shells which could obliterate trenches and wire, and in that policy French too long agreed; our deficiency in heavy guns was disastrous; in mortars, howitzers, and trench weapons, almost as bad. Our ordnance department and arsenals were slow to accept new ways. Production was obstructed by trade-union rules and fell behind contract, and though our munitions output had expanded twentyfold by the early summer, it was plain enough, and brought home by Northcliffe in the press with support from French, that our guns were not receiving one-fifth of the ammunition necessary. The Ministry of Munitions, inspired by Lloyd George and put in his charge in June, came too late to affect the campaign of 1915.

This deadlock in the west and this failure of armaments, which was handicapping Russia even more tragically, brought about conflict in the Allied councils. To France, with the enemy within sixty miles of Paris and holding her iron and coal areas, the west must be all in all, while to concentrate on the main front was the orthodox doctrine of our own soldiers; above all, when that front might be reinforced by a flood of Germans, returning from a defeated Russia, or might even become a springboard for invading Britain. Yet to get round what could not be frontally taken, to use the amphibian power of our island in diversion; to fall, not on strong Germany but on her weaker allies; here were rival arguments of great weight. Fisher's notion of seizing German islands, or attacking in the Baltic, was deemed too risky; but even in January 1915 Lloyd George pointed to the Balkans, as a back-door into Austria, and Churchill already advocated the Dardanelles. So developed the contest between 'easterners' and 'westerners', which was sometimes equivalent to a contest between civilians and soldiers, and sometimes between Britain and France.

When Turkey came into the war and hopes grew of enlisting Italy,

Greece, and Roumania and of preventing Bulgaria going over to the other side, this Dardanelles project came to new life, stimulated by Russia's appeal to her allies to take off Turkish pressure. Its history was unhappy, for it began as a diversion and ended in a large-scale expedition, entangled in the rival ambitions of the Balkans. Greek assistance might have been invaluable but our government, after consulting the Opposition leaders, in March promised Russia possession of Constantinople when peace was won, and the Russians vetoed the employment of a Greek army Again, our expedition, being opposed by Kitchener from one angle and by Fisher from another, opened as a military compromise, being originally viewed as a naval operation in which ships should silence the forts and force their way through the Narrows to Constantinople; and since both the French and Kitchener were firm that troops could not be spared, it was looked on as a venture which could, if a failure, be broken off and, if successful, would only require a small landing-force. But by the end of March the sailors reported they could not get through alone, prestige was involved, troops from the East were now available, and in April Ian Hamilton with a considerable army was given the task of capturing the Gallipoli peninsula.

Our first advantage of surprise having vanished, our forces found garrisons massed under German command, beaches wired, and guns sited. The British at Cape Helles and other beaches round the peninsula's southern corner, the Australian-New Zealand Army Corps (Anzac) half-way up its western side, could make no progress, squeezed between open beaches and heavily defended hills, perpetually under fire even when in reserve, always short of water, and with serious wastage from disease. In May Hamilton called for large reinforcements, which he did not receive until August, in part owing to a change in the government at home

Between 6th and 9th August he made his last effort, in a dual attack from Anzac and a more northerly landing at Suvla Bay. It failed by a narrow margin, and largely through the incompetence of his subordinate generals, after heavy losses in which the English yeomanry were half destroyed. By this time the Russians had met disaster in Poland, Bulgaria was ready to strike, a heavy battle impended in France, and the French decided to make their eastern effort at Salonica. Storms and frost-bite had now succeeded to the summer heats; gun ammunition was as deficient here as in France, and German submarines were reaching the Mediterranean. After a visit from Kitchener, it was decided to evacuate, and this, by a miracle of skill and good fortune, was carried out in December without loss. Kitchener's preferred alternative, of landing in the neighbourhood of Alexandretta, was vetoed by the French and, against the advice of the general staff, our government sent forces to Salonica.

War with Turkey had results more wide-stretching than Gallipoli It involved defending the Suez Canal, the artery through which the blood of Empire flowed, it brought about our declaration of a protectorate over Egypt, and advice from Kitchener to rouse the Arabs against the Turks. It involved also a penetration by German agents of all the routes into Asia and efforts to engineer a rising in India. Most of all, it added to the other strains of 1915 the ill-starred campaign in Mesopotamia.

To hold the Persian Gulf, to secure the exit of the pipe-line which gave our oil fuel, was the proper duty of the Government of India, whose prompt occupation of Basra in 1914 was well warranted The first forward moves up the Tigris and Euphrates in 1915 easily succeeded, and our officers on the spot were fired by optimism. By September General Townshend had reached Kut el Amara, 300 miles inland; in October the Cabinet, against Kitchener's advice, approved an advance on Baghdad. As a political offset to the Dardanelles it was tempting, but as a military operation a bad risk. India had sent its best troops, British and Indian, to France and Egypt, its naval resources were meagre, and the date of reinforcements from Europe uncertain. After an immense loss in a headlong attack at Ctesiphon, Townshend retreated, to be besieged in Kut until it surrendered in April 1916. Every attempt at relief was beaten off, our casualties were portentous, our disorganization damaging, the break-down of medical services was complete, and the sufferings of the wounded a horror never seen in the West.

And the Salonica expedition did nothing as yet of what it was meant to do, for Serbia was destroyed by the new year of 1916, and Montenegro overrun

This sequence of failure overturned Asquith's government, complicating every old problem and creating others altogether new. A party government could not expect a truce between parties when things went wrong; shortage of shells, heavy losses in the West, criticism of Kitchener, and Lloyd George's restless conviction that the war was being lost, all these fires exploded in May 1915 when Fisher resigned, refusing to engage more ships in the Dardanelles. The new coalition government, which lasted till December 1916, kept Asquith, Grey, and Kitchener where they were, though Haldane's exclusion and the sinking of Churchill to minor office reflected the passions of the hour. Bonar Law's Unionist following included strong ability in Balfour, Curzon, and Carson, while Arthur Henderson represented the general steadfast support given by Labour to the war, which only a small minority, led by Ramsay MacDonald and Snowden, had repudiated. Nevertheless, this ministry showed coalition government at its worst

A Cabinet of twenty-five was hopelessly unwieldy in any case, but

the Unionists also felt that every key position was in Liberal hands, and that the Liberal outlook on some vital matters impeded the conduct of war. Asquith's caution seemed to have degenerated into dilatoriness. His contempt for publicity and his very virtues, his loyalty to friends and generals in the field, made him unfit to deal with a desperate crisis or a public opinion manipulated by newspaper proprietors. Carson resigned when Serbia fell unaided; Churchill, excluded from the War Council, left to command a battalion abroad; steadily an alliance gathered between Bonar Law, with Unionists asking more decision, and Lloyd George.

His own field of munitions was proving itself; 70,000 shells a week were forthcoming in May 1915, but 238,000 by the following January, 287 machine-guns in 1914 and in 1916 over 33,000. Yet round the Ministry of Munitions swayed the fiercest controversies; quick building and high wages, relaxation of trade-union rules, dilution of skilled labour by unskilled, employment of women, legislation against strikes, Labour's demand that private profits should be limited, production held up by drink, and looming through them all — compulsory service.

For, while some Liberal ministers protested that neither Kitchener's aim of seventy divisions nor our current expenditure could be maintained without ruin to industry, wastage in the armies proved that voluntary effort was not giving the necessary recruits. Munitions were held up by the flood of skilled men into the forces; a hundred anomalies, — of young men in well-paid munition work while fathers of families were in the trenches, or the return of the twice-wounded to face the holocaust, — offended the public sense of what was just.

Labour and average Liberal opinion were both opposed to conscription, and even more to industrial compulsion, but step by step sheer necessity broke down these doubts. Amid severe Cabinet disagreement a last effort to save the voluntary principle was made late in 1915, Lord Derby being appointed to canvass all men between eighteen and forty-one. It failed, with the refusal of nearly one million unmarried men to volunteer. After several false starts, and the resignation of Simon from the Cabinet, a Military Service Act was passed in May 1916, making all men up to forty-one liable to serve. Even so, its working was full of shortcomings; government departments, munitions in particular, would not give up their young men, and a mass of exemptions given by them and local tribunals kept alive a feeling of injustice and intercepted the needed recruits.

On this government also fell the strain of the Irish Rebellion. At the outbreak of war Home Rule was passed under the Parliament Act, but its operation was suspended until the war ceased, with a pledge that Parliament should be consulted on the treatment of Ulster. Though Redmond rallied loyally to the war, as Irish Catholics did in general for

the cause of Belgium, the war destroyed his middle position, for his acceptance of even a temporary partition offended the Nationalists, while clumsy handling of Irish recruiting cooled their zeal. To the Sinn Fein party the war was an opportunity to revolt and, supported by German and Irish-American money, they enlarged their rebel army In April 1916 a German attempt to run arms to Ireland, the arrest and execution of Roger Casement their envoy, the rising of the Sinn Feiners in Dublin, their suppression and the execution of fifteen leaders, forced a settlement of the question on this coalition government, made up of two parties whose most bitter difference had been over Ireland. Under this test their unity broke down Carson and Redmond combined to accept the compromise which Asquith and Lloyd George proposed, that is, Home Rule to come into force but with the exclusion of six Ulster counties during the war, Balfour and Bonar Law agreed. But Selborne resigned, Lansdowne revolted, and the Conservative ministers bowed to this veto from their rank and file.

These strains and divisions bore hard on a government labouring under military calamity, for the triple offensive agreed on, from the West, Russia, and Italy, marched to disaster in 1916 The Central Powers believed that an energetic offensive might end the war before the British blockade became unendurable, and that Russia, now slipping into chaos, could be ignored, the German commander Falkenhayn therefore concentrated his strength against Verdun where, even if a break-through was not achieved, France might be bled to death, and was so far justified that the whole French force was pinned down from February till July, suffering 350,000 casualties Meantime Conrad, the audacious Austrian, hoped to break the despised Italians, but in so doing exposed himself to a last hammer-blow from the Russians Brussilov's offensive of June to August permanently damaged the Austrian fighting-power, though it also exhausted the armies of Russia, which were crippled by corruption and dearth of munitions.

Verdun bleeding, Kut falling, Salonica motionless, the Italians threatened from the high Alps or vainly beating towards Trieste over the desolate lime-stone of the Carso, the great Russian wave tiredly breaking, against that background must be set the British campaign on the Somme. To fight now was against the wish of Lloyd George and Kitchener, who would rather wait until our armies and armaments were trained and developed. Yet not to fight was politically impossible. The French effort being reduced after the horror of Verdun, the brunt fell on the British, especially on Rawlinson's 4th Army and the Kitchener divisions, and against long-prepared German defences, holding the high ground, Haig's optimistic calculations collapsed Our casualties on the first day, 1st July, were 60,000, and 410,000 before the fighting died away in October; measured against a small advance along

a thirty-mile front to a depth of six or seven. Yet from the Somme, and their appalling losses there and at Verdun, the Germans afterwards dated the beginning of the end, under the suffocating feeling of an unbroken enemy ring.

For the time being, however, darkness encompassed the Allies. Haggling to the last moment for more territories, deciding too late and making every military mistake, in August the Roumanians made their choice, by December Mackensen and Falkenhayn had cut them to ribbons, and opened to Germany rich areas of grain and oil.

The bitterness of failure was not assuaged by the clash of the British and German fleets in the Battle of Jutland, on 31st May That it should be a decisive victory was improbable; for to Jellicoe, our commander, to expose the Fleet to destruction in mine- and submarine-infested waters meant a risk of losing the war in a day, while to Scheer a pitched battle must be a death-trap. On the day of this chance collision our superiority in gun-power and tonnage was great, but our losses were three battle-cruisers, three cruisers, and eight destroyers,— the Germans', considerably less in ships and lives. To measure Jellicoe's caution as against Beatty's bold handling of the battle-cruisers, to question an over-centralization of command, inferior disposal of our destroyer flotillas, or failure in our armour-piercing shells, any such controversy leaves unchanged the substantial result. Which was: that the Germans fought equally, ship for ship, and perhaps with better gunnery, that the British hold on the narrow seas, with all that meant, was left intact; that all notion, however, of grasping hands with the Russians through the Baltic was henceforth abandoned, and that blockade was accepted as the principal rôle of the fleet; and that the Germans, accepting the same moral, turned to the submarine as their saving arm. By the end of 1916 they were sinking 300,000 tons of merchant shipping a month.

One week after Jutland, on 5th June, another blow was struck at collaboration with Russia when Kitchener, on his way there, perished in the cruiser *Hampshire*, mined off the Orkneys. His death impinged directly both on the conduct of war and power in politics, for his place at the War Office was given to Lloyd George who now had to impress, if he could, his demand for a new strategy on Haig and on the rugged chief of staff, William Robertson. That struggle between the minister and the two soldiers, both of whom were convinced 'westerners', was to rage long and with unhappy effects; a struggle no less of policies than of temperaments and codes, between this mercurial Celtic political genius and Haig, a soldier always growing in the scale, with a Calvinist confidence in victory and his own way of winning it

This departmental struggle made one small part of a universal crisis, which was to decide whether the war could be continued at all.

Amid the slaughter, voices were heard breathing peace. Franz Joseph having died in November 1916, the new Emperor Karl wished to save Austria, if need be apart from her allies. Bethmann-Hollweg was fighting against the new war lords who had succeeded Falkenhayn, — Hindenburg and Ludendorff. President Wilson's private envoy, Colonel House, had already laid before us an offer of mediation with a hint that, if Germany refused moderate terms, America would join the Allies; and though our government believed no peace was possible without victory, and would not press the Allies who were bearing a much crueller burden, Grey's anxiety to conciliate America made him indecisive, while Lansdowne asked the Cabinet to consider whether a dictated peace was not impossible. In France a pacifist group was led by the able and cold-blooded Caillaux.

Through such hesitations Lloyd George drove his road to power. Many converging forces were brought to bear in his favour, the influence of the press magnates, Northcliffe and Beaverbrook, the conviction of Carson and the Conservative leader, Bonar Law; together with a general feeling that the essential matters of food, man-power, aircraft production, and anti-aircraft defence called for fiercer energy and unified control. His advocacy of the 'knock-out blow' was the reply to vague German offers of a compromise peace, while his championship of a small war council was supported by those concerned in the conduct of war In the end Asquith refused the pistol put to his head, that he should be excluded from presiding over this committee, and early in December resigned, refusing to serve under Balfour or Bonar Law, let alone Lloyd George; largely owing to a lead from Balfour the Conservatives agreed to join, in what most of them had not originally desired, a Lloyd George government. With this small War Cabinet, — Lloyd George, Bonar Law, Milner, Curzon, and Henderson — and parallel steps in France under Briand including the supersession of Joffre, the Allies brushed aside President Wilson's suggested conference and declared for continued war: to enforce reparation for wrong, and the freedom of all races from foreign domination.

Immense and tragic events filled the year 1917. In March revolution began to annihilate the force of Russia. In April the French offensive under their new leader Nivelle was beaten back with fearful loss That month the loss of shipping by submarines rose to 900,000 tons and a bare six weeks' food supply was assured; a rate of destruction which, unless remedied, would by the autumn either starve us out or paralyse our armies. True, Germany's declaration for unrestricted submarine war brought the United States in against her in April Yet American troops could not reach us for a year, and would a year be given? For France was crippled by bloodshed and now by military mutinies, Russia was perishing, in October the northern Italian armies were overwhelmed at

Caporetto, and their line of resistance pushed back to Venice. On Haig and the British Army all the present strain must fall

Lloyd George's unquenchable spirit and endless power of expedient did, to an extent hitherto unknown, dedicate the country to total war. In his hands the office of Prime Minister became almost Presidential, since he dealt direct with departments, industry, the services, and the press His small War Cabinet, on occasion expanded to a Cabinet of Empire by the addition of Dominion ministers, superseded our familiar system, Bonar Law being ordinarily left to manage Parliament while the Prime Minister gave himself wholly to the war. Here he did immense service Through his insistence the greatest overriding danger of all, the submarine, was defeated and by August our monthly loss reduced below 200,000 tons, Beatty replaced Jellicoe, and the Admiralty accepted a system of convoy for merchantmen, which they had long resisted Dictatorial powers were given to new ministries of food and shipping, home production was multiplied by financial guarantees, and food was rationed.

In this dark year a light dawned and slowly broadened in the East. In March under General Maude, a master of preparation and tactics, our forces entered Baghdad, while meantime our defence of Egypt had necessarily grown into an offensive-defensive, over the Sinai peninsula and the Red Sea. In the spring our coastal advance was severely checked at Gaza, but in June Allenby was sent from France to take command and, organized by a man of genius, T. E. Lawrence, King Hussein's Arabs were besieging Mecca and creeping up the Hedjaz railway In October Allenby's victory at Beersheba outflanked the Turks' hold on the coast, and in December he entered Jerusalem In June also the Allies had at last compelled the deposition of King Constantine, installed Venizelos in power, and from this much-divided Greece hoped to strike the Turks nearer home

Lloyd George's belief never wavered that the war could be ended in the East Twice in the winter of 1916–17 he worked for an offensive through the Italian front and so on to Vienna; which collapsed on French objections, Italian unpreparedness, and resistance from our own soldiers. But in truth the last chance of a decisive 'eastern' solution had been lost at the Dardanelles two years before Whatever the strength of his case then, it hardly corresponded to the present dangers, when Russia was in confusion and France crippled, and in any case he was himself temporarily converted by the over-confidence of the Frenchman Nivelle.

That offensive, of one overwhelming attack north of Rheims, and its dreadful collapse in April 1917, destroyed the coherence of all Haig had planned for an offensive on the Somme, which was disintegrated further by the German's skilful retreat to their shorter, immensely

fortified, Hindenburg line. Haig's campaign of 1917 was therefore largely governed by political considerations, the demoralized state of the French armies, and a conviction that if Russia were knocked out of the war German reinforcements would be coming from the east He was much influenced, too, by the Admiralty's despair at the submarine campaign which, launched from their nests at Ostend and Zeebrugge, might soon make the Channel impassable

Taken as isolated operations, three strokes of this year were successful and significant for the future These were the Canadians' capture of the Vimy heights in April; Plumer's long-prepared seizure of the Messines-Wytschaete ridge, south of the Ypres salient; and in November the first triumph of the tanks in Byng's advance towards Cambrai. On the other hand, Haig's main conception of a drive northwards to save the Channel ports vanished in the morass, from July to October, called Passchendaele or the third battle of Ypres, which was delayed too long, bogged in pitiless rain, and broken in bloody frontal attacks on Ludendorff's concrete gun-posts and elastic defence.

Lloyd George's distrust of the 'westerners'' strategy was henceforward confirmed. Unable in the face of public opinion to remove Haig, he changed his staff, vainly attempted to subordinate him to Nivelle, and reduced his fighting strength. Some 760,000 men were kept in theatres of war outside France, while another 300,000 front-line troops were held in hand at home. Robertson was removed from the post of chief of staff, which was given to Henry Wilson, whose doctrine was a holding war until 1919 or 1920, and concentration on eastern lines of victory through Syria and the Carpathians An inter-Allied council was established at Versailles, with claims to control an army in reserve, but this clashed on the mutual suspicions of British and French, and equal refusal from Pétain and Haig.

Vitiated by this internal conflict, the Allies in 1918 faced the great German attack which Haig had predicted for months past A truce in January was followed in March by the peace of Brest-Litovsk, which the Germans imposed on a crushed and Bolshevik Russia. By this date they had massed 192 divisions in the West, as against 173 Allied, and on the 21st March Ludendorff began the offensive which he hoped would split the Allied armies at their point of junction. When it opened, Haig had about 180,000 men fewer than a year before to defend a front now extended to 125 miles, a shield which in its southern rim, held by Gough's 5th Army, was perilously thin. Nearly half a million men would be needed to make up establishment and fill wastage, but it was not until the blow had fallen that government took the step, for which the soldiers had long pleaded, of calling up recruits by age-groups, cancelling exemptions, and 'combing out' the munition workers

Ludendorff's first blow shattered the 5th Army, which was taken

back behind the Somme; by the 5th April the enemy had pushed a great western bulge within ten miles of Amiens and weakened the hinge between our 4th and 5th Armies. The pessimistic Pétain actually proposed to break contact with the British and fall back towards Paris, and it was this emergency which drove Haig to take the initiative in getting Foch made generalissimo, being ready to yield to a man what he had refused to a half-political committee. The second German stroke was delivered in mid-April in the Ypres area, with such weight that southwards the Messines ridge and Mount Kemmel were lost, and northwards the vital junction of Hazebrouck threatened: it was now that Haig told his armies that their backs were to the wall, and preparations were made to evacuate Calais. In these two great battles 120 German divisions had fallen on 58 British, who suffered 300,000 casualties. In May the third stroke fell, this time on the French along the Aisne, and here by 1st June the Germans once more stood on the Marne. Yet by mid-August they were convinced that to fight on was impossible, and in October were treating for peace terms. If the gods of history grind slow, the speed of their grinding is multiplied many times in the last few hours.

Weighing in the scales the material and moral factors in this victory, so far as they touch British history, we are right, perhaps, to eliminate some particular achievements, brilliant and heroic in themselves. The naval attack of April on Zeebrugge, inspired by Roger Keyes, could not in itself shake the German hold of Belgium; indeed, it did not entirely seal up their bases at Zeebrugge and Ostend. Allenby's strategical triumph in the battle of Megiddo, his advance with horse, foot, and Arabs east and west of Jordan and his entry into Damascus and then Aleppo in October, drove Turkey out of the war, as Bulgaria had been driven out in September by an advance from Salonica. But these victories on the outer circumference came when Germany was already toppling at the centre.

The 'westerners', it seems, were right in their fundamentals, that only defeat of the German mass in France could be decisive, and that the morale of that mass was on the down-grade. In many points, and very seriously in obstructing the development of tank warfare, Haig's fixed mind takes him out of the class of inspired commanders. But when, in June 1918, all statesmen and most soldiers would have postponed victory for another year, or even two, he (even perhaps before Foch) declared it could be done here and now, and in the teeth of an official warning that the country would not stand more casualties, took on himself the responsibility. To him was due the choice of area on the Somme front; the decision to turn the converging French-American attack north-westwards towards the Argonne, rather than to Lorraine, and the never-relaxed offensive at one point after another

He was assisted by the now developed arm of the Air Force, by abundant munitions, tanks in large numbers and, late in the day, large reinforcements: assured also of a stream of fresh American troops, who had risen to two million by the autumn. But in the final moral fact in all victories, the destruction of the enemy's will to resist, Haig's Somme victory of August was the beginning of the end and justified his permanent argument.

On the other side, while Ludendorff's mistakes were serious, in the last resort this moral factor came back to British sea-power. This it was which by blockade deprived Germany of war material, filled her home front with conviction of defeat, convoyed the food and coal which alone could keep France and Italy in the war, carried millions of American troops safely, took the means of victory to Palestine and the Balkans, and finally set up that desperation which appeared in the Germans' shattered discipline, even during their tactical victories at Amiens and the Marne.

While, then, from July to September parts of their armies disengaged themselves skilfully, so that by purely military standards they might well have stood another winter on their own frontier, first the German command and then the German people gave way. On 29th September our 4th Army broke through the Hindenburg Line, and the same day Hindenburg and Ludendorff were insisting on peace. On 5th October the German government asked President Wilson to arrange an armistice, accepting as the basis of negotiations the '14 points' he had laid down in the previous January. While the President demanded guarantees against the continued power of soldiers and autocrats, revolution broke out in the German fleet and spread from the northern ports to Berlin and Munich, on 4th November the British pierced the front near Valenciennes and pushed on to the Sambre; on 9th November the Kaiser abdicated and a German Republic prepared to receive the armistice terms. These were more severe than Haig thought possible, though less severe than the American commander Pershing desired, the British emphasis being on surrender of all submarines and the pick of their powerful ships, and on a refusal to accept Wilson's formula, fatal to our weapon of blockade, of the 'freedom of the seas'.

On 11th November the Armistice was signed, on the 22nd, Lloyd George took the election for which he had long prepared. After a month, in which the electorate clamoured for extracting from Germany the whole cost of war and punishment of all war criminals up to the Kaiser, he returned to power with a vast, mainly Unionist, majority over Labour and Asquith's Liberals, and in January 1919 proceeded to Paris to make the peace

When war ceased the British had 8 million men and nearly 1 million women serving in the Army, Navy, Air Force, and munitions, they

had spent £6000 millions, sold all their overseas securities, lent £1500 millions to our Allies, and lost over six million tons of shipping They had saved themselves by increasing the pre-war harvests by one-third, and adding 3 million acres to arable cultivation. Our income-tax had risen from 1s. 2d. to 6s., sur-tax from 6d. to 6s., and an excess profits tax of 80 per cent governed industry, wholesale prices were 125 per cent higher than in 1914. Except in Ireland all men up to 50 had been made liable to military service, and at least 1½ million women had replaced men in vital employments.

The dearest cost to the British Empire was the death of almost 1 million of its best sons and leaders-designate: on the Western front alone, from February 1915 onwards, there were 115,000 officer casualties, or five for every two German officer casualties over the same period.

AFTERMATH

1919-1938

CHAPTER I

FRUITS OF WAR AND PEACE, 1919-1929

THE world's peace, extinguished in 1914 through the guilt of eastern Europe, was never in fact wholly restored. Ten million young men had been killed, many more human beings than that perished from disease, more millions innumerable had for four years thrown aside, or been forced to see abandoned, all the securities and codes which a thousand years of civilization and Christian order had toiled to build up This world, thus spiritually enfeebled, was at the same time impoverished by the destruction of several generations' capitalized wealth, instruments of production, and means of transportation and, though charged with new greeds, depended for existence on a credit structure which was very near collapse. Meantime, the crash of Russia, destruction of Austro-Hungary, and mutilation of Germany and Turkey, left gaping voids in the frame within which Europe and nearer Asia had lived, to be contested now by every suppressed race, and alight at each corner with the glow of nationality

We confront also once again, as in the age of Pitt, the peril of urgent matters laid aside under stress of war, and made more angry by the passions war had lighted This set up turmoil in Ireland, India, and Egypt and strained the new fabric of South African union For if it was a war for vital interests, it was also one for democratic ideals The working-class demand for a new order, already clamorous in the strikes of 1911-12, advanced with every sacrifice demanded of them, and with the relinquishment of hard-won trade-union safeguards in the interest of war production; ceaseless strikes of munition workers, a challenge by shop stewards to union executives, were symptoms of this movement from below. In the Russian revolution many saw an example of the common people's might, a model for control even of the armed forces by the ranks, or a condemnation of the 'Imperialism' which had arrayed workers of different races against each other.

History, perhaps, will record nothing more surprising in such an age than the fact that, except for three years, Great Britain was directed from 1919-39 by predominantly Conservative governments. For which it may find one overriding cause, that this restored peace was really a prolonged state of siege, in which Great Britain, as never before, was pressed in and blockaded by forces beyond her own control.

One great internal change was made instantly clear, that the democracy implicit in British self-government, and proclaimed by many theorists for a century past, had at length arrived. Since equal and universal sacrifice called for universal rights, our venerable equality before the law was transmuted into a claim for equality in social fact, and what might have been a long-term process was crowded into a single generation. Lloyd George, the first Prime Minister to rise direct from the ranks, never lost some of Cromwell's ardour for the common man, while it had always been his method to make direct contact with democracy's representatives. Having brought Labour leaders into his Coalition government, before the election he passed two vital measures for the democratic future. The Representation of the People Act of 1918 trebled the electorate, increasing its numbers to over 20 millions, setting up adult suffrage for all men of twenty-one, and giving the vote to women of thirty who were, themselves or their husbands, electors in local government. Property, therefore, hitherto viewed as a reward of skill or intelligence, and the basis of political power since Parliament began, made way for human equality; with it, of course, disappeared plural voting. So, too, did many ancient parliamentary seats, from boroughs with a population of less than 50,000. At the same time Fisher, minister of Education, brought forward an ambitious Act which, when brought into full operation, would raise the school age to fourteen, prohibit child labour, and continue part-time education to the age of eighteen.

War had hastened what this advent of economic democracy must soon otherwise have brought, an immense growth in the sphere of the State, a new centralization, and diminution of some old liberties. From it also dates an enhancement of the office of Prime Minister, which Gladstone would have rejected as weakening the Cabinet, yet the powers both of Cabinet and individual ministers had grown also, in relation alike to the Commons, the citizen, and the courts of law. Linked now by its secretariat with the Committee of Imperial Defence and with its decisions for the first time formally recorded, its corporate supremacy, so long as it acted in unison, was complete; while, to enforce the detail of a planned State, ministers were given by statute wide powers of regulation, which allowed them to make and interpret law. New permanent ministries were created for Health, Labour, Transport, and Pensions. Treasury control of banking and currency, innumerable controls over production, prices, and wages, a State subsidy to keep down bread prices, a war-time nationalization of mines, railways, shipping, and imports in bulk — all these had banished our individualist, Cobdenite, Liberal world.

This powerful machine had now to be adjusted to our historic government by party which turns, as the defiant Chatham had said, on

an interplay of measures and men. An epoch had come again, as in 1794, when Coalition born of war-emergency superseded party, whose lines were transcended, as they had been by the two Pitts, by three men of rare political talent in Lloyd George, Churchill, and Birkenhead Yet once again, as after 1815, the cardinal fact of post-war politics was the downfall of Coalition, a renewed struggle of party, and a redistribution of power between the two main bodies of Conservative and Labour All of which, again, contributed to the fall of Liberalism

Within four years of its triumphant election in 1918, the Lloyd George government was overthrown. Its basis was always shaky, for only 136 Coalition Liberals sat beside nearly 400 Conservatives, and by breaking the Liberal party Lloyd George had sapped his own independence There were, indeed, Conservative leaders like Austen Chamberlain and Birkenhead who, with Churchill from the Liberal camp, hoped that Coalition might be permanent, welding Conservatives and Liberals into union against Socialism That plan made too little allowance for the continuous causes and loyalties which, despite union in war, divided parties, and too little allowance also for a drift within Liberalism towards Labour. But since parties are moved by, or against, persons as well as by principle, Lloyd George's method and nearest associates offended the Conservatives quite as much as public causes

Those causes were so tremendous that it is arguable no other government could have succeeded better The peace treaties of Versailles, signed after bitter dissension in June 1919, registered the aspirations upon which the three principal Allies, Britain, France, and the United States, had found it possible to agree; what was to come out of their shortcomings, had yet to be seen. Their terms, as directly affecting the British Empire, included the surrender of the German fleet and the destruction of German armaments; a share of 22 per cent in the financial reparations demanded of Germany which were fixed, after many conferences, in 1921 at over £6000 millions, and a lion's share of the Colonial territories to be held by ' mandate ' under the League of Nations, — Iraq, Palestine, Tanganyika, German South-West Africa, part of the Cameroons and Togoland, Samoa, New Guinea and other Pacific islands

Several critical decisions, though not always decisions of our own, rapidly shook the peace, isolated Britain, and damaged the government Our democracy's loathing of war and its burdens, rejection of conscription and a rush to disarm, meant our withdrawal from many areas and sensibly weakened our world influence. Repudiation by the United States of President Wilson and all his works left a deep void in the League, compelling us also to back out of the frontier guarantee which we jointly with America had given to France Indeed, before Lloyd George left office, Anglo-French relations were cold, if not hostile

For the map of Europe, as redrawn at Versailles, was a French map, designed to constrict Germany by a number of small States who should be French clients and, against Lloyd George's warning, gave several large German minorities over to alien government. British insistence alone prevented Poland taking all Silesia, but the boundaries of Poland, against our advice, were so extended as to make collision with Russia inevitable. In the eyes of British Labour the treatment of Bolshevik Russia was the darkest part of post-war policy: the assistance we sent through Archangel, Murmansk, the Crimea, or Siberia to anti-Bolshevik Russians, though originating in 1917 as the only means of preventing Germany acquiring Russian resources, was prolonged through 1919 at great cost, and with a total failure. By what right, our democracy asked, were we obstructing another people rightly struggling to be free?

There were other burning questions springing out of the necessities of war, or the fever of peace, which rent the Coalition. Self-determination was a formula which leaped across continents and frontiers. India asked for it now in virtue of her war service, but the strains of army recruiting caused in 1919 riotous disorders in the Punjab, which were followed by severe repression, above all, by the firing on the mob at Amritsar, ordered by General Dyer; uneasily, the Conservative majority swallowed that year the Montagu-Chelmsford scheme, for granting to India more responsible government. We had also given many pledges to the Arabs, but had simultaneously issued the Balfour Declaration, promising the Jews a national home; each of which must somehow and some time be adjusted to the French mandate for Syria. Self-determination again and war strain roused Egypt to revolt in 1919, and in 1922 we declared our protectorate at an end and Egypt independent.

If these were unavoidable difficulties, in one instance Lloyd George's foreign policy was indefensible and largely personal to himself, being pursued in flat defiance of his foreign minister, Curzon. The treaty of Sèvres of 1920 not only deprived Turkey of Syria, Mesopotamia, and Palestine but neutralized the Straits, left Constantinople a small oasis surrounded by Greek territory, and handed over part of Asia Minor itself to Greek occupation. A new Turkish government, set up at Angora by Mustapha Kemal, the hero of Gallipoli, resisted this aggression, and in 1922 broke to pieces the Greek armies. When Turkish troops advanced on the British garrison which at Chanak defended the passage to Europe, it was revealed that our Allies, France and Italy, had made their own understandings with Turkey; neither British nor Dominion opinion would tolerate this prospect of fighting alone in a dubious cause.

Meantime, the post-war boom had broken, unemployment on a scale hitherto unknown hit our basic industries, and a series of strikes pointed the contrast between Labour ideals and post-war facts. Staving

off trouble by subsidies and wage concessions, the government put the helm hard over towards the economy which its supporters demanded; 'rationing' departmental expenditure, abolishing some war-time ministries, and repealing the Corn Production Act, which involved abolishing the guaranteed price for grain and the agricultural minimum wage. If all these tested the government's cohesion, for a Conservative-Liberal alliance no test could be so grim as the settlement of Ireland

The convention of Irish parties summoned in 1917–18 failed to persuade Ulster, while a threat to impose conscription strengthened the hand of Sinn Fein, which, though proclaimed as illegal and its leaders arrested, was armed and defiant. In the general election of 1918 they won seventy-three seats, but refused to sit at Westminster and proclaimed a republic, the country declined into what amounted to civil war, a garrison of 60,000 British troops not availing to stop murder and pillage. A fourth Home Rule Bill was passed in 1920, offering two Parliaments in Belfast and Dublin, but Sinn Fein refused any such partition. Concession having failed, Lloyd George then attempted repression, and a wave of reprisals began, sometimes unauthorized and carried out by an auxiliary police, often called the 'black and tans', and sometimes on a system by the regular Army.

Though Bonar Law emerged from retirement to fight again for Ulster, public opinion would not stomach the continuance of these atrocities or the prospect of a pitched war demanding 100,000 men. So began the negotiations of 1921, ending in December in the Irish Treaty. By this, Southern Ireland obtained the status of a Dominion, British troops and police being withdrawn; the leading Irish signatories were Arthur Griffiths, chief founder of Sinn Fein, and Michael Collins, a leader of their guerrilla armies. Their work was done at the cost of their lives, through exhaustion in Griffiths' case, and in Collins' by political murder, but after savage warfare between supporters of the treaty and De Valera's republican army an Irish election in 1922 endorsed the settlement, which Cosgrave and O'Higgins proceeded loyally to carry out. In all this, though the Coalition Conservatives, Birkenhead and Austen Chamberlain especially, stood by Lloyd George, the mass of the party was sore at a spectacle of making 'truce with murder', abandonment of the southern Unionists, and the triumph of Home Rule outside Ulster.

Such causes meant that coalition under Lloyd George could not endure, and his effort to perpetuate it by a new election was angrily rejected. In the autumn of 1922 a revolt of subordinate Conservative ministers, led by Baldwin, defeated their party leaders, forced Lloyd George's resignation, and led to Bonar Law making a Conservative government; the dissolution emphasized the collapse of Liberalism, Lloyd George's section winning only 57 seats as against Asquith's 60,

while Unionists returned 344 and Labour rose to 159. But two more years of confusion followed before politics attained stability.

When Bonar Law died in May 1923, the party passed over the proud and experienced Curzon in favour of Baldwin, a business man as yet almost unknown to the public. Deriving from experience of industry and his liberal nature a Disraelian view of Conservatism as a safe channel for democracy, his aims were to mellow and educate Labour as the alternative government, and to mend the rift in his party made by coalition But he was a protectionist who, confronted at every turn by appalling unemployment, decided to press on with an extension of tariffs Against the instinct of most leading ministers, and before party reconciliation had come about, in December he decided on an instant election. This precipitancy failed; the Unionists fell to 259, Labour rose to 191, and the combined Liberals to 158. Any party taking office must, therefore, govern on sufferance, and there were those who urged a Conservative-Liberal coalition. But the country had clearly pronounced against the Conservatives' principal policy, while Asquith and Baldwin were both decided that the proper course was to allow Labour, the strongest opposition party, to take office

So came about the first Labour government, under Ramsay MacDonald. Its life was a bare year and was extinguished by the unwisdom of its Left wing, for since the war Labour had been divided between a main body, Radical or Fabian but constitutionalist, and an extremer section, touched by revolutionary ideas and moved by sentimentalists like Lansbury who, from his stronghold in Poplar, preached work or full maintenance for the unemployed, and pacifism among nations. Subjected to such pressure, yet dependent for its existence on Liberal votes, the government was driven into making a treaty with the Soviet, involving a loan to Russia, and was entangled also in damaging controversy with their Communist rivals. In October 1924 MacDonald appealed to the country; nothing probably could have saved him, but the exposure of some Russian propaganda, the so-called Zinoviev letter, was decisive Labour's numbers fell to 151, the Conservatives rose to 413, Asquith was once more defeated, and Liberalism sank to a mere fragment of 40 members.

Baldwin's second administration from November 1924 to May 1929 makes a clear stage in our post-war world, a breathing-space during which some of its drifts and decisions can be judged The party stream was returning to its old bed Rid of the Irish members, British party divided once more substantially into two; most survivors of the Liberalism of 1906 going their several ways, some with Haldane over to Labour, but a greater part with Churchill, and later Simon, towards Conservatism. Thanks to the reconciling part of Baldwin's rising lieutenant, Neville Chamberlain, the Conservative coalitionists, —

Austen Chamberlain, Balfour, and Birkenhead — now rejoined the main body.

That the country should be restored to its old good humour, and the world to ways of peace, was Baldwin's aspiration, and a rôle for which he was in many ways perfectly equipped Such hopes, however, were overruled by the aftermath of war, complicating and intermingling the threefold task of peace in Europe, readjustment in Empire, and recovery at home.

How hope of abiding peace was lost must be seen later, but already we observe how the peace treaties divided the victorious Allies. Reparations from Germany and war debts to each other poisoned their relations. Over six thousand million pounds were fixed as the debt due from Germany, but Great Britain had lent over £2000 millions to her Allies and owed £920 millions to America, and although by the Balfour Note of 1922 we proposed entire cancellation of this tangle, that was not agreeable to America and far less to France which in 1923, against our protest, occupied the Ruhr to extract reparations. Her complete failure to dig out German payments at the bayonet's point only extended the crash of the mark to the franc; with American help the Dawes plan of 1924 reduced the German liability to annuities of about £120 millions, while Britain gradually remitted the £600 millions owed to her by France.

Disputed debts were a symptom of much deeper divisions. Italy was immensely discontented with her share of the spoil, and in particular disliked the Mediterranean predominance of France, and the obstacles put in her Balkan path by France's allies, the little Entente. Buttressed by French support, Poland had tried to take all Silesia, and actually seized East Galicia, the Ukraine, and Vilna, all of which lay beyond the racial frontier and the 'Curzon line' which Britain recommended Again, neither the United States nor the Dominions looked kindly on our alliance with Japan, which we therefore allowed to lapse and merged in the Washington agreements of 1922 These, though stabilizing naval strength as between Britain, America, and Japan, and guaranteeing peace in the Pacific, by preventing fortification of the Anglo-Saxon naval bases in those waters gave to Japan complete local supremacy As for the defeated, Russia was bent on recapturing the influence she had lost, and territories of which, in her absence, she had been deprived, Turkey had forcibly overthrown the Allies' original settlement, Hungarian and German minorities were calling out for redress. In short, the peace treaties had hardly been signed before a clamour began for treaty revision.

Two chief objects of the peace were as yet unrealized. More than one clause in the treaty committed the Allies, morally, if not by their letter, to make the disarmament imposed on Germany a first step to

disarmament all round, and for thirteen years, until the final break-down in 1933, commissions and conferences at Geneva explored every avenue. Practical difficulties of supervision, technical questions of naval tonnage, definition of armaments between aggressive or defensive types, all these were less insuperable than national jealousy and the method of measuring national needs Italy and France could not agree on naval 'parity'; the United States would not accept British Admiralty estimates of cruiser requirements; France would not listen to our proposed abolition of submarines; Britain wanted to retain air-power to deal with frontier regions. Neither America nor Britain liked the French project of an international force; above all, France, the most heavily armed Power in Europe, would not disarm until satisfied on her security.

But the 'collective security', for which the League Covenant stood, was merely on paper. America had never joined the League, Germany was not admitted until 1926, and Russia not until 1934; by which date both Germany and Japan had left it. More than one outrage on the treaties, by Poland and by Italy, was condoned British opinion, equally set against isolation and revival of alliances, whole-heartedly approved collective security, yet it was made clear, in particular by the Dominions, that the British Empire would never bind itself to automatic commitments or underwrite every existing frontier. Having rejected, largely on account of this Dominion feeling, the Protocol supported by the French, which would have tightened up the machinery of sanctions, the Baldwin government in 1925 took the initiative in the treaties of Locarno These made a regional pact, by which Britain and Italy guaranteed Germany, France and Belgium alike against aggression from one another. But from the language of our Foreign Secretary, Austen Chamberlain, it was plain that the security we thus undertook to honour in western Europe we should refuse to defend in the East

For all that, and in great part by our mediation, by 1930 much had been done to restore an atmosphere of peace Germany was admitted to the League and made a member of its Council; her reparations, already reduced by the Dawes scheme, in 1929 were once more scaled down by the Young plan In 1930, five years ahead of the treaty requirement, the last foreign garrison left German soil, while by the London treaty of that year Britain, the United States, and Japan reached agreed figures for cruisers and light craft, as they had by the Washington treaty of 1922 for battleships.

Zeal to disarm was the special mark of British feeling during this armed peace Government departments were instructed to act on the theory that no major war need be expected for ten years. Our Air Force, 187 squadrons strong in 1919, possessed only 31 in 1929 Our service estimates sank every year until 1934, we had disbanded 21 infantry

battalions and 60 batteries, naval personnel had not been lower for forty years, and twice a Labour government suspended work on the naval dock at Singapore.

War and peace had also imposed on us heavy burdens of Empire, and here too much was achieved For the ten years 1922–32, Cosgrave and those ready to operate the treaty controlled Ireland, agreement was reached on the Eire-Ulster boundaries and order restored by force. We had then to meet this new nationalism in much starker form in the East. Milner's mission of 1919 recommended a grant of independence to Egypt, over which the Coalition government differed and dallied, after more disorder, it was granted under Allenby's pressure in 1922 But the nationalist party founded by Zaghlul disputed the reservations we had attached, especially control of the Suez Canal and the Sudan, and an uneasy period set in of political murder, suspensions of the constitution, palace politics by the King, and intervention by the British high commissioner Meanwhile, our obligations incurred in war involved us more dangerously in the Middle East. Between the hopes held out, especially through Colonel Lawrence, to the Arabs, and the French mandate over Syria, there was absolute conflict; between the Balfour pledge of 1917 for a Jewish 'national home' in Palestine and the Arab majority, there was a contradiction even more dire. After some bloodshed Feisal, son of our ally King Hussein of the Hedjaz, was removed from Syria to become King in Iraq, which had been assigned to Britain under mandate, his brother Abdullah receiving the Trans-jordan territory under our protection. Strategical defence of the Persian Gulf, and vital oil supplies, prevented us from being indifferent to the fate of Iraq, yet both democratic feeling and the heavy cost prohibited military occupation, so the treaty with Feisal recognized his country's independence, leaving British controls to be lightly exerted through the Air Force, and in 1932 we supported the admission of Iraq to the League. Yet Arabian nationalism was still fiercely hostile to the French in Syria, and was further transformed after 1926 by the victories of Ibn Saud, the Wahabi Sultan of Nejd, over the house of Hussein and the holy places

If we conceived that we had discharged our debt of honour, Palestine was always reminding us of our mistake. This half-barren country, the size of Wales, had for thirteen hundred years been Arab territory, our mandate bound us to safeguard Arab rights, but also to promote a Jewish national home. An influx of Jews, trebling their numbers by the early '30's, added industrial revolution to racial strife, for the Zionists were backed by British and American money, and belonged economically to a much stronger civilization Savage rioting in 1929 began an unending spiral of repression and concession, enquiry, and contradictory solutions.

Farther east, nationalism had roused Persia and moved an incompetent Amir of Afghanistan to invade India in 1919, but our heaviest difficulty lay in India itself. There also the sacrifices of war stimulated nationality. Moslem indignation over the downfall of Turkey and Arab disappointment, and Congress's political theories, were blended by the Hindu Gandhi, a politician of supple craft, into unceasing demonstrations for which the Montagu-Chelmsford reforms proved inadequate, and in 1927 Baldwin appointed the Simon Commission to reopen the whole future. In 1929 it was announced that Dominion status was accepted for India, and conferences were pursued until the vast scheme of a federal self-governing India passed through Parliament in 1935

Burdened with such responsibilities abroad, the Conservative government must wrestle to undo the ravages of war at home. Our party differences of the old sort were almost extinct. One dividing line vanished with the Irish treaty; another, older still, of Church against Dissent faded away with a decline of religious faith. A third, of free trade against protection, was in abeyance. For revenue and military reasons, some of the war measures, the McKenna duties and tariffs to safeguard key industries, were retained without much dispute. And though Baldwin had learned from his defeat in 1923 that systematic protection, or the full preferences asked by Dominions, could not be pursued without a mandate, the pure dogma of free trade held by the Labour Chancellor of the Exchequer, Philip Snowden, could hardly bind his party, which insisted on full employment at high wages

Nor, again, was the democracy, which Peel had so dreaded and which Salisbury found so perilous in foreign affairs, any longer in question. The great extension of the franchise in 1918 was carried to its conclusion in 1928 by an Act giving women the vote at twenty-one, on the same terms as men, so adding 7 million electors and raising their total to 28 millions. Periodically, some small Conservative right wing would raise the question of damming the flood by strengthening the upper House But in essence the controversy was no more about democracy, or even about Socialism. rather, over the degree to which Socialism could be wisely applied or economic democracy asserted. So with Conservative Cabinets, as with Labour, the power of the State continually advanced. A State-controlled electricity board was created in 1926, and yet another example of such an official, yet independent, public authority was given the same year in the British Broadcasting Corporation. The principle of contributory insurance for health and unemployment, greatly extended by Lloyd George, was carried much farther in 1925, Churchill's budget of that year creating such pensions for widows, orphans, and old age, in fulfilment of Neville Chamberlain's social policy. Yet, though using the same instruments, the Conservative and

Labour parties were far divided, because two rival philosophies were disputing the future

The increased load left by war was in itself enormous. Gladstone's budget expenditure of £70 millions in 1881 had risen by 1913 to £197 millions; war had raised it to nearly £2700 millions, and it remained at £796 millions for 1924-5 Interest on the national debt alone was £350 millions, and direct taxation per head was nearly seven times the amount of 1914. It fell on a people whose rate of increase, as in all western Europe, was continuing to fall. From 1911 population rose by some 2 millions to 42,700,000 in 1921, and to over 44 millions in 1931; but in that year it was reckoned that only 81 marriageable women would replace each 100 of their predecessors, for the mid-Victorian birth-rate of 34 per 1000 had dropped to under 20, and though old people lived longer, many fewer children were being born Of this dwindling, ageing race, 80 per cent now lived in urban areas and half of those in towns of 100,000 people or more, while 76 per cent were reckoned as wage-earners Such was the last effect of industrial revolution on the 8 million people of 1801; then half-countrymen and almost self-supporting, but now dependent on imports for 60 per cent of their food

On the nineteenth-century fabric of export, credit, and overseas investment, the war and its aftermath put an almost fatal strain. Inflation and deflation ran the same course as after 1815. As compared with the 1913 level, prices early in 1920 stood at 325 against 100, but by 1922 had tumbled again to 154. War also drove employment into engineering, shipbuilding, and mines, which the making of peace left overcrowded and redundant. During war, again, foreign States created industries of their own, which after peace they protected by high tariffs; on cotton, another overcrowded industry, fell the brunt of competition from Japan, so that cotton goods, which had once been half our exports, dropped to less than one-fifth. War, moreover, speeded up other changes which would test all our adaptability. In agriculture the landlord class were fast disappearing In industry, larger units and amalgamations, from great commercial combines to co-operators, replaced individuals and small firms. More mechanism, inventions, and replacement of old processes, increased output but diminished employment. as the tractor replaced the ploughman, and as mechanical coal-cutting rose thirtyfold since the century began.

British prosperity of the rich previous age had been an international system; dependent on a free exchange of goods, at prices determined by the relation of each national currency to gold. This system, anchored in the experience and credit of London, assumed a free automatic movement of gold over the exchanges, which would correct disequilibrium of demand and supply, together with a free movement of capital, labour, and wages which would keep internal prices round about parity. But

in the post-war years all these assumptions were falsified Reparations confined the great German market to a one-way traffic The United States, now the world's greatest producer and creditor, protected their industry by ever-rising tariffs, and demanded payment of balances in gold. Russia was almost eliminated from world trade. Sharp devaluations of currency in Germany, and then in France, unhinged the exchanges, while every device of tariff, quota, or subsidy was employed by many new suspicious States to beggar their neighbour.

This maldistribution of gold, nearly two-thirds of the world's supply being piled up in America and France, debts without assets, and wild migration of frightened money had wounded the old monetary system, which many political facts also threatened to destroy. The shifting of financial power to America exposed world trade to larger speculation and inadequate banking, while restrictions on immigration and political tariffs hardened the compartments between poverty and wealth. Within this country, fixed interest-charges on a huge debt and, still more, wage-rates which were kept rigid by trade unions and unemployment insurance prevented any easy readjustment of costs. In these conditions the wish of Britain to restore her pre-war stability was obstructed, and when in 1925 the Baldwin government returned to gold at the pre-war parity between the dollar and the pound, the external value of the pound was fixed higher than our internal prices warranted, and our export trade consequently suffered

On the British State the effects of these post-war conditions were very various by 1929. The insured population in employment was larger than ever before; if our exports had declined in volume since 1913, those of manufactured goods were still the greatest in the world; real wages, measured by the cost of living, rose by 8 per cent between 1924–9 and, though lower than in the United States, were well above any in Europe, the hours of labour were 10 per cent less than before the war, and £100 millions in subsidies part-paid the rent of many working-class tenants.

Yet, though the real national income was much the same as before the war, our savings for reinvestment were almost halved, and after 1929 our emigration had in effect ceased, worst of all, the figures of the unemployed never fell below 1 million after 1922, and stood at 1,200,000 in 1929 The total payments to the unemployed in the eight years then ending might be put at £500 millions, one government after another was compelled to weaken the genuine insurance element in its assistance, — payment, that is, in relation to contributions, — and to extend benefit to many thousands who, for months or even for years, had been unable to contribute at all.

This unemployment differed from older poverty, in that it was almost restricted to a few industries and a few areas, and represented an historic

catastrophe, that it gripped exactly those industries which had made the country economically supreme for a hundred years. The trades which suffered were in some cases, like cotton, ill-organized but they had been the heart of our exports, — textiles, shipbuilding, engineering, and coal. While, therefore, unemployment as a whole averaged about 12 per cent in this decade, in the Durham and south Wales coalfields it sometimes reached 40 or 60 per cent, employment steadily moved from the once powerful north to the midlands and the south and, while there were 600 unions under the poor law, 15 of them accounted for one-fifth of all poor-law relief.

Coal made the darkest spot. The industry was overcrowded, badly organized between 1400 separate undertakings, more penetrated than any other by class feeling, and more isolated in temper. After several strikes in the early 1920's, the miners' wage level left them in 1925 rather worse off than in 1914, and hence came about in 1926 the sympathetic or General Strike declared by the Trade Union Congress. To separate the miners' hard case from that constitutional question, of compulsion put upon Parliament by direct action, was almost impossible at the moment, though it would have to be done if Labour was to co-exist with parliamentary government. The immediate sequence of events was a great, if only partly conscious, national unanimity to defeat the strike, a drop in trade union membership from 8 millions to 4¾, a return of the miners to work at the same wage but with longer hours, and the passage of the trades disputes Act of 1927. This made a general strike illegal, allowed the trades unions' political levy to be taken only from members who expressly 'contracted in', and forbade affiliation of civil servants to a political party.

These disputes were bound up with the future of the poor law, which had been much controverted since the royal commission of 1909 had issued majority and minority reports. As administered in East London, and in some distressed regions of Wales and the north, relief had been used to change the whole social standard, by scales of assistance which sometimes maintained one-fifth of the population on relief and certainly violated the existing law. Hence came about several measures, passed by Neville Chamberlain as Minister of Health, to curb the rise of rates and keep relief to its original principle, as against this programme of 'Poplarism', — even by the supersession of the elected guardians.

In this sad picture of a permanent million unemployed, though its composition of course fluctuated and the hard core might be estimated as half a million, and in 'distressed areas' from which hope and life and youth seemed to have fled, the post-war epoch expired and the Baldwin government went down. Its reforming measures had been substantial; a large increase of insurance to widows, orphans, and old age, and to

some new classes; the derating of industry and agriculture, and the financial and administrative reforms of Chamberlain's local government Act of 1929. This abolished the guardians and transferred their functions to county councils and boroughs, centralized the control of roads and town planning in larger authorities, and provided whole-time medical officers of health. In lieu of the rates taken from them, local authorities would henceforth receive block Exchequer grants, having due regard to their unemployment. Most of all, its flexibility allowed them to use their own administrative schemes, which would, in effect, break down the partition between the poor law and other social services

This, and Chamberlain's rating reform, were vital for future development, but would ask a long time for their full affect At the moment, war and mass unemployment had forced to the front a conflict between the doctrines of the past century and those of the age to come. The Victorians had taught the virtues of self-help and saving, from the experience of the eighteenth century and Speenhamland, they derived a horror of outdoor relief and reliance on the State, and a conviction that the lot of the workless man ought to be less eligible than that of the man in work. New doctrines of 'the community', reaching back to pre-Reformation principle, had always challenged these beliefs, found reinforcement in the growth of political equality, and received confirmation in the spectacle of one million fellow-countrymen out of work, through no fault of their own. Having been given political power, democracy set out to translate it into economic fact, to put the responsibility on the community and not on the self-reliant citizen, and demanded 'work or maintenance' as their right. Economists taught them that by monetary policy they could stabilize prices, secure full employment, transfer wealth by a peaceful revolution, and make a classless society

How far such doctrines could proceed was as yet undecided But, taken together with the distressed areas and the foundering of peace in Europe, it was enough to decide the elections of June 1929 Under our single-member constituency system the electorate, now swollen by 6 million new voters, returned 287 Labour members with 8,360,000 votes, 261 Conservatives with 8,664,000, and 59 Liberals with 5,300,000 This, though not a very clear-cut verdict, installed Ramsay MacDonald once more in power with a Labour government

CHAPTER II

THE EMPIRE, 1919–1938

THE fruit had not yet dropped from the tree, as the wisest Victorians prophesied it would. During the great war ending in 1918 Canada raised 650,000 soldiers, Australia and New Zealand together much the same, South Africa and the non-Dominion Colonies each about 135,000, while from India came 1½ millions. Seamen, munitions, supply, labour corps, flowed in abundance from different races of every civilization and colour, remote islands and wide dependent kingdoms, massed into one instrument by British sea-power and British arts of government. Yet history notes another side to this broad shield Over the question of compulsory military service Canada was torn between her two races, Australian Labour acutely divided, and Ireland in open rebellion, the declaration of war caused a rising in South Africa, and its strains led to upheaval in India.

How mighty, however, and potentially irresistible had become this Empire, planted so undeliberately by the Elizabethans and endowed so liberally, yet with such lack of interest, by Gladstone's generation! As we leave it in the 1930's, it covered nearly a quarter of the world's surface Its total population, mandated territories included, was roughly 520 millions, or a quarter of the human race; distributed through 46 millions in the British Isles, some 25 millions in self-governing Dominions (of whom 5 millions in South Africa were non-European), 62 millions in Colonies, protectorates, mandated territories, and 390 millions in India The Empire provided a fifth of the world's trade, shipping in British registry, though far declined, still made over a quarter of the whole, while 40 per cent of British exports went to countries under her own flag

Since 1880 Imperial distribution and structure had much changed Through the Suez Canal, opening of Africa, the international scramble in the Pacific, discovery of oil as the motive of power, and the rapid increase of eastern populations when given hygiene and security, its strategic and economic centre had moved from the Atlantic to Suez and Capetown, Delhi and Singapore. Concurrently a developing democracy in its white races on one side, and on the other an addition of backward areas in every stage of progress, combined to make a sharpness of division which the older Empire had never known. As against five overseas units with Dominion status, — Southern Ireland, Canada,

Australia, New Zealand, and South Africa, — we must reckon three with some internal responsible government, in Southern Rhodesia, Malta, and Ceylon, a mass of Colonies proper, all controlled by a British Secretary of State, though widely differing in the extent of their liberty, ranging from ancient centres with elected councils, like Barbados, through others old and new (the Straits Settlements, the Gold Coast, or most of the West Indies) in effect ruled by official majorities, to those wholly directed by royal governors like Ashanti or St Helena. Then came protectorates in various degrees of freedom, descending, for example, from Northern Rhodesia to Kenya and Bechuanaland, protected or part-protected States, Egypt, Malay States, Zanzibar or North Borneo; territories taken over by mandate from the League in 1919, Palestine, Tanganyika, the Cameroons, Togoland, Transjordania, with those mandated to various Dominions, South-west Africa, Samoa, or New Guinea; and last, a political world to itself, the Empire of India From each group an administrative chain ended in its appropriate centre at Westminster, whether the Foreign Office or India Office or, after 1925, the two departments which formerly had been one, of Dominions and Colonies.

Within this Empire were contained most sources of wealth and sinews of war From South Africa came nearly half of the world's gold; from Malaya and elsewhere, over half of its rubber and nearly one-third of its tin; from Canada, the great bulk of its nickel and a quarter of its wheat export; a quarter of its cocoa from the Gold Coast and Ashanti, and a quarter of its tea from Ceylon. Yet nothing was made more clear in the 1930's than the fact that this Empire, like others, was not self-sufficient, nor primarily cemented by economic interest Hard strains of war and post-war economic trouble bore out what earlier history related, that each considerable British community lived under the shield of British sea-power and drew means of expansion from the London money market. Within that broad frame, however, each pushed to its full logic the self-government which they had received, in conditions changed only in degree since 1880, with the result that they enforced a wholly new conception of Empire

Canada, the first-born, naturally took the lead, speeded on as well by another dominant fact in her history, that, besides making part of the British Empire, she was also part of an Anglo-Saxon continent By American standards the growth of Canadian population has not been rapid, from the 3½ millions at Confederation to 5¾ millions in 1901, and some 10 millions at the present day The age of fastest increase was in the first years of this century, when in six years Canadian borrowings from London totalled £250 millions, and expansion flowed to the Middle West Manitoba rose from 25,000 people at its making in 1871 to 425,000 in 1911, by which date two new provinces which had been

carved out in 1905, Saskatchewan and Alberta, had risen to 492,000 and 374,000 respectively. Thence came the bulk of the grain harvests, the 400 million bushels of wheat exported. New trans-continental systems of railways, launched in optimistic extravagance, competed with the Canadian Pacific. Steamships opened up the far north and exploited oceanic connection with Hudson's Bay. Gold in the Yukon and immense nickel deposits in Ontario added minerals to the wealth of fisheries and prairies. Only Newfoundland, with her back to the Dominion and looking to sea, still remained outside the door.

The ratios, as they stood in 1935, for the Dominion House of Commons show the change of balance; as against Quebec's basic 65 members, Ontario now returned 82, the three prairie provinces had 55, the three Maritimes were reduced to 26. Time and the trend of immigration have lowered the British-derived population to a half of the whole, while ebb and flow over the thousand-mile open frontier with the United States, and a Radical democracy on new soil, have swept away second chambers, dissolved parties into economic interests, and borrowed in spirit as much from their southern neighbours as from the mother country.

Yet the special mark of the age following on Macdonald's death in 1891 was Canadian nationality, realized through a balance of many rival urgencies of sentiment or interest; a new western outlook, a continuing attraction towards reciprocal trade with America or conflict with American tariffs, the Monroe doctrine as against the British fleet, Imperialism or autonomy The political leader of this generation was Wilfred Laurier, French Canadian, Catholic, and Gladstonian Liberal. From him, in particular, came the stand at Imperial conferences for independence rather than centralism, allied nations rather than an Empire, and Canadian control of Canadian affairs, as was shown, for instance, by separate negotiation of treaties with America and France, or the making in 1909 of the Canadian department of external affairs. By maintaining protection and pushing along the line of Imperial preference, he attempted to weld Macdonald's substantial legacy with the interests of his own Quebec, and the traditional Liberal defence of provincial rights.

If Canada is the natural mediator, Canada may also be the anvil for the two great masses of Britain and America, and disappointment with Imperial diplomacy, especially over the award on the Alaska frontier in 1903, sometimes alienated her from Empire. Furthermore, the furnace of two wars, in South Africa and then in 1914, lighted up the ancient factor of race. Quebec, fixed in the conservatism of its Catholic, prolific, peasant people, and finding historic material in disputes over mixed marriages or separate schools, hardened in its separatism, and Laurier's grasp withered with the rise of Bourassa,

reincarnating the spirit of Papineau and 1839.

Yet Laurier's Conservative successor Borden, prime minister throughout the war period, carried farther and faster Laurier's claim for nationality, and the continuity of that claim, descending again to Laurier's Liberal inheritor, Mackenzie King, was the most potent force in transforming Empire. That a Canadian minister overseas and a Canadian commander should control a Canadian army in Europe, that Canada should sign the peace treaties and enter the League as a separate nation, that a Canadian minister at Washington should make a commercial treaty as the King's envoy, all these were signs of insistence on diversity as the condition of union. There was a second persisting continuance, however, in the relation of Canada to Britain, and of the Dominion to its provinces Confederation having been in the nature of an alliance, its terms still turn on the Acts that made it; in which the intense spirit of Quebec finds its guarantee against an encroaching Dominion. Nothing but the Imperial Parliament could endorse a fundamental change in these terms of alliance; the Dominion's right to veto provincial laws, conflict over wide frontiers and far-stretching water-power, or over rival religious stakes, still receive final interpretation in the Privy Council at Westminster

This people of under 10 millions, having raised 600,000 men and spent £400 millions in one world war, was to enlarge that scale of sacrifice in a second, the potentialities of its future, still inestimable, match the riches, diversity, and grandeur which it has received from Nature and the character of its pioneers

Belonging in everything but law to a different system, Australian nationality developed in conditions the very reverse to those of Canada. It was isolated, save for New Zealand a thousand miles away, from other British communities, its population was homogeneous, for 97 per cent in 1911 had been born in the Empire; its climate was tropical or north-African, and its political environment was Asiatic By the mid-nineteenth century the British immigrants had come up against their economic frontier, beyond which no white men and arable crops — and hardly the nibbling sheep — could thrive, and though their population's increase was proportionately greater than any other Dominion's, it still remained a half-empty continent. It grew from 1,668,000 in 1871 to 3,824,000 in 1901, 5,000,000 in 1918, and now some 6,800,000. Forty per cent or more lived in six State capitals, and how concentrated remained the predominance of the original south-east may be judged from the representation in the Federal Lower House in 1928, when New South Wales and Victoria returned 48 members as against 27 for all the rest

Their federation was accomplished, after many years' debate, in the Commonwealth Act of 1900, whose substance reflected not so much

American example as the separate history and distances of Australian States To the Commonwealth were assigned some specified powers, — defence, customs and excise, foreign relations, inter-State commerce, and so forth, some powers, like direct taxation, are shared; but the State governments continued in their essence, their governors are not appointed (as in Canada) by the federation, but by the Crown, and with them remained the residue of powers. Alterations in the constitution require a majority of the electors in a majority of the States, and the Senate is composed in equal proportions from each of them And if the choice of Canberra marks the power of New South Wales, it was also stipulated that the capital must be distant at least a hundred miles from Sydney.

As regards the mother country, a restriction on appeals to the Privy Council only defined more sharply the freedom Australia had long in fact enjoyed, and their later constitutional history has turned much more intensely on the relation of the States to the Commonwealth

Three causes especially have filled up the scaffolding of 1900 with the substance of a Commonwealth. The States, in particular the smaller ones, must depend upon it for financial assistance. Again, from the needs of defence, against Bismarck's Germany and French New Caledonia and Oriental immigration, the chief impetus towards federation had come and, as the Empire entered on the zone of war, the Imperial government encouraged Australia to speak and act as a single body. War itself, and then post-war economic strain, drew unity still closer in a unified command, greatly increased taxation, and common arrangements for immigration or British loans. Yet even more was done through the spread of industrialism across State frontiers, and the growing predominance of Labour in politics. This federal power has been developed through the courts; by the High Court of Australia, to which appeals lie from the State courts, and the Court of Arbitration, which has pushed federal powers over industrial disputes and inter-State commerce to make national codes for livelihood and wage-standards.

Democracy demands uniformity, and in Australia — deriving from its earliest origins, the diggers, and contests against a land-owning aristocracy — it triumphed in the new century. Trade-unionism covered the shearers, as it had covered the miners, one in every seven Australians was a trade-unionist. Firm in the doctrine of a 'white Australia' and for closer land settlement, in alliance with the Imperialist Victorian, Alfred Deakin, Labour buttressed its own interest by high tariff duties, then stood out in its own strength, and by 1915 controlled both the Commonwealth and five State Parliaments. On the issue of conscription they broke with their own war leader, W. M Hughes, whose coalition ministries carried the war period down to 1923.

These six million British people, so wasteful of old of their precious

forests and water, so set upon the well-being of the average man, serried in political purpose and yet individually undisciplined, have in a hundred years made a nation. They sent 330,000 troops overseas in the first German war, and lost 60,000 of them. Their wool made a quarter of the world's supply; if gold production had fallen, wheat had prodigiously increased; their overseas trade doubled within thirty years and passed £200 millions in value in the 1930's. Many thousand miles of government railways linked up this scattered population, rivers have been turned back in their course to irrigate new settlements Democracy is heedless of spending and Australia borrowed recklessly, £260 millions from Britain, for instance, within seven years. But when the depression of 1929-31 crushed primary producers all the world over, no country rationed itself so severely, or retrieved ruin with such resolution

In the scales of world power New Zealand ranks low, for the 130,000 people of the '50's have even now hardly risen beyond 1½ millions, but no overseas community perhaps has seemed closer to the mother country, by the rich interest of its origins, a likeness in the climate both of nature and spirit, and experimentation in democracy. Nor can any match the service of New Zealand, except a few martial areas of north India, in sending one in every four of her people to serve in the war of 1914. This small Commonwealth was forced fast into unity soon after receiving responsible government in 1854, by Maori wars and chaos in land laws, borrowing and public works Abandoning its first division of provinces and passing through the usual vicissitudes of new peoples in overspending and depression, in the age before 1914 it became a centralized Radical State, in the hands of MacKenzie, Pember Reeves, Seddon, and Joseph Ward.

Here the social solutions which Britain herself reached much later, of women's suffrage, labour exchanges, or old age pensions, were first worked out, and what has been deemed Socialism was manifested in its State banks, medical services, and insurance. Yet at its base it remained rather a co-operative community of small owners. Refrigeration multiplied exports from the soil, from which came two-thirds of the cheese and half the frozen mutton and lamb sold in Britain. Till a late date New Zealand's dependence on the British loan market was absolute, nor were there those threats of repudiating debt which have sometimes shaken the credit of Australian States

Unconnected, unlike Canada, with any rival continental system and satisfied in fulfilling their Britishness by being left alone, the two Australasian Dominions have questioned less than Canada the fact and consequence of British allegiance Yet, though moving in such different orbits and swayed by such varying motives, all three arrived at much the same fundamental relation to Empire Very different, and very naturally so, has it been with the other Dominions, South Africa and Ireland,

whose racial disputes and ancient history have shaped that relation on harsher lines.

South Africa's inner history has not departed from the conditions of the Union, or the light in which Union was seen by Botha and Smuts. The racialism which Hertzog championed, and caused Boer rebellion in 1914, has changed little in character if it has in degree. Power still turns on the two leading provinces, the Transvaal and the Cape, who together return over two-thirds of the Union Lower House; its exercise is governed by the same overruling facts, of overwhelming native numbers and dependence on British sea-power Their loyalty to the British connection, as a sheer necessity of environment and very unlike the native sentiment of Australasia, was unlike it in still another way; that, in the hands of Smuts, it grew with and was dependent on the relation of the British Commonwealth to the League and its championship of small nations.

In 1936 the Union's European population was under 2 millions as against the combined numbers, three or four times as great, of African natives, Indian immigrants, and half-castes. The Indian question was largely confined to Natal and its semi-tropical industries, and more or less stabilized after much contest with Gandhi and the government of India, but that of the African natives involved the country's whole destiny. With it is bound up the existence of the gold mines, the maintenance of a white standard, and the attitude of white labour, the use of the soil, and a decision whether the Union can enlarge its borders. It contributed to the Southern Rhodesian vote in 1922 against joining the Union, it had equal responsibility for the Imperial Government's refusal to allow the Union to absorb the protectorates of Bechuanaland, Swaziland, and Basutoland.

Two strains thus run through the Union's political history since Botha died in 1919, worn out in keeping the peace. Smuts fought two elections on the issue of Imperial allegiance and the Union's right to secede, Afrikander racial feeling contributed to his overthrow and to instal Hertzog from 1924 to 1933, with which came a long symbolic dispute over the national flag, and strong assertion of nationhood at Imperial conferences Yet Hertzog's victory was as much explained by social causes, striking to the deeper roots of colour, and tactically depended on white labour votes The fruits of this alliance were seen in a triumph of Afrikander policy, a colour bar Act restricting natives in skilled industry, measures to segregate their settlement on the land and, most of all, Acts which in effect destroyed the Cape native vote and allowed them only minute representation on a separate roll

That price was exacted again in the combination of Smuts with Hertzog in one government from 1933, which endured until the outbreak of the next war. It was born of the great depression, inter-provincial

differences, this looming native question, and a revelation that large tracts of the population, both white and black, were miserably poor. And if in interpretation or inner hopes the two parties differed, there were hard facts on which they might compromise Nine South Africans out of ten might agree on a native policy, they might agree, too, on finding their nationhood in an Imperial family of sister peoples. That process was marked by the separation of the offices of governor-general and high commissioner, and even more by the Status Act of 1934, which declared the Union a 'sovereign independent State', with its own royal seal.

This declared separation in law, however inseparate might continue economic or even constitutional bonds, was simultaneously asserted in Ireland In 1927 Cosgrave's lieutenant, O'Higgins, was murdered, and De Valera brought his republican party into politics, decided now to overthrow from within what they had failed to destroy by force. By 1932, when the electors returned him to power, his opportunities were much enhanced. World depression hit hard this small community, for the population of the twenty-six counties had fallen from over 5 millions to less than 3, and though 90 per cent of Irish exports went to Britain, nationalists aspired to make their country more self-sufficing; moreover, the Statute of Westminster seemed to open a way for aggressive Irish legislation President De Valera took that way, to abolish the oath of allegiance and appeals to the King in Council, to emasculate the office of governor-general, abolish the Senate, stop payment of the annuities which financed land purchase, and to declare an Irish citizenship distinct from the body of British law. The most liberal 'conventions' controlling the relation of a Dominion to Britain were thus made rigid in terms of law, in virtue of a claim that an Irish nation, which was still partitioned by British force, could admit no right, whether springing from treaty or Imperial Act of Parliament, which conflicted with its complete sovereignty Henceforward, at best, Irish-British relations must be reckoned as only international, meeting merely in the external use of the British Crown as a convenient agency to deal with foreign States A tariff war, ruinous to Irish trade, rose out of the annuities dispute, while at the period's end De Valera was advancing to claim the naval ports, the use of which was stipulated for Britain by the treaty of 1921, and towards a doctrine of Irish neutrality in a British war.

These extensions of Dominion status make part of a long historical sequence, that logically followed in the operation of events since Durham's Report Between the inner and outward sides of responsible government, which that Report distinguished, it was found that no dividing wall could be maintained Control of their own lands could not be separated from control of native peoples, or the clergy reserves

in Canada from the fate of the Maoris in New Zealand. Control of their own life also implied making their own tariffs, which led to treaties of commerce and foreign relations. Imperceptibly, the dual responsibility of the governor was whittled away Colonial liberty might carry with it a freedom to go wrong, to corrupt, to dismiss civil servants, or pack second chambers, but by the end of the Victorian age the governor was no longer expected to intervene Forms of legal dependence were still present in his veto or the power of disallowance, and more actually in the Colonial Laws Validity Act of 1865, which made invalid a Colonial law if 'repugnant' to an Imperial Act affecting that Colony. But in substance they were obsolete; more and more we perceive that, in so far as Imperial laws controlled these communities, that control was merely preserved, as by Canada and Australia, to serve their own internal purposes, as between federal and provincial, or State, rights.

With the new Imperialism of the '80's began a transformation of inter-Imperial relations, from one between a supreme and many subordinate members into a co-operative Commonwealth of equals The history of their conferences before 1914 advances, in terminology as well as in fact, from the first Colonial conference of 1887 to that of 1907, when it was agreed to call 'Imperial' conferences every fourth year, and to make them meetings between Prime Ministers, until we reach that of 1911, at which South Africa joined this circle and to which Grey expounded the secrets of foreign policy. Historically, the capital decision of those conferences was a negative one; their refusal, led by Canada first and foremost, then reinforced from South Africa, to adopt those means of closer union on which the minds of Chamberlain and Lyttleton and the Milner school of Imperialists were turning Rejecting notions of a standing Imperial Council or a federal Imperial parliament, of an Imperial *Zollverein* or a unified Imperial navy, they limited their partnership to co-operation Canada's example from 1897 in giving preference to British goods was followed by the others; their individual naval squadrons were fitted into the British war plan, and they adopted Haldane's uniform principles for military training.

But co-operation is not union, nor mutual acceptance of sacrifice the same as joint responsibility On this larger stage they were swept forward by the first German war, which demolished Asquith's Victorian view that direction of policy must rest solely with Britain. Lloyd George in 1917 invited the Dominion leaders to the Imperial War Cabinet, and together they made one Empire delegation at the Peace conference. Even so, led by the Canadian Borden, they insisted on signing separately as nations, and as separate nations entered the League; both tests of war and strains of post-war conflict making it evident that co-operation might end in dissolution

To this the new quasi-Dominion status of Ireland and India con-

tributed, together with the isolation of Afrikånderdom and the more American isolationism of Canada. A common refusal to accept Lloyd George's diplomacy, a negative attitude towards commitments in Europe for the League, a standing aside from the peace of Locarno, were all symptoms of that nationalism. New examples followed some pre-war precedents, in an Irish appointment of envoys at foreign Courts, a separate commercial treaty between Canada and the United States of 1923, and South Africa's grant in 1928 of preferential duties to Germany. Prime Ministers now communicated direct with each other, not through the Dominions Office; High Commissioners diplomatically represented their interests at Westminster. A struggle of 1926 in Canada asserted that in the prerogative of dissolving Parliament a governor-general, neutral like his sovereign at home, must act on his ministers' advices and on that alone.

This new relationship was defined, so far as things so fluid and growing can be, at the Imperial conferences of 1926 and 1930, and implemented in the Statute of Westminster of 1931. 'Equal in status, in no way subordinate one to another', though differing in 'function'; only united 'by a common allegiance to the Crown, and freely associated as members of the British Commonwealth'. Henceforth the governor-general of each Dominion would be appointed on the advice of its ministers, his other rôle of link with the Imperial government being taken by a British high commissioner. Disallowance, reservation, 'repugnance', — all the checks on Dominion law-making disappeared, leaving them free to repeal, as the Irish promptly did repeal, such Imperial law as made up part of their own, and allowing the Imperial Parliament to legislate for a Dominion only at its own request

Having thus, except for their own internal purposes, converted legal into moral bonds and made their inter-relationship international, Britain and the Dominions negotiated with each other the Ottawa preferential agreements of 1932 and acted in co-operation over the abdication of King Edward VIII in 1936. To this conclusion had led all that Burke's American speeches laid down nearly two centuries before, of the spirit of the English constitution which, 'infused through the mighty mass, pervades, feeds, unites, invigorates, vivifies, every part of the Empire'.

When we turn from these 'freely associated' nations to the Colonies and dependencies, no uniform picture can be seen, nor is any one future predictable. The territories 'mandated' in 1919 make a disappearing class. Iraq has become an independent ally; others cannot politically be severed from various Dominion systems, such as South-west Africa and Tanganyika from the Union, or New Guinea from Australia International, not Imperial, factors are decisive in the

Middle East Jewish immigration, multiplying their numbers sevenfold since 1918, has made a revolution in Palestine, antagonizing the whole Arab and Moslem world, and insoluble by Britain acting alone. Geography, economic ties, and modern transportation have revolutionized the Colonial empire also, making its oldest limb, the West Indies, a member of the American system as much as of the British Commonwealth.

If that old Atlantic department was a survival, new considerations of strategic and economic power have made the pattern of Empire in Asia and Africa With the possession of India came first the occupation, and then the defence, of strong points strung out along the two sea-routes, the Persian Gulf and Aden, Egypt and Malta, Mauritius and St Helena and Simonstown. With India again, and then with Australia, came Singapore and Penang, Hong Kong, Fiji, and the clusters of Pacific isles But vast spaces of sea and intervening foreign territory divide these settlements. Fourteen hundred miles separate Hong Kong from Singapore, over 2000 miles lie between Singapore and Port Darwin

'Empire' is a word covering many motives, which shift in weight as history proceeds, so that humanitarianism now claims a hold on territories which were first exploited by slave-ships, or taken as bases for war Economically, our dependent Empire makes but a small part of our wealth, taking less than 10 per cent of the British export of manufactured goods Much is desert, much undeveloped, and much very poor Our whole trade with the West Indies is a bare £15 millions in value, in the Sudan and both Rhodesias there are less than ten inhabitants to the square mile. Our stake in the Far East is not one of direct trading but rather of investment and services, in shipping nearly half of Chinese commerce or that of Malaya, whose external trade is greater than all the rest of our Colonies put together.

What has been done for this dependent Empire in the enduring scale has been great, and much that we did amiss has been undone Slave trade and slavery are both gone, the English cathedral at Zanzibar stands where in 1873 John Kirk had the great slave-market closed. It was only in the '90's that an end was made of Ashanti and blood-stained Benin, only in 1903 that Frederick Lugard entered Kano, from which horsemen in chain armour had ridden far for slaves. Wherever we have gone, an end has been made of torture, cannibalism, infanticide, and head-hunting By early Stuart Churches in the West Indies down to modern missionary steamers on African lakes, and through many thousand dedicated individual lives, something better than the Roman sense has been given to 'Empire'.

In terms of politics we have been rewarded, in the 25,000 combatants from West Africa or the 15,000 from the West Indies in the war

of 1914, in the £30 millions worth of Nigerian trade, or the sentiment which from Barbados to Basutoland has defied rival Powers and sharp peril. To many peoples and in many ages we have given their whole future; as our engineers' irrigation has revived Egypt, or as Ross, Manson, and the other pioneers of tropical medicine have attacked the scourges of Africa, or as our colleges on the Gold Coast have educated the African to teach, or to judge. A doctrine of trusteeship for the natives, insisted on by Burke and long ago applied both in India and Africa, has been publicly accepted as our first principle since the peace of 1919.

It is not a formula capable of instant application, nor one to be read apart from the inheritance of history, and everywhere we meet the clash of Europeans with primitive peoples. European economic expansion, which began with the slave trade, continued in the late nineteenth century with a forced stimulation of trade for export, of which South African gold is the greatest example, forced, not so much by compulsory labour, though sometimes that was known, as in the harnessing to Europe's industrial demand of rude native agricultural societies. In detail the process has varied indefinitely, according to historic or local circumstance. Sometimes a reckless reliance on a single means of wealth has brought ruin, as in the sugar of Jamaica. Sometimes, again, economic increase has inserted an entirely new racial factor, whether in the Indian coolies who were brought to British Guiana and Fiji, or in the Chinese who make up a quarter of Malaya's stock of labour. Sometimes a capitalist plantation system has held its own, as in Barbados and St Vincent, but elsewhere a peasant farming has emerged, as in West Africa and Jamaica. Yet the all-important problems are everywhere much the same.

These problems are those of a humanity low in the scale, beaten down by the blows of Nature and man, drought and tornado and earthquake, great areas where the tsetse-fly kills cattle and beasts of burden, endemic malaria and hook-worm, peoples whose food brings leprosy, or peoples among whom syphilis is universal. Half a century ago the negroid sponge-fishermen of the Bahamas, in their lime-stone huts, had hardly advanced since their forefathers had been torn from Africa; in Africa peasant communities farmed, as Tacitus paints our own Teutonic ancestors, by moving their plots every few years, paid a bride-price for their wives in cattle, and by burning and over-pasturing eroded an arid soil. Poverty has hitherto restricted this Colonial Empire; enhanced by the increase of native numbers through the very peace which Europeans brought, and now exposed, as the depression of 1930 showed, to every change in European demand. Stunted in possibility of raising large revenues, British administration, which at home spends so many hundred millions on social services, cannot spare

more than a few shillings a head for health and welfare in the Colonies Meanwhile, the juxtaposition of two systems, of crops for export alongside crops for maintenance, and tribal clans alongside wage labourers, raise a hundred economic conflicts; questions of wage standards and the 'poor white', of segregating the two peoples or the alternative of a large 'coloured' population, of fixing native reserves, and limiting their supply of land.

Political means of government range, likewise, from the rigid racial policy of the Afrikanders to the native liberties that the Colonial Office upholds, in the light of which self-government for a European community, as in Kenya, must be conditioned by guarantees for native progress When the Crown in 1900 took Nigeria over from the Company and, amalgamating it with Lagos, made a State one-third the area of India and with 20 million people, Lugard and his successors introduced 'indirect rule', leaving native administration, sometimes through natural chieftains and sometimes through clan committees, ruling themselves and self-governing even in finance, and binding up native law with British legal principle through high-court decision and Order in Council This has since been extended to East Africa also. But what relation will this indirect system bear to the British goal of responsible government? Many examples in the older West Indies in the last century, of a planter self-governing community being reduced to a Crown Colony, show the change in the Imperial attitude to a European minority rule; strong interventions in West Africa and Kenya have asserted Imperial control over the vital question of the soil In these social foundations, rather than in the extent of a vote or the proportion of elected members of Council, are the great decisions that have to be made

Of this heterogeneous dependent Empire the potentialities are great, incalculable, and still to be matured. Strategically, its international future is uncertain. After years of dispute since the grant of independence, Britain agreed in 1936 to withdraw her garrisons from Egypt to the Suez Canal zone; communication with the Pacific rests on the outlook of several Dominions; while the whole *raison d'être* of several communities might disappear with any revolutionary change in India. Its sources of wealth, — gold, tin, and tungsten, cotton, copra, rubber, sugar, and oil — depend on the upward move of 60 million people, ceaseless endeavour and experiment in health, soil betterment, forests and water supply, research in every human ill and every animal pest, and education, are attempting to overtake the past and to better an undecipherable future

More great, more arduous, and more immeasurable still is India, the British occupation of which has directed the history of half the strong points in our Empire, though in itself this occupation, not yet

two hundred years old, makes only a pin-point in Indian history. Since the Mutiny the population of the sub-continent has increased by 100 millions, and now approaches some 390 million souls; divided in fundamentals as between two-thirds Hindu and one-third Moslem, speaking over 200 different dialects and some 15 principal languages, divided once more as to two-thirds in British India and the remainder in Native States. Torn to shreds by many ages of warfare and finally by the decay of Mogul supremacy, India was given such unity as it has by British rule in the nineteenth century. That uniformity was hastened when in 1858 the Crown took over control from the Company; in course of time the separate Presidency armies were suppressed, and with each decade centralized departments and government monopolies, of forests, irrigation, salt, or opium, massed together the instruments of power. Nearly 40,000 miles of government railways, pushed from the seaports up to remote mountain passes, telegraphs and military roads, move and control these many millions, while a vast machinery of relief against plague and famine crosses its internal frontiers.

The scale of Indian life is that of a continent. Fifteen hundred miles of an armed frontier guard the north-west. Since Dufferin's annexation of Burma in 1886, Indian armies must reach out to Siam and China; northwards, the veil must be pierced that shrouds Tibet and the high Pamirs; through mountain masses overhanging her from Afghanistan, the eyes of the Indian government must discern what is going on in the Oxus valley, and in Russian protectorates of Persia and the Gulf. The budget of the central government alone reaches £100 millions, and Indian trade £270 millions sterling a year; a million Indians served in the war of 1914.

Two separate, yet interlocked, problems govern British-Indian history since the Mutiny; the relation of British to Indians, and the relation of Indians between themselves. Curzon, the last Viceroy (1899–1906) of Queen Victoria's appointment, was also the last British autocrat, of a government which, through fewer than 3000 British administrators and some 50,000 British soldiers, passed down to this large section of all mankind. The speed and magnitude of his reforms, the publicity with which he reproached shortcomings, his zeal for Indian arts and antiquities, and arduous toil for the peasantry, left India more politically self-conscious. That political sense, however, had acquired a darker tinge of race. The gulf between rulers and subjects revealed by the Mutiny was deepened by every modern invention, while frequent leave home, a higher proportion of English women in India, and a centralization which kept the district officer more at headquarters, all contributed to divide the two races, and diminish that intimacy which had marked British leaders from Warren Hastings to Henry Lawrence. Large events beyond India inflamed this feeling

of nationality, such as the victories of Japan or the downfall of Turkey.

This consciousness, and the consequent British actions, work within a frame which history has never elsewhere seen. Other States have overcome differences of race, as deep as those which sever the primitive tribes of India from Aryan conquerors, or Afghan chieftains from Bengalis, and other empires have wrestled with religious hatreds, as fierce as those which play between Hindu and Moslem What has distinguished modern India has been a stratification of cultures, the co-existence side by side of civilizations which are centuries apart.

Successive waves of conquest from the north, the rigidity of Hindu caste, and British paramountcy have one after another fixed these terraced levels. Fifty million depressed classes, ignored socially and religiously despised, underlie the Hindu priestly and educated castes, and a few hundred miles may take one from the philosophers and poets of Bengal to tribes which worship images daubed in ochre, make a religion of sexual animalism, or dedicate their daughters as temple prostitutes. Bhils and criminal castes, hill tribes whose women are beasts of burden, jungle-dwellers, make the other side of the account headed by the powerful Moslem gentry of Oudh, Rajputs whose feudal vassals still carry the sword, or the wealthy Parsi merchants of Bombay. These cleavages are the final force in a Continent which, not a century ago, was gripped in war and subject to brigands. The Indian army, upon which since Clive peace has depended, is a professional force recruited from martial classes and fighting areas. In the war of 1914 two-thirds of its combatants came from two such areas only, the Punjab and the United Provinces, as against one battalion from all Bengal; the fighting classes of Sikhs, Dogras, and Mahrattas among the Hindus are outnumbered by the Punjabi Mussalmen, Jats, and Pathans, with the Mohammedans of Oudh and Sind, and military strength is out of all relation to population or industry.

This society, whether crowded in the rich Ganges valley or thinly spread over unfertile hills, is predominantly one of illiterate peasants. Nearly 70 per cent of the people live on the land, in mud huts often far distant from rail or metal road, dependent on a favourable rain for their next year's livelihood, and on British-made law as against landlord and money-lender While the British people make an annual income of £100 or more a head, a tenth of that sum is the maximum in India, and if two-thirds of the Indian budget is spent on defence, it is for one very good reason, that poverty forbids the raising of taxation. A bare 10 millions out of all these 390 millions can read and write a letter in their own language, while perhaps only between 2 and 3 millions are equally literate in English. For women the figures are very much lower, and nothing is more fundamental than the effects of almost universal child

marriage among Hindus, or the *purdah* seclusion of women in northern India among both communities.

If the British roots have struck deeper than is commonly supposed, it hardly comes through their blood or religion The community of mixed race, the Anglo-Indians, number not much above 100,000, and though there are above five million Indian Christians, a high proportion belong to the placid people of Madras, while numerically Christianity has hardly affected Hinduism or the fanatical Moslems. Indirectly, through every sort of example and human sympathy, Christian influence no doubt has been great and beneficial, inspired by their missionary leaders, but British intellectual and economic influence is much more measurable. Since the Whigs, Bentinck and Macaulay and Charles Wood, laid down the principle that education in the best that Britain could provide must be given to India, it has transformed the country; though here, too, in the form that Indian society dictates, descending from above and negligible below, resulting in a great mass of university graduates, but slow progress in primary schools. Economically, India has become one of the world's great Powers. Indian wheat outweighs that of all the Dominions combined, jute is her monopoly, in cotton production she is second only to the United States, while irrigation has brought water to an area as large as Britain. Indian foreign trade, whose value was only £14 millions in 1834, had risen to £340 millions in 1914, by which time she was Britain's largest customer.

Until about that time, British statesmen with one accord repudiated any intention of giving India responsible government The Councils Act of 1861, Ripon's municipal reforms, Dufferin's Act of 1892, and the Morley-Minto reforms of 1909 went all ostensibly on the same principle, of final responsibility, firmly held through the Viceroy in Council, to the British Parliament, of a constitutional autocracy whose orders could be publicly debated with elected Indian representatives, but whose laws remained, for all that, orders from outside But the legislators deceived themselves; free speech and association on the British parliamentary model worked out their own logic The reforms of 1909 set up an elected majority in the provincial Councils, while even in the central legislature the right of discussing the budget accustomed elected members to the habit of a permanent opposition

Meanwhile, educated in British literature and example, the intellectuals of Hinduism had in 1885 established Congress, which in 1906 was followed by the Moslem League Irritated by Curzon's university reforms and his partition of Bengal (which was reversed in 1911), even Hindu moderates asked a faster advance, while their extremists engaged in conspiracy and murder. Pan-Moslem feeling, stirred in sympathy with events in Turkey, Persia, and Arabia, war-prices and

heavy recruiting, and the ideal of self-determination for which the Allies fought, brought about in 1917 the Montagu-Chelmsford report and a long stride forward in the 1919 reform. Though the number of Indian members of the Viceroy's executive Council was increased and the legislative assembly would henceforward have an elected majority, the central government remained responsible to Parliament and amply provided with means, through the Viceroy's powers, of asserting its will. In the provinces, on the other hand, by the device which was christened 'dyarchy', while the Governor in Council would control some important 'reserved' functions, others — including education, health, and local government — would be transferred to Indian ministers fully responsible to the provincial Council

Long before the ten years had elapsed, after which period the Act provided for re-examination, the new order had partly collapsed A mass of reservations and special electorates for different communities, — landowners, depressed classes, Mohammedans, or Sikhs, — testified to the inherent difficulty of unifying political action even in a single province, while the working of dyarchy either threw ministers into dependence on their officials, or tended to split the Governor's 'Cabinet' Moreover, reform was launched in an atmosphere hot with recrimination, over measures of war defence, press and conspiracy laws, and excessive recruiting, an advanced Hindu element, preaching 'Swaraj' or Home Rule, declined to work the reforms at all. Famous already for his lead in championing the Indian colony in South Africa Gandhi, a lawyer from the Bombay presidency, now revealed his rare, elastic gifts, sometimes upholding the depressed classes, at others allied with Moslems of the north, yet again to Bombay mill-owners, though on occasion invoking the spinning-wheel and the vision of an older India, rid of western industrialism Though he professed that disobedience to law must be without violence, boycott and strikes led to bloodshed among mill-hands and peasants, superstitious in their faith and savage in their hatreds, and who could not read.

After some years the Swaraj party, changing their tactics, entered the provincial governments with the object of wrecking the reforms, in several instances forcing the governors to suspend the 'transferred functions' and rule through executive power. Except perhaps in Madras, 'party' in a British sense was never realized, tending rather to resolve itself into the fundamental feud of Hindu and Moslem, which self-government and separate electorates only seemed to harden. The central Legislative Assembly showed a growing responsibility, though a growing sense of nationalism For India, though by no means a Dominion, had been represented as such in the making of peace and Imperial conferences, it was admitted that she had a right to control her economic welfare, tariffs were built up to protect home industries,

and the excise duty on cotton, long enforced in the interest of Lancashire, was abolished. In 1927 a royal commission, named after its chairman Sir John Simon, began investigation of the next step forward; which was accelerated by the advent of a Labour government in Britain in 1929, a concordat between Irwin the Viceroy and Gandhi, a declaration that India might expect Dominion status, and the urgent problem of the Native States.

These were over five hundred in number, covering one-third of India and about one-fifth of its people, ranging upwards from mere feudal estates to a great State like Hyderabad with 14 million subjects, to others of proved fighting tradition like Sikh Patiala or the Rajputs, or to those, such as Baroda or Mysore, whose administration was as enlightened as a British province Their rôle would be all-important, yet their footing wholly differed from British India; their relation to Britain had come by way of treaty with the Crown, their privileges had been many times solemnly guaranteed, and though an advisory Chamber of Princes had been set up in 1921, they stood in no direct connection with the Imperial Parliament or the Indian legislature It was not easy to see them merging control of their internal affairs in a democratic assembly.

This it was which decisively influenced the long conferences between British and Indian leaders, which issued in the Act of 1935 It provided for a federal government at the centre, which should, however, only come into force when the Native States returning half of the princely representation should have given their consent In effect, the method of dyarchy, applied in 1919 to the provinces, was now to be tried at the centre, for the Governor-general in Council retained large powers over defence and foreign affairs, princes and minorities, credit and tariffs The major advance was to be made in the provinces, now increased to eleven by new governments for Orissa and Sind, though Burma was to be severed from India, and they were given responsible government in all subjects, save for their governors' final powers in emergency. Their electorates, increased to some 35 million voters including some women, at the first election of 1937 returned predominantly Congress ministries. By this date about one-third of the administrative services were in Indian hands, an Indian naval force was in existence, the King's commissions given to Indian officers after 1919 were being extended, and Indianization applied to some entire regiments.

In the short space granted to the new scheme before the next outbreak of war, three major difficulties at least were instantly apparent. Hindus and Moslems were in bitter conflict; the communal distribution of seats was imposed, since they could not agree themselves, by the Imperial government, and already the Moslems, dreading a Congress majority, were calling out for a separate Moslem block of India, or

'Pakistan'. Nor did the princes give the assent on which federation depended, some of the most powerful deliberately holding aloof. Finally the new constitution, giving India appreciably less power of self-government than other Dominions had achieved, was repudiated by Congress, which now asked recognition of Indian independence. But whether either Dominion status within the Empire, or democratic self-government, is the destined future for India, or whether they can harmonize its deep divisions, are questions which will not easily be resolved.

They are, indeed, questions applicable to this Commonwealth as a whole, which is styled an 'Empire' but is, in fact, a great number of communities, differing in policy, at every level of civilization, and connected with Britain by various bonds. Exhausted by war, and with all those communities who produce agricultural and raw material heavily hit by long depression, its conditions have altered much and may be judged more precarious since the end of the Victorian peace. The British no longer swarmed off overseas, for their migration to the Empire which took 223,000 souls in 1913 had dropped to 62,000 by 1929, and ten years later had begun a reverse flow homewards. Their relative power, or at least its old method, seemed to be declining. We had held 40 per cent and more of the world's shipping in 1914 but only 26 per cent in 1937, while our income from overseas investment had fallen heavily.

This Commonwealth, the events of the 1930's seem to prove, is not to be measured, or justified, primarily as an economic system. True, assisted in part by the tariff arrangements made in 1932 at Ottawa, the percentage of all British trade transacted with the Empire rose from the 25 per cent usual up to 1910 to above 37 per cent in 1935. Even so, there were plentiful signs of independence, as in India and Ireland, with their much reduced proportions of British imports; agricultural revival in Britain was not easily reconcilable with Australasian producers, nor Canada's trade to the United States with a closed Imperial system. These last years, then, witnessed some retreat from the Ottawa tariffs, as was evident in the British-American treaty of 1938. There remains also one overruling fact, that this Empire is not economically self-sufficient. One-quarter of the British meat supply came from the Argentine, one-quarter of its coffee from Brazil, while only 5 per cent of the oil required could be obtained from British territory. No single country, however great, sends us much over 12 per cent of our imports; our own market could not possibly absorb the native products of British Africa; Australia discovered a mutual interest with the textile-makers of Japan. Once more, as Bolingbroke had said of a smaller relation to Europe, it was found that Britain's rôle was to be 'a good neighbour and a fair trader'.

Divided into three chief systems, — Dominions, Colonies, and India, — having astride its communications many new nations whom its own teaching has inspired, with no closed economic union, no single army or navy, the Commonwealth formally subsists in the powers of one royal prerogative and one Imperial Parliament. In truth, however, the sovereignty which gives this Commonwealth its community is that of a general will the product of ages passed, of common aspirations for the future, and of services given, not for an Imperial but for a moral world order.

CHAPTER III

PERIL, 1929-1938

THE history of these years, not yet fully known or rightly to be judged, was distorted by two universal calamities: an economic depression which between 1929 and 1932 reduced world trade by two-thirds, and the seizure of power in Germany by Adolf Hitler's Nazi Party in 1933.

Only a very strong government could have survived the first, and Ramsay MacDonald's was not that, dependent as it was on an uneasy alliance with Liberal votes and deeply divided within itself But the depression doomed it The total of unemployed rose from the 1,200,000 of 1929 to 2 millions in 1930 and nearly 3 millions by Easter 1931, by which date the unemployment insurance fund was £100 millions in debt, growing without limit. With a budget deficit of over £30 millions, Snowden, Chancellor of the Exchequer, could not persuade his colleagues to his policy of economy, while in July an independent committee reported that one-third of the nation's income was being spent in taxes and rates, and predicted a deficit the next year of £120 millions

This report made only the occasion for a grave decision, in which MacDonald and Lloyd George independently concurred, that this crisis was one too deadly for any one party to handle. Its deeper causes we have seen; that British prosperity had been rooted in a world system, which economic and political chaos in the post-war world made unworkable Our sober effort to restore the old system, which never succeeded in bringing back the trading figures of 1913, was annihilated late in 1929 in a huge speculative crash in America, an abrupt cessation of American lending to Germany, and sheer ruin in those countries, Australia included, which were producers of food and raw material A hundred times more serious than in 1815, owing to the scale and velocity of modern finance, this may be deemed the first economic disaster, since American silver broke the sixteenth-century scheme, in which all the world shared Wholesale prices fell by anything up to 20 per cent; no lower price for wheat had been recorded for four hundred years; our own black unemployment figures were much surpassed in Germany and the United States. Purchasing power dried up, millions locked up in short-term borrowings were frozen, and one State after another went off gold A crash of the weak Austrian

banks spread to Germany, and thence to the Bank of England, which lost £45 millions in gold in the one month of July 1931. Credits borrowed from France and America failed to stop the drain, the Bank officially reported that foreign credits could only be won by action that would prove a determination to pay our way; MacDonald and Snowden resolved to balance the Budget at all costs. That would involve not only higher taxation but less expenditure, which they proposed to achieve by cuts in every direction, including a 10 per cent reduction in unemployment benefit Even so, Snowden argued that, with the lower cost of living, the unemployed would be better off than in 1924.

To these, however, neither the Trades Union Congress nor the Labour party would agree, nor a large section of the Cabinet, led by Henderson and Lansbury. In August, therefore, MacDonald called into council the Opposition leaders and offered his resignation to the King, with the suggested formation of a coalition He took office at the head of a National government, followed from his own party by Snowden, Thomas, and Sankey the Lord Chancellor, and made alliance with Conservatives, headed by Baldwin and Neville Chamberlain, and a Liberal group led by Samuel. Their single mission was to save our finances and the value of the pound; what then should follow was left uncertain.

In these events, revolutionary in their effect both on party and policy, the principal architect in this country was Neville Chamberlain. Since their defeat in 1929 the Conservative party had been distracted; in part from loss of confidence in Baldwin as leader, in part because Churchill had broken with him, making opposition to the Indian reforms his opportunity, and again from a continued disagreement over tariffs. Having now become the second man in the party, Chamberlain believed that both national and party salvation were bound up with the cause of Empire trade In social outlook a Victorian Radical, who reprobated Socialist finance as a policy of class bias and demoralization, he argued that there was no place for the continued existence of Liberalism, and still less need for an alliance with an opportunist like Lloyd George; indeed, a steady drift of former Liberal votes and Liberal ministers towards Conservatism confirmed his opinion. He had prepared and organized within his party machine the ingredients of a national policy, and was given his opening by the events of this autumn

For though this emergency Cabinet balanced the budget, as to £75 millions by new taxation, £52 millions of which came from direct taxes, and as to another £70 millions by 'cuts' in salaries, the services, teachers, and unemployed, the foreign drain of gold continued and in September redoubled, when part of the North Sea fleet at Invergordon demonstrated against reduction of pay. On 21st September, by which

date £200 millions had been withdrawn from London since mid-July, Great Britain went off gold.

One consequence was to hasten, what must soon in any case have come, the dissolution of the existing Parliament, in which the government had only a shaky majority, and which must seek a new mandate after these events. The powers which ministers asked for at the election of October were in general terms, to explore all means, tariffs included, for national recovery, the chief dread of the electors was inflation, and their verdict was overwhelming. By some 14½ million votes as against 6½ millions for Labour, they returned 558 supporters of the National government, of whom 471 were Conservatives, as against only 52 Labour members Excepting Lansbury, virtually all the Labour ministers who had refused to follow MacDonald disappeared from Parliament.

Receiving power in these proportions, Chamberlain led the Conservatives to recover prosperity through the policy inherited from his father, and which he had himself developed Our adverse trade balance was about £400 millions; our 'invisible' exports of shipping and services had fallen by £200 millions, leaving us with a heavy debit balance, we had spent £700 millions on public works in the last seven years, with only an infinitesimal effect on unemployment. To correct the balance, to raise prices from depression, to get revenue, and to prevent a further decline of the pound, all these purposes, as all sections agreed, called for some restriction on imports.

When, however, they came to a permanent policy, in the Import duties Act of February 1932, a break-up of the government was only averted by a new formula, that this protection, like Catholic emancipation between 1812 and 1829, should be an 'open' Cabinet question. The basis of the Act was a flat low-rate tariff, laying a 10 per cent duty on all goods, other than those given higher protection by an independent tariff board, or those remaining on the free list, which at present included wheat, meat, cotton, and wool

Meantime British agriculture, arable farming especially, was in parlous depression, so too was production in the Dominions, while political and economic upheaval kept world trade in ruins A conference at Lausanne in June, though at last promising to end the dreary futility of reparations from Germany, left final decision to depend on a settlement of the equally stiff question of Europe's debts to America With that background, a strong delegation of British ministers set out to an Imperial Conference at Ottawa.

The Ottawa agreements of August were fundamental Our government undertook to grant free entry to Empire products, and to give them a preference, which would involve, for example, laying duties on foreign wheat, butter, fruits, and timber. On the other hand, we should

protect our own agriculture by restricting the volume of Dominion imports, and asked that Dominion duties on British goods should leave our traders on a fair competitive level. However these schedules and voluntary machinery might work out as between Britain and the Dominions, the Ottawa duties had the immediate effect of driving Snowden, Samuel, and Sinclair out of the Cabinet.

Henceforward this became an essentially Conservative government, little changed by Baldwin replacing MacDonald as Prime Minister at midsummer 1935. It had some faults as a Coalition, in that office was sometimes assigned in proportions of party rather than fitness, and the faults also of a government with too big a majority, which much over-represented its majority of votes. Its leadership was indecisive. MacDonald was an exhausted man, while Baldwin's gifts of judgment and sympathy were not equally accompanied by resolute action so that, altogether, not so much party advantage as an over-deference to persons and loyalties seemed to cumber this Coalition. Yet future history may perchance record that neither for national recovery nor social advance were the 1930's unimportant.

Their work must be done amid the debris of the economic system, and amid nothing less than a second industrial revolution. The first was signalized afresh by the total failure of the world economic conference of 1933, a default by Europe and then by Britain in their American debts, an immense devaluation of the dollar, and President Roosevelt's policy of raising internal prices as part of his ' new deal '. Meantime, with mechanization and chemistry and speed and science, the world's production of primary commodities, wheat, sugar, tin, or rubber, yearly accelerated, till it seemed that only restriction or destruction of goods could save men from the ruin their wealth would bring; mass production in America and Germany, cartels and combines and rationalization, or more looms to every weaver, threatened to throw humanity out of employment, victims of their own machines.

Since the medium of gold and the mechanism of exchange had collapsed, and since each Continental State was obsessed by the vision of becoming self-sufficient, protecting its armed industry by every sort of monetary juggling, restriction, or tariff, the British Commonwealth painfully reconstructed its own economy. Our overseas trade henceforth hardly amounted to 60 per cent of its old figure, the volume of exports fell, the ratio of our income from overseas investment was halved. Yet at least the 3 millions unemployed of 1933 had fallen below 1½ millions by 1937, 11 million persons in insured occupation surpassed the 1929 total, and industrial output was up by 20 per cent. Real wages rose by about 4 per cent, middle-class and working-class savings had doubled since 1924, and 2½ million new houses had been built since the armistice of 1919. A substantial surplus marked the

budgets of 1934–5, when the 'cuts' made during the crisis were restored.

Chamberlain's administration at the Exchequer, taken with that of the Boards of Trade and Agriculture, rested on three principles: cheap money, a low tariff, and a planned economy, putting producers in an order of priority, — British, Dominion, and foreign. A bold conversion of debt in 1932 of £2000 millions of 5 per cent to a 3½ per cent basis was buttressed by a fund of £350 millions to iron out exchange fluctuations and enlarge our credit. If iron and steel bounded forward under a protective duty of 33 per cent, less than one-third of our imports were subject to duty exceeding 10 per cent, and the clear tendency of our agreements with other countries was to relieve trade from excessive tariffs. Though the proportion of our total imports which was taken from the Empire rose from the old average of 26 per cent to 37 per cent in 1937, our exports to the Empire increased much less, and various arrangements showed that, despite Ottawa, the chief countries in the Empire must depend on doing business with the world outside.

Nothing better showed the trends of this last age than British agriculture. The old tariff controversy, with its angry cries about the dear loaf, seemed to be dead. Applying a system designed to share markets between home, Dominion, and foreign producers, Chamberlain and his fellow-ministers discovered that this involved a detailed regulation of agriculture at home. Many different instruments were used; not so much tariffs as restrictions agreed by separate treaties, quotas, subsidies, guaranteed prices, or controlled marketing; which were applied in turn to arable crops, milk, eggs, and potatoes. By such means the acreage of wheat was increased by 40 per cent, British sugar-beet met nearly one-third of the demand, home-produced bacon was doubled.

It was then a Conservative administration, using all the means of nineteenth-century Socialism. In 1913–14 the budget had asked only £198 millions, in the middle 1930's it was always over £800 millions and took about 23 per cent of the national income. Something between £400 and £500 millions a year were spent on social services, — education, health, housing, pensions, — all of which the previous century had left almost entirely to self-help. This Conservative government spent many millions on enlarging roads, telephones, tramp shipping, and rail transport; it was prepared to buy out two large entrenched property interests, tithe and coal royalties. Steadily this race, politically democratic for so long, realized a larger democracy in its society, as was seen again in the higher share taken by salaries as against the dwindling of profits and rents, in the inhabitants of the universities, or the savings and house-purchase of the working-class.

Yet keenly felt, and perhaps increasing, cleavages separated this Socialist-Conservatism from the Socialist party. As asserted in those

years, they rose in part from the inheritance of the previous age, and not least from the urban slums, still more perhaps from that lost trade, possibly 20 per cent, which our 'recovery' since the war had never overtaken, and which was felt most severely in exactly those basic industries, — coal, engineering, shipbuilding, and textiles, — by which Victorian England had become great. In those trades and those distressed areas was concentrated the hard core of unemployment, the claims for higher scales of relief, and the controversy over 'doles', with a means-test for those receiving relief not covered by insurance. It was to put such controversies outside politics, and political auction, that Chamberlain brought about the creation of an independent Unemployment Assistance board.

But the controversy ranged deeper, in an old clash of rival doctrines. The principle of contributory insurance against all social misfortunes, by a triple partnership between the State, employers, and employed, could not satisfy those who would push their ideal of equality to its extreme, or believed that 'the community', by controlling finance and the agents of production, could make democracy real through nationalization. At what price this could be achieved in an Imperial and industrial Commonwealth, at what sacrifice of old liberties, whether capitalism had failed or could be readjusted, whether the rival scheme meant a better society or merely the supremacy of another class, such were the questions underlying the elections of this decade.

One Victorian achievement, however, maintained unity of feeling in the nation, — that constitutional Crown to which, with a good many protests, Queen Victoria had finally come, a symbolic power now tested in adversity and vindicated by public service. It was seen in the silver Jubilee of the modest and sensible King George V in 1935 and, after his death the next year, in the strain brought by the determination of his son Edward VIII to make a marriage which caused the united opposition of the British and Dominion governments, and his consequent abdication. In that matter Baldwin faithfully represented the Commonwealth, and guarded the continuous character of the throne. But by that date his day was done, and the government he handed over to Chamberlain in May 1937 was weakened and beset by many dangers, in the handling of which neither MacDonald nor Baldwin, neither Labour nor Conservative, had succeeded.

We stand, even our sons will stand, too near in time to judge British foreign policy between the two wars, except to suggest a few stages and a few conclusions. If the peace of Versailles was not a bad peace, it was certainly a most precarious one, demanding union and time and clear-eyed resolution if it was to be made good. If measured in terms of the old diplomacy, it left great voids in the European system, for the German and Austrian Empires were destroyed, Russia was ignored and

stripped of territory, Turkey was mutilated Those empty spaces were filled up by thirteen petty States, unaccustomed for many centuries to power and now ruling dangerous racial minorities, as well as by new untried international arrangements in threatening areas, as in Danzig, Fiume, Syria, and Palestine

This territorial settlement was linked to, and guaranteed by, a revolutionary international scheme, the Covenant of the League of Nations, which included one dangerous fallacy at least: that all nations, great and small, from France to Albania or from Germany to Afghanistan, had equal privileges and representation. It was linked also with an apparatus of financial reparations and war debts, which quickly proved unworkable The general result, within a very few years, was to divide the world between ' satisfied ' States, such as France and Britain, and the ' dissatisfied ', whether the defeated or partitioned countries such as Germany and Turkey, or those like Italy, Russia, and Japan who judged their share was unjust, and would work for a change.

Broadly speaking, three trends may be found in British policy, in governments of either party, since 1919 There was an increasing acceptance of the view that the peace treaties must be revised, especially on their financial side; historically in full accord with the old British instinct to mediate between extremes, and the prime British interest of international peace There was, secondly, a loathing of war, a zeal for disarmament, an insistence on the League as the hope of the world. But there was also, in Britain and the Dominions alike, a refusal to commit ourselves in advance to fight, or automatically to defend the integrity of every existing State.

These may take us to the first dividing year of 1930. Before and in that year we meet, mostly by British pressure on France, a large scaling-down of reparations, the bringing of Germany into the League, withdrawal from Germany of foreign garrisons, and the beginning of the Disarmament conference , with all the world, we accepted with acclamation the American-inspired Kellogg Pact of 1928, which outlawed war. But we meet, too, our refusal to accept the Protocol of 1923 which would have stiffened up sanctions against war, an intense unwillingness in the Dominions to be caught up again in the feuds of Europe and, by the peace of Locarno of 1925, a certain limitation of our commitments to areas which, like the Rhine frontier, were vital to our own existence

We open the 1930's, therefore, with Britain engaged in an international scheme which had still to be proved or, indeed, still to be born. For the absence of the United States and Russia from the League half crippled it. Already it had been defied with impunity, in some forcible seizures of territory by Italy and Poland. Already, years of discussion over disarmament proved that no great European State was ready to disarm , France least of all, unless she were given stronger guarantees

for her security and that of her eastern allies, the Little Entente. And there were only three alternatives before us isolation, which British opinion would condemn as immoral and impossible; armed alliances which had caused the late war; and 'collective security' within the League. But though in words all British parties accepted the last, and any government which repudiated it would fly in the face of public opinion, no British party was prepared to carry out its full logic, which would entail keeping up a high level of armaments and a willingness to make war whenever, and wherever, peace was violated.

Three events, the financial collapse from 1929 onwards, the Japanese attack on China from 1931, the fall of the German Republic and Hitler's accession to power in 1933, proved the deadly flaws and inconsistencies in Europe. Economic nationalism, inflamed by the small States newly created and universal depression, added new fuel to racial hatred. 'Collective security' was seen to be a phrase, no State would make war except when its own interests were concerned; no League without America and Russia, and far less any one State, 6000 miles away and with no adjoining military base, would begin a war against Japan. In 1933 Germany left both the Disarmament Conference and the League, and in 1934 France, declining to discuss disarmament further, turned instead to an alliance with Russia.

All this time, in the hands of MacDonald, Baldwin, and their Foreign Secretary Simon, the British government assiduously nourished every means of mediation or step towards disarmament, each year our defence estimates were reduced, our Air Force had not reached even the level planned in 1923, while the Labour government of 1930 cut down our naval strength. By every conceivable test our public opinion showed the general desire for disarmament, so much so that the charge that the government were 'war-mongering' was Labour's weapon at the election of 1935. For by that time our government were convinced that we must look to ourselves and begin the making of a new Air Force, second to none

As we approach the fatal years of 1935–6, four all-important facts govern the scene The last war had suggested, — new inventions and all our information confirmed, — the belief that future warfare would be in new dimensions, fought in the air, and on land with mechanized armies, and 'total' war in the sense that the whole mechanical potential of an industrial State would be harnessed to victory. Politically, it was becoming clear also that France, our one unquestioned ally, was doubting, exhausted, and divided, so torn by strife from 1934 that even civil war seemed in sight, so hesitating, that its small allies in eastern Europe began to look elsewhere More instant was the plain determination of Nazi Germany to rearm, and to undo every remnant of the peace treaties; even more formidable because Hitler imported into

foreign affairs, with a strength never seen since 1789, a fixed and furious ideology. That warfare of ideas made faster, what internal revolution and the mistakes of the peace settlement had begun, a restoration of the might of Russia, which from 1934 sprang to the front not only in its ancient part of the Slav leader against the German, but as the armed apostle of extreme democracy.

Finally three successive crises in 1935–6 defied and destroyed the hopes and the fabric of 1919; the Italian invasion of Abyssinia, the German reoccupation of the Rhineland, and the outbreak of the Spanish civil war. Taken together, they revealed the cross-currents in British policy, and the isolation to which 'collective security' had brought us, while they also involved a terrible disunity in public opinion on foreign affairs. Refusing to appeal to the electors for a mandate for rearmament, Baldwin like his opponents in the election of 1935 stood by the League and, as Italian aggression proceeded, Britain moved for economic sanctions. Rapidly it was proved that, while we spoke the language of the League and sincerely professed our faith in it, the world outside — and the British government with it — had returned to the maxims of the balance of power and armed diplomacy. Sanctions, it was believed, might mean war with Italy, and such a war France refused to contemplate, seeing in Italy a necessary part of her defence against Germany. But if we then were left to fight Italy alone, might not that war soon bring in Germany and Japan? A war with three Powers at once, which our military advisers declared we were not equipped to meet. So, while the Hoare-Laval Pact, which gave Italy a practical supremacy over Abyssinia, represented a political device to escape this danger, the anger of the British people and the enforced resignation of Hoare in December 1935 represented a last glint of feeling for the League and all it stood for.

Yet when, seizing this golden hour of democratic confusion, in March 1936 the Germans entered the Rhineland, hardly a voice in Britain was heard which would approve a war to prevent the Germans retaking German soil, the original doubts as to the justice of the peace treaties thus dissolving our resolution to uphold peaceful means of change.

The League then, with America standing aside, was proved incapable of saving peace and, much against the grain, Britain hurried on the pace of rearmament. But from that time onwards a deadly contradiction crippled our policy. Still clinging to the ideal of the League, still so much detesting war that they would even resist rearmament, the Left wing of British politics saw a threat to their whole view of life in the Nazi and Fascist ideologies, and their brutal suppression of every freedom. In that fear they were confirmed by the savage war in Spain which they read as one of force put upon an elected Republican government by rebel soldiers, aided by German and Italian legions

More and more — ignoring the Slav-Teuton feud, or the price which Russia would ask for assisting democracy — they looked towards Moscow.

On the other side stood the British government, under Baldwin until 1937 and thereafter under Chamberlain, bent on winning time to rearm, sceptical of any real support from the French, disillusioned as to the League, and in spirit going back to the method of Salisbury and Grey. If Germany and Italy had real grievances arising out of the peace treaties, they must be explored; 'appeasement', the object declared in countless speeches by British politicians since 1931, must investigate whether, in their treatment of German minorities or Italy's Colonial claims, the treaties had been just or wise. They adhered to Canning's or Pitt's view that with the internal means of government in other countries, however tyrannical, Britain was not concerned. They were convinced that Great Britain, and even more the Dominions, ought not to be asked to fight again, unless interests vital to the Commonwealth's very life were at stake. Till that cause were proved up to the hilt, and until every marginal doubt in the treaties had been eliminated, they would continue to work for time, and husband our strength.

In that confusion of thought, in that dire peril, in these ill-requited, sincere, and high intentions, contemporary history must leave the Commonwealth. Since its humble beginnings, and its thin trickles of venturers and refugees from Europe, Providence had freighted it with many treasures, loaded it with fortunes, and conveyed it to the ends of the earth. Now 'the little body', in which Canning had praised 'a mighty heart', was extended through a world system

BOOKS FOR FURTHER READING

The present state of knowledge, with full bibliographies both for original sources and modern works, will be found represented in the Oxford Histories and the Cambridge Histories (Medieval, Modern, the Empire, and India), there are fuller lists in bibliographies for some special periods, such as Conyers Read's for the Tudors or C L. Grose on *British History, 1660–1760*, as well as in some of the more recent books mentioned below.

The titles that follow make no attempt to detail the sources on which this book is based, and, except in the case of a few familiar classics, they do not include contemporary material Though many naturally cover several sections, as a rule they are here mentioned once only

PRELUDE

Chapter I Britain before the Romans

Cyril Fox, *The Personality of Britain*
Kendrick and Hawkes, *Archaeology in England and Wales, 1914–1931*
Childe, *The Bronze Age*
Crawford and Keiller, *Wessex from the Air*
The County Archaeologies (Methuen)

Chapter II. Roman Britain

Haverfield and Macdonald, *The Roman Occupation of Britain*
Haverfield's articles in the Victoria County Histories.
Collingwood, *Roman Britain*
Wheeler, *Prehistoric and Roman Wales*
Roman London (Royal Commission on Historical Monuments)

BOOK I, 450–1066

Chapter I The Coming of the English

Leeds, *The Archaeology of the Anglo-Saxon Settlements.*
Green, *The Making of England*
Bury, *St Patrick*
Jolliffe, *Pre-Feudal England the Jutes*
Myres, *The English Settlements* (Oxford History)

Chapter II The Land and the Conquerors

Chambers, *England Before the Conquest*
Chadwick, *Origins of the English Nation*

Stopford Brooke, *Early English Literature*
Baldwin Brown, *The Arts in Early England*
Publications of the English Place-Name Society.

Chapter III Consolidation of the Church

Bede (ed Plummer), *Opera Historica.*
Bede His Life, Times, and Writings (ed. Hamilton Thompson)
Levison, *England and the Continent in the Eighth Century.*
Bright, *Early Church History*
Deanesly, *History of the Medieval Church*

Chapter IV Anarchy, Collapse, and Recovery, 613–899

Stenton (Oxford History).
Hodgkin, *History of the Anglo-Saxons*
Kendrick, *The Vikings*
Asser, *Life of Alfred* (ed Stevenson)

Chapter V. The Height and Fall of Saxon England, 899–1017

Stenton, *The Danes in England*
Maitland, *Domesday Book and Beyond*
Armitage Robinson, *The Times of St Dunstan*
Robertson, *The Laws of the Kings of England, from Edmund to Henry I*
Clapham, *English Romanesque Architecture*, vol i

Chapter VI Danish Rule and Norman Conquest, 1017–1066

Haskins, *Norman Institutions*
Freeman, *The Norman Conquest*
Stenton, *William the Conqueror*
Vinogradoff, *English Society in the Eleventh Century*
Corbett's chapter in *Cambridge Medieval History*, vol iii

BOOK II, 1066–1360

Chapter I The Transformation of England, 1066–1154

Pollock and Maitland, *History of English Law*, vol i
Stenton, *The First Century of English Feudalism*
Knowles, *The Monastic Order in England*
Brooke, *The English Church and the Papacy*
Macdonald, *Lanfranc*

Chapter II The Crown and its Rivals, 1066–1154

Davis, *England under the Normans and Angevins*
Round, *Geoffrey de Mandeville*
Lloyd, *History of Wales to the Edwardian Conquest*
White, *The Making of the English Constitution*
Bateson, *Medieval England*

CHAPTER III. THE ANGEVINS, 1154–1213

Stubbs, *Historical Introductions to the Rolls Series.*
Norgate, *England under the Angevin Kings.*
Runciman, *History of the Crusades*
E. Curtis, *History of Medieval Ireland*
Powicke, *The Loss of Normandy.*

CHAPTER IV PREPARATION FOR NATIONALITY

Stubbs, *Lectures on Medieval and Modern History*
Haskins, *Renaissance of the Twelfth Century*
Tait, *The Medieval Borough.*
Rashdall (new edition by Powicke and Emden), *The Universities of the Middle Ages.*
Page, *London its Origin and Early Development.*
Little, *Studies in English Franciscan History*
Chambers, *The Continuity of English Prose*
Bond, *Gothic Architecture in England.*

CHAPTER V REVOLUTION AND REFORM, 1213–1272

Cambridge Medieval History, vol vi.
Powicke, *Stephen Langton* and *Henry III and the Lord Edward.*
McKechnie, *Magna Carta.*
Bémont (ed Jacob), *Simon de Montfort.*
Treharne, *The Baronial Plan of Reform, 1258–63*

CHAPTER VI. EDWARD I, 1272–1307

Cambridge Medieval History, vol. vii. (chapters by Johnstone, Terry, and McIlwain)
Lodge, *English Rule in Gascony*
Cam, *The Hundred and the Hundred Rolls*
Pasquet, *The Origin of the House of Commons*
Maitland, *Memoranda de Parliamento* (Selden Society).

CHAPTER VII THE CONQUEST OF WALES

Lloyd and Powicke, *Henry III* (as above)
Morris, *The Welsh Wars of Edward I*
Rees, *South Wales and the March*
Edwards, *Littere Wallie* (Introduction)

CHAPTER VIII EDWARD II AND EDWARD III, 1307 TO 1360

Tout, *Political History, 1216–1377* (Longmans), and *Chapters in Administrative History*, vols. ii and iii.
Conway Davies, *The Baronial Movement under Edward II*
Unwin (ed.), *Finance and Commerce under Edward III.*
Oman, *The Art of War in the Middle Ages*
Mollat, *Les Papes d'Avignon.*

Chapter IX England and Scotland, to 1369

Hume Brown, *History of Scotland*, vol. i
Rait, *The Parliament of Scotland*
Andrew Lang, *History of Scotland.*
Maxwell, *Robert the Bruce.*

Chapter X Growth of the Constitution, 1215–1377

White and Tout, *Chapters* (as above).
Stubbs, *Constitutional History*, vol ii
Petit-Dutaillis, *A Supplement to Stubbs' Constitutional History*
Baldwin, *The King's Council*
Pollard, *Evolution of Parliament*
Clarke, *Fourteenth Century Studies*
McIlwain, *The High Court of Parliament and its Supremacy*
Lodge and Thornton, *Constitutional Documents, 1307–1485*

BOOK III, 1360–1509

Chapter I. The End of the Middle Ages

Armitage Smith, *John of Gaunt.*
Lipson, *Economic History*, vol i.
Davenport, *Economic Development of a Norfolk Manor*
Bennett, *Life on the English Manor, 1150–1400.*
Unwin, *Gilds and Companies of London*
Pirenne, *Histoire de Belgique*, vol. i
Workman, *John Wyclif*
Barraclough, *Papal Provisions*
Ker, *English Literature, Medieval* (Home University Library).

Chapter II Revolution, 1376–1399

Tout, *Chapters*, vols iii and iv
Clarke (as above)
Perroy, *L'Angleterre et le Grand Schisme*
Reville, *Le Soulèvement des travailleurs d'Angleterre en 1381*
Owst, *Literature and Pulpit in Medieval England*
Cambridge Medieval History, vol vii (chapters by Manning and Power).
Steel, *Richard II*
Gras, *Economic and Social History of an English Village*

Chapter III The Fifteenth Century

Power and Postan (eds), *English Trade in the Fifteenth Century*
Mrs J R Green, *Town Life in the Fifteenth Century*
Darby (ed), *Historical Geography of England before 1800*
Tawney, *The Agrarian Problem of the Sixteenth Century*
Maynard Smith, *Pre-Reformation England*
Robinson (ed), *Chaucer's Works*

Chambers, R. W , *Thomas More*
Chambers, E K , *The Medieval Stage*
Graham, *English Ecclesiastical Studies*

CHAPTER IV LANCASTRIAN ENGLAND, 1399-1413

Stubbs, *Constitutional History*, vol iii
Fortescue (ed Plummer), *Governance of England*
Cambridge Medieval History, vol viii (chapter by McFarlane)
Lloyd, *Owen Glendower*.

CHAPTER V HENRY V, 1413–1422

Jacob, *Henry V*.
Wylie and Waugh, *Reign of Henry V*.
Pirenne, *Histoire de Belgique*, vol ii.
Newhall, *The English Conquest of Normandy*
Deanesley, *The Lollard Bible*

CHAPTER VI. NATIONAL COLLAPSE, 1422–1485

Kingsford, *Promise and Prejudice in the Fifteenth Century*.
Vickers, *Humphrey Duke of Gloucester*
Gairdner (ed), *The Paston Letters*
Schofield, *Life and Reign of Edward IV*
Ramsay, *Lancaster and York*

CHAPTER VII HENRY VII

Pickthorn, *Early Tudor Government*
Seebohm, *The Oxford Reformers*
Allen, *The Age of Erasmus*
Seton Watson (ed), *Essays Presented to A F Pollard*.
Bridge, *History of France*, vols i and ii
Skeel, *The Council in the Marches of Wales*

CHAPTER VIII THE CONSTITUTION, 1400–1529

Stubbs, *Constitutional History*, vol iii
Chrimes, *Constitutional Ideas in the Fifteenth Century*
Taswell Langmead (ed Plucknett), *Constitutional History*
Maitland, *English Law and the Renaissance*
Gray, *The Influence of the Commons on Early Legislation*.
Leadam, *Select Pleas in the Court of Star Chamber*

BOOK IV, 1509–1660

CHAPTER I HENRY VIII, 1509–1529

Pollard, *Wolsey* and *Henry VIII*
Brewer, *Reign of Henry VIII*

Froude, *History of England*, vol. i.
More, *Utopia*
Lindsay, *History of the Reformation*

Chapter II Henry VIII, 1529–1547.

Merriman, *Thomas Cromwell*
Baskerville, *The English Monasteries*
Dixon, *History of the Church of England*, vols. i and ii
Reid, *The King's Council in the North*
Tanner, *Tudor Constitutional Documents*
Dodds, *The Pilgrimage of Grace*

Chapter III Anarchy, 1547–1558

Gairdner, *The English Church in the Sixteenth Century*
Muller, *Steven Gardiner*
Pollard, *Cranmer*, and *Political History of England*, 1547–1603
Armstrong, *The Emperor Charles V*
Rowse, *Tudor Cornwall*

Chapter IV The Reign of Elizabeth, 1558–1573

Neale, *Queen Elizabeth*
Frere, *The Church under Elizabeth and James I*
Williamson, *The Age of Drake*
Scott Pearson, *Thomas Cartwright*

Chapter V The Reign of Elizabeth, 1573–1603

Read, *Life of Walsingham*
Corbett, *Drake and the Tudor Navy*
Mariéjol, *Catharine de Medici*
Cheyney, *History of England from the Defeat of the Armada*
Usher, *Reconstruction of the English Church*

Chapter VI Scotland, 1370–1603

Balfour Melville, *James I, King of Scots*
Hume Brown, *History of Scotland*, vols. i and ii
Cambridge Modern History, vol. ii
Tough, *Last Years of a Frontier*
Henderson, *Mary Queen of Scots*

Chapter VII Ireland The Problem Set, 1460–1633

Conway, *Relations of Henry VII with Ireland and Scotland*
Maxwell, *Irish History from Contemporary Sources, 1509–1610*
Ronan, *The Reformation in Ireland under Elizabeth*
Bagwell, *Ireland under the Tudors*
Gardiner, *History of England, 1603–1642* (many chapters)
Burghclere, *Strafford*

CHAPTER VIII THE ELEVENTH HOUR, 1603–1629

Gardiner (as above)
Pearsall Smith, *Sir Henry Wotton*
Notestein, *The Winning of the Initiative of the House of Commons*
Usher, *The Court of High Commission.*
Holdsworth, *History of English Law*, vols iv and v
Scott, *History of Joint Stock Companies*, vol. i
Everett Green, *Elizabeth Queen of Bohemia*
Figgis, *The Divine Right of Kings*

CHAPTER IX THE DECISION, 1629–1642

Trevelyan, *England under the Stuarts*
Trevor Roper, *Laud.*
Albion, *Charles I and the Court of Rome*
Clarendon (ed. Macray), *History of the Great Rebellion*, vols i and ii.
Lucy Hutchinson, *Life of Colonel Hutchinson*
Izaak Walton, *Lives of Donne, Herbert, etc*
Firth, *The House of Lords in the Civil War.*
Davies, *The Early Stuarts* (Oxford History)

CHAPTER X. THE CIVIL WAR, 1642–1646

Gardiner, *The Great Civil War*
Firth, *Cromwell's Army.*
Buchan, *Montrose*
Memoirs of the Verney Family
Coate, *Cornwall in the Great Civil War.*
Bayley, *Civil War in Dorset*
Broxap, *The Great Civil War in Lancashire.*
Lewis, *Lives from the Clarendon Gallery.*

CHAPTER XI. THE FALL OF THE MONARCHY, 1646–1649

Gardiner, *Commonwealth and Protectorate.*
Firth, *Cromwell*
Woodhouse, *Puritanism and Liberty*
Braithwaite, *The Beginnings of Quakerism*
Ludlow (ed Firth), *Memoirs.*

CHAPTER XII DESTRUCTION AND RESTORATION, 1649–1660.

Abbott, *Writings and Speeches of Oliver Cromwell*
Carlyle (ed Lomas), *Letters and Speeches of Oliver Cromwell.*
Firth, *Last Two Years of the Protectorate.*
Masson, *Life of Milton.*
Prestage, *Diplomatic Relations of Portugal with France, England, and Holland, 1640–68.*
Ranke, *History of England*, vol iii

Chapter XIII. English Civilization, 1540–1660

Lipson, *Economic History*, vols ii and iii
Unwin, *Industrial Organization in the 16th and 17th Centuries*
Leonard, *Early History of Poor Relief*
Cunningham, *History of English Industry and Commerce*
Walter Raleigh (ed.), *Shakespeare's England*
Chambers, *The Elizabethan Stage*
Sidney Lee, *Life of Shakespeare*
Willey, *The Seventeenth Century Background*
Bush, *English Literature in the Earlier Seventeenth Century*
Aubrey (ed. A. Clark), *Brief Lives.*

BOOK V, 1660–1760

Chapter I. The Reign of Charles II, 1660–1667

Ogg, *England in the Reign of Charles II*
Bate, *The Declaration of Indulgence of 1672*
Burnet (ed. Airy), *History of My Own Time*
Marvell (ed. Margoliouth), *Poems and Letters*
Airy, *Charles II*
Bryant, *Samuel Pepys*

Chapter II. The Reign of Charles II, 1667–1685

Barbour, *Arlington*
Ady, *Madame*
Christie, *Shaftesbury*
Foxcroft, *Halifax*
Feiling, *History of the Tory Party, 1640–1714.*
Pollock, *The Popish Plot*

Chapter III. James II, 1685–1688

Clark, *The Later Stuarts* (Oxford History)
Macaulay, *History of England*
Plumtree, *Life of Thomas Ken*
Roger North, *Lives of the Norths*
Winston Churchill, *Marlborough*, vol. i
Trevelyan, *The English Revolution, 1688–9*

Chapter IV. William III, 1689–1702

Hallam, *Constitutional History of England.*
Clark, *The Dutch Alliance and the War against French Trade*
Lecky, *History of England*, vol. i
Ward, *The Electress Sophia and the Succession of Hanover*
Firth, *A Commentary on Macaulay's History of England.*
Clarke and Foxcroft, *Bishop Burnet*

CHAPTER V. THE REIGN OF ANNE, 1702–1714

Atkinson, *Marlborough*
Geikie and Montgomery, *The Dutch Barrier*
Trevelyan, *England under Queen Anne*
Wickham Legg, *Matthew Prior*
Dicey and Rait, *Thoughts on the Scottish Union.*
Mathieson, *Scotland and the Union*
Legrelle, *La diplomatie Française et la succession d'Espagne*
Swift, *Journal to Stella*, and *Correspondence*, vol ii (ed Ball)

CHAPTER VI. THE BRITISH EMPIRE, TO 1714

Williamson, *Short History of British Expansion*
Cambridge History of the British Empire, vol i
Beer, *The Old Colonial System.*
Egerton, *Short History of British Colonial Policy*
Andrews, *The Colonial Period of American History*
Smith, *The Oxford History of India*
Callendar, *The Naval Side of British History.*

CHAPTER VII. HANOVERIAN AND WHIG SUPREMACY, 1714–1724

Leadam, *Political History of England, 1702–1760*
Michael (ed. Namier), *Beginnings of the Hanoverian Dynasty*, and *The Quadruple Alliance*
Basil Williams, *Stanhope*
Armstrong, *Elizabeth Farnese*
Bolingbroke, *Letter to Sir William Wyndham*
Hume Brown, *History of Scotland*, vol iii

CHAPTER VIII. WALPOLE AND THE PELHAMS, 1724–1754

Namier, *Structure of Politics at the Accession of George III*
Basil Williams, *The Whig Supremacy* (Oxford History)
Sykes, *Church and State in England in the Eighteenth Century*
Yorke, *Life of Hardwicke*
Vaucher, *Fleury et la politique de Walpole*
Hervey (ed Sedgwick), *Memoirs of the Reign of George II*
Horace Walpole (ed Mrs Paget Toynbee), *Letters*

CHAPTER IX PITT AND THE SEVEN YEARS' WAR, 1754–1763

Namier, *England in the Age of the American Revolution.*
Carlyle, *Frederick the Great*
Basil Williams, *Chatham*
Parkman, *Montcalm and Wolfe*
Dodwell, *Dupleix and Clive*
Lodge, *Great Britain and Prussia*

BOOK VI, 1760–1850

Chapter I Framework of a New Age

Mantoux, *The Industrial Revolution*
Fay, *Great Britain from Adam Smith to the Present Day.*
Turberville (ed), *Johnson's England.*
Marshall, *The English Poor in the Eighteenth Century*
Sidney and Beatrice Webb, *The Old Poor Law*
Ernle, *English Farming, Past and Present*
Wadsworth and Mann, *Cotton Trade and Industrial Lancashire*
George, *London Life in the Eighteenth Century*
Leslie Stephen, *History of English Thought in the Eighteenth Century*
Southey, *Life of Wesley*
Winstanley, *Unreformed Cambridge*
Gibbon, *Letters* and *Autobiography*

Chapter II The Government of George III, 1763–1782

Sedgwick (ed), *Letters of George III to Lord Bute*
Fitzmaurice, *Life of Shelburne*
Feiling, *The Second Tory Party.*
Grafton (ed Anson), *Autobiography*
Winstanley, *Lord Chatham and the Whig Opposition.*
Channing, *History of the United States*, vol. iii
Van Tyne, *The American Revolution*
Burke, *The Present Discontents*, and the American speeches

Chapter III Reconstruction, 1782–1792

Veitch, *Genesis of Parliamentary Reform*
Holland Rose, *Life of William Pitt*
Davis, *The Age of Grey and Peel*
Halévy, *History of England in 1815*
Weizmann, *Warren Hastings and Philip Francis*
Feiling, *Warren Hastings*
Lascelles, *Charles James Fox*

Chapter IV Revolution and War, 1792–1801

Brown, *The French Revolution in English History*
Meikle, *Scotland and the French Revolution*
Lewis, *Administrations of Great Britain, 1783–1830*
Holland, *Memoirs of the Whig Party*
Beer, *History of British Socialism*, vol i
Magnus, *Edmund Burke*
Fortescue, *British Statesmen of the Great War*

Chapter V The Struggle for National Existence, 1801–1815

Guedalla, *The Duke*
Oman, *The Peninsular War*

Coupland, *Wilberforce*
Webster, *Castlereagh*
Mahan, *Nelson.*
Marshall, *Rise of George Canning.*
Roberts, *The Whig Party, 1807–1812*

CHAPTER VI. THE CONSTITUTION IN 1815

Halévy, *History of England in 1815.*
Dicey, *The Law of the Constitution*
Keir and Lawson, *Cases in Constitutional Law*
Evans, *The Principal Secretary of State*
Holdsworth, *History of English Law.*

CHAPTER VII. CONDITION OF THE PEOPLE IN 1815

Clapham, *Economic History of Great Britain*, vol i
Hammond, *The Town Labourer*
Johnson, *Decline of the Small Landowner*
Smart, *Economic Annals of the Nineteenth Century*
Barnes, *History of the Corn Laws*

CHAPTER VIII THE LIVERPOOL GOVERNMENT, 1815–1825

Temperley, *Foreign Policy of Canning*
Aspinall, *Lord Brougham and the Whig Party*
Cockburn, *Memorials of His Time.*
The Creevey Papers
Wallas, *Francis Place*

CHAPTER IX CANNING, EMANCIPATION, AND REFORM, 1825–1832

Halévy, *History of the English People*, vols. ii and iii.
Trevelyan, *Lord Grey of the Reform Bill.*
New, *Lord Durham*
Cambridge History of British Foreign Policy.
Butler, *The Passing of the Great Reform Bill*
Bagot, *Canning and His Friends*

CHAPTER X. WHIGS AND CHARTISTS, 1832–1841

Spencer Walpole, *Lord John Russell*
Kitson Clark, *Peel and the Conservative Party.*
Hovell, *The Chartist Movement*
Cole, *Chartist Portraits*
The Croker Papers
Hammond, *Lord Shaftesbury*
Disraeli, *Coningsby* and *Sybil*

Chapter XI The Queen and Sir Robert Peel, 1837–1850

Young, *Portrait of an Age*
Trevelyan, *Life and Letters of Macaulay.*
Morley, *Richard Cobden*
Trevelyan, *John Bright*
Letters of Queen Victoria
Parker, *Sir Robert Peel*
Disraeli, *Lord George Bentinck*

Chapter XII Britain and Europe, 1827–1852

Woodward, *The Age of Reform* (Oxford History)
Seton Watson, *Britain in Europe, 1789–1914*
Algernon Cecil, *British Foreign Secretaries*
Bell, *Life of Palmerston*
Jones Parry, *The Spanish Marriages*
Costin, *Great Britain and China*
Malmesbury, *Memoirs of an ex-Minister*

Chapter XIII The New Empire, 1815–1852

Cambridge History of the British Empire, vol ii
Knaplund, *The British Empire, 1815–1939*
Lucas, *Lord Durham's Report.*
Wrong, *Charles Buller and Responsible Government*
Bell and Morrell, *Select Documents on British Colonial Policy*
Morrell, *British Colonial Policy in the Age of Peel and Russell*
Morison, *The Eighth Earl of Elgin*
Walker, *History of South Africa*
Scott, *Short History of Australia*

Chapter XIV Ireland, 1815–1848

Lecky, *Leaders of Public Opinion in Ireland*
Gwynn, *History of Ireland*
Gooch, *Later Correspondence of Lord John Russell*
O'Brien, *Economic History of Ireland from the Union to the Famine.*
Memoirs of Sir Robert Peel
McLennan, *Memoir of Thomas Drummond*

Chapter XV Thought and Religion, 1830–1860

Leslie Stephen, *The English Utilitarians*
Mill, *Autobiography*
Coleridge, *Biographia Literaria*
Brilioth, *The Anglican Revival*
Church, *The Oxford Movement*
Wilfrid Ward, *W G Ward and the Catholic Revival*
Stanley, *Life of Arnold*
Dicey, *Law and Public Opinion*
Life and Letters of Charles Darwin

BOOK VII, 1852–1918

CHAPTER I. CLIMAX OF THE VICTORIAN AGE

Clapham, *Economic History*, vol ii
John (Viscount) Morley, *Reminiscences*, vol. i.
Ponsonby, *Henry Ponsonby*
Letters of Queen Victoria.
Walter Bagehot, *Biographical Studies.*
Hallam Tennyson, *Tennyson · a Memoir.*
Elton, *A Survey of English Literature, 1830–80*

CHAPTER II COALITION, CRIMEA, AND THE TRIUMPH OF PALMERSTON

Temperley, *England and the Near East the Crimea.*
Charles Greville, *Diary*
Villiers, *A Vanished Victorian*
Simpson, *Louis Napoleon and the Recovery of France*
Lane Poole, *Life of Stratford Canning*

CHAPTER III. INDIA FROM WELLESLEY TO THE MUTINY

Cambridge History of India, vol v
Thompson and Garratt, *Rise and Fulfilment of British Rule in India*
Alfred Lyall, *British Dominion in India.*
Ramsay Muir, *Making of British India.*
Morison, *Henry Lawrence*
Curzon, *British Government in India*
Roberts, *History of British India*
Forrest, *The Indian Mutiny*

CHAPTER IV LIBERALISM, AT HOME AND ABROAD, 1859–1874

Morley, *Gladstone*
Spencer Walpole, *History of Twenty-Five Years, 1856–1880*
Monypenny and Buckle, *Life of Disraeli*
Garvin, *Joseph Chamberlain*, vol i
Seymour, *Electoral Reform in England and Wales.*
Fitzmaurice, *Lord Granville.*
Bolton King, *History of United Italy.*

CHAPTER V DISRAELI, 1874–1880

Monypenny and Buckle (as above)
Cecil, *Life of Lord Salisbury*, vol i
Newton, *Lord Lyons*
Gathorne Hardy, *Life of Lord Cranbrook*
Hardinge, *The Fourth Earl of Carnarvon*
Seton Watson, *Disraeli, Gladstone, and the Eastern Question*

Chapter VI. The Empire, 1850–1880

Knaplund and the Cambridge Histories of the several Dominions
Trotter, *Canadian Federation*
Grant (ed), *Makers of Canada* series.
Chester Martin, *Empire and Commonwealth*
De Kiewiet, *British Colonial Policy and the South African Republics 1848–1872.*
Macmillan, *Bantu*, *Boer*, and *Briton.*
Shann, *An Economic History of Australia*
Pember Reeves, *The Long White Cloud*
Adams, *Great Britain and the American Civil War*
Keith, *Responsible Government in the Dominions*
Johnston, *The Opening up of Africa*
Coupland, *Exploitation of East Africa, 1856–1890*, and *Livingstone's Last Journey.*

Chapter VII Peril and Decline, 1881–1914

Ensor, *Modern England, 1870–1914* (Oxford History)
Clapham, *Economic History*, vol iii.
Bryce, *Studies in Contemporary Biography*
Lord Acton's Letters to Mary Gladstone
Charles Gore (ed), *Lux Mundi*
Wells, *Autobiography*
Graham Wallas, *The Great Society*

Chapter VIII Gladstone and the Irish Question, 1880–1886

Hammond, *Gladstone and the Irish Nation*
Garvin, *Chamberlain*, vol. ii
Winston Churchill, *Lord Randolph Churchill.*
Barry O'Brien, *Life of C S Parnell*

Chapter IX South Africa, Egypt, and the Sudan

Walker, *South Africa*
Cromer, *Modern Egypt*
Allen, *Gordon and the Sudan*
Milner, *England in Egypt*
Basil Williams, *Cecil Rhodes*
Holland, *The Eighth Duke of Devonshire*
Theal, *History of South Africa*

Chapter X The Salisbury Government and Foreign Affairs, 1886–1892

Cecil's biography
Gooch, *History of Modern Europe, 1878–1919*
Grant and Temperley, *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*
Spender, *Fifty Years of Europe*
Brandenburg, *From Bismarck to the World War*

Chapter XI. Home Politics and Parties, 1892–1905

Garvin, *Chamberlain*, vol. iii
Haldane, *Autobiography*.
Spender and Asquith, *Life of Asquith*
Gardiner, *Sir William Harcourt*.
Halévy, *Histoire du peuple Anglais, Épilogue*.
Hutchinson, *The Private Diaries of Sir Algernon West*

Chapter XII. South Africa, 1884–1914

Walker, *De Villiers*
Headlam, *The Milner Papers*
Michell, *Cecil Rhodes*
Cambridge History of the British Empire, vol viii

Chapter XIII The Last of Liberalism, 1905–1914

Morley, *Reminiscences*, vol ii.
Crewe, *Lord Rosebery*
Lloyd George, *War Memoirs*, vol i
Austen Chamberlain, *Politics from Inside*
Sidney and Beatrice Webb, *History of Trades Unionism*.
Cole, *Short History of the Labour Movement*.
Spender, *Great Britain, Empire and Commonwealth*.
Bell, *Randall Davidson*

Chapter XIV Foreign Affairs and the Steps towards War, 1895–1914

Newton, *Lord Lansdowne*
Trevelyan, *Grey of Fallodon*
Grey, *Twenty-Five Years*
Fay, *The Origins of the World War*
Gooch, *Before the War*
Hendrick, *Life and Letters of Walter H. Page*
Nicolson, *Lord Carnock*.

Chapter XV The First World War

Cruttwell, *History of the Great War*
Liddell Hart, *History of the Great War*.
Churchill, *The World Crisis*
Duff Cooper, *Haig*.
Spears, *Liaison*
Wavell, *Allenby*
Lawrence, *Seven Pillars of Wisdom*.
Robertson, *Soldiers and Statesmen, 1914–18*.
Jellicoe, *The Grand Fleet, 1914–1916*
Ian Hamilton, *A Gallipoli Diary*

INDEX

NOTE —Heavy type indicates years of reign or pontificate

THE END

PRINTED BY R. & R. CLARK, LTD., EDINBURGH